विज्ञान

अक्टूबर नवम्बर
१९५०

प्रधान सम्पादक
डा० हीरालाल निगम
एम० एस-सी डी फिल्‌

Approved by the Directors of Public Instruction,
United provinces and Central provinces,
for use in Schools Colleges and Libraries

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१—विज्ञान का यह अन्ध युग
[सम्पादकीय १

२—मनुष्य की सबसे पुरानी पंखदार शत्रु
[श्री नरायण सिंह परिहार एम० एस सी० ... ... ३

३—हिन्दी गद्य का विकास-विज्ञान और दर्शन
[डा० सत्य प्रकाश डी० एस सी०, एफ० आई० ए० एस सी० ६

४—गोधूमी वर्ग के पौधों पर कुछ विचार
[श्री सुधांशु कुमार जैन एम० एस सी० ... ... १०

५—हाइड्रोजन विस्फोट
[डा० रमेश चन्द्र कपूर एम० एस सी०, डी० फिल०,
एफ० एन० ए० एस० सी० १८

६—मानसिक रोग के विभिन्न स्वरूप
[डा० कृष्ण बहादुर एम० एस सी०, डी० फिल० ... २०

७—तम्बाकू
[श्री प्रेम दुलारे श्रीवास्तव एम० एस सी० ... ... २४

८—रश्मिशक्ति
[श्री जगपति चतुर्वेदी २६

९—फसल के शत्रु
[श्री शंकर राव जोशी ३६

मुद्रक—विक्रम मुद्रणालय प्रयाग। प्रकाशक—विज्ञान परिषद् प्रयाग।

वार्षिक मूल्य तीन रुपए, एक संख्या का मूल्य चार आने

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै०उ०।३।५।

भाग ७२	सम्वत् २००७ अक्टूबर-नवम्बर १९५०	संख्या १, २

विज्ञान का यह अन्ध युग !!

इस शताब्दी में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में आशातीत उन्नति हुई है, सूक्ष्मतम पदार्थ (परमाणु) और बृहत्तम पदार्थ (नक्षत्र) के विषय में हमारा ज्ञान अत्यधिक बढ़ गया है; सत्य है कि जीव रसायनज्ञों द्वारा जीवित पदार्थ का निर्माण होने की सम्भावना को दूर नहीं कहा जा सकता, यह भी सच है कि यदि विज्ञान की चिन्तन-धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रही तो संसार की मरु भूमि उर्वरा में परिणत की जा सकेगी, निर्धन देशों को सम्पन्न बनाया जा सकेगा, ध्रुव प्रदेशों में खेती खड़ी की जा सकेगी, या यूँ कहा जाय कि इस धरातल से कष्ट, वेदना और भय को विदा कर सुख का साम्राज्य स्थापित करने का हमारा स्वप्न प्रत्यक्ष किया जा सकेगा और यह सब सम्भव प्रतीत होता है, वर्तमान शती की वैज्ञानिक उन्नति से; फिर क्यों न इसे विज्ञान का स्वर्ण युग कहा जाय? वर्तमान में अपना इतना विस्तृत ज्ञान-भाण्डार रखते हुए और भविष्य की स्वर्णिम सम्भावनाओं को गर्भ में लिए भी, बड़ी विचित्र बात है, कि यह शताब्दी विज्ञान के अन्ध-युग के नाम से पुकारी जायगी !

कारण स्पष्ट है, परिस्थितियाँ इस बात की द्योतक हैं कि विज्ञान में दास वृत्ति ने अपना अड्डा जमा लिया है। अन्धा वैज्ञानिक आज राजनैतिक शोषकों के बन्धन में जितना जकड़ा गया है, उतना पिछली शताब्दियों में कभी नहीं था। फलतः आधुनिक विज्ञान से तानाशाही पूर्व से कहीं अधिक कुत्सित हो रही है। प्राचीन उदार स्वतंत्रताओं का महत्व पहले कभी भी इतना अधिक नहीं था। आज का वैज्ञानिक अपने परमाणु ज्ञान को विनाश की सामग्री जुटाने के लिए बढ़ा रहा है, वह यह भूल गया है कि अपने वैज्ञानिक ज्ञान को वेश्यावृत्ति से बचाने का दायित्व सर्वथा उसी पर है। यदि अनवरत खोजी विज्ञान को विनाशोन्मुखी होने से रोकना है, तो मतांध राजनैतिक नेताओं, शोषक अधिकारियों से अनुसंधान की रक्षा करनी होगी। जिस स्वतन्त्रता की रक्षा गैलीलियो ने न्यायालय से कुत्सित होकर भी की, जिस स्वतन्त्रता के लिए डेस्कार्टीज को देश त्याग करना पड़ा, जिस स्वतन्त्रता के लिए गियार्डनाब्रुनो ने मृत्यु से भी हँसते हँसते आलिंगन किया, उस स्वतन्त्रता को आज के प्रगतिशील वैज्ञानिक ने राजनैतिक नेताओं के हाथ

बेच दिया है, खेद है !

मानसिक स्वतन्त्रता विज्ञान का प्राण है, और भौतिक संगठन उसका शरीर। आज के वैज्ञानिक की संकीर्ण विचार धारा में मानसिक उदारता को लहलहाने का कोई अवसर ही नहीं, नैतिकता से दुर्मुखी होकर घातक अनुदार देश-भक्ति के चंगुल में फंसे हुए ज्ञान के इन ठेकेदारों के मध्य विश्व संगठन का कोई मूल्य ही नहीं। यह कोरा दोषारोपण नहीं, संसार के प्रत्येक प्राणी की सच्ची अनुभूति है कि जो आजकल घटित हो रहा है केवल सरकार की शक्ति में वृद्धि कर रहा है। विचार कर देखिये, वैसे तो मनुष्य का मस्तिष्क वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के अधीन होने वाली अन्तिम वस्तु है किन्तु यदि मान लिया जाय कि जीव रसायनज्ञों के विकासित ज्ञान के साथ प्राणि शास्त्रियों का वंश परम्परा का विकसित ज्ञान मिलाकर और पावलोभ तथा फ्रायड के दिए हुए मनोविज्ञान का सम्भव विकाश वर्तमान वैज्ञानिक को मनुष्य के जीवन और विचारों के ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखने की सामर्थ्य दे दे तो वह कैसे मनुष्य की सृष्टि करेगा ? स्पष्ट तया वह ऐसे आदमी चाहेगा जिनमें "पार्टी वफादारी" के गुणों का आधिक्य हो, जो उसके इंगित पर जघन्य से जघन्य कार्य करने को प्रस्तुत हो जांय, जिनमें अधीनता शारीरिक क्षेत्रों को पारकर मानसिक क्षेत्रों तक पहुँच गई हो।

यदि समूह मनोविज्ञान में उन्हें और अधिक सफलता प्राप्त हुई तो वे जन-उन्माद उत्पन्न करना चाहेंगे जिससे जनता की बुद्धि पर एक पर्दा पड़ जाय और वे यह न समझ पायें कि जो कुछ उनसे त्याग के नाम पर कराया जा रहा है, उस मूर्खता का सुन्दर परिणाम केवल शाशकों को मिलेगा।

यदि सूर्य के अक्षय ताप का रहस्य उन्हें ज्ञात है, तो वे सूर्य की जीवनदायिनी शक्ति और प्रवृत्ति को भूलकर उन सिद्धांतों का उपयोग उदजन विस्फोट बनाने में कर रहे हैं, उनकी बुद्धि पर प्रमाद का इतना पर्दा पड़ गया है कि वे यह भी समझ नहीं पाते कि इन विस्फोटों की शक्ति से यदि वे प्रयत्न करें तो बड़े बड़े पर्वत खण्ड तोड़कर, नदियों के प्रवाह बदल कर भूगोल में परिवर्तन कर सकते हैं, जलवायु में परिवर्त्तन कर सकते हैं और यह सब मानव समाज के लिए कल्याणकारी भी हो सकता है।

विज्ञान के इस अन्धयुग में दास प्रवृत्ति के साथ साथ राजनैतिक क्षेत्रों से उतर कर दलबन्दी ने भी विज्ञान जगत में अपना सुदृढ़ गढ़ सा बना लिया है। इसका स्पष्ट प्रमाण एक ओर तो सोवियत वैज्ञानिकों का लाइसेंको के नेतृत्व में अनुदार रूप से ज्ञात गुण वाद में अविश्वाश से मिलता है, मार्क्सवाद या साम्यवाद की चिन्तन-धारा के विरुद्ध यदि उन्हें कुछ प्रयोगिक प्रमाण भी मिलें, तो पत्रिकाओं में वर्णित उन प्रयोगों को वे अपनी सरकार के लिए चिराग अली के सुपुर्द कर ही देंगे और सरकार उन प्रयोगशालाओं और उनमें कार्य करने वाले वैज्ञानिकों का अस्तित्व इस संसार से मिटाने में कोई कसर न उठा रखेगी, वाह री विडम्बना ! दूसरी ओर अमरीका वर्ग की पूंजीवादी सरकारें, जो अपना रूप अध्यात्मवाद के सिद्धांतों के आवरण में छिपाना चाहती हैं, वैज्ञानिकों से ज्ञात गुणवाद की पुष्टि करते हुए किसी प्रकार विज्ञान को ईश्वरवादी सिद्ध करा देने में अपना सर्वस्व व्यय करने को प्रस्तुत हैं। प्रयोग और प्रयोगों के प्रत्यक्ष निष्कर्षों से जीवन के रहस्यों को समझने का प्रशस्त मार्ग छोड़कर विज्ञान आज तथा-कथित दर्शन की शरण में जा रहा है, आज का दार्शनिक अधिक यूं कहिये की राजनैतिक-दार्शनिक विज्ञान के सिद्धांतों को समझने का अधिक दावा रखता है, यह अन्धयुग की सी बात नहीं तो क्या ?

राजनीति द्वारा प्रेरित दलबन्दी और संकीर्ण देशभक्ति की आड़ में घुसी हुई दास प्रवृत्ति को यदि विज्ञान-जगत से न हटाया गया तो निकट भविष्य में ही मानव-जाति को एक महान खतरे का सामना करना पड़ेगा, परिणाम कितना भयंकर होगा, अनुमान लगाना सरल नहीं। क्या वैज्ञानिक अपना दायित्व समझ सकेंगे ?

मनुष्य की सबसे पुरानी पंखदार शत्रु

लेखक—नारायण सिंह परिहार

टिड्डियों के रोक थाम की योजना एक अन्तराष्ट्रीय समस्या है। मनुष्य की सब से पुरानी इस पंखदार शत्रु के निरोधात्मक उपायों पर प्रस्तुत लेख में प्रकाश डाला गया है। लेख की सामग्री कल्याणकारी और मनोरंजक है।

टिड्डियों के आक्रमण से फसल की बरबादी के समाचार प्रायः पढ़ने को मिल जाते हैं। वस्तुतः इसका आतंक अति प्राचीन काल से है और आज भी इसके विरोध का कोई सटीक और सरल उपाय नहीं निकल सका है। फिर भी विशेषज्ञों ने इस दिशा में छानबीन की है और निरोधात्मक कुछ उपायों का निर्धारण किया है जिनसे सफलता भी मिली है।

टिड्डियां मनुष्य की सबसे पुरानी शत्रु हैं, क्योंकि मनुष्य ने आदि काल में, जब से खेती शुरू की, तभी से टिड्डियों ने उसके खाद्य पदार्थों का अपहरण शुरू कर दिया। टिड्डियां और उनके आक्रमणों का वर्णन प्लीन की रचनाओं और बहुत सी चीन, मिश्र और यूनान की पुस्तकों में मिलती हैं, मिश्र की ईसा पूर्व २,४०० वर्ष की पुरानी दीवालों में अंकित टिड्डी का सबसे प्राचीन चित्र मिला है।

टिड्डियां झींगुर की सगी सम्बन्धी है। यह कहना अधिक उचित होगा कि ये झींगुर जाति की एक प्राणी विशेष हैं जो कभी कभी अधिक यूथचारी हो जाती हैं और वृहद समूह में बहुत अधिक देशान्तर गमन करने लगती हैं। झींगुर की केवल ६-७ जातियां ऐसी हैं जिन्हों ने समुदाय में रहने की प्रवृति के कारण टिड्डियों का दुर्नाम पा लिया है।

मादा टिड्डी जमीन के अन्दर अंडे दे रही है।

जीवन चक्र टिड्डी अपना जीवन चक्र अन्डे से शुरू करती है। मादा टिड्डी पृथ्वी के अन्दर मुलायम बलुई मिट्टी में २-४ इंच की गहराई में, ३० से १०० तक के समूह में अंडे देती है, पृथ्वी के अन्दर रहने के कारण चिड़ियां और अन्य जानवर इनको नहीं देख सकते और इस प्रकार ये अंडे सुरक्षित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त मादा टिड्डी एक फेनदार पदार्थ अंडो के ऊपर और बिल के छिद्र में टपकाती है जिससे बिल का छिद्र बन्द हो जाता है। ३-४ सप्ताह के बाद अन्डे से एक कूदने वाला पतिगां निकलता है जो अपने मां-बाप से मिलता-जुलता है, केवल इसके पंख नहीं
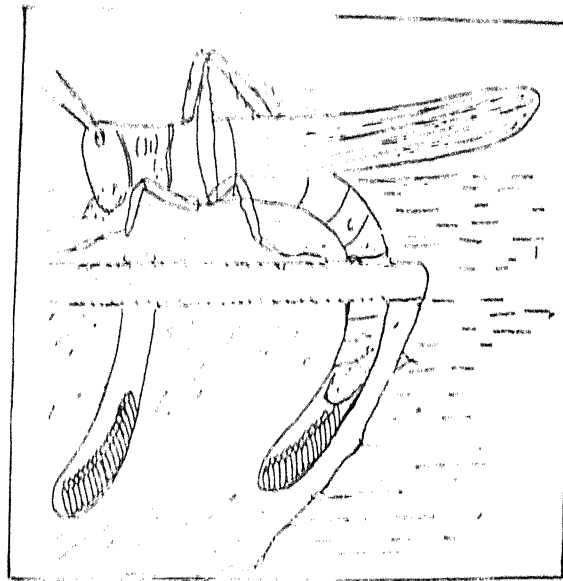
होते और वह बहुत छोटा १-१॥ इंच तक लम्बा होता है। इसके शरीर का बाह्यावरण बहुत कठोर होता है और शरीर को बढ़ने नहीं देता इसलिये जब यह बहुत कम हो जाता है तो पतिंगा इसको फाड़कर फेंक देता है और इस प्रकार ५--६ बार फाड़ने व फेंकने की क्रिया के बाद पतगिंा पूर्ण वृद्धि प्राप्त टिड्डी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था में ३--४ महीने रहने के बाद मादा टिड्डी फिर से अन्डे देती है और यह चक्र इसी प्रकार चलता रहता है।

टिड्डी के बारे में यह साधारण लेकिन आश्चर्यजनक बात सबको विदित है कि बहुत वर्षों तक इनका नामो-निशान नहीं दिखाई देता और फिर कभी इनके बृहद समूह प्रकट हो जाते हैं और कुछ समय बाद इस प्रकार लुप्त हो जाते हैं, मानों कभी आये ही न हों। सन् १८४३ से निम्नलिखित वर्षों में भारतवर्ष में इनके समूह दिखाई दिये हैं—१८४३; १८६३-६६; १८७०-७३; १८७७--८०; १८८०--९१; १९०१; १९१६; १९२६--३१ १९३०--४५; १९५०;

टिड्डियों के आक्रमण की इस क्रमहीन अवधि के

कूदने वाला पतिंगा

कारण यह आज तक जीव विद्या सम्बन्धी पहेली रही है और इसलिये आदि काल से मनुष्यमात्र के इनके आक्रमणों को रोकने के भिन्न-भिन्न उपाय निरर्थक रहे हैं।

सन् १९२१ में यूवेरोव नामक जीव वैज्ञानिक ने बहुत खोज के बाद टिड्डियों के बारे में एक सिद्धान्त निकाला जो कि टिड्डियों के दशा-परिवर्तन का सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। सन् १९२८ में फोर और अन्य वैज्ञानिकों ने अफरीका में यूवेरोव के सिद्धान्त की परीक्षा की और उसको सत्य पाया।

यूवेरोव का मत है कि टिड्डियां दो दशाओं में रह सकती हैं—पहली एकान्त दशा और दूसरी यूथचारी दशा। इन दोनों दशाओं में मुख्य अन्तर इनके कूदने वाले पतिंगा के रंग में है। एकान्त दशा के पतिंगा का रंग प्राय: हरा या भूरा रहता और यह अपने वातावरण के अनुसार बदलता रहता है। लेकिन यूथचारी दशा के पतिंगों का रंग काला और गाढ़ा पीला या नारंगी रंग का रहता है और वातावरण के साथ नहीं बदलता। इसके अतिरिक्त इनकी शारीरिक रचना में भी अन्तर होता है, एकान्त दशा के पतिंगों के पंख छोटे और जांघ लम्बी होती हैं जबकि यूथचारी दशा में पंख लम्बे और जांघ छोटी होती हैं, इनकी आंखों और सिर में भी थोड़ा अन्तर होता है।

यूथचारी दशा के पतिंगे काले होने के कारण अधिक तापकिरणों को शोषित कर सकते हैं और जब उनका आन्तरिक ताप बढ़ने लगता है तब वे अधिक चंचल होकर चलायमान हो जाते हैं ये पतिंगे बृहद समूह में रहते और देशान्तर गमन करते हैं।

इस समूह का दैनिक कार्यक्रम निम्नलिखित है

ये अपना अधिकांश समय पेड़ों पर व्यतीत करते हैं और जब सूर्य की प्रथम किरणें उन पर पड़ती हैं तो ये अपने शरीर को इस प्रकार सूर्य की किरणों के सामने रखते है कि अधिक से अधिक तापकिरणें शोषित हो सकें। इसी से इनका आन्तरिक ताप जल्दी बढ़ने लगता है और पूरा समूह चलायमान हो जाता है।

खेती एवं वनस्पति को नष्ट करने का कार्य प्रातः काल चलायमान होने से पहले और संध्या की विश्राम के बाद होता है।

इनके देशांतर गमन की दो विशेषताएं है पहली यह कि ये अपनी दिशा को नहीं बदलते और दूसरी यह कि ये अपने समूह से पृथक नहीं होते।

इस बात का पता लगाने के लिये कि एक दशा से दूसरी दशा में किस प्रकार परिवर्तन होता है, कुछ प्रयोग किये गये, जिनमें पतिंगो को एकान्त में और समूह में रखा गया और यह पता लगा है कि पतिंगा की निकटता ही इस परिवर्तन का मुख्य कारण है। यदि टिड्डियों के पतिंगों को अलग एकान्त में रखा जाय तो वे कभी हानिकारक टिड्डे के रूप में नहीं बदलेंगे और निर्दोष झींगुर की ही अवस्था में रहेंगे।

एकान्त दशा से यूथचारी दशा परिवर्तन कुछ मुख्य-मुख्य स्थानों में होता है, जिनको उद्गम स्थान के नाम से पुकारते हैं जिनका एक खास प्रकार की जलवायु और वनस्पति होती है। इन्हीं स्थानों में इनके समूह बढ़ते और फिर चलायमान हो जाते हैं, भारतवर्ष में आक्रमण करने वाली टिड्डियों का स्थायी स्थान लाल सागर के निकटवर्ती प्रदेश हैं।

पूर्ण-वृद्धि-प्राप्त टिड्डियों की चलायमान अवस्था में रोकथाम करना बड़ा ही कठिन कार्य है, इसलिये इनको अंडे या पतिंगे के अवस्था में ही मार डालना चाहिये।

अंडों को एकत्रित कर नष्ट करने की योजना यदि क्रमानुसार की जाय तो यह सबसे अधिक कार्य साधक हो सकती है। अंडे २–३ इंच की गहराई में मुलायम बलुई मिट्टी के अन्दर रहते हैं और खुरपी या हल इत्यादि की मदद से बड़ी आसानी से निकाले जा सकते हैं।

कूदने वाले पतिंगो को मारने का सबसे सरल तरीका यह है कि इनके बढ़ते हुए समूह के आगे १–११/२ फीट गहरी और १–२ फीट चौड़ी खाइयां खोद दी जाय जिनमें कि ये गिरते जांय और बाद में खाइयां मिट्टी से पाट देनी चाहिये। सन् १९२७ में पंजाब के झेलम जिले के चकवाल नामक केवल एक तहसील मे इस तरीके से १००० मन पतिंगे मारे गये थे।

टिड्डीयों के रोक थाम की योजना एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है और यह तब तक बनी रहेगी, जब तक कि वे सब राष्ट्र जहां इनका आक्रमण होता है एक साथ मिल कर कोई स्थाई योजना न करें। इस योजना का मुख्य ध्येय यह होना चाहिये कि उद्गम स्थानों में ही टिड्डियों को एकान्त दशा से यूथचारी दशा में परिवर्तन न होने दिया जाय।

—:०:—

हिन्दी गद्य का विकास-विज्ञान और दर्शन

लेखक—सत्य प्रकाश

[भारत में विज्ञान की भाषा हिन्दी ही होनी चाहिए, इसमें दो मत नहीं हो सकते। विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए, ऐसी परिस्थिति में, हिन्दी के वैज्ञानिक व दार्शनिक साहित्य भाण्डार का अध्ययन आज एक विशेष महत्व रखता है। निम्न परिचय साहित्यिकों और वैज्ञानिकों दोनों के लिए हितावह होगा।]

मुद्रण कला के विकास के साथ-साथ इस युग में देशदेशान्तरों में गद्य के साहित्य की प्रचुर मात्रा में विशेष सृष्टि हुई है। गद्य हमारे देश के लिए कोई नई शैली नहीं है। ऋचाओं के आविर्भाव के अनन्तर शतपथ ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ और अधिकांश उपनिषद् गद्य में ही लिखे गए। यह गद्य हमारे देश की चिरस्थायी सम्पत्ति है। प्लेटो, अरस्तू आदि अनेक यूनानी विचारकों ने अपनी अमूल्य कृतियाँ गद्य में ही लिखीं। अनेक कथा-वार्त्तायें और कादम्बरी के समान ग्रन्थ भी पुराने गद्य साहित्य के अनमोल ग्रन्थ हैं, ज्ञान विज्ञान संबंधी ग्रन्थ मध्यकालीन युग में या तो सूत्र बद्ध किए गए या श्लोकबद्ध। वेदांग, ज्योतिष से लेकर षट दर्शन तक का साहित्य सूत्रों में है, स्मृतियाँ श्लोकों में हैं और चरक-सुश्रुत से लेकर दो तीन शताब्दी पूर्व तक के आयुर्वेदिक ग्रन्थ श्लोकों में हैं। इसी प्रकार सूर्य सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थ भी पद्यबद्ध हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि दर्शन और विज्ञान के लिए हमारे मनीषियों ने गद्य का आश्रय लिया ही नहीं। फिर भी एक दृष्टि से हमें सन्तोष है है कि आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि प्रकाण्ड दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वेदान्त आदि ग्रन्थों के जो भाष्य लिखे वे तो उच्चकोटि के गद्य ही हैं। इन दार्शनिकों की ये कृतियाँ कहने को तो सूत्र ग्रन्थों की भाष्य मात्र हैं, परन्तु वस्तुतः वे अपनी-अपनी विचारधाराओं के प्रामाणिक मौलिक ग्रन्थ हैं।

हिन्दी गद्य शैली के विकास का आरंभ यों तो लल्लू लाल जी के प्रेम सागर, ईशा की रानी केतकी की कहानी अथवा सदलमिश्र आदि की कृतियों से माना जाता है और ललित साहित्य की दृष्टि से यह ठीक भी है, पर फिर भी ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में गद्य की परम्परा इससे कुछ पुरानी ही है। बिहारी, केशव, मतिराम आदि के ग्रन्थों की टीकायें इन कवियों के जीवन काल के निकट से ही चली आ रही हैं, और ये टीकायें व्रज भाषा के गद्य में हैं। इसी प्रकार कई दर्शन सूत्र ग्रन्थों की टीकायें भी, विशेषतया विज्ञान भिक्षु आदि के भाष्यों की टीकायें भी व्रज भाषा के गद्य में उपलब्ध होती हैं। कुछ आयुर्वेद और ज्योतिष ग्रन्थों के भी खंडअनुवाद व्रज की बोली में पाए जाते हैं। बहुत समय तक इस देश की परिपाटी की पाठशालाओं में संस्कृत माध्यम के साथ-साथ व्रज भाषा के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के ये ग्रन्थ शिष्यों को पढ़ाए जाते रहे। यदि इस बीच में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षण की प्रथा इस देश में आरंभ न हो जाती, तो हम अपनी गद्य शैली में समस्त शिक्षण विषयों का प्रबन्ध करते। अंग्रेजी माध्यम ने दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी गद्य को पचास वर्ष तक पल्लवित न होने दिया।

हिन्दी गद्य शैली का परिमार्जित रूप ललित साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृतियों में मिलता है। इसी प्रकार से ठोस विचारशील सांस्कृतिक साहित्य में हिन्दी गद्य का उत्कृष्ट स्वरूप महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में मिलता है। भारतेन्दु

और दयानन्द दोनों समकालीन थे। भारतेन्दु का स्वर्गवास संवत् १९४१ में और महर्षि दयानंद का संवत् १९४० में हुआ। महर्षि दयानंद का सत्यार्थ प्रकाश १९ वीं शताब्दी के हिन्दी गद्य का सब से बड़ा ग्रन्थ है। आकार की दृष्टि से तो यह सब से बड़ा है ही, जितनी लोक प्रियता इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई, उसकी समकक्षता में हिन्दी गद्य के किसी और ग्रन्थ को अब तक रक्खा नहीं जा सकता। कोई भारतीय भाषा नहीं, जिसमें हिन्दी के इस गद्य-ग्रन्थ के अनुवाद न हुए हों और यूरोप की भी प्रमुख भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। यह गौरव हिन्दी गद्य के और किसी ग्रन्थ को नहीं प्राप्त हुए। इस ग्रन्थ ने हिन्दी के दार्शनिक ग्रन्थों की शैली को जन्म दिया। फलतः हिन्दी खड़ी बोली में धीरे-धीरे समस्त उपनिषदों के भाष्य आरम्भ हुए और षड्दर्शनों के अनुवाद भी हुए। इन भाष्यकर्ताओं में आर्यमुनि, तुलसीराम, दर्शनानंद, राजाराम, शिवशंकर काव्यतीर्थ से लेकर नारायण स्वामी तक के ग्रन्थों की प्रधानता रही। यह भी बड़ा आवश्यक था कि दर्शनों और उपनिषदों के सभी संप्रदायों के भाष्य हिन्दी गद्य में हो जायें। गीता प्रेस से उपनिषदों के शंकर भाष्य के अनुवाद प्रकाशित हुए। अभी कुछ ही वर्ष हुए, ब्रह्मसूत्र का शांकर भाष्य "शारीरिक भाष्य" हिन्दी गद्य में प्रकाशित हुआ है। आवश्यकता यह है कि इसी भांति रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों के वेदान्त दर्शन के भाष्यों के अनुवाद भी हिन्दी में प्राप्त हो जाय। जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि दर्शनोंकी मूल प्रामाणिक पुस्तकों के अनुवाद भी हिन्दी में प्राप्त होने चाहिए। इनके मूल ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अर्ध मागधी और पाली में हैं। जैन दर्शनों में से कुछ का अनुवाद हिन्दी में मिलता है, पर फिर भी अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की ओर अभी ध्यान नहीं गया है। उमा स्वामि, सिद्धसेन, दिवाकर, विमलसूरि और देव नन्दि के ग्रन्थ हिन्दी में अवश्य होने चाहिए।

यूरोपीय दर्शन हमारे विश्वविद्यालयों का मुख्य विषय प्रारम्भ से ही रहा है, पर हिन्दी गद्य की शैली का विकास इस दर्शन की उपयोगिता की दृष्टि में अभी नहीं हो पाया है। पांडेय आचार्य रामावतार शर्मा ने बहुत दिन हुए, यूरोपीय दर्शन नामक परिचयात्मक एक छोटी सी पुस्तक लिखी। तब से अब तक इस विषय की दो-तीन पुस्तकें ही और निकल सकी हैं जो यूरोपीय दर्शन की झांकी मात्र कराती हैं। यूरोपीय अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान पर छोटी-छोटी पुस्तकें निकलीं, इनका विस्तार छात्र बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए भी समुचित नहीं है। डा० सुधाकर, श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल और प्रो० पांडेय के मनोविज्ञान और शिक्षा, मनोविज्ञान के ग्रन्थ इस ओर मार्ग प्रदर्शन अवश्य करते हैं, पर फिर भी हमारे गद्य को इस दृष्टि से परिपुष्ट होना है। आवश्यकता तो यह है कि कान्ट, बर्कले हीगल, ह्यूम, लॉक के मूल ग्रन्थों से लेकर साम्यवादी दर्शन तक के प्रामाणिक ग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी में हों। दर्शन के इस साहित्य के लिए हमें अपने गद्य में नई अभिव्यंजना उत्पन्न करनी पड़ेगी। अपने देश के प्राच्य दर्शनों के योग्य हिन्दी गद्य की शैली का मार्ग-प्रदर्शन तो दयानन्द और उनके अनुगामी षड्दर्शनों के भाष्यकारों ने किया। पर कान्ट के दुरूह ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के लिए हमें अपनी भाषा शैली को दूसरे ही ढंग पर परिमार्जित करना होगा। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों के समन्वय की भी आवश्यकता है, अर्थात् अपने देश के प्राच्य सिद्धान्तों को पाश्चात्य पद्धति पर व्यक्त करना है। हमें युग के आस्तिक व्यक्ति को अपनी आस्तिकता में निष्ठा होने के लिए इस युग के नये तर्क चाहिए। २०वीं शताब्दी के अद्वैतवादी की तृप्ति शंकर के समय के अद्वैतवाद से नहीं हो पाती है। हिन्दी गद्य में इस दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों की ओर कम ही ध्यान गया है। पांडेय रामावतार शर्मा उदार और क्रान्तिकारी विचारों के पोषक थे। ला० कन्नोमल जी ने भी अपने लेखों और पुस्तिकाओं द्वारा इस ओर कुछ काम किया। श्री गुलाबराय जी ने अपने कर्तव्य-शास्त्र आदि ग्रन्थों से अच्छी सेवा की। डा० भगवान दास ने कुछ मार्गप्रदर्शन किया। गंगाप्रसाद उपाध्याय के आस्तिकवाद, अद्वैतवाद, जीवात्मा और शंकर

भाष्यालोचन ने एक नई शैली का उद्घाटन किया। नारायण स्वामी के आत्मदर्शन और मृत्यु और परलोक आदि अध्यात्म ग्रन्थों ने विषयों को विशेष रूपसे रखा। सम्पूर्णानन्द के चिद्विलास ने विचार विमर्श की एक मौलिक परिपाटी का प्रदर्शन किया। राहुल सांकृत्यायन की कृतियों ने हिन्दी दर्शन को नई झांकी दी। इन सब रचनाओं में हमारा हिन्दी गद्य परिपुष्ट होता आ रहा है।

दर्शन और विज्ञान का अटूट संबन्ध है। अंततोगत्वा दोनों एक हैं। यों भी विज्ञान द्वारा जिन विषयों का प्रत्यक्षीकरण होता है, उनके आधार पर ही दर्शन अपनी रूपरेखा का निर्माण करता है। यूरोप में विकासवाद एवं भौतिक और रसायन की नई खोजों ने १८वीं शताब्दी से लेकर आज तक की दर्शन खोजों को बराबर प्रभावित किया है। बीसवीं शताब्दी का दर्शन साहित्य और विशेषतया मनोविज्ञान केवल कल्पना की वस्तु नहीं, प्रत्युत प्रयोग और आंकड़ों की वस्तु बन गया है। अपराधशास्त्र की विवेचना ने आचार शास्त्र को भी परिवर्तित किया है। विज्ञान और दर्शन का यह संबन्ध हमारे देश की पुरानी परम्परा रही है। भेद केवल इतना है कि पहला युग यदि दर्शन प्रधान था, तो अब विज्ञान प्रधान है।

विज्ञान ने प्रत्येक युग में एक नयी भाषा शैली को जन्म दिया। साधारणतया साहित्य में भाषा भाव प्रधान होती है, पर जब किसी विषय का प्रतिपादन शास्त्रीय ढंग पर करना होता है, तो भाषा विश्लेषणात्मक हो जाती है। शास्त्रीय विषयों में हमें अपने शब्दों को नयी भावनायें देनी पड़ती हैं। साधारण भाषा में हय, घोटक तुरंग और अश्व परस्पर पर्याय माने जाते हैं, पर अश्वशास्त्री का विवेचन इन सब का उपयोग अलग-अलग जाति के घोड़ों के लिए कर सकता है। यही बात साधारण और शास्त्रीय भाषाओं की शैली में भी है। पिंगल के छन्द सूत्रों और पाणिनी के व्याकरण सूत्रों की रचना गृह्य सूत्रों से विभिन्न शैली की है। सूर्य सिद्धान्त के श्लोकों में गणित के नियमों का प्रतिपादन जिस संकेत शैली पर है, वह शैली रामायण और महाभारत के श्लोकों से सर्वथा भिन्न है। बिलकुल यही बात आज के गद्य साहित्य में भी है। हिन्दी गद्य में लिखी गयी बीजगणित, ज्योतिष या रसायन की पुस्तक अपनी शैली में उपन्यास और एकांकियों की भाषा से सर्वथा भिन्न होती है। उपन्यास और नाटकों की गद्य शैलियों का मार्ग प्रदर्शक एक विशिष्ट कलाकार होता है, और ठीक उसी भांति वह व्यक्ति भी महान कलाकार है जिसने अपनी भाषा में विज्ञान के विभिन्न अंगों को व्यक्त करने की क्षमता प्रदान की। वैज्ञानिक विषयों की दृष्टि से हिन्दी गद्य अभी अपनी परिपक्व अवस्था को नहीं पहुंच पाया है। यूरोप की भी तो सभी भाषायें इस दृष्टि से अभी परिपक्व नहीं हो पायी हैं, जर्मन और अंग्रेजी भाषाओं का गद्य बहुत कुछ प्रौढ़ हो गया है, पर रूसी और डेनमार्क आदि की भाषायें अभी अपरिपक्व हैं। एशिया में जापानी साहित्य ही सब से अधिक आगे बढ़ सका है। आज से २५ वर्ष पूर्व ही उच्चतम वैज्ञानिक साहित्य की सृष्टि जापानी भाषा में आरंभ हो गयी थी, और इसकी प्रगति भी वेग से बढ़ी। इसका कारण यह था कि जापान में किसी एक यूरोपीय भाषा का एक मात्र प्रभुत्व न था वरन् जर्मन, अंग्रेजी, और फ्रेंच तीनों को एक समकक्ष में रक्खा जाता रहा है, और अपनी जापानी भाषा को वहां के निवासियों ने सर्वोपरि स्थान दिया। हमारे देश की परिस्थितियां स्पष्टतया भिन्न थीं। कहने को तो हमारे वैज्ञानिक साहित्य का कुछ न कुछ हिन्दी में लिखना पढ़ना उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में होने लगा था। गणित की पुस्तकें हिन्दी में लिखी गयीं। आगे चलकर पं० सुधाकर द्विवेदी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने चलन कलन चलराशि कलन और समीकरण मीमांसा तीनों उच्चकोटि की पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना होने पर हिन्दी पुस्तकों द्वारा वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण का कार्य पहली बार आरम्भ हुआ और शालोपयोगी कई रसायन और भौतिक विज्ञान की पुस्तकों की रचना हुई। इनके लेखकों में प्रो०

महेशचन्द्र सिंह और रामशरणदास का नाम उल्लेखनीय रहेगा। प्रयाग में स्वर्गीय डा० गंगानाथ और प्रो० रामदास गौड़ और प० सर सुन्दरलाल जी आदि की लगन से विज्ञान परिषद् की संस्थापना हुई और लगभग ३६ वर्ष से इस परिषद् ने "विज्ञान" नामक जो पत्रिका प्रकाशित की, उसने न केवल वैज्ञानिक विषयों के गद्य लेखकों को जन्म दिया, प्रत्युत हजारों पृष्ठों की वैज्ञानिक सामग्री हिन्दी को प्रदान की। ललित साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी जी की सरस्वती ने जो कार्य किया, विज्ञान के क्षेत्र में आचार्य रामदास गौड़ की विज्ञान पत्रिका ने भी वही कार्य किया। आचार्य गौड़ हिन्दी साहित्य के प्रतिभाशाली विद्वान थे, और उन्होंने विज्ञान के विभिन्न अंगों की भाषाशैली को विकसित रूप प्रदान किया। गद्य और पद्य दोनों पर उनका समानाधिकार था। उनकी गद्य शैली इतनी अच्छी थी कि विज्ञान के दुरूह विषयों को उन्होंने जनोपयोगी बना दिया, उनका लिखा विज्ञान हस्तामलक वैज्ञानिक गद्य का आदर्श और प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहेगा। हिन्दी वैज्ञानिक गद्य के दूसरे कलाकार डा० गोरखप्रसाद हैं, दुरूहताहीन यथार्थता, जो वैज्ञानिक विषयों के लिये परमावश्यक हैं, डाक्टर साहेब के ग्रन्थों और लेखों की विशेषता है। सौर परिवार, फोटोग्राफी, घरेलू नुसखे, घरेलू डाक्टर और गणित की पुस्तकें इन सब के द्वारा विज्ञानोपयोगी आदर्श गद्य का प्रदर्शन हुआ है।

वैज्ञानिक हिन्दी साहित्य की सृष्टि का श्रेय नागरी प्रचारिणी सभा काशी को विशेष रूप से है, यों तो मनोरंजन पुस्तक माला में वैज्ञानिक विषयों की दो चार पुस्तकें निकली हीं, वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में इसने जो कार्य किया, उसका ऋणी हिन्दी जगत् सदा रहेगा। अब तो इस क्षेत्र में अनेक संस्थायें काम करने लगी हैं, पर मार्ग प्रदर्शन का श्रेय काशी की इस संस्था को ही है। वैद्यक और चिकित्सा सम्बंधी ग्रन्थों की रचनायें डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा, डा० त्रिलोकीनाथ, अत्रि गुप्त आदि व्यक्तियों के ग्रन्थों ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। पं० ओंकार नाथ शर्मा के ग्रन्थ रेलवे विज्ञान, यांत्रिक चित्रकारी आदि के सम्बंध में उल्लेखनीय हैं डा० निहाल करण सेठी ने भौतिक विज्ञान और प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ने रसायन की अच्छी सेवा की। इन दोनों व्यक्तियों की गद्य शैली अपने अपने विषयों के लिए आदर्श रहेगी। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हमारा वैज्ञानिक साहित्य द्रुत गति से अग्रसर होगा, और हमारे गद्य को स्थायी रूपरेखा प्राप्त होगी।

[आ० इ० रेडियो दिल्ली के सौजन्य से]

भारत सरकार के फिल्म विभाग के कुछ नये चित्र

२४ नवम्बर से आरम्भ होने वाले सप्ताह के लिए भारत सरकार के फिल्म विभाग द्वारा 'परदार विनाश, नामक जो चित्र निकाला जा रहा है, उसमें टिड्डियों के आक्रमण से कृषि को होने वाली क्षति के सम्बन्ध में अनेक बातें बतायी गयी हैं। चित्र में यह भी दिखाया गया है कि प्रागैतिहासिक काल से ही मनुष्य की अपार हानि पहुँचाने वाली इन टिड्डियों की रोकथाम के सर्वोत्तम उपाय क्या है।

भारत सरकार के फिल्म विभाग द्वारा निर्मित चित्र, गवेषण द्वारा उद्योग की 'सहायता' (रिसर्च एड्स इंडस्ट्री) में, भारत में स्थापित की गयी विभिन्न गवेषणाशालाओं को वर्णन समुचित रूप में किया गया है और बताया गया है कि देश के औद्योगीकरण में वे किस प्रकार अपनी अमूल्य सहायता प्रदान करेंगी। दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिकशाला तथा सड़क गवेषणासंस्था, रुड़की स्थित निर्माण गवेषणा-संस्था, लखनऊ स्थितऔषध-गवेषणा-संस्था, धनबाद स्थित इंधन गवेषणा-संस्था, आदि आदि के दृश्य इस चित्र में सम्मिलित हैं।

गोधूमी वर्ग के पौधों पर कुछ विचार

लेखक—सुधांशु कुमार जैन

[यदि हम यह जान लें कि गोधूमी वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की घास ही नहीं बल्कि गेहूँ, चावल, जौ आदि भी आते हैं, तो यह समझना कठिन न होगा कि प्राणीमात्र के जीवन के लिए ये पौधे कितने आवश्यक हैं। यहाँ लेखक ने इस वर्ग के पौधों के आकार, प्रकार आदि का एक संक्षिप्त किन्तु वैज्ञानिक वर्णन देते हुए कुछ स्थलों पर मौलिक सुझाव देने का अच्छा प्रयास किया है।]

गोधूमी वर्ग के पौधों का हमारे जीवन में विशेष महत्त्व है, यदि यह कहा जाए कि वनस्पति से जितना हमारा संबंध है उसका एक अत्यंत मुख्य भाग इसी वर्ग के पौधों से है, तो अनुचित न होगा। साधारण-तय: इस वर्ग के पौधों को 'घास' कहते हैं, और ठीक भी है क्योंकि इसके अधिकांश पौधे सचमुच वही स्थान रखते हैं जो 'घास' शब्द से आशय होना चाहिए। प्राय: घास शब्द ऐसे सभी पौधों के लिए प्रयोग कर दिया जाता है जो खेतों, बागों या मैदानों में अनायास ही उग आते हैं, परंतु यह अशुद्ध है, पौधों के एक वर्ग विशेष (गोधूमी वर्ग) तक ही इस शब्द को सीमित रखना चाहिए। गेहूँ, चावल, जौ, मक्का, ज्वार, बाजरा, ईख और बांस आदि भी इसी वर्ग के पौधे हैं, और इनकी गिनती करने पर ही हमें कुछ अनुमान हो सकता है कि हम तो जीवित रहने मात्र के लिए भी गोधूमी वर्ग के पौधों पर निर्भर हैं।

संसार का शायद ही कोई ऐसा भाग हो जहाँ इस वर्ग के कुछ न कुछ पौधे न पाए जाते हों, इसका मुख्य कारण यह है कि वे भिन्न प्रकार के जलवायु में पैदा हो सकते है। एक ओर रेगिस्तान से लेकर दूसरी ओर पानी के अंदर तक तथा समुद्र की सतह से कई हजार फुट की ऊंचाइ तक ये पौधे पाए जाते हैं। भारतवर्ष के भिन्न भागों में नाना प्रकार का जलवायु पाया जाता है, और इस कारण हमारे देश में जितनी प्रकार की 'घास' पाई जाती हैं, संभवतय: संसार के किसी भी भाग में न हों।

यह खेद की बात है कि गोधूमी वर्ग प्राणी मात्र के लिए इतना उपयोगी होने पर भी हमारे देश के वनस्पति शास्त्र ज्ञाताओं का उतना ध्यान आकर्षित न कर सका जितना कि होना चाहिए था। अब पिछले कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों में तथा अन्य अनुसंधान शालाओं में अनाज, ईख व बांस पर कुछ अन्वेषण कार्य चल रहा है, जिनमें से मुख्य यह हैं—

गेहूं आदि पर—कृषि अनुसंधानशाला, नई दिल्ली (Indian Agriculture Research Institute, New Delhi); कृषि कालेज, कानपुर; प्रयाग विश्वविद्यालय आदि।

चावल—चावल अनुसंधानशाला, कटक (Central Rice Research Station, Cuttak) तथा अन्य प्रांतीय सरकारों के कृषि विभाग।

ईख—ईख अनुसंधानशाला, कोइम्बटूर (Central Sugarcane Research Station Coimbatore कृषि अनुसंधानशाला, पूसा (बिहार) व नई दिल्ली, शाहजहापुर (उत्तर प्रदेश) आदि।

बांस—वन अनुसंधान शाला, देहरादून (Forest Research Institute, Dehradun) आदि।

समय समय पर विदेशी वैज्ञानिकों ने भारत की घास सम्पत्ति की सराहना की और उस पर खोज के

साथ कार्य भी किया। इनमें से श्री J. F. Duttin, J. C. Lisboa, J. D. Hooker, Symonds, C.E.C. Fischer, E.J. Blatter व N. L. Bor के नाम उल्लेखनीय हैं।

गोधूमी वर्ग के पौधों के आकार, रूप, जीवन प्रणाली, तथा हमारे जीवन में उनके महत्त्व का अधिकाधिक अध्ययन हमारे लिए परमावश्यक है, आकार, रूप चित्र (१—६) यह पौधे कुछ इंच से लेकर बीसियों फुट ऊंचे (बांस व ईख) तक होते हैं। तना प्राय: खोखला होता है, और पड़ा या अधिकतर सीधा खड़ा होता है। पत्ती प्राय: विनाल (Sessile) होती हैं, उनका आकार भिन्न प्रकार का होता है। पत्ती के नीचे का भाग खोल के रूप में (Sheath) तने के चारों ओर चिपटा रहता है।

पुष्पव्यूह (Inflorescence) तने के तथा उसकी शाखाओं के ऊपरी भाग (अर्थात् अग्रस्थ–Terminal) रहता है, और प्राय: संयुक्त (Compound-inflorescence) होता है। यह कई प्रकार का होता है, और एक घास को दूसरी से पहचानने में बहुत सहायता देता है,

गोधूमी वर्ग के पुष्प की बनावट और पौधों से भिन्न होती है। एक पुष्पव्यूह में अनेक निदंडिका (Spikelet) होती हैं। एक निदंडिका के भिन्न अंग इस प्रकार रहते हैं —

निदंडिका के नीचे की ओर के वृत्त पत्रों(Bracts) को 'तूस' (Glumes) कहते हैं, और बाकी को 'अन्तरतूस'। तूसों के पार्श्व में फूल नहीं होते। अन्तरतूसों की नोक पर प्राय: कांटा जैसा रहता है जिसे सीकुर (awn) कहते हैं। प्रत्येक लघुपुष्प (Floret) में दो अंतरतूस होते हैं, एक बाहर का जिसे "अधरस्थ अन्तर तूस" (Lemma) कहते हैं, दूसरा भीतर का जिसे "ऊर्ध्वस्थ अन्तरतूस" (Lodicules) कहते हैं। दो छोटे छोटे अंग (Stamens) होते हैं जो अन्ततूसों को खुलने में सहायता करते हैं। हर-लघुपुष्प में २ या ३ पुकेसर (Carel) और एक गर्भकेसर (Carpel) होता है।

प्राय: कुछ भागों के लोप अथवा अपूर्ण विकसन (Suppression)से अथवा अविकसन (Adortion) से भिन्न दशा देखने में आती है।

बीज का आकार तथा उसके अंग भिन्न प्रकार के होते हैं, यह एक दाल के होते हैं (Monocoty ledonous)।

प्रत्येक पौधे को आगामी समय में जीवित रहने के लिए आवश्यक है कि उसको बीज को पौधे से उठा कर उपयुक्त भूमि में ले जाने (Dispersal) तथा वहाँ पर उगाने का प्रबंध उचित हो। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि पौधों में कुछ विशेष अंग इसी कार्य में सहायता देने के लिए रहते हैं। कुछ घासों में तूस (Glumes) पर कांटे या बाल होते हैं, जिनकी सहायता से वह आदमी या जानवरों के शरीर से चिपक कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाए जाते हैं। इस कार्य में सीकुर (awn) का बड़ा महत्त्व है, प्राय: p रत्नोंके खुरदरा वह चिपक कर बीज को दूर दूर तक पहुँचा देता है। इसके अतिरिक्त बीज के भूमि पर गिरने के बाद पानी या नमी के प्रभाव से सीकुर की ऐंठन खुलती है और सिकुड़ती हैं जिनके कारण बीज भूमि में धंसता जाता है, यह दशा बीज को उगने में सहायता देती है।

'घास' पैदा करने के लिए प्राय: बीज ही बोया जाता है, बीज, साफ़ और भारी दाने का होना चाहिए।

गोधूमी वर्ग के पौधों का हमारे जीवन से कहाँ तक सम्बन्ध है, इसका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया गया है —

१—**अनाज**—(Cereals) हमारे प्रतिदिन के भोजन का एक बड़ा भाग गेहूँ, चावल आदि इसी वर्ग के पौधे हैं।

गेहूं— wheat—(Triticum vulgare L.)

गेहूँ हमारे देश का मुख्य भोजन है, प्रयोग द्वारा आजकल इसकी सैकड़ों किस्में निकाली गई हैं जिनमें से कई पैदावार आदि के विचार से बहुत अच्छी हैं। वैज्ञानिकों का ध्येय है कि ऐसे गेहूँ को खोज निकाला जाए जो अनेक रोगों से मुक्त हो, अधिक उपजाऊ हो, तथा उसमें पौष्टिक पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा में हों। दो भिन्न गुण वाले पौधों के मेल से (Cross breeding) नए पौधों की उत्पत्ति होती है, और इन्हीं में कभी २ अच्छे प्रकार का गेहूँ मिल जाने की संभावना रहती है। लगभग १३,००० फुट की ऊंचाई तक गेहूँ की खेती होती है।

चावल- Rice -(oryza satira L.) हमारे देश के कुछ भागों में केवल, या विशेषकर, चावल खाने वाले ही लोग रहते हैं। चावल की खेती भी भारत के लगभग हर भाग में होती है। पहाड़ी प्रदेशों में भी अच्छा चावल पैदा होता है।

जौ—Barley—(Hordeum vulgare L.) जौ की खेती प्रायः उत्तरी भारत में ही होती है। पहाड़ी प्रदेशों में भी इसकी खेती होती है।

मक्का—Maize— (Zea mays L.) इसे भुट्टा भी कहते हैं और वर्षा ऋतु में भून कर खाया जाता है। अनाज की तरह भी इसका प्रयोग बहुत है यह प्रायः गर्म भागों में ही उगता है।

ज्वार— Great millet(Sorghum vulgare pers) ज्वार की खेती प्रायः सारे भारत में होती है।

बाजरा—Spiked millet (pennisetum-tyhpoides stapf and hubb) इसकी खेती सारे भारत में होती है, प्रायः उष्ण भागों में।

जई—Oats (Avena Satiua) जई की खेती प्रायः भारत के उत्तरी व पूर्वी भाग में ही होती अभी तक इसका प्रयोग अनाज की तरह अधिक नहीं है, परन्तु गेहूँ की कमी में अब इस ओर अधिक ध्यान की आशा है। स्वास्थ्य के लिए यह बहुत लाभदायक है।

कंगनी—Italian millet (setaria italica Beauv) इस अनाज की खेती लगभग सारे भारत में होती है। पहाड़ी प्रदेश में यह ६,००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

कोदो—(Paspalum scrobiculatum L.) यह सारे देश में पाई जाती है, इसकी खेती भी होती है। उष्ण भागों में ही यह उग सकती है।

सवां—(Echinochloa colona Link) यह अनाज सारे भारत में पाया जाता है, इसकी खेती भी होती है और अनाज की कमी में इसको खाने के प्रयोग में लेते हैं।

२—**ईख**—Sugarcane(Saccharum officinasumL.) ईख (ऊख) भारत की एक मुख्य पैदावार है। परन्तु हमारे देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए वह पर्याप्त नहीं है। कोइम्बटूर अनुसंधानशाला ने ईख के विषय में प्रशंसनीय कार्य किया है। ईख कई प्रकार से काम आती है। शक्कर या चीनी बनाना तो मुख्य है, ही इसका छिलका ईंधन के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। खोई से कागज़ व Insulating Sheet बनाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। शीरे से सुरासार आदि बनाए गए हैं, जिनसे पेट्रोल में मिलावट (Adulteration) का काम लिया जाता है। ईख की पत्ती (गौंडा या गौला) को चारे की तरह प्रयोग किया जाता है।

३—**बांस**—Bamboo बांस विशेषकर Dendrocalamus Strictus नामक पौधा है। परन्तु अन्य कई जाति के पौधे भी बांस पैदा करते है, जैसे Bambusa व ArundinariaS.P.। बांस इन पौधों का तना होता है। तना स्वभावतः खोखला होता ही है। बांस के कोष्ठ में Silica नामक पदार्थ जमा रहता है जिसके कारण बांस में दृढ़ता आ जाती है बांस की लकड़ी लचकदार और अत्यंत हल्की होती है, इन गुणों के साथ दृढ़ता होना ही इसमें विशेषता है

बांस अनेकों प्रकार से प्रयोग में आता है। छोटे पौधों (Young shoots) को पतला पतला काट कर अचार बनाया जाता है क्योंकि बांस की लकड़ी लम्बाई में आसानी से चिर सकती है, इस कारण इसका प्रयोग सुगम होता है। छप्पर छाने, बल्लियों में, फरनीचर, औजार, पानी लेजाने की नलियां, बैंत, बांसुरी, पींजरा सूप, चिक, खिलौने, लाठी, पानी भरने के बर्त्तन, चटाई, टोकरी, पंखे, टोपी, छतरी, रस्सी, ब्रश आदि सैकड़ों कामों में बांस आता है। मोटे बांस की एक २ गांठ काट कर गमलों के लिए प्रयोग होता है, बर्मा में इसमें चावल पकाया जाता है।

बांस से बढ़िया व मजबूत कागज भी बनता है देहरादून में इस विषय पर प्रयोग किए गए हैं। विशेष कर मलट कागज बड़ा अच्छा बनता है।

बांस की लकड़ी में से "बंसलोचन" निकलता है जो ज्वर पेचिश आदि के लिए औषधि में काम आता है।

बांस हाथी का चारा है। एक समाचार द्वारा ज्ञात हुआ है कि लंदन में बांस की लुग्दी बना कर उससे रेशमी धागा भी बनाया गया है। हमारे देश में अभी इस विषय पर कदाचित ध्यान नहीं दिया गया है।

४—तेल—(Oil yielding grasses) भारत में ऐसी कई घास पैदा होती हैं जिनसे भिन्न प्रकार के तेल निकाले जाते हैं। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) Cymbopogon martinii Watson-(Rosha oil संस्कृत-रोहिशा, हिन्दी-रुसा, गंधमेल, मिर्चिया गंध, तिखारी, सूंठी; गुजराती-रौंस-;कनाड़ी-कुंथी हुल्लू; तमिल-कवत्तम पिल्लू)।

यह घास राजपूताना के रेगिस्तान को छोड़कर लगभग सारे भारतवर्ष में पाई जाती है। १ मन हरी घास से २-१/२ छटांक तेल निकलता है। भारत में सालाना लगभग १२,४०० गैलन तेल निकाला जाता है जिसमें से ३,००० गैलन बाहर भेजा जाता है।

यह घास दो प्रकार की होती है—एक का नाम 'सूफिया' व दूसरी का 'मोतिया' है। दोनों की पत्ती व सुगन्ध में अन्तर हैं। सूफिया प्रायः मैदानी भाग में तथा मोतिया पहाड़ी प्रदेश में पाई जाती है।

(२) Cymbopogon citratus stapf(Lem-on grass oil. तामिल व मलय.लम-वासन पिल्लू तेलगू-वासना गद्दी; कनाड़ी-मज्जिगे हुल्लू; मराठी-हिरवाचा; गुजराती-लीली चा) यह घास बहुत से स्थानों पर बोई जाती है। १ मन हरी घास से लगभग २ छः तेल निकलता है; यह तेल सुरासार में कठिनाई से घुलता है। लंका से इस तेल का निर्यात होता है!

(३) Cymbopogon nardus. Rendle (citronella oil. सिंगाली-पानांगिरी मना) यह घास लंका में तथा भारत में बोई जाती है जिससे यह सुगंधित तेल निकलता है।

(४) Cymbopogon confertiflorus staps (तोडा-बम्बे; मलयालम व कनाड़ा-कोदी फुल्लू) यह घास नीलगिरी पहाड़ों पर विशेषकर पटाना में पाई जाती है कोचीन में इससे तेल निकाला जाता है।

(५) Cymbopogon flexuosus watson (Malabar or cochinlem on grass oil; तामिला-शुक्कूनारी पिल्लू; कनाड़ी-मनाथी बलई) यह घास बहुत से स्थानों में बोई जाती है, दक्षिणी भारत में वैसे ही बहुत पैदा होती है। इसका तेल सुरासार (alcohol) में घुल जाता है। यह तेल बाहर देशों को भेजा जाता है।

(६) Cymbopogon schoenanthus spreng (हिन्दी-खावी, घबियारी) यह घास पंजाब में पाई जाती है, १ मन सूखी घास से लगभग ६ छटांक तेल निकलता है। यह तेल औषधि में काम आता है।

(७) Cymbopogon caesius stapf (तामिल कामाक्षि पिल्लू, तेलगू- कामांचि गद्दी; कनाड़ी-

कामांचू हुल्लू) यह घास करनाटक में पाई जाती है। एक मन सूखी घास से ३-१/४ छ० तेल निकलता है।

(८) Vetivria zizanioides nash(Khus —Khus); संस्कृत-बाला; हिन्दी-खस खसे; सींक, उसीर बेंध, गंदेल, गुजराती-वालो; तामिल तेलगू-वतीवर; कनाड़ी-बलालदे हुल्लू; मलयालम-रामचन) यह घास सारे भारत में पाई जाती है। इसकी जड़ में सुगन्ध आती है, जड़ से तेल निकलता है एक मन सूखी जड़ से लगभग ५-६ छटांक खसखस का तेल निकलता है। सुगन्धित होने के कारण जड़ों के पर्दे, टट्टियां, टोकरी, पंखे आदि बनते हैं जिन पर पानी छिड़कने से सुगन्ध आती है। ट्रावनकोर में पाई जाने वाली घास अच्छी मानी जाती है।

ऊपर वर्णन की गई ८ घासों के अतिरिक्त और भी कुछ हैं जिनसे थोड़ा तेल निकल सकता है। परन्तु वे अधिक प्रसिद्ध नहीं है।

५—**कागज**—पीछे बांस का वर्णन करते समय बताया गया था कि बांस से कागज बनता है। बांस की अनेक किस्म कागज बनाने के काम में आती है। बांस का बना हुआ कागज बहुत मजबूत होता हैं, इसीलिये विशेषकर मलट कागज (Packing paper) इससे बनाया गया है। बांस से (Insulating sheets) भी बनाई गई हैं कागज और भी कई घासों से बनाया गया है जैसे भाभर (Eulaliopsis binata Hubb); मूज (Erianthus munja Jesweit)

६—**चरागाह और चारा**—(Pastures and Fodder) भारत जैसे उष्ण देश में अच्छे और बड़े चरागाह होने की तो सम्भावना ही नहीं है। परन्तु गाय, भैंस, बैल, बकरी, घोड़े आदि के भोजन का कुछ न कुछ उपयुक्त प्रबन्ध तो प्रकृति करती ही है। इन जानवरों का हमारे जीवन से निकट संबन्ध है, तथा कृषि के लिए वह अनिवार्य है। दूध, घी, गोश्त खेती बारी तथा सवारी के अतिरिक्त इनका एक और भी प्रभाव है हमारी कृषि पर, वह है इनके गोबर, लीद, व मींगनी से बढिया खाद का बनना। इन्ही अनेक कारणों से हमको इन जानवरों के उपयुक्त चारे का प्रबन्ध देखना होता है। हमारे देश का जलवायु ऐसा है कि यदि एक घास के मैदान को कुछ समय के लिए चरने से बंद कर दिया जाए, और आग से बचाया जाए तो वह धीरे धीरे जंगल का आकार लेता चला जाएगा अर्थात उसमें बड़े २ पौधे उग आएंगे, जो फिर बड़े २ पेड़ बन जाएंगे। यह आवश्यक है कि चरागाहों में कभी २ आग लगा दी जाए जिससे वह फिर छोटे २ पौधों के लिए ही उपयुक्त रह सकें। जानवरों का चरना भी निरन्तर चलता रहना चाहिए, इससे भी इन चरागाहों की अनावश्यक बढ़ोतरी रुक जाती है। चारे के काम में आने वाली घास ऐसी होनी चाहिये जो सख्त व कांटेदार न हो, उसमें कोई सुगन्ध न हों तथा वह अन्यथा भी हानिकारक न हो। यों तो जानवर हर एक घास को खा ही लेते हैं, परन्तु उन्हें भी अच्छी बुरी का बहुत ज्ञान है। प्रयोग द्वारा यह जान लिया गया है कि विशेषतया कौन २ सी घास को कौन २ जानवर रुचि के साथ खाते हैं। यह प्रयत्न किया जाता है कि चरागाहों में आवश्यकतानुसार इन्ही में से कोई घास बोई जाए। कुछ घास ऐसी हैं जो केवल हरी ही अच्छी तरह खाई जाती हैं, उनका भूसा जानवरों को अच्छा नहीं लगता। कुछ घास हरा चारा तथा भुसा होने में अच्छी रहती हैं। कई घास ऐसी हैं जिनके बड़े होने पर उनके कुछ अंगों पर कांटे पैदा हो जाते हैं या उनके सीकुर पैने हो जाते हैं, और ढोर डंगर उन्हें छोड़ देते हैं, ऐसी घास छोटी अवस्था में ही काम देती है।

चारे के काम आने वाली केवल कुछ मुख्य २ घासों का वर्णन नीचे दिया गया है—

अ—प्रायः मैदान में पाई जाने वाली घास—

(१) बरू,बिखोंडा(Sorghum halepes penes pers) यह घास सारे भारत में पाई जाती है। यह चारा और भुसा दोनों प्रकार अच्छी मानी जाती है।

परीक्षण द्वारा यह मालूम हुआ है कि सूखने पर या मुरझाने पर इस घास में विष फैल जाता है जो जानवरों के लिए हानिकारक है। यह घास छोटे पौधों की अवस्था में ही ठीक रहती है। जब तक यह १ गज से ऊंची न हो तभी तक इसका भुसा बना लेना चाहिए।

(२) जई—Avera sativa जई का अनाज तो काम आता ही है यह घास चारे के लिए बहुत बढ़िया समझी जाती है।

(३) Themeda triandra Forsk यह घास भी भारत में बहुत अच्छा चारा समझी जाती है। सब जानवर इसे पसन्द करते हैं।

(४) जनेवर, जर्गी आदि (Dichanthium annulatum stapf)यह घास उत्तर प्रदेश की बहुत बढिया चारा व भुस वाली घास मानी जाती है। फूल आने के समय यह सर्वोत्तम होती है।

(५) मुशेल, गंगेरु (Andropogor pumilus Roxb व, हरा चारा व भुस दोनों के लिए अच्छी होती है।

(६) सुंधेर (Bothriochloa intermedia camus) दक्षिणी भारत में यह चारे के अधिक काम आती है। इसी जाति की दूसरी घास जरेवा, फुलरा B. pertusa eamus का भी चारा अच्छा होता है।

(७) Chloris gayana kunth इस घास की भी चारे के लिए बहुत प्रशंसा है।

(८) गोरिया घटेरा, गोरखा—Chrysopogon montanus Trin इस घास की एक २ मौसम में ५ वार तक काटा गया है। इस प्रकार १ एकड़ में से लगभग ५-१/२ टन तक चारा निकाला गया है।

(६) दूब घास—Cynodon dactylon pers.—इस घास को सर्वोत्तम समझा जाता है विशेष कर घोड़ों के लिए (पेशाब बंद होने पर यह घास दवाई के काम भी आती है)

(१०) मकड़ा—Dactyloctenium aegypticium Beauv. यह घास भी प्रशंसनीय कही जाती है।

(११) चरमरा, सिचूर, केवई—Digitaria bifasciculata henr. यह घास गाय भैंस के दूध को बढ़ाती है। यह घटिया भूमि पर भी अच्छी तरह उगती है।

(१२) सवां, धूनिया—Fchinochloa colona Link. यह घास भी बहुत अच्छी घासों में मानी जाती है। जानवरों को मोटा करती है। भुस भी अच्छा होता है।

(१३) चिड़िया का दाना—Sporobolus diander beauv. यह घोड़ों के लिए भी अच्छी मानी जाती है।

(१४) सैन—Sehima nerosum stapf इस घास की चारा व भुस दोनों दशा में प्रशंसा है।

(१५) मतमार, चपड़ी—Paspalidium flaridum camus. यह घास घोड़ों के लिए भी बहुत अच्छी मानी जाती है।

(१६) Panicum paludosum Roxb. यह घास गाय भैंस के लिए बहुत उपयोगी बताई गई है, आसाम में हाथी इसे बड़े चाव से खाते हैं।

(१७) मचौरी, मुसेल—Iseilema laxum hack. यह भारत की मुख्य घासों में मानी जाती है। गाय, भैंस व घोड़े सब इसे चाव से खाते हैं। भुस भी अच्छा बनता है।

(१८) बैंसिया—Eragrostis unioloides Nees. यह घास घोड़ों के लिए भी अच्छी मानी जाती है।

(१६) मकरैता, चिचोरा—Eleusine indica Gaestr. यह घास सूखे स्थानों के चारागाहों में भी उग सकती है और बहुत उपयोगी है।

(२०) **बांस**—Dendrocalamus, Bambusa यह हाथी के खाने के काम आता है।

ब—**पहाड़ों पर पाई जाने वाली घास**—पहाड़ों में प्रायः वही घास मिलती है जो यूरोप में होती है, अधिक ऊंचाई पर जाने पर वे मिलती हैं जो यूरोप के पहाड़ों पर होती हैं। उनमें मुख्य ये हैं।

Avena pratensis

Brachypodium pinnatum

Dactylis glomerata

Festuca elatior L

Phragmites communis Trin

इनके अतिरिक्त जितने अनाजों का पहले वर्णन किया गया था, लगभग उन सभी की घास से चारा व भुस बहुत अच्छा बनता है।

७—**खेल कूद व मनोरंजन के मैदान** (Lawns and parks)—ऐसे स्थानों पर कुछ विशेष प्रकार की ही घास उपयुक्त रहती हैं जो अधिक जल्दी न बढ़ें, जल्दी सूख भी न जाएं, धूप को सह सकें, कांटेदार या खुरदरी न हों।

दूब घास (Cynodon dactylon) इसके लिए सर्वोत्तम मानी जाती है, यह कम वर्षा वाले भागों में बहुत ठीक रहती है।

सिकोला, कवाखेती (Chrysopogon aciculatus Trin) नमी वाले भागों में उपयुक्त मानी गई है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी घास इस काम में आती हैं।

८—**उद्यान की सजावट**—गोधूमी वर्ग के कुछ पौधे अत्यंत सुन्दर होते हैं और अपने इस गुण के कारण उद्यान आदि में सजाये जाते हैं। जैसे—

Arundo donax-variegata—यह घास झाड़ी जैसी होती है। इसकी चितकबरी पत्ती बहुत सुन्दर लगतीहै।

Bambusa aurea—इस बांस के तने सोने जैसे पीले होते हैं, और सुन्दर दिखते हैं।

Phalaris arundinacea—यह घास छोटी सी होती है और इसकी पत्ती चितकबरी होती है।

९—भूमि को पानी के बहाव से बह जाने तथा हवा के वेग के साथ मिट्टी उड़ जाने को रोकने के लिए बहुत सी घास काम में आती है। (Checking of Soil erosion, Soil-binding) यह घास अपनी जड़ों का जाल सा बिछा कर भूमि को बांध लेती है, और पानी के या हवा के वेग के साथ बह जाने से रोकती हैं। पहाड़ों के ढाल, खेतों की बाढ़ नहर नालों के किनारे आदि पर इस प्रकार भूमि को रोकने की आवश्यकता होती है। इस कार्य के लिए निम्न घास मुख्य कर प्रयोग में आती हैं—

Elymus, Eragrostis, spirifex गण की भिन्न २ घास, तथा Laons में काम आने वाली सभी घास।

१०—**औषधि**—(Medicinal uses) राई (Secale cereale) के पौधे पर बीमारी लग जाता है जिसे अरगट (Ergot of Rye) कहते हैं। इस बीमारी लगे भाग से एक तेल निकलता है जो औषधि में काम आता है।

दूब घास से भी औषधि बनती है जो प्रायः पेशाब बंद होने पर दी जाती है।

तेल देने वाली सभी घास जिनका वर्णन पीछे किया गया है, औषधि बनाने के प्रयोग में आती हैं। विशेषकर रूसा तेल गाठिया में काम आता है।

बंसलोचन जो बांस से निकलता है उसका वर्णन भी पीछे किया जा चुका है।

विभिन्न प्रयोग—ऊपर दिये गये कुछ मुख्य २ उपयोग के अतिरिक्त निम्न वस्तुएं भी घास से बनती हैं, इनकी उपयोगिता भी जीवन में किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती।

छप्पर छाना—भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहां की अधिकांश जनता छप्परों के घरों में रहती हो, इस विषय का महत्व कम नहीं है। इस काम में विशेषकर कांस (Saccharum sponteum) सीरहू (imperata cylindrica) तौरना (Narenga porphyrocoma) आदि प्रयोग में आते हैं।

चटाई, झाड़ू, चिक, सूप, करगे का ब्रुश, रस्सी, आदि अनेकानेक वस्तुएं जो हम अपने जीवन में प्रयोग करते हैं, घास से बनती हैं।

ऊपर दिए गए वर्णन से यह स्पष्ट है कि गोधूमी वर्ग के पौधों का संसार में, विशेषकर कृषि प्रधान भारत देश में बड़ा महत्त्व है। इस बात की आवश-

यकता है कि हमारे देश के वैज्ञानिक, चाहे वह वनस्पतिशास्त्र, अथवा रसायन शास्त्र के ज्ञाता हों, अथवा कृषि के किसी विषय विशेष के ज्ञाता हों, इस वर्ग के पौधों की ओर ध्यान दें। देश में अनाज व चीनी की कमी में, हमारे गाय, भैंस बैल व अन्य जानवरों की वर्त्तमान हीन दशा को देखते हुए तथा अनगिन शरणार्थियों के पुनर्निवास की समस्या को सोचते हुए खोज द्वारा इस वर्ग के पौधों से पूरा लाभ
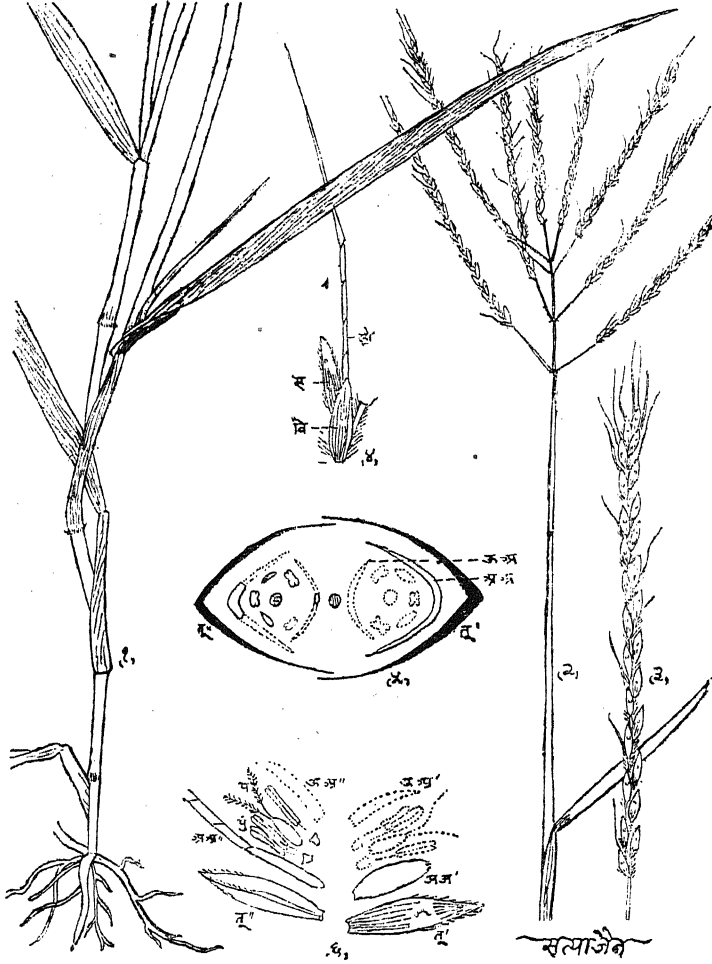
उठावें। ईश्वर ने हमारे देश को यह सम्पत्ति दी है, इसमें भोजन है, दूध-घी है, घर बनाने की सामग्री है, कागज बनाने का मूल द्रव्य है, इस में नदियों के वेग से खेतों और जंगलों को बचाने का अस्त्र है, और संभव है परीक्षण द्वारा यह भी सिद्ध हो सके कि इसमें अनेक अनमोल औषधियां हैं।

चित्र—फुलरा, जरेवा, छोटी, जगी, संभूर आदि बहुत से नाम इस घास को दिए गए हैं। Bothriochloa• pertusa (Linn) Camus

(१) ×१ पौधे के नीचे का भाग—जड़ तना शाख व पत्ती

(२) ×१ पौधे के ऊपर का भाग—संयुक्त पुष्पव्यूह (Compound Inflorescence)

(३) ×२ पुष्प व्यूह का एक भाग—

(४) ×४ निदंडिकाओं का एक जोड़ा (pair of spikelets) (एक विनाल वि-sessile और दूसरी सनाल 'स' Pedicellate) सी—सीकुर (awn)

(५) Floral diagram

(६) ×७ विनाल निदंडिका के अंग—

तू—पहला, या नीचे का, या बाहर का 'तूस'

तू'—दूसरा, या ऊपर का, या अंदर का 'तूस'

अ अ'—नीचे के लघुपुष्प (Floret) का अधस्थ अन्तर तूस (lemma)

ऊ अ' नीचे के लघुपुष्प (Floret) का ऊर्ध्ववास्थ अन्तरतूस Palea

अ अ'' ऊपर के लघुपुष्प (Floret) का अधस्थ अन्तरतूस (Lemma)

ऊ अ'' ऊपर के लघुपुष्प (Floret) का ऊर्ध्वस्थ अन्तरतूस (Palea)

पुं—पुंकेसर

प—पराग केसर

इसके अतिरिक्त २ छोटे २ अंग lodicules हैं।

(५) व ६ (में) टूटी हुई रेखाओं से वह अंग दिखाए गए हैं जो इस घास में लोप हो गए हैं।

धन्यवाद

मैं श्री० मुकुट बिहारी रायजादा तथा श्री नीरा पद चौधरी का उनके उपयोगी परामर्श के लिए, तथा रमेश चंद्र भारद्वाज का अन्य रूप से सहयोग के लिए अत्यंत आभारी हूँ, श्रीमती सत्या जैन ने चित्र बनाने में तथा हिन्दी अनुवाद में बहुत सहायता दी है।

—*—

हाइड्रोजन बिस्फोट

लेखक—रमेश चन्द्र कपूर

[संसार में अज्ञात से भयावह केवल एक भय है—वह है अपूर्ण ज्ञात का। अणु बिस्फोट से आतंकित जनता अमेरिका के राष्ट्रपति श्री ट्रूमैन की गत ३१ जनवरी की घोषणा से यह तो समझ गई है कि हाइड्रोजन बिस्फोट का बनाना एक सैद्धान्तिक सत्य ही नहीं बल्कि कार्यान्वित की जा सकने वाली घातक योजना है। क्या ही अच्छा हो यदि हमारे वैज्ञानिक राजनैतिक शोषको के हाथ से अमरत्वखोजी विज्ञान को विनाशोन्मुखी होने से बचाकर ऐसी घातक योजना को कार्यरूप में परिणित करने से हाथ खींच लें!]

इस वर्ष के प्रारम्भ से हम एक नए अस्त्र, हाइड्रोजन बिस्फोट के बारे में सुन रहे हैं। जब से अमेरिका को यह समाचार मिला है कि सोवियत रूस ने अणु बम का निर्माण कर लिया है, तब से उसे कोई दूसरा अधिक विनाशकारी हथियार बनाने की चिंता हो गई है। यद्यपि अभी इस नए अस्त्र के तैयार होने में कई वर्ष लग जाएंगे। परन्तु यह कहा जाता है कि हाइड्रोजन बम, अणु बम से सैकड़ों गुना अधिक विनाशकारी हो सकता है।

जापान के शहरों हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु बिस्फोट छोड़े जाने के पश्चात् अमेरिका के प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन ने एक वक्तव्य में कहा था कि अणु बिस्फोट की शक्ति का मूल कारण वही है जो सूर्य की शक्ति का है। यह शब्द वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतया ठीक न थे। यह सत्य है कि अणु बिस्फोट को जिसमें यूरेनियम तथा प्लूटोनियम व्यय होता है, एक अणु को दूसरे अणुओं में परिवर्तित होने से शक्ति मिलती है और इसी प्रकार सूर्य की शक्ति का मूल कारण भी अणुओं का परिवर्तन ही है, परन्तु दोनों की क्रियाओं में बहुत अंतर है।

अधिकतर वैज्ञानिकों का मत है कि सूर्य तथा नक्षत्रों में एक प्रकार की प्रक्रिया होती रहती है जिस में चार हाइड्रोजन अणुओं के मिलने से एक हीलियम अणु बनता है। इस क्रिया में कुछ द्रव्य शक्ति में परिवर्तित होता है और यही शक्ति सूर्य के ऊँचे ताप-मान तथा प्रकाश का कारण है।

इस प्रकार की शक्ति की युक्ति हलके अणुओं के मिलकर नए अणु में परिवर्तित होने तथा भारी अणु (यूरेनियम इत्यादि) के टूटने, इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में होती है। अणु बम में दूसरी क्रिया द्वारा शक्ति का उत्पादन होता है। वैज्ञानिकों का विचार है कि हाइड्रोजन बिस्फोट में पहली क्रिया द्वारा शक्ति उत्पादित होगी।

अणु बिस्फोट में यूरेनियम अणु के टूट कर छोटे अणु में परिवर्तित होने पर ०·१ प्रतिशत द्रव्य का विनाश होता है और यह द्रव्य शक्ति के रूप में आता है। इस शक्ति का रूप हमने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर देख ही लिया है। हाइड्रोजन अणुओं के हीलियम में परिवर्तित होने पर ०·७ प्रतिशत द्रव्य का विनाश होता है। इतने ही द्रव्य के विनाश होकर शक्ति बनने से सूर्य वा नक्षत्रगण अरबों वर्ष से शक्ति का विकीरण करते चले आ रहे हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है कि सूर्य इत्यादि में साधारण हाइड्रोजन, हीलियम में परिवर्तित होती है। परन्तु यह क्रिया बहुत ही धीरे-धीरे होती है और १ प्रतिशत हाइड्रोजन के हीलियम में परिणित होने में १ अरब वर्ष लगते हैं। इसके साथ साथ इस प्रक्रिया के लिये बहुत ही ऊँचे तापमान की आवश्यकता होती है।

इस क्रिया को प्रयोगशाला में करने पर अनेक कठिनाइयों का सामना पड़ता है। हाइड्रोजन अणु के केन्द्र (nucleus), में जिसे प्रोटान (proton) कहते

है, घनात्मक विद्युत (positive charge) रहती है। इस विद्युत के कारण अणुओं के आपस में टकराने के लिये बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है और इन केन्द्रों की चाल बहुत तीव्र रहना चाहिये। सूर्य इत्यादि में इन केन्द्रों की गत्यात्मक शक्ति, ऊँचे तापमान के कारण अधिक रहती है। हर एक केन्द्र पर इतनी अधिक गत्यात्मक शक्ति(kinetic energy) होती है कि केन्द्रों के टकराने में शक्ति का क्षय नहीं होता है। यह सब होते हुए भी सूर्य में यह प्रक्रिया बहुत ही निम्न गति से हो रही है जिससे सूर्य अरबों वर्ष तक अपना तापमान ऊँचा रख सकता है। इससे यह पता लग सकता है कि इस प्रकार की प्रक्रिया पृथ्वी पर होना असंभव ही है क्योंकि इसमें तो अरबों वर्ष लगते हैं और पृथ्वी पर अरबों वर्ष की बात ही क्या, एक क्षण के लिये भी इतना तापमान रखना कठिन कार्य है।

एक दूसरी खोज से यह प्रक्रिया पृथ्वी पर संभव हो सकती है। हाइड्रोजन के समस्थानिक (isotope) ड्यूटीरियम तथा ट्राइटियम भी जिनका भार क्रमशः २ तथा ३ है, एक दूसरे से मिलकर हीलियम में परिणित होते हैं और इनके बनने में बहुत ही कम समय लगता है जो नीचे लिखित समीकरण से विदित होता है।

शक्ति प्रक्रिया के पूर्ण होने का समय

$$H^1 + H^1 = H_2 + e + 1{\cdot}4 \text{ million electron volts} \quad \text{१ खरब वर्ष}$$

$$H2 + H_2 = He^3 + n^1 + 4 \quad ,, \quad ,,$$

$$H^3 + H2 = He4 + n^1 + 17{\cdot}6 \quad ,, \quad {\cdot}00000012 \text{ सैकेन्ड}$$

ड्यूटीरियम तथा ट्राइटियम के मिलकर हीलियम में परिणित होने में एक सैकेन्ड का अत्यंत सूक्ष्म भाग लगता है। वैज्ञानिकों का विचार है कि यदि एक क्षण के लिए पृथ्वी पर सूर्य के बराबर तापमान रखा जा सके तो यह प्रक्रिया सम्भव हो सकती है। इसके लिये उनके विचार से पहले एक अणु बिस्फोट का प्रयोग करना होगा जिससे कि कुछ समय के लिये ऊंचा तापमान सम्भव हो सकेगा। फिर उस तापमान पर हाइड्रोजन बिस्फोट का प्रयोग सम्भव हो सकेगा।

इसके तैयार करने और प्रयोग करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। विशेष कठिनाई ड्यूटीरियम तथा ट्राइटियम के बनाने में होगी। ड्यूटीरियम तो साधारण हाइड्रोजन के साथ न्यून मात्रा में रहती है और वहाँ से उसे निकाला जा सकता है। परन्तु ट्राइटियम को कृत्रिम रूप से बनाना पड़ेगा जिससे अनेक कठिनाइयों का सामना पड़ेगा। इस बम की विध्वंसता इन दोनों हाइड्रोजन के समस्थानिकों की मात्रा पर ही निर्भर है। इसलिये इनको अधिक से अधिक मात्रा में बनाना आवश्यक कार्य है।

यदि हम यह मान लें कि यह प्रस्ताविक बम में ट्राइटियम इत्यादि की इतनी मात्रा रखी जा सकती है कि यह अणु बम से १०० गुना अधिक विनाशकारी हो, तब एक बम से लंदन या न्यूयार्क का सारा शहर संसार से एक क्षण में मिटाया जा सकता है, क्योंकि यह बम २० मील के अर्द्धव्यास की सब वस्तुओं को जला कर राख बना सकता है। अणु बम की विध्वंसता एक मील के अर्द्धव्यास तक ही विशेष रूप से सीमित थी।

यदि किसी आगामी युद्ध में यह बम प्रयोग किया गया तो इस संसार की दशा का कोई भी अनुमान नहीं कर सकता है। पिछले दो महायुद्धों में विज्ञान का विनाशकारी प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में हुआ है और इस बम के बन जाने के बाद विनाशकारी शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाएगी। क्या मनुष्य अपने हाथ ही अपने विनाश का सामान बटोर रहा है ?

मानसिक रोग के विभिन्न स्वरूप

लेखक—कृष्ण बहादुर

[साधारणतया मानसिक रोग और पागलपन पर्यायवाची समझे जाते हैं, किन्तु वर्तमान मनो-विज्ञान ने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि इसके सिवा और भी रोग मानसिक उत्पत्ति के हैं; जिनके रोगी सब रोगों के रोगियों की संख्या से अधिक संख्या में समाज में स्वतंत्र विचरते हैं। मनोरंजक बात तो यह है कि उन रोगियों को डाक्टर रोगी नहीं समझते और वे भी अपने को रोगी नहीं समझते। इस लेख में ऐसे ही रोगियों से परिचय कराया गया है।

प्रत्येक मनुष्य को बहुत से रोगों के विषय में मालूम रहता है। चाहे वह उनके उत्पत्ति या उपचार को न भी जानें परन्तु वह यह तो अवश्य ही जानता है कि इन-इन प्रकार के रोग होते हैं। शरीर के जो साधारण अपेक्षित क्रियाओं तथा लक्षणों में असाधारणत: निर्माण होती है उसी को रोग कहते हैं। डाक्टरों द्वारा साधारणत: रोगों का जो उपचार होता है उसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे रोग सदैव किसी भौतिक शारीरिक गड़बड़ी से ही उत्पन्न होते हैं। प्राय: डाक्टर रोगी के प्रत्यक्ष लक्षणों को देखने तथा उसके बतलाये कष्टों के विवरण को सुनने के उपरान्त रोगी से कुछ अधिक विशेष बातें करना तक आवश्यक नहीं समझते। इस प्रकार के दृष्य लगातार देखते रहने पर साधारण मनुष्यों की ऐसी धारणा हो जाती है कि रोग कोई बाहरी वस्तु है जो शरीर पर अपना लक्षण प्रगट करते हैं। यद्यपि कुछ उदाहरणों में यह सत्य है कि रोग किसी बाहरी कारण द्वारा ही उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु अधिकांश रोगों का कारण मनुष्य स्वयं ही हैं और उनकी उत्पत्ति आन्तरिक होती है।

मनोवैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विचारों के आधार पर मनुष्य में भावनायें उठती हैं, कुछ काल बाद प्रत्यक्ष में ऐसा लगता है कि जैसे वह विचार भूल गया हो और उसके द्वारा उत्पन्न भावना का भी आभास नहीं होता, परन्तु वास्तव में न तो एक बार के उत्पन्न विचार ही कभी नष्ट होते हैं न उनके द्वारा उत्तेजित भावनायें ही। विचार के नष्ट न होने का प्रमाण यह है कि साधारणत: स्मरण करने पर वह फिर याद आ जाते हैं। यदि वह विचार नष्ट हो गया होता तो फिर 'स्मरण' शब्द का कोई अर्थ ही न रह जाता। अधिक समय बीतने के बाद बहुत से विचार स्मरण नहीं रहते इसका कारण यह है कि वह मनुष्य के ज्ञात मस्तिष्क से अज्ञात में चले जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य में जो विभिन्न भाव उठते हैं वह भी कभी नष्ट नहीं होते बल्कि उन हर एक का प्रभाव आजन्म बना रहता है। इन्हीं विभिन्न विचारों तथा भावों के संग्रह के कारण ही एक मनुष्य धैर्यशाली होता है दूसरा घबड़ाने वाला, कुछ वीर होते हैं, कुछ डरपोक।

किसी समय भी, मनुष्य अपने जन्म से लेकर उस समय तक के अपने समस्त विचारों तथा भावों के उपलब्धि (resultant) के स्वरूप रहता है। उसके भौतिक शरीर की बनावट, उसका स्वास्थ तथा उसके चरित्र की समस्त विशेषतायें इन्हीं विचारों तथा भावों के प्रभाव द्वारा ही बनती हैं। मनुष्य वंश-संक्रमण द्वारा अपने माता—पिता के विचारों तथा भावों का प्रभाव प्राप्त करता है जो उसमें जन्मिक विभव वृत्ति के रूप में रहते हैं जिसे मनुष्य स्वयं के प्रयत्नों द्वारा संशोधित करता है। यहाँ इस विषय के गहन तथा सूक्ष्म तत्त्वों का विचार न करते

हुए केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि मनुष्य का अधिकांश भौतिक बीमारियाँ इन दूषित विचारों तथा भावों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती हैं। बहुत से रोग जैसे रात में नींद न आना, सोते सोते उठकर सुप्तावस्था में कार्य करना, आधे या पूरे सर में निरन्तर दर्द, कान में आवाजें या घरघराहट सुनाई देना, आँख के सामने काले या विभिन्न रंग के धब्बे दिखाई देना, दिल की धड़कन, दम, कब्ज, दस्त आना, भोजन न पचना, नपुंसकता, यौन विकृति इत्यादि सैकड़ों रोग जिसमें भौतिक लक्षण निर्माण प्रतीत होते हैं केवल मनुष्य के विचारों तथा भावों को ठीक मार्ग दिखाकर ठीक किये जा सकते हैं।

इन रोगों को छोड़कर जो एक साधारण व्यक्ति मानसिक रोग समझता है वह केवल 'पागलपन' है। पागल कहते ही एक ऐसे मनुष्य की कल्पना होती है जो फटे कपड़े पहिने, गन्दा सड़क पर घूमता रहता है। वह कभी बेसमझ की बातें करता है और कभी कभी असाधारण कार्य भी करने लगता है। इस पागलपन को ही साधारण मनुष्य मानसिक रोग के नाम पर जानता है। आप को यह जान कर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि उक्त भौतिक तथा शारीरिक रोगों को छोड़कर कुछ ऐसे रोग भी होते हैं जिनके रोगी सब रोग के रोगियों से बड़ी संख्या में समाज में स्वतंत्र विचरते हैं और आश्चर्य यह कि साधारण डाक्टर व व्यक्ति उन्हें रोगी समझता ही नहीं। वह व्यक्ति भी अपने को रोगी नहीं समझते इस कारण साधारणतः ऐसे रोगी के उपचार होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यह रोग मानसिक उत्पत्ति के होते हैं। कुछ का विवरण तो बहुत ही रोचक है, जैसे कुछ ऐसे लोग मिलते हैं जिनका विचित्र निश्चय होता है। मेरा कुछ ऐसे युवक तथा युवतियों से सम्बन्ध आया है जो सब दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ होते हुये भी किन्हीं कारणों विवाह न करने का निश्चय कर चुके हैं। बहुत से लोग इसी प्रकार किसी विशेष वस्तु का उपभोग न करने का निश्चय कर लेते हैं। कुछ का विचार तो यहाँ तक होता है कि बिना कोई निश्चय किये जीवन जीवन ही नहीं। यह उसी प्रकार है जैसा कि मनुष्य जीवन के समस्याओं से उकता कर मादक वस्तुओं का उपभोग करने लगता है, बाद में उसके बिना उसे कोई आनन्द ही नहीं आता। व्यक्ति इन निश्चयों को जीवन में रस निर्माण करने के हेतु या किसी विशेष विचारों द्वारा प्रभावित हो कोई विशेष लक्ष्य प्राप्त करने हेतु करता है। कुछ दिनों बाद वह उनका आदी हो जाता है और यद्यपि समस्त निश्चय व्यक्ति के नैसर्गिक प्रवृत्ति में बाधक होने के कारण उसे सदैव दुख देते रहते हैं फिर भी वह उन्हें नहीं छोड़ता। इसका कारण या तो यह होता है कि वह निश्चय उसे किसी कष्ट से जो उस निश्चय की पीड़ा से अधिक है बचाता रहता है या वह निश्चय के कष्ट का आदी हो जाता है और बिना उसके उसे जीवन में रस नहीं मालूम होता। स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण है कि वह बिना किसी पूर्व निश्चय से बाध्य हुये हर समय समस्त स्थिति को समझ कर जैसा उपयुक्त देखे, करें।

कुछ लोगों को डर की मानसिक बीमारी होती है। इनमें से कुछ अंधेरे में अपने स्वय के कुछ विचित्र कल्पना के कारण डरते हैं। यह रोग अधिकांश व्यक्तियों को हुआ करता है। भूत, राक्षस इत्यादि की कल्पना इनके भय का कारण होती है। कुछ व्यक्तियों को मोटर, गाड़ी, कुयें, जानवर इत्यादि किसी चीज का बहुत अधिक डर होता है। कुछ लोगों को कोई क्रिया विशेष में बहुत डर लगता है जैसे ऊपर चढना, तैरना, तेज चाकू का उपयोग करना इत्यादि। प्रेमी व्यक्ति के लिये अत्यधिक प्रेम होने पर भी डर का उदय होता है। मुझे ऐसे व्यक्ति भी देखने को मिले हैं जिन्हें साधारण चलने वाली सड़क को पार करने में भी बहुत देर लग जाता है। कुछ व्यक्ति तो दुर्घटना के डर के कारण सड़क ही नहीं पार कर पाते।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अत्यन्त खुले मैदान में रहने की तीव्र इच्छा रहती है। कुछ को ऊँची छत

के नीचे रहना बहुत अच्छा लगता है। कुछ लोग खुले में बाहर ही सोना पसन्द करते हैं। मेरा एक ऐसे व्यक्ति से परिचय है कि जो यदि किसी कमरे में पाँच मिनट के लिये भी बन्द कर दिये जाते हैं तो बेहोश हो जाते हैं।

अन्धविश्वास तथा श्रद्धा भी मानसिक रोग हैं। इसमें व्यक्ति की ऐसी स्थिति हो जाती है कि वह अपने विश्वास के कारणों पर विचार नहीं कर पाता। ऐसे बहुत से व्यक्ति मिलते हैं जो किसी देवता या कार्य पर अपना जीवन तक दे सकते हैं। परन्तु उसके अच्छाई का कारण वह बतला नहीं सकते। श्रद्धा एक ऐसी स्थिति है जिस पर पहुँचने पर मनुष्य का मस्तिष्क उस लक्ष पर प्रश्न ही नहीं कर सकता इसी कारण इसको भी एक मानसिक रोग माना जाता है। यद्यपि किसी कार्य या व्यक्ति के लाभ हित यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह उस पर बिना विचार किये विश्वास रक्खे परन्तु श्रद्धावान व्यक्ति की दृष्टि से श्रद्धा उसमें एक मानसिक रोग के रूप में ही रहती है। कभी कभी इस अन्धविश्वास या श्रद्धा के कारण व्यक्ति को कष्ट भी होता है, परन्तु उसका मस्तिष्क ऐसी स्थिति में हो चुका रहता है कि वह उस कष्ट से बचने का सोच ही नहीं सकता।

शुद्ध अध्यात्म प्रेम, बुद्धि तथा भावों दोनों परे हैं। यह अपेक्षा-रहित होने के कारण किसी भी प्रकार के कष्टदाई भावों या विचारों का जन्म नहीं दे सकता। अतः वह मानसिक रोग नहीं है। साधारणतः समाज में जो प्रेम के नाम पर समझा जाता है वह भौतिक या सान्सारिक प्रेम है जो श्रद्धा से भिन्न है। इस प्रेम का कारण शरीरिक या मानसिक या दोनों आकर्षण होता है। प्रेम साधारणतः सान्सारिक प्रेम के रूप में किसी आकर्षण के कारण उत्पन्न होता है और यदि यह प्रगति करके अध्यात्म प्रेम में परिवर्तित न हो पाया तो उस आकर्षण के समाप्त होने पर समाप्त हो जाता है। इस तरह इसमें मनुष्य की समझ उसे सदैव साथ देती रहती है और वह मानसिक रोगी नहीं कहा जाता। पिता-पुत्र स्त्री-पुरुष, भाई-भाई तथा मित्र-मित्र में किसी समय अत्यधिक प्रेम होते हुये भी किसी दूसरे समय वह वैर में परिवर्तित देखा जा सकता है। श्रद्धा का जन्म हीं भावना उत्पन्न करने वाले विचारों के अज्ञात मस्तिष्क में जाने के बाद होता है। इस कारण इसे मानसिक रोग का लक्षण माना जाता है।

कुछ लोगों को बिना कोई बाह्य भौतिक कारण हुये ही दिखाई, सुनाई या सुंघाई देता है। ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जो बिना कान में कोई गड़बड़ हुए ही तरह तरह की आवाजें सुना करते हैं। कुछ को तो पूरे २ वाक्य या लम्बी बातें भीं सुनाई देती हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति बिना किसी व्यक्ति के उपस्थित के व्यक्ति को उपस्थित देखते हैं और बिना किसी प्रकार के गन्ध के ही गन्ध का आभयास करते हैं। कुछ को देवता, व्यक्ति या वस्तु दिखाई देती हैं जो प्रत्य नहीं होते। यह सब विचित्रता मनुष्य में निर्माण शारीरिक रोग के लक्षण स्वरूप हैं।

कुछ व्यक्तियों में कोई विशेष वस्तु का नाम लेने या देखने पर विशेष प्रतिक्रिया होती है। 'करैला' कहने पर चिढ़ने वाले एक व्यक्ति से मेरा भी परिचय हुआ। वह करैला शब्द सुनते ही अत्यधिक क्रोधित हो जाता था। उस बेचारे व्यक्ति को इसका कुछ कारण मालूम न था। उसका कहना था "करैला शब्द सुनते ही मैं सुध भूल जाता हूं और अपने को अत्यन्त क्रोधवश पाता हूँ।" दही, पके आम तथा खून देखकर के करने तथा बेहोश होने वालों की भी संख्या बहुत बड़ी है।

एक विशेष प्रकार का और मानसिक रोग होता है जिसमें मनुष्य में भावनायें उठना ही बन्द हो जाती हैं। इन व्यक्तियों को चाहे जैसी बाते कही जांय चाहे जैसे भी दृश्य दिखाये जाँय, इनमें उसका कोई भाव नहीं निर्माण होता। यहाँ यह भी जानने योग्य है कि ऐसे भी मनुष्य होते हैं जिनके बदन में चाहे जितनी

भी काट, पीट की जाय, सुई चुभाई जाय उन्हें उसका आभास नहीं होता। यह मानसिक रोग भौतिक प्रकृति का होने के कारण साधारण लोग इसे रोग मान लेते हैं, परन्तु उक्त भावना शून्य स्थिति में केवल भावना का ही अभाव होता है इस कारण ऐसे मानसिक रोगी बिना 'रोगी' कहे गये ही समाज में विचरते रहते हैं।

व्यक्तियों में जो विभिन्न प्रकार की यौन-विकृति दिखाई देती है वह भी मानसिक रोग का ही लक्षण है। पूर्णतः स्वस्थ होते हुये भी बहुत से व्यक्ति मिलते हैं जिन्हें दूसरे यौन के व्यक्तियों के साथ कोई भी आकर्षण अनुभव नहीं होता। एक बार एक पूर्ण स्वस्थ तरुण युवक ने मुझसे कहा कि उसे स्त्रियों के प्रति कभी कोई आकर्षण अनुभव ही नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति भी एक मानसिक रोग की स्थिति है।

एक विशेष प्रकार का मानसिक रोग ऐसा होता है कि मनुष्य को कुछ न घटने वाली घटनाओं के बारे में यह विचार हो जाता है कि वह घटनायें घटी हैं। इस पर बड़े-बड़े झगड़े भी हो जाते हैं। रोगी अपने से प्रमाणिकता से कहता है कि उसने वह घटना देखी है, परन्तु वास्तव में वह घटना हुई नहीं रहती।

उक्त जितने भी मानसिक रोग बतलाये गये हैं उनमें विशेषता यह है कि मनुष्य इन विशेताओं को रखते हुये भी यह नहीं अनुभव करता कि उसमें कुछ विशेषता है। वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जबकि उसके उस विशेषता पर उसके विचार शक्ति की ज्योति ही नहीं जा पाती। वह अपने को स्वस्थ ही समझता रहता है।

ऐसे रोगियों की संख्या आजकल समाज में लगभग ६० प्रतिशत है। सब से दुख की बात यह है कि इन मानसिक रोगों में वंश-संक्रमण द्वारा वंश में चलते रहने का गुण होता है। मनोवैज्ञानिक खोजों द्वारा ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार के वंशों के व्यक्तियों ने यदि प्रयत्न पूर्वक इन्हें दूर करने का प्रयास न किया तो इन वन्शों की धीरे धीरे समाप्ती हो जाती है।

ऐसे रोगियों को न तो समाज रोगी समझता है न वह व्यक्ति ही अपने को रोगी मानता है इस कारण इन रोगों का निवारण अत्यन्त कठिन है। फिर अभी इतने मनोवैज्ञानिक डाक्टरों का मिलना भी देश में कठिन है कि इतने रोगियों का व्यक्तिशः उपचार हो सके। यह बात बिल्कुल निश्चित है कि उक्त तथा अन्य प्रकार के मानसिक रोगों से परिपूर्ण समाज का नैतिक बल तथा चरित्र उठाना कठिन है। इन रोगियों की बढ़ती हुई संख्या को केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा देकर ही कम किया जा सकता है।

तम्बाकू

लेखक—प्रेमदुलारे श्रीवास्तव

स्टेशन का बाबू कैंनी अवश्य खाएगा, अमीर हो या गरीब। तम्बाकू का व्यसन एक ऐसी विश्व व्यापी व्यसन है, जो वालक, वृद्ध, युवक सभी में पाया जाता है। तम्बाकू कीटाणु नाशक है किन्तु इसे भी कुछ कीटाणु से परास्त होना पड़ता है प्रस्तुत लेख तम्बाकू के खाने, पीने और अन्य पक्षों को कर रोचक ढंग से लिखा गया है।

तम्बाकू का पौदा भारत के लगभग हर भाग में पाया जाता है। समस्त जनता, क्या ग्रामीण, क्या नागरिक इससे भली भांति परिचित है क्योंकि प्रति दिन के जीवन में इसका एक प्रमुख स्थान है। खैनी हुक्के तथा पान के साथ प्रयोग करने के लिये, तथा धूम्रपान के निमित्त इसका उपयोग लगभग सभी करते हैं।

इसका प्रयोग करने वालों ने इसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं और मनमानी कहावतें बना डाली हैं।

भोर भये सब मानुष जागे।
हुक्का चीलम बाजन लागे॥

सूर्योदय का स्वागत तम्बाकू से करते हैं, हुक्का चिलम का बजना न हुआ, पक्षियों की चहचहाहट व मुर्गों की बाँग हो गई।

और सुनियेः—

खैनी खाय न तमाखू पीवे।
वह मानुष भज कैसे जीवे॥

खैनी व तम्बाकू मादक पदार्थ नहीं, जीवन के सार हो गये! इनके बिना वे जीवन सोच ही नहीं सकते। धन्य हैं तम्बाकू का प्रयोग करने वाले तथा उपरोक्त कहावतों को गढ़ने वाले!

तम्बाकू का प्रयोग एक व्यसन है। इस व्यसन के सेवियों में से कितने ही ऐसे देखे गये हैं जो भोजन न मिलने पर तो कुछ अंश तक संतोष कर भी लेते हैं पर तम्बाकू न मिलने पर तिलमिला उठते तथा लज्जा, शील आदि को तिलांजलि दे पास-पड़ोस के लोगों से माँग कर अपने व्यसन को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत में तम्बाकू का पौदा सर्व प्रथम सन् १५०८ ईसवी में पुर्तगालियों द्वारा लाया गया और उन्हीं के द्वारा भारतवासियों को सर्व प्रथम इसके मादक गुणों का ज्ञान भी प्राप्त हुआ। धीरे धीरे जनता इसे अपनाने लगी और यह लोक प्रिय होती गई। आज स्थिति यह है कि सभी जाति, वर्ग, धर्म तथा मत के लोगों में इसका प्रचनल हो गया है। हर ग्रामीण के मुँह में हुक्का, हर मजदूर के मुँह में बीड़ी तथा हर अपटूडेट के मुँह में सिगरेट दिखाई पड़ती है।

इसके कुप्रभावों के विरुद्ध अभी तक कोई भी प्रचार सफल नहीं हुए। इसको प्रयोग करने वाले इसे भोला, अहानिकर तथा सुहावना बताते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जिनकी सिगरेट दिन भर बुझती ही नहीं; अनेकों रात भर उठ उठकर तम्बाकू

खाते तथा हुक्का गुड़गुड़ाते हैं। कुछ इसके प्रेम में फँसकर प्राण भी खो चुके हैं। किसी का विचार भले ही कुछ और हो पर यह तो निर्विवाद है कि इसका प्रभाव शरीर पर बुरा पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि न्यून मात्रा में शरीर को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँच पाती। कठिनाई तो यह है कि कितना भी कम इसके संसर्ग में रहा जाय, किसी न किसी समय यह व्यसन का रूप अवश्य धारण कर लेती है फिर इसे छोड़ने का प्रश्न ताख पर ही धरा रह जाता है।

पुर्तगाल स्थित फ्रांस के राजदूत श्री जीन निकॉट ने तम्बाकू के बीज रानी कैथरीन डि मेडिकी के पास भेजे थे। उनकी स्मृति इस पौदे के प्रजातीय (Generic) नाम निकोटियाना (Nicotiana) में निहित है। प्रजाति (Genus) निकोटियाना की पचासों जातियाँ (Species) होती हैं जिनमें से दो अपने देश में सामान्य हैं (१) निकोटियाना टोबैकम (Nicotiana tobacum) (२) निकोटियाना रस्टिका (Nicotiana rustica) टोबेकम जाति का प्रचलन अधिक है और यह लगभग सारे भारत में उगाई जाती है। इसका पौदा लगभग छः फीट ऊँचा, तना रम्भाकार (Cyindrical), तथा पत्तियों का अधिकतम परिमाण २ फिट होता है। रस्टिका जाति का पौदा छोटा होता है तथा उसमें डालिया अधिक होती हैं। भिन्न भिन्न प्रकार की पत्तियों का भिन्न भिन्न परिमाण (Size), वनय (texture), प्रत्यास्थता (elasticity), शक्ति (strength) तथा बासन (flavour), होता है।

इसकी बुवाई साधारणतः अक्तूबर से दिसम्बर तक, तथा कटाई मार्च-अप्रैल में होती है। वैसे तो यह पौदा देश भर में उगता है, पर इसके उगाने के पाँच मुख्य क्षेत्र हैं जिनका विशिष्ठ व्यावारिक महत्व है।

१—उत्तरी बंगाल क्षेत्र—इस क्षेत्र के भारतीय भाग में अब केवल जलपैगुरी, मालदा, बरहामपुर तथा पश्चिमी दीनापुर के जिले तथा कूच बिहार राज्य रह गया है।

(२) चरोतर क्षेत्र—इस क्षेत्र में कैरा जिले के, आनन्द, बोरसाद और नैदाद के तालुके और पहले के बड़ोदा राज्य के पेतलाद और भछन के तालुके सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र में केवल टोबेकम जाति ही बोई जाती है। कुछ भागों में कलकत्ते की रस्टिका को उगाने का भी प्रयत्न अभी हाल में ही किया जाने लगा है। टोबेकम की तीन किस्में बीड़ी बनाने के काम आती हैं और एक किस्म जिन्हें नाईट्रेट (Nitrate) में धनी कुएँ के पानी से सींचा जाता है, हुक्के तथा सुँघनी के काम में और पाँचवी किस्म चबाने के काम में लाई जाती है।

३—निपानी क्षेत्र—इस क्षेत्र में कोल्हापुर, संगली और मिराज के जिलों के अतिरिक्त बम्बई के बेलगाँव तथा सतारा के जिले भी सम्मिलित हैं। यहाँ पर टोबेकम व रस्टिका दोनों ही जातियों की किस्में उगाई जाती हैं।

४—गुन्धर क्षेत्र—इस क्षेत्र में गुन्धर व किस्तना के जिले तथा हैदराबाद राज्य के निकटवर्ती भाग सम्मिलित हैं। यहाँ पर केवल टोबेकम जाति ही उगाई जाती है।

५—उत्तरी बिहार क्षेत्र—इस क्षेत्र में मुजफ्फरपुर दरभंगा, और पुरनिया के जिले सम्मिलित हैं। यहाँ, भी दोनों ही जातियां उगाई जाती हैं। यहाँ के टोबेकम जाति का अधिकतर भाग चबाने के काम आता है और पर्याप्त मात्रा में इसे सिगरेट बनाने वाले क्रय कर लेते हैं। रस्टिका का प्रयोग हुक्के में होता है।

तम्बाकू पैदा करने में अमेरिका तथा चीन के बाद भारत का ही स्थान है। इस उद्यम का महत्व सन् १६४६-४७ के प्राप्त कुछ आँकड़ों से ही स्पष्ट हो जाता है। इन वर्षों में ५१५, २६६ एकड़ भूमि इसकी खेती में लगी और इससे ४२०, ०६६, ४८० पौंड सूखी पत्ती की प्राप्ति हुई। इसके अतिरिक्त, खेती करने वालों के निजी प्रयोग के लिये लगभग १६, ०२४, ८५८ पौंड लगी जो उपरोक्त आंकड़ों में सम्मिलित नहीं है।

तम्बाकू से तैयार की हुई वस्तुओं में मुख्य सिगार तथा चुरुट, सिगरेट तथा बीड़ी, हुक्के की बनाई हुई तम्बाकू, चबाने की तम्बाकू तथा सुंघनी है। इन्हीं वर्षों में २७७ लाख रुपये की तम्बाकू का आयात तथा ५९२ लाख रुपये का निर्यात हुआ। इन आँकड़ों से हम भली भाँति समझ सकते हैं कि तम्बाकू का वाणिज्यक महत्व कितना है।

तम्बाकू पर नाना प्रकार के अन्वेषण कार्य देश तथा विदेश में हुए हैं। विदेशी कार्यकर्त्ताओं में सर्वश्री पाटर तथा एफ० टैटरसफील्ड के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पिछले तीस वर्षों में भारत में भी स्थूल परिमाण में अन्वेषण कार्य हुए हैं। इसमें नई दिल्ली की इंडियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट तथा कोयम्बटूर स्थित मद्रास सरकार की प्रयोगशाला ने सराहनीय कार्य किए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य राज्यों की सरकारी प्रयोगशालाओं में भी न्यूनाधिक कार्य अवश्य हुए हैं। हमारी केन्द्रीय सरकार तम्बाकू के विकास तथा इससे सम्बन्धित अन्वेषण कार्य के निमित्त अब प्रति वर्ष १० लाख रुपया व्यय करने लगी है।

गत विश्व युद्ध के कुछ पहले ही से तम्बाकू उत्पादन, विभाजन, तथा बिक्री पर सरकारी नियंत्रण लगा हुआ है और केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत इसके लिये एक पूरा विभाग ही स्थापित है।

इस वस्तु के मादक गुणों तथा इसके कुप्रभावों से सभी परिचित हैं, पर इन्हीं मादक गुणों का किस प्रकार उचित दिशा में उपयोग किया जा सकता है इससे अधिकांश जनता अनभिज्ञ है। यदि जनता का परिचय इससे हो जाय, तो तम्बाकू की लोकप्रियता कई गुना बढ़ जाना निश्चित सा है। वही किसान जो इसे बोता, काटता, नित्य प्रातः संध्या हुक्के में तथा दिन भर खैनी के रूप में प्रयोग करता है, यह नहीं जानता कि यही तम्बाकू खेती को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को नष्ट करने में प्रयोग की जा सकती है। प्रचलित कीटाणुओं (Insecticides) में इसका एक विशेष स्थान है तथा अपना स्वयं का महत्व है।

ऐसे समय जब कि भोजन के लिये घर घर हाय तोबा मची हुई हो, देश के कोने कोने से नित्य प्रति दुर्भिक्ष, भुखमरी तथा अनावृष्टि के समाचार मिल रहे हों, यह और भी आवश्यक हो जाता है कि अन्न तथा अन्य खाद्य पदार्थों को भी हर प्रकार की क्षति से बचाया जाय। कीड़े खेती के महान् शत्रुओं में से एक हैं और इनके नाश के हेतु तम्बाकू का उपयोग पर्याप्त सफलता के साथ किया जा सकता है।

तम्बाकू एक वनस्पति उद्भव की कीटाघ्न है। इसका प्रयोग भारतीय दशाओं के सर्वथा अनुकूल है। भारत के लगभग हर भाग में इसकी खेती होने तथा सुगमता से प्राप्त होने के कारण और मनुष्य व पालतू पशुओं पर प्रचिलित रसायनिक कीटाघ्नों की तुलना में बहुत कम कुप्रभाव होने से इसके महत्व की और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। रसायनिक कीटाघ्नों के प्रयोग के भयंकर दुष्परिणाम प्रति दिवस स्पष्ट होते जा रहे हैं। हाल ही में काशी के दैनिक "आज" में प्रकाशित वाशिंगटन के एक समाचार से ज्ञात हुआ है कि अमेरिका के कुछ भागों में दूध के परीक्षण से यह विदित हुआ कि १० लाख सेर दूध में कम से कम ५३० सेर डी० डी० टी० विष होता है। यह चारे पर कीट नाश के हेतु छिड़के हुए डी० डी० टी० का ही दुष्परिणाम है। वहाँ के किसानों को गेहूँ की खेती पर डी०डी० टी०न छिड़कने का आदेश दिया गया है। अपने देश में भी सोडियम फ्लू सिलीकेट जिसे कुछ काल पूर्व मनुष्य तथा पालतू पशुओं के प्रति निर्मूल समझा जाता था इसके प्रयोग में सतर्कता का उपयोग करने की एक सरकारी विज्ञप्ति हाल ही में आ चुकी है। पेरियाग्रीन तथा लेड आरसिनेट जैसे विषैले कीटाघ्न तो अपनी अव्यवहारिकता के कारण अब लुप्त प्राय हो रहे हैं।

तम्बाकू का मुख्य क्रियाशील आधेय (active principle) निकोटीन है जिसे रसायन की भाषा में अल्केलॉयड (alkaloid) कहते हैं। यह तैल के

समान उत्पति (volatile) पदार्थ होता है जिसमें एक विशेष तिक्त गंध होती है। तम्बाकू की पत्ती के वैषिक गुण इसी पर निर्भर हैं। और दूसरे एल्के-लॉयड्स भी हैं जो उच्च श्रेणी के प्राणियों के प्रति प्राणघातक होते हुए भी कीड़ों के प्रति प्रभाव हीन होते हैं। इसका विषैलापन इसकी व्यूहाणु-संरचना (molecular structure) के कारण है और संभव है समान संरचना के कीटाघ्नक गुण इसी के समान हों। अभी तक निकोटीन का संतोषजनक संश्लेषण (synthesis) नहीं हुआ है और कोई भी संश्लिष्ट आदेश नहीं ज्ञात है वास्तव में निकोटीन का संश्लिष्ट आदेश बड़ा महत्व पूर्ण होगा। तम्बाकू का वासन (flavour) सारभूत तैल (essential oil) की उपस्थिति के कारण होता है। इसके अतिरिक्त इसमें चिकनाई, उद्यम (resin), तथा अनेकों आंगारिक (organic) पदार्थ विद्यमान हैं।

यह विशेषतया सम्पर्क कीटाघ्न है, अधिकांश दशाओं में कीड़ों की मृत्यु इसके सम्पर्क में आने से होती है। कीटनाश के हेतु इसका उपयोग शीकर (spray), धूल (dust), तथ धूम्र (fumes), के रूप में किया जा सकता है।

शीकर—शीकर को तैयार करने के कितने ही सूत्र हैं। लायलपुर के खान ए० रहमान के मतानुसार पत्ती, साबुन, तथा जल की मात्रा क्रमशः १/२ छटाक, १२ छटाक तथा ६ सेर होनी चाहिये। सर्व प्रथम पत्ती को उबाल लिया जाता है ताकि उसका रस निकल आवे। फिर उसे ठन्डा होने को रख कर थोड़े से जल में साबुन का घोल तैयार किया जाता है। फिर तम्बाकू को नितार कर नितरे हुए द्रव में साबुन का घोल मिला कर और जल डाल कर आयतन पूरा कर लिया जाता है। साबुन के मिश्रण से कीटाघ्न की कुशलता में वृद्धि हो जाती है और तब पौदे के सब भागों पर समान रूप से फैल जाता है। इसके अतिरिक्त साबुन स्वयं भी एक कुशल सम्पर्क कीटाघ्न है।

हाल के अन्वेषणों के फल स्वरूप यह ज्ञात हुआ है कि तम्बाकू और अधिक कुशलता से कार्य करता है यदि उसका शीकर तैयार करते समय उसे उबालने के स्थान पर २४ घन्टे भिगो कर ही रस निकाला जाय। इस प्रकार तापक्रम बढ़ने नहीं पाता और अधिकांश निकोटीन जिसके उबालने की क्रिया में वाष्प रूप में निकल जाने की सम्भावना होती है, इसमें ही निहित रह जाता है।

कोयम्बटूर के श्री चेरियन की प्रयोगशाला में किए गये संपरीक्षणों से यह प्रमाणित हो चुका है कि तम्बाकू के तनों का भी जो साधारणतः निरर्थक समझ कर फेंक दिये जाते हैं, उपयोग निकोटीन निकालने के हेतु सफलता से किया जा सकता हैं। हाँ ४-६ महीने रखे रहने पर उसकी कुशलता में कमी अवश्य आ जाती है।

धूलन—धूलन के हेतु वाहक की आवश्यकता होती है। गन्धक, चूना, व राख, किसी का भी उपयोग वाहक के रूप में किया जा सकता है। साधारणतः ग्रामीणों के हेतु राख सबसे अधिक उपयुक्त वाहक है। हर घर में अग्नि जलती है जिससे राख बिना मूल्य ही मिल सकती है। इस अभागे देश में जहां अधिकांश जनता को एक समय भी भर पेट अन्न नहीं मिल पाता, पैसे का प्रश्न सर्व प्रथम उठता है। एक महगा कीटाघ्न पूर्णतया कुशल होते हुए भी पैसे के अभाव से अपनी व्यावहारिकता खो बैठता है।

धूमन—निकोटीन उत्पत होने के कारण हरित गृहों (green houses) में धूमन के हेतु सुगमता से उपयोग में लाया जा सकता है। हरित गृहों में अंधेरे ही में नम दशाओं में ५०° से ७०° फारेनहाइट के तापक्रम पर इसका प्रयोग किया जाता है। इसे ऐसे ही लेकर गर्म किया जा सकता है जिससे कि निकोटीन वाति (gas) के रूप में निकल संपूर्ण गृह में फैल कीड़ों का दम घुटा कर उन्हें नष्ट कर देता है।

शीकन तथा धूमन के समुचित उपयोग के हेतु शीकरी तथा धूलिमार्ज कर होना नितांत आवश्यक है। वैसे तो न रहने पर साधारण पिचकारी व आटा छानने वाली तार की बनी छलनी से भी काम निकाला जा सकता है। अपने देश में जहाँ कहीं भी ऐसी कलों का चलन है भी वहाँ पर प्रायः हस्तचलित कलें ही काम में आती हैं। पर विदेशों में विद्युति चलित शीकन व धूलन कलों का प्रयोग प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है जिससे समय की बड़ी बचत हो जाती है। थोड़े ही समय में अधिक क्षेत्रों में छिड़काव के हेतु वायुयान का भी प्रयोग होने लगा है। यहाँ भी कहीं कहीं पर सरकारी तत्वध्यान में विद्युति चलित कलों का उपयोग होने लगा है पर हमारे किसानों को तो हस्तचलित कलें ही नहीं मिल पातीं, उनके सामने विद्युति चलित कलों की चर्चा ही व्यर्थ है।

तम्बाकू, माहो (aplids) काडलिंग माथ (codling moth) तथा अन्य तरकारी व फल के कीड़ों के नियंत्रण का अच्छा साधन है।

इनके अतिरिक्त सर्व श्री पाटर व टैटरस फील्ड के प्रयोगों से यह प्रमाणित हो चुका है कि निकोटीन अंडों को भी नष्ट करने का एक सफल साधन है। उन्होंने पायरिस ब्रेसिकी (pieris brassicae) तथा इफ्रेस्टिय (ephrestia sp) पर संरीक्षण किये थे जिससे कि यह ज्ञात हुआ कि इससे छिड़काव किये हुए अंडों से बच्चे नहीं निकलते। न फूटने वाले अंडों में से अधिकांश में पूरे बढ़े हुए जातक (larvoe) पाये गये हैं। ऐसा लगता है कि छिड़काव के उपरांत भी अंडों की साधारण बाढ़ नहीं रुकती पर पूरा बढ़ा हुआ भ्रूण (embryo) बाहर न निकल कर भीतर ही भीतर सिकुड़ कर मर जाता है।

कितने आश्चर्य का विषय है कि ऐसा विषैला पदार्थ जिसका प्रभाव मनुष्य तथा कीड़ों पर इतना बुरा होता है, उस पर भी जीवन निर्वाह करने वाले कीड़े होते हैं। ये उसे भांति भांति से हानि पहुँचाते हैं। श्री लेफरॉय की राय में कुछ ही कीड़े ऐसे होते हैं; जो होते भी हैं वे अधिकतर नियमी न हो कर क्वांचिक ही होते हैं। श्री ऐयर का भी ऐसा ही मत है। इन हानिकारक कीड़ों के और भी भोज्य पौदे होते हैं जिसके कारण वे अपने भोजन का क्षेत्र इसी पौदे तक सीमित नहीं रखते। ग्नोरिमोकेमा हेलिओपा (Gnorimoschema heliopa) अवश्य एक विशिष्ट हानिकर कीड़ा है।

तम्बाकू के हानिकर कीड़ों को तीन मुख्य समूहों में विभाजित किया जाता है।

पहला उन कीड़ों का समूह जो पत्ती काट कर हानि पहुँचाते हैं जैसे :—

(i) प्रोडिनिया लिट्यूरा (Prodenia litura)

(ii) अट्रैक्टोमॉरफा क्रेनुलेटा (Attractomorpha crenulata)

या

तने के भीतरी अति (tissue) को चबाते हैं जैसे :—

(iii) ग्नोरिमोकेमा हेलिओपा (Gnorimoschema heliopa)

या

फल व बीज को हानि पहुँचाते हैं जैसे

(iv) हेलिओथिस आरमीजरा (Heliothis arimgera)

दूसरा उन कीड़ों का समूह जो पौदे के भिन्न भिन्न भागों से रस चूसते हैं जैसे:—

(i) गैलोबिलिकस क्रैसीकॉर्नस (gallobelicas crassicornis)

(ii) माइजस पेरसिकी (Myzus persicae)

तीसरा उन कीड़ों का समूह जो संचित तम्बाकू को हानि पहुँचाते हैं जैसे:—

(i) लैसिओडरमा सेरिकारन (Lasioderma serricorne)

कीड़ों के अतिरिक्त तम्बाकू के उद्यम को कवक रोगों से भी हानि पहुँचती है इनका महत्व कीड़ों से अधिक है। एक मोजेक रोग (mosiac) होता है जिसमें पत्तियों का हल्के वा गाढ़े हरे रंगों में भिन्न न हो जाता है। और भी बहुत से कवक तथा वाइरस (virus) रोग होते हैं जिनका प्रसार माइजस पेरिसिकी (Myzus persicae) तथा बेमिसिया टेबेकाई (Bemisia tabaci) जैसे कीड़ों द्वारा होता है।

कीड़े, कवक, मोजेक तथा वाइरस, इन सबका मिलाजुला एक घातक प्रभाव तम्बाकू के उद्यम पर पड़ता है। इनका वाणिज्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। इनकी रोकथाम के भी उपाय हैं पर इस दिशा में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के हेतु और अन्वेषणों की आवश्यकता है।

क्या हम आशा करें कि एक समय आयेगा जब जनता तम्बाकू के कीटनाशक महत्व को भली भांति समझ कर इसके उत्पादन की ओर और अधिक ध्यान देगी, जिससे भारत, तम्बाकू के उत्पादन तथा निर्यात करने वाले देशों में प्रथम स्थान प्राप्त कर सके और साथ ही साथ खेती के हानिकारक कीड़ों का भी सहज ही में नाश हो सके ?

—:*:—

भोजन में दाल का महत्व

भारतीय भोजनों में दाल का विशेष महत्व है, क्योंकि उन लोगों के लिए जो मांसाहारी नहीं हैं, 'प्रोटीन' प्राप्त करने का मुख्य साधन दाल ही है। शरीर के बढ़ने एवं पुष्ट होने के लिए, मनुष्य को जिन पाँच मुख्य खाद्यों की आवश्यकता होती है, 'प्रोटीन' भी उनमें से से एक है, और यह मुख्यतः या तो मांस में, या फिर दालों में, अधिक पाया जाता है। दालों में २० से ३० प्रतिशत तक प्रोटीन होता है, और इसीलिए गरीबों के लिए जो दैनिक भोजन में मांस सम्मिलित नहीं कर सकते तथा निरामिष भोजियों के लिए, जो मांस खाते ही नहीं, दालों का विशेष महत्व है। और यह भी सौभाग्य की बात है कि अरहर, मूंग, मसूर, उर्द, चना, मटर आदि अनेक दालें, हमारे इस देश में पर्याप्त मात्रा में उपजती और प्राप्त होती हैं।

वैसे दालों में कार्बोहाइड्रेट, नामक खाद्य-तत्व भी पर्याप्त मात्र में पाया जाता है और कुछ चिकनाई भी होती है। उन में विटामिन-ए अधिक नहीं होता, पर बी-श्रेणी के विटामिन होते हैं। लवणों में, दालों में केलिशयम नहीं होता, पर फास्फोरस और लोहा होता है अंकुरित दालों में विटामिनसी की मात्रा बढ़ जाती है। अंकुरित करने के लिए साबुत यानी बिना दली दाल को २४ घंटे पानी में भिगोना चाहिए और फिर पानी से निकालकर २४ घंटे मोटे गीले कपड़े में बाँध कर रखना चाहिए। अंकुर निकल आने के बाद नमक, नींबू का रस, हरी धनिया का वा मिर्च, आदि मिलाकर, दाल को स्वादिष्ट बना कर खाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अंकुरित दाल पका कर भी खायी जा सकती है।

निरामिष भोजन में दाल का होना तो आवश्यक है ही, किन्तु यह भी जरूरी है कि साथ में कुछ दूध अथवा दुग्ध पदार्थ भी लिए जाँय ताकि शरीर को आवश्यक मात्रा में 'प्रोटीन' प्राप्त हो सके।

[स० सं० से]

रश्मिशक्ति

लेखक—जगपति चतुर्वेदी

रश्मिशक्ति की खोज रसायन शास्त्र और भौतिकशास्त्र, दोनों के लिए युग प्रवर्त्तक का काम कर चुकी है, तत्सम्बन्धी जटिल सिद्धान्तों को समझाने के लिए पौराणिक प्रसंगो का आधार लेकर लेखक ने निम्न वर्णन को सर्वग्राह्य बनाने का प्रयास किया है।

हमारे पौराणिक साहित्य में विचित्र मणियों का वर्णन मिलता है। स्यंतक मणि की खोज में भगवान कृष्ण कहाँ जा पहुँचे थे। अमृत की वर्षा करने वाले चिन्तामणि का वर्णन बड़ा मनोहर है। नागराज के सिर पर मणिमय मुकुट होने की कहानियाँ कौन नहीं सुनता। निरंतर आभा प्रकट करने वाली रात दिन अपनी ज्योति से अपने चारों ओर जगमग जगमग करने की शक्ति ही इन मणियों में नहीं माना जाता, बल्कि इनके प्राप्त करने से मनुष्य के भाग्य की कुंजी सुलभ हुई विश्वास की जाती है। किन्तु नागराज सहज ही इन मणियों से विदाई नहीं ले सकते। उन के तत्काल मृत्यु की भेंट चढ़ाने वाले विष युक्त दाँत बड़ी चौकसी, बड़ी तत्परता से रात दिन रक्षा करते रहते हैं। यही तो कारण है कि कहानियों के अतिरिक्त उत्पन्न कहीं किसी मानव-शरीर धारी को इन भयंकर विषमय दाँतों के नागराज की पहरेदारी से रक्षित, दुर्लभ किन्तु अपार गुणों से पूर्ण मणियों को प्राप्त कर अपना भाग्य पटल खोलते नहीं देख सुन पाते। इन मणियों की प्रशंसा और उनकी कथाओं में कितना सार है, हम नहीं कह सकते। कभी उस रूप की निरंतर आभा युक्त तेज वा अमृत रस की वर्षा करते दूसरे पदार्थों को यथार्थ में पूर्व काल में किसी ने देखा व सुना, उसका कोई प्रमाण भी हमारे पास नहीं है। किन्तु आज विज्ञान ने उपयुक्त दुर्लभ मणियों की समता कर सकने वाले पदार्थ को हमारे सामने कैसे सुलभ किया है वा हमारी पहुँच के अंदर कर सृष्टि के एक भारी रहस्य को खोलने में सफलता पाई है, उसकी कहानी बड़ी ही भव्य और रोमांचकारी है। ये आधुनिक स्यंतक मणि "रश्मिम" नाम धारण करते हैं।

"रश्मिम्" तत्व की खोज करने का यश एक विज्ञान जगत की विदुषी को है जिसका नाम श्रीमती 'क्युरी' के नाम से विश्व विख्यात है। श्रीमती क्युरी का निवास पोलैंड देश में था। पिता के परिवार में इनका नाम मैरी स्क्लोडोवस्का था। इनके पिता वार्सा विश्व विद्यालय में विज्ञान के आचार्य थे। कुमारी स्क्लोडोवस्का ने उस विश्व विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर लेने पर विज्ञान की विशेष खोजों का अध्ययन करने की उत्कट लालसा से फ्रांस देश में पेरिस विश्व विद्यालय में प्रवेश किया। वहां पर एक साधारण स्थान में रह कर वे निर्वाह कर रही थीं। विज्ञान की खोजों में लगे हुए एक दूसरे शिक्षार्थी पियर क्युरी का इन से परिचय हो गया और परस्पर गुण मिलने के कारण दोनों ने विवाह कर लिया और विज्ञान की खोजों में लीन रहने लगे।

इन्हीं दिनों इस दम्पति के विज्ञानाचार्य श्रीयुत एंटोइने हेनरी बेकेरेल नाम के विद्वान ऐसे पदार्थों का प्रयोग करने में लगे हुए थे जो सूय की किरणों वा दूसरे प्रकाश के सामने आने पर चमक उठें।

'रोञ्जन' किरणों की खोज से विद्यमान हवा निकाल कर शून्य स्थान (बैकुअम) बनाई गई शीशे की नलियों में बिजली की ऋणात्मक धारा से उत्पन्न विचित्र किरणों के गुणों का अध्ययन कर रहे थे। ये नलियां 'रोञ्जन' नलियां नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी। प्रयोग करने के लिए बेकेरेल महाशय ने एक ऐसा पदार्थ लिया जो पिनाकम (यूरेनियम) नाम का था। इस पदार्थ को सूर्य के प्रकाश में रखने से इसमें दमक आ जाती थी। बेकेरेल का अनुमान था जिस प्रकार 'रोञ्जन' किरणें अंधेरे में फोटो खींचने के शीशे पर प्रभाव डाल कर किसी वस्तु की छाया चित्र रूप में उतार देती हैं उसी प्रकार कदाचित ये दमकने वाले पदार्थ भी छाया-चित्र अंधेरे में उतार सकते हों। यूरेनियम की तरह और भी पदार्थ हो सकते थे जो सूर्य के प्रकाश में दमक उठते और शीशे पर चित्र उतार देते किन्तु यूरेनियम को छोड़कर अन्य दमक उठने वाले पदार्थों में यह शक्ति नहीं दिखाई पड़ी।

बेकेरेल ने कितने ही बार यूरेनियम को धूप में दमक युक्त कर उसे फिर अंधेरे में छाया-चित्र खींचने के शीशे को काले कागज में लपेट कर इसके सामने रख कर छाया चित्र उतारने में सफलता पाई। साधारण तौर पर सूर्य के प्रकाश में हम अपना छाया-चित्र उतरवाते हैं जिसमें सूर्य का प्रकाश छाया चित्र वाले शीशे पर हमारा छाया चित्र उतार देता है। उस शीशे को छाया चित्र के उतारने के समय केमेरे के अंदर ही काले कागज के थैले से बाहर निकाल कर चित्र उतारने के लिए खोलते हैं। प्रकाश का उस पर प्रभाव पड़ने से खुला रखने पर जो वस्तु सामने दीखे वही उसमें खिंच आकर उसे बर्बाद कर सकती है। एक दिन बेकेरेल महाशय सूर्य के प्रकाश का काम उस प्रकाश से यूरेनियम में दमक उत्पन्न कर लेने का करने का विचार कर रहे थे कि उसका अवसर न आने देने के लिए आकाश में घनघोर बादल मँडरा आए और सारा दिन अंधेरामय रहा। यूरेनियम में दमक उत्पन्न कराने के लिए धूप ही न मिल सकी। निदान छाया चित्र उतारने वाले शीशे को काले कागज में लिपटा हुआ ही मेज की दराज में उन्हें रख देना पड़ा। यूरेनियम भी कहीं वहीं दराज में रख दिया। बेकेरेल काम काजू आदमी थे। उन्होंने कई दिन तक इस सम्बन्ध में फिर सुधि नहीं ली। कुछ दिनों के बाद उन्होंने उसकी सुधि ली किन्तु उनके हृदय में कौतूहल वश यह बात आई कि फोटो के कागज में ढके शीशे की परीक्षा की जाय कि वह कहीं किसी प्रकार प्रभावित कर के छाया चित्र तो नहीं उतार चुका है। वड़े यत्न से उसे मसालों में धोकर उन्होंने ध्यान से देखा। शीशे पर धुँधले बादलों के छाया चित्र से बन गए थे।

इस प्रयोग ने सिद्ध किया कि यूरेनियम में सूर्य के प्रकाश से दमक उत्पन्न कराए बिना ही ऐसी शक्ति हैं कि वह काले कागज का ढक्कन पार कर छाया चित्र के शीशे पर प्रभाव डाल देती है। यह एक भारी खोज थी जो रोञ्जन किरणों को भी मात देने वाला थी। इसमें ऐसी शक्ति एक पदार्थ में स्वतः बाहर निकलती हुई ज्ञात हुई जो 'रोञ्जन' नलियों में बिजली की धारा रोककर उत्पन्न की हुई रोञ्जन किरणों का गुण प्रकट करती दिखाई पड़ी, किन्तु इस खोज का पूरा रहस्य तुरन्त ज्ञात नहीं हो सकता था। बेकेरेल के नाम पर इस तत्व से निकली किरणों को रोंजन किरणों से भिन्न करने के लिए बेकेरेल किरण नाम दिया गया।

बेकेरेल की इन खोजों का पता जब श्रीमान और श्रीमती क्युरी को लगा तो इन लोगों ने उस संबंध में खोज करने की उनसे आज्ञा मांगी। इनकी खोज का उद्देश्य यूरेनियम के भेद को समझना और इसी प्रकार के दूसरे पदार्थ खोज निकालना था। इस खोज के लिए उन्होंने यूरेनियम का अधिक मात्रा में संग्रह करना चाहा। 'पिच ब्लेंडी' नाम के खनिज पदार्थ में यूरेनियम मिला हुआ मिलता है। उससे 'यूरेनियम' की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए पचीसों मन पिचब्लेंडी जुटाई गई और खोज प्रारम्भ हुई। इस खोज में उन्हें एक विशेष यन्त्र से पूरी सहायता मिली

जो इस बात की जाँच करने के लिये होता है कि किसी वस्तु में बिजली का असर है या नहीं। यह यन्त्र विद्युद् दर्शक यन्त्र कहलाता है। इसमें एक शीशे की दीवारों वाली संदूक होती है जिसमें पेंदे में एक लकडी की छोटी मेज होती है। इस मेज के ऊपर एक धातु की चद्दर रक्खी होती है जिसमें एक लम्ब बनाती हुई धातु की छड़ी खड़ी होती है। इसी छड़ी में कुछ ऊँचाई पर एक आड़ी धातु की छड़ी लगी होती है। इस आड़ी छड़ी में दोनों सिरे बैठकों पर जमाए होते हैं जो किसी ऐसे पदार्थ के बने होते हैं जिनमें बिजली की धारा नहीं बह सकती ऐसी वस्तुओं को धारा रोकने वाली, अवरोधक वस्तु कहते हैं। तार या बिजली के खम्भों में इसी प्रकार की वस्तुओं में तार बाँध कर फैलाए गए होते हैं। चीनी मट्टी या काँच की ये वस्तुए प्रायः बनी होती हैं। बीच में खडी छडी में ऊपरी सिरे से सोने की बहुत ही पतली पत्ती का एक टुकडा लटकाया होता है। इन सब के ऊपर शीशे की संदूक में ऊपरी सिरे पर मुंह बना होता है जिसमें से होकर भीतर एक तार आया होता है जिसका सम्बन्ध बाहर की ओर बिजली पैदा करने के यन्त्र से होता है। इस विद्युद् दर्शक यन्त्र में जब ऊपर लटका हुआ तार बिजली की धारा बहती होने पर पल भर के लिए दबाया जाय और इसका संयोग खड़ी छडी से कर दिया जाय जिसमें सोने की बहुत बारीक पत्ती लटकी हो तो इस धातु की खड़ी छड़ी और सोने की पत्ती दोनों में बिजली की धारा बह जायगी। इस कारण बिजली की धारा बहने पर सोने की पत्ती छड़ी से समकोण बनाती सी खड़ी हो जायगी जिस प्रकार रेलवे लाइन के सिगनल गाड़ी न आने की दशा में खड़े रहते हैं। किन्तु श्रीमती क्युरी ने देखा कि यूरेनियम धातु का कोई टुकडा इस यन्त्र की छोटी मेज पर रखा होता है तो सोने की पत्ती वाली बांह तुरन्त गिर कर धातु की छडी से चिपट जाती है। यह इस बात को प्रकट करता था कि यूरेनियम में कोई ऐसी शक्ति है जो सोने की पत्ती पर से बिजली का प्रभाव दूर फेंक देती है। अथवा यह कहें कि ऋणाणु की बाढ़ जब सोने की पत्ती पर बिजली का प्रभाव दौड़ाने लगती है तो वे ऋणाणु यूरेनियम की शक्ति से दूर फेंक दिए जाते हैं और बिजली का लोप हो जाता है।

यही विद्युद् दर्शक यंत्र अपना यह गुण दिखाने के कारण यूरेनियम सरीखे दूसरे पदार्थ खोजने में सहायक हुआ। श्रीमती क्युरी ने देखा कि जिस खनिज वस्तु से यूरेनियम पृथक कर निकाला जाता है, उस मूल खनिज पिचब्लेंडी को यदि विद्युद दर्शक यंत्र की नन्हीं मेज पर रखते हैं तो सोने की पत्ती चारगुनी प्रभावित दिखाई पड़ती है और इतने अधिक वेग से सिकुड़ती पाई जाती है। यह एक विलक्षण सहायता थी। इस से यह ज्ञात हो सका कि पिचबलेंडी में अवश्य ही कोई अधिक प्रबल शक्ति की वस्तु मिली है जो यूरेनियम से अधिक शक्ति रखने वाली है।

इतना संकेत मिलने पर क्युरी दम्पति ने रासायनिक उपायों से पिचब्लेंडी को बनाने वाले तत्वों की परीक्षा करना प्रारम्भ किया। जो भाग विद्युद दर्शक यन्त्र में कुछ प्रभाव नहीं दिलाते उनको अलग कर शेष को बड़ी सावधानी से रखकर उसके तत्वों को जानने का प्रयोग फिर प्रारम्भ करते। इस प्रकार रात दिन परिश्रम करने पर उन्हें एक तत्व मिला जो कुछ विशेष प्रभाव दिखा रहा था इस तत्व का नाम श्रीमती क्युरी ने अपनी जन्म भूमि पोलेंड के नाम पर पोलोनियम रक्खा परन्तु यह तत्व उनके भारी परिश्रम वा आशा के अनुरूप नहीं ज्ञात हुआ। इसलिए उन्होंने "जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ। हौं बौरी ढूढ़न गई, रही किनारे बैठ ॥" इस उक्ति के अनुसार छिछले पानी की साधारण खोज से ही न थक कर अपना प्रयोग निरंतर ही जारी रक्खा। अंत में घोर परिश्रम के पश्चात अमूल्य रत्न हाथ लग ही गया जो समुद्र मंथन में प्राप्त रत्नों से भी कदाचित अधिक मूल्यवान हो। यह तत्व बेकेरेल की खोजी किरण, यूरेनियम की उत्पन्न की हुई शक्ति से २५ लाख गुनी अधिक तेज और शक्ति प्रकट करने वाला

तत्व था जिसका नाम रेडियम या रश्मिम् प्रसिद्ध है।

इस नए खोजे तत्व रश्मिम् में बड़ी ही विलक्षण बातें थीं। पचीसों मन पिचब्लेंडी को छान डालने पर एक रत्ती का अंश मात्र मिलने पर यह अद्भुत शक्ति दिखला रहा था। इसमें से निरंतर गर्मी चारों ओर बिखरती रहती थी, आस पास लाए हुए कुछ पदार्थों को यह ज्योतिमय कर देता था, वायु मडल में बिजली की संचार चारों ओर कर देता था। यह निरंतर शक्ति और ज्योति की वर्षा करने वाला रत्न किन मणियों की तुलना करने वाला था, इसका अनुमान इसके गुणों का यथार्थ अध्ययन करने से ही हो सकता था।

'रेडियम' आज की सबसे बहुमूल्य धातु है। इस धातु की दुर्लभता ही इसका मूल्य नहीं बढ़ाती, बल्कि इसकी विलक्षण और प्रबल शक्ति भी इसके मूल्यवान होने का कारण है। एक छटाक रेडियम प्राप्त करने के लिए ८ हजार मन पिचब्लेंडी की आवश्यकता पड़ती है। इतनी बड़ी मात्रा में पिचब्लेंडी पाना भी कोई सरल काम नहीं। फिर इसका विभाजन कर तत्वों को एक के बाद एक पृथक करते जाकर कोई सुई की नोक के बराबर इस बहुमूल्य धातु को ढूंढ़ निकालते जाना बड़ी ही सावधानी चतुरता और परिश्रम का काम है। रेडियम का एक नन्हें से नन्हा किनका भी किसी स्थान पर रहने पर अंधेरे में जगमगाता और अपनी प्रबल किरणें चारों ओर फेंकता जाता दिखाई पड़ सकता है। इसकी किरणों को हम घड़ियों के घंटा मिनट बताने वाले चक्र में ऊपरी ढक्कन से रात को जगमग कर घंटे मिनटों के अंक चमकते हुए देख सकते हैं। ये घड़ियाँ रेडियम घड़ियां कही जाती हैं। अपने अपूर्व तेज के साथ रेडियम कीटाणु-संहार की भी शक्ति रखता है। जहरीले फोड़ों में इसके कीटाणु नाशक प्रभाव से बड़ा लाभ होता दीखता है अतएव चिकित्सालयों में इन फोड़ों के लिए 'रेडियम' का औषधि रूप में उपयोग किए जाकर जहरीले कीटाणुओं के संहार में प्रयोग किया जाता है। एक रत्ती मात्रा के रेडियम का मूल्य पचीसों हजार रुपए होने पर भी चिकित्सालयों में इसकी प्रबल कीटाणु-नाशक शक्ति के कारण हजारों रुपए खर्च कर रोगी अच्छे किए जाते हैं।

'रेडियम' की विलक्षण शक्ति उसमें से तेज और बल का निरंतर फैलाव होते रहना है। बिना किसी ईंधन तेल, कोयला वा बिजली की बाटरियों के यह तत्व अपने तेज की निरंतर वर्षा करता थकता नहीं दिखाई पड़ता, यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है। क्या प्रकृति में कोई ऐसी भी शक्ति उत्पन करने की युक्ति है जिससे अनायास ही तेज और शक्ति का सृजन और प्रसार होता रहता है ? यदि कोई ऐसा तेज और बल का नित्य फैलाव करने वाला, अनायास ही उत्पन्न और प्रसार करने वाला यंत्र सुलभ हो जाता है तो मनुष्य के हाथ में कितनी अपूर्व शक्ति आ जाती है और मानव से देवता कहे जाने की ओर वह क्यों नहीं बढ़ता दिखाई पड़ सकता !

'रेडियम' इतना ही करता नहीं दीख पड़ता। उसके परमाणु तेज और बल के अटूट भंडार के विज्ञापन के लिए नित्य इनकी चारों ओर वर्षा करते जाकर अपना काया पलट भी करता दिखाई पड़ता है। उसका यह गुण उसकी जाति के यूरेनियम, पोलोनियम आदि दूसरे तत्वों में भी पाए जाते हैं जिन्हें 'रश्मिशाक्तिक' वा "रश्मि शक्ति वाला" तत्व नाम दिया जाता है। इनके शक्ति वर्षा के गुण को रश्मि शक्तित्व कहते हैं। इस प्रकार तत्वों की सूची में यूरेनियम ९२वां पोलोनियम ८४ वां स्थान रखते हैं। रेडियम का स्थान ८८ वां है। इस क्रम में ऊपर के स्थान के तत्व अपना शरीर वा परमाणु केन्द्र क्षीण कर कुछ समय में नीचे का स्थान ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार यूरेनियम क्षीण होकर किसी समय धीरे धीरे गिरता रेडियम के स्थान को ग्रहण कर लेता है। रेडियम के स्थान का परमाणु भी काया पलट कर क्षीण बनकर नीचे के स्थान पर जाता है। ऐसा होने में समय का कोई निश्चित क्रम नहीं। एक स्थान से दूसरे नीचे स्थान पर जाने का क्रम किसी

दशा में कुछ दिनों घन्टों वा पलों का जहाँ दिखाई पड़ता है वहीं दूसरे स्थान का परिवर्तन कभी हजारों वर्ष से भी अधिक ले लेता है। इस अक्षय तेज भंडार का सर्वथा लोप न दिखाई पड़ने पर भी इसके कुछ भाग अंत में तेज हीन होकर सीसा का स्थान लेते हैं जिसका स्थान तत्व सूची में ८२ वा है।

रावण के दरबार में राम के राजदूत अंगद ने जब उस पर प्रहार कर उसके मुकुट इतने जोर से आकाश में फेंके कि वह राम की वानर-मंडली के निकट जा पहुँचा तो उसे सनसनाती गति से आता देख वानर मंडली समझ नहीं सकती थी कि क्या बात है।

आवत मुकुट देखि कपि भागे।
दिन ही लूक परन बिधि लागे।
की रावन करि कोप चलाए।
कुलिस चार अति आवत धाए।

उन्होंने चकित होकर सोचना प्रारम्भ किया कि कहीं दिन को ही तारे टूट कर गिरने तो न लगे। इस शंका को रामचंद्रजी ने सत्य बात बतला कर दूर किया था। उसी प्रकार रश्मि की अपूर्व शक्ति का अनुसंधान अकस्मात होने से सारा विज्ञान जगत चकित रह गया।

"पारस परसि कुधातु सुहाई"

पारस मणि के स्पर्श मात्र से लोहे ऐसा काला धातु अपना रूप बदल कर सुनहला कलेवर या सोना बन जाता है, ऐसा हमारे पूर्वजों का विश्वास रहा है। छोटे के बड़े होने वा दुर्गुणी के गुणवान बनने के प्रसंग पर उपमा देने में हमारे साहित्य में दुर्लभ पारस मणि का प्रायः नाम मिलता है। हम नहीं जानते कि ऐसा मणि यथार्थ की वस्तु कभी था वा नहीं, परन्तु सोना ऐसे दमकते हुये सुन्दर रंग के धातु को आभूषण वा धन के भंडार में रख कर वैभव शाली बनने, संसार का सुख और सौन्दर्य का भोग करने की आकांक्षा से लोहे वा दूसरे सस्ते कुरूप धातु से सोना बनाने की विद्या की खोज करते वा इस विद्या के जानने का बहाना कर भोली भाली जनता को ठगते हम प्रत्येक देश में देखते सुनते आए हैं। रसायन या कीमियागरी यह विद्या ही कहलाई जाती रही है। यह क्रम यहाँ तक बढ़ा था कि आज से कुछ सौ वर्षों पूर्व ही विज्ञान का युग प्रारम्भ होने के दिनों में एक चतुर पुरुष ने इंगलैंड के विद्वानों की मंडली में सोना बनाने का प्रयोग भी कर दिखाया था जिस पर इंगलैंड की राजकीय विज्ञान परिषद् ने उसे पुरस्कार भी प्रदान कर दिया और एक प्रधान विश्वविद्यालय ने उस पर उपाधि वर्षा भी कर दी; किन्तु कुछ ही समय बाद इस बात की अधिक चर्चा और छान बीन होने पर कुछ वैज्ञानिकों ने इस बात को निराधार कह कर उस व्यक्ति को अपना प्रयोग कर फिर दिखलाने के लिए विवश किया। किन्तु जिस प्रकार कागज की नाव एक बार ही हिलोरों का बचाव कर तैर सकती है वा काठ की हाड़ी में एक बार ही खाना पकाया जा सकता है, दूसरी बार उसे चूल्हे पर जाने का अवसर नहीं मिल सकता, उसी प्रकार धोखे का काम थोड़ी देर के लिए ही अपना जाल फैला दूसरों को भ्रम में रख सकता है। निदान दूसरा प्रयोग दिखाने के लिए विवश किए जाने पर वह व्यक्ति प्रयोग दिखाने की तैयारी कर विद्वानों की मंडली के सम्मुख खड़े हो कर सोना बनाने की क्रिया करने के पूर्व विष खा कर अपने प्राणान्त करता दिखाई पड़ा। कदाचित विज्ञान-जगत को धोखा देने का यह अंतिम प्रयत्न था।

किन्तु आज ज्ञान-गंगा की धारा फिर उल्टी दिशा में बहती जान पड़ती है। पुराने अंध विश्वास की मूर्खता-पूर्ण मानी जाने वाली बातों को विज्ञान-जगत वैज्ञानिक सत्यता के रूप में मानने के लिए पग बढ़ाता जान पड़ता है। आज सभी वैज्ञानिक गंभीरता पूर्वक विचारने लग गए हैं कि क्या एक धातु से दूसरे धातु वा एक तत्व से दूसरा तत्व बनाने की क्रिया मानव शक्ति के द्वारा संभव बात हो सकती है। रेडियम वा इसी जाति की रश्मिशक्तिवर्षक दूसरी वस्तुओं की

खोज ने ये उथल पुथल करने वाले प्रश्न, बेढब समस्याएं हमारे सम्मुख लाकर रख दी हैं। इस प्रश्न का ठीक ठीक सुलझाव तो कब तक मिल सकेगा वा पूर्ण रूप से कभी मिलेगा भी वा नहीं, आज कोई निश्चय पूर्वक बता नहीं सकता। परन्तु इस पहेली का पूरा सुझाव पूरी सृष्टि का सुझाव, सृष्टि-रचना तक की शक्ति मनुष्य के हाथ में आने का प्रयोग सा होगा। कुछ अंश में इस खोज को कर, इस पहेली की पहली लड़ी खोल वैज्ञानिकों ने हमारे सम्मुख आज भी जो शक्ति रख दी है, वह अद्भुत मालूम पड़ती है।

रेडियम (रश्मिम) की खोज हो जाने पर जिन वैज्ञानिकों ने इसके भेद को जानने का प्रयत्न प्रारम्भ किया उनमें केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान के विज्ञानाचार्य जे० जे०-थामसन सर्व प्रथम थे। स्थूल प्रकृति के नियम तथा पदार्थों के गुण और शक्ति के सम्बन्ध में खोज करने वाली विद्या भौतिक विज्ञान कहलाती है। रेडियमकी शक्ति का भेद खोलना भौतिक विज्ञान का काम था। थामसन महोदय ने ऋणाणुओं का विशेष रूप बता कर उन में ऋणात्मक विद्युत का होना सिद्ध किया। यह खोज का पहला पग था परंतु थामसन महोदय ने अपने पीछे जिन दूसरे योग्य शिष्य विद्वानों को इस काम में लगने के लिए मार्ग दिखाया उन में रदरफोर्ड का नाम विज्ञान की खोजों के इतिहास में सुनहले अक्षरों में लिखने योग्य है। आज सारा संसार परमाणुओं के भारी भेद खोल कर सम्मुख रखने के लिए रदरफोर्ड का ऋणी है।

सर एर्नेस्ट रदरफोर्ड थामसन महोदय के उत्तराधिकारी रूप केम्ब्रिज विश्व विद्यालय में ही भौतिक विज्ञान के आचार्य थे। उन्होंने बड़े ही परिश्रम और बुद्धिमत्ता से रेडियम (रश्मिम्) से बरसती हुई तेज पुंज का खोज करना प्रारम्भ किया। किसी पदार्थ के तेल व किसी बिन्दु से तेज या ताप के चारों ओर फैलते जाने को विकिरण होना कहते हैं जिसमें उस पदार्थ को छुए बिना ही हम तेज का अनुभव कर सकते हैं। सूर्य की गर्मी विकिरण होती है जो सूर्य के दूर रहने पर भी हम तक अपना प्रभाव दिखाती अनुभव की जाती है। रश्मिम् के परमाणु भी छोटे सूर्य की तरह अपने अंग से तेज और ताप का विकिरण करते थे। उनकी खोजकर रदरफोर्ड ने ज्ञात किया कि उनमें तीन प्रकार की भिन्न भिन्न गुण और शक्तियों की किरणें हैं। इन तीनों किरणों का नाम उन्होंने प्रथम, द्वितीय वा तृतीय करने के स्थान पर हमारी क ख ग आदि वर्णमाला के प्रारम्भ के अक्षरों की भांति यूनानी भाषा के प्रारम्भ के तीन वर्ण अल्फा, बीटा और गामा के नाम पर अल्फा किरणें, बीटा किरणें और गामा किरणें रक्खा। हम सहज ही इन के नाम क ख और ग किरणें रख सकते हैं परन्तु सारा विज्ञान-जगत जहाँ उन्हें किसी समय पूर्व काल में अपनी सभ्यता और साहित्य के लिए अभिमान करने वाले यूनान देश की वर्ण माला के अक्षरों पर इन किरणों को पुकारता है वहाँ हम भी इन किरणों को इन्हीं नामों से कुछ कठिन होने पर भी उच्चारण करना उचित समझेंगे जिससे इन खोजों के बहाने पग पग पर इन मूल नामों से किरणों का नाम ले लेकर उस खोज करने वाले विद्वान की कीर्ति स्मरण कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता मौन रूप से प्रकाशित करते रहने का अवसर पाते रहेंगे।

'अल्फा'—किरणें सब से अधिक चकित करने वाली प्रकट हुईं उनमें धनात्मक बिजली देखी गई और परीक्षा करने पर हिमजन (हिलियम) परमाणु के केवल परमाणु-केन्द्रों से बनी सिद्ध हुईं जिनका परिधि का ऋणाणु-समुदाय लुप्त हो। इन का रेडियम के केन्द्र से बाहर फेंके जाने का वेग २० हजार मील प्रति सेकेंड था।

'बीटा' किरणें ऋणात्मक बिजली वाली ऋणाणु की किरणें सिद्ध हुईं, किन्तु इनका वेग इतना अधिक था कि प्रकाश की लहरों के वेग के निकट तक पहुँचता था। हम जानते हैं कि प्रकाश की लहरें अखिल विश्व व्याप्त ईथर के महा समुद्र में बड़े वेग से उठती रहती हैं जो १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेंड के वेग से चलती मानी जाती हैं। यह बात मानी गई है कि कोई

भी भौतिक पदार्थ इतने वेग से नहीं जा सकता और इसे गति की सीमा का अंत माना जाता है किन्तु रेडियम की ऋणाणु वाली किरणें इस वेग के लगभग वेग से चल कर अपनी अपार गति और रेडियम के परमाणु के परमाणु केन्द्र के भीषण बल का आभास कराती हैं।

'गामा' किरणें कोई पदार्थ नहीं, वल्कि ठोस वस्तुओं में भी प्रविष्ट कर सकने वाली रोंजन किरणों की तरह लहरें हैं किन्तु इनकी दोलन या झूलन संख्या रोन्जन किरणों से २० गुनी अधिक होती है।

'अल्फा' किरणों की विशेष व्याख्या करना यहाँ अधिक आवश्यक है। हमने देखा है कि वे हिमजन हीलियम परमाणु के परमाणु-केन्द्र से बनी होती हैं जिनकी ऋणाणु वाली परिधि पृथक हो गई रहती है। हिमजन परमाणु तत्वों की सूची में दूसरा है अर्थात इसमें दो ऋणाणु परिधि पर परिक्रमा करने वाले होते हैं और परमाणु केन्द्र में दो धनात्मक बिजली की शक्ति वाले धनाणु। किन्तु इन धनाणुओं की संख्या ४ होती है जिसमें दो और ऋणाणु केन्द्र में ही उन से लिपट रह कर उनकी दो धनात्मक शक्ति अपनी दो ऋणात्मक शक्ति के मिलाने से शान्त किए रहते हैं। कोई कोई लेखक इस बात को इस प्रकार प्रकट करते हैं कि परमाणु केन्द्र में दो धनाणु और दो सुप्ताणु होते हैं। एक धनाणु और एक ऋणाणु के हिलमिल कर बनी वस्तु का सुप्ताणु नाम दिया जाता है परन्तु केवल पेचीदा स्थिति को समझाने के लिए ही ये कल्पनाएं हैं। तात्पर्य यह है कि तत्व सूची में २ संख्या का परमाणु हिमजन हीलियम केंद्र में कुल चार धनाणु और दो ऋणाणु से हिलमिलकर बना होता है। इस केन्द्र में दो धनात्मक बिजली की शक्ति होती है और इसके चारों ओर एक कक्षा या कक्षावली में दो ऋणाणु चक्कर लगाते रहते हैं। इसका परमाणु भार चार धनाणुओं के कारण ४ होगा, यह हम अनुमान ही कर सकते हैं। परमाणु का भार या तोल धनाणु की संख्या पर ही निर्भर करता है, ऋणाणु धनाणु से हजारों गुना हल्के होने के कारण तोल के लिए ध्यान में नहीं रक्खे जाते। इन परमाणुओं के कक्षाहीन केन्द्रों से बनी अल्फा किरणों का वेग प्रकाश की लहरों के वेग का दशमांश के बराबर होता है। इनके भारी आकार को ध्यान में रखकर इतना अधिक वेग रेडियम के केन्द्र के अपार बल को सहज ही जाना जा सकता है। इतने वेग के हिमजन परमाणु केन्द्रों को जब किसी शीशे के पर्दे से बन्द नली पर चोट की गई तो ये शीशे के पर्दे को आसानी से पार कर भीतर पहुँच गए परन्तु एक बार इस पर्दे को भेद कर अंदर चले जाने पर ये वापस आ सकने में असमर्थ दिखाई पड़े। इस प्रकार बंदी कर इनकी पहचान की गई तो ये अल्फा किरणों के रूप में हिमजन (हीलियम) परमाणु के नग्न परमाणु-केन्द्र ज्ञात हुए।

एक बार अल्फा किरणों को हिमजन परमाणु के केन्द्र समझ लेने पर रदरफोर्ड ने अपना विख्यात दूसरा प्रयोग किया। हम जानते हैं कि किसी परमाणु के सर्वथा नग्न परमाणु-केन्द्र बच्चा खोए हुए सिंहनी के रूप में अपने खोए हुए परिवार को पाने के लिए कितना तड़पता हुआ अनुमान किए जा सकते हैं। ये दहाड़ते केन्द्र खोए हुए ऋणाणुओं को कहीं से भी पाने का सुभीता होने पर तुरन्त ग्रहण करने के लिए दौड़ सकते हैं किन्तु ऐसा अवसर न मिलने पर इनका वेग और प्रहार चारों ओर हो सकता है। इन प्रबल केन्द्रों को संगृहीत कर रदरफोर्ड ने इनको तोप के गोले की भांति दागकर दूसरे परमाणुओं के ऊपर प्रहार करने का प्रयोग किया। नोषजन (नाइट्रोजन) नाम का एक सुगम तत्व उसने एक जगह एकत्रित कर उन पर अल्फा किरणों के गोलों की वर्षा निरंतर की। उसकी इस क्रिया में एक और भी युक्ति की गई। वर्षा की जाने वाली नली में ऐसा प्रबंध किया गया कि कृत्रिम रूप से नमी पैदा कर उसमें बंद भाप को नन्हें पानी के कणों के रूप में बदला जा सके। नली के पेंदे को किसी युक्ति से बाहर की ओर खींच कर नली का भीतरी भाग अधिक फैला करने से उसमें बंद वायव्य फैलने से

नम हो सकते थे। इस प्रकार नन्हीं नन्हीं बून्दों से अल्फा किरणों के कण चिपक कर एक जगमगाती नन्हीं दुनिया बना देते थे जिससे उनका मार्ग और प्रहार का प्रभाव चित्र रूप में उतारा जा सकता था। ऐसे यत्न से ज्ञात हुआ कि अल्फा किरणें कहीं कहीं अंतिम सिरे पर झुकी हैं। वहां पर अवश्य ही नोषजन के परमाणु-केन्द्र से अल्फा-किरणों की टक्कर हुई होगी। इन प्रहारों के बाद किरण चित्र लेने से ज्ञात हो सका कि नोषजन के परमाणु-केन्द्र टूटकर एक धनाणु पृथक कर उदजन के परमाणु केन्द्र उत्पन्न कर सके हैं। यह प्रयोग विज्ञान जगत में उथल पुथल मचाने वाला था। मनुष्य के हाथ ने प्रकृति के कामों में दखल देकर एक परमाणु का केन्द्र खंडित कर दूसरे परमाणु को जन्म दिया था।

रेडियम या दूसरे दूसरे रश्मि—शक्ति वाले पदार्थों से किरण—वर्षा होने की खोज कर रुदरफोर्ड ने जो बातें ज्ञात की उन से उस संबंध में बहुत जानकारी हुई। 'अल्फा, किरणें हिमजन (हीलियम) का परमाणु केन्द्र होने के कारण यूरेनियम या रेडियम से पृथक होकर उसे तत्व सूची तत्वों के आवर्त्त—चक्र में दो स्थान नीचे की ओर कर देंगे यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है किन्तु इस परिवर्तन में ही 'बीटा' किरणें (परमाणु केन्द्र के ऋणाणु) का भी प्रभाव विचित्र रूप से पड़ता है। इसके लिए फिर स्मरण करना चाहिए कि परमाणु में उनकी क्रम संख्या के अनुसार केन्द्र में उतनी संख्या की धनात्मक बिजली की शक्ति और परिधि में उतनी ही संख्या की ऋणाणु विद्युत्शक्ति होती है किन्तु केन्द्र में उस संख्या के दूने वा कुछ अधिक धनाणु मौजूद रह कर उस परमाणु का भार क्रम संख्या का दूना वा उससे भी ज्यादा करते हैं। इसी केन्द्र में ऋणाणुओं की क्रम संख्या के बराबर या उस से कुछ अधिक ऋणाणु रह कर धनात्मक बिजली का भंडार ठीक ऋणात्मक बिजली के कोष के बराबर कर देते हैं इस प्रकार यूरेनियम के परमाणु में ९२ ऋणात्मक बिजली और ९२ ही धनात्मक बिजली होने पर केन्द्र में २३८ धनाणु पाए जाते हैं अतएव यह आवश्यक है कि केन्द्र में (२३८-९२-१४६) १३६ ऋणाणु वहाँ के धनाणुओं से गँठ-बंधन कर बिजली के धनात्मक और ऋणात्म पलड़ों को बराबर करें।

बीटा किरणें परमाणु केन्द्र के इन गठ-बंधनों में फँसी ऋणाणु में से होती है जिस से उन में इतनी शक्ति और वेग से पूर्ण पाया जाता है। यह बात भी खोजद्वारा ज्ञात हुई है कि कुछ रश्मि शक्ति पदार्थ या तो केवल धनाणु कोष को ही खाली कर अपनी प्रचंड शक्ति दिखाते हैं या केवल परमाणु केन्द्र के ही ऋणाणु कोष को खाली कर। थोड़े से ऐसे भी परमाणु है जो ये दोनों कोष बारी बारी से खाली कर उदारता का भगवान शंकर के औढर दान का अनुकरण कर नोचे की उक्ति चरितार्थ करते हैं।

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोऊ करन उलीचिए, यही सयानो काम॥

रेडियम या रश्मिम और युरेनियम (पिनाकम) ऐसे ही औढर दानियों में से हैं।

यह बात तनिक सा ध्यान देने से समझ में आ सकती है कि यदि परमाणु के केन्द्र का केवल ऋणाणु कोष ही खाली हो तो तुरन्त ही उस के केन्द्र का धनात्तमक बिजली का भंडार एक बढ़ जायगा। ध्यान रहे कि ऐसे परमाणु को बाहर से आमदनी कुछ भी नहीं हुई। अब यदि अवसर मिले तो यह नया बना परमाणु केन्द्र तोल या भार में पहले सा ही रहता हुआ ऊपर की संख्या के तत्वों में नाम लिखा सकने के लिए अपनी परिध में एक केन्द्र कहीं से खींच ला सकता है। इस बात को समझ लेने से यूरेनियम और रेडियम सरीखे परमाणुओं के काया-परिवर्तन के कौतुक का पूरा अनुभव किया जा सकता है। पहला कदम—अल्फा किरण का परिणाम-एक हिमजन परमाणु केन्द्र का वियोग—जिससे ४ इकाई का भार कम और २ इकाई की धनात्मक बिजली की हानि।

दूसरा कदम—अल्फा किरण के निकल चुकने के

बाद एक ऋणाणु बीटा किरण में बिदा। इस बिदाई से केन्द्र की धनात्मक बिजली एक प्राप्त जिससे पहले कदम की चाल से जो दो स्थान तत्व सूची में गिरावट हुई थी उसमें के स्थान पर एक प्राप्त यानी ९२ संख्या वाला यूरेनियम परमाणु जो पहले कदम पर ९० वी संख्या का हो कर (२३८-४) २३४ पारमाणविक भार था, वह इस दूसरे कदम में ९१ वी संख्या का हो गया, यद्यपि पारमाणविक भार २३४ ही बना रहा।

तीसरा कदम—बीटा किरण द्वारा परमाणु केन्द्र से दूसरे ऋणाणु की बिदाई। अब यूरेनियम का परमाणु पारमाणविक भार २३४ ही रखते हुए भी ९२ वें स्थान का परमाणु बन गया। यूरेनियम परमाणु का ही स्थान इसे पुनः प्राप्त हो गया।

इसी प्रकार अन्य परमाणुओं में भी देखा जा सकता है कि एक ही स्थान पर दो वा तीन प्रकार के परमाणु हैं जिन में ऋणाणु उतनी ही निश्चित संख्या के हैं और परमाणु केन्द्र का धनात्मक बिजली का कोष भी उस स्थान के अनुकूल है परन्तु उनका पारमाणविक भार भिन्न भिन्न है। परमाणु का भार उसका स्थान निश्चय नहीं करता बल्कि उसकी कक्षा ऋणाणुओं और उनके ही अनुकूल उतनी ही संख्या के धनात्मक विद्युत्भंडार का परमाणु केन्द्र। इस प्रकार के परमाणु भिन्न भिन्न परमाणविक भार रखते हुए भी एक जाति के, एक स्थान के परमाणु माने जाते हैं। इन में रासायनिक प्रभाव भी एक समान होते हैं ऐसे परमाणुओं को 'सम स्थानीय' परमाणु (इसोटोप्स) कहा जाता है। परमाणु बम के बनने में ऐसे 'समस्थानीय' परमाणु की ही खेल है।

यूरेनियम के ऊपर बताए रूपों के अनुसार ही इस वर्ग के रेडियम वा दूसरे परमाणुओं में भी ऐसे ही परिवर्तन देखे जाते हैं। इनमें किसी पग का परिवर्तन कुछ दिनों-टिक सकने वाला और कुछ सेकेंडो तक ही रह सकने वाला होता है परन्तु कोई पग ऐसा परिवर्तन करता है जिस से दूसरा परिवर्तन होने पर हजारों वर्ष से भी अधिक लग सकते हैं। यूरेनियम के परमाणु अपना समस्थानीय परमाणु बना कर फिर नीचे गिरते जाकर धीरे धीरे रेडियम के स्थान पर पहुँच जाते हैं। रेडियम के पद से उतरे परमाणु पहुँचते पहुँचते सीसे के तेजहीन पद तक जा पहुँचते हैं।

इन रश्मि शाक्तिक पदार्थों का लोप जिस प्रकार विचित्र रूप से धीरे धीरे होता है वह अद्भुत सी घटना है। किसी तत्व का आधा भाग कुछ निश्चित दिनों में लोप होगा, शेष आधा बचे भाग का केवल आधा ही फिर उतने ही अधिक समय में लोप होगा जितने समय में पूर्ण का आधा हुआ था। पूर्ण के उस चतुर्थ बचे भाग का आधा अर्थात कुल का १/८ लोप होने में फिर उतनी ही लम्बी अवधि लगेगी। इस प्रकार इन के अर्द्ध भाग के लोप होते जाने का जो समय कूता गया है वही मोटे रूप से इनकी आयु कही जाती है। इस प्रकार यूरेनियम की आयु ७ अरब ५० करोड़ वर्ष मानी गई है जो इस के स्थिर रूप के परमाणु की ही आयु का है। पहले कदम पर परिवर्तन से बने परमाणु की आयु २४ दिन और दूसरे कदम पर के परमाणु का केवल एक मिनट से कुछ अधिक तीसरे कदम का परमाणु अनिश्चित काल की आयु रखता है। ४० लाख वर्ष अनुमान से मानी गई है। रेडियम की आयु १५८० वर्ष कूती गई।

ऊपर के परमाणु परिवर्तनों को स्वाभाविक वा कृत्तिम रूप से खंडित हो कर उनसे हल्के परमाणु बनने का हमने रूप देखा किन्तु इनके छोटे वा हल्के रूप से ऊपर उठने का कोई रूप किसी भी वैज्ञानिक वा खोजी की दृष्टि में कल्पना में भी नहीं आ रहा है। अभी यह गुप्त रहस्य ही है। यह क्रिया दूसरे युगों में ही समाप्त हो गई और अब खंडित क्रिया ही प्रचलित है वा सृष्टि के गुप्त अन्तरालों में यह क्रिया अब भी हमारे ज्ञान और दृष्टि से परे हो रही, हम नहीं कह सकते। किन्तु परमाणु की खंडन क्रिया ही रश्मि शाक्तिकता के रूप में कितने बल का भंडार हमारे सामने रखती है, यह अद्भुत है।

फसल के शत्रु

लेखक— शंकर राव जोशी

आज खाद्य-समस्या संसार के सामने कितनी जटिल हो गई है, इसका अनुमान ही नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी को है। फसल की रक्षा कीड़ों से करने के उपायों का यह वर्णन साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि प्रयोग की दृष्टि से भी हित कर होगा, ऐसी आशा है।

इस संसार क्षेत्र में प्रत्येक प्राणी को जीवन संग्राम में सम्मिलित होना पड़ता है, सशक्त की ही सदा जीत होती है और अशक्त बेचारे खेत रह जाते हैं। यही कारण है कि वर्ष के अन्त में बहुत कम कीड़े जीवित रह पाते हैं।

ऋतु-परिवर्तन, भोजन की न्यूनता, शत्रुओं के आक्रमण आदि कारणों से अधिकाँश कीड़े अकाल में ही काल के गाल में समा जाते हैं। यदि इस प्रकार कीड़ों की प्रजा-वृध्दि में रुकावटें न पड़तीं, तो अब तक सारा भूमंडल कीड़ों से भर गया होता। प्रकृति माता ने मानव-समाज के हित के लिए कीड़ों की प्रजा-वृद्धि रोकने के हेतु अनेकानेक उपाय रचे हैं मनुष्य अपने प्रयत्नों से कीड़ों की प्रजा वृद्धि में अत्याधिक सहायता पहुँचाता है। वह उन्हें रहने को स्थान और खाने को भोजन देता है। तथपि प्रकृति देवी प्रजावृद्धि रोके रहती और साम्य बनाए रखती है। यही कारण है कि फसल को हरसाल कीड़ों से ज्यादा नुकसान नहीं पहुँचता है।

जब बहुत से कीड़ों का समुदाय मिलकर फसल पर आक्रमण करता है, तभी उन्हें फसल के शत्र कहते हैं। वास्तव में तो प्रत्येक प्राणी और रोग, जो फसल को हानि पहुँचाता है, शत्रु ही है। किन्तु कीड़ों की संख्या अत्यधिक बढ़जाने पर उनके फसल पर आक्रमण कर देने पर ही उन्हें 'शत्रु' कहते हैं। और इन शत्रुओं का नाश करके फसल की रक्षा करना प्रत्येक कृषक के लिए अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है।

फसल की रक्षा के उपाय

रोग हो जाने पर उसे दूर करने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उस रोग को उत्पन्न न होने देना ही सर्वोत्तम उपाय है। इसी प्रकार कीड़ों का जोर बढ़ जाने पर उनके नाश का उपाय करने की अपेक्षा कीड़ोंकी प्रजावृद्धि रोकने का प्रयत्न करते रहना ही अत्युत्तम है।

कीड़े पत्ते फूल आदि खाकर, कंद-मूल-फल आदि में छेद करके भीतर प्रवेश करया उनका रस चूस कर फसलों को हानि पहुँचाते हैं। पत्ते आदि खाने वाले कीड़ों की संख्या अत्यधिक है और यही कीड़े सबसे अधिक हानि पहुँचाते हैं। इन से कम संख्या में वे कीड़े हैं, जो पौधे के तना, शाखा, कंद-मूल-फल का रस चूस कर उन्हें बेकार कर देते हैं। कभी कभी इनके द्वारा पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। नाज, इमारती लकड़ी, नाना प्रकार के वस्त्र आदि को खाकर नष्ट करने वाले कीड़ों की संख्या कुछ कम है।

कीड़ों की वृद्धि रोकने के कई उपाय हैं। इन में से कुछ उपायों पर आगे चल कर विचार किया जाएगा। सुबीते के लिए ये उपाय नीचे लिखे विभागों में बाँटे गए है—(१) कृषि-सम्बंधी उपचार, (२)

यंत्रिक उपचार और (३) कीट नाशक ओषधोपचार।

१—खेतों की सफाई:—कीड़ों की प्रजा वृद्धि रोकने के लिए सब से अच्छा उपाय है, खेतों, मेड़ों और उनके आस पास सफाई रखना। खेत में खर पतवार कदापि नहीं पड़े रहने देना चाहिए और मेंड़ों पर के घास-पात और फालतू पौधों को भी नाम शेष कर देना चाहिए। खर पतवार और फालतू पौधों को उखाड़ कर खेत में या मेंड़ पर या आस पास की जमीन पर कदापि न पड़े रहने देना चाहिए।

अगिया-जैसे पौधे फिर जड़ें पकड़ लेते हैं और दूसरे पौधे वहीं पड़े सड़ा करते हैं। इनमें कीड़े और गोमज रोग या कवक रोग (फंगस) वृद्धि पाते रहते हैं और यहीं तब पौधों पर आक्रमण करते हैं। अतएव जुताई इस प्रकार की जानी चाहिए कि खेत में खर पतवार उगने ही न पायें। खरपतवार और फालतू पौधों को फसल में से उखाड़ कर जमीन के अन्दर गाड़ देना चाहिए, जिससे वे सड़ कर खाद का काम देंगे और कीड़ों और रोगों की वृद्धि भी न होगी। फसल काट लेने के बाद पौधे का कोई भाग खेत में हरगिज नहीं रहने देना चाहिए। ठंड और गरमी के मौसम में कीड़े इन्हीं के अन्दर सुप्तावस्था बिताते हैं और वर्षा आरम्भ होते ही बाहर निकल कर फसल पर आक्रमण करते हैं। अतएव इनको उखाड़ कर जला ही देना चाहिए। डंठल आदि को ईंधन की तरह चूल्हे या भट्टी में जलाया जा सकता है।

बनसटी, तिलौजा, राड़े, पौधों के डंठल आदि से मकान-झोपड़े छाए जाने तथा आड़ के लिए टटियां बनाई जाती हैं। ऐसा करने से कीड़ों की प्रजा-वृध्दि में बहुत अधिक सहायता मिलती है। सुप्तावस्था व्यतीत करने वाले कीड़े इनके अन्दर सुरक्षित रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही बाहर निकल कर अपने भक्ष्य पौधों पर जम जाते हैं। अतएव यह तरीका बंद करना बहुत जरुरी है।

२—जुताई:—कीड़े अकसर खेत की मिट्टी में चार-पाँच इंच की गहराई पर अंडे देते या छुप कर बैठे रहते हैं। गहरी जुताई से दो लाभ होते हैं। एक तो खर-पतवार जड़ें उखड़ कर ऊपर निकल आती हैं, जो धूप से जल कर नष्ट हो जाती हैं। दूसरे मट्टी अन्दर छुपे हुए कीड़े, कोश, अंडे आदि सतह पर आजाते हैं, जिन्हें पक्षी चुग लेते हैं और तेज धूप भी उन्हें नष्ट कर देती है। गहरी और बार बार जुताई करने से उक्त दोनों लाभों के अलावा एक लाभ यह भी होता है कि, खेत की मिट्टी को काफी हवा और धूप मिलती है, जिससे पैदावार भी ज्यादा आती है।

३—फसल का हेर फेर—एक ही खेत में लगातार कई सालों तक एक ही फसल बोते रहने से कीड़ों की प्रजा वृध्दि में सहायता मिलती है, कारण कि उस फसल पर जीवन निर्वाह करने वाले कीड़ों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है और कुछ वर्षों बाद ये कीड़े इतने ज्यादा बढ़ जाते हैं कि, उस खेत की ही नहीं,—आस पास के सभी खेतों की फसल नष्ट कर देते हैं। इसलिए फसल का हेर-फेर अवश्य ही करते रहना चाहिए। फसल का हेर फेर करने से जो कीड़े एक खास फसल पर जीवन निर्वाह करते हैं, वे भोजन न मिलने के कारण भूख से मर जाते हैं। किन्तु इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि आस पास के सभी खेतों में वह फसल न बोई जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो, फसल के हेर फेर से कुछ भी लाभ न होगा। कारण कि एक खेत में वह फसल न बोने पर कीड़े उस खेत में चले जायंगे, जिसमें वह फसल बोई गई होगी, जिससे बढ़ोंड प्राप्त रहेंगे। किन्तु फसल के हेर-फेर से लाभ होने की बहुत ही कम संभावना रहती है। कारण कि कई प्रकार के कीड़े, कई पौधों पर जीवन-निर्वाह करते हैं। एक भोज्य-पदार्थ प्राप्त न होने पर कीड़ा दूसरे पौधे पर आसन जमा लेता है।

४ खाद:—जोरदार और पुष्ट पौधा ही रस चूसने वाले कीड़ों और अन्य रोगों के आक्रमण का दृढ़ता

से मुकाबिला कर सकता है। अशक्त पर ही विजय प्राप्त की जा सकती है। कुछ खादें कीड़ों पर विषैला असर दिखाती हैं। हरी खाद और बिना सड़ी या आधी सड़ी खाद देने से कीड़ों और रोगों का उपद्रव बढ़ जाता है। अनुभव से पाया गया है कि हलकी जमीन में सेंद्रिय खाद देने से लही-जैसे छोटे कीड़ों का उपद्रव बहुत अधिक घट जाता है। पोटैश युक्त खाद देने से भी कुछ फसलों की कीड़ों और रोगों से रक्षा होती है।

५ मिश्र फसलें बोना:—एक ही खेत में दो भिन्न जाति की फसलें बोने से फसल की रक्षा होती है। मुख्य फसल की आठ दस कतारों के बाद दूसरी फसल की चार छः कतारें बोई जानी चाहिए। एक फसल पर लगा हुआ कीड़ा (इल्ली) दूसरी जाति की फसल को लांघ कर जा न सकेगा और तब भोजन के अभाव में भूख से मर जाएगा। यदि एक फसल नष्ट भी हो गई, तो भी दूसरी फसल की पैदावार तो अवश्य ही हाथ लग जाएगी। मिश्र फसलें बोते समय इस बात पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि एक ही वर्ग की फसलें न बोई जाँय और दोनों ही फसलें ऐसी न हों, जिन पर वह विशेष कीड़ा जीवन-निर्वाह करता हो। मिश्र फसलें बोने से सिर्फ इल्ली ही दूसरी फसल को लांघ कर जा न सकेगी, किन्तु इससे पंखी उड़ कर जाने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ेगी।

एक ही वर्ग की भिन्न भिन्न फसलें बोकर भी कीड़ों की वृद्धि रोकी जा सकती है। कपास बोने से कुछ समय पहले चारों ओर या फसल के बीच-बीच में भिंडी बोने या मक्के का सांका बोने से लाभ यह होगा कि नव जात इल्ली पहले इन पर आक्रमण करेगी। इल्ली के कोशावस्था में प्रवेश करते ही भिंडी या मक्का के पौधों को उखाड़ कर जला ही डालना चाहिए। ऐसा करने से मुख्य फसल कीड़ों के आक्रमण से बच जाएगी। अभी तक यह बात निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सकी है कि मिश्र फसलें बोने से किस हद तक मतलब हल होता है।

६ चुनकर कीड़े मारना:—अंडे वाले पत्ते और इल्लियों को हाथ से चुन कर भी मारा जा सकता है। पानी में मट्टी का तेल डाल कर मिश्रण तैयार कर लिया जाय। अंडे, इल्ली इस मिश्रण में डालते ही मर जाँएगे। फसल पर रस्सी या लकड़ी फिराने या पौधों को हिलाने से कीड़े और रोग-ग्रस्त पत्ते, फूल फल तथा कीड़े जमीन पर गिर पड़ेंगे। इनको हाथ से एकत्रित करके जला डालना चाहिए। करा, बानिया आदि कपास की ढेंढुई पर हमला करने वाले कीड़े इस तरीके से सरलता पूर्वक नष्ट किए जा सकते हैं।

७ लालच दिखाना:—सड़े गले पदार्थ, खट्टे स्वाद युक्त भूसा आदि पदार्थ और कोमल पत्तों की ओर कीड़े अति शीघ्र आकर्षित होते हैं। खेत में स्थान स्थान पर इन पदार्थों के ढेर लगा दिए जाँय। इन ढेरों में कीड़े एकत्रित हो जाने पर आग लगा दी जाय या कीड़ों को हाथ से पकड़ कर मारा डाला जाय। ढेरों पर विषैले पदार्थ भी छिड़के जा सकते हैं। विषयुक्त पदार्थ खाकर कीड़े मर जाँएगे।

८ नाली खोद कर कीड़े मारना:—खेत के एक आध भाग की फसल पर बहुत ज्यादा इल्लियाँ हो जाती हैं। ये उस भाग की फसल को नष्ट करके, दूसरे भाग की ओर बढ़ती हैं, जिस जगह की फसल को बहुत ज्यादा इल्ली लगी हों, उसके चारों ओर एक फुट गहरी नालियाँ खोद दी जाँय। इन नालियों की दोनों बाजू नीचे की ओर को तिरछी बनाई जाँय। दूसरे भाग की ओर जाने वाली इल्लियाँ फिसल कर इन नालियों में गिर पड़ेंगी। इन को हाथ से पकड़ कर मार डालना चाहिए।

८ हित कारक कीड़े रखना:—कुछ कीड़े दूसरे कीड़ों को खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं। कुछ कीड़े दूसरे कीड़े के शरीर पर या शरीर के अन्दर अंडे रखते हैं। अंडे में से निकली हुई इल्ली उस कीड़े के शरीर को खाकर खोखला कर देती है। इन कीड़े को फसल पर छोड़ने से पहले यह जानकारी प्राप्त कर

कर लेनी चाहिए कि वह फसल का शत्रु तो नहीं है।

कई प्रकार के कीड़े ऐसे हैं जो फसल को हानि पहुँचाने वाले एक एक प्रकार के कीड़े को तो खाकर नष्ट करते हैं; किन्तु साथ ही स्वयं भी फसल को हानि पहुँचाते हैं। अतएव इस उपाय का अवलम्बन करते समय विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए।

यांत्रिक-उपचार

कीड़ों की प्रजावृद्धि रोकने के लिए ऊपर लिखे हुए उपचार काम में लाए जाते हैं। तथापि एक बार कीड़ों की प्रजावृद्धि हो जाने पर ये उपचार कुछ भी काम के नहीं रह जाते हैं और इसीलिए दूसरे उपचार काम में लाए जाते हैं।

कीड़ों को हाथ से पकड़ कर मार डालना या जला देना ही सब से अच्छा उपाय है। किन्तु यह काम उतना सरल नहीं है। अतएव दूसरी रीति का अवलम्बन किया जाता है।

चार से छः फिट लम्बी, दो फिट चौड़ी और पाँच फिट गहरी थैली बनाली जाय। लम्बाई की दोनो ओर एक एक बाँस बाँध दिया जाता है और तब चारों कोनों पर रस्सी बाँध कर इसे फसल पर खींचते हैं। खींचने वाले तेजी से चलते हैं। थैली में बहुत से कीड़े एकत्रित हो जाने पर उसे थैली में खाली कर लेते हैं। दिन भर में एकत्रित हुए कीड़े शाम को जला दिए जाते हैं। जीव हिंसा से डरने वाले लोग पकड़े हुए कीड़े अपनी जमीन से बहुत दूर जंगल में छोड़ आते हैं। किन्तु ऐसा करना हानि कारक है। कारण कि ये कीड़े खेतों में वापिस लौट आते हैं। अतएव एक बार पकड़े हुए कीड़ों को जला डालना या खेत में ही जमीन के अन्दर चार-पाँच फिट गहरा गाड़ देना चाहिए।

थैली के बदले में धोती या चद्दर से भी काम निकाला जा सकता है। धोती या चद्दर के पल्ले दोनों ओर से पकड़ कर थैली की तरह चलाकर भी कीड़े पकड़े जा सकते हैं। किन्तु धोती या चद्दर से कीड़े पकड़ने वाले को चाहिए कि कपड़े पर कोई चिपकने वाला पदार्थ लगादे, जिसमें कीड़े उससे चिपक जायं और जल्दी से उड़ न जायं।

बहुत कीड़े प्रकाश की ओर आकर्षित होते हैं। प्रकाश देखते ही वे पागल के समान उधर को ही दौड़ पड़ते हैं। अतएव अँधेरी रात में खेतों में कंदील या गैस की बत्ती जलाकर भी कीड़े मारे जा सकते हैं।

खेतों में स्थान स्थान पर फसल से कुछ ऊंचाई पर तिपाई या खुले मचान पर एक चौड़े बरतन में मिट्टी का तेल और पानी का मिश्रण भर कर रख दिया जाय। इस बरतन के बीच में ईंट या पत्थर रखकर उस पर कंदील या किस्टन लाइट (गैस का दीया) जलाकर रख दिया जाय। प्रकाश देखते ही कीड़े उधर को दौड़ पड़ेंगे और कंदील के काँच से टकरा कर तेल मिश्रित पानी में गिर कर मर जाएंगे। किन्तु इस उपाय से कई बार हित कारक कीड़े भी मर जाते हैं। अतएव इस उपाय को काम में लाने से पहले यह जान लेना परमावश्यक है, कि इस उपाय का अवलम्बन करने से किस प्रकार के कीड़े नष्ट किये जा सकते हैं। भुंगे, तितली आदि का नाश तो किया जा सकता है। किन्तु पतिंगे मक्खी, बनिया आदि इस उपाय से नष्ट नहीं किए जा सकते हैं।

गैस से दीये का प्रकाश बहुत दूरी तक के कीड़ों को आकर्षित करता है। अतएव कभी कभी जिस खेत में प्रकाश रखा जाता है, उसमें कीड़ों का बाहुल्य हो जाने की संभावना रहती है। यदि आस पास के सभी खेतों में गैस के दीये या कंदील एक साथ ही रखे जायं तो स्थायी लाभ हो सकता है।

अँधेरी रात में खेतों की मेंड पर आग जलाना—होली जलाने के समान आग जलाने से भी फायदा होता है। ज्वाला के प्रकाश से आकर्षित होकर कीड़े ज्वाला में गिर कर जल जांयगे। जो कीड़े आग में न गिरें उनको पकड़ कर आग में डाल दिया जाय या डंडे से पीट कर मार डाला जाय।

एंड्रजट्रैप से भी कीड़े मारे जा सकते हैं। इसे खेतों में रख देते हैं। गुड़ आदि की सुगंध से आक-

षित होकर कीड़े, मट्टी के तेल युक्त पानी में गिर कर मर जाते हैं। साधारण किसान के लिए इसका खरीदना लाभ दायक नहीं है और इसी लिए इस विषय पर यहाँ सविस्तर नहीं लिखा गया है।

ऊपर लिखे उपायों से भी कीड़ों की प्रजा वृद्धि न रुके और उनसे फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहूंचे, तो कीड़ों को मारने के लिए फसल या पौधों पर विषैली औषधि छिड़की जाती है। अधिकाँश औषधियां विषैली हैं, अतएव औषधि छिड़कने वाले को विशेष सावधानी से काम करना चाहिए।

औषधोपचार

मिट्टी में बीज डालते ही पक्षी, दीमक आदि उनको नष्ट करने का प्रयत्न करने लगते हैं। अंकुर के जमीन के बाहर निकलते ही पशु-पक्षी, कीड़े और रोग उन पर आक्रमण करने की घात में लग जाते हैं और फूल-फल आते ही मनुष्य, पक्षी, कीड़े और रोग उनको नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। गोदाम और कोठारों में सुरक्षित रखे गए नाज, कंद-मूल आदि भी कीड़ों और रोगों से बचा नहीं करते है। अतएव जमीन की पैदावार को अधिक से अधिक बचाने के लिए सभी प्रकार के शत्रुओं से फसल तथा उसकी पैदावार की रक्षा करना प्रत्येक किसान का प्रथम कर्तव्य है। और इसी उद्देश की पूर्ति के लिए प्रत्येक किसान और बगीचे के मालिक को कीट-मारक और रोग-नाशक औषधियों से परिचय प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य भी है।

बगीचों और खेतों की फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़े दो प्रकार के होते हैं -१ चंचु मुख और २ सुंड मुख।

चंचु मुख कीट (biting or chewing) अपना भक्ष्य—पत्ता, तना, फल आदि काट कर या कुतर कर खाते हैं। इसलिए इन कीड़ों को मारने के लिए ऐसी औषधि पौधों पर छिड़की जानी चाहिए, जो पत्ते, शाखा, फल आदि पर चिपक जाय, औषधि चिपके हुए पत्ते आदि को खाने पर कीड़ा जहर के असर से मर जाएगा।

सुंड मुख वाले कीड़े, अपनी सुंड, तना, शाखा, फूल-फल-आदि में चुभा कर रस-पान करते हैं। इसलिए इन कीड़ों को मारने के लिए ऐसी औषधि छिड़की जानी चाहिए, जो शरीर के रंध्रों द्वारा कीड़े की देह के भीतर प्रवेश करने पर जहरीला असर दिखाए। इन औषधियों से श्वास नलिका में द्वार या मुख (Stigma) बंद हो जाते हैं, जिससे कीड़ा दम घुट कर मर जाता है।

जहरीली भाप (Vapour poison) कुछ जहरीले पदार्थ ऐसे हैं, जिनकी विषैली भाप या धूआ से कीड़े मर जाते हैं। किन्तु यह भाप कीड़ों का अलावा दूसरे प्राणियों पर भी विषैला प्रभाव दिखाती है नाज के दाने, इमारती लकड़ा, टेबल-कुर्सी अलमारी, जैसी वस्तुओं की संधियों में कीड़े दुबक कर बैठ रहते हैं। इन कीड़ों को मारने के लिए विषैली भाप का प्रयोग किया जाता है।

कुछ औषधियां ऐसी भी हैं, जो भक्ष्य-पदार्थ को कुस्वाद बना देती हैं। कीड़े औषधि लगे हुए पदार्थ को खाते नहीं हैं, जिससे फसल बच जाती है। गंधक और क्रूड-ऑइल-इमलशन इसी प्रकार की औषधियां हैं।

चचु मुख-कीट-नाशक औषधि-
(उदर या जठर विष)

इन कीड़ों को मारने के लिए उदर-विष का ही प्रयोग किया जाता है। लगभग सभी औषधियों में सोमल (Arseinc) मिला रहता है। लेड-आर्सेनेट और (lead arsenate) कैल शियम आर्सेनेट (calcuim arsenate) पैरिसग्रीन (paris greenc) आदि से नवजात कोमल पत्तों को क्षति पहुँचती हैं—खासकर पैरिसग्री से। चूना मिलाने से पैरिसग्रीन का हानिकारक प्रभाव बहुत घट जाता है। फिर भी लेड आर्सेनेट का उपयोग करना अच्छा है। लेड आर्सेनेट दो प्रकार का होता है। बेसिक (basic) लेड आर्सेनेट का ही उपयोग करना चाहिए। भुंगा (beelle) आदि मारने के लिए यह एक उत्तम औषधि है। यह लुगदी (paste) और चूर्ण के रुप मे बाजार में बिकता ।

(१) पैरिसग्रीन:—प्रारंभ में यही ओषधि काम में ली जाती थी। किन्तु यह पौधों के कोमल अवयवों को जला देती है। अतएव अब इसे बहुत ही कम काम में लिया जाता है। पैरिसग्रीन के आधासेर चूर्ण को, एक सेर आटे या चूने में मिलाकर पौधों पर छिड़कते हैं। खेत में बोई गई फसल पर चूना मिलाकर ही छिड़कना चाहिए।

(२)—पैरिसग्रीन या लंण्डन परपल आधासेर, चूना अढाई सेर को दो सौ गैलन (एक गैलन = दसपौंड) पानी में मिलाकर छिड का जाय।

(३)—पैरिस ग्रीन, आधासेर, गुड़ पाँच सेर और चूना अढाई सेर को दो सौ गैलन पानी में मिलाकर छिड़का जाय।

४ सोमल मिश्रण:—सोमल तीव्र विष है। बसलिए ज्यादातर लेड क्रोमेट (lead cromate) का ही उपयोग किया जाता है। पैरिस-ग्रीन, सोमल और लेड क्रोमेट पानी में घुलते नहीं हैं, ऊपर तैरते रहते हैं। और पौधे पर छिड़कने पर पत्ते, शाखा, आदि पर जम जाते हैं। पानी में घुल जाने वाले विषैले पदार्थों को छिड़कने से पौधे को क्षति पहूँचती है।

बीस सेर पानी में आधी छटाक या एक छटाक सोमल या लेड आर्सेनेट डाल कर खूब चलाओ, ताकि पानी में अच्छी तरह से मिल जाय। इसमें थोड़ा सा गुड़ मिला दिया जाय, तो वह अधिक समय तक तेज और टिका रह सकेगा। कभी कभी चूना भी मिलाया जाता है।

लेड क्रोमेट मिश्रण :— यह बाजार में लुगदी और चूर्ण के रूप में मिलता है। सौ सेर पानी में, चूर्ण एक सेर और लुगदी डेढ़ सेर मिलाकर पौधो पर छिड़कते हैं। चूर्ण को महीन कपड़े में छान लिया जाय। एक भाग चूर्ण को १५ भाग कपड़े में छानी हुई राख या महीन मिट्टी में मिलाकर मल मल की थैली में भर कर पौधों पर भुरभुराते हैं। इससे गोभी, मटर, सन्तरा, तमाखू आदि पर लगी हुई इल्लयां मर जाती हैं।

पाव सेर सोमल या लेड आर्सेनेट, अढाई सेर चूना और पाँच सेर गुड़ को पाँच सौ सेर पानी में मिला कर खूब चलाओ ताकि, सभी वस्तुएं अच्छी तरह से मिल जायं, इसे तब पौधों पर छिड़का जाय।

कैलाशियम आर्सेनेट मिश्रण :— यह ओषधि बगीचे में बोये गए पौधों पर ही छिड़की जाती है। किन्तु यह उतनी फायदेमंद नहीं साबित हुई है। अतएव इसका बहुत ही कम उपयोग किया जाता है।

तमाखू का सत :—उसपर आगे चल कर लिखा जाएगा।

सुण्ड मुख कीट नाशक ओषधि
(सांसार्गिक-विष)

साबुन, मिट्टी का तेल, फिनाइल आदि उत्तम ओषधि हैं। किन्तु खालिस साबुन या फिनाइल से पौधों को हानि पहुँचती है।

१—साबुन :—एक पाव बार-सोप (कपड़ा धोने के साबुन की लम्बी टिकिया) घासलेट तेल के एक पीका भर पानी में गलाकर खूब चलाया जाय। एक भाग मिश्रण में कई भाग पानी मिलाकर काम में लिना जाय। माहू, चिकटा, लती आदि छोटे कीड़े के लिए यह एक उत्तम ओषधि है।

२—राख——महीन कपड़े में छनी हुई पावभर राख में २०-२५ बूँद के सीन डालकर अच्छी तरह से मिला लो। महीन मलमल की थैली में भरकर पौधै के कीट-ग्रस्त भाग पर भुरभुरा दिया जाय। इससे कद्दू पर लगे हुए भुंग आदि कीट मर जाते हैं।

३—लाख, राल, कपड़ा धोने का साबुन समान भाग लेकर पानी में मिलाने से एक चिकना मिश्रण तैयार होता है। इससे कीड़े की श्वास-नलिका के मुख बंद हो जाते हैं, जिससे वे दम घुट कर मर जाते हैं।

४—मिट्टी के तेल का मिश्रण :—एक पाव बार-सोप या आधासेर नरमसाबुन (Soft soap) को पांच सेर पानी में डाल कर इतना उबालो कि साबुन पानी में अच्छी तरह घुल जाय। पानी ठंडा हो जाने

(१) पैरिसग्रीन:—प्रारंभ में यही औषधि काम में ली जाती थी। किन्तु यह पौधों के कोमल अवयवों को जला देती है। अतएव अब इसे बहुत ही कम काम में लिया जाता है। पैरिसग्रीन के आधासेर चूर्ण को, एक सेर आटे या चूने में मिलाकर पौधों पर छिड़कते हैं। खेत में बोई गई फसल पर चूना मिलाकर ही छिड़कना चाहिए।

(२)—पैरिसग्रीन या लंण्डन परपल आधासेर, चूना अढाई सेर को दो सौ गैलन (एक गैलन = दसपौंड) पानी में मिलाकर छिड का जाय।

(३)—पैरिस ग्रीन, आधासेर, गुड़ पाँच सेर और चूना अढाई सेर को दो सौ गैलन पानी में मिलाकर छिड़का जाय।

४ सोमल मिश्रण:—सोमल तीव्र विष है। बसलिए ज्यादातर लेड क्रोमेट (lead cromate) का ही उपयोग किया जाता है। पैरिस-ग्रीन, सोमल और लेड क्रोमेट पानी में घुलते नहीं हैं, ऊपर तैरते रहते हैं। और पौधे पर छिड़कने पर पत्ते, शाखा, आदि पर जम जाते हैं। पानी में घुल जाने वाले विषैले पदार्थों को छिड़कने से पौधे को क्षति पहूँचती है।

बीस सेर पानी में आधी छटाक या एक छटाक सोमल या लेड आर्सेनेट डाल कर खूब चलाओ, ताकि पानी में अच्छी तरह से मिल जाय। इसमें थोड़ा सा गुड़ मिला दिया जाय, तो वह अधिक समय तक तेज और टिका रह सकेगा। कभी कभी चूना भी मिलाया जाता है।

लेड क्रोमेट मिश्रण :— यह बाजार में लुगदी और चूर्ण के रूप में मिलता है। सौ सेर पानी में, चूर्ण एक सेर और लुगदी डेढ़ सेर मिलाकर पौधो पर छिड़कते हैं। चूर्ण को महीन कपड़े में छान लिया जाय। एक भाग चूर्ण को १५ भाग कपड़े में छानी हुई राख या महीन मिट्टी में मिलाकर मल मल की थैली में भर कर पौधों पर भुरभुराते हैं। इससे गोभी, मटर, सन्तरा, तमाखू आदि पर लगी हुई इल्लयां मर जाती हैं।

पाव सेर सोमल या लेड आर्सेनेट, अढाई सेर चूना और पाँच सेर गुड़ को पाँच सौ सेर पानी में मिला कर खूब चलाओ ताकि, सभी वस्तुएं अच्छी तरह से मिल जायं, इसे तब पौधों पर छिड़का जाय।

कैलाशयम आर्सेनेट मिश्रण :— यह औषधि बगीचे में बोये गए पौधों पर ही छिड़की जाती है। किन्तु यह उतनी फायदेमंद नहीं साबित हुई है। अतएव इसका बहुत ही कम उपयोग किया जाता है।

तमाखू का सत :—उसपर आगे चल कर लिखा जाएगा।

सुण्ड मुख कीट नाशक औषधि
(सांसार्गिक-विष)

साबुन, मिट्टी का तेल, फिनाइल आदि उत्तम औषधि हैं। किन्तु खालिस साबुन या फिनाइल से पौधों को हनि पहुँचती है।

१—साबुन :—एक पाव बार-सोप (कपड़ा धोने के साबुन की लम्बी टिकिया) घासलेट तेल के एक पीका भर पानी में गलाकर खूब चलाया जाय। एक भाग मिश्रण में कई भाग पानी मिलाकर काम में लिना जाय। माहू, चिकटा, लती आदि छोटे कीड़े के लिए यह एक उत्तम औषधि है।

२—राख——महीन कपड़े में छनी हुई पावभर राख में २०-२५ बूँद केरोसीन डालकर अच्छी तरह से मिला लो। महीन मलमल की थैली में भरकर पौधे के कीट-ग्रस्त भाग पर भुरभुरा दिया जाय। इससे कद्दू पर लगे हुए भुंग आदि कीट मर जाते हैं।

३—लाख, राल, कपड़ा धोने का साबुन समान भाग लेकर पानी में मिलाने से एक चिकना मिश्रण तैयार होता है। इससे कीड़े की श्वास-नलिका के मुख बंद हो जाते हैं, जिससे वे दम घुट कर मर जाते हैं।

४—मिट्टी के तेल का मिश्रण :—एक पाव बार-सोप या आधासेर नरमसाबुन (Soft soap) को पांच सेर पानी में डाल कर इतना उबालो कि साबुन पानी में अच्छी तरह घुल जाय। पानी ठंढा हो जाने

पर उसमें दस सेर मिट्टी का तेल डाल कर तेजीसे चलाओ, ताकि तेल पानी में अच्छी तरह से मिल जाय और मिश्रण सफेद नजर आने लगे। एक बूंद मिश्रण को पानी में डालकर देखे। यदि तेल तैर के ऊपर न आए, तो समझ लो कि मिश्रण ठीक बन गया है। यह मिश्रण तब अलग रख दिया जाय। एक भाग मिश्रण में सात भाग पानी मिलाकर पौधों पर छिड़का जाय।

एक गैलन छाछ में दो गैलन मिट्टी का तेल मिला कर खूब चलाओ। अच्छी तरह से मिल जाने पर राव छोड़ो। एक भाग मिश्रण में नौ भाग पानी मिलाकर काम लो।

५—क्रूड ऑइल इमलशन (Crude oil emulsion) यह ओषधि बाजार में तैयार मिलती है। बीस सेर पानी में पाँच छटाक या आठ छटाक ओषधि मिलाकर पौधों पर छिड़की जाती है। गोभी, रिजका, हन्तरा जाति के पौधे आदि पर लगे हुए चिकटा, लनी आदि छोटे छोटे कीड़ों पर यह ओषधि असर दिखाती है।

६ राल मिश्रण नं०१—आधा सेर कपड़ा धोने के सोड़े को पाँच सेर पानी में डालकर आग पर रखा जाय। पानी सूं सूं बोलने लगते ही एक सेर राल का चूर्ण उसमें डाल दिया जाय। धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा पानी तब तक मिलाया जाता रहे, जब तक कि कुल पानी दस सेर न हो जाय। ज्यों ही मिश्रण साफ नजर आने लगे, उसे आग पर से उतार कर बरतन में भर कर रख दिया जाय। बीस सेर पानी में अढ़ाई सेर मिश्रण मिलाकर काम में लिया जाय। बीस सेर मिश्रण में छः छटाक क्रूड ऑइल इमलशन मिलाने से ओषधि बहुत अच्छा असर दिखाती है।

राल मिश्रण नं०२—ऊपर लिखे अनुसार राल का मिश्रण तैयार कर लिया जाय। पचास सेर पानी में पाँच सेर साबुन गला लिया जाए। साबुन के पूरी तरह से घुल जाने पर इसे राल के मिश्रण में डालकर तेजी से चलाया जाय। अच्छी तरह मिल जाने पर रख लिया जाय। पचास सेर पानी में पाँच सेर मिश्रण मिलाकर काम में लिया जाय।

६—तमाखू का सतः—यह ओषधि दोनों ही प्रकार के कीड़ों पर विषैला असर दिखलाती है। बड़े बड़े बगीचों के लिए 'निकोटिन सलफेट' का ही उपयोग किया जाना चाहिए। छोटे-छोटे बगीचों या थोड़े-से झाड़ों के लिए तमाखू का सत काम में लिया जाना चाहिए।

एक सेर तमाखू को दस सेर पानी में डालकर लगभग आधा घंटा तक तेज आँच पर उबाला जाय। पानी उबलने लगे तब आधा सेर कपड़ा धोने का साबुन छोटे-छोटे टुकड़े करके, उस में डाल दिया जाय। साबुन घुल जाने पर मिश्रण को आग पर से हटा कर ठंडा होने दिया जाय और तब कपड़े से छान कर रख लिया जाय। एक भाग मिश्रण में सात भाग पानी मिलाकर छिड़का जाय।

७—फिश ऑइल—रोजीन—सोप (fish oil rosin soap)—यह बाजार में तैयार मिलता है। चालीस सेर पानी में एक सेर ओषधि मिलाकर काम में ली जाय।

माहू, चिकटा, लही, लक्षी, लाखी आदि छोटे छोटे कीड़ों और आम के बौर पर पाये जाने वाले छोटे-छोटे टिड्डों के लिए यह उत्तम ओषधि है। इन पर यह अच्छा असर दिखलाती है।

८-निकोटिन सलफेट (nicotine sulphate)-यह बाजार में मिलता है। जिस नमूने में प्रतिशत चालीस निकोटिन हो, वही उत्तम है। सुंड मुख कीड़ों के लिये यह एक उत्तम ओषधि है।

सौ पौंड ओषधि में पाँच पौंड बार सोप मिलाना चाहिए। आठ सौ भाग पानी में दो से चार भाग तक ओषधि मिलाकर पौधों पर छिड़की जाती है। ओषधि के टीन पर लिखी गई सूचनाओं का पालन करना हितप्रद है।

९ लाइम-सलफर (lime sulphur)—चूने की कली को गलाकर उसमें गंधक मिलाकर यह ओषधि तैयार की जाती है। यह बहुत ही अच्छा

सांसर्गिक विष है। आलू और मिरची के 'तम्बेरा' रोग को जन्म देने वाले लाखी कीटकों को मारने के लिए तो यह श्रेष्ठ औषधि है। यह चूर्ण और द्रव दोनों ही रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

१० चूना-गंधक मिश्रण:—एक भाग पानी में एक भाग गंधक का महीन चूर्ण मिलाओ एक टीन के बरतन में एक भाग पानी में आधा भाग कली का चूना मिलाकर आग पर रख दो। उबलने लगे तब गंधक चूर्ण वाला पानी डालकर दोनों मिश्रण का तीन गुना पानी और मिलाओ और मंदी आँच पर रख दो। बीच बीच में चलाते जाओ। आग मिटकर नारंगी रंग आने में एक घंटे के लगभग समय लगता है। इसे तब छानकर लोहे के बरतन में भर कर रख दो। एक भाग औषधि को पचीस भाग पानी में मिलाकर काम में लो।

११-इंकोसोपोल:—यह बाजार में तैयार मिलती है। इंकोसोपोल नम्बर १ को सौ भाग पानी में एक भाग और नम्बर २ को सौ भाग पानी में दो भाग मिलाकर पौधों पर छिड़का जाता है। माहू, चिकटा, लाखी, लटी आदि कीड़ों के लिए यह अच्छी दवा है।

१२-मैक डयूएल:—यह औषधि बाजार में तैयार मिलती है। एक भाग औषधि को अस्सी से सौ भाग पानी में मिलाकर पौधों पर छिड़का जाता है।

१३-फिनाइल मिश्रण:—नरम चमड़ी वाले और छोटे कीडों के लिए सौ भाग पानी में एक भाग फिनाइल मिलाकर काम में लाते हैं। बड़े और कड़ी चमडी वाले कीडों पर साठ भाग पानी में एक भाग फिनाइल मिलाकर छिड़कते हैं।

१४-नेपथलीन:—तीन छटाक सरेस और आधा-सेर बार सोप को अढाई सेर पानी में घुलाओ। एक दूसरे बरतन में दस सेर मट्टी के तेल में चार सेर नेपथलीन का महीन चूरा डालकर गरम करो। इसके बाद दोनों मिश्रणों को मिलाकर अढाई सेर पानी और मिलाओ।

यह बहुत अच्छी औषधि है और अपना असर तुरन्त दिखाती है। चौबीस घंटे तक तो यह ठीक रहती है, किन्तु बाद में भाप बन कर उड़ने लगती है।

ऊपर लिखी हुई अधिकाँश औषधियां द्रव रूप में पौधों पर छिड़की जाती हैं। इनके अलावा कुछ औषधियां ऐसी भी हैं, जो चूर्ण के रूप में, राख, सूखी महीन मट्टी आदि में मिलाकर पौधों पर छिड़की जाती हैं। अधिकतर सोमल, लेड आर्सेनेट, और गंधक के चूर्ण को कपड़े में छानकर कपड़े में छनी हुई राख, सूखी मट्टी, मनमट्टी में मिलाकर पौधे के कीट-ग्रस्त भाग पर भुरभुराते हैं; जिससे कीड़े मर जाते हैं। साग-भाजी के बेलों पर ही इस प्रकार दवा भुरभुराई जाती है। पौधे के नीचे गंधक की धूनी देने सेभी कीड़े मर जाते हैं।

औषधि छिड़कना:—गमलों में लगाए गए पौधों और जमीन के छोटे छोटे टुकड़ों पर-विशेषत: नरसरी के पौधों पर, उक्त औषधियां गमलों को पानी सींचने के महीन छेद के झारे से ही सरलता और सुविधा-पूर्वक छिड़की जा सकती हैं। किन्तु बड़े बगीचों और बड़े झाड़ों पर औषधि छिड़कने के लिए फौआरा-यंत्र (sprayer machine) का ही उपयोग किया जाता है।

आटो-स्प्रेअर (autosprayer) न्यूमेटिक स्प्रेअर (pneumatic sprayer)बकेट-हैंड-स्प्रेअर (bucket hand sprayer) कम्प्रेस्डएअर स्प्रेअर, नैपसेक स्प्रेअर, आदि से द्रव औषधियां छिड़की जाती हैं। चूर्ण छिड़कने के लिए डस्टर (duster) बेलो टाइप-डस्टर, कैंक टाइप डस्टर, आदि का उपयोग किया जाता है। भिन्न भिन्न गुण-दोष-युक्त यंत्र बाजारों में बिकते हैं। ओटो-स्प्रेअर और न्यूमेटिक स्प्रेअर अनुभव से कुछ अच्छे पाये गये हैं, तथा बकेट-हैंड-स्प्रेअर की अपेक्षा इनसे काम ही शीघ्र पूरा होता है। किन्तु ये कुछ महंगे बिकते हैं। यादि ठीक तरह से साफ नहीं किये जाते रहे और सावधानी नहीं बरती गई तो ये बहुत जल्दी खराब हो जाते हैं। काम हो जाने पर मशीन को ठंढे पानी से अच्छी तरह से धो

लेना चाहिए और फौआरे की नली को भी भीतर से अच्छी तरह से धोकर साफ कर लेना अवश्यक है।

औषधियों को अच्छी तरह से मिलाकर और एक जीव करके मोटे कपड़े या टाट के टुकड़े से छान कर ही यंत्र में भरना चाहिए। तलछट को मशीन में कदापि नहीं डालना चाहिए।

एक एकड़ जमीन पर की मामूली फसल के लिए लगभग सौ गैलन मिश्रण आवश्यक होता है एवं बारह फूट ऊंचे वृक्ष के लिए लगभग बाईस सेर द्रव-औषधि पर्याप्त होती है। औषधि इस ढंग से छिड़की जानी चाहिए कि, पौधे के पत्ते-तना शाखा आदि पूरी तरह से गीले हो जाँय—पौधे का कोई भाग सूखा न रहने पाए।

चूर्ण छिड़कने के लिए डस्टर मशीनों का उपयोग किया जाता है। इन मशीनों की सफाई का भी पूरा पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। एक वर्ग इंच में दो सौ छेद वाली छलनी से छान लेने के बाद ही चूर्ण को मशीन में डालना चाहिए।

जहरीला धूआँ या भाप

१ कैल शियम सायना

यह चूर्ण विशेष प्रकार के प प यंत्र से पौधों पर छिड़का जाता है। पानी की लत्ता परके खटमल की जाति के कीड़े, माहू, चिकटा, केकड़े आदि को मारने के लिए यह एक अच्छी औषधि है।

२ गंधक को आग पर डाल कर पौधों के नीचे धूआँ किया जाता है जिससे कई कीड़े मर जाते हैं।

३ हायड्रो सायनिक ऑसिड गैस (Calcium (cyanide—यह बहुत ही बिषैली है। पौधों पर यह गैस छोड़ी जाती है। रेल के डब्बों और घरों में इसका उपयोग किया जाता है। इस विष से प्राणी भी मर जाते हैं। इसलिए इसको बहुत ही सावधनी से काम में लेना चाहिए।

४—कार्बन—बाय—सल फाइड (Hydsocy-nie Acid gas) —इसकी दुर्गंध असह्य होती है। यह प्रवाही पदार्थ है और भाप बन कर हवा में उड़ जाता है। बत्ती पास आते ही इसकी भाप धमाके के साथ सुलग उठती है। अतएव इसके पास, बत्ती, आग, हरगिज नहीं लानी चाहिए। नाज के गोदामों में इसका उपयोग किया जाता है, जिससे घुन आदि कीड़े नही लगते हैं।

विशेष रूप से इसी कम ये लिए बनाए गये यंत्रों द्वारा ही गैस छोड़ी जाती हैं। भारत में अभी ये यंत्र सुलभ नहीं हैं।

ऊपर जितनी औषधियां बतलाई गई हैं, इनके अलावा भी कुछ औषधियां बाजार में मिलती हैं। संसार के भिन्न भागों में कीड़ों सम्बंधी खोजें की जारही है नये कीड़ों का पता लगता है और उनकी प्राजा वृद्धि रोकने के लिए औषधियां से भी बनाई जाती हैं। इस वैज्ञानिक युग में कुछ भी स्थिर या शाश्वत नहीं है। वैसे तो संसार भी अश्वासत ही है। अतएव अनुभव और परिस्थिति के अनुरूप ही औषधो पचार किया जाना चाहिए। सस्ती से सस्ती और शीघ्रता पूर्वक अधिक प्रभाव डालने वाली औषधि ही काम में लेना लाभ दायक है।

बरसात के दिनों में तभी औषधियां छिड़की जानी चाहिए, जब वर्षा से उनके धुल जाने की कम से कम संभावना हो। औषधि छिड़कने के बाद यदि वर्षा हो जाय, तो दुबारा औषधि छिड़की जानी चाहिए। औषधि छिड़कने के बाद कुछ दिनों तक फसल या पौधों का बारीकी से निरीक्षण करते रहना चाहिए। यदि कीड़े दिखाई दें। तो तुरन्त ही दवा छिड़क देना चाहिए। पौधों पर फसल के शत्रु के प्रकट होते ही शीघ्राति शीघ्र औषधो प्रचार करना अधिक लाभ दायक है। यहाँ तक संभव हो, कृषि-विभाग के विशेषज्ञों की सम्मति से ही औषधोप प्रचार करना चाहिए और उनके द्वारा दी गई सूचनाओं का तुरन्त ही अक्षरशः पलना करना चाहिए। इस बात का भी प्रयन्य करना चाहिए कि गाँव के सभी किसान या कम से कम आस पास के सभी खेतों के काश्तकार फसल के शत्रु को नाम शेष करने के लिए संगठित रूप से एक साथ ही कार्यारंभ करें और शत्रु के आक्रमण को असफल बनाने के लिए तन-मन-धन से जुट जाँय। यही सफलता की कुंजी है।

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै०उ०।३।५

भाग ७२ ♦ सम्वत् २००७ दिसम्बर १९५० ♦ संख्या ३

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्

ज्ञान का रथ, खोज का पथ, रथी-विज्ञान अपनी जय-यात्रा में द्रुत-गति से बढ़ता जा रहा है, मानव अब तो विज्ञान के प्रति विशेष रूप से जागरुक है, या यूँ कहा जाय कि उसे जागरुक होना पड़ा है; एक ओर तो—घर के प्रकाश के लिए विद्युत शक्ति, यातायात के लिए द्रुत-गामी यान, शरीर रक्षा के लिए रामबाण औषधियां, मनोरंजन के लिए वाक-चित्र, सम्पर्क के लिए दूर-दर्शन और दिन-प्रति के जीवन के लिए अनेकानेक आवश्यकीयों की हितकारी देन, व दूसरी ओर—प्राणनाश के लिए एक से एक घातक विष, विश्व-विनाश के लिए एक से एक शक्तिशाली विस्फोट के रूप में जन-साधारण विज्ञान से परिचित है, उसे इस सीमा से आगे विचार करने की आवश्यकता तो है किन्तु अवकाश नहीं, और कुछ तो इन आविष्कारों की चमक से वह चौंधया सा गया है।

विचार कर देखा जाय तो वास्तव में ये विज्ञान की यात्रा में चुने हुए कतिपय रत्न-मात्र हैं, देव-दानवों द्वारा किए गए सागरमन्थन में रत्नों की प्राप्ति मंथन का उद्देश्य कदापि न था, इसी प्रकार यहां भी ये आविष्कार शिल्प के चमत्कारों में सम्मिलित हैं, हां, शिल्प का आधार-मात्र विज्ञान अवश्य है। कहने का तात्पर्य यह कि इन आविष्कारों से विज्ञान के वास्तविक लक्ष्य पर पूरा-पूरा प्रकाश नहीं पड़ता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आज विज्ञान ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की बहुत सी ऐसी दार्शनिक समस्याएं उपस्थित कर दिया है कि दर्शन की मान्यताओं का वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में समझना अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

तो फिर विज्ञान का वह लक्ष्य है क्या? हम यूँ समझ सकते हैं कि वह लक्ष्य वास्तविकता स्वयं है। सत्य ही विज्ञान की आत्मा है, तात्पर्य यह कि द्रव्य के अन्तिम सत्य की, जीवन के अन्तिम सत्य की खोज ही विज्ञान का परम लक्ष्य है। विचार यह करना है कि विज्ञान का सत्य दर्शन के सत्य से कहां तक सम्बन्धित है? देखना यह है कि दर्शन में प्रतिपादित सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की मान्यताएँ विज्ञान में कहां तक ठीक उतरती हैं? प्रकृति के

रहस्यों को समझने के निरन्तर प्रयत्न में विज्ञान प्रकृति का एक विशेष चित्र हमारे सामने उपास्थित करता है, वह चित्र कहां तक सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का प्रतीक है, इसी प्रश्न का उत्तर विज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध नापने के लिए हमारा माप-दण्ड होगा।

सत्य का सम्बन्ध ज्ञान से है, शिव का सम्बन्ध स्नेह से है, और जब किसी वस्तु में इन दोनो का स्पष्टीकरण होता है तो हमें सौन्दर्य का आभास मिलता है। उदाहरणार्थ, यदि हमारा मित्र हमें एक निर्जीव पदार्थ से अधिक सुन्दर लगता है तो वह इस लिए कि उस स्नेह-पात्र चेतन-प्राणी का हमें एक प्रकार का अन्तर्ज्ञान है। अस्तु, इन मान्यताओं की पारिभाषिक जटिलता में न फंस कर इस विचार-धारा को आगे बढ़ाने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि सत्य, शिव तथा सुन्दर—सभी का सम्बन्ध रूप से है। किसी वस्तु का रूप उसके आकार तथा सांचे पर आधारित है, जिनमें कि एक नेमिकता है और उस वस्तु के आकार, सांचा तथा नेमिकता ऐक्य की एक लड़ी से बंधे हुए हैं। यह मान लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस वस्तु का रूप जितना ही अधिक विकसित होगा, उतना ही अधिक उसका हमें सहज ज्ञान प्राप्त हो सकेगा और उतनी ही अधिक वह वस्तु हमारे प्रेम-योग्य हो जायगी और सुन्दर लगेगी। उदाहरणार्थ यदि हम अपने चेतन प्राणी मित्र और किसी अचेतन पदार्थ के अन्तर का ध्यान करें तो स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि दोनो की मूल रचना में वही रासायनिक तत्व और वही भौतिक तथा रासायनिक सिद्धान्त हैं किन्तु फिर भी हमारा मित्र हमें अधिक प्रिय है, क्यों? दोनों में अन्तर केवल यही है कि उस चेतन प्राणी के रूप में (जिसे हम मित्र कहते हैं) एक सज्ञान आत्मा है, जिससे उसका रूप वर्धन, विकाश और संसृष्टि की शक्ति रखता है और उस निर्जीव पदार्थ के रूप में ऐसी कोई शक्ति नहीं। विकाश के अभाव के ही कारण उन्ही तत्वों का बना हुआ वह पदार्थ निम्न कोटि की स्थिति पाता है किन्तु चेतन-प्राणी, जो रूप में अधिक विकसित है, (उसका हमें सहज-ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वही अन्तर्ज्ञान हमें अधिक सुखद होता है हमें अधिक सुन्दर लगता है और उच्चकोटि की स्थित पाता है। फलतः रूप की स्थिति के ज्ञान से हम मान्यताओं की माप कर सकेंगे। उदाहरणार्थ, ललित कला के अन्तर्गत यदि कोई चित्र किसी भयानक दृश्य की रूप-रेखा लेकर खींचा गया है तो भी वह हमें सुन्दर लगेगा यदि उसमें गहरी अनुभूति मिल सके। तात्पर्य यह कि कोई चित्र उतना ही सुन्दर लगेगा जितना कि कलाकार अपनी अनुभूति की वास्तविक आकृति को अपनी तूलिका के सहारे चित्र में उतारने में सफल हुआ हो यानी चित्र का अपना ही एक सौन्दर्य होता है, हाँ, यदि वह हमारी प्रेयसी का चित्र है तो उसके सम्बन्ध में हमारा अधिक अन्तर्ज्ञान उस चित्र को हमारे लिए अत्यन्त सुखद और सुन्दर बना देगा।

यह जान लेना आवश्यक है कि चित्र का सौन्दर्य यह नहीं कि ऊंचे, नीचे, गहरे, उथले स्थलों द्वारा, रंगों के चमत्कार द्वारा, आँख, कान, नासिका आदि शरीर के अनेक अंग अच्छी तरह चित्रित किए गए हैं, बल्कि उसका वास्तविक सौन्दर्य यह है कि चित्रित शरीर की उस रूप-रेखा के मध्य कलाकार की अनुभूति का एक सत्य छिपा हुआ है। भिन्नता में एकता की इसी परिभाषा को हम कला व दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य आँकने की कसौटी मान सकते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी हमें प्रकृति का एक विशेष रूप मिलता है। दर्शन की मान्यताओं को यहाँ सही उतारने के लिए रूप की विद्यमानता के साथ भिन्नता में एकता का गुण भी बहुत देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ भौतिक विज्ञान को ही ले लीजिए। एक प्रकार से यह माप-विज्ञान कहा जा सकता है। मापित राशियों को नियम-बद्ध करने के लिए फलित सम्बन्धों से जोड़ा जाता है और फिर उन अनुभव सिद्ध नियमों को वाद के रूप में लाया जाता है। प्रायोगिक प्रमाण मिल जाने के बाद उस विशिष्ट वाद से एक सिद्धान्त का जन्म

शेष १३वें पृष्ठ पर

हरबेरियम Herbarium तथा उसका उपयोग

लेखक—सुधांशु कुमार जैन

सुखाए गए पत्तों की संग्रह-शाला में बैठकर भूमण्डल की वनस्पति से साक्षात्कार कराने का ज्ञान-प्रद एवं मनोरंजक कार्य घण्टों में किया जा सकता है। हरबेरियम की इस उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए संग्रह-शाला के आवश्यकीयों का यहाँ एक ब्यौरेवार वर्णन मिलेगा।

सुखाए गए पौधों के किसी संग्रह को हरबेरियम (Herbarium) कहते हैं, यह परिभाषा एक छोटे से संग्रह से लेकर बड़े से बड़े संग्रह पर लागू होती है। 'हरबेरियम' शब्द का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। यद्यपि बनस्पति शास्त्र के वर्त्तमान ज्ञान का आरंभ जगत प्रसिद्ध वैज्ञानिक लीनियस (Linneaus) के समय से माना जाता है, जब १७५३ ई० में उसकी 'स्पीसी प्लान्टेरम' (Species Plantarum) नामक पुस्तक छपी थी, परन्तु वनस्पति ने तो मानव का ध्यान बहुत पहले से आकर्षित किया है। लीनियस से पहले पौधों को नाम देना तथा उनका वर्णन आदि करने के कोई विशेष नियम न थे, तब भी पेड़ पौधों को नाम तो दिए ही जाते थे, तथा उस समय के ज्ञान के अनुसार उनका वर्णन भी किया जाता था। परन्तु उस समय में किसी ने पौधों को एकत्रित करके रखने का उपयोग नहीं समझा। इससे एक बड़ी कठिनाई यह होती थी कि एक वैज्ञानिक एक पौधे को देखकर उसका वर्णन लिख कर उसे कोई नाम दे देता था। उसके बाद के कार्य करने वाले केवल उस वर्णन के आधार पर पौधे को पहचानना कठिन पाते थे। परिणाम स्वरूप प्रायः या तो एक ही पौधे को कई कई नाम दे दिए जाते थे, या एक ही नाम कई कई भिन्न पौधों के लिए प्रयोग में आ जाता था। उन दिनों यद्यपि वर्त्तमान आशय के 'हरबेरियम' जैसी कोई वस्तु थी ही नहीं, परन्तु इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। यह जानना रुचिकर है कि ऐसी कोई भी पुस्तक जिसमें पौधों का वर्णन हो, विशेषता यदि उसमें पौधों के चित्र हों, 'हरबेरियम' कहलाती है।

सन् १५४२ ई० में गिनी (Ghini) और १५५० में सीसलपिनी (Caesalpini) तथा उनके साथियों ने पौधों को सुखा कर रखने की आवश्यकता को कुछ समझा, तथा विश्वस्त रूप से नाम दिए गए पौधों को सुखा कर तरतीब से रखने की उपयोगिता का आरम्भ किया। इस प्रकार के संग्रह को भी 'हरबेरियम' शब्द से ही संबोधित किया गया। कुछ स्थानों पर इस प्रकार के संग्रहों को पुस्तकों तथा चित्रों से अलग संकेत करने के लिए 'हरबेरियम विवम्' (Herbarium vivum) कहा गया। धीरे धीरे 'हरबेरियम' के महत्व पर वैज्ञानिकों आदि का ध्यान बढ़ता गया। भिन्न भिन्न व्यवसाय के लोगों ने अपनी अपनी आवश्यकतानुसार 'हरबेरियम' बनाने आरंभ किए। जो जिस प्रकार के पौधों में रुचि रखता था उसने उन्हीं पर अधिक ध्यान दिया। इस प्रकार नाना भांति के 'हरबेरियम' की बढ़ोतरी होती गई। मुख्यतया तो 'हरबेरियम' इस आशय से बनाए जाते हैं कि भली प्रकार पहचाने गए पौधों के इस संग्रह की सहायता से भविष्य में पौधों को पहचानने में सुविधा हो। इसके अतिरिक्त और विशेष प्रकार के 'हरबेरियम' निम्न प्रकार के होते हैं—

१—उपयोगी पौधों का 'हरबेरियम' (Economic Botany Herbarium) वह संग्रह जिसमें ऐसे सभी पौधे इकट्ठा कर कर सुखा कर रखे गए हों जो हमारे दैनिक जीवन में किसी न किसी रूप में उपयोगी हों। इस प्रकार के 'हरबेरियम' का बहुत महत्व है क्योंकि बनस्पति से जितना हमारा संबंध है उसके बारे में अनेकों सूचनाएं इसमें एकत्रित होती हैं और किसी भी समत सुगमता से उससे लाभ उठाया जा सकता है।

२—कृषि संबंधी 'हरबेरियम' (Agricultural Herbarium) अर्थात् उन पौधों का संग्रह जो हमारी कृषि से सम्बन्ध रखते हैं। देश में कोन-कौन सी फसल पैदा होती हैं तथा कहां कहां पर होती हैं एवं अन्य बहुत सी लाभदायक सूचनाएं यहाँ से प्राप्त हो सकती हैं।

३—औषधि सम्बन्धी 'हरबेरियम (Medicinal Plants Herbarium) यहां उन पौधों का संग्रह रहता है जो किसी न किसी रूप में औषधि बनाने के काम आते हैं।

४—विषैले पौधों का हरबेरियम (Poisonous Plants Herbarium) विषैले पौधों का संग्रह भी बहुत उपयोगी है क्योंकि उनका ज्ञान होने से हम सैकड़ों गाय, बैलों के प्राण बचा सकते हैं। प्रति वर्ष विषैले पौधों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक आवश्यक है।

५—पौधों की जीवनप्रणाली दर्शाने वाले 'हरबेरियम' (Life-history Herbarium) इनमें पौधों के जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी दशाओं के पौधे इकट्ठे रहते हैं। अर्थात् बीज, अकुर, छोटा पौधा, और बड़ा, पूरा बड़ा, फूल, फल, आदि समस्त जीवन प्रणाली के कार्य क्रमानुसार दर्शाए जाते हैं। पौधों के बढ़ते समय जो उनमें परिवर्त्तन होते हैं उनका चित्र आँखों के सामने आ जाता है प्रायः पौधों को पहचानने मे इन परिवर्त्तनों का ज्ञान होना आवश्यक होता है।

६ नियत स्थानीय हरबेरियम (Local herbarium) किसी नियम सीमा के अंदर पाए जाने वाले पौधों का संग्रह जैसे एक उद्यान, नगर, जिला, या प्रांत आदि की सीमा में पाए जाने वाले पौधों का संग्रह। ऐसे हरबेरियम की उपयोगिता सीमित तो अवश्य होती है परंतु थोड़े ही प्रयास से एक सीमित स्थान के पौधे इकट्ठा किए जा सकते हैं और वहाँ के निवासियों को अनेक रुप से लाभदायक सिद्ध होते हैं। ऐसे छोटे-छोटे हरबेरियम प्रायः सभी कालेज व विश्वविद्यालय बना सकते हैं। विद्यार्थियों के साधारण कार्य के लिए तो यही उपयुक्त भी रहते हैं। थोड़े संग्रह में अध्ययन करना कठिन नहीं है। आरंभिक अवस्था में ही बड़े हरबेरियम में हस्तक्षेप करने से कार्यकर्त्ता को कठिनाई तथा संस्था को हानि की संभावना रहती है। जिसने कभी हरबेरियम में कार्य न किया हो, अथवा उसका अधिक अनुभव न हो, वह यदि एक बड़े हरबेरियम में जहाँ लाखों पौधों का संग्रह हो, कार्य करे तो खो सा जाता है, तथा पौधों को उलट पुलट करने में उनकी तरतीब बिगड़ने का डर रहता है, और एक बार अपने उपयुक्त स्थान से हटने के बाद पौधा बस खोया ही जाता है।

यह भली भाँति जान लेना आवश्यक है कि इन छोटे २ स्थानीय हरबेरियम का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं है, विशेष कर यदि वह किसी बड़े प्रांतीय या केंद्रीय हरबेरियम से सम्पर्क रखें, तथा जब तब आवश्यकता पड़ने पर वहाँ जाकर उनकी सहायता वा आदेशों का स्वागत करते रहें।

७—केंद्रीय हरबेरियम(Central or National Herbarium)ऊपर वर्णन किए गए सब विशेष प्रकार के तथा छोटे छोटे हरबेरियम के कार्य को संगठित करने एव अन्य रुप से अनुसंधान कार्य की बढ़ोतरी के लिए एक विशाल केंद्रीय हरबेरियम की आवश्यकता होती है जहाँ ऊपर दिए हुए सभी प्रकार के संग्रह एकत्रित हों। वनस्पतिशास्त्र की सभी शाखाएं

परस्पर संबंधित हैं तथा एक को अपना ज्ञान पूर्णतया सम्पन्न करने के लिए दूसरे पर निर्भर होना पड़ता है। यह भी संभव नहीं है कि विशाल हरबेरियम स्थान स्थान पर बन सके। इसलिए एक केंद्रीय हरबेरियम दूसरी सब संस्थाओं के कार्य को संबंधित रख सकता है।

क्योंकि केंद्रीय हरबेरियम में सारे देश के, तथा बाहर के देशों के भी पौधे एकत्रित रहते हैं, इससे निम्नलिखित विशेष लाभ होते हैं :—

हरबेरियम के उपयोग :—

१—पहले रखे हुए नाम लिखे पौधों की सहायता से बाद में एकत्रित किए गए पौधों को उनसे मिला कर पहचानने का कार्य बहुत मुख्य है।

२—हरबेरियम की सहायता से यह बहुत सुगमता से जाना जा सकता है कि अमुक पौधा हमारे देश में तथा अन्य देशों में कहाँ पाया जाता है।

३—क्योंकि एक ही पौधा भिन्न भिन्न प्रकार के जलवायु में भी पाया जा सकता है तथा ऐसे सभी स्थानों से एकत्रित होकर हरबेरियम में एक स्थान पर उनका संग्रह हो जाता है, उनके अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि एक पौधे के आकार, रूप में जलवायु के प्रभाव से कहाँ तक अंतर हो जाता है। प्राय: जलवायु के प्रभाव से लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई, रंग आदि जैसे गुणों में बहुत अंतर हो जाता है। ऐसे किसी अंतर को देख कर नई किस्म या नई जाति बना देने की संभावना रहती है। परंतु भिन्न जलवायु के संग्रह की सहायता से हम यह जान सकते हैं कि किस किस प्रकार के जलवायु में क्या क्या अंतर हो सकते हैं। कभी कभी इसी आशय से विशेष प्रकार की हरबेरियम जो Ecological Herbarium अर्थात् जलवायु से संबधित हरबेरियम बनाना भी उचित रहता है।

४—हरबेरियम के एक कमरे में बैठ कर ही सारे वनस्पति संसार का भ्रमण किया जा सकता है। चाहे जिस समय किसी भी पौधे का अध्ययन संभव है

५—कुछ बार विशेष परिस्थितियों में अनेक पौधा एक दो बार एकत्रित किए जाने के बाद इस भूमि पर उगने योग्य नहीं रह पाता और सदा को विलीन Extinct हो जाता है। ऐसी अवस्था में हरबेरियम में रखा उस पौधे का नमूना सदा के एक चिन्ह रहता है, तथा उसके इस संसार में किसी समय उगे होने का प्रमाण रहता है।

६—क्योंकि हरबेरियम में बाहर के देशों के भी पौधे एकत्रित रहते हैं, अध्ययन से हमें यह आभास हो सकता है कि हमारे देश की वनस्पति और आसपास वाले देशों से कहाँ तक मिलती जुलती है।

७—हरबेरियम की सहायता से यह जाना जा सकता है कि एक पौधा संसार में कहां कहां कैसे कैसे जलवायु में पाया जाता है और यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह पौधा हमारे देश में कहाँ किस भाग में (जहाँ का जलवायु उपयुक्त हो) उगाया जा सकता हो (Plant Introduction)

८—कुछ पौधों का खेतों में फसलों के बीच में अनायास ही उग आना (Weeds) हानिकारक होता है। यों तो ऐसे पौधों पर वर्षों तक ध्यान जाने की संभावना नहीं होती, परन्तु हरबेरियम से इस विषय पर शीघ्र ही सूचना मिल जाती है, और उन हानिकारक पौधों की रोक थाम (Weeds-control) के लिए आवश्यक कार्य किया जाता है

९—बहुत से प्रदेशों के पौधों के बारे में बहुत कम ज्ञान है; तथा वहाँ जाकर बार-बार अध्ययन करने की सुविधा भी नहीं। वहां के पौधे यदि हरबेरियम में एकत्रित हों तो वहां की वनस्पति का वर्णन लिखना संभव हो सकता है।

१०—प्राय: प्रश्न हुआ करता है कि अमुक पौधा जिससे कोई औषधि आदि बनती है कहाँ कहाँ पाया जाता है, अथवा कहाँ कहाँ उगाया जा सकता है।

हरबेरियम की सहायता से ऐसे सब प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है।

११—कई बार पुरातन काल के वैज्ञानिकों ने किसी पौधे में कोई गुण पाया और उसके विषय में गत्ते (Sheet) पर लगी चिट पर लिख दिया आज उसी सूचना के आधार पर आगे अन्वेषण कार्य किया जा सकता है।

१२—वनस्पति शास्त्र की बड़ी बड़ी पुस्तकें हरबेरियम' के आधार पर ही लिखी गई हैं; इस कारण से हरबेरियम प्रारंभिक आवश्यकता की संस्था है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए तो स्थान स्थान पर हरबेरियम होने चाहिए। किसी स्थान पर कौन कौन पौधों की खेती होती है, वहां का जलवायु कैसा है, भूमि कैसी है, आदि का उपयुक्त ब्यौरा रहने से अनेक लाभ हो सकते हैं। प्रत्येक पौधा एक जलवायु विशेष को ही पसंद करता है, तथा उसी में भली भांति उगता है। हरबेरियम के अध्ययन से यह भी अनुमान हो जाता है कि क्योंकि यह पौधा अमुक अमुक स्थानों से एकत्रित हुवा है, अवश्य ही उन सब स्थानों के जलवायु में कुछ न कुछ समानता होगी। इस प्रकार किसी स्थान पर पौधों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति की सूचना से वहाँ की भूमि व जलवायु का अनुमान हो जाता है। यह खेती बारी व बन आदि के लगाने में उपयोगी सिद्ध होता है।

उन सज्जनों को जिन्हें देशाटन का अधिक अवसर मिलता हो, इस ओर ध्यान देना चाहिए। पौधों को इकट्ठा करना अथवा सुखाकर संग्रहित करना तनिक भी कठिन नहीं है। केवल कुछ आवश्यक बातें ही जान लेना पर्याप्त होता है। ऐसे सज्जन पौधे एकत्रित करके किसी अच्छी संस्था को भेंट कर दें अथवा यदि रुचि हो तो अपना ही एक संग्रह बना लें। उन को अपने संग्रह का ब्योरा किसी संस्था के अध्यक्ष को लिख देना चाहिए ताकि वह जान सकें कि उनके संग्रह की क्या उपयोगिता हो सकती है।

'हरबेरियम' बनाना तथा उसका उचित प्रबंध—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, 'हरबेरियम' सुखाए गए पौधों के संग्रह को कहते हैं। एक अच्छा संग्रह बनाने के लिए निम्न बातें जाननी चाहिए:—

१—पौधे किस अवस्था में तथा किस प्रकार इकठ्ठा करना चाहिए?

२—एकत्रित करते समय पौधे के विषय में क्या क्या बातें नोट कर लेनी चाहिए?

३—पौधों को कैसे सुखाना चाहिए?

४—उन्हें कैसें मोटे कागज या गत्ते पर चिपकाना चाहिए?

५—इस संग्रह को कीड़े, फुई व अन्य रूप से खराब होने से कैसे बचाना चाहिए?

६—इन गत्तों को जिन पर सुखाए हुए पौधे चिपका दिए हैं या सी दिए गए हैं, कहां और किस प्रकार किस क्रम से रखना चाहिए?

पौधों को इकठ्ठा करना—पौधे इकठ्ठा करने जाते समय निम्न लिखित वस्तुएं साथ होनी चाहिए—

१—एक या दो बड़ी टोकरी जो आवश्यकता पड़ने पर सुविधा से कुली की कमर पर बांधी जा सके।

२—टीन के हल्के छोटे संदूक (Vasculum) जो विशेष रूप से इसी कार्य के लिए बनवा लिए जाते हैं, (चित्र 'ब' १)

३—सुखाने के लिए मोटे ब्लाटिंग कागज।

४—चाकू, छुरी, कैंची, खुरपी।

५—लेंस (Lens)

६—नोट बुक या Field Book

७—पुराने समाचार पत्र

८—कुछ चौड़े मुंह की शीशियां, स्पीरिट या सुरासार से (Alcobol) भरी हुई।

९—लाठी या बेंत।

१०—लकड़ी, बांस या तार के प्रेस (Press), पौधे दबाने के लिए, (चित्र 'ब' २)

११—छोटे या बड़े त्रिपाल तथा रस्सी।

पौधे इकट्ठा करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना है कि उनके फूल अथवा फल वाली टहनी अवश्य ली जाएं क्योंकि पौधों को पहचानने के लिए इनका होना आवश्यक है। छोटे पौधे तो जड़ सहित उखाड़ लेना चाहिए। बड़े बड़े पौधों या पेड़ों की जितनी बड़ी टहनी सुगमता से ली जा सके, लेनी चाहिए। पेड़ की छाल भी रख लेना ठीक है। सदा एक से ३-५ पौधे अवश्य ले लेना चाहिए। यदि पत्ती बहुत बड़ी हों तो उनका कुछ भाग ही रख लेना चाहिए। जहाँ तक बन सके फूल, फल अथवा पत्ती डंठल से अलग न हों, आशय यही है कि पौधे के एकत्रित किए हुए भाग को देख कर उसके सारे आकार का अनुमान हो सके।

२—नोट बुक में लिखने की बातें—बहुत सी बातें ऐसी हैं जो सूखे पौधे को देखने से नहीं जानी जा सकतीं, इसलिए पौधे को लेते समय ही निम्न बातें नोट कर लेनी चाहिए:—

१—नम्बर।

२—एकत्रित करने की तिथि।

३—स्थान—गांव, नगर, नदी, पर्वत आदि का नाम, अथवा कैसी जगह है, अर्थात सूखी, कीचड़, पानी में, चट्टान पर, खड्ड में, ढाल पर, या दूसरे पेड़ पर लता के रूप में, आदि।

४—उस स्थान की समुद्र की सतह से ऊँचाई।

चित्र 'अ'

तिथि—१८-६-१९५०　　　नं०—२२६९९
स्थान—पुल्गा से ऊपर　　　ऊंचाई—११,५०० फुट
नाम—पोटेंटिला

वर्णन—लगभग १० इंच ऊंचा, पीले फूल का पौधा।
हिंदी नाम—कुछ नहीं
उपयोग—　"　"

संग्रहकर्त्ता—जैन व भारद्वाज

सं० जैन, भारद्वाज　नं० २२६९९
सं० जैन, भारद्वाज　नं० २२६९९
सं० जैन, भारद्वाज　नं० २२६९९

५—पौधा बहुत संख्या में पाया जाता है या कोई कहीं कहीं।

६—उसके आस पास और कौन कौन मुख्य पौधे हैं, क्या वह किसी पेड़ की छाया में उग रहा है ?

७—पौधे की ऊँचाई, फूल का रंग, सुगन्ध। पत्ती या जड़ की सुगंध।

८—पेड़ की छाल काटने पर कैसा रंग निकलता है, क्या उसमें से कोई रस चूने लगता है ? (Blaze)

९—हिंदी नाम जो वहां के रहने वाले बोलते हों या जिस नाम से आप उसे पुकारते हों।

१०—वहां के रहने वाले उस पौधे से कोई औषधि बनाते हों या अन्य रूप से प्रयोग में लाते हों तो नोट कर लीजिए।

इन सब बातों को क्रमानुसार नोट करने के लिए विशेष प्रकार की नोट बुक बनवा ली जाती है जिन्हें Field book कहते हैं। यह प्राय: १०० पन्नों की एक कापी होती है जिसके पन्नों पर १ से १०० तक नम्बर डलवा लिए जाते हैं। दूसरी कापी में १०१ से २०० तक तथा इसी प्रकार आगे भी। एक पन्ना इस प्रकार का होता है—चित्र 'अ'।

ऊपर दिए नमूने से स्पष्ट है कि पौधे के बारे में बहुत सी बातें इस नोट बुक में लिखी रहती हैं। नीचे की ओर जो टिकट जैसे बने हैं उनमें डोरे बधे रहते हैं। कापी से फाड़ कर वह टिकट इन डोरों की सहायता से पौधे पर बांधे जा सकते हैं। एक नम्बर के टिकट एक ही पौधे पर बांधे जाने चाहिए। इस पौधे के फल, जड़, या छाल आदि पर भी इसी नम्बर का टिकट लगाना, चाहिए, इस कारण एक नम्बर के ४-५ टिकट रखे जाते हैं। टिकट अच्छी तरह बांध देने चाहिए ताकि वह सुखाने आदि के समय पौधे से निकल न जांए। टिकट निकल जाने पर पौधे का स्थान आदि जानना असंभव हो जाता है। टिकट बांध २ कर पौधों को टोकरी या डिब्बे में डालते जाना चाहिए।

३—पौधों को सुखाना—पौधों को इकट्ठा करने के बाद जितना शीघ्र से शीघ्र हो सके सुखा देना चाहिए। कुछ लोग तो इकट्ठा करते समय ही उन्हें साथ ही कार्टिंग के बीच में डाल कर दबाते जाते हैं। थोड़े पौधों के लिए तो यह संभव है परन्तु जब सैकड़ों पौधों को इकट्ठा करना होता है तो इतना कागज आदि साथ रखना संभव नहीं। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जो उखड़ने के बाद शीघ्र ही मुरझाने लगते हैं, उन्हें तो तुरन्त ही दबा देना चाहिए।

पौधों को कई प्रकार से सुखाया जा सकता है, तथा यह पौधे की मोटाई आदि पर निर्भर होता है। साधारणतया तो पौधे मोटे कागज (Blotting or Drying paper) के बीच अच्छी तरह फैला कर रख कर किसी बोझ से या रस्सी से बांध कर दबा दिए जाते हैं। ऐसा करने से पत्ती आदि भी नहीं सिकुड़तीं। यदि पत्तियां बहुत हों और फूलों को ढकती हों तो कुछ पत्ती काट देनी चाहिए। बोझ इतना अधिक नहीं रखना चाहिए कि पौधे के भाग कुचल जाँए। प्राय: तार की लकड़ी की जाली के प्रेस (Press) बनवा लिए जाते हैं और रस्सी या चमड़े के फीते से बांधने का प्रबंध रहता है (चित्र' ब'—२) ३-४ दिन तक प्रति दिन कागज बदलना होता है। निकला हुआ कागज उसी दिन धूप में सुखा लेना चाहिए ताकि अगले दिन काम आ सके। लकड़ी आदि जैसे कड़े भागों को धूप में ही सुखा लिया जाता है। जिन पौधों में पानी अधिक होता है जैसे कमल की डंठल या सिंघाड़े की पत्ती आदि, उनके ऊपर व नीचे कई कई कागज रखने पड़ते हैं। ऐसे पौधों को कम बोझ से दबाया जाता है। प्राय: वर्षा ऋतु में या ऐसे प्रदेशों में जहाँ धूप निकलने की आशा न हो, बहुत सा सुखाने का कागज साथ ले जाना चाहिए क्योंकि एक बार प्रयोग किया हुआ कागज कई दिन तक नहीं सूखता। कागज के बंडल जिनमें पौधे दबे हुए हैं धूप में रख देने चाहिए। जहाँ धूप न निकलती हो वहां आग की सहायता से सुखाना पड़ता है। यदि पौधे इकट्ठा करने का काम अपने घर से किसी दूर स्थान

पर हो रहा है और सुखाने के बाद ही पौधे तुरन्त गत्तों पर नहीं लगाते हैं, तो उन्हें पार्सल बना कर घर (Head quarters) भेज देना चाहिए। पार्सल बनाना—अखबार के कागज को (जो प्राय:२३!२ × १६ इंच होता है) दुहरा मोड़ कर पौधा उसमें रख देना चाहिए, और किनारे मोड़ देने चाहिए जिससे उठाने धरने में पौधा या उसका कोई भाग निकल न जाए। एक के ऊपर एक रख कर जब ८-१० इंच ऊंची गठ्ठी बन जाए तो उसके ऊपर व नीचे मोटी बांस की चटाई का टुकड़ा या मोटा गत्ता रख कर बांध देना चाहिए। फुनैल की गोली का चूरा इसमें डाल देने से कीड़े आदि से बचाव रहता है। बंडल को मलट कागज में लपेट कर पार्सल बना कर डाक से भेज देना चाहिए।

७—पौधों को कागज या गत्ते पर लगाना—पौधे जब अच्छी तरह सूख जाएं तो उन्हें मोटे सुफैद कागज या गत्ते (white card-board or mounting sheets) पर लगाया जाता है। ये गत्ते एक नियत लम्बाई चौड़ाई के होते हैं, प्राय: १६ इंच × १०इंच। लगभग प्रत्येक हरबेरियम में इसी नाप के गत्ते प्रयोग किए जाते हैं। भिन्न भिन्न नाप के गत्ते होने से उनका पार्सल बनाना तथा उनको अलमारी के खानों में रखना आदि सभी क्रियाओं में असुविधा रहती है।

पौधे को गत्ते पर कई प्रकार से लगाया जा सकता है :—१, सुई डोरे से टांके लगा कर टहनी तथा पत्ती वा फूल गत्ते पर लगा लिए जाते हैं।

२—सारे पौधे पर सरेस लगा कर उसे उलट कर गत्ते पर चिपका दिया जाता है। यदि कुछ सरेस पत्तों के ऊपर निकल आए तो उसे साफ कर देना चाहिए।

३—पौधे को गत्ते पर फैला कर गोंद लगी हुई कागज की चिन्तियाँ चिपका कर पौधे को अटका दिया जाता है। गत्ते पर चिपकाते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए

१—पौधे को इस प्रकार फैला लेना चाहिए कि सब भाग अच्छी तरह दिखाई देते रहें, फूल या फल पत्तियों में न छिप जाएँ।

२—सारे गत्ते पर पौधा एक सा फैला हुआ हो, ऐसा नहीं कि एक ओर को सारा सिमट जाए और दूसरी ओर गत्ता सूना पड़ा रहे, (चित्र ब—३)

३—जहाँ तक हो, पौधे के फूल फल ऊपर के सिरे की ओर रहें, और जड़ नीचे की ओर। यदि पौधा बहुत बड़ा है तो उसे दुहरा या तीहरा मोड़ कर लगाया जा सकता है।

४—पौधा पहचानने में फूल के अंदर के भाग तथा पत्ती के दोनों ओर की सतह देखने की आवश्यक्ता होती है, इस कारण एक फूल की पंखड़ियां खोलकर दिखा देनी चाहिए, तथा एक पत्ती को मोड देने से उसकी दोनों सतह दिखाई जा सकती हैं।

५—गत्ते के नीचे दाहिनी ओर का कोना खाली रखना चाहिए क्योंकि इस जगह पर पौधे का विवरण बताने वाली चिट Label चिपकाई जाती है। यदि नीचे का बांई ओर का कोना भी थोड़ा खाली रह सके तो अच्छा है क्योंकि पौधे के नाम में जो अदल-बदल हो, वह वहाँ लिखी जा सके। इसी बाँए कोने में या ऊपर के कोनों में जहाँ जगह हो एक छोटा सा लिफाफा चिपका दिया जाता है जिसमें पौधे का टूटा हुवा कोई भाग फल, फूल बीज आदि रखा जा सके।

७— चिट में पूरा ब्यौरा भर कर उसके स्थान पर लगा देना चाहिए (चित्र 'ब'–३)

८–पौधों को कीड़ों और फुई से बचाना—प्राय: पौधों को सुखा लेने के बाद ही ब्रुश से एक औषधि (Alcoholic Solution of Mercuri Chloride) का घोल उन पर लगा दिया जाता है। (Alcohol) उड़ जाने पर Mercuric chloride

की एक तह पौधे के प्रत्येक भाग पर रह जाती है जो उसे फुई या कीड़ा लगने से बचाती है। कभी-कभी सारे पौधे को औषधि में डुबो लेते हैं। इसके अतिरिक्त पौधों को गत्तों पर चिपका लेने के बाद उन्हें एक बड़े संदूक में (Fumigation) रख कर बंद कर दिया जाता है। इस संदूक में थोड़ा सा कार्बन बाई सलफाइड रख दिया जाता है जिसकी गंध सारे बक्स में भर जाती है और सारे कीड़े मर जाते हैं। पौधों को इस संदूक में लगभग ४-६ दिन बंद रखा जाता है। जिन अलमारियों में यह पौधों वाले गत्ते रखे जाते हैं उनमें भी फिनैल की गोलियां डाल दी जाती हैं ताकि कीड़ा वहाँ न पहुँच सके। कुछ महीने बाद बारी बारी फिर यह सब गत्ते निकाल कर या तो उसी संदूक में रख लिए जाते हैं या वह औषधि फिर इन पर लगादी जाती है। आशय यही है कि कीड़े या फुई को दूर रखने का भरसक प्रयत्न किया जाता है। एक बार कीड़ा लग जाने पर उसको नष्ट करना अत्यत कठिन हो जाता है, वह एक पौधे से दूसरे में और इस प्रकार कई अल्मारियों पर आक्रमण कर देते हैं। कभी-कभी हरबेरियम में डी०डी०टी० भी छिड़कवा दी जाती है।

६—पौधों को हरबेरियम में रखने की तरतीब—पौधों को उनके वर्ग, वंश, गण तथा जाति (Order, family, genus, species) के अनुसार छांट लिया जाता है तथा क्रमानुसार अलमारी के खानों में लगा लिया जाता है। एक जाति के पौधों को भी प्रायः भौगोलिक क्रमानुसार रखा जाता है। उदाहरण के लिए भारत के दो मुख्य हरबेरियम (१, वन-अनुसंधान संस्था, देहरादून का हरबेरियम, एव २, कलकत्ते का सिबपुर हरबेरियम) का विवरण नीचे दिया है।

१—देहरादून हरबेरियम—यहाँ एक दुमंजले विशाल भवन में लगभग ३०० अलमारियों में वंश के क्रमानुसार पौधे रखे हैं। प्रत्येक वंश या गण के आरंभ होने से पहले उस वंश या गण से संबंधित उचित साहित्य की सूची (Literature File) रखी है। उसके बाद एक फाइल में उस वंश के पौधों के चित्र (Plates) एकत्रित कर कर रखे हुए हैं। प्रायः जिन पौधों का मिलना संभव नहीं होता, उनके चित्र अवश्य रख लिए जाते हैं, विशेष कर उन पौधों के चित्र बहुमूल्य होते हैं, जिन्हें टाइप स्पेसिमेन (Type Specimen) कहते हैं। Type Specimen उस एक पौधे को या उसके ही भिन्न भागों को कहते हैं जो उस पौधे को नामकरण करने वाले ने सर्वप्रथम अध्ययन किया था। चित्रों की फाइल के बाद भारत के प्रांतों को ३ भागों में प्रथक करके उनका अलग अलग फाइल रखी गई हैं। इनके उपरांत ८ फाइलें और बाहर के देशों आदि की हैं। इनका क्रम इस प्रकार है:—

१—साहित्य की फाइल (Literaturs File)
२—चित्रों की ,, (Plates)
३—उत्तरीय, पश्चिमी तथा मध्य भारत (N., W. & C. India)
४—बंगाल आसाम व बर्मा
५—दक्षिणी भारत
६—एशिया, भारत के पूर्व में
७— ,, ,, ,, उत्तर में
८— ,, ,, ,, पश्चिम में
९—यूरोप
१०—अमेरिका
११—अफरीका
१२—आस्ट्रेलिया आदि
१३—बिना नाम लिखे पौधे (Dubia) अर्थात जिन पौधों के नाम में संदेह होता है वह प्रथक इसमें रख दिए जाते हैं। उनका ठीक नाम पहचाना जाने पर उन्हें उनके उपयुक्त स्थान पर रख दिया जाता है।

२—सिबपुर हरबेरियम, कलकत्ता—यहाँ भी एक दुमंजले भवन में हरबेरियम स्थित है। यहाँ का पुस्तकालय तथा अधिकारियों एवं कर्मचारियों के दफ्तर भी इसी में हैं। यह हरबरियम भारत का सबसे

पुराना है और हमारे देश में कार्य करने वाले विशेष कर उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिकों के इकट्ठे किए हुए पौधे यहाँ रखे हैं। ऊपर की मंजिल में सारे संसार के पौधे (General Herbarium) तथा नीचे की मंजिल में केवल भारत के पौधे (Local Herbarium) रखे हैं।

इसी संबंध में इंगलैंड के 'क्यू हरबेरियम (Keus Herbarium) का वर्णन करना भी आवश्यक है। यह संसार का सबसे बड़ा 'हरबेरियम' है। संसार में कहीं भी जब कोई नया पौधा पाया जाता है, प्रायः उसकी प्रति यहां अवश्य भेज दी जाती है। इस कारण यहां का संग्रह बहुत विशेष तथा उपयोगी है। यहां का संग्रह १८ प्रदेशों में विभाजित है जो ६ भागों में रखा है :—

भाग १—यूरोप—
- १—यूरोप
- २—उत्तरी अफरीका आदि

भाग २—चीन—
- ३—उत्तरी एशिया
- ४—चीन व जापान

भाग ३—भारत—
- ५—भारत, बर्मा, लंका आदि
- ६—मलाया, इंडोचीन, फिलीपीन

भाग ४—अस्ट्रेलिया—
- ७—अस्ट्रेलिया, तस्मानिया
- ८—न्यूजीलैंड
- ९—पोलीनीशिया

भाग ५—अफ्रीका—
- १०—अफ्रीका (मध्य भाग)
- ११—मस्करीन द्वीप
- १२—दक्षिणी अफ्रीका

भाग ६—अमेरिका—
- १३—उत्तरी अमेरिका
- १४—मध्य „
- १५—वेस्ट इंडीज
- १६—पूर्वी ट्रॉपिकल अमेरिका
- १७—पश्चिमी „ „
- १८—टैम्परेट „

६ भागों में से प्रत्येक एक विशेषज्ञ की देखरेख में रहता है। यह विशेषज्ञ अपने अपने देशों की ओर से नियुक्त रहते हैं। भारत की ओर से अब कुछ समय से कोई नियुक्त नहीं है, और इस कारण कार्य में प्रायः कठिनाइ भी होती है। किंतु सौभाग्यवश श्री० डाक्टर एन० एल० बोर (Dr. N. L. Bor) जो पहले देहरादून वन अनुसंधान-संस्था के वनस्पति विभाग में (Forest Botanist) रह चुके हैं आजकल Keus में सहायक डायरेक्टर हैं तथा सदैव प्रत्येक रूप से सहायता के लिए तत्पर रहते हैं।

"हरबेरियम" के अत्युत्तम उपयोग के लिए अन्य वस्तुएं—हरबेरियम से पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके साथ ही साथ निम्न वस्तुओं का भी उचित रूप से प्रबंध रखा जाए।

१—उद्यान—एक अच्छा सा उद्यान जहाँ नाना प्रकार के पौधे उगाए जा सकें। साधारण पौधों के अतिरिक्त विशेष प्रकार के पौधे जो खुली धूप में अथवा साधारण भूमि में नहीं उग सकते, उनके उगाने का प्रबंध हो जैसे धूप से बचने वाले पौधों के लिए छाया का प्रबंध (Summer House या Fern House), तथा रेतीले सूखी भूमि चाहने वाले पौधों के लिए प्रबन्ध (white House या Glass

House)।

२—पुस्तकालय—जिसमें संस्था-विशेष सम्बन्धी अधिक से अधिक पुस्तकें हों। वर्त्तमान मासिक, पाक्षिक तथा अन्य पत्रिकाएं भी आती हों जिससे संसार में होने वाले अन्वेषण कार्य का व्यौरा मिलता रहे।

म्यूजियम (Museum) में जो पौधे या उनके भाग दबाए नहीं जा सकते, अथवा उन्हें गत्तों पर ठीक प्रकार नहीं लगाया जा सकता उनको संग्रह कर बोतलों में या अन्य रूप से रखा जाए। उनको भी क्रमानुसार अलमारियों में सजा लिया जाता है। अच्छा है यदि उन पर भी वही टिकट नं० डाल दिया जाए जो उस पौधे के टिकट पर था जिसका यह भाग है। ऐसा करने से एक दूसरे का संबन्ध जाना जा सकता है। ऐसे संग्रह में जड़, तना, बड़ी पत्ती, फूल, फल बीज सभी रखे जा सकते हैं। इनके पास ही पास उन वस्तुओं को भी रखना ठीक है जो पौधों से निकलती हों या बनाई जा सकती हों जैसे खसखस घास की जड़ के पास खसखस का पंखा या टट्टी का भाग रख देने से देखने वाले को उन वस्तुओं की उपयोगिता का भी अनुमान हो सकता है।

४—चित्र बनवाने का प्रबंध—पौधों के चित्र व फोटो बनवाने का भी प्रबंध होना आवश्यक है। बहुत से पौधे जो हमारे हरबेरियम में न हों वह यदि कहीं से कुछ दिन के लिए मिल जाते हैं तो उनका चित्र बनवा कर रख लेने से फिर कभी अध्ययन करने में सुविधा होती है।

ऊपर दी हुई सूची से यह आशय नहीं कि इन वस्तुओं के बिना हरबेरियम का कोई लाभ ही नहीं है। सत्य यह है कि पौधों के छोटे से छोटे साधारण संग्रह का भी बहुत मूल्य है। आरंभ में तो कोई भी संस्था बड़ी नहीं बन जाती। प्रत्येक संस्था ने थोड़े से पौधों से ही आरंभ किया होगा और उसी से बढ़कर आज वहां लाखों पौधों का संग्रह हो गया है। इसलिए प्रत्येक कालेज, विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थाओं को चाहिए कि पौधों को एकत्रित करने में रुचि लें तथा उनको उचित रुप से संग्रहित करें। आरंभ में तो १-२ अलमारी, कुछ सौ गत्ते तथा

चित्र - ३
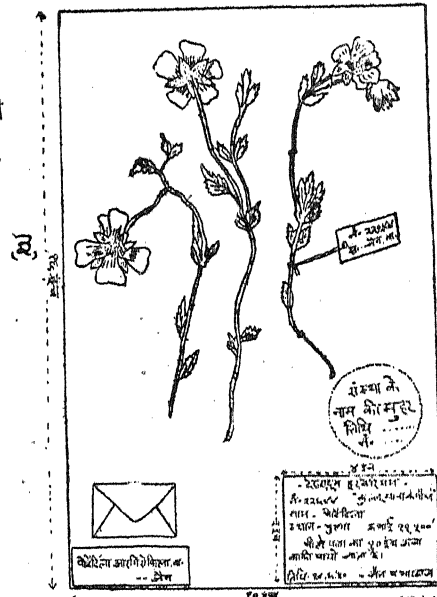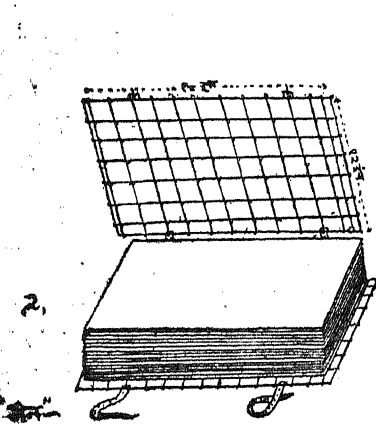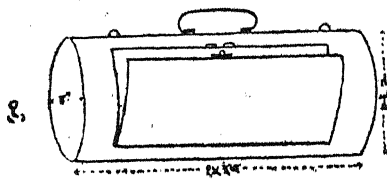
कागज आदि से कार्य चल सकता है और फिर आवश्यक्तानुसार जैसे जैसे कार्य बढ़ता जाए, सामान बढ़ाते जाएं। एक बार इस कार्य को आरंभ करने पर फिर यह अन्यंत रुचिकर प्रतीत होने लगता है। इस कार्य को करने से पहले तो प्रायः पौधों के नाम किसी को याद नहीं होते, परंतु पौधे इकट्ठे करते समय, सुखाने में, औषधि लगाने में, तथा उन्हें गत्तों पर चिपकाते समय बार-बार देखने से ही धीरे-धीरे सैकड़ों पौधों के नाम याद हो जाते हैं और इसी प्रकार बूंद-बूंद कर ज्ञानागार भरता जाता है।

धन्यवाद

इस लेख के लिखने में मुझे श्री मुकुट बिहारी रायजादा, श्री नीराद चौधरी तथा श्री बी० नारायनस्वामी के व्याख्यानों से बहुत सहायता मिली है। श्री कृष्ण मनमोहन वैद ने कुछ उपयोगी परामर्श दिए हैं। श्रीमती सत्या जैन ने विभिन्न लेखों के कुछ भागों का हिंदी अनुवाद किया है। मैं इन सभी का कृतज्ञ हूँ।

—चित्र 'ब' का विवरण—

१—पौधे इकट्ठे करने का विशेष प्रकार का डिब्बा (Vasculum), ढकना थोड़ा खुला हुवा है।

२—मोटे कागजों में पौधे रखने के बाद गट्ठी बना ली गई है। तार के बने हुए प्रेस में दबाने का ढंग दिखाया गया है।

३—एक गत्ता जिस पर पौधा, चिट, टिकट, लिफाफा आदि सब नियत स्थान पर दिखाए गए हैं।

(पृष्ठ २ का शेष)

होता है। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में राशियों की भिन्नता को सिद्धान्त के सूत्र की एकता में बांधने का प्रयास दिखाई पड़ता है।

कला के सम्बन्ध में आने वाला एक और पहलू है, वह है वैज्ञानिक जीवन, वैज्ञानिक प्रसन्न होता है यदि उसके आंकड़े निर्विवाद रूप से प्राप्य हों, तथ्यों और सिद्धान्तों के सतुलन में उसे सुख मिलता है। प्राचीन प्रमाणों का नियंत्रण मानते हुए अपने नए अनुभवों को स्वतंत्रता पूर्वक रखने में, स्थायित्व और परिवर्तन शीलता के बीच संतुलन रखते हुए असत्य की जड़ें उखाड़ने में, उसे एक विचित्र आनन्द आता है। सच्चे वैज्ञानिक को विशुद्ध तर्क और अन्तर्ज्ञान का संतुलन जो आनन्द देता है वह शायद ही किसी महान कलाकार को अपनी सर्वोत्तम कृति देखकर होता है! वैज्ञानिक जीवन में इस सत्य और सुन्दर के साथ शिव का सामञ्जस्य रहता है। वैज्ञानिक कार्य के लिए भी दार्शनिक तथा कलात्मक कार्यों की भाँति साहस धैर्य, निश्छलता, साधुता और उदारता जैसे गुणों का होना परम अनिवार्य है।

सारांश यह कि दर्शन व कला की भाँति विज्ञान का अपना एक सौन्दर्य होता है, जो प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द लेने में सहायक होता है। किन्तु यह न भूलना चाहिए कि विज्ञान के इस अंग की उपयोगिता का लाभ उठाने के लिए, विज्ञान को कल्याणकारी बनाने के लिए एक उदार संस्कृति का होना आवश्यक है।

पारजीवक कीड़े

लेखक—ज्ञान प्रकाश जैन

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, रोग-शत्रु आदि कितनी ही बाधाओं से, पारजीवक कीड़े अपनी रक्षा करने में समर्थ होते हैं, इस बात का ज्ञान या यूं कहा जाय कि उन तुच्छ कीड़ों का जीवन वृत्तान्त हमारे लिए कितना महत्व पूर्ण है, इसका अनुमान हम तब लगा सकते हैं जब हम यह जान लें कि ये कीड़े जानवरों और मनुष्यों को भी चुपके चुपके रोगी बना कर मृत्यु के घाट उतारने में समर्थ होते हैं।

प्रकृति में कितने ही रहस्य छिपे हैं, कितनी विचित्र बातें हैं जिन सब से प्रत्येक मनुष्य परिचित नहीं है। फिर तो ओबिलिया (Obelia) अथवा सी अरचिन (Seaurchin) की जीवन कहानियाँ समझना बड़ा ही कठिन है। सड़क पर चलने वाला मनुष्य तो कीड़े को कीड़ा ही समझता है जो झिल्ली समान, रेंगने वाला और मांस के टुकड़े जैसा होता है। वास्तव में यही शब्द कीड़ा प्राणी संसार में विस्तृत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी बनावट और आदत बड़ी ही निराली है केचवा। (Eorthworm), चपेट कीड़े (Plat worms)गोलकर कीड़े (Runod worms), डोरेदार कीड़े फीते समान कीड़े (Tape worms) जो अधिकतर परोपकारी हैं अथवा उपजीवी हैं यही कीड़े भद्दे भी हैं और सुन्दर भी हैं।

परोपजीवी कीड़े का जीवन अनेकों कारणों के मेल का फल है। पारजीवक कीड़ा कितनी ही कठिन घटनाओं से अपने जीवन के लिए प्रकृति से लड़ता है। आज हम उसी एक कीड़े को अपनी इस सुन्दर कहानी का नायक चुनते हैं। लिवर फ्लूक (Liver fluke) को ही देखिये जो पारजीवक कीड़े हैं और जिससे भेड़ में जिगर सड़के की बीमारी हो जाती है। इसकी बनावट पिपल की पत्ती से मिलती है परन्तु आकार में बहुत छोटा होता है इसकी प्रौढ़ अवस्था पालतू पशुओं के शरीर के भीतर व्यतीत होती है क्योंकि हम पहले बता चुके हैं कि यह एक परोपजीवी कीड़ा है। प्रायः यह भेड़, गायें अथवा घोड़े के पेट में बिलकुल शान्ति से चेष्टा रहित रहता है इसके शरीर के सामने के भाग में दो चूषक होते हैं जिनमें से एक से यह अपने स्थान पर स्थिर रहता है ताकि भेड़ के पेट की हलचल इसे रोंध न डाले।

जब निवास स्थान भेड़ या दूसरे पशुओं की पेट की नली है तो खाना तो पका पकाया ही मिल जाता है। इसके लिए हमारे नायक को कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। केवल अपने सामने वाले चूषक से चूस भर लेता है। एक कोष्ठक जीव के समान जैसे अमीबा (Amaeba) या पारामीशियम (Paramoecium) जो निर्यरक पदार्थों को बाहर निकाल देते हैं, इसमें भी एक इसी प्रकार की प्रणाली होती है जिसके द्वारा Liver fluke अपने अधिक खाए हुए भोजन को बाहर निकाल देता है।

सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस छोटे से कीड़े में दोनों लिंग पाए जाते हैं। डिम्भकोश और शुक्रग्रन्थि दोनों साथ साथ और एक ही समय पर उत्पन्न होती है। हाईड्रा (Hydra) को ही देखिये जिसमें दोनों लिंग पाए जाते हैं और जिसको माता व पिता बनने का भी सौभाग्य प्राप्त है परन्तु यह दोनों लिंग समय के अन्तर से पैदा होते हैं अर्थात यदि पहले डिम्भकोश प्रतीत होता है तो शुक्रग्रन्थि डिम्भकोष के नष्ट हो जाने पर ही प्रतीत होगी। हाईड्रा (Hydra) अतएव द्विलिंगिक कीड़ा (Hermaphrodite) नहीं कहा जा सकता।

लिवर फिल्लुक (Livr fluke) में दो विशेष प्रणालियाँ हैं :—

(१) डिम्भकोष जननेंद्रिय में चार मुख्य भाग हैं:— एक डिम्भकोष जो बहुत ही छोटे आकार का होता है और यहाँ पर अन्डे उत्पन्न होते हैं, एक बड़ी सी ग्रन्थि जिसमें कच्चे बच्चे के खाने के लिए पदार्थ बनता है, एक और दूसरी छोटी सी ग्रन्थि होती है जहाँ पर अन्डे के लिए (Shell) खोल तैयार रहता है। यह सब डिम्भन भी में एकत्रित हो जाते हैं।

शुक्र ग्रन्थि भाग में दो बड़ी बड़ी ग्रन्थि होती हैं। जिन से शुक्र जन्तु निकलते हैं। अन्डे खोल (Shell) के बनने से पूर्व ही गर्भाधान कर लेते हैं। अतएव शुक्र ग्रन्थि एक नली द्वारा जननेंद्रिय में पहुँच कर अन्डों का गर्भाधान कर देती है और फिर अन्डे गर्भावस्था में जरायु (Uterus) में आकर एकत्रित हो जाते हैं।

लिवर फिल्लुक (Liver fluke) मानों एक छोटा सा कारखाना है जहाँ पर यह प्रकृति का नियम स्वयंही पालनहो रहा है। अन्डे का गर्भाधान स्वयं ही हो जाता है। अपने वंश की वृद्धि का कितना अद्भुत उपाय है। यदि एक ही कोड़े में दोनों लिंग साथ साथ न होते तो शायद यह सब कार्य बड़ा कठिन हो जाता और इस कीड़े की वृद्धि कभी भी न हो पाती और यहीं पर यह अदृश्य हो जाता। अन्डे गर्भाधान के पश्चात् पोषिता (Host) की पेट की नली में कीड़े से बाहर निकलना आरम्भ कर देते हैं और फिर पोषिता की त्वचा के साथ बाहर लिकल जाते हैं।

अन्डे का खोल बड़ा ही मोटा होता है जिससे कच्चे बच्चे को कोई हानि पहुँचने का डर नहीं रहता अन्डे बाहर खेतों में बिखर जाते हैं जहाँ पर इसमें बड़े ही आवश्यक परिवर्तन होने शुरू हो जाते हैं और अन्डे में से कीड़ा का पहला रूप निकल आता है।

जहाँ पर अन्डे फूटें, वहाँ पर नमी का होना बहुत ही आवश्यक है, इसलिए अन्डों का किसी नाली या खाई में पड़ना बहुत ही अनुकूल होता है। एक ही बार में कीड़ा लाखों की संख्या में अन्डे देता है, इसलिए सब ही के नष्ट हो जाने की कम सम्भावना रहती है, कुछ तो नमी वाले स्थान पर किसी न किसी तरह पहुँच ही जाते हैं। अन्डे की एक ओर से टोपी सी उतर आती है और उस में से कीड़े का पहला रूप बाहर निकल आता है जो इतना छोटा होता है कि केवल सूक्ष्म यंत्र द्वारा ही देखा जा सकता है।

कीड़े के इस पहले रूप को मिरासीडिया (Miracidia) कहते हैं। यह बहुत देर तक जीवित नहीं रह सकता और घोंघो (Snails) पर परोपजीवी बन कर रहता है। घोंघा (Snail) भी एक निश्चित वंश का होना चाहिए नहीं तो मिरासीडियाँ (Miracidia) का विकास ही नहीं होगा। मिरासीडिया (Miracidia) एक कोष्ठक के समान है जो पानी में बहुत ही तेजी से छोटे छोटे बालों द्वारा तैरता है ताकि इसको अपना निश्चित आकार अर्थात घोंघा (Snail) मिल जाए।

अगर प्रकृति में निश्चित वंश का घोंघा उस स्थान पर न हो जहाँ पर कीड़े के अन्डे निकल रहे हों तो इसकी जीवन लीला का यहीं अन्त हो जाता। कीड़े का पहला रूप अगर इतना भाग्यशाली है कि वह अपने दूसरे पोषिता (Host) को पा जाता है तो यह छेद कर घोघे (Snail) के शरीर में घुसने लगता है। लाखों और सैकड़ों अन्डे में से शायद एक या दो ही जीवित रह पाते हैं। घोंघे के शरीर में पहुँच कर मिरासिडिया (Miracidia) कुछ आराम करता है क्योंकि शायद वह बहुत परिश्रम करने के पश्चात यहाँ तक पहुँचा है। बेचारा घोंघा (Snail) दिन पर दिन निर्बल होता जाता है और मिरासिडिया (Miracidia) एक दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह दूसरा रूप रेडिया (Redia) कहलाता है।

रेडिया (Redia) कीड़ा का दूसरा रूप है जो न चल सकता है और न रेंग सकता है। एक छोटा सा मुँह और पेट की नली भी होतें है जिसके द्वारा

घोंघों को खाता है। रेडियो (Redia) के अपने ही शरीर में बहुत से रोहिकाश्य (germ cells) उत्पन्न होने लगते हैं। यही रोहिकाश्य या तो तीसरे रूप में बदल जाती है और यदि वातावरण अनुकूल नहीं है तो रेडिया में फिर से परिवर्तित हो जाती है। बात बड़ी विचित्र है। कीड़े का तीसरा रूप सरकेरीया (cercaria) रेडियो (Redia) के शरीर से बाहर निकल कर घोंघे को भी छोड़ने लगता है।

सरकेरीया (cerceria) रेडियो (Redia) और मिरासिडिया (Miracidia) तीनों रूप बड़े ही विचित्र और एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होते हैं। सरकेरिया(cerceria)का शरीर और दिल समान होता है और एक छोटी सी दुम भी होती है। शरीर में चूषक एक दूसरे के आमने सामने होते हैं। इसकी चेष्टा बड़ी ही तेज है। रेडिया (Redia) से बाहर होकर सरकेरिया (cercaria) घोंघे (Snail) से भी बाहर निकलने लगते हैं और पानी में बड़ी तेजी से तैरते हैं। यह कुछ कुछ शुक्र जन्तु समान होते हैं।

सरकेरिया (cercaria) तैरते हैं और घास पत्तियों पर ऊपर पौदों के तनों पर पहुँच जाते हैं। अचानक ही सरकेरिया (cercaria) की दुम शरीर से अलग हो जाती है केवल शरीर ही घास की पत्ती पर पड़ा रह जाता है। अब इसकी चेष्टा पूर्णतया समाप्त हो जाती है। शरीर से एक प्रकार का रस निकलता है जो अमीबा (Ameaba) की तरह इसके (सरकेरिया) के चारों ओर ढक्कन की तरह बन जाता है। यह ढक्कन सरकेरिया (cercaria) की प्रतिकूल समय में रक्षा करता है, कहीं अचानक मृत्यु न हो जाए।

भेड़ आती है और अभाग्य से घास आदि को चरती है जिस पर सरकेरिया (cercaria) ढकन में छिपा पड़ा है। भेड़ घास खाती है और सरकेरिया भेड़ के पेट में प्रवेश कर जाता है जहाँ पर भेड़ के आँतों में से निकलने वाला रस सरकेरिया (cetcaria) के ढकन को तोड़ डालता है और कीड़ा स्वयं निकल आता है। इस तरह रोग संसर्ग हो जाता है।

यह सब कुछ कितना विचित्र है और यह जान कर कितना आश्चर्य होता है कि एक घृणित कीड़े लिवर फिलूक (Livur fluke) ने कैसे जीव धारण किया। इसका उत्तर देना बड़ा ही कठिन है।

इस परोपजीवी कीड़े से पशुओं को बड़ी हानि होती है और रोग के बढ़ने पर मृत्यु हो जाती है। इस रोग को पाईप स्टेम (Pipe stem) कहते हैं। इस रोग से पशु बेकार हो जाता है और सड़कर मरता हैं। प्रत्येक वर्ष इसी रोग से सैकड़ों भेड़ें बीमार होती हैं और मरती हैं। भेड़ों के अतिरिक्त यह कीड़ा ऊट, हाथी, भैंसा, कुत्ता, घोड़ा इत्यादि पशुओं में भी पाया गया है मनुष्य को भी इससे रोग संचार कुछ देशों में जैसे अरजनटाईना (Argen tina), क्युबा (cuba) चाइना (china) रूस (U.S.S.R) फ्रान्स(frances), इटली (Italy) आदि देशों में हुआ है।

मनुष्य को इस रोग का ससर्ग अधिकतर द्रव पदार्थ के सेवन से होता है सिंगाड़ा (water chestnut) या दूसरी पानी में पैदा होने वाली वस्तुएं जिनके द्वारा रोग मनुष्य को पकड़ता है। रोग आरंभ में कुछ पेट के दर्द से आरम्भ होता है और जब बढ़ने लगता हैं तो डाइरीया (Diarrhea) और बाद में कोंसटीपेसन (constipation) शुरू हो जाता है। रोगी इस दशा में कुछ मास तक रहता है और बहुत कमजोर होजाता है। डाइरिया (Diarrhea) बढ़ने पर श्वच का रंग पीला पड़ जाता है जिसमें केवल खाया हुआ खाना ही निकलता है और बहुत गध आने लगती है। मुँह और पेट पर सूजन (Edenm) हो जाती है।

बारलो (Barlow) का कहना है कि रोग के बढ़ जाने पर छाती पर भी असर पड़ता है बच्चों में तो पेट बहुत ही अधिक बढ़ आता है और पेट दर्द बहुत तेज होता है। यद्यपि भूख बहुत लगती है परन्तु उल्टी हो जाती है। रोग के पुराने पड़ जाने पर खाल

शेष १५वें पृष्ठ पर

भोजन में न्यूनतम तत्वों की आवश्यकता

लेखक—रमेश चन्द्र कपूर

वर्तमान विज्ञान की मानव कल्याणकारी खोजों के एक पक्ष को लेकर प्रस्तुत लेख लिखा गया है।

हमारे भोजन में बहुत से खनिज तत्व पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। वैज्ञानिकों को इन तत्वों को भोजन में उपस्थिति का ज्ञान तो बहुत समय से था परन्तु इनकी उपयोगिता के विषय के अनुसंधान इसी शताब्दि में प्रारम्भ हुए हैं। प्रधान तत्व जैसे लोहा, फासफोरस, कैलसियम इत्यादि का विवरण पहले एक लेख में किया जा चुका है। आज हम उन न्यून तत्वों की चर्चा करेंगे जो हमारे शरीर के लिए आवश्यक है और जिनकी कमी से हमारे तथा और जानवरों के शरीर में रोग-सूचक चिन्ह प्रकट होने लगते हैं।

न्यून तत्वों की उपयोगिता के प्रमाण विशेषकर मनुष्यों में पाना अत्यंत ही दुष्कर काय है। इनके प्रमाण तथा अनुसंधान प्रायः पालतू जानवरों पर ही किये जाते हैं। इन अनुसंधानों में अधिकतर चूहों का ही प्रयोग होता है। इसलिए इनमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन जानवरों पर किए गये अनुसंधानों का परिणाम मनुष्यों पर भी ठीक उतरना आवश्यक है। यह भी हो सकता है कि जो तत्व चूहों के लिए आवश्यक होता है वह मनुष्यों के लिए सर्वथा अनावश्यक हो। परन्तु यदि हमें कुछ रोग-सूचक चिन्ह किसी मनुष्य में दिखाई दे जो किसी तत्व की कमी के कारण किसी जानवर में पैदा किए गये हों और यदि वह चिन्ह उसी तत्व के देने से मनुष्य ठीक हो जाए तो बहुत सम्भव हो सकता है कि मनुष्य को भी उसी तत्व की आवश्यकता है।

दूसरी कठिनाई मनुष्यों के लिए यह होती है कि हम उन पर उसी प्रकार प्रयोग नहीं कर सकते जिस प्रकार कि जानवरों पर कर सकते है क्योंकि विरला ही मनुष्य बहुत समय तक ऐसे भोजन पर रहने को तैयार होगा जिसमें किसी विशेष तत्व की कमी हो और जिससे रोग सूचक चिन्ह प्रकट हो सकते हैं।

इन प्रयोगों में कुछ जानवर तो मर भी सकते हैं परन्तु मनुष्यों पर तो कोई वैज्ञानिक यह खतरा लेने को तैयार न होगा।

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी बहुत से प्रयोग किए गये हैं जिनसे हमें बहुत से ऐसे तत्वों की आवश्यकता का प्रमाण मिलता है जो हमारे शरीर तथा भोजन में बहुत ही न्यून मात्रा में रहते हैं। इनकी इस न्यून मात्रा में कुछ भी कमी होने के बुरे परिणाम प्रकट होता है और इन तत्वों के भोजन में मिलते ही ही वह चिन्ह गायब हो जाते हैं।

यह प्रायः देखा गया था कि यदि चूहे केवल दूध या दूध और Pure carbohydrate भोजन पर रखे जांए तो वह कुछ समय बाद मर जाते थे। इनके साथ सब प्रकार के विटामिन मिलाने पर भी कुछ लाभ न प्रतीत होता था। शीघ्र ही यह निश्चित रूप से प्रमाणित हुआ कि उन चूहों में रक्तलोतिन की कमी हो जाने के कारण उनकी यह दशा हुई थी। रक्त की कमी प्रायः लोहे के योगिकों को भोजन के साथ देने से दूर हो जाती है। परन्तु यहाँ पर देखा गया कि लोहे के योगिक पदार्थ यदि शुद्ध अवस्था में उन चूहों

को दिये गये तो उनकी दशा में कुछ भी सुधार न हुआ। परन्तु गुर्दे का थोड़ा अंश भोजन के साथ देने से उनकी दशा बहुत जल्द ही सुधर गई। इस पर वैज्ञानिको की दृष्टि गुर्दे के अन्दर के पदार्थ पर गई। उसके जलाने के पश्चात बचे हुए खनिज पदार्थ को किसी अम्ल में घोल कर देने से भी लाभ हुआ। उन पदार्थ पर किए हुए अन्वेषणों से पता लगा कि उस राखमे ताँबा बहुत ही न्यून मात्रा में था और वही लाभ का कारण था इससे यह भी पता लगा कि जो लोहे के यौगिग पदार्थ शुद्ध अवस्था में नहीं थे उनसे लाभ न्यून अवस्था में ताँबे के कारण मालूम पड़ता था।

बाद के अन्वेषणों से पता लगा कि ताँबा स्वयम् कोई लाभ नहीं पहुँचता था परन्तु वह लोहे की उपयोगिता को बढ़ाने के काम आता है। बच्चों के गुर्दे में लोहा कुछ मात्रा में जमा रहता है जिसे वह उस समय प्रयोग कर सकते हैं जब भोजन में लोहे की कमी है। परन्तु इस जमा मात्रा का उपयोग तभी हो सकता है जब कि शरीर में थोड़ा सा ताँबा भी हो। मनुष्यों के इलाजों में भी देखा गया है कि रक्त की कमी (anaema) का इलाज लोहे तथा ताँबा सम्मिलित भोजन से अधिक उपयोगी होता है।

मैगनिज भी एक ऐसा तत्व है जो हमारे तथा जानवरों के शरीर में बहुत न्यून भाग में रहता है। चूहों पर किये गये अन्वेषणों से प्रतीत होता है कि यदि उनके भोजन से मैगनीज बिलकुल निकाल दिया जाय तो उनकी उत्पत्ति करने की शक्ति जाती रहती है। कोबेल्ट भी एक अत्यंत आवश्यक तत्व है। आस्टैलिया तथा न्यूजीलैंड में यह देखा गया है कि जिस भूमि में कोवैल्ट की मात्रा बहुत कम है वहाँ की घास पर चरने वाली भेड़ें रोग ग्रस्त हो जाती थी और शीघ ही उनका अंत भी हो जाता था। पहले लोगों का यह बिचार था कि यह रोग लोहे की कमी के कारण या एक प्रकार के जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता था परन्तु बहुत खोज के बाद पता लगा कि यदि उन भेड़ों को बहुत ही न्यून मात्रा में कोबेल्ट देने से वह रोग से बिलकुल ठीक हो जाती थीं। यदि उस भूमि में भी थोड़ा सा कौबेल्ट मिला दिया जाय तो भी उसी प्रकार का लाभ देखने में आता था। इसके विपरीत चूहों पर किये गये अन्वेषणों से पता लगता है कि उनको कोबेल्ट की कोई आवश्वकता नहीं होती और यदि उनके भोजन में कोबेल्ट मिला भी दिया जाय तो उन्हें उससे हानि होती है।

इस प्रकार के अन्वेषणों में बहुत कठिनता का सामना करना पड़ता है क्योंकि भोजन से किसी तत्व का पूर्णतया निकालना एक बहुत कठिन कार्य है। इन दिनों इस दिशा की ओर बहुत कार्य हो रहा है। और शीघ्र ही हमें कुछ नए तत्वो की न्यून मात्रा में उपयोगिता का पता लगेगा।

(पृष्ट १६ का शेष)

खरखरी और सूखी हो जाती है। चायना में (china) मुख्यकर चेंगकियांग (chekiang) और क्वांगटंग (Kwangtung) के प्रदेशों में यह रोग बहुतायत से पाया जाता है।

इस रोग के कुछ उपाय करने बहुत ही आवश्यक हैं। इसलिए जिन प्रदेशों में यह रोग अधिकता से फैलता है वहाँ पर पानी उबाल कर पीना चाहिए और सिगाड़ा (chestnnt) का खाना रोकना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ ओषधियों का सेवन भी बहुत आवश्यक है।

परमाणु-रचना

लेखक—श्री जगपति चतुर्वेदी

जगत के निर्मायक मूल तत्वों की रचना अत्यन्त क्षीणकाय परमाणु नामधारी अदृश्य कणों से हुई है, इन धनाणु और ऋणाणु रूपी सूक्ष्म ईंटों से संसार का विशाल भवन निर्मित हुआ है, विज्ञान की इन खोजों में सृष्टिनिर्माण के धार्मिक सिद्धान्त पर कुठाराघात करके हमें अविश्वसनीय को विश्वास और आशा भरी दृष्टि से देखने को बाध्य कर दिया है। सूक्ष्म-कणों की रचना का यह केवल प्रारंभिक वर्णन सरल एवं ग्राह्य है।

किसी भी छोटे या बड़े विचित्र यंत्र या विस्मय पूर्वक होने वाली घटना को देखकर उस का आधार उसके बनने या होने की मूल क्रिया वा मोटी युक्ति जानने की हमारे हृदय में स्वाभाविक इच्छा होती है। यह विश्व कितना वृहद्, कितना जटिल, कितना पेचीदा महा यंत्र या दार्शनिकों के शब्द में महा घटना है, इसका रहस्य जानने का प्रयत्न हमारा दुस्साहस ही कहा जा सकता है, परन्तु मानव-हृदय की जिज्ञासा कुछ जानने की प्रेरणा उसे प्रयत्नशील होने में सदा ही प्रवृत्त करती आई है। विज्ञान के बलिष्ठ आधार के बिना भी दार्शनिकों ने संसार के संबंध में अपनी सृष्टि संहिता बना अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन कर संसार के अस्तित्व और सृजन का रहस्य खोजने का प्रयत्न किया है। हमें न तो उन बारीक गुत्थियों सहित दार्शनिक माथापच्ची का कुछ ज्ञान ही है और न इन्हें यहाँ चर्चा करने की कोई विशेष आवश्यकता है। हम तो वैज्ञानिकों के पग चिन्ह-पथ से ही चल कर कुछ उल्लेख करने का प्रयत्न करेंगे जो आज विज्ञान-जगत में प्रत्यक्ष प्रयोगों वा उन्हीं के अनुकूल बनी कल्पनाओं वा सिद्धांतों पर आधारित होकर मान्य हैं।

जगत के निर्मायक मूल-पदार्थों अर्थात तत्वों की रचना अत्यन्त क्षीणकाय 'परमाणु' नामधारी अदृश्य किनकियों से मानी जाती है। विज्ञान की प्रबल युक्तियां उन अदृश्य परमाणुओं के आकार-प्रकार, भेद-प्रभेद के साथ उनकी रचना की भी व्याख्या करने का प्रयत्न करती हैं। यह केवल आज तक की खोजों का परिणाम हैं। यदि विज्ञान ने कुछ और आगे अधिक बारीक खोजें कर अपनी कुछ पुरानी खोजों को भ्रम पूर्ण वा मिथ्या बतलाया तो उनके अनुसार हम अपने ज्ञान का समय समय शोधन करते रह सकते हैं किंतु बिल्कुल नई दिशा में सर्वथा नए सिद्धान्तों की खोजें सदा नहीं हो सकतीं। यह तो विज्ञान के खोजों के आधार की प्रबलता और प्रकृति से रहस्य की गहराई वा सूक्ष्मता के बीच रस्साकशी, द्वन्द्व युद्ध का प्रश्न सा है। मनुष्य अपने विवेक को नित्य ही अधिक विशाल, अधिक सूक्ष्म तह तक जाने वाला बनाता जाता है। इसलिए संभव हो सकता है कि मनुष्य किसी दिन अपने प्रयोगों, खोजों में इतना सफल हो जाय कि प्रकृति का कोई रहस्य गुप्त न रह जाय। वह समय मनुष्य की संसार में सब से अधिक सफलता का होगा और वह सृष्टिकर्त्ता भगवान के समकक्ष शक्ति रखता हुआ दिखाई पड़ सकेगा।

आज की खोजें हमें परमाणुओं को एक विश्व के रूप में शक्ति के भंडार से पूर्ण वस्तु बताती हैं। विश्व में एक वृहद् सूर्य केन्द्र सा है और उपग्रह उसके आकर्षण से खिंचे हुए रह कर आकाश में उसके चारों ओर तीव्र गति से अपनी धुरी पर लट्टू की तरह चक्कर खाते रह कर परिक्रमा करते रहते हैं। उन का यह परिक्रमा का मार्ग गोला या अंडाकार होता है। यह ग्रहों का परिक्रमा-मार्ग उन ग्रहों की 'कक्षा' कहलाता है। हम जानते हैं कि पृथ्वी एक दिन में स्वयं

अपना पूरा चक्कर खाकर चलती हुई एक वर्ष में सूर्य की परिक्रमा कर लेती है। पृथ्वी की तरह और भी कई ग्रह भिन्न भिन्न दूरी पर सूर्य की परिक्रमा करते देखे जाते हैं। ये सब ग्रह सूर्य के वंश के माने जाते हैं और एक शब्द में सूर्यवंश कहलाते हैं। इन सब को सौर मंडल भी कहते हैं

इसी प्रकार सृष्टि का प्रत्येक परमाणु छोटे या बड़े सूर्य-लोक के रूप में है जिसमें बीच का सूर्य उसका केन्द्र होता है और उसमें चारों ओर परिक्रमा करने वाले ग्रह उसकी अनेक गोलाइयों या परिधियों पर घूमने वाले पदार्थ या विन्दु। परिधि पर ग्रहों के सदृश तीव्र गति से परिक्रमा करने वाले पदार्थ बिजली के प्रभाव-युक्त कण माने जाते हैं जिनको ऋणाणु नाम दिया गया है और सूर्य के सदृश मध्य का केन्द्र धनाणु नाम से ज्ञात है। यह महान आश्चर्य की बात है कि एक परमाणु के बनाने में बीच के केन्द्र 'धनाणु' और उसके चारों ओर अधिक दूरी पर सदा नाचने वाले कण, ऋणाणु ही केवल ठोस आकार के पदार्थ हैं और इसके मध्य का स्थान शून्य या सर्वथा खाली होता है। अतएव धनाणु और ऋणाणु रूप में परमाणु के आकार का एक लाखवाँ भाग ही ठोस होता है और शेष सारा अंग खाली स्थान से घिरा होता है।

परमाणु की इस प्रकार विशेष रूप की रचना का यह अर्थ है कि विश्व का यह महान आकार ठोस रूप में दिखाई पड़ने पर भी वास्तव में खाली स्थान से अधिक घिरा है और वास्तविक ठोसपन अत्यधिक न्यून है। यदि किसी प्रकार परमाणु बाहरी आवरण या परिधियों पर घूमने वाले ऋणाणु से मुक्त किया जा सकें तो इस समस्त पृथ्वी का आकार एक नारंगी के बराबर हो जाय।

परमाणुओं के मुख्य दो भाग धनाणु और ऋणाणु बिजली की शक्तिमय होते हैं या यों कह सकते हैं कि बिजली की शक्ति के वे ही उद्गम हैं। बिजली दो प्रकार की होती है, एक का नाम धन या धनात्मक और दूसरी का नाम ऋणात्मक है किन्तु ये नाम धन या ऋण नाम से कुछ भ्रम सा पैदा करते हैं। वे दो प्रकार की होती हैं अतएव उनका कोई भी दो नाम रक्खा जा सकता है। उसमें यह एक विशेषता होती है कि समान प्रकार की बिजली एक दूसरे को दूर ढकेलती है किन्तु असमान प्रकार की एक दूसरे की ओर खिंचती हैं। अर्थात 'धन' नामक वाली बिजली की शक्ति से संचारित एक वस्तु वैसी ही धनात्मक शक्ति की बिजली से संचारित दूसरे पदार्थ के निकट लाई जाय तो वे एक दूसरे से दूर हटेंगी। इसी प्रकार ऋणात्मक विद्युत शक्ति से संचारित एक पदार्थ ऋणात्मक विद्युत शक्ति से संचारित पदार्थ के निकट लाने पर, वे भी एक दूसरे से दूर हटेंगे। किन्तु धनात्मक बिजली से संचारित एक पदार्थ ऋणात्मक बिजली से संचारित दूसरे पदार्थ के निकट लाया जाय तो वे एक दूसरे की ओर खिचेंगे। परमाणुओं में धनाणु धनात्मक बिजली से युक्त होता है और ऋणाणु ऋणात्मक बिजली से युक्त होता है। इन दोनों में एक शक्ति की ही बिजली होती है।

परमाणु के अंदर धनाणु में धनात्मक विद्युत शक्ति है और बाहर गोलाई में घूमने के मार्ग पर ऋणाणु में ऋणात्मक विद्युत शक्ति है अतएव वे असमान गुणों वाली बिजलियों से शक्ति युक्त होने के कारण एक दूसरे की ओर खिंचेगे किन्तु ऋणाणु तीव्र गति से चक्कर लगाते रहने के कारण अपने मार्ग पर ही चारों ओर नाचता रह जाता है और धनाणु में मिल नहीं जाता है।

संसार में बड़े पदार्थों में हमें बिजली तीन अवस्था में दिखाई पड़ सकती है। एक तो यह है कि धनात्मक बिजली का संचार अधिक हो, दूसरे यह है कि ऋणात्मक बिजली का संचार अधिक हो, तीसरे यह है कि उनमें धनात्मक और ऋणात्मक बिजली समान हो जिससे वे उदासीन रूप में जान पड़ें। हम एक साधारण प्रयोग कर सकते हैं। चमड़ा का एक टुकड़ा ले लीजिए उसे अपनी बाँह पर के कपड़े से रगड़िए। इस टुकड़े के पास यदि कागज के टुकड़े ले जाए जांय तो वह अपनी ओर खींचेगा। कपड़े की

रगड़ से या रगड़े में विद्युत-सञ्चार हो जाने से दूसरी वस्तु के लिए आकर्षण पैदा होता है। वर्षा ऋतु में बादल और भूतल में विपरीत प्रकार की बिजलियों का सञ्चार हो गया रहता है अतएव आकाश से पृथ्वी की ओर बिजली गिरती दिखाई पड़ती है। किसी प्रकार की बिजली का सञ्चार न होने पर साधारण वस्तुएँ साधारण स्थिति में उदासीन या शान्त रूप में रहती हैं।

उदजन (हाइड्रोजन) का परमाणु सब से छोटा और सब से सरल नमूने का परमाणु है। इस का परमाणु केन्द्र एक धनाणु होता है और उसके चारों ओर केवल एक ऋणाणु परिक्रमा करता रहता है। इसके धनाणु में धनात्मक विद्युत्शक्ति का बल एक माना जाता है, उसी प्रकार उसके ऋणाणु में ऋणात्मक विद्युत्शक्ति का बल भी एक माना जाता है यदि किसी प्रकार इसका ऋणाणु पृथक हो जाय तो धनाणु में एक शक्ति धनात्मक बिजली का सञ्चार माना जायगा

उदजन के बाद दूसरा परमाणु हिमजन (हिलियम) दो धनाणु का परमाणु-केन्द्र रखता है और बाहर गोलाई में दो ही ऋणाणु उसकी परिक्रमा करते रहते हैं। इसके परमाणु केन्द्र में दो धनात्मक बिजली का बल होता है और ऋणाणुओं में दो ऋणात्मक बिजली की शक्ति। इसी प्रकार ऊपर के क्रम में परमाणु-केन्द्र में धनाणु एक एक संख्या में बढ़ते जाते हैं और साथ ही उतनी ही संख्या में ऋणाणु भी उन परमाणुओं के धनाणु या परमाणु-केन्द्र की परिक्रमा करते रहते हैं। इन में धनाणुओं और ऋणाणुओं की संख्या के बराबर उनमें क्रमशः उतने बल की धनात्मक और ऋणात्मक बिजली होती है। उदाहरणार्थ ओषजन वायव्य (आक्सिजन गैस) में परमाणु में ८ धनाणु और ८ ऋणाणु होते है जिन में आठ आठ धनात्मक और ऋणात्मक बिजली की शक्ति होती है। गन्धक के परमाणु में १६ धनाणु और १६ ऋणाणु; लोहा के परमाणु में २६ धनाणु और २६ ऋणाणु; ताँबा के परमाणु में २९ धनाणु और २९ ऋणाणु; चाँदी के परमाणु में ४७ धनाणु तथा ४७ ऋणाणु; सोना के परमाणु में ७९ और पारा के परमाणु में ८० धनाणु और ऋणाणु होते हैं इसी प्रकार सीसा धातु के परमाणु में ८२ धनाणु और ८२ ऋणाणु तथा रश्मिन् (रेडियम) तथा यूरेनियम (पिनाकम्) के परमाणुओं में क्रमशः ८८ और ९२ धनाणु तथा ऋणाणु होते हैं। इन सब परमाणुओं के धनाणु और ऋणाणु में उनकी संख्या के अनुसार धनात्मक या ऋणात्मक बिजली होती है किन्तु इन सब परमाणुओं में केवल उदजन अर्थात पहले और सबसे सरल रचना वाले परमाणु को छोड़ कर परमाणु केन्द्र में धनाणुओं के अतिरिक्त कुछ और उदासीन या शिथिल कण होते हैं जो एक धनाणु और एक ऋणाणु से संयुक्त होकर बने हुए होने के कारण अपनी बिजली की शक्ति सुप्त किए रहते हैं। इन कारण परमाणु के धनाणुओं में इन सुप्ताणुओं के (न्यूट्रौन) के कारण बिजली की शक्ति में तो अंतर नहीं होता किन्तु परमाणुओं की मात्रा या भार अधिक अवश्य होता है।

परमाणु के दो अंग धनाणु और ऋणाणु बराबर शक्ति की बिजली रखते हैं अतएव यह अनुमान किया जाना चाहिए कि उनका आकार, विस्तार और तोल बराबर होगा किन्तु इनमें घोर विषमता है। ऋणाणु को धनाणु की अपेक्षा इतना हल्का पाया जाता है कि परमाणुओं के तोल में यदि उसकी गिनती बिल्कुल भूल जाइ जाय तो कोई अंतर नहीं पड़ता। धनाणु उसकी अपेक्षा १८५० गुना भारी होता है अतएव इतने भारी भरकम अंग के कारण धनाणु एक धनी सेठ की तरह अपना गद्दी छोड़ कर शीघ्र उठना बैठना नहीं कर सकता और उसके स्थान पर ऋणाणु ही अत्यन्त हल्का अंग होने के कारण तीव्र वेग से गति करता, स्थान बदलता व बरबस घर से भगाया जाता दिखाई पड़ता है। प्रकृति ने एक ही परिवार के एक अंग को इतना भारी भरकम और दूसरे का इतना अधिक क्षीण शरीर का क्यों बनाया, यह नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना तो अवश्य है कि ऋणाणु के

शरीर की क्षीणता एक प्रकार से उसकी तीव्र गतिशीलता के ही लिए जान बूझकर बनाई जान पड़ती है। ऋणाणुओं के तीव्र वेग और क्षण मात्र में ही वेग की स्थिरता वा स्थिरता से वेग में अविलंब आ सकने की क्षमता और बहुत ही प्रबल तथा अत्यधिक दूरी तक उसकी तत्काल पहुँच वा अपनी भारी शक्ति से पार्थिव जगत के पदार्थों को हिला कर दें देने तथा अपने प्रबल पराक्रम से उनमें तत्काल भयंकर कायापलट कर देने वा उनमें भयंकर शक्ति भर देने वा उनकी प्रथम अर्जित भारी शक्ति को क्षण मात्र में ही आहृत कर लेने की क्षमता हमें अकथनीय, अनहोनी, अविश्वसनीय, अघट घटना भले ही मालूम हो, किन्तु विज्ञान सिद्ध कर दिखाता है कि ये घटनाएं क्षीणकाय ऋणाणु की प्रबल शक्ति का प्रसाद मात्र हैं।

ये परमाणु के हीन अंग किन्तु अपूर्व शक्ति के पुंज ऋणाणु वैज्ञानिकों की दृष्टि में साक्षात् बिजली ही हैं। इनका नाम सूक्ष्मतम बिजली का कण रखना अनुचित नहीं कहा जा सकता। वे संसार की सबसे छोटे आकार की वस्तु होने पर भी अगाध शक्तिकोष हैं। वे अधिक से अधिक तीव्र गति से चल सकती हैं। एक सेकंड से भी कम में पूरे भूमंडल के चारों ओर सात बार चक्कर मार आ सकती हैं और इतनी ही अकल्पनीय तीव्र गति से आगे या पीछे दौड़ लगा आ सकती हैं। ऋणाणुओं की अपेक्षा धनाणु भी कम विचित्र नहीं होते।

उदजन के एक ही धनाणु और एक ऋणाणु से बने होने के कारण इसे सबसे सरल और प्रथम परमाणु कहा जाता है। इसके तोल को एक या इकाई मान कर दूसरे परमाणुओं को तोलने से हमें उनके तोल को साधारण संख्या में प्रकट करने में सुभीता होता है जिसका अर्थ उदजन (हाइड्रोजन) के तोल का उतना गुना होता है। इस प्रकार द्वितीय परमाणु हिमजन का तोल ४ यह प्रकट करता है कि वह उदजन के परमाणु का चौगुना है। हम यह जानते हैं कि उसके परमाणु-केन्द्र में दो धनाणु होते हैं किन्तु सुप्ताणु भी केन्द्र में होने से कुछ भार चार धनाणुओं के बराबर होगा। इसी प्रकार आठवीं संख्या के परमाणु ओषजन (आक्सिजन) का तोल १६ प्रकट करता है कि उसमें आठ धनाणुओं के साथ सुप्ताणु आठ होने से कुल १६ धनाणुओं के तौल के बराबर उस का तौल है अर्थात उदजन (हाइड्रोजन) से १६ गुना भारी है। ये परमाणविक भार उन परमाणुओं की रचना और गुण के सम्बन्ध में कुछ जानकारी कराने में हमारी सहायता करते हैं। अंतिम तत्वों में रश्मिम (रेडियम) जिसकी क्रम संख्या ८८ है, इस लिए ८८ ऋणाणुओं सहित होता है, का परमाणविक भार लगभग २२६ होता है। ९२ क्रम-संख्या का परमाणु पिनाकम (यूरेनियम) ९२ ऋणाणुओं सहित २३८ परमाणविक भार का होता है। हम इससे अनुमान कर सकते हैं कि इनकी रचना कितनी विचित्र होगी।

इस तरह की विचित्र रचना और आकार वाले परमाणु ही हमारे विश्व की रचना करने वाले हैं। हमें कदाचित कुछ विश्वास न पड़े कि ये ही इतने संसार के भारी भवन की बनाने वाली ईंटें हैं किन्तु खोजों ने इसे मानने के लिए हमें विवश किया है। हम अपनी साधारण वर्णमाला के अक्षरों को जानते हैं। वे एक एक सरल चिन्ह मात्र हैं और बच्चा भी इन का उच्चारण कर लेता है किन्तु इन्हीं के हेर-फेर से धर्म, शास्त्र, नाना विषय की नाना प्रकार की सहस्रों जाने और बे जाने लेखकों, विद्वानों कवियों वैज्ञानिकों, राजनीति-शास्त्र वेत्ताओं और इतिहासकारों आदि की रची हुई पुस्तकों, भारी भारी ग्रंथों को देख कर हम चकित हो सकते हैं। वे हमारे निकट केवल वर्णमाला का खिलवाड़ नहीं मालूम पड़तीं। इसी प्रकार नन्हें आकार के ही परमाणुओं के आधार प बना हुआ यह विशाल जगत हमको इतना आश्चर्य पूर्ण दिखाई पड़ता है कि उसकी रचना के उतने छोटे कणों, परमाणुओं की ओर ध्यान भी नहीं जा सकता।

भारतीय कृषि तथा उद्योग समाचार

नीरोग फसल के लिए नीरोग बीज

नीरोग फसल पैदा करने के लिये बीज नीरोग होना बहुत आवश्यक है। यदि साधारण बीज को साफ करके उसका रासायनिक कल्प कर दिया जाय तो फसल में रोग लगने की आशंका नहीं रहती और उपज भी अच्छी होती है।

बीज के कल्प से पूर्व उसे भली भांति साफ कर लेना चाहिये। छानने, फटकने और साफ करने से मिट्टी धूल, कूड़ा-कर्कट, भूसी, भूसा, खार-पतवार आदि के बीज, अवाहनीय पदार्थ और रेतुओं, घुन, पई, तथा अन्य प्रकार के कीड़े दूर हो जाते हैं। साथ ही साफ किये हुए बीज का कल्प भी सरलता से हो जाता है।

बीज में रोगकीटाणुहर औषधि तीन रूपों में मिलाई जा सकती है, चूर्ण के रूप में, पिष्टी के रूप में और द्रव रूप में। मिलाने से पहले औषधि बनाने वाले के निर्देशों को भली भांति समझ लेना चाहियें।

गर्म पानी में भिगोना

जौ-गेहूं के कुछ रोग ऐसे हैं, जो बीज को गर्म पानी में भिगोने से दूर हो सकते हैं। जौ-गेहूँ का रेतुआ रोग इस प्रणाली से दूर हो जाता है। पहले बीज को ८०°२० फा० तापमान वाले पानी में ४ घंटे तक भिगोना चाहिये, फिर १२५°० फा० तापमानवाले पानी में २ मिनट तक पड़ा रहने देना चाहिये, और अन्त में १० मिनट तक गर्म पानी में भिगोना चाहिये गर्म पानी से निकाल कर बीज को थोड़ी देर तक ठंडे पानी में डाल देना चाहिये और उसके बाद उसे सुखा देना चाहिये। इस प्रणाली से रोगकीट मर जाते हैं और नीरोग फसल पैदा होती है।

धूप में सुखाना

रेतुआ दूर करने की एक प्रणाली और है। बीज को ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल ठंडे पानी में भिगो देना चाहिये और ५ घंटे तक धूप में रखा रहने देना चाहिये। इसके बाद पानी निकाल कर बीज को धूप में सुखा देना चाहिये। इस प्रणाली से बीज बिलकुल नीरोग हो जाता है।

रासायनिक प्रणाली

बोतल या मिटटी के बर्तन में बीज और कीटाणुनाशक द्रव्य डाल कर और मुंह बन्द करके ३ मिनट तक खूब हिलना चाहिये। ऐसा करने से बीज नीरोग हो जायगा।

यदि अधिक मात्रा में बीज नीरोग बनाना हो, तो मिट्टी के तेल के बड़े ढोल में नल लगा कर उसे लोहे या लकड़ी की चूलों पर स्थापित कर देना चाहिये और ढोल में बीज तथा कीटाणुनाशक द्रव्य डाल कर, उसे ४ मिनट तक खूब घुमाना चाहिये। ऐसा करने से बीज के प्रत्येक दाने पर कीटनाशक द्रव्य का आवरण चढ़ जायगा और वह नीरोग बन जायगा।

साधारणतया १मन बीज के लिये २ छटांक कीट नाशक की आवश्यकता होती हैं, और एक एकड़ भूमि पर कुल चार आने का कीटनाशक खर्च होत है। रोगों से होने वाली फसल की हानि को ध्यान में रखते हुए, यह अल्प व्यय उठा लेना ही श्रेयस्कर है।

परन्तु समस्त कीटनाशक द्रव्य विषैले होते हैं। इसलिये उनके प्रयोग के समय सावधनी रखनी चाहिये।

कपूर बनने की विधि

"जर्नल आफ साइंटिफिक ऐंड इंडस्ट्रियल रिसर्च" (वैज्ञानिक और औद्योगिक गवेषणा-पत्रिका) के नवम्बर मास के अंक में औसिमम किलिमेंडसचारिकन ग्वैकी नामक पौधे से कपूर बनाने की विधि बताई गई है। यह पौधा पूर्वी अफ्रीका से भारत लाया गया है और बम्बई के दक्षिणी भाग में खूब पनपता है। वैसे यह सब प्रकार की भूमि और जलवायु में उग आता है, और बोने के ६-७ महीने बाद कपूर देने लगता है। इसकी अध-सूखी पत्तियों को पानी में उबाल कर अर्क खींचा जाता है, और उस से कपूर बनाया जाता है। पत्तियों के भार का १.५६ प्रतिशत कपूर निकलता है।

साबुन के बारे में

एक लेख में नारियल के तेल के विकल्प के लिये की जाने वाली गवेषणा का वर्णन किया गया है। देश में खाने योग्य तेलों की कमी के कारण अच्छी किस्म के साबुन बनाने के लिये नारियल के तेल का स्थानापन्न अन्य कोई अखाद्य तेल ढूंढ निकालने के लिये एबिटनोडफनी हुकरी के बीज को चिकनाई पर, जो कीसा चिकनाई के नाम से प्रसिद्ध है, अनुसंधान किया गया। इस चिकनाई को रेंडी तथा मूंगफली के तेल के साथ मिला कर साबुन बनाने के काम में लाया गया। उससे जो साबुन बना, वह बहुत उत्तम प्रमाणित हुआ।

गोखरू से तेल निकालने की विधि

पत्रिका में गोखरू के बीजों से तेल निकालने की विधि भी बताई गई है। गोखरू भारत के गर्म भाग में बहुत पैदा होता है। परन्तु आज तक यह अधिक उपयोग में नहीं लाया गया। अनुसन्धान से विदित हुआ है कि यदि गोखरू को २.५ प्रतिशत गन्धक के तेजाब में १२ घंटे भिगो कर १ या २ दिन धूप में सुखाया जाय तो बीज आसानी से निकल आता है। इस बीज का भार सूखे फल का लगभग तिहाई होता है, और इस से ३२ प्रतिशत तेल निकलता है। यदि गोखरू की खेती की जाय तो एक एकड़ भूमि से १७५ पौंड तेल पैदा हो सकता है। अन्य तेलों की अपेक्षा इस तेल की पैदावार किसी प्रकार कम न होगी। इस तेल को यदि एक वर्ष तक हवा से बचा कर रखा जाय तो यह गाढ़ा हो जाता है और ऊपर पीले रंग की झिल्ली पड़ जाती है। गर्म करने से यह गाढ़ा हो जाता है और अन्य खनिज तेलों में मिलाया जा सकता है।

दूध का प्रतिनिधि

बंगलौर की भारतीय विज्ञानशाला में जो अनुसन्धान किये गये हैं, उनके फलस्वरूप सोयाबीन का रस दूध का प्रतिनिधि प्रमाणित हुआ है। सैनिकों को दूध की उपलब्धि बढ़ाने के लिये, प्रतिरक्षा—मन्त्रालय ने विशाल पैमाने पर अनुसंधान किये हैं। १२० सैनिकों को चाय और दही के लिये सोयाबीन का दूध दिया जा रहा है। इस दूध के सेवन से सैनिकों का स्वास्थ्य सुधर रहा है।

ट्रैक्टर-चालकों को प्रशिक्षण

गत सप्ताह भोपाल के समीप पैरागढ़ में ट्रैक्टर-चालन—प्रशिक्षण-पाठयक्रम का समारम्भ करते हुए केंद्रीय कृषि-मन्त्री श्री के०एम०मुंशी ने कहा कि विशाल पैमाने पर मशीनी खेती का भविष्य अधिकांशतः केंद्रीय ट्रैक्टर-संगठन की सफलता पर निर्भर है। श्री मुंशी ने बताया कि भारतीय कृषि-मंत्रालय की विशाल भूमि-सुधार योजना से अमेरिका वाले भी चकित हो गये हैं और उसे "कृषि के इतिहास में अद्वितीय" बताते हैं।

ट्रैक्टर-चालकों का प्रशिक्षण

केन्द्रीय कृषि-मन्त्री श्री के०एम० मुंशी ने गत १९ नवम्बर को भोपाल के समीप वैरागढ़ में ट्रैक्टर-चालकों के प्रशिक्षण के लिए एक विद्यालय का उद्घाटन किया।

भारत सरकार का कृषि-मन्त्रालय वैरागढ में केन्द्रीय ट्रैक्टर-संगठन के कारखाने में, तीन-तीन सप्ताह के दो पाठयक्रम चलाने की योजना है।

आरम्भ में, केवल सरकारी ट्रैक्टर-चालकों को ही प्रशिक्षण दिया जायगा। प्रशिक्षण-कार्य की व्यवस्था कृषि मन्त्रालय के कृषि यन्त्रविद्या-परामर्शदाता श्री अर्ल के० राम्बी करेंगे। श्री अर्ल के० राम्बी अमेरिका में इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था कर चुके हैं, और इस कार्य का उन्हें विशेष अनुभव है। भारत सरकार ने अमेरिका के कृषि-विभाग से कुछ दिनों के लिए उनकी सेवाएं उधार ली है।

प्रशिक्षण-काल में सफाई पर विशेष बल दिया जायगा। प्रशिक्षण के लिए फिल्म की भी सहायता ली जायगी।

प्रत्येक पाठयक्रम के लगभग ७५ शिक्षार्थी होंगे, जिनमें ६० केंद्रीय ट्रैक्टर-संगठन के चालक, ५ इंजीनियर, और १० राज्यीय सरकारों के इंजीनियर होंगे। यदि इन कक्षाओं के संचालन में सफलता मिली, तो अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही कक्षाएं खोली जायेंगी। निजी टेक्टर रखने वालों के चालकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जायगी।

अन्न आयात

गेहूं	११,२५,६०० टन
आटा	६५,०५० टन
चावल	२,६४,७०० टन
कोद	२,-१,६०० टन
ज्वार बाजरा	११,८०० टन
सूजी	४,६०० टन
जौ	६५० टन

कंदों की खेती

भारतीय कृषि गवेषणा परिषद की आय आर्थिक व्यवस्था तथा विकास विषयक गवेषणा समिति की अभी ही नयी दिल्ली में हुई बैठक में "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन में सहायता करने और सहायक खाद्यों का उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से बम्बई, पंजाब मद्रास, मैसूर, आदि राज्यों में कंदों की खेती बढ़ाने के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित योजना स्वीकार की गयी है।

पंजाब में हुई गवेषणा के फलस्वरूप सायाबीन की एक ऐसी किस्म प्राप्त हो सकी है, जिसकी उपज अधिक होती है और जिसके दाने भी बड़े होते हैं। साथ ही उसमें कडवाहट भी नहीं होती और वह जल्दी पक भी जाती है। दूध, आटा, आदि तैयार करने के लिये यह सोयाबीन सर्वोत्तम है।

चूंकि खजूर का गुड़ तैयार करना देहातों का एक अच्छा धंधा है, इसलिये समिति ने निश्चय किया है कि कई और केन्द्रों में खजूर का रस निकालने के अच्छे तरीकों को आजमाय जाय। समिति का मत है कि लोग की खेती के लिये भी उपयुक्त भूमि तथा अच्छा बीज खोजा जाय। ट्रावनोर कोचीन में इस विषय की गवेषणा के लिये एक बगीचा खोलना भी स्वीकार किया गया। अस्थि-चूर्ण के उत्पादन और बड़ोदा में ग्राम पुनस्संस्थापन विषयक खेती की दो प्रणालियों के सम्बन्ध में भी समिति द्वारा निश्चय किये गये।

———

कागज उद्योग की उन्नति

इस समय देश में १५ मिलें कागज तैयार करती हैं, और १७ गत्ता। इनमें से ६ कागज मिलें अपना काम बढ़ा रही हैं, और कागज तथा अखबारी कागज तैयार करने के लिए चार कारखाने स्थापित करने की योजना बनाई गई है। इनमें से एक कारखाना केवल अखबारी कागज ही तैयार किया करेगा।

देहरादून स्थित वन गवेषशाला में, देश में पैदा होने वाले अन्य वृक्षों तथा घासों से कागज व गत्ता तैयार करने के प्रयोग हो रहे हैं। कागज उद्योग के लिये एक बहुत आवश्यक रासायनिक पदार्थ गंधक है, वे प्राय: सब का सब विदेश से आता है। इस विषय में यह सुझाव रखा गया कि कागज मिलें व मिल कर तय करना चाहिये कि उन्हें कितने गंधक की जरूरत है। ऐसा होने पर पर्याप्त मात्रा में गंधक के आयत का प्रबंध किया जा सकेगा, और इस प्रकार उपलब्ध गंधक मिल संघों द्वारा विभिन्न मिलों को बांट दिया जायगा। कालिस्टिक सेडे के विषय में सुझाया गया कि इस रासायनिक रेल के डिब्बे में द्रव्य रूप में मिलों को पहुँचाने की सुविधा दी जाय।

अखबारी कागज देश में ही तैयार करने के संबन्ध में बताया गया कि अखबारी कागज तैयार करने के लिये आवश्यक कच्चा माल, उत्तर भारत में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकता है, जेसे देवदार, रार आदि वृक्ष। किन्तु निश्चय हुआ कि पहले मध्य प्रदेश की योजना कार्यान्वित की जायगी क्योंकि वहां इस कार्य के लिये काफी पूंजीगत व्यय हो भी चुका है।

शिल्पियों को प्रशिक्षित करने के विषय में कहा गया है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण, देहरादून की वन गवेषणाशाला की कागज शाखा का विस्तार रुक गया है, किन्तु फिर भी कागज के कारखानों को बताना चाहिये कि उद्योग के विस्तार के लिये उन्हें कितने शिल्पियों का आवश्यकता पड़ेगी।

[स० स० से]

ग्रन्थ विहार

☞ शिशु—पालन ☜

लेखक—श्री मुरलीधर शर्मा बाड़ौदी
बी० एस० सी० प्रभाकर

प्रकाशक—विज्ञान—परिषद, प्रयाग

रायल साइज पृष्ठ संख्या १४३, मूल्य ४) है।

राष्ट्र—भाषा हिन्दी के बाटमय में ऐसी वैज्ञानिक पुस्तकों की बहुत बड़ी आवश्यकता हैं, जिनके द्वारा हमारा राष्ट्र स्वस्थ, समृद्ध एवं शक्तिशाली बन सके। किसी भी राष्ट्र के निर्माता भाटा और नेता शिशु ही हुआ करते हैं। शिशुओं का पालन पोषण सीक्षण, एवं शिक्षण यदि उचित विधि से किया जाता हैं तो वे अपने राष्ट्र के मस्तक को सदा ऊंचा और गौरवान्वित रखते हैं। 'शिशुपालन' इन्हीं उच्च और उदात्त भावनाओं को सामने रखकर लिखा गया है। पुस्तक तीन भागों में विभक है प्रथम भाग में:—बच्चे का गर्भ स्थित जीवन, प्रसव-पूर्व व्यवस्था, गर्भवस्था की कुछ व्यथाएं तथा प्रसव-स्थान ये चार अध्याय हैं। दूसरे भाग में:—प्रथम सप्ताह का दैनिक कार्यक्रम, दुग्धपान, तथा शारिरिक विकास थे ३ अध्याय हैं। तीसरे भाग में:—अस्परण शिक्षा, लिंग विषयक-शिक्षा शिशु व्यथाएं एवं कुछ जटिल समस्याएं थे और अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पुस्तक के हमारा' और ११ अध्यायों में शिशु पालन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का उल्लेख वैज्ञानिक रीति से किया गया है। पुस्तक में कुछ चित्र एवं चार्ट भी दिए गए हैं। शिशुपालन की आवष्यकता को अनुभव करने वाले सग-गृहस्थ पुस्तक से लाभ उठा सकते हैं। १४३ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ४) कुछ अधिक होने के कारण खटकता है।

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै० उ० ।३।५

भाग ७२ | सम्वत् २००७ जनवरी १९५१ | संख्या ४

विज्ञान और वास्तविकता

गत अर्ध शताब्दी में विज्ञान ने आशातीत उन्नति की है, यह कहना अत्युक्ति न होगी कि गत पचास वर्षों के ज्ञान का पलड़ा उसके पूर्व लगभग दो सहस्र वर्षों के संचितज्ञान के पलड़े से कहीं भारी पड़ेगा। इस संबंध में विशेष विचारनीय बात तो यह है कि इस नूतन ज्ञान ने हमारे पुराने वैज्ञानिक ज्ञान में एक क्रान्ति कारी परिवर्तन ला दिया है। उदाहरणार्थ १९वीं शदी के भौतिक विज्ञान को ही ले लीजिये। न्यूटन सिद्धान्त के अनुसार इस शताब्दी तक हमारे पास मात्रा (Mass), शक्ति (Force), आवेग (Momentum), सामर्थ्य (Energy), आदि की स्पष्ट परिभाषाएं थीं और इन्हीं परिभाषाओं के आधार पर हम विशालकाय नक्षत्रों से लेकर शिशु-क्रीड़ा की सामग्री गेंद तक की गति विधि भली प्रकार समझ सकते थे, यही नहीं, इन्हीं परिभाषाओं को हम अणु-जगत के सूक्ष्म से सूक्ष्म चक्रगामी परमाणुओं पर घटित कर सकते थे और तथा-सिद्धान्तों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की प्रयोगात्मक पुष्टि देख कर हमें उनकी वास्तविकता पर कोई संदेह करने की गुंजाइश ही न थी।।

ऐसी स्थिति में यदि १९ वीं शताब्दी का वैज्ञानिक परमाणुओं को प्रयोग शाला की सज्जा के भांति वास्तविक मानने लगा था, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

लार्ड केलमिन ने ब्रह्माण्डव्यापी "ईथर" का जो वर्णन दिया था और जिस विश्वास के साथ स्पष्ट रूप से ब्रह्माण्ड की घटनाओं को "ईथर" के अस्तित्व के आधार पर समझाने का प्रयत्न उन्होंने किया था, उसको कौन संदिग्ध दृष्टि से देखने का दुःसाहस कर सकता था, किन्तु आज हमारी आशावादिता का वह प्रासाद ढहने लग गया है, ईथर रूप "ईश्वर" में हमारी आस्था कम होती प्रतीत होती है। यही नहीं आज का परमाणु भी न्यूटन युग के परमाणु के समरूप नहीं रह गया है।

नूतन विज्ञान की इस आशातीत उन्नति और हमारे पुराने वैज्ञानिक सिद्धान्तों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की इस नई परिस्थिति ने हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया है कि विज्ञान का वास्तविक अर्थ क्या है, वैज्ञानिक का सत्य क्या है?

यह तो स्पष्ट है कि प्रकृति के रहस्यों को समझना विज्ञान का परम उद्देश्य है,

विशाल नक्षत्र ध्रुवों के चारों ओर सतत चक्कर काटते रहते है, सागर में ज्वार-भाटों का क्रम लगा ही रहता है, प्रयोगशालाओं में मापकयंत्रों का पा। चढ़ता व गिरता हैं, शरद, शिशिर, हेमन्त वसन्त के क्रम के साथ ऋतुओं में अनैमिकता आती ही रहती है, कुछ प्राणी पत्थर भक्षण कर ही जीवित रहते हैं, एक विद्वान और बुद्धिमान व्यक्ति हल्की सी चोट खाकर-पागल हो जाता है, आदि असंख्य विचित्र घटनाओं के रहस्य को समझना विज्ञान का उद्देश्य है, यहाँ यह ध्यान देने योग्यबात है कि वर्तमान विज्ञान यह जानने का प्रयत्नशील नहीं है कि ऐसा "क्यों" होता है, यदि आज का वैज्ञानिक यह जान सके कि यह "कैसे" होता है, तो बह अपनी उद्देश्य पूर्ति मान लेगा।

उपरोक्त उदाहरणों से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान की खोज जितनी अधिक मात्रा में घटमा-मूलक है उतनी वास्तविकता-मूलक नहीं। प्रसिद्ध भौतिक-शास्त्री किरचाफ ने यह स्पष्ट रूप से बताया था किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त का लक्ष्य यह होता है कि भौतिक-जगत में होने वाली कुछ घटनाओं का वह सरल से सरल, ज्ञान-गम्य वर्णन दे दें, वास्तव में "यथार्थ" तो उससे अन्तर्निहित रहता है।

इस प्रकार यदि ब्रह्मराड में होने वाली कुछ जानी हुई घटनाओं को हम किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर समझ सकें और उसमें से नए खोज के पथ निकलने की साम हो तो उसे सिद्धान्त की परम उपयोगिता का प्रमाण मानना चाहिए विचार कर देखा जाय तो किसी वैज्ञानिक सत्य में स्थायित्व मिलेगा ही नहीं अनुभूति और ज्ञान की परिधि बढ़ने के साथ नई नई विचार धारायें आती हैं और सिध्दान्तों में परिवर्तन, संशोधन होते रहते हैं। इस प्रकार एक वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रकृति-भेदन के लिए एक अस्त्र-मात्र है, उसे धर्म का रूप देना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। सर जे०जे० थामसन ने स्पष्ट रूप से विज्ञान की व्याख्या करते हुए इसी विचार धारा का प्रतिपादन किया है। यह सच है कि १९वीं शदी के मध्य कालीन विज्ञान में भौतिक-वाद ने अपना प्रभत्व जमा लिया था, किन्तु विज्ञान जगत ने आज अपनी वह गलत विचारधारा बदल दी है और दिनप्रति होने वाली नई खोजों ने बिज्ञान से भौतिक वाद के पैर उखाड़ से दिए हैं, यह कहना विरथक न होगा कि आने वाला विज्ञान स्यात् धर्म से भी अधिक अध्यात्म बाद का पोषक होगा ?

यदि हम उपरोक्त दृष्टि-कोण सामने रखते हुए विज्ञान और वास्तविकता के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करें तो यह जान लेने पर कि विज्ञान की खोज घटना-मूलक है हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि "वास्तविकता" को समझने के लिए हम किस ओर चले ? सरजेम्स जीन्स आदि कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार तो वैज्ञानिक को वास्तविकता के क्षेत्र में न उतरना ही अच्छा होगा, वास्तविकता उनके लिए "दर्शन" की ही वस्तु है उनके मत में न्यूटन की भाँति आज भी वैज्ञानिक अपार ज्ञान-सागर के किनारे बैठे पत्थर ही चुग रहे हैं, उन्हें सागर का कोई ज्ञान ही नहीं है। वास्तव में ऐसी निराशा वादिता सर्वथा अनुचित है,

विज्ञान की बलवती चिन्तन-धारा और वैज्ञानिक सिद्धान्तों की बढ़ती हुई परिधि को सरासर अनदेखा करना निराशावादी वैज्ञानिकों के लिए कोई श्रेयकर बात नहीं कोई भी प्रत्यक्ष दर्शी इस बात से सहमत होगा कि जिस निस्वार्थ और पूत भव से विज्ञान अपनी तपस्या में रत है और समयानुकूल जो भी प्रत्यक्ष प्रमाण संसार के सामने बिज्ञान की सफलता के मिले हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि "वास्तविकता" यदि ज्ञान-गम्य हो सकती है तो धर्म से नहीं, दर्शन से नहीं, केवल विज्ञान से।

—:*:—

भूकम्प

लेखक—प्रभाकर वि० देहादूराय

भूकम्प की प्रलयंकर शक्ति से संसार प्राचीनकाल से ही परिचित है, वर्तमान वैज्ञानिक अनुसन्धान से यह पता लगा है कि भूपृष्ठ की इस गतिशीलता का अध्ययन हमारे कल्याणकारी ज्ञान को बढ़ाने में भी सहायक होता है। मनोरंजक किन्तु खतरनाक बात है कि प्रत्येक दूसरे मिनट पर भूकम्प के धक्के पृथ्वी को हिलाते रहते हैं। प्रस्तुत लेख में भूकम्प के कारणों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

अभी कुछ ही दिनों पूर्व आसाम प्रांत में भूकंप ने हाहाकार मचा दिया। लगभग ३०० ० वर्ग मील के क्षेत्र में इसके कारण जमीन की उथल-पुथल मच गयी। यों तो भूपृष्ठ पर प्रत्येक दूसरे मिनट पर भूकंप के धक्के लगते रहते हैं। परन्तु इनमें से कई अत्यन्त क्षीण होने के कारण हमें मालूम नहीं होते। ऐसे क्षीण धक्के केवल एक यंत्र के द्वारा ही मालूम किये जा सकते हैं। इस यंत्र को सिज्मोग्राफ (Seismograph) कहते हैं।

चित्र का विवरण:—इस चित्र में एक फौलाद का खंभा है जो एक पक्की नींव पर खड़ा है। भूकंप के धक्के के कारण यह हिलता है और इसके हिलने से इससे बाँधा हुआ तार भी हिलने लगता है। कंपन में स्थिरता लाने के लिये एक वजन भी लगा है। वजन से संबंधित एक दर्पण का टुकड़ा होता है। यह दर्पणभी हिलता है इसके कारण इस दर्पण पर प्रकाश दीप से पड़ने वाली प्रकाशरेखा का प्रतिबिंब भी हिलने लगता है। प्रतिबिम्ब की गति का चित्र उस फोटोग्राफिक फिल्म पर उतरता है जो सामने लगी रहती है।

भूकंप का रूप

यदि पानी की स्थिर सतह पर एक पत्थर फेंक दिया जाय तो सारी सतह पर (उस केंद्र से) लहरें फैल जाती हैं। इसी प्रकार पृथ्वी पर भूकंप की लहरें फैलती हैं जिससे सारा भूपृष्ठ हिल उठता है और हम उसे भूकंप कहते हैं। भूपृष्ठ के नीचे जिस केंद्र से लहरों का उद्गम होता है उस केंद्र को (Focus) फोकस कहते हैं। इस केंद्र के ठीक ऊपर भूपृष्ठ पर स्थित स्थान को इपिसेंटर (Epicentic) या कम्पन केंद्र कहते हैं।

इन लहरों की उत्पत्ति के दो कारण बताये जाते हैं। (१) ज्वालामुखी पर्वत विस्फोट और (२) भूपृष्ठ के अन्तर्गत स्थित शिलाओं का स्तर-दोष (Fault) की सतह पर फिसलना।

विवरण—(१) ज्वालामुखी के जागृत होते गरम लावा (Lava) कभी-कभी धमाके की आवाज के साथ बाहर फेंका जाता है। इस आवाज के कारण निकट वासी प्रदेश हिल उठता है। और भूपृष्ठ पर लहरें दौड़ जाती हैं। ऐसे भूकंप का क्षेत्र सीमित रहता है।

(२) अधिकांश भूकंपों का कारण भूपृष्ठ के अंतर्गत स्थित शिलाओं का स्तर-दोष की सतह पर फिसलना ही है। इन शिलाओं पर जब दबाव इतना अधिक हो जाता है कि वे इस दबाव को सहन करने में असमर्थ रहती हैं तब उनमें दरारें पड़ जाती हैं। इस क्रिया के कारण शिलाएँ अपने स्थान से विचलित ही हो जाती हैं और इनमें स्तर-दोष (Fault) उत्पन्न होते हैं।

इस स्तर-दोष की सतह पर एक भाग दूसरे भाग की तुलना में ऊपर या नीचे खिसक जाता है। इसलिए उस स्थान का स्थिर-संतुलन (Isostatic Equilibrium) विचलित हो जाता है। इस क्रिया का परिणाम भूपृष्ठ की सतहों पर भी पड़ता है और उनमें लहरें दौड़ जाती हैं जिसके कारण भूपृष्ठ हिल उठता है। यही भूकंप है।

यद्यपि यह धक्का क्षणिक ही रहता है तथापि इसके कारण जो लहरें उत्पन्न होती हैं उनकी गति इतनी तेज होती है कि सारे क्षेत्र में उथल-पुथल मच जाती है। मुख्य धक्का लगने के पूर्व कुछ हल्के धक्के लगते हैं इन्हें पूर्व कंप (Fore-shocks) कहते हैं। कुछ धक्के बाद में भी आते रहते हैं। इन्हें पश्चात् कंप (after shocks) कहते हैं।

स्तर-दोष की सतह पर विचलन का आरम्भ ही पूर्व कंप (Fore shocks) का कारण है। इसके द्वारा पूर्ण विचलन कार्य के मार्ग में आनेवाली रुकावटें दूर की जाती हैं। इसके पश्चात् विचलन की क्रिया होती है जिससे मुख्य धक्का (main shocks) लगता है। और अन्त में इस भाग में स्थिरता आने लगती है। स्थिर होने की क्रिया के कारण कुछ पश्चात् कंप होते हैं।

भूकम्प के परिणाम

भूकम्प के कारण जीव और संपत्ति की काफी मात्रा में हानि होती है। इमारतें तथा पुल गिर जाते हैं और आवागमन के साधन नष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी भूपृष्ठ में दरारें पड़ जाती हैं और इन दरारों से पानी, कीचड़ तथा बालू बाहर फेंकी जाती है। इस कारण सैकड़ों एकड़ उपजाऊ जमीन खेती के अयोग्य हो जाती है (बिहार का सन् १९३४ का भूकम्प)। कभी-कभी भूकम्प के कारण पहाड़ों से चट्टानें टूटकर घाटियों में गिर पड़ती हैं जिससे आवागमन में बाधा पड़ती है और नदियों के बहाव में परिवर्तन कर देती है जैसा कि १५ अगस्त १९५० ई० के आसाम के भूकम्प में देखा गया है। भूकम्प के कारण भूपृष्ठ के अन्तर्गत स्थित पानी की सतह में भी परिवर्तन हो जाता है। इसके कारण जहाँ यह सतह ऊपर आ जाती है वहाँ नई झीलें तथा झरने उत्पन्न हो जाते हैं और जहाँ यह सतह नीचे चली जाती है वहाँ के तालाब तथा कुएँ आदि सूख जाते हैं। ऐसी स्थिति आसाम में सन् १८९७ ई० के भूकंप के कारण हो गई थी। प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्रज्ञ ओल्डहम (Oldham) के कथनानुसार लगभग ३०० नयी छोटी बड़ी झीलें आसाम में हो गयी थीं और लगभग ४५० कुएँ तथा १०० तालाब सूख गये।

भूकम्प के केन्द्र

भूकम्प के हल्के धक्के प्रायः कई स्थानों पर लगे हैं। परन्तु कुछ कुप्रसिद्ध भूकम्प जिनका विस्तृत विवरण मिल सका है, प्रायः दो विभागों में ही हुए हैं। पहिला भूपृष्ठ का वह भाग जो प्रशान्त महासागर (pacific ocean) को चारों ओर से घेरे हुए है और दूसरा वह भाग जो पूर्व से पश्चिम को फैला हुआ है और जिसमें भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेश, दक्षिणी एशिया तथा पूर्वी और पश्चिमी द्वीप समूह आते हैं। इस भाग में हिमालय पर्वत तथा उसका निकटवर्ती प्रदेश भी सम्मिलित है। संसार के विदित भूकम्पों की कुल संख्या के लगभग ७० प्रतिशत पहिले भाग में, २० प्रतिशत दूसरे भाग में तथा शेष १० प्रतिशत अन्य स्थानों पर होते हैं। प्रसिद्ध फरांसीसी वैज्ञानिक मान्टेसस (Count ae montessus de Ballore) ने लगभग १७०,००० (एक लाख सत्तर हजार) भूकम्पों का विशेष अभ्यास करके इस विधान की पुष्टि की है। ध्यान रहे कि भूपृष्ठ के इन्हीं दो भागों में संसार के अधिकांश ज्वालामुखी पर्वत स्थित हैं और इन्हीं भागों में भूगर्भ शास्त्रज्ञों के मतानुसार भूपृष्ठ अस्थिर स्थिति में हैं। भूपृष्ठ की अस्थिरता से स्थिरता की ओर जाने की प्रवृत्ति के कारण ही उस स्थान का तात्कालिक स्थिर संतुलन (Isostatic Equilibrium) विचलित

हो जाता है और विचलन की प्रक्रिया ही भूकम्प है जिसके कारण निकटवर्ती भूपृष्ठ हिल उठता है।

भूकम्प की लहरें

सिज्मोग्राफ (Seismograph) की सहायता से भूकम्प द्वारा प्रचालित लहरों का अभ्यास करने से वैज्ञानिकों ने निर्णय किया है कि ये लहरें तीन प्रकार की हैं। (१) प्राथमिक लहरें—इनकी गति बहुत ही तेज होती है, पृथ्वी की अन्तर्गत शिलाओं की ओर जाते समय इनकी गति बढ़ती ही जाती है। जिस माध्यम में ये प्रसारित होती हैं उस माध्यम पर इन का प्रभाव दबाव (Compression) का होता है। (२) द्वितीय लहरें—इनकी गति प्राथमिक लहरों की गति से कम होती है। जिस माध्यम में ये प्रसारित होती हैं उस माध्यम पर इनका प्रभाव तोड़-मरोड़ का होता है। ऐसी लहरें तरल माध्यम में प्रसारित नहीं हो सकतीं।

[३] दीर्घ लहरें—ये पृथ्वी की केवल ऊपरी सतह में ही सीमित रहती हैं। इन लहरों की गति प्राथमिक तथा द्वितीय लहरों की गति से कम होती है।

इन लहरों की पृथ्वी के अन्तर्गत गतिविधि का अभ्यास करने से यह स्पष्ट हुआ है कि पृथ्वी के भीतरी भाग में शिलाओं की कई परते हैं और इन परतों की शिलाएँ एक दूसरे से भिन्न स्वरूप की हैं। इन सब परतों को उनमें स्थित खनिज के आधार पर तथा उनके रासानिक विश्लेषण के आधार पर चार मुख्य भागों में बाँटा गया है। पृथ्वी के अन्तर्गत इनकी व्यवस्था इस प्रकार से है। (ऊपर से नीचे की ओर।)

	परतों की मोटाई लगभग मीलों में	शिलाओं के प्रकार	शिलाओं का घनत्व	
सबसे ऊपर की परत	६½	(क) सतह वाली शिलाएँ (Sedimentary Rocks)	२.६६	(१) इनमें केवल दीर्घ लहरें ही प्रसारित होती हैं।
	४	(ख) ग्रेनाइट विभाग की शिलाएँ (Granitic Rocks) इनमें Sio_2 लगभग ६०प्रतिश तया इससे अधिक मात्रा में रहता है।	२.६ से २.८	
	१०	(ग) बेसाल्ट विभाग की शिलाएं (Basaltic Rocks) इनमें Sio_2 का परिमाण ४५ प्रतिशत से अधिक तथा ६० प्रतिशत से कम रहता है।	२.८ से अधिक ३.० से कम	प्रथामिक तथा द्वितीय लहरोंकी गति केन्द्र तक बढ़ती है। (२—३)
सबसे नीचे की परत	१७५०.	(घ) पेरिडोटिटिक विभाग की शिलाएँ (periodatitie Rocks) इनमें Sio_2 का परिमाण ४५ प्रतिशत से कम होता है।	३.० से अधिक	

प्राथमिक तथा द्वितीय लहरों की गति पृथ्वी के केन्द्र तक बढ़ती हीं जाती है। तुलनात्मक दृष्टि से प्राथमिक लहरों की गति और द्वितीय लहरों की गति का अन्तर भी बढ़ता ही जाता है अर्थात् जिस मात्रा में प्राथमिक लहरों की गति में वृद्धि होती है उससे कम मात्रा में द्वितीय लहरों की गति में वृद्धि होती है।

यह देखा गया है कि तीनों लहरें फ से चलती हैं। शिलास्तर दीर्घ लहरें केवल (क) में ही सीमित रहती हैं। प्राथमिक तथा द्वितीय लहरें ख से घ तक आती हैं। और इसके बाद पृथ्वी का केन्द्र शुरू हो जाता है। यहाँ तक दोनों लहरें पहुँचती हैं। परन्तु इस केन्द्र से केवल प्राथमिक लहरें ही बाहर दूसरी ओर निकलती हैं। अर्थात् इस माध्यम में द्वितीय लहरें प्रसारित नहीं हो सकतीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भाग द्वितीय लहरों के लिये वर्ज्य है। इस प्रकार के व्यवहार से हमें एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण बात का पता चलता है और वह यह कि चूंकि द्वितीय लहरों का स्वभाव माध्यम में—जिसमें वे प्रसारित होती हैं—तोड़ मरोड़ करने का है और ऐसी लहरें केवल तरल माध्यम में ही प्रसारित नहीं हो सकतीं, हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पृथ्वी का केन्द्र तरल स्थिति में हैं।

सारे पृथ्वी का घनत्व तथा उसके अन्तर्गत स्थित विभिन्न शिलाओं का घनत्व ध्यान में रखतेहुए यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह केन्द्र भारी धातुओं के मिश्रण से बना है। और इस मिश्रण में लोहा तथा निकल (Nickel) की प्रधानता हैं। विज्ञान जगत् ने अन्य आधारों पर भी इस संभावना की पुष्टि की है।

भूकम्प के उद्गम केन्द्र या फोकस (Focus) की स्थिति का ज्ञान

पृथ्वी की ऊपरी सतह से फोकस की गहराई इस प्रकार जानी जाती है :—
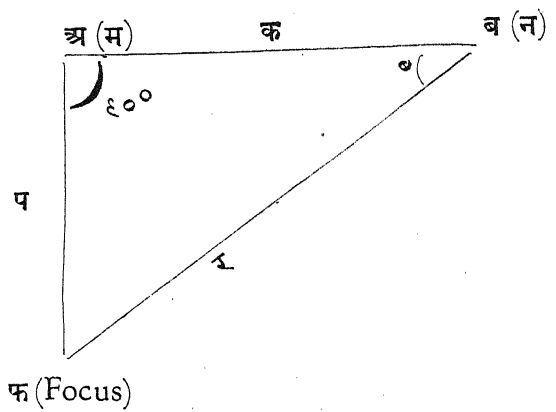
अ और ब दो स्थान जहाँ हैं। भूकम्प की गहनता का परिमाण मालूम करने के यन्त्र लगे हैं। ये स्थान एक दूसरे से क मील दूर है। केन्द्र (फ) अ से प गहरा है। इस प्रकार बने हुए हुये फ अ ब समकोण त्रिभुज में नीचे दिये हुए सम्बन्ध स्पष्ट हैं :—

(१) प = क tan θ

इस समीकरण से θ का मान रखकर प का मान मालूम हो सकता है। इसके लिये यह समीकरण भी आवश्यक है :—

$$(२)\quad \frac{प^2}{र_2} = \frac{न^2}{म_2} = \sin २\theta$$

तो गरेथमिक टेबुल से θ का मान मिल सकता है।

समीकरण (२) में 'न' और 'म' भूकम्प के धक्के की गहनता क्रमशः 'ब, और 'अ' स्थानों में हैं जो यन्त्रों की सहायता से मालूम की जा सकती हैं।

इस प्रकार दो समीकरणों की सहायता से भूकम्प के उद्गम केन्द्र की सतह से गहराई ज्ञात की जा सकती है और उनकी गहराई के आधार पर इन्हें तीन प्रकारों में विभाजित किया जाता है।

भूपृष्ठ से गहराई	प्रकार
०–३० मील	साधारण
३०–१६० मील	मध्यम
१६०–४४०	कनिष्ट

इस प्रकार यद्यपि भूकंप की घटनाएँ हमें पृथ्वी की अन्तः स्थिति का ज्ञान कराती हैं तथापि भूकंपों के भयानक परिणाम हृदय को हिला देते हैं।

संसार के कुछ कुप्रसिद्ध भूकम्पों का विवरण

यों तो हर घड़ी पृथ्वी की सतह पर भूकम्प के धक्के लगते रहते हैं परन्तु मानव जाति के इतिहास में कुछ ऐसे भूकंपों का विवरण मिलता है जो अपनी भयानकता के कारण कुप्रसिद्ध ही कहे जा सकते हैं।

(१) लिस्बन (Lisbon) पुर्तगाल

तारीख १ नवम्बर सन् १७५५—बड़े जोर के धमाके की आवाज के साथ ही सारा शहर हिल उठा। समुद्र की लहरें क्षण भर के लिये किनारे से पीछे हटीं और फिर जोर के साथ लगभग ५० फीट की ऊँचाई लेकर किनारे पर टकराईं जिसके कारण वहाँ की जनता डरकर बंदरगाह के एक भाग में ऊँचे स्थान की ओर दौड़ी। परन्तु दुर्भाग्य से उस भाग में एक बड़ी दरार पड़ गयी और सब उसमें समा गये। और समुद्र के पानी में इतना बड़ा भँवरा बन गया कि बन्दर गाह में खड़े कई जहाज उस भँवर में खिंच गये और देखते ही देखते आँखों से ओझल हो गये। यह सब लगभग ६ मिनटों में हो गया। इस घटना से लगभग ६००० जीव हानि अनुमानि की गयी।

(२) इटली देश के नेपुल्स -(Naples) शहर के निकट भाग की भूकम्प की घटनाएँ भी बड़ी ही भयानक थीं। ये सब केलेब्रीयन (Calabrian) तथा मसीना (Messina) के भूकम्पों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

Calalbran भूकम्प :— जीवहानि

(क) ई सन् १६८८ — २०,०००

[अ] केलोब्रीयन

(ख) „ „ १६९३ — ४५,०००
(ग) „ „ १७८३ — ३०,०००
(घ) „ „ १९०५ — १,०००

(ब) मसीना Mcssina का भूकम्पः—

ई० सन् १९०८ १००,०००

ये सभी भूकम्प उस भाग में पृथ्वी के अन्तर्गत दिशाओं में स्थित स्तर दोष (Fault) के कारण हुए ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

(३) जापान के भूकम्पः—

भारत तथा जापान के बीच में स्थित भागों में भूकम्प के धक्के प्रायः लगा करते हैं, क्योंकि यह भाग पृथ्वी की स्थिति के विषय में प्रतिपादित 'स्थिर संतुलन'* की दृष्टि से अस्थिर पाये गये हैं।

जापान में प्रायः प्रति दो वर्षों के बाद एक भयानक भूकम्प होने के समाचार मिलते हैं और लगभग विगत १५०० वर्षों से यह रवैया जारी है। ई० सन् १८८३ से सन् १९३० ई० तक के भूकम्पों की संख्या का औसत परिमाण लगभग १४०० भूकम्प प्रतिवर्ष है और इस अनुमान से प्रतिदिन का औसत लगभग ४ भूकम्प है। इन भूकम्पों में सन् १८९१ ई० तथा सन् १९२३ ई० के भूकम्पों को मानव-संसार कभी भूल नहीं सकता। २८ अक्टूबर सन् १८९१ ई० की दुर्घटना से लगभग दो लाख पैतालीस हजार वर्गमील का क्षेत्र फल हिल उठा। विशेषतः मिनो (Meino) तथा ओवरी (Owari) के घनी आबादी वाले भाग

* Isostatic Equili brium.

में इस दुर्घटना ने हाहाकार मचा दिया। लगभग २०००० इमारतें ढह गयीं, २०००० लोग घायल हुए और १०००० मर गये। संपत्ति की हानि तो कई करोड़ रुपयों में अनुमानित की गई। मुख्य धक्के के बाद भी छोटे छोटे धक्के बराबर लगते रहे। उसी दिन (२८ अक्टूबर को) १०८ हलके धक्के लगे और दूसरे दिन (२९ अक्टूबर को) ३०० धक्के लगे और यह क्रम कई महीनों तक चालू रहा। कई स्थानों पर जमीन में दरारें पड़ गयीं और उनमें से बालू, मिट्टी और पानी बाहर निकल आया।

ई० सन् १९२३ के भूकम्प से टोकियों तथा योकोहामा शहरों की बहुत हानि हुई। लगभग ५००० इमारतें गिर गयीं और तीन लाख मनुष्यों के प्राण गये।

(४) चीन देश के कांसू (Kansu) भाग में भूकम्प से सन् १९२० ई० में लगभग दो लाख तथा सन् १९२७ ई० में एक लाख मनुष्यों के प्राण गये।

(५) अलास्का (Alaska) के भूकम्पों में सन् १८९९ ई० के भूकम्प बड़े ही भयानक थे। ये सितबर मास की ३ तारीख से २९ तारीख तक बराबर आते रहे। इनमें से ता० १० के भूकम्प के धक्के इतने जोर के थे कि सारे संसार में मालूम हो सके और लगभग ५ लाख वर्ग मील भूमि तो कांप उठी ये भूकम्प याकुतात की खाड़ी (yakutat Bay) के भूकम्पों के नाम से जाने जाते हैं।

भारत के भूकम्प

सिधु नदी का मैदान, गंगा यमुना का मैदान तथा ब्रह्मपुत्र नदी के मैदान का उत्तरी तथा पश्चिमी भाग स्थिर संतुलन (Isostatic Equillbrium) की दृष्टि से अस्थिर पट्टी में आता है। अतएव भारत में भूकम्प केवल इसी भाग में हुए हैं।

(१) सिंध नदी की घाटी में सन् १८१९ ई० में लगभग चार दिन तक धक्के लगते रहे जिसके कारण कहीं कहीं जमीन धंस गई और कही कहीं तो लगभग १० फीट ऊपर उठ आयी। इस उथल पुथल से लगभग २००० वर्ग मील की जमीन धस जाने से इस क्षेत्र में पानी ही पानी फैल गया।

(२) काँगड़ा प्रान्त में तारीख ४ अप्रैल सन् १९०५ ई० को भूकम्प से लगभग २०००० व्यक्ति मरे और लगभग १६ लाख २५ हजार वर्ग मील का क्षेत्र हिल उठा।

(३) बिहार में तारीख १५ जनवरी सन् १९३४ ई० को भूकम्प से मुजफ्फर पूर, मुँगेर और चम्पारन के जिलों में अपरिमित हानि हुई। हजारों वर्ग मील भूमि में दरारों से बालू निकलने के कारण वह कृषि के अयोग्य हो गयी, तथा जीव-हानि और संपत्ति की भी बहुत हानि हुई।

(४) क्वेटा में ३० मई सन् १९३५ ई० को बड़ा ही भयानक भूकम्प हुआ। लगभग २५००० व्यक्ति बेघर हो गये और जीव-हानि भी बहुत हुई।

(५) आसाम के भूकम्प :—

(अ) जून सन् १८९७ ई०—प्रारम में एक बड़े धमाके की आवाज हुई और लगभग २ मिनट और ३० सेकंट तक धरती हिलती रही यद्यपि केवल २० सेकंड में ही लगभग १५०००० वर्ग मील के क्षेत्र में उथल पुथल हो गई। धरती में दरारें पड़ गई और एक स्थान पर तो धरती ४० फीट ऊँची उठ गई। भूकम्पन (Earth vibration) की गति इतनी तेज थी कि केवल एक मिनट में दो सौ बार धरती हिली।

(ब) तारीख १५ अगस्त की सायंकाल को ७ बजे जब सारा भारत स्वतंत्रता दिन मना रहा था, उत्तरी आसाम में भूकम्प ने हाहाकार मचा दिया था। इस भूकम्प के कारण सारे उत्तरी आसाम की प्राकृतिक भू-रचना में आमूलाग्र परिवर्तन होने की आशंका की जा रही है। उस दिन से अब तक लगभग ३०० धक्के लगे। और अगस्त मास में डिब्रगढ शहर (Dibrugarh) में लगभग १२ बार धरती हिली। इस भाग में आवागमन के साधन नष्ट हो गये और जमीन में दरारें भी पड़ गई।

पर्वत से शिलाएँ टूट कर गिरने से ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियों के प्रवाह में अनयोचित परिवर्तन हो गये। ब्रह्मपुत्र के तेज प्रवाह से शहर का भाग एक ओर से कट कर नष्ट हो रहा है। जिससे सारा शहर नष्ट होने की आशंका हो रही है। इस भयानकता में जलवृष्टि ने भी हाथ बँटाया भूकम्प के प्रकोप से त्रस्त जनता में हाहाकार मच गया।

भूगर्भ शास्त्रों के अनुसार इस भूकम्प का कारण भी उस भाग में भूपृष्ठ के अन्तर्गत स्थित स्त दोषों की सतह पर चलन होना ही है यद्यपि निकटवर्ती भाग में किसी नये ज्वालामुखी की उत्पत्ति की भी आशंका की जा सकती है।

भारतवर्ष के इन ६ भयानक भूकम्पों की घटनाओं पर सरसरी तौर से दृष्टि डालने से एक और आशंका होती है और वह यह कि कुछ वर्ष के ही भीतर उत्तरी भारत में पश्चिमी बिहार या पूर्वी युक्त प्रान्त के भाग में भूकम्प का धक्का कदाचित् लगे क्योंकि स्थिर संतुलन के सिद्धान्त के अनुसार स्थिरता आने के लिये निकटवर्ती भाग में चलन हो सकता है। इस आशंका को भूकम्प विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् ओमोरी* Omori के सिद्धांत से Theory of alternation of Earthquakes से पुष्टि मिलती है। इस सिद्धान्त के अनुसार भूकम्प के कारण भूपृष्ठ के अन्तर्गत स्थित शिलाओं की स्थिरता में कुछ दोष उत्पन्न होते हैं जिसके कारण कम्पन होता है। और यदि अ भाग में भूकम्प हुआ तो अस्थिरता से स्थिरता की ओर जाने की प्रतिक्रिया के कारण उसी अस्थिर पट्टी में भूकम्प कुछ दूर के स्थान में होता है।

इस सिद्धान्त को भारत में सिंध नदी की घाटी १८१८ ई० के भूकम्प के बाद आसाम का भूकम्प सन् १८९७ ई०, काँगड़ा का भूकम्प १९०५, बिहार का भूकम्प १९३४ कोटा भूकम्प १९३५ और तत्पश्चात् आसाम के १९५० भूकम्प ने पुष्टि दी है।

यद्यपि आसाम के हाल के भूकम्प का विस्तृत विवरण नहीं मिला है तथापि जितना मिल सका है वह मानव-हृदय को दैवी लीला के इस भयंकर प्रकार से चकित करने के लिये पर्याप्त नहीं है, ऐसा कौन कह सकेगा ?

* F. Omori—Bulletins of the Imperial Earthquake Investigation Committee, Tokio.

—:o:—

पंच महाभूतों का यथार्थ स्वरूप

लेखक—प्रसादीलाल झा

[चेतन मनुष्य ने जैसे ही संसार को समझना आरम्भ किया वैसे ही उसके मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा कि वह कैसे बना ? सृष्टि-रचना के बारे में दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और विचारकों ने भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न विचार रखे, भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार पञ्च महाभूतों से इस शरीर का बनाव वैज्ञानिक दृष्टि से कहां तक सत्य है, इसी प्रश्न का उत्तर लेखक ने देने का प्रयत्न किया है।

हमारे मनुष्यों, और जगत के स्थावर जंगमात्मक समग्र भूतों की रचना पञ्चीकृत महाभूतों से ही हुई है। प्राणियों के शरीरों के धारण पोषणार्थ, सामान भी पांचभौतिक हैं। उनकी और प्राणियों के शरीरों की रचना ज्ञान के बिना उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी ठीक २ समझ में नहीं आ सकता। आयुर्वेद में पंच महाभूत का सिद्धान्त उसका प्रधान आधार है।

आयुर्वेद में उसके लोप से आयुर्वेद की वैज्ञानिक तथा युक्ति-युक्त धातु-साम्य-क्रिया का भी साथ ही साथ लोप हो जायगा। इस सूक्ष्म चिकित्सा के आधार भी "धातु-साम्यम्" और "धातु-वैषम्यम्" ऐसे ही सूक्ष्म हैं। पंचमहाभूतात्मक द्रव्यों के और उनके गुणों, रसों, वीर्यादि के प्रभावों की सहायता से ही उपरोक्त सूक्ष्म धात्वाशयान्तर्गत निरन्तर होने वाली चेतनाऽनुवृत्तियों (life processes Physico-Chemical reactions within the living matter) का विशेष युक्तियों द्वारा नियंत्रण (Control) भी असम्भव हो जायगा।

उनके स्थान में योरोपियन कैमिस्ट्री (Chemistry) तथा फार्माकालोजी (*Pharmacology*) की सहायता से उपरोक्त सूक्ष्म शरीर धात्वाशयों और स्रोतों में होने वाली धातुमल क्रियाओं (Anabolism & Katabolism) का यथेष्ट नियन्त्रण असम्भव है।

योरोपियन चिकित्सा शास्त्र में ऐसे सूक्ष्म विज्ञान का अभी तक अत्यन्ताभाव है।

इन थोड़े विचारों से यह स्पष्ट है कि ये स्थूल आकारादि वाले पंचमहाभूतों की पहुँच शरीर की बुद्धि इन्द्रियों तथा मन तक नहीं हो सकती।

इन स्थूल महाभूतों का सम्बन्ध सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न लिंग शरीरी भूतात्मा संज्ञक पुरुष का सम्बन्ध पंचमहाभूतों में वर्तमान सूक्ष्म भूतों के द्वारा सम्भव हो सकता है। ऐसी बातों से ऐसा अनुमान हो सकता है कि उसके और भी स्वरूप अवश्य होंगे।

तात्विक दृष्टि से अर्थात् 'तत्व' शब्द की परिभाषा "तनोति सर्वमिदम्" इति तत् के अनुसार तो पंच महाभूतों का वास्तविक यथार्थ स्वरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न अपंचीकृत पंचतत्व ही हो सकते हैं। वे ही सब सर्वत्र जगत भर में व्याप्त हैं और उन्हीं के सब द्रव्य रूपान्तर हैं। वे जगत तथा शरीर के पांचभौतिक द्रव्यादि या तत्वों के आत्मिक गुणों के प्रधान कारण हैं। वे सब भी त्रिगुणात्मक और पंचभूतात्मक हैं। ये ही आयुर्वेद शास्त्र में पंचमहाभूतों के उपदियता के थोड़े उदाहरण हैं।

क्लासिकल कैमिस्ट्री के ६२ एलिमेन्टस

उन पर अधिक विचार करना और उनके पंचमहाभूतों में समन्वय की बात सोचना ही बेकार है। वे दार्शनिक "तात्विक" कसौटी के अनुसार ही नहीं किन्तु नई एटामिक फिजिक्स के द्वारा ६२ प्रकार के एटम्स की रचना में, अनेक प्रकार के वैद्युतादिमय कणों या अणुयानों (इलेक्ट्रान्स प्रोटान्स, पजीट्रान्स और विद्युतहीन अनेक अन्य अवयव फोटान्स, न्यूट्रान्स

न्यूट्रीनो आदि तथा एटामिक न्यूक्लियस में वर्तमान अनेक मीजांस (mesons) की खोज के आधार पर भी वे अब तत्व नहीं कहा सकते। ९२ एलिमेन्ट्स आयुर्वेद शास्त्र के रस ग्रन्थों में धातु उपधातु आदि के नामों से विदित हैं। इस तरह आयुर्वेद के ग्रन्थों में उन में से बहुतों का प्रयोग चिकित्सा में हो रहा है। इनके समन्वय पर विचार के पूर्व अनुभवी आयुर्वैदिक रसायनाचार्यों के अनुमति को अत्यन्त आवश्यकता है। पंचमहाभूतों के यथार्थ स्वरूपों का किंचित ज्ञान और प्राणी के शरीरों से उनका सम्बन्ध निम्न विषयों के मनन करने से हीं प्राप्त हुआ है।:—

(१) पंचतत्वों से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति—

इनका विवरण जो विद्यार्थियों और अंग्रेजी पढ़े डाक्टरों के भी समझ में सरलता से आ सकता है, श्री शंकराचार्य प्रणीत् तत्वबोध और प्रश्नोपनिषद में देखा जा सकता है। यहाँ उसका सारमात्र नीचे दिया जाता है।

ब्रह्माश्रया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृति से एक शब्द गुण आकाश, आकाश से शब्द-स्पर्श दो गुण वाले वायु, वायु से शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण वाले अग्नि, और अग्नि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुण वाले जल, और जल से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधपाँच गुण वाली पृथिवी तत्व की उत्पत्ति बताई गई है। ये ही पंचभूतों के शब्द स्पर्श रूपादि संज्ञक विशेष, वैशेषिक दर्शन में बताये गये आकाश वायु आदि तत्वों के शब्द स्पर्शादि संज्ञक विशेष गुण या सूक्ष्म भूताणु कहाते हैं।

इन्हीं त्रिगुणात्मक आकाशादितत्त्वों के पृथक २ सात्त्विक अंशों से श्रोत्रत्वक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, और उन सबों के समष्टि या सम्मिलित सात्त्विक अंशों से अन्तःकरण (मन बुद्धि चित्त अहंकार) की उत्पत्ति हुई है। इसी तरह उनके पृथक २ राजस अंशों से पाद पाणि आदि कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति और समष्टि राजसांशों से पञ्चप्राणों की उत्पत्ति हुई हैं। और उन सबों के समष्टि तामसांशों से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हुई है।

पञ्चीकरण विधि —

प्रत्येक अपञ्चीकृत महाभूत के आधे तामस अंशों में दूसरे दूसरे अपञ्चीकृत महाभूतों के अष्टांशों के मेल से ही एक पञ्चीकृतमहाभूत की उत्पत्ति होती है। इन पञ्चीकृतमहाभूतों से ही प्राणियों के शरीरों और जगत के स्थावर जंगमात्मक भूतों की रचना हुई है।

इससे स्पष्ट है कि इन पञ्चमहाभूतों में स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियों और अन्तःकरण, सबों के धारण पोषणार्थ चतुर्विंशक तत्त्वों का अस्तित्व आवश्यक है।

इस सृष्टि क्रम के सम्बन्ध में स्मरण रखने योग्य बात यह है कि अपने शास्त्रों के अनुसार केवल जड़ प्रकृति ही जगत की उत्पत्ति में स्वतंत्र नहीं है। आत्मा जगत और शरीर के सब स्थानों में सर्वत्र व्याप्त परमात्मा के अधिष्ठातृत्त्व में ही वह सृष्टिकर्म में निमित्त मात्र है। यथा "यः सर्वदा सर्वत्र अतति सञ्चरति" इति आत्मा।" काल भयेऽपि तिष्ठति इति आत्मा सत्" । परमात्मनाऽधिष्ठातृत्वेन निमित्त कारणत्वं "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (श्री भगवतगीता)

(२) भूतों का प्रत्यक्ष ज्ञान--

"तत्राक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते" (इति प्रत्यक्षम्) नई फिजिक्स के विज्ञानी भी भूत (matter) की परिभाषा इसी प्रकार करते हैं।

(३) पञ्चमहाभूतों के अणुओं का विरलीकरण (analysis)

भूताणुओं से अधिक सूक्ष्म तन्मात्रायें और इन्द्रियें हैं। तन्मात्राओं से सूक्ष्म अहङ्कार है। अहङ्कार से अधिक सूक्ष्म लिंग (महत्तत्त्व) है। लिंगमात्र से अधिक सूक्ष्म अलिंग (अर्थात् सत्वरजतमोगुणमय अष्टरूप अव्यक्त) है।

(४) सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥४५॥
योगदर्शन समाधिपाद।

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के अणु ही, वैशेषिक में उनके गुण या शब्दरूपादि संज्ञक विशेष कहाते हैं। सुश्रुत में इनको ही बुद्धि इन्द्रियों का विषय बताया गया है। इन भोगों का अवसान चित् में होता है। यथा

चिदवसानो भोगः (सांख्य सूत्र)

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि भूताणुओं में अवश्य ऐसे सूक्ष्म विषय भी मौजूद हैं, जो चित्त और भूताणुओं के मध्य में सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अर्थात् पञ्चमहाभूतों के एक स्थूल ही रूप नहीं है।

(५) भूतों के ज्ञान के मार्ग :—

आगे बताया जा चुका है कि भूतों का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही सम्भव है। वाह्य जगत के स्थूल दृश्यों में वर्तमान विषय, भूतेन्द्रियों तक शान्ता घोरा मूढ़ा संज्ञक अणुओं के रूप में पहुँचते हैं। भूतेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य अणु ही अन्तः करण में पहुँच कर शान्त घोर मूढ़ बुद्धि प्रत्यत्यों में (चित्त द्वारा शीघ्र ही अर्थाकार यथा शब्दाद्याकारा बुद्धि वृत्तियों में) परिणत हो जाते हैं। वे ही बुद्धि विम्ब पुरुष में प्रतिविम्बित होकर सुख दुःख मोहादि के हेतु होते हैं। उपरोक्त और आगे बताये उदाहरणों से पञ्चमहाभूतों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान उसके किसी एक अंग से नहीं हो सकता।

पंच महाभूतों के यथार्थ रूप

भूतों के प्रथम रूप की परिभाषा "स्थूल" है।

इनके उदाहरण शब्दादि संज्ञक भूताणु हैं। ये ही भूतों के विशेष कहाते हैं। वे इन्द्रिय-ग्राह्य (perceptible by sensory organs) हैं। एटामिक फिजिक्स (Atomic physics) के फोटान्स (photons) और स्थूल रूपों में विषय की दृष्टि से ही समानता है।

भूतों के द्वितीय रूप की परिभाषा "स्वरूप" है।

ये भूतों के स्वसामान्य साधारण लक्षण है। यथा पृथ्वी की मूर्ति, जल का स्नेह।

भूतों के तृतीय रूप की परिभाषा "सूक्ष्म" है।

तन्मात्रायें इनके उदाहरण हैं। ये बुद्धि इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य (imperceptible) हैं।

भूतों के चतुर्थ रूप की परिभाषा 'अन्वय' है।

सत्त्वरजतमादित्रिगुणों के समान ही इनके कार्य होते हैं। जैसे सात्त्विक आहार में वर्तमान अन्वयाख्य तत्त्वों से सात्त्विक इन्द्रियों, मन और चक्षु आदि के सात्त्विक अंशों का पोषण धारण होता है। (आयुर्वेद विज्ञान मीमांसा भाग—१,)

भूतों के पञ्चम रूप की परिभाषा 'अर्थवत्त्व' है।

ये ही अर्थाकार बुद्धि की वृत्तियों के हेतु हैं।

मेरा निश्चय—

मेरे विचार में जैसे हाथी के किसी एक अंग से उसको (जिसने उसको पहले न देखा हो) पूरे हाथी के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

—:०:—

पक्षी और उनका महत्व

लेखक—प्रेमदुलारे श्रीवास्तव

[शून्यप्रकृति को अपने कलरव के अस्त्र से वाचाल बनाने का श्रेय पक्षियों को ही प्राप्त है। प्रकृति की शोभा बढ़ाते हुए पक्षी-जगत मानव जगत के कितना काम आता है, यह जानकर पाठकों का मनोरंजन ही होगा। पक्षियों को अन्धाधुंध गोली का निशाना बना कर मनुष्य स्वयं कैसे अपने ही पैर कुल्हाड़ा मारता है, इसे इस लेख में पढ़िये।

भारत का पक्षियों का प्राणिजात बहुत धनी है। आचरण, भारतीय पक्षियों की सदा से विशेषता रही है। हिम्मती धैर्यवान, परिश्रमी, निर्भीक, बुद्धिमान, चतुर तथा अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने की शक्ति रखने वा पक्षियों की यहाँ कभी भी कमी नहीं रही।

निर्भीकता यहाँ के पक्षी प्राणिजात की मुख्य विशेषता है। किसने नहीं गौरैया, मैना आदि को निर्भीकता पूर्वक घरों की छतों, दीवारों, इत्यादि में घोंसले बनाते देखा है? बुलबुल तो गमलों तक में उगने वाले पेड़ों की पत्तियों आदि में घोंसले बनाते देखी गई है। श्री डगलस देवार के अनुसार भारतीय पक्षी अपने अमेरिकन, आँस्ट्रेलियन तथा योरोपियन साथियों से अधिक रोचक होते हैं।

कुछ योरोपियन लेखकों का मत है कि भारतीय पक्षियों में संगीत का सर्वथा अभाव है; वे केवल तरह तरह के स्वरों में बोल भर सकते हैं गाना भला वे क्या जानें? इस भ्रमपूर्ण धारणा का केवल एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि इन लेखकों के कान भारतीय पक्षियों के गायन सुनने के अभ्यस्त नहीं। यदि वे शामा (cittocincla macrura) तथा भीमराज (dissemurus paradiseus) का जो और देशों के उत्कृष्ट गवैये पक्षियों के जोड़ के हैं गाना कभी सुनें, तो निश्चय ही उन्हें अपनी धारणा बदलने पर बाध्य होना पड़ेगा।

वाह्य गुणों की भी शून्यता अथवा कमी का आभास हमारे देश के पक्षियों में नहीं मिलता। कुछ तो देखने में इतने सुन्दर होते हैं कि उनकी सुन्दरता की उचित प्रशंसा के लिये उनका समीप से परीक्षण आवश्यक हो जाता है। जहाँ इतने सुन्दर पक्षी हैं कि उन्हें देखने से कभी भी जी नहीं भरता, वहाँ ऐसे कुरूप पक्षी भी हैं जिनकी ओर आँख उठाकर देखने की कभी इच्छा भी नहीं होती। संभवतः संसार का सबसे कुरूप पक्षी गिध होता है जिसकी चोंच, चेहरा, पंख इत्यादि उसके शरीर के सभी भाग नेत्रों को अप्रिय लगते हैं।

भारतीय पक्षियों में भिन्न-भिन्न जातियों की १०४ गौरैया (Warbler), ५६ कठफोड़वा (Wood Peckers), ३० कोयल (Cuckoos), ३० बत्तखें (ducks), २८ मैना (Starling) १७ बधिक पक्षी (Butcher birds), १६ किलकिले (Kingfishers) तथा ८ कौवे (Crows) हैं।

भारत के पक्षी प्राणिजाति के धनी होने का प्रमुख कारण यहाँ के भिन्न-भिन्न राज्योंकी जलवायु की भिन्नता है। इसके अतिरिक्त, भारत, पक्षी संसार के दो बड़े विभाजनों के मध्य में पड़ता है। हिमालय पेलीआर्कटिक क्षेत्र (Paloearctic region) का एक भाग है और मैदान ओरियन्टल क्षेत्र (Oriental region) में सम्मिलित हैं। पर्वतों व घाटियों में रहने वाले पक्षी मैदान के पक्षियों से उसी प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार कि इंगलैंड

के पक्षी अफरीका के पक्षियों से। मैदान के सुनहरे कठफोड़वा (Wood-peckers) डोम कौवा (kingcrow), तीतर (Partridge) तथा बुलबुल (Molpastes) के स्थान पर हिमालय में चित्तीदार कठफोड़वा (pied woodhecker) चकोर (Caccabis) तथा काले बुलबुल मिलते हैं। (Hypsipetes Psaroides) मैदानों के कुछ पक्षियों की बराबरी के पक्षी पर्वतों पर नहीं मिलते और इसी प्रकार पर्वतों के कुछ पक्षी मैदानों में नहीं मिलते।

हिमालय का पक्षी प्राणिजात मैदानों के प्राणिजात से कितना भिन्न है यह कर्नल रावेट तथा श्री डगलस देवार के दो वर्ष के अनुभवों से ज्ञात हो जाता है। कर्नल रावेट ने मरे की पहाड़ियों तथा श्री देवार ने लाहौर के अनुभवों के फलस्वरूप १०४ तथा ६० भिन्न भिन्न जाति के पक्षियों के घोंसले क्रमशः पाये, जिनमें से लाहौर में पाये केवल कुछ ही ऐसे थे जो दोनों नामावलियों में सामान्य हों। श्री जोरडेन हिमालय में यों पक्षी प्राणिजात मानते हैं। पूर्वी भाग के पक्षी आसाम के पहाड़ी क्षेत्रों में सामान्य हैं और पश्चिमी भाग में पाये जाने वाले पक्षियों में कुछ योरोपियन जातियाँ भी सम्मिलित हैं जो तिब्बत तथा उत्तरी एशिया में सामान्य हैं। मलाबार तथा नीलगिरी की पहाड़ियों में अनेक ऐसे पक्षी हैं जो और कहीं भी नहीं पाये जाते। उस भांति पक्षी प्राणिजात के आधार पर भारत चार भौगोलिक क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है।

पक्षियों का अध्ययन पक्षी-प्रेम, जीवशास्त्र, तथा अर्थशास्त्र के भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है।

पक्षी-प्रेम का दृष्टिकोण

पक्षी-प्रेमी को उन्हें देखते रहने में एक विशेष आनन्द का अनुभव होता है। जो पक्षियों के सम्पर्क में कभी भी आये हैं वे ही यह जान सकते हैं कि पक्षी के परिचय से हृदय को कितना सुख मिलता है। पक्षियों को जीवन की सांत्वना, मनोरंजन आदि कहा गया है। उनकी स्फूर्ति, सुन्दरता तथा गौरव अद्वितीय होता है। उड़ने की शक्ति के कारण ये भूमि के और साथी जीवों से अधिक लाभ में रहते हैं। बड़े मस्तिष्क के निर्माण के स्थान पर उन्होंने अपनी शक्ति उड़ने, गाने तथा सुन्दर पर बनाने में लगाई है।

जीवशास्त्र का दृष्टिकोण

जीवशास्त्री और जीवों के साथ-साथ पक्षियों का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से उस आशा से करता है कि प्रकृति की कुछ उलझी हुई पहेलियों को सुलझा सके। संख्या, जाति तथा किस्मों के विचार से पक्षी प्राणिजात धनी होने के कारण ही जीवशास्त्रियों के लिये यह इतना मूल्यवान है।

सर्वश्री डारविन तथा वालेस, दोनों ही को प्राकृतिक चुनाव का विचार शीतोष्ण क्षेत्रों (Tropical region) ही में आया। श्री डारविन के समय से इस विषय में अति न्यून प्रगति हुई है। अधिकांश योरपीय प्राणिजात की दरिद्रता के कारण ही ऐसा हुआ है। इसके बारे में अमेरिकन अधिक भाग्यशाली हैं।

लगभग ७५ वर्ष पूर्व श्री जारडेन ने भारतीय पक्षियों के बारे में लिखा था। श्री जारडेन के बाद आज स्थिति यह है कि सिद्धांत पर सिद्धांत पटे पड़े हैं। इनमें से अनेकों का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि अपर्याप्त विचारों के आधार पर उनकी नींव पड़ी है। प्रतिदिन नये-नये सिद्धान्त प्रकाशित हो रहे हैं। ये कभी भी न हो पाते यदि गर्म क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में जीवशास्त्रियों ने अध्ययन न किया होता।

नियो डारविनिज्म

नियोडारविनिज्म की बाढ़ अपर्याप्त प्रमाणों के आधार पर सिद्धान्त बनाने की ओर झुकाव का प्रत्यक्ष उदाहरण है। बड़ी संख्या में जीवशास्त्री, सर्वश्री वालेस तथा वाइजमैन के नेतृत्व में यह घोषणा करते हैं कि प्रांगारिक संसार की भिन्न भिन्न क्रियाओं का,

प्राकृतिक चुनाव, असंख्य अनिश्चित भेदों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। श्री डगलस देवार का कथन है कि सर्वश्री वालेस तथा वाइजमैन के अनुयाइयों की संख्या बहुत कम होती यदि उन्हें भारतीय पक्षियों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त होता।

श्रीडगलस देवार ने एक ही वन में कम से कम छः भिन्न भिन्न जातियों के फ्लाईकैचर (fly catcher) का ईषण किया है। इनमें से किसी किसी में लिंग भेद अधिक होता है और किसी-किसी में कम। इन सभी की भोज्य प्रवृति समान होती है और वे सम वातावरण में रहते हैं पर उनके घोंसले बनाने की प्रकृतियों में बड़ा अन्तर है। यदि इस पक्षी के रंग का आधार प्राकृतिक चुनाव ही होता तो इनकी जातियों का आकार, नाम तथा रंग आदि समान होने चाहिये था। यहाँ पर नियो डार्विनिजम असफल रह जाती है।

भारतीय पक्षी प्राणिजात में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिसे कुछ प्राणि शास्त्री मिमिक्री (mimi cry) कहते हैं। जब दो पक्षी रक्त संबन्धी न होते हुए भी वाह्य आकार में समान होते हैं और यह समानता दोनों में से एक के प्रति लाभदायक प्रतीत होती है तो दूसरी जाति को पहली जाति का अनुकरण कर्त्ता कहते हैं। ऐसा अनुकरण निःसंदेह अनजाने से होता है न कि प्राकृतिक चुनाव के कारण! भारत में एक कोयल होती है ड्रोंगो कुक्कू (Drongo cuckoo—Surniculus lugubris) जो कि सामान्य डोम कौवे से आकार में मिलती जुलती है। डोम कौवा बड़ा ही सावधान पक्षी होता है विशेषतः प्रजनन की ऋतुमें यहाँ तक कि इन्हें घोंसले की ओर बढ़ने वाले बन्दर को भी भगाते हुए देखा गया है। इनकी सावधानी पर भरोसा करके कुछ पेडुकियाँ आदि इन्हीं के घोंसले वाले पेड़ों में अपने घोंसले बनाती हैं। ऐसे पक्षी के घोंसले में अंडे एकत्र कर देना लगभग असम्भव सा लगता है। पर ड्रोंगो कुक्कू आकार में डोम कौवे के बिल्कुल समान होता है। दोनों ही छोटे काले चिमटे के समान पूँछ वाले पक्षी होते हैं। कौवा क्यों काला हुआ तथा कोयल ने क्यों उसका अनुकरण किया? यदि हम किसी भी विचार को प्राकृतिक चुनाव के आधार पर समझते हों तो हमें उसके उन गुणों से लाभ भी बताना आवश्यक हो जाता है प्रारम्भिक दशा में तथा आगे के विकास में भी।

एक दूसरी भारतीय कोयल (Hierococcyx varius) भारतीय शिकरे (Astur bodius) से, छोटे-छोटे विवरणों में भी मिलती-जुलती है। इस समानता से सम्भवतः कोयल को लाभ होता है। बैबलर पक्षी (babblers—Crateropus canorus) जिन पर कि शिकरा आक्रमण करता है उससे मिलते जुलते पक्षी को देख कर डर से भाग जाता है और कोयल को उसके घोंसले तक पहुँचने का अवसर प्रदान करता है। परन्तु इतना अधिक मिलना जुलना तो इससे नहीं समझाया जा सकता क्योंकि बैबलर पक्षी को भगाने के लिये साधारण सा मिलना जुलना ही पर्याप्त था। भागने से पहले उसे पक्षी के हर एक चिन्ह को देखने का साफ अवसर कहाँ? चूँकि समानता नन्हें-नन्हें विवरणों में भी है, अतएव दोनों ही में पक्षों के बनाने का कारण एक ही हो सकता है।

उद्विकास (evolution) की समस्या अति जटिल है। भारतीय पक्षियों के अध्ययन के उपरान्त श्री देवार इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सर्वश्रीवालेस तथा वाइजमैन को नियोडारविनिज्म का सिद्धांत, जो विलायत में अधिकतर लोगों को मान्य है, उपर्युक्त परिस्थितियों में सर्वथा अमान्य है।

अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण

भारतीय पक्षियों का आर्थिक दृष्टिकोण से भी अध्ययन नितांत आवश्यक है। इसका बड़ा ही व्यवहारिक महत्व है। पक्षी, मनुष्य के लिये एक मूल्यवान वस्तु है यह तो सभी मानते हैं। यदि कहीं पृथ्वी मात्र से इनका लोप हो जाय, तो मानव जीवन ही सम्भव न हो सके।

बहुतेरे ऐसे पक्षी हैं जो विशुद्ध कीटाहारी हैं। ऐसे भी पक्षी हैं जो दूसरे पक्षियों छोटे-छोटे स्तनी (mammals) तथा रेंगने वाले जीवों (reptiles) का भक्षण कर जाते हैं। गिध ऐसे पक्षियों का भक्षण करता है जो अधिकतर फल, अन्न तथा छली पर जीवन निर्वाह करती हैं। किसे मित्र माने और किसे शत्रु, यह एक विचित्र पहेली है।

पक्षियों की भिन्न भिन्न दशाओं में उनके भोजन की प्रकृति का अध्ययन करने से तथा भिन्न भिन्न दशाओं में जैसे सूखे के आधिक्य, वर्षा के आधिक्य अथवा टिड्डी दल के धावे के अवसर पर उनका व्यवहार जान लेने पर भी मित्र शत्रु का निर्णय करना कठिन है। कुछ ऐसे पक्षी हैं जो स्वयं तो मुख्यतः अन्नग्रहों पर रहते हैं पर अपनी सन्तान को हानिकारक सूँड़ियाँ खिलाते हैं। सूँड़ियाँ बहुत ही खाऊ होती हैं। सूड़ियों को खिलना तो अल्प कार्य है पर अन्न-गृहों पर जीवन निर्वाह करना बुरा। ऐसी दशा में तुलनात्मक आधार पर कुछ अंश तक मित्र शत्रु का निर्णय किया जा सकता है।

अब हम उपर्युक्त आधारों पर सामान्य पक्षियों का विववरण दे कर यह निर्णय करेंगे कि कौन मित्र और कौन शत्रु श्रेणी के हैं ताकि यह समझा जा सके कि किन किन की सेवायें ग्राह्य हैं और किन किन का उनके उत्पात के कारण, जिस किसी भांति भी सम्भव हो, अन्त कर देना आवश्यक है।

भारतीय पक्षियों की लगभग बीस जातियाँ ऐसी हैं जिनका मित्र अथवा शत्रु श्रेणी में रखे जाने का निर्णय नहीं हो सका है। ऐसे पक्षियों की श्रेणी में गौरैया, कौवा, मैना, तोता, पेड़ुकी, तथा बत्तख आदि की भिन्न भिन्न जातियां सम्मिलित हैं।

घरेलू गौरैया—(Sparrow—Passer domesticus) यह नन्हा सा पक्षी, लगभग हर घर में फुदकता हुआ दिखाई पड़ता है जो कुछ अन्न के टुकड़े अथवा जूठन पड़ा रहा रहता है उन्हें चुन लिया करता है। जैसा कि इसके वैज्ञानिक नाम से ही ज्ञात होता है, एक घरेलू पक्षी है और घरों या घरों के यह आस पास ही रहा करता है, खुली वायु उसे नहीं भाती ऐसे पक्षी से अन्नग्रहों को विशेष हानि पहुँचने की आशा नहीं की जा सकती जब तक कि अन्नग्रहों के पकने के समय वह घरेलू वातावरण से अवकाश न ग्रहण करले।

घोंसलों में गौरैया की सन्तान मुख्यतः कीड़ों का ही जिनमें सूड़ियों का प्रमुख स्थान होता है, भोजन करती है। परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि एक मादा गौरैया घोंसले में अपनी सन्तान को भोजन कराने के हेतु दिन भर में लगभग ५४० कीड़े, मुख्यतः सूंड़ियां लाती हैं। जब कभी कीड़ों की संख्या विशेष रूप से बढ़ जाती है तो उस समय प्रौढ़ गौरैया स्वयं भी कीड़ों का भोजन करने लगती है। इस प्रकार यह नन्हा सा पक्षी मानव जाति का बड़ा कल्याण करता है विशेषतः उस समय जब कि इसकी संतान घोंसलों में रहती है। कहीं कहीं पर गौरैया को पूर्णतया हटा देने के फल स्वरूप लगभग हर हरी पत्ती सूड़ियां द्वारा नष्ट होती पाई गई है।

कौआ

पकते हुए अन्नग्रह को कौवा भोज समझता है जैसा उसके लिए इसका आयोजन किया गया हो, परन्तु इस पक्षी के भोजन में अन्न की गणना केवल नाम मात्र की होती है। उन्हें नगर व कस्बे, ग्रामों से अधिक पाता हैं। यह मनुष्य को परेशान तो अवश्य करता है पर हानि कम। यह अशिष्ट पर लाभदायक भंगी होते है तथा टिड्डी दल जैसे अत्यधिक हानिकारक कीड़ों का भी नाश करता हैं। कुछ अंश तक यह कहना असंगत न होगा कि कौवे जैसे सर्व भोजी पक्षी विशुद्ध कीटाहारी पक्षियों से अधिक मानव-कल्याण करते हैं।

गुलाबी रंग की मैना

(The rosy starling–pastor roseus) यद्यपि इस जाति की मैना भारत भूमि पर प्रसावन नहीं करती, फिर भी वर्ष के अधिकांश महीने वह

यहीं बिताती है। इसे प्रायः अन्नग्रहों की बड़ी हानि पहुँचाते बताया जाता है। देश-परिवर्तन Migration के पूर्व यह बड़े बड़े समूहों में एकत्र होती हैं अतएव उपयुक्त अभियोग में कुछ सत्य का अंश अवश्य है। पर यह पक्षी, घासों के बीज, कीड़े, जंगली फल विशेषतः शहतूत को भी खाता है। उत्तर प्रदेश में इसे शहतूत का पक्षी भी कहते हैं और फारस में टिड्डी खाने के कारण इसे टिड्डी का पक्षी कहते हैं,

बया

(Warblers) इस समूह के अन्तर्गत कितने ही नन्हें नन्हें पक्षी हैं जो अन्न नहीं खाते, इस समय हम उन्हीं पर विचार करेंगे जो अन्न खाते हैं। फ्लोकस नाम की बया (Ploccus baya) गेहूँ खाती है। श्री देवार का विचार है कि भारत में यह पक्षी, भिन्न भिन्न जातियों की घासों के बीज को अधिक रुचि से खाता है। चूँकि यह प्रसावन वर्षाऋतु में करती है सम्भवतः सन्तान को कीड़ों का ही भोजन देती होगी। इनके संबंधी पीलू (yellow corn huntings) सम्भवतः शत्रु ही हैं क्यों कि वे भारत में प्रसावन नहीं करती। भारत में उसका आगमन बड़े बड़े समूह में शरद ऋतुओं में होता है और वे कृषि को भयंकर हानि पहुँचती हैं। पर वे ऐसा घास के बीज न मिलने ही पर करती हैं। कीड़ों का भक्षण करती हैं अथवा नहीं, इसका ठीक पता नहीं।

तोता

(Paraquets) यह सुन्दर हरा पक्षी कभी भी कीड़ों का भोजन नहीं करता और निःसंदेह यह धान्य अन्नग्रहों (Cereal crops) के प्रति नाशकारी है। पूरी बाल तोड़ कर उसमें से दो चार दाने चुन कर शेष यों ही छोड़ देने की उसकी बड़ी ही बुरी प्रवृत्ति है। यह फलों के उद्यानों को भी हानि पहुँचाता है। परन्तु इनकी संख्या बहुत नहीं बढ़ने पाती क्यों कि सहस्रों की संख्या में इनकी संतानें बचपन में ही पाले जाने के हेतु पकड़ कर बेच दी जाती हैं। यह एक प्यारा पिंजरे का पक्षी है जो सिखाये जाने के अनुसार बोलने के लिये प्रसिद्ध है। इस पक्षी के परों का निर्यात भी होता है।

कबूतर व पेंडुकी (Pigeons and doves)

तोते ही की तरह ये पक्षी भी कीड़े नहीं छूते। कुछ जातियाँ केवल फल खाती हैं और कुछ केवल अन्न। फल खाने वाले तो मनुष्य को विशेष हानि नहीं पहुँचाते क्योंकि ये जंगली अंजीर जैसे फलों को खाती हैं जिनका मनुष्य के लिए कोई महत्व नहीं होता। पेंडुकियों की भिन्न-भिन्न जातियाँ नये लगाये गये पेड़ों को ही प्रभावित करती हैं और कृषि को नहीं। जंगली कबूतर (Blue rock pigeon—Columba intermedia) अन्न खा जाते हैं पर साथ ही साथ उनका मांस भी बड़ा स्वादिष्ट समझा जाता है।

बत्तख व किलकिला (Geese ducks and quails)

बत्तखें निश्चय ही भिन्न-भिन्न अन्नग्रहों की हरी डालों को हानि पहुँचाती हैं पर साथ ही साथ में उपयोगी भोजन भी हैं। इसके मारने में शिकारी को इतना आनन्द आता है कि प्रतिवर्ष भारत में इसके आगमन का स्वागत होता है। इसी तरह का पक्षी किलकिला भी होता है। शिकार के पक्षी जंगली घासों के बीज को खाकर किसान का बड़ा उपकार करते हैं। ये दीमक भी खाते हैं। बत्तख व मुर्गी के अंडों का भी उपयोग खाने के लिए बहुतायत से होता है। सफेद बगुला अन्न छूता ही नहीं। यह धान जैसे पानी के खेतों के पास की नम भूमि से अपना भोजन ढूँढ़ लेता है। इसके भोजन में कीड़े तथा कुछ कवचधारी (Coustaceans) मुख्य हैं जो पास के अन्नग्रह को हानि पहुँचाते हैं। पर इस पक्षी को सुन्दरता का मूल्य चुकाना पड़ता है और इसे इसके परों के प्रेमी प्रायः गोली का निशाना बना दिया करते हैं और यह बेचारा मानव सेवा ही में रह अपना जीवन खो बैठता है।

शिकरा, बाज तथा उल्लू

ये पक्षी भ्रम वश शत्रु समझे जाते हैं पर हैं ये हमारे अनन्य मित्र! ये उन छोटी-छोटी रदनियों (rodents) को खा जाते हैं जो खेतों में अन्न ग्रहों,

फल तथा तरकारियों के उद्यानों को अत्यन्त हानि पहुँचाती हैं। कभी-कभी अवश्य ये सन्तान को खिलाने के लिये शिकार की कमी के कारण दो एक मुर्गी के बच्चों आदि पर झपट्टा मार देते हैं पर केवल इतने ही से इन्हें शत्रु श्रेणी में रख लेना सर्वथा अनुचित है।

चील व गिध (Kites and vultures) चील व गिध के अतिरिक्त कौवा भी भंगी-पक्षी है। ये अत्यन्त आवश्यक पक्षी हैं इनकी अनुपस्थिति में क्या दशा होगी यह सोचा भी नहीं जा सकता। थोड़ा सा इसका आभास नगर वालों को अवश्य हो सकता है जहाँ पर भंगियों ने कभी दो चार दिनों की हड़ताल कर दी हो। क्या दशा होगी देश के स्वास्थ्य की जब लाशें ज्यों की त्यों पड़ी सड़ती रह जायेंगी?

पक्षी कृषि से संबन्धित पशुओं के भिन्न-भिन्न प्रकार के कीड़ों को उनके शरीर से चुन चुनकर उन्हें नाना प्रकार के रोगों से बचाते हैं।

समुद्री पक्षियों के लगातार बीटों के एकत्र होने से ही चिली साल्ट पीटर (Chille salt petre) नाम की विश्व विख्यात खाद बनी है मछलियों में उपस्थित फासफोरिक एसिड तथा नाइट्रोजन के खाद जैसे उपयोगी गुणों का पता लोगों को तभी लगा जब कि ग्यानो (guano) जो कि समुद्री जातियों की बीट तथा मछलियों की मिलावट है—का उपयोग कृषि में होने लगा।

पक्षी का साथ, चित्त को अत्यन्त प्रसन्न करता है। श्री बकलैंड कहते हैं कि उनके जीवन में, भोर में पक्षियों की चहचहाचट के समय उठने में जितनी प्रसन्नता उन्हें मिली, उतनी विशुद्ध प्रसन्नता उन्हें और कभी भी नहीं मिली। इसे धूप निकलने पर भी रात ही समझने वाले भला क्या जानें?

कवियों को भी पक्षियों की चहचहाहट से बड़ा बल मिलता है। सर्व श्री शेली (Shelly), कोलरिज (Coleridge) तथा लाँगफेलो (Longfellow) की टू ए स्काई लार्क (To a Skylark) दि ऐंशियट मेरिनर (The ancient Marinor) तथा दि बर्डस आव किलिंगवर्थ (The Birdsof Kilingworth) नामक कवितायें सदा अमर रहेंगी।

भारत में पक्षियों को मारने पर प्रतिबंध लगाने का पहला प्रयत्न सन् १८६६ ई० में किया गया था। सन् १८८७ ई० में यह प्रयत्न सफल हो सका। सन् १८८७ ई० की धारा सभा की कार्यवाही से इच्छित उद्देश्य की सिद्धि न हो सकी इसलिए सन् १९०३ ई० में अधिक कठोर कानून बनाकर भारतीय सरकार ने पक्षियों तथा कृषि की रक्षा के हेतु जो कुछ भी सम्भव था किया। यद्यपि आज परों के निर्यात पर रोक लगे रहने पर भी व्यापारी दूसरी वस्तुओं का धोखा देकर इनका निर्यात कर ही लेते हैं फिर भी यह निर्दय व्यापार अब पहले से कहीं कम है। सुरखाब तथा मोर के परों का महत्व सभी जानते हैं। अध्ययन के निमित्त ही पक्षी बाहर भेजे जा सकते हैं और किसी दशा में नहीं। एक तोते तथा इसकी जाति के अन्य पक्षियों को छोड़कर अन्य सभी पक्षियों की गणना न्यूनाधिक मनुष्य के मित्रों ही में की जाती है। पक्षी एक सावधान पुलिस की भाँति समूह के समूह चोर कीड़ों को पकड़ने का कार्य बड़ी तत्परता से करते हैं।

निर्दयता, भावुकता इत्यादि को छोड़ कर अकेला आर्थिक दृष्टिकोण ही पक्षियों की रक्षा के हेतु पर्याप्त कारण है।

आखेटकर्ता एक तो प्रकृति के सुन्दर प्राणियों को मार-मार कर उनका लोप करने की ओर अग्रसर होता है, दूसरे वह कृषि को जिस पर क्या राजा क्या रंक सभी का जीवन निर्भर है, अपूर्तिपूर्ण क्षति पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त वह इन असहाय जीवों के प्रति निर्दयता का व्यवहार करके हृदयहीनता का परिचय देता है। लोप के सम्बन्ध में तो भारतीय सरकार की आज्ञा कुछ अंश तक कार्य कर रही है रही निर्दयता तथा हृदयहीनता की बात सो स्त्रियाँ यदि पक्षियों के प्रति निर्दयता के व्यवहार का ध्यान करके उनका प्रयोग बन्द कर दें तो इनका मारा जाना स्वयं ही बन्द हो जाय। ऐसा भला क्यों होने लगा?

परमाणुओं का कायापलट

लेखक—जगपति चतुर्वेदी

सम्पन्नता की खोज में सदैव से ही वैज्ञानिकों ने अथक परिश्रम किया है, उद्देश्य यही रहा है कि कि किसी प्रकार रासायनिक या भौतिक क्रियाओं द्वारा तांबा आदि तुच्छ तत्वों को सुवर्ण में परिवर्तित किया जाय। वर्तमान वैज्ञानिक अनुसंधान ने इस रूप को सौद्धान्तिक रूप में प्रत्यक्ष भी कर दिया है। मानव-मस्तिष्क की इस चिन्तन-धारा का इतिहास यहां मनोरजंक रूप में वर्णित है।

पौराणीक कथाओं में महर्षि विश्वामित्र द्वारा इस स्टष्टि से पृथक एक नई स्टष्टि ही बनाने की कहानी सुनी जाती है। विश्वामित्र ने अपने तप के बल से ऐसा करने का प्रयत्न किया था। आज भी कुछ विचित्र अन्नों को विश्वामित्र की नई सृष्टि का बना हुआ बताया जाता है। मनुष्य अपने विज्ञान-बल से आज नई सृष्टि के बनाने वा पुरानी सृष्टि की रचना, क्रिया को अपने हाथ की कठपुतली बनाने का प्रयत्न कर रहा है। आज ऐसे प्रयोगों का प्रारम्भ मात्र है, इस लिए अत्यंत नगण्य सफलता मिलते देख हमें हँसी आ सकती है किन्तु इन्हीं प्रयत्नों का रूप आगे कितना बढ़ता जा सकता है और मनुष्य के हाथ में कितनी बड़ी शक्ति आ सकती है, इसका आज कुछ भी अनुमान कर सकना बहुत कठिन है। पिनाकम (यूरेनियम) और रश्मिम (रेडियम) वा इसी जाति के रश्मि शक्ति वाले पदार्थ अपनी शक्ति निरन्तर बिखेरते जा कर कालान्तर में अपना कायापलट करते रहते हैं। इसे देख कर बैज्ञानिकों को अपनी दुर्बल शक्ति, असमर्थता पर प्रति क्षण हँसी जाती रहती थी किन्तु उन्होंने प्रयत्न न छोड़ा और अन्त में भिन्न भिन्न रूप में आशा की किरणें दिखलाती प्रारम्भ हो ही गई। इन प्रयत्नों का मनोरंजक वर्णन हमारे उत्साह-वर्द्धन में कितना सहायक हो सकता है।

परमाणुओं की रचना के संबंध में हम जानते हैं कि उनका अंत:करण धनात्मक विद्युत शक्ति युक्त भाग का होता है जिसे धनाणु कहते हैं। हम यह भी जानते हैं कि इस केन्द्र के धनात्मक बिजली के परमाण के ठीक बराबर परमाणु की ऋणात्मक बिजली परमाणु की कक्षा में ऋणाणुओं में रह कर बिजली के दोनों पलड़ों को बराबर रखती है। पलड़े बराबर रहने को ही संतुलन होना या बराबर तोल का होना भी कहा जाता है। हम यह भी जानते हैं कि परमाणु-केन्द्र की रचना में और भी खंड होते हैं जो संतुलन करने वाले वा पलड़ा बराबर रखने वाले धनात्मक बिजली युक्त धनाणुओं के अतिरिक्त होते हैं। इन अतिरिक्त खंडों की बनावट एक धनाणु और एक ऋणाणु के निकट के संयोग से केन्द्र में ही मानी जाती है। इन का बिजली के पलड़े के भारी वा हल्का करने में कोई हिस्सा न लेने का कारण धनात्मक और ऋणात्मक दोनों बिजलियों के संयोग से बना होना है। इसी लिए इनको 'सुप्ताणु' नाम हम ने दिया है। सुप्ताणुओं की रचना धनाणु से है और धनाणु ही परमाणु का तोल बनाने योग्य होता है इस लिए सुप्ताणु परमाणविक भार घटाते बढ़ाते हैं।

विज्ञान की आधुनिक खोजों ने इन सुप्ताणुओं से ही पूरी पूरी सहायता पा कर बड़ी प्रबल शक्ति अपने हाथ में की है। हम इस बात को सरलतया समझ सकते हैं कि प्राकृतिक रूप में परमाणु वा परमाणु-केन्द्र उन सब में पृथक-पृथक ऋणाणुओं के घेरे और उनमें बिजली के ऋणात्मक वा धनात्मक भंडार के कारण अपने रूप पलट सकने में साधारणतया कठिनाई अनुभव करते हैं। समान गुण की बिजली एक दूसरे को दूर ढकलती है, इसी कारण परमाणु ऋणात्मक बिजली के बाहरी घेरे के कारण एक दूसरे के केन्द्र के समीप होने वा टकराने का अवसर नहीं

पाते। इस घेरे को इतने या कम जोर करने वा बहुत शक्तिशाली चोट करने पर भी कुछ अच्छा नतीजा नहीं निकलता। रदरफोर्ड ने रश्मिय (रेडियम) के अपने केन्द्र से बाहर फेंके जाते अल्फा खंडों अर्थात् तत्वों की क्रम संख्या के द्वतीय परमाणु हिम जन (हीलियम) के परमाणु- केन्द्रों को हजारों मील प्रति सेकेंड के वेग की चोट से आक्रमण कर भी निशाने के परमाणुओं में हजारों चोटों के बाद किसी एक में कुछ चोट का प्रभाव होते देखा था। परमाणु-केन्द्र धनात्मक बिजली के भंडार होने के कारण दूसरे परमाणु-केन्द्र को दूर ढकेल देते होंगे, कोई कोई हजारों में एक अभागा परमाणुओं की भीड़ में भाग न सकने के कारण फंस कर खंडित हो जाता होगा। यह कठिनाई दूर करनी ही थी। परमाणु-केन्द्रों के खंडों का सजातीय विभीषण सामने आए बिना राम द्वारा लंका पुरी–विजय कठिन ही थी। ये विभीषण रूप सुप्ताणु (न्यूट्रन) ही अपने मूल धनाणु वंश के खंडन और मंडन में भारी सहायक सिद्ध हुए और मनुष्य युक्ति से सफलता की ओर बढ़ा।

परमाणुओं की संबंध में हम यह भी जानते हैं कि उनके केन्द्र हीं भारी या बोझिल होते हैं एक धनाणु ऋणाणु से १८०० गुना से भी अधिक भारी होता है अतएव ऋणाणुओं के इतने हलके होने के कारण परमाणु के भार या तोल में उनकी गणना नहीं की जाती। हम यह भी जानते हैं कि किसी परमाणु का भार (परमाणविक भार) उसके तत्वों की सूची की क्रम संख्या का लगभग दुगुना होता है क्रम संख्या के बराबर ही उसकी कक्षाओं में उतनी संख्या के ऋणाणु होते हैं अतएव परमाणविक भार इस ऋणाणु संख्या का भी लगभग दूना ही होगा। इसका अर्थ बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है कि केवल परमाणु-केन्द्र ही परमाणु का भार बनाता पाया जाता है और उद्‌जन हाइड्रोजन पहली संख्या के परमाणु को छोड शेष अन्य परमाणुओं में धनाणु के बराबर संख्या में ही सुप्ताणु होते हैं जिससे परमाणु का भार तो उसकी क्रम संख्या का दूना हो जाता है किन्तु धनात्मक बिजली दूनी नहीं होती। अधिक ऊपर की क्रम संख्या में परमाणविक भार दूने से भी अधिक होता जाता है, इसी कारण पिनाकम (यूरेनियम) परमाणु में कक्षाओं के ९२ ऋणाणु और परमाणु-केन्द्र में ९२ धनाणु के अतिरिक्त १४६ सुप्ताणु पाए जाते है। इसी कारण उसका भाग परमाणविक भार [९२ + १४६] २३८ अर्थात् उद्‌जन के परमाणु केन्द्र वा उस के धनाणु का लगभग २३८ गुना होना चाहिए।

हमने यह भी देखा है कि परमाणु में साधारण रूप में रहने वाले कक्षा वाले ऋणाणु और केन्द्र के उतनी संख्या के धनाणु उसका का नाम और गुण प्रकट करते हैं किन्तु इन गुणों में कोई भी अन्तर आने देकर एक ही नाम और गुण के परमाणु में सुप्ताणु कम या अधिक होकर परमाणविक भार कम या अधिक कर देते हैं। ऐसे परमाणु गुण और नाम में एक ही होने से और परमाणु भार पृथक होने पर सम स्थानीय परमाणु कहलाते हैं। उद्‌जन (हाइड्रोजन) एक संख्या का परमाणु है उसके परमाणु केन्द्र की रचना एक धनाणु से होती है। उसका परमाणु-भार एक होता है किन्तु इसी में एक और सुप्ताणु को स्थान देने से उसका परमाणु भार दो हो जाता है। इसे "बोझिल उद्‌जन" परमाणु कहा जाता है। इसी प्रकार इसी के परमाणु केन्द्र में दो सुप्ताणुओं को स्थान दिला सकने से उसका परमाणु भार तीन हो जाने पर भी उसका नाम उद्‌जन ही रहता है। इसे "महा बोझिल उद्‌जन" परमाणु कहा जाता है। पानी में उद्‌जन और ओषजन, (आक्सि-जन) के परमाणु संयुक्त रूप में होते हैं। इस लिये पानी में बिजली की बड़ी प्रबल धारा का संचार कर उद्‌जन के परमाणुओं को "बोझिल" बना सकना संभव होता है। ऐसे समस्थानीय परमाणु अन्य दूसरे परमाणुओं में उत्पन्न किये जा सके हैं।

हमको यह भी मालूम है कि रश्मि शक्ति वाले परमाणुओं में कहीं-कहीं 'बीटा' किरणें (ऋणाणुओं

की वेगवती किरणें) बार फूट निकल कर उनमें रश्मिशक्तित्व का बल दिखलाती हैं। यदि किसी ऐसे परमाणु में एक या दो सुप्ताणु बाहर से परमाणु केन्द्र में प्रवेश कराए जा सकें और केन्द्र से ऋणाणु बाहर फेंकने का उस परमाणु में रश्मिशक्तित्व का गुण हो तो हम यूरेनियम के २३८ परमाणु भार वा किसी दूसरे रश्मि शक्ति वाले परमाणु से अधिक परमाणु-भार का परमाणु बनता और अपना स्थान क्रम-सूची में एक दो स्थान ऊंचा पाता दिखाई पड़ सकता है। आज की वैज्ञानिक खोजों को जान कर यह कल्पना करना सुगम मालूम पड़ती है लेकिन खोजियों को अन्धकार में मार्ग ढूंढ़ने के सदृश ही ये कार्य जान पड़ते थे। सुप्ताणुओं के सम्बन्ध में हम यहाँ ठीक-ठीक यह नहीं बता सकते कि वे अपनी रचना धनाणु से ऋणाणु का संयोग करा कर वा अपना रूप परिवर्तन अपने आप से ऋणाणु प्रथक कर शुद्ध धनाणु के रूप में कब और किन स्थितियों में कर पाते हैं किन्तु ऊपर के रश्मिशक्तित्व के प्रभाव के उदाहरण के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी उनके नये रूप धारण करने वा रूप परिवर्तन के प्रमाण पाए जाते हैं। विज्ञान के विशेष अध्ययन वा खोजों से इन बातों पर प्रकाश पड़ सकता है।

सजातीय बिजली के परस्पर द्रोह करने, दूर ढकेलने का उदाहरण हमें अपनी आँखों के सामने ग्राम्य सिंह, अर्थात गली-गली घूमने वाले कुत्तों में दिखाई पड़ सकता है। एक गाँव वा मोहल्ले के कुत्ते किसी प्रकार एक स्थान पर रहने का अभ्यास कर लेने पर अपने अपने स्वामियों वा कभी-कभी टुकड़े देने वालों को स्वामी बना कर उनके निकट रह जाते हैं किन्तु दूसरे गांव वा महल्ले का कुत्ता अपने बल पर गाँव के बीच से घुसने या रहने का अवसर नहीं पा सकता। तुरन्त भगाया जाता है किन्तु किसी स्वामी की जंजीर या केवल स्वामीभक्ति की जंजीर में बँधा कुत्ता स्वामी के साथ-साथ गांव में घुस सकता है। वहां रह कर धीरे-धीरे अपना स्थान भी बना सकता है, वा महल्ले वा गाँव में से बीच से होकर स्वामी के साथ-साथ कुशल पूर्वक बाहर चला जा सकता है। उसमें स्वतन्त्र रूप से खुल कर लड़ने की शक्ति नहीं होती। इसी कारण शायद दूसरे कुत्ते भी प्रारम्भ में कुछ शोर मचाकर भी उस पर दया दिखा जाते हैं। उसी प्रकार एक सुप्ताणु ऋणाणु के संयोग से होने के कारण परमाणु की परिधि वा परमाणु केन्द्र की ऋणात्मक वा धनात्मक बिजलियों के प्रभाव वा क्रोध से बचा रह कर परमाणु के भीतर सहज ही घुस सकता है वा केन्द्र में पहुँचकर अपना पड़ाव डाल सकता है अथवा कुछ उत्पात कर बाहर निकल भाग सकता है।

ऐसे विलक्षण और उपयोगी गुणों के होने के कारण सुप्ताणु मनुष्य के बड़े ही भारी सहायक सिद्ध हुए हैं किन्तु इनका ज्ञान खोजियों को पहले-पहले १९३२ ई० में हो सका था जिससे परमाणुओं की रचना समझने में बड़ी सहायता मिली और परमाणु केन्द्रों के भारी होने और परमाणविक भार बहुत अधिक दिखाई पड़ने पर भी बिजली के पलड़ों के बराबर होने का रहस्य समझ में आ सका।

द्वितीय विश्व व्यापी महायुद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व जर्मन देश के कुछ वैज्ञानिक सुप्ताणु सम्बन्धी प्रयोग करने में बड़े यत्न से लगे हुए थे। उनमें प्रोफेसर ओटो हान नाम का रसायन शास्त्र का विद्वान भी था। प्रोफेसर हान ने ९२ वीं अन्तिम क्रम संख्या के यूरेनियम परमाणु पर सुप्ताणुओं का प्रहार करने का प्रयोग प्रारम्भ किया था। उनकी आशा थी कि इस प्रकार प्रहार करने से सम्भव है यूरेनियम के केन्द्र में सुप्ताणु चिपट जाय और उसका कायापलट कर उसे अधिक बोझिल वा ऊपर का संख्या का नया परमाणु बना दे। परमाणु ऐसे छोटे आकार के और प्रबल शक्ति वाले केन्द्रों में 'अल्फा' किरणों हिमजन के परमाणु-केन्द्र वा किसी दूसरी प्रबल शक्ति का चोट पहुँचाने के लिए बहुत भारी आकार की तोपों के समान यंत्र बने हैं जिनकी चोट इतनी छोटी वस्तुओं पर बड़ी युक्तियों से की जाती हैं। इन भारी यंत्रों को परमाणुध्वंसक तोपों यंत्र या। साइक्लोट्रोन।

कहा जाता है। हमारे देश में केवल एक ऐसा यन्त्र विदेशों से आ सका है जो कलकत्ता विश्व विद्यालय भौतिक विज्ञान की प्रयोगशाला में लाया गया है। इस यन्त्र का काम सूक्ष्म किन्तु प्रबल शक्ति की किसी धारा वा किरणों को वेग के साथ निशाने के परमाणु केन्द्रों तक पहुँचाना वा उनसे टक्कर कराना होता है। यह टक्कर उस निशान के परमाणु केन्द्र में कुछ और वृद्धि का काम करे या उनके खण्डन को इस प्रकार खंडन और मंडन दोनों काम में प्रयोग किए जाने पर भी इनका नाम परमाणु-विध्वंसक यंत्र प्रसिद्ध है। किसी ऐसे ही परमाणु-ध्वंसक-यंत्र से सुप्ताणु की धारा प्रोफेसर हान द्वारा युरेनियम के परमाणु पर पहुँचाई जा रही थी।

प्रोफेसर हान रसायन-शास्त्र के बड़े गम्भीर विद्वान थे। उन्होंने अपने प्रयोगों से सुप्ताणु को युरेनियम परमाणु की काया-वृद्धि तो करते न देखा परन्तु सुप्ताणु का संयोग उसके अगों का खंड करता दिखाई पड़ा। इन खंडों में एक हल्के परमाणु भारम (बैरियम) नाम का था, जिसका परमाणविक भार-१३७ ही होता है। यह एक पहेली सी थी। बार बार प्रयोग के दुहराने पर भी परिणाम यही निकलता था।

प्रोफेसर हान एक मेधावी वैज्ञानिक थे। उनके प्रयोग में सृष्टि का सबसे बड़ा आकार रखने वाला परमाणु यूरेनियम काया-पलट के स्थान पर खंडित हो चुका था। यह सत्य है कि यूरेनियम ऐसी जाति का है जिसमें रश्मि-शक्ति का प्रभाव उसका काया-क्षीण निरंतर करता है किन्तु एक तो वह प्रकृति की करामात है। दूसरे वह क्षीण होने का क्रम बहुत ही थोड़ी मात्रा में और बहुत दिनों में होते-होते ८२ वीं क्रम संख्या के परमाणु सीसे तक ही समाप्त हो जाता है परन्तु रामायण के महारथियों में लक्ष्मण, हनुमान सरीखे उद्भट शूरों का लंका विजय का गर्व लव-कुश के हाथों टूटा देखा गया उसी प्रकार प्रकृति का गर्व उसके यूरेनियम ऐसे भारी परमाणु की मनुष्य के हाथ खंडन होने से टूट सा जाना चाहिए। प्रोफेसर हान की विद्वत्तापूर्ण खोज का आदर विज्ञान जगत ने महायुद्ध समाप्त होने के बाद उन्हें संसार का सर्वोच्च 'नोबुल' पुरस्कार रसायन विज्ञान की खोज के सम्बन्ध में प्रदान कर किया। यह संयोग की ही बात थी कि जर्मनी एक अपने ही देश के विद्वान की खोज का पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए उस सम्बन्ध की खोजों को आगे न बढ़ा सका और दूसरे देशों ने उसका लाभ उठा लिया।

अमेरिका का संयुक्त राज्य एक ऐसा विस्तृत प्रजा-तन्त्र है जहाँ प्रजातन्त्र स्थापित होने के बाद सैकड़ों वर्षों से कोई युद्ध ही नहीं हुआ। भौगोलिक स्थिति के कारण भी वह संसार के अन्य पुराने और झगड़ालू भूभागों से अलग सा है। इसी कारण जहाँ योरप में सैकड़ों बार बड़े वा दो बार विश्वव्यापी युद्धों का का भयानक दृश्य देखने को मिला वहाँ अमेरिका शान्तिपूर्ण रहा। महायुद्धों में भी वह दूसरे देशों के युद्ध स्थल में ही अपनी धन जन की सहायता भेजता रहा। ये उसकी उन्नति के प्रधान कारण थे। वहाँ की उदार राजनीति भी कम सहायक नहीं रही है। योरप में ईसाई मत के धार्मिक भेद भाव के भयंकर युद्धों से भगकर शरण पाने वालों ने ही अमेरिका में प्रजातन्त्र की स्थापना की थी। अमेरिका की उन्नति के रहस्य को ही समझ कर हमारे देश के नवीन प्रजातन्त्र संस्था-पकों ने युद्ध से दूर रहने और धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग पकड़ने का निश्चय किया जो हमारे लिए सुन्दर भविष्य दिखलाने वाला हो सकता है।

द्वितीय विश्वव्यापी महायुद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व जर्मनी में धार्मिक द्वेष की आग से हलचल मची हुई थी। हिटलर की आर्य और अनार्य की भेद भाव की नीति से यहूदियों को अनार्य कह कर उनको देश निकाला देने और अत्याचार पीड़ित कर धन सम्पत्ति हीन किए जाने नौकरियों और प्रतिष्ठा के स्थानों से भगाए जाने आदि का भयंकर काँड हो रहा था। कितने ही यहूदी वैज्ञानिक भी देश

निकाला के शिकार हो रहे थे। सन्सार का सब से प्रसिद्ध वैज्ञानिक अयंस्टीन ऐसी ही आग का शिकार बनकर अमेरिका के संयुक्त राज्य में शरण ले सका था ऐसे ही वैज्ञानिकों मय एक यहूदी स्त्री कुमारी (डा०) मीटनर भी थीं जिन्होंने भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त शास्त्र की अपनी अपूर्व पंडिताई से प्रोफेसर हान के प्रयोगों का रहस्य समझने और व्याख्या करने का प्रयत्न किया था। इनको भी देश-निकाला होने पर परमाणु-विज्ञान के अपार विद्वान श्री बोर की प्रयोग शाला में डेनमार्क के कोपेनहेगन नगर में शरण लेनी पड़ी थी। आयंस्टीन के साक्षात्कार और सत्कार के लिए श्री बोर के अमेरिका पदार्पण करने पर श्रीयुत हान के अद्भुत प्रयोगों की चर्चा संयुक्त राज्य में भी बड़े वेग से फैली थी। उस समय युद्ध फैल चुका था। अमेरिका भी तैयार होने की चिन्त में था। वहाँ के वैज्ञानिक भी सजग थे। यू० एस० ए० प्रजातन्त्र के प्रधान ने अवसर आते ही इन प्रयोगों को आगे बढ़ाने और उनसे पूरा पूरा लाभ उठाने का समय पर ही प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। निदान अमेरिका का संयुक्त राज्य ही ऐसा देश निकला जिसने परमाणु शक्ति का भयंकर प्रयोग करने में पूर्ण सफलता पा ली। हम यहां केवल युरेनियन के कायापलट का ही वर्णन करेंगे।

प्रो० हान के प्रयोगों की चर्चा विज्ञान जगत में हो ही रही थी। उसके वर्णन जब विज्ञान-पत्रिका में प्रकाशित हुए तो वैज्ञानिकों ने बड़ी उत्सुकता से तुरन्त ही उनको अपनी प्रयोगशालाओं में दुहराना प्रारम्भ किया। अमेरिक के वैज्ञानिकों ने अपने विशाल परमाणु-ध्वंसक यन्त्रों में उद्जन (हाइड्रोजन) के समस्थानीय दो परमाणविक भार वाले "बोझिल उद्जन" परमाणु के परमाणु-केन्द्रों को जिन्हें द्वयाणु भी कह सकते हैं, गोले के रूप में प्रयोग कर बेरीलम (बेरीलियम) नामक परमाणु पर प्रहार किया। बेरीलम क्रम संख्या ४ का परमाणु है जिसका परमाणविक भार ८ होता है। इस गोलाबारी से बेरीलम के परमाणु केन्द्र से सुप्ताणु पृथक होकर बाहर आने लगे। इन सुप्ताणुओं को यूरोनियम के परमाणुओं पर प्रहार करने दिया गया। यूरोनियम के खंड होने के कुछ देर बाद खंडन के कारण धड़ाका हुआ। यन्त्रों से इस धड़ाके का बल भी कूता जा सका।

यूरोनियम के परमाणु-केन्द्र में सुप्ताणु की गोलाबारी से परमाणु का दो खंड हो जाता है। पहला भारम (बेरियम) जिसकी क्रम संख्या और ५६ परमाणविक भार १३७ होता है। दूसरा खण्ड बायुरुप (गैस) गुप्तम क्रीप्टन नाम के परमाणु का जिसकी क्रम संख्या३६ और परमाणविक भार ८४ होता है। कुमारी मीटनर ने बड़ी विद्वत्ता से गणना कर अनुमान किया था कि सुप्ताणु के प्रहार से यूरेनयम दो खण्ड होकर भारी शक्ति का धड़ाका भी होना चाहिये। यह अनुमान प्रयोगी में सत्य उतरा। अमेरिका की एक दूसरी प्रयोगशाला में यह भी खोज किया यूरेनियम के खण्डित होने से बने हुये दोनों परमाणुओं भारम (बेरयम) और गुप्तम (क्रीप्टन) से कुछ विलम्ब के बाद सुप्ताणु पृथक होकर भागते हैं। यह एक विचित्र घटना थी। तुरन्त ही वैज्ञानिकों ने कल्पना की कि इस प्रकार एक यूरेनियम के खण्डित होने पर कुछ विलम्ब के बाद उन खण्डि अंगों से निकले हुए सुप्ताणु स्वयं दूसरे यूरोनियम परमाणु से टकरा कर खण्डन और उसमें के धड़ाके का क्रम एक के बाद दूसरे यूरेनियम परमाणुओं में फैलाते जा सकते हैं।

ऊपर वर्णित घटनाओं से यूरेनियम के परमाणु में खण्डन और धड़ाके की लड़ी रूप में क्रिया के वैज्ञानिकों का अनुमान कुछ ही समय में सत्य सिद्ध हुआ। फरांस से इस बात की सूचना मिली कि यूरेनियम के खण्डन की लड़ी रूप में क्रिया देखी गई जिसमें एक परमाणु खण्डित होकर अपार शक्ति की वर्षा कर अपने सुप्ताणु बाहर फेंकता है। उसमें दूसरा परमाणु खण्डित होकर फिर धड़ाके रूप में शक्ति बरसा कर सुप्ताणु बाहर फेंककर दूसरे तीसरे चौथे परमाणुओं में एक के बाद दूसरे पर खण्डन और विस्फोट की माला रूप में क्रिया को फैलात है।

है। ये सब प्रयोग संसार को ज्ञात हो चुके थे।

वैज्ञानिकों ने भिन्न भिन्न प्रयोग कर यह पता लगाया कि यूरेनियम के एक समस्थानीय परमाणु, २३५ के परमाणविक भार वाले परमाणु में ही ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह सुप्ताणु के प्रहार से खण्डित होकर प्रचंड विस्फोट करता है। उसके २३८ परमाणविक भार वाले परमाणु में सुप्ताणु खण्डन का प्रभाव नहीं दिखला सकता किन्तु यूरेनियम के २३४, २३५ और २३८ तीन परमाणविक भार वाले परमाणु मिश्रित रूप में ही पाये जाते हैं। इस मिश्रण में से बड़ी कठिनाई से पृथक किये जाने पर भी यूरेनियम २३५ की मात्रा अधिक नहीं निकलती। यथार्थ में १४० पौंड (एक पौंड लगभग आधा सेर, मिश्रित यूरेनियम में केवल एक पौंड ही २३५ वाला परमाणु होता है। अतएव यह एक बहुत भारी कठिनाई थी। वैज्ञानिकों का अनुमान था कि यूरेनियम से ऊपर का कोई परमाणु बना सकने पर शायद उसके २३६ परमाणविक भार होने से खण्डन, और धड़ाके की क्रिया संभव हो। ऐसे परमाणु की सृष्टि करने के लिए बहुत ही अधिक भारी व्यय से यूरेनियम २३८ को नये परमाणु के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया गया। उस समय अमेरिका महायुद्ध में भाग लेने लगा था इसलिए कुछ भी व्यय का कोई भारी शक्ति हाथ में लाने का प्रयोग किया जा सकता था। बड़े परिश्रम से यूरेनियम का हजारों पौंड का भंडार इकट्ठा किया और लकड़ी के ढाचे में लिखनेवाली पेंसिल के मसाले का तत्व (ग्रेफाइट भट्टी) बनाने की ईंटों में काम में लाया गया। यही ऐसा प्रबल और प्रभावशाली पदार्थ था जो यूरेनियम कायापलट के समय भयंकर गर्मी उत्पन्न करने का रश्मिशक्तित्व की प्रबलता में भी अपने स्थान पर टिका रह सकता था। इस भट्टी में तह के बाद तह बनाकर उनमें यूरेनियम रखा गया और बीच बीच में प्रबल धातु सीकचों से नियंत्रण रखने को व्यवस्था रखकर उसमें सुप्ताणु का प्रवेश होने दिया गया। सभी रुकावटें हटाकर धीरे धीरे सुप्ताणुओं को अपना प्रभाव दिखाकर यूरेनियम के परमाणुओं के परमाणु केन्द्र चिपकते जाकर नये परमाणु प्लुटोनियम का निर्माण होने दिया गया। यह नया परमाणु ६४वीं क्रम संख्या का और २३६ माणविक भार का बन पाया यह कार्य सुगम नहीं था। बहुत से परमाणु खण्डित होकर स्थिति को भयंकर कर रहे थे। गर्मी बहुत से अधिक होने के साथ ही साथ रश्मिशक्ति की भयंकर किरणें भी प्रबल वेग से निकलने लगी थीं जिनका प्रभाव देखने वालों पर घातक हो सकता था, इसलिए तुरन्त ही सुरक्षित जगहों में हट कर प्रयोग देखना पड़ा। कुछ दिनों में धीरे धीरे यह क्रिया समाप्त हुई भट्टी को ठंडा करना, उस में से तैयार हुए नए परमाणु को निकालते जमना फिर पानी की भारी राशि को रश्मिशक्ति से मुक्त बनने देने या कुछ कम रश्मिशक्ति का होने तक, नदी में न जाने देना जिससे मछली आदि जन्तुओं का संहार न हो सके इत्यादि सैकड़ों कठिन समस्याएं थीं। इस कार्य को अमेरिका की सरकार गुप्त रूप से करा रही थी। अंत में यह प्रयोग सफल हो कर रहा और अभिलाषित परमाणु प्लुटोनियम को जन्म दिया जा सका। एक नई सृष्टि मनुष्य की बनाई हुई सामने आई थी।

प्रयोगों को करने के लिए अमेरिका की सरकार ने एक निर्जन स्थान में देश के कोने कोने से परमाणु-संबंधी प्रयोग के अनुभवी विद्वानों और परमाणु-ध्वंसक यंत्रों का संग्रह किया था जिसके लिए सैकड़ों मोटर और रेल गाड़ियाँ प्रयोग में लाई गई थीं। किन्तु जब इतना संग्रह कर गुप्त कारखाने से कुछ तैयार सामान लेकर कहीं दूसरी जगह पहुँचा कर भाड़ा कमाने के लोभ से गाड़ियों का जमाव बाहर की ओर उनके स्वामी करते रहे तो उनको यही उत्तर मिलता रहा कि सैनिक अधिकारियों की आज्ञा के लिए प्रतीक्षा करो। ऐसा अवसर कभी भी नहीं आया कि उन्हें वहां से कुछ भारी तैयार सामान ढो कर कुछ भाड़ा कमाना पड़े। वास्तव में तैयार वस्तु की मात्रा एकत्रित सामानों और यंत्रों की अपेक्षा तो बहुत ही थोड़ी होती थी जो थोड़े स्थान को ही घेर सकती थी किन्तु छोटे बहुत छोटे शक्ति के अनुसार उनके नन्हें आकार में ही प्रचंड नाशक शक्ति मौजूद थी। यह परमाणु बम की तैयारी थी जिसने जापान में भीषण संहार कर द्वितीय महायुद्ध को ही समाप्त कर दिया।

सच्ची वैज्ञानिक शिक्षा की दशा में

लेखक—बाबूराव जोशी

विज्ञान की उपयोगिता से आज कौन इन्कार कर सकता है ? विज्ञान का लक्ष्य मानव जीवन को सुखी और उन्नत करने के साथ-साथ उसके अज्ञान तथा मूढ़ाग्रह को दूर करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति में वह असफल रहा है। इसका दोषी विज्ञान नहीं बल्कि वह भावना है जिसने रचनात्मक दृष्टिकोण को छोड़ विनाशात्मक पहलू को अपनाया है। अतः आज हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की आवश्यकता है, प्रस्तुत लेख में इसी दिशा की ओर निर्देश किया गया है।

अब करीब-करीब सब लोग मानने लग गये हैं कि जनतन्त्र और विज्ञान आधुनिक युग की जबरदस्त शक्तियाँ हैं। माना कि ये कई बार गलत रास्ते पर चल चुकी हैं और इनका इतिहास अनेक उतार चढ़ाओं से भरा हुआ है फिर भी यह सत्य है कि ये हमारी आशा की केन्द्र हैं। इनके ही बल पर संसार के सुख और शांति का राजप्रासाद बन सकेगा। जनतन्त्र का लक्ष्य है मानव जाति की प्रगति के मार्ग के सभी सामाजिक और राजनैतिक बन्धनों को हटा देना। वह सब को समान और एक न्यायोचित स्थान दिलाना चाहता है। विज्ञान का लक्ष्य है मानव को अज्ञान और रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त करके प्रकृति के नियम और शक्ति पर ज्ञानपूर्वक नियन्त्रण रखना और उसे उस अपार शक्ति का उपयोग करने का बल देना। अतः विज्ञान और जनतन्त्र एक दूसरे से भिन्न या असम्बद्ध नहीं हैं। इनके उद्देश्य और प्रेरणाओं में बड़ा निकट का एवं घनिष्ट सम्बन्ध है।

जनतन्त्र हमें सिखाता है कि हमारे सामाजिक कार्यों का उद्देश्य क्या है। वह बल पूर्वक कहता है कि—'मैं सुखी और उन्नत जीवन को कुछ इने गिने लोगों की ही धरोहर न रहने दूँगा। मैं उसे सब लोगों के लिये सुलभ बनाऊँगा। जनतन्त्र के इस उद्देश्य को पूरा करने का एकमात्र साधन विज्ञान ही है। जनतन्त्र के सामने करोड़ों लोगों की इच्छा आकांक्षाओं की पूर्ति कर उनका कल्याण करने का उद्देश्य रहता है लेकिन इस सुखी जीवन को उपलब्ध करवाने का काम करता है विज्ञान।

विज्ञान के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो ?

यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान की जबर्दस्त शक्ति का उपयोग उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रकृति पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये ही करना चाहिये। लेकिन दुर्भाग्य से सब विचारशील व्यक्ति इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं। कुछ लोगों का कहना है कि आजकल विज्ञान को जरूरत से ज्यादा महत्व दिया जा रहा है। वास्तव में देखा जाय तो विज्ञान ने हमारे कल्याण के लिये कुछ भी नहीं किया है। उल्टे उसने तो हमारी लोभ-वृत्ति को बढ़ा कर नये नये संघर्ष और दुखों को ही जन्म दिया है। इस विचार के लोगों का कहना है कि हमें जीवन को सादा और सरल बनाना चाहिये। अपनी वासना पर नियन्त्रण रखना चाहिये। दूसरे कुछ विचारशील लोग कहते हैं कि यन्त्र प्रधान उद्योग धन्धों के द्वारा विज्ञान ने जो जबरदस्त परिवर्तन कर दिया है वह चकित कर देने वाला है यदि उसका ठीक ठीक तरह उपयोग किया गया तो वह हमारे सुख सुविधा में काफी वृद्धि कर देगा। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम विज्ञान के सम्बन्ध में किस विचारधारा

को अपनायें ? हम भारतवासी स्वभावतः ही शक्ति के उपासक रहे हैं और उसी की स्थापना करना चाहते हैं। हमें विरासत में महान आध्यात्मिक वैभव मिला है। अतः प्रश्न यह होता है कि अपनी इस महान विरासत के मार्ग में खड़े होने वाले इस विज्ञान के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिये ?

विज्ञान के दुरुपयोग पर नियन्त्रण

विज्ञान को पूरी तरह त्याग देने की बात तो कोई भी विचारशील व्यक्ति माननेको तैयार न होगा। फ्लश-सिस्टम, मोटर, रेडियो, बिजली; रेल, वायुयान, टेलीफोन आदि ने हमारी सुख सुविधाओं में जो वृद्धि की है, हमारे श्रम की जितनी बचत की है उसके महत्व से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता, ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होता है कि वैज्ञानिक प्रगति करते हुए क्या हम उसके दुरुपयोग पर कोई नियन्त्रण नहीं रख सकते ? वैज्ञानिक प्रगति और उसके दुरुपयोग का सम्बन्ध अविच्छेद्य तो नहीं बन गया है ? यदि हम इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर दे सकें तो हम बहुत बड़ा काम कर सकेंगे।

विज्ञान का विस्तार

आज तो विज्ञान ने हमारे जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। विज्ञान मानव मन का वह प्रयत्न है जो उसने भौतिक विश्व की भिन्न-भिन्न शक्तियों का आकलन करने और अपने लाभ के लिए उसका उपयोग करने की दिशा में किया है। इस पुरुषार्थ पूर्ण प्रयत्न में उसने मानसिक एकाग्रता, सतत श्रम, सत्य की खोज आदि प्रक्रियाओं से पूर्ण एक विशेष टेकनीक का निर्माण कर लिया है। इस वैज्ञानिक-प्रगति ने उसके दृष्टिकोण को बदलने का बड़ा महत्वपूर्ण प्रयत्न किया है। उसने मानव का दृष्टिकोण ही बदल दिया है। परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य आज प्रत्येक प्रश्न को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है। वह अब अटकल पच्चीसी, पुण्य पन्थ और धार्मिक अन्धविश्वास से बहुत ऊपर उठ गया है। आज मनुष्य प्रत्येक बात को बुद्धि की कसौटी पर कसता है और जो बात उसे सच्ची मालूम नहीं होती उसे मानने से इन्कार कर देता है। अपने सतत श्रम और लगन से उसने पदार्थ विज्ञान, रसायन, वनस्पति वैद्यक आदि अनेकानेक स्तंभों के बल पर विज्ञान के समृद्धिशाली साम्राज्य का निर्माण कर लिया है। एक ओर कुछ वैज्ञानिक इस साम्राज्य की सीमा का विस्तार करने में लगे हैं और दूसरी ओर कुछ वैज्ञानिक इस प्रयत्न में भी लगे हैं कि उसके द्वारा मनुष्य को व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति का काम हो। इन दोनों प्रकार के वैज्ञानिकों का काम परस्पर पूरक और अविच्छेद्य है तथापि दूसरे प्रकार के वैज्ञानिकों ने उत्पादन के काम में कल्पनातीत प्रगति करली है और उत्पादन का काम बहुत बढ़ गया है।

विज्ञान का दोष कहां

विज्ञान ने आश्चर्यजनक प्रगति की है लेकिन आज वह पूंजीवादी व्यवस्था से ग्रस्त है। वह स्वेच्छाचारी शासकों और व्यक्तिगत स्वार्थ में फंसे हुए पूंजीपतियों के हाथका खिलौना बन गया है। अतः वर्तमान युद्धों और भीषण नरसंहार का सारा उत्तरदायित्व उसी पर डाला जाता है। लेकिन यह विज्ञान का दोष नहीं है। वह तो पूंजीवादी व्यवस्था का दोष है। वही उसका दुरुपयोग करती है। विज्ञान तो एक साधन है। अच्छे हाथों में पड़कर वह वरदान बन जाता है। बुरे हाथों में पड़ कर अभिशाप। साधक अथवा योजनाकर्ता के सदुपयोग और दुरुपयोग पर ही उसका हानिप्रद या लाभदायक होना निर्भर रहता है। उदाहरण के लिये बिजली का प्रवाह एक होता है लेकिन उससे जहां प्रकाश का लाभ उठाया जा सकता है वहां लोगों को फांसी देकर उनकी जान भी ली जा सकती है। अतः यदि हम उसके सदुपयोग-दुरुपयोग के मुख्य प्रश्न को छोड़कर विज्ञान के ही मूल पर कुठाराघात करने लगें, बिजली के तारों को कटवादें या जलविद्युत योजनाओं को स्थगित करवावें तो उससे समस्या हल नहीं हो सकेगी। प्रश्न यह है कि जिन लोगों के हाथ में विज्ञान की अपार शक्ति है उनमें सामाजिक भावना है या नहीं।

यदि वे इस अपार शक्ति का उपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये अथवा किसी के इशारे पर करते है तो उनका यह कार्य देश और समाज को ही नहीं विश्व को गड्ढे में ढकेल देगा। यह एक बहुत बड़ा खतरा है, सरकार ही इसे टाल सकती है। उसे यह देखना पड़ेगा कि वैज्ञानिक कहीं गलत रास्ते पर तो नहीं जा रहे है। अणुशक्ति और टी० ए० वी० योजना दोनों की प्रगति अमेरिका में हुई। लेकिन जहां अणुबम से विश्व का अस्तित्व ही खतरे में पड़ा हुआ दिखाई देता है वहां टी० ए० वी० योजना के द्वारा यह आशा बलवती होने लगी है कि यदि कोई बड़ी कठिनाई नहीं आई तो दुनियां के पिछड़े हुए और उपेक्षित भाग इस योजना के द्वारा लहलहाने लगेंगे। अत: विज्ञान की इस महत्वपूर्ण शिक्षाको आज स्वतंत्र भारत में प्रसारित करते समय हमें इस बात पर विशेष ध्यान रखना पड़ेगा कि इसके द्वारा हम किस लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ वाले लोगों के हाथ में तो कहीं उसकी शक्ति नहीं जा रही है। हमें देखना पड़ेगा कि जनता के स्वास्थ्य, दरिद्रविनाश, शिक्षा एवं सांस्कृतिक प्रसार के काम में ही तो उसका उपयोग किया जा रहा है। यही वे काम हैं जिनको हमें सदैव प्राथमिकता देनी पड़ेगी।

वैज्ञानिक शिक्षा को सही दिशा में लेजाने के लिए हमें कटिबद्ध होना पड़ेगा। क्योंकि यह कोई सरल काम नहीं है। इसके मार्ग में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ हैं। सबसे बड़ी कठिनाई है नफेखोरी की भावना, आज तो यह भावना इतनी ज्यादा बढ़ी हुई है कि कोई योजना इसके बिना बनती ही नहीं। यदि बनती भी है तो जिन्दा नहीं रहती। लोगों को जिस चीज की ज्यादा जरूरत हैं उसको प्राथमिकता देना तो दूर, यही बिचार प्रधान रहता है कि किस प्रकार कमसे कम श्रम, समय और पूंजी में ज्यादा से ज्यादा लाभ उठा लिया जाय। अतः सरकार को इस लाभ की वृत्ति पर कड़ा नियंत्रण रखना पड़ेगा और देखना पड़ेगा। कि बड़े बड़े पूंजीपति इन उद्योग धन्धों से लाभ तो नहीं उठा रहे हैं।

रचनात्मक दृष्टिकोण आवश्यक

विज्ञान मानव संसार के लिए एक वरदान है। वह अन्धकार और दरिद्रता के युग से हमें प्रकाश और सम्पन्नता के युग में लाया है। उसी के द्वारा पारस्परिक संघर्ष और शोषण के विषवृक्ष नष्ट हो सकते हैं। वही इस पृथवी पर स्वर्ग उतार सकता है। इस अन्न वस्त्र के संकट के काल में स्वर्ग उतारने की कल्पना आकाश कुसुम सी लगती है। लेकिन वह संभव है। आज की विषमता और गरीबी का कारण विज्ञान की असमर्थता नहीं है। उसके तो बहुत से दूसरे कारण है। अभी तो पिछले दो महायुद्धों की आग भी बुझने नहीं पाई थी कि तीसरे महायुद्ध की चिनगारियां दिखाई देने लगी हैं। आज राष्ट्रों में पारिस्परिक प्रेम और सद्भावना तथा सहयोग की भावना समाप्त होती जा रही है। शांति की स्थापना करने वाले कल्याण कारक एवं रचनात्मक कार्य पीछे छूटते जा रहे हैं। यहीं बहुत से कारण दुनिया की प्रगति को रोके हुए हैं। आज यदि विनाशक बाजू को छोड़ कर रचनात्कक बाजू पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो कितने आश्चर्यजनक कार्य किये जा सकते हैं।

आज हमारे सामने सच्ची वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार का कार्य है। यदि हम उसका प्रसार करना चाहते हैं तो हमें अपने मन से अविवेक पूर्ण भय एवं दुराग्रह को हटा देना चाहिए। अपने मन को इतना तैयार कर लेना चाहिए कि वह सारे सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नों को बुद्धिवादी एवं निराग्रही दृष्टिकोण से देख सके। यह शिक्षा केवल प्रयोगशाला को चहार दीवारी के अन्दर बन्द न रहे बल्कि हमारे सारे जीवन में समा जाय। हमारे देश के ही नहीं विश्व के सामने आज बड़े बड़े प्रश्न हैं उन सबका हल सच्ची वैज्ञानिक शिक्षा में हैं।

—:*:—

मानसिक-चिकित्सा

लेखक—कृष्ण बहादुर,

समाज में अन्य रोगियों की अपेक्षा मानसिक रोग के रोगिओं की संख्या बहुत बड़ी है। पागलपन को छोड़ कर आधे सर के दर्द, कब्ज, नींद न आना, दमा, लीवर की खराबी, नपुंसकता इत्यादि ऐसे भौतिक शारीरिक लक्षणों से परिपूर्ण रोगों की भी उत्पत्ति अधिकान्श मानसिक होती है। ऐसे रोगों की उत्पति मनुष्य में एक विशेष प्रकार की मानसिक तथा भावुक विक्रिया (Okrain) के कारण होती है। इस विक्रिया द्वारा मनुष्य मानसिक रोग ग्रहण करने की स्थिति में हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को लक्षण-ग्रहण-तत्व मिलते ही यह विक्रिया प्रत्यक्ष लक्षण प्राप्त कर शरीर में भौतिक रोग निर्माण करती है। इन प्रकार के भौतिक लक्षणों को परिपूर्ण मानसिक रोगिओं को छोड़ कर बहुत से रोगी ऐसे भी होते हैं जिनका रोग केवल मानसिक सीमा के अन्दर ही रहते हुए रोगी में विचित्र विशेषतायें निर्माण करता है, जैसे कुछ को डर की बीमारी होती है जो विभिन्न प्रकार की कल्पना कर किसी घटना विशेष या वस्तु से डरते हैं। कुछ लोगों को विना बाहर कुछ हुए ही दिखाई या सुनाई देता है। कुछ को दूसरों पर सदेव शका रहती है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दुनिया उनकी शत्रु हो। कुछ को कोई विशेष वस्तु के कल्पना मात्र से पसीना निकल आता है और कुछ मूछित तक हो जाते हैं। कुछ को कोई विशेष प्रकार का डर होता है ऐसे व्यक्ति कभी कभी यह भी समझते हैं कि उनका विचार तात्विक रूप से गलत है परन्तु वे उसे छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। मादक वस्तुओं के प्रयोग की भी आदत मनुष्य में मानसिक रोग के रूप में रहती हैं और वह उसे खराब समझते हुए भी छोड़ने में असमर्थ हो जाता है। कुछ लोगो का विचित्र निश्चय रहता है जैसे कुछ लोग शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ होते हुए भी आजन्म अविवाहित रहने का निश्चय किये हुए मिलते हैं। इस प्रकार से स्वाभाविक नैसर्गिक प्रकृतिओं के विरुध्द कुछ भी निर्णय करने वाले समस्त व्यक्ति मानसिक रोग के रोगी ही है। अन्धविश्वास तथा श्रद्धा भी मानसिक रोग है। साराम्श यह कि ऐसी समस्त विशेषतायें, जिनका कारण वह विशेषता रखने वाला व्यक्ति नहीं बतला सकता और वह जैसे किसी शक्ति के वश में होकर उन्हें अपने में रखता है, मानसिक रोग हैं। इस तरह समस्त प्रकार की यौन-विकृतियाँ भी मानसिक रोग की ही लक्षण हैं।

प्रायः मानसिक रोग के उत्पत्ति में निम्न पाँच तत्वों की आवश्यकता पड़ती है। (१) तीव्र संवेग, (२) संवेग के तृप्ति में बाधा, (३) मानसिक रोग की पूर्णस्थिति निर्माण होना, (४) लक्षय निर्माणक तत्व, (५) लक्षण स्थाई तत्व

मनुष्य के अन्दर भिन्न प्रकृतियाँ सदेव रहती हैं जिन्हें सहजात ज्ञान कहते हैं। वह मनुष्य को उनके सन्तुष्टि के लिये प्रेरित करती हैं। साधारणतः केवल दो प्रकार को ही प्रकृतियाँ नैसर्गिक मानी जाती हैं, एक यौन और दूसरी स्व-रक्ष की। जैसे जैसे मनुष्य का मस्तिष्क गत विचारों, भावों तथा अनुभवों द्वारा जटिल होता जाता है, प्रकृतियाँ भी जटिल रूप ग्रहण करती जाती है। यह प्रकृतियाँ स्वंय अज्ञात होती हैं परन्तु इनके पूर्ति की इच्छा मनुष्य को ज्ञात होती है। मनुष्य इन इच्छाओं के के पूर्ति से लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। यदि यह संवेग या स्पन्दन विकृत न हुई तो मनुष्य को इनकी संन्तुष्टता से शान्ति अनुभव होती है। यदि

किसी कारण चाहे वह कोई विशेष प्रकार की विकृत द्वारा हो या सामाजिक बाधा द्वारा मनुष्य अपने संवेग को सन्तुष्ट नहीं कर पाता तो उस मनुष्य का मस्तिष्क सतत एक विक्रिया में रहने लगता है।

विभिन्न व्यक्तियों में उनके स्पन्दनों की सन्तुष्टता प्राप्त करने की तीव्रता की शक्ति विभिन्न होती है, जो उनके स्वास्थ्य तथा वंश-संक्रमण पर निर्भर है। यदि यह शक्ति अत्यन्त तीव्र हुई तो किसी भी प्रकार इसके पूर्ण सन्तुष्टता में बाधा पड़ने पर उसका परिणाम भी अत्यन्त प्रभावशाली होता है। विभिन्न लोगों में इन स्पदनों के अतृप्ति का प्रभाव सहने की सहनशक्ति भी विभिन्न होती है। जो व्यक्ति भाउक होते हैं या ऐसे व्यक्ति जो भावनापूर्ण घटना दीर्घकाल तक भाव-पूर्ण प्रकार से स्मरण रखते हैं उनमें इस प्रकार की विक्रिया की सहनशक्ति कम होती है।

यदि स्पन्दनों की शक्ति अत्यन्त तीव्र हुई, मनुष्य में इनके असन्तुष्टता को सहने की शक्ति कम हुई और स्पन्दनों को मानसिक, धार्मिक, लज्जा या किसी भी अन्य कारणों से तृप्ति न मिल सकी तो उस व्यक्ति की ऐसी स्थिति हो जाती है कि वह सरलता से मानसिक रोग का रोगी हो सकता है, परन्तु इस अवस्था में उसमें तुरन्त रोग निर्माण नहीं होता बल्कि उसमें केवल मानसिक रोग का विभव निर्माण रहता है। ऐसे विभवपूर्ण अवस्था में रोग को प्रत्यक्ष रूप लेने के लिये एक भौतिक लक्षण उत्पन्न करने वाले तत्व की आवश्यकता पड़ती है। यह लक्षण व्यक्ति को उसके मानसिक विक्रिया से बचाता है। इस कारण प्रारम्भ में अज्ञात रूप से व्यक्ति इसे अपनी विक्रिया नष्ट करने के लिये चुनता है, बाद में अज्ञात भाव विलीन हो जाता है और केवल रोग के लक्षण ही रह जाते हैं। कभी-कभी इस लक्षणनिर्माणक-तत्व की उत्पत्ति कोई गत अनुभूति या गात रोग के स्मरण द्वारा होती है। उक्त समस्त मानसिक रोग उत्पन्न करने वाले साधनों के होते हुऐ भी रोग अचानक उत्पन्न नहीं होता। इनके होते हुऐ भी अन्त में एक प्रक्षेप-तत्व की भी आवश्यकता पड़ती है। इस तरह उक्त स्थिति निर्माण होने के उपरान्त एक छोटी सी साधारण सी घटना के द्वारा ही मानसिक रोग के प्रत्यक्ष लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह घटना उस रोग का वास्तविक कारण नहीं बल्कि वह केवल प्रक्षेप तत्व मात्र है।

पिछली बातें भूलते रहना स्वभाविक ही है। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि जब मनुष्य में भावों के उत्प्रेरक विचारों की मानसिक रोगों के उत्पत्ति के कारण हो सकते हैं ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति अपने रोग के कारणों पर विचार करने लायक ही नहीं रह जाता।

वैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा यह देखा है कि यदि ऐसा व्यक्ति अपना पूर्ण इतिहास, हृदय में उठने वाले भावों तथा विचारों का विस्तृत विवरण मनोवैज्ञानिक डाक्टर को बतावे और उन्हें वह डाक्टर मनोवैज्ञानिक तरतोब से लगा कर पुनः रोगी को, उसके पिछले विचारों का, जिन्होंने उस पर स्थाई भाव जमाये हैं, विवरण दे दे, तो उन्हें जानते ही रोगी अत्यन्त आश्चर्यजनक गति के स्वस्थ हो जाता है। कभी-कभी रोगी को उसकी असाधारणता दूर करने के लिये कुछ विशिष्ट कार्य करने को भी कहा जाता है। इस चिकित्सा में यह अत्यन्त आवश्यक है कि रोगी बिना लज्जा या संकोच के अपने जीवन की समस्त बातें खुले रूप से अपने मानसिक-चिकित्सक से कहे।

अब यहाँ एक मानसिक रोगी का उदाहरण देते हुए यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि किस प्रकार जीवन की विभिन्न घटनाओं का मनुष्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है। एक बैंक में कार्य करने वाली २४ वर्षीय युवती को नींद आने में अत्यन्त बाधा होती

थी। उसे लगभग छः मास से ठीक से नींद नहीं आई थी। इस युवती के परिवार में केवल एक विशेषता यही थी कि उसकी माता को शीघ्र घबड़ाने की बीमारी थी। इसे छोड़ कर उसके परिवार के समस्त व्यक्ति साधारणतः सामान्य थे। उस युवती को रोग प्रारम्भ होने के पूर्व दिनों में रात में नींद देर में आती थी। उसे लगभग १२-३० बजे रात तक चारपाई पर जागते ही व्यतीत करनी पड़ती थी। वह एक कार्यालय में टाइपिस्ट थी। उसे काम पर जाने के लिये सात बजे ही उठना पड़ता था। कभी कभी उसे रात में बहुत गरमी लगती थी तथा धड़कन भी हो जाती थी। उसे नींद ठीक से न आने की बड़ी चिन्ता होने लगी क्योंकि उसको यह डर लगता रहता था कि उसके सोने का समय कम हो रहा है। सुबह उठने पर उसे बहुत थकान मालूम पड़ती थी। इस सोने की चिन्ता को छोड़ कर वह बाकी पूर्ण स्वस्थ थी। युवती अत्यन्त हँसमुख थी तथा उसकी पाचन शक्ति तथा उसकी भूख भी ठीक थी। उसका रजस्राव काल भी बिलकुल ठीक था। सन्ध्या समय वह कभी कभी एक गिलास बियर भी पीती थी तथा उसे सिगरेट पीने की आदत नहीं थी। उसने नींद आने के लिए लगातार बहुत सी दवायें भी खाई थी। उसके कार्यालय में काम बहुत था इसलिए उसे परिश्रम बहुत करना पड़ता था परन्तु वह अपने कार्य से सन्तुष्ट थी। युवती अपने बहन के साथ रहती थी जिसके साथ उसका बड़ा अच्छा सम्बन्ध था। युवती के विवाह की बात एक युवक से छः मास के पक्की हो चुकी थी परन्तु उसका युवक से कोई यौन-सम्भोग नहीं हुआ था। बाह्य दृष्टि से इस रोगी के शरीर में कोई भौतिक रोग नहीं था और वह शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ थी।

युवती अपने प्रेमी को पिछले सात वर्षों से जानती थी परन्तु उसके प्रेमी ने उससे कभी यौन-सम्भोग करने का प्रयत्न नहीं किया था। यदि वह प्रयत्न भी करता तो युवती तैयार न होती क्योंकि उसे प्रथम तो गर्भ धारण हो जाने का, दूसरे प्रेमी के दूर चले जाने का डर था और तीसरे वह विवाह जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में स्मरण रखना चाहती थी। चौथी एक बात और थी जो युवती के ज्ञात मस्तिष्क में नहीं थी परन्तु उसके एक स्वप्न वर्णन द्वारा ज्ञात हुई कि उसे इस बात का डर था कि इससे उसका यौवन नष्ट हो जायेगा।

युवती प्रायः प्रति संध्या अपने प्रेमी के साथ व्यतीत करती थी। वे परस्पर विवाह, छुट्टियों में साथ रहने तथा यौन-सम्बन्धी बातें करते। इन बातों के बाद वह रात्रि में बहुत देर तक जागती रह जाती थी। उसके प्रेमी का कथन था कि अन्त में वह यौन-संभोग के लिये बड़ी उतावली रहा करती थी।

यह नींद न आने का रोग युवती को विवाह के अवसर पर प्रारम्भ हुआ। युवती को यौन-सम्बन्धी बातों के बाद और अधिक देर तक नींद नहीं आती थी। उससे जब चिकित्सा के समय उसकी यौन-सम्बन्धी बातें पूँछी जाती थीं तो वह बड़ी कठिनाई के थोड़ा बहुत बतलाती थी। उसके समस्त स्वप्न यौन सम्भोग के कारण यौवन नष्ट हो जाने से ही संबंधित रहते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उसके निद्रा का अपहरण उसके यौन-स्पन्दन के कारण था जिसकी सन्तुष्टि यौवन नष्ट होने, गर्भधारण, अपने को नीचा समझने, विवाह करने की प्रकृति नष्ट होने तथा यौन-सम्भोग को प्रतिदिन की क्रिया बनाने के डरों से न हो सकी थी। इस युवती ने अपने सोने की समस्या पर बहुत ध्यान इसलिये देना प्रारम्भ किया क्योंकि वह अपना मस्तिष्क यौन-इच्छा से दूसरे ओर ले जाना चाहती थी। परन्तु वह अपनी यौन-इच्छा पूर्णता दबा नहीं पती थी, साथ ही साथ तीव्र यौन-स्पादन और विवाह के दिन पास होने के कारण उसे ऐसा लगने लगा कि वह अब शीघ्र ही यौन-सम्भोग करने के लिये बाद्ध हो जायेगी। वह इस सम्भोग से उक्त

कारणों से बचना चाहती थी, इसीलिये वह अपनी यौन-इच्छा को और अधिक दबाना चाहती थी। इस दबाव की तीव्रता बढ़ने के कारण ही यह उसमें मानसिक रोग निर्माण का कारण हुआ। उसको रात्रि में पसीना निकलने तथा धड़का होने का कारण यह था कि उसकी नाड़ियाँ अत्याधिक उत्तेजित हो गईं थीं इस कारण यह निद्राहरण लक्षण प्रवेश तत्व के रूप में हो गया। उसका निद्रा रहित हो जाना, उसे विवाहरुद्ध जाने के कारण उसे यौन-सम्भोग से बचाता था, यही इस लक्षण का लाभ था, जिसके कारण उसके अज्ञात मस्तिष्क ने इसे चुना।

प्रथम दो भेंट में युवती को, उसके यौवन नष्ट होने के भय को छोड़ कर, उसको उसकी समस्त समस्यायें समझाई गईं। इस समय तक उसका यौवन नष्ट भय उसके मनोवैज्ञानिक डाक्टर को ज्ञान नहीं था। उसे यह भी बतला दिया गया कि यह उसका भ्रम है कि यदि वह निद्राहीन रहेगी तो यौन-संभोग के लायक नहीं रहेगी। उसे सब प्रकार के निद्रा लाने वाली औषधियाँ खाने से रोक दिया गया और यह भी समझाया गया कि मनुष्य बहुत कम सो कर भी बहुत वर्षों तक पूर्णत: स्वस्थ्य रह सकता है। इस प्रकार उसके निद्रा न आने का भय भी नष्ट कर दिया गया। चिकित्सा के प्रारम्भिक तेरह दिन वह बिना दवा के प्रतिदिन से लगभग दो घंटे कम सो पाई। चौदहवें दिन वह 'बाल' (नाच) में गई और देर में लौटी। पन्द्रहवें दिन वह लौटने के एक घंटे बाद ही सो गई। इसका कारण सम्भवत: नाच में जाने के कारण उसका यौन-सम्भोग का भय कम हो जाने का था। इससे यह भी प्रगट कि युवती तीन कारणों से नहीं पाती थीं प्रथम था रात्रि में बियर पीना, दूसरा रात्रि में विवाह तथा यौन-संबन्धी बातें करना और तीसरा छुट्टियों में प्रेमी के साथ रहना। युवती को दूसरा काम यह बतलाया गया कि वह बियर या तो संध्या होते ही पीले या बिलकुल पीना छोड़ दे तथा संध्या को यौन-सम्बन्धी बातें न करे। युवती ने इस बात को पूरी तरह माना अगले दस दिनों में वह केवल तीन रात्रि ही न सो पाई। बाकी के दिन वह लगभग साढ़े आठ घंटे प्रतिदिन के हिसाब से सो सकी। इस उपचार के बाद युवती लगभग १० सप्ताह निरीक्षण में रहीं परन्तु उसे कभी भी निद्रा हरण की बीमारी न हो पाई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य में, उसके स्पन्दनों के असन्तुष्ट रहने के कारण उसमें एक मानसिक विक्रिया निर्माण होती है। यदि स्पन्दनों की शक्ति अधिक हुई और उनकी सन्तुष्टि सम्भव न हो सकी तो मनुष्य में मानसिक रोग निर्माण का विभव तैयार हो जाता है। इससे बचने के लिये यदि उसे कोई भौतिक लक्षण प्रतीत होता है जो उसे उसकी स्थिति में सहायक हो, तो मनुष्य उसे अज्ञात में ग्रहण कर लेता है और वह मानसिक रोगी बन जाता है।

मनुष्य किसी भी अवस्था में, उस समय से लेकर अपने जन्म-प्रारंभ काल तक के अपने समस्त विचारों तथा भावों का उपलब्ध स्वरूप होता है। मनुष्य की बुद्धि, उसका हृदय, चरित्र तथा भौतिक शरीर की बनावट, स्वास्थ्य और उसके अधिकांश रोग इसी उपलब्ध के आधार पर ही होते हैं। मनुष्य के भौतिक शरीर पर उसके विचारों तथा भावों का प्रभाव तो बहुत ही आश्चर्य पूर्ण होता है। मनुष्य में मस्तिष्क से नाड़ियों द्वारा सबसे अधिक घनिष्ट सम्पर्ग रखने वाला अंग, हाथ, विशेषकर हाथ के पंजे को देखकर मनुष्य के विषय में बहुत कुछ बतलाने की विद्या, हस्तरेखा के नाम, इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं। इसकी सत्यता पर विवाद न करते हुये इतना तो मैं स्वयं कह सकता हूँ कि मैं किसी का भी हाथ देख कर उसके चरित्र के बारे में सब कुछ बतलाने का दावा रखता हूँ।

उक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य को मानसिक रूप से स्वस्थ्य रहने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे अपने विचारों तथा भावों को स्प-

न्दनो के आधम पर; स्वस्त्य तथा नैसर्गिक रूप मे वकसित होने देना चाहिये।

मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्तिसमाज में ५० प्रतिशत से अधिक हैं। इन रोगों की भंयकती इससे और बढ़ जाती है कि यह रोग वंश-संक्रयण द्वारा परिवार के लोगों में चलते जाते हैं। ऐसे परिवार के प्रत्येक बच्चे में मानसिक अस्वस्पण का विभव प्रारम्भ में ही रहता है जिसे वह अपने स्वयं के प्रयत्नों द्वारा बढ़ा या घटा सकते हैं। यदि इस प्रकार के मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ्य परिवार के व्यक्तियों ने प्रयत्न र्वक इस रोग के मुक्त होने का उपाय न किया तो आधुनिक अनुसन्धान से यह ज्ञात हुआ है कि, धीरे धीरे ऐसे वंश समाप्त हो जाते हैं। इन व्यक्तियों का उपचार केवल मनोवैज्ञानिक ढंग द्वारा ही हो सकता है क्योंकि अधिकांश मानसिक रोगियों का शरीर भैातिक दृष्टि में सामान्य रहता है।

धन्यवाद

विज्ञान परिषद् श्री लाला दयाराम जीं, प्रो० माता दीनभगवान दास आयल मिल्स, कानपुर का १०१) रु० के एक कालिक दान के लिए विशेष आभारी है। धनी-मानी व्यक्तियों से ऐसा ही सहयोग पाकर यह परिषद् अपना राष्ट्र हितकारी कर्य सफलता पूर्वक कर सकने में समर्थ हो सकेगा।

ग्राहकों से

(१) अप्रैल १९५० से दिसम्बर १९५० तक के ग्राहकों को बी० पी० न भेजकर विज्ञान बराबर भेजा गया है, इस लिए कि विज्ञान पिछड़ा हुआ था। अब पिछले अंक पूरे हो गए हैं, अत: वे ग्राहक जिनका साल गत बर्ष अप्रैल से जनवारी सन् १९५१ तक किसी भी मास में पूरा हुआ है, अपना वार्षिक शुल्क ३) रु० भेज दें या इस बात की सूचना दे दें कि उनको अब ग्राहक रहना स्वीकार नहीं। कोई सूचन न मिलने परहम अलगा अंक आर्थात् फरवरी सन् १९५१ का अक उनको बी० पी० द्वारा भेजेंगे।

(२) जिन सभ्यों का सभ्य शुल्क शेषो है कृपया वे अपना सभ्य शुल्क शीघ्र भेजदें जससे शिशु-पालन, घरेलू डाक्टर, मधु-मक्खी पालन आदि परिषद् के नए प्रकाशन उनकी सेवा में भेजे जा सकें।

(३) जिन सज्जनों के पास अक्तूबर १९४९, मार्च १९४५, जुलाई १९४६, जनवरी, जून, व जुलाई १९४८ के विज्ञान की प्रत्तियाँ हों, वे हमको मूल्प पर भेज दें तो विज्ञान परिषद उनका बहुत आभारी होगा क्योंकि हमारी फाइल अपूर्ण है।

—:०:—

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै० उ० ।३।५

भाग ७२ | सम्वत् २००७ फरवरी १९५१ | संख्या ५

विज्ञान और जीवन

जीवन की वास्तविक परिभाषा देना तो दूर, प्राचीन विज्ञान व दर्शन दोनों ने एक मत होकर यही कहा कि यह एक अबूझ पहेली है। उदाहरणार्थ जोर्डन (Jordan) फान रिनवर्क (Van Rijn berk), डोनन (Dounan) जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने तो "जीवन" की परिभाषा करने के प्रयास में अपनी सुप्रसिद्ध रचनाओं में प्रकृति के इस चमत्कार पर विस्मय प्रकट करने के सिवा और आगे जाने का साहस ही न किया।

हाइडेन हेन (Heiden Hain) ने जीवन को एक ईश्वर प्रदत्त वस्तु मानी क्यों कि निर्जीव पदार्थ से सजीव की रचना का उनके पास कोई प्रामाण ही न था। क्लाड बर्नार्ड (Claude Bernard), हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) आदि कुछ विज्ञान वेत्ताओं ने जीवनिर्माण पर विचार करते हुए अपना यह दृढ़ मत रखा कि जीवन की परिभाषा की ही नहीं जा सकती; हमें जीवित पदार्थ के लक्षणों के ही ज्ञान से सन्तोष करना पड़ेगा, स्वयं चालित नैमिकता, आत्म-रक्षा, विकास और प्रसार आदि कुछ गुण जिसमें विद्यमान हो, वही पदार्थ जीवित की सँज्ञा पा सकता है, यह भी स्पष्ट है कि निर्जीव पदार्थों की भाँति जीवित पदार्थ में भी भौतिक और रासायनिक नियमों का पालन होता है। लोएब (Loeb) और साधारणतया सभी अन्य प्राणि-शास्त्रियों के मतानुसार एक विशेष श्लेष्यम को जीवित पदार्थ की सज्ञा दी जाती है। लक्षणों के ज्ञान से ही सन्तोष कर लेने वाले वैज्ञानिक डोनन ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि सम्भव है भविष्य में विज्ञान, विशेष रूप से गणित बहुत अधिक विकसित हो किन्तु जीवन की यह प्रहेलिका अबूझ ही बनी रहेगी। किन्तु

वर्तमान विज्ञान की बलवती चिन्तन धारा पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी निराश वादिता के लिए अब कोई स्थान नहीं। यह अवश्य सच है कि प्रयोग शालाओं में दिखाये जाने वाले प्रयोगों की भाँति तो प्रत्यक्ष रूप से अभी भी विज्ञान जीवन की पहेली का कोई हल संसार के सामने नहीं रख सकता किन्तु यह भी सच है कि कोई भी प्रत्यक्ष दर्शी अब यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि समस्या सुलझाई ही नहीं जा

सकती। धर्म, दर्शन और रूढ़िवादी विज्ञान के घोर विरोध का दमन करते हुए वर्तमान विज्ञान जीवन की पहेली का सुलझाव नहीं तो कम से कम सुलझाव की अब ऐसी रूप-रेखा रखने में समर्थ है जो वास्तविकता के काफी निकट होगी। अगर यह भी नहीं हो सका, तो कम से कम समस्या को यह रूप तो दिया ही जा सकता है कि वह कुछ भौतिक और रासायनिक घटना के रूप में समझी जा सके।

जीवित पदार्थ की परिभाषा समझना दो बातों के कारण बहुत सरल हो जाता है सुविख्यात वैज्ञानिक बर्नाल के मतानुसार प्रथम तो यह कि प्रत्येक जीवित पदार्थ में एक ही प्रकार की भौतिक तथा रासायनिक क्रियाएं होती रहती हैं और दूसरे यह जीवन आवश्यक रूप से "प्रोटीन" नाम धारी एक विशेष के रासायनिक पदार्थ पर निर्भर है। जीवित पदार्थ में पाए जाने वाले इन दो विशिष्ट लक्षणों के अधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस कार्य व्यूह (System) में ये दो बातें हो और साथ साथ ही जिसमें नित्यता को सामर्थ्य हो, वही "जीवन" है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि "प्रोटीन" नाम धारी पदार्थ का ज्ञान ही जीवन-रहस्य को समझने की कुंजी है। ध्यान देने योग्य बात है कि मानव निर्मित उद्योग शालाओं और प्रयोग शालाओं में जो कार्य सहस्त्रों अंश के ताप और कई एटमा-स्फियर (Atmosphee) दवा द्वारा किए जाते हैं वे जीवित पदार्थ द्वारा इतनी सुगमता और शान्ति से पूरे किए जाते हैं कि उठते बैठते, सोते-जगते, हिलते-डुलते हमें कुछ अनुभव भी नहीं होता कि कितने दुरूह कार्य हमारे शरीर के भीतर प्रति पल होते रहते हैं। मधु, चरबी, आदि बनाने मे उद्यो शालाओं में जितनी शक्ति का प्रयोग किया जाता है, उतने में तो हमारे शरीर की धज्जियाँ हो उड़ती दिखाई पड़ेंगी! अस्तु यह सब कार्य जीवित पदार्थ प्रेरकाणु (Enzymes) के द्वारा सम्पन्न कर पाता है और यह जान लेते ही समस्या स्पष्ट हो जाती है कि ये प्रेरकाणु "प्रोटीन्स" के ही अन्तर्गत आते हैं। तो अब "जीवन" की उत्पत्ति का रहस्य समझना बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम यह पता लगा सकें कि सृष्टि की आदि में विशुद्ध निर्जीव पदार्थों से उपरोक्त लक्षणों युक्त प्रोटीन नाम धारी पदार्थ कैसे बने ?

सृष्टि मूलक प्रोटीन के निर्माण का वर्णन आचार्य बर्नाल ने अपने एक भाषण (Guthrie Lecture) में किया है जिसका सारांश निम्न प्रकार है।

"पृथ्वी में जीवन आरम्भ होने से पूर्व की अवस्था की यदि कल्पना की जाय तो मानना होगा कि उस समय के वायुमण्डल में "आक्सीजन" का अभाव था क्योंकि आक्सीजन स्वयं वानस्पतिक जीवन की देन है। पृथ्वीतल पर पिघला हुआ (Molten Silicates), जल और कार्बोनेटस (Carbonates) तथा वायुमण्डल में हाइड्रोजन अमोनिया, तथा वाष्प थे। कालान्तर में जैसे ही पृथ्वी ठण्डी होती गई, वायुमण्डल का ओषदीकरण होता गया तो एक अवस्था मुख्यतया पृथ्वी में जल और वायुमण्डल में नाइट्रोजन तथा कार्बन-डाई-आक्साइड विद्यमान रहे, फलतः समुद्र में अमोनिया कार्बन डाईआक्साइड और हाईड्रोजन सल्फाइड बने। ऐसी स्थिति में सूर्य से आने वाली परा कासीन (Ultra violet) राशियों की शक्ति से सम्भवतः यह सम्भव हो सका कि समुद्र की इन चीजों के सघंट भवन (polymerisation) या लिप्तकिरण (Condensation) द्वारा आमिनो-आम्ल (Amino acid) का निर्माण हो। इस प्रकार जीवित पदार्थ के निर्माण का प्रथम चरण सम्पन्न होना मानना चाहिये क्योंकि यही अम्ल प्रोटीन्स" की वास्तविक इकाइयां हैं।"

आचार्य बर्नाल* ने इस विचार धारा को आगे बढ़ाते हुये यह स्पष्ट रूप से समझाया है कि उपरोक्त इकाइयों से समुद्रतल में श्लेष्म की उपस्थिति से

[शेष तीसरे पृष्ठ पर]

मिट्टी में नाइट्रोजन ज्ञति की क्रिया

लेखक—डा० मोहन चन्द्र पन्त,

भिन्न-भिन्न प्रकार के नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों को खाद के रूप में मिट्टी में डालने के पश्चात जो नाइट्रोजन की क्षति अनेकों अन्वेषकों द्वारा पाई गई है उसके अन्तर्गत क्या प्रतिक्रिया होती है तथा नाइट्रोजन ज्ञति का क्या कारण है इन प्रश्नों पर प्रकाश डालने के हेतु लेखक ने लगभग तीन वर्ष तक प्रयाग विश्वविद्यालय की रसायन शास्त्र अनुसंधानशाला में प्रो० धर के निरीक्षण में प्रयोग किये हैं। उनमें से कुछ प्रयोगों का विवरण यहाँ दिया गया है।

सभ्यता और संस्कृति का आदि स्रोत कृषि कला ही है और मिट्टी में से उत्पादित खाद्य पदार्थों से ही हमारी सभ्यता का विकास हुआ है। संसार की जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ ही साथ मनुष्यों का ध्यान अनाज की उपज बढाने की ओर आकर्षित हुआ। विद्वान मनुष्यों ने अन्न-कष्ट से आने वाली कठिनाइयों की चेतावनी दी। सन् १७९८ ई० में माल्थूज ने 'जन संख्या' नामक एक लेख में योरोप के निवासियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि उनकी जनसंख्या तो प्रतिवर्ष बढ़ रही है लेकिन खाद्य पदार्थों के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हो रही है और इस कारण कुछ ही समय में अन्न की कमी हो जाने से उन पर भयंकर संकट आ पड़ेगा। सन् १८९८ में 'ब्रिटिश असोसिएशन' ब्रिस्टल में सभापति का भाषण देते हुये सर विलियम क्रुक्स ने गेहूँ की पैदावार न बढ़ाने से आने वाले संकट का चित्रण इन शब्दों में किया—"नाइट्रोजन निग्रहण सभ्य जातियों की उन्नति के लिए परम आवश्यक है, और यदि हम लोग इस क्रिया की पूर्ण रूप से जानकारी हासिल न कर लें तो यह 'काकेशियन जाति' जो इस समय संसार में सबसे श्रेष्ठ है, प्रमुख न रह सकेगी, और उन जातियों द्वारा पददलित कर दी जावेगी, जिनका कि मुख्य खाद्य पदार्थ गेहूँ नहीं है।"

सन् १८३४ ई० में लीविग ने कृषि सम्बन्धी प्रयोग आरम्भ किए, लेकिन पौधों के बढ़ने के लिए

पृष्ठ दूसरे का शेष

"प्रोटीन्स" की रचना किस प्रकार सम्भव हो सकी होगी, किस प्रकार एक नियत सीमा के आगे आकार विकास के कारण प्रोटीन्स में जीवित पदार्थ के लक्षण आए होंगे, और उसी अवस्था में पृथ्वी तल प्राथमिक जीवन का आरम्भ हुआ होगा, किसप्रकार सृष्टि का आरम्भ और अन्त अनगिनत बार ऐसी घटनाओं को लेकर हुआ होगा क्योंकि वह जीव अपने निर्मायक साधारण-पदार्थों को भक्षण कर ही जीवित रह सका होगा? यह जीवन-मरण का क्रम तब तक जारी रहा होगा जब तक कि कोई जीवित पदार्थ प्रकाश-संश्लेषण [Photo Synthesis] द्वारा शक्ति संचय करने में समर्थ न हुआ होगा, ऐसी स्थिति में जीवन निर्माण वर्तमान की ही भांति हो जाना समझ में आ सकता है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि की अबूझ पहेली का यह अन्तर्दर्शन अभी कल्पना मात्र है, किन्तु यह कोरी कल्पना की ही स्थिति में न रह जायगा यह भी विश्वास है क्योंकि इस विचार धारा के पोषक कुछ प्रयोत्मक प्रमाण भी मिलने लगे हैं।

*Proceedings of the Physical Society A vol. 62 Part 9

भूमि में प्राप्य नाइट्रोजन (AvailableNitrogen) की मात्रा के ऊपर उसने अधिक ध्यान नहीं दिया। उसी वर्ष बोसिंगाल्ट तथा गिलबर्ट ने इंग्लैंड के रौथमस्टैड नामक स्थान में एक कृषि सम्बन्धी अनुसंधान शाला की स्थापना की और आधुनिक कृषि समबन्धी रसायन शास्त्र का इस प्रकार श्रीगणेश हुआ।

सन् १८५५ ई० के लगभग लावेज तथा गिल्बर्ट ने प्रथम बार पौधों के लिए नाइट्रोजन की आवश्यकता पर वैज्ञानिक रूप से कार्य आरम्भ किया और उस समय से आज तक प्रकृति में नाइट्रोजन सम्बन्धी रूपान्तरों के विषय में जो वृहत ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है उसको हम भली प्रकार नाइट्रोजन-चक्र' के रूप में चित्रित कर सकते हैं—

ध्यान आकर्षित हुआ और उनके अनुसंधानों के फल स्वरूप कई महत्वपूर्ण बातें हमें ज्ञात हुई और कई आशंकायें भी दूर हुई।

वायु मण्डल में लगभग ४×१० १५ टन नाइट्रोजन गैस उपस्थित है और इस मात्रा के आधार पर हर वर्ग मील भूमि के ऊपर लगभग २० लाख टन नाइट्रोजन गैस उपस्थित है परन्तु पौधे अपनी बढ़ती के लिए इस नाइट्रोजन को सीधे आत्मसत् नहीं कर सकते हैं। केवल कुछ ही पौधे जिनकी जड़ों में ग्रन्थिका (nodules) होती हैं और जो शिम्बिगत् (Leguminous) होते हैं (मटर फली क्लोवर इत्यादि के पौधे इस जाति के हैं) वायुमण्डल की नाइट्रोजन आत्मसत् कर सकते हैं।
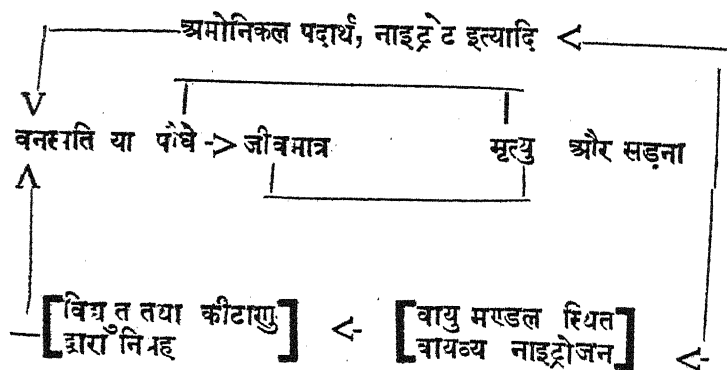
इस 'नाइट्रोजन-चक्र' के अंतरगत कई रसायनिक प्रतिक्रियाएं भाग लेती रहती हैं, जैसे 'प्रोटीन-विकृति, 'अमोनीकरण', 'नाइट्रीकरण', 'नाइट्रेट आक्सीजन-हरण', 'नाइट्रोजन-निग्रहण' तथा अमोनियाँ, अमीनो व नाइट्रेट नाइट्रोजन का आत्मीकरण। इन प्रतिक्रियाओं में से सम्भवतः सबसे मुख्य वह हैं जिनके द्वारा मूल रूप में नाइट्रोजन का निग्रहण होता है तथा वायव्य रूप में नाइट्रोजन की भूमि से क्षति होती है। इन प्रतिक्रियाओं की ओर जीवाणु-विद्या-विशारदों तथा रसायन शास्त्र वेत्ताओं का

जब वैज्ञानिकों को भली प्रकार ज्ञात हो गया कि पेड़ों के बढ़ने के लिए धरती में प्राप्य नाइट्रोजन होना अत्यन्त आवश्यक है और वायुमण्डल में स्थित नाइट्रोजन अधिकतर उनके काम नहीं आता है तो इस वायुमण्डल में स्थित नाइट्रोजन के कृत्रिम रूप से निग्रहण करने की विधि निकाली गई। इसके फल स्वरूप अब तक कृत्रिम नाइट्रोजन निग्रहण की कई विधि मालूम हो सकी हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय "बर्क लैंड इलैकट्रिक आर्क" विधि तथा "हाबर विधि" द्वारा अमोनियाँ संश्लेषण हैं।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ काल में मिट्टी में नाइट्रोजन निग्रहण की क्रिया को मालूम करने के लिए हिलगाल व विलफार्थ, विजरिंक, बोसिंगौल्ट इत्यादि लोगो ने प्रयोग आरम्भ किये और अपने अनुसंधानों के आधार पर इस मत पर पहुँचे के मिट्टी में नाइट्रोजन निग्रहण की क्रिया पूर्ण रूप से केवल कुछ कीटाणु द्वारा ही होती है। बर्थेलौट ने भी यही बतलाया कि मिट्टी में उपस्थित कीटाणु वायुमण्डल से निग्रहण द्वारा मिट्टी के नाइट्रोजन की मात्रा को बढ़ाते हैं इस विचार की पुष्टि दहरान तथा माक्यूनी, गोटियर तथा डूइन, पगनौल, इमैनडौफ इत्यदि कई लोगों ने की है। विनोग्रेडस्की ने अपने प्रयोगों द्वारा मिटटी में स्थित इन कीटाणुओं को अलग करने की विधि निकाली। सन् १९३० के लगभग धर तथा उनके साथियों ने मिट्टी द्वारा नाइट्रोजन निग्रहण पर कुछ प्रयोग आरम्भ किए और लगभग द्रह वर्ष के प्रयोगों के पश्चात् यह मत प्रकट किया है कि मुख्यतः उष्ण देशों में कुछ अंश तक मिट्टी में नाइट्रोजन निग्रहण कीटाणुओं द्वारा होता है लेकिन मुख्य रूप से नाइट्रोजन निग्रहण की यह क्रिया एक प्रकाश-रासायनिक (photochemical) तथा पृष्ठ (surface) क्रिया है

मिट्टी में नाइट्रोजन निग्रहण किसी प्रकार भी क्यों न होता हो, लेकिन यह बात भली प्रकार ज्ञात हो चुकी है कि निग्रहण द्वारा जो कुछ भी नाइट्रोजन की मात्रा मिट्टी को मिलती है वह एक दूसरी प्राकृतिक क्रिया के द्वारा मिट्टी से निकल जाती है। इस 'नाइट्रोजन क्षति' की क्रिया के अन्तरगत कई रसायनिक प्रतिक्रियाएँ भाग लेती हैं जिनके द्वारा मिट्टी में स्थित नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थ वायव्य नाइट्रोजन के रूप में परिणत हो जाते हैं और यह बायव्य नाइट्रोजन भूमि से निकल कर वायु मण्डल में चला जाता है और इस प्रकार कृषि तथा पौधों के लिए अप्राप्य हो जाता है। भूमि को उपजाऊ बनाये रखने के लिए मिट्टी के नाट्रोइजन को रिक्त कर देने वाली क्रिया एक विकट प्रश्न है। यह क्रिया जैसे देशों में, जो कि उष्ण कटिबन्ध में स्थित हैं, और भी भयानक रूप धारण कर लेती हैं क्योंकि यहाँ तापमान भी अधिक है तथा सूर्य प्रकाश भी। यह दोनों इस क्रिया के लिए लाभदायक सिद्ध होते हैं। इन्हीं कारणों से हमारे देश में, जो कि उष्ण कटिबन्न में स्थित हैं, मिट्टी के 'कुल नाइट्रोजन' की मात्रा ०.०३—०.०६ ग्राम प्रतिशत से अधिक नहीं पाई जाती और इंगलैंड जैसे देश में जो कि शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित हैं मिट्टी के कुल 'नाइट्रोजन' की मात्रा ०.०६—०.२०ग्राम प्रतिशत तक पाई जाती है।

१९वीं शताब्दी के अन्त में भारत सरकार ने डा० जे० ए० व्होलकर नामक कृषि सम्बन्धी रसायन शास्त्री को भारतवर्ष की मिट्टी का अध्ययन करने बुलाया। उसने यहाँ के भिन्न भिन्न प्रान्तों की मिट्टी का विश्लेषण किया और अपना मत इन शब्दों में प्रकट किया—"भारतवर्ष की मिट्टी के विश्लेषण द्वारा प्राप्त आंकड़ों को देखते हुये, जिनमें से कुछ मौजूद थे और कुछ जो मैंने स्वयं विश्लेषण द्वारा प्राप्त किये हैं, मेरी यह धारणा है दक्षिण की काली मिट्टी को छोड़कर भारतवर्ष की मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों तथा नाइट्रोजन की अत्यन्त कमी है।

इसी प्रकार के विचार विश्वनाथ द्वारा भी निम्न लिखित शब्दों में प्रकट किये गये हैं:—"देश के भिन्न-भिन्न भागों की मिट्टी के विश्लेषण तथा खेती के अवलोकन द्वारा विदित हुआ है कि कार्बनिक पदार्थों, नाइट्रोजन तथा फासफोरस की सब जगह कमी है।"

'रायल कमीशन आन अग्रीकलचर' ने अपनी रिपोर्ट में कहा, "हम इस बात की बहुत आवश्यकता समझते हैं कि नाइट्रोजन की क्षति तथा वृद्धि से सम्बन्धित मूल प्रश्नों पर अनुसंधान आरम्भ किये जावें।"

उपरोक्त मतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मिट्टी द्वारा नाइट्रोजन क्षति का प्रश्न हमारे देश के

लिए बहुत ही आवश्यक है क्योंकि हमारे देश की मिट्टी में जलवायु के प्रभाव से 'कार्बनिक पदार्थों तथा 'कुल नाइट्रोजन' दोनों ही वस्तुओं का अभाव है। जिस प्रकार से भी हो हमें अधिक से अधिक मात्रा में नाइट्रोजन को भूमि में रखने का प्रयत्न करना है। लेखक ने कुछ प्रयोग प्रयाग विश्वविद्यालय की रसायन अनुसंधान शाला में मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति का प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डालने के लिए किए हैं जिनका कि उल्लेख आगे किया जावेगा।

मिट्टी से किस प्रकार नाइट्रोजन की क्षति होती है, इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिये गये हैं। विनोग्रेडस्की, शोलोसिंग इत्यादि वैज्ञानिकों के प्रयोगों के आधार पर एक प्रकार का अनाइट्रीकरण (Denitrification) जिसके द्वारा मिट्टी के नाइट्रोजन की क्षति होती है, भली प्रकार ज्ञात हो चुका है। जो अणु जैविक Microbiological क्रियायें पहले पहल अध्ययन की गई थी उनमें से यह भी एक है। आक्सीजन की अनुपस्थिति में तथा सरलता से आक्सीजन युक्त हो जानेवाले कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति में बहुत से जीवाणु नाइट्रेट पदार्थों का विच्छेदन कर देते हैं और इसके परिणाम स्वरूप नाइट्रोजन वायव्य रूप में आक्साइड के रूप में या अमोनियाँ के रूप में मिट्टी से निकल जाता है। इस प्रकार की नाइट्रोजन क्षति के कि जिन मुख्य बातों की आवश्यकता है वह हैं वायुरहित (Anaerobic) स्थिति, सरलता से आक्सीजन युक्त हो जाने वाले कार्बनिक पदार्थ तथा प्रतिक्रिया के माध्यम का ph ६.४-८.४ तक।

इसके अतिरिक्त एक दूसरे रूप से भी मिट्टी के नाइट्रोजन की क्षति होती है। इसमें वायु या आक्सीजन की उपस्थिति आवश्यक होती है। इस प्रकार की क्षति में होने वाली क्रियाओं के जानने के लिए बहुत कार्य हो चुका है लेकिन इसका कोई ठीक उत्तर अभी तक प्राप्त नहीं हो सकता है। हमारे विचार से (जसके प्रमाण में कुछ प्रयोगात्मक फल आगे दिये जावेंगे) इस क्षति को करने वाली क्रिया मुख्यत: एक अक्सीकरण क्रिया है जिसके फलस्वरूप अमोनियम नाइट्राइट पदार्थ मिट्टी में बन जाता है और इस पदार्थ का प्रकाश रसायनिक तथा प्रवर्तित विच्छेदन (Catalytic decomposition) हो जाता है और नाइट्रोजन वायव्य रूप में मिट्टी से निकल जाता है। मिट्टी में से इसप्रकार की नाइट्रोजन क्षति बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस क्रिया द्वारा जो नाइट्रोजन मिट्टी में से निकल जाती है उसकी मात्रा उस नाइट्रोजन से जो पौदे अपने उगने के लिए मिट्टी से भोजन के रूप में ले लेते हैं, कहीं अधिक है।

नाइट्रोजन क्षति के लिये बहुत से वैज्ञानिकों ने यह मत भी प्रकट किया है कि मिट्टी पर जब वर्षा का जल गिरता है वह अपने साथ घुलनशील नाइट्रोजन पदार्थों को जिनमें नाइट्रेट मुख्य होते हैं, निकाल ले जाता है जिसके कारण मिट्टी के नाइट्रोजन में कमी हो जाती है। लेकिन अभी तक जो प्रयोगात्मक प्रमाण प्राप्त हुये हैं, उनसे केवल यही ज्ञात होता है कि साधारण अवस्था में मिट्टी से केवल बहुत कम मात्रा में नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थ पानी के साथ बह निकलते थ। जो कुछ कमी मिट्टी के नाइट्रोजन की मात्रा में इस प्रकार आती है उसकी पूर्ति कुछ अंश तक वर्षा जल के साथ धरती धरती पर आने वाले नाइट्रोजन से हो जाती है क्योंकि वायुमण्डल में जब विद्युत-विसर्ग होता है तब नाइट्रोजन तथा आकसीजन मिल कर नाइट्रोजन के आक्साइड बनाते हैं। यह आक्साइड जल में घुल कर नाइट्रिक अम्ल बनाते हैं और वर्षा जल के साथ धरती में आ मिलते हैं। [प्रतिवर्ष लगभग ८ या १० पौंड नाइट्रोजन इस प्रकार प्रति एकड़ भूमि को वर्षा जल से मिलता है।]

लिपमान तथा ब्लेयर ने अपने अनुसंधानों द्वारा यह दिखलाया है कि मिट्टी में जब परिस्थिति नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों के अक्सीकरण के अनुकूल

होती है तो वायव्य रूप में मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति होती है। न्यूजरसी तथा कैलीफोर्नियां की अनुसंधानशालाओं में बड़े बर्तनों में मिट्टी रख कर प्रयोग आरम्भ किये गये। दोनों जगह मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति होती पाई गई। औसतन प्रति वर्ष १०० पाउण्ड नाइट्रोजन प्रति एकड़ की क्षति सतह से ६ इंच गहरी मिट्टी में से हुई। न्यूजरसी के प्रयोगों को आरम्भ करने के दस वर्ष के अन्दर लगभग १००० पौण्ड नाइट्रोजन की क्षति हुई। कैलीफोर्नियां में भी पाँच वर्ष के बाद लगभग ५०० पौण्ड नाइट्रोजन की क्षति पाई गई। इन प्रयोगों में आक्सीकरण की क्रिया के सुचारु रूप से होने के लिये मिट्टी को उथल पुथल कर दिया गया था। इसके बाद दूसरे दस वर्षों में मिट्टी को एक ही अवस्था में पड़ा रहने दिया गया जिससे आक्सीकरण के लिए सुविधाएं न हों। इस अवस्था में नाइट्रोजन की क्षति नहीं पाई गई। इन प्रयोगों द्वारा पता चलता है कि जहाँ आक्सी-करण की सुविधा अधिक होगी वहीं की मिट्टी में नाइट्रोजन क्षति भी अधिक मात्रा में होगी। कैलीफोर्नियाँ में किये गए एक प्रयोग के फल नीचे तालिका में दिये गए हैं।

	अनाज उगी हुई मिट्टी (ग्राम में)	बिना अनाज वाली मिट्टी (ग्राम में)
१६०० पौन्ड मिट्टी से नाइट्रोजन क्षति	१६८	१२४
अनाज द्वारा मिट्टी से ली गई नाइट्रोजन	६५	०
कुल नाइट्रोजन क्षति (ग्राम में)	१३३	१२४

रसल तथा रिचर्ड ने भी अपने प्रयोगों में, जिस में कि उन्होने अमोनियम यौगिक तथा अन्य पदार्थ खाद के रूप में मिट्टी में डाले थे, नाइट्रोजन की क्षति होती पाई। रौथमस्टेड में किये गए एक प्रयोग में जब ८६ पौन्ड नाइट्रोजन अमोनियम लवणों के रूप में डाला गया तो ५१ पौन्ड की क्षति हुई।

शट ने अपने प्रयोग में जो उसने इन्डियन हैड, ससकैचवान की प्रेयरी मिट्टी पर किये थे नाइट्रोजन क्षति पाई। इस प्रयोग में प्रेयरी मिट्टी के नाइट्रोजन की मात्रा मालूम की गई फिर मिट्टी को खोद दिया गया अर्थात अबसीकरण की क्रिया के लिए सुविधा की गई और उसमें अनाज बो दिया गया। प्रयोग के अन्त में मिट्टी का विश्लेषण किया गया और निम्नलिखित फल प्राप्त हुए :—

	प्रतिशत	पौन्ड प्रति एकड़
बिना खुदी प्रेयरी मिट्टी में नाइट्रोजन	०.३७१	६६५०
२२ वर्ष खेती के पश्चात नाइट्रोजन	०.२५४	४७५०
मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति		२१९०
अनाज द्वारा ली गई नाइट्रोजन		७००
कुल नाइट्रोजन क्षति		१४९०
प्रतिवर्ष नाइट्रोजन की क्षति		६८

उपर्युक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि नाइट्रोजन की मात्रा जो मिट्टी से निकल गई है उसका केवल एक तिहाई भाग अन्न के पौधों द्वारा अपनी वढ़ती के लिये लिया गया और दो तिहाई भाग वायुमण्डल में चला गया। (इस प्रयोग में नाइट्रोजन पदार्थों का पानी के साथ घुल कर बह जाने का डर अधिक नहीं था।)

स्नायडर ने मिनसोटा की मिट्टी से प्रचुर मात्रा में नाइट्रोजन की क्षति पाई। स्वानसन तथा गेनी ने भी कैनसास की मिट्टी से नाइट्रोजन क्षति होती पाई।

ऊपर लिखे गए कुछ प्रयोगों को पढ़ कर हमें ज्ञात होता है कि कितनी अधिक मात्रा में नाइट्रोजन की क्षति मिट्टी में से हो रही है। नाइट्रोजन पदार्थ अनाज के पौधों के बढ़ने के लिये परमावश्यक है। पौधों को नाइट्रोजन देने के लिये मनुष्यों ने नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों का प्रयोग खाद के रूप में करना आरम्भ किया। कुछ वर्षों पहिले तक गोबर, विष्टा, जानवरों की लीद इत्यादि प्राकृतिक पदार्थ खाद के रूप में काम लाये जाते थे लेकिन जब से कृत्रिम रूप

से नाइट्रोजन यौगिक पदार्थों का बनना आरम्भ हो गया है तो लोग अमोनियम लवण तथा नाइट्रेट के रूप में मिट्टी में खाद डालते हैं।

प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों की खाद द्वारा जो नाइट्रोजन की मात्रा मिट्टी में पहुँचती है उसका अधिकाँश भाग मिट्टी से निकल कर वायव्य नाइट्रोजन के रूप में चला जाता है और केवल कुछ भाग ही पौधों द्वारा अपने भोजन के लिये काम में आता है। रसल ने अपनी पुस्तक 'सौईल कन्डीशन्स एन्ड प्लान्ट ग्रोथ' में लिखा है कि रौथमस्टेड के गेहूं के खेतों में जब गोबर का खाद (Farmyard Manure) डाली गई जिसके द्वारा लगभग २०० पौन्ड नाइट्रोजन मिट्टी को मिला, तो यह देखा गया कि मिलाई हुई नाइट्रोजन की मात्रा का लगभग ७० प्रतिशत भाग मिट्टी से निकल गया। वोबर्न के खेतों में प्रयोग करने पर भी इसी प्रकार की नाइट्रोजन क्षति पाई गई। यह भी देखा गया कि इस प्रकार की क्षति मिट्टी को जोतने तथा उथल-पुथल कर देने से बढ़ जाती है। इन प्रयोगों द्वारा यह भली भाँति सिद्ध होता है कि वायुवंचित अनाइट्रीकरण (Anaerobic denitrification) के द्वारा जो नाइट्रोजन क्षति होती है उनके अतिरिक्त भी एक दूसरी क्रिया द्वारा मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति होती है जो कि ज्यादा भयानक सिद्ध हो सकती है और जिसके फलस्वरूप मिटटी के 'कुल नाइट्रोजन की मात्रा में भरी कमी आ सकती है।

मैगिट द्वारा भारतवर्ष के आसाम प्रान्त की मिट्टी से प्रचुर मात्रा में नाइट्रोजन क्षति होती पाई गई है। अगस्त मास में वर्षा के समय ऐनट, अयर तथा कायस्थ ने नागपुर के समीप की काली मिट्टी से निकले पानी (Drainage water) का विश्लेषण किया जिसके द्वारा उसमें घुले हुए नाइट्रोजन की मात्रा मालूम की। प्राप्त आँकड़ों से यह देखा गया कि मिट्टी के कुल नाइट्रोजन क्षति की मात्रा, पानी द्वारा निकाल ले गये हुए नाइट्रिक नाइट्रोजन की मात्रा से कहीं अधिक है, जिससे स्पष्ट होता है कि मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति केवल वर्षा जल द्वारा नाइट्रेट पदार्थों के घुल जाने से ही नहीं हुई है वरन् कोई और रूप द्वारा भी मिट्टी से नाइट्रोजन क्षति हुई है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भूमि से नाइट्रोजन की क्षति बराबर हो रही है। यह किस प्रकार होती है इस बात को जानना भी परम आवश्यक है। रसल ने इस नाइट्रोजन क्षति के प्रश्न के ऊपर अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये हैं—"खेतों के २०-३० वर्षों के समय में मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति किस प्रकार हुई यह कहना कठिन है। इसलिए यह अनुमान होता है कि आक्सीकरण की क्रिया के समय नाइट्रोजन वायव्य रूप में निकल जाता है। और क्योंकि इस अवस्था में नाइट्रोजन को नाइट्रेट पदार्थों से अलग करने से सब प्रयत्न विफल हुए हैं तो यह सोचा जाता है कि यह वायव्य नाइट्रोजन कार्बनिक पदार्थों से आया है। लेकिन इस धारणा को मानने में यह दुविधा होती है कि अलब्यूमिन, ऐसपरजीन या मल-मूत्र के मिश्रणों के कीटाणु द्वारा आक्सीकरण की क्रिया में इस प्रकार की नाइट्रोजन क्षति नहीं पाई जाती है।"

विश्वनाथ के निम्नलिखित शब्द भी इस बात को भली भाँति दर्शाते हैं कि वायव्य रूप में मिट्टी से नाइट्रोजन क्षति की क्रिया किस प्रकार होती है—"यह बात अभी भली भाँति स्पष्ट नहीं है कि मिट्टी में से 'कुल नाइट्रोजन' की क्षति किन कारणों से होती है।"

सुबरामनयम ने नाइट्रोजन-क्षति सम्बन्धी क्रियाओं के ऊपर अनुसधान करने के विषय में इस प्रकार कहा है—"खेतों में मिट्टी की ऊपरी सतह में अमोनियम यौगिकों को खाद के रूप में उपयोग करने के उपरान्त होने वाली नाइट्रोजन क्षति की मात्रा को जानने के लए या मिट्टी में से निकलने वाली अमोनियाँ गैस पौधों द्वारा अपने काम लाई जाती है प्रश्न पर और अनुसंधानों की आवश्यकता है। इस नाइट्रोजन क्षति का असर नाइट्रीकरण इत्यादि जैसी नाइट्रोजन रूपान्तर क्रियाओं में भी पड़ता है।"

(क्रमशः)

पृथ्वी की आयु

लेखक—पुष्कर सिंह

पृथ्वी की आयु के बारे में संसार में प्रचलित विभिन्न धर्मों में भिन्न भिन्न मनोरंजक कल्पनाएँ की गईं हैं, वर्तमान विज्ञान में भी विभिन्न रीतियों से पृथ्वी की उम्र बतलाने का प्रयत्न किया गया है, रश्मि-कर पदार्थों की खोज से इस विषय पर विशेष प्रभाव पड़ा है, निम्न वर्णन सरल एवं ग्राह्य है।

सदा से कुछ जिज्ञासु विद्वानों का ध्यान 'पृथ्वी-की आयु' जानने के विषय की ओर रहा है। इसका उल्लेख ग्रंथों में भी मिलता है। हिन्दू-धर्म-ग्रंथों के अनुसार मनुस्मृति में संसार के भूत और भविष्य को ब्रह्म का एक दिन माना गया है यह ब्रह्मा का एक दिन ४३२०० लाख साल का होता है जिसे १४ पूर्ण भागों में विभाजित किया गया है। हर एक भाग ३०८,४४८,००० साल का होता है। जिसके अन्त में १७,२८,००० साल का एक 'प्रदोष काल' (Twilight) होता है। इस प्रदोष काल के बाद ब्रह्मा की रात शुरू होती है। इसके बाद वसुंधरा अनन्त में विलीन हो जाती है। इस धर्म-ग्रन्थ के अनुसार पृथ्वी की आयु २०,००० लाख साल बतलायी गयी है। बाइबिल में पृथ्वी की उत्पत्ति ४००४ईसा पूर्व कहा गया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने विभिन्न रीतियों से पृथ्वी की उम्र बतलाने की कोशिश की है। उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता हैं।

प्रथम विधि तल-छट-तह सिद्धान्त (Sedimentary Stratification Theory) कहलाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार हर साल छोटे छोटे मिट्टी के कण जमा होकर एक तह बना लेती हैं। इन जमे हुये तहों को गिन कर पृथ्वी की उम्र का अनुमान लगाया जा सकता है। शुकर्ट (Schuchert) ने उत्तर-अमेरिका के केम्ब्रीयन (Cambrian) से केनोजोइक (Cainozoic) तक जमी हुई तहों का वर्णन किया है! इन तहों की मुटाई २५६,००० फुट है, जिसमें से १११,००० फुट पेलोजोइक (Palaeozoic) में, तथा ८६,००० फुट मिसोजोइक (Mesozoic) में तथा, ६१००० फुट केनोजोइक में जमी थी।

परन्तु आधुनिक रेडियम-धर्मिता (Radio-Activity) के अनुसार केनोजोइक, मिसोजोइक तथा पेलोजोइक को १:२:५ का औसत दिया गया है। इस औसत के अनुसार १ फुट बालू-पत्थर (Sandstone) को जमने में ४५० साल, १ फुट शेल (Shale) को ६००, साल तथा १ फुढ चूण-पत्थर (Limestone) को जमने में २२५० साल लगते हैं। इस तल-छट-तह सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी की उम्र ५,००० लाख साल मानी गयी है। चूँकि यह सिद्धान्त समय का ठीक अनुमान नहीं कर सकता, सर्वमान्य नहीं है।

दूसरी विधि एडमण्ड हैली (Edmund Halley) ने समुद्र में इकट्ठा होने वाले लवण पदार्थ की सहायता से बतलायी। हर साल नदियों के द्वारा पृथ्वी से जो लवण पदार्थ समुद्र में लाये जाते हैं उससे अब तक समुद्र में इकट्ठा हुए लवण-पदार्थ को भाग दिया जाय तो 'समुद्र की आयु' निकल सकती है। जाली (Joly) और क्लार्क (Clarke) न १००,०००,००० साल का अनुमान किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार दो शर्तें पहले से मान ली गई हैं। पहली यह कि हर साल बराबर लवण पदार्थ इकठ्ठा किया गया, और दूसरी, लवण-पदार्थ

का परिमाण हर साल बराबर रहा। परन्तु यह दोनों शर्तें असत्य प्रतीत होती हैं। क्योंकि बहुत से लवण पदार्थ समुद्र में रहने वाले जीव जन्तुओं से सोख लिये गये और लवण पदार्थ के जमा होने का आधुनिक परिमाण भूत से अधिक है। इसलिये यह सिद्धान्त पैमाने पर नहीं जमता।

लार्ड केल्विन (Lord Kelvin) ने संसार संकीर्ण सिद्धांत (Secular Contraction Theory) के आधार पर पृथ्वी की उम्र २०० से ४०० लाख साल बतलाया है। डारविन (Darwin) ने ५७० लाख साल बतलाया है। हेल्महोल्टज (Helmholtz) ने विकिरण सिद्धान्त (Radiation Theory) के अनुसार २२० लाख साल बतलाया है।

तीसरा सिद्धान्त जो सर्वमान्य सिद्धान्त है उसे 'सीसा विधि' (Laed merhod) कहते हैं। इस विधि के अनुसार रेडियम (radium) और थोरियम (Thorium) नामक धातु हिलियम (Helium) और सीसा (Lead) के रूप में बदलती हैं। हिलियम गैस होने के कारण छितर जाती है। परन्तु सीसा ठोस होने के कारण बच जाता है जो पृथ्वी की आयु बतलाने में सहायता देता है। रेडियम और थोरियम के इस रूपान्तर को रेडियम धर्मिता (Radio Activity) कहते हैं।

प्रोफेसर ए० ओ० नायर (A. O. Nier) ने रेडियम-धर्मिता सिद्धान्त के अनुसार कहा है कि जब सृष्टि का निर्माण हुआ था तब पृथ्वी सीसा-रहित थी। और अब जो शीशा पाया जाता है वह 'यूरेनियम' के रूपान्तर से बना है। यूरेनियम, ग्रेनाइट (Granite) में पाया जाता है।

इस सिद्धान्त के धरंधर प्रोफेसर होम्स (Ho!ms) का कथन है कि यूरेनियम, जिसका परमाणु भार २३८,तथा ऐक्टिनो यूरेनियम(Actiuo) जिसका परमाणु भार २३५ है, का अभिन्न-रासायनिक मिश्रण है। इन दोनों के रूपान्तर के अनुसार दो सीसों का निर्माण होता है जिनका परमाणु-भार २०६ तथा २०७ हैं। थोरियम के रूपान्तर से निर्मित सीसे का परमाणु-भार २०८ है। मामूली सीसा इन तीनों के औसत से प्राप्त होता है।

इस रूपान्तर विधि का सूत्र नीचे दिया गया है।

यूरेनियम I २३८/८ हीलियम4 + सीसा २०७
ऐक्टिनो यूरेनियम २३५/७ हीलियम4 सीसा २०७
थोरियम २३२/६ हीलियम4 सीसा २०८

इस विधि के अनुसार 'पृथ्वी की आयु' २३,००० लाख साल बतलायी गयी है।

—:०:—

पृष्ठ १९वें का शेष

ये दोनों यंत्र परमाणु-केन्द्रों को कारतूस रूप में प्रयोग कर परमाणु-ध्वंस के कार्य में आने वाले हैं परन्तु दूसरे यंत्र इनसे भी अधिक प्रबल वेग से प्रहार करने वाले बनाए जा सके हैं जिनमें परमाणु-केन्द्र या धनाणुओं की जगह ऋणाणुओं को "कारतूस" रूप में प्रयोग कर इन का वेग दस करोड़ ऋणाणु वोल्ट तक करने में सफलता मिल सकी है। यह वेग ५० करोड़ वोल्ट तक पहुँचाने की योजना की जा रही हैं। ऐसे यंत्र ऋणाणु-प्रेरक (बीटाट्रोन) कहे जाते हैं। इस यंत्र की भी कुछ कठिनाइयाँ अनुभव कर ऐसे यंत्रों की रचना करने का प्रयत्न जारी है जो अपनी कारतूस की गति आकाशीय किरणों (कासमिक रेज) के समान अरबों वोल्ट की शक्ति से पूरित हो। ऐसा प्रबल यंत्र बन सकने पर परमाणु के पूर्ण खंडन कर सकने की कल्पना की जा सकती है। जिस दिन ऐसा यंत्र बन सकेगा वह समय परमाणु-शक्ति पर मनुष्य की पूर्ण विजय का होगा।

—:०:—

परमाणु बम

...न द्विऔषिद (कार्बन डाय-
...कर अपने रूप को नवीन
...ती जा कर जगती-तली की
...ते रहते हैं। इन में सूर्य
और पुष्टि

लेखक—जगतपति चतुर्वेदी

रासायनिक विस्फोटों ने चाहे मानव-कल्याण में जितनी सहायता पहुँचाई हो, मनुष्य उनके नाम से सदैव भयभीत ही हुआ है। परमाणु-विस्फोट की प्रयलङ्कर शक्ति ने तो उस भय में घृणा व आशंका को मिश्रण कर दिया है किन्तु अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों की भांति प्रयोग के अनुसार कल्याण या अमंगल का शक्ति रखने वाला परमाणु-बम जनता के बीच कौतूहल का एक विशेष विषय है। आशा है निम्न वर्णन सर्व ग्राह्य होगा।

द्वितीय विश्वव्यापी महायुद्ध में सारे योरप पर नाजियों का अधिकार हो जाने पर संकटपूर्ण स्थिति हो जाने पर जब अमेरिका का संयुक्त राज्य भी अंग्रेजों का पक्ष लेकर सम्मिलित हो गया तो उस समय युद्ध के परिणाम का कुछ अनुमान नहीं किया जा सकता था। दोनों पक्ष बड़ी ही सरगरमी से सेना का बल बढ़ाने, एक दूसरे से अधिक प्रबल हथियार तैयार करने की होड़ में पूर्ण रूप से लीन हो गये। अमेरिका ने तुरन्त ही परमाणु बम की तैयारी के लिए अपनी सारी वैज्ञानिक शक्ति लगा दी। योरप के महायुद्ध क्षेत्र में यदि जर्मनी परमाणु-बम लेकर आ सका होता तो युद्ध का परिणाम कुछ और ही होता किन्तु वह इसमें सफल न हो सका। उधर अमेरिका इस प्रयोग में बहुत कुछ आगे बढ़ कर सफलता के निकट पहुँच रहा था। इस भयंकर नाशकारी बम के सफल निर्माण के पहले ही योरप का महायुद्ध रूस और अमेरिका तथा इंगलैंड की सम्मिलित सैन्य शक्ति से समाप्त हो गया परन्तु जापान का युद्ध पूर्व दिशा में चल ही रहा था। वहां के युद्ध-क्षेत्र में परमाणु-बम के फूटने से दो बड़े नगरों का अमेरिका द्वारा संहार किए जाने का जापान की सैनिक मंडली में बड़ा भयंकर प्रभाव पड़ा और युद्ध शीघ्र समाप्त किया जा सका। इस परमाणु बम के निर्माण की बहुत सी बातें आज भी गुप्त ही रक्खी गई हैं और अमेरिका ऐसे या इनसे भी भयानक बम आज भी बनाता जा रहा है। लोगों का विश्वास है कि रूसी कारखानों में भी ऐसे परमाणु बमों का बनना प्रारंभ हो गया है परन्तु वास्तविक बात का ठीक पता नहीं। किसी भी प्रकार साधारण जनता को किसी भी देश में इन बातों की कुछ बारीकियां ज्ञात नहीं होने दी जा सकी हैं जिस का कारण संसार की भारी शक्तियों में परस्पर सन्देह, एक दूसरे से बढ़ जाने वा एक दूसरे से हार खाकर नीची श्रेणी में पहुँच जाने की आशंका चारों ओर फैली हुई है जिसकी चर्चा किसी न किसी बहाने आए दिन सुनने को ही मिलती है। इतने भयानक रूप के और वर्षों से गुप्त रक्खे जाने वाले बम क्या हैं, कैसे बनते हैं, उन का क्या परिणाम होता है, इन सब वातों को जानने की इच्छा सब को स्वाभाविक ही होती है।

परमाणु बम के परिणामों को बहुत कुछ जापान के नगरों के संहार और अमेरिका द्वारा बाद में दूर महासागरों के बीच किए जाने वाले गुप्त रूप से बम गिरा कर उसके धड़ाकों की परीक्षा का साधारण ज्ञान आज पाठकों को हो गया है किन्तु हम यहाँ पर

फरवरी १९५१]

या इन बमों के बनने के यत्न करेंगे।

का परिमाण हर साल बराब
शर्तें असत्य प्रतीत होती हैं ये में आज कल सब से
पदार्थ समन में ...र्थ... अग्नि वर्षा करने वाला वा
लि...न से अधिक भयानक धड़ाका करने वाला
पदार्थ अग्नि तूलिका (गन काटन) कहलाता है। धड़ाका उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विस्फोटक कहा जाता हैं। इनकी क्रिया 'विस्फोट' या धड़ाका कहलाती है। ये भारी से भारी ईंट पत्थर के पुराने समय के अभेद्य माने जाने वाले किलों, इस्पात की चद्दरों तथा कठोर से कठोर रक्षा के पदार्थ को बेध कर अपनी संहार शक्ति प्रकट करते हैं। ऐसी भयानक वस्तु से हजारों गुना विनाश वा अग्निवर्षा शक्ति परमाणु बम के विस्फोट में होती है। जिस बम ने हिरोशिमा या नागासाकी जापानी नगरों का सर्वथा संहार कर दिया वह एक परमाणु बम अग्नि तूलिका की भयंकार विस्फोट शक्ति से भरे बमों से लाखों गुना अधिक भयानक था। उतना धड़ाका उत्पन्न करने के लिए साढ़े पांच लाख मन के लगभग अग्नि-तूलिका (गन काटन) की आवश्यकता होती। ये अटकल मन गढ़ंत वा निराधार नहीं बल्कि कठोर सत्य और वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इनकी व्याख्या नीचे दी जायगी। यही कारण है कि पारमाणु बम या परमाणु शक्ति आज संसार में इतना दिल दहलाने वाली वस्तु समझी जा रही है।

हम साधारण वस्तुओं के तोल में मन, सेर, छटाक का प्रयोग करते हैं किन्तु सुनार सोना चाँदी ऐसी मूल्यवान 'वस्तुएं, तौलने के लिए उस से बहुत छोटे बजन तोला माशा रत्ती अपने पास रखता है। इसी प्रकार परमाणु ऐसी अत्यंत छोटे आकार की वस्तुओं की रशि नापने के लिए बहुत छोटा नाप वैज्ञानिक भाषा में ऋणाणु वोल्ट कहलाता है। सूक्ष्म वस्तुओं की शक्ति नापने के लिए इसे इकाई कहते हैं जिस प्रकार सुनार के तोल के लिए रत्ती छोटी इकाई है। एक "ऋणाणु वोल्ट" कितनी छोटी शक्ति होती है, इस का हम इस प्रकार अनुमान कर सकते हैं। एक दो मासे की वस्तु हमारी उंगली की चौड़ाई के आधे इतना उठाने में लगभग जितनी शक्ति लगेगी उस को मामूली शक्ति की नाप के लिए एक 'अर्ग' (एर्ग) शक्ति कहा जाता है। किन्तु एक ऋणाणु वोल्ट एक अर्ग शक्ति की छोटी नाप का १/६ लाख (·०००००१६) होता है। स्थूल रूप से खंडित यूरेनियम के एक परमाणु की शक्ति तोप के एक गोले वा लोहे की कील पर हथौड़े की चोट के बराबर होगी किन्तु ध्यान रहे कि गोला दागने पर जो भारी मार होती है या हथौड़े की चोट जितना प्रभाव दिखाती है उन में असंख्य परमाणुओं का हाथ है इस लिए यदि उन से उत्पन्न शक्ति को परमाणुओं की संख्या से बाँटा जाय तो प्रति परमाणु केवल ½ ऋणाणु वोल्ट शक्ति पड़ेगी। इस प्रकार हथौड़े के वा तोप के गोले के असंख्य परमाणुओं के सामूहिक रूप से उत्पन्न किए हुए प्रभाव के बराबर खंडित यूरेनियम के एक परमाणु की शक्ति होना बड़ी बात है। हिसाब लगा कर देखा गया है कि खंडित यूरेनियम की एक परमाणु की यह शक्ति २००,०००,००० ऋणाणु वोल्ट होती है।

हम संसार में शक्ति के रूप पर थोड़ी दृष्टि डाल कर इस बात का मर्म अधिक समझ सकते हैं। संसार के समस्त कार्य शक्ति द्वारा चलते हैं। यह शक्ति कितने प्रकार की होती है, किस प्रकार पैदा होती है, इन का विज्ञान ने जो अध्ययन किया है उसे स्थूल रूप से देखा जा सकता है। हम कलों को पत्थर-कोयला, तेल गैस और बिजली आदि से चलता देखते हैं, पत्थर कोयला और तेल हमारे इंजिनों को चलाते है और मुख्यतया इन की बहुतायत और उनके भंडार पर अधिकार रखने वाला देश बड़ा बलवान समझा जाता है। कोयला हज़ारों काम आता है। इंजिन की भट्टी में प्रचंड आग दहका कर पानी को भाप रूप में बदल कर भारी शक्ति पैदा करता है। यही इंजिन

को चलाने की शक्ति है। कोयला दहकाने की क्रिया अपने अणुओं के बाहरी ऋणाणु-मंडल में भारी हलचल पैदा कर करता है। हम गर्मी की वैज्ञानिक व्याख्या में इस को समझ सकते हैं। इसी प्रकार तेल के दहकने से पैदा हुई गैसें भी उस के अणुओं के बाहरी ऋणाणु मंडल में भारी हलचल और उलट फेर की क्रिया है जिस से भारी भारी इंजिन चलते हैं। इस प्रकार की शक्ति रासायनिक शक्ति कही जा सकती है। यह शक्ति अणुओं के के बाहरी सूक्ष्म ऋणाणुओं के मंडल में मौजूद रहती है, और इसी रासायनिक शक्ति से वे एक दूसरे से बंधे पदार्थ की रचना करते हैं। मनुष्य अणु की उस बाहरी शक्ति पर ही प्रहार कर अपने हाथ में बल आया देखता है किन्तु अणु की भीतरी या हार्दिक शक्ति बिलकुल अछूती रहती है।

हमारी शक्ति के उत्पन्न करने वाले ये पदार्थ पत्थर-कोलया, तेल आदि पृथ्वी के गर्भ में हमें छिपे मिलते हैं जो सूर्य की शक्ति की देन हैं। हम से ९ करोड़ बीस लाख मील की दूरी पर रहने वाले सूर्य भगवान अपने अनन्त बल की भूतल पर वर्षा करते रहते हैं। पृथ्वी के जन्म के आरम्भ में जब कहीं जीवधारी दिखाई भी न पड़ते होंगे, सूर्य के प्रताप से रात दिन घनघोर वर्षा और प्रखर उत्ताप से बड़े दानवाकार वृक्षों और सघन जंगलों से सारा भूतल आच्छादित सा रहा होगा। उसी में कालान्तर में एक तह के बाद दूसरी तह पृथ्वी की नई नई परतों में पड़ते, दबते सड़ते जंगल गर्भ में दब गए और कहीं पत्थर-कोयला और कहीं के तेल के रूप में बन गए। ये सूर्य की किरणें ही मानो रूप बदल कर हमारी सेवा करने के लिए पृथ्वी तल में दबी पड़ी हैं।

इतना ही नहीं, आज भी हम सूर्य की अनन्त शक्ति के भिखारी हैं। सूर्य का तेज वनस्पतियों में शक्ति देता है जो अपूर्व शक्ति पूर्ण हो कर पृथ्वी की गोद में कुछ नमी, कुछ खाद, कुछ मिट्टी को ग्रहण कर पड़े रह कर हवा से कार्बन द्विऔषिद (कार्बन डायक्साइड) वायव्य खींच कर अपने रूप को नवीन नवीन संतान उत्पन्न करती जा कर जगती-तली की हरियाली से आच्छादित करते रहते हैं। इन में सूर्य के तेज को हम नाना प्रकार के रस, स्वाद और पुष्टि कारक गुण के पदार्थ फल, फूल,मूल, पत्ती और छाल आदि के रूप में पाते हैं। इन्हीं आहार से हमारे दुधार पशु उसी सूर्य की शक्ति को परिवर्तित कर हमें सुस्वादु दूध दही, घी नित्य ही देते हैं। कच्चे अन्नों को पका कर और भी सुस्वादु करने के लिए चूल्हों में लगाने के लिए लकड़ी, ईंधन आदि भी सूर्य के प्रताप से उत्पन्न पदार्थों के बदले रूप है। इस प्रकार कोयला, तेल अन्न, बनस्पति, साग भाजी, फल, फूल लकड़ी, ईंधन इत्यादि सब सूर्य के तेज बल से उत्पन्न पदार्थों के ही एक न एक परिवर्तित रूप के हमारे सम्मुख रक्खा पदार्थ है।

कुछ जटिल रूप की व्याख्या के अनुसार शक्तियों के दूसरे प्रकार भी हैं। उदाहरणार्थ गति करती हुई कोई वस्तु अपनी गतिशक्ति के कारण एक शक्ति उत्पन्न करती देखी जाती है। इंजिन के द्वारा चलाया गया भारी चक्का अपनी भारी गति से लम्बे धरे को नचाता हुआ उस में लगे सैकड़ों छोटे चक्कों को भी घुमाता रहता है जो एक साथ ही सैकड़ों कलों को चलाता दिखाई पड़ता है।

किसी पदार्थ में स्वाभाविक रूप से निहित शक्ति "अवस्था शक्ति" कही जाती है। किसी घड़ी की कुंडली दार कमानी (स्प्रिंग) उसकी चाभी दिए जाने पर अपने दबाव की शक्ति से घड़ी को एक निश्चित अवधि तक चलाती रह सकती है। किसी ऊंचे स्थान पर का पानी अपनी ऊंची अवस्था के ही कारण नीचे समान धरातल तक बड़े वेग से बहता आकर अपने आकार और वेग के अनुसार अपने साथ चीजें बहा ले जाने, नदी रूप में भयंकर बाढ़ लाने वा भारी नावों, लट्ठों वगैरह को बहा ले जाने की शक्ति रखता है। यह शक्ति नियंत्रण के रूप में

आकर मनुष्य-निर्मित बांधों से बाँध कर किसी सकरी गली से ऊंचाई से नीचे गिरती हमारे लिए बिजली का असीम भंडार उत्पन्न कर सकती है। यह शक्ति पन बिजली के अतिरिक्त हजारों मील के क्षेत्र में सिंचाई कर भी हमारा घर धन धान्य से पूर्ण कर सकती है।

इन्हीं शक्तियों को नाना रूप में उत्पन्न होते, फिर एक रूप से दूसरे रूप में बदलते हम रात दिन देखते हैं। भारी वेग से चला आता विकराल मोटर वाहन, जहाज, रेलवे इंजिन वा वायुयान अकस्मात किसी वस्तु से टकरा जाने से इन्हीं शक्तियों में से एक को संहार की आग में बदल कर धड़ाका उत्पन्न करते दिखाई पड़ते हैं। अचानक रोकी गाड़ी भी अपनी वेगशक्ति को भारी गर्मी के रूप में बदलती दिखाई पड़ती है जिससे इंजिन के कलपुर्जे गर्म हो उठते हैं। तोप का भयंकर गोला वा 'अग्नि तूलिका'' के दूसरे भयंकर से भयकर प्रहार भी इन्हीं प्रकार की शक्तियों में अणुओं के बाहरी ऋणाणु मंडल के उथल पुथल मात्र हैं। इस प्रकार भारी काम करने वाली प्रचंड शक्तियों को भी हम परमाणुओं के खरोंच का परिणाम कह सकते हैं। इसी कारण भयंकर नाशकारी शक्ति के पुंज "अग्नि तूलिका'' गन काटन के प्रबल से प्रबल बम की मार को भी हम उससे परमाणुओं की संख्या के अनुसार प्रति परमाणु ३ या ४ ईकाई या ऋणाणु वोल्ट शक्ति बरसाते देख सकते हैं किन्तु परमाणु की आंतरिक शक्ति हम से छू भी नहीं जाती जिस को यूरोनियम के खंडित होने पर हम एक परमाणु को बीस करोड़ (२००,०००,०००) शक्ति की इकाइयों या ऋणाणु वोल्ट के रूप में देख सकते हैं यही कारण है कि छोटे आकार का परमाणु बम हिरोशिमा नगर के संहार में जितना प्रभाव दिखा सका वह लगभग साढ़े पांच लाख मन आधुनिक, सब से अधिक विस्फोट के पदार्थ, अग्नि तूलिका (गन काटन) के बम के बराबर था।

यूरेनियम का परमाणु केन्द्र में किसी बाहरी सुप्राणु के आकर उपद्रव करने से अपने केन्द्रीय संगठन को संभाल नहीं सकता। किसी कारण वहां का प्रबंध ढीला पड़ जाता है और मुगल-साम्राज्य के केन्द्रीय सरकार के ढीले पड़ने पर जैसे प्रान्तों में अधिकारी ही स्वतंत्र शासक हो जाते थे, उसी प्रकार यूरेनियम का परमाणु भी, भारम (बेरियम) और गुप्तम (क्रीप्टम दो परमाणु में बँट कर खंडित ह जाता है जिनके परमाणविक भार क्रम से १३७ और ८४ हैं किन्तु मूल यूरेनिमम का परमाणु २३५ परमाणविक भार का होता है, दूसरे समस्थानीय परमाणुओं में खंडन क्रिया नही देखी जाती। अतएव २३५ परमाणविक भार के विशेष युरेनियम परमाणुओं के खंडित होने पर हम जिन दो परमाणुओं को बना देखते हैं उन के परमाणविक भार का योग कम होता है। इस लिए इस खंडन क्रिया में यूरेनियम का कुछ भाग अवश्य ही लोप हो जाता है। इस कारण ही नए बने परमाणुओं का संयुक्त परमाणविक भार मूल यूरेनियम परमाणु क परमाणविक भार से कम दिखाई पड़ता है। यह परमाणविक भार की कमी या अंतर ही अदृश्य होकर अपने रूप का लोप कर प्रबल शक्ति उत्पन्न करता है। यह परमाणविक भार का अंतर "मात्रा-दोष,' कहा जाता है। मूल और खंडित परमाणुओं की मात्रा या भार का यह दोष या भेद खंडन क्रिया का उग्रता प्रकट कर सकता है। खंडन-क्रिया से बने नए परमाणुओं में मूल परमाणु से जितना ही अधिक "मात्रा-दोष„ या मात्रा भेद होगा उतनी ही अधिक परमाणु-मात्रा सर्वथा लुप्त हो कर शक्ति का सृजन करेगी।

हम इसे और अधिक इस प्रकार स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं कि पहले वैज्ञानिकों का मत था कि पदार्थ और उसकी शक्ति भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं, उनमें हेर फेर तो अवश्य अनेक प्रकार से दिखाई पड़ता है किन्तु उनके कोष का योग अंत में पृथक पृथक एक निश्चित राशि का ही दिखाई पड़ेगा। पदार्थ कभी

सर्वथा लुप्त नहीं हो सकता किन्तु विज्ञान-जगत के महापंडित श्री आयंस्टीन ने अपने अपूर्व ज्ञान और गणना शक्ति से १६०५ ई० में पहले पहल इस बात की घोषणा की कि पदार्थ और शक्ति एक ही वस्तु हैं केवल रूप में भेद है अर्थात् पदार्थ सर्वथा नष्ट होकर शक्ति रूप में प्रकट होता है। उनका अनुपात बताने के लिए उसने ठीक गणना भी बताई। प्रकाश का वेग खोजों के अनुसार सब से वेगवान है जिसको प्रति सेकण्ड १८६००० (एक लाख छियासी हजार) मील चाल का माना जाता है। इस वेग संख्या को इसी संख्या से गुणा करने पर अर्थात् प्रकाश की वेग संख्या का वर्ग कर उसमें किसी पदार्थ की मात्रा से गुण किया जाय तो वह उस पदार्थ की यथार्थ शक्ति होगी जो उस पदार्थ के लोप हो जाने पर शक्ति रूप में परिणत दिखाई पड़ेगी। यह एक अटल सिद्धान्त है और इसी सिद्धान्त को हम यूरेनियम के खंडित होने पर उसके "मात्रा दोष" इतनी राशि को सर्वथा लोप होकर खंडन होने के समय प्रचंड शक्ति के रूप में परिवर्तित होते देखते हैं।

पदार्थ के लोप पर शक्ति की इस प्रचंड राशि को उत्पन्न करना बड़ी ही कठिन पहेली है। इस अपार शक्ति का होना मनुष्य के हाथ में सृष्टि के मूल आधार को ही बनाने बिगाड़ने की शक्ति दे देना है। शक्ति की प्रचंडता का रूप हमें यूरेनियम के खंडन किए जाने पर कुछ दिखलाई पड़ता है। हम रश्मिशक्ति के निरंतर शक्ति-प्रसार या रश्मि-शाक्तिक शक्ति की वर्षा करने में भी इस क्रिया को स्वाभाविक रूप से निरंतर होता देख सकते हैं। हम जानते हैं कि यूरेनियम या सभी रश्मि-शाक्तिक पदार्थों से फूटती हुई किरणें तीन प्रकार की पाई जाती हैं। पहली अल्फा किरण होती है जो हिमजन (हिलियम) परमाणु के नग्न परमाणु-केन्द्रों की धारा होती है। इस में पदार्थ का लोप नहीं हुआ रहता किन्तु उसका भी वेग पर्याप्त होता है। प्रयोगों में देखा गया है कि यदि एक कागज का टुकड़ा किरणों के मार्ग में कर दिया जाय तो दूसरी और तीसरी किरणें तो पार कर निकल जायगी परन्तु अल्फा किरण अकेली पीछे रुकी रह जायंगी। उसके लिए यह पर्दा ही अभेद्य दुर्ग का काम देगा। दूसरी किरण ऋणाणुओं की धारा होती है जो परमाणु केन्द्र के प्रबल धक्के के कारण बड़े वेग से बाहर खदेड़ दी जाती है। यदि अल्युमीनियम की एक चादर मार्ग में रख कर रोक लगाई जाय तो यह उसे पार कर जा सकने में असमर्थ होगी। यह किरणें भी केवल पदार्थ के विद्यमान रूप से ही बनी होती हैं, फिर भी परमाणु केन्द्र का धक्का इन में बहुत ही प्रबल वेग उत्पन्न करता है। तीसरी किरण-धारा इन दोनों से बहुत ही अधिक बिलक्षण और प्रबल शक्ति वाली होती हैं। इन्हें गामा किरणें कहते हैं। हम जानते हैं कि दृश्य और अदृश्य प्रकाश की लहरें अपनी लंबाई या सूक्ष्मता के कारण रेडियो या बेतार के तार, ताप, दृश्य प्रकाश, दृश्य प्रकाश के परे की अदृश्य किरणें (जैसे रोञ्जन किरणें) क्रमशः ऊपर के क्रम से सूक्ष्म आकार की होती जाती हैं। केवल इनका आकार ही इनका गुण बदलता है। पानी या शब्द की लहरों की तरह ये भी लहर होती हैं। लहर की चोटी से दूसरी लहर की चोटी तक का अंतर इन लहरों की लम्बाई कहलाता है। इस प्रकार जहाँ ऊपर के क्रम की रेडियों की लहरें मीलों लम्बी होती है वहाँ नीचे के क्रम की रोञ्जन किरण एक जौ की लंबाई के दस लाखवें भाग से लेकर दस करोड़वें भाग तक होती है। गामा किरणें इन से भी छोटी, दस करोड़वें भाग से लेकर जौ की लंबाई के दस अरबवें भाग तक होती है। लहरें जितनी ही छोटी लंबाई की होंगी उतनी ही निकट उनकी चोटियां होंगी। इस लिए इनकी झूलन या दोलन-संख्या भी उतनी ही अधिक होगी। एक बिन्दु पर से होकर जितनी संख्या की लहरें एक सेकेंड में पार कर जा सकती हों

उसे उनकी झूलन संख्या कहते हैं। यह उनके जल्दी जल्दी उठकर भगते जाने की संख्या होती है। गामा किरणों से भी हजारों गुना और भी छोटी और इसी कारण उनकी झूलन संख्या से बहुत ही अधिक झूलन संख्या वाली दूसरी किरणें होती हैं जिन्हें "आकाशीय किरणें (कासमिक किरणें) कहा जाता है।

आकाशीय किरणें (कासमिक रेज) सृष्टि की अद्भुत वस्तुए हैं। हम इनको वस्तु न कह कर कुछ और ही नाम से पुकारते किन्तु ऐसे किसी शब्द का हमें बिल्कुल अभाव मालूम पड़ता है जो सृष्टि के अन्तिम रूप को प्रकट कर सके जिसकी सूक्ष्मता सूक्ष्मता की सभी सीमायें पार कर चुकी हो, प्रबलता की सभी सीमाएँ लाँघ जाने वाली अन्तिम प्रबलता का जिसमें अन्त हो। हम अब भी नहीं जानते कि उनकी रचना किस प्रकार होती है और वे कहां से आती हैं। किन्तु बाहरी आकाश मण्डल से निरन्तर हमारे चारों ओर समस्त भूतल पर इनकी वर्षा होती प्रतीत होती है। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि ये किरणें सुप्राणु में निकट निकट एक सूत्र में बंधे धनाणु और ऋणाणु के ही सर्वथा लोप होकर एक में मिल कर अदृश्य बन कर एक रूप हो जाने से इन अद्भुत "आकाशीय किरणों" की सृष्टि होती है। धनाणु और ऋणाणु के मौजूद रह कर पदार्थों का आकार बनाने के लिये इनके केन्द्र और कक्ष रूप में नर्तन करने से परमाणु का रूप दिखाई पड़ता है। इन्हीं की इस रूप की नर्तन क्रिया समाप्त होने पर अनंग (कामदेव) कामदेव की अरूपता के रूप में इनकी भी आकाशीय किरण के रूप विलय और अरुपता देखी जाती है। धनाणु और ऋणाणु के लोप हो कर एक रूप होने में ईथर में जैसी लहर उत्पन्न हो सकती है वैसी ही आकाशीय किरण में होती दीखती है, इसलिए ऊपर की कल्पना की जाती है। अतएव एक अग्राह्य अदृश्य क्रिया की कल्पना को ही बल देने को हम देखते जहाँ "गामा किरणों" रोञ्जन किरणों से भी सूक्ष्म आकार और प्रबल झूलन संख्या की होने पर सीसे की डेढ़ अंगुल (एक इञ्च मोटी तह को भेदते देखते हैं वहाँ आकाशीय किरणें अकल्पनीय सूक्ष्मता और तीव्र झूलन संख्या के कारण ३० या ४० फीट गहरे सीसे की धातु की तह में घुस सकने में समर्थ देखते हैं। यह पदार्थ के सर्वथा लोप हो कर शक्ति के रूप में परिवर्तित होने का परिणाम है।

पदार्थ और शक्ति के एक वस्तु होने और रूप परिवर्तन में इतना अद्भुत प्रभाव को समझ कर हमें परमाणु बम की भयंकरता और वा परमाणु शक्ति का विस्फोट अनुमान करने में कठिनाई नहीं हो सकती। यह भी सोचने की बात है कि परमाणु के आंशिक लोप को ही परमाणुओं की माला में उत्पन्न कर बड़ा विस्फोट कराया जाता है। पूर्ण परमाणु का लोप करने या उसकी लुप्त शक्ति से परमाणु सृजन का ज्ञान वा उसकी कोई मानवीय-शक्ति-सुलभ युक्ति मालूम पड़ने पर मनुष्य समाज का क्या रूप होगा, हम नहीं कह सकते।

परमाणु-बम की कठिनाइयों में खंडित होने योग्य उपयोगी परमाणु यूरेनियम २३५ की दुर्लभता और उसको प्राप्त करने में अपार कठिनाई भारी बाधा थी। दूसरी २३५ परमाणविक भार के यूरेनियम परमाणु में लड़ी रूप में जो खण्डन किया और धड़ाका होता था वह बहुत बिलम्ब कर कुछ समय के अन्तर से होता पाया जाता था। उसका यह गुण महायुद्ध के समय किसी बम बनाने के काम नहीं आ सकता था। युद्ध में तो ऐसा अस्त्र चाहिये जो पल भर की देर न कर निःसन्देह रूप का प्रहार निश्चित स्थान पर कर अधिक से अधिक संहार कर सके। वैज्ञानिकों ने संयुक्त राज की गुप्त प्रयोग शालाओं में कौन सी युक्ति कर लड़ी रूप की यूरेनियम की खण्डन और विस्फोट की बिलम्ब से होती जाने वाली क्रिया को किस प्रकार अविलम्ब तत्क्षण

फूट बरसने वाली शक्ति के रूप में बदला, इसका ज्ञान केवल चोटी के कुछ वैज्ञानिकों और अमेरिका के राजनीति वेत्ताओं को है। हमें इसकी तुरन्त जानकारी होने की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिये। समय बीतते जाने पर ये गुप्त भेद स्वयम् ही फूट कर संसार को ज्ञात हो पड़ेंगे।

यूरेनियम २३५ की जगह कोई अधिक सुलभ वस्तु वैसा ही फल दिखा सकने वाली मिलने की खोज में ९४ वी क्रम संख्या और २३९ परमाणविक भार के परमाणु प्लूटोनियम को जन्म दिया गया है। उसके अनुसंधान के सम्बन्ध में कुछ और बातें यहां कही जा सकती हैं। सुप्ताणु रूप और उसका गुण हम जानते हैं। यह धनाणु और एक ऋणाणु के बिजली के बन्धन को तोड़ कर प्रवेश कर सकता है। क्योंकि इसमें किसी बिजली की उग्र अवस्था नहीं रहती। हमको यदि एक शीशे वा चिकने धरातल की किसी प्याली में बच्चों की खेलने वाली गोली फेंकने का अवसर मिले तो हम देखेंगे कि जोर से फेंकने पर निशान ठीक लगने पर भी वह गोली प्याली में अन्दर नहीं ठहर सकती। एक किनारे से घुस कर बीच से होती दूसरे किनारे वह तुरन्त बाहर हो जायगी। इसी प्रकार परमाणु रूप प्याली में सुप्ताणु रूप गोली के जोर से फेंकने पर परमाणु केन्द्र में हम सुप्ताणु को नहीं ठहरा सकते। इसके विपरीत धीरे से गिराई गोली जिस प्रकार प्याली के बीच में ठहर जाती है उसी प्रकार धीमी गति से भेजा हुआ सुप्ताणु परमाणु-केन्द्र में पहुँच कर रुकने की आशा रख सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि प्याली में गोलियाँ भरी हों तो एक दो वा कम गोलियों वाली प्याली की अपेक्षा रुक जाने की अधिक आशा रखी जा सकती है। इसी कारण प्रोफेसर हान के प्रयोग में हमें वह फल नहीं होता दिखाई पड़ा जिसकी आशा की जा रही थी। सुप्ताणु की गति धीमी कर सकने वाले पदार्थों में पेंसिल की सलाई बनाने उपयुक्त होने वाली (ग्रेफाइट) नाम की वस्तु सबसे अधिक प्रबल होती है। इस लिए ग्रेफाइट की ईंटों से बने पजावें में ईंटों की तहों में यूरेनियम की राशियां थोड़ी थोड़ी रक्खी गई थीं। उन सब के नीचे सुप्ताणु की ढेरी थी जो प्रबल धातु की पटरियों की रुकावट से दबी रक्खी गई थी। ऊपर की हजारों पौंड की यूरेनियम की दबी ढेरियों को भी बांट कर इस प्रकार रक्खा गया था कि कहीं किसी भाग में भारी परिवर्तन वा धड़ाका हो जाने वा किसी विशेष परिस्थिति में धातु की पटरियां डाल कर तुरन्त ही भागों को अलग या बाहर किया जा सकता हो। नियंत्रण वा रोक वाली पटरियों में अन्तिम पटरी के बहुत ही धीमी गति से निकाल दिये जाने पर सुप्ताणु अपना कार्य प्रारम्भ करने लगे परन्तु प्रारम्भ के कुछ दिनों तो बिल्कुल शान्त रूप का ही पाजावा देखा जा सकता था। यह धीरे धीरे की क्रिया ही ऐसी वस्तु पैदा करने वाली थी जो अपनी शक्ति की प्रबलता बहुत ही तेज चाल से दिखा सकती हो।

यह नई धातु प्लुटोनियम परमाणु बम के निर्माण में उसी प्रकार सहायक सिद्ध हुई जिस प्रकार यूरेनियम २३५। सरकारी सूचनाओं से यह पता चलता है कि इन दोनों पदार्थों को बम में प्रयोग किया गया और शीघ्र धड़ाका उत्पन्न कर सकने के लिए इनके एक भाग को गोले रूप में प्रयोग कर दूसरे भाग को निशाना बनाकर उस पर दागने का प्रबन्ध किया गया यह बम की दुरूह रचना का विषय है जिससे साधारण पाठक की विशेष रुचि नहीं हो सकती और विशेष विवरण भी सुलभ नहीं है किन्तु यूरेनियम २३५ के अन्य सम-स्थानीय यूरेनियम से पृथक करना भी एक विचित्र कार्य था जो आज गुप्त क्रिया न होकर भी विलक्षण है।

यूरेनियम के तीन सम-स्थानीय रूप पाये जाते हैं जिनके परमाणविक भार २३४, २३५ और २३८

होते हैं। इनका मिश्रित रूप ही पाया जाता है जिनमें २३५ वाला परमाणु कुल यूरेनियम का केवल १४० भाग होगा। शेष भाग २३४ और २३८ वाले होते हैं। विशाल परमाणु ध्वंसक यन्त्रों को कुछ परिवर्तित कर इनके भेद करने का प्रयत्न किया गया। इसमें बहुत ही भारी आकार का चुम्बक लगाया गया था। जब यूरेनियम की मिश्रित राशि में बिजली का संचार कर दिया जाता तो वे विद्युत-चुम्बक के प्रभाव में अपनी धाराएँ अपने परमाणविक भार के अनुसार कुछ पृथक पृथक कर लेते जिन्हें अलग अलग संग्रह कर लिया जाता। यह चुम्बकीय विधि थी जो धीमी थी किन्तु इसका परिणाम निश्चित था।

दूसरी विधि बहुत ही तीव्र गति के एक मक्खन निकालने वाले यन्त्र की भाँति भीषण वेग से नाचने वाली मथानी सहित वैज्ञानिक यन्त्र का प्रयोग है। इस यन्त्र को केन्द्र गर्वित यन्त्र (सेन्ट्रिफ्यूज) कहते हैं। इसमें बड़ी तीव्र गति से मथे जाने पर भिन्न भिन्न भार के कारण उन सम-स्थानीय परमाणुओं पर कुछ भिन्न प्रभाव पड़ता है। जिससे वे पृथक पृथक किए जा सकते हैं।

तीसरी विधि वायव्य (गैस) रूपकर किसी अत्यन्त पतले छिद्र से पार कराने पर कम भार का परमाणु अधिक भार के परमाणु की अपेक्षा कुछ अधिक वेग से बाहर निकल सकता है। इसी क्रिया को बार बार दुहरा कर तीनों भेद पृथककरना सम्भव है।

चौथी विधि परमाणुओं को तरल बनाकर पतली खड़ी नालियों में रखकर उनमें होकर तपाए हुए तार ले जाए जाते हैं। गर्मी के कारण हल्का अंश उबलने से ऊपर उठता है और भारी भाग नीचे बैठता जाता है। इस प्रकार ताप पहुँचाकर भी भिन्न भिन्न परमाणविक भार के यूरेनियम पृथक किए जा सकते हैं।

परमाणु-बम के मुख्य रहस्य यहीं हैं। उसको तैयार करने की कुछ बारीकियाँ और यूरेनियम धातु की दुर्लभता के कारण इसके सहज ही प्रयोग न हो सकने के कारण परमाणु विज्ञान की जटिलता उसको एक गुप्त पहेली बनाए हुए हैं। हो सकता है कि एक दिन ऐसा आए जब हम साधारण परमाणु की शक्ति को भी तोड़ फोड़ कर अपनी नित्य की आवश्यकताओं में उसकी आज की भीषण नाशकारी रूप में दिखाई पड़नेवाली शक्ति को कल्याणकारी रूप में परिवर्तित कर उपयोग करने में सफल हो सकते हों।

परमाणुओं के केन्द्र को खंडित करने वा उसमें कुछ परिवर्तन के लिए कोई नया धनाणु या सुप्ताणु बैठाने की कृत्रिम क्रिया के लिये जो यन्त्र उपयोग में लाए जाते हैं उनकी बनावट बड़ी भारी होती है। इनकी क्रियाओं से परमाणु बेधन के लिए एक साथ कई विशेषज्ञ वैज्ञानिकों को इनके भिन्न भिन्न भागों का प्रबन्ध करना पड़ता है। ऐसे यन्त्रों का आकार तो इतना ऊँचा होता है कि कई मंजिल ऊँची इमारतों की बराबरी कर सकता है। सैकड़ों मन भारी ये जटिल यंत्र सृष्टि की सूक्ष्म से सूक्ष्म कनिकाओं के तोड़ने फोड़ने के काम लाए जाते हैं। इन यन्त्रों के काम करने का ढंग बच्चों के खेलने के दो औजारों से किया जा सकता है। कोइ मिट्टी का ढेला या कंकड़ दूर फेंकने के लिए बच्चे एक रस्सी के सिरे पर फंदा बनाकर रखते हैं जिसमें कंकड़ या मिट्टी का ढेला रख सकते हैं। इस फन्दे में रक्खे हुए कंकड़ को उस रस्सी का दूसरा सिरा हाथ में पकड़ कर बड़े जोर जोर से फेरा देते हैं। इस प्रकार रस्सी घुमाने से फन्दे के साथ कंकड़ गोलाई में बड़े जोर से कई चक्कर लगा चुकता है उसमें इन चक्करों से तेजी आ जाने पर वेग के साथ झटका देकर फन्दे से कंकड को बाहर फेंक देते हैं। कंकड़ को इस प्रकार चक्कर में घुमा कर फेंकने से अधिक वेग आता है। ऐसे फन्दों वाली रस्सी को गोफन या ढेलवांस या ऐसे ही दूसरे नामों से पुकारा जाता है। जब हम लम्बी कुदान करना चाहते हैं तो पहले कुछ दूर तक दौड़ कर अपने शरीर में गति पैदा करते हैं, तब कुदान

कर से हम अधिक से अधिक लम्बाई तक कूद जाने की आशा रखते हैं। एक प्रकार गति में आई वस्तु अधिक वेग से आगे बढ़ सकती है। झूले में हमने यह भी देखा होगा कि उसमें झूलने वाले झूले को पहली ही बार सबसे अधिक ऊंचाई या झोंके के साथ ले जाने में सफल नहीं हो सकते। गति बढ़ाते जाने के लिये हर बार उन्हें कुछ अधिक झोंका देते जाने का प्रयत्न करना पड़ता है। इस तरह हर झोंके पर कुछ अधिक झोंके देते जाने के बाद दो चार झोंकों के बाद उसकी गति सीमा तक पहुँच सकती है।

इसी प्रकार तोप के गोलों वा बंदूकों वा राइफिलों की नली में हम देख सकते हैं कि उस की भीतरी सतह चिकनी नहीं बनी होती। उस में कुंडली की तरह ऊपर बढ़ते जाते हुए रेखानुमा गड्ढे बने होते हैं जिन के साथ कारतूस या गोला दागने पर सीधे न भाग कर उन गडढ़ों में फंस नाचते हुए तेजी से बढ़ते हैं। उन में नाच कर बाहर निकलने से उन का वेग बढ़ गया होता है। इसी प्रकार परमाणु-ध्वंस के लिए परमाणु-केन्द्रों की धारा निशाने के दूसरे परमाणुओं पर दागने के लिए उसका वेग नचा कर बढ़ाया जाता है। इसके लिए एक चक्र बना होता है जिस में बिजली के धक्के से उसे गोलाई में चक्र के भीतर ऊपर बताए गोफन या ढेलवाँस के फाँस की तहर नचाया जाता है। इस में हर चक्कर में बिजली का और अधिक धक्का देते जाने से वह परमाणु का "गोला" दूने तिगुने वेग का हुआ जाता है। ये धक्के बारीक यंत्रों द्वारा ठीक अवसर पर हर चक्कर में दिए जाते रहते हैं। इस प्रकार हर बार में १० हजार ऋणाणु वोल्ट की शक्ति का धक्का देते जाकर सैकड़ों बार ऐसे ही बिजली के धक्के देते जा कर उन 'परमाणु' गोलों को ५ करोड़ ऋणाणु वोल्ट तक की शक्ति के वेग का बना दिया जाता है। इनके प्रहार से निशाने के परमाणुओं पर इच्छित प्रभाव डाला जाता है। इतने अधिक वेग से परमाणु गोलों को नचा सकने में कुछ कठिनाई होती है और गोलाई का मार्ग छोड़ कर वह अपनी गति हल्की करती दिखाई पड़ता है किन्तु चुम्बक की शक्ति से कुछ सीमा तक उस पर रोक लगाई जा सकती है जिस से इस सीमा तक वेग बढ़ाया जा सका है। इस यंत्र को परमाणु-ध्वंसक चक्र (साइक्लोट्रोन) कहा जा सकता है।

दूसरा यंत्र परमाणु गति-वर्द्धक यंत्र कहा जा सकता है जो बच्चों के गुलेल के तरीके पर बना होता है। गुलेल में एक लकड़ी में निकले दो फाँकों में एक रबड़ का टुकड़ा बांध देते हैं। उस रबड़ के बीच में कोई कंकड़ रख कर रबड़ के साथ ही पीछे खींचते हैं। फिर अचानक रबड़ को छोड़ देते हैं। इस तनाव को दूर कर रबड़ फिर अपनी सिकुड़ी हालत में बड़े जोर से लौट आने का प्रयत्न करता है जिस से कंकड़ बड़े जोर से दूर फेंका जाता है। धनुष बाण की मार में भी इसी प्रकार तीर की प्रत्यंचा (धनुष्य के सिरों को बाँधने वाली रस्सी) के बीच रख पीछे को ओर बड़े जोर से खींचते हैं। इस खिंचाव को ही छोड़ने से तीर बड़े जोर से आगे जा कर मार करता है। इसी प्रकार रबर या प्रत्यंचा के तनाव के स्थान पर बिजली की बड़ी राशि एक खोखले गोले में एकत्रित कर उस पर परमाणु-केन्द्र की "कारतूस" रूप राशि को रख कर निशाने के परमाणु पर गोले की तरह दागते हैं। इस तरह की मार में बिजली के द्वारा धक्के देने की सारी शक्ति एक साथ ही लागानी पड़ती है जिस से निशाने की मार दस लाख ऋणाणु वोल्ट तक की शक्ति से भी कर सकना कठिन होता है किन्तु यह यंत्र परमाणु-ध्वंसक चक्र की अपेक्षा अधिक सरल होता है। इस यंत्र को वान० डी० ग्राफ ने आविष्कार किया था, इस लिए उसके नाम पर इसे 'ग्राफ' परमाणु-गति-वर्द्धक यंत्र कहा जाता है।

शेष पृष्ठ १० पर

सम्वत्सर-निर्धारण

लेखक—रमेश चन्द्र चड्ढा

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव को वर्ष गणना की आवश्यकता हुई होगी। कालान्तर को आंकने का कार्य समय समय पर विद्वानों, पुरुषार्थी नरेशों ने किया जिसके फलस्वरूप संसार में आज कई प्रकार के सम्वतों का प्रचलन हुआ। इतिहास की सारी उपयोगिता का गौरव लिए हुए सम्वत्सर की प्रणालियों का यह मनोरंजक इतिहास शिक्षाप्रद है।

भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त हमारे कई भाइयों का विचार है कि जहाँ हमने अपना नया राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गीत तथा नया विधान तैयार किया है वैसे ही हमको पाश्चात्य प्रचलित ईसाई सम्वत को भी समाप्त करना चाहिये तथा इसके स्थान पर नया राष्ट्रीय सम्वत् होना चाहिये, ऐसे सुझावों के बारे में अपना मत देने के पूर्व हम यह जानने का प्रयत्न करें कि सम्वत्सर है क्या? कब सम्वत्सर निर्धारण प्रारम्भ हुआ? इसकी क्या आवश्यकता है।

शायद कब का उत्तर देना सम्भव नहीं। वैदिक मतानुसार तो जहाँ ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में मानव को अन्य सब प्रकार का ज्ञान दिया वहाँ उसे वर्ष गणना की आवश्यकता से भी परिचित करवाया। अतः इस मत के अनुसार ऐसी गणना सृष्टि के प्रारम्भ से ही चली आती है। इस मत पर संशय प्रकट करने पर यह कहना कठिन है कि अन्यथा संवत् की प्रथा कब प्रारम्भ हुई। शायद किसी मानव ने समय के अन्तर को स्थायित्व देने की अभिलाषा से ही इस प्रथा को जन्म दिया होगा। इस प्रथा में दो आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। एक तो वर्ष गणना का नियम तथा दूसरे एक विशिष्ट काल जब से यह गणना प्रारम्भ की जाये।

गणना के प्रारम्भ करवाने के लिये तो किसी प्रमुख घटना को आधार माना जा सकता है। उदाहरणतया महेन्द्र सम्वत्, युधिष्ठिर सम्वत् बिक्रमी सम्वत् इत्यादि उक्त महाराजाओं के राज्य काल की किसी प्रमुख घटना की आधार-तिथि से प्रारम्भ होते हैं। वर्ष-गणना के लिये वर्ष की प्रचलित धारणानुसार परिभाषा ही मुख्य मानी गई है। वर्ष की अवधि क्या होनी चाहिये इसके विषय में भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न समयों में विविध धारणायें थीं। यही धारणाएं वर्ष गणना का आधार भी थीं।

यहां संसार के संख्यातीत सम्वतों का उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करना तो एक दुरधिगम्य चेष्टा होगी। पर भारत के प्रचलित मुख्य तीन सम्वतों के, ईसाई, हिजरी तथा विक्रमी सम्वतों के विवरण द्वारा इस समस्या पर प्रकाश डाला जा सकता है।

ईस्वी संवत् ईसा मसीह की स्मृति में प्रचलित किया गया। पर शायद यूरोप में उससे पूर्व भी संवत् की प्रथा प्रचलित थी। शायद प्रारम्भिक धारणा भ्रांत सी थी प्रारम्भ में वर्ष में बारह मास गिने जाने थे तथा September, October, november तथा Dcember इत्यादि द्वारा सप्तम् अष्टम् नवम् तथा दशम् मासों को प्रकट किया जाता था। इसी प्रकार प्रथम द्वितीय आदि मासों में इसी प्रकार

के नाम होंगे। पर परम्परा ने उन्हें स्थानान्तरित कर दिया Julius Calsarने जो कि रोमन साम्राज्य के एक प्रसिद्ध सम्राट थे अपनी महत्ता स्थायी रखने के लिये वर्ष के पाँचवे मास को जो कि ३१ दिन का था अपने नाम पर Julius (जिसे अब जुलाई कहते हैं) रक्खा। उसी प्रकार रोमन सम्राट अगस्टस ने वर्ष के छटे मास का नाम August रक्खा। वैसे मासों के नाम प्रारम्भ में देवी देवताओं के नामों से सम्बन्धित थे। यथा जनवरी का मास लातिनी भाषा के शब्द Januarys से निकला है जिसका एक विशेष देवता जेनस से सम्बन्ध है। वैसे ही Februarius का नाम February से निकला है। इस मास की १५ को रोमन पवित्रता का प्रतीक एक वृहद् भोज किया करते थे। March का मास Mars से (जो कि युद्ध का द्योतक है) April का मासApriles से (जो कि ऋतु परिवर्तन का द्योतक है। मई का मास उत्पत्ति तथा कृषि वृद्धि से सम्बधित है तथा जून का मास जूनो देवी के नाम पर पड़ा है जिसका अर्थ यौवन है इस समय अपने यौवन में होता है। इत्यादि... सारांश यह कि मासों के नाम ऋतु तथा देवताओं के नामों से सम्बन्धित हैं। वैसे ही सप्ताह से दिनों के नाम यथा Sunday, Monday, Tuesday, Wednes day, Thirsday, Friday तथा sutardry सूर्य, चन्द्र, टयूअस (जोकि युद्ध का द्योतक है), बुडंस (wodens) जिसका भी अभिप्राय युद्ध के देवता से हैं, थोरस (जो कि विद्यु्त देव की स्मृति में है), Frige (जो कि मित्रता के देवता का नाम है। से सम्बन्धित हैं। मासों के दिन क्रमशः ३१, ३०, ३१, ३०, ३१, ३१, ३०, ३१, ३०, ३१, ३१, २८ या २९, चूंकि फरवरी का मास पहले। अन्त में होता था अतः इसके दिनों में परिवर्तन करना पड़ता था। एक दिन बढ़ाने का नियम आगे चल कर बताया जायेगा।

जैसे पहले भी बता चुके हैं महात्मा मसीह के जन्म की स्मृति में ईसाई सम्वत प्रारम्भ किया गया तथा इसका पहला दिन एक जनवरी था। उसी दिन से यह सम्वत् चल रहा है। ईसाई वर्ष की अवधि पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमा करने के तुल्य है अर्थात् जितने समय में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक चक्र काटती है उस समम को एक वर्ष कहते हैं। यह समय लगभग ३६५, २४२२१६... दिन के है जो कि ३६५ दिन ५ घण्टे ४८ मिनट ४७½ सेकन्ड के तुल्य है। इस प्रकार ३६५दिन वाले वर्ष से इसका अन्तर चार वर्ष में २३ घण्टे १५ मिनट १० सेकण्ड होता है। अतः प्रत्येक चतुर्थ वर्ष में एक दिवस बढ़ा दिया जाता है। इस वर्ष को लीप का वर्ष कहते है। परन्तु इस प्रकार चार साल में ४४ मिनट तथा ५० सेकण्ड अधिक बढ़ जाते हैं जो कि सौ वर्षों में १८ घण्टे ४० मिनट तथा ५३ सेकण्ड हो जाते हैं। अतः प्रत्येक सौवां वर्ष लीप का वर्ष नहीं होता। इस समाधान के उपरान्त भी १०० वर्षों में ५ घण्टे १९ मिनट तथा ६०२५ सेकण्ड बचते हैं अतः ४०० सालों में २१ घण्टे १६ मिनट २५ सेकण्ड का अन्तर रहा जाता है अतः ज्योतिषज्ञों ने ४०० साल में सूर्य वर्ष तथा ईसाई वर्ष का अन्तर प्रति चार सौवें वर्ष में एक दिन बढ़ा कर पूरा कर दिया है। परन्तु यथार्थ में यह २ घण्टे तथा लगभग ४४ मिनट तथा ३५ सेकण्ड का अन्तर ३२०० साल में लगभग एक दिन हो जायेगा अतः ३२०० के साल में एक दिन नहीं बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार गणितज्ञों का कहना है कि यदि हम २८८००० वें साल में एक दिन बढ़ा दें तो कुछ सेकण्डों के अन्तर पश्चात् सूर्य तथा ईसाई वर्ष एक समान हो जायेंगे। यह गणवेषण तभी तक शुद्ध है जब तक कि सूर्य वर्ष की अवधि अर्थात् पृथ्वी का परिक्रमा का समय दृढ़ है परन्तु देखने में आया है कि पृथ्वी का कक्षा (Orist) भी धीरे २ घूम रहा है जिससे कि प्रति वर्ष कुछ सेकण्ड़ों का अन्तर पड़ जाता है।

इस समय ईसाई सम्वत् अन्तारराष्ट्रीय सम्वत् है। इसके अनुसार दिन चौबीस घण्टे का होता है जो कि रात के बारह बजे से प्रारम्भ होता है। सारे संसार के समय को एक रूप करने के लिये अन्तराष्ट्रीय कार्यों के लिये ग्रीनीच के स्थानीय समय को माध्यम माना गया है। वैसे प्रत्येक देश का अपना प्रमाणित समय (Standard time) होता हैं उदाहरणतथा भारत का प्रमाणित समय प्रयाग के स्थानीय समय के तुल्य है।

यद्यपि आजकल भारत के राजकीय कार्यों में यहीं सम्वत् प्रयुक्त होता है परन्तु कुछ भारतीय संघों में तथा अन्य धार्मिक कार्यों में भारत के प्राचीन तथा प्रसिद्ध सम्वत् "विक्रमी सम्वत्" का प्रयोग करते हैं। अतः उसके विषय में भी ज्ञान प्राप्त करना उचित होगा।

"विक्रमी सम्वत्"

यह सम्वत् महाराज विक्रमादित्य ने शाक जाति पर विजय पाने के उपलक्ष्य में ईसाई सम्वत् से लगभग ५७ वर्ष पूर्व चलाया। इस वर्ष की अवधि आकाश स्थित तारागणों पर सम्बन्धित है। ज्योतिषज्ञों का विचार है कि आकाश में स्थित द्वादश राश्यन्तर्गत नक्षत्र ऐसे हैं जो कि सूर्य के चारों ओर तुल्य कोण अन्तर पर स्थित हैं। उनके नाम ये हैं विशाखा, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढ़ श्रावण पूर्वाभाद्रपदा आश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्व फाल्गुनी, चित्रा ज्यों २ पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है त्यों २ ये नक्षत्र दृष्टिगोचर होते जाते हैं। जितने समय में इनमें से कोई नक्षत्र विशेष द्वितीय बार दृष्टिगोचार होता है उस को एक विक्रमी वर्ष कहते हैं। चूंकि ये नक्षत्र पृथ्वी से कोटि मील दूर हैं अतः पृथ्वी परिक्रमण से इनकी सापेक्ष स्थिति में (Relatixe poaition) कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। एक विक्रमी वर्ष का द्वादश मास में विभाजन इन्हीं नक्षत्रों के दृष्टिगोचर होने पर निर्धारित हैं। इस प्रकार पृथ्वी का कक्ष द्वादस भागों में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक भाग को राशि कहते हैं। उपरि लिखित नक्षत्रों के दृष्टिगोचर होने पर पृथ्वी क्रमशः मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला वृश्चिक धन, मकर, कुम्भ, मीन राशियों में प्रविष्ट होती है। जिस दिन पृथ्वी किसी एक राशि से निकल कर दूसरी राशि में प्रविष्ट होती है उस दिन को संक्रान्ति कहते हैं। इस प्रणाली के अनुसार एक दिन सूर्य उदय होने से आगामी दिवस के सूर्य उदय होने तक का होता है अतः यदि पृथ्वी किसी राशि में सूर्य उदय होने से पूर्व ही प्रविष्ट हो जाये तो सूर्य निकलने के उपरान्त उस मास की द्वितीया तिथि हो जायेगी तथा संक्रान्ति एक दिन पहले ही हो जायेगी। पृथ्वी के किसी राशि में प्रविष्ट होने का तात्पर्य्य किसी विशेष नक्षत्र को आकाश पर दृष्टिगोचर होने पर निर्भर है अतः सम्भव है कि पृथ्वी के एक भाग में वह नक्षत्र सूर्य उदय होने के पूर्व तथा दूसरे में सूर्य उदय होने के पश्चात् हो। अतः हो सकता है कि एक ही देश में संक्रान्ति दो भिन्न भिन्न दिनों को मनाई जाये। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये ज्योतिषज्ञों ने उज्जैनी को प्रमाणित स्थान माना है। आजकल संक्रान्ति के सम्बन्ध में दो विचार होने का मुख्य कारण यह है कि प्रायः ज्योतिषी स्थानीय स्थिति के अनुसार गणना करते हैं। यह बात ध्यान देने के योग्य है कि विक्रमी वर्ष की अवधि आकाश स्थित विशेष नक्षत्रों के चारों ओर संक्रमण करने का सूर्य का काल्पनिक समय है। अतः इसकी (अवधि का) पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर एक परिक्रमण करने से कोई भी सम्बन्ध नहीं। वैसे भी दोनों वर्षों के काल में अन्तर है। विक्रमी वर्ष की अवधि ३६५, २५९७५ दिन हैं जो कि भारतीय समय विभाग के अनुसार ३६५ दिन १५ घड़ी ३१ पल तथा ३० विपल के तुल्य है। विक्रमी तथा ईसाई वर्ष का अन्तर १२१ वर्ष में लगभग दो दिन के तुल्य हो जाता है।

आप प्रश्न करेंगे कि ये द्वादश नक्षत्र तुल्य कोणान्तर विद्यमान हैं तो मास की अवधि में अंतर क्यों हो जाता है। इस विषय में यह बात विचारणीय है कि सूर्य पृथ्वी के कक्ष के मध्य में नहीं अपितु नाभि (Focus) में विद्यमान है। केन्द्र तथा नाभि में अन्तर कुछ लाख मील का है यही कारण है कि मास की अवधि २८ दिन से ३२ दिन तक होती है। यह अवधि पृथ्वी के किसी विशेष समूह में प्रविष्ट होने पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त एक और भी सम्वत् है जिसमें कि मास की अवधि चन्द्रमा के पृथ्वी के चारों ओर एक परिक्रमा करने के तुल्य है। इस प्रणाली में मास की अवधि दृढ़ रहती है। प्राय: चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर एक परिक्रमा २९ दिन तथा लगभग १२ घण्टों में करता है इस प्रणाली के अनुसार वर्ष की अवधि ३५४ दिन के लगभग है। अत: सौर वर्ष तथा चन्द्र वर्ष में लगभग ११ दिन का अन्तर है जो कि तीन वर्ष में ३३ दिन का अन्तर हो जाता है। अत: तीन वर्ष के पश्चात् साल के द्वादश के स्थान पर त्रयोदश मास हो जाते हैं। जिससे कि इस अन्तर को कम किया जाता है। इस तेरहवें मास को मलमास कहते हैं। हमारे प्राय: त्योहार इसी सम्वत् के अनुसार मनाये जाते हैं। यही कारण है कि होली, वसन्त, दिवाली इत्यादि प्रति वर्ष भिन्न भिन्न दिवसों के होते है।

यहाँ पर यदि हम हिजरी संबत् के बारे में कुछ लिखें तो अनुचित न होगा। हिजरी सम्वत् इस्लाम धर्म के निर्माता मुहम्मद साहिब की स्मृति में बनाया गया है। इस सम्वत् को प्रारम्भ हुए लगभग साढ़े तेरह सौ वर्ष हुए हैं। इस सम्वत् में वर्ष १२ मास का होता है। मास की अवधि चन्द्रमा के पृथ्वी के चारों ओर एक परिक्रमा के तुल्य है। हिजरी सम्वत् तथा विक्रमी सम्वत के चन्द्र वर्ष में यह अन्तर है कि हिजरी सम्वत् में वर्ष को सौर वर्ष के सम करने की कोई चेष्टा नहीं अर्थात् हर वर्ष सौर वर्ष तथाहीजरीवर्ष में ११ दिन का अन्तर हो जाता है जो कि १३१० वर्ष में लगभग ४० वर्ष के लगभग हो जाता है। अत: यद्यपि आजकल सम्वत् १३५० के लगभग है यथार्थ में यह १३१० सौर वर्ष के लगभग है। दृष्टान्त के तौर पर यदि एक पुरुष की आयु ९७ वर्ष हो तो हिजरी सम्बत के अनुसार उसकी आयु १०० वर्ष होगी।

इस अन्तर के अतिरिक्त हिजरी सम्वत् तथा विक्रमी चन्द्र वर्ष में एक प्रसिद्ध अन्तर यह है कि हिजरी सम्वत में मास अमावस के दूसरे दिन प्रारंभ होता है। वैसे भी हिजरी मास की अवधि चन्द्र मास की यथार्थ अवधि से भिन्न है। इन दोनों में कोई तीन सेकण्ड का अन्तर है जो कि अब तक आधे दिन के तुल्य हो गया है। यही कारण है कि ईद के अवसर पर यह जानना कठिन हो जाता है कि चाँद कब निकलेगा। हालाताद् के प्रसिद्ध कवि उमर ख़ैयाम ने जो नक्षत्रविद् भी थे हिजरी सम्बत में अनेक संशोधन प्रविष्ट करने चाहे। इसका आशय वर्ष की अवधि को तात्कालिक गणनाओं के अनुसार वैज्ञानिक बनाना था पर इस्लाम की मतांधता के सामने उनकी कुछ न चल सकी।

इनके अतिरिक्त भारत में भिन्न भिन्न समयों पर अनेक सम्वत् चले जिनमें महेन्द्र सम्वत्, आर्य सम्वत्, शाक सम्वत्, तुलसी सम्वत्, तथा दयानन्द सम्वत् प्रसिद्ध हैं। परन्तु अपनी उपयोगिता के कारण विक्रमी सम्वत् सर्व ग्राह्य बना हुआ है।

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में ही हमने कहा कि भारत के लिये नया सम्वत् अभीष्ट है प्रस्तुत लेख में हमने भिन्न भिन्न सम्वतों का आधार दिया। आज के वैज्ञानिक युग में यह तो आवश्यक है कि हमारा नया सम्वत् पूर्णतया वैज्ञानिक होना चाहिये तथा साथ ही साथ प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय सम्वत् के यथा सम्भव निकट होना चाहिये। इसके अतिरित इसमें भारतीय परम्परा के द्योतक विक्रमी सम्वत् का भी यथासम्भव समावेश होना चाहिये।

अमरूद की जेली

लेखक—दर्शनानन्द श्रीवास्तव

भारत के विभिन्न प्रान्तों में बहुतायत से पैदा होने वाला मधुर पदार्थ अमरूद प्रतिवर्ष लाखों की तादात में सड़-गल कर नष्ट हो जाता है। इस हानि को रोकने के लिए अमरूद को डब्बों में बन्द करना, पनीर बनाकर रखना, जेली बनाना आदि कई उपाय काम में लाये जा सकते हैं। प्रस्तुत लेख में जेली के बारे में क्रियात्मक ज्ञान दिया गया है।

भारतवर्ष में उत्तर प्रदेश के मैदान सर्वोत्तम प्रकार के अमरूद अधिक से अधिक मात्रा में उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध हैं और विशेष कर इलाहाबाद में। यह फल बहुत ही कोमल तथा नाशवान होता है इस कारण हर वर्ष विचारणीय मात्रा में सड़ गल कर नष्ट हो जाते हैं या सस्ते भावों पर बाजार में बेच दिए जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि फल पैदा करने वाला एक विशेष प्रकार की हानि का भागी होता है। इस प्रकार की हानि को रोकने के लिए एक बहुत ही सुंदर तथा सरल तरकीब है और वह है अमरूद को एक बहु मूल्य वस्तु में परिवर्तित करके सुरक्षित रखना (By Changing it into a valueable product of preservation) अर्थात —"अमरूद की जेली बनाना।" प्रश्न यह उठता है कि ऐसे अवसर पर जेली को ही इतना महत्व क्यों दिया जाय ? क्या इसका कोई और वक्षांतर नहीं है ? पर ऐसी बात नहीं। अमरूद को डब्बों में बन्द कर (Cunning of guavas) तथा अमरूद की चीज (Guavas Cheese) बना कर भी उनको भलीभांति सुरक्षित रख सकते हैं। परन्तु जेली बहुत ही स्वादिष्ट होती है तथा अधिक समय तक बिना नष्ट हुए रक्खी जा सकती है जिसके बनाने की विधि भी बहुत ही सरल है और बिना किसी विशेष कठिनाई के घर पर भी भली प्रकार से तैयार की जा सकती है।

जेली है क्या ?

यह एक निर्मल, ट्रान्सलूसेट, अर्धठोस पदार्थ है जो फल के रस को शक्कर की एक विशेष मात्रा (शक्कर की मात्रा फल में पेक्टिन : Pectin : की मात्रा पर निर्भर करती है) तथा अम्ल (acid) के विचारणीय मात्रा के साथ एक विशेष समय तक पकाने से प्राप्त होती है ताकि तैयार की हुई वस्तु एक विशेष प्रकार के गाढ़ेपन (Consisency) तक पहुँच सके।

जेली के गुण। एक पर्फेक्ट जेली के निम्नलिखित गुण हैं :—

(अ) यह चिपचिपा (Stecky), शर्बत के समान (Syrupy) तथा गोंददार (Gummy) नहीं होना चाहिए।

(ब) जेली के पूर्ण रूप से तयार हो जाने के पश्चात थोड़ा सा कन्टेनर में से एक तश्तरी पर निकाल कर यदि धीरे से हिलाया जाय तो इसे कांपना चाहिए, जिससे यह निर्णय हो सकता है कि जेली ठीक उतरी है अथवा नहीं।

(स) इसके अन्दर उस फल की सुगन्ध होना चाहिये जिससे यह तयार की गई हो, अर्थात—अमरूद की जेली में अमरूद की सुगन्ध होनी चाहिए।

जेली बनाने के लिए आवश्यक वस्तुएँ (Eqeipments of Jelly-mating)

(अ) वर्तमान (Utensils)—अधिक तर बर्तन धातु के बने रहना चाहिये। धातु की मिलावट (Composition) जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि पीतल तथा ताँबे इत्यादि के बर्तनों में फल के रस इत्यादि नष्ट हो जाते हैं। इस कारण यदि ऐसे बर्तन प्रयोग में लाये जाएं तो वे कलईदार (Tenned) होने चाहिये । परन्तु एल्यूमीनियम के बर्तन पूर्णतया उचित होते हैं और अधिकतर इसी धातु के बर्तन फलों की इन्डस्ट्रीज में प्रयोग में लाये जाते हैं। दो तीन भगौने और कुछ बड़े चम्मच पर्याप्त होंगे ।

(ब) स्टेरिलाइजर या ओटोक्लेव (Sterilizer-of Autoclave) :—यह यन्त्र जेली की बोतलों का स्टरिलाइज़ करने के लिये उपयोगी है। इसके कारण उनके अन्दर के माइक्रो-आरगेनिजम्स पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं '

(स) थर्मामीटर (Thermometer) :—थर्मामीटर जेली का एण्ड प्वाइन्ट (end point) देखने के लिए उपयोगी है। यह कम से कम 240 °F तक ग्रेजुएटेड होना चाहिये जिसका मूल्य लगभग 6) से 6॥) है।

(ड) जेलीमेटर (Jellimeter)—यह यन्त्र फलों में पेक्टिन (Pectin) की मात्रा जांचने के काम आता है।

(ई) चाकू (Knives) :—स्टेनलेस स्टील के बने होने चाहिए ताकि उनपर फलों के रस का कोई प्रभाव न हो। यह अमरूद के फलों को छोटे छोटे टुकड़ों में कतरने के काम आते हैं।

(फ) जेली की बोतलें (Jelly Bottles):—जेली रखने के लिए बड़े मुंह वाली अच्छे प्रकार के शीशे की बोतले की आवश्यकता पड़ती है जो अच्छे फर्म्स (Firms) से मगाई जा सकती हैं। जैसे 'केपिटल ग्लास वर्क्स, गाजियाबाद और विभूती ग्लास वर्क्स, राम नगर, बनारस इत्यादि ।

(ज) खाने वाले रंग (Edible Colours):—इनका प्रयोग जेली को(Attractive Appearance देने के लिए किया जाता है।

यदि जेली केवल घर पर प्रयोग करने के लिए बनाना है और अधिक दिन तक नहीं रखना है तो स्टेरिलाइजर के न रहने पर कोई विशेष हानि नहीं होगी। घर पर बनाने के लिए यदि थर्मामीटर भी न रहे तब भी काम चल सकता है बिना किसी हानि के यदि विशेष ध्यान से तयार किया जाए तो।

जेली तय्यार करना (Preparation of Jelly)

जेली निम्नलिखित पदों को ग्रहण करने से तय्यार होती है :—

(१) फलों का चुनाव Selection of Fruits)

जेली बनाने में प्रथम पद फलों के चुनाव पर लेना अत्यंत आवश्यक है। फलों का चुनाव उनको (अ) जाति (Variety) (ब) पक्केपन का अवस्था (Stage of Maturity) तथा (स) छूत से मुक्ति (Freedom from in Fection) के उपर निर्भर है।

फलों का चुनाव करते समय अच्छी जाति वाले समूचे तथा निरोग अमरूदों को चुनना चाहिए। इस के अतिरिक्त वे ठीक प्राथमिक पक्केपन की अवस्था में हों (Just at the stage of Prime Maturity) या कुछ कम-पके हों। अधिक पके हुए फलों को निकाल देना आवश्यक है नहीं तो उनका रस गंदला सा हो जाएगा और उससे तयार की हुई जेली निर्मल नहीं होगी। सड़े गले, छिले हुए (Bruised) तथा घाव वाले फलों का भी निकाल देना अत्यंत आवश्यक हैं क्योंकि ऐसे फलों में माइक्रो-आरगेनिजम्स की बहुत बड़ी संख्या होती है। और यदि ऐसे फलों से जेली तययार की गई तो बहुत हीं शीघ्र उनके नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है।

(२)फलों का धुलना(Washing of Fruits):—फलो के यथा योग्य चुनाव के पश्चात उनको सम्पूर्ण

रूपसे पानी में धुलना चाहिए ताकि उनकी सब गंदगी दूर हो जाए। कुछ दशा में उन्हें गरम पानी से भी धोते हैं। धुलते समय पानी की निर्मलता, स्वच्छता तथा छूत से मुक्ति का विशेष ध्यान रखते हैं। कुछ दशा में रसायनिक द्रव्य भी प्रयोग में लाए जाते हैं। उदाहरणार्थ २% नमक का अम्ल (२% Hcl Saludion)।

धुलने के कुछ विशेष रूप हैं (Phases of Washing) :—

(अ) कभी कभी फलों को केवल पानी में भिगोए रखना ही पर्याप्त होता है।

(ब) यांत्रिक धुलाई (Mechanical Washing) :— इस प्रकार की धुलाई मैंकेनिकल वाशर द्वारा होती है। यंत्र इस प्रकार बना होता है कि फलों में उछल कूद (Agitation) पैदा कर देता है जिस के कारण उनमें चिपके हुए गर्द इत्यादि घुल जाते हैं।

(स) फवारे की धुलाई (Spray Washing):— इस प्रकार की धुलाई फवारे द्वारा करते हैं। उनके पानी से फल सुचारु रूप से धुल जाते हैं।

(३) फलों को पतले पतले टुकड़ों में कतरना Cutting The Fruits In To Then Sbecs):—फलों को पूर्णतया धुलने के पश्चात स्टेन लेस स्टील के बने हुए साफ चाकुओं द्वारा उनको पतले पतले टुकड़ों में कतरते हैं। बहुत छोटे छोटे टुकड़ों में काटने से रस गंदला हो जाने का भय रहता है।

(४) फलो को आगपर पकाना (Cooking of Fruits):—अमरूद के पतले पतले टुकड़ों को एक एल्यूमीनिअम के बर्तन में रखकर उसके भीतर इतना पर्याप्त स्वच्छ निर्मल जल छोड़ते हैं कि कटे हुए टुकड़े ढक जाएं। दूसरे शब्दों में फलों और छोड़े हुए जल के तौल में १:२ का अनुपात हो। अर्थात-एक पौंड फल में दो पौंड जल छोड़ना चाहिए। जल छोड़ने के पश्चात अमरूद के कटे हुए कतरों को एल्यूमीनिअम के बर्तन में २०-२५ मिनट तक आग पर धीरे-धीरे पकाते रहते हैं जब तक कि कतरे तथा उनके उपर के छिलके खूब मुलायम न हो जांए। छिलके मुलायम हो जाने के पश्चात बर्तन को आग पर से हटा लेते हैं। इस क्रिया द्वारा पेक्टिन (Pectin) फल से मुक्त होकर जल में मिल जाता है।

(५) रस छानना (Straining the juice) :— पकाने के पश्चात फलों को दुहरे फलैनेल के कपड़े में पलट कर दूसरे बर्तन में बहुत ही सावधानी के साथ हैंडप्रेस (hand press) द्वारा छानते हैं। छानने के लिए जेली की थैली (Jelly bag) जो फेल्ट की बनी होती है, यदि प्रयोग में लाई जाय तो और लाभदायक सिद्ध होगी।

रस छानने के पश्चात उनमें जेली के आवश्यक अंगों की जांच करना चाहिये। पेक्टिन (pectin) शक्कर (Sugar) और अम्ल (Acid) जेली के तीन अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। यह जेली में एक निश्चित मात्रा में रहते हैं और इन्हीं के ऊपर जेली की सफलता निर्भर है अर्थात जेली का गाढ़ापन पेक्टिन, शक्कर तथा अम्ल की मात्रा (विशेष कर पेक्टिन के ऊपर) निर्भर है। जेली का गाढ़ापन फल के टुकड़ों में छोड़े हुए पानी की मात्रा तथा गरम करने की रीति से भी प्रभावित हो सकते हैं। जेली के आवश्यक अंगों का विवरण निम्न लिखित है।

अ-पेक्टिन (Pectin)—

यह एक रसायनिक वस्तु है जो फलों में पाया जाता है। कुछ फलों में पेक्टिन अधिक मात्रा में और कुछ फलों में कम मात्रा में पाया जाता है। फलों में पेक्टिन की मात्रा तीन बातों पर निर्भर है :—

(अ १) जलवायु की दशा climatic Conditions)

(ब १) कल्चरल अभ्यास (cultural practees) उदाहरणार्थ पेड़ों में सिंचाई करना तथा खाद इत्यादि छोड़ना।

(स १) फलों के पककेपन की अवस्था (Stage-of maturity)।

अमरूद में पेक्टिन की मात्रा ठीक प्राथमिक पक्केपन की अवस्था में (just at the stage of prime marurity) सबसे अधिक-होती है। पेक्टिन फलों में भिन्न भिन्न रूपों में पाया जाता है। कच्चे फलों में यह पेक्टोज़ (pectose) के रुप में पाया जाता है और फलों को कड़ा बनाने का उत्तरदायित्व इन्हीं के ऊपर रहता है अर्थात्—यह फलों में जोड़ने वाले पदार्थ (Cementing materials) का कार्य करता है। जब उनका पकना प्रारंभ होता है तो पेक्टोज़ पर पेक्टिक इन्जाइम्स (pctic enzymes) द्वारा रसायनिक क्रिया होने के कारण पेक्टोज़ पेक्टन में परिवर्तित हो जाता है। हेज़ साहब के कथनानुसार फल जब भली प्रकार से पक जाते हैं तो पेक्टिन पेक्टिक एसिड (pectic acid) और मिथाइल अलकोहल (Methyl alcohol) में परिवर्तित हो जाता है। पेक्टोज़ तथा पेक्टिक एसिड में जेली जमाने के गुण (Property of seting Jelly) नहीं होते बल्कि यह केवल पेक्टिन है जो जेली जमाने का उत्तरदायी है। पेक्टिन की मात्रा अधिकतर फलों के कोष्ठ-दीवारों (cell walls) गुदा (pith), तथा बीज के छिद्रों (Seed cavities) में पाए जाते हैं। पेक्टिन की सब से अधिक मात्रा ठीक फलों के छिलके के नीचे होती है।

पेक्टिन की जांच (pectin test)—

फल के रस में पेक्टिन की मात्रा क्या है यह जानना अत्यन्त आधश्यक है क्योंकि इसी की मात्रा पर शकर की मात्रा (जो जेली बनाने में खर्च होगी) निर्भर है। पेक्टिन की जांच जेली मीटर (Jelly-meter) तथा ब्रिक्स हाइड्रोमीटर (Brix hydrome tere) द्वारा की जा सकती है। पर इनके अतिरिक्त एक सरलविधि और भी है जिसे अलकोहल या मेथीलेटेड स्पिरिट टेस्ट (ulcoholor methylated Sprit test) कहते हैं। इस विधि का प्रयोग सरलता के साथ घर पर भी कर सकते हैं इस विधि द्वारा जांच करने के लिये यदि एक परख नली (test tub) में थोड़ा सा छना हुआ रस और उसमें उसका दूना मेथीलेटेड स्पिरिट या अलकोहल मिला कर उसे धीरे से हिलाया जाय तो पूरा का पूरा मिश्रण रस में पेक्टिन की मात्रा के अनुसार थक्का (Coogulate) हो जायेगा।

अ १—यदि रस पेक्टिन में धनाढ्य है तो हिलाने से बल्कि, जिलेटिनस तथा लगभग ठोस प्रेसिपीटेट आएगा। (Bulky gelatinous & almost salid precipitate)

ब १—रस यदि पेक्टिन में मध्यम है तो कुछ बड़े बड़े जिलेटिन्स प्रेसिपिटेट दिखाई पड़ेंगे।

स १—जो रस पेक्टिन में कम (poor) होते हैं। वह थोड़ा सा पतली चादरों के समान (Flaky precipitate) प्रेसिपिटेट देते हैं।

पेक्टिन का कार्य और उसका महत्व (Function and Signifecaned of pectin)

अ १—पेक्टिन जेली को गाढ़ा बनाने (Setting of Jelly) में सहायक होता है।

ब १—पेक्टिन बहुत ही पौष्टिक वस्तु है। इसमें यूरीनिक एसिड (Urinic acid) पाया जाता है जो गुर्दे (Kidney) के कार्य को फुर्ती देता है।

ब–शक्कर (Sugar)—

शक्कर बाहर से जेली में छोड़ते हैं और अधिकतर गन्ने की शक्कर (Suerose) प्रयोग में लाते हैं। प्राय: जेली बनाने में एक बहुत ही साधारण भूल यह हो जाती है कि शक्कर अधिक छोड़ देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि जेली के बजाय शर्बत (Syrup) बन जाता है। यदि शकर की ठीक मात्रा का पता लग जाए तो सफलता में कोई संदेह नहीं रह जाता। शकर की मात्रा जो जेली बनाने के लिये प्रयोग में लाते हैं, पेक्टिन की मात्रा के ऊपर निर्भर करता है। रस में यदि पेक्टिन धनाढ्य है तो

रस और शकर की मात्रा तौल में समान होगी। यदि मध्यम है तो शकर की मात्रा रस की आधी से लेकर तीनचौथाई तक होगी। जो रस पेक्टिन में कम (poor) हैं उनमें शकर तब छोड़ना चाहिए जब रस को और गाढ़ा करने पर पेक्टिन की जाँच संतोषजनक हो। जो फल पेक्टिन में (poor) होते हैं उनकी जेली नहीं बनाना चाहिये क्योंकि इसमें लाभ नहीं होता है।

शकर के लाभ (Advantages of Sugar in Jelly) निम्नलिखित है :—

अ १—यह जेली को बल्की (bulky) बनाती है और उसकी बाडी (body) बढ़ाती है।

ब १—जेली को स्वादिष्ट बनाती है।

स १—जेली का रंग भी इसके कारण सुन्दर हो जाता है।

ड १—गरम करने से गन्ने की शकर अंगूर (Glucose) तथा फल की शकर (Fruetose) में परिवर्तित हो जाती है जो बहुत ही पाचक है।

इ १—शकर जेली की रक्षक है जिसका महत्व सब में अधिक है।

स–अम्ल (Acid)—

अम्ल भी जेली के आवश्यक अंगों में से एक है जो जेली को गाढ़ा बनाने का उत्तरदायी है। जेली में अम्ल की आवश्यक मात्रा चख कर या टाइट्रेशन द्वारा ज्ञात हो सकती है। रस की अम्लता ज्ञात करने के लिये क्रियात्मक विधि श्री ए० पी० गुप्ता (Fruits utilization and Marketing Officer U. P.) के कथनानुसार इस प्रकार कर सकते हैं कि एक चम्मच नीबू के रस को दस चम्मच पानी के साथ मिला दिया जाय और उसमें आध चम्मच शकर छोड़ दें। अमरूद से निकाला हुआ रस उतना ही चखने पर खट्टा होना चाहिये जितना कि हल्का किया हुआ नीबू का रस। यदि रस मे अम्ल कम हैं तो आवश्यकतानुसार अम्ल उसमें छोड़ देना चाहिये। अम्ल कई रूप में छोड़े जाते हैं उदाहरणार्थ साइट्रिक एसिड (citric acid), टारटरिक एसिड (Tartaric acid) तथा लाइम जूस (Lime juice) पर प्राय: वही अम्ल छोड़ते है जो फल में पाया जाता है। उदाहरणार्थ अमरूद के रस में नीबू का अम्ल (citric acid) छोड़ना चाहिये। एक सेर अमरूद के रस में दो से छ: ग्राम (2 से 6 grams) साइट्रिक एसिड छोड़ते हैं। अम्ल छोड़ने के लिए कागजी नीबू का रस भी प्रयोग में ला सकते हैं। एक मध्यम श्रेणी के कागजी नीबू के रस में लगभग एक ग्राम साइट्रिक एसिड होता है।

अम्ल का कार्य (Function of acid)

अ १—यह जेली को गाढ़ा बनाने का उत्तरदायी है।

ब १—वह स्वाद को अच्छा बनाता है।

स १—अम्ल से जेली निर्मल तथा चमकदार हो जाती है और सब गन्दगी दूर हो जाती है।

(६) रस में शकर छोड़ना (Addition of Sugar to Juice) :—

रस को भली प्रकार से छान लेने के पश्चात उसमें पेक्टिन तथा अम्ल की जाँच ऊपर लिखे हुये विधियों द्वारा करके शकर की मात्रा मालूम कर लेते हैं। शकर की निश्चित मात्रा ज्ञात हो जाने के पश्चात रस में उतनी शकर छोड़ देते हैं।

रस में अम्ल का छोड़ना I Addition of acid to Juice)

कुछ लोगों का बिचार है कि अम्ल रस में ठीक शकर छोड़ने के पश्चात ही छोड़ते हैं जिससे रस तथा शकर की गन्दगी भली भांति साफ हो जाए और जेली का रंग चमकदार हो जाए। परन्तु कुछ लोगों का यह विचार है कि अम्ल अन्त में छोड़ना चाहिए क्योंकि यदि अम्ल प्रारम्भ में ही छोड़ दिया जाए तो ये पेक्टिन, पेक्टिक एसिड में परिवर्तित हो सकता है।

इसी कारण वर्षाऋतु वाले अमरूदों की यदि जेली बनाई जाए तो अम्ल अन्त में छोड़ना चाहिए

क्योंकि उनमें पेक्टिन की मात्रा कम होती है। परन्तु यदि रस पेक्टिन में धनाढ्य (rich) है तो अम्ल प्रारम्भ में भी छोड़ सकते हैं।

(८) अन्तिम पकाना (Final cooking):,,-

अमरूद के छने हुये रस में आवश्यकतानुसार शकर तथा अम्ल छोड़ कर सोर मिश्रण को फिर से छानते हैं और जल्द ही उबालना प्रारम्भ कर देते हैं। यह क्रिया उस समय तक जारी रखते हैं जब तक मिश्रण एक विशेष प्रकार का गाढ़ापन न ग्रहण कर ले।

(९) एण्ड प्वाइन्ट या जेलिंग प्वाइन्ट (End point or jelling point)

जब मिश्रित पदार्थ का तापक्रम २२१°F (221°F) हो जाए तो इसका अर्थ यह है कि जेली निश्चित गाढ़ेपन तक पहुँच चुकी है। इसके अतिरिक्त जेली के आवश्यक गाढ़ेपन की जाँच करने के लिये कुछ क्रियात्मक बिधियाँ हैं :-3

अ-फ्लेक शीट टेस्ट (Flake sheet test) :-

एक लकड़ी के चिम्मच को तैयार की हुई जेली में बोर कर थोड़ी देर हवा में रख कर ठंडा करके उसमें से जेली को गिराते हैं। जेली यदि शर्बत के समान बूँदों में गिरती है तो इसका अर्थ यह है कि जेली अभी गाढ़ी (Concentiate) नहीं हुई है। परन्तु यदि जेली तिकोने चादरों (triangular Sheets) में गिरती है तो इसका अर्थ यह है कि जेलिंग या एण्ड-प्वाइन्ट पहुँच चुका है और जेली तयार है।

ब-थोड़ी सी जेली लेकर जल में छोड़ने से यदि वह उसमें घुलती नहीं है तो जेली तयार है।

स-एण्ड प्वाइन्ट के समय जेली में से हवा के बुलबुले निकलने लगते हैं।

ड-थोड़ी सी जेली किसी ठंडे वस्तु पर रख कर कुछ लोग तारों द्वारा भी एण्ड-प्वाइन्ट का पता लगाते हैं।

N. B. यह सब जाँच उसी समय करते हैं जब जेली आग पर पकती रहती है।

(१०) रंग छोड़ना (Addition of colour)

जेलिंग प्वाइन्ट पर पहुँचने के पश्चात बर्तन को आग पर से उतार देते हैं और थोड़ा सा खाने वाले नारंगी रंग (Edible colour) उसके अन्दर मिला कर फिर आग पर दो एक मिनट के लिये रखने के पश्चात आग पर से हटा कर ठण्डा करते हैं।

(११) झाग उतारना (Removal of Scum)

जेली को ठण्डा होने के लिये चार या पांच मिनट तक छोड़ देते हैं जिसके कारण बर्तन में जेली की सतह पर एक मोटी तह जम जाती है जिसे Scum कहते हैं। स्कम को चिम्मच द्वारा सावधानी से जेली के ऊपर से निकाल देते हैं। पर वेज साहब तथा श्री गुप्ता जी लिखते हैं कि फाइनल कुकिंग करते समय स्कम को निकालते रहते हैं।

१२) बोतलों में भरना Bottling झाग उतार कर तुरन्त ही गरम गरम जेली चौड़े मुंह वाली बोतलों में जो लगभग आध घंटे तक स्टेरिलाइज़ की गई हों भर कर ठण्डा होने के लिये छोड़ देते हैं

१३ सीलिंग [Sealing]:—जेली के अच्छी तहर ठण्डा हो जाने के पश्चात पिघली हुई मोम Paraffin wax बोतलों में जेली की सतह पर छोड़ देते हैं। मोम हवा में छूत की चीजों से जेली की रक्षा करता है। मोम छोड़ने के पश्चात बोतलों को कैप कर देते हैं। बोतलों या जारों के बाहरी भाग को साफ कपड़े से पोंछ कर उन पर सुन्दर रंगीन लेबेल लगा देते हैं इसके पश्चात बोतलों को किसी ठंढे स्थान पर रख देते हैं।

जेली का उपयोग (Uses of Fally)

(अ) यह टोस्ट पर फैला कर खाने के काम आती है।

(ब) इसे दवा की भांति उपयोग कर सकते हैं। यह गुर्दे के कार्य को फुर्ती देती है। डाक्टर जब इसे

दवा की भांति उपयोग करने को बताते हैं तो इसका उपयोग दूध के साथ करते हैं।

जेली बनाने में असफलता के कारण (Causes of failuse in Jelly making)

जला बनाने में कभी कभी असफलता भी प्राप्त होती है और जेली ठीक प्रकार से गाढ़ा नहीं हो पाती। असफलता क कारण निम्नलिखित हैं :—

(अ) प्रारंभ में रस निकालने के लिए छोटे छोटे अमरूद के कतरों में पानी अधिक छोड़ देने से रस हल्का हो जाता है जिसके कारण पेक्टिन की मात्रा रस मे कम हो जाती है और परिणाम यह होता है कि जेली गाढ़ा नहीं हो पाती।

(ब) रस में बहुत अधिक शक्कर छोड़ देने से जेली गाढ़ा न होकर शर्बत के समान हो जाती है (SyruPy Jelly)

(स) जब शक्कर ६०% (७०%) से अधिक और अम्ल बहुत कम हो जाती है तो जेली में शक्कर के रवे (Crystals) बनने लगते हैं।

[ड] बहुत देर तक पकाने के कारण पेक्टिन की जेलिंग-प्रापर्टी(jalling Property of Pectin) नष्ट हो जाती है और जेली तय्यार नहीं हो पाती है।

अमरूद को अमरूद की चीज Guava Chease] तथा डब्बो में बन्द किए अमरूदों में Cnneal Guavas भी परिवर्तित करके सुरक्षित रख सकते हैं जिनकी विधिया यदि हो सका तो जनवरी के माह में लिखने का प्रयत्न किया जाएगा।

—:*:—

भरभंडा मिला तेल विष है

लखनऊ १७ जनवरी। स्थानीय महात्मा गांधी मेडिकल कालेज के शरीरक्रिया विभाग के अध्यक्ष डाक्टर मालवीय ने मिलावटी तेल के खाने के दुष्परिणामों के संबंध में कुछ आश्चर्य-जनक प्रयोग किये हैं, उन्हें देखकर प्रत्येक का दिल कांप उठेगा। डाक्टर साहेब ने कलेज में पाले हुए बंदरों चूहों और कबूतरों को प्रतिदिन क्रमश: १०,५ और २ बून्द भड़भंड़ा मिला हुआ कणुआ तेल पिलाना प्रारम्भ किया। दो महिने के बाद ही बंदरों के बाल झड़ गये, मुंह में दाने निकल आये, दांतों में पायरिया हो गया और उनकी गुप्तेंद्रिनाँ गल गयीं। वे सूखकर कांटा हो गये तथा इतने सुस्त हो गये कि तीन-तीन बंदर एक दूसरे से सिर सटाकर हरवक्त आपको सोते हुए दिखाई देने लगे। एक बंदर की हालत तो यह हो गई कि उसे कुछ खिलाया जाय तो वह कै कर देता था। यही हाल कबूतरों का हुआ। उनके पर झड़ गये, सर गंजे हो गये और प्राय: मरणासन्न से हो गए। चूहों का भी बुरा हाल हुआ। अभी तक इसी तेल के दुष्परिणाम से लगभग ८० पशु मर चुके हैं। इन सबको बढ़िया से बढ़िया भोजन दिया जाता था फिर भी मिलावट के तेल के कारण उनकी खुराक उन्हें बचा न सकी। इसके विपरीत जिन्हें शुद्ध सरसों का तेल दिया जाता था वे पूर्ण स्वस्थ और हर समय उछलते कूदते हुए देख पड़े। स्मरण रहे, ऐसा हीं प्रयोग गतवर्ष जेल के कैदियों पर किया गया था जिनका हाल भी जब बंदरों जैसा होने लगा तो रोक दिया गया।

—:०:—

फ़सलों का हेर फेर

इस बात को प्रत्येक किसान जानता है कि एक ही खेत मे लगातार खेती करते रहने के कारण खेत दुर्बल हो जाता है और उसकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है। विशेष कर यह बात अनुभवों द्वारा सिद्ध हो चुकी है कि एक खेत से बार-बार एक ही फसल लेने से वह खेत अत्यन्त दुर्बल हो जाता है और उसकी उपज कम होते-होते इतनी घट जाती है कि बोए हुये बीज तथा अन्य परिश्रम का मूल्य प्राप्त करना भी असम्भव हो जाता है। इसलिये एक खेत में बार-बार एक ही फसल नहीं बोनी चाहिये। बल्कि सदैव फसलों को बदल कर बोना उचित है। ऐसा करने से जो हानि बार-बार एक ही फ़सल को एक खेत में बोने से होती है, नहीं होने पाती। कई फसलों को एक विशेष ढंग से एक के पीछे दूसरी को बोने को ही हेर फेर या फसलों का रद्दोबदल कहते हैं। जैसे कि एक खेत में पहले गेहूँ बोया गया, इसके उपरान्त कपास, इसके बाद ईख बोई गई और इसके बाद फिर गेहूँ। अर्थात पहले गेहूँ से आरम्भ करके गन्ने पर समाप्त हुई और फिर गेहूँ से आरम्भ की गई कि ऐसे स्थानों में जहां कि खाद का पहुँचाना कठिन है यह फसलों का हेर फेर बहुत ही लाभदायक है।

साधारण पौधे दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे जिनमें आरम्भ में एक ही पत्ती निकलती है और जिनके दाने दो भागों में दाल की नाई नहीं हो सकते। इस प्रकार के पौदों को अंग्रेजी में सीरियल्स कहते हैं। इन पौदों की जड़ें जमीन में अधिक गहरी नहीं जातीं ऊपरी धरातल पर ही गुच्छों के रूप में होती हैं। जैसे कि गेहूं, धान, मक्का आदि। दूसरी प्रकार के वे पौदे होते हैं कि जिनमें दो पत्तियाँ निकलती हैं और जिनके दानों को दाल की नाई दो भागों में अलग किया जा सकता है। इस प्रकार के पौदों को अंग्रेजी में पल्सेज कहते हैं और इनकी जड़ें जमीन में अधिक गहरी जाती हैं और गुच्छेदार नहीं होती जैसे चना, मटर, अरहर, ढैंचा तथा सनई आदि। पहली तरह के पौदों की जड़ें जैसा कि ऊपर लिखा गया है जमीन में अधिक गहरी नहीं जाती बल्कि ऊपर ही गुच्छों के रूप में होती हैं। ये पौदे पृथ्वी से नत्रजन का अधिक भाग जोकि पौदों के भोजन का विशेष भाग हैं, ले लेते हैं और भूमि को दुर्बल बना देते हैं। इसलिए इस तरह के पौदों को चूसने वाले पौदे कहते हैं। इसके विपरीत दूसरी तरह के पौदों की जड़ें भूमि में अधिक गहरी जाती हैं। और वे भूमि के नीचे वाले भाग से अपने भोजन का विशेष भाग प्राप्त करते हैं। यदि इसमें से किसी एक पौदे की जड़ को उखाड़ कर पानी में खूब धो कर देखें तो उनपर छोटी-छोटी घुण्डियां तथा गांठें दिखाई देंगी। ये गाँठें बहुत छोटे-छोटे कीटाणुओं के घर होते हैं जो अपना भोजन पौदों से प्राप्त करते हैं और वायु से नेत्रजन (नाइट्रोजन) प्राप्त करके अपने घरों में इकट्ठा करते रहते हैं। तर भूमि में बर्तमान रहते हैं। बीज से पौदे के जम आने के पश्चात जब जड़ें जमीन में चली जाती हैं तो ये कीटाणु जड़ के बाहरी छिलके में छेद करके अपना घर बनाते हैं और पौदा जो भोजन भूमि से प्राप्त करता है उसमें से थोड़ा सा भाग ले लेते हैं और वायु से नेत्रजन लेकर अपने घरों में इकट्ठा करते रहते हैं। उनका यह कार्य जब तक फसल पक न जाय समाप्त नहीं होता। फसल पक जाने

पर ये कीटाणु जड़ में बनाये हुये अपने घरों को छोड़ कर भूमि में चले जाते हैं और अपना इकट्ठा किया हुआ बहुत सा नेत्रजन जड़ों में ही छोड़ जाते हैं। फसल के कट जाने पर ये कीटाणु भूमि में रह जाते हैं। चूंकि इन कीटाणुओं के द्वारा इकट्ठा किया हुआ बहुत सा नेत्रजन पौदों के जड़ों के साथ खेत में ही रह जाता है इस लिये इन दलहन पौदों को हम शक्ति देने वाले पौदे कहते हैं।

अनुभव द्वारा यह भी सिद्ध हो चुका है कि भिन्न-भिन्न पौदों को भिन्न भिन्न प्रकार के खाद की आवश्यकता होती है। अर्थात गेहूँ, मक्का आदि को नेत्रजन की, आलू तम्बाकू को पोटास की, पौंडा और ईख को फासफोरिक एसिड की, चना जौ, और मटर को चूने आदि की अधिक आवश्यकता होती है। इसलिये ऐसी फसलों के पश्चात जो नेत्रजन, पोटास, फासफोरिक एसिड तथा चूना आदि भूमि से लेती हैं बदल कर बोने से भूमि में एक प्रकार के खाद्य पदार्थ के कम होने का भय नहीं रहता। अतः यह आवश्यक है कि प्रथम श्रेणी की फसलें अर्थात गेहूँ, मक्का आदि की फसलें लेने के पश्चात दूसरी श्रेणी की फसलें अर्थात चना, मटर, अरहर आदि फसलें बोना उचित है। क्योंकि ये फसलें भूमि को बलवान बना देती हैं। और उन प्रथम श्रेणी की फसलों द्वारा नष्ट हुये नत्रजन की कमी को भी पूरा कर देती है। जिन पौदों की जड़ों में जितनी अधिक घुण्डियां होंगी उतनी ही अधिक नेत्रजन वह वायु से लेकर नाईट्रेटस के रूप में भूमि में छोड़ जावेंगे। ऐसे पौदे विशेष कर ढेंचा, सनई और नील के होते हैं। दूसरी श्रेणी की फसलों द्वारा छोड़े हुये नाइट्रेटस के कारण कमी नहीं होने पाती। इस प्रकार खाद की समस्या हल हो जाती है। फसलों को अदल बदल कर बोने का वास्तविक अर्थ यही है।

खेत को परती छोड़ना अर्थात एक फसल के लिए खाली छोड़ देना भी हेरफेर का एक अंग है। और वह इसी अभिप्राय से किया जाता है कि पहली फसल लेने के कारण पौदों के लिये खाद के जिन जिन अंशों की कमी हो गई है वह पूरी हो जाय। खाद की कमी को दूर करने व भूमि को उपजाऊ शक्ति को कायम रखने के अलावा फसलों के हेरफेर से और भी कई लाभ है। जो निम्न लिखित हैं :—

(१) यह कि भूमि के ऊपर व नीचे के दोनों धरातल पौदों का खाद्य पदार्थ पहुंचाने के योग्य हो जाते हैं।

(२) इससे किसी विशेष प्रकार के पौदे के खाद पदार्थ के अंशों में कमी और बेशी नहीं होने पाती; और कोई विशेष हानिकारक अंश ही दूसरे पौदों के लिये पैदा होने पाता है।

[३] इससे कीटाणु व अन्य व्याधियां जो फसलों में हो जाया करती हैं बढ़ने और दुबारा होने नहीं पातीं, क्योंकि उनको उस श्रेणी के पौदे जो उनके भोजन हैं और जिनसे उनको अपने पालन-पोषण में सहायता मिलती है दुबारा नहीं मिलते।

[४] इससे भूमि को एक विशेष प्रकार के पौदे के खाद पदार्थ का अंश जो कि उसके लिये आवश्यक है, उसको बढ़ाने और पैदा करने क अवसर मिल जाता है।

[५] इससे पशु तथा हलवाहे बेकार नहीं रहने नहीं पाते, क्योंकि भिन्न भिन्न फसलों के लिए भिन्न भिन्न खेती के कामों की आवश्यकता हुआ करती है।

[६] इससे धन और चारा वर्षभर तक बराबर प्राप्त हो सकता है, क्योंकि भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न फसलें पैदा होती रहती हैं।

—:०:—

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञानं ब्रह्मे ति व्यजानात, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै ० ०।३।५

भाग ७२ सम्वत् २००७ मार्च १९५१ संख्या ६

प्रयोगशाला और पुस्तकालय

वैज्ञानिक साहित्य जिस द्रुत-गति से बढ़ता जा रहा है, उससे यह बात स्पष्ट है कि निकट भविष्य में बहुत सा वैज्ञानिक साहित्य अप्राप्य हो जायगा। अभी भी विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के एक-एक अंग पर इतना अधिक साहित्य इकठा हो गया है कि शाखा के बारे में तो दूर, उस अंग विशेष के बारे में ही उसी पर कार्य करने वाले विशिष्ट अन्वेषक को पूर्ण-ज्ञान प्राप्त करना असम्भव सा हो गया है। ऐसी परिस्थिति में अपनी प्राच्य सँकृति का इतिहास देखते हुए यह कहना पड़ता है कि यह सृजन अन्तोतोगत्व विनाश के लिए ही हो रहा है, संस्कृतियों की भाँति विज्ञान भी सृजन, विनाश और पुनरुत्थान के क्रम मे ही चलेगा, किन्तु यदि वर्तमान विज्ञान विधि-शास्त्र (Methodology) की बढ़ती हुई शक्ति के आधार पर उपरोक्त निराशवादिता की खिल्ली उड़ाने का दम भरे तो कोई आश्चर्य नहीं, अस्तु यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक अन्वेषक के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक कि वह अपनी शाखा विशेष की पूर्वप्रगति से भली भाँति अपना परिचय कर ले। पुस्तकालय की थोड़े दिनों की मिहनत से प्रयोगशाला में की जाने वाली कई दिनों की मिहनत इससे बच जायगी। प्रयोगशाला के पहले पुस्तकालय में कार्य करने का महत्व इसलिए भी विशेष बढ़ता जाता है कि विज्ञान में होने वाली खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों और जीवन के अन्तिम सत्य की खोज करने वाले विज्ञान में पृथकत्व नहीं बल्कि एकत्व का अधिक महत्व है विभिन्न शाखाओं के मिश्रित ज्ञान से ही लोकोपयोगी अधिक से अधिक महत्वपूर्ण आविष्कार सम्भव हो सके हैं। विज्ञान से थोड़ा सा भी परिचय रखने वाले इस बात को जानते हैं कि भौतिक शास्त्र के अन्तर्गत प्रकाश-सम्बन्धी खोजों के फल स्वरूप जिस अनुवीक्षण यंत्र का बनना सम्भव हुआ उसी के द्वारा पौधों, जानवरों और मनुष्यों के शरीर के बारे में उपयोगी ज्ञान प्राप्त हो सका। कहने का तात्पर्य यह कि अन्वेषक को अपनी शाखा के अतिरिक्त और भी शाखाओं का ज्ञान भली भाँति होना आवश्यक है।

देखना यह है कि प्रयोगशालाओं में उपार्जित ज्ञान अन्वेषकों को पुस्तकालयों में किस प्रकार प्राप्त होता है या

हो सकता है। कुछ वर्ष पहले विशेष कर अन्वेषण पत्रिकाओं द्वारा ही विद्यार्थी अपना काम चलाते थे किन्तु वर्तमान समय में किसी विशष विशेष के बारे में की गई खोजों के संचित ज्ञान के गुणदोष निरुपण (Criticalreview) पर जो लेख प्रकाशित होते हैं, उनसे पुस्तकालय के काम में अन्वेषक को बहुत सहायता मिलती है। उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि हाल में वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के सारांश को लेकर सारांश पत्रिकाएँ (Abstract journals) ही निकलने लगीं हैं, पुस्तकालय-विज्ञान की इस नई प्रणाली ने अन्वेषक का कार्य बहुत सरल कर दिया है। कुछ विशेष सुविधाएँ कुछ पुस्तकालाओं में प्राप्त होती हैं जिनसे सम्भवतः थोड़ी सी और सहायता विद्यार्थी को मिल जाती है किन्तु समस्या का पूर्ण हल अभी भी शेष है। बढ़ते हुए वैज्ञानिक ज्ञान के बारे में बहुत कुछ स्मरण रखना अब सम्भव नहीं, इनके लिए तो निर्देश पुस्तिका की आवश्यकता है ही किन्तु भविष्य में निर्देश-पुस्तिका (referencebook) के बारे में भी उचित और आवश्यक जानकारी रखने के लिए एक प्रसंग पुस्तिका रखनी पड़ेगी?

हमारे देश के लिए इस सम्बन्ध में एक विशेष विचारनीय विषय यह है कि यहाँ कोई वैज्ञानिक पुस्तकालय नहीं है, विश्वविद्यालयों में ही विज्ञान-विषयक पुस्तकों के लिए अलग प्रबन्ध रहता है किन्तु अभाग्यवश विश्वविद्यालयों के धुरन्धर पदाधिकारी वैज्ञानिक या तो इस ओर ध्यान ही नहीं दे पाए हैं या जानबूझ कर विश्वविद्यालय के पुस्तकाओं में विज्ञानविषयक अन्वेषक पत्रिकाओं के मगाने का समुचित प्रबन्ध नहीं करते जिससे देश के युवक और महत्वकांक्षी-वैज्ञानिक कुँए के मेढ़ेक ही बने रहकर अपने तथाकथित धुरन्धरों को पूजा के पुष्प चढ़ाते रहें; फलतः हमारे विश्वविद्यालयों के पुस्तक-संग्रह बहुत ही गई गुज़री दशा में हैं, आशा है तत्सम्बन्धी विषयों पर देश के प्रमुख आचार्य और सरकार इस ओर विशेष ध्यान देंगे।

—:०:—

(चौथे पृष्ठ का शेष)

दोषों के सूक्ष्म रूप ऊष्मा, स्नेह, क्लेद वायु हैं।

वे प्राणसंज्ञक वायु के पञ्चविध प्राण, आग्नेय पित्त के पञ्चविध पित्त, और आप्य पञ्चविध श्लेष्म के सूक्ष्म रूप ऊष्मा स्नेह, क्लेद वायु ही हैं। वे ही चरक के शारीर स्थान में आहार परिणामकर भाव कहे गये हैं। वे आहार तथा धातुपाक के हेतु हैं।

दोषों के स्थूलरूप-धातुमल-प्रकुपित वातपित श्लेष्म हैं।

वे धातु पाक के मलभूत परिणाम हैं। यथा रसधातुपाक के मलभूत परिणाम श्लेष्म। और रक्त धातुपाक के मलभूत परिणाम रक्तमल या पित्त। और पर्युषित मलभूत परिपक्क धातुओं में उत्पन्न फेन मिश्रित वायु इनके स्थूल रूप हैं।

चरक—शरीर विचय शरीर और चिकित्सा स्थान (अ ५)।

—:०:—

वातपित्तश्लेष्म के यथार्थ स्वरूप

लेखक—प्रसादीलाल झा

भारतीय आयुर्वेद सिद्धान्तों की होड़ में वर्तमान पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र से कहीं आगे है। लेखक के मत में तो शरीर को प्रभावित करने वाली सूक्ष्म भावनाओं के बारे में योरोपीय विज्ञान की कोई गति ही नहीं!

इस पर अपना दृढ़ मत पुनः प्रकाशित करने के पूर्व, उनके विषय में कुछ और प्रकाशित करना चाहता हूँ। यह "पञ्च महाभूत सिद्धान्त" के तुल्य ही आयुर्वेद का दूसरा प्रधान आधार है। इसको नष्ट करके वैज्ञानिक रीति से पुरुष शरीर और मन में निरन्तर होने वाली क्रियायें या चेष्टायें बिलकुल नहीं समझाई जा सकतीं। आयुर्वेद शास्त्र के विद्वानों को प्रमाण देकर समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे मेरे प्रकाशित आयुर्वेद-विज्ञान-मीमांसा के प्रथम भाग में आयुर्वेद और पाश्चात्य योरोपियन वैज्ञानिक शास्त्रों से दिये गये हैं।

संक्षेप से इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उसको भी भुलादेने के पीछे आयुर्वेद की शिक्षा का प्रचार अताईपने की वृद्धि ही करना होगा।

पञ्चमहाभूतसमवाय शरीरी पुरुष के सम्बन्ध में जो कुछ भी उसके हिताहितीय, स्वास्थ्य, रोग, रोग के निदान और औषध सम्बन्धी विषय, त्रिस्कन्ध आयुर्वेद में वर्णित हैं, उनमें एक भी पूर्ण वैज्ञानिक रीति से नहीं समझाये जा सकते। योरोपियन्स की क्लासिकल कैमिस्ट्री और फिजिक्स द्वारा तो प्राणियों के शरीर और मन में होने वाली चेष्टायें जो हैं, आज भी पूर्ण रीति से नहीं समझाई जा सकतीं।

इस कथन की सत्यता पर उसी समय विश्वास हो सकेगा, जब शरीर के धात्वाशयान्तर्गत होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं यथा "धातुसाम्यम्" संज्ञक प्रकृति ज्ञान और "धातुवैषम्यम" संज्ञक विकृति ज्ञान पर स्थित आयुर्वेद और स्थूल शरीर के स्थूल अवयवादि के प्रकृति और विकृति ज्ञान physiology & pathology of large organs) आधारित वर्तमान माडर्न मैडिसिन पर शान्ति से तुलनात्तक दृष्टि से ही बिचार किया जायगा।

इस प्रकार की सूक्ष्म धातुगत क्रियाओं के मुख्य संचालक उपरोक्त तीन प्रकार के दोषों के सूक्ष्म अवयव या कलायें हैं। योरोपियन विज्ञानी अभी तक इस प्रकार के सूक्ष्म प्रकृति तथा विकृति ज्ञान का अनुसान्धान भी नहीं कर पाये। इन्हें वे "सैल फिजियो लोजी और सैल पैथालौजी" (Cell physiology & Cell pathology) कहते हैं।

सत्य-प्रिय योरोपियन विज्ञानी स्वयँ इस बात को स्वीकार कर चुके हैं, कि जब तक उनकी चिकित्सा इस प्रकार के सूक्ष्म विज्ञान पर आधारित नहीं की जायगी, वह अवैज्ञानिक ही बनी रहेगी।

प्रसङ्गवश यहाँ यह भी बताना है कि उनकी वर्तमान कैमिस्ट्री और फार्माकौलोजी विज्ञान भी अभी शरीर के धात्वादि के रक्षणार्थ धारण पोषणार्थ, एटम्स तथा एटम्स के सूक्ष्म अययबों में ऐसे भौतिक सूक्ष्म तत्त्वों का पता नहीं लगा सकीं। इन्हें आयुर्वेद में द्रव्यादि के रसों में वर्तमान वाह्य प्राण कहा जाता है। इनके द्वारा शरीर के धात्वा-

शयान्तर्गत वर्तमान धातुधारा कलाओं और मन, प्राण और वाक् की उत्पत्ति और उपचय अन्नपेयतैजसादि खाद्य पदार्थों के मध्यम तथा अणिष्ठांशों से संभव होते हैं।

आयुर्वेद में वर्णित वातपित्तश्लेष्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भी पंचमहाभूतों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के समान ही, वातपित्तश्लेष्म के किसी एक रूप से ठीक २ समझ में नहीं आसकता। त्रिदोष सिद्धान्तपूर्ण वैज्ञानिक है। उनका सम्बन्ध कलल संज्ञक गर्भ से और जन्म से मरण पर्यन्त होने वाली मनुष्यों (जरायुजों) के प्रकृति भेद और उनके शरीर तथा मन की समग्र सूक्ष्म क्रियाओं के वे ही हेतु हैं।

पञ्च महाभूतात्मक शरीर द्रव्यों में, "दोष" वायवीय, आग्नेय और आप्य संज्ञक द्रव्य माने गये हैं। आयुर्वेद में पञ्च प्राणों के कोई रूप नहीं बताये गये किन्तु एक उपनिषद् में इन पाँचों के वर्ण योगियों ने बताये हैं। आयुर्वेद में पित्त के सूक्ष्म भौतिक अंश स्नेह उष्मादि बताये गये हैं। श्लेष्म के स्नेह क्लेदादि बताये गये हैं।

वे इन्हीं रूपों में "सर्वशरीरचर" कहाते हैं। इसी रूप अर्थात् द्रव द्रव्य (Fluid) दशा में वे शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्त्रोतों और स्थान स्थाधात्वाशयों में प्राणसंज्ञक वायु के द्वारा प्रवेश करते रहते हैं और अपान वायु के धातुपाक के मलभूत शरीर गुणों में मिले हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़े धातु स्थानों और मार्गों से मलाशयों में पहुँचने पर वहिर्मुखी मलवाही स्त्रोतों से बाहर फेंक दिये जाते हैं, और प्रसादभूत शरीर गुण अपने २ विशेष धात्वाशयों में पहुँच कर मिलते रहते है।

इन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले दोष सम्बन्धी विषयों पर शास्त्रचर्चा परिषद् में सम्मिलित अपने २ शास्त्रों के विशेषज्ञों के समक्ष कुछ अधिक कहना मैं बेकार समझता हूँ।

अपने दीर्घकालीन (करीब ५० वर्ष) के आयुर्वेद और और माडर्न मेडिसिन के वैज्ञानिक आधारों के तुलनात्मक अनुसन्धानों के आधार पर वातपित्तश्लेष्मादि के विभिन्न तीन रूपों का पता लगा चुका हूँ। वे विद्वानों की सेवा में उपस्थित किये जाते हैं। वे शरीर में परम स्थूल और सूक्ष्म तीन रूपों से देखे जाते हैं।

तीन दोषों के परम रूप धतुओं और शरीरोदक में वर्तमान स्नेहभूयिष्ठ "अग्नि सोमौ वायु" संज्ञक प्राण है। उनके सूक्ष्म रूप शरीर में रसात्मक ऊष्मा, क्लेद, स्नेह, वायु संज्ञक आहार परिणाम-कर भाव हैं। और उनके स्थूल रूप शरीर के मलभूत संज्ञक शरीर गुण प्रकुपित बातपित्त श्लेष्मादि संज्ञक त्रिगुणात्मक और पञ्चभूतात्मक द्रव्य हैं।

अतः दोषों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान उनके किसी एक रूप से ही मेरे विचार में असम्भव है। इनके विभिन्न रूपों से सम्बन्ध रखने वाले प्रमाणों के स्थान संकेत मात्र ही नीचे दिये जाते हुँ। और आयुर्वेद के विद्वान उनको चरक और सुश्रुत में देख सकते हैं।

दोषों के तीन रूप: परम, सूक्ष्म और स्थूल

दोषों के परमरूप—अग्नि सोम बायु हैं।

इनको सुश्रुत में षोड़शकल पुरुष के द्वादश प्राणों में गिनाया गया है। चरक में वे दोषों की कलायें कहाती हैं। प्राण स्नेह भूयिष्ठ होते हैं।

प्रमाण संकेत—सुश्रुत—गर्भव्याकरण शरीर और उत्तर तंत्र।

चरक—बात कलाकलीय अध्याय सूत्रस्थान तथा शारीर.

प्राणों का उत्तम स्थान धातुसारों के तेजोभूत स्नेहों का समुदायत्मक वल संज्ञक स्निग्ध सोमात्मक द्रव्य ओज है। (अतः प्राण स्नेह भूयिष्ठ शरीरतत्व हैं।) इनका विशेष स्थान हृदय है। उनके नाश से प्राण शरीर में क्षण भर भी नहीं ठहरता।

(शेष दूसरे पृष्ठ पर)

जानवरों के छिपे खजाने

लेखक—राममूर्ति मेहरोत्रा

आदमी तो अपनी प्यारी चीजें सन्दूक, सेफ इत्यादि में रख लेता है, पर बेचारे जानवर कहाँ रखें ? मनोरंजक बात है कि प्रकृति ने कम से कम कुछ प्राणियों को ऐसे छिपे खजाने प्रदान किए गए हैं जो मानव-निर्मित "सेफ" से कह अधिक अभेद्य है, प्रस्तुत लेख मौलिक और सरल है।

अधिकार यानी किसी चीज को पकड़ना या लेना एक कुदरती आदत है। इसमें तीन बातें हैं, लेना, छिपाना और इकठा करना। किसी चीज को पकड़ने या लेने के लिए हर एक जीव को एक हथियार मिला है। जैसे गिलहरी अपने अगले पैर से, बाज अपने पंजे से और बंदर अपने हाथ से किसी भी चीज को पकड़ता है। आदमी यह काम अपने हाथ से लेता है। चौपाया मुँह से और चिड़िएँ चोंच से किसी चीज को पकड़ती या उठाती हैं। किसी चीज के मिलने पर एक खास तरह की खुशी होती है। कभी-कभी हम उस खुशी को बहुत देर तक उठाने या उस चीज को आगे काम में लाने के लिए उठा कर भी रख देते हैं। जैसे गिलहरी सुपारी को कुतरने के बजाय उसे छिपा कर रख देती है, कुत्ता अधचबी हड्डी को कल के लिए उठा कर रख देता है। किसी चीज को आगे के लिए उठा कर या छिपा कर रखने के लिए जगह का ठीक होना जरूरी है। वह जगह ऐसी होना चाहिए जिसे कोई न तो आसानी से देख ही सके और न वहाँ से चीज ही उठा कर ले जा सके। अगर कोई आदमी किसी चीज को पाने और छिपाकर रखने का आनन्द एक बार उठा लेता है तो वह देर तक ही उठाना नहीं चाहता बल्कि बार-बार भी उठाना चाहता है। यहाँ तक कि उसे उस चीज से ऐसा पक्का प्रेम हो जाता है कि वह उसे छोड़ ही नहीं सकता। इस तरह किसी चीज को लेने, छिपाने के साथ ही साथ उसे इकठा करने की आदत भी पाई जाती है। लड़कपन में बहुत से बालक इसी कारण से सिगरेट की डिबिएँ, दियासलाई की डिबिएँ, पर, पत्तियाँ, टिकट, आदि इकठा किया करते हैं।

यह जरूरी नहीं है कि लेना, छिपाना और इकठा करना-तीनो बातें एक साथ पाई जाँय और न यह ही जरूरी है कि सब जीवों में एकसी पाई जाँय या सब एक ही चीज इकठा करें। इकठा करने की आदत दूध देने वाले जानवरों में अधिक पाई जाती है और ये खाने पीने की चीजें इकठी करते हैं। कभी-कभी ये ऐसी चीजें भी इकठी करने लगते हैं जिससे उनका कोई लाभ नहीं होता। जैसे चूहों के बिलमें खाने-पीनी की चीजों के अलावा तरह-तरह के कागज़-पत्तर मोती, सिक्के, इत्यादि भी पाये गए हैं। खरहे, शेर, मगर, इत्या द की माँद में, चील के घोंसले में तरह-तरह के गहने-जेवर हीरे-जवाहर, सिक्के, इत्यादि पाए जाते हैं जिन्हें वे न तो खा-पी ही सकते हैं और न खर्च और पहन-फाड़ ही सकते हैं।

आदमी तो अपनी प्यारी चीजें इकठा करके संदूक, अलमारी, सेफ इत्यादि में रख लेता है, पर बेचारे जानवर कहाँ रक्खें ? इनके पास ऐसे छिपे हुए खजाने हैं कि इनसे न चोर चुरा सकता है और न आदमी छीन सकता है। आदमियों के खजानों में तो चोरी भी हो जाती है, पर इनमें चोरी-चमारी आदि किसी तरह का डर नहीं है। अब मैं

जानवरों के कुछ ऐसे ही खजानों का हाल बताऊँगा।

ऊँट :—यह तो आप जानते ही हैं कि ऊँट रेगिस्तान का जानवर है और इसे हफ्तों बिना खाए-पिए रहना पड़ता है, कारण कि रेगिस्तान में चारा-पानी कहाँ। इसलिए इसके लिए तो ऐसा छिपा हुआ खजाना, जहाँ यह अपना खाना-पीना रख सके और वक्त पड़ने पर उसे खा-पी सके, एक बड़ी भारी जरूरत है। इसके पास दो ऐसे छिपे हुए खजाने हैं, खाने का पीठ पर जिसे हम कोहान या कूबड़ कहते हैं, और पानी का पेट में, होता है। ये कूबड़ किसी-किसी जगहके ऊँटों के तो दो-दो तक होते हैं। यह इनमें चर्बी इकट्ठीकर लेता है और सफर में खाना न मिलने पर उसी से अपनी भूख मिटाता है। पेट की थैली में भी इतना पानी भर लेता है कि तीन-चार हफ्ते के लिये काफी होता है। यह थैली जो इसको प्यास से दम निकलने से बचाती है कभी-कभी इसके प्राणों की लेवा भी हो जाती हैं। कभी-कभी जब मुसाफिर प्यास से मरने लगते हैं, तो वे इसे मार कर इसकी थैली निकाल लेते हैं और उसके पानी से अपनी जान बचा लेते हैं। इस तरह यह रेगिस्तान में अपनी जान देकर भी दूसरों की जान बचाता है।

दुम्बा भेड़ा :—इसके नाम से ही आप समझ गए होंगे कि इसका खजाना इसकी दुम या पूँछ में रहता है। कभी-कभी तो यह अपनी पूँछ में इतनी चर्बी जमा कर लेता है, कि इसके लिए चलना-फिरना तक कठिन हो जाता है और इसकी पूँछ इतनी भारी हो जाती है कि कपड़े की थैलियाँ सीकर उसमें लटकाना पड़ता है और छोटी-छोटी गाड़ियाँ तक पर लाद कर चलना पड़ता है। उत्तरी अफ्रीका के कुछ भेड़ों में ये छिपे हुए खजाने पूँछ की जगह उनके बदन के पिछले हिसों में होते हैं।

बन्दर :—यह तो आप जानते ही हैं कि बंदर एक तरह का निखट्टू जानवर है। खेती बाड़ी या कोई दूसरा रोजगार तो उसके यहाँ होता नहीं, चोरी-चमारी और लूट-मार से ही उसका पेट भरता है। चोर के पास इतना वक्त कहाँ कि वह धीरे-धीरे धीरज के साथ चीज-वस्तु ले या खाये-पिये। उसका तो 'छीना-झपटा और भागे' वाला हिसाब रहता है 'चोर की तरह जहाँ जगह मिली' लूट का माल दबाया और भाग चला। आपने देखा होगा कि कभी-कभी खाने-पीने के बाद बंदर के दोनों गलफड़े फूल जाते हैं। बात यह है कि इसके जबड़ों के बगल में इधर-उधर दोनों ओर एक-एक थैली होती है जिनमें वह लूट का माल भर लेता है और फिर बाद में धीरे-धीरे खाता रहता है। किसी ने ठीक ही कहा है 'बंदर का धन गाल'।

गिलहरी :—हिन्दुस्तान में तो नहीं, पर अमरीका में एक खास तरह की गिलहरी होती है जिसके गालों में पीछे की ओर थैलियाँ होती हैं जिनमें वह खाने-पीनी की चीजें इकठ्ठा कर लेती है। चूहों की तरह इसका भी खजाना जमीन के भीतर होता है, जिसमें यह अपना थैलियों में भरा हुआ खाना ले जाकर रख देती हैं और जाड़ों में ठाट से खाती है।

खरगोश :—अफरीका के खरगोश भी बड़े अजीब होते हैं। यहाँ कुछ ऐसे खरहे होते हैं, जो जंगल में जो कुछ भी पा जाते हैं उठा कर अपनी मांद में ले आते हैं चाहे वह उनके काम की हो या न हो। जंगल में खोई हुई लोगों की चीजें अक्सर इनके बिल में मिलती हैं।

चिड़ियें :—सब तो नहीं लेकिन कुछ चिड़ियें ऐसी जरूर होती हैं जो अपने घोंसले के आस-पास पेड़ के छेदों और खोखलों में छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़े, चूहें-मेंढक, आदि जमा कर लेती हैं। चील के घोंसले में तो सोने के गहने तक पाए जाते हैं जिनको वह मांस के टुकड़े के धोखे में उठा लाती है।

कभी-कभी दाना चुगने के बाद कबूतर भी अपनी चोंच के नीचे दाना जमा कर लेता है और उसकी गर्दन फूली हुई सी दिखाई देती है।

चींटी :—आपने देखा होगा कि चींटिएँ अक्सर अपने मुँह में खाने-पीनी की चीजों के छोटे-छोटे टुकड़े दबाए हुए लाइन में दूर तक चली जाती हैं। चींटिएँ ये सब चीजें

ले जाकर अपने किले में जमा कर देती हैं और बरसात में जब कि खाना नहीं मिलता घर में बैठी-बैठी मौज से खाती हैं और चैन से रहती हैं।

सुमात्रा जावा आदि विषवत् रेखा के पास के टापुओं में एक ऐसी चींटी पाई जाती है जिसके पेट में छिपा हुआ खजाना होता है। इसमें वह शहद इकट्ठा करती है। इसमें दया तो इतनी होती है कि मजदूर चींटियों को प्यासा और थका हुआ देखकर अपना मिहनत से इकट्ठा किया हुआ पेट का शहद तक निकाल कर दे देती है।

शहद की मक्खी :—इसका छत्ता तो आपने देखा ही होगा जिसमें वह दिन रात मेहनत करके शहद और मोम जमा करती है। इसको तो मानो दिन रात आगे की ही फिक्र रहती है और बराबर काम में जुटी रहती है, पर बेचारी को पता नहीं कि उसकी मेहनत का फल दूसरे लोग लूटते हैं। जोड़-जोड़ कर मरती तो बेचारी मक्खी है और उसका शहद खाते हम आप सब हैं।

काँच उद्योग की उन्नति

१६ फरवरी १९५१ को योजना आयोग दूबारा आयोजित अधिवेशन में काँच का उत्पादन बढ़ाने के लिए काँच उद्योग औरशिल्प गवेषणाशालाओं के मध्य अधिकाधिक सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

योजना आयोग, आगामी पाँच वर्षों में, उत्पादन और खपत के लक्ष्य निश्चित करने तथा कुछ कारखानों के लिए आवश्यक पूँजी, कच्ची सामग्री, और हाटव्यवस्था के प्रश्नों पर विचार करने के लिए महत्त्वपूर्ण उद्योग का विस्तार के साथ अध्ययन कर रहा है।

पिछली आधी शताब्दी में भारतीय काँच उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, फिर भी वह निरन्तर उन्नति करता रहा है। युद्धकाल में आयात बन्द हो जाने के कारण इस उद्योग ने अच्छी उन्नति की।

काँच के १३४ कारखानों की उत्पादनक्षमता लगभग २, ११, ४४० टन और काँच की चादरों के तीन कारखानों की उत्पादन क्षमता २ करोड़ ३० लाख वर्ग फुट प्रतिवर्ष है। इनके अतिरिक्त लगभग १०० कारखानों केवल चूड़ियाँ बनाते हैं। भारत में लगभग १० करोड़ रुपये का काँच का काँच का सामान खप जाता है, जिसमें से लगभग ८ करोड़ रु० का देश में ही बनता है।

काँच बनाने के लिए कोयला, रेत, और चूने का पत्थर देश में ही मिल जाता है। दुर्द्रवसीय पदार्थ भी अधिकांशतः यहीं मिल जाते हैं, परन्तु वे अच्छे नहीं होते। भारी सोडा बाहर से मंगाया जाता है। इसके अतिरिक्त सुहाग, संखिया आक्साइड, सोडियम नाइट्रेट, तरल सोना और सेलेनियम भी बाहर से मंगाये जाते हैं।

१९४७-४८ में काँच और काँच के बर्तनो का आयात बहुत अधिक हुआ है। १९४५-४६ में ६४ लाख रुपया मूल्य का नियति हुआ, परन्तृ पिछले वर्ष केवल १० लाख रुपये मूल्य का ही हुआ। नियति की इसी कमी का मुख्य कारण ब्रिटेन तथा अन्य देशों के माल के साथ भारतीय माल की मूल्य और उत्तमता सम्बन्धी प्रतियोगित था। अब तक भारतीय काँच और काँच के बर्तनो का मूल्य कम न होगा और उत्तमता में वृद्ध न होगी तब तक विदेशों में उसकी माँग नहीं बढ़ सकती।

बताया गया कि रेदे को ठीक ढंग से शुद्ध करके काम में लाने से उत्तमता बढ़ सकती है और कोयले का दुरुपयोग कम करने से लाग्त में कमी हो सकती है।

इस समय केवल ३ काँच-कारखानों में स्वयंचालित यंत्र लगे हैं, शेष कारखाने अर्ध-स्वयं चालित यंत्रों से से चलते हैं। परन्तु स्वयंचालित यंत्रों का प्रयोग सोच समझ कर करना चाहिए, क्योंमि इस देश में माल की खपत अधिक नहीं है।

सरकार एक ब्रिटिश कम्पनी के सहकार से चश्मों शीशे बनाने का एक कारखाना स्थापित करने का विचार कर रही है।

मिट्टी में नाइट्रोजन क्षति की क्रिया

लेखक—मोहनचन्द्र पन्त

गत मास के अंक में लेखक ने प्रस्तुत विषय की भूमिका में उक्त रासायनिक क्रिया के सिद्धान्त समझाए थे। निम्न वर्णन लेखक द्वारा किए गए प्रयोगों का सारांश हैं। लेख अन्वेषण में संलग्न विद्यार्थियों के लिए लाभदायक है।

हमारे प्रयोगों में तश्तरी में लगभग ५००-१००० ग्राम मिट्टी (जिसकी नाइट्रोजन व कार्बन मात्रा पहिले मालूम कर ली गई) ली गई और उसमें अमोनियम लवण, रक्त, खली (oil-cake), जिलैटीन, यूरिया, सनई इत्यादि नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थ मिलाये गए। अब कुल नाइट्रोजन की मात्रा मालूम की गई। समय-समय पर नाइट्रोजन की मात्रा में परिवर्त्तन देखा गया। यह देखा गया कि मिट्टी से नाइट्रोजन की क्षति हो रही है। 'नाइट्रोजन क्षति' क्रिया पर सूर्य-प्रकाश का भी असर देखा गया। इसके लिए कुछ तश्तरियाँ खुली हुई रक्खी गईं ताकि सूर्य प्रकाश उन पर पड़ सके। उसी प्रकार की कुछ तश्तरियाँ काले कपड़े द्वारा ढाँककर उनके साथ रक्खी गईं। नाइट्रोजन पदार्थों के मिलाने के बाद कीटाणुओं की संख्या में क्या परिवर्तन होता है, इस बात को भी कुछ प्रयोग में मालूम किया गया। इन सब प्रयोगों में बीच-बीच में मिट्टी को हिला दिया गया ताकि आक्सीकरण की क्रिया के लिए सुविधा हो जावे। प्रयोग काल में मिट्टी में जल की मात्रा लगभग ८-१० प्रतिशत रक्खी गई थी।

विश्लेषण द्वारा प्राप्त आँकड़े निम्नलिखित सारिणियों में दिये गए हैं :—

अमोनियम सलफेट तथा अमोनियम फासफेट मिट्टी के साथ

प्रयोग काल . . १०-३-४७ से ६-५-४७ औसतन तापमान ४१-५°

केवल मिट्टी का विश्लेषण—

कुल कार्बन	..	०·३८८%
कुल नाइट्रोजन	..	०·०३६७%
अमोनिकल नाइट्रोजन	..	०·००१२%
नाइट्रिक नाइट्रोजन	..	०·००२४%

पदार्थ	प्रारम्भ में नाइट्रोजन %		अमोनिकल नाइट्रोजन शेष %		नाइट्रिक नाइट्रोजन बना %		प्रतिशत नाइट्रोजन क्षति %	
	धूप में	ढका हुआ	धूप में	ढका हुआ	धूप में	ढका हुआ	धूप में	ढका हुआ
अमोनियम सलफेट	०·४०३६	०·४०३६	०·१६००	०·२२१०	०·०२१३	०·०१०५	५५·५	४३·२
	·२०३६	०·२०३६	०·०५७२	०·०८२१	०·००८२	०·००६४	६९·१	५७·५
अमोनियम फासफेट	०·४०३६	०·४०३६	०·१२४८	०·१६५६	०·००८८	०·००४०	६७·५	५८·४
	०·२०३६	०·२०३६	०·०४८८	०·०६३२	०·००३०	०·००१३	७५·६	६८·३

५०० ग्राम मिट्टी तथा १०० घ० श० रक्त

तारीख	अवस्था	कुल कार्बन %	कुल नाइट्रोजन %	अमोनिकल नाइट्रोजन %	नाइट्रिक नाइट्रोजन %	नाइट्रोजन ह्रास %
१०-९-४७	धूप में	१·३५७	०·५६५३	०·००.०९	०·००१७	—
	ढका हुआ	१·३५७	०·५६५३	०·००००९	०·००१७	—
१-१०-४७	धूप में	१·३५७	०·४९२४	—	—	१२·९
	ढका हुआ	१·३५१	०·५३३३	—	—	५·७
१३-११-४७	धूप में	१·१९०	०·३८४६	—	—	३१·९
	ढका हुआ	०·९८३	०·४५८९	—	—	१८·८
८- १-४८	धूप में	१·१६९	०·३०६७	०·००६७	०·०२८०	४५·७
	ढका हुआ	०·९३३	०·३१२५	०·०३५२	०·०२४३	४४·२
११-३-४८	धूप में	१·०९१	०·२५९४	०·००५८	०·०२८९	५४·१
	ढका हुआ	०·८९७	०·२९१०	०·०२४३	०·०२५९	४८·७
१५-९-४८	धूप में	०·८०२	०·१८१०	०·००४४	०·०३५७	६८·२
	ढका हुआ	·५०१	०·२३६४	०·००६१	०·०३०६	५७·६

'कुल जीवाणु संख्या' प्रति ग्राम मिट्टी में

प्रयोग के आरम्भ में .. १२ मिलियन

प्रयोग के अन्त में

धूप में .. ६१० ,,

ढका हुआ .. ४०० ,,

मिट्टी तथा यूरिया के प्रयोग

तारीख	अवस्था	कुल नाइट्रोजन %	अमोनिकल नाइट्रोजन %	नाइट्रिक नाइट्रोजन %	नाइट्रोजन ह्रास %
८-२-४८	धूप में	०·३१७८	०·०००६	०·००१८	—
	ढका हुआ	०·३१७८	०·०००६	०·००१८	—
२३-४-४८	धूप में	०·२३९४	०·०१६०	०·०१६०	२४·७
	ढका हुआ	०·२६५१	०·०४६२	०·०११६	१६·६
१२-५-४८	धूप में	०·२१४८	०·०३१२	०·०१६८	३२·५
	ढका हुआ	०·२५००	०·०४३६	०·०१४१	२१·३
२०-७-४८	धूप में	०·१५५०	०·०२७३	०·०२२४	५१·२
	ढका हुआ	०·२०१०	०·०३७५	०·०१७४	३६·८

(४)

१५० ग्राम मिट्टी तथा १०० ग्राम सनाई

तारीख	अवस्था	कुल कार्बन %	कुल नाइट्रोजन %	नाइट्रोजन क्षति %
१८-१०-४७	धूप में	७·२७७	०·७५९७	—
	ढका हुआ	७·२७७	०·७५७७	—
१७-२-४८	धूप में	६·५७७	०·५०००	३३·८
	ढका हुआ	६·६६६	०·६१३२	१६·१
१६-५-४८	धूप में	६·०२१	०·४१२८	४५·५
	ढका हुआ	६·२००	०·५४२८	२८·३
२०-७-४८	धूप में	५·६४६	०·३४२४	५४·८
	ढका हुआ	५·६३८	०·४९०७	३५·२

(५)

२०० ग्राम मिट्टी तथा १५ ग्राम खली

तारीख	अवस्था	कुल कार्बन %	कुल नाइट्रोजन %	नाइट्रोजन क्षति %
२१-२-४८	धूप में	३·१८५	०·५१५८	—
	ढका हुआ	३·१०७	०·५१४६	—
१-४-४८	धूप में	३·०६२	०·४६७७	११·३
	ढका हुआ	३·०११	०·४६१८	१०·३
२५-५-४८	धूप में	२·७३५	०·४०२६	२१·६
	ढका हुआ	२·७४३	०·४१६८	१८·४
७-८-४८	धूप में	२·३२३	०·३३०५	३६·०
	ढका हुआ	२·४६५	०·३६३६	२६·०

उपर्युक्त सारिणियों में दिये हुए आँकड़ों को देखने से यह स्पष्ट है कि अमोनियम यौगिकों के रूप में मिलाये हुए कृत्रिम खाद से मिट्टी में नाइट्रोजन की स्थायी वृद्धि नहीं होती वरन मिलाये हुए नाइट्रोजन की क्षति हो जाती है। सूर्य प्रकाश पाने वाली मिट्टी में क्षति हमेशा अधिक होती है तथा अमोनियम यौगिकों का नाइट्रीकरण भी इस अवस्था में अधिक होता है।

रौथमस्टेड में किये गये प्रयोगों में भी कृत्रिम खाद डालने पर नाट्रोजन की बहुत मात्रा में क्षति पाई। उनके एक प्रयोग में जहाँ ८६ पौन्ड नाइट्रोजन अमोनियम

यौगिकों के रूप में प्रतिवर्ष मिट्टी में डाला गया था उसमें ६७·५ पौण्ड नाइट्रोजन की क्षति हुई। इन सब प्रयोगों से स्पष्ट है कि अमोनियम यौगिकों की खाद से मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा स्थायी रूप में बढ़ती नहीं होती है इसलिए इनका उपयोग मँहगा पड़ता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि नाइट्रोजन क्षति क्यों होती है ? हमारे विचार में मिट्टी में होने वाली नाइट्रीकरण की क्रिया के समय अमोनियम नाइट्राइट नामक पदार्थ बनता है और यह पानी व नाइट्रोजन गैस में विच्छेदित हो जाता है और यह नाइट्रोजन वायव्य रूप में मिट्टी से निकल जाता है। यही इस प्रकार की नाइट्रोजन क्षति का कारण जान पड़ता है। प्रोटीन पदार्थों या अमोनियम लवणों से अमोनियम नाइट्राइट बनाने की क्रिया में आक्सीजन की आवश्यकता होती है और यही कारण है कि इस प्रकार की नाइट्रोजन क्षति मिट्टी को उथल पुथल कर देने से बढ़ जाती है क्यों कि आक्सीकरण की सुविधा हो जाने से अमोनियम नाइट्राइट अधिक मात्रा में बनने लगता है।

धूप में तथा ढकी हुई मिट्टी में नाइट्रोजन क्षति की मात्रा में अंतर पाया गया है। प्रकाश में अधिक क्षति का कारण यह है कि अमोनियम आयन का आक्सीकरण प्रकाश में अधिक मात्रा में होता है जिसके कारण प्रकाश में अमोनियम नाइट्राइट भी अधिक मात्रा में बनता है। अमोनियम नाइट्राइट का अधिक बनना ही क्षति अधिक का कारण है। सूर्य प्रकाश अमोनियम नाइट्राइट विच्छेदन क्रिया में भी प्रवर्त्तक का कार्य करता है। इस कारण भी क्षति की मात्रा प्रकाश में बढ़ जाती है।

वारिंगटन ने देखा है कि सूर्य प्रकाश में जीवाणुओं की क्रिया शिथिल हो जाती है। वाक्समैन ने मालूम किया है कि सूर्य प्रकाश कीटाणुओं के लिये घातक सिद्ध होता है और इसी कारण से उस मिट्टी में जिसकी सतह पर अधिक सूर्य किरणें पड़ती हैं कीटाणुओं की कुल संख्या कम होती है। लेखक के प्रयोगों में, जो कि रक्त को मिट्टी में मिला कर किये गए थे, यह पाया गया कि ढकी हुई तश्तरी में कुल कीटाणु संख्या (Total Bacterial population) धूप में रक्खी तश्तरी से लगभग दूनी है। कीटाणु संख्या चाहे प्रकाश में कम थी लेकिन नाइट्रोजन क्षति उन्हीं में अधिक पाई गई। इससे यह ज्ञात होता है कि यदि नाइट्रीकरण या अनाइट्रीकरण की क्रियाएँ केवल कीटाणु द्वारा ही होती है तो अंधेरे में रक्खी हुई तश्तरी में अधिक नाइट्रोजन क्षति तथा नाइट्रिक नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होनी चाहिए लेकिन प्रयोगों में इसके विपरीत बात पाई गई है।

हमारे प्रयोगों से ज्ञात होता है कि साधारण स्थिति में मिट्टी में होने वाली नाइट्रीकरण तथा नाइट्रोजन-क्षति की क्रियाएँ जीवाणु से अधिक प्रकाश द्वारा होती हैं। प्रकाश का प्रभाव उष्ण कटिबन्ध देशों में अधिक स्पष्ट होगा।

नाइट्रोजन क्षति क्रिया में प्रकाश-रासायनिक क्रिया ही प्रधान है इसको अन्य लोगों ने भी प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है। इस प्रश्न पर कौरबेट अपने विचार इस प्रकार रखता है—"उष्ण कटिबन्ध की मिट्टी जो कि सूर्य प्रकाश पाती रहती है, में होने वाली नाइट्रोजन क्षति किसी रासायनिक क्रिया द्वारा वायव्य नाइट्रोजन के रूप में होती है। कुछ क्षति अमोनियाँ या नाइट्रेट के रूप में जल के साथ हो जाती है। मिट्टी में नाइट्रोजन की वृद्धि या क्षति सूर्य प्रकाश की कितनी मात्रा भूमि पर पड़ रही है इस बात परनिर्भर रहती है।"

विश्वनाथ का विचार भी यह है कि नाइट्रोजन क्षति एक प्रकाश रासायनिक अनाइट्रीकरण क्रिया है।

जी० इनघम ने नाइट्रीकरण तथा अनाइट्रीकरण की प्रतिक्रियाओं के विषय में यह शब्द कहे हैं—"भिन्न भिन्न मिट्टियों की परीक्षा करने पर नाइट्रीकरण की क्रिया मुख्यतः मिट्टी की सतह में प्रकाश रासायनिक आक्सीकरण (Photochemical oxidation) मालूम होती है। अनाइट्रीकरण का कारण अमोनियम और नाइट्राइट आयन जो

मिट्टी में एक साथ हैं, का विच्छेदन ज्ञात होता है जो कि मिट्टी के सूखने पर होता है।"

धर ने भी कई लेखों में यह बतलाया है कि नाइट्रीकरण तथा नाइट्रोजन क्षति प्रकाश-रासायनिक तथा पृष्ठ (Surface) क्रियाएँ हैं। कौरबट डी रोसी तथा सरकारिया भी इस मत से सहमत हैं। फावलर तथा कोतवाल का मत है कि यह क्रियाएँ जीवाणु द्वारा ही होती हैं। लेखक के प्रयोगों से ज्ञात होता है कि वायव्य रूप से नाइट्रोजन क्षति के लिये अजीव (non biological) कारण भी उत्तरदायी हैं और मुख्यतः उष्ण कटिबन्ध की मिट्टी में जहाँ का अधिक तापमान जीवाणु क्रियाओं के लिये घातक है।

निम्नलिखित सारिणी को देखने से ज्ञात होता है कि मिट्टी में डालने के उपरान्त अमोनियम लवणों की तुलना में कार्बनिक नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों में नाइट्रोजन क्षति कम होती है :—

(६)

पदार्थ	प्रयोग काल	कुल क्षति %		औसतन क्षति प्रति माह	
		धूप में	ढका हुआ	धूप में	ढका हुआ
अमोनियम सलफेट	२ माह	५५·५	४३·२	२७·८	२१·६
अमोनियम फासफेट	,,	६७·५	५८·४	३३·८	२९·२
अमोनियम साइट्रेट	४½ ,,	९९·२	५४·८	२२·१	१२·२
यूरिया	५½ ,,	४७·४	३५·१	१०·५	७·८
हिप्यूरिक अम्ल	४½ ,,	४२·३	२३·२	९·४	५·२
जीलेटिन	,,	४०·१	२३·२	८·९	५·२
खली	५½ ,;	३५·९	२९·०	६·५	५·३
रक्त	६ ,,	५४·१	४८·७	९·०	८·१

यूरिया, हिप्यूरिक अम्ल, जिलेटीन तथा कार्बनिक अम्ल के अमोनियम यौगिकों के साथ कम नाइट्रोजन क्षति का कारण यह है कि इन पदार्थों में नाइट्रोजन के साथ ही साथ कुछ कार्बन की मात्रा भी मिट्टी में जाते है। यह कार्बन अपनी उपस्थिति से अमोनियम आयन से नाइट्रेट बनने के आक्सीकरण की रफ्तार को हलका कर देती है और इस प्रकार नाइट्रोजन क्षति कम हो जाती है। रक्त तथा खली में सब से कम क्षति होती है क्योंकि कार्बनिक पदार्थों के साथ इसमें चर्बी भी होती है। यह भली भाँति ज्ञात है कि चर्बी की उपस्थिति में नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों का आक्सीकरण बहुत कम हो जाता है। आक्सीकरण कम हो जाने से अमोनियम नाइट्राइट पदार्थ के बनने की सम्भावना भी कम हो जाती है और इसके फलस्वरूप नाइट्रोजन क्षति भी कम हो जाती है।

इन प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि खाद डाली हुई मट्टी में कार्बन-नाइट्रोजन (C/N) का अनुपात नाइट्रोजन क्षति की क्रिया में मुख्य भाग लेता है। लेखक ने कार्बनिक पदार्थों का नाइट्रोजन क्षति पर प्रभाव देखने के लिये कुछ प्रयोग किये हैं। कुछ प्रयोगों के फल नीचे दिए गए हैं।

नाइट्रोजन क्षति की मात्रा में कार्बनिक पदार्थ डालने का प्रभाव

मिट्टी के साथ मिलाई हुई वस्तुओं के नाम	कार्बन-नाइट्रोजन-अनुपात	नाइट्रोजन क्षति% धूप में	ढका हुआ
हिप्यूरिक अम्ल	४.७	४२.३	२३.२
हिप्यूरिक अम्ल व गुड़	१७.६	२३.५	१३.५
जिलैटीन	२.६	४०.१	३३.२
जिलैटीन तथा गुड़	१७.१	२३.०	१२.६
अमोनियम साइट्रेट	३.४	६९.३	५४.८
अमोनियम साइट्रेट व गुड़	१७.७	४०.८	२५.०
खली	६.१	३६.०	२९.०
खली व गुड़	१७.५	१६.४	९.०

उपर्युक्त सारिणी में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि गुड़ मिलाने से हिप्यूरिक अम्ल वाले प्रयोगों में नाईट्रोजन क्षति ४२.३% से २३.५% हो गई। अमोनियम साइट्रेट में भी क्षति केवल ४०.८% ही हुई। गुड़ डालने पर भी अमोनियम साइट्रेट में जिलैटीन या खली से अधिक क्षति होती है क्योंकि अमोनियम साइट्रेट अधिक सरलता आक्सीजनयुक्त हो जाता है और खली इत्यादि में नाईट्रोजन क्लिष्ट प्रोटीन के रूप में होता है इस कारण आसानी से आक्सीजन युक्त नहीं होता है।

चीनी इत्यादि कार्बनिक पदार्थों द्वारा नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों के विच्छेदन को घटाने का प्रभाव अन्य अन्वेषकों ने भी देखा है। सुबरामनयम ने अपने प्रयोगों द्वारा यह दिखलाया है कि भारतवर्ष की मिट्टी में काष्टिक पदार्थों को अमोनियम यौगिकों की खाद के साथ मिट्टी में डालने से नाइट्रोजन क्षति कम हो जाती है। धर तथा मुकर्जी ने भी अपने प्रयोगों में देखा है कि अमोनियम सलफेट के साथ शीरा (Molasses), मिलाने से नाइट्रोजन क्षति में कमी हो जाती है।

कार्बनिक पदार्थों को मिलाने के पश्चात नाइट्रोजन क्षति में होने वाली कमी को ऋणात्मक उत्प्रेरण (negative Catalysis) के आधार पर समझाया जा सकता है क्योंकि आसानी से आक्सीजनयुक्त हो जाने वाले पदार्थ का प्रभाव दूसरे पदार्थ के आक्सीकरण पर होता है। यह भली भाँति मालूम है कि मनुष्य शरीर के अंदर कार्बोहाइड्रेट पदार्थ प्रोटीन पदार्थों को आक्सीजनयुक्त होने से बचाते हैं और यह ज्ञात होता है कि इसी प्रकार मिट्टी में स्थित कार्बनिक पदार्थ भी मिट्टी के नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों को आक्सीजनयुक्त होने से बचाते हैं।

धर तथा उनके शिष्यों ने यह भी देखा है कि यदि मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों को डालने से कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात १० से अधिक कर दिया जावे तो मिट्टी में नाइट्रोजन निग्रहण होने लगता है। लेखक ने अपने प्रयोगों में कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात को लगभग २८ तक रक्खा लेकिन निग्रहण होता नहीं पाया। इसका कारण यह है कि इन प्रयोगों में प्रारम्भ से ही मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा बहुत अधिक थी (०.५%)। प्रचण्ड सूर्य प्रकाश में तथा इतने अधिक नाइट्रोजन की उपस्थिति में नाइट्रीकरण की क्रिया के समय नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों का प्रकाश विच्छेदन अधिक मात्रा में होता है तथा प्रकाश प्रवर्तित नाइट्रोजन निग्रहण की क्रिया उतनी अधिक नहीं होती है और अंत में नाइट्रोजन क्षति ही अधिक मालूम होती है।

इन सब प्रयोगों से यह भली भाँति स्पष्ट होता है कि केवल अमोनियम यौगिकों की कृत्रिम खाद का प्रयोग करना उचित नहीं है क्योंकि इस अवस्था में नाइट्रोजन मिट्टी से बहुत कम समय में निकल जाता है। लेकिन यदि कृत्रिम खादों के साथ कार्बनिक पदार्थ (जैसे गोबर, पत्तियाँ, भूसा इत्यादि) जो सरलता से प्राप्त हैं मिलाकर काम में लाए जाएँ तो अधिक लाभ होगा क्योंकि कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति में नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों की आक्सीकरण गति बहुत हलकी हो जाती है जिसके फलस्वरूप नाइट्रोजन क्षति की मात्रा में भारी कमी आ जाती है। कार्बनिक

नाइट्रोजन संयुक्त पदार्थों की खाद भूमि के लिये केवल अमोनियम यौगिकों से इसलिये भी अधिक लाभदायक है कि कार्बनिक पदार्थों के साथ जो कोलाइडल पदार्थ मिट्टी में जाता है उससे मिट्टी की बनावट तथा पानी सोखने की शक्ति भी बढ़ जाती है।

जनसंख्या में वृद्धि होने से हमारे देश में भी इस समय अन्न की कमी है प्रति वर्ष लगभग पाँच लाख टन अन्न की और आवश्यकता है। अन्न की उपज बढ़ाने के लिए नई भूमि को पैदावार के योग्य बनाया जा रहा है। अमोनियम सल्फेट के रूप में कृत्रिम खाद बनाने की भी योजना हो रही है। यदि अमोनियम सलफेट को ही खाद के रूप में काम लाना है तो यह बात आवश्यक है कि उसके साथ गोबर, पत्तियाँ, भूसा इत्यादि चीजें मिला कर मिट्टी में डालना होगा अन्यथा भारतीय कृषक के लिये इन कृत्रिम खादों का प्रयोग करना आय-व्यय की दृष्टि से कठिन हो जावेगा।

इस अन्न-कष्ट के समय में हमारे देश में, जिसका मुख्य उद्यम कृषि है, हमें वैज्ञानिक रूप से कृषि सम्बन्धी प्रयोग अत्यधिक मात्रा में आरम्भ करना चाहिए जिससे हम आने वाले काल में अपने देश को अन्न की कमी या दुर्भिक्ष के कठिन आघातों से बचा सकें।

विविध समाचार

जमशेदपुर की राष्ट्रीय धातुशोधन शाला के प्रयोगों से पता चला है कि भारत में अमिश्रित इस्पात के समान उत्तम मुलायम इस्पात तैयार किया जा सकता है।

प्रयोगशाला अल्यूमीनियम की भट्ठियों में बची खुची कार्बन धूल से क्रियोलाइट पृथक करने में भी सफल हुई है। प्रतिवर्ष लगभग १ लाख ५० हजार रुपये का १५२ टन क्रियोलाइट यों ही नष्ट हो जाता है। अब यह नष्ट न हुआ करेगा।

मैंगनीज धातु के संग प्रति वर्ष घटिया किस्म की लगभग ६ लाख टन धातु यों ही नष्ट हो जाती थी। अब प्रयोगशाला ने ऐसी प्रणाली निकाली है कि इस घटिया किस्म की मैंगनीज सल्फेट और शुद्ध मैंगनीज आक्साइड बना सकेगा। प्रयोगशाला परमाणुशक्ति के लिए बेरिलियम का उत्पादन भी आरम्भ करने वाली है।

भारतीय कृषि गवेषणाशाला के प्रयोगों से पता चला है कि अप्राणिज नाइट्रोजन खादों में अमोनियम सल्फेट उपज बढ़ाने के लिए सबसे अच्छा है।

एक ऐसा संकरज टमाटर तैयार किया जाता है, जो सामान्य टमाटर से २० ३० दिन पहले पक जाया करेगा, और उपज में भी अच्छा रहेगा। इसमे विटामिन सी और चीनी अधिक मात्रा में होगी।

शाला के यन्त्र विभाग में एक जापानी हल का प्रयोग करके देखा गया है। यह हल्का, सस्ता और उपयोगी है, और हर किसान इसको रख सकता है।

गोल कृमि—उनका रहन-सहन

लेखक—ज्ञानप्रकाश जैन

गोल कृमि प्राणियों-पौधों के पारस्परिक जीवन के ताने-बाने से अलग एकाँगी जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य के भोजन की नली या उसके रक्त में शरण लेने वाले इन खतरनाक जीवधारियों का वृत्तान्त अपना एक विशेष महत्त्व रखता हैं।

जीवन के निर्वाह में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मनुष्य का जीवन और उसकी समृद्धि अधिकतर गायों का दूध और अन्य प्रकार की पैदावार पर निर्भर है। इस ढंग के पारस्परिक सम्बन्ध को जीवन का ताना बाना कहते हैं। जब यह नियम एकांगी होता है अर्थात् जब एक जानवर के जीवन की निर्भरता दूसरे के ऊपर हो जाती है तो इस प्रकार के जीवन को पारजीवक जीवन कहते हैं। पशु-संसार में जीवन के इस पारजीवक सम्बन्ध के अद्भुत उदाहरण पाये जाते हैं। इनसे हम केवल उन थोड़े उदाहरणों को सामने रक्खेंगे जो मनुष्य की कुशलता और समृद्धि पर प्रभाव डालेंगे।

प्रकृति का यह नियम मालूम होता है कि एक जानवर दूसरे जानवर का भोजन है—जैसे शेर या चीते ऐसे प्रबल जानवर बकरे या हिरन के से जानवर का पीछा करते हैं और उसको खा जाते हैं। परन्तु लघु श्रेणी के जानवरों के रहन-सहन का ढंग इससे अधिक चंट है! यह विचारणीय है कि जानवर एक दूसरे पर किस प्रकार निर्भर हैं, एक प्रकार के जानवर की उपस्थिति का दूसरे के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? बुद्धि के होते हुए भी मनुष्य इस रहन-सहन का शिकार हो जाता है। ऐसे जानवर मनुष्य के भोजन की नली या उसके रक्त में शरण लेते हैं। उनका निवास अस्थिर अथवा स्थिर हो और यह हानिप्रद न हो या हानिदायक हो, आमतौर पर पारजीवक जानदार अतिथि सत्कारक के शरीर में सदा न रहने वाले पारजीवक जानवरों की अपेक्षा अधिक गड़बड़ करते हैं, वास्तव में एक अथिति सत्कारक का बिल्कुल हानि न पहुँचाने वाला पारजीवक जानवर दूसरे अतिथि सत्कारक के भीतर घुसकर अधिक कष्ट पैदा कर सकता है।

१९४७ में ब्रिटेन और आयरलेण्ड की नेशलन वेटनरी मेडीकल एसोशियेशन (National Veterinary Medical Assen.) ने अपने वार्षिक विवरण (Report) में बतलाया कि प्रतिवर्ष लगभग १०९६०० पौंड की भेंड़े कुछ कारणों से मरती हैं जिसके कारण वहाँ के किसान की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय होती जा रही है। बहुत से विविध प्रकार के कीड़े भेंड़ों की आँतों पर पारजीवक हो गए हैं। आमतौर पर गोल कृमि (Round Worms) छोटी अंतड़ियों में पाये जाते हैं और यहाँ से प्रायः भोजन की नली के अन्य भागों में रेंगते हैं।

जीव शास्त्री (Biologists) इन कीड़ों को निमेटोड (Nematode) कहते हैं और केवल इन्हीं कृमियों से ब्रिटेन में ३४८०० पौण्ड की भेड़ें मरती हैं। जब भेड़ बीमार होती है, उसको भूख कम लगती है, निर्बलता बढ़ने लगती है, पेट पर सूजन आ जाती है और मृत्युप्रद रोग पैदा हो जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में तो इस बीमारी से

सैकड़ों हज़ार डालर की हानि होती है। दूसरे देशों में भी वहाँ का किसान ब्रिटेन के किसान से बहुत अधिक भेड़ें पालता है जिससे उनकी आर्थिक हानि का भी अनुमान किया जा सकता है।

यह कृमि केवल भेड़ों पर ही नहीं, गाय, भैंस, सुअर और दूसरे स्तनियों (mamals) पर भी पारजीवक होता है। मनुष्य इनको अपना बड़ा भारी शत्रु समझता है क्योंकि उसके खाने की वस्तुओं में भी इस कृमि का संसर्ग है। इस कृमि से इतनी ही हानि नहीं होती, कुछ मुख्य प्रकार की पैदावार जैसे गेहूँ, आलू और गाजर भी इसके प्रभाव से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अभागा मनुष्य भी इनके संसर्ग से न बच सका। अंकुश कृमि (Hook worms) मनुष्य के अन्नाशय की नली के आँत की झिल्ली पर निर्वाह करते हैं। फाइलेरिया (Filaria) के कीड़े लसिक वाहिनी में होते है जिसकी मौजूदगी से फिलपाँव का रोग हो जाता है। इन सब बीमारियों से सैकड़ों मनुष्य बीमार होते और मरते हैं।

कुछ ठन्डे प्रदेशों में गिनी कृमि (Guinea worms) जिनको बाइबिल में अग्नि सर्प (Firy Serpent) कहते हैं मनुष्य पर पारजीवक होते हैं। इन्हीं सब कारणों से इनके विनाश का उपाय करना बड़ा आवश्यक है।

इन पारजीवक कीड़ों की (गोल कीड़े) बहुत सी जातियाँ हैं। यह एक छोटा और पतला कीड़ा है। सबसे बड़े आकार वाला डिक्टोफ़ीन रिनेल (Dicctophyne renale) कहलाता है जो आमतौर से कुत्ते, बन्दर और अन्य स्तनियों के गुर्दे में पाया जाता है। कभी कभी मनुष्य के गुर्दे में भी पाया गया है। यह लगभग एक गज़ लम्बा और मोटाई में एक उँगली के बराबर होता है। कुछ जाति के गोल कृमि वनस्पति या पानी में भी पाए जाते हैं और बहुत छोटे आकार के होते हैं इनकी श्लेष्मिक झिल्ली पारदर्शी होती है।

इन कीड़ों के लिंग अलग-अलग होते हैं। नर कृमि मादा की अपेक्षा बहुत ही छोटा और संख्या में भी कम होता है। यह कीड़े हर प्रकार के वातावरण में रह सकते हैं। मरुभूमि, खारा व मीठा पानी यहाँ तक कि एन्टाकार्टिक के बर्फीले मैदानों में भी पाए गए हैं। इन स्थानों में रहने वाले कृमियों की संख्या बहुत अधिक होती है, क्योंकि एक ही एकड़ भूमि में लगभग तीन हज़ार मिलियन गोल कृमि मिलते हैं। जो गोल कृमि वनस्पति पर पारजीवक होते हैं उनकी संख्या भी बहुत अधिक होती है। गेहूँ के एक ही पौदे में लगभग ११००० व ९०,००० गोल कृमि मिलते हैं।

पशुओं में यह कीड़े छोटी अतँड़ियों में पाये जाते हैं। थोड़ी संख्या में यह भंयकर नहीं होते परन्तु जब यह अधिक हो जाते हैं तो रोगी को कष्ट होता है और एक ही भेड़ में लगभग ५०,००० कीड़े नली में रास्ता रोककर जिगर का फोड़ा पैदा कर देते हैं। आँतों में ही मादा कीड़ा लगभग ५,००० या १०,००० अण्डे प्रतिदिन देती है जो अन्य भागों में होकर मलके साथ बाहर निकल जाते है। यह अण्डे अपने अनुकूल वातावरण में कीड़े का पहला रूप उत्पन्न करते हैं जिसका आकार माता पिता जैसा ही होता है। कच्चे बच्चे कीटाणु पर जीवित रहते है और कुछ समय पश्चात् बच्चे कीड़े के दूसरे रूप को धारण करते हैं। यह दूसरा रूप एक तीसरे रूप में उत्पन्न होता है जिसकी मंजिल भेड़ के भीतर पाई जाती है। यदि यह तीसरे कीड़े का रूप भेड़ के भीतर नहीं पहुँच पाता तो इसकी जीवन लीला समाप्त हो सकती है। ये कीड़े कच्ची सब्जी द्वारा भेड़ के शरीर में प्रवेश करते है जहाँ से छोटी अँतड़ियों में और प्रायः भोजन की नली के अन्य भागों में पाये जाते है और आँत की दीवार से चिपके रहते है। आँतों में कीड़े के बच्चे पूरी उन्नति दशा में जीवन भर रहते है और इसकी मौजदूगी से रक्त में कमी होने लगती है, भेड़ को भूख कम लगने लगती है और पेट में दर्द रहता है।

समुद्र की तली में नवीन चट्टानों का निर्माण

लेखक—नत्थन लाल गुप्त

विज्ञान के पिछले अंको में पार्थिव-विज्ञान सम्बन्धी कई लेख प्रकाशित किए जा चुके हैं, उसी क्रम में लेखक ने प्रस्तुत लेख में सरल भाषा में इस मनोरंजक विषय पर एक नया प्रकरण लिखा है।

कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ पुरानी चट्टानों को तोड़ती फोड़ती तथा पृथ्वीतल की रूप रेखा को बदलती रहती हैं। यह शक्तियाँ एक बड़ी चक्की का काम करती हैं, जो कठोर से कठोर चट्टानों को भी पीसकर चूर्ण बना देती हैं। इसी से नवीन चट्टानों का निर्माण होता है।

निर्माण-कार्य किस प्रकार से होता है, इस सम्बन्ध में हम इस पर जरा विस्तार के साथ विचार करना चाहते हैं। चट्टानों के समस्त छोटे-बड़े टुकड़ों तथा बारीक कणों को वर्षा का पानी अपने साथ बहा ले जाता है और किसी नदी या नाले में जा डालता है। उनका कुछ भाग तो रास्ते ही में रह जाता है, शेष उस झील व समुद्र में पहुँच जाता है, जिसमें वह नदी जाकर मिलती है।

समुद्र या झील में पहुँचकर भी नदी का पानी बहुत दूर तक बराबर बहता चला जाता है, पर उसकी चाल क्रमशः धीमी पड़ती जाती है और अन्त में बिल्कुल रुक जाती है। पानी जो में कण तैरते होते हैं, अब पानी उन्हें उठाये नहीं रह सकता; इसलिये वह तली में बैठने लगते हैं। मोटे और भारी कण तो शीघ्र ही डूब जाते हैं, किन्तु, बारीक और हलके कणों को पानी बहुत दूर तक बहा ले जाता है। इसलिये वह कुछ आगे जाकर बैठते हैं; और बहुत ही बारीक कण, सब से पीछे, जब पानी की चाल बिल्कुल रुक जाती है, तली में बैठते हैं। इस प्रकार से वह कण समुद्र में बहुत दूर तक फैल जाते हैं और अलग अलग तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं; किनारे के निकट, जहाँ नदी समुद्र में दाखिल होती है, बहुत मोटे कण, उससे परे मोटा रेत, उससे परे बारीक रेत और फिर बारीक मिट्टी। मोटे कणों की अपेक्षा बारीक कण अधिक दूर तक फैल जाते हैं। कारण, कि वह धीरे-धीरे बैठते हैं और तह पर पहुँचने त॰ पानी उन्हें दूर तक बहा ले जाता है। बहुत बड़े क्षेत्र पर फैलने के कारण यह तह बहुत पतली होती है। कभी-कभी तो उसकी मोटाई इंच के १/१०० भाग से अधिक नहीं होती।

इन तलों की आकृति न्यूनाधिक फाने के समान होती है अर्थात् किन रे की तरफ तो वह मोटी होती है, और ज्यों-ज्यों किनारे से दूर होती जाती हैं, पतली होती चली जाती है। बहुत मोटे कण एकदम तली में बैठ जाते हैं, इसलिये उनका एक ढेर सा लग जाता है। और उस ढेर की ऊपर की सतह समुद्र के भीतरी भाग की तरफ़ खड़ी ढलान होती है उससे

आगे जो रेत की तह जमती हैं, उनकी आकृति भी फाने के समान होती है। अर्थात् पीछे से मोटी और आगे से पतली। चूंकि रेत बहुत दूर तक फैल जाती है इसलिये उसकी ऊपर की सतह उतनी ढालू नहीं होती और चिकनी मिट्टी की तह तो प्रायः समतल जैसी होती है; अर्थात् उनकी ऊपर और नीचे की सतहें समानान्तर जैसी रहती हैं।

पटल निर्माण (Lamination)—नदी में जब बाढ़ आती है तो वह अपेक्षाकृत बहुत अधिक रेत मिट्टी समुद्र में बहा ले जाती है; और धार तेज होने के कारण वह मवाद साधारण अवस्था की अपेक्षा समुद्र की तली में अधिक दूर तक फैल जाता है। इस प्रकार से प्रत्येक बाढ़ के अवसर पर रेत मिट्टी की एक बारीक तह फैल जाती है। बाढ़ वर्ष में प्रायः एक बार (वर्षा ऋतु में) आया करती है; अतः हर साल रेत मिट्टी की एक तह जम जाती है, जो किनारे की तरफ कुछ मोटी और मोटे कणों से बनी हुई और किनारे से दूर क्रमशः पतली और बारीक कणों से बनी हुई होती है। दूसरी बाढ़ आने तक पहली तह कुछ कठोर हो जाती है, इसलिए यह तहें आपस में मिल करके एक नहीं हो जातीं, वरन् जुदा-जुदा रहती हैं और दीर्घ काल के पश्चात्, जब इन तहों का एक मोटा थर बन जाता है और वह पानी से बाहर आकर सूख जाता है; तो यद्यपि वह कठोर चट्टान बन जाती है, तो भी वह पतली पतली तहें सुगमता से अलग-अलग की जा सकती हैं। यह तहें कभी-कभी तो कागज के समान पतली होती है और लेमिनी (Laminae) कहलाती हैं। हम इन्हें पटल के नाम से पुकारेंगे। ऐसी तहदार (पटल वाली) मिट्टी को अँग्रेजी में (Shale) कहते हैं। हम इसे खपरैली मिट्टी कहेंगे।

पटल अपने रंग तथा बनावट में कभी २ तो समान होते हैं, पर कभी २ उनमें थोड़ा भेद भी पाया जाता है। बड़े २ नदों में कितनी ही सहायक नदियाँ आकर मिला करती है, जो भिन्न २ प्रान्तों से आती हैं। उनसे जो मिट्टी बह कर आती है, वह भिन्न २ प्रकार की हो सकती है; किसी में लाल, किसी में काली, किसी में श्वेत और किसी में भूरी। यदि उन सब में एक साथ बाढ़ आजाये, तब तो मिली जुली मिट्टी की तह समुद्र की तली में फैलेगी, किन्तु बड़ी नदियों, जैसे अमेजन (Amazon) वा मिसी-सीपी (Mississippi) की सहायक नदियों में अलग २ मौसमोमें बाढ़ आती है और प्रत्येक नदी अपने बाढ़ के अवसर पर विशेष प्रकार की मिट्टी समुद्र में पहुँचाती है; इसलिये तरह २ की मिट्टी के पटल क्रमशः एक दूसरे के उपर जमते चले जाते हैं। कभी २ पटलों के केवल रंगों में भेद न होकर उनके मवादों में भी भेद होता है। जैसे कोई सहायक नदी रेत बहा कर लाती है, कोई मिट्टी और कोई चाक व चूना। इस अवस्था में ये पटल भी भिन्न २ प्रकार के हो सकते हैं। कभी २ एक पटल बारीक मिट्टी का और एक रेत का होता है। इसका कारण यह है, कि साधारण अवस्था में समुद्र के जिस भाग में केवल बारीक मिट्टी ही पहुँच सकती है, बाढ़ के समय वहाँ बारीक रेत पहुँच जाता हैं। इससे मिट्टी की तह के ऊपर एक रेत की तह जम जाती है। दरिया नील प्रत्येक बाढ़ के समय बहुत सारी बारीक मिट्टी समुद्र में पहुँचा देती है और अन्य दिनों में आंधियाँ बहुत सा रेत उड़ा २ कर समुद्र में गिराती रहती हैं। इससे चिकनी मिट्टी की तह के ऊपर रेत की एक पतली तह जम जाती है इस प्रकार वहाँ चिकनी मिट्टी और रेत के पटल बारी-बारी से बनते रहते हैं।

थरों की रचना। (Stratification)—इसी प्रकार से सैकड़ों वर्षों तक पटल के ऊपर पटल जमते चले हैं और मोटे मोटे थर बन जाते हैं। यह थर अनेक कारणों से कठोर हो जाते हैं। फिर किन्ही कारणों से जल-स्थल की स्थिति में कुछ ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं, कि उन थरों के ऊपर किसी और प्रकार के थर जमने लगते हैं। इस बात को यों समझो, कि दरिया जो मवाद बहा कर लाता है, उसके मोटे और भारी कण तट के निकट ही तली में बैठ जाते हैं। समुद्र उस स्थान पर बहुत कम गहरा तो होता ही है. इस लिए थोड़े समय के पश्चात् ही समुद्र का वह भाग मवाद से भर जाता है और वह भाग स्थल के

रूप में परिवर्तित हो जाता है। अब नदी को कुछ आगे बढ़ कर समुद्र में मिलना पड़ता है, इसलिए अब मोटा मवाद—रोड़े आदि पहले की अपेक्षा कुछ आगे जाकर समुद्र में पड़ते हैं; और उस स्थान पर समुद्र में बैठते हैं, जहाँ पहले मोटे रेत का थर जमा हुआ होता है। इसी तरह मोटा रेत बारीक रेत के थर के ऊपर और बारीक रेत चिकनी मिट्टी के थर के ऊपर जाकर जमता है। चिकनी मिट्टी की तहें उससे भी आगे बढ़ जाती हैं। इस प्रकार से यह दूसरे थर पहले थरों की अपेक्षा अधिक मोटे मवाद से बनते हैं। कुछ काल पश्चात् समुद्र का किनारा कुछ और आगे बढ़ जाता है और इस प्रकार से थरों के स्थान फिर बदल जाते है। इस तरह जो थर बनते है उनके नीचे चिकनी मिट्टी-शैल का थर, उसके ऊपर बारीक रेत का, फिर मोटे रेत का और सब के ऊपर रोड़ों और बटियों का थर होता है।

किसी किसी स्थान पर समुद्र की तली नीचे को खिसकती रहती है। इस अवस्था में किनारा पीछे को हटता जाता है, और नदी पहले की अपेक्षा बहुत पीछे समुद्र में मिलने लगती है, और मोटा मवाद, रोड़े आदि पहले ही तली में बैठ जाते हैं और जिस स्थान पर पहले रोड़ों का थर जमा हुआ है वहाँ पर मोटे रेत की तहें; मोटे रेत के थर के ऊपर बारीक रेत की तहें, और बारीक रेत के थर के ऊपर मिट्टी की तहें लगती हैं। इस प्रकार थरों का क्रम बिल्कुल उलट जाता है। अर्थात् नीचे मोटे कणों के थर होते है और ऊपर ऊपर क्रमशः बारीक कणों के थर जमते चले जाते हैं।

यहाँ उदाहरण के लिए दो प्रकार वर्णन किये गये हैं। सृष्टि में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। जल की जगह स्थल और स्थल के स्थान पर समुद्र बन जाता है। नदियों के रुख पलट जाते हैं, ऐसे ही अनेक कारणों से एक प्रकार के थरों के ऊपर दूसरी प्रकार के थर जमते चले जाते हैं।

समुद्र के अधिक गहरे भागों की तलछटें—केवल नदियाँ ही मवाद बहा कर नहीं ले जाती वरन समुद्र की लहरों के टकराने से समुद्र के किनारे पर खड़े हुए ऊँचे ऊँचे करारे भी टूट-टूट कर समुद्र में गिरते रहते हैं। इसलिए समुद्र के ऊँचे तटों के साथ साथ प्रायः सब जगह रोड़ों और बटियों का ढेर मिलता है। इन रोड़ों के परस्पर रगड़ने से जो रेत बनता हैं, वह तट के पास पास उस भाग पर फैल जाता है, जिस पर समुद्र का पानी ज्वार भाटे के कारण चढ़ता और उतरता रहता है। वह भाग रेती (Beach) कहलाता है बारीक रेत कुछ और आगे बढ़ जाता हैं और बारीक मिट्टी तो समुद्र तट से प्रायः ७० या ८० मील दूर तक फैल जाती है और कहीं कहीं तो ३०० मील की दूरी तक पहुँच जाती हैं; पर इससे आगे समुद्र के गहरे भागों में, जहाँ पानी में किसी प्रकास की भी हलचल नहीं पाई जाती, रेत वा मिट्टी (कोई भी स्थलीय पदार्थ) कुछ भी नहीं पहुंच सकता। वहाँ जो तलछट जमती है, वह बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती है। समुद्र की थाह लेने वाले जहाज़रानों ने मालूम किया है कि समुद्र के इन भागों में एक प्रकार का मलाई के से रंग का अत्यन्त चिपचिपा कीचड़ पाया जाता है, जो अनेक प्रकार के नन्हें-नन्हें समुद्री कीड़ों के शवों से मिलकर बनता है। यह कीट फॉरमीनिफरा (Foraminifera) कहलाते हैं। यह समुद्र के पानी की सतह पर तैरते फिरा करते हैं और मर कर तली में बैठ जाते हैं। फॉरमीनिफरा की एक प्रसिद्ध जाति, जो बहुतायत से पाई जाती है, ग्लोबीजेरिना (Globigerina) कहलाती है और उनके शवों से जो कीचड़ बनता है, वह ग्लोबीजेरिना ऊज़ (Globigerina Ooze) कहलाता है। इन प्राणियों के पिंजर चूने के कारबोनेट से बने होते हैं इसलिए इस कीचड़ के कठोर होने पर एक प्रकार की चूने की चट्टानें बन जाती हैं, जो चॉक (Chalk) के समान होती हैं।

ग्लोबीजेरिना ऊज़ २५०० फेदम से अधिक गहराई पर नहीं पाया जाता। इस से परे एक और प्रकार का कीचड़ मिलता है, जो शैलफिशेज़ (Shellfishes) के शवों से बनता है। यह प्लेरोपोड (Pleropode) भी कहलाती

है। यह भी समुद्र के ऊपर तैरती रहती है; और मरने के पश्चात तली में बैठ जाती है।

एक और प्रकार का कीचड़, जो दक्षिणी ध्रुव के आस पास के समुद्रों में पाया जाता है, एक प्रकार के नन्हें २ पौधों से, जो डाईटम (diatom) कहलाते हैं, बनता है; और डाईटम ऊज़ (Diatom Ooze) कहलाता है। इन पौधों के ढाँचे लगभग शुद्ध सिलिका (Silica) से बने हुए होते हैं।

समुद्र के और भी अधिक गहरे भागों में एक प्रकार की बारीक लाल मिट्टी (Red Clay) पाई जाती है। यह ज्वाला मुखी पर्वतों से निकलने वाली बारीक गर्द, गले हुए प्यूमिक (Pumice) एक प्रकार के स्पंज के समान हलके चट्टानी टुकड़े जो ज्वाला मुखी से निकलते और समुद्र में दूर तक बहते चले जाते हैं और अन्त में गल कर रेजे २ हो जाते हैं और तली में बैठ जाते हैं, के कणों से बनी हुई होती है। समुद्र के इन भागों में फारमीनिफरा और प्लेरोपोड्स नहीं पहुँच पाते, क्योंकि २१०० फेदम की गहराई तक पहुँचते २ चूने का कारबोनेट, जिस से उन के शरीर बने होते हैं, समुद्र के पानी में हल हो जाता है। किन्तु एक और नन्हे २ प्राणी होते हैं, जो रेडियो लेरिया (Radiolaria) कहलाते हैं। उनके पिंजर वहाँ तक अवश्य पहुँच जाते हैं, क्योंकि वह सिलिका से निर्मित होते हैं और इसलिये पानी में विलय (हल) नहीं हो सकते। अतः, इस लाल मिट्टी में रेडियो लेरिया के पिंजर भी मिले हुए पाये जाते हैं। ज्यों-ज्यों गहराई बढ़ती जाती है, लाल मिट्टी में रेडियोलेरिया के पिंजरों की संख्या बढ़ती चली जाती है और अन्त में केवल रेडियोलेरिया के पिंजरों से बना हुवा कीचड़ ही रह जाता है, जो रेडियोलेरिया-ऊज (Radiolaria Ooze) कहलाता है। इस प्रकार से गहरे समुद्रों में जो भी तलछट जमती है वह लाल मिट्टी (Red clay) को छोड़ कर शेष सब चूने के कार्बोनेट वा सिलिका से संयुक्त होती है, जो समुद्र में रहने वाले नन्हें-नन्हें प्राणियों वा बनस्पतियों द्वारा समुद्र के पानी में से पिंजरों के रूप में एकत्रित की जाती हैं। यह दोनों पदार्थ वर्षा, चश्मों और नदियों के पानी में घुल मिल कर समुद्र में पहुचते हैं। यह प्राणी तथा पौदे उन्हें चूस लेते हैं और उन से अपना पिंजर तय्यार करते हैं और उन के मरने पर वह पिंजर तली में बैठ जाते हैं।

झीलों की तलछट—ऊपर हमने, समुद्र की तली में किस प्रकार से चट्टानों के थर जमते है, वर्णन किया है। अब यह देखना है कि झीलों तथा स्थल से घिरे हुए समुद्रों में तलछट किस प्रकार से जमती है। समुद्र की भाँति झीलों में भी स्थान-स्थान पर नदियाँ आकर मिलती हैं,वह भिन्न-भिन्न प्रकार की चट्टानों पर से गुजरती हैं और वह भिन्न-भिन्न प्रकार का मवाद बहाकर लाती हैं। मोटा मवाद तो किनारों के निकट ही तली में बैठ जाता है, जिससे प्रत्येक नदी के मुहाने के पास डेल्टा बन जाता है; और बारीक मवाद झील की तली में दूर तक फैल जाता है। कोई नदी अधिक मवाद बहा कर लाती है और कोई कम, उनकी गति भी भिन्न-भिन्न होती हैं, और उनमें बाढ़ भी भिन्न-भिन्न समयों में आती है, इसलिये किसी नदी द्वारा बिछाये हुए मवाद की तह मोटी होती है और किसी की पतली; किसी का मवाद अधिक दूर तक फैल जाता है और किसी का कम दूर तक; और इन तहों की आकृति भी न्यूनाधिक फाने के आकार की होती है—अर्थात् किनारे की तरफ मोटी और अन्दर की तरफ पतली। चूँकि झील का विस्तार समुद्र के समान बहुत अधिक नहीं होता, इसलिये यह तहें एक दूसरी के ऊपर तले फैल जाती हैं। जैसे मानलो एक नदी पूर्व से आकर मिलती है। उसके मवाद की तह पूर्व से पश्चिम को फैलती चली जायेगी। दूसरी नदी पश्चिम से आती है, उसके मवाद की तह पूर्व दिशा में फैलती चली जायेगी। इस प्रकार इन दोनों नदियों के डेल्टे तो जुदा-जुदा होंगे, पर उनके मवाद की तहों के पतले भाग ऊपर तले हो जायेंगे और सम्भव है उन दोनों तहों का मवाद रंग, आकृति तथा रासायनिक संयोग की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो। इसी तरह यदि दो से अधिक

नदियाँ गिरती हैं, तो उनके सम्बन्ध में भी ऐसा ही विचार कर लो। परिणाम यह निकला, कि झील के किनारों पर तो नदियों के दहानों के सामने पंखे की आकृति के डेल्टे बनते हैं और गहराई में बारीक मवाद की तहें एक दूसरे के ऊपर तलें जमती चली जाती हैं। यह तहें पतली-पतली होती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के मवादों से बनती हैं और उनके फैलने की दिशाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

यदि झील में, वा उसके किसी भाग में पानी उथला है, तो उसका पानी किसी-किसी समय सूख भी जा सकता है। तब उसकी तली में जो मिट्टी जमी हुई होती है, उस पर वर्षा की बूँदों के निशान बन सकते हैं, सूखने के कारण मिट्टी में दरारें पड़ सकती हैं तथा पक्षियों वा अन्य प्राणियों के पैरों के निशान भी बन सकते हैं। यह निशान कभी-कभी चट्टानों में सुरक्षित पाये जाते हैं और यह बताते हैं कि वह चट्टानें किन परिस्थितियों में बनी हैं।

जिन झीलों में नदियाँ आकर मिलती हैं और उनमें से निकलती भी हैं उनका पानी मीठा होता है। पर कुछ झीलों का पानी खारी भी होता है। उनमें नदियाँ आकर मिलती तो हैं, पर उनमें से निकलती नहीं हैं। ऐसी झीलें प्रायः गर्म देशों में होती हैं। उनमें नदियों द्वारा जितना पानी आकर मिलता है, वह वाष्प बनकर उड़ जाता है, पर पानी में जो अनेक प्रकार के नमक वा चूना आदि पदार्थ घुले होते हैं, वह वहीं रह जाते हैं; इससे उन झीलों का पानी अत्यन्त खारी हो जाता है। कुछ झीलें ऐसी भी हैं, जो समुद्र से कटकर अलग हो गई हैं; उनका पानी भी दिन प्रतिदिन सूखने के कारण अधिक-अधिक खारा होता चला जाता है। ऐसी झीलों में अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थों, जैसे नमक और जिप्सम आदि के थर जम जाते हैं।

चट्टानों का कठोर हो जाना (Hardening)-ऊपर हमने देखा कि स्थल पर से जो मवाद पानी के साथ बह कर झीलों और समुद्रों में पहुँचता है, उसके तली में आकर मोटे-मोटे थर जम जाते हैं। यही थर कठोर होकर चट्टान बन जाते हैं। रोड़ों और बटियों से रोड़ा (Conglomerate) बनती है, रेत से रेत का पत्थर (Sand stone), मिट्टी से शैल (Shale) और सन्द्रिक पदार्थों—घोंघों और उनके चूरे से चाँक वा अन्य प्रकार के चूने के पत्थर बन जाते हैं। अब हमें इस बात पर विचार करना है, कि थर कठोर कैसे हो जाते हैं।

१—भार (Prssure)—जब थर बहुत मोटा हो जाताता है, तो ऊपर की तहों का भार नीचे के तहों पर पड़ता है; इससे नीचे की तहें दब कर कठोर हो जाती हैं। तुमने मशीन द्वारा बनाई हुई रूई की गाँठे देखी होगी। रूई कितनी मुलायम होती है, पर मशीन में दब कर वह पत्थर के समान कठोर हो जाती है। ऐसा ही हाल चट्टानों का है। अन्दाजा लगाया गया है कि यदि किसी थर की मोटाई १०० फीट हो, तो सब से नीचे के पटल पर उसका भार आधा टन प्रति वर्ग इंच होता है, कभी २ थरों की मोटाई कई सौ फीट होती है, इस दबावों से थरों के बीच का पानी निचोड़ा जाता है और कण परस्पर सट जाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि नीचे की चट्टानें अधिक कठोर और ऊपर की चट्टाने क्रमशः नर्म रहती हैं।

२—पार्श्वभागीय दवाव (Lateral Pressure,—कभी २ दवाव पहलुओं की तरफ से पड़ता है। इससे थर सुकुड जाते हैं और दब कर अधिक कठोर हो जाते हैं। कभी कभी यह दवावो इतना अधिक होता है, कि उससे बहुत सा ताप उत्पन्न होकर कणों को कुछ पिघला देता है जिससे वह परस्पर भली प्रकार चिपक जाते हैं और कुछ २ रवेदार भी हो जाते हैं। पार्श्विक दवाव के कारण चट्टानों में एक विशेष दिशा में चिरने का स्वभाव भी पैदा हो जाता है। रूस और उत्तरी-अमेरिका में कुछ ऐसी चट्टानें पाई गई हैं, जो यद्यपि बहुत पुरानी हैं; परन्तु उनपर पार्श्विक दबाव न पड़ने के कारण वह उसी प्रकार समतल हैं जैसी वह बनते समय थीं। साथ ही वह ऐसी नर्म है, कि वह थोड़ी वर्षा में भी कीचड़ बन जाती हैं। यह कीचड़ की चट्टानें (Mud stones) कहलाती हैं, इसके

विरुद्ध आल्पस (Alps) पर्वत में कुछ ऐसी चट्टानें पाई जाती हैं, जो बहुत नवीन होने पर भी अत्यन्त कठोर और उनमें कुछ रवेदार भी हैं; और इसी कारण पहले वह पुरानी चट्टानें समझी जाती थीं। उनके कठोर होने का कारण उन पर पड़ा हुआ पार्श्विक दबाव ही है। यह चट्टानें बहुत ही मरोड़ी हुई सी हैं। इससे सिद्ध हुआ कि चट्टानों को कठोर बनाने में ऊपर के दबाव की अपेक्षा पार्श्विक दबाव अधिक काम करता है।

३-कणों को चिपकाने वाले पदार्थ (Cementing) जब हम दीवार बनाते हैं तो ईंटों के बीच में गारा वा चूना लगाते जाते हैं, जो सूख कर कठोर हो जाता और ईंटों को परस्पर चिपका देता है, इसी प्रकार समुद्र के पानी में भी कुछ ऐसे पदार्थ घुले होते हैं, जो नन्हें २ कणों के बीच में जम कर उन्हें परस्पर चिपका देते तथा कठोर चट्टान बना देते हैं, वह पदार्थ चूने के कारबोनेट (Carbonate of lime) और सिलिका (Silica) हैं। लोहे के आक्साइड्स (Oxides) और चूने के कारबोनेट ऐसे पानी में घुल हो जाते हैं, जिसमें कारबोनिक एसिड गैस घुला हुआ हो। यह पानी चट्टानी कणों के बीच में समा जाता है। धीरे-धीरे कारबोनिक एसिड गैस तो निकल जाती है और चूने के कारबोनेट तथा लोहे के आक्साईड कणों के बीच में जमकर उन्हें कठोर चट्टान में परिवर्त्तित कर देते हैं। प्रायः रेत के पत्थर इसी प्रकार बने हैं। यही कारण है कि जब प्रयोग-शालाओं में उनके उपर हाईड्रोक्लोरिक एसिड (Hydro-chloric acid) डाला जाता है, तो उन के कण जुदा २ होकर बिखर जाते हैं। सिलिका शुद्ध पानी में घुल नहीं पाता, किन्तु जिस पानी में पोटाश (Potash) वा सोडा (Soda) मिला रहता है, उसमें घुल जाता है। और पानी का तापक्रम गिर जाने वा किसी रासायनिक परिवर्तन के कारण फिर जम जाता है। उछलने वाले स्रोतों (Gushers) और गर्म चश्मों से जो पानी निकलता है, उसमें कुछ न कुछ सिलिकायुक्त पदार्थ घुले हुए होते हैं, जो बाहर आकर चश्मे के आस पास कठोर चट्टान के रूप में जम जाते हैं।

समुद्र के पानी में भी कुछ न कुछ सिलिका घुला हुआ होता है, वह पानी रेत के थरों में घुस जाता है, और उन्हें कठोर चट्टान बना देता है। यह चट्टानें चूने के कारबोनेट्स द्वारा बनी हुई चट्टानों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ (durable) होती है।

लोहे वा मेगनेशिया (Magnesa) के कारबानेट, चूने वा बेरियम के सल्फेट (Sulphates of lime or Barium) तथा कुछ सिलिकेट्स (Silicates) भी समुद्र के पानी में पाये जाते हैं, जो सीमेंट का काम देते हैं। कभी दो या अधिक घोल (Solutions) परस्पर मिल जाते हैं और रासायनिक परिवर्तन के कारण जम जाते हैं और सीमेंट का काम देते हैं। रोड़ों वा रेत के कणों के बीच में मिली हुई चिकनी मिट्टी का कीचड़ भी सूखने पर सब को चिपका कर कठोर चट्टान बना देता है।

चट्टानें भिन्न-भिन्न रंगों की होती हैं। इन रंगों का कारण भी प्रायः यह भिन्न-भिन्न प्रकार के सीमेंट ही हैं; विशेष करके उन चट्टानों में जो रंग रहित बिल्लोरी कणों या श्वेत चीनी मिट्टी से बनी हुई होती हैं। जिन चट्टानों में लोहे का ऑक्साईड मिला रहता है, उनका रंग पीला, भूरा व लाल होता है। लोहे का कारबोनेट चट्टान को नीला रंग देता है, चूने का कारबोनेट सफेद, पीला पीलापन लिए हुए गुलाबी (Pale pink) या भूरा; (grey) और मैंगनीज के नमक (Salts of Manganese), गुलाबी, बैंगनी और लाल। कभी-कभी किसी चट्टान का विशेष रंग उस रंग के कणों की प्रबलता के कारण भी होता है। जैसे कार्बन (Carbon) के कणों की अधिकता के कारण चट्टान का रंग काला हो जाता है, ऑगेट (Augite) वा हार्नब्लेंड (Hornblend) के कारण हरा इत्यादि।

४—उष्णता (Heat)-कच्ची मिट्टी के बर्तन सहज में ही टूट जाते और पानी में फैल जाते हैं। पर जब उन्हें

आग में पका लिया जाता है तो अधिक कठोर हो जाते और पानी में भी नहीं फैलते हैं। पृथ्वी के गर्भ में बहुत सी अग्नि भरी हुई है। कभी-कभी चट्टानें जमीन के भीतर धँस जाती हैं और बहुत गहराई में उतर जाती हैं। तब वह भीतरी गर्मी से पक कर अधिक कठोर हो जाती हैं उनके कण पिघल कर परस्पर मिल जाते हैं और उनमें रवे भी पैदा हो जाते हैं। कभी-कभी पिघला हुआ गर्म मवाद (लावा) पृथ्वी के गर्भ से निकल कर चट्टानों के मध्य में आ फसता है और वहीं धीरे-धीरे ठंडा होता रहता है। उसकी गर्मी से भी आसपास की चट्टानें पिघल कर कठोर हो जाती है। ज्वालामुखी पर्वतों से जो लावा निकलता है, वह भी, उन चट्टानों को, जिन पर से वह गुजरता है, पका कर अधिक कठोर बना देता है। अधिक दबाव के कारण भी गर्मी पैदा हो जाया करती है।

कंकर बनाना (Concretions) कभी-कभी चट्टानों के बीच में गोल-गोल वा बेढंगी शक्ल की गांठे वा गुठलियाँ सी पाई जाती हैं जो कंकर (Concrete) कहलाती हैं, यह रोड़ों और बटियों से बिल्कुल भिन्न पदार्थ है, क्योंकि, रोड़े और बटियाँ तो चट्टानों के टूटने और घिसने से बनती है, किन्तु कंक्रीट, जिस समय वह चट्टान, जिनके बीच में वह पाये जाते हैं, बन रही थी, उसी समय विशेष मवादों के इकट्ठा होकर जम जाने से बनते है, क्योंकि कभी-कभी चट्टानों की तहों की रेखाएँ उनके बीच में से गुजरती हुई देखी जाती हैं। इन की आकृति कभी तो गोल सी होती है और बेढंगी; पर उनके सिर सर्वदा गोल मटोल होते हैं, अर्थात् उन के कोने और किनारे नहीं होते। प्रत्येक के मध्य में कोई एक नन्हा सा घोंघे का टुकड़ा वा रेत का कण होता है, जिस के गिर्द गाँठ बनती है। किसी-किसी में प्याज के समान छिलके से तले ऊपर चढ़े होते हैं। कंक्रीट की तहें प्रायः चट्टान की तहों की समानान्तर पाई जाती हैं।

यह गाँठे प्रायः उन्हीं पदार्थों से बनती हैं, जो चट्टानों को कठोर बनाने में सीमेंट का काम देते हैं। चॉक की तहों में चकमक पत्थर और एक अन्य प्रकार की चूने की चट्टानो में चर्ट (Churt) की गाँठें मिलती हैं। और यह दोनों ही पदार्थ सिलिका से बनते हैं। इसी तरह चिकनी मिट्टी की तहों में क्ले आयरन स्टोन (Clay iron stone) की गाँठें पाई जाती हैं, जो मिट्टी मिले हुए लोहे के कारबोनेट से बनी होती हैं।

यह गाँठें कैसे बन जाती हैं। इस बात का अभी तक पूरा २ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है। ऐसा विचार किया जाता है, कि जब इन पदार्थों के कुछ कण, किसी रेत के कण वा किसी घोंघे के टुकड़े के गिर्द चिमट जाते हैं, तो वह अपनी समान जाति के कणों को अपनी तरफ खींचते रहते हैं और इस प्रकार से एक बड़ी गाँठ बनती चली जाती है। कुछ विद्वानों का कहना है, कि चट्टानों की तहों के बीच में कुछ न कुछ पानी रहता ही है; वह पानी जब अपने घुलनशील पदार्थों को छोड़ने लगता है, तो वह पदार्थ छोटे २ कणों के गिर्द गाँठ के रूप में एकत्रित हो जाते हैं।

एक प्रकार की गाँठें भीतर से खोखली होती हैं और उनके अन्दर रवे होते हैं, जिनकी नोंकें केन्द्र की तरफ रहती हैं। इन के ऊपर पर्त चढ़े रहते हैं। इनके बनने की रीति भिन्न प्रतीत होती है। ऐसा मालूम होता है कि चट्टानों के भीतर छोटे २ गढ़े रह जाते हैं, उनमें पानी भरा रहता है; जब वह सूखने लगता है, तो उसमें घुला हुआ मवाद गढ़े के भीतरी दीवारों पर जमने लगता है और भीतर की तरफ तह पर तह जमती चली जाती है, और अन्त में रवे भी बन जाते हैं।

एक प्रकार का चूने का पत्थर होता है, जिसको तोड़ने से उसके अन्दर नन्ही २ गोल २ कंकरियाँ निकलती हैं जो मछली के अण्डों के समान होती हैं। कभी २ यह कंकरियाँ मटर के दाने के बराबर पाई जाती है। पहली सूरत में वह ओलाइट स्टोन (Oalite stone) व रोस्टोन (Roestone) और दूसरी सूरत में पीस्टोन (Peastone) कहलाता है। इन कंकरियों के मध्य में भी कोई रेत का कण वा घोंघे का टुकड़ा अवश्य होता है, जिसके ऊपर चूने के कारबोनेट के पर्त तले ऊपर लिपटे रहते हैं।

जेट-संचालित वायुयान

लेखक—जगपति चतुर्वेदी

समय और दूरी पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य सदैव से ही प्रयत्नशील रहा है, जेट-वायुयान की गति का अनुमान लगा कर तो मनोरंजन और विस्मय की मिश्रित भावना ही होती है ?

आज-कल के नवीन आविष्कारों में जेट-संचालित वायुयानों और उनकी सम्भाव्य गति की बड़ी चर्चा सुनी जाती है। उनकी शक्ति का प्रारम्भिक नमूना हम कई वर्षों से हवा में उड़ते भी पाते हैं किन्तु वैज्ञानिकों की इस घोषणा से कि इस नई शक्ति से सैकड़ों नहीं, बल्कि हजारों मील प्रति घंटे की चाल से चलने वाले वायुयान ही भविष्य में उड़ते दिखाई पड़ेगें, हम कुछ चौंके से जाते हैं। कुछ सौ मील से अधिक चाल की सवारियों को धरती पर वा समुद्र-तल पर चलने की तो कभी संभावना नहीं की जा सकती, इतनी तीव्र चाल के लिए कभी मार्ग साफ रहना संभव नहीं हो सकता, इस कारण वायु में ही अधिक तीव्र चाल के यानों की चर्चा करते हुए भविष्य में केवल जेट का ही सहारा लेने की बात की जाती है। हम यहाँ पर संक्षेप में और सरल रूप में यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि जेट-संचालित इंजिन का क्या अर्थ है और उसकी सफलता की ही अधिक संभावना क्यों है। परमाणु शक्ति की बहुत प्रचंडता के कारण उससे हमारे दैनिक जीवनोपयोगी किसी यंत्र के चलाने की अभी कोई परीक्षा नहीं हो सकी है। अतएव हम आधुनिक युग के सबसे तीव्र गति के इस व्यावहारिक जेट-संचालित इंजिन की मनोरंजक कथा पाठकों के ज्ञानवर्द्धन के लिए दे रहे हैं।

आज से दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए होंगे जब मिस्र देश में सिकंदरिया नगर के हीरो नामक एक चतुर व्यक्ति ने भापकी शक्ति से चलने वाला एक खिलवाड़ बनाया था। उसका लिखित वर्णन अब तक उपलब्ध है। इस व्यक्ति के खिलवाड़ का रूप आसानी से समझा जा सकता है। एक कोई गोल बर्तन ले लीजिए जो चारों ओर से बन्द हो। इसको इस प्रकार रखिए कि इसमें कहीं से भाप पहुँचाई जाय तब भी यह नाच वा घूम फिर सकता हो। दो नली खंभे की भाँति खड़ी कर उनके बढ़े हुए भाग वा टोंटी की तरह झुके सिरे में यह खोखला गोला दोनों ओर से संबंधित कर दिया जाय तो भाप भी उन नालियों से इसके अन्दर जा सकती है और गोला घुमाया जा सकता है। अब इस गोले में दो या अधिक टोटियाँ ऐसी लगाइए कि उनका मुँह आगे या पीछे की ओर एक सा ही मुड़ा हो। जब इस खोखले गोले या बन्द गोल बर्तन में भाप पहुँचाई जायगी तो वह खुले मुंह की इन टोटियों से बाहर निकलेगी। सब टोंटियों से एक साथ ही एक ही ओर भाप बाहर निकलने से गोला उस ओर घूमकर चक्कर मारने लगेगा। यह एक मामूली खेल सी बात है।

हीरो का खोखला गोला इतनी मामूली विधि से नाचता था। यदि हम कहें कि सिकंदरिया के हीरो नाम के एक

विद्वान ने आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व जेट-संचालित इंजिन का सर्वप्रथम सफल प्रयोग कर जेट-शक्ति का आविष्कार किया था तो आप कुछ स्तंभित से होंगे किन्तु उसका साधारण रूप ऊपर लिखे प्रकार ही था।

प्रकृति में ऐसे जल जन्तु पाए जाते हैं जो किसी तरह अपने पेट में चौड़े मुंह या गलफड़े से अधिक पानी भर कर फिर बाहर का मुंह बन्द कर किसी पतले छिद्र से दूसरी ओर जोर से उस पानी की पतली धार फेंकते हैं। इस पानी के ऊपर पेट के अंदर अपनी पेशियों से दबाव डालकर वे जो पतली धार फेंकते हैं उसके वेग से उनका शरीर अपने आप उस ओर ढकेल जाता है जो धार फेंकी जाने की उलटी दिशा होती है। जेट-संचालित प्राकृतिक इंजिन का यह अनुपम नमूना है। इस यंत्र का किसी मनुष्य को आविष्कार नहीं करना पड़ा था।

इस प्रकार हमने समझ लिया कि जेट का अर्थ धार या किसी टोंटी वा पतली नली से जोर से फेंकी जाने वाली पानी वा किसी तरल वस्तु की धार वा भाप वा हवा की भाँति किसी वायव्य पदार्थ की तेज पतली फूंक है और उसके तेज़ी से फेंके जाने के कारण गति उत्पन्न होती है। परन्तु देखने में इतनी सरल बात का भी हमें आज तक कुछ विशेष ज्ञान न था और हीरो के उस पुराने प्रयोग को भी हम भूल चुके थे। हम यहाँ पर मनुष्य-आविष्कृत इंजिनों के सभी प्रकारों का विवरण देकर उनकी जेट-संचालित इंजिन से तुलना नहीं कर सकते, फिर भी अन्य प्रकार के इंजिनों का बहुत सूक्ष्म परिचय देना अत्यंत आवश्यक है। पनचक्की वा हवा चक्की का हम सब ने नाम सुना होगा। ये पुराने आविष्कार कहे जा सकते हैं। पानी की धारा किसी नहर वा नाले से ऊँचाई से लाकर एक जगह नीचे गिराकर उस वेग से पनचक्की के चलाने के लिए एक पहिया घुमाया जाता है। पहिए में चौड़ी चौड़ी अनेक पट्टियाँ लगातार लगी होती हैं। एक पट्टी पर पानी गिरकर उसे थोड़ा नीचे खिसका सका, तब तक दूसरी पट्टी सामने आगई। उसके तनिक खिसकते ही तीसरी चौथी पट्टी आती गई और पहिया नाचने लगा, चक्की चलने लगी। उसी तरह हवा के झोंके से हवा चक्की में ऊपर लगी लंबी लंबी पट्टियां धक्के खाकर घूमते घूमते ऊपर का पहिया घुमाती हैं और उससे नीचे का पम्प या कोई कल चल सकती है। इन्हीं सिद्धान्तों पर भाप की धार फेंकते जाकर पहिए घुमाते जाने से भारी से भारी शक्ति के इंजिन तीव्र गति से चलते हैं जिनको चक्र इंजिन वा टरबाइन कहा जाता है। किन्तु गैस या भाप के टरबाइन वा चक्र इंजिनों के प्रचंड इंजिनों के पूर्व कुछ और स्थूल रूप के इंजिन बने थे। उन्हें सिलिंडर और पिस्टन वाला इंजिन कहते हैं।

पम्प य पिचाकारी में खोखली नली में एक डंडे के सिरे पर कपड़े, सन, चमड़े या रबड़ की गद्दी लगी होती है। वह सिरे पर गद्दी लगा हुआ डंडा पिस्टन और नली को सिलिंडर समझ सकते हैं। इंजिन के सिलिंडर में पिस्टन को ऊपर खिसकाने के लिए भाप पहुँचाई जाने से भाप फैल कर उसे ऊपर या आगे फेंकती है और इसी पिस्टन पर ऊपर की ओर से भाप की शक्ति से दबाव डाल कर उसे नीचे या पीछे की ओर फेंकती है। भाप का फैलाव पानी की अपेक्षा १६ सौ गुना अधिक होने से उसका दबाव इतना काम करता है। मोटरों या गैस इंजिनों में पेट्रोल, मिट्टी का तेल वा कोयले की गैस को हवा के संयोग से विस्फोटक बनाकर बिजली की लुत्ती से उसमें धड़ाका उत्पन्न करते हैं। इस धड़ाके से पिस्टन आगे ढकेला जाता है। ऐसे इंजिनों में सिलिंडर के अन्दर ही शक्ति उत्पन्न करने वाला विस्फोट पैदा किया जाता है, इस कारण ऐसे इंजिनों को अंतर्दाह्य (इंटरनल कम्बशन) इंजिन या भीतर ही भीतर जलकर शक्तिउत्पन्न करने वाला इंजिन कहते हैं। इसमें पानी और कोयले के भारी भंडार की जगह हल्के पदार्थ ही रखने पड़ते हैं जो सुविधा उत्पन्न करते हैं। बिजली की मोटर की चर्चा हमें यहाँ पर करने की इसलिए आवश्यकता नहीं कि ऐसा कोई यंत्र वा साधन अभी तक बना ही नहीं जो बोझ के हिसाब से भारी शक्ति उत्पन्न करने वाला होने से जहाज या हवाई जहाज आदि सवारियों के

काम आ सकता हो जो भूतल से दूर चलने के लिए विवश होते हैं।

बिजली को छोड़कर इन सब इंजिनों की चरम उन्नति हमारे वैज्ञानिकों ने आज करली है। यह विज्ञान की एक भारी सफलता है। चरम उन्नति कैसे कही जा सकती है उसका एक प्रबल तर्क आज के वैज्ञानिक देते हैं। हम जानते हैं कि शब्द वायु के परमाणुओं के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते रहते हैं। वायु के परमाणु निरंतर भगदड़ मचा कर दूर भागते ही रहते हैं, किन्तु असंख्य परमाणुओं के सब ओर जमघट से वे सदा एक दूसरे से टकराते हुए कुछ दूर तक ही जा सकते हैं। इन भगदड़ मचाते रहने वाले वायु के परमाणुओं से ही शब्द दूसरे स्थान पर अनुभव किया जाता या सुना जाता है। अतएव गणना कर वैज्ञानिकों का यह निश्चित मत है कि वायु के परमाणु या शब्द की गति ११०० फीट प्रति सेकंड अर्थात् ७६ मील प्रति घंटे के लगभग होती है। एक प्रकार से पार्थिव पदार्थों की गति इस सीमा तक ही हो सकती है; अतएव भाप वा गैस के सिलिंडर-पिस्टन वाले साधारण वा अंतर्दाह्य (इन्टरनल कम्बशन) इंजिन वा चक्र इंजिन (टरबाइन) भी अपने साधनों को ७६० मील प्रति घंटे वा ११०० फीट प्रति सेकंड से अधिक कभी नहीं कर सकते हैं।

इन असुविधाओं का सामना करने की सामर्थ्य ऐसे ही इंजिन पर हो सकती है जो किसी पदार्थ की शक्ति पर निर्भर न हो। ऊपर बताए सब इंजिन गैस वा भाप की विस्तार-क्रिया से चलते हैं इसलिए उन्हें 'क्रिया' (ऐक्शन) चालित इंजिन कह सकते हैं किन्तु जेट-शक्ति में जेट वा गैस की धारा तो अपनी क्रिया बाहर करती है जिसका कोई सीधा प्रभाव इंजिन पर नहीं पड़ता बल्कि उससे जो एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है उसी से इंजिन आगे की ओर जोर से बढ़ता है। इस प्रतिक्रिया के उपयोग के कारण ही वायु के परमाणुओं की सीमित शक्ति का जेट-संचालित इंजिन पर प्रभाव नहीं पड़ता।

जेट-संचालित वायुयान में आगे नाचने वाले चक्के या प्रापेलर की जरूरत नहीं होती। इंजिन में भी सिलिंडर, पिस्टन वा टरबाइन के चक्कों आदि की कोई जरूरत नहीं होती। केवल साधारण इंजिन से आगे से आनेवाली हवा को किसी स्थान में बन्द कर उस पर दबाव डालने वाले इंजिन की आवश्यकता होती है। यह दबाई हुई (कम्प्रेस्ड) हवा एक दूसरे खाने में जाकर वहाँ के तेल वा पेट्रोल की गैस से टकरा कर उस में भयानक विस्फोट पैदा करती है। यह विस्फोट हवा और इस गैस के मिश्रण का बहुत अधिक विस्तार कर देता है जिससे वह पीछे के छिद्रों वा पतली नालियों से बड़े वेग से बाहर निकलता है। इस से भारी धक्का उत्पन्न होकर वायुमान को जोर से आगे ढकेलता है। यह जेट-संचालित वायुयान के इंजिन का रूप है।

इन क्रांतिकारी सिद्धान्तों पर बने हुए वायुयान द्वितीय महायुद्ध के अंतिम दिनों में ब्रिटेन के वैज्ञानिकों ने बनाकर उड़ाए भी थे; किन्तु इन्हीं आविष्कारों को अपनाकर अब रूस द्वारा बनाए हुए जेट-शक्ति संचालित तीव्र वायुयानों के कोरिया युद्ध में सक्रिय भाग लेने की चर्चा सुनी जा रही है। अभी ये युद्ध के आविष्कार माने जाकर भिन्न-भिन्न देशों में कुछ दिनों तक गुप्त रूप से ही विकसित होते रह सकते हैं, परन्तु शान्ति के उपयोग के लिए भी इस प्रचंड शक्ति से चालित वायुयान हमें दैनिक जीवन में स्थान पाते दिखाई पड़ेंगे। एक अंग्रेजी वायुयान कम्पनी द्वारा भारत होकर उड़ान मार्ग में ऐसे ही एक वायुयान के नियमित रूप से उड़ाए जाने की घोषणा भी हो चुकी है। अभी प्रारम्भ काल में ५००,६०० मील ही इनकी चाल कूती गई है, किन्तु गति का प्रचंड भविष्य अवश्य ही जेट-संचालित वायुयान में है।

—:०:—

फसल के शत्रु

ले० शंकरराम जोशी

प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेने से कहीं अधिक आवश्यक बात यह है कि फसल की रक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाय। फसल को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों से यहाँ परिचय कराया गया है।

मानव-समाज का हिताहित करने वाले सभी प्रकार के प्राणियों का समावेश आर्थिक-प्राणि-विज्ञान (Economic zoology) में होता है और आर्थिक-जन्तु-शास्त्र (Economic Entomology) इसी का एक अंग है। मानव-समाज का अहित करने वाले जन्तु, इन जन्तुओं का विनाश करने वाले कीट आदि; और मानव-समाज का अन्य रूप से हित-साधन करने वाले सभी प्रकार के जन्तु इसी के अन्तर्गत हैं। ये जन्तु फसलों और पालतू पशुओं को ही क्षति नहीं पहुँचाते हैं, वरन् सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र, इमारत में लगी हुई लकड़ी, अमूल्य फर्नीचर, अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ, कोठारों में भरे हुए नाज, साग-तरकारी आदि को नष्ट करके मानव-जाति को अत्यधिक क्षति पहुँचाते हैं।

मानव-समाज के लिए यह विज्ञान अत्यधिक महत्व का है और वैज्ञानिक-कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में जन्तुओं के करतबों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य सा हो गया है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि-व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता है। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रखी गई पैदावर को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी कृषि-व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के हेतु आवश्यक है।

कीड़ों और रोगों द्वारा किए जाने वाले नाश को रोकने के लिए कीड़ों के जीवन-क्रम (life-history) और रोगों के जीवन-वृत्तांत सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। कीड़ों और रोगों की विशेषता, उनकी क्षति पहुँचाने की रीति और उनको नष्ट करने के या कम से कम इस हानि को अधिक से अधिक घटाने के उपायों की जानकारी प्राप्त कर लेना कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिये अनिवार्य है।

शरीर-रचना के आधार पर ही प्राणि-संसार का वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण अधिकांश में नैसर्गिक है। प्राणियों के लक्षणों के अनुसार ही यह वर्गीकरण किया गया है। भिन्न-भिन्न वर्ग के प्राणियों के विशेष लक्षणों के (essential characters) आधार पर उन्हें मुख्य भागों (division) में विभक्त किया गया है। मुख्य भाग को वर्ग (class) में, वर्ग को उपवर्ग में, (sub-class), उपवर्ग को विभाग (orders) में और विभाग को कुटुम्ब (family) में विभाजित किया

गया है। कुटुम्ब के अन्तर्गत जाति-समुदाय (Genus) और जाति समुदाय के अन्तर्गत जाति (species, निश्चित की गई हैं। मिलते-जुलते गुण-धर्म आदि समान गुण वाले कई व्यक्तियों (individuals) को मिलाकर जाति स्थिर की गई है।

प्राणि-संसार दो भागों में विभक्त है:—(१) पृष्ठवंशधारी और (२) अपृष्ठ वंशधारी। अपृष्ठवंशधारी प्राणि के मुख्य आठ वर्ग हैं। इनमें एक वर्ग आर्थोपोडा (Arthopoda) है, जिसका एक उपवर्ग जन्तु या कीट (Insecta) है।

जितने भी छोटे-छोटे जीवधारी हैं, उन्हें बोलचाल की भाषा में कीड़ा या कीट या कीटक कहते हैं। किन्तु कीड़ा माने जाने वाले जीवधारियों और वास्तविक कीट में महान अन्तर है। कन-खजूरा, शंख-सीपी के जीव, मकड़ी आदि को कीट या कीड़ा ही कहा जाता है; किन्तु व वास्तविक कीट नहीं हैं। कीटक या कीड़े की रीढ़ की हड्डी नहीं होती है। इनकी उत्पत्ति अण्डे से होती है। पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी को छः पाँव, दो आँख, दो या चार पंख तथा दो स्पर्शेन्द्रिय (Antennae or feelers) होती हैं। कीड़े की देह के दोनों ओर श्वासोच्छ्वास के लिए महीन छेद या रंध्र,—श्वासनलिकाग्रमुख (trachae) होते हैं।

कीड़ों का नामकरण लैटिन भाषा में किया गया है। और कीट सम्बन्धी सभी ग्रंथ आदि अँगरेजी भाषा में ही लिखे गए हैं। भारत की राष्ट्र-भाषा या प्रान्तीय भाषाओं में वैज्ञानिक ग्रंथों का एकदम अभाव है। न अभी तक वैज्ञानिक शब्दकोष का ही निर्माण हो पाया है। सर्वसम्मत वैज्ञानिक शब्दों के अभाव के कारण लेखकों को ग्रंथ लेखन-कार्य में अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है; अस्तु।

संसार के भिन्न-भिन्न भागों में जुदे जुदे प्रकार के कीड़े पाए जाते हैं। अभी तक लगभग तीन लाख कीड़ों का अध्ययन किया जा सका है। अनुमान किया गया है कि अभी तीस लाख से भी अधिक जातियों का अध्ययन किया जाने को है। भारत में पाए जाने वाले कीड़ों की बहुत ही कम जातियों के सम्बन्ध में जानकारी एकत्रित की जा सकी है। अतएव हमारी जानकारी सिंधु में बिंदुवत् ही है। लाख, शहद, मोम, रेशम आदि कई उपयोगी और आवश्यक पदार्थ कीड़ों से ही प्राप्त होते हैं। कई प्रकार के कीड़े सड़े-गले पदार्थ खाकर, सफाई बनाये रखने का कार्य करते हैं। कई कीड़े ऐसे हैं, जो मानव-जाति का अहित करने वाले कीड़ों को खाकर हित-साधन करते रहते हैं। कई प्रकार के कीड़े जमीन के अन्दर रहकर जमीन की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने में सहायता पहुँचाते हैं। प्रवाल कीट के समान प्राणी नवीन द्वीपों का निर्माण करते हैं। यदि कीड़े मध्यस्थ का कार्य न करें, तो अनेकों फूलों का गर्भाधान ही सम्पन्न न हो।

शरीर की बाह्य रचना।

कीड़े का शरीर बारह वलयों या मणियों से बना है। ये वलय सिर से पीछे की ओर को एक दूसरे से जुड़े हुए साफ दिखाई देते हैं। सिर से ऊपर दोनों ओर एक एक आँख होती है। कुछ कीड़ों की आँखें सादी होती हैं और कुछ की पहलूदार। चींटी की आँख में पाँच सौ पहलू होते हैं और गृह-मक्षिका की आँख में चार सौ। कुछ कीड़ों की आँख में पचास हजार तक पहलू होते हैं। पशु-पक्षी अपनी आँख घुमाकर चारों ओर देख सकते हैं। किन्तु कीड़े ऐसा कर नहीं सकते हैं और इसीलिए प्रकृति ने उन्हें पहलूदार आँखें दी हैं। एक आँख में इतने अधिक पहलू होते हुए भी कीड़े को एक पदार्थ, अनेक नहीं दिखाई देता है—सिर्फ एक ही दिखाई देता है।
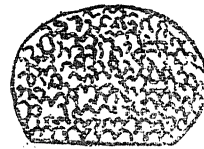
आँखें-पहलूदार

आँखों से नीचे की ओर को दो जबड़े होते हैं। जबड़ों में शूल के समान दाँत होते हैं। कीड़े के सर पर दो सींग भी

होते हैं, जिन्हें कीड़ा अपनी इच्छानुसार घुमा फिरा सकता है। इन्हें स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, या श्रवणेन्द्रिय कहते हैं।

चित्र २

जबड़ा　　सूंड़

बोल चाल की भाषा में इन्हें मूछें कहते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के कीड़ों की स्पर्शेन्द्रिय भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की

चित्र ३
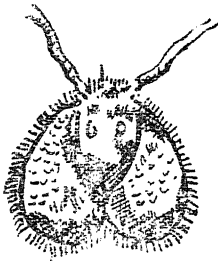
स्पर्शेन्द्रिय और मुख

होती है। स्पर्शेन्द्रिय साँधेदार होती है और मनुष्य के हाथ के समान मोड़ी भी जा सकती हैं।

सिर से पीछे की ओर को तीन वलयों से वक्ष (thorax) और शेष नौ वलयों से उदर (abdomen) बना है। वक्ष के प्रत्येक वलय के नीचे एक-एक जोड़ी पाँव हैं। पाँव साँधेदार हैं और पाँव के सिरे पर पंजा है। वक्ष की दोनों ओर एक-एक रंध्र (stigma) है। उदर के दोनों ओर भी ऐसे ही आठ-आठ रंध्र हैं। ये श्वासनलिका

चित्र ४
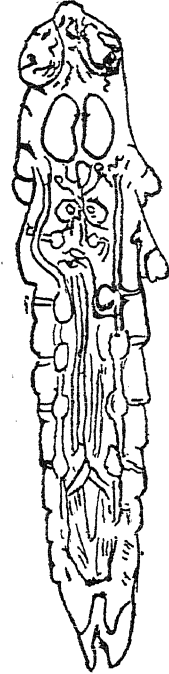
श्वास नलिका के मुख

के मुख हैं। उदर के नीचे पदार्थ को मजबूती से पकड़ने के लिए पाँच जोड़ी पाँव (sucker feet) हैं। शरीर की त्वचा बहुत ही चिमट होती है, जिसमें मजबूती देने वाला चिटिन (chitin) नामक पदार्थ रहता है। शरीर के अन्तिम सिरे पर मलद्वार है, जिसके नीचे पुनरुत्पादक या सन्तानोत्पादक अवयय होता है।

शरीर की अन्तर्रचना

कीड़े की पाचन-नलिका मुख से बहिर्द्वार—मलद्वार, तक गई है। पाचन-नलिका के बीच में स्थित रक्ताशय-

नलिका में परिपाक हुआ अन्न-रस जाता है और रक्ताशय नलिका के आकुंचन-प्रसारण से रक्ताभिसरण होता है। सिर

चित्र ५

पचनेन्द्रिय

की खोपड़ी में मस्तिष्क (brain) वर्तमान है और मज्जातन्तु वक्ष और उदर के नीचे से जाता है। शरीर के दोनों ओर के रंध्रों से कीड़ा श्वासोच्छ्वास की क्रिया सम्पन्न करता है। कुछ कीड़ों के मुख में एक विशेष प्रकार की ग्रंथियाँ होती हैं, जिनमें से लार जैसा एक प्रकार का रस निकलता है कीड़ा इसी पदार्थ के धागे से अपने शरीर के चारों ओर कोश बनाता है। रेशम के कीड़े द्वारा जो रेशम प्राप्त होताहै, वह यह लार जैसा पदार्थ ही है।
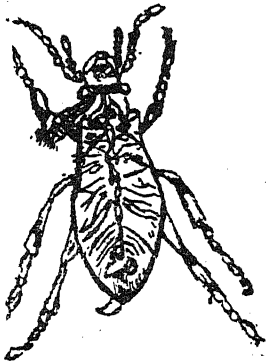
चित्र ६

मज्जातन्तु

विकास-क्रम या रूपान्तर

पक्षी अण्डे देते हैं और अण्डे में से शिशु-पक्षी का जन्म होता है। माता-पिता और शिशु के शरीर का आकार प्रकार लगभग समान ही होता है। किन्तु कीटक-संसार में

चित्र ७

इल्ली

विकास-क्रम या रूपान्तर दो प्रकार का होता है। कुछ प्रकार के कीड़े अण्डे रखते हैं। अण्डे में से परी का जन्म होता है, जिसका आकार-प्रकार माता-पिता के समान ही होता है। अन्य प्रकार के कीड़ों के अण्डे में से इल्ली जन्म लेती है। बाढ़ पूरी होने पर इल्ली कोश बनाती है और कोशावस्था की अवधि समाप्त हो जाने पर परदार कीड़ा (पंखी)
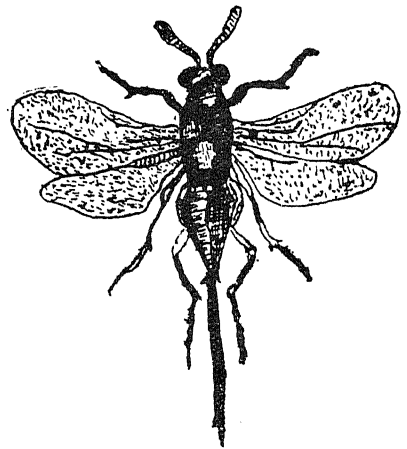
चित्र ८

पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा

तितली या पतंग के रूप में बाहर निकल आता है। विकास-क्रम या रूपान्तर को ठीक तरह से समझने के लिए नीचे दोनो प्रकार के कीड़ों का विकास-क्रम दिया जाता है।

१—**टिड्डे का विकास-क्रम**—मादा मट्टी में छोटे और गोल अण्डे देती है। अण्डे के भीतर जीवांकुर (germ) और भोजन वर्तमान रहता है। लगभग तीन मास में अण्डे में से नवजात-शिशु या परी (nymph) बाहर निकलती है। परी बनस्पति खाकर वृद्धि पाती और त्वचा बदलती हुई बढ़ती रहती है। पूर्ण बाढ़ को पहुंचने के पहले वह छः सात बार त्वचा बदलती है। परी और पूर्ण बाढ़ को पहुँचे हुए कीड़े के शरीर के आकार-प्रकार में बहुत ही कम अन्तर होता है। परी अपनी माता के समान ही होतीं है। किन्तु उसके पंख नहीं होते। धीरे-धीरे पंख और जननेंद्रिय या पुनरुत्पादक अवयव का विकास होता रहता है। पूर्ण बाढ़ हो जाने पर यानी प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर संयोग होता है और तब मादा अण्डे रखती है।

अन्य कीड़ों के समान ही टिड्डे का शरीर भी बलयों से बना होता है। किन्तु ये वलय स्पष्ट नहीं दिखाई देते हैं। सिर बड़ा और आँखें बड़ी और पहलूदार होती हैं। जबड़े कुछ आगे को बढ़े हुए होते हैं और स्पर्शेंद्रिय सांधेदार होती है। वक्ष या छाती का पहला भाग (Sagment) बड़ा होता है और शेष भाग अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। वक्ष के प्रत्येक वलय पर दो-दो पांव और दो जोड़ी पंख होते हैं। पाँव की तीसरी जोड़ी के ऊपर श्वास-नलिका का मुख होता है। शरीर के अन्तिम भाग में मलद्वार और पुनरुत्पादक अवयव (Re-productive organ) है। नर को चिमटे समान अवयव (Claspers) और मादा को अण्ड-कोष (Ovipositor) होता है। पंख की ऊपर की यानी पहली जोड़ी सकड़ी और फैली हुई होती हैं। दूसरी यानी नीचे की जोड़ी बड़ी और गोल होती है। बैठे हुए प्राणी के पंख सिमटे रहते हैं। पंखों पर नसें-सी रहती हैं। त्वचा और पंख में चिटिन नामक पदार्थ बर्तमान रहता है।

२—**पतंग-तितली का विकास-क्रम**—मादा छोटे और गोल अण्डे मिट्टी में, या तना-पत्ता आदि पर रखती है। अण्डे में जीवांकुर और भोज्य-पदार्थ वर्तमान रहता है। कुछ दिनों बाद अण्डे में से इल्ली निकलती है। त्वचा बदलती हुई इल्ली बड़ी होती रहती है, किन्तु उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है और न पुनरुत्पादक अवयव ही होता है। अन्तिम बार त्वचा बदलने के बाद इल्ली अपने मुख में से लार-जैसा पदार्थ निकाल कर अपने शरीर के चारों ओर कोश बनाती है। कुछ इल्लियाँ इस धागे की सहायता से पंजे को लपेट कर उसी के अंदर कोशावस्था बिताती हैं। कोश में कीड़ा बिना हिले डुले निश्चेष्ट—अर्ध मृतावस्था के समान पड़ा रहता है। कोशावस्था या शंखी (Pupa) की अवधि समाप्त होने पर पूर्णावस्था को पहुँचा हुआ प्राणी,—पंखी (तितली या पतंग) कोश तोड़कर बाहर निकल आता है। इसको चार पंख, छः पाँव और दो बड़ी आँखें होती हैं। पुनरुत्पादक अवयव भी पूर्ण विकसित हो जाता है। मुख के स्थान पर एक सूंड-सी (Probosis) होती है। प्रौढ़ावस्था प्राप्त कीड़ा इसी सूंड़ को तना-फल आदि में चुभाकर रस पीता है। कुछ कीड़े सूंड में से लार टपका कर उसमें उसे घोल कर चाटते हैं। मादा और नर का रूप-रंग कुछ जुदा होता है। संयोग होने पर मादा अण्डे देती है। अण्डे रखते-रखते ही या अण्डे रखने के बाद शीघ्र ही मादा मर जाती है।

कीड़ों का विकास-क्रम टिड्डे या पतंग के समान ही होता है। इल्ली से कोशावस्था में व कोशावस्था से तितली या पतंग यानी परदार प्राणी में परिवर्तित होने को रूपान्तर (Metamorphosis) कहते हैं। इस प्रकार कीड़े दो प्रकार के होते हैं—रूपान्तर होने वाले और रूपान्तर न होने वाले।

पंखों की रचना, मुख की बनावट, और जीवन-इतिहास के आधार पर कीड़ों का वर्गीकरण किया गया है। कीटकों का वर्गीकरण करने में वैज्ञानिक एक-मत नही हैं। कोई पन्द्रह, कोई नौ और कोई सात बर्ग मानते हैं। नीचे नौ

वर्ग दिए जाते हैं। इस विषय को समझने के लिये वर्गीकरण से परिचित होने की आवश्यकता नहीं है।

कीड़ों के वर्ग

१—अपक्ष वर्ग (Aptera)—इस वर्ग के कीड़े को पंख नहीं होते हैं। ये उड़ भी नहीं सकते हैं। कीड़े को छः पाँव होते हैं।

२—सरल-पक्ष (Orthoptera)—इस वर्ग में आँखफुरबा, टिड्डी-टिड्डा, आदि का समावेश होता है। इस वर्ग के कीड़ों के पंख सरल और सँकड़े होते हैं। नीचे के पंख कुछ चौड़े और महीन होते हैं। ये ऊपर के पंखों के नीचे पंखे की तरह सिमटे रहते हैं। कीड़े का मुख चोंच के समान होता है। अतएव इन्हें चंचु मुख कहते हैं। पाँव मजबूत होते हैं, जिनकी सहायता से कीड़ा तेजी से चल सकता और छलाँग मार सकता है।

३—शिराल-पक्ष या जालपक्ष (Neuoptera)—इस वर्ग के प्राणी के पंखों पर पतली नसों का जाल-सा बना रहता है। पंख, सकड़े, बड़े और पतले तथा पारदर्शक होते हैं। इस वर्ग में दीमक का समावेश होता है। इस वर्ग के कुछ कीड़े पानी के आश्रय में रहते हैं।
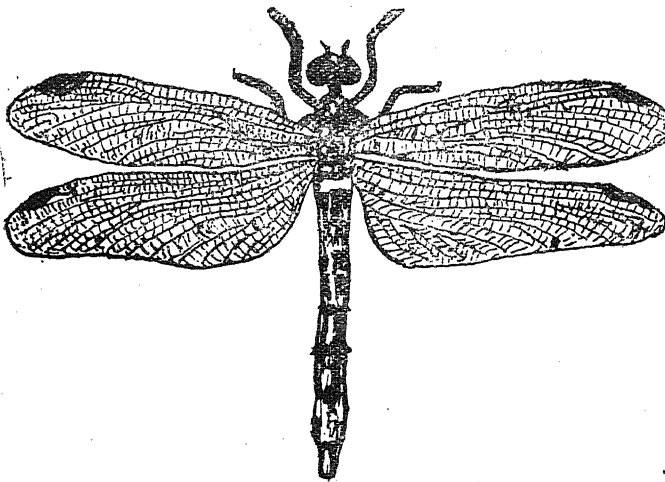
चित्र ९

जाल-पक्ष वर्ग का पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा

४—त्वक् पक्ष (Hymenoptera)—इस वर्ग में मधु-मक्खी, चींटी आदि कीड़ों का समावेश होता है। पंख छोटे, पारदर्शक, झिल्ली के समान मजबूत और त्वचा के समान पतले होते हैं। ऊपर के पंख नीचे के पंख से कुछ बड़े होते हैं और पंखों पर थोड़ी-सी कुछ मोटी नसें होती हैं। कीड़े की कमर पतली होती है। इस वर्ग के कीड़े चंचु मुख और सुंड मुख होते हैं। सुंड से कीड़ा पदार्थ को चाट कर खाता है।

५—पट-पक्ष, या कोश-पक्ष या कवच पक्ष (Coleoptera):—इस वर्ग में भुंगे आदि कीड़े हैं। ऊपर के पंख मोटे होते हैं, जो एक दूसरे से चिपके हुए से नजर आते हैं। ऊपर के पंख मजबूत होते हैं, जो कवच के समान कीड़े के शरीर की रक्षा करते हैं। इस वर्ग का प्राणी चंचु मुख हैं। इल्ली को पाँव नहीं होते हैं।
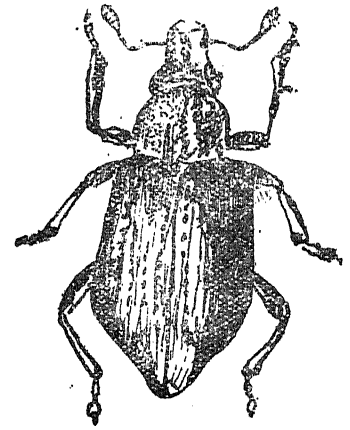
चित्र १०

पट-पक्ष वर्ग का पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा

६—वल्क-पक्ष (Lepidoptera :—पंखों पर महीन धूल-सी जमी रहती है। पतंग के पंख पतले, रंग-बिरंगे, और मनोहारी होते हैं । इनकी सूंड घड़ी की

चित्र ११
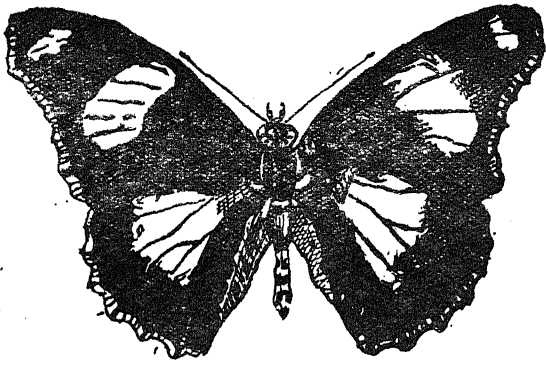
बल्क पक्ष-वर्ग का पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी (अ), (व), (स)

कमानी की तरह लिपटी रहती है। सूंड से कीड़ा मधु-रस पान करता है । तितली भी इसी वर्ग का प्राणी है।

७—द्वि-पक्ष-वग (Diptera) :-डांस, मक्खी आदि इस वर्ग में है । इस वर्ग के प्राणी को दो ही पंख होते हैं और सन्तुलन बनाए रखने के लिए पंखों के पास ही दो सन्तुलक भी होते हैं। मुख सुण्डाकार होता है, जिससे कीड़ा रस-पान करता है। इल्ली को पाँव नहीं होते हैं।

८—अर्द्ध-पक्ष(Hemioptera):—खटमल, जू आदि इस वर्ग के प्राणी हैं। इस वर्ग के कुछ प्राणियों को पंख होते हैं। किन्तु आधे पंख मोटे और मजबूत और आधे महीन और नाजुक होते हैं मुख सुण्डाकार होता है। खटमल आदि कुछ कीड़ों को पंख नहीं होते हैं।

९—अंचल पक्ष (Thysnoptera):—इस वर्ग के कीड़े बहुत ही छोटे होते हैं। फूलों के अन्दर रहने वाले कीड़े इसी वग के हैं। पंख चार और झालरदार होते हैं और मुख सुण्डाकार होता है।

अन्य प्राणियों के समान कीड़े भी शाकाहारी और मांसाहारी होते हैं। शाकाहारी कीड़े बनस्पति पर जीवन-निर्वाह करते हैं और मांसाहारी कीड़े अन्य प्राणियों पर। कुछ मांसाहारी कीड़े ऐसे भी हैं, जो अपनी ही जाति के कीड़ों को खाते हैं। मांसाहारी कीड़े दो प्रकार के होते हैं (१) परोपजीवी और (२) शिकार करने वाले।

परोपजीवी कीड़े, दूसरे कीड़ों या अन्य प्राणियों के शरीर पर या शरीर के अन्दर रहकर उन्हें खाते या उनका खून चूसते हैं। मादा दूसरे कीड़े के शरीर के अन्दर अण्डे रखती है। अण्डे में से निकली हुई इल्ली कीड़े को भीतर ही भीतर खाती हुई उसी की देह में बढ़ती रहती है और उसे खोखला करके बाहर निकल आती है। शिकार करने वाले कीड़े शेर-बिल्ली की तरह ही शिकार करते हैं। कुछ कीड़े ऐसे भी हैं, जो दूसरे प्राणी के शरीर में अपनी सूंड चुभा कर रक्त पान करते हैं।

कुछ कीड़े भोजन काट कर या कुतर कर खाते हैं। दूसरे प्रकार के कीड़े इल्ली की अवस्था में भोजन को काट-कर या कुतर कर खाते हैं। किन्तु पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा सूंड द्वारा रस चूस कर उदर-पोषण करता है। कुतर कर खाने वाले कीड़े को जबड़ा होता है और उसमें शूल-जैसे दाँत होते हैं। सूंड मुख वाले प्राणी को ये दोनों ही अवयव नहीं होते हैं। पानी में रहने वाले कीड़े सड़े हुए पदार्थों पर जीवन-निर्वाह करते हैं। कुछ कीड़े आमिष-भोजी होते हैं। ये परोपजीवी हैं।

कीड़ों के विकास-क्रम, या रूपान्तर तथा वर्गीकरण क जान लेने मात्र से ही कीड़ों का परिचय प्राप्त नहीं सकता है। और न केवल इसी ज्ञान के बल पर किसी विशेष फसल पर आक्रमण करने वाले कीड़ों का नाश करने की उपाय-योजना ही की जा सकती है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि कीड़ों को पकड़ कर पाला जाय; अण्डे इल्ली आदि अवस्थाओं में कीड़ों का निरीक्षण किया जाय, और उनके रहन-सहन, खान-पान आदि सम्बंधी ज्ञान प्राप्त किया जाय। कीड़ों

का जीवन-इतिहास जाने बिना फसल की रक्षा करने के कार्य में सफलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

जीवन-इतिहास का अवलोकन

खेतों और बगीचों में जाकर पैनी दृष्टि से अवलोकन करने पर भी कीड़े का जीवन इतिहास जान लेना संभव नहीं है। अतएव अण्डे एकत्रित करके उनका लालन-पालन करना अत्यावश्यक है।

अंगुलियाँ भीतर जा सकें, इतने चौड़े मुँह की काँच की शीशियाँ, आवश्यकतानुसार परती, मंगवा कर रख ली जायं। एक तख्ता या नक्शा बना लिया जाय, जिसमें कीड़े का वर्ग, जिस पौधे पर से अण्डे लिए गए हों, उसका नाम; अण्डे में से इल्ली निकलने की तारीख, हर बार त्वचा बदलने की तारीख, कोश बनाने की तारीख, कोश में से पंखी निकलने की तारीख, मादा द्वारा अण्डे रखने की तारीख और कीड़े मरने की तारीख लिखने के लिए खाने (कॉलम) बना लिए जायँ।

किसी पौधे के पत्ते आदि पर अण्डे दिखाई देने पर, अण्डे समेत पत्ते को तोड़ कर चौड़े मुँह की शीशी में रख दिया जाय और शीशी के मुख पर महीन फलालेन का टुकड़ा बाँध दिया जाय। इल्ली निकलने के पहले अण्ड का रंग बदल जाता है। रंग बदलने के कुछ ही समय बाद बहुत ही छोटी इल्ली अण्डे में से बाहर निकल आती है। प्रारंभ में नवजात इल्ली ज्यादा घूम फिर नहीं सकती है। जिस पौधे पर अंडे मिले हों, उसपौधे के ताजे कोमल पत्ते प्रतिदिन इल्ली को खाने को दिए जायं। अण्डे का कवच, इल्ली का मल, उतरी हुई त्वचा, सूखे पत्ते आदि प्रति दिन शीशी में से निकाल कर फेंक दिये जायं।

कुछ बड़ी हो जाने पर इल्ली को शीशी में से हटाकर महीन जालीदर टीन के डिब्बे में रखना चाहिए। चाय के एक पौंड वाले टीन के डब्बे के आकार टीन के डब्बे बना लिया जाँय जिनके चारों ओर महीन जाली लगवा दी जाय। इन्हीं में इल्लियाँ पाली जाँय। सफाई की ओर विशेष ध्यान रखा जाय। रोगी इल्ली को निरोग इल्लियों के साथ एक ही डब्बे में हरगिज न रखा जाय। सूखे पत्ते मल आदि, रोज हटाए जायं। ज्यों-ज्यों इल्ली बड़ी होती जाती है. उसके भोजन की मात्रा भी बढ़ती जाती है। इसलिए आवश्यकतानुसार प्रति दिन एक से अधिक बार ताजे पत्ते खाने को दिए जाने चाहिये। ऊपर लिखे अनुसार तैयार किए गए तख्ते के कालमों की खाना पूरी समय पर ही की जानी चाहिए इस प्रकार भिन्न-भिन्न कीड़ों का लालन-पालन करके उनका जीवन क्रम या जीवन-इतिहास जाना जा सकता है।

परदार कीड़ों का परिचय प्राप्त करने के लिए उन्हें पकड़ कर निरीक्षण करना अनिवार्य है। टैनिस या बेडमिन्टन के बल्ले के समान तार का बल्ला-सा बनवा लिया जाय जिसको लकड़ी की मूठ लगवा ली जाय। गट लगाने की जगह खाली रहेगी। महीन या जालीदार कपड़े की करीब एक हाथ गहरी गोल थैली बनवा ली जाय, जो नीचे की ओर को बहुत कम चौड़ी हो। इस थैली का ऊपर का मुँह गट लगाने के तार से चारों ओर सीं दिया जाय।

पतंग, तितली आदि परदार कीड़े प्रातः ही फूलों और पौधों का रस-पान करने के लिए उड़ने लगते हैं। इनको इस जाली से पकड़ कर नीचे लिखे मुताबिक तैयार की गई शीशी में डाल दिया जाय।

चौड़े मुँह की तीन चार इंच ऊंची शीशी ली जाय इसका ढक्कन काँच का हो, जो मजबूत से जम जाता हो। शीशी की नली के आकार के कागज के टुकड़े काट कर एक पैड बना लिया जाय। वेनजीन और क्लोरोफार्म को समभाग लेकर मिला लिया जाय। कागज के पैड को इसमें भिगोकर शीशी की तली में जमा दिया जाय। पौटेशियम सायनाइड भी रखा जा सकता है। किन्तु यह तीव्र विष है। अतएव जहाँ तक हो सके, इसका उपयोग न किया जाय।

झोली में पकड़े हुए कीड़े को इस शीशी में डालकर ढक्कन लगा दिया जाय। थोड़ी देर में कीड़ा मर जाएगा।

[क्रमशः]

विज्ञान-परिषद् की प्रकशित प्राप्य पुस्तकों की सम्पूर्ण सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग** १—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक ('डिटमिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—मीडियेटके गणित के विद्यार्थियों के लियेले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं। २९८ पृष्ठ और ९४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

१५—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१६—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

१७—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१८—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१९—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगोंका ब्योरेवार वर्णन। इसमें कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम०, ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

२१—**उपयोगी नुसखे तरकीबें और हुनर**—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३॥)

२२—**कलम पेबंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२३—**जिल्दसाजी**—क्रियात्मक और ब्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८ पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२४—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २।।।=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।'

२५—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य ·)

२६—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार-अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति। पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य ।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।

२७—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादीक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५० पृष्ठ और ३२० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२८—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२९—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञान ब्रह्मे ति व्यजानात, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै ० ० ।३।५

भाग ७३ | सम्वत् २००८ अप्रैल सन् १९५१ | संख्या १

हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य

हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य केवल ४०-५० वर्ष पुराना है। अनेक बाधाओं और प्रतिरोधों का उल्लंघन करके साहित्यकारों ने बड़ी निस्पृहता से इस साहित्य की सृष्टि की है। हिन्दी का यह साहित्य यूरोप के अन्य देशों के साहित्य की तुलना में इतना कम है कि इसका उल्लेख करने में भी संकोच होता है।

वैज्ञानिक साहित्य कई अंगों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) पाठ्य-पुस्तकें

(२) पाठ्य विषयों के व्यापक ज्ञान के लिए अतिरिक्त पुस्तकें

(३) शिल्प और व्यवसाय सम्बन्धी पुस्तकें

(४) लोकोपयोगी साहित्य की पुस्तकें

(५) वैज्ञानिक दर्शन सम्बन्धी पुस्तकें

(६) रेफरेंस पुस्तकें

(७) अनुशलिन पत्रिकाएँ

पाठ्य पुस्तकों की ओर लेखकों व सरकार का ध्यान आकृष्ट हो चुका है किन्तु अभी तक वैज्ञानिक शिक्षा का माध्यम विश्वविद्यालयों में अँग्रेजी ही होने से इस दिशा में वाँच्छित प्रगति नहीं हो पाई है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पदार्पण के साथ पाठ्य विषयों के व्यापक ज्ञान के लिए अतिरिक्त पुस्तकों की भी समस्या हल हो जायगी। शिल्प सम्बन्धी पुस्तकों का हिन्दी में सर्वथा अभाव है, कारण यह है कि शिल्प और व्यवसाय सम्बन्ध शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत ही कम है आसानी से मितव्ययी प्रकाशक इस कारण शिल्प सम्बन्धी पुस्तकों के प्रकाशन में अपना धन नहीं फँसाना चाहते। यदि सरकार इस ओर कुछ ध्यान दे, तो परिस्थित सुधारी जा सकतीहै। कारखाने के मालिकों पर भी विद्वद समुदाय और सरकार दोनों अपने आग्रह से व्यवसायविशेष के बारे में कुछ साहित्य प्रकाशित करने का आग्रह कर सकते हैं। यूरोप और अमेरिका के कारखानों की ओर से निकलने वाली पत्रिकाएँ बहुत ही अच्छे स्तर के साहित्य से भरी होती है। यह स्पष्ट है कि विज्ञान के आविष्कार केवल

विशेषज्ञों के लिए नहीं वरन् जन साधारण उससे अधिक लाभान्वित होते हैं। ग्रामवि जनता का अन्धविश्वाश दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान को सरल भाषा में उन तक पहुँचाया जावे जिससे उनका जीवन सुखी हो सके। विज्ञान परिषद् भारतीय हिन्दी परिषद आदि थोड़ी सी सँस्थाओं ने इस ओर प्रयास किया है किन्तु धनाभाव और अनेकानेक बाधाओं के कारण उन्हें उचित सफलता नहीं मिली। जिस तरह सहकारी आन्दोलन से गावों में सामाजिक, राजनैतिक वातावरण सुधारने का प्रयास किया जा रहा है, उसी प्रकार यह आवश्यक है कि ग्राम-सुधार संस्थाएँ विज्ञान का लोकोपयोगी साहित्य बढ़ाने का दायित्व अपने ऊपर लें।

विज्ञान के आविष्कारों ने मानव चिन्तन-धारा का रुख ही बदल दिया है, आदि से अभी तक मनुष्य उसी प्रकार प्रेम और घृणा, पाप और पुण्य का अर्थ समझता आ रहा है किन्तु विज्ञान के नए दर्शन ने हमारी मान्यताओं को बिल्कुल ही बदल दिया है। राष्ट्रोत्थान के लिए, हमारी सभ्यता के चरमविकाश के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान की यह देन हिन्दी-साहित्य का भी भण्डार भरे और हमारा व्यष्टिवादी साहित्य अब समष्टिवाद की ओर झुक जाए। वैज्ञानिक दर्शन के साहित्य का हिन्दी में नितान्त अभाव है। उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में हम रेफरेंस पुस्तकों के होने की आशा ही नहीं कर सकते। भविष्य में विशेषज्ञों के काम के लिए रेफरेंस पुस्तकें और अनुक्रमणिकाएँ लिखी जाना बहुत आवश्यक है। अनुशलिन पत्रिकाओं की स्थिति देश में इतनी खराब नहीं, २०-२५ पत्रिकाएँ आजकल प्रकाशित हो रही हैं किन्तु कोई गवेषणात्मक लेखों की पत्रिका नहीं निकल रही है जिससे पत्रिकाओं के साहित्य का स्तर ऊँचा नहीं।

सारांश यह कि हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बहुत ही कम है, स्थिति बड़ी ही असन्तोष जनक है किन्तु यह भी स्पष्ट है कि संसार की ऐसी कोई सम्पन्न भाषा नहीं जिसने वैज्ञानिक साहित्य के सृजन का प्रयास न किया हो या जिसका विज्ञान के विकाश में एकाधिकार हो। अनेक देशों के सहयोग ने विज्ञान को इस सीमा तक पहुँचाया है। हिन्दी प्रेमी जनता, विद्वान्, सरकार सभी को अपनी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बढ़ाने में अभी तक भगीरथ प्रयत्न करना बाकी है और आशा ही नहीं विश्वास है कि सभी अपने इस दायित्व की ओर ध्यान देंगे।

"शून्य" की ओर

लेखक—सत्य प्रकाश

जैसे जैसे तापक्रम कम होता जाता है, पदार्थों के रासायनिक गुणों में परिवर्तन होता जाता है, 'शून्य" तापक्रम का वास्तविक अर्थ क्या है, प्रयोगशालाओं में क्योंकर वह स्थिति लाई जाती है, इसका एक सरल एवं मनोरंजक वर्णन प्रस्तुत लेख में मिलेगा।

इस वैज्ञानिक युग में नित्य ही हमको नये नये आविष्कारों के समाचार मिलते रहते हैं। संसार के समस्त समृद्धिशाली देशों में जितनी प्रयोगशालाएँ विज्ञान के आविष्कार में इस समय संलग्न हैं यदि उनकी गिनती की जावे तो यह संख्या बीस हज़ार से ऊपर ही निकलेगी। प्रत्येक प्रयोगशाला में नये प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की यदि गणना की जाय तो यह संख्या भी करीब एक लाख के निकट होगी। इतने व्यक्तियों का समुदाय इस प्रकृति के रहस्य को समझने के लिये जिस संलग्नता से व्यस्त है उससे आप समझ सकते हैं कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विज्ञान के आविष्कार की प्रगति वेग से आगे को बढ़े। इन आविष्कार और अनुसन्धानों से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों लेख प्रतिमास ही जिन वैज्ञानिक पत्रिकाओं में छपते हैं उनकी संख्या भी कई सौ की है। इस समय मनुष्य इस बात की चिन्ता में है कि वह पुरानी दुनिया को बदल कर एक नई दुनिया का निर्माण करे। मनुष्य यह चाहता है कि जो बात जिस रूप में कल हमारे सामने थी, आज उसमें परिवर्तन हो जाय। वैज्ञानिक जीवन के प्रगतिशील रूप में विश्वास रखता है। स्थिति में उसकी आस्था नहीं। उसकी इस भावना ने ही उसे नये नये अनुसन्धानों के प्रति प्रेरणा दी है। इस प्रेरणा की पृष्टभूमि में दो विशेष विचार कार्य कर रहे हैं। एक विचार तो यह है कि वैज्ञानिक समझता है कि प्रकृति का भंडार अक्षय है। अर्थात उसका यह विश्वास है कि चाह कितने भी व्यक्ति कितने ही समय तक कितनी ही सम्पन्नता से अनुसन्धान क्यों न करते जायें, ऐसा कभी न होगा कि मनुष्य यह कह सके कि अब और कोई सन्धान करने को शेष नहीं। वैज्ञानिक की दूसरी भावना यह है कि वह मनुष्य के इस क्षमता में विश्वास करता है कि वह प्रकृति के गुप्त और गहन सभी रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न कर सकता है। प्रकृति का अगाध भण्डार और मनुष्य के मस्तिष्क की असीम क्षमता इन दो गुणों के कारण हम यह देखते हैं कि विज्ञान अत्यन्त पुराना होते हुए भी प्रत्येक युग में नई क्रान्ति उपस्थित करता है

यहाँ हम मनुष्य के उस प्रयत्न की कहानी सुनायेंगे जो उसने अत्यधिक ताप और अत्यधिक शीत प्राप्त करने के लिये किये। ज्वर नापने वाले थर्मामीटर के हिसाब से मनुष्य के शरीर का ताप क्रम साढ़े अट्ठानबे डिग्री मालूम होता है। इस तापक्रम से दो तीन डिग्री अधिक तापक्रम हुआ कि मनुष्य को ज्वर आने लगता है मनुष्य के शरीर का तापक्रम आप जानते हैं कि पंचानवे डिग्री से न कम और न एक सौ आठ डिग्री से अधिक हो सकता है। हमारे चारों ओर के वातावरण का तापक्रम प्रयाग में सर्दियों में छत्तीस

डिग्री के लगभग और गर्मियों में एक सौ अठारह के लगभग रहता है। पहाड़ी प्रदेशों में यह तापक्रम और कम हो जाता है। ऐसा कहा जाता है कि ध्रुव प्रदेशों के निकट वाले स्थानों में घोर शीत-काल में यह तापक्रम बहुत कम हो जाता है। साइबेरिया के एक स्थान में नीचे से नीचा तापक्रम माइनस चौरानबे डिग्री फैरेनहाइट पाया गया। और दक्षिणी ध्रुव के निकट अगस्त मास में न्यूनतम तापक्रम—४७.२५° फा० पाया गया। ऐसा कहा जाता है कि ग्रीनलैंड के भीतरी भागों में पृथ्वी का न्यूनतम तापक्रम—१३° फा० के लगभग होगा। आप यह जानते हैं कि ३२° फा० पर बरफ जमती है और इसलिए ग्रीनलैंड का यह न्यूनतम तापक्रम बरफ जमने के तापक्रम के लगभग १६° फा० नीचे है। भारतवर्ष के नगरों का अधिकतम तापक्रम १२०° के लगभग का पाया गया है। एरिज़ोना के मरुभूमि में और बलूचिस्तान के सीमान्त पर १२५° तक का तापक्रम देखा गया है। दक्षिणी कैलिफोर्निया की मृत्यु घाटी में १३३° फा० तक का तापक्रम अब तक पाया गया है। पृथ्वी के किसी नगर में वायुमण्डल का तापक्रम इससे अधिक नहीं मिला और जो तारे हैं उनका तापक्रम तो काफी ऊँचा पाया गया है। हमारे सूरज का तापक्रम ५८६०° सेन्टीग्रेट से लेकर ६२००° सेन्टीग्रेट तक पाया जाता है। कुछ ऐसे भी तारे हैं जिनका तापक्रम सूर्य के तापक्रम से कहीं अधिक है। एक तारे में तो यह तापक्रम २५०००° से भी अधिक देखा गया है। लोगों की तो कल्पना है कि इन तारों के अर्ध भाग में एक लाख डिग्री से भी अधिक गर्मी हैं। इतनी अधिक गर्मी की तो मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। लोगों ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य का शरीर अधिक से अधिक वायुमण्डल के किस तापक्रम को सहन कर सकता है। ऐसा कहा जाता है कि इंगलैंड के एक मूर्ति शिल्पि चेन्ट्रे जिस कमरे में अपने सांचों को सुखाता था उसका तापक्रम १७८° सेन्टीग्रेट था और इस कमरे में लकड़ी के जूते पहने हुए कर्मचारी बड़े मज़े से भीतर बाहर आते जाते थे। यह भी उल्लेख मिलता है कि प्रो० चौर्वट कई बार ऐसे कमरे में रहे थे जिसका तापक्रम २६०° सेन्टीग्रेट था। हमारे देश में गर्मियों की घोर दुपहरी में चारों ओर कन्डे जला कर साधू लोग जो तपस्या करते हैं उसमें वातावरण का तापक्रम ६०-७०° से अधिक कभी नहीं पहुँच पाता है। कम से कम कितने तापक्रम पर मनुष्य ने काम किया है इसका एक उदाहरण ध्रुव यात्री श्वाटका का है। एक बार उसके थर्मामीटर का पारा बरफ जमने के तापक्रम से ७५° सेन्टी० नीचे चला गया और इस शीत में भी वह मज़े से अपने खेमे और डेरों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सका।

वैज्ञानिक लोग बहुत दिनों से इस बात के प्रयत्न में रहे हैं कि प्रयोगशालाओं में न्यून से न्यून तापक्रम उत्पन्न किया जाय। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जहाँ यह सम्भव है कि अधिक से अधिक तापक्रम तारों में एक लाख डिग्री का या इससे भी अधिक हो सकता है मनुष्य की बनाई भट्टियों में २ या ३ हजार डिग्री से अधिक कठिनता से ही पाया जा सकता है। कमसे कम तापक्रम कितना हो सकता है, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक अधिक निश्चित हैं, यह तापक्रम पानी के बरफ में जमने के तापक्रम से २७३° ही नीचे है। लार्ड कैलविन ने बहुत दिन हुए सिद्ध कर दिया था कि प्रकृति का न्यूनतम तापक्रम —२७३° नीचे है। इस तापक्रम को "परम शून्य" कहा जाता है। उसने तर्क के आधार पर यह सिद्ध किया कि न इस पृथ्वी पर और न कहीं अन्यत्र ही इस परम शून्य से नीचे कोई तापक्रम हो सकता है और क्योंकि इससे कम कोई तापक्रम हो ही नहीं सकता, इसलिये वैज्ञानिक भाषा में हम इस तापक्रम को परम शून्य कहते हैं। साधारण भाषा में पानी से जिस तापक्रम पर बरफ बनती उस तापक्रम को शून्य कहा जाता है। यह शून्य हमारे परम शून्य की अपेक्षा से २७३° ऊँचा कहा जायगा।

जब यह निश्चय हो गया कि परमशून्य बरफ के तापक्रम से २७३° ही नीचे है तो वैज्ञानिकों की यह इच्छा हुई कि वे यह प्रयत्न करें कि प्रयोगशालाओं में परम

शून्य की अवस्था प्राप्त की जा सके। न्यून तापक्रम किस प्रकार पैदा किये जा सकते हैं इससे तो थोड़ा बहुत सभी परिचित हैं। आप ने देखा होगा कि मलाई की बरफ जमाने वाले लोग बर्फ के तापक्रम को और कम करने के लिये उसमें नमक या शोरा मिलाते है। बरफ में जब नमक मिलाया जाता है तो उसका तापक्रम बरफ के तापक्रम से १८—२०° डिग्री नीचे किया जा सकता है। कुछ लवण ऐसे भी हैं जिनसे तापक्रम—३०° तक गिराया जा सकता है। परन्तु परमशून्य तो इन तापक्रमों से २७३° नीचे है। अतः बरफ में नमक मिला देने से बहुतकाम नहीं चल सकता है। बरफ बनाने वाले कारखानों में शायद आपने देखा हो कि द्रवीभूति अमोनया का प्रयोग करते हैं पर इस वधि से भी तापक्रम बहुत नीचे नहीं गिराए जा सकते। बहुत दिन हुए लोगों ने यह अनुभव किया कि किसी पात्र में टस भरी हुई कोई भी गैस यदि एक दम खोल दी जाय तो फैलते समय यह अपने आप ठन्डी पड़ जायगी, शायद आप लोगों ने कार्बन डाइ-आक्सइड गैस भरे सिलण्डर देखे हों। इनको जब खोला जाता है तो इसमें से निकलती हुई गैस एक दम प्रसार पाने के कारण इतनी ठन्डी हो जाती है कि यह बरफ के समान ठोस बन जाती है। इस ठोस बरफ का तापक्रम—७९° होता है। ईथर और ठोस कार्बन डाइ-आक्साइड के मिश्रण से १००° तक तापक्रम प्राप्त हो सकता है। सन् १८७७ में फ्रान्स के एक व्यक्ति कैलेटे ने आक्सीज़न को ३०० वायु मंडल के दबाव पर ठस भरा और इसे खूब ठंडा किया और फिर जब गैस का मुँह एक दम खोला गया तो तापक्रम इतना ठंडा पड़ गया कि आक्सीजन गैस पानी के समान द्रव बन गई। आपने पानी की भाप को जल की बूंदों में परिणत होते हुए नित्य देखा है, पर क्या कभी आपने यह भी सोचा कि हवा भी इतनी ठन्डी की जा सकेगी कि यह पानी के समान तरल पदार्थ बन जाय? पर अब तो ऐसी मशीनें कैलेटे के प्रयोग के बाद बना ली गई हैं जिनसे हवा द्रवीभूत की जा सकती है। आप जैसे किसी थरमस बोतल में बरफ बंद करके रख सकते हैं; उसी तरह का बर्तन डीवार नामक वैज्ञानिक ने तैयार किये जिनमें पानी की तरह की द्रव हवा रखी जा सकती है। इस द्रव हवा का तापक्रम बरफ के तापक्रम से १९०° सेन्टी० के लगभग नीचे होता है। द्रव हवा को बहुत शीघ्रता से यदि उड़ाय तो तापक्रम बहुत नीचे तक जा सकता है। और वैज्ञानिक इस प्रकार बरफ के तापक्रम से २१७° नीचें तक पहुच सके। आप को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि इतने नीचे तापक्रम पर भी हाइड्रोजन और हीलियम गैसें द्रव न बन पाईं। कुछ दिनों बाद डीवार नामक वैज्ञानिक इस गैस को भी द्रवीभूत कर सका। ऐसा करने के लिए उसे लगभग— ५° तक गैस को ठंढा करना पड़ा। हाइड्रोजन गैस न केवल पानी के समान तरल ही बनाई जा सकती है, इसे बरफ के समान ठोस भी बनाया जा सका। इन सब प्रयोगों से—२६०° तक का न्यूनतम तापक्रम पाया जा सका, पर परमशून्य तो इस तापक्रम से १३° नीचे था। और इसलिये वैज्ञानिक इस तापक्रम तक पहुँचने के लिये और प्रयत्न करने लगे। बीसवीं शताव्दी की यह एक बड़ी भारी सफलता समझी गई है कि हीलियम गैस कैमर्लिंग ओन्स के प्रयत्न से इतनी ठन्डी की जा सकी कि यह द्रवीभूत हो गई और इसका तापक्रम बरफ के तापक्रम से २७२° नीचे पहुँच गया। प्रकृति का परमशून्य तापक्रम अब केवल एक डिग्री नीचे रह गया। डा० कीसम ने इस बात का प्रयत्न किया कि यह तापक्रम और नीचे पहुँचाया जा सके। आज से २० वर्ष पूर्व तक यह तापक्रम—२७२.३° नीचे तक पहुँचाया जा सका। अर्थात परमशून्य तापक्रम केवल आधे डिग्री दूर रह गया।

वैज्ञानिकों को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। वे तो अपनी प्रयोगशाला में पूर्ण रूप से परमशून्य तापक्रम तक पहुँचने की चेष्टा में लगे हुए थे। जब अन्य विधियाँ असफल हो गईं तो लोगों ने अब चुम्बक की सहायता ली। डिवाई नामक वैज्ञानिक ने यह बताया कि अन्यन्त शीत तापक्रम पर गेडोलीनियम सलफेट नामक पदार्थ को चुम्बक

के बीच में रख कर चुम्बकीय बना लिया जाय और फिर यदि चुम्बक को हटा लिया जाय तो चुम्बक प्रभाव हटते समय तापक्रम एक दम और अधिक गिर जायगा। प्रबल चुम्बकों के उपयोग से हास नामक वैज्ञानिक को इतनी सफलता मिली कि अब परम शून्य तापक्रम केवल चौथाई डिग्री दूर रह गया। पर वैज्ञानिकों को उससे भी सन्तोष न हुआ। वे गेडोलिनियम सलफेट के समान कुछ अन्य ऐसे पदार्थों की खोज में थे जिससे तापक्रम और नीचे पहुँचाया जा सके। सौभाग्य से उन्हें एक मामूली पदार्थ मिला, पोटैसियम क्रोमियम वाली फिटकरी जिसके प्रयोग से वैज्ञानिक ·००८° परमशून्य के पास पहुँच गये। प्रयोग इस सफलता से इस समय आगे बढ़ रहे हैं कि शीघ्र ही यह आशा की जा सकती है कि हम परमशून्यके ·०००१° के निकट तक पहुँ सकेंगे।

पाठक शायद इस बात का अनुभव न कर सकें क वैज्ञानिकों का रमशून्य तक पहुँचने का यह प्रयत्न कितने महत्व का है। जैसे कोई योगी अदृष्ट आत्मतत्व तक पहुँचने के लिए उत्सुक रहता है और आत्म दर्शन करने के अनन्तर उसे बड़ा सन्तोष होता है। लगभग उसी प्रकार का सन्तोष आज हमारे वैज्ञानिकों को है कि वे कल्पनातीत तापक्रम के परमशून्य तक बहुत कुछ पहुँच गये हैं। शून्य और अनन्त दो ऐसी कल्पनायें हैं जिन तक पहुँचने का प्रयत्न न केवल दार्शनिकों और कवियों ने ही नहीं किया प्रत्युत वैज्ञानिकों ने भी किया है। प्रयोगशाला में इन निम्नतम तापक्रमों पर पहुँच कर अनेक नये अनुसन्धानों का द्वार खुल चुका है। प्रकृति के जो नये रहस्य इन तापक्रमों पर उद्घटित हो रहे हैं उनके अध्ययन करते समय वैज्ञानिकों को बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि इस तापक्रम पर एक ऐसा हीलियम द्रव प्राप्त किया गया है कि यदि उसमें आप किसीगिलास का पेंदा भर छुवा दें तो यह हीलियम अपने आप गिलास की सतह से रेंग कर गिलास के भीतर भर जायगा। अभी प्रयोग चल रहे हैं और यह आशा की जाती है भविष्य में इन अत्यन्त निम्न तापक्रमों की प्राप्ति के कारण बड़े विचित्र चमत्कारपूर्ण अनुसन्धान किये जा सकेंगे।

कल्पना कीजिए कि कोई ऐसा लोक है जिसका तापक्रम ऐसा है जो हमारे परम शून्य से १०-२०° निकट है। इस लोक की नदियों में बहने वाला पानी वैसा न होगा जैसा हमारी भूमि पर। इन नदियों में आक्सीजन और नाइट्रोजन पानी के समान तरल रूप में बह रहा होगा। इस लोक के वायु मंडल में जो हवा होगी वह हीलियम और हाइड्रोजन की बनी होगी। इस लोक के प्राणिओं का शरीर कार्बन के यौगिकों का बना हुआ नहीं, बल्कि बालू के यौगिकों का बना होगा और वहाँ के प्राणी श्वास द्वारा आक्सीजन भीतर लेजा कर कार्बन डाइऑक्साइड न निकालते होंगे। ये हाइड्रोजन की श्वास लेकर सिलिकन के हाइड्राइड शायद बाहर निकालते हों। इस लोक में यदि धातु के चक्कर में एक बार बिजली की धारा प्रवाहित हो गयी तो यह धारा अनन्तकाल तक अबाधगति से चलती रहेगी। यह लोक परम कौतूहल का स्थान होगा, और वहाँ का समस्त ीवन ही निराला होगा।

—:०:—

बाल और पर

लेखक—राममूर्ति मेहरोत्रा

प्रचलित विश्वास के अनुसार कोई बच्चों को भूत से बचाने के लिए घर में कबूतर पालते हैं, कोई अपने घर में चिड़ियों के घोंसले देख शुभ लक्षण समझकर हर्षित होते हैं, बालों और परों के बारे में ऐसे बहुत मिथ्या विश्वास हैं, प्रस्तुत लेख में पशु-पक्षियों के बाल और परों की उपयोगिता पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

सौंदर्य की वस्तु—जिस समय पक्षी कुरीच में आता है और उसके पर झड़ जाते हैं, कुत्ते के खाज हो जाती है और उसके बाल उड़ जाते हैं, किसी आदमी के माँ-बाप आदि कोई मरने या बच्चों के मुंडन आदि के अवसर पर बाल मुड़वा लेने पर अथवा लड़की स्त्री आदि के किसी रोग आदि के कारण बाल गिर या उड़ जाने पर वे सब ऐसे ही भद्दे और कुरूप लगते हैं जैसे पतझड़ में पत्ते झड़ जाने पर पेड़-पौधे। इसी प्रकार नये पर आ जाने पर पक्षी और नये बाल निकलने पर मनुष्य वैसे ही सुन्दर लगते हैं जैसे पतझड़ के बाद नव-पल्लव निकलने पर वृक्ष। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि पक्षियों के लिए पर और मनुष्य के लिए बाल शरीर को सुन्दर बनाने में सहायक हैं। इतना ही नहीं बल्कि मनुष्य के साथ तो बाल एक फैशन की वस्तु हो गए हैं। स्त्रियों के लिए ही नहीं बल्कि आजकल तो पुरुषों के लिए वे एक शृंगार की वस्तु हो गए हैं और वे उन्हें अनेक प्रकार के तेल-फुलेल डाल कर, कंघे से काढ़ कर, मांग-पट्टी निकाल कर, क्लिप-कांटे फूल आदि से सुसज्जित करते हैं।

गर्मी सर्दी से रक्षा का साधन—रंग बिरंगे चिकने चमकीले पर लाल, कबूतर, हरियल, तोते इत्यादि अनेक पक्षियों को भी सुन्दरता बढ़ाने में कम सहायक नहीं होते। जो लोग बाल रखते हैं उन्होंने साथ ही यह भी अनुभव किया होगा कि यदि कभी किसी कारण से जाड़ों में उन्हें अपने लम्बे-लम्बे बाल कटवाने पड़ जाते हैं तो बड़ी ठंड लगती है, उसी प्रकार गर्मी में यदि अधिक बढ़ जाते हैं और उनमें उसी प्रकार तेल नहीं डाला जाता, तो बड़ी गर्मी लगती है। इस प्रकार बाल गर्मी-सर्दी को रोकने का भी एक साधन है। वास्तव में देखा जाय तो पशु-पक्षियों में तो इनका मुख्य काम बदन में गर्मी रखना और उन्हें ठन्डी गर्म जलवायु के प्रभाव से बचाना ही है। कारण कि मनुष्य तो अपने को ठंडे-गर्म कपड़े पहिन कर, हल्के-भारी कपड़े ओढ़ कर जलवायु के प्रभाव से बचा सकता है। परन्तु बेचारे पशु-पक्षियों को तो केवल अपने बाल-खाल तथा परों का ही सहारा है, उन बेचारों के पास ऊनी कोट, रुई के गद्दे-लिहाफ, रेशमी कुर्ते और चादर कहाँ रक्खी हैं!

मनुष्यों के बालों पर जलवायु का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु जानवरों के बालों पर बहुत प्रभाव पड़ता है, ठंडे स्थानों में वे अधिक और शीघ्रता से बढ़ते हैं और गर्म स्थानों में कम और धीरे-धीरे; उदाहरणार्थ गर्म मैदानों की भेड़ के ऊपर ऊन बहुत हल्की होती है, परन्तु ठंडे पहाड़ी स्थानों की भेड़ पर बहुत मोटी और घनी ऊन होती है,

कारण कि वहाँ पर ठंड अधिक पड़ती है और उन्हें ठंड से बचने के लिए अधिक घने बाल और ऊन की आवश्यकता है। ठीक यही बात गरम और ठंडे स्थानों के गाय, बैल, गिलहरी,तोते इत्यादि अन्य जानवरों के साथ भी है। तिब्बत के याक बैल के, टंड्रा के रीछ के, अमेरिका-इंगलैंड की गिलहरियों के बड़े-बड़े बाल होते हैं, पहाड़ी तोतों के पर बहुत होते हैं, टैगा के ठंडे जंगलों में तो जानवरों के ऊपर फर या समूर तक होता है। हाथी भी पहले ठंडे देश का जानवर था और इसकी खाल बड़ी मोटी होती थी। इंगलैंड में ज़ूलॉजिकल सोसायटी ने हिप्पो वंश के कुछ जानवरों को ठंडे स्थान में रख कर अनुभव किया कि गर्म स्थानों की अपेक्षा ठंडे स्थानों में बाल अधिक और शीघ्रता से बढ़ते हैं।

बालों का घटना-बढ़ना केवल जलवायु पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि वंशात्मक कारणों का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। ब्राजील में बड़े-बड़े बालों वाला एक बन्दर होता है जिसे चाहे कितने ही गर्म स्थान में क्यों न रक्खा जाय, उसके बाल या ऊन न तो लम्बाई में ही छोटे होते हैं और न घने-पन में ही कम होते हैं।

हवा पर अधिकार—जिस प्रकार मुर्गी का चूजा पैदा होते ही चोंच से दाना कुरेदने लगता है, मछली मेंढक आदि के बच्चे पानी में तैर सकते हैं, मानव शिशु बिना सिखाये ही कुछ महीनों में ही चल सकते हैं, ठीक इसी प्रकार पक्षियों के बच्चे बड़े होने पर स्वयं ही उड़ सकते हैं। हवा पर वह अधिकार जो मनुष्य ने हजारों वर्षों के बाद अनेकों वैज्ञानिक आविष्कार करने के बाद वायुमान द्वारा किया, पक्षियों का जन्म-सिद्ध अधिकार है और वे अपने परों की सहायता से कितनी ही तेज वायु में और और कितने ही ऊँचे सहज ही उड़ सकते हैं।

मनोभावों के प्रदर्शक—आपने मोर को नाचते और कबूतर को गुटक-गुटक कर नाचते देखा होगा। जिस समय वर्षाऋतु में आकाश पर बादल छाये होते हैं और मोर खुशी में भरकर पर उठा कर नाचता है तो उसकी छटा देखते ही बनती है। साथ ही मोर को नाचते देखकर कोई भी सहज ही यह अनुमान लगा सकता है कि वह कितना खुश है। इसी प्रकार कबूतर का गुटक-गुटक, पर फुला फूला कर और पैर ऊपर उठा कर नाचना भी उसके प्रसन्न चित्त अथवा कामवश होने का व्यंजक है। कोई-कोई जानवर क्रोध के समय अपने परों को फुलाते या खड़ा करते हैं। संभवतः 'सेही' अपने नुकीले परों को जिन्हें सेही का काँटा कहते हैं क्रोध के समय ही फुलाती या खड़ा करती है।

शत्रु के डराने का साधन—जैसा कि ऊपर बताया है सेही के पर नुकीले होकर काँटे का रूप धारण कर लेते हैं। जिस समय किसी मनुष्य या अन्य अपने शत्रु जानवर को देखकर अपने पर फुला कर खड़ी होती है, तो उसके भयानक काँटे देख किसी का उसके पास जाने का साहस नहीं होता। इसके अतिरिक्त इसकी दुम में कुछ ऐसे परदार काँटे होते हैं जिनके सिरे खोखले और खुले हुए होते हैं और जब वे हिलते हैं तो उनसे एक प्रकार की आवाज होती है जो कि वह अपने शत्रुओं को डराने के समय करती है। इसी प्रकार तुरकिस्तानी उल्लू के पर भी नुकीले होते हैं।

हथियार—सूअर और गेंडे की काँपें प्रसिद्ध हैं। जिनसे वे अपने शत्रु पर आक्रमण करने का काम लेते हैं। गेंडे के नथने पर तो एक-एक गज लम्बे बड़े सख्त बाल होते हैं जिन्हें काँपें कहते हैं, जो किसी प्रकार भी पशुओं के सींघों से कम कठोर तथा उपयोगी नहीं होते। इनसे सूअर और गेंडे उसी प्रकार अपने शत्रु पशुओं पर आक्रमण करते हैं और उनसे लड़ते हैं जिस प्रकार अन्य पशु अपने सींघों से करते हैं। इन्हीं काँपों से वे अपने शत्रु का खून बहा देते हैं।

ब्रुश—अमरीका में सूअर की तरह एक जानवर होता है जिसे विसकेचा कहते हैं। इसके पैरों में पंजों के पास कुछ ऐसे सख्त ब्रुश की तरह के बाल होते हैं कि यह कितना ही भीगा, पसीने में तर या मिट्टी से सना क्यों न हो तुरंत पिछले बालों से जिन्हें हम नेल ब्रुश कह सकते हैं, अपने को सुखा कर साफ कर लेता है।

बाल या नाक—कुछ जानवरों की आँखें, नाक और ओठों पर लम्बे-लम्बे कड़े बाल होते हैं जिन्हें उनकी मूँछें कह सकते हैं। इन्हें अँग्रेजी में फीलर कहते हैं अर्थात् इनसे जानवर सहज किसी वस्तु के स्पर्श को मालूम कर लेता है मानों वह दूर से ही सूँघ लेता है। आपने देखा होगा कि झींगुर के ओठों के सामने दो लम्बे बाल होते हैं, यदि तुम इनके पास अँगुली ले जाओ तो तुरंत फुदक कर अलग हट जाता है। यही दशा तितली की भी है। वह हाथ पास ले जाते ही उड़ कर दूसरे फूल पर जा बैठती।

मिथ्या विश्वास—जब किसी घर में कलह होती है कि इस घर में क्या किसी ने सेही का काँटा रख दिया है। लोगों का विश्वास है कि जिस घर में कलह मचवाना हो सेही का काँटा रख दो। इसी प्रकार प्रायः लोग कहा करते कि कबूतर सैयद है और जहाँ सैयद होते हैं वहाँ जिन्द-भूत नहीं आते। इसलिये बच्चों के घर में कबूतर पाला करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कबूतर के पैरों की हवा स्वास्थवर्द्धक है। इसी प्रकार कुछ लोगों का कहना है कि जिस घर पर उल्लू या चील बैठे, उल्लू का घोंसला हो वह मनहूस है और उस घर का शीघ्र सत्यानाश होता है। उधर कहते हैं जिस घर में गोरय्या अर्थात् घरेलू चिड़ियों के घोंसले हों वह घर शुभ है। मेरी समझ से तो ये सब कहने की बातें हैं और लोगों का मिथ्या विश्वास है, न कबूतर के पर स्वास्थवर्धक हैं, न चिड़ियों के और न उल्लू के ही मनहूस है। लोगों का यह मिथ्या भ्रम हैं कि यदि किसी के सिर पर कौवा या उल्लू बैठ जाता है तो काल निकट है।

परों की विचित्रता:—वेरेज नामक एक अँग्रेज ने पक्षियों पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने पक्षियों की विचित्र-ताओं का वर्णन करते हुए कुछ ऐसे पक्षियों की चर्चा की है जिनके पैरों का रंग वर्षा में भीगने पर उड़ जाता है, पर शीघ्र कुछ घंटों में ही ज्यों का त्यों गहरा चमकीला हो जाता है।

अन्य उपयोग—आपने भागवत, महाभारत आदि में पढ़ा होगा कि कृष्ण मोर मुकुट लगाया करते थे। मोर के पंखों के पंखे तो आजकल भी बनते हैं। इसके अतिरिक्त पक्षियों के परों के शटिल काक तथा अन्य खेल खिलौने भी बनते हैं। पहले पक्षियों के परों के कलम भी बना करते थे। इगलैंड में तो लम्बे पर के कलम का प्रयोग सर्वसाधारण में होता था जिसे क्विल quill कहते थे। इसके अतिरिक्त कुछ जंगली जातियाँ परों से अपने शरीर को भी सुसज्जित करती हैं।

फलों तथा शाक-भाजियों का पौष्टिक महत्व

लेखक—दर्शनानन्द श्रीवास्तव

लेख का शीर्षक ही विषय और प्रसंग का पूरा परिचायक है। आशा है लेख मनोरंजक और उपयोगी सिद्ध होगा।

फलों और शाक भाजियों का मनुष्य के भोजन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के आहार में प्रोमूजिन (protein), प्रांगोदीय (carbohydrate), तथा वसा (fat) का होना आवश्यक है।

प्रोमूजिन शरीर की बाढ़ तथा नई पेशियों (muscles की उत्पत्ति और रोग इत्यादि से नष्ट हुई पेशियों के निर्माण में सहायता करता है। प्रांगोदीय शरीर में शक्ति तथा ताप उत्पन्न करता है। इनके अतिरिक्त खनिज पदार्थ (minerals) भी संतुलित आहार के लिए आवश्यक हैं। चूर्णातु (calcium) और भास्वर (phosphorus) की न्यूनता के कारण दाँतों तथा शरीर की हड्डियों में निर्बलता आ जाती है। अतएव आहार में इनका स्थान भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं! गर्भवती स्त्री के आहार में विशेषतः चूर्णातु के होने से गर्भ में बढ़ते हुये भ्रूण (embryo) के विकास में सहायता मिलती है। इसी प्रकार अयस (Iron) और जम्बुकी (iodine) भी महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ हैं। अयस की कमी से रक्तहीनता (anaemia) का रोग हो जाता है। वैज्ञानिक अन्वेषणों (scientific researches) से यह ज्ञात हुआ है कि कुछ और भी वस्तुएँ हैं जिनका मनुष्य के आहार में रहना आवश्यक है। इनकी कमी के कारण मनुष्य नाना प्रकार के रोगों का शिकार हो जाता है। इन्हें जीवति या विटामिन (vitamin) कहते हैं। ये कई प्रकार के होते है और प्रत्येक के कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं। जीवति "क" (Vitamin A—Antixerophthalinic or Anti-infective) की कमी के कारण शरीर की बाढ़ रुक जाती है और रतौंधी का रोग हो जाता है। शरीर की त्वचा और पचन में भी भाँति-भाँति के विघ्न पड़ने लगते हैं। आम, केला, गाजर, पपीता तथा भाजियों की हरी पत्तियों में जीवति 'क' अधिक मात्रा में मिलता है। जीवति "ख"(Vitamin B-Antiberiberi or anti-neuritic) दो प्रकार के होते हैं। जीवति $ख^1$, (B^1) औ $ख^2$ (B^2)—जीवति $ख^1$ की कमी से बेरी-बेरी तथा भूख न लगने का रोग हो जाता है और जीवति $ख^2$ की कमी से वल्क चर्म (pellagra) का रोग। पालक. टोमैटो, नीबू आदि में जीवति ख की मात्रा अधिक होती है। जीवति "ग" (Vitamin C—Antiscorbitic) की कमी से मसूड़ों में रक्त बहना (bleeding of gums), दाँतों का गिरना तथा प्रशीताद (scuyrvy का रोग होने लगता है। इसकी मात्रा नीबू, पपीता, टोमेटो, पालक, बंदगोभी और द्राक्षा फल (grape friut) में अधिक पाई जाती है, परन्तु अमरूद और आम में और अधिक होती है, जीवति "घ" (Vitamin D—

Antirichitis) की कमी से बाल चक्र (ricket) का रोग चूर्णातु और भास्वर के संतुलन में विघ्न पड़ने के कारण होने लगता है। कुछ अंश तक यह बंदगोभी, केला तथा गाजर में मिलता है। जीवति 'ङ" (Vitamin E—Antisterlity) भोजन में न रहने से बांझपन (sterlity हो जाती है। सलाद (Lettuce-Lactucasativa), केला, बंदगोभी, तथा हरीमटर में यह जीवति मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि केवल फलों और भाजियों पर निर्भर रह कर शरीर को पूर्णतया स्वस्थ रखना कठिन है, क्योंकि इनमें प्रांगोदीय तथा वसा की मात्रा अन्नों तथा दालों इत्यादि से कम होती है तथापि इनमें जीवति तथा खनिज पदार्थों के होने के कारण इन का बड़ा महत्व है। बिना शाक भाजी व फल का आहार संतुलित आहार नहीं कहा जा सकता। हल्के काम करने वालों के भोजन में संतुलन के लिए प्रदि दिन कम से कम १२ आउन्स भाजी और २ आउन्स फल का होना नितान्त आवश्यक है। अंडा, मांस इत्यादि का सेवन करने वालों के भोजन में भाजियों की मात्रा कुछ कम की जा सकती है। विदेशों में भाजियों तथा फलों को प्रतिदिन के आहार में प्रमुख स्थान दिया जाता है। जम्बीरति जाति के फलों (Citrus fruits—Orange, lemon, grape fruit) की उपज फिलस्तीन स्पेन, अमेरिका (U.S.A) और ब्रैज़िल में क्रमशः 222, 85. o, 54. 3 तथा 53.9 पाउन्ड है जब कि भारत में इनकी उपज केवल 3.2 पाउन्ड ही है।

आज कल भारत की खाद्य समस्या दिनों दिन जटिल रूप धारण करती जा रही है। सारे साधनों का भरपूर उपयोग किये जाने पर भी समस्या हल होती नहीं दिखाई देती। दिनों दिन तीव्र गति से बढ़ती हुई देश की जन संख्या के भोजन की समस्या अंशतः हल हो सकती है यदि जनता कुछ आहार-प्रकृति में परिवर्तन करे। यदि भोजन में शाक भाजी व फल को उचित स्थान दिया जा सके तो कोई कारण नहीं कि खाद्य समस्या की जटिलता कम न हो। मनुष्य के आहार में उदर पूर्ति के लिए कुछ स्थूल पदार्थों (Roughage or bukly materials) जैसे कोशाधु (cellulose) का होना भी आवश्यक है। कोशाधु पपीता, केला, आलू, शकरकंद, अमरूद इत्यादि में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इनमें केला और पपीता अधिक महत्व रखते हैं। श्री बार्नली (Barneli) के अनुसार 24 केले का दूध के साथ सेवन एक युवक के लिए, जो कोई वशेष हस्तकृत श्रम न करता हो, संतुलित भोजन हो सकता है। पपीते में जीवति क और ग तथा चूर्णातु पाया जाता है। श्री अयक्राइड (Aykroyd) के अनुसार जीवति क के विचार से आम के बाद पपीते ही का नम्बर है। इसी प्रकार आम, अमरूद, गाजर, शकरकंद तथा आलू की भी सहायता खाद्य समस्या को हल करने में ली जा सकती है। अमेरिका तथा योरोप में आलू का प्रयोग भोजन की भांति किया जाता है, क्योंकि इसमें प्रांगोदीय की मात्रा अधिक होती है। अरब में वहाँ के निवासी कई दिनों तक केवल खजूर ही खा कर सरलता से रह जाते हैं।

फलों में लगभग (80% 85%) जल होता है। रोगों से रक्षा करने तथा खाद्य समस्या को हल करने में सहायक होने के अतिरिक्त रुग्णावस्था में फल व शाक-भाजी औषधि का कार्य भी करते हैं। क्योंकि रोगी को साधारण भोजन मना रहना है उस समय चिकित्सक, रोगी को फल व शाक भाजियों के रस लेने को बताते हैं। परवल के रस के महत्व से सभी परिचित हैं। स्वर्गीय बापू के ऐतिहासिक व्रतों का आरम्भ तथा अन्त संतरे से ही हुआ करता था। अमेरिका तथा योरोप में जलपान के रूप में फल तथा फल के रसों का उपयोग अधिकता से होता है।

भिन्न-भिन्न फलों तथा शाक भाजियों के आहार तथा चिकित्सा संबंधी महत्वों (Dietic and therapeutic values) और उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के उपयोगों को जानने के लिए उनका पृथक-पृथक अध्ययन करना आवश्यक है।

केला (Banana-Musa sapientum) में जीवति क, ख, ख[2] तथा ग पाये जाते हैं। थोड़ी मात्रा जीवति घ और ङ की भी होती है। दहातु (Patassium) भास्वर (Phosphorus), चूर्णातु (Calcium) तथा अयस (Iron) की मात्रा केले में सेब व संतरे से भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त इसमें जम्बुकी (Iodine) भी होती है।

पपीता (Papaya—Carica papaya) जीवति क और ग तथा चूर्णातु का अच्छा साधन (source है। पपीते में जीवति क, ग से अधिक होता है। जीवति ख की मात्रा भी अधिक होती है। श्री थाम्पसन के अनुसार हवाई द्वीप के पपीते के विश्लेषण करने पर यह ज्ञात हुआ कि उनमें पूर्ण ठोस (total solid) 10·5-9 14·41% और शक्कर 8.02—11·12% पाया जाता है।

अमरूद—(Guava—Psiolium guajava) में जीवति ग अधिक मात्रा में होता है और जीवति कभी मिलता है। श्री आयक्राइड के अनुसार १०० ग्राम अमरूद में २९९ मिलीग्राम जीवति ग होता है जबकि नीबू संतरे आदि में जीवति ग केवल 31-68 मिलीग्राम ही होता है। सर्वश्री गोलबर्ग और लेवी (Golberg and Levy) के अनुसार अमरूद के छिलके, बाहरी गूदे तथा भीतरी गूदे में जीवति ग क्रमशः 12 : 15 : 1 के अनुपात में होता है। अमरूद का जीवति ग इसके उत्पादों (products) में भी बना रहता है। अमरूद अयस (Iron) का भी अच्छा साधन है विशेषतः इसके बीज। इसके अतिरिक्त इसमें चूर्णातु और भास्वर भी होता है। अमरूद में खाने वाला भाग (edible portion) 84-87%, पूर्ण ठोस 17·78%—18·75%, भस्म (ash 0-531—0. 676%, अम्ल 0·3 63 0.451 %, प्रोमूजिन—1·125-1.525%-शक्कर 7·38-8·26%, वसा 0·412-0·524%, और तन्तु (fibres) 4·445–5·105% होता है।

आम—(Mango—Mangifera indica) में भी जीवति क और ग अधिक मात्रा में मिलता है। श्री पोप (Pope) के अनुसार इसमें खाने वाला भाग 63. 77%, पूर्ण ठोस. 20% से अधिक, भस्म, 0.277—0.469%, अम्ल 0·122-0.379%, प्रांगोदीय 15-25% प्रोमूजिन 0·438—1·075% और वसा 0.032%—0·530% होता है। शकर की मात्रा 11 से 20% तक होती है कच्चे आम में उत्कोलिक (malic) और न्यासविक (tartaric) अम्ल की मात्रा अधिक होती है पर पके फलों में शतिक (tannin) पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

जम्बीरति जाति के फलों—(Citrus fruits) में जीवति ग की मात्रा अधिक होती है। इनमें जीवति क और ख की मात्रा भी भरपूर होती है। नीबू के रस में जीवति ख[1] की मात्रा उन सबों से अधिक होती है। संतरा उच्च रक्त निपीड (High blood pressure) को कम करने के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ है। द्राक्षाफल (grape fruit) में जीवति ग की मात्रा अधिक होने के कारण इसका उपयोग प्रशीताद (scurry) से बचने के लिए किया जाता है। द्राक्षाफल का रस अम्लीय होते हुए भी इसका प्रभाव क्षारीय (alkaline) होता है क्योंकि यह रक्त की धार के क्षारातु (sodium) तथा दहातु (Potassinm) पर क्रिया कर के क्षारीय लवण (alkaline salts) बना देता है। कागज़ी नीबू शिर पीड़ा, रग पीड़ा (Neuralgia) कंठ पीड़ा (sore throat), खुजली (itches), अपच (indigestion) तथा चेहरे के दाग व रंग आदि के कष्टों को दूर करने में लभदायक सिद्ध हुआ है। श्री गुरुदयाल सिंह ने गठिया के रोगियों को प्रतिदिन 4–6 आउंस नीबू के रस का सेवन करने को लिखा है। प्रतिदिन प्रातः काल एक ग्लास जल में एक नीबू के रस को निचोड़ कर पीने से, पाचन, चेहरे के दाग तथा रंग सम्बधी कष्ट दूर हो सकते हैं।

अननास (Pineapple-Ananas satirres) में एक ऐसा विकर (enzygme) होता हैं जो प्रोमूजिन के पाचन में सहायक होता है, पर डिब्बे में बन्द कर के रखने (canning) से यह विकर नष्ट हो जाता है। यह जीवति क, ख तथा ग और कुछ खनिज पदार्थों का अच्छा साधन है। उसमें शकर 12% तथा अम्ल 0.6% होता है। इसके अतिरिक्त इसमें जम्बुकी (iodine) भी मिलता है जो ग्रंथीय रोगों के लिए लाभकारी पदार्थ है।

आँवला-(Aonla-Phyllanthus emblica) चटनी अचार, जेली या मुरब्बा बना कर प्रयुक्त होता है। अचार आदि बनाने की क्रिया में जीवति अधिकांशतः नष्ट हो जाते हैं परन्तु फलों को उबलते हुए जल में 2·3 मिनट छोड़ कर फिर नमक के घोल में छोड़ देने से ये नष्ट होने से बचाये जा सकते हैं। ताज़े फलों को कतर-कतर कर धूप में सुखा कर एक चूर्ण (powder) भी तय्यार होता हैं। इस चूर्ण में भी प्रतिग्राम लगभग 10--17 मिलीग्राम जीवति ग विद्यमान रहता है। आँवला में प्रामलक (ascorbic) अम्ल का सबसे अच्छा साधन है। श्री आयक्राइड के अनुसार आंवले के ताज़े रस में संतरे के रस से 20 गुना अधिक जीवति ग होता है। 100 ग्राम ताजे गूदे में 540—720 मिलीग्राम और 100 मिली लिटर ताज़े रस में 921 मिलीग्राम जीवति ग होता है।

खजूर (Date –phoenix dactylifera) का जाम (Jam) बना कर भी रखा जा सकता है। इसे दूध, मक्खन तथा मांस के साथ भी उपयोग में लाते हैं। खजूर के साथ दूध को भी प्रयोग करके मनुष्य ६ महीने तक पूर्णतया स्वस्थ रह सकता है। श्री मार्लथ (Marloth) के अनुसार सुखाये हुये खजूर में 70% प्रांगोदीय, (अधिकतर शकर) २% प्रोमूजिन, तथा 2·5% बसा होती है। उसके अतिरिक्त जीवति क और ख भी होता है।

लीची (Litchi—Nepheliam litchi clinensis) भास्वर का अच्छा साधन है। इससे अयस भी प्राप्त होता है इसमें 15·3% शकर, 0·54% भस्म 1·16% अम्ल तथा 1·15% प्रोमूजिन होता है। इसमें विद्यमान जीवतिओं के बारे में अभी ज्ञान अपूर्ण है।

अंगूर (Grape Vitisvinifera) में शकर की मात्रा भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न होती है। बम्बई की जातियों में 13·55—22·94% शकर, तथा 0·37—1·28% अम्ल होता है। यद्यपि यह अयस तथा अन्य खनिज पदार्थों का अच्छा साधन है पर इसमें जीवतिओं की मात्रा बहुत कम होती है। श्री अमोलक राम थापर के कथनानुसार पालक, भाप लगाई हुई बंदगोभी (steamed cabbage), तथा अंगूर प्रकृति के उबटन (Nature's Rouge) हैं क्योंकि ये पीले कपोलों में सुर्खी लाने में सहायता करते हैं।

सेव (Apple—Pyrusmalus) दहातु (Potassium) तथा भास्वर और जीवतिओं के कारण एक उत्तम पुष्टई है। सेव के रस के सेवन से अनिद्रा (Insommia) के रोग से मुक्ति मिल सकती है। सेव चूर्णातु के अतिरिक्त जीवति ग का भी अच्छा साधन है जो छिलके में गूदे से अधिक होता है। सेव तथा इसका रस अच्छा रेचक (laxative) भी है।

शरीर के भीतर अम्ल के आधिक्य से नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते है विशेषतः मांस, मछली, पनीर तथा अंडा इत्यादि खाने से पायरिया इस प्रकार उत्पन्न रोगों में मुख्य जिससे "सभ्यता की शिकार" जनता अधिकांशतः पीड़ित रहती है। परन्तु भाजियों के प्रयोग से विशेषतः ऐसी भाजियाँ जिनकी पत्तियों खाई जाती हैं तथा दूध से शरीर में क्षार बनता है।

पालक—(Spinach oleracea) में जीवति क और ख भरपूर होता है। पत्ती वाले शाकों में इसका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

बंद गोभी (Cabbage—Brassica oberacea capitata) में जीवति क तथा ग भरपूर होते हैं विशेषतः जीवति क। जीवति ख, घ तथा ङ भी अधिक

मात्रा में होता है। इसमें गन्धक (sulphur) तथा जम्बुकी (iodine) भी होता।

फूलगोभी (Cauliflower--Brassica-oleracea bobytis) में जीवति क, थोड़ा जीवति ख और जीवति ग उससे अधिक होता है। इसमें भी गन्धक पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होता है।

गाजर (carrot—daucus carrota) को भी लोग कम महत्व देते हैं पर इसमें जीवति क तथा ख भरपूर होते हैं। जीवति ग तथा घ भी कुछ-कुछ मिलता है। यह जीवति क के लिए प्रसिद्ध है इसलिए इसके सेवन से नेत्र संबंधी रोगो में लाभ पहुँचता है। इसके अतिरिक्त इसमें जम्बुकी (iodine भी पर्याप्त मात्रा में होता है यह ग्रंथीय रोगों (glanduler diseases) में लाभ पहुँचाता है।

टोमैटो (Tomato-Lgcopersicum esculentum) का उपयोग दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है। यह जीवति क, ख तथा ग का अच्छा साधन है। टोमैटो में जीवति ग तथा प्रामलक (Ascorlic) अम्ल अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक नवयुवक के आहार में लगभग 75 मिलीग्राम जीवति ग का होना आवश्यक है जो कि तीन छोटे टोमैटो (लगभग 300 मिलीग्राम) से आवश्यक (75 मिलीग्राम) जीवति ग या प्रामलक (Ascorlic) अम्ल प्राप्त किया जा सकता है। टोमैटो चूर्णातु तथा अयस का भी अच्छा साधन है।

फलों तथा भाजियों को ताज़ा प्रयोग करने के अतिरिक्त भविष्य के लिये भाँति भाँति से सुरक्षितरखने के भी अनेकों ढंग हैं जिससे जब जी चाहे, ऋतु (season) में या ऋतु न होने पर भी, (osseason) इस फल या भाजी का इच्छित स्वाद लिया जा सके।

फलों के गूदे को शकर के साथ उबाल कर एक विशेष गाढ़ेपन तक ले जाकर रखे जाने वाले पदाथ को फलपाक (Jam) कहते हैं। यह विशेषतः आड़ू, खूबानी, अंजीर आम, गाजर तथा टोमैटो से अच्छा बनता है। जेली (jelly) एक टोमैटो अर्धठोस, अल्प पारदर्श (translucent) पदार्थ होता है जो फल के रस को शकर में पका कर तय्यार किया जाता है। फलों तथा भाजियों को डब्बों में शकर या नमक डालकर सुरक्षित रखा जा सकता है, किसी को समूचा और किसी को काटकर सुविधानुसार रखते हैं। फलों को शकर के घोल तथा भाजियों को नमक के घोल में रखा जाता है, आम, अमरूद, अनानास नासपाती, सेब, आड़ू, खूबानी, मटर, भिंडी, गाजर, सेम, पालक, गोभी तथा लौकी को भी सफलतापूर्वक डब्बों में बंद (canning) कर के रखा जा सकता है। फलों के रस में शकर की एक विशेष मात्रा घोलकर दहातु तथा क्षारातु सम द्विशुल्बीय (potassium or sodium meta bi-sulphate) जैसे रक्षक को छोड़कर तय्यार किये हुए पदार्थ को फलपानक (squash) कहते हैं फलपानक (squash) में पोषक तथा चिकित्सा संबंधी गुण भी विद्यमान रहते हैं। यह जम्बुकीथ फलों का बहुत अच्छा बनता है। वैसे ही रसीले आम, जामुन, अनार तथा फालसा का भी बनता है। मुरब्बा भी फल व शकर से तय्यार किया जाता है। यह विशेषतः आँवला, कुम्हड़ा, आम, अनन्नास, बेल, गाजर और हड़ का अच्छा बनता है, मुरब्बों को सुखाकर भी रखा जा सकता है। फलों के रस में शकर, नमक व सिर्का तथा तरह तरह के मसालों को मिलाकर पकाने से कटलप (Ketchup or catsup) तथा कर्करी (sause) तय्यार होता है। इसके लिये मुख्यतः टोमैटो तथा इमली का व्यवहार किया जाता हैं। अचार मुख्यतः नमकीन ही बनते हैं। वैसे मीठे अचार भी बनाने का चलन है। इसमें लगभग सभी फल व भाजियाँ उपयोग में लाई जा सकती हैं, आम, कटहल नीबू तथा करौंदे के अचार अधिक प्रचलित हैं।

फलों तथा भाजियों को अधिक समय तक सुखाकर सुरक्षित रखा जा सकता है। घरों में धूप में ही सुखाने का चलन है, पर वाणिज्यक (Commercial) आधार पर विजलीयता (dehydration का भी उपयोग किया

जा सकता है। सूखे फल जिन्हें मेवा कहते हैं ताज़े फलों को सुखाकर ही तय्यार किया जाता है। छुहारे केवल सुखाये हुए खजूर हैं, अँगूर को सुखाकर किशमिश तय्यार करते हैं, मुनक्का भी एक विशेष जाति के अंगूर को ही सुखाकर बनाते हैं। आम्र पापड़, आम्ररस तथा अमावट, आम के सुखाये हुए रसों के ही भिन्न भिन्न नाम हैं। सुखाये फलों को या तो सूखा ही खाते हैं या जल में मिलाकर सुखाई हुई भाजियों को पकाने के पहले 10-12 घंटे जल में भिगोकर रखना आवश्यक है।

फलों तथा शाग भाजियों का प्रतिदिन के जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है, यह तो निर्विवाद है। इसका उपयोग प्रत्येक मनुष्य सुगमता से कर सकता है यदि वह अपनी प्रकृति में थोड़ा परिवर्तन करने पर तय्यार होह। परन्तु मनुष्य तो परिवर्त्तन से घबराता है। भारत में तो परिवर्त्तन का नाम लेते ही लोग परम्परा की दुहाई देने लगते हैं। परन्तु जगत परिवर्त्तन-शील है तथा परिवर्त्तन प्रकृति का भी नियम है। इसी पर जगत का विकास निर्भर है। जो लोग परिवर्त्तन से झगड़ा मोल लेंगे उनका नाना प्रकार के कष्टों को भोग कर भी संसार में रहना असम्भव हो जायगा अतएव हम सभी को अपना आहार प्रकृत्ति में थोड़ा सा परिर्वत्तन कर के, और वह भी अपने भले ही के लिये भारत सरकार के प्रयत्नों में हाथ बटाना चाहिये। इसी में राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत तथा सामूहिक, हर प्रकार का कल्याण निहित है।

३७ वें वर्ष (अक्टूबर १९४९ से सितम्बर १९५०) का कार्य्य विवरण

इस वर्ष का कार्य गत २-३ वर्षों की अपेक्षा कुछ संतोषजनक रहा। इस वर्ष में फलसंरक्षण नामक पुस्तक का नया संशोधित संस्करण छप गया और एक नई पुस्तक शिशुपालन भी प्रकाशित हुई। उपयोगी नुसखे, घरेलू डाक्टर तथा मधुमक्खी-पालन के नये संस्करण प्रेस में हैं जो शीघ्र ही छप जायँगे (छप गये। इस प्रकार अपने पुस्तकों के भंडार को जो लगभग समाप्त हो चुका था और जिसके कारण हमारी आर्थिक स्थिति चिंताजनक हो चली थी, हम पुनः पूरा कर सके हैं और हमें आशा है कि कुछ ही महीनों के अंदर दो एक और पुस्तकें हम निकाल सकेंगे। साँपों की दुनिया पुस्तक छपकर तैयार हो गयी है, केवल सिलाई बाकी है। फसल के शत्रु नामक पुस्तक का प्रकाशन भी प्रारंभ किया जा रहा है।

इन कार्यों में हमारा सारा धन व्यय हो गया है और उपयोगी नुसखे, मधुमक्खी पालन, व घरेलू डाक्टर की छपाई के बिल देने के लिये हमें स्थायी कोष से धन निकालना पड़ेगा। परन्तु पुस्तकों के पर्याप्त मात्रा में हो जाने से हमें विश्वास है कि हमारी पुस्तकों की बिक्री काफी बढ़ जायगी और हम पुनः इस कर्ज को चुका सकेंगे। इसके अलावा हमारी अन्य पुस्तकें जैसे ताप, वायुमन्डल, मिट्टी के बर्तन, कलम पेवन्द, सरल विज्ञान सागर व उपयोगी नुसखे तथा घरेलू डाक्टर के अन्य भाग प्रकाशित होना आवश्यक है। परन्तु इसके लिये हमारे पास धन नहीं है। सरकार या अन्य उदार विज्ञान प्रेमियों की सहायता के बिना हम यह कार्य करने में असमर्थ हैं।

हमारी मासिक पत्रिका विज्ञान जो गत-वर्षों से पिछड़ गई थी, अब किसी प्रकार पूरी हो सकी है। केवल १ मास का अंतर है और हम शीघ्र उसे पूरा कर सकेंगे। हम अपने संपादक डा० हीरालाल निगम को धन्यवाद देते हैं कि अनेक कठिनाइयों के होते हुये भी वह विज्ञान को नियमित करने में समर्थ हो सके हैं। हमें कई बार प्रेस भी बदलना पड़ा है। हमें अभी विज्ञान में अनेक सुधार करने हैं, रोचक तथा लोकप्रिय बनाना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि ग्राहक बढ़ें तथा हमें आर्थिक सहायता अधिक मिले। इसके अलावा हमें एक वैज्ञानिक सहायक सम्पादक की आवश्यकता है जो पत्रिका के प्रकाशन का कार्य संभाले। उससे हमें पुस्तकों के प्रकाशन में भी सहायता मिल सकती है।

हमारा विचार हिन्दी में एक चतुर्मासिक वैज्ञानिक पत्र निकालने का है जिसमें गवेषणात्मक लेख छपेंगे। हमारे देश में अभी इस प्रकार का कोई पत्र नहीं है। उसके लेख तो हम हिन्दी में छापेंगे परन्तु लेखों का सारांश हिन्दी तथा अंगरेजी में छापेंगे जिसे abstract करने वालों को सरलता हो और अनुसंधान लेख संसार के अन्य abtracts में स्थान पा सकें। अन्य देशों में इस प्रकार की पत्रिकायें छपा करती हैं। इस कार्य में हमें लगभग २०००) प्रति वर्ष खर्च करना पड़ेगा। यदि हमें सरकार इसकी अलग से सहायता दे सके तो हम इस कार्य का भार अपने ऊपर ले सकते हैं। स्वतंत्र भारत में हिन्दी में वैज्ञानिक पत्रिकायें निकालना आवश्यक है और इससे हमारे अंतर्रा-

ष्ट्रीय सम्बन्ध अधिक प्रौढ़ होंगे। हमें आशा है कि सरकार इसमें हमारी सहायता कर हमें इस नये कार्य के करने में समर्थ कर सकेगी।

हमारे कार्यों के सुचारु रूप से न चल सकने का एक कारण हमारा अपना विज्ञान भवन न होना है। हम लोगों ने इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट को इस सम्बन्ध में लिखा है। यदि हमारे पास एक भवन हो जाय तो हमारे कार्यों में बड़ी सहायता मिल सकती है।

इस वर्ष परिषद के आजीवन सभ्यों की संख्या ४८ साधारण सभ्यों की संख्या ७८ तथा ग्राहकों की १८६ रही। परिषद के पदाधिकारी इस वर्ष इस प्रकार थे:—

सभापति—माननीय हरीशचन्द्रजी जज

उपसभापति—(१) श्री हीरालाल खन्ना

(२) डा० श्रीरंजन

प्रधानमंत्री—डा० रामदास तिवारी

मंत्री—(१) डा० हीरालाल दुबे

(२) डा० हीरालाल निगम

कोषाध्यक्ष—श्री हरिमोहनदास टंडन

स्थानीय अंतरंगी—(१) डा० गोरख प्रसाद

(२) डा० संतप्रसाद टंडन

(३) डा० दिव्यदर्शन पन्त

(४) प्रो० सालिगराम भार्गव

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

बाहरी अंतरंगी—(१) श्री वेंकटलाल ओझा (हैदराबाद)

(२) डा० बृजमोहन, काशी वि० वि०

(३) डा० गनेशप्रसाद दुबे, पटना वि० वि०

(४) डा० रामाधार मिश्र, एम० एल० ए०, लखनऊ वि० वि०

(५) डा० ओंकारनाथ परती, सागर वि०वि०

आय-व्यय परीक्षक—डा० सत्य प्रकाश

वर्ष (१९४९-५०) के आय-व्यय का लेखा इस प्रकार है—

आय—		रुपया	व्यय—		रुपया
आजीवन सभ्योंसे	..	?	लेखक का वेतन	..	४७०)
साधारण सभ्यों से	..	३७३-)	चपरासी का वेतन	..	१३५)
पुस्तकों की बिक्री से	..	६३२॥=)	गोदाम का किराया	..	१९५)
विज्ञान के ग्राहकों से	..	९०४।)	इक्का ठेला आदि	..	१३॥)
पुरानी साइकिल की बिक्री से	..	४३)	पार्सल आदि का खर्च	..	२९॥।-)॥।
उ० प्र० सरकार से	..	४५००)	स्टेशनरी आदि	...	३३॥=)
ब्याज से	..	१२५॥≋)॥।	विज्ञान की छपाई	..	२५६१॥।)
	..	————	अन्य पुस्तकों की छपाई	..	२७६७॥।)॥
	...	६५७८॥=)॥।	पोस्टेज	..	२८९)
पिछली रोकड़ बाकी	..	६१३६॥।)१	फुटकर	..	१३॥)
	..	————	कागज़	..	८६७)
योग		१२७१५।=)७	ब्लाक की बनवाई	...	२४४॥।-)
			बैंक कमीशन	..	४।)

नई साइकिल तथा मरम्मत आदि..	१४७।-)॥
अधिवेशन सम्बधी खर्च ..	११०।-)
चपरासी के कपड़े ...	२८।-)।
सभ्यों की सूची आदि की छपाई ..	१५३)
विज्ञान की प्रूफ दिखाई ...	१३४)
पुरस्कार (श्री मुरलीधर वौड़ाई) ...	२००)
...	८४३६॥-)।
रोकड़ बाक़ी ..	४२७८॥-)४
..	१२७१५।=)७

विज्ञान के सम्बन्ध में (१९४९-५०) के आय-व्यय का लेखा:—

आय		रु०	व्यय		रु०
ग्राहकों से	..	९०४।)	काग़ज़ मुतफ़र्रिक	..	२०)
सभ्यों से	..	२१८-)	ब्लाक में	..	१२२=।)
सरकार से	..	४५००)	विज्ञान की छपाई व काग़ज़	..	२५६१॥।)
	..		डाक खर्च तथा स्टेशनरी आदि	..	१२०)
	..	———	प्रूफ दिखाई	...	१३४)
	..	५६२२।-)	लेखक का वेतन कुल का $\frac{1}{3}$	..	१५६॥=)
पिछली रोकड़ बाक़ी	..	३३६८॥।-)	चपरासी का वेतन कुल का $\frac{1}{3}$	..	८७॥)
	..	९०२१=)॥	घाटा जो के पुस्तकों के लेखे हुआ	..	३२०२।)
					१५४०-।)
योग				...	४७४२॥-)२
	..		रोकड़ बाक़ी	..	४२७८॥-)४
	...		योग	..	९०२१=)॥

पुस्तकों की छपाई के खर्च का ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) शिशु-पालन १००० प्रति

कागज़	..	२४२)
ब्लाक बनवाई	..	१२२।≡)
प्रूफ दिखाई	...	५४)
छपाई	..	९४२।।=)
लेखक को पुरस्कार	..	२००)
ठेलाभारा गोदाम तक		३)
	..	१५६४।-)

(२) फल संरक्षण ३००० प्रतियाँ

कागज	...	६०५)
जिल्द बधाई	...	६००)
छपाई	..	५५७≡)
ठेलाभारा गोदाम तक	..	४)
	...	१७६६≡)

दोनों पुस्तकों की छपाई में कुल ३३३०।।) रु० खर्च हुआ

परिषद् के सम्बन्धका अनुमान पत्र :—

आय			व्यय		रु०
आजीवन सभ्यों से	..	१४०)	स्टेशनरी पैकिंग आदि—	..	५०)
साधारण सभ्यों से	..	८०)	डाक व्यय	..	२००)
पुस्तक की विक्री से	..	१०००)	इक्का ठेला आदि	..	४०)
सरकार से	...	२५००)	ठेलाभाड़ा आदि	..	१०)
	..		साइकिल की मरम्मत	..	५०)
	..		बैंक इन्सीडेंटल चार्ज	..	१०)
	..		दफ़्तर गोदाम का किराया	..	३००)
	..		फुटकर	..	२०)
	...		लेखक का वेतन कुलका $\frac{2}{3}$	..	३२०)
	..		चपरासी का वेतन कुल का $\frac{1}{2}$	..	२१०)
	..		पुस्तकों की जिल्द बधाई	..	४५०)
	..		पुस्तकों की छपाई तथा अन्य पुस्तकों के खरीदने में		२०६०)
योग	..	३७२०)	योग		३७२०)

आगामी वर्ष (१९५०-५१) के लिए अनुमान पत्र विज्ञान के सम्बंध में:—

आय		रु०	व्यय		
४०० ग्राहकों से	..	१२००)	३२ पेज का विज्ञान ७५० के लिए	...	
४० सभ्यों से	..	१२०)	३६ रिम कागज दर १८।) रिम		६५०)
उ० प्र० सरकार से	..	१२००)	छपाई ३५) प्रतिफार्म	...	१६८०)
	..	———	कवर का कागज	...	३६५)
	..	२५२०)	कवर की छपाई	...	२४०)
पिछली रोकड़ बाकी	..	४२७८॥-)४	बाइंडिंग आदि	...	७५)
	..		ब्लाक	...	७७०)
	...	———	डाक खर्च	...	२००)
योग	..	६७९८॥-)४	लेखक का वेतन कुल या ⅓	..	१६०)
	..		चपरासी का वेतन ½	..	२१०-)॥
	...		प्रूफ दिखाई तथा लेखकों को पुरस्कार	..	१४५०)
	...		विशेषांक के लिए	..	४५५)
	...		मुतफर्रिक खर्च	..	६३॥-)४
	..			..	६२९८॥-)४
	..		रोकड़ बाकी	..	५००)
	..			..	६७९८॥-)४

डा० जमुना दत्त तिवारी का भाषण

वैज्ञानिक-शिक्षा

हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली पाश्चात्य देश-वासियों की देन है। उन्होंने अपना दृष्टि कोण यही रक्खा कि शिक्षा ऐसी हो कि उनकी सत्ता बनी रहे। प्रथम उन्होंने मद्रास में शिक्षा प्रारम्भ की। उस समय के पूर्व भी भारतवर्ष में बहुत से शिक्षाकेन्द्र थे जिनमें स्वतन्त्र आधार पर शिक्षा होने के कारण परकीयों को वह पसन्द न थी। अंग्रेजों ने शिक्षा प्रारम्भ करने में जो दृष्टि कोण अपने सामने रक्खा था उसमें प्रमुख यह था कि कामीलयों को कार्या करने वाले मिलें। नौकरी के लालच में लोगों ने इस नई प्रणाली को अपनाया। शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य, कि व्यक्तिगत विकास हो और मनुष्य अपने नैसर्गिक गुणों को बढ़ा सके, समाप्त हो गया और लक्ष्य केवल इसका बाज़ारू मूल्य रह गया। शिक्षितों में सर्व श्रेष्ठ सरकारी नौकरी में चले गये और जो उससे कम थे वे शिक्षक बने। बाहर के देशों में नौकरी के

लिये प्रारम्भिक शिक्षा के लोग ही जाते हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त लोग शिक्षा केन्द्रों में ही रहते हैं। इस कारण वहाँ अध्यापकों का अत्यन्त सम्मान होता है। यहाँ सरकारी नौकरी में उत्तम शिक्षा वाले ले लिये जाते हैं और सब से छुटा वर्ग शिक्षक बनता है।

यहाँ उच्चय शिक्षा पाने पर लोग सरकारी नौकर बनते हैं। वहाँ वेतन अधिक होता है। इस कारण स्वाभाविकतः शिक्षकों का सम्मान कम हो जाता है। इन निम्न मात्रा में सम्मानित शिक्षकों द्वारा दी शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों द्वारा कैसे यह सम्भव है कि हम जगत में आज बढ़ सकें। यहाँ के शिक्षक अपनी कभी अनुभव कर यह चाहते हैं कि दूसरे देशों की शरण लें। वहाँ शिक्षाका का अत्यन्त सम्मान होने के कारण उनमें आत्मविश्वास है। यहाँ के विद्वान इहीं कारण बाहर जाने के इच्छुक रहते है।

रूस में २२ पीछे विश्वविद्यालय में १ विद्यार्थी की व्यवस्था है। अन्य देशों में कुछ स्थानों पर तो इतना तक है कि २०० के पीछे १ विद्यार्थी के पढ़ने के लिए विश्व वद्यालय में जगह है। हमारे यहाँ जो वैज्ञानिक शिक्षा है वह भी धन कमाने के हेतु हैं। यह हमें बदलना चाहिये।

हमारी शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिये कि हम प्रारम्भिक शिक्षा तो ऐसी रक्खें जिसमें जिसमें धन-उपार्जन की व्यवस्था हो। इसके बाद की उच्च शिक्षा इस प्रकार हो जिसके शिक्षक सर्व श्रेष्ट हों, न कि ऐसे जो न I. C. S. I. P. S. से लेकर कानूनगो तक की परीक्षाओं में असफल होने के बाद आने वाले लोग जैसा आज हैं।

इस प्रकार शिक्षा-प्रणाली रखने पर ही समाज के लिये उपयुक्त नागरिक निर्माण हो सकेंगे।

डा० मालवीय का भाषण

लोगों को कड़ुआ तेल खाने के कारण बेरीबेरी हो जाती है। कलकत्ता में ऐसा ख्याल है कि भरभण्डा केतेल से बेरीबेरी होती है। पारसाल भरभण्डा के तेल के कारण बेरीबेरी हुई, ऐसा मत है। इस साल बेरीबेरी नहीं हुई। लोग ऐसा समझे शायद अबकी भरभण्डा खतम हो गया। हमने कैदियों को भरभण्डा खिलाया। पहिले तो उनकी भूख कम हुई। फिर उनके पैर बहुत फूले, कुछ एक्जिमा भी दिखाई दिया। आँख नहीं खराब हुई। फिर उनको दवा दी गई। कुछ को नहीं। परन्तु सब केवल डिस्टिल्डवाटर से ही अच्छे हो गये। यह विशेष बात थी कि कोई विटामिन इत्यादि उन्हें न दिया गया। बन्दरों पर यही प्रयोग किया गया उन पर भी यही असर हुआ। यह समस्या हम लोग स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि इस बेरीबेरी का प्रमुख कारण क्या है। इस तरह यह इपीडेमिक ड्रप्सी का कारण अभी तक स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार झुनझुनिया की बीमारी का भी कारण मालूम नहीं है।

सभापति महोदयः—विज्ञान परिषद् अभी तक सतत अच्छी तरह काम करता रहा है। यद्यपि पिछले सालों जनता तथा सरकार से अपेक्षित सहयोग प्राप्त न होसका। पिछले साल सरकार ने हमे अर्थिक सहयोग दिया जिससे हम आगे बढ़ सके। हमारी पत्रिका 'विज्ञान' बढ़ कर अखिल भारतीय पत्रिका बने इसके लिये हम लोग अत्यन्त प्रयत्नशील हैं। हमलोग यह भी प्रयत्न कर रहे हैं कि अन्य स्थानों पर भी इस की शाखायें खुलें। डा० जमुना दत्त और डा० मालवीय को हमारा हार्दिक धन्यवाद है।

डा० सत्य प्रकाश ने
अन्ति में धन्यवाद दिया।

सभापति—श्री हरिश्चन्द्र जी आई० सी० एस०
उपसभापलि—श्री हीरालाल खन्ना
श्री डा० श्रीरंजन
प्रधानमंत्री—श्री डा० रामदास तिवारी
मंत्री—श्री डा० हीरालाल दुबे
श्री डा० रमेशचन्द्र कपूर

खाद्य आयात के आँकड़े

उपज बढ़ाने के लिये प्रतियोगिता

१ जनवरी, १९५१ के बाद कुल जितना अन्न भारत पहुँचा, उसकी मात्रा नीचे दी जाती है :—

गेहूँ	७,३०,००० टन
आटा	६,१०० टन
चावल	२,६०,०५० टन
कोदों	२,३६,२५० टन

सब प्रकार का कुल १७,०१,५०० टन अन्न प्राप्त किया गया।

थोड़े दिन पूर्व भारतीय कृषि गवेषणा परिषद के शासी-निकाय और मंत्रणादाता बोर्ड की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता करते हुए माननीय श्री के० एम० मुंशी ने देश पर्यंत कृषि-विस्तार की एक ऐसी समन्वित योजना की आवश्यकता पर जोर दिया, जिससे उत्साही किसनों का संबंध हो। उन्होंने कहा कि अर्थाभाव के कारण विस्तार की कोई व्यापक योजना इस समय हाथ में नहीं ली जा सकती, इसलिए अभी एक समिति योजना का ही विचार करना चाहिए।

बैठक में कई राज्यों के कृषि मंत्री तथा कृषि—विभागों के अधिकारी सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त, केंद्र के तीन उच्च अधिकारी—श्री विष्णु सहाय (सचिव—केंद्रीय कृषि-मंत्रालय), सरदार दातारसिंह (परिषद के उपाध्यक्ष), और श्री एच० सी० होम्स (कृषि-विस्तार संम्बधी मत्रणा-दाता) भी उपस्थित थे।

विचार-विनिमय के बाद, बैठक ने सफल प्रतियोगिता के संबन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसके अनुसार केंद्रीय तथा राज्यीय सरकारों सिफारिश की जायगी कि मई के अन्तिम सप्ताह और जून के प्रथम सप्ताह में एक फसल-प्रतियोगिता-पखवारा मयाया जाय।

फसल के शत्रु

लेखक—शङ्कर राव जोशी

पिछले मास से क्रमशः यह लेख छपा जा रहा है, यहाँ कीड़ों के मारने के उपाय वर्णित हैं।

इस प्रकार एकत्रित किए गए कीड़ों को बाहर निकाल कर बारीकी से निरीक्षण करके देख लिया जाय कि वे किस वर्ग, उपवर्ग, जाति, उपजाति के हैं। किन्तु फसल की रक्षा की दृष्टि से इनका ज्ञान लेना आवश्यक नहीं है।

वर्षा में कीड़ों का प्राबल्य रहता हैं। वर्षा में कीड़ों की प्रजा वृद्धि भी खूब होती है। कारण कि इस मौसम में न तो सरदी ही ज्यादा होती है और न गरमी ही। इसके अलावा इस मौसम में उनको खाने को भी खूब मिलता है। ठंड के मौसम में बहुत कम कीड़े दिखाई देते हैं। इससे यही अनुमान निकलता है कि या तो भोजन की कमी और मौसम बदलने के कारण अधिकाँश कीड़े मर जाते हैं, या वे कहीं छिपकर निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। जिस मौसम में भोजन की कमी रहती है, और आबहवा अनुकूल नहीं होती, कई प्रकार के कीड़े अनुकूल स्थान खोजकर उसमें जा छुपते हैं।

इस संसार क्षेत्र में प्रत्येक प्राणी को जीवन संग्राम में सम्मिलित होना पड़ता है। सशक्त की ही सदा जीत होती है और अशक्त बेचारे खेत रह जाते हैं। यही कारण है कि वर्ष के अन्त में बहुत कम कीड़े जीवित रह पाते हैं।

ऋतु-परिवर्तन, भोजन की न्यूनता, शत्रुओं के आक्रमण आदि कारणों से अधिकाँश कीड़े अकाल में ही काल के गाल में समा जाते हैं। यदि इस प्रकार कीड़ों की प्रजा-वृद्धि में रुकावटें न पड़तीं, तो अब तक सारा भू-मडल कीड़ों से भर गया होता। प्रकृति माता ने मानव-समाज के हित के लिए कीड़ों की प्रजा वृद्धि रोकने के हेतु अनेकानेक उपाय रचे हैं। मनुष्य अपने प्रयत्नों से कीड़ों की प्रजावृद्धि में अत्यधिक सहायता पहुंचाता है, वह उन्हें रहने को स्थान और खाने को भोजन देता है। तथापि प्रकृति देवी प्रजावृद्धि रोके रहती और साम्य बनाए रखती है, यही कारण है कि फसल को हरसाल कीड़ों से ज्यादा नुकसान नहीं पहुंचता है।

जब बहुत से कीड़ों का समुदाय मिलकर फसल पर आक्रमण करता है, तभी उन्हें 'फसल के शत्रु' कहते हैं। वास्तव में तो प्रत्येक प्राणी और रोग, जो फसल को हानि पहुंचाता है, शत्रु ही है। किन्तु कीड़ों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाने पर उनके फसल पर आक्रमण कर देने पर ही उन्हें 'शत्रु' कहते हैं। और इन शत्रुओं का नाश करके फसल की रक्षा करना प्रत्येक कृषक के लिए अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है।

फसल की रक्षा के उपाय

रोग हो जाने पर उसे दूर करने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उस रोग को उत्पन्न न होने देना ही सर्वोत्तम उपाय है। इसी प्रकार कीड़ों का जोर बढ़ जाने पर उनके नाश

का उपाय करने की अपेक्षा कीड़ों की प्रजावृद्धि रोकने का प्रयत्न करते रहना ही अत्युत्तम है।

कीड़े पत्ते, फूल आदि खाकर, तना शाखा, कंद-मूल-फल आदि में छेद करके भीतर प्रवेश कर या उनका रस चूस कर फसलों को हानि पहुँचाते हैं। पत्ते आदि खाने वाले कीड़ों की संख्या अत्यधिक हैं और यही कीड़े सबसे अधिक हानि पहुँचाते हैं। इन से कम संख्या में वे कीड़े हैं, जो पौधे के तना, शाखा, कंद-मूल-फल का रस चूस कर उन्हें बेकार कर देते हैं। कभी इनके द्वारा पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। नाज, इमारती लकड़ी, नाना प्रकार के वस्त्र आदि को खाकर नष्ट करने वाले कीड़ों की संख्या कुछ कम है।

कीड़ों की वृद्धि रोकने के कई उपाय हैं। इन में से कुछ उपायों पर आगे चल कर विचार किया जायगा। सुभीते के लिए ये उपाय नीचे लिखे विभागों में बांटे गए हैं—(१) कृषि-सम्बन्धी उपचार (२) यांत्रिक उपचार और (३) कीट नाशक ओषधोप प्रचार।

कृषि-सम्बन्धी उपचार

१—खेतों की सफाई—कीड़ों की प्रजा-वृद्धि रोकने के लिए सब से अच्छा उपाय है, खेतों, मेड़ों और उनके आस पास सफाई रखना। खेत में खर-पतवार कदापि नहीं पड़े रहने देना चाहिए। और मेड़ों पर के घास-पात और फालतू पौधों को भी नाम शेष कर देना चाहिए। खर-पतवार और फालतू पौधों को उखाड़ कर खेत में या मेंड़ पर या आस-पास की जमीन पर कदापि न पड़े रहने देना चाहिए।

अगिया जैसे पौधे फिर जड़ें पकड़ लेते हैं और दूसरे पौधे वहीं पड़े सड़ा करते हैं। इनमें कीड़े और गोमज रोग या कबक रोग (फगस) वृद्धि पाते रहते हैं और यही तब पौधों पर आक्रमण करते हैं। अतएव जुताई इस प्रकार की जानी चाहिए कि खेत में खर-पतवार उगने ही न पाय। खरपतवार और फालतू पौधों को फसल में से उखाड़ कर जमीन के अन्दर गाड़देना चाहिए, जिससे वे सड़कर खाद का काम देंगे और कीड़ों और रोगों की वृद्धि भी न होगी। फसल काट लेने के बाद पौधे का कोई भाग खेत में हरगिज नहीं रहने देना चाहिए। ठंढ और गरमी के मौसम में कीड़े इन्हीं के अन्दर सुप्तावस्था बिताते हैं और वर्षारंभ होते ही बाहर निकल कर फसल पर आक्रमण करते हैं। अतएव इनको उखाड़ कर जला ही देना चाहिए। डंठल आदि को ईंधन की तरह चूल्हे या भट्टी में जलाया जा सकता है।

बनसटी, तिलौंजा, राड़े, पौधों के डंठल आदि से मकान झोपड़े छाए जाते तथा आड़ के लिए टट्टियाँ बनाई जाती हैं। ऐसा करने से कीड़ों की प्रजा-वृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिलती है। सुप्तावस्था व्यतीत करने वाले कीड़े इनके अन्दर सुरक्षित रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही बाहर निकल कर अपने भक्ष्य पौधों पर जम जाते हैं। अतएव यह तरीका बंद करना बहुत जरूरी हैं।

२—जुताई:—कीड़े अकसर खेत की मिट्टी में चार-पाँच इंच की गहराई पर अण्डे देते या छुप कर बैठे रहते हैं। गहरी जुताई से दो लाभ होते हैं। एक तो खर-पतवार की जड़ें उखड़ कर ऊपर निकल आती हैं, जो धूप से जल कर नष्ट हो जाती हैं। दूसरे मिट्टी के अन्दर छुपे हुए कीड़े, कोश, अण्डे आदि सतह पर आजाते हैं, जिन्हें पक्षी चुग लेते हैं और तेज धूप भी उन्हें नष्ट कर देती हैं। गहरी और बार-बार जुताई करने से उक्त दोनों लाभों के अलावा एक लाभ यह भी होता है कि खेत की मिट्टी को काफी हवा और धूप मिलती है, जिससे पैदावार भी ज्यादा होती है।

३—फसल का हेर-फेर—एक ही खेत में लगातार कई सालों तक एक ही फसल बोते रहने से कीड़ों की प्रजा वृद्धि में सहायता मिलती है, कारण कि उस फसल पर जीवन निर्वाह करने वाले कीड़ों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है और कुछ वर्षों बाद ये कीड़े इतने ज्यादा बढ़ जाते हैं कि उस खेत की ही नहीं,आसपास के सभी खेतों की फसल नष्ट कर देते हैं। इसलिए फसल का हेर-फेर अवश्य

ही करते रहना चाहिए। फसल का हेर-फेर करने से जो कीड़े एक खास फसल पर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे भोजन न मिलने के कारण भूख से मर जाते हैं। किन्तु इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि आसपास के सभी खेतों में वह फसल न बोई जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो, फसल के हेर-फेर से कुछ भी लाभ न होगा। कारण कि एक खेत में वह फसल न बोने पर कीड़े उस खेत में चले जायंगे, जिसमें वह फसल बोई गई होगी, जिससे कीड़े वृद्धि पाते रहेंगे, किन्तु फसल के हेर-फेर से लाभ होने की बहुत ही कम संभावना रहती है। कारण कि कई प्रकार के कीड़े कई पौधों पर जीवन-निर्वाह करते हैं। एक भोज्य पदार्थ प्राप्त न होने पर कीड़ा दूसरे पौधे पर आसन जमा लेता है।

४—खाद :—जोरदार और पुष्ट पौधा ही रस-चूसने वाले कीड़ों और अन्य रोगों के आक्रमण का दृढ़ता से मुकाबिला कर सकता है। अशक्त पर ही विजय प्राप्त की जा सकती है। कुछ खादें कीड़ों पर विषैला असर दिखाती हैं। हरी खाद और बिना सड़ी या आधी सड़ी खाद देने से कीड़ों और रोगों का उपद्रव बढ़ जाता है। अनुभव से पाया गया है कि हलकी जमीन में सेन्द्रिय खाद देने से लही-जैसे छोटे-छोटे कीड़ों का उपद्रव बहुत अधिक घट जाता है। पोटैशयुक्त खाद देने से भी कुछ फसलों की कीड़ों और रोगों से रक्षा होती है।

५—मिश्र फ़सलें बोना :—एक ही खेत में दो भिन्न जाति की फसलें बोने से फसल की रक्षा होती है। मुख्य फसल की आठ दस कतारों के बाद दूसरी फसल की चार छः कतारे बोई जानी चाहिए। एक फसल पर लगा हुआ कीड़ा (इल्ली) दूसरी जाति की फसल को लाँघ कर जा न सकेगा और तब भोजन के अभाव में भूख से मर जाएगा। यदि एक फसल नष्ट भी हो गई तो भी दूसरी फसल की पैदावार तो अवश्य ही हाथ लग जायगी। मिश्र फसलें बोते समय इस बात पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि एक ही वर्ग की फसलें न बोई जाँय और दोनों ही फसलें ऐसी न हो, जिन पर वह विशेष कीट जीवन-निर्वाह करता हो। मिश्र सफलें बोने से सिर्फ इल्ली ही दूसरी फसल को लाँघकर जा न सकेगी। किन्तु इससे पंखी के उड़ कर जाने में किसी प्रकार ही रुकावट नहीं पड़ेगी।

एक ही वर्ग की भिन्न-भिन्न फसलें बोकर भी कीड़ों की वृद्धि रोकी जा सकती है। कपास बोने से कुछ समय पहले चारों ओर या फसल के बीच-बीच में भिंडी बोने या गन्ने में मक्का बोने से लाभ यह होगा कि नवजात इल्ली पहले इन पर आक्रमण करेगी। इल्ली के कोशावस्था में प्रवेश करते ही भिंडी या मक्का के पौधों को उखाड़ कर जला ही डालना चाहिए। ऐसा करने से मुख्य फसल कीड़ों के आक्रमण से बच जायेगी। अभी तक यह बात निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सकी है कि मिश्र फसलें बोने से किस हद तक मतलब हल होता है।

६—चुनकर कीड़े मारना :—अण्डे वाले पत्ते और इल्लियों को हाथ से चुनकर भी मारा जा सकता है। पानी में मिट्टी का तेल डालकर मिश्रण तैयार कर लिया जाय, अण्डे, इल्ली इस मिश्रण के डालते ही मर जाएंगे। फसल पर रस्सी या लकड़ी फिराने या पौधों को हिलाने से कीड़े और रोग-ग्रस्त पत्ते-फूल-फल तथा कीड़े जमीन पर गिर पड़ेंगे। इनको हाथ से एकत्रित करके जला डालना चाहिए। करा, बानिया आदि कपास की ढेंढुई पर हमला करने वाले कीड़े इस तरीके से सरलतापूर्वक नष्ट किए जा सकते हैं।

७—लालच दिखाना :—सड़े गले पदार्थ, खट्टे स्वादयुक्त भूसा आदि पदार्थ और कोमल पत्तों की ओर कीड़े अति शीघ्र आकर्षित होते हैं। खेत में स्थान-स्थान पर इन पदार्थों के ढेर लगा दिए जाँय। इन ढेरों में, कीड़े एकत्रित हो जाने पर आग लगा दी जाय या कीड़ों को हाथ से पकड़ कर मार डाला जाय। ढेरों पर विषैले पदार्थ भी छिड़के जा सकते हैं। विषयुक्त पदार्थ खाकर कीड़े मर जाएंगे।

८—नाली खोद कर कीड़े मारना :—खेत के एक आध भाग की फसल पर बहुत ज्यादा इल्लियाँ हो जाती हैं। ये उस भाग की फसल को नष्ट करके दूसरे भाग की ओर बढ़ती हैं। जिस जगह की फसल को बहुत ज्यादा इल्ली लगी

हो, उसके चारों ओर एक फुट गहरी नालियाँ खोद दी जायं। इन नालियों की दोनों बाजू नीचे की ओर को तिरछी बनाई जायं। दूसरे भाग की ओर जाने वाली इल्लियाँ फिसल कर इन नालियों में गिर पड़ेंगी। इनको हाथ से पकड़ कर मार डालना चाहिए।

९—हितकारक कीड़े रखना :—कुछ कीड़े दूसरे कीड़ों को खाकरजीवन-निर्वाह करते हैं। कुछ कीड़े दूसरे कीड़े के शरीर पर या शरीर के अन्दर अण्डे रखते हैं। अण्डे में से निकली हुई इल्ली उस कीड़े के शरीर को खाकर खोखला कर देती है। इन कीड़ों को फसल पर छोड़ने से पहले यह जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए कि, वह फसल का शत्रु तो नहीं है।

कई प्रकार के कीड़े ऐसे हैं जो फसल को हानि पहुँचाने वाले एक प्रकार के कीड़े को तो खाकर नष्ट करते हैं, किन्तु साथ ही स्वयं भी फसल को हानि पहुँचाते हैं। अतएव इस उपाय का अवलम्बन करते समय विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए।

यांत्रिक-उपचार

कीड़ों की प्रजा-वृद्धि रोकने के लिए ऊपर लिखे हुए उपचार काम में लाए जाते हैं। तथापि एक बार कीड़े की प्रजावृद्धि हो जाने पर ये उपचार कुछ भी काम के नहीं रह जाते हैं और इसीलिए दूसरे उपचार काम में लाए जाते हैं।

कीड़ को हाथ से पकड़ कर मार डालना या जला देना ही सबसे अच्छा उपाय है। किन्तु यह काम उतना सरल नहीं है। अतएब दूसरी रीति का अवलम्बन किया जाता है।

चार से छः फुट लम्बी, दो फुट चौड़ी और पाँच फुट गहरी थैली बनाली जाय। लम्बाई की दोनों ओर एक-एक बाँस बाँध दिया जाता है और तब चारों कोनों पर रस्सी बाँध कर इसे फसल पर खींचते हैं। खींचने वाले तेजी से चलते हैं। थैली में बहुत से कीड़े एकत्रित हो जाने पर उसे थैले में खाली कर लेते हैं। दिन भर में एकत्रित हुए कीड़े शाम को जला दिए जाते हैं। जीवहिंसा से डरने वाले लोग पकड़े हुए कीड़े अपनी जमीन से बहुत दूर जंगल में छोड़ आते हैं। किन्तु ऐसा करना हानिकारक है। कारण कि ये कीड़े खेतों में वापिस लौट आते हैं। अतएव एक बार पकड़े हुए कीड़ों को जला डालना या खेत में ही जमीन के अन्दर चार पाँच फुट गहरा गाड़ देना चाहिए।

थैली के बदले में धोती या चद्दर से भी काम निकाला जा सकता है। धोती या चद्दर के पल्ले दोनों ओर से पकड़ कर थैली की तरह चलाकर भी कीड़े पकड़े जा सकते हैं। किन्तु धोती या चद्दर से कीड़े पकड़ने वाले को चाहिए कि, कपड़े पर कोई चिपकने वाला पदार्थ लगादें, जिससे कीड़े उससे चिपक जायं और जल्दी से उड़ न जाँय।

बहुत से कीड़े प्रकाश की ओर आकर्षित होते हैं। प्रकाश देखते ही वे पागल के समान उधर को ही दौड़ पड़ते हैं। अतएव अँधेरी रात में खेतों में कंदिल या गैस की बत्ती जलाकर भी कीड़े मारे जा सकते हैं।

खेतों में स्थान-स्थान पर फसल से कुछ ऊँचाई पर तिपाई या खुले मचान पर एक चौड़े बरतन में मिट्टी का तेल और पानी का मिश्रण भर कर रख दिया जाय। इस बरतन के बीच में ईंट या पत्थर पर रख उस पर कंदील या किस्टनलाइट (गैस का दिया) जलाकर रख दिया जाय। प्रकाश को देखते ही कीड़े उधर को दौड़ पड़ेंगे और कंदील के काँच से टकरा कर तेल मिश्रित पानी में गिर कर मर जाएँगे। किन्तु इस उपाय से कई बार हितकारक कीड़े भी मर जाते हैं। अतएव इस उपाय को काम में लाने से पहले यह जान लेना परमावश्यक है कि इस उपाय का अवलम्बन करने से किस प्रकार के कीड़े नष्ट किये जा सकते हैं। भुंगे, तितली आदि का नाश तो किया जा सकता है; किन्तु पतङ्ग, मक्खी, बानिया आदि इस उपाय से नष्ट नहीं किये जा सकते हैं।

गैस के दीये का प्रकाश बहुत दूरी तक के कीड़ों को आकर्षित करता है। अतएव कभी कभी जिस खेत में प्रकाश

रखा जाता है, उसमें कीड़ों का बाहुल्य हो जाने की संभावना रहती है। यदि आस पास के सभी खेतों में गैस के दीये या कंदील एक साथ ही रखे जाँय, तो स्थायी लाभ हो सकता है।

अँधेरी रात में खेतों की मेंड पर आग जलाने—होली जलाने के समान आग जलाने से भी फायदा होता है। ज्वाला के प्रकाश से आकर्षित होकर कीड़े ज्वाला में गिर कर जल जाँयगे। जो कीड़े आग में न गिरें, उनको पकड़ कर आग में डाल दिया जाय या डंडे से पीट कर मार डाला जाय।

एण्ड्रूजट्रैप से भी कीड़े मारे जा सकते हैं। इसे खेतों में रख देते हैं। गुड़ आदि की सुगंध से आकर्षित होकर कीड़े, मिट्टी के तेलयुक्त पानी में गिर कर मर जाते हैं। साधारण किसान के लिए इसका खरीदना लाभदायक नहीं है और इसी लिए इस विषय पर यहाँ सविस्तार नहीं लिखा गया है।

ऊपर लिखे उपायों से भी कीड़ों की प्रजा वृद्धि न रुके और उनसे फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचे तो कीड़ों को मारने के लिए फसल या पौधों पर विषैली ओषधि छिड़की जाती है। अधिकाँश ओषधियां विषैली हैं, अतएव ओषधि छिड़कने वाले को विशेष सावधानी से काम करना चाहिए।

औषधोपचार

मिट्टी में बीज डालते ही पक्षी, दीमक आदि उनको नष्ट करने का प्रयत्न करने लगते हैं। अंकुर के जमीन के बाहर निकलते ही पशु-पक्षी, कीड़े और रोग उन पर आक्रमण करने की घात में लग जाते हैं और फूल-फल आते ही मनुष्य, पक्षी, कीड़े और रोग उनको नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। गोदाम और कोठारों में सुरक्षित रखे गए नाज, कंद-मूल आदि भी कीड़ों और रोगों से बच नहीं पाते है। अतएव जमीन की पैदावार को अधिक से अधिक बचाने के लिए सभी प्रकार के शत्रुओं से फसल तथा उसकी पैदावार की रक्षा करना प्रत्येक किसान का प्रथम कर्तव्य है। और इसी उद्देश की पूर्ति के लिए प्रत्येक किसान और बगीचे के मालिक को कीट-मारक और रोग-नाशक ओषधियों से परिचय प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

बगीचों और खेतों की फसलों को हानि पहुंचाने वाले कीड़े दो प्रकार के होते हैं—१ चंचु मुख और २-सुण्ड मुख।

चंचुमुख कीट (biting or chewing) अपना भक्ष्य—पत्ता, तना, फल आदि काट कर या कुतर कर खाते है। इसलिए इन कीड़ों को मारने के लिए ऐसी ओषधि पौधों पर छिड़की जानी चाहिए, जो पत्ते, शाखा, फल आदि पर चिपक जाय। औषधि चिपके हुए पत्ते आदि को खाने पर कीड़ा जहर के असर से मर जाएगा।

सुण्ड मुख वाले कीड़े, अपनी सूंड़ तना, शाखा, फूल-फल आदि में चुभाकर रस-पान करते हैं। इसलिए इन कीड़ों को मारने के लिए ऐसी ओषधि छिड़की जानी चाहिए, जो शरीर के रंध्रों द्वारा कीड़ों की देह के भीतर प्रवेश करके जहरीला असर दिखाये। इन ओषधियों से श्वास-नलिका के द्वार या मुख (stigma) बन्द हो जाते हैं, जिससे कीड़ा दम घुटकर मर जाता है।

जहरीली भाप (vpaour poison)—कुछ जहरीले पदार्थ ऐसे हैं, जिनकी विषैली भाप या धुएँ से कीड़े मर जाते है। किन्तु यह भाप कीड़ों के अलावा दूसरे प्राणियों पर भी विषैला प्रभाव दिखाती है। नाज के दाने, इमारती लकड़ी, टेबल-कुर्सी-आलमारी जैसी वस्तुओं की सन्धियों में कीड़े दुबक कर बैठे रहते हैं। इन कीड़ों को मारने के लिए विषैली भाप का प्रयोग किया जाता है।

कुछ ओषधियाँ ऐसी भी हैं, जो भक्ष्य-पदार्थ को कुस्वाद बना देती हैं। कीड़े ओषधि लगे हुए पदार्थ को खाते नहीं हैं, जिससे फसल बच जाती हैं। गंधक और क्रूड-ऑइल-इमलशन इसी प्रकार की ओषधियाँ हैं।

चंचुमुख-कीट-नाशक औषधि

(उदर या जठर विष)

इन कीड़ों को मारने के लिए उदर-विष का ही प्रयोग किया जाता है। लगभग सभी ओषधियों में सोमल (Arsenic) मिला रहता है। लेड आर्सेनेट (lead arsenate), कैलशियम आर्सेनेट (calcium arsenate), पैरिसग्रीन (Paris green), आदि से नव-जात कोमल पत्तों को क्षति पहुँचती हैं—खास कर पैरिसग्रीन से। चूना मिलाने से पैरिसग्रीन का हानिकारक प्रभाव बहुत घट जाता है। फिर भी, लेड-आर्सेनेट का उपयोग करना अच्छा है। लेड-आर्सेनेट दो प्रकार का होता है। बेसिक (Basic) लेड-आर्सेनेट का ही उपयोग करना चाहिए। इल्ली, भुंगा (Beetle) आदि मारने के लिए यह एक उत्तम ओषधि है। यह लुगदी (paste) और चूर्ण के रूप में बाजार में बिकता है।

१—**पैरिसग्रीन**:—प्रारम्भ में यही ओषधि काम में लाई जाती थी। किन्तु यह पौधों के कोमल अवयवों को जला देती है। अतएव अब इसे बहुत ही कम काम में लिया जाता है। पैरिसग्रीन के आधा सेर चूर्ण को, एक सेर आटे या चूने में मिलाकर पौधों पर छिड़कते हैं। खेत में बोई गई फसल पर चूना मिलाकर ही छिड़कना चाहिए।

२—पैरिसग्रीन या लण्डन परपल आधा सेर, चूना अढ़ाई सेर को दो सौ गैलन (एक गैलन=दस पौंड) पानी में मिलाकर छिड़का जाय।

३—पैरिसग्रीन आधा सेर. गुड़ पाँच सेर और चूना अढ़ाई सेर को दो सौ गैलन पानी में मिलाकर छिड़का जाय।

४—**सोमलमिश्रण**:—सोमल तीव्र विष है। इसलिए ज्यादा तर लेड क्रोमेट (lerd cromate) का ही उपयोग किया जाया है। पैरिस-ग्रीन, सोमल और लेड क्रोमेट पानी में घुलते नहीं हैं; ऊपर ही ऊपर तैरते रहते हैं। और पौधे पर छिड़कने पर पत्ते, शाखा, आदि पर जम जाते हैं। पानी में घुल जाने वाले विषैले पदार्थों को छिड़कने से पौधे को क्षति पहुँचती है।

बीस सेर पानी में आधी छटाक या एक छटाक सोमल या लेड अर्सिनेट डालकर खूब चलाओ, ताकि पानी में अच्छी तरह से मिल जाय, इसमें थोड़ा सा गुड़ मिला दिया जाय तो वह अधिक समय तक पत्ते आदि पर टिका रह सकेगा। कभी-कभी चूना भी मिलाया जाता है।

लेड क्रोमेड मिश्रण:-यह बाजार में लुगदी और चूर्ण के रूप में मिलता है। सौ सेर पानी में, चूर्ण एक सेर और लुगदी डेढ़ सेर मिलाकर पौधों पर छिड़कते हैं। चूर्ण को महीन कपड़े में छान लिया जाय। एक भाग चूर्ण को १५ भाग कपड़े में छानी हुई राख या महीन मिट्टी में मिलाकर मल-मल की थैली में भरकर पौधों पर भुरभुराते हैं। इससे गोभी, मटर, सन्तरा, तमाखू आदि पर लगी हुई इल्लियाँ मर जाती हैं।

पाव सेर सोमल या लेड आर्सेनेट, अढ़ाई सेर चूना और पाँच सेर गुड़ को पाँच सौ सेर पानी में मिलाकर खूब चलाओ ताकि, सभी वस्तुएँ अच्छी तरह से मिल जाय। इसे तब पौधों पर छिड़का जाय।

कैलशियम आर्सिनेट मिश्रण:—यह ओषधि बगीचे में बोये गए पौधों पर ही छिड़की जाती है। किन्तु यह उतनी फायेदेमंद नहीं साबित हुई है। अतएव इसका बहुत ही कम उपयोग किया जाता है।

तमाखू का सत:—इस पर आगे चल कर लिखा जायगा।

सुण्डमुख कीट नाशक औषधि

(सांसर्गिक-विष)

साबुन, मिट्टी का तेल, फिनाइल आदि उत्तम ओषधियाँ हैं। किन्तु खालिस साबुन या फिनाइल से पौधों को हानि पहुंचती है।

१—**साबुन**:—एक पाव बार-सोप (कपड़ा धोने के साबुन की लम्बी टिकिया) को घासलेट तेल के एक पीपा

भर पानी में गलाकर खूब चलाया जाय। एक भाग मिश्रण में पन्द्रह भाग पानी मिलाकर काम में लिया जाय। माहू, चिकटा, लही आदि छोटे कीड़े के लिए यह एक उत्तम औषधि है।

२—**राख**—महीन कपड़े में छनी हुई पावभर राख में २०-२५ बूंद के केरोसीन डालकर अच्छी तरह से मिलाओ। महीन मलमल की थैली में भर कर पौधों के कीट-ग्रस्त भाग पर भुरभुरा दिया जाय। इससे कद्दू पर लगे हुए भुंगा आदि कीट मर जाते हैं।

३—लाख, राल, कपड़ा धोने का साबुन समान भाग लेकर पानी में मिलाने से एक चिकना मिश्रण तैयार होता है। इससे कीड़े की श्वास-नलिका के मुख बंद हो जाते हैं, जिससे वे दम घुट कर मर ज ते हैं।

४—**मिट्टी के तेल का मिश्रण** :—एक पाव बार-सोप या आधा सेर नरम साबुन (soft soap) को पाँच सेर पानी में डालकर इतना उबालो कि साबुन पानी में अच्छी तरह से घुल जाय। पानी ठंडा हो जाने पर इसमें दस सेर मिट्टी का तेल डालकर तेजी से चलाओ ताकि तेल पानी में अच्छी तरह से मिल जाय और मिश्रण सफेद नजर आने लगे। एक बूँद मिश्रण को पानी में डालकर देखो। यदि तेल तैरकर ऊपर न आए, तो समझ लो कि मिश्रण ठीक बन गया है। यह मिश्रण तब अलग रख दिया जाय। एक भाग मिश्रण में सात भाग पानी मिलाकर पौधों पर छिड़का जाय।

एक गैलन छाछ में दो गैलन मिट्टी का तेल मिलाकर खूब चलाओ। अच्छी तरह से मिल जाने पर रख छोड़ो। एक भाग मिश्रण में नौ भाग पानी मिलाकर काम में लो।

५—**क्रूड आइल इमलशन** (crude oil emulsion) :—यह औषधि बाजार में तैयार मिलती है। बीस सेर पानी में पाँच छटाँक या आठ छटाँक औषधि मिलाकर पौधों पर छिड़की जाती है। गोभी, रिजका, सन्तरा जाति के पौधे पर लगे हुए माहू, चिकटा, लही आदि छोटे-छोटे कीड़ों पर यह औषधि तुरन्त असर दिखाती है।

राल मिश्रण नं०१—आधा सेर कपड़ा धोने के सोडे को पाँच सेर पानी में डालकर आग पर रख दिया जाय। पानी सूं सूं बोलने लगते ही एक सेर राल का चूर्ण उसमें डाल दिया जाय। धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा पानी तब तक मिलाया जाता रहे जब तक कि कुल पानी दस सेर न हो जाय। ज्यों ही मिश्रण साफ नजर आने लगे, उसे आग पर से उतारकर बरतन में भरकर रख दिया जाय। बीस सेर पानी में अढ़ाई सेर मिश्रण मिलाकर काम में लिया जाय। बीस सेर मिश्रण में छः छटाँक क्रूड ऑइल इमलशन मिलाने से औषधि बहुत अच्छा असर दिखाती है।

राल मिश्रण नं० २—ऊपर लिखे अनुसार राल का मिश्रण तैयार कर लिया जाय। पचास सेर पानी में पाँच सेर साबुन गला लिया जाय। साबुन के पूरी तरह से घुल जाने पर इसे राल के मिश्रण में डालकर तेजी से चलाया जाय। अच्छी तरह मिल जाने पर रख लिया जाय। पचास सेर पानी में पाँच सेर मिश्रण मिलाकर काम में लिया जाय।

६—**तमाखू का सत** :—यह औषधि दोनों ही प्रकार के कीड़ों पर विषैला असर दिखलाती है। बड़े-बड़े बगीचों के लिए 'निकोटिन सलफेट' का ही उपयोग किया जाना चाहिए। छोटे-छोटे बगीचों या थोड़े से झाड़ों के लिए तमाखू का सत काम में लिया जाना चाहिए।

एक सेर तमाखू को दस सेर पानी में डालकर लगभग आधा घंटा तक तेज आँच पर उबाला जाय। पानी उबलने लगे तब आधा सेर कपड़ा धोने का साबुन, छोटे-छोटे टुकड़े करके, उसमें डाल दिया जाय। साबुन घुल जाने पर मिश्रण को आग पर से हटाकर ठंडा होने दिया जाय और तब कपड़े से छानकर रख लिया जाय। एक भाग मिश्रण में सात भाग पानी मिलाकर छिड़का जाय। थ्रिप्स के लिए उत्तम औषधि है।

७—**फ़िश-ऑइल-रोज़िन-सोप** (Fish Oil Rosin soap)—यह बाजार में तैयार मिलता है।

चालीस सेर पानी में एक सेर औषधि मिलाकर काम में ली जाय।

माहू, चिकटा, लही, लद्दी, लाखी आदि छोटे-छोटे कीड़ों और आम के बौर पर पाये जाने वाले छोटे-छोटे टिड्डों के लिए यह उत्तम औषधि है। इन पर यह अच्छा असर दिखलाती है।

८—**निकोटिन सल्फेट** (Nicotine sulphate)—यह बाजार में मिलता है। जिस नमूने में प्रतिशत चालीस निकोटिन हो, वही उत्तम है। सुंड मुख कीड़ों के लिये यह एक उत्तम औषधि है।

सौ पौंड औषधिय में पाँच पौंड बार-सोप मिलाना चाहिए। आठ सौ भाग पानी में दो से चार भाग तक औषधि मिलाकर पौधों पर छिड़की जाती है। औषधि के टीन पर लिखी गई सूचनाओं का पालन करना हितप्रद है।

९—**लाइम-सल्फर** (Lime sulphur)—चूने की कली को गलाकर उसमें गंधक मिलाकर यह औषधि तैयार की जाती है। यह बहुत ही अच्छा सांसर्गिक विष हैं। आलू और मिरची के 'तम्बेरा' रोग को जन्म देने वाले लाहीं-लाखी कीटकों को मारने के लिए तो यह श्रेष्ठ औषधि है। यह चूर्ण और द्रव दोनों ही रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

१०—**चूना-गंधक मिश्रण**—एक भाग पानी में एक भाग गंधक का महीन चूर्ण मिलाओ। एक टीन के बर्तन में एक भाग पानी में आधा भाग कली का चूना मिलाकर आग पर रख दो। उबलने लगे तब गंधक चूर्ण वाला पानी डालकर दोनों मिश्रण का तीन गुना पानी और मिलाओ, और मंदी आँच पर रख दो। बीच-बीच में चलाते जाओ। झाग मिटकर नारंगी रंग आने में एक घंटे के लगभग समय लगता है। इसे तब छानकर लोहे के बर्तन में भरकर रख दो। एक भाग औषधि को पचीस भाग पानी में मिलाकर काम में लो।

११—**इंकोसोपोल**—यह बाजार में तैयार मिलती है। इंकोसोपोल नम्बर १ को सौ भाग पानी में एक भाग और नम्बर २ को सौ भाग पानी में दो भाग मिलाकर पौधों पर छिड़का जाता है। माहू, चिकटा, लाखी, लही आदि कीड़ों के लिए यह अच्छी दवा है।

१२—**मैक ड्यूएल**—यह औषधि बाजार में तैयार मिलती है। एक भाग औषधि को अस्सी से सौ भाग पानी में मिलाकर पौधों पर छिड़का जाता है।

१३—**फिनाइल मिश्रण**—नरम चमड़ी वाले और छोटे कीड़ों के लिए सौ भाग पानी में एक भाग तक फिनाइल मिलाकर काम में लाते हैं। बड़े और कड़ी चमड़ी वाले कीड़ों पर साठ भाग पानी में एक भाग फिनाइल मिलाकर छिड़कते हैं।

१४—**नेप्थलीन** :—तीन छटाँक सरेस और आधा सेर बार-सोप को अढ़ाई सेर पानी में घुलाओ। एक दूसरे बर्तन में दस सेर मिट्टी के तेल में चार सेर नेप्थलीन का महीन चूरा डालकर गरम करो। इसके बाद दोनों मिश्रणों को मिलाकर अढ़ाई सेर पानी और मिलाओ।

यह बहुत अच्छी औषधि है और अपना असर तुरन्त दिखाती है। चौबीस घंटे तक तो यह ठीक रहती है, किन्तु बाद में भाप बनकर उड़ने लगाती है।

ऊपर लिखी हुई अधिकाँश औषधियाँ द्रव रूप में पौधों पर छिड़की जाती हैं। इनके अलावा कुछ औषधियाँ ऐसी भी हैं जो चूर्ण के रूप में, राख, सूखी महीन मिट्टी आदि में मिलाकर पौधों पर छिड़की जाती हैं। अधिकतर सोमल, लेड आर्सेनेट, और गंधक के चूर्ण को महीन कपड़े में छानकर कपड़े में छनी हुई राख, सूखी मट्टी, मन मिट्टी में मिलाकर पौधे के कीट-ग्रस्त भाग पर भुरभुराते हैं, जिससे कीड़े मर जाते हैं। साग-भाजी के बेलों पर ही इस प्रकार दवा भुरभुराई जाती है। पौधे के नीचे गंधक की धूनी देने से भी कीड़े मर जाते हैं।

औषधि छिड़कना :—गमलों में लगाए गए पौधों और जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों पर—विशेषतः नरसरी के पौधों पर, उक्त औषधियाँ गमलों को पानी सींचने के महीन छेद के झारे से ही सरलता और सुविधापूर्वक छिड़की जा सकती

हैं। किन्तु बड़े बगीचों और बड़े झाड़ों पर ओषधि छिड़कने के लिए फौआरा-यंत्र (Sprayer machine) का ही उपयोग किया जाता है।

आॅटो-स्प्रेअर (Auto sprayer), न्यूमेटिक स्प्रेअर (Pneumatic sprayer), बकेट-हैंड-स्प्रेअर (Bucket hand sprayer), कम्प्रेस्ड एअर स्प्रेअर नैपसेक स्प्रेअर, आदि से द्रव ओषधियाँ छिड़की जाती हैं। चूर्ण छिड़कने के लिए डस्टर (Duster), बेलो टाइप डस्टर, क्रैंक टाइप डस्टर, आदि का उपयोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न गुण-दोष-युक्त यंत्र बाजारों में बिकते हैं। आॅटो-स्प्रेअर और न्यूमेटिक स्प्रेअर अनुभव से कुछ अच्छे पाये गये हैं, तथा बकेट-हैंड-स्प्रेअर की अपेक्षा इनसे काम भी शीघ्र पूरा होता है। किन्तु ये कुछ महंगे बिकते हैं। यदि ठीक तरह से साफ नहीं किये जाते रहे और सावधानी नहीं बरती गई तो ये बहुत जल्दी खराब हो जाते हैं। काम हो जाने पर मशीन को ठंडे पानी से अच्छी तरह से धो लेना चाहिए और फौआरे की नली को भी भीतर से अच्छी तरह से धोकर साफ कर लेना आवश्यक है।

ओषधियों को अच्छी तरह से मिलाकर और एकत्र करके मोटे कपड़े या टाट के टुकडे से छान कर ही यंत्र में भरना चाहिए। तलछट को मशीन में कदापि नहीं डालना चाहिए।

एक एकड़ जमीन पर की मामूली फसल के लिए लगभग तेरह सौ गैलन मिश्रण आवश्यक होता है। एवं बारह फुट ऊँचे वृक्ष के लिए लगभग बाईस सेर द्रव-ओषधि पर्याप्त होती है। ओषधि इस ढंग से छिड़की जानी चाहिए कि, पौधे के पत्ते तना शाखा आदि पूरी तरह से गीले हो जायँ—पौधे का कोई भाग सूखा न रहने पाये।

चूर्ण छिड़कने के लिए डस्टर मशीनों का उपयोग किया जाता है। इन मशीनों की सफाई का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। एक वर्ग इंच में दो सौ छेद वाली छलनी से छान लेने के बाद ही चूर्ण को मशीन में डालना चाहिए।

जहरीला धूआँ या भाप

१—कैलशियम सायनाइड (Calcium cyanide)—यह चूर्ण विशेष प्रकार के पम्प (यंत्र) से पौधों पर छिड़का जाता है। पानी की लता पर के खटमल की जाति के कीड़े, माहू, चिकटा, केकड़े आदि को मारने के लिए यह एक अच्छी ओषधि है।

२—गंधक को आग पर डालकर पौधे के नीचे धुआँ किया जाता है, जिससे कई कीड़े मर जाते हैं।

३—हाइड्रोसायनिक एसिड गैस (Hydrocynic acid gas)—यह बहुत ही तीव्र विष है। पौधों पर यह गैस छोड़ी जाती है। रेल के डब्बे और घरों में इसका उपयोग किया जाता है। इस विष से प्राणी भी मर जाते हैं। इसलिए इसको बहुत ही सावधानी से काम में लेना चाहिए।

४—कार्बन-बाई-सलफाइड (Carbon-bi-Sulphide)—इसकी दुर्गंध असह्य होती है। यह प्रवाही पदार्थ है और भाप बनकर हवा में उड़ जाता है। बत्ती पास आते ही इसकी भाप धमाके के साथ सुलग उठती है। अतएव इसके पास बत्ती, आग, हरगिज नहीं लाने चाहिए। नाज के गोदामों में इसका उपयोग किया जाता है, जिससे घुन आदि कीड़े नहीं लगते हैं।

विशेष रूप से इसी काम के लिए बनाए गये यंत्रों द्वारा ही गैस छोड़ी जाती हैं। भारत में अभी ये यंत्र सुलभ नहीं हैं।

उपर जितनी ओषधियाँ बतलाई गई हैं इनके अलावा भी कुछ ओषधियाँ बाजार में मिलती हैं। संसार के भिन्न भिन्न भागों में कीड़ों सम्बंधी खोजें की जा रही हैं। नये कीड़ों का पता लगता है और उनकी प्रजा वृद्धि रोकने के लिए ओषधियाँ भी बनाई जाती हैं। इस वैज्ञानिक युग में कुछ भी स्थिर या शाश्वत नहीं है। वैसे तो संसार भी अशयश्वत ही है। अतएव अनुभव और परिस्थिति के अनुरूप ही ओषधोपचार किया जाना चाहिए। सस्ती से सस्ती और

शीघ्रता पूर्वक अधिक प्रभाव डालने वाली ओषधि ही काम में लेना लाभदायक है।

बरसात के दिनों में तभी ओषधियाँ छिड़की जानी चाहिए, जब वर्षा से उनके धुल जाने की कम से कम संभावना हो। ओषधि छिड़कने के बाद यदि वर्षा हो जाय, तो दुबारा ओषधि छिड़की जानी चाहिए। ओषधि छिड़कने के बाद कुछ दिनों तक फसल या पौधों का बारीकी से निरीक्षण करते रहना चाहिए। यदि कीड़े दिखाई दें, तो तुरन्त ही दवा छिड़क देना चाहिए। पौधों पर फसल के शत्रु के प्रकट होते ही शीघ्रातिशीघ्र ओषधोपचार करना अधिक लाभदायक है। जहाँ तक संभव हो, कृषि-विभाग के विशेषज्ञों की सम्मति से ही ओषधोपचार करना चाहिए और उनके द्वारा दी गई सूचनाओं का तुरन्त ही अक्षरशः पालन करना चाहिए। इस बात का भी प्रयत्न करना चाहिए कि गाँव के सभी किसान या कम से कम आसपास के सभी खेतों के काश्तकार फसल के शत्रु को नाम शेष करने के लिए संगठित रूप से एक साथ ही कार्यारंभ करें और शत्रु के आक्रमण को असफल बनाने के लिए तन-मन-धन से जुट जायं। यही सफलता की कुंजी है।

कपास वर्ग की फसल के कीड़े

कपास के कीड़े

अ—नवांकुरित पौधे के कीड़े

झिंगुर :—यह एक मात्र कपास पर ही हमला नहीं करता है, नवजात पौधों को कभी-कभी यह बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचाता है। एक जाति की भौंरी इसका शिकार करती है, जिससे इसकी संख्या बढ़ने नहीं पाती।

बन झिँगुरः—पंजाब में यह नवजात पौधों पर हमला करता है। खेतों में कंदील या गैस का दिया रख कर या खेत की मेंड़ों पर चारों ओर आग जला कर इसे नष्ट किया जा सकता है।

बूटः—दो तीन प्रकार का बूट नवजात पौधों को खाकर नष्ट कर देता है। इनको थैली से पकड़ कर जला ही देना चाहिए।

वेट्टीः—यह टिड्डा दो प्रकार का होता है। यह कभी-कभी नवजात पौधों को खाता है। टिड्डा प्रकाश की ओर आकर्षित होता है। अतएव खेतों में प्रकाश रखकर इसे मार डालना ही एक मात्र उपाय है। यह भारत में सभी जगह पाया जाता है।

पोपटिया टीडः—यह कपास के नवजात पौधों को क्षति तो अवश्य पहुंचाता है किन्तु शत्रु रूप में शायद ही कभी आक्रमण करता है। इस पर तमाखू के कीड़ों पर लिखते समय विचार किया जायगा।

कारंग पुचीः—यह मद्रासी नाम है। कपास के नवजाक पौधों को खाकर मद्रास की ओर यह कीड़ा इस फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचता है। यह पत्तों पर भी आक्रमण करता है।

कम्मलः—जल्दी बोई जाने वाली कपास की फसल को कभी-कभी यह कीड़ा अत्यधिक क्षति पहुंचाता है। अण्डे और इल्लियों को हाथ से पकड़ कर मार डालना चाहिए।

ब—पत्ते खाने वाले कीड़े

लपेटिया :—इल्ली फीके हरे रंग की होती है। इसका सिर काला होता है। यह कपास या भिंडी के पत्ते के नीचे की बाजू पर रहती है, और पत्ते को लपेट कर खाती है। यह पहले भिंडी पर जीवन-निर्वाह करती है और तब कपास पर अक्रमण करती है। अतएव कपास की फसल में भिंडी न बोना ही अत्युत्तम है। यदि भिंडी बोई भी जाय, तो इल्लियों के कोशावस्था में प्रवेश करते ही, भींडी के पौधों को उखाड़ कर जला देना चाहिए। यदि भिंडी के पौधे उखाड़े नहीं गए, तो कपास की फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचेगा।

इल्ली, पत्तों को ज्यादा नुकसान पहूंचाती है। देशी

कपास को इससे बहुत कम नुकसान पहुँचता है; किन्तु विदेशी कपास को यह बहुत ही ज्यादा नुकसान पहुँचाती है। सोमल-मिश्रण-जैसे उदर-विष से इसे मारा जा सकता है। लपेटे हुए पत्तों को तोड़ कर जला डालना ही फसल की रक्षा का उत्तम उपाय है।

तिरहींग :—यह कीड़ा दो तीन प्रकार का होता है। एक प्रकार का तिरहींग जूट पर हमला करता है। यह कीड़ा भिंडी, अम्बाड़ी, उर्द आदि पर भी पाया जाता है। यह कीड़ा विदेशी कपास पर भी आक्रमण करता है। इल्ली को हाथ से पकड़ कर मार डालना ही एक मात्र उपाय है। एक प्रकार का परोपजीवी कीड़ा (tachinid fly) इसका शत्रु है।

कोलिया :—भारत के कुछ भागों में इससे कपास की फसल को बहुत नुकसान पहुंचता है। अण्डे और इल्लियों को पकड़ कर मार डालना चाहिए। खेत में और खेत के आसपास सफाई रखने से और अच्छी जुताई से इसकी प्रजावृद्धि रुक जाती है।

सूंड़ी :—यह चार तरह की होती है। इनसे कपास की फसल को बहुत कम नुकसान पहुँचता है। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में यह कपास पर देखी गई है और इसीलिए इसका नामोल्लेख कर दिया है।

गंधिया :—यह भारत के सभी भाग में पाया जाता है, और बहुत ही कम नुकसान करता है। अत्यधिक संख्या बढ़ जाने पर ही इससे फसल को हानि पहुँचती है। पौधे के नीचे कपड़ा बिछाकर पौधे को हिलाने से कीड़े नीचे गिर पड़ेंगे। पकड़ कर मिट्टी के तेल और पानी के मिश्रण में डाल देने से ये मर जायंगे।

क—कली और फूलों के कीड़े

करा और लालसूंडी फूलों की कली और फूलों पर पाए जाते हैं। इन पर आगे चल कर विचार किया गया है।

ड—ढेंढुई और बिनौले के कीड़े

करा :—कपास की ढेंढुई को अन्दर घुसकर खाने वाले कीड़े दो प्रकार के हैं (१) चितकबरा करा या बुंदकी (Spotted boll worm) इल्ली की अवस्था में ही फसल को हानि पहुंचाता है। यह कीड़ा वल्क पक्ष वर्ग का है। इल्ली पहले पौधे के बढ़ने वाले भाग पर हमला करती है। छेद करके तने में घुस जाती और उसे खोखला कर देती है, जिससे वह मुरझा जाता है। इल्ली फूल और ढेंढुई पर भी हमला करती है। यह ढेंढुई में घुसकर बिनौले खा जाती है और खाली जगह में मल भर देती है, जिससे रुई खराब हो जाती है और ढेंढुई गिर पड़ती है। ज्यादातर एक ढेंढुई में एक ही कीड़ा रहता है। इल्ली खेत की मिट्टी में कोशावस्था बिताती हैं और तब पंखी के रूप में परिवर्तित होकर बाहर निकल आती है।

(२)—तितली खाकी रंग की होती है। पीठ पर हरा पट्टा होता है। यह कपास वर्ग की अन्य फसलों—(भिंडी, अम्बाड़ी आदि इसी वर्ग के हैं) पर भी जीवन निर्वाह करता है। तितली; कपास के फूल, उपपर्ण, पौधे के बढ़ने वाले भाग या ढेंढुई पर राजगिरे के दाने के समान छोटे अण्डे रखती है। अण्डे में से काले रंग की इल्ली निकलती है। ये पत्ते-फूल आदि खाकर वृद्धि पाती है और तब ढेंढुई पर हमला करती है। छेद करके ढेंढुई के अंदर घुसकर एक के बाद एक बिनोला खाती है। बीज नाम शेष हो जाने से रुई खराब हो जाती है। अवस्था प्राप्त होने पर ढेंढुई में से बाहर निकल कर इल्ली मट्टी में कोशावस्था बिताती है। कोश बनाने के दस बारह दिन बाद तितली जन्म लेती है। मादा ५०-६० तक अण्डे रखती है। कीड़े का जीवन-क्रम लगभग एक मास में पूरा हो जाता है।

बुंदकी या चितकबरा करा और करा का जीवन-क्रम एक-सा ही है। भारत के किसी भाग में करा ज्यादा नुकसान करता है और किसी भाग में बुंदकी पैदावार को मटियामेट कर देती है।

उपचार :—इल्ली को हाथ से चुनकर मार डालना ही सर्वोत्तम उपाय है। मुरझाए हुए अंकुर और रोग-ग्रस्त ढेंढुई को तोड़कर जला देना चाहिए। किन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि, कीड़ा पौधे पर न रहने पाए। कपास की फसल निकाल लेने के बाद, कपास के तने (बनसटी); जड़ें, डंठल आदि एकत्रित करके जला दिए जायं। ढेंढुई लगना शुरू होते ही फसल पर सोमल मिश्रण जैसा उदर विष छिड़कना चाहिए।

कपास और भिंडी एक ही खेत में नहीं बोना चाहिए। इससे कीड़ों की प्रजा-वृद्धि में अत्यधिक सहायता मिलती है। कपास की फसल के चारों ओर भिंडी ऐसे समय पर बोना चाहिए कि ढेंढुई लगना शुरू होने तक भिंडी की फसल तैयार हो जाय। अधिकाँश इल्लियाँ प्रारंभ में भिंडी पर ही आक्रमण करेंगी। ढेंढुई लगना शुरू होते ही या इससे कुछ समय पहले ही भिंडी की फसल को उखाड़ कर जला देना चाहिए। ऐसा करने से ढेंढुई पर हमला करने को कीड़ा शेष ही नहीं रहेगा।

रोगस (Rhogas) जाति के कीड़े करा की इल्ली की देह पर अण्डे रखते हैं। अण्डे में से इल्ली निकल कर करा की इल्ली की देह को खाती और वृद्धि पाती रहती है। यह परोपजीवी कीड़ा करा का वंश-विस्तार होने नहीं देता है। रोगस की तीन चार उपजातियों में से कौन-सी उपजाति किस सीमा तक हित-साधन करती है, इस सम्बंध में अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाया है।

ऊपर लिख आए हैं कि कीट-ग्रस्त कली-फूल और ढेंढुई को हाथ से तोड़ कर जला देना ही सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु एक किसान के लिए ऐसा करना संभव नहीं है। पौधों के ऊपरी भागों पर रस्सी खींचने से लगभग सभी कीट-ग्रस्त कली, फूल और ढेंढुई जमीनपर गिर पड़ती हैं। इन्हें एकत्रित करके जला देना चाहिए।

लाल सूंडी :—ढेंढुई लगने तक यह कली और फूलों पर जीवन-निर्वाह करता है। यह ढेंढुई के सिवा पौधे के अन्य किसी भाग पर हमला नहीं करता है। बिनौले ही इसका एक मात्र भोजन है। भूरे रंग की मादा तितली पत्ता, तना या ढेंढुई पर एक-एक अण्डा रखती है। अण्डे में से काले सिर वाली सफेद छोटी इल्ली निकलती है। आरंभ में यह पत्ते खाती और ढेंढुई निकलते ही उस में छेद कर भीतर घुस जाती है। यह बिनौले खाती है। जिससे रुई पर दाग पड़ जाते हैं। रुई का रेशा कुछ छोटा रह जाता है। बिनौले में रुई का अंश बहुत कम हो जाता है और बीज की उगने की शक्ति बहुत ही घट जाती है। ढेंढुई गिर पड़ती और पकने के पहले ही फट जाती है। जिन पौधों पर अक्टूबर से पहले ही ढेंढुई निकल आती हैं, उनको यह कीड़ा ज्यादा क्षति पहुंचाता है। यह कीड़ा, भिंडी पर जीवन-निर्वाह नहीं करता है। अतएव इसकी प्रजावृद्धि रोकने के लिए भिंडी बोना लाभ-दायक नहीं है।

उपचार :—(१) यह कीड़ा बिनौले में ही कोशावस्था बिताता है। इससे बोने से पहले बीज की जांच कर लेना आत्यावश्यक है। बीजों को पानी में डालकर खूब चलाने से नीरोग बीज तली में बैठ जायंगे और कीट-ग्रस्त बीज पानी पर तैरते रहेंगे। पानी पर तैरने वाले बीजों को निकाल कर जला देना चाहिए।

(२) खेत में बोये जाने वाले बीजों को लगभग दस मिनट तक १३० अंश (फा०) गरम पानी में डुबाए रखने से बीज के अन्दर के कीड़े मर जायेंगे।

(३) गरमी के दिनों में जब धूप बहुत ही कड़ी हो—विशेष कर मई मास में, बीज के लिए रखे गए बिनौलों को पतले फैलाकर सुखा लेना चाहिए। अनुभव से पाया गया है कि थोड़े समय तक ५० अंश (श०) गरमी में रखने से इल्लीमर जाती है।

(४) कारबन-बाय-सल्फाइड या हायड्रो सायनिक एसिड गैस (Hydrocynic acid gas) छोड़ने से भी कीड़े मर जाते हैं। किन्तु किसान के लिए इस रीति का अवलम्बन करना संभव नहीं है। शुद्ध बीज पुराने वाली संस्थाएं यह काम सरलतापूर्वक कर सकती हैं। [क्रमशः]

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सम्पूर्ण सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग** १—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेटके गणित के विद्यार्थियों के लियेले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—**केदारनाथ और बद्रीनाथ के** यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं । २६८ पृष्ठ और ६४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

१५—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१६—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री बीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

१७—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१८—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१९—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

२०—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगोंका व्योरेवार वर्णन। इसमें कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम०, ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

२१—**उपयोगी नुसखे तरकीबें और हुनर**—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३॥)

२२—**कलम पेवंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२३—**जिल्दसाजी**—क्रियात्मक और व्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८० पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२४—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २॥=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।'

२५—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२६—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार-अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति। पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य ।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।

२७—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादीक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५० पृष्ठ और २३० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२८—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ॥)

२९—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ॥)

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तै० उ० ।३।५

भाग ७३ | सम्वत् २००८ मई-जून १९५१ | संख्या २,३

भारतीय रसायन

[ऑल इंडियो रेडियो के सौजन्य से]

हमारे देश में रसायन की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। रसायन शास्त्र का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और व्यापक है। साधारण प्राकृतिक भोजन से ले कर कृत्रिम पदार्थों के औद्योगिक निर्माण तक के सभी क्षेत्रों में रसायन शास्त्र के नियमों का प्रभुत्व है। वैदिक युग में अग्नि के आविष्कार के अनन्तर ही मनुष्य ने धातुओं का आविष्कार कर डाला। ऋचाओं में जिन धातुओं का उल्लेख है, वे आज भी मनुष्य के काम की प्रमुख धातुएँ हैं—हिरण्यं चमे अयश्चमे श्यामं चमे लोहं चमे सीसम् चमे त्रपु- चमे यज्ञेन कल्पताम्—यजुर्वेद के इस मन्त्र में सोना, कांसा, ताम्बा, लोहा, सीसा और रांगा या टिन—इन धातुओं का विशेष उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर वर्णन है कि लवणेन सुवर्णं संदध्यात्, सुवर्णेन रजतं, रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसम् सीसेन लोहं, लोहेन दारु दारु चर्म्मणा। इस वचन में सोना, चांदी, रांगा, सीसा और लोहे के अतिरिक्त लवण दारु और चर्म्म तीन के सम्बन्ध का और उल्लेख है।

रसायन का आधार धातु और अधातु तत्व हैं। भारतीय संस्कृति में धातु और धातुओं के प्रयोग का विशेष हाथ है। धातुओं की उपयोगिता मुद्राओं और आभूषणों में विशेष रूप से हुई। हमारे देश ने प्रथम बार धातुओं की मुद्रायें धातुओं के भाण्ड अर्थात् बर्तन और धातु के आभरण बनाये। मुद्राओं ने सोने, चाँदी और ताम्बे को जो महत्व अति प्राचीन काल में दिया था वह आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है। स्वर्ण मुद्रा ने व्यापार के विनिमय को सरल किया। युद्ध शास्त्र ने लोहे और वज्रायस अर्थात इस्पात बनाने की कला का विकास किया। तलवार बर्छे और तीर बनाने में इनसे सहायता मिली। हमारे देश के प्राचीन भाण्ड या पात्रों में चमष अर्थात् चमचा और स्थाली अर्थात् थाली या कटोरे बहुत पुराने हैं। यज्ञ के पात्र ताम्बे और लोहे के बनाये गये।

धीरे-धीरे इस देश में आठ महारसों की खोज हुई। इस खोज ने आयुर्वेद को प्रोत्साहन दिया। रसार्णव ग्रन्थ के आधार पर माक्षिक, विमल, शैल, चपल, रसक, सस्यक, दरद और स्रोताञ्जन ये आठ महारस हैं। किसी किसी आचार्य ने अभ्रक बैक्रान्त और अद्रिज को भी आठ महारसों के अन्तर्गत गिनाया है। वस्तुतः रसों की संख्या सीमित नहीं है और समय समय पर इतने रसों का आविष्कार इस देश में हुआ कि रसायन नाम से पृथक एक रस शास्त्र ही बन गया। कांक्षी अर्थात फिटकिरी, कासीस, टंकन अर्थात सुहागा और गन्धक ने नये युग का प्रादुर्भाव किया। कुछ आचार्यों ने गन्धकगेरु कासीस, कांक्षी, ताल मनःशिला, अञ्जन और कामकुष्ट इन आठों को लेकर उपरसों का एक वर्ग बनाया। इन उपरसों में नवसार अर्थात नौसादर कपर्द अर्थात कौड़ी, गिरी सिन्दूर और हिंगुल भी सम्मिलित कर लिये गये।

जहां एक ओर रस और उपरसों के आविष्कार ने आयुर्वेद का विकास किया, वहां आभरण कला ने मणियों को धीरे-धीरे महत्व प्रदान करना आरम्भ किया। रत्नगर्भा भूमि से शीघ्र ही वैक्रान्त, सूर्यकान्त, हीरक, मौक्तिक, चन्द्रकान्त, राजावर्त्त, गरुडोद्गार, पुष्पराग, महानील, पद्मराग, प्रवाल, वैदूर्य्य और नील—ये मणि प्राप्त किये गये। इनमें से मुक्ता और प्रवाल अर्थात मूंगा समुद्र से निकले रत्न हैं।

भारतीय रसायन की प्राचीन परम्परा का झांकी लेनी हो तो चरक और सुश्रुत ग्रन्थों के अतिरिक्त कौटलीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। चरक और सुश्रुत में तो उस रसायन का उल्लेख है जिसके आश्रय पर मनुष्य ने रोग और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त करने का विफल प्रयास किया। जीवन की दिनचर्य्या और राष्ट्र के वैभव में रसायन का क्या उपयोग है, यह देखना हो तो कौटलीय अर्थशास्त्र से बढ़कर और कोई ग्रन्थ नहीं है। इस ग्रन्थ में भवन निर्माण की सामग्री, विषपरीक्षण, खनिजों का विवरण, मुक्ता, मणि, मूंगा और हीरा इन के गुण-दोषों का उल्लेख धातु-शोधन और सिक्कों में उनका उपयोग, सुरा किण्व द्वारा बनाने का विस्तार और युद्ध में काम आने वाले अनेक धूम्रों के योगों का विवरण है।

पारे के प्रयोग ने भारतीय रसायन को अनेक यौगिक प्रदान किये। ६५० ई० के लगभग वृन्द ने पारे का सलफाइड बनाया, जिसे रसामृत चूर्ण नाम दिया। इसी ने पर्पटी ताम्र अर्थात् कापर सल्फाइड भी तैयार किया। सन् १०५० में चक्रपणि ने पोर और गन्धक के योग से एक कज्जली तैयार की। १२ वीं शताब्दी का माधव का रसार्णव तो पारे के यौगिकों का प्रसिद्ध ग्रन्थ है ही, महायान सम्प्रदाय के तंत्रग्रन्थों में रसायन शास्त्र का अच्छा उपयोग पाया जाता है। नागार्जुन का रस-रत्नाकर ग्रन्थ तो उल्लेखनीय है ही। इस ग्रन्थ में शालिवाहन, नागार्जुन, रत्नघोष और माण्डव्य के बीच का सम्वाद दिया हुआ है। और संवाद द्वारा रासायनिक विषय स्पष्ट किये गये हैं। हमारे देश में छठी शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक तन्त्र सिद्धान्तों का विशेष प्रचार रहा। उदण्डपुर और विक्रमशिला के मठों के ध्वंस के बाद बौद्धों का इस देश में ह्रास हुआ। और उनके तन्त्र ग्रन्थ कालान्तर में हिन्दू तन्त्र ग्रन्थों में समाविष्ट भी कर लिये गये। मौलिक बौद्ध ग्रन्थों के जो संवाद तारा, प्रज्ञामिता और बुद्ध के बीच में थे, वे बाद के ग्रन्थों में शिव पार्वती के मुखों से कहलाये जाने लगे।

१३ वीं और १४ वीं शताब्दी में जिन रसायन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें वागभट्ट का रसरत्न समुच्चय ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में कई रासायनिक विषय बड़े विस्तार से दिये हुए हैं। यही नहीं, उसमें प्राचीन और समकालीन २७ रसायनज्ञों की एक सूची भी दी हुई। इन रसायनज्ञों में चन्द्रसेन,

कपाली, माण्डव्य, सात्विक, गोमुख, नागार्जुन, नाग-बोधि, गोविन्द आदि मुख्य हैं। यशोधर का रस-प्रकाश सुधाकर भी इस काल का अच्छा ग्रन्थ है। विष्णुदेव के ग्रन्थ रसराज लक्ष्मी में कई पूर्ववर्ती तन्त्रों और रसायनज्ञों के नामों का उल्लेख है। यदि इतिहास की समस्त सामग्री एकत्रित की जाय, तो १० वीं से १४ वीं शताब्दी तक हमें कई सौ रसायन और यजुर्वेद के ग्रन्थ मिलेंगे। इनमें से अनेक ग्रन्थ संग्रह मात्र हैं, फिर भी सभी में कुछ न कुछ नये प्रयोग और योग मिल ही जाते हैं।

रसों के निर्माण के लिये इस देश में अनेक यन्त्रों का आविष्कार हुआ। सम्भवतः १२ वीं शताब्दी में नद्रिन नामक कलाकार ने ऊर्ध्वपातन यन्त्र का आविष्कार किया, और ररक नामक खनिज से जस्ता धातु बनाने के लिये कोष्ठिका यन्त्र भी बनाया। रस-रत्न-समुच्चय ग्रन्थ में अनेक यन्त्रों का विवरण दिया हुआ है—जैसे ढोला यन्त्र, स्वेदनी यन्त, अधः पातना यन्त्र, ढेकी यन्त्र, बालुका यन्त्र लवण यन्त्र, नालिका यन्त्र, तिर्यक पातन यन्त्र, विद्याधर यन्त्र आदि। इन यन्त्रों द्वारा नियंत्रित अग्नि में वस्तुओं को विभिन्न परिस्थितियों में गरम करने का विधान है। जैसे मूषा या घरिया जिसे आजकल अंग्रेजी में क्रूसिबिल कहते हैं हमारे सुनार लोग और आयुर्वेदीय रसायनज्ञ प्रयोग करते हैं, उनकी विविध जातियों का उल्लेख भी रस-रत्न-समुच्चय ग्रन्थ में दिया हुआ है। ये मूषायें पीली मिट्टी, दीमक के घरों की मिट्टी, धान की तुषा जलने पर बची राख से मिली मिट्टी, कोयला, लीद या लोहे के जंग अर्थात किट्ट से बनाई जाती थीं।

आधुनिक रसायन के आधार-भूत पदार्थ अम्ल और क्षार हैं। कास्टिक सोडा, सलफ्यूरिक एसिड और नाइट्रिक एसिड इन तीनों ने रसायन के आधुनिक इतिहास का निमार्ण किया है। प्राचीन परम्परा में इन अम्लों और क्षारों का विस्तृत उपयोग तो नहीं होता था, पर फिर भी उस समय के रसायनज्ञ इनसे परिचित थे। रसार्णव ग्रन्थ में तीन प्रकार के क्षारों का उल्लेख आता है। टंकण अर्थात सुहागा या बोरक्स, यवक्षार अर्थात पोटैसियम कार्बोनेट, और सज्जिका या सोडियम कार्बोनेट। चूने के पत्थर को दहका कर पान में खाया जाने वाला और पोताई के काम का चूना भी इस देश का परिचित क्षार है।

ऐसिडों या अम्लों का प्रयोग इस देश में पुराना नहीं है, पर फिर भी सुनारों की परम्परा में सोने से चांदी और ताम्बा पृथक करने की परम्परा बहुत पुरानी है। पुरानी स्वर्ण-शोधन की विधियां चाहे कुछ भी रही हों लगभग १४ वीं १५ वीं शताब्दी से कुछ अम्लों का प्रयोग इस देश में होने लगा। इस काल के कुछ बाद का ही एक ग्रन्थ रस प्रदीप है। जिस समय इस ग्रन्थ की रचना हुई, उस समय पुर्तगाल वासी इस देश में आने लगे थे। सन् १५०० में मथन सिंह ने रस नक्षत्र-मालिका ग्रन्थ पूर्ण किया। इस ग्रन्थ में अफीम का उल्लेख पहले पहल हुआ है। फिरंग रोग भी विदेशियों के साथ इसी समय इस देश में आया और उसके उपचार के कुछ योग भी बाद के इन ग्रन्थों में दिये जाने लगे। रस-प्रदीप ग्रन्थ में शंख द्राव रस बनाने की एक विधि दी हुई है। यह वह रस या अम्ल है जिसमें शंख घुल जाता है, और धातुएं भी जिसमें घुलती हैं सम्भवतः यह नाइट्रिक या हाइड्रोक्लोरिक एसिड है।

माधव की रस-कौमुदी और गोविन्द दास के रस रत्न प्रदीप और भैषज-रत्नावली में भी इस खनिजाम्ल का विवरण आता है। इसके बनाने की विधि जटिल है। फिटकरी, नौसादर, शोरा, गंधक और सुहागे के मिश्रण को गरम किया जाता है। इस मिश्रण के स्रावण से सम्भवतः नाइट्रिक और हाइड्रोक्लोरिक दोनों ही एसिडों का मिश्रण मिलता होगा।

१६ वीं शताब्दी का एक ग्रन्थ धातुमंजरी या धातु-क्रिया है। इसमें फिरंगों का और रूस का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में पहली वार "दाहजल" शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात जलाने वाला पानी। इसमें यह भी उल्लेख है कि तांवा दाहजल के योग से तुत्थक या तूतिया वन जाता है। यदि ऐसा है इस दाहजल को सलफ्यूरिक एसिड होना चाहिये। इसी धातुमंजरी में मिश्र धातुयें वनाने का उल्लेख है, जैसे ताम्वा और जस्ते के योग से पीतल, एवं वंग और ताम्वे के योग से कांसा। पीतल और कांसा इस देश की अति प्राचीन मिश्र धातुएँ हैं।

वन्दूक में काम में आने वाली बारूद के आविष्कार का श्रेय हमारे देश को है। शुक्रनीति और कामन्दक के ग्रन्थ में सुवर्चिर्व (शोरा) गंधक, और कई प्रकार के कोयले के योग से अग्निचूर्ण बनाने की विधि और बन्दूक और तोप में उनके प्रयोग का उल्लेख दिया हुआ है। बारूद का इससे पुराना उल्लेख और किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। युद्ध शास्त्र में बारूद की खोज एक ऐतिहासिक घटना समझी जाती है।

प्राचीन रसायन परम्परा का उल्लेख कणाद के परमाणुवाद के उल्लेख के विना अधूरा ही रहेगा। हमारे देश में सर्वप्रथम इस परामाणुवाद की नींव पड़ी। द्रव्य और तत्वों की परिभाषा इस देश से हुई, और नित्य प्रकृति के अविभाज्य कणों की संज्ञा अणु या परमाणु यहां से आरम्भ हुई। अनेक अणुओं से मिलकर द्वयणुक, त्रिसरेणु या चतुरेणु बनाने की कल्पना यहां से आरम्भ हुई। वैशेषिक और सांख्य के आचार्यों ने गुण और गुणी, कारण और कार्य के सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना की। कारणाभावत् कार्य्याभावः आदि सूत्रों ने रासायनिक प्रतिक्रिया का रहस्य उद्घाटित किया किन्तु पश्चिम में डाल्टन के परमाणुवाद ने रसायन शास्त्र को जो रूप प्रदान किया वह कणाद के परमाणुवाद से न हो सका। अन्तर दोनों वादों में यह रहा कि हमारे देश का परमाणुवाद दार्शनिक ऊहा पोह की वस्तु ही बना रहा। हम सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के झमेले में ही व्यस्त रहे, पर डाल्टन के अनुयायियों ने अपनी परमाणुवाद को व्यवहार की चीज समझा और उसके आधार पर रसायन की प्रतिक्रियाओं को समझने का प्रयत्न किया। तराजू से तौलना आरम्भ किया, और यौगिकों की तौलों के अन्तर को परमाणुओं की सापेक्ष तौलों से समन्वित किया। उस व्यावहारिक दृष्टिकोण ने पश्चिम के आधुनिक रसायन को जन्म दिया। कणाद का परमाणुवाद इस देश में जन्म लेकर योरोप की उर्वरी भूमि में फलीभूत हुआ। क्या हम अपने उज्ज्वल अतीत के आधार पर उज्ज्वलतर भविष्य के निर्माण के लिये प्रेरणा ले सकेंगे? आशा तो ऐसी करनी ही चाहिए।

[सत्य प्रकाश]

पृष्ठ १०वें का शेष

भागों पर कीटाहनों को विस्तरित कर सकें। जहां तक कीटाहनों का संबन्ध है हमारा देश अभी भी बहुत पिछड़ा हुआ है। ग्रामीण जनता को कीटाहनों का महत्व समझा कर उनका उपयुक्त उपयोग करने की निकट भविष्य में तो कोई आशा नहीं प्रतीत होती। उनके दृष्टिकोण में अचानक कोई आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हो जाय तो बात और है।

कीटनाशक पौधे और घास

लेखक—प्रेमदुलारे श्रीवास्तव

धार्मिक अन्धविश्वास के चंगुल में फँसे हुए हमारे भारतीय किसान रासायनिक औषधियों से कीड़े मारकर फसल की रक्षा करने में असमर्थ हैं, जीव-हिंसा का दोष उन पर चढ़ जाने का डर रहता है और वास्तव में यह औषधियाँ खरीदने के लिए उनके पास पर्याप्त धन भी नहीं है। ऐसी अवस्था में यह जानना बड़ा ही हितकर होगा कि कौन-कौन से पौधों या जंगली घासों का उपयोग कीड़ों के नष्ट करने में हो सकता है।

भारत एक कृषिप्रधान देश है और यहां के अधिकतर निवासी अपनी जीविका के लिए कृषि ही पर निर्भर रहते हैं। अतएव कृषि की किसी प्रकार की क्षति का प्रभाव सारे राष्ट्र पर पड़ताहै। कृषि के मुख्य शत्रु कीड़े हैं। ये जड़, तना, शाखा, पत्ती फूल, फल तथा बीज को खाकर, चूस कर तथा उसमें छेद कर के कृषि को नाना प्रकार से क्षतिग्रस्त करते हैं। फिर भी भोला भाला भारतीय किसान भाग्य ही को कोस कर सन्तोष कर लेता है। ऐसे समय जब कि राष्ट्र भयंकर ऐतिहासिक संकट से गुजर रहा हो, जब कि खाद्य-समस्या उत्तरोत्तर उग्रतम रूप धारण करती जा रही हो कोई भी सरल विधि जो खड़ी खेती और संचित खाद्यान्न को कीड़ों की क्षति से बचा सके, राष्ट्र के प्रति बड़ी ही कल्याणकारी सिद्ध होगी।

भारतीय किसान अहिंसा का पुजारी होने के कारण अभी भी अन्धविश्वास तथा ढकोसलों का पल्ला पकड़े हुए है। हानिकारक कीड़ों को मारने में वह अभी भी पाप समझता तथा आनाकानी करता है। बड़ी कठिनाई से वह कीड़ों को किसी तरह भगाने पर तय्यार होता है, फलतः विपत्ति उस खेत से हट कर पड़ोसी खेत पर जा पड़ती है। इस तरह तो समस्या कभी भी हल नहीं हो सकती। मनुष्य भले ही भूख की व्यथा से तड़प कर दम तोड़ दें पर भला कीड़े कैसे मारे जांय? यह है दशा हमारे देश भारत की!

क्षतिग्रस्त पौधों पर गोबर की उपली या कंडे की राख तथा लोना या नुनछी छिड़कने की प्रथा हमारे देश में प्राचीन काल से चली आरही है। यदि इन्हें भद्दे ढंग से केवल हाथ से छिड़कने के स्थान पर आटा छानने वाली साधारण छननी का उपयोग किया जाता तो पौधे के प्रत्येक भाग पर समरूप से फैल सकता जिससे सम्भवतः फल और भी अच्छा होता। राख व लोना पौधे से कुछ अंश तक कीड़ों को दूर अवश्य रखते हैं परन्तु उन्हें मारने में सहायक नहीं होते। यदि छिड़कने से पूर्व उनमें उपयुक्त कीटाहन (insecticide) मिला लिया जाय तो सम्भव है कीड़े मौत के मुँह से न बच सकें।

कीटनाश के हेतु रासायनिक पदार्थ तथा पौधे और उनके उत्पाद (products) दोनों ही उपयोग में आते हैं। रसायनिक कीटाहन अप्रांगारिक (in-organic) और पौधेआदि प्रांगारिक (Orga-nic) प्रकृति के होते हैं। वनस्पति या कृषि उत्पादों को उपयोग में लाने में कोई निश्चित लाभ हैं और इस

बात की भी सम्भावना है कि भारतीय किसान को रासायनिक पदार्थों की अपेक्षा शीघ्र, और सरलता से ग्राह्य हों।

कीटाहनक महत्व के तृणांक (Weeds) किसान के पास-पड़ोस में उगने के नाते उन्हें ढूढ़ने में न तो कोई विशेष उलझन हो सकती है और न उनके तय्यार करने की जटिल विधियों तथा सूत्रों (Formula) को ही समझने की आवश्यकता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये उसे बिना पैसे के, हाय-हाय किये बिना ही मिल सकते हैं।

कृषि उत्पाद उष्ण रक्त वाले (Warm blooded) प्राणियों के प्रति, जिनमें मनुष्य व पालतू पशु भी सम्मिलित हैं, रसायनिक पदार्थों की अपेक्षा कम घातक होते हैं और कीटनाशक-कुशलता भी उनसे कुछ कम नहीं होती।

उद्भिद जगत का वर्गीकरण भी पौधों के कीटाहनक महत्व को निश्चित करने में हमें कुछ विशेष रूप से सहायता नहीं करता, एक ही समूह का कोई पौधा उच्च कोटि का विष होते हुए भी उसी समूह का दूसरा पौधा पूर्णतया विषहीन हो सकता है। उदाहरणार्थ सालोनेसी (Salonaceae) कुल में धतूरा, बैंगन, टोमैटो, तथा आलू इत्यादि सम्मिलित हैं परन्तु धतूरे को छोड़कर शेष तीनों पौधों का उपयोग प्रति दिन के खाने पीने में बहुतायत से होता है। इसके अतिरिक्त किसी कीटाहन का सभी कीड़ों पर एक ही सा प्रभाव नहीं पड़ता।

कीटाहनक महत्व के अतिरिक्त हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि किसानों को यह बताया जाय जो कम समय में उग सके। वर्षों में तय्यार होने वाला पौधा उच्च कोटि का विष होते हुए भी अव्यावहारिक होता है क्योंकि इतने दिनों तक उसकी जंगली व पालतू पशुओं से रक्षा करना बड़ा कठिन कार्य है।

वनस्पति उद्भव के कीटाहनों में मुख्यतः पायरेथ्रम (Pyrethrum), डेरिस (Derris) तथा तम्बाकू पर विशेष रूप से अन्वेषण हुए हैं।

पायरेथ्रम, कम्पोजिटी (Compositae) कुल के क्राइसैन्थेमम नामक पौधे का फूल है। इसके प्राचीन इतिहास का कुछ विशेष पता नहीं चलता। सम्मत सन् १९५० ई० में फिर से इसकी तीन जातियों (C. roseum, C. carneum, and C. cinerariaefoliam) का पता लगा था। इसके मुख्य क्रियाशील आधेय (Active principles) पायरेथिन I और पायरेथिन II (Pyrethrin I and Pyrethrin II हैं जो वास्तव में ईस्टर (estres) हैं जिन के टूटने या रासायनिक परिवर्तन होने की सभावना बनी रहती है जिससे कीटाहनक कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। पूरे खिले हुए फूलों की अपेक्षा अधखिले फूलों में पायरेथ्रिन मात्रा अधिक होती है, खिलने के बाद फूल को पौधे पर अधिक दिनों तक लगे रहने देने से भी उसकी कीटनाशक कुशलता पर प्रभाव पड़ सकता है। फूलों की बिम्बपुष्पक (disc flosrets) में सम्पूर्ण फूल का नब्बे प्रतिशत पायरेथ्रिन रहता है और उसका भी अधिक तर भाग अंडाशय (ovary) में होता है।

इस पौधे की खेती दलवतिया (यूगोस्लेविया) जापान केन्या, सयुक्त राज्य तथा इटैली व रूस के कुछ भागों में स्थूल परिमाण में होती है परन्तु जापान और केन्या मुख्य निर्यात करने वाले देश हैं। भारत केन्या से आयात करता है। काश्मीर में भी अब पायरेथ्रिन की खेती होनेलगी है।

पायरेथ्रिन उच्च कोटि का सम्पर्क विष (Contact poison) है परन्तु खाद्य विष (Stomach poison) नहीं जैसा कि ए० के० वाकरेसेन्स्काया (A. K. Vochrsenskoya 1939-40) द्वारा एग्रटोटिम (Ogroatis), गोभी के कीड़े (Pieris

blassicae तथा टिड्डियों पर किये गये वायुयान धूलन (aeroplanedusting) की संपरीक्षाओं (Experiments) द्वारा सिद्ध हो चुका है। केलिफ़ोर्निया में १९३३-३४ में होने वाली संपरीक्षाओं के फल स्वरूप यह पता लग चुका है कि पायरेथ्रिम छिड़के हुए चारे को खाने से भेड़ों पर कोई भी हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता। श्री टैटरसफ़ील्ड (Tattersfield १९३२ के मतानुसार वायु और प्रकाश के सम्पर्क से इसका विषैलापन कम हो जाता है परन्तु अंधेरे में या प्रांगारद्विजारेय (Carbon-di-oxide) या नाइट्रोजन (nitrogen) के वातावरण में विषैले गुण प्रभावित नहीं होते। श्री एबोट (Abbot) की संपरीक्षाओं से यह सिद्ध हो चुका है कि बन्द बर्तनों में रखे रहने पर पांच वर्ष तक विषैले गुण ज्यों के त्यों बने रहते हैं। सर्वश्री टैटरसफील्ड तथा हाबसन (Tattersfield and Hobson 1931) के मतानुसार अत्यन्त महीन चूर्ण पतले स्तरों में रखा रहने पर प्रकाश के सम्पर्क में भी फूल अपनी कीटनाशक कुशलता नहीं खोता। शीतोष्ण जलवायु में एल्कोहल तथा पेट्रोलियम में घुला हुए पायरेथ्रिन में विषैले गुण महीनों बने रहते हैं। यह माहो गोभी के कीड़ों तथा अन्य अनेको हानिकारक कीड़ों को नष्ट करने का अच्छा साधन है। इसके छिड़काव से अंडे भी नष्ट हो जाते हैं।

डेरिस लेग्युमिनोसी (Leguminosae) कुल के एक बड़े प्रतानी (Climber) डेरिस इलिप्टिका (Derris Elliptica) की जड़ है जो मलाया प्रायद्वीप में बहुत होती है। इसके अतिरिक्त उचईस्ट इंडीज, न्यूगिनी, फ़िलीपाइन्स तथा आसाम और बंगाल के कुछ भागों में भी पाई जाती हैं। इसकी पार्श्व-मूलकों (lateral rootlets) में मोटी व बड़ी मुख्य जड़ की अपेक्षा विष अधिक होता है। पाश्चात्य देशों में व्यवहार में आने से पूर्व चीन और मलाया आदि एशियाई देशों में जड़ को कूट कर पानी में भिगो कर उसका आक्वाथ (infusion) बना कर और छानकर पौधों पर छिड़काव किया जाता था या परों की सहायता से फैलाया जाता था। मलाया ही निर्यात करने वाला मुख्य देश हैं जहां पर १०७५ एकड़ भूमि में उसकी अकेली खेती होती है। इसके अतिरिक्त और शस्यों (Crops) के साथ मिला कर भी इसे उगाते हैं। यदि इसे लगभग तेईस महीने के भीतर न काट लिया जाय तो उसके विषैले गुणों में कमी होने की सम्भावना रहती है। यह सम्पर्क तथा खाद्य दोनों ही ढंग का सफल कीटाहन है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि यह कीड़ों के प्रति प्राणघातक होते हुए भी पालतू पशुओं के प्रति सर्वथा निर्दोष है। इस पर श्री आर० सी० रोटूकर (R. C Roork) से बड़े अन्वेषण किये हैं। यह सम्पर्क तथा खाद्य विष दोनों भी प्रकार से सफलता पूर्वक उपयोग में लाया जाता है। इसका मुख्य क्रियाशील आधेय रोटेनोन (Rotenone) है जिसे ईथर या एसीटोन की सहायता से निकालते हैं। साधारणतः एसीटोन ही का उपयोग किया जाता है। आजकल कारबन टेट्रा क्लोराइड (Carbon tetrachloride) को सबसे अच्छा विलायक (Solveut) माना जाता है। कुछ कीड़ों के प्रति तो उसका विषैला प्रभाव पायरेथरम् से अधिक होता है और कुछ के प्रति कम। यह माहो पर्णजीवक (thripo) तथा फलों और शाक भाजियों को हानि पहुँचाने वाली अनेकों सूंड़ियों के प्रति सफल प्राणघातक का कार्य करता है। इसके छिड़काव से कीड़ों के अंडों का नाश होता है।

तम्बाकू सोलोनेसी (solonaceae) कुल के निकोटियाल प्रजाति का पौधा है। इसकी कई जातियां होती हैं जो भारत के विभिन्न भागों में उगाई जाती हैं। इसके मादक गुणों से अधिकतर लोग परिचित

हैं परन्तु इसके कीटनाशक गुणों से अधिकांश जनता अनभिज्ञ है। डेरिस की ही भांति यह भी उच्चश्रेणी का सम्पर्क व खाद्य कीटाहन है। हाल ही के अन्वेषणों से यह ज्ञात हुआ है कि इसका क्रियाशील अधिक निकोटीन (nicotine) उबालने से वाष्प रूप में निकल जाता है अतएव इसका क्वाथन (decoction) बनाने के लिए इसे चौबीस घंटे जल में भिगो कर रखते हैं। फिर इसे छान लेते हैं और छने हुए रस में अधिकांश निकोटीन आ जाता है यह महो, उल्कोल शलभ (codling moth) तथा फलों और शाक-भाजियों के अनेकों हानिकारक कीड़ों के नियंत्रण का अच्छा साधन है।

अनेकों भारतीय इसके पीले फूलों को पवित्र मानते हैं और उनका उपयोग देवी देवताओं को प्रसन्न कर अपने पापों को क्षमा कराने की आशा रखते हैं। उनकी यह आशा पूर्ण होती है अथवा नहीं यह कहना तो कठिन है परन्तु इसका साक्षात फल यह होता है कि फूल टूट जाने पर फल बनने ही नहीं पाते। यदि इसके बीच की गिरी के कीटनाशक गुणों का ज्ञान किसानों को कराया जाय तो सम्भवतः वे अपनी इच्छा की पूर्ति किसी और फूल से करने का प्रयत्न करें। कनेर के गिरी का निम्न प्रतिशत की शीकरी (Spray) माहो, मीलीबग (mealy bugs) तथा अन्य अनेकों सामान्य हानिकारक कीड़ों तथा उनकी भिन्न

कनेर (थिवीशिया नेरिफ़ोलिया) कनेर (नेरियम ओडोरम)

कनेरः—एपोसाइनेसी (apocynaceae) कुल थिवीशिया प्रजाति की एक झाड़ी (shrub) है जो जो भारत में विशेषकर देवालयों के पास उगाया जाता है। इसकी मुख्य जाति थिवीशिया नेरिफ़ोलिया। (Thevetia nerifolia) है। कहीं कहीं पर इसके बड़े बड़े वन भी पाये जाते हैं। इसके फल की गिरी (kernel) में कीटनाशक गुण विद्यमान रहते हैं। इस पर भारत के सरकारी अन्वेषणालयों में पर्याप्त कार्य हुए हैं। यह भी सम्पर्क व खाद्य दोनों ही प्रकार का कीटाहन है। १०० सेर बीज में लगभग १० सेर गिरी निकलती है।

इसके पीले फूलों का विशेष धार्मिक महत्व हैं।

भिन्न अवस्थाओं के विरुद्ध सफलता से उपयोग की जा सकती है।

कनेर की गिरी का तेल लकड़ी को कीड़ों से बचाने के लिये उपयोग किया जाता है। १० सेर गिरी में ६½ सेर तेल निकल सकता है जिसको जल में मिलाकर तैलोद (emulsion) बना कर बैंगन पर लगे टिन्जिड (tingids) तथा मीलीबग (mealy bugs) को मारने के काम आता है।

दूसरी झाड़ी भी कनेर ही के नाम से प्रसिद्ध है इसे नेरियम ओडोरम (Nerium adorum) कहते हैं। यह थिवीशिया ही के कुल का है और उससे मिलता जुलता है। इसके फूल सुन्दर तथा बीज भूरे

रंग के होते हैं। इसकी छाल तथा जड़ (bark and root) विषैले होते हैं जो दो विषैले ग्लूकोसाइड्स (glucosides) के उपस्थित होने के कारण होते हैं।

धतूरा—यह तम्बाकू ही के कुल का एक जंगली (weed) है जो सारे भारत में पाया जाता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं जिनमें से धतूरा फेस्टूओसा (Datura fastuosa) अधिक सामान्य है। इसके फल के बीज विषैले होते हैं। कहा जाता है कि हिन्दुओं के देवता शंकर जी इसका उपयोग करते हैं। इस कथन में कितना सत्य है यह तो इस विश्वास में विश्वास रखने वाले ही जाने, हम तो केवल यही कह सकते हैं कि कोई भी साधारण मनुष्य इसे अधिक मात्रा में उपयोग करने से मर सकता है। थोड़ी मात्रा में लोग भंग के साथ इसका उपयोग करते हैं। जहां तक इसके कीटनाशक गुणों का सम्बन्ध है यह केवल खाद्य-कीटाहन ही है इसलिये जो कीड़े पौदों के भिन्न भागों का केवल रस ही चूसते हैं उनके जीवन पर इसके शीकन का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस पर अभी निश्चयात्मक रूप से कार्य नहीं हुये हैं और अधिक अन्वेषणों की आवश्यकता है।

मदार को अर्क अकडा या अकौड़ा भी कहते हैं यह रूबियेसी (Rubiaceae) कुल का पौदा है। धतूरे ही की तरह यह भी एक सामान्य भारतीय तृणक (weed) है। इसकी जाति कैलोट्रापिस जाइगेन्टिया (Calotropis gigantea, family Rubiaceae) अन्य सभी जातियों से अधिक सामान्य है। इसकी पत्ती तथा ताज़ कटे हुए तल से निकलने माला दूधिक रस (milky sap) विषैला होता है। पत्ती को उबाल कर उसका आक्वाथ (infusion) बना कर उसे छान लिया जाता है। इसका मुख्य क्रियाशील आधेय उत्पत तैल (essential oil) तथा स्वफेन (Saponin) हैं। यह सम्पर्क कीटाहन के रूप में अच्छा कार्य करता है। गांवों में इसे दीमक के नियंत्रण के लिए उपयोग में
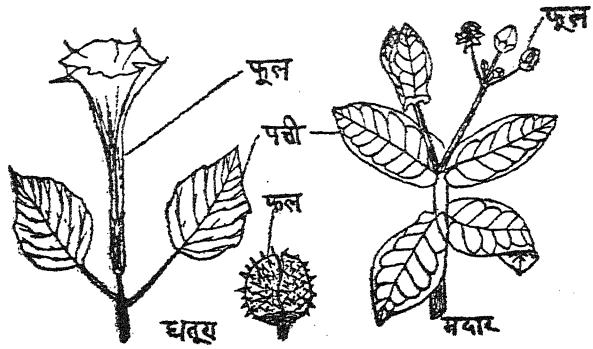
लाते हैं। ताज़े कटे हुए तने, पत्तियों तथा फल आदि सिंचाई की नाली के मुख पर रख देते हैं जिससे ताज़े कटे तलों से निकलने वाला दूधिक रस सिंचाई के जल से मिल कर दीमक के फैलने को रोकता है।

नीम मिलियेसी (Meliaceae) कुल का पौद है। इसके दो मुख्य नाम (Melia indica, Agadiractita indica) होते हैं। यह एक सामान्य वृक्ष है जो समस्त भारत में मिलता है। लोग इसे भी पवित्र मानते हैं और चेचक की देवी शीतला से इसे संबंधित किया जाता है। यह विश्वास सत्य हो या मिथ्या, परन्तु यह तो निर्बिवाद है कि इसमें कीटनाशक तथा कीटाणु-नाशक गुण विद्यमान होते हैं। ऊनी कपड़ों को तहों में रखी पत्तियां उन्हें नष्ट करने वाले डरमिस्टिडी (Dermistidae) वंश के भृंग (beetle) एन्थ्रीनस (Anthrenus) के भृंग जातक (goubo) को पास नहीं फटकने देती। वे कीड़े इससे मर जाते हैं या नही इसका निर्णय तो भविष्य के अन्वेषणों से ही हो सकेगा क्यों कि इस

विषय में अभी ज्ञान अधूरा है और इसे केवल कीड़ों को दूर रखने वाला ही समझा जाता है। सर्वश्री चोपरा तथा वहवार (R. N. Chopra and R. L. Bahwar) ने भी अपने पत्र "भारत के विषैले पौदे" (Poisonous Plants of India 1940) में नीम को कीड़ो को दूर रखने वाला ही कहा है। इसे सिल्क को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों के विरुद्ध उपयोग किये जाने का कोई लिखित प्रमाण अभी तक नहीं है।

नीम की खली अच्छी खाद होने के अतिरिक्त खेतों की दीमक से रक्षा करने के हेतु उपयोग में लायी जाती है। यह प्रथा प्राचीन है तथा पूर्ण सफल भी नहीं है परन्तु इसका कोई दूसरा उपयुक्त स्थानापाद substitude) भी नहीं है।

नीम की फली या निबौले के तेल को जो केवल जलाने के काम आता है पानी मिला कर तैलोद (emullsion) के रूप में कीटनाश हेतु उपयोग में लाये जाने की संभावना है। इसका शीकर (spray) बैंगन पर लगे टिन्जिड (tingids) तथा मीलीबग mealy bugs) को मारने के लिये उपयोग किया जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी पोदे हैं जिन्हें और अन्वेषण होने पर सफल कीटाहत सिद्ध होने की संभावना है। लेग्युमिलेसी कुल के सफेद सिरिस (Allizzia procera) तथा मेनीस्पेर्मेसी (Meni spermaceae) कुल की गुर्च (Tinospera cordifobia) की छाल, अरटिकेसी (Urticaceae) कुल के गाँजे (Cannabis satira) के तने, छोटी पत्तियों तथा फूल, यूफारबिवेसी (uphorb iaceae) कुल के जमालगोटे (Croter tiglium) की उद्यास (resin) में भी कीटनाशक गुण होते हैं।

कीटाहनों का उपमोग भूतद्रव्य (matter) की तीनों दशाओं ठोस, द्रव तथा वाति (gas) में होता है। ठोस अवस्था में इनके उपयोग को धूलन (dusting) की क्रिया कहते हैं। इस क्रिया में कीटाहन को खल कूट कर खूब महीन कर के छान लिया जाता है फिर छनी हुई राख को महीन सूखी मिट्टी जैसे किसी वाहक (carrier) में मिला कर उपयोग किया जाता है। द्रव अवस्था में कीटाहन को उपयुक्त विलायक (solvent) द्रव के साथ उबाल कर छान लिया जाता

है। फिर छने हुए द्रव में थोड़ा सा सस्ते साबुन का घोल मिला लिया जाता है ताकि शीकर पौधे के प्रत्यक भाग पर सुगमता से फैल सके। साबुन के घोल में साबुन का प्रतिशत भिन्न भिन्न पौदों के अनुसार होता है। वाति रूप में कीटाहन का उपयोग करने को धूमन (funsgation) कहते हैं। धूलन तथा शीकन के लिए साधारण छननी और पिचकारी से लेकर विद्युति चालित कलें तक उपयोग में आती हैं। लम्बी चौड़ी शस्यों (crops)पर छिड़कने के हेतु वायुमानों का भी उपयोग होने लगा है। विज्ञान की उन्नति के साथ साथ, प्रतिदिन इन कलों में भी सुधार होते जा रहें हैं। सभी सुधारों का लक्ष्य होता है कि ये कम से कम समय में शस्यों के अधिक से अधिक

शेष पृष्ठ ४ पर

खनिज—गुण तथा उपयोगिता

लेखक—प्रभाकर वि० देहादराय

खनिजों से प्राप्त धातुओं के उपयोग पर हमारी वर्त्तमान सभ्यता आधारित है, किसी देश की खनिज सम्पत्ति ही इस युग में उस देश की सभ्यता व संस्कृति का माप दण्ड है; आध्यात्मिकता का पुजारी भारत आज पिछड़े हुए देश में गिना जाता है क्योंकि अमेरिका आदि देशों के पास अधिक खनिज सम्पत्ति है। लेख उपयोगी है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकृति के तीन मुख्य विभाग हैं। :—(१) पशु-जगत (२) वनस्पति-जगत् और (३) खनिज जगत।

यद्यपि हम मुख्यतः खनिज जगत में रहते हैं तथापि हममें से बहुतों को खनिज के मुख्य गुणों, उनकी उपयोगिता तथा हमारी सभ्यता (संस्कृति) पर उनके अस्तित्व के प्रभाव का ज्ञान नहीं के बराबर ही है। आदिकाल में हमारे पूर्वजों ने औजार बनाने के लिये पाषाण की उपयुक्तता पर विचार किया और आधुनिक काल में युरैनियम आदि अप्राप्य मूल-तत्वों से युक्त खनिज की खोज बराबर जारी है।

परिभाषा:—यों तो पृथ्वी की सतह से प्राप्त या भू-गर्भ से प्राप्त ऐसी सभी वस्तुएं जो जीवरहित हैं तथा प्रकृति की प्रयोगशाला में बनी है, प्रायः 'खनिज' कही जा सकती हैं। वैज्ञानिक परिभाषा कुछ जटिल है। इस के अनुसार खनिज की परिभाषा यों है:— (१) ऐसी वस्तु जिसका निश्चित रासायनिक संगठन हो, (२) जो जीव रहित हो और (३) जिसका निश्चित अणुसंगठन (atomic structure) हो। इस परिभाषा के अनुसार, पानी भी खनिज-जगत् में सम्मिलित है। कानून के अन्तर्गत "खनिज" की परिभाषा बहुत ही विशद् है और पृथ्वी से प्राप्त ऐसी सभी प्राकृतिक वस्तुओं का इसमें समावेश कर लिया गया है जिनसे आर्थिकलाभ (financial gain) हो। इसलिए "खनिज" के अन्तर्गत ऐसी कतिपय वस्तुओं का समावेश कर लिया गया है जो परिभाषा की कसौटी पर उतरने में असमर्थ हैं। जैसे कोयला, पेट्रोलियम, चूने का पत्थर, चीनी मिट्टी आदि। खनिज की पहिचान इन गुणों के आधार पर की जाती है:—

कुछ भौतिक गुण:—

(क) ऐसे गुण जो मनुष्य की घ्राणेंद्रिय, स्पर्शेन्द्रिय तथा जिह्वा की प्रतिक्रिया पर अवलंबित हैं।
जैसे:—सुगंध, दुर्गंध आदि।
चिकना, खुरदरा, आदि। खट्टा, मीठा, आदि।

(ख) ऐसे गुण जो प्रकाश से सम्बंधित हैं, जैसे:— रंग, चमक, पारदार्शिकत्व, अपारदार्शिकत्व, आदि।

(ग) ऐसे गुण जो खनिज के अणु-संगठन पर निर्भर हैं। जैसे:—बनावट, कठिनता घनत्व, आदि।

(घ) ऐसे गुण जो खनिज पर ताप की प्रतिक्रिया पर निर्भर हैं:—द्रव-विंदु आदि।

(ङ) ऐसे गुण जो खनिज पर चुंबक, विद्युत् आदि के प्रभाव पर निर्भर हैं।

साधारणतः प्रयोगशाला में जिन परीक्षाओं द्वारा खनिज की जांच की जाती है वे ये हैं :—

(१) रंग (Colour) :—प्रकाश में स्थित सप्त रंगों में कुछ रंग का खनिज की सतह पर शोषण होता है। जब सभी रंग शोषित हो जाते हैं तब वह वस्तु काली मालूम होती है। इसी प्रकार यदि केवल लाल रंग ही शोषित न हो और सब रंग शोषित हों तब वह वस्तु लाल मालूम होती है।

मैंगनीज का खनिज पैरोलुसाइट काले रंग का होता है। क्वार्ट्ज (Quartz – SiO_2) कई रंग का होता है इनमें सफेद, गुलाबी, धुँधले आदि कई प्रकार हैं। लोहे के खनिज कई हैं और इन सबके रंग भी अलग अलग हैं।

जैसे.—हेमाटाइट:—भूरा या लाली लिए हुए कभी कभी काला भी

पाइराइट:—सोने की तरह चमकदार।

मेग्नेटाइट:—काला।

(२) *बुकनी का रंग* (Streak):—किसी किसी खनिज का रंग उसके बुकनी के रंग से भिन्न होता है। जैसे:—लोहे का खनिज पाइराइट (Pyrite) सोने की तरह चमकदार होता है परन्तु उसकी बुकनी (Powder) का रंग काला होता है। अतएव बुकनी का रंग मालूम करने के लिए चीनी मिट्टी की पकी हुई एक "प्लेट" (Streak Plate) पर उस खनिज से लकीर उसी तरह खींचते हैं जैसे सोना जांचने के लिये कसौटी पर लीक खींची जाती है। ऐसा करने से खनिज के रंग के साथ साथ उसके बुकनी के रंग का भी पता चल जाता है।

कुछ खनिजों में प्रकाश में कई प्रकार के रंग एक साथ चमकते हुए दिखाई देते हैं। जैसे लेब्रौडोराइट में (Labrodorite – Ab_{50} An_{50} से Ab_{30} An_{70} जहां $Ab = Na_2O.\ Al_2O_3.\ 6\ SiO_2$ अल्बाइट और $An = CaO.\ Al_2O_3.\ 2\ SiO_2$. एनारथाइट हैं)। इस प्रकार के रंग दिखने को "रंगों का चमत्कार" या "play of colours" कहते हैं।

चमक

चमक (Lustre):—प्रत्येक खनिज में एक अपनी चमक होती है जो मात्रा तथा प्रकार में भिन्न होती है और प्रकाश-किरणों के खनिज की सतह पर पड़ने वाले प्रभाव पर तथा प्रतिबिंबित होने की क्रिया पर मुख्यतः अवलंबित है।

खनिज में पाये जाने वाली "चमक" के कुछ प्रकार ये हैं:—

(१) रेशमी:—खनिज "एस्बेस्टस (Asbestos) की चमक इसका उदाहरण है। जिपसम (Gypsum $Ca\ SO_4.\ 2H_2O$) का प्रकार जो साटन स्पार (Satin Spar) कहलाता है इसकी भी चमक रेशमी होती है।

(२) हीरे की तरह:—खनिज ज़िरकान (Zircon – $ZrO_2.\ SiO_2$ या $Zr\ SiO_4$) इसका अच्छा उदाहरण है।

(३) मोती की तरह:—इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं—
खनिज संगजिरा (Soapstone),
खनिज बेराइटीज (Barytes–$BaSO_4$),
ब्रूसाइट($MgO.H_2O$)
और अभ्रक (Mica)❀

(४) धातु की तरह उदाहरण:—सोना, चांदी, आदि। तथा

❀"अभ्रक की चमक" को कई लेखक एक अलग प्रकार मानते हैं—("micaceous lustre")

जैसे खानिज—

पाइराटीज (Pyrites – FeS_2.),
मेग्नेटाइट (Magnetite – Fe_3O_4),
क्रोमाइट (Chromite– FeO. Cr_2O_3),
मालिबडेनाइट (Molybdenite – MoS_2),
गेलेना (Galena – Pbs),
चालकोपाइराइट (Chalcopyrite – Cu_2S. Fe_2S_3), इत्यादि।

(५) कांच की तरह :—शीशा टूटने पर टूटे हुए भाग में एक प्रकार की चमक दिखाई देती है।

निम्नांकित खनिजों में इस प्रकार की "चमक" होती है :—

(अ) क्वार्टज (Quartz – SiO_2),
(ब) केलसाइट (Calcite – $CaCO_3$.)
(स) एपाटाइट (Apatite – 3 Ca_2 P_2 O_5 + CaF_2 या + Ca Cl_2 जिसमें क्लोरिन Chloriue या Florinine रहता है),
(उ) फेल्सपार (Felspar)—(सभी फेल्सपार),
(इ) ओलिविन—Olivine – 2 (Mg. Fe) O. SiO_2
(ई) फ्लोराइट (Flourite या Flourspar– CaF_2), इत्यादि।

(४) "स्पर्श" (Feel)

स्पर्श :—(Feel):—कुछ खनिज स्पर्श करने से चिकने मालूम होते हैं। उदा०:—संगजिरा (Soapstone)। कुछ खनिजों की सतह खुरदरी मालूम होती है,। उदा०:—क्रोमाइट (Chromite) और कुछ खनिज स्पर्श करने से हाथ में काला दाग लग जाता है जैसे—पैरोलुसाइट (MnO_2–Pyrolusite)

(५) "आकार (Form)"

कई खनिजों के आकार बहुत ही स्पष्ट तथा किसी विशेष प्रकार के होते हैं। कुछ खनिज "रवेदार" (Crystalline) होते और कुछ बिना रवे के होते हैं (Amorphous)। जो खनिज पूर्ण रूप से रवेदार या स्फटिक (Crystal) स्थिति में नहीं होते उन्हें "अर्ध स्फटिक" (Cryptocrystalline) कहा जाता है।

खनिजों के आकार जिन प्रकारों में प्रायः व्यक्त किये जाते हैं उनमें से कुछ ये हैं :—

(१) तार की तरह (Wiry) :—सोना या चांदी जब शुद्ध रूप में पाया जाता है तब प्रायः उसका रूप मरोड़े हुए तार की तरह रहता है।

(२) दानेदार (Granular) :—छोटे तथा बड़े दाने के आकार के कण

जैसे :—ओलिविन (Olivine) में
कोमाइट (Chromite) में

(३) चाकू की पत्ती की तरह (Bladed):—प्रायः खनिज कायनाइट (Kyanite—Al_2 O_2. SiO_8)

(४) तहदार (Folialeous) :—पुस्तक के पृष्ठ जैसे एक पर एक रखे गये हों। उदाहरण—अभ्रक (mica)

(५) रोयेंदार:—(Fibrous):—पतले पतले सूत या रेशम के रोंयें की तरह।

उदाहरण:— एस्बेस्टस (asbestos)

(६) अँतड़ियों की तरह (Kidney-shaped) गोलाकार तथा अर्ध गोलाकार सतह पेट की अंतड़ियों की तरह आकार लिये हुए।

जैसे:—हेमाटाइट (Hematite: Fe_2O_3) में।

(७) सूई की तरह:—(Acicular) :—पतली

सूई के आकार की तरह। जैसेः—नैट्रोलाइट (Natrolite) में

(८) कंकड़ की तरह :—(Concretionary) इसके अंतर्गत गोल तथा अंडाकार तथा अन्य बेडौल आकार भी सम्मिलित हैं। प्रायः चूने के कंकड़ इस आकार के होते हैं। फ्लिट (Flint SiO_2) भी इसका उदाहरण हैं।

(९) कंडाल की तरहः—(Barrel shaped) जैसे खनिज कोरंडम (Corundum—Al_2O_3) में।

(१०) चपटा (Tabular): —जैसे खनिज बेराइटीज इत्यादि। (Barites—$BaSO_4$) में

(६) विलगन शक्ति

कई खनिज जब टूटते हैं तब किसी विशेष सतह से ही सरलता से विलग होते हैं। ऐसी सतह को विलगस्तर (cleavage plane) कहते हैं। और ऐसी धारणा को विलगन (cleavage) कहते हैं। खनिज का यह गुण आंतरिक परमाणु संगठन पर अवलंबित है। किसी खनिज में एक (जैसे अभ्रक में) किसी में दो (जैसे-हार्नब्लेंड-Hornblende में) तथा किसी में तीन (जैसे-केलसाइट (Calcite में) दिशा में विलगन होता है। किसी खनिज में एक भी दिशा में इस प्रकार का बिलगन नहीं होता और वह खनिज कोई भी बेडौल आकार लिये टूटता है। जैसे-क्वार्ट्ज (Quartz-Si O_5) में। ऐसी स्थिति में कभी टूटी हुई सतह चिकनी (even) होती है कभी खुरदरी (uneven) तथा कभी कभी टेढ़ीमेढ़ी (Conchoidal) होती है।

कठोरता (Hardness)

कुछ खनिज कठिन होते है तथा कुछ तो इतने नरम होते हैं कि उन्हें नाखून से भी कुरेदा जा सकता है। खनिज की कठिनता जांचने के लिये दस (१०) खनिजोंको इस प्रकार चुना गया है कि सबसे नरम एक तरफ तथा सबसे कठिन दूसरी ओर। और अन्य खनिज इन दोनों के बीच के स्थान में उनकी कठिनता के अनुसार रखे गये हैं। इस व्यवस्था को "मो की कठिनता मापक व्यवस्था" (Mohs' Scale of Hardness) कहते है। यह व्यवस्था इस प्रकार से हैः—

खनिज का नाम	कठिनता के अनुसार क्रमांक
संगजिरा (Talc)	१ एक
जिपसम (Gypsum)	२ दो
केलसाइट (Calcite)	३ तीन
फ्लोराइट (Fluorite)	४ चार
एपाटाइट (Apatite)	५ पाँच
फेल्सपार-ऑरथोक्लेज़ (Felspar-Orthoclase)	६ छै
क्वार्टज (Quartz)	७ सात
टोपाज (Topaz-Al_2 F_2 SiO_4)	८ आठ
कोरंडम (Corundum)	९ नौ
हीरा (Diamond)	१० दस

यदि किसी खनिज की कठिनता मालूम करनी है तो उस खनिज को "कठिनता मापक व्यवस्था" के क्रमांक से कुदेरा जाता है। मान लीजिये उस खनिज पर केलसाइट से चिन्ह नहीं बन सकता परन्तु फ्लोराइट से चिन्ह सरलता से बन जाता है तो इससे निर्णय यह निकला कि वह खनिज केलसाइट (३) से कठिन तथा फ्लोराइट (४) से नरम है। अतएव उस खनिज की कठिनता ३ (तीन) और ४ (चार) के बीच अर्थात् ३.५ (तीन दशमलव पांच) है।

ऐसी क्रिया से खनिज की परीक्षा करने में सरलता होती है।

प्रयोगशाला के बाहर खनिज की कठिनता की जांच करने के लिये निम्नलिखित सरल व्यवस्था से बहुत ही लाभ होता है।

नाम	कठिनता क्रमांक।	
नाखून—	कठिनता	२½ तक।
तांबे का पैसा—	कठिनता	३—४ के लगभग।
कांच का टुकड़ा—	कठिनता	५ के लगभग।
चाकू—	कठिनता	६—७ केलगभग।

आपेक्षित घनत्व (Sp. Gr.)

खनिज का आपेक्षित घनत्व निकालने की कई क्रियायें हैं। ये सभी आर्कीमिडिस के सिद्धान्त पर आधारित हैं। इनमें कुछ सरल ये हैं:—

(१) जोली के स्प्रिंग तराजू से इसका वर्णन:— एक लोहे की या तांबेकी स्प्रिंग चित्र में दी हुई रीति से लटकाई जाती है। उसके नीचे की छोर में एक पलड़ी (Pan) होती है और उस पलड़ी के नीचे की एक और पलड़ी (२) लगी रहती है। स्प्रिंग जिस तख्ते से ढकी रहती है उस पर चिन्ह बने रहते हैं। पलड़ी क्रमांक "२" सदैव पानी में डूबी रहती है।

क्रिया:—

(१) स्प्रिंग के नीचे का छोर = 'अ' चिन्ह पर। इसे लिख लिया जाता है और इसके उपरान्त खनिज का टूकड़ा पलड़ी क्रमांक एक में रखकर स्प्रिंग के नीचे के छोर का स्थान लिख लिया जाता है।

(२) मान लिया यह चिन्ह 'ब' पर है। अब खनिज को ऊपर के पलड़े से निकालकर नीचे के पलड़े (क्रमांक २) में रखकर फिर स्प्रिंग के नीचे के छोर की स्थिति मालूम कर ली जाती है।
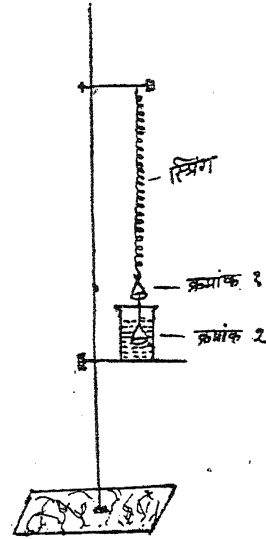
चित्र—जोली का स्प्रिंगदार तराजू

(३) मान लीजिए यह चिन्ह स पर है।

आ० घ० (sp. gr.) इस प्रकार से निकाला जाता है।

$$\text{आ० घ०} = \frac{\text{खनिज की तौल की तुलनात्मक सख्या}}{\text{खनिज की तौल की पानी में हानि हुई उसकी तुलनात्मक संख्या}}$$

$$= \frac{(\text{ब}-\text{अ})}{(\text{ब}-\text{स})}$$

नोटः—इसक्रिया से खनिज का टुकड़ा यदि छोटा हो तो सरलता होती है।

(२) वाकर के इस्पात के डण्डे सेः—(Walker's Steelyard) :—यह क्रिया भी आर्किमिडिस के सिद्धान्त पर आधारित है।

वर्णनः—एक लम्बा इस्पात का डण्डा जिसकी लम्बाई लगभग १८ इन्च होती है, एक लोहे के छोटे खंभे पर गड़ी कील के आधार पर घूमता हैं। इस डण्डे पर चिम्ह बने रहते हैं, जो प्रायः सेन्टीमीटरों में अंकित रहते हैं। इस डण्डे के एक सिरे पर एक भारी ठोस धातु का गोला रख दिया जाता है तथा दूसरीतरफ खनिज को धागे से बांध कर लटकाया जाता हैं।
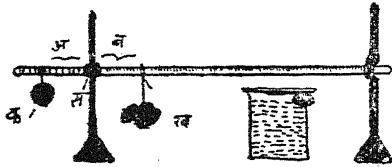
वाकर का इस्पात का डंडा

गणित के सिद्धान्त के अनुसार जब यह डण्डा सीधा रहेगा, अर्थात् न अ की ओर झुका रहेगा और न ब की ही ओर—उस समयः—(चित्र देखिये)

$$= \text{अ} \times \text{क} = \text{ब} \times \text{ख}, \text{ (हवा में)} \quad \Big\} = \text{ग} + \text{ख} \text{ (पानी में)}$$ यह समीकरण बनेगा।

चूँकि क को (अंदाज से) ❀ एक ही स्थान पर रख दिया जाता है और इसलिये अ में भी परिवर्तन नहीं होता और चूँकि ख का मान हवा में तथा पानी में लिया जाता है इसलिये केवल ख को ही डण्डे पर इधर उधर खिसका कर डण्डे को सीधी स्थिति में लाया जाता है।

प्रथम ख को हवा में लटकाया जाता है और हवा में मान निकाला जाता है। मानलीजिये यह है "ब"। तत्पश्चात खनिज को पानी में डुबाकर मान निकाला जाता है। मान लीजिये यह है "ग"। इस क्रिया में तौल के बदले केन्द्र विंदु से दूरी का ही मान लिया जाता है इससे बड़ी सरलता होती है।

$$\text{चूँकि आपेक्षित घनत्व} = \frac{\text{हवा में तौल}}{\text{हवा में तौल} - \text{पानी में तौल}}$$

और उपर दिये समीकरण के अनुसार

$$\text{तौल} = \frac{1}{\text{केन्द्र से दूरी}} \text{ (चित्र देखिये)}$$

$$\text{अतएव,} \quad \text{आ० घ०} = \frac{\frac{1}{\text{केन्द्र से दूरी (खनिज हवा में)}}}{\frac{1}{\text{केन्द्र से दूरी (हवा में)}} - \frac{1}{\text{केन्द्र से दूरी (पानी में)}}}$$

$$= \frac{\frac{1}{\text{ब}}}{\frac{1}{\text{ब}} - \frac{1}{\text{ग}}} = \frac{\text{ब}}{\text{ब} - \text{ग}}$$

इसक्रिया में केवल ब तथा ग दो का ही मान निकालना पड़ता है इसलिये प्रयोगशाला में प्रायः इस क्रिया से ही खनिज का आपेक्षित घनत्व निकाला जाता है।

ऊपर दी हुई परीक्षाओं के आधार पर प्रयोग शाला में खनिज की जांच की जाती है।

❀ क की स्थिति सदैव ख के आकार पर निर्भर रहेगी—

उपयोग

प्राचीन काल में:—आदि मानव जाति खनिज की उपयोगिता से अनभिज्ञ नहीं थी। उस काल की बनी हुई वस्तुएं जैसे—बर्तन, शिकार के औजार तथा आयुध इस बात के प्रमाण हैं। ये चीजें प्राय: संगजिरा, चूने का पत्थर (Limestone), बालू का पत्थर (Sand Stone), तथा कठिन पत्थरों जैसे—क्वार्ट्ज़ (Quartz) तथा चर्ट (Chert) और फ्लिन्ट (Flint) आदि से बनायी जाती थीं। चीनी मिट्टी से बनाये तथा पकाये हुए बर्तन मिश्र देश में पुरातत्व विभाग के अधिकारियों को मिले हैं जो लगभग १०,००० (दस हजार) ई० वर्ष पहिले के बनाये होने का अनुमान किया जाता है। ईंटों का तथा मिट्टी और चूने का उपयोग मिश्र देश के निवासी इमारत बनाने के लिये तथा लिखने के लिए बहुत प्राचीन काल से करते चले आये हैं। लगभग ई० ३००० तीन हजार वर्ष पूर्व से इमारतें बनाने के लिये पाषाण-शिलाओं का भी पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया जाने लगा। श्री. एस. एच. बाल (S. H. Ball) के कथनानुसार पूर्व-पाषाण कालीन मानव ने तत्कालीन उपलब्ध खनिज का भली-भांति उपयोग किया। पीली तथा लाल मिट्टी (Ochres) से कढ़े हुए चित्र जो यूरोप देश की गुफ़ाओं में मिले हैं, इस बात का प्रमाण है। इस काल के मानव को केल्साइट (Calcite – $CaCO_3$), फ्लोराइट (Fluorite CaF_2) क्वार्ट्ज़ (Quartz – SiO_2), पाषाणरवा (Rock-Crystal), अमेथिस्ट (Amethysts – SiO_2), सरपेन्टीन (Serpentine), ओवसीडियन (Obsidian), संगजिरा (Soapstone), एम्बर (Amber), जेडाइट (Jadeite – $Na_2O.\ Al_2O.\ 4\ SiO_2$). कोल्सिडनी (Chalcedony – SiO_2), जस्पर (Jasper), तथा पाइराइट (Pyrite – FeS_2), आदि तेरह खनिजों का ज्ञान था और इनका उपयोग भी किया गया। उत्तर-पाषाण काल के आरंभ तक सोना, तांबा आदि धातुओं का उपयोग होने लगा था जो अकस्मात ही इधर उधर पड़े हुए मिल जाते थे। इन खनिजों की खोज करने की उत्कंठा इस काल के मानव में नहीं थी।

तांबे का उपयोग लगभग ई० १८,००० अठारह हजार वर्ष पूर्व से होरहा है, ऐसा वैज्ञानिकों का अनुमान है और सोना इससे भी पहिले उपयोग में लाया गया। मिश्र के निवासियों ने तांबे को व्यवहार में लगभग ई० से १२०००, बारह हजार वर्ष पहिले से ही लाया है। और लगभग ई० ४००० वर्ष तक सारे यूरोप में तांबे का प्रचार हो गया था।

मोहिंदजोदड़ो तथा हरप्पा में भी मिली हुई वस्तुओं के आधार पर यह कहा जा सकता हैं क प्राचीन भारतीय सभ्यता भी खनिज के प्रभाव से वंचित नहीं थी।

मिश्री सभ्यता, वेविलोनियन (Babylonian) सभ्यता, एसिरियन (Assyrian) सभ्यता तथा भारतीय सभ्यता, सभी खनिज के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकीं।

आधुनिक काल में प्रगति :

खनिज की उत्पत्ति तथा उसके ठीक विनियोग की ओर समाज का ध्यान आकर्षित कराने का श्रेय जार्जीयस अग्रीकोला (Georgius Agricola) (1494-1555) (१४९४-१५५५) को है। यद्यपि सोलहवीं तथा सत्रहवी शताब्दियों में खनिज की उपयोगिता तथा उत्पति आदि विषयों में बराबर प्रगति होती रही है परन्तु इसका व्यौरेवार वर्णन नहीं मिला अठारहवी शताब्दि के आरंभ में बेकर (Becher-(१७०३ ई०) तथा हेन्केल (Henkel-१७२५ ई०)

और फान आपेल (Vau Appel-१७४६ई०) ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला।

अठारहवीं शताब्दि के उत्तरार्ध में एब्राहम वर्नर (Abraham Werner-१७६५ई०) तथा हटन (Hutton-१७८८ ई०)-ये दो वैज्ञानिक बराबर विशेष रूप से खनिज-विद्या की प्रगति में संलग्न रहे, और उन्नीसवीं शताब्दि में नेकर Necher-१८३२ई०), शीरर (Seheerer)-१८४७(ई०, फान कोटा (Von-cotta)-१८५६ई० तथा दलाने (De Launay-१८६३) ई०, और वोग्ट (J. H. L. Vogt-१८६३ ई०), तथा बीसवीं शताब्दि के पहले पचास वर्षों में प्रगति करने वालों में लिंडग्रेन (Lindgren) गोल्डश्मिड्ट (V. Goldoshmidt) तथा स्पर (J. E. Spurr) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन काल से वर्तमान काल तक मानव जाति का खनिज से अत्यन्त निकट संबन्ध रहा है। अठारहवीं शताब्दि में जेम्सवाट (James watt) ने वाष्प-यंत्र बनाया जिसके कारण औद्योगिक जगत् में क्रान्ति मच गयी। और यन्त्र-युग का आरम्भ हुआ। इस कारण से दो मुख्य खनिज—लोहा तथा कोयला—इनका भी महत्व बढ़ा। जैसे-जैसे विज्ञान की उन्नति होती गयी मानव ने अपने विकास के लिये अन्य खनिजों का भी उपयोग ढूँढ़ निकाला।

आधुनिक काल में अणुबम बनाने के लिये युरेनियम के खनिज की बहुत आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि खनिज का उपयोग अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा है। शांति काल में, युद्धकाल में तथा पुनः युद्धोन्तर शांतिकाल में सर्वत्र खनिज की आवश्यकता पड़ रही है अतएव यदि हम आधुनिक काल को "खनिज युग" कहें तो अनुचित न होगा।

सारिणी क्र० १

संसार के विभिन्न देशों में कुछ मुख्य खनिजों का उत्पादन

खनिज का नाम	प्रतिशत	मुख्य उत्पादक देश का नाम
खनिज तेल (Mineral oil)	८२	संयुक्त अमेरिका, वेनेकुएल, रूस, ईरान, ईराक
कोयला	८१	सं० अमेरिका, बर्तानिया, जर्मनी,
लोहा	७८	सं० अमेरिका, फ्रांस, रूस, स्विडेन, बर्तानिया
तांबा	८५	सं० अमेरिका, चाइल (Chile), रोडेशिया, कनेडा, कांगों (Congo)
मैंगेनीज़	८२	रूस, भारत, दक्षिणी अफरीका (S. Africa) गोल्ड कोस्ट (Gold Coast)
टंग्स्टन	६२	चीन, ब्रह्मदेश, सं० अमेरिका, बोलिविया
सोना	७५	द० अफरीका, रूस, सं० अमेरिका, केनेडा, भारत
अभ्रक	८८	सं० अमेरिका, भारत, रूस (६०% संसार की अभ्रक-पुस्तिका (Sheet-mica) का उत्पादक)

सारिणी क्र० २

बेटमैन (Bateman) के मतानुसार साधारणतः पृथ्वी की शिलाओं में नीचे दिये हुए खनिज पाये जाते हैं:-

खनिज का नाम	पृथ्वी की सतह पर प्रतिशत स्थिति	आग्निजन्य शिलाओं में प्र० श० स्थिति	जलजन्य तथा अन्य प्रकार से बनी हुई तलछट वाली शिलाओं में प्र० श० स्थिति
फेल्स्पार–Felspar	४६	५०	१६
क्वार्टज–Quartz	२१	२१	३५
पैरोक्सीन–Pyroxene एम्फीबेल–Amfiibole ओलिविन–Olivine	१५	१७	×
अभ्रक (Mica)	८	८	१५
मेग्नेटाइट	३	३	×
इल्मेनाइट–Ilmenite टिटानाइट–Titanite	१	१	×
अन्य	३	×	३
केवलीन	×	×	६
डोलोमाइट	×	×	६
केल्साइट	×	×	४
लिमोनाइट	×	×	४
क्लोराइट	×	×	५
	१००	१००	१००

सारिणी क्र० ३

कुछ मुख्य धातुओं तथा धातु-खनिजों की सारिणी (बेटमैन के आधार पर)

धातु का नाम	मुख्य धातु-खनिज का नाम	रासायनिक संगठन	धातु-स्थिति प्रतिशतः औसत
लोहा	मैग्नेटाइट—Magnetite	$FeO. Fe_2O_3.$	७२. बहत्तर
	हेमाटाइट—Hematite	$Fe_2O_3.$	७०. सत्तर
	लिमोनाइट—Limonite	$Fe_2O_3. H_2O.$	६० साठ
	सिडेराइट—Siderite	$FeCO_3.$	४८ अड़तालीस
तांबा	शुद्ध तांबा—NativeCopper	Cu	१००. सौ
	बोर्नाइट—Bornite	Cu_5FeS_4	६३. तिरसठ
	चाल्कोसाइट—Chalcocite	Cu_2S	८०. अस्सी
	चाल्कोपाइराइट-Chalcopyrite	$CuFeS_2$	३४. चौंतीस
	कोवेलाइट—Covelite	CuS	६६. छाछट
	कुपाराइट—Cuprite	Cu_2O	८९, नवासी
	एनारगाइट—Enargite	$3Cu_2S. As_2S_5$	४८. अड़तालीस
	मेलाचाइट—Malachite	$CuCo_3.Cu(OH_2)$	५७. सत्तावन
	एजुराइट—Azurite	$2CuCa_3. Cu(OH)_2$	५५. पचपन
	किसी कोला—chrysocolla	$CuSiO_3. 2H_2O.$	३६. छत्तीस
सोना	शुद्धसोना—Native gold	Au	१००. सौ
	केलावेराइट—calaverite	$AuTe_2$	३९. उनतालीस
मेंगनीज (Manganese)	ब्रानाइट—Braunite	$3Mn_2C_3. MnSiO_3.$	६९. उनहत्तर
	पायरोलुसाइट—Pyrolusite	MnO_2	६३. तिरसठ
	मैंगानाइट Manganite	$Mn_2O_3.H_2O,$	६२ बासठ
	सिलोमिलेन Psilomelane	$Mn_2O_3.xH_2O$	४५ पैंतालिस
चांदी	शुद्ध चांदी NativeSilver	Ag	१०० सौ
	अर्जेन्टाइट Argentite	Ag_2s	८७ सत्तासी
	सेरार्जिराइट Cerargyrite	Agcl	७५ पचहत्तर

धातु का नाम	मुख्य धातु-खनिज का नाम	रासायनिक संगठन	धातु-स्थिति प्रतिशत औसत
सीसा	गेलेना Galena	Pb s	८६ छियासी
	सेरूसाइट Cerussite	$Pb CO_3$	७७ सतहत्तर
	एन्गलसाइट Anglesite	$Pb SO_4$	६८ अड़सठ
अलमुनियम	बाक्साइट Bauxite	$Al_2O_3. 2HO_2$	३९ उनतालीस
टंग्स्टन Tungsten	वुल्फ्रमाइट Wolframite	$(Fe, Mn) WO_4$	७६ छिहत्तर
	शीलाइट Scheelite	$Ca WO_4$	८० अस्सी
क्रोमियम Chromium	क्रोमाइट Chromite	$FeO. Cr_2O_3$	६८ अड़ सठ

कोयला तथा पेट्रोल खनिज ईंधन हैं, जो यद्यपि खनिज की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते, तथापि अन्य कई बातों को ध्यान में रखते हुए खनिज-जगत में समाविष्ट कर लिये गये हैं।

सारिणी क्रमांक ४

भारत में सन १९४८ में मुख्य खनिजों का उत्पादन ("Indian Minerals" के आधार पर)

खनिज का नाम	मात्रा (टन में)	अनुमानित मूल्य रुपयों में
बाक्साइट (Bauxite)	२०,६६३	१,६१,२५५
क्रोमाइट (Chromite)	२२,५५५	७,०५,९६३
चीनी मिट्टी	४१,२४३	११,११,०४८
कोयला	३०,१२४,१७५	४५,२०,५६,४७४
तांबा	३२२,२८२	८०,४४,३३२
हीरा	२,४२६ (कैरेट)	४,१७,३७३
सोना	१८०,४३० (औंस)	५४३,२०,२००
ग्रेफाइट (Graphite)	१,६४९	२,६४,३४९
लोहा (खनिज)	२,२८४,५८७	१,०२,९९,४६३
मैंगेनीज	५२५,८७६	१,७८,४९,२५६
चांदी	१२,७९७ (औंस)	६०, २९९

कैमरा हमारी फोटो कैसे खींच लेता है ?

लेखक—सत्य प्रकाश

लेख बालकों के लिए मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। आलइण्डिया रेडियो, प्रयाग के सौहार्द से।

दर्पण के सामने खड़ा होने पर इसके भीतर हमारे मुख की सच्ची आकृति दिखाई देने लगती है, पर जैसे ही हम अपनी जगह से हटे कि यह आकृति भी दर्पण में लुप्त हो जाती है। अगर हम दर्पण के एक गज़ आगे खड़े हैं, तो यह आकृति दर्पण के एक गज़ पीछे बनी हुई मालूम होती है। यह बात तो आप जानते हैं; कि दर्पण के पीछे मालूम होने वाली यह आकृति केवल काल्पनिक है। दर्पण दीवार पर टंगा हो तो इसके पीछे वास्तविक आकृति बन ही कैसे सकती है ? इस काल्पनिक आकृति को जो दर्पण के पीछे है तो नहीं, पर मालूम होती है, हम प्रतिबिम्ब कहते हैं। अगर ये प्रतिबिम्ब काल्पनिक न होकर वास्तविक होते, तो हम इन्हें स्थायी रूपसे संग्रह करने का प्रयत्न करते।

पुराने समय में चित्रकार कई दिन के परिश्रम के बाद अपनी कूची और रंग से चित्र तैयार कर पाते थे, पर आजकल तो आपको कुछ क्षणों में ही अपना चित्र तैयार मिल सकताहै। प्रयाग के माघमेले में आपने ऐसी दूकानें देखी होंगी, जो आपका फ़ोटो तुरन्त लेकर थोड़ी देर में ही आपका चित्र तैयार करके दे देती हैं। क्या आप जानते हैं कि यह चित्र इतनी जल्दी कैसे तैयार हो गया ? आपको यह जानकर आश्चर्य्य होगा कि फ़ोटो उतारने वाला व्यक्ति आपसे कहता है कि "सावधान", और फिर वह गिनता है कि "एक दो तीन चार"—और इतने में ही वह आपका चित्र खींच लेता है। जिस यंत्र से वह चित्र खींचता है, उसे केमरा कहते हैं।

आप यह जानना चाहते होंगे कि केमरा हमारे चित्र किस प्रकार खींचता है। क्या अपने कभी केमरा देखा है ? ईश्वर के बनाये केमरों में सबसे सच्चा केमरा तो हम लोगों की आँख है। अगर आप अपनी आँख को समझ लें और यह जान लें कि आँख द्वारा इसके पीछे चित्र किस प्रकार उतरते हैं; तो आप केमरा के रहस्य को भी समझ जाएँगे। जब आप की आँख कमज़ोर पड़ जाती है तो बाहर के दृश्यों के चित्र आँख के भीतर ठीक जगह पर नहीं पड़ते, और तब आप डाक्टर की सलाह से चश्मे खरीदते हैं, और इन चश्मों के लगाने पर आपको चीजें ठीक-ठीक दिखाई पड़ने लगती हैं। आँख भी एक प्रकार का चश्मा है। जिस केमरा से आप ने फोटोग्राफ़र को चित्र खींचते देखा होगा, उसके सामने भी एक चमकती हुई आँख आप ने देखी होगी। केमरा की आँख में जो शीशा लगा है वह हमारी आँखों के चश्मों से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

अगर आप किसी कमरे को बिलकुल अँधेरा कर दें और उसके बाहर के दर्वाज़े में रुपये के बराबर एक गोल छेद कर दें, तो आप देखेंगे कि बाहर धूप में चलने फिरने वाले लोगों की उलटी तसवीर अँधेरे कमरे में छेद के सामने वाली दीवार पर पड़ती है। यह क्यों ? बात यह है कि हम लोग जब रोशनी में या धूप में खड़े होते हैं, तो हमारे शरीर से प्रकाश की किरणें चारों ओर को निकलती हैं। ये किरणें दरवाजे के छेद में होकर जब सामने की अँधेरी दीवार पर पड़ती हैं, तो वहाँ आपका बिम्ब या चित्र

बना देती हैं। आपके पैर के पास से चली हुई किरण जब छेद में होकर दीवार पर सीधे पड़ेगी तो वह ऊपर की ओर जायेगी और आपके सिर वाली किरण उसी छेद में से घुसेगी, तो यह नीचे की ओर जायेगी। यही कारण है कि दीवार पर बने चित्र में आपके पैर ऊपर की ओर होंगे और सिर नीचे की ओर होगा। अगर कोई फोटोग्राफ़र कहीं चित्र खींचता मिले तो आप उसके पास जाकर केमरा के अंधे शीशे पर देखें। इसमें आपको चित्र उलटे दिखायी पड़ेंगे जिसमें धरती ऊपर को है आकाश नीचे को। पेड़ और मकान भी उलटे लटके हुए दिखायी देंगे। यह याद रखिये कि ये सब चित्र उलटे इस लिए बनते हैं कि प्रकाश की किरणें सदा सीधी रेखा में चलती हैं और जब सिर और पैर दोनों से चली हुई सीधी किरणें केमरा की आँख में होकर भीतर घुसती हैं, तो पैर वाली किरण ऊपर को पहुँच जाती है और सिर वाली किरण नीचे को जाती है।

केमरा की आँख को हम इसका लेन्स कहते हैं। अभी हम आपको बता चुके हैं कि ये लेन्स वैसे ही होते हैं जैसे कि हमारे चश्मों के कांच। बाज़ार में आपको दस-बीस रुपये का केमरा भी मिल जायगा, और हज़ार-दो हज़ार रुपये का भी केमरा मिल सकेगा। केमरा का सस्ता और महँगा होना इसके लेन्स पर निर्भर है। जिन केमरों के दाम अधिक हैं, उनके लेन्स वस्तुतः बहुत दाम में आते हैं।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा, कि फ़ोटो की उत्तमता केमरा सस्ते या महँगे होने पर निर्भर नहीं है। आप सस्ते से सस्ते केमरा से भी बहुत अच्छा चित्र खींच सकते हैं। हाँ, सस्ते केमरों से आप सभी प्रकार के चित्र नहीं खींच सकते। मान लीजिए कि आकाश में चिड़िया उड़ती जारही है, और आप इसका चित्र खींचना चाहते हैं। यह काम सभी केमरों से नहीं लिया जा सकता। बन्दूक से जिस तेज़ी से गोली छूटती है, उसका यदि चित्र खींचना हो, तो आपको और अच्छा केमरा लेना होगा। अगर किसी चलते फिरते जलूस का चित्र लेना हो, तो आप के केमरा का लेन्स बहुत अच्छा होना चाहिए, आज कल तो हर एक काम के लिए अलग अलग तरह के केमरा होते हैं—हवाई जहाज़ से धरती पर के दृश्यों के चित्र लेने के अलग और सिनेमा के लिए चलती फिरती तसवीरों को लेने कि लिए अलग।

क्या तुम जानते हो कि फोटो लेने के केमरा में क्या क्या होता है ? इसके सामने इसकी चमकती हुई काँच की आँख हैं और फिर चारों ओर बन्द एक सन्दूकनुमा घर। केमरा की इस आँख को हम लेन्स कहेंगे। हमारी आँखें तो चेहरे में एक जगह स्थिर हैं, पर केमरा की यह आँख पेंच द्वारा आगे पीछे खिसकायी जा सकती है। हमें दूर और पास की चीजें देखने के लिए अपनी आँख आगे पीछे नहीं करनी पड़ती। हमारी आँख फैल और सिकुड़ करके दूर और पास दोनों की चीजें देख सकती हैं। पर केमरा का लेन्स तो दृढ़ काँच का बना होता है और यह फैलाया या सिकोड़ा नहीं जा सकता। ठीक जगह पर ही इसमें चित्र बने इसलिए इसे आगे-पीछे करना पड़ता है। ऐसा करने को फोकस करना कहते हैं। जब तक फोकस ठीक नहीं होता, चित्र धुँधला और अस्पष्ट होता है।

केमरा की आँख में प्रकाश घुसने के लिए जो एक छेद होता है, यह छेद छोटा बड़ा किया जासकता है। इस छेद को खोलने और बन्द करने का बड़ा सुन्दर प्रबन्ध होता है। इसे बन्द करने के लिए शटर होता है। अंग्रेजी में शटर का अर्थ है बन्द करने वाला। ऐसा प्रबन्ध होता है कि घोड़ा दबाने पर शटर खुले और फिर अपने आप बन्द हो जाय। किसी किसी केमरा में एक बार घोड़ा दबाने पर शटर खुलता है और दूसरी बार दबाने पर बन्द हो जाता है।

केमरा के सन्दूक के पीछे की ओर अंधा शीशा या धुँधले काँच का प्लेट होता है। यह निकाल कर अलग भी किया जा सकता है। सच्ची तसवीर खींचने से पहले इस अंधे शीशे पर पड़ी हुई तसवीर को देखना चाहिए। अगर तसवीर साफ़ नहीं है, तो समझना चाहिये कि वस्तु फोकस

में नहीं है। लेन्स को आगे पीछे करके, और यदि आवश्यक हो तो कैमरा को आगे पीछे बढ़ा कर साफ़ तसवीर अंधे शीशे पर लानी चाहिए, तुमने बड़े कैमरों को खड़ा करने के लिए तीन टांगों का स्टैण्ड देखा होगा। फोटोग्राफर इस स्टैण्ड पर कैमरा को खड़ा करता है। कैमरा के भीतर और कहीं से रोशनी न आवे, केवल लेन्स से ही आवे, इसलिए वह अपने पास एक काला कपड़ा रखता है। इस काले कपड़े के भीतर से ही वह अंधे शीशे पर चित्र देखता है।

अंधे शीसे पर यदि सन्तोषजनक फोटो बन गयी, तो अब कैमरा फोटो लेने के लिए तैयार हो गया, फोटोग्राफर अब अंधाशीशा निकाल लेता है, और इसके स्थान पर वह फोटो लेने का मसाला लगा हुआ प्लेट रखता है। यह प्लेट लकड़ी के एक केस में बन्द रहता है। इसे हम प्लेटघर कह सकते हैं। इस प्लेटघर में अँधेरी कोठरी में प्लेट भरा जाता है। बाजार में मसाला लगे प्लेट मिलते हैं। इन्हें कभी रोशनी में नहीं खोलना चाहिए, नहीं तो ये फोटो के काम के रहेंगे ही नहीं, अंधेरी कोठरी में जाकर ही ये खोले जा सकते हैं। लाल रोशनी से ये खराब नहीं होते हैं, अतः अंधेरी कोठरी में हलकी लाल रोशनी का प्रबन्ध रहता है।

कैमरा में प्लेटघर पीछे की ओर लगा दिया जाता है। जब फोटो लेनी हो, तो प्लेटघर का आगे का तख्ता खींचकर ऊपर कर लेते हैं, और शटर का घोड़ा दबाते हैं। ४-५ सेंकड में ही लेन्स में होकर इतना प्रकाश मसासा लगे प्लेट पर पड़ जाता है कि इस प्लेट पर चित्र अंकित हो जाता है।

कुछ कैमरों में मसाला लगे काँच के प्लेटों की जगह फिल्म काम में लायी जाती है। ये फिल्म काले कागज़ के भीतर एक रोल में लिपटी होती हैं, और रोल फिल्म को कैमरा में लगाने के लिए अँधेरी कोठरी की आवश्यकता नहीं होती, यह रोम फिल्म इतनी लम्बी होती है कि इनपर ६, ८, १२ या ३६ तक फोटो खींची जा सकती हैं। इन्हें कैमरा में लगे लगे ही लपेटने और खोलने का अच्छा प्रबन्ध होता है।

फिल्म या प्लेट पर चाँदी का एक मसाला लगा होता है, जो कि रंगों के प्रभाव से अपने ऊपर चित्र अंकित कर लेता है। पर इस चित्र को आप अभी देख नहीं सकते। अँधेरे कमरे की लाल रोशनी में इस पर फोटो नहीं दिखाई पड़ेगी। फोटो ग्राफर प्लेट या फिल्म को अब एक विशेष घोल या सोल्यूशन में रखता है। इस सोल्यूशन को डेवलपर कहते हैं। इस सोल्यूशन में रखने पर प्लेट या फिल्म पर चित्र उभरने लगता है। जब चित्र साफ उभर आवे तो इसे फिर हाइपो के सोल्यूशन में रखते हैं। यहाँ यह चित्र पक्का हो जाता है। यह चित्र आप देखें इसमें आपके काले बाल सफ़ेद दिखायी पड़ेंगे, और आपका सफ़ेद कुरता काला दिखायी देगा। इस प्रकार के चित्र को नेगेटिव कहते हैं। फोटोग्राफर इस नेगेटिव चित्र के पीछे मसालेदार कागज़ रखकर धूप दिखाकर आपका असली पोज़ीटिव चित्र तैयार करता है। इसे भी नेगेटिव के समान पहले डेवलेपर और फिर हाइपो सोल्यूशन में रखते हैं।

आप अब समझ गये होंगे कि हमारा कैमरा किस प्रकार कुछ क्षणों में ही पक्का चित्र उतार लेता है। जो काम चित्रकार महीनों में भी न कर पाता वह हमारा कैमरा क्षणों में कर देता है। एक चित्र की आप दर्जनों कापियाँ शीघ्र तैयार कर सकते हैं। आप अपना चित्र उतरवा कर भी मित्रों को एक-एक कापी भेंट कर सकते हैं। आप अपनी छोटी फोटो से बहुत बड़ी फोटो भी तैयार करा सकते हैं।

गैलीलियो

लेखक—राममूर्त्ति मेहरोत्रा

गैलीलियो जैसे वैज्ञानिक का जीवन-वृत्तान्त संसार के नवयुवकों को त्याग और सत्य के पथ पर डटे रहने की पवित्र प्रेरणा सदैव देता रहेगा। लेख सरल है।

२२ जून, १६ ३ का सबेरा था कि रोम के मिनरवा नामक गिर्जाघर में टाट के कपड़े पहिने हुए एक बूढ़ा कैदी खड़ा था। चेहरा मारे डर के पीला पड़ गया था, हाथ-पैर कांप रहे थे और वहाँ पर मंच पर बैठे कार्डिनल (पादरियों) की ओर एक टक देख रहा था मानो अनुमान लगा रहा था कि वे क्या फ़ैसला देते हैं और कौन सा दण्ड निर्धारित करते हैं। इतने में एक ने उठ कर संक्षिप्त परन्तु गभीर शब्दो में घोषित किया,

"यदि यह सच्चे दिल से पश्चात्ताप करे और अपने धर्म विरोधी मतों को त्याग दे, तो इसको मुक्त कर दिया जाय। अतः अब जेल में रहना न रहना इसकी इच्छा पर है। जब तक इच्छा हो रहे।"

अंत में बूढ़ा कैदी घुटनों तक झुका और परमपिता परमात्मा को सम्मुख रखकर प्रतिज्ञा की कि अब वह धर्म विरोधी मतों का प्रचार नही करेगा और एक एक मत को उसने दोहराया जिनमें सर्व प्रमुख था कि 'सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती हैं।' उसने कांपते हुए हाथों से प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर किये, कार्डिनल उठे और बूढ़ा भी बाहर निकला। निकलते समय उसके मुख से धीरे से निकला, 'पर घूमती तो ऐसे ही है, है तो ऐसा ही।'

क्या आप बता सकते हैं कि यह था कौन जिसको एक सच्ची बात—पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती है, जिसे आज संसार मानता है, बताने के लिए कठोर कारागृह में सड़ना पड़ा? यह था बूढ़ा वैज्ञानिक गैलीलियो। अब इसकी जीवन-कथा सुनिये।

गैलीलियो इटली के नगर पिसा में फरवरी, १५६४ में एक फिलास्फर के घर में पैदा हुआ था। जब यह लड़का ही था, तो यह बहुत से ऐसे यंत्र और छोटी छोटी मशीनें बनाया करता था जिनको देख कर वह और उसके साथी लड़के बड़े प्रसन्न हुआ करते थे। उसकी प्रतिभा देख कर उसके बाप ने १५८१ ई० में उसे पिसा विश्वविद्यालय में भर्ती करा दिया। बाप का इरादा इसे डाक्टरी लाइन में भेजने का था, पर 'मेरे मन कुछ और हैं कर्त्ता के कुछ और' डाक्टरी में इसका मन न लगा, मन लगा यूक्लिड में और वह यहाँ तक बढ़ा कि यह ज्योमिति की साधारण पुस्तकों से लेकर आर्किमिडीज की पुस्तकें तक पढ़ गया। इसकी बुद्धि तो प्रखर थी ही, धीरे धीरे यह अरस्तू (एरिस्टाटिल) तक के किये हुए कामों में गल्तियाँ निकालने लगा। १५८८ ई॰ में यह विश्वविद्यालय में गणित का प्रोफेसर हो गया। अरस्तू का एक सिद्धांत था कि दो हल्की भारी नाबराबर भार की वस्तुएँ ऊपर से नीचे गिरने में भारी वस्तु हल्की वस्तु की अपेक्षा अधिक तेजी से और पहले जमीन पर गिरती है' परन्तु गैलीलियो ने इसका खंडन किया और अरस्तू के अनुयायियों के सामने यह पिसा की झुकी हुई मीनार पर चढ़ गया और वहाँ से जा

कर हल्की-भारी नाबराबर तौल की दो वस्तुएँ ऊपर से छोड़ दीं। अरस्तू के अनुयायियों ने देखा कि वे दोनों एक ही साथ जमीन पर गिरीं। यह देख कर अरस्तू के अनुयायियों के चेहरे फीके पड़ गये, पर उन्होंने यह कह कर कि किसी अज्ञात कारण से ऐसा हुआ होगा, टाल दिया। इस के बाद १५९२ ई० में वह पदुआ में प्रोफेसर हो गया। धीरे धीरे वह योरुप भर में प्रसिद्ध हो गया। इसी समय आकाश में एक बड़ा भारी और चमकीला तारा सा निकला। किसी की समझ में न आया कि वह क्या है और कहाँ है। अंत में गैलीलियो ने इसका पता लगाया और बताया कि वह सौर्य मंडल की सीमा के भी पार बहुत दूर है। इसके व्याख्यान को सुनने के लिये इतने आदमी आये थे कि इसे भीतर हाल से बाहर खुले मैदान में आना पड़ा। कड़ी धूप होने पर भी इतनी भीड़े थीं कि लोग एक दूसरे पर गिरे पड़ रहे थे। कुछ दिनों बाद इसने इस विषय पर कई एक पुस्तकें भी लिखी परन्तु इसकी सब से अधिक ख्याति उस समय फैली जब इसने १६०९ ई० में एक नलकी में एक तरफ कानकेव (नतोदर) और दूसरी ओर कनवेक्स (उन्नतोदर) लेन्स (शीशा) लगा कर एक दुर्बीन निकाली जिससे छोटी वस्तुएँ बड़ी और दूर की चीजें पास दिखाई देने लगीं। बस फिर क्या था यह चिल्ला उठा 'यूरेका' (पालिया, अर्थात जिसके द्वारा वह आकाश की किताब सहज ही पढ़ सकता था। इस यंत्र को लेकर वह वेनिस गया और सीनेट के सामने रखखा जिसने प्रसन्न हो कर इसका वेतन ५२० फ्लोरिन से १००० फ्लोरिन कर दिया और पदुआ की प्रोफेसरी जन्म भर के लिये उसे प्रदान कर दी। कई महीने तक इस टेलिसकोप की बड़ी घूम रही। सैकड़ों आदमी रोज इसे देखने उसके घर आते थे। एक बार सड़क में इसे पहचान कर लोगों ने रोक लिया और छः घंटे तक इसकी दुर्बीन देखते रहे। विवश होकर बेचारे वैज्ञानिक गैलीलियों को भी दुर्बीन के कारण रुकना पड़ा।

शीघ्र ही इसने इस टेलिसकोप को और सुधारा और उत्तम कोटि का बनाया और उसकी सहायता से मालूम किया कि चंद्रमा कोई देवता नहीं है और उसके भीतर जो धब्बे है वे किसी कलंक के धब्बे नहीं है, बल्कि चंद्रमा भी पृथ्वी की भाँति ही एक पिंड है और उसमें जो काले काले धब्बे से दिखाई देते हैं वे ऊँचे ऊँचे पहाड़ और घाटियाँ हैं। इसके बाद इसने अपने घर की छत पर अपने छोटे से कमरे में बैठ कर ही इसी दुर्बीन की सहायता से आकाश की सैर की और वृहस्पति के चारों ओर घूमने वाले चार उपग्रहों और शनीचर के वलय की स्थिति ज्ञात की। इन सब खोजों को इसने पुस्तकों के रूप में परिणित किया। किताबों के छपते ही सैकड़ों विरोधी पैदा हो गये। इतने पर भी इसने हिम्मत न हारी और १६११ ई० में उसने मालूम किया कि सूर्य में भी दाग है जिन्हें इसने दुर्बीन की सहायता से लोगों को भी दिखाया। इसका मान बराबर बढ़ता जाता था, पर साथ ही विरोधियों की भी कमी न थी और उनकी संख्या दिन दिन बढ़ती ही जाती थी। अंत में यहाँ तक नौबत आई कि बीस-बीस, इक्कीस-इक्कीस आदमी एक साथ मिल कर बहस करने लगते थे और यह अकेला उन सब से टक्कर लेता था। यह पहले सब की एक एक करके सुनता रहता और अंत में संक्षेप में दो चार शब्द कह कर ही सब की दलीलें और स्कीमें फेल कर देता था। बेचारे विरोधी कुछ कर न पाते थे, पर अब एक बड़ी कठिनाई आई कि चर्च ने भी उसके मतों का विरोध करना आरंभ कर दिया, परन्तु उसने रत्ती भर भी परवाह न की और अपने काम में डटा रहा। चर्च का सारा बिरोध इस बात पर था कि अभी तक ग्रहों तथा नक्षत्रों के विषय में टाल्मी (Ptolemi) का मत मान्य था जिसके अनुसार पृथ्वी स्थिर है और सूरज आदि सब ग्रह उसके चारो ओर घूमते हैं और इसकी पुष्टि में बाइबिल से प्रमाण दिया जाता था 'पृथ्वी स्थिर है, सूरज भी ऊपर उठता है और नीचे जाता है और जहाँ से निकलता है वहाँ को जाने के लिये शीघ्रता करता है।' गैलीलियो ने इसके विपरीत यह मत स्थापित किया कि 'सूरज स्थिर है और पृथ्वी चलती है और इसके चारों ओर घूमती है।' यह विरोध यहाँ तक बढ़ा कि १६१५ ई०

में पोप पाल पञ्चम ने निजी तौर पर इसे सतर्क किया और ऐसा करने के लिये मना किया, पर इसने न माना। अंत में अगले साल १६१६ ई० के चर्च ने यह घोषित कर दिया कि यह मत कि सूर्य आकाश के बीचों बीच में स्थिर है और पृथ्वी इसके चारों ओर घूमती है धर्म विरुद्ध है और जो कोई इसको मानेगा, सिखायेगा अथवा इसके पक्ष में बोलेगा, वह धर्म विरोधी और चर्च का शत्रु समझा जायगा और दंड का भागी होगा।

धीरे धीरे चुपके चुपके काम होता रहा; अंत में १५-३२ ई० से इसने एक किताब निकाली 'दा डायालॉग ऑव दा टू प्रिंसिपल सिस्टम ऑव दी वर्ल्ड'। यह उक्त घोषणा के बिल्कुल विरुद्ध था, अतः इसके छपते ही खल बली मच गई और इसे तुरन्त रोम की चर्च के सामने हाजिर होने की आज्ञा हुई। पहले तो इसने टाल टूल की जिस पर इसे जेलमें बंद कर दिया गया, पर तीन दिन बाद इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया, इस पर इसे अपराधी होने के नाते जेल की सजा तो दी गई, परन्तु उसके बदले अपने घर में बच्चों के साथ सोने वाले घर में एकांत में शाति पूर्वक रहने और फिर कभी ऐसा न करने की आज्ञा देकर छोड़ दिया गया।

गैलीलियो का आगामी जीवन सुखी न रहा। थोड़े दिन बाद ही उसकी प्यारी लड़की काल का ग्रास बन गई जिससे इसको इतना गहरा सदमा बैठा कि आखों से कम दीखने लगा और रतौंधी आने लगी। इतने पर भी इसने हिम्मत न हारी और कुछ न कुछ करता ही रहा और १६३६ ई० में 'डायालॉग आव दी न्यू साइंस' निकाली और १६३७ ई० में चंद्र मंडल में दिखाई पड़ने वाली विचित्र सी कुछ शक्लों का पता लगाया और अंतिम खोज की। इसके कुछ मास बाद ही यह अंधा हो गया, जिसपर इसने अपने एक मित्र को लिखा।

"मैंअब पूर्णतः अंधा हो गया और यह पृथ्वी, वह सूरज और समस्त ग्रह मंडल जिनको मैंने इन वर्षों में हजारों गुना बढ़ा कर दिखाया, सब घट कर उस जगह में आगये है जो कि मैं घेरे हुए हूँ। खैर, ईश्वर की ऐसी ही इच्छा थी, अतएव मेरी भी यही इच्छा है, इसी की रजा में मेरी रज़ा है।

उसके मित्र ने लिखाः—

'संसार की वह सबसे सुंदर आँख जो प्रकृति ने बनाई थी, अब अंधी (अंधेरी) हो गई।'

इतने पर भी वह कुछ न कुछ करता ही रहा और अपनी खोज का फल दूसरों को बोल कर उन से लिखवाता रहा। एक गिर्जाघर की छत से लटके हुए लैम्प को हिलते हुए देख कर इस बात का पता तो उसने पहिले ही लगा लिया था कि प्रत्येक बार लैम्प के इधर से उधर जाने में सदैव बराबर ही समय लगता है। अब उसने पैन्डुलम द्वारा ठीक चाहे कितनी ही दूरी क्यों न हो ठीक समय निकालने की तरकीब भी निकाली, जिसकी पूर्ति बाद में विकासवाद के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ह्यूजेन्स ने १५ वर्ष बाद की।

यह मरते समय तक बराबर आकाश की खोज में लगा रहा और जिस समय ८ जनवरी, १६४२ को ७८ वर्ष की आयु में मध्यम ज्वर से इसकी मृत्यु हुई तो भी यह अपने दो शिष्यों को पदार्थ सम्बन्धी खोजों (Impact Ot matter) का फल लिखवा रहा था।

सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का घूमना, चंद्रमा में धब्बे नही पहाड़—घाटियों के निशान हैं, बृहस्पति के चारों ओर छोटे छोटे उपग्रहों का घूमना, मंगल, शनीचर के वलय, सूर्य में धब्बों का होना इत्यादि ऐसी खोजें हैं कि लोग इसे आधुनिक ज्योतिय विज्ञान का जन्मदाता और इस दिशा में प्रथम आविष्कारक मानते हैं।

हमारी पृथ्वी

लेखक—पुष्कर सिंह

शीर्षक से ही लेख मनोरंजक और उपयोगी मालूम होता है।

विद्वानों की जिज्ञासु पिपासा जितनी बढ़ती गई उतनी उनकी पृथ्वी के गर्भ का रहस्य जानने की इच्छा बढ़ती गई। कुछ विद्वानों ने विचारा कि पृथ्वी के गर्भ में गैस है। दूसरे मताधिकार विद्वानों ने द्रव रूप का रोपण किया तथा तीसरी विचार धारा के विद्वानों ने ठोस-स्थिति का परिचव बतलाया। विद्वानों की रूप रहस्य अन्वेषण रूप गवेषणा का निम्नलिखित लेख में परिचय दिया गया है। पहले पृथ्वी के घनत्व रुप का परिचय देकर पृथ्वी के गर्भ का रहस्य तर्कानुसार सिद्ध किया गया है।

पृथ्वी का आकार:—पृथ्वी का आकार नारंगी के समान गोल है जिनके दोनों ध्रुव चिपटे हुए हैं। पृथ्वी का भूमध्य रैखिक व्यास, ध्रुव-व्यास से २६.८ मील बड़ा है यह पृथ्वी के १/२९७ अंडवृत्ताकृति (ellipticity) का परिचय देती है।

पृथ्वी का घनत्व:—यथार्थ भौतिक विधि से पृथ्वी का केन्द्राकर्षण (Gravitation) मालूम कर तथा पृथ्वी का आकार जान लेने के बाद पृथ्वी का घनत्व मालूम किया। इस विधि से पृथ्वी का घनत्व ५.५२ है। परन्तु मामूली चट्टान के टुकड़े का घनत्व सिर्फ २.७ है।

समतुल्य सिद्धान्त (Theory of Isostasy)—इस सिद्धान्त के अनुसार पहाड़ों का भार-तत्व कम है तथा समुद्र का भार तत्व अधिक है। इस भार तत्व के अन्तर होने के कारण पृथ्वी समतुल्य अवस्था में रहती है। यदि कभी समनुल्य सिद्धान्त का विकार हुआ तो उसे भूचाल या अन्य विधि से तुल्य बना लेती है।

नियम-सूक्ष्मता सिद्धान्त (Precessional theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य और चंद्रमा का पृथ्वी से खिंचाव संबंध है जिसका परिणाम ज्वारभाटा है। इस खिंचाव का असर पृथ्वी भी बतलाती है। पृथ्वी के चक्कर लगाते समय इसके भूमध्यरैखिक व्यास पर एक झिल्ली नुमा आकार दिखाई देता है इसका असर यह होता है कि पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी (Crust) धीरे धीरे अपने स्थान से रिक्त होती जाती है।

जीन (Jean) और जेफरी (Jefferys) का **ज्वारभाटा सिद्धान्तः**—इस सिद्धान्त के अनुसार जब पृथ्वी का जन्म हुआ तब यह तरल अवस्था में थी। जव पृथ्वी तरल अवस्था से ठोस अवस्था में परिणत होने लगी तब इसके गर्भ के पदार्थों की घनत्व के अनुसार छटनी हुई। जो पदार्थ सब से अधिक ठोस था उसने अपना स्थान सब से नीचे ग्रहण किया उसके बाद बाकी पदार्थों ने अपने अपने घनत्व के अनुसार स्थान ग्रहण किया। यह सिद्धांत घन-तह-घन (Density stratification) का परिचय देता है।

भौकम्पिक प्रमाण—

(अ) लम्बी रश्मि (long waves) वह है जो

पृथ्वी की उपरी पपड़ी का चक्कर लगाती है। इस रश्मि की गति समुद्र-तत्व में चट्टान-तल की अपेक्षा अधिक है। इसका उदाहरण केलिफोर्निया के एक भूकम्प की लम्बी रश्मि जापान के भौकम्पिक प्रयोगशाला में न्यूयार्क के भौकम्पिक प्रयोगशाला से पहले अंकित हो चुकी थी। इससे यह निश्चित होता है कि समुद्रतल और चट्टान-तल में अन्तर है।

(आ) भूकम्प की प्रथमक्रम रश्मि (primary waves) और द्वितीय क्रम रश्मि (secondary waves) की चाल पृथ्वी की गहराई के अनुसार बढ़ती जाती है। इस गति में दो रोक आती है। एक ६०० मील पर तथा दूसरी १८०० मील पर। इस गति-रक का कारण केन्द्राकर्षण (gravitation) दबाव कहा जाता है। इस दबाव के कारण चट्टानों का ठोसपन (rigidity) तथा लचक (elasticity) गुण बढ़ जाता है।

(इ) १८०० मील के उपरान्त रश्मियों की आदत बदल जाती हैं। प्रथमक्रम रश्मि की चाल ७ मील प्रति सेकंड से ५ मील प्रति सेकंड हो जाती है तथा द्वितीय क्रम रश्मि धीमी पड़ जाती है। प्रथम क्रम रश्मि और गहराई मे जाने पर निर्धारित माग से पलटजाती है। रश्मियों के इन रूप बदल के कारण जो भौकम्पिक प्रयोगशाला मध्यस्थ के १०४° बाहरी (Epicentre) भाग में रहते हैं वहाँ तक रश्मियाँ पहुच नहीं पाती और पहुंचती हैं तो इतनी कमजोर हो जाती है कि अपना आगमन-निशान अंकित नहीं कर सकती हैं। इस प्रकार की काफी चौड़ी परतल जहाँ तक प्रथम क्रम रश्मि पहुँच नहीं पाती उसे छाया मंडल (Shadowzone) कहते हैं। ये रश्मियाँ यह परिचय देती हैं कि पृथ्वी के गर्भ में एक केन्द्र कोष (Core) है जिसका ब्यास ४००० मील है और अन्य पपड़ियों से भौतिक तथा रासायनिक गुणों में विभिन्न है।

(ई) ६०० मील पर ये रश्मियाँ चाल बदल देती हैं जिसका परिचय दिया जा चुका है। इससे यह प्रतीत होती है कि पृथ्वी ६०० मील आंतरिक पपड़ दूसरी है।

(उ) समीप भूकम्प (Near Earthquake) पृथ्वी की वह चाल है जो ऊपरी पपड़ी पर ही सीमित रह जाती है। ये रश्मियाँ पृथ्वी के उथले मंडल (Shallow Zone) का परिचय देती हैं। प्रथम और द्वितीय क्रम रश्मियों के अतिरिक्त दो अन्य रश्मियाँ और हैं जो पृथ्वी के हृदय का पता बतलाती हैं। इन रश्मियों के भिन्न-भिन्न रूपों से यह पता लगता है कि पृथ्वी कई पपड़ियों में विभाजित है।

पृथ्वी की गर्मी—ज्वालामुखी पर्वत तथा गरम जल-प्रपात यह लतलाते हैं कि पृथ्वी के गर्भ में गहराई के अनुसार गर्मी की मात्रा बढ़ती जाती है। यह अनुमान किया गया है कि हर ६० फुट पर १ फैरनहिट गर्मी-बढ़ती है। रेडियम-धर्मिता यह बतलाती है कि यूरेनियम (वारूण-लवण) तथा थोरियम के विकिरण से भी पृथ्वी की गर्मी बढ़ती है। इसका प्रमाण खदानों में मिलता है।

चट्टानों पर वायुमंडल का दबाव का असर—यथार्थ भौतिक विधि से यह पता लगा है कि वायुमंडल का दबाव २२००० टन / घन इंच के अनुसार बढ़ता है।

परिणाम—पृथ्वी के चपटे ध्रुव यह बतलाते हैं कि अधिकांश ठोस पदार्थ पृथ्वी की अन्तरीय गर्भ में है और कम घनत्व के पदार्थ अपनी श्रेणी के अनुसार तह कायम किये हैं। इसका परिचय नियम-सूक्ष्मता सिद्धांत तथा भौकम्पिक प्रमाण बतलाते हैं।

यह अनुमान करने के बाद कि पृथ्वी का घनत्व गहराई के अनुसार बढ़ता है इसका कारण जानना आवश्यक है। इसका कारण वायुमंडल का दबाव या ठोस पदार्थ की मात्रा हो सकती है। विभिन्न परिणामों से यह पता चला है कि चट्टान वायुमंडल के दबाव को सहन नहीं कर सकते और द्रवरूप में परिणत होने का लक्षण दिखलाते हैं। लेकिन यह द्रवरूप में परिणत होने का लक्षण समतुल्य सिद्धांत के विरुद्ध है। इससे यह प्रमाणित होता है कि पृथ्वी का घनत्व ठोस पदार्थों के कारण है।

प्रथम क्रम तथा द्वितीय क्रम रश्मि इस तर्क का ६०० और १८०० मील पर अपनी चाल बदल कर सिद्ध करती हैं कि पृथ्वी के अन्तरीय गर्भ में केन्द्र कोष है। विद्वानों का मत है कि यह केन्द्र कोष धातुरूप (metallic) है।

यह निश्चय करने के उपरांत कि केन्द्र कोष धातुरूप है, धातुरूप का पता लगाना है। इसका संदेशा टूटे हुए तारे (Meteorites) बतलाते हैं कि केन्द्र कोष लोहे और गिलट (Nickel) का है। यह केन्द्र कोष ४००० मील व्यास का है तथा पृथ्वी के आयतन में १/८ हिस्सा लेता है।

उपर्युक्त बातें हमें इस अवस्था पर लाती हैं कि पृथ्वी घन-तह-घन (density stratification) के अनुसार कई भागों में विभाजित है। इसमें अधिक घनत्व का पदार्थ सबसे नीचे है तथा अन्य पदार्थों का क्रम घन रूप है। पृथ्वी की इस स्थिति से यह पता चला है कि पृथ्वी एक समय द्रव रूप में थी। इस रूप में केन्द्राकर्षण शक्ति ने पदार्थों को घन-तह-घन सम्मेलन का पाठ सिखाया। पृथ्वी की इस स्थिति की तुलना हम उस भट्टे से कर सकते हैं जिसमें धातुनिसार क्रिया हो। जिस अवस्था में धातु की ओषिद (Oxides) गंधकीय (sulphides) और धातु मैल (slag) की अवस्था होती है उसी अवस्था में पृथ्वी का गर्भ है। उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि मुख्यतः पृथ्वी का गर्भ चार हिस्सों में विभक्त है।

१—**ऊपरी तह**—(outer shell)—जिसका घनत्व २.५—३ तक है। मोटाई १० से ४० मील है तथा आयतन में पृथ्वी का १/४ हिस्सा लेती है।

२—**धर्नी चट्टान तह**—जिसका घनत्व २—५ तक है। मोटाई १००० मील है तथा आयतन में पृथ्वी का ६/१० हिस्सा लेती है।

३—**धातु ओषिद और गंधकीय मंडल** (oxides and sulphide zone) गिलट लौह गहराई के अनुसार बढ़ती जाती है। घनत्व ५ से ८ तक है

४—**लौह गिलट कोष**—घनत्व ८/११ तक है। आयतन में पृथ्वी का १/८ वां हिस्सा लेता है।

एक वीर उड़ाका

ले०—जगपति चतुर्वेदी

प्रस्तुत लेख में एक बीर उड़ाके की रोमांचक सच्ची कथा दी गई है।

"वीर पुरुष हज़ारों कठिनायाँ पड़ने पर भी अपने साहस और उद्योग को नहीं छोड़ते।" केवल इस 'आदर्श वाक्य' को वारनीज़ ने सदा अपने सामने रक्खा। वह अपने हृदय में बड़ी लालसा रखता था कि एक दिन वह उड़ाका बन कर हवा में अठखेलियाँ खेल सके, अपने साहस के अटूट भंडार को दिखाने का अवसर पा सके परन्तु उसकी सब कोशिशें बेकार हो जाती थीं। वह अपनी आँखों से लाचार था। चश्मा लगाने से ही उसकी आँखें काम दे सकती थीं, और चश्मा लगाने वाले को सैनिक उड़ाके का काम कौन दे सकता था? लेकिन इस हठी आदमी ने उड़ाका बनने के हठ को न छोड़ा। एक दिन वह एक मामूली उड़ाका ही नहीं, बल्कि बड़ा यश पाने वाला एक वीर उड़ाका हो सका। उसकी कहानी क्या आप सुनना चाहेंगे?

जाफ़रे वारनीज़ ने एक अच्छे उड़ाकू उस्ताद से हवाई जहाज़ चलाने की शिक्षा प्राप्त की थी। उसका उस्ताद भी कोई मामूली आदमी नहीं था, उसने लड़ाई में अपनी उड़ानों से अच्छा नाम कमाया था। इसलिए जिस दिन दूसरा महायुद्ध योरप में छिड़ा, वारनीज़ ने तुरन्त हवाई सेना में भर्ती होने के लिए अपना नाम दे दिया। उसको उड़ाकू शिक्षा प्राप्त थी, इसलिए उसको भर्ती कर लिया जा सकता परन्तु डाक्टरी परीक्षा करने वाले बोर्ड ने उसका नाम स्वीकार नहीं किया। चश्मा पहनने वाले उड़ाके को डाक्टरों की निर्वाचक समिति ने हवाई सेना में भर्ती होने के योग्य नहीं समझा। निदान बेचारा वारनीज़ उदास मन वापस लौट गया।

लेकिन वारनीज़ कच्चे धातु का नहीं बना था। महायुद्ध में कुछ करामात दिखाने के लिये उसकी वीर भुजाएँ फड़कती थीं, रगों में ख़ून का उबाल आ रहा था, हृदय में उमंगों की तेज़ धारा लहरा रही थी। इस लिए वारनीज़ सदा अपनी आंखों के सामने उड़ाका बनने का स्वप्न ही देखता रहता, उसी की उधेड़बुन की बातें सोचता रहता। भर्ती होने की उसकी प्रार्थना सेना के अधिकारियों के सामने पहुँच चुकी थी। उस संबंध में बराबर कोशिश करते रहने, दौड़धूप करने और रात दिन उसी धुन में पड़े रहने के कारण सेना के अधिकारियों ने अन्त में उसे भर्ती करना तो स्वीकार किया किन्तु उड़ाके का काम उसे नहीं दिया गया। वह उड़ान-दफ़्तर में हवाई जहाज़ों के उड़ने के मैदान के संबंध में ही प्रबंध करने वाला एक अफ़सर नियत कर दिया गया।

वारनीज़ चतुर. पुरुष था। उसने यह सोचा कि पूरी कामयाबी न मिली तो उड़ने के मैदान का प्रबन्ध ही सही, लेकिन आधी छोड़कर पूरी के लिए दौड़ना तो कभी चतुराई नहीं हो सकती। जो अधूरी उड़ान के सम्बन्ध की नौकरी मिल रही है, उसे ही मंजूर कर अपनी लालसा पूरी करने का रास्ता ढूंढ़ते रहने की कोशिश क्यों न की जाय। इसलिए वह

इस हैसियत से हवाई सेना का काम करने लगा। जब अंग्रेज़ों की सेना फ्रांस में लड़ रही थी तो वारनीज़ को भी वहाँ जाना पड़ा लेकिन भाग्य ने पलटा खाया जर्मनी की सेना का उन दिनों बड़ा ही ज़ोर हुआ। कई लाख सेना फ्रांस के समुद्री किनारे पर फँस गई थी। किसी तरह जान बचा कर सारे भारी हथियार वहीं छोड़ वह सेना बड़ी मुश्किल से लौट सकी।

उस समय इंगलैंड बड़ी मुसीबत में फँसा था। जर्मनी के हवाई जहाज़ इंगलैंड पर बराबर हमले करने आते थे। उनके लिए हवा में गुब्बारों की मदद से कुछ रुकावटें डालने की कोशिश की गई। उसके प्रबन्ध में वारनीज़ भी नियत किया गया। इन्हीं दिनों उसने फिर एक बार उड़ाका बनने के हौसले को पूरा करने की कोशिश की। एक हवाई सेना के अफसर ने सिफ़ारिश कर उसे उड़ान विद्या की नई शिक्षा दिलाने की सिफ़ारिश भी कर दी। इस तरह वह उड़ान सिखाने वाला उस्ताद तो बनाया गया किन्तु युद्ध के मैदान में उड़ाके के दर्जे से हवाई जहाज़ चलाने का काम उसे नहीं मिल सका। डाक्टरों के बोर्ड ने उड़ाकों के विशेष चश्में में शीशा लगाने पर भी उसकी आँख को कमज़ोर देखा, इसलिए अंतिम रूप से उसकी उड़ाका बनने की प्रर्थना रद्द कर दी गई। अब तो कोई दूसरा रास्ता न रह गया।

फिर भी वारनीज़ ने साहस न छोड़ा। कुछ दिनों के बाद एक नए आविष्कार का पता लगा। आँख के कोए में पलकों के नीचे ही कोई शीशा लगा कर आँख की ज्योति ठीक करने की विधि किसी ने निकाली। अब क्या था। वारनीज़ ने तुरन्त ही नए ढंग का एक चश्मा अपनी आँखों के गोलों में पलकों के नीचे बैठा लिया। अब उड़ाकू बनने में बहुत अधिक देर नहीं थी। उसने नए चश्में के लिए लगभग सात सौ रुपए उसने खर्च कर दिए। संयोग से हवाई सेना का डाक्टर इन नक़ली आंखों के पक्ष में था। उसकी सिफ़ारिश हुई और वारनीज़ एक उड़ाका बना दिया गया। अब क्या था, वारनीज़ ने बड़ी ही उमंग से उड़ाकों की वर्दी पहनी, उड़ान के युद्ध में भाग लेने वाले एक हवाई जहाज़ का उड़ाका बना। अब उसे अपनी वीरता दिखाने का अवसर भर की देर थी।

महीनों तक तो वारनीज़ इंगलैंड और योरप के बीच इंगलिश चेनल को पार कर जर्मनी के कारखानों, हवाई अड्डों वग़ैरह पर बम गिराता रहा। बम बरसाने वाले हवाई जहाज़ों की नई क़िस्म निकलने पर पहले ही बेड़े में वारनीज़ भी उड़ाका था। कभी लड़ाकू जहाज़ की रक्षा में और कभी वैसे ही वह अपने हवाई बेड़े के साथ बम बरसाने का अभ्यास अच्छी तरह करने लगा। उसकी आँखों में उतनी ही ज्योति थी जितनी किसी भी उड़ाके की हो सकती थी, लेकिन उसके हृदय में वीरता की जितनी भारी लहर उमड़ती थी, उसका तो दूसरा कोई उड़ाका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इसका फल भी देखने को मिला। साल भर के बाद ही उसके पद में उन्नति कर उसे बेड़े का नेता बना दिया गया। उसने अपने दूसरे उड़ाकों में जैसा जोश फूँका उससे बेड़े का नाम सब ओर हो गया। वारनीज़ के बेड़े ने जहाज़ों, बंदरगाहों और जर्मनी के कारख़ानों पर जितने बम गिराए उन से कम से कम ३० जहाज़ बिलकुल डुबाए गए। लगभग ६३ हज़ार पौंड गोले इस बेड़ द्वारा गिराए गए होंगे। वारनीज़ को अपनी वीरता के लिए डी० एस० ओ० (डिस्टिंगविश्ड सर्विस आडर) और डी० एफ़० सी० (डिस्टिंग्विश्ड फ़्लाइंग क्रास) की ऊँची उपाधि दी गई। यह सब कुछ उस आदमी ने किया जिस की आँखें ख़राब थीं। क्या कोई भी वीर साहसी आदमी वारनीज़ की तरह किसी भी तरह की कठिनाइयाँ पार कर अपने कलजे की दृढ़ता दिखाने का अवसर नहीं ढूंढ़ सकता ?

फसल के शत्रु

लेखक—शङ्कर राव जोशी

पिछले दो अंकों से यह लेख क्रमशः छप रहा है। यहाँ फसल के कीड़ों का वर्णन किया गया है।

(५) जीन या अन्य गोदामों में संगृहीत बिनौले भी इस कीड़े को जीवित रखने में अत्यधिक सहायक होते हैं। इन में जहरीली भाप छोड़ने का प्रबंध किया जा सके तो अत्यधिक लाभ हो सकता है।

(६) फसल निकाल लेने पर खेतों में भेंड़-बकरी छोड़ दी जायँ तो वे जमीन पर पड़े हुए फूल-फल को खाकर नष्ट कर देंगी। इसके बाद खेत को जोतकर पौधों के अवशेष को एकत्रित कर जला दिया जाय।

(७) खेत में के और खेत के आस-पास की जमीन पर खड़े हुए कपास-वर्ग के सभी पौधों को जिन पर कीड़ा अन्य ऋतुओं में जीवन-निर्वाह करता है, उखाड़ कर जला देना चाहिए।

यदि सभी किसान मिलकर एक साथ ही कार्य-सम्पादन करें तो इस शत्रु को, दो ही तीन साल के अन्दर, नामशेष किया जा सकता है।

जूरी—अमेरिका में यह कीड़ा कपास की ढेंढुई पर आक्रमण करता है। पूसा व खानदेश में यह कपास के फूल की कली पर व नागपुर में ढेंढुई पर पाया गया है। किन्तु भारत में यह कपास का शत्रु नहीं है।

बेहना—इसे कानपुर में झांगा, पीलीभीत में झंझा, मध्यप्रदेश में लालझिंगुरा मिया आदि नामों से पुकारते हैं।

मादा, खेत की मिट्टी में, पीले अण्डे एक दूसरे से सटाकर रखती है। अण्डे में से परी निकलती है। झांगा ढेंढुई का रस चूसता है, जिससे वह जमीन पर गिर पड़ती है वा पकने के पहले ही फट जाती है। ढेंढुई निकलना शुरू होने के दिनों में यह दिखाई देता है। फटी हुई ढेंढुई में, इसके मल से रुई खराब हो जाती है। कीड़ा बिनौले का तेल चूसता है, जिससे तेल का अंश बहुत घट जाता है। एक मास में कीड़े का जीवन-क्रम समाप्त हो जाता है।

पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा लाल रंग का होता है, जिसके पंखों पर काली टिपकियाँ होती हैं। शरीर के नीचे के भाग पर सफेद लकीरें-सी होती हैं। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा ढेंढुई में ही रहता है। यह बहुत चपल होता है।

उपचार—भिंडी, अम्बाड़ी, होलीहॉक, मुश्कदाना (कस्तूरी भिंडी) सिमूल और अन्य जंगली पौधों पर यह कीड़ा जीवन-निर्वाह करता है। यह कीड़ा समूह बनाकर रहता है। अतएव सांसागक विष छिड़क कर या पकड़ कर यह कीड़ा मारा जा सकता है।

टीन की तेल भरने की कीप के समान बड़ी कीपें बना ली जायँ, जिनकी नीचे की नली को कपड़े की थैली के अन्दर करके बाँध दिया जाय। पौधे के नीचे इस कीप को रख कर पौधा हिलाने से कीड़े की में गिर कर थैली में चले जाएँगे। झाड़ के नीचे कपड़ा बिछाकर पौधों को हिलाकर भी कीड़े पकड़े जा सकते हैं। इस प्रकार एकत्रित कीड़ों को जलाकर नष्ट कर देना चाहिए।

महीन कपड़े की छोटी-छोटी थैलियों में बिनौले भर कर उन्हें कुछ घंटों के लिए पानी में डुबा कर रख दिया जाय। इन थैलियों को पौधे के नीचे रखने से कीड़े बिनोले की गंध से आकर्षित होकर उन पर जमा हो जायंगे। यह कीड़ा जल्दी उड़ नहीं सकता है। एक बरतन में केरोसीन तेल और पानी का मिश्रण भरकर थैलियों पर या आस पास जमा हुए कीड़ों को उसमें डाल देने से वे मर जाते हैं।

जमीन में पड़े हुए पत्तों में भी कीड़े एकत्रित हो जाते हैं। बहुत सवेरे इन में से कीड़ों को एकत्रित करके नष्ट कर दिया जाय।

बनिया—वेहना की कृपा या किसी कारण से पकने से पहले फटी हुई ढेंडुई में यह कीड़ा अपना अड्डा जमा लेता है। करा या अन्य किसी कीड़े द्वारा किए गए घाव या करा के बाहर निकलने के द्वार में से होकर यह ढेंडुई के भीतर घुस जाता है। मादा रुई के अन्दर के बिनौले पर गहरे पीले रंग के अण्डे रखती है। अण्डे में से निकली हुई परी अपनी चोंच बिनौले के अंदर डालकर तेल पीती है। अण्डे में से निकलने के बाद चार-पाँच बार त्वचा बदलती हुई लगभग १५ दिन में पूर्णावस्था प्राप्त कर लेती है। इसके पंख पारदर्शक होते हैं। यह कालापन लिये हुए भूरे रंग का होता है।

यह कीड़ा, भिंडी कस्तूरी, भिंडी अम्बाड़ी आदि कपास वर्ग के कई पौधों पर जीवन-निर्वाह करता है। किन्तु यह पुरानी सूखी फलियों में ही रहता है।

इस कीड़े से पौधे को तो अधिक हानि नहीं पहुँचती है; किन्तु कपास के साथ ही जीन में दब कर मर जाने से रुई पर दाग पड़ जाते हैं।

उपचार—फसल खड़ी हो तब और फसल निकाल लेने के बाद पौधे पर लगी हुई सभी खराब और सूखी ढेंडुई को तोड़ कर जला दिया जाय। इनको पौधों पर बने रहने देने से कीड़े के वंश-विस्तार में काफी मदद मिलती है। पौधे के नीचे कपड़ा बिछाकर या टीन की कीप रख कर पौधे हिलाने से कीड़े उन में गिर पड़ते हैं! इस प्रकार एकत्रित किए गए कीड़ों को तब जला देना चाहिए।

स—रस चूसने वाले कीड़े

सात-आठ प्रकार के कीड़े पौधों का रस-पान करते हैं। इन में से मुख्य-मुख्य कीड़ों पर नीचे विचार किया गया है।

चोपड़ो—यह एक प्रकार का चिकटा ही है। कपास के पौधे पर लगे हुए चिकटे को चोपड़ो कहते हैं। इससे कपास की फसल को बहुत ही कम नुकसान पहुंचता है। कारण कि, एक प्रकार का कीट-भक्षक कीड़ा इसे खाता है, जिससे प्रजावृद्धि पर पर्याप्त नियंत्रण रहता है। औषधि छिड़क कर इसे नष्ट किया जा सकता हैं; किन्तु खेत में बोई गई फसल पर औषधि छिड़कना संभव नहीं है। वह गुवार पर भी अक्रमण करता है।

लधारी (Mealy Bug) और इसी प्रकार के कई कीड़े और लाही—(Scale insect) कपास के पौधे पर पाये जाते हैं। कीट-ग्रस्त टहनी को काटकर जला देना ही उत्तम है। इन कीड़ों पर जीवन-निर्वाह करने वाले परोपजीवी कीट इनकी वृद्धि रोके रहते हैं।

प—तना-शाखा में छेद करने वाले कीड़े

तेलंग—यह दो प्रकार का होता है। एक को तेलंग और दूसरे को तिलंगा कहते हैं। कपास की फसल पर अधिकतर तेलंग ही आक्रमण करता है। यह भारत के सभी प्रान्तों में पाया जाता है। यह खास कर छोटे और कोमल पौधों पर ही हमला करता है।

कीट-ग्रस्त पौधे मुरझा कर सूख जाते हैं। मुरझाए हुए और सूखे हुट पौधों को उखाड़ कर जला ही डालना चाहिए।

तने में छेद करने वाला कीड़ा—इसके स्थानीय नाम का पता नहीं चला है। इसका लैटिन नाम 'पेम्फेरीज एफिनिस (Pempheres affinis) है। यह भिंडी

और अम्बाड़ी पर भी पाया जाता है। मादा तने पर अण्डा रखती है। इल्ली, तने में छेद कर भीतर घुस जाती है और भीतर ही भीतर उसे खोखला करती रहती है। तने और जड़ों के जोड़ पर गाँठ-सी बँध जाती है। तने में ही कोशावस्था व्यतीत की जाती है।

कीड़ा लगे हुए पौधे कुम्हला जाते हैं। इन्हें उखाड़ कर जला देना चाहिए। कुम्हलाये हुए पौधों को खड़े रहने देना या उखाड़े हुए पौधों को खेत में ही और खेत के आस-पास ही पड़े रहने देना हानिकारक है। यदि कीट-ग्रस्त पौधे जलाये नहीं जाएंगे, तो अनुकूल समय आने तक कीड़ा उनमें छुपा रहेगा और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही बाहर निकल कर प्रजा-वृद्धि का कार्य आरंभ कर देगा। और तब फसल की रक्षा करना अत्यन्त कठिन हो जाएगा।

कीड़ा तना या टहनी के अन्दर रहता है। अतएव कीट-नाशक औषधि द्वारा इनका नाश करना संभव नहीं है।

कम्बोडिया आदि विदेशी जातियों पर ही यह कीड़ा आक्रमण करता है, जिससे कभी-कभी बीस प्रतिशत तक पौधे मर जाते हैं। जोर की हवा चलने पर, कीड़े के निवास-स्थान के पास से पौधा टूट जाता है।

कपास के तने और बढ़ने वाले भाग में छेद करने वाले और भी तीन-चार प्रकार के कीड़े हैं। किन्तु इनसे फसल को बहुत ही कम क्षति पहुँचती है। अतएव उन पर यहाँ कुछ नहीं लिखा गया है।

म--जड़ पर आक्रमण करनेवाले कीड़े

दीमक--:किसी कारण से क्षत हुए और कमजोर पौधों पर ही भिन्न-भिन्न प्रकार की दीमक आक्रमण करती हैं। तन्दुरुस्त और पुष्ट कपास के पौधों पर दीमक किंचित ही आक्रमण करती हैं।

मिलो सीरसः—इसका लैटिन नाम (mylloce rus II pustulatus) हैं। इस कीड़े की इल्ली मिट्टी में रह कर भिन्न-भिन्न पौधों की जड़ें खाती हैं। पूर्वा-वस्था प्राप्त कीड़ा पत्तों पर जीवन-निर्वाह करता है। पूर्णा-वस्था प्राप्त कीड़े को पकड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

भिंडी के फसल के कीड़े

कपास पर पाये जाने वाले सभी कीड़े भिंडी, अम्बाड़ी कस्तूरी भिंडी, आदि पर भी पाये जाते हैं। कपास के पौधे के अभाव में ये सभी कीड़े इन्हीं सब पौधों पर गुजर-बसर करते हैं।

पंजाब में भुन्न भिंडी के नवजात पौधों को खाकर नष्ट कर देती है।

लपेटिया—भिंडी के पत्तों को लपेट कर भीतर ही भीतर उनको खाता है।

तिरहींग—यह इस फसल को शायद ही कभी नुकसान पहुंचाता है।

मिलोसीरस—यह भिंडी का शत्रु नहीं है।

लक्षी से फसल को बहुत ही कम हानि पहुँचती है।

तेला—भिंडी के फूल खाता है। हाथ से पकड़ कर मार डालना ही उत्तम है।

दोनों प्रकार के करा और जूरी भिंडी के फलों पर भी जीवन-निर्वाह करते हैं। कपास पर आक्रमण करने वाले कीड़ों पर लिखते समय इन कीड़ों के सम्बंध में लिख आए हैं।

बेहना—भिंडी पर बहुत अधिक संख्या में पाया जाता है। और यह वास्तव में भिंडी का ही शत्रु है। इसके नष्ट करने के उपाय पर पहले लिख आए हैं।

बनिया—यह भिंडी के सूखे फलों में ही पाया जाता है।

तेलंग—यह भिंडी का शत्रु नहीं है। कपास की फसल ही इसका मुख्य भक्ष्य है। भिंडी को इसका गौण भोज्य-पदार्थ कहा जा सकता है।

अम्बाड़ी की फसल के कीड़े

कपास और भिंडी पर पाए जाने वाले लगभग सभी कीड़े अम्बाड़ी पर भी जीवन-निर्वाह करते हैं।

कस्तूरी भिंडी की फसल कीड़े

कस्तूरी भिंडी को मुश्क दाना भी कहते हैं। यह फसल की तरह खेत में बोई नहीं जाती है। 'करा' इस फसल को ज्यादा पसन्द करता है। अतएव करा की प्रजा-वृद्धि रोकने तथा इस कीट सम्बंधी अनुसंधान करने के लिए ही कृषि-प्रयोग-शालाओं में इसकी खेती की जाने लगी है। लाल सूंडी को यह पौधा इतना पसन्द नहीं है।

तृण वर्ग की फसलों के कीड़े

धान की फसल के कीड़े

अ—रोपे (Seedlings) खाने वाले कीड़े-

लेदा पोका—यह दो प्रकार का होता है और बंगाल में दोनों को ही यह नाम दिया गया है। यह कीड़ा धान, ज्वार, गन्ना और कई जंगली घासों पर जीवन-निर्वाह करता है। इससे धान के बेहन या रोपे को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचता है। शिशु-पौधा-पालन-गृह (नरसरी) के चारों ओर नाली खोदी जाय। नाली की दीवारें सीधा रखी जायँ। नाली में पानी भरकर उसमें थोड़ा-सा मिट्टी का तेल डाल देने से इल्लियाँ नरसरी में प्रवेश नहीं कर सकेंगी। किन्तु तितली तो उड़कर नरसरी के पौधों पर अण्डे रख ही देंगी। मादा, पत्ते पर पास पास अण्डे रखती है। अण्डे वाले पत्तों को तोड़ कर मिट्टी के तेल और पानी के मिश्रण में डुबो देने से अण्डे मर जाएँगे। इल्लियां दिन के समय छुपी रहती हैं। नरसरी में लकड़ी के पटिये या टीन के चद्दर के टुकड़े रख दिए जायँ। दिन को इल्लियां इनके नीचे जा छुपेंगी। इनको एकत्रित करके मार डालना चाहिए। नरसरी में पानी भरकर उसमें बतखें छोड़ दी जायं। ये कीड़ों को खालेंगी।

बँधिया या नरसरी में भरे हुए पानी में थोड़ा-सा मिट्टी का तेल डालकर पानी को खूब चलाया जाय, जिससे पानी पर तेल का परत फैल जायगा। पौधों पर रस्सी खींचने से इल्लियां पानी में गिरकर मर जाएँगी।

धान की लही (Thrips oryzoe)—सभी छोटे छोटे कीड़ों को किसान 'लाही' 'लही' 'लची' 'लाखी' आदि नामों से पहचानते हैं। लही का आक्रमण होने पर पौधे हलके पीले रंग के दिखाई देते हैं। बँधिया में भरे पानी में थोड़ा मट्टी का तेल डाल दिया जाय। पानी को खूब चलाने से तेल का पतला परत पानी पर फैल जाएगा। बाँस या रस्सी चलाकर पौधों को इस पानी में डुबो दिया जाय। इससे लही मर जाएँगी। पौधों पर केरोसीन मिश्रण छिड़कने से पत्ते जल जाते हैं।

केकड़े—भारत के कई भागों में धान के खेतों में तीन प्रकार के केकड़ों का उपद्रव बढ़ गया है। केकड़ा इस फसल का शत्रु नहीं है। ये अपने रहने के लिए बिल बनाते हैं, जिससे जड़ें कट जाने से पौधा सूख जाता है। बँधिया की मेड़ों में भी केकड़े बिल बनाते हैं। बँधिया का पानी इन बिलों में से होकर बह जाता है। जिससे फसल को हानि पहुंचती है। यदि सभी खेतों के मालिक केकड़ों को पकड़कर मार डालें, तभी स्थायी लाभ हो सकता है।

सारस आदि पक्षी केकड़ों को खाते हैं। किन्तु इनके द्वारा जितने केकड़े मारे जाते हैं, उनसे भी कई गुना अधिक केकड़े जन्म ग्रहण कर लेते हैं। यही कारण है कि केकड़ों की संख्या कम नहीं हो पाती है 'एडस्ट' नामक औषधि का चूर्ण या हायड्रोसायनिक गैस बिलों में छोड़कर बिल का मुँह मिट्टी से बन्द कर दिया जाय।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

साँवर देही—यह कीड़ा भारत के सभी भागों में पाया जाता है। इल्ली, दिन में मिट्टी के ढेलों के नीचे और जमीन की दरारों में छिपी रहती है और इन्हीं स्थानों में कोशावस्था भी बिताती है। यह कीड़ा बहुत बड़ी

संख्या में एकदम आक्रमण करता है। अतएव इससे फसल की रक्षा करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। जिन खेतों की फसल पर इसका आक्रमण न हुआ हो, उनके चारों ओर नालियाँ खोदकर उनमें पानी भर दिया जाय और थोड़ा-सा मिट्टी का तेल डाल दिया जाय। ऐसा करने से इल्लियाँ दूसरे खेतों में प्रवेश नहीं कर सकेंगी।

पौधों पर 'लेड आर्सेनेट' छिड़कने और जमीन पर चूना फैला देने से अवश्य ही लाभ होता है। किन्तु यह उपाय व्यावहारिक नहीं है।

फसल निकाल लेने के बाद शीघ्र ही जुताई कर देने से कोशस्थ प्राणी मर जाता है।

सामरी—यह कीड़ा साँवर देही की ही जाति का है। धान की फसल कटने लायक होते ही यह फसल पर आक्रमण करता है। कीड़ा धान की बालियों को काटता है। बहुत बड़ी संख्या में एकदम आक्रमण करके यह कीड़ा फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचाता है।

हरपोक—यह भी साँवर देही की ही जाति का कीड़ा है। मादा पत्तों पर अण्डे देती है। इल्ली पकी हुई बालियों को काटकर नुकसान पहुँचाती हैं।

लेदा पोका—इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। दूसरे प्रकार का लेदापोका पत्तों पर आक्रमण करता है। बँधिया के पानी में मिट्टी का तेल डालकर उसमें पौधों को डुबाने से कीड़े मर जाते हैं।

धान की इल्ली—इससे धान की फसल को बहुत कम हानि पहुँचती है।

बंकी—इसे मध्य प्रदेश में बेड़ा, बेल्ली, पई आदि कहते हैं। यह कीड़ा चावल पैदा करने वाले प्रदेशों में बहुतायत से पाया जाता है। इल्ली अपने चारों ओर पत्तों का आवरण बना लेती हैं और इसी में कोशावस्था बिताती है। तितली प्रकाश की ओर आकर्षित होती है। खेतों में दिया रखकर या मेड़ों पर आग जलाकर इसका नाश किया जा सकता है। खेत में भरे हुए पानी में मिट्टी का तेल डालकर खूब चलाने से पानी पर तेल की पतली पर्त फैल जाएगी। पौधों पर रस्सी खींचने से इल्लियाँ पानी में गिरकर मर जाएँगी।

कंडापुभु—मादा भक्ष्य पौधे के पास मट्टी में अण्डे रखती है। इल्ली एक प्रकार के रेशम जैसे पदार्थ से नली-सी बनाती है और उसी में कोशावस्था बिताती है। मादा प्रकाश की ओर आकर्षित होती है। इल्ली पौधों को काटकर अपने निवास-स्थान को ले जाती है। कौए आदि पक्षी इसे खाते हैं।

लपेटा—धान पैदा करने वाले सभी प्रदेशों में पाया जाता है। इल्ली, धान के पौधे के पत्तों को लपेटकर उनके अन्दर रहती और भीतर ही भीतर उन्हें खाती है। पिछड़ कर रोपे गए पौधों को इससे ज्यादा नुकसान पहुँचता है।

बोट—इसे मध्य प्रदेश में बुर्ली, नाक टोल, चरक और अलीगढ़ में बोट या बोटी कहते हैं। यह गन्ना, ज्वार, मक्का, और बाजरे पर भी पाया जाता है। यह धान के पत्तों को खाता और तने को काटता है। यह बालियों को भी नहीं छोड़ता। कभी-कभी आधी से अधिक फसल नष्ट कर देता है। यह गन्ने का एक जबरदस्त शत्रु है।

अक्टूबर से दिसम्बर तक मादा गीली और नरम जमीन में सौ-दो सौ तक अण्डे रखती है। वर्षा प्रारम्भ होने तक अण्डे मिट्टी में ही पड़े रहते हैं। वर्षारंभ होते ही लगभग पाव इंच लम्बी परी का जन्म होता है। यह तेजी से बढ़ती और छः-सात बार त्वचा बदलने के बाद पूर्णावस्था प्राप्त करती है। प्रति १५वें या २०वें दिन त्वचा बदली जाती है। परी का रंग-पील[illegible] लिये हुए खाकी होता है, जो बाद में धीरे-धीरे बदलकर हरा या हरा-पन लिये हुए पीला हो जाता है। इसके शरीर पर काली या खाकी धारियाँ होती हैं और पिछले पाँवों का बीच का भाग नीला होता है। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा बहुत कम समय तक जिन्दा रहता है। मादा साल भर में एक ही बार अण्डे रखती है।

प्रारम्भ में परी, नरसरी के पौधों पर या उसके आस-

पास की जमीन पर उगे हुए घास पर जीवन-निर्वाह करती है और धान के रोपों के साथ खेत में पहुँच जाती है। मादा अक्टूबर में अण्डे रखती है, जो वर्षा प्रारम्भ होने तक खेत की मट्टी में ही पड़े रहते हैं। अतएव फसल निकाल लेने के बाद खेत को दो-तीन बार हल देना और ढेलों को भी तोड़ देना चाहिये। इसके अण्डे कुचल कर या तेज धूप से नष्ट हो जायँगे। खेत के आस-पास की मेंड़ें और जो जमीन जोती न जा सकती हों, उसे खोद कर ढीली कर देना चाहिए। अण्डे में से परी के निकल आने के बाद, पौधों पर थैली चलाकर कीड़े पकड़े जा सकते हैं। छोटे-छोटे पौधों और फसल निकाल लेने के बाद खेत में खड़े हुए डंठलों पर थैली चलाकर कीड़े एकत्रित करके जला दिये जायँ।

गोपी—खेत में खड़े हुए डंठलों या घास पर मादा अण्डे देती है। मादा मिट्टी में अण्डे नहीं रखती है। मौसम के अनुसार पन्द्रह से इक्कीस दिन में अण्डे में से परी बाहर निकल आती है। परी धान की बालियों को काटती है। धान की फसल के अभाव में कीड़ा घास पर जीवन-निर्वाह करता है। थैली से पकड़कर जला देना ही एकमात्र उपाय है।

कटगोंडी—दक्षिणी और पूर्वी भाग में यह प्राणी बहुतायत से पाया जाता है। कुछ भागों में नरसरी के पौधों को इससे ज्यादा नुकसान पहुँचता है। इल्ली, धान के पौधों के पत्तों में छेद करती है और कीड़ा पत्तों पर ही कोश बनाता है। पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी भी पत्तों पर ही जीवन बिताता है।

पूर्णावस्था प्राप्त कीड़े को थैलियों से पकड़कर जला देना चाहिए। इस कीड़े के अण्डे पर एक प्रकार का परोप-जीवी कीड़ा अण्डे रखता है।

तीन प्रकार का गोदला और तीन प्रकार के मिलो सीरस कीड़े भी धान की फसल पर पाए जाते हैं; किन्तु ये फसल को बहुत कम नुकसान पहुँचाते हैं।

ब--तने में छेद करने वाले कीड़े

गंगई—इसे गंगई या पोंगा भी कहते हैं। मद्रास में इसे 'अनई कोम्बु' कहते हैं, जिसका अर्थ है 'हाथी का दाँत'। धान की सफेद पोली डंडी जाहिर करती है कि, यह कीड़ा लग गया है। मादा पत्ते के नीचे के भाग पर चार से दस तक अण्डे रखती है। बिना पैर की इल्ली पौधे की डंडी में छेद करके भीतर घुस जाती और भीतर ही भीतर उसे खाती रहती हैं, जिससे डंडी पोली और सफेद हो जाती है। डंडी में ही नीचे के भाग में कोशावस्था व्यतीत की जाती है। कोश धीरे-धीरे ऊपर की ओर को सरकता जाता है और तब परदार कीड़ा पौधे के बढ़ने वाले भाग में छेद करके बाहर निकल आता है। पन्द्रह से इक्कीस दिन में कीड़े का जीवन-क्रम समाप्त हो जाता है। कीड़े लगे पौधे पर बालियां नहीं आती हैं।

उपचार--खेत में प्रकाश करके कीड़ा मारा जा सकता है। आस पास के सभी खेतों के किसान मिलकर एक साथ ही अपने खेतों में कंदील या गैस का दीपक जलाएँ, तो अतिशीघ्र कीड़ों का नाश किया जा सकता है। कीट-नाशक औषिध छिड़कना लाभदायक है।

कीड़ा लगने का शक होते ही अमोनियम सलफेट या सुपर फासफेट की खाद देने से पौधे पुष्ट और मजबूत हो जाते हैं और उनमें रोग का मुकाबला करने की शक्ति आ जाती है।

गरिंडा—यह धान का एक मुख्य शत्रु है। खेत में छोड़े गए डंठलों में इल्ली सुप्तावस्था बिताती है। कभी-कभी प्रतिशत ४० तक डंठलों में इल्ली सुप्तावस्था में पाई गई हैं। अनुकूल अवसर प्राप्त होते ही कीड़ा फसल पर आक्रमण करता है। मादा पत्तों पर पास-पास अण्डे रखती है।

उपचार--फसल निकाल लेने के बाद डंठलों को जलाकर खेत को हल दिया जाय। यदि डंठल जलाना संभव न हो, तो फसल निकाल लेने के बाद शीघ्र ही एक-दो बार हल से जुताई करदी जाय। अण्डों को ढूंढ कर नष्ट किया जा सकता है, किन्तु ऐसा करना व्यावहारिक नही है।

मादा प्रकाश की ओर आकर्षित होती है। किन्तु इस उपाय से तभी लाभ हो सकता है, जबकि सारे गांव के किसान एक साथ ही अपने-अपने खेतों में कंदील या गैस का दीया जलाएँ। कीट-ग्रस्त पौधों को उखाड़ कर जला देना फायदेमंद है, किन्तु इस में खर्च ज्यादा बैठता है। स्वयं किसान और उनके कुटुम्ब के लोग श्रम करें, तो कम खर्च में हो सकता है।

अहोल—धान के तने में छेद करता है, जिससे बाली सूख जाती है। ज्वार के कीड़ों पर लिखते हुए इस पर विचार किया गया है। अहोल और मेजरा दोनों ही धान की फसल के प्रमुख शत्रु नहीं हैं। पिहिका की जाति के कीड़े भी धान के तने में छेद करते हैं। अहोल, मेजरा और पिहिका को नष्ट करने के हेतु खेत में खड़े हुए डंठलों को जला देना ही एक मात्र उपाय है। ये तीनों ही इस फसल के मुख्य शत्रु नहीं हैं।

स—जड़ों पर आक्रमण करने वाले कीड़े

कंसिया—जिन खेतों में पानी भरा नहीं रहता है, उन खेतों के धान के पौधे की जड़ों पर कंसिया की इल्ली आक्रमण करती है। किन्तु इस कीड़े के सम्बन्ध में खोज की जारही है। फसल निकाल लेने के बाद जुताई कर देना अच्छा है।

ड—रस चूसने वाले कीड़े

गुलमिया—इस कीड़े के शरीर पर कुछ ग्रंथियाँ होती हैं, जिनमें से दुर्गन्धयुत प्रवाही पदार्थ निकलता है। इस कीड़े से पत्ते और बालियों को हानि पहुँचती है। प्रारंभ में कीड़ा खेत की मेंड़ों पर खड़े हुए घास पर गुजर-बसर करता है। एक बार खेत में प्रवेश कर लेने पर इससे फसल की रक्षा करना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है। रात को खेत के आस पास धूआँ करने से कीड़ा खेत में प्रवेश नहीं करता है। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा बाली के दानों में सूंड डाल कर रस चूस लेता है, जिससे बाली पीली और खोखली हो जाती है।

मादा पत्ते पर छोटे-छोटे अण्डे रखती है। अण्डे में से परी निकलती है। चार-पाँच बार त्वचा बदलने पर कीड़ा पूर्णावस्था प्राप्त करता है। बाली में दाना पड़ना शुरू होते ही कीड़ा हमला करता है। यह घास वर्ग के अन्य पौधों पर भी आक्रमण करता है।

उपचार—खेत की मेंड़ों को एक दम साफ रखना चाहिए। बंधियों पर भी घास आदि बिलकुल ही नहीं रहने देना चाहिए, इससे कीड़ों की संख्या बहुत घट जाएगी। खेत में कीड़े हो जाने पर हाथ जाली से पकड़ कर मार डालना चाहिए। छः बुंदा (Six spotted tigher Beetle) इस कीड़े के अण्डे खाता है।

ज्वार की फसल के कीड़े

भारत के खाद्यान्नों में ज्वार का एक मुख्य स्थान है। इस फसल पर भी बहुत अधिक कीड़े आक्रमण करते हैं। ज्वार पर पाये जाने वाले अधिकांश कीड़े धान, मक्का, गन्ना, बाजरा आदि पर भी आक्रमण करते हैं।

ज्वार की इल्ली—इन नाम की तीन चार प्रकार की इल्लियाँ पाई गई हैं। 'ज्वार की इल्ली' नामक कीड़ा गेहूँ, मक्का आदि पर भी पाया जाता है। 'बाजरा की इल्ली' ज्वार की इल्ली से बिलकुल ही मिलती जुलती है। 'टमाटर की इल्ली' सड़े गले फल और बनस्पति पर अण्डे रखती और जीवन-निर्वाह करती है। प्रारंभ में इन तीनों प्रकार की इल्लियों को एक ही माना जाता था।

वास्तविक 'ज्वार की इल्ली' ज्वार और अन्य भक्ष्य पौधों के तने में छेद करती है, जिससे पौधे का बढ़ने वाला अंकुर नष्ट हो जाता है। यह इल्ली नवजात पौधे का एक जबरदस्त दुश्मन है। कीट-ग्रस्त पौधों को तुरन्त ही उखाड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

अ—पत्ते खाने वाले कीड़े

कम्मल—इसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कतरा, कुतरा, कमला, कमलिया, आदि नाम दिये गए हैं। यह सन,

घास, मक्का, बाजरा कोदों, उड़द, अंडी, थूहर; अरनी आदि पर भी पाया जाता है। जिस वर्ष वर्षा ज्यादा होती है, उस साल घास आदि जल्द उग आते हैं और उसी साल इस कीड़े से फसल को ज़्यादा नुकसान पहुंचता है।

घास और अन्य खर-पतवार के पत्तों के नीचे की ओर मादा सौ-डेढ़ सौ अण्डे रखती है। मादा का रंग सफेद और पंखों के सामने के किनारे नारंगी रंग के होते हैं। पहला पानी बरसते ही मादा दिखाई देती है। नवजात इल्ली प्रारंभ में घास-पात पर जीवन-निर्वाह करती है और तब फसल पर हमला करती है। यह बहुत तेजी से बढ़ती है और पीले बालों के कारण सरलता से पहचानी जा सकती है। ये खूब खाती हैं और तीन-साढ़े तीन सप्ताह में पत्तों को चट कर जाती है। लगभग अढ़ाई इंच लम्बी बढ़ जाने पर यह जमीन पर या सूखे पत्तों में कोश बनाती है। एक साल में एक ही पुश्त पूरी होती है।

कम्मल लगे हुए खेतों की फसल निकाल लेने के बाद शीघ्र ही जुताई कर देनी चाहिए ताकि कोशावस्था-स्थित प्राणी जमीन की सतह पर आ जाय और धूप और ठंढ से नष्ट हो जाय। खेत में और उसके आसपास की जमीनों पर का घास-पात नष्ट कर देने और गहरी जुताई करने से कीड़ों की संख्या बहुत ही घट जाती है।

उपचार—खेतों में कंदील जलाकर पूर्णावस्था प्राप्त कीड़े नष्ट किए जा सकते हैं। कीट-ग्रस्त खर-पतवार को तुरन्त ही उखाड़ कर जला दिया जाय। यह कीड़ा सन की फसल को ज्यादा पसंद करता है। ज्वार की फसल के आस पास सन की फसल बोई जाय। नवजात इल्ली सन की फसल पर पहले आक्रमण करती हैं। सन की फसल पर उदर-विष छिड़कना लाभ-दायक है। एक भाग पैरिस ग्रीन चूर्ण को तीस भाग महीन आटे में मिलाकर डस्टर मशीन से सन पर छिड़कना चाहिए। इस काम के लिए चना, ज्वार या बाजरे का आटा उत्तम है। एक एकड़ के लिए लगभग बीस सेर मिश्रण काफी है।

महीन आटा दस भाग और पैरिस ग्रीन एक भाग को मिला कर इसमें महुए के फूल मिला दिए जायं। खेत के चारों ओर एक फुट गहरी नाली खोद कर उसमें इन्हें डाल दिया जाय। खर-पतवार से उतर कर फसल पर आक्रमण करने वाली इल्लियाँ इन्हें खाकर मर जाएंगी।

हर पोक और साँवरदेही भी ज्वार की फसल को क्षति पहुंचाते हैं। इनके सम्बन्ध में 'धान की फसल के कीड़े' शीर्षक के नीचे विचार किया गया है। साँवरदेही के लिए बतलाए हुए तरीके से ही इनका नाश किया जा सकता है।

लेदा पोका ज्वार पर भी आक्रमण करता है। धान की फसल के कीड़ों के साथ इस पर भी विचार किया जा चुका है। अरकन ज्वार की फसल पर कभी-कभी आक्रमण करता है। यह इस फसल का प्रमुख शत्रु भी नहीं हैं। धान की इल्ली नामक कीड़ा ज्वार पर भी पाया जाता है। इस पर पहले विचार कर आए हैं। एक प्रकार की इल्ली ज्वार के पत्तों को लपेट कर खाती है। किन्तु इससे इस फसल को बहुत ही कम हानि पहुँचती है।

भोंड व गोहला ज्वार की फसल पर पाये अवश्य जाते हैं, किन्तु ये फसल को बहुत ही कम हानि पहुंचाते हैं।

वेट्टी—यह टिड्डा है। दोनों प्रकार की वेट्टी कभी-कभी ज्वार की फसल को बहुत ज्यादा हानि पहुंचाती है। पौधों पर थैली चलाकर इन्हें पकड़ कर जला देना चाहिए। यह प्रकाश की ओर भी आकर्षित होती है। अतएव खेतों में कन्दील जलाकर इसे नष्ट किया जा सकता है।

बूट—यह कई प्रकार का होता है। यह टिड्डा ज्वार के पौधों के सिरे खाता है, जिससे पौधे का वृद्धिशील भाग मर जाता है। मादा मिट्टी में अण्डे रखती है। परी छोटे छोटे पौधों और पत्तों पर जीवन-निर्वाह करती है। यह टिड्डा सभी मौसम में पाया जाता है।

उपचार—छोटे-छोटे खेतों की फसल पर सोमल मिश्रण या लेड आर्सेनेट छिड़का जा सकता है। किन्तु किसान के लिए अपनी जोत के खेतों की फसल पर ओषधि छिड़कना व्यावहारिक नहीं है। थैली से कीड़े पकड़ कर जला देना ही सरल और उत्तम रीति है।

नोट—इस कीड़े के सम्बंध में 'धान की फसल के कीड़े' शीर्षक के नीचे विचार कर आए हैं। यह गन्ने का प्रमुख शत्रु है। अतएव इस पर आगे चलकर विचार किया जायेगा। इससे ज्वार की फसल को बहुत ही कम नुकसान पहुंचता है और यह ज्वार पर अधिक संख्या में पाया भी नहीं जाता है और कभी-कभी ही ज्वार की फसल पर आक्रमण करता है। इसके पंख छोटे होते हैं। यह कई प्रकार का होता है।

उपचार—थैली से पकड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है। धान की फसल के कीड़ों के शीर्षक के नीचे इस कीड़े को नष्ट करने के लिए बतलाए गए उपाय का अवलम्बन किया जाय।

पंख रहित टिड्डा—ज्वार, बाजरा तथा तृण वर्ग के पौधों को यह ज्यादा हानि पहुँचाता है।

उपचार—मादा, खर-पतवार या जंगली पौधों पर अण्डे रखती है। अतएव खेत में आसपास की जमीन पर घास-पात और अन्य जंगली पौधे नहीं रहने दिए जायँ। खेत में मुर्गा-मुर्गी छोड़ने से वे कीड़ों को मार डालेंगे। फसल पर थैली चलाकर कीड़ों को एकत्रित करके जला देना चाहिए।

पिहिका—इस पर अन्यत्र विचार कर आए हैं। यह धान पर भी पाया जाता है। फसल निकाल लेने के बाद, खेत में खड़े हुए पौधों के अवशेषों को जला देना चाहिए।

अहोल—यह ज्वार बोये जाने वाले सभी भागों में पाया जाता है। यह मक्का और ज्वार की फसल का ही प्रमुख श॰ु है और गन्ना पर भी आक्रमण करता है।

मादा, पत्ते पर पास-पास अण्डे रखती है। इल्ली, तने में छेद करके भीतर घुस जाती है और भीतर ही भीतर तने को खोखला करती रहती है। कभी-कभी खेत के सभी पौधों पर कीड़ा लग जाता है। कभी-कभी एक ही पौधे के तने में कई इल्लियाँ देखी जाती हैं।

उपचार—इल्ली तने के अन्दर रहती है। अतएव कीट-नाशक ओषधि छिड़कने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। फसल निकाल लेने के बाद, खेत में खड़े छूटे हुए पौधों के अवशेषों को एकत्रित करके जला देने या चूल्हे में ईंधन की तरह जलाने से कीड़े नष्ट हो जाते हैं। किन्तु इस उपाय का अवलम्बन करने से भी विशेष लाभ हो नहीं सकता है। कारण कि ज्वार की करवा पशुओं को खिलाई जाती है अतएवं किसान करवी को एक लम्बे समय तक संग्रहित रखता है। करवी से आड़ करने के लिए टट्टियाँ बनाई जाती हैं और कभी-कभी इसकी छोई से मकान व झोंपड़े छाये जाते हैं। मकान छाने के लिए राड़े का ऊपर का छिलका निकाल लेने के बाद बचे हुए भाग को जला ही देना चाहिए।

इस कीड़े पर 'गन्ना के शत्रु' शीर्षक के नीचे आगे चलकर लिखा गया है।

भोंडी (Beetle)—तेला भोंडी औरअन्य कई जाति की भोंडियाँ ज्वार के भुट्टे पर आक्रमण करती हैं। ये फूलों का पराग तो खाती ही हैं, किन्तु साथ ही नवजात दानों को छेद करके खाती है, जिससे पैदावार बहुत घट जाती है। हाथ की थैली से पकड़ कर नष्ट कर देना ही एक मात्र उपाय है, किन्तु व्यावहारिक नहीं।

मेकली—यह कोठारों में भरे हुए नाज पर ही हमला करता है। धान की बाली या ज्वार के भुट्टे पकते ही, यह कीड़ा उन पर जम जाता है और नाज के साथ गोदाममें पहुँच जाता है और तब नाज को नष्ट करने में जुट जाता है।

स—रस चूसने वाले कीड़े

सूंधिया, दोनों प्रकार की गन्ना मक्खी, लही, लाखी आदि पौधों का रस चूसते हैं, जिससे वह कमजोर हो जाते हैं और बाली या भुट्टे में दाने नहीं भरते हैं। रोग-ग्रस्त पौधों को काटकर पशुओं को खिला देना चाहिए।

बाजरा की फसल के कीड़े

ज्वार पर आक्रमण करने वाले कीड़े बाजरा पर भी

आक्रमण करते हैं। दीमक और सभी प्रकार के कांसिया की इल्ली (इसको पाँव नहीं होते हैं) बाजरा की जड़ों को खाती हैं। इन पर "गन्ना के शत्रु" शीर्षक के अन्तर्गत लिखा गया है।

मक्का की फसल के कीड़े

भारत के उत्तरी भाग में मक्का एक प्रमुख खाद्यान्न है। इस पर आक्रमण करने वाले कीड़ों के सम्बंध में धान, ज्वार, और गन्ना शीर्षकों के अन्तर्गत लिखा गया है।

हरपोक और सांवरदेही के सम्बंध में पहले लिख आए हैं। इल्लियाँ पत्तों के कोष में रहती हैं। मिट्टी के तेल में भीगी हुई राख या महीन धूल कोष में डालने से इल्लियाँ मर जाती हैं।

धान व ज्वार की फसलों पर आक्रमण करने वाले कीड़ों के अलावा दूसरे भी कुछ कीड़े मक्का की फसल को नाम मात्र की क्षति पहुँचाते हैं। अतएव इनपर यहाँ कुछ लिखना उचित नहीं समझा गया है।

गेहूँ की फसल के कीड़े

अ—नवजात पौधों के कीड़े

बूट—बूट और दूसरे कुछ टिड्डे बाल-पौधों को खाते हैं, जिससे कभी-कभी बहुत ज्यादा नुकसान उठाना पड़ता है। थैली से पकड़ कर मार डालना ही एक मात्र उपाय है।

गोदला—पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा मट्टी के ढेलों के नीचे छुपा रहता है और पौधे के लगभग एक बालिश्त ऊँचा बढ़ने तक पौधों को काटता रहता है। कद्दू या बेल के फलों को चीर कर जगह-जगह खेत में शाम के वक्त रख दिया जाय। रात भर में पूर्णावस्था प्राप्त बहुत से कीड़े इन पर एकत्रित हो जाएँगे। सूर्योदय होने से पहले इन कीड़ों को एक थैली में एकत्रित करके मार डाला जाय।

लेदा पोका—धान के कीड़ों पर विचार करते हुए इस कीड़े पर लिखा जा चुका है। किन्तु यह गेहूँ का शत्रु नहीं है।

दीमक—दीमक जमीन के अन्दर उपनिवेश बना कर रहती हैं। दीमक के बिमटा का कुछ भाग जमीन के बाहर भी निकला रहता है। दीमक की कुछ उपजातियाँ ऐसी भी हैं, जिनका बिमटा जमीन के अन्दर ही रहता है। उपनिवेश में रास्ते, गैलरी आदि बने रहते हैं। मादा लगभग एक बालिश्त लम्बी होती है और अण्डे देना ही उसका एक मात्र काम है। शेष सब काम मजदूर दीमक ही करती हैं। मजदूर को पंख नहीं होते हैं। छत्ता बनाना, अण्डे सेना, शिशु-पालन, अन्न-संग्रह आदि छत्ते का सभी काम मजदूर ही करते हैं। फरनीचर आदि नष्टकरने में मजदूर दीमक का ही हाथ है।

दीमक की कई उप-जातियाँ हैं। इनके रहन-सहन, छत्ते की बनावट, शरीर की रचना, नुकसान करने का तरीका आदि में भी भिन्नता है। भारत में पाई जाने वाली दीमक की उप-जातियों का अध्ययन किया ही नहीं गया है। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, कि किस उपजाति की दीमक, किस फसल को, किस रीति से हानि पहुँचाती है। दीमक की कुछ उप-जातियाँ जमीन में छोटे-छोटे उपनिवेश बनाकर रहती हैं। छत्ते का कोई भाग जमीन से ऊपर नहीं उठा रहता है। अतएव इन उपजातियों की दीमक को नाम-शेष करना असंभव-सा ही है। कारण कि इनके छत्तों का पता ही नहीं चलता है। गहरी जुताई करने से दीमक का कार्य अव्यवस्थित हो जाता है, जिससे थोड़े समय के लिए फसल की रक्षा हो जाती है। नवजात पौधों की जड़ों पर ही दीमक आक्रमण करती है। अनुभव से पाया गया है कि, भारी जमीन की अपेक्षा हलकी जमीन में बोये गए गेहूँ को दीमक से बहुत अधिक हानि पहुँचती है।

उपचार—दीमक को नष्ट करना असंभव नहीं, तो कमसे कम अत्यन्त कठिन अवश्य है। दीमक के छत्तों का

पता लगाकर जमीन खोदकर रानी मादा को मार डालना ही सर्वोत्तम उपाय है किन्तु जिन उपजातियों के छत्ते जमीन से ऊपर नहीं उठे रहते हैं, उनका पता चला लेना अत्यन्त कठिन है।

(२) खेत में फसल के अवशेष और बिना सड़ी या कम सड़ी खाद मौजूद रहने पर दीमक का उपद्रव बढ़ जाता है। अतएव पूरी तरह सड़ी हुई खाद ही खेतों में डाली जाय। करंज, नीम, अरण्डी, पोस्ता आदि की खली की खाद देने से दीमक का उपद्रव बहुत ही कम हो जाता है।

बगीचों तथा छोटे-छोटे खेतों में सिंचाई की नाली में हींग और नमक को कपड़े में बाँधकर डालने या पानी में क्रूडऑइल इमलशन मिलाने से थोड़े समय के लिए दीमक का उपद्रव कुछ कम हो जाता हैं।

(३) दीमक के छत्ते में मट्टी का तेल या उबलता हुआ पानी डालने से भी उपद्रव कम हो जाता है।

कई प्रकार के कीड़े पत्ते और नवजात पौधों पर हमला करते हैं। जिन कीड़ों से फसल को ज्यादा नुकसान पहुँचता है और जो वास्तव में गेहूँ के शत्रु माने जा सकते हैं, उन्हीं के सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखा गया है।

डरपोक और साँवर देही—दोनों ही गेहूँ के खेत में बहुतायत से पाए जाते हैं। किन्तु ये इस फसल के प्रमुख शुत्रुओं में से नहीं हैं।

विट्टी और अन्य कई टिड्डे अक्सर गेहूँ की फसल को थोड़ी बहुत हानि प्रतिवर्ष पहुँचाते हैं।

पिहिका—दोनों ही प्रकार के पिहिका गेहूँ के तने में छेद करते हैं। ये भारत के गेहूँ बोए जाने वाले सभी भागों में पाये जाते हैं। फसल निकाल लेने के बाद खेत में खड़े हुए फसल के अवशेषों को जला ही देना चाहिए।

तने में छेद करने वाला कीड़ा—वक पच्च का एक कीड़ा धान ज्वार, मक्का, गन्ना, गिनी घास आदि पर जीवन-निर्वाह करता है। यह तने में घुस कर उसे खोखला कर देता है, जिससे बालियों में दाना नहीं भरता है।

मादा पत्ते पर पास-पास अण्डे रखती है इल्ली का सिर हलका पीला और शरीर लाली लिए रहता है। यह तने के अन्दर ही कोशावस्था व्यतीत करता है। पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी सूखे हुए घास के रंग का होता है। यह कीड़ा शीतकाल में गेहूँ पर जीवन-निर्वाह करता है और गरमी वर्षा में ज्वार, धान, गन्ना आदि पर रहता है।

उपचार—सूखे हुए पौधों को उखाड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है किन्तु ऐसा करना व्यावहारिक नहीं है। फसल निकाल लेने पर खेत में खड़े हुए डंठलों पर नए पत्ते निकल आते हैं; अतएव फसल निकाल लेने के बाद शीघ्र ही उन्हें जलाकर हल दे देना चाहिए।

सुंधिया और इसी प्रकार के कुछ कीड़े गेहूँ के पौधों का रस चूसते हैं। किन्तु इन्हें फसल का शत्रु नहीं कहा जा सकता है।

चिकटा—गेहूँ के पौधों पर एक प्रकार का चिकटा लगता है। भारत के कुछ भागों में गेहूँ की फसल के बीच-बीच में या आस पास राई-सरसों बोते हैं। इन पर गोधी (coccinellids) हमला करता है। गोधी चिकटा को खाता है। चिकटा का आक्रमण होते ही गोधी उन पर टूट पड़ता है, जिससे फसल, बिना प्रयास ही, बच जाती है।

चींटी—खलिहान में फसल आने और गोदामों में भरी जाने से पहले एक प्रकार की चींटी ([Holcomyrmex Scabriceps) किसानों का बहुत ज्यादा नुकसान करती हैं। ये खलिहान में से नाज के दाने ले जाकर अपने छत्ते में एकत्रित करती हैं। यह खेत में बोये गए बीजों को भी ले जाती है। अतएव बीज के लिए रखे गये नाज में नेप्थलीन या कोई ऐसा पदार्थ मिला दिया जाना चाहिए, जो चींटी के भक्ष्य को कुस्वादु बना दे। खलिहान में होने वाले नुकसान को रोकने का कोई उपाय ही नहीं है।

जौ की फसल के कीड़े

भारत में जौ की फसल पर बहुत ही कम कीड़े हमला

करते हैं। लेदा पोका छोटे पौधों पर हमला करता है। और दीमक अधिकतर छोटे पौधों की जड़ें काटती है। इन पर अन्यत्र लिखा गया है।

रागी, कोदों, ओट, सामा आदि कई तृण-वर्ग की फसलें भारत के भिन्न-भिन्न भागों में बोई जाती हैं। ज्वार, बाजरा आदि पर आक्रमण करने वाले सभी अधिकांश कीड़े इन फसलों को भी क्षति पहुँचाते हैं। इन सभी कीड़ों पर पहले लिख आए हैं। पुनरुक्ति होने के कारण उन पर फिर से विचार नहीं किया गया है।

घास के कीड़े

भारत के चरागाहों में उगे हुए घास को हानि पहुंचाने वाले कीड़ों पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। जिन भागों में चरागाहों की कमी है, उन भागों में चरागाह में उगे हुए या उगाये गए घास के शत्रुओं को नाम-शेष करना अनिवार्य है।

दीमक की कुछ उपजातियाँ घास की जड़ों को खाती हैं, जिससे पौधे मर जाते हैं। लेदा पोका धान के अलावा घास पर भी जीवन-निर्वाह करता है। लेदा पोका और अरकन पर पहले लिख आए हैं। एक प्रकार का भुल्ल, दूब की जड़े खाता है। कौए आदि पक्षी इन कीड़ों को खाते हैं।

गिनी घास, रिजका, बेरासिम, शफताल आदि पशुओं को खिलाने के लिए बोए जाते हैं। नियमित रूप से पौधों को काट कर पशुओं को खिलाते रहने से कीड़ों की प्रजावृद्धि नहीं हो पाती है।

विहिका, अरकन, जूरी, भुल्ल, तेल चटका, लाल भोंडी, एक प्रकार का गोदला, तिलंगा और चिकटा की उपजातियों के कीट इन पर आक्रमण करते हैं। इनपर पहले लिख ही आए हैं। तदनुसार उपाय-योजना भी की जानी चाहिए।

गन्ना की फसल के कीड़े

अ—गन्ने के टुकड़े (बीज) पर लगने वाले कीड़े

दीमक—गन्ने के छोटे छोटे टुकड़े ही खेत में बोए जाते हैं। टुकड़ों को मिट्टी में गाड़ने के बाद दीमक उन पर आक्रमण करती है, जिससे नवजात अंकुर नष्ट हो जाते हैं। गन्ने के बाद टुकड़ों को दीमक से बचाने की अपेक्षा इन टुकड़ों पर निकले हुए अंकुरों की रक्षा का प्रश्न ही विशेष महत्व रखता है। इस सम्बंध में भिन्न-भिन्न कृषि अनुसंधान-शालाओं द्वारा प्रयोग किए जा चुके हैं और अभी भी किए जा रहे हैं।

पूसा में किए गए प्रयोगों से पाया गया कि, दो गैलन पानी में एक पौंड लेड आर्सेनेट मिलाकर तैयार किए गए मिश्रण में गन्ने के टुकड़े डुबाकर बोने से नवजात अंकुरों की कुछ हद तक रक्षा हो जाती है। पंजाब में क्रूड-ऑइल इमलशन फायदेमंद साबित हुआ है। किन्तु बोने के बाद की जाने वाले सिंचाई के पानी द्वारा लगभग २५ दिन तक क्रूड-ऑइल-इमलशन दिया जाना अनिवार्य पाया गया है। सिंचाई के पानी के साथ क्रूड-ऑइल-इमलशन देना ही एक मात्र उपाय है। सोमल या लेड आर्सेनेट-जैसे जहरीले पदार्थों का उपयोग करना खतरे से खाली नहीं है।

ब—अंकुर पर आक्रमण करने वाले कीड़े

घुर घुरा—यह जमीन के अन्दर डेढ़-दो फूट की गहराई पर रहता है। यह नवजात पौधे के वृद्धिशील कोमल तने को काटकर भीतर का कोमल भाग खाता है, जिससे पौधे का बढ़ने वाला भाग सूख जाता है। बढ़ने वाले भाग को मुरझाया हुआ देखकर यह खयाल होता है कि अहोल या गिरार लग गया है। जमीन में अधिक गहराई पर रहने के कारण इसको नष्ट करना संभव नहीं है। खेतों में खूब पानी सींचने से बिल में पानी भर जाता है जिससे घुरघुरा जान बचाने के लिये बिल छोड़कर भाग खड़ा होता है और अनायास ही पक्षियों का भोजन बन जाता है।

मिलोसीरस—तीनों ही प्रकार का प्राणी अंकुर के कोमल पत्ते खाता है। इनकी संख्या अत्यधिक बढ़ जाने पर फसल को हानि पहुंचती है। किन्तु ये कभी कभी ही शत्रु रूप में आक्रमण करते हैं।

पपुआ—इस कीड़े का लैटिन नाम पपुआ डिप्रेसीला (Papua depressella) है। स्थानीय नामों का पता न चलने के कारण ही यह नाम अपनाना पड़ा है, यह नये बोए गए साँठे के टुकड़ों पर उगे हुए नवाँकुरों में ही छेद करता है, जिससे अंकुर मर जाता है। यह गन्ने की जड़ों में भी छेद करता है, जिससे अंकुर मर जाता है। यह गन्ने की जड़ों में भी छेद करता है। जड़ी (Ratoon) साँठे की फसल पर यह बहुत ज्यादा संख्या में पाया जाता है।

मादा, पत्ता या तने पर एक-एक अण्डा दूर दूर रखती है। इल्ली, बाजू की ओर से नवाँकुर या कोमल तने को छेद कर भीतर प्रवेश करती है। यह तने के अंदर ही कोश बनाती है। अंकुर या तने को, आस पास की मिट्टी हटाकर झटके के साथ बाजू की ओर खींचने से वह गन्ने के टुकड़े से अलग हो जाता है और इसके साथ ही इल्ली भी निकल आती है। इसको नष्ट करने का यही एक मात्र उपाय है।

स—तने में छेद करने वाले कीड़े

अहोल—गन्ना के तने में छेद करने वाले कीड़ों का वर्गीकरण करने और उनकी जाति-उपजाति, आदि निश्चित करने का काम अभी तक सम्पूर्ण नहीं हो पाया है। प्रारंभ में, ज्वार, मक्का, गन्ना आदि के तने में छेद करने वाली सभी इल्लियाँ घिरई (moth Borer) मानली गई और उन सबको अहोल में शुमार कर लिया गया। इस सम्बंध में अनुसंधान किए जाते रहे हैं। किन्तु फिर भी अभी बहुत कुछ करना शेष है। यह तो निश्चित है कि अहोल और गिरार एकही उपजाति की हैं और दूसरे कुछ कीड़े दूसरी जाति के हैं।

गन्ने में छेद करने वाले कुछ प्राणी ऐसे हैं, जो मक्का, ज्वार आदि पर शायद ही कभी आक्रमण करते हैं। अहोल, गन्ने पर भी आक्रमण करता है, किन्तु ज्वार और मक्का ही इसके मुख्य भोजन हैं। सुभीते की दृष्टि से अहोल, गिरार आदि सभी प्रकार की घिरई को एकत्रित कर अहोल नाम दे दिया गया है। भारत के भिन्न भिन्न भागों में ये जुदे जुदे नामों से पुकारे जाते हैं। इस नामकरण में वैज्ञानिक दृष्टि का एक दम अभाव है। अतएव किसानों द्वारा दिए गए नामों को वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया नामकरण नहीं मान लिया जाना चाहिए।

तीन प्रकार की इल्लियाँ तने में छेद करती हैं। इनसे फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचता है। इल्ली तने में छेद कर भीतर घुस जाती है और भीतर ही भीतर उसे खाती हुई नीचे की ओर को बढ़ती है। पौधे का बढ़ने वाला भाग मुरझा जाता है, जिससे बाढ़ रुक जाती है। नष्ट हुए पौधे के पास ही तब नया अंकुर फूट निकलता है। इल्ली द्वारा खाए हुए पौधे को जमीन के बराबर से काटकर चीर कर इल्ली को मार डालना चाहिए। घिरई एक से अधिक पौधों को हानि पहुँचाती है।

फसल बोने से पहले खेत में के ज्वार, गन्ना, मक्का आदि के अवशेष एकत्रित करके जला दिए जाने चाहिए। गन्ने के खेत में मक्का बोई जाय। घिरई का आक्रमण होने पर मक्का के पौधों को काट कर पशुओं को खिला दिए जायँ या जला दिये जायँ। कुछ इल्लियाँ ज्वार और मक्का पर आक्रमण नहीं करती हैं। इनको नष्ट करने का एक मात्र उपाय है, कीट-ग्रस्त पौधों को जमीन के बराबर से काट कर इल्ली को निकालकर मार डाला जाय। पौधों को काटने से एक लाभ यह होगा कि कई नये अंकुर फूट कर वृद्धि पायँगे, जिससे पैदावार काफी बढ़ जाएगी।

मेजरा—दो प्रकार के मेजरा की इल्लियाँ तने में छेद करती हैं। अण्डे सरलता से नजर आ जाते हैं। अण्डों को एकत्रित करके जला देना ही उत्तम है। इल्ली तने में घुस कर भीतर ही भीतर उसे खाती है, जिससे पौधे के बढ़ने वाले भाग मुरझा जाते हैं। कीट-ग्रस्त पौधों को जमीन के बराबर से काटकर इल्ली को मार डालना चाहिए। मेजरा ही सबसे पहले सुप्तावस्था त्याग कर बाहर निकलता है और सबसे पहले नवजात पौधों पर आक्रमण करता है। देश के

कुछ भागों में ये बड़े पौधे पर भी आक्रमण करते हैं।

पिहिका—दोनों प्रकार के पिहिका की इल्ली गन्ने में छेद करती है। ये ज्वार, बाजरा, मक्का, धान, रागी, गिनीघास, आदि पर भी पाए जाते हैं।

भोमरा—भारत में शायद ही कभी यह कीड़ा गन्ने पर आक्रमण करता है। विदेशों में यह गन्ने पर आक्रमण करता है। संभव है, भारत में भी यह गन्ने के तने में छेद करता हो, किन्तु अभी तक पकड़ा न गया हो। अतएव इसका नामोल्लेख मात्र कर दिया है।

ङ—जड़ों पर आक्रमण करने वाले कीड़े

भिन्न-भिन्न प्रकार की इल्लियाँ गन्ने की जड़ों पर हमला करती हैं, किन्तु इनसे फसल को बहुत ही कम नुकसान पहुँचता है। इसलिए इन पर यहाँ कुछ नहीं लिखा गया है।

दीमक—इस पर प्रारंभ में ही लिखा जा चुका है।

कंसिया—तीन-चार प्रकार का कसिया जड़ें खाता है। इन पर भी पहले लिख आए हैं।

फ—पत्ते खाने वाले कीड़े

चोट—इस पर पहले लिख आए हैं। यह अधिकतर धान पर ही आक्रमण करता हैं। यह गन्ना पर भी हमला करता है। कभी-कभी इसका आक्रमण इतना जबरदस्त होता है कि गन्ने की लगभग आधी फसल मारी जाती है।

मादा, मेंड परके घास आदि पर अण्डे रखती है। नवजात इल्ली कुछ दिनों तक घास-पात पर ही जीवन-निर्वाह करती है। अतएव मेंडों पर और आसपास की जमीन पर घास-पात आदि न रहने दिए जायँ। घास-पात और फसल पर थैली चला कर कीड़ा पकड़ा जा सकता है। सनलाइट-सोप का मिश्रण छिड़कना फायदेमंद पाया गया है।

गोपी—'धान की फसल के कीड़े' शीर्षक में इसके सम्बन्ध में लिख आए हैं। यह ज्यादातर गन्ने के पत्ते ही खाता है। इससे गन्ने की फसल को बहुत कम हानि पहुँचती है।

भोंड—इल्ली, पत्तों में छेद करती है और पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा पत्ते खाता है। कीट-ग्रस्त पत्ते तोड़ कर और पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ों को पकड़ कर जला किया जाना चाहिए।

गंधिया—यह नाम मात्र की क्षति पहुँचाता है।

तेल चटका—यह गन्ने के पत्ते खाता है। किन्तु इससे फसल को ज्यादा हानि नहीं पहुँचती है।

ज—रस पीने वाले कीड़े

गन्ना मक्खी—मक्खी गन्ना का रस पीती है, जिससे रस में का शर्करांश घट जाता है। मादा, पत्ते पर सफेद अण्डे रखती है। मक्खी का रंग कुछ सफेद होता है। त्वक्पक्ष के कुछ कीड़े इसके शत्रु हैं। काले रंग का एक परोपजीवी कीड़ा इस मक्खी की देह में अण्डा रखता है। अण्डे में से निकली हुई इल्ली, मक्खी के शरीर को खाकर वृद्धि पाती है। बाढ़ पूरी हो जाने पर यह इल्ली मक्खी के शरीर में से बाहर निकल कर मिट्टी या सूखे पत्तों में कोश बनाती है। इन परोपजीवी कीड़ों के कारण इस मक्खी की प्रजा-वृद्धि बहुत ही कम होती है।

थाता—यह कीड़ा तीन प्रकार का है। मादा गरमी के मौसम में पौधे के भिन्न-भिन्न भाग पर अण्डे रखती है। परी और टिड्डा पत्तों पर जीवन-निर्वाह करते हैं। ऊँची बढ़ने वाली जाति के नीरोग पौधों पर इस कीड़े के आक्रमण का बहुत कम असर पड़ता है। इनके आक्रमण के कारण रस में शक्कर का परिमाण घट जाता है और गुड़ भी कम और घटिया दरजे का आता है।

उपचार—अण्डे वाले पत्तों को तोड़ कर खेत में ही जगह-जगह ढेर लगा दिया जाय। थाता से अण्डे के पास ही कुछ परोपजीवी कीड़े अण्डे रखते हैं। इन में से निकला हुआ कीड़ा थाता के शिशु को खा जाता है।

एक गैलन (पाँच सेर) पानी में एक औंस (अढ़ाई

तोला) साबुन गलाया जाय। साबुन के पूरी तरह गल जाने पर एक औंस मिट्टी का तेल डालकर तेजी से चलाया जाय। इस मिश्रण से कीड़े मर जाएँगे।

चिकटा, पोपटीमसी, लाही, लद्दी, लाखी आदि छोटे-छोटे कीड़ें पत्तों पर हमला करते हैं। सोन, पांखरू (गोधी) तेला पंखी आदि परोपजीवी कीड़े इन्हें खाते हैं, जिससे ये शीघ्र ही नामशेष हो जाते हैं।

द्विदल वर्ग की फसल के कीड़े

अरहर की फसल के कीड़े

इस फसल के पत्ते खाने वाले कीड़ों की संख्या बहुत अधिक है। और ये सब कीड़े मिलकर प्रतिवर्ष लाखों रुपये कीमत की फसल नष्ट कर देते हैं। किन्तु इन कीड़ों में बहुत ही कम कीड़े ऐसे हैं, जो वास्तव में फसल के शत्रु कहे जा सकते हैं।

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

ईलड़—इसकी इल्ली पौधे के बढ़ने वाले भाग और पत्तों को आपस में बाँधकर एक गुच्छा-सा बना लेती हैं और उसी में बैठकर पत्ते खाती है। यह लगभग सभी जगह पाई जाती है। किन्तु इससे फसल को बहुत कम हानि पहुँचती है। यह ज्यादातर छोटे पत्तों पर ही जीवन-निर्वाह करती है। कीड़ें द्वारा बाँधे गये गुच्छों को तोड़कर जला देना ही एकमात्र उपाय है।

गंधिया—यह शायद ही कभी इस फसल पर आक्रमण करता है। भूला-भटका प्राणी कभी इस पौधे पर जा बैठता है।

ब—फूल खाने वाले कीड़े

तेला—काले और लाल रंग का एक प्रकार का तेला अरहर के फूल खाता है। कभी-कभी ये फूलों पर अधिक संख्या में जमा हो जाते हैं। हाथ थैली से सरलतापूर्वक पकड़े जा सकते हैं। पकड़कर जला देना ही एकमात्र उपाय है।

फूलों पर लही भी आक्रमण करता है, किन्तु इससे विशेष हानि शायद ही कभी होती है।

स—फली खाने वाले कीड़े

जूरी—यह भारत के सभी भागों में पाया जाता है किन्तु नुकसान बहुत ही कम करता है। फसल निकाल लेने के बाद पौधों के अवशेषों को जलाकर तुरन्त ही जुताई कर दी जानी चाहिए। जूरी और इलूड़ी का जीवन-क्रम एक-सा ही है।

ईलूड़ी—द्विदल जाति की फसलों और सन को इससे कभी-कभी बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचता है। यह बाल पर भी पाई जाती है। मादा फली पर अण्डे रखती है। इल्ली फली पर बैठकर और कभी-कभी भीतर घुसकर दाने खाती है। इल्ली के शरीर पर महीन काँटे-से बाल होते हैं। मिट्टी में कोशावस्था बिताती है।

फुदकिया—यह भोंटवा के ही कुटुम्ब का प्राणी है। कीड़ा दाने में ही सुप्तावस्था बिताता है। अतएव कीट-ग्रस्त दाने कदापि नहीं बोये जाने चाहिए। एक बार खेत में प्रवेश पा जाने पर इससे फसल की रक्षा पाना संभव नहीं।

ड—रस चूसने वाले कीड़े

पौधे के बढ़ने वाले भाग पर एक प्रकार का कीड़ा पाया जाता है। कुछ और कीड़े भी पौधों का रस चूसते हैं। किन्तु ये बहुत कम नुकसान करते हैं।

क—तने में छेद करने वाले कीड़े

तिलंगा—यह कभी-कभी ही अरहर के तने पर आक्रमण करता है और इससे फसल को बहुत कम नुकसान पहुंचता है। यह इस फसल पर अधिक संख्या में आक्रमण भी नहीं करता है।

च—जड़ खाने वाले कीड़े

दीमक—इस पर अन्यत्र लिखा गया है।

गिद्री—कभी-कभी यह अरहर की जड़ों पर दिखाई देता है। किन्तु वह कीड़ा वास्तव में जीवन-निर्वाह के लिए इस फसल पर आश्रित नहीं है। भूला-भटका एक आध प्राणी अरहर के आश्रय में पहुँच जाता है।

कोलिया और कम्मल सोयाबीन के पत्ते खाते हैं।

सोयाबीन की फसल के कीड़े

कोलिया जूट पर और सुदुपुची मूँगफली पर भी आक्रमण करता है। इन पर यथास्थान लिखा जाएगा। कम्मल कभी-कभी अवश्य ही इस फसल को ज्यादा नुकसान पहुँचाता है। तिलंगा तने में छेद करता है, जिससे कभी-कभी पौधा मर जाता है।

चना की फसल के कीड़े

अ—छोटे पौधे खाने वाले कीड़े

भुल्ल—यह चार प्रकार का होता है। यह चना, नील, रिजका, तमाखू, पोस्ता (अफीम) गोभी, प्याज और आलू पर भी आक्रमण करता है। मादा एक बार में कई सौ अण्डे रखती है। कीड़ा दिन में, खेत की दरारों और सूखे पत्तों में छुपा रहता है और रात को बाहर निकल कर डालियाँ काटकर अपने बिल में खींच ले जाता है। यह खाता कम और नुकसान ज्यादा करता है। मध्य-शिरा को छोड़कर पत्ते का शेष सब भाग खा लेता है। पौधे के आसपास की मट्टी हटाकर कीड़ा अनायास ही पकड़ा जा सकता है।

उपचार—पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा प्रकाश की ओर आकर्षित होता है। इस उपाय का अवलम्बन करके जितनी ज्यादा मादाएँ मारी जा सकें, उतना ही अच्छा है। मिट्टी में ही कोशावस्था व्यतीत की जाती है।

दो सेर आटा, दो सेर गुड़ और एक छटाँक सोमल मिलकर दो सेर पानी में सानकर गोलियाँ बनाली जायँ। इनको खेत में डाल देने से कीड़ा इनको खाकर मर जाएगा। सोमल और गुड़ मिला हुआ आटा सूखा ही जगह जगह खेतों में डाल देने से भी काम बन जाता है।

अरकन और हरपोक भी चने पर आक्रमण करते हैं। किन्तु ये इस फसल के शत्रु नहीं हैं। और इनसे फसल को नाम-मात्र की क्षति पहुँचती है। बूट को थैली से पकड़कर मार डालना चाहिए।

ब—घेंटी पर आक्रमण करने वाले कीड़े

जूरी—यह इस फसल का एक प्रमुख शत्रु है। कहीं-कहीं तो इसके आक्रमण के कारण चने की फसल बोना असम्भव-सा होता है। मादा घेंटी या फली पर एक-एक अण्डा रखती है। अण्डे में से हरापन लिए हुए पीले रंग की इल्ली निकलती है। लगभग एक मास की अवस्था होने के बाद मादा मिट्टी में कोशावस्था बिताती है और लगभग एक सप्ताह के बाद पंखी बाहर निकल आती है। यह कीड़ा अरहर, तमाखू, टमाटर, मक्का, बाजरा, रिजका, लहसुन, आदि फसलों पर भी आक्रमण करता है। एक दल वर्ग की फसलों को छोड़कर अन्य लगभग सभी फसलों पर यह हमला करता है। अमेरिका में तो यह कपास की ढेंढुई भी खाता है। कभी-कभी यह अपने सजातीय कीड़ों को भी खाता है।

उपचार—इल्ली घेंटी या फली में छेद करके भीतर सिर डाल कर दाने खाती है। खेतों में कीट-नाशक सांसर्गिक औषधि छिड़कना संभव नहीं है और न हाथ से पकड़ कर मारना ही संभव है। फसल निकाल लेने के बाद हल से जुताई कर देने से मिट्टी के अन्दर दबे हुए कोश सतह पर आ जाते हैं, और तब अनायास ही पक्षी या धूप द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

काला झिंगुर—इस कीड़े पर अन्यत्र लि I गया है। यह कभी-कभी फसल को ज्यादा नुकसान पहुँचाता है। यह कीड़ा शाकाहारी और मांसाहारी है। चने के

पौधे पर आक्रमण करने वाली इल्लियों को खाकर यह किसान का हित साधन करता है; किन्तु साथ ही स्वयं भी फसल को हानि पहुँचाता है।

तेलन—टिड्डों के अण्डे को खाकर कृषकों का हित साधन करता है। किन्तु साथ ही खुद भी पौधे खाता है।

कुछ अन्य कीड़े चने की जड़ें काटते हैं। किन्तु इनके सम्बंध मेंबहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकती है। दीमक पर पहले लिखा चुका जा है।

उड़िद और मूंग की फसल के कीड़

उड़िद और मूंग को हानि पहुँचाने वाले कीड़े एक-से ही हैं। अतएव इन पर साथ-साथ ही लिखा जा रहा है।

अ—पत्ते खाने वाले कीड़े

कोलिया—यह बहुत ज्यादा पत्तों को खाकर साफ कर देता है।

अरकन—कोलिया के बाद अरकन ही, पत्ते खाने वाले कीड़ों में प्रमुख है। इल्ली को हाथ से पकड़ कर मारना ही एक मात्र उपाय है।

मूंगेरा—फली के अंदर घुस कर दाने खाने वाली तीन-चार प्रकार की इल्लियों को मूंगेरा ही कहते हैं इल्ली फली के अंदर घुस कर दाने खाती है। और इनको मध्य भारत में मंगेड़ी, मंगरी, और मेंगड़ी कहते हैं। इनसे फसल को बहुत ही कम हानि पहुँचती है।

ब—रस चूसने वाले कीड़े

सुंधिया और अन्य दो-तीन कीड़े पौधों का रस-पान करते हैं। चिकटा भी पत्तों पर जम जाता है। इनसे फसल को बहुत कम नुकसान पहुँचता है। अतएव इनका नामोल्लेख मात्र कर दिया है।

स—तना में छेद करने वाले कीड़े

दो प्रकार के कीड़े तने में छेद करते पाए गए हैं। मुरझाए हुए पौधों को जड़ समेत उखाड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है। उनसे फसल को मामूली नुकसान पहुँचता है।

मोठ की फ़सल के कीड़े

अरकन और कम्मल इस फसल के पत्ते खाते हैं। प्रकाश करके कम्मल की पंखों को पकड़ कर सरलता से मारा जा सकता है।

द्विदल वर्ग की अन्य फसलों पर पाए जाने वाले सभी प्रकार के कीड़े मोठ पर भी आक्रमण करते हैं। इन पर अन्यत्र लिखा जा चुका है।

सेम या लवलव की फसल के कीड़े

सेम को गुजरात में वाल और बंगाल में शिमा कहते हैं

दीमक :—नवजात पौधों की जड़ें खाती है।

अ :—पत्ते खाने वाले कीड़े

कोलिया :—इससे कई भागों में इस फसल को बहुत ज्यादा हानि पहुँचती है।

कम्मल :—इसे नामशेष करने के लिए खेतों में गैस का दीया जलाना बहुत ही लाभ-दायक है। कंदील का प्रकाश बहुत मंदा होने के कारण कीड़े अधिक संख्या में प्रकाश की ओर आकर्षित नहीं होते हैं। मादा-एक बार में लगभग सात सौ अण्डे देती हैं। अतएव ज्यादा से ज्याका संख्या में मादाओं को नष्ट करना आवश्यक है। सन और कपास की फसल पर थैली चला कर और गैस का दिया खेतों में रखकर कीड़े नष्ट करने से अति शीघ्र लाभ होता है। किन्तु एक दूसरे प्रकार के कम्मल की मादा प्रकाश की ओर बहुत कम संख्या में आकर्षित होती हैं। इनको नष्ट करने के लिए हाथ-थैली से पकड़ना ही एक मात्र उपाय है।

पड़विच्छू—इल्ली बहुत बड़ी होती है। इसके सिर पर सींग होता है। यह सरलता से पहचानी जा सकती है। इल्ली को हाथ से पकड़ कर मार डालना चाहिए।

ब—अंकुर में छेद करने वाला कीड़ा

तिलंगा—पौधे के वृद्धिशील भाग में छेद करने वाले कीड़ों में तिलंगा का एक प्रमुख स्थान है।

अन्य कुछ कीड़े भी तने में छेद करते हैं, किन्तु इनसे फसल को साधारण हानि पहुँचती है। कीट-ग्रस्त भाग को कीड़े समेत तोड़कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

स—फली और दाना खाने वाले कीड़े

फली में छेद करके दाना खाने वाले कीड़ों का वर्णन चना और अरहर फसलों के कीड़े शीर्षक में कर आए हैं।

भोंटवा—चंवला पर पाए जाने वाले भोंटवा से लबलब पर पाया जाने वाला भोंटवा भिन्न प्रकार का है। फसल खेत में खड़ी होती हैं, तभी यह आक्रमण करता है। फली पर आठ-दस तक अण्डे रखे जाते हैं। अभी इस कीड़े सम्बंधी खोज जारी है।

चिकटा—इसके आक्रमण से पौधा कमजोर हो जाता है।

कुलथी, खेसारी, चंवल, गुवार, मटर, बड़ासेम आदि द्विदल वर्ग की फसलों पर लगभग वही सब कीड़े पाए जाते हैं। ये फसलें भी उतने महत्त्व की नहीं, अतएव इन फसलों के सम्बंध में यहाँ कुछ नहीं लिखा गया है।

सन की फसल के कीड़े

सन की फसल रेशे के लिए और हरीखाद के लिए बोई जाती है। यह द्विदल जाति का ही पौधा है। अतएव इस पर इसी शीर्षक में विचार किया गया है।

अ—नवजात पौधे के शत्रु

बोट—कई प्रकार का बोट नवजात पौधों का नष्ट करता है थैली चलाकर ही यह पकड़ा जा सकता है।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

यूटेथीसा—(सेंगा, या छेंगा) इस कीड़े का लैटिन नाम यूटेथीसा पलचेला (Utetheisa Pulchella) है। यह सन का प्रमुख शत्रु है। यह पत्ते और बीज खाता है।

मादा पत्ते पर अण्डे रखती है। इल्ली पत्ते को लपेट कर उसी के अन्दर बैठ कर पत्ते खाती है। लपेटे हुए पत्ते या मट्टी में कोशावस्था व्यतीत की जाती है। मादा दिन में बहुत चपल होती है और हाथ थैली से मुश्किल से पकड़ी जा सकती है। यह प्रकाश की ओर आकर्षित भी नहीं होती है।

उपचार—खेत और उसके आस पास की जमीन साफ रखी जाय। छोटे पौधों पर थैली चलाकर कीड़ा पकड़ा जा सकता है और ओषधि भी छिड़की जा सकती है किन्तु पौधों के बड़े हो जाने पर ये दोनों ही उपाय बेकार हो जाते हैं। फसल-चक्र (Crop Rotation) को अपनाने से कीड़े की प्रजावृद्धि एक हद तक रोकी जा सकती है। यह कीड़ा स्थानान्तर करने का आदी (Migratory habit) है। यह कुछ जंगली पौधों (घुरघुरी) आदि पर भी जीवन निर्वाह करता है। कुछ परोपजीवी कीड़े इसके शत्रु हैं। पक्षी भी इन्हें खाते हैं।

इल्ली और तितली बार बार रंग बदलती रहती हैं। आगे के पंखों पर लाल धारियों के स्थान पर काले निशान हो जाते हैं और कभी कभी अन्य रंग की धारियां और धब्बे बन जाते हैं। कभी कभी काले निशान कायम रह जाते हैं और लाल निशान एक दम गायब हो जाते हैं। अतएव उपाय योजना करते समय इस पर ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

कम्मल—इस पर पहले लिख आए हैं।

गोदला और मिलो सीरस से फसल को बहुत ही कम हानि पहुँचती है।

तेला—यह सन के फूलों को खाता है।

स—तना में छेद करने वाले कीड़े

लैस्पेरेसिया—इसका लैटिन नाम (Laspeyre-

sia pseudonectis) है। स्थानीय नाम का पता न चल सकने के कारण यह नाम अपनाना पड़ा है। यह दो प्रकार का है। इल्ली पौधे के बढ़ने वाले भाग में छेद करके तने में घुस जाती है। इल्ली जिस जगह छेद करती है, वहाँ छोटी-सी गाँठ-सी बँध जाती है। तने पर जगह जगह गाँठें बँध जाने से सन का रेशा खराब हो जाता है। इल्ली इस गाँठ के भीतर रह कर ही तने को खाती है और कोशावस्था भी गाँठ में ही बिताती है। प्रारंभ में इल्ली का रंग हरा होता है और कोश बनाने का समय पास आने पर उसका रंग लाल हो जाता है। कीड़ा सुप्तावस्था में इल्ली के रूप में ही रहता है।

उपचार—गाँठ वाले भाग को पौधे पर से काट कर जला दिया जाय। फसल निकाल लेने के बाद पौधे का कोई अवशेष खेत में न रहने दिया जाय।

तिलंगा—इससे भी फसल को थोड़ी बहुत हानि पहुंचती है।

ड—फली और बीज खाने वाले कीड़े

यूटेथीसा पर पहले लिख आए हैं। जूरी और सुन्धिया भी सन पर आक्रमण करते हैं। किन्तु इन से फसल को मामूली हानि पहुंचती है।

नील की फसल के कीड़े

अ—नवजात पौधों के कीड़े

बूट—कभी कभी यह नवजात पौधों को नामशेष कर देते हैं, जिससे दुबारा फसल बोना अनिवार्य हो जाता है। ये थैली से पकड़े जा सकते हैं।

झिंगुर—ये नवजात पौधे को काट कर अपने बिल में ले जाता है। जहाँ संभव हो, सिंचाई कर दी जाय। बिल में पानी भर जाने से झिंगुर भाग खड़ा होता है और अनायास ही पक्षियों का शिकार हो जाता है।

भुल्ल—एक प्रकार की भुल्ल पौधों को हानि पहुंचाती है। यह ज्यादातर विदेशी नील के पौधों पर ही आक्रमण करती है। देशी नील को इससे बहुत कम नुकसान पहुंचता है।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

अरकन, जूरी, गोदला आदि कई कीड़ों से इस फसल को मामूली नुकसान पहुँचता है।

स—रस पीने वाले कीड़े

एक प्रकार का चिकटा, लही, लद्दी आदि छोटे छोटे कीड़े पौधे का रस पी कर जीवन-निर्वाह करते हैं। इनसे फसल को मामूली नुकसान होता है। साबुन मिश्रण से चिकटा नष्ट हो जाता है। सांसर्गिक विष छिड़कना लाभदायक है।

भेरवा अपने रहने के लिये बिल बनाता है, जिससे पौधे की जड़ें कट जाती हैं, और पौधा सूख जाता है। यह माँसाहारी प्राणी है और इल्ली, मेंडक-शिशु आदि पर जीवन-निर्वाह करता हैं। यह कीड़ा शाकाहारी नहीं है। वास्तव में तो झिंगुर ही पौधों की जड़ों को हानि पहुंचाता है।

तिलहन की फ़सल के कीड़े

तिल की फसल के कीड़े

झींगुर—इस पर पहले लिख आए हैं। एक फुट की ऊँचाई तक के कोमल पौधों को काटकर नष्ट कर देता है।

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

दस बारह प्रकार के कीड़े तिल के पत्तों पर जीवन-निर्वाह करते हैं। इनमें तिलजोंक ही इस फसल को सबसे ज्यादा हानि पहुँचाता है।

पैचनेफोरस—इसका लैटिन नाम Pachnephorus impressus है। भारत के कुछ भागों में यह कीड़ा तिल के पत्ते खाता है। भोंडी या भुंगा सूखे पत्तों के नीचे छुपा रहता है। खेत में जगह-जगह सूखे पत्तों के

ढेर लगा दिये जाँय । भोंडी या भुंगा इनमें छुप जायगा । पत्ते की ढेरों में आग लगा देने से कीड़े मर जाएंगे । पौधों को हिलाने से भुंगे जमीन पर गिर पड़ेंगे । इनको एकत्रित करके नष्ट कर दिया जाय ।

कोलिया—इस पर पहले लिख आए हैं । अण्डे-युत पत्ते और इल्लियों को चुनकर जला देना ही एक मात्र उपाय है ।

कम्मल—इस पर अन्यत्र लिख आए हैं ।

पड़बिच्छू—इसे तिलगा, कणवींचू, लिलिपेल आदि भी कहते हैं । यह कीड़ा वल्कपक्ष वर्ग का है कुलथी पर भी पाया जाता है । इल्ली बहुत ही बड़ी होती है । तितली अत्यधिक चपल होती है और प्रकाश की ओर आकर्षित होती है । यह पाया तो हर साल जाता है, किन्तु इससे फसल को मामूली क्षति पहुँचती है ।

उपचार—इल्ली को हाथ से पकड़ कर मार डालना चाहिए । कीट-मारक, औषधि भी छिड़की जा सकती है । खेत में प्रकाश करके तितली मारी जा सकती है ।

तिलजोंक—इल्ली, पत्ते को लपेट कर उसके अन्दर रहती और पत्तों पर जीवन-निर्वाह करती है । यह कीड़ा पौधे के वृद्धि-शील अंग और डोंडी (pods) पर भी हमला करता है । वृद्धिशील अंग में छेद कर दिए जाने से पौधे की बाढ़ रुक जाती है और डोंड़ी में छेद करके तिल के बीज खा लिए जाने के कारण पैदावार घट जाती है ।

उपचार—कीटग्रस्त भाग को हाथ से तोड़कर जला दिया जाय । एक प्रकार की परोपजीवी मक्खी तिलजोंक की इल्ली पर जीवन-निर्वाह करती है ।

ब—फली या डोंड़ी खाने वाले कीड़े

गाल फ्लाय (gall fly) यह गुवार पर भी पाया जाता है । कीड़ा लग जाने से फली (डोंड़ी) की बाढ़ रुक जाती है, फली सिकुड़ जाती और उस पर शल पड़ जाते हैं । इससे कभी-कभी फसल को बहुत हानि पहुँचती है ।

उपचार—पौधे के कीटग्रस्त भाग को तोड़कर जला दिया जाय ।

स—रस चूसने वाले कीड़े

धोबा—कीड़ा पके बीजों का रस चूसता है । फसल के साथ कीड़ा खलियान में पहुँच जाता है, खलियान में एकत्रित हुए कीड़ों को समेट कर जला दिया जाय या झाड़ू आदि से मार डाला जाय ।

ओबेरिया—मादा, पत्ते की मध्यशिरा पर अण्डे रखती है । इल्ली छेद करके शिरा में घुस जाती है और भीतर ही भीतर आगे बढ़ती हुई तने में पहुँच जाती है, तथा जड़ तक जा पहुंचती है । इल्ली जड़ में सुप्तावस्था बिताती है । आक्रमण होने पर पत्तों पर पीले दाग पड़ जाते हैं । इल्ली लगभग एक सप्ताह पत्ते में ही रहती है । कीट-ग्रस्त पत्ते को तोड़कर जला दिया जाय ।

अण्डी की फसल के कीड़े

बूट—इस कीड़े पर अन्यत्र लिख आए हैं । थैली से पकड़ कर मार डाला जाय ।

अ—पत्ते खाने वाले कीड़े

डोकरी—इस कीड़े की संख्या बढ़ जाने पर पौधे पर पत्ते ही नहीं रह पाते हैं । मादा पत्ते के नीचे के भाग पर अण्डे रखती है । यदि अण्डी के पत्ते रेशम के कीड़ों को खिलाए जाते हों, तो बहुत देख भाल करके ही पत्ते खिलाए जाने चाहिए, कारण कि अण्डे खा लेने से रेशम के कीड़े पर जहरीला असर पड़ता है । एक बार प्रजावृद्धि हो जाने पर इस कीड़े का नाश करना अत्यन्त कठिन हो जाता है । यह इल्ली गुलाब पर भी पाई जाती है । त्वक्पक्ष वर्ग का एक परोपजीवी कीड़ा, इस पर जीवन-निर्वाह करता है ।

उपचार—इल्ली को हाथ से चुनकर नष्ट कर दिया जाय।

अरकन—इस पर पहले लिख आए हैं। अण्डे युत पत्तों को तोड़ कर और इल्ली को हाथ से चुनकर जला दिया जाय।

कम्मल और कोलिया—इन पर अन्यत्र विचार कर आए हैं।

आकुटेलु—यह कीड़ा अधिकतर मद्रास राज्य में ही पाया जाता है। इससे फसल को बहुत हानि पहुँचती है। इल्ली के बाल जहरीले होते हैं, अतएव इन्हें हाथ से नहीं छूना चाहिए। इल्ली को चिमटे से पकड़कर एकत्रित करके जला देना चाहिए।

अंत्री—यह अंडी के पौधे पर पाया तो अवश्य जाता है; किन्तु इससे फसल को बहुत ही कम नुकसान पहुँचता है।

ब—बीज खाने वाले कीड़े

बीजा—यह आम के बौर पर भी पाया जाता है। लुकाट, सपाटू, रीठा, आदि पर भी हमला करता है।
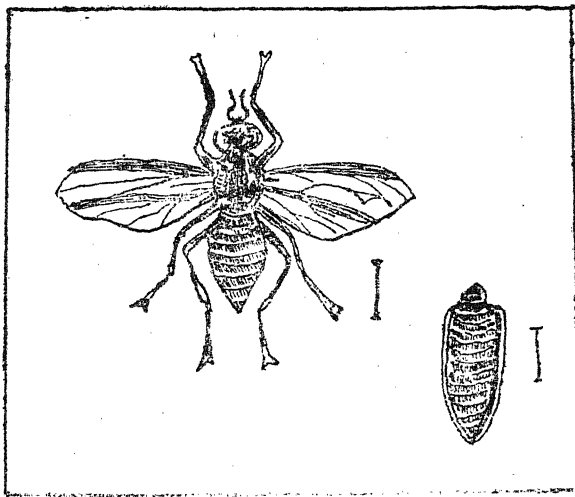
चित्र २१—बीजा व इल्ली

पत्ते और फल ही इसका भोजन है। प्रारंभ में निकले हुए फलों पर यह ज्यादा संख्या में पाया जाता है। अतएव पूरी फसल को बचाने के लिए प्रारंभ में निकले हुए डोड़ों को तोड़ कर जला दिया जाय।

इल्ली पौधे के बढ़ने वाले भाग में छेद करके तने में घुस जाती है। फलों में छेद करके यह बीजों को भी खाती है।

जूरी—इस पर अन्यत्र लिखा जा चुका है। यह कीड़ा यदा कदाचित ही इस फसल पर आक्रमण करता है।

स—रस चूसने वाले कीड़े

मोया—पोंपटी मसी, चिकटा, चोपडा, मोया आदि और इसी प्रकार के और कीड़ों के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त हो सकी है। मोया धीरे-धीरे पूरे पत्ते पर फैल जाता है, जिससे पत्ता सूख जाता है। एक प्रकार का परोपजीवी कीड़ा इस पर गुजर-बसर करता है।

उपचार—क्रूड ऑइल इमलशन छिड़कना लाभदायक है।

सुंधिया—इस पर अन्यत्र लिख आए हैं। हाथथैली या हाथ से पकड़ कर मार डालना ही एक मात्र उपाय है।

लक्ष्मी—क्रूड ऑइल इमलशन में फ़्लॉवर ऑफ सलफर (Flower of Sulphur) मिलाकर छिड़क देने से फसल सुरक्षित रहती है।

अलसी की फसल के कीड़े

भारत के अधिकांश राज्यों में अलसी की फसल पर शत्रु रूप में कीड़े आक्रमण नहीं करते हैं। किन्तु इस पर कई कीड़े जीवन-यापन अवश्य करते हैं।

अ—पत्ते खाने वाले कीड़े

कोलिया और अरकन पर अन्यत्र लिख आए हैं।

भुल्ल—एक प्रकार की भल्ल अलसी के पौधों को काट कर नष्ट कर देती है। किन्तु इससे बहुत ही कम—नहीं के बराबर ही, हानि पहुँचती है।

जूरी—इल्ली, अलसी की डोड़ी में छेद करके बीज खाती है।

मूंगफली की फसल के कीड़े

अ—फूल खाने वाले कीड़े

तेला—कई प्रकार के तेला मूंगफली के फूल खाते हैं। भोंडी या भोंगा हाथ से पकड़ कर सरलता पूर्वक मारा जा सकता है।

लही—लही से फसल को हानि तो अवश्य पहुँचती हैं। किन्तु इन कीड़ों के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

बूट—इस पर अन्यत्र विचार कर आए हैं। बूट और अन्य कुछ टिड्डों से इस फसल को क्षति पहुँचती है। थैली से पकड़ कर सरलता से नष्ट किए जा सकते हैं।

कोलिया—इस पर अन्यत्र लिख आए हैं।

कम्मल—दो प्रकार के कम्मल मद्रास-राज्य में इस फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचाते हैं। इसपर अन्यत्र विचार किया गया है। खेतों में प्रकाश रख कर इन्हें मारा जा सकता है। हाथ जाली से भी तितली पकड़ी जा सकती है। वर्षा के प्रारंभ में प्रकट हुए कीड़े से फसल को बहुत कम क्षति पहुंचती है। अधिकतर इसके बाद जनमें हुए कीड़े ही बहुत ज्यादा नुकसान करते हैं।

जूरी और अरकन—इनपर पहले लिख आए हैं।

अनारसिया—इसका लैटिन नाम (Anarsia ephippias) है। इल्ली पत्तों को लपेट कर भीतर ही भीतर उन्हें खाती रहती है। पौधे के वृद्धिशील भाग में छेदकर के इल्ली भीतर घुस जाती है, जिससे वृद्धिशील अग्रभाग मुरझा जाता है। आक्रमण होते ही कीट-ग्रस्त पत्तों और मुरझाए हुए अंकुरों को तोड़कर जला देना ही उत्तम है। लेड आर्सेनेट छिड़कना लाभदायक है।

मुदुपुची—मद्रास में मुदुपुची और सुरुल पुची नाम से पहचाने जाने वाले कीड़े से मद्रास-राज्य के कुछ जिलों में मूंगफली की फसल को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचता है। यह कीड़ा सोयाबीन, अरहर आदि कुछ अन्य पौधों पर भी हमला करता है। भारत के कुछ भागों में यह कीड़ा रिजका पर भी पाया गया है।

लही और लक्षी—इनके आक्रमण से पत्ते पीले पड़ जाते हैं।

उपचार—गंधक चूर्ण छिड़कने से कीड़े मर जाते हैं।

तिलंगा—यह तने के कोमल भाग में छेद करके भीतर घुस जाती है और अंदर ही अंदर उसे खोखला कर देती है जिससे पौधा मर जाता है।

उपचार—मुरझाये हुए पौधे को उखाड़ कर तुरन्त ही जला दिया जाय।

धोवा—इस कीड़े के सम्बन्ध में अन्यत्र लिख आए हैं। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा पत्ते और तने का रस-पान करता है। मूंगफली खोदकर निकाल लेने के बाद ही यह कीड़ा शत्रु का रूप धारण कर आक्रमण करता है, जिससे दाने खराब हो जाते हैं।

खलिहान में यह फलियों में दुबक कर बैठा रहता है। इसे एकत्रित करके झाड़ू आदि से मार डालना चाहिए। यथासंभव कोठारों में इसका प्रवेश कदापि नहीं होने देना चाहिए।

स—जड़ें खाने वाले कीड़े

कंसिया—इसपर पहले लिखा जा चुका है।

दीमक—अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि, किस प्रान्त में, किस उपजाति की दीमक इस फसल की जड़ों को खाती है। सिंचाई की फसल के लिए, सिंचाई की नाली में बहते हुए पानी में, खेत के पास, थोड़ा-थोड़ा क्रूड ऑइल इमलशन डालकर हाथ से अच्छी तरह से मिला देने से उपद्रव कम हो जाता है।

खोरासान की फसल के कीड़े

भुल्ल—एक प्रकार की भुल्ल की इल्ली, नवजात पौधों के अंकुरों को खाती है। इसपर पहले लिख आए हैं।

बूट—इसपर अन्यत्र लिखा जा चुका है।

सूरजमुखी की फसल के कीड़े

भारत के अधिकांश भाग में सूरजमुखी शोभा के लिए बगीचों में ही बोई जाती है। रूस में सूरजमुखी की खेती की जाती है। इनके बीजों से तेल निकाला जाता है।

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

कम्मल और कोलिया—इनपर अन्यत्र लिखा गया है। प्रारंभ में कीड़ा जंगली पौधों पर जीवन-यापन करता है। इसलिए खेत और उसके आस-पास की जमीन पर खर-पतवार और जंगली पौधे कदापि नहीं रहने दिए जाने चाहिए।

गोदला—इसपर अन्यत्र लिखा ही गया है।

दो-तीन तरह की इल्लियाँ फूलों पर पाई जाती हैं। इनसे फसल को बहुत कम नुकसान पहुंचता है। जूरी पर भी अन्यत्र लिखा गया है।

कुसुम की फसल के कीड़े

भारत के कई प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसके फूलों से रंग बनाया जाता और बीजों से तेल निकाला जाता है। कोमल पत्तों से तरकारी भी बनाई जाती है।

पेरीगीश्रा—इसका लैटिन नाम Perigea Capensis है। इल्ली मट्टी में ही कोशावस्था बिताती है। इसलिए फसल निकाल लेने के बाद दो बार हल से जुताई कर देना अत्यावश्यक है।

उपचार—लेड आर्सेनेट छिड़कना लाभदायक है।

जूरी—इसपर पहले लिख आए हैं।

चिकटा—इस कीड़े के आक्रमण से कभी कभी इस फसल को बहुत ज्यादा नुकसान होता है। इसपर दूसरी जगह पर लिखा गया है।

द्वि-पक्ष-वर्ग की दो-तीन उपजातियों की मक्खियों की इल्लियाँ तने में घुसकर भीतर ही भीतर उसे खाती हैं, जिससे पौधा मर जाता है। इनके सम्बंध में अभी छान-बीन जारी है। मुरझाए हुए पौधों को उखाड़ कर जला देना ही उत्तम उपाय है।

रेशे निकाले जाने वाले पौधों के कीड़े

जूट की फसल के कीड़े

झींगुर—यह नवजात पौधों को काटकर नष्ट कर देता है। इसपर पिछले पृष्ठों में लिख आए हैं।

कोलिया, तिरहींग, अरकन, सुंडी, या कुट्टी, आदि पर पिछले पृष्ठों में विचार कर आए हैं। इन सभी कीड़ों से प्रतिवर्ष बहुत अधिक हानि पहुँचती है। इनको मारने के उपायों पर भी पहले लिख आए हैं।

आक या मदार के पौधों के कीड़े

भारत में आक की खेती नहीं की जाती है। परती जमीन में यह पौधा आप ही आप उग आता है। दक्षिण भारत में धान को आक की हरी खाद दी जाती है। राजपूताना में इसके तने से रेशे निकाले जाते हैं और बंगाल में इसकी रुई तकियों में भरी जाती है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि, आक के तने से अच्छा रेशा निकल सकता है। अतएव इसकी खेती की जाने की सलाह विशेषज्ञों द्वारा दी जाती रही है। किन्तु आज तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

सोनरी—इल्ली पत्ते खाती है। क्रूड ऑइल इमलशन छिड़कना चाहिए।

आक का टिड्डा—टिड्डा बड़ा, नीले और पीले रंग का

होता है। मादा पास-पास अण्डे रखती है। परी आक के पत्ते खाकर बढती है। टिड्डे सहज ही पकड़े जा सकते हैं।

ब—रस चूसने वाल कीड़े

चिकटा—पीले रंग का चिकटा पौधे के वृद्धिशील भाग पर आक्रमण करता है, जिससे पौधे की बाढ़ रुक जाती है।

दो-तीन प्रकार के कीड़े और हैं, जो पौधे का रस पीते हैं। किन्तु ये मामूली नुकसान ही करते हैं।

फल वृक्षों के कीड़े

सन्तरा की जाति के वृक्षों के कीड़े

मोसम्बी, नारंगी, सन्तरा, सभी प्रकार के नीबू आदि एक ही जाति के पौधे हैं। अतएव सन्तरा की जाति के सभी पौधों को लगने वाले कीड़ों पर इस शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया गया है।

सुरंगी—मादा, नवजात पौधे के कोमल पत्ते के मज्जातन्तु में अण्डे रखती है। इल्ली पत्ते के अन्दर ही अन्दर पत्ते का हरा भाग खाती हुई, सुरंग बनाकर आगे बढ़ती जाती है, जिससे पत्ते पर दाग नजर आते हैं। इल्ली इस सुरंग में ही सुप्तावस्था बिताती है। ज्यादा उम्र के पौधे के कोमल पत्तों पर भी यह कीड़ा आक्रमण करता है।

पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी (पतंग या पंखी) चाँदी के समान सफेद रंग का होता है। इसके अगले पंखों के सिरे पर काले बिन्दु होते हैं। मादा कोमल पत्तों के दोनों ओर अण्डे रखती है, जो सफेद महीन आवरण से ढके रहते हैं। नवजात इल्ली कोमल पत्ते के भीतर सुरंग बनाकर रहती और पत्ते के हरे भाग को खाती है। सुरंग में ही कोशावस्था बिताई जाती है। इसके आक्रमण से कभी कभी आधे से अधिक पत्ते नष्ट हो जाते हैं जिससे पौधा बहुत ही ज्यादा कमजोर हो जाता है। यह कीड़ा बेल, मीठानीम, आदि दो चार अन्य वृक्षों पर भी पाया जाता है।

उपचार—क्रूड ऑइल इमलशन और तमाखू के सत को मिला कर छिड़कने से इल्ली व कोशस्थ प्राणी मर जाता हैं। तमाखू के सत में एक विशेष गुण यह है कि वह पत्ते के तन्तु जाल के भीतर प्रवेश कर जाता है। क्रूड ऑइल इमलशन के बदले में फिश-ऑइल-रोफ़िन सौप काम में लिया जा सकता है।

फिश-ऑइल-रोफ़िन-सोप दस भाग और निकोटिन सलफेट दो भाग को हजार भाग पानी में मिलाकर छिड़का जाय।

एक भाग तमाखू का सत और एक पाव साबुन को ५० सेर में मिला कर छिड़कना फायदेमन्द है।

सन्तरा पंखी—तितली बहुत ही बड़ी और सुन्दर होती है। इसके पंखों पर पके नीबू के समान पीले धब्बे होते हैं और पिछले पंखों पर आँखे सी होती हैं। मादा नए अंकुरों, कोमल पत्तों और टहनियों पर पीले-से या फीके हरे रंग के अण्डे रखती है। चार छः दिन के बाद गहरे कत्थई रंग की इल्ली निकलती है, जिसके शरीर पर दोनों ओर सफेद धब्बे होते हैं। प्रारम्भ में इल्ली पक्षी के बींट के समान दिखाई देती है। बीट समझ कर पक्षी इसे खाते नहीं हैं। हरबार त्वचा बदलने पर इल्ली का रंग भी बदल जाता है। पूर्ण बाढ़ को पहुंची हुई इल्ली एक इंच के लगभग लम्बी और हरे रंग की होती है। तंग किये जाने पर इल्ली के पिछले सिरे पर दो सींग से निकल आते हैं। इनकी सहायता से वह शत्रु से अपनी रक्षा करती है। अण्डे में से निकलने के लगभग तीन सप्ताह बाद इल्ली कोश बनाती है। टहनी, पत्ता, या पौधे के अन्य किसी भाग पर कोश तिरछा टँगा रहता है। कोशस्थ होने के एक सप्ताह बाद तितली निकल आती है। कीड़े का सम्पूर्ण जीवन पौधे पर ही बीतता है, और यह बारहों महीने पौधे पर दिखाई देती है। यह बेल और बावची पर भी हमला करती है। बरसात में ही इल्ली ज्यादा नुकसान करती है।

बड़े झाड़ों को इससे कम नुकसान पहुँचता है। भारत के कुछ भागों में यह बड़े झाड़ों पर भी आक्रमण करती है। सन्तरा पंखी चार पाँच प्रकार की होती है। सभी प्रकार की पंखियाँ सन्तरा की जाति के पौधों पर आक्रमण करती हैं।

उपचार—बड़े झाड़ की टहनियाँ हिलाने से इल्लियाँ और कोश जमीन पर गिर पड़ते हैं। इन्हें एकत्रित करके मिट्टी का तेल मिले हुये पानी में डुबाकर मार डाला जाय। अन्डे युत पत्ते और इल्लियों को हाथ से चुनकर मार डालना चाहिये। यदि झाड़ 'बहार' पर हों तो कीटनाशक ओषधि छिड़कना ही लाभदायक है। सबेरे के समय, हाथ थैली से पंखी को सहज ही पकड़ा जा सकता है।

एक छटाक गुड़ और एक औंस लेडआर्सेनेट को चार गैलन पानी में मिलाकर एक बड़े झाड़ पर छिड़का जाय। इससे इल्लियाँ मर जायेंगी। मरी हुई इल्लियों को समेट कर दफना देना ही हितकर है।

टोनिका—इसका लेटिन नाम Tonica ziziphi है। मादा छोटी और मटियारे रंग की होती है। इसके पंखों पर काले धब्बे होते हैं। इल्ली पत्ते को मोड़ कर उसी के अन्दर रहती और कोमल पत्ते खाती है। लगभग पन्द्रह दिन बाद वह कोश बनाती है और लगभग दस दिन बाद कोश में से पंखी निकल आती है। इस कीड़े के आक्रमण से कभी कभी प्रतिशत ३० तक पत्ते नष्ट हो जाते हैं।

उपचार—सुरंगी के समान

ब – तने में छेद करने वाले कीड़े

तने में छेद करने वाला भुंगा—इसका लैटिन नाम Stromatium barbatum है। यह कीड़ा, बबूल आम, सन्तरा की जाति के पौधे, अनार, कटहल, गुलाब आदि लगभग तीन सौ प्रकार के पौधों के मृत शाखा तना के अन्दर रहता है। यह अधिकतर बारह साल से ज्यादा पुराने झाड़ों पर ही पाया जाता है। मादा झाड़ की छाल की दरार में अण्डे रखती है! इल्ली शाखा तना में छेद करके भीतर घुस जाती हैं और भीतर ही भीतर उन्हें खाती रहती है। जून मास में मादा अण्डे रखती है। मई में कीड़ा कोश बनाता है और जून में पूर्णावस्था प्राप्त भुंगा जन्म लेता है। इस कीड़े का जीवन-क्रम अनियमित ही है।

मध्य प्रदेश में भुंगा जीवित शाखा-तने पर भी आक्रमण करता है। इसके आक्रमण से झाड़ धीरे-धीरे कमजोर होता जाता और अन्त में मर जाता है। इस कीड़े की एक पुश्त लगभग दो साल तक रहती है।

उपचार—छाल फटने से बनी दरारों में ही मादा अण्डे रखती है। झाड़ की छाल पर क्रुड ऑइल इमलशन फिनाइल या क्रिओसोट पोत देने से मादा दरारों में अण्डे नहीं रखती है। झाड़ की सूखी डालियों को काटकर कटे हुए स्थान पर क्रूड आइल इमलशन चुपड़ दिया जाना चाहिये। भुंगा प्रकाश की ओर आकर्षित होता है। बगीचों में लालटेन रखकर इसे नष्ट किया जा सकता है।

मर्यद—यह तीन प्रकार का होता है। इनमें से एक ही (Arbela quadrinotata) सन्तरा जाति के पौधों पर आक्रमण करता है। इल्ली; झाड़ की छाल खाती है, जिससे पौधे के अवयवों को रस पहुँचाने वाले मज्जातन्तु नष्ट हो जाते हैं। और पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण धीरे धीरे पौधा कमजोर होता जाता है और फल भी कम बैठते हैं। मादा शाखा पर चार सौ के लगभग अण्डे रखती है। लगभग १५ दिन में इल्ली निकल आती है और दो शाखाओं के जोड़ पर जाला बनाकर वहीं छाल में घुस जाती है। छाल मेंही कोश बनाया जाता है। आम, अनार, बाँस अमरूद, कचनार आदि पर भी यह कीड़ा आक्रमण करता है। एक वर्ष में कीड़े की एक ही पुश्त पूरी होती है।

उपचार—जाले को देख कर इल्ली का पता चल जाता है। इल्ली द्वारा बनाए गए छेद में केरोसीन, पेट्रोल या फिनाइल में भीगी हुई रुई भरदी जाय और मट्टी से छेद बंद कर दिया जाय। ऐसा करने से इल्ली मर जाती है।

कीट-ग्रस्त छाल छील कर हटा दी जाय और उस

स्थान पर क्रुड आइल इमलशन चुपड़ दिया जाय। तने को झाड़-पोंछकर फिनाइल मिश्रित जल से धो लिया जाय और तब गाढा चूना पोत दिया जाय।

स—फूल खाने वाले कीड़े

तीन प्रकार के कीड़े सन्तरा की जाति के पौधों के फूल खाते हैं। किन्तु इनसे फसल को बहुत ही कम नुकसान पहुंचता है। अतएव ये 'शत्रु' नहीं कहे जा सकते हैं।

ड—फलों का रस चूसने वाले कीड़े

कुछ कीड़े फलों का रस चूसते हैं, जिससे फल जमीन पर टपक पड़ते या खराब हो जाते हैं। नीचे मुख्य मुख्य कीड़ों पर विचार किया गया है।

फल तितली—इसका लैटिन नाम ophideres fullonica है। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा—तितली ही फलों को क्षति पहुँचाती है। यह रात के समय फलों में सूंड डालकर रस पीती है, जिससे छेद के आस पास फल सड़ने लगता है और तब टपक पड़ता है। तितली का आकार कुछ बड़ा होता है। पिछले पंख गहरे पीले रंग के होते हैं, जिन पर कालीं रेखाएं होती हैं। जुलाई के लगभग मादा गुडवेल पर अण्डे रखती है, इल्ली बड़ी और बहुत आकर्षक होती है। गुडवेल और कुछ अन्य जंगली पौधों पर ही यह जीवननिर्वाह करती है। लगभग पन्द्रह दिन बाद इल्ली कोश बनाती है और इसके लगभग १५ दिन बाद तितली निकल आती है। इसकी सूंड के अग्र भाग पर एक तीक्ष्ण काँटा-सा होता है, जिससे वह फल के कड़े छिलके में सरलता पूर्वक छेद कर सकती है।

उपचार—सन्तरा की जाति के झाड़ों के बगीचे के आसपास गुड़वेल या अन्य लताओं को न रहने दिया जाय।

मथलम्युम्भु—इल्ली फल में छेद करती है। किन्तु 'शत्रु' नहीं कही जा सकती है

जूरी—इल्ली छोटे हरे फलों का छिलका काट कर उन्हें खराब कर देती है। किन्तु यह, यदा कदाचित ही इन फलों पर आक्रमण करती है।

क—रस पीने वाले कीड़े

काला मोया—यह प्रति वर्ष आक्रमण नहीं करता है। किसी किसी वर्ष इससे फसल को बहुत ज्यादा नुकसान होता है। इसके आक्रमण से पत्ते काले पड़ जाते हैं। यह मक्खी जुदे जुदे प्रकार की होती है और जुदे जुदे तरीके से आक्रमण करती हैं। पंजाब में इसका ज्यादा जोर है। इसकाआक्रमण होने पर पौधा कमजोर हो जाता है और पत्तों की कार्यक्षमता भी बहुत घट जाती है। फलों के आकार संख्या, स्वाद आदि में फर्क पड़ जाता है। कीड़े पूरे पत्ते पर फैल जाते हैं।

उपचार—छँटनी करते रहने से पत्तों को हवा, प्रकाश और धूप काफी मिलती रहेगी, जिससे इसकी वृद्धि रूक जाएगी। कीटग्रस्त ज्यादा उम्र के पत्तों को तोड़कर जला दिया जाय और नए कोमल पत्तों में क्रूड ऑइल इमलशन, या राल मिश्रण छिड़का जाय। प्रति पन्द्रहवें दिन, लगातार तीन दिन तक औषधि छिड़कने से कीड़े नामशेष हो जाते हैं। तमाखू का सत भी छिड़का जा सकता है। दो छटाक फिश ऑइल रोझिन सोप और दो औंस निकोटिन सलफेट को बीस सेर पानी में मिलाकर बड़े झाड़ पर छिड़कना लाभदायक है।

चिकटा, लाही लद्दी आदि सभी तरह के रस पीने वाले छोटे कीड़ों के लिए तमाखू का सत अधिक फायदेमंद साबित हुआ है। प्रतिवर्ष ओषधि छिड़कते रहने से चार पाँच साल में ये कीड़े नामशेष किए जा सकते हैं।

सन्तरा की जाति के पौधों पर अन्य भी कई प्रकार के कीड़े पाए जाते हैं, और इनसे फसल को प्रति वर्ष क्षति भी पहुँचती है। किन्तु ये कीड़े शत्रु के रूप में शायद ही कभी आक्रमण करते है। अतएव उन पर यहाँ विचार नहीं किया गया है।

बेल के झाड़ के कीड़े

बेल के झाड़ पर आक्रमण करने वाले कीड़े पर विचार करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि सन्तरा की जाति के झाड़ों पर आक्रमण करने वाले सभी कीड़े बेल के झाड़ पर भी जीवन-निर्वाह करते हैं। अतएव सन्तरा की जाति के झाड़ों के बगीचों की रक्षा की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि बेल के झाड़ों पर इन कीड़ों को न जमने दिया जाय।

आम के झाड़ के कीड़े

भारत के सभी भागों में आम बोया जाता है। यह भारत का सर्वश्रेष्ठ फल है। विदेशों में भारतीय आम की काफी माँग है। भारतवासी तो आम को अत्यधिक रुचि से खाते ही हैं। किन्तु कीड़े भी इसके सभी अवयवों को अत्यधिक प्रेम और रुचि से खाते है।

अ—आम के रोपे के कीड़े

दीमक—आम के नवजात पौधों की जड़ों को दीमक खा जाती है, जिससे वे मर जाते हैं। दीमक का उपद्रव कम करने का एक मात्र उपाय है, सिंचाई के पानी में क्रूड आयल इमलशन मिलाना।

ब—पत्ते खाने वाले कीड़े

बन झिंगुर—इसके सम्बन्ध में अन्यत्र लिख आए हैं।

आकुटेलु—यह भारत के सभी भागों में पाया जाता है। कभी कभी इससे झाड़को, खास कर कम उम्र के पौधों को, बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचता है। इल्ली लगभग सभी पत्तों को खा लेती है, जिससे पौधा नंगा हो जाता है। यह कीड़ा नारियल, चाय, केला आदि पर भी पाया जाता है।

उपचार—रोपों (Seedlings) और कम उम्र के पौधों पर से इल्ली को चुनकर मार डाला जाय। बड़े झाड़ों पर उदर-बिष छिड़क दिया जाय। तने पर कोश के गुच्छे से चिपके रहते हैं, इन्हें एकत्रित करके जला दिया जाय।

एक प्रकार के परोपजीवी कीड़े की इल्ली इस कीड़े की इल्ली को खाती है। इस कीड़े की इल्ली की आधी अवस्था हो जाने पर परोपजीवी कीड़े की लाल रंग की छोटी-सी इल्ली उसके शरीर पर चढ़कर बैठ जाती है और उसके कोशस्थ होते ही, परोपजीवी इल्ली कोशस्थ प्राणी को खा लेती है।

क्रायक्यूला—इसका लैटिन नाम Cricula Trifenestrata है स्थानीय नाम ज्ञात न होने के कारण लैटिननाम अपनाना पड़ा है। यह देशी बादाम और काजू के झाड़ों पर भी आक्रमण करता है। अत्यधिक संख्या में आक्रमण होने पर झाड़ पर पत्ते ही नहीं रहने पाते हैं, और शाखाएँ सुनहरे रंग के कोशों से भर जाती हैं। इल्ली के बाल जहरीले होते हैं, अतएव इल्ली को चिमटे से ही पकड़ना चाहिए—हाथ से कदापि न छुआ जाय।

उपचार—शाखाओं पर चिपके हुए कोशों को समेट कर जला दिया जय। उदर-विष भी छिड़का जा सकता है। एक प्रकार का परोपजीवी कीड़ा इस कीड़े के कोश पर अण्डे रखता है। इल्ली कोश में प्रवेशकर कोशस्थ प्राणी को खा जाती है।

एक प्रकार का कांसिया और तीन प्रकार का मीलो सीरस भी आम के झाड़ पर आक्रमण करते हैं। किन्तु ये बहुत ही कम नुकसान पहुँचाते हैं।

रिंकोनस—इसका लैटिन नाम Rhynchaenus hiangiferae है। इस कीड़े के स्थानीय नाम का पता न चल सकने के कारण ही यह नाम दिया गया है।

मादा पत्ते पर अण्डे देती है। बिना पैर की इल्ली कोमल पत्ते के अंदर सुरंग बनाकर भीतर प्रवेश करती और पत्ते को खाती रहती है। इससे कभी कभी पत्तों को बहुत ज्यादा हानि पहुँचती है। यह भारत के सभी भागों में पाया जाता है।

उपचार—निकोटिन सलफेट या तमाखू का सत छिड़कना लाभदायक है।

बिमटा—आम के झाड़ पर रहने वाली लालरंग की चीटी को विमटा कहते हैं। झाड़ों पर पाई जाने वाली बड़ी चींटियों को भारत के कुछ जिलों में दूध मकोड़ी या याटा भी कहते हैं। यह नवजात कोमल पत्तों को एक दूसरे से बाँध देती है, जिससे उनकी बाढ़ में रुकावट पड़ती है। यह आम के पेड़ पर ही घर बना लेती है

उपचार—निवास स्थान को खोज कर जला दिया जाय। किन्तु ये चींटियाँ हित साधन भी करती हैं। वे वृक्ष पर लगी हुई इल्लियों को उठा ले जाती हैं। यदि चींटियों को नष्ट कर दिया गया तो पौधे पर इल्लियों की संख्या अवश्य ही बढ जायगी।

स—पौधे के वृद्धि-शील अंग के कीड़े

तीन-चार तरह के कीड़े शाखाओं के बढने वाले भाग में प्रवेश कर अन्दर ही अन्दर उसे खाते हैं, जिससे फुनगी मुरझा जाती है, और पौधे की बाढ रुक जाती है। मुरझाए हुए भाग को छेद के कुछ नीचे से काट कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

फ—फूल पर आक्रमण करने वाले कीड़े

कई प्रकार के कीड़े आम के बौर पर आक्रमण करते हैं, जिसके फल कम बैठते और बहुत से फल असमय में ही टपक पड़ते हैं। नीचे उन्हीं कीड़ों पर विचार किया गया है जिनके आक्रमण के कारण पैदावार काफी घट जाती है।

बीजा—यह कई पौधों पर पाया जाता है। अंडी के कीड़ों पर लिखते हुए इस कीड़े पर विचार कर आए हैं। बीजा आम के बौर पर भी आक्रमण करता है।

पानड़ी—यह आम के बौर, कली, और फूलों पर आक्रमण करता है अंडी के फल और ज्वार के भुट्टे पर भी जीवन-निर्वाह करता है। इस पर अन्यत्र लिखा गया है।

अमकूदा—यह खूंटी के आकार का एक छोटा-सा कीड़ा है। पौधों में रसाभिसरण जोरों से शुरू होते ही, बौर आना शुरू होने पर मादा कलियों में अण्डे रखती है। अण्डे रखने के लगभग एक सप्ताह बाद शिशु जन्म लेता है। इसको पंख नहीं होते। पत्तों और फूलों का रस पीकर शिशु वृद्धि पाता है। लगभग दो सप्ताह में प्राणी पूर्णावस्था प्राप्त कर परदार कीड़ा बन जाता है। इसके आक्रमण से छोटे फल टपक पड़ते हैं। कीड़ा एक प्रकार का रस छोड़ता है, जो फूलों पर फैल जाता है। जिससे फूलों का गर्भाधान नहीं हो पाता है। शहद-जैसे रस पर काले रंग का कवक या गोमज (फंगस रोग) फैल जाता है जिससे फूल काले नजर आते हैं। इस आक्रमण से कभी कभी पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। आम के झाड़पर इन कीड़ों के झुंड के झुंड पाए जाते हैं। झाड के नीचे खड़े होने पर एक प्रकार का हलका सा मिन मिन-नाहट का शब्द सुनाई देता है और कपड़ों पर एक प्रकार का चिपकने वाला पदार्थ जम जाता है। अमकूदा तीन प्रकार का होता है और तीनों ही आम की फसल को क्षति पहुंचाते हैं। तीनों प्रकार के अमकूदा का जीवन-क्रम आदि एक-सा ही है और एक ही तरीके से नुकसान पहुंचाते हैं।

यह न्यूनाधिक संख्या में बारहों महीने झाड़ पर पाया जाता है, किन्तु बौर आने के मौसम में इनकी संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है और तभी ये फसल को हानि भी पहुंचाते हैं। कोमल अंकुर और शाखाओं की बहुलता के कारण कीड़ों को पर्याप्त भोजन मिल जाता है जिससे इसकी प्रजावृद्धि भी तेजी से होती है। अण्डे में से निकलने के आठ दस दिन बाद ही कीड़ा प्रौढावस्था प्राप्त कर लेता है।

उपचार—बौर निकलना शुरू होते ही एक पौंड क्रूड आइल इमलशन को ८० पौंड पानी में मिलाकर झाड़ पर छिड़का जाय। प्रति बारहवें दिन ओषधि छिड़की जानी चाहिए। तीन चार बार ओषधि छिड़कने से कीड़े नामशेष

हो जाते हैं। जिन झाड़ों पर अत्यधिक कीड़े हों, उन पर उससे भी अधिक बार ओषधि छिड़कना आवश्यक है। फूल खिलने से पहले ही प्रथम बार ओषधि छिड़कना आवश्यक है। इंकोसोपोल या फिश-आइल रोझिन सोप, या क्रूड-आइल-इमलशन में से जो दवा सस्ती पड़े, वही काम में ली जानी चाहिए। एक प्रकार की तितली की इल्ली इस कीड़े को खाती है।

भुकटी भूरी नामक गोमज (फंगस) रोग और इस कीड़े को नष्ट करने के लिए गंधक चूर्ण छिड़कना बहुत ही फायदेमंद पाया गया है। गंधक छिड़कने के तीन-चार दिन के बाद ही कीड़े मर कर जमीन पर गिर पड़ेंगे।

लोगों की धारणा है कि, बौर के निकलने के समय और फल आने से पहले बादल बने रहने से फल नहीं जमते हैं। या नवजात फल टपक पड़ते हैं। किन्तु यह धारणा गलत है। वास्तविकता तो यह है कि, बादल छाये रहने से इस कीड़े और भुकटी भूरी रोग को, अनुकूल मौसम मिलजाने से वृद्धि पाने और फैलने का सु अवसर मिल जाता है, जिससे गर्भाधान नहीं हो पाता है और इनके आक्रमण के कारण नवजात फल असमय में ही टपक पड़ते हैं।

अ—आम के फल के कीड़े

भुंगा—कभी कभी पौधे के सभी फलों में इल्लियां पाई जाती हैं। इल्ली आमके फल की गुठली के भीतर की मींगी

चित्र २२— आम के तने में छेद करने वाला भुंगा (१) (२)

को खाती है, और उसी में कोशावस्था बिताती है। फल पकने तक पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी बाहर निकल आता है। अतएव फल खराब नहीं होता है और खाने लायक बना रहता है। फलों के साथ यह कीड़ा भारत के सभी भागों में प्रवेश पा गया है।

इसी जाति का एक दूसरे प्रकार का भुंगा (C. gravis) सिमूल के तने पर भी पाया जाता है। बंगाल में आम की फसल को यह कीड़ा बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचाता है।

इसी जाति के एक तीसरे प्रकार के भुंगा (E. pori collis) का आक्रमण होने पर कभी-कभी बंगाल और असम की पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। इसकी बिना पैर की इल्ली, फल के गूदे में रहती है और वहीं कोशावस्था बिताती है। ज्यादा उम्र के झाड़ों के फलों को यह कीड़ा अधिक पसंद करता है।

उपचार—इसको नाम-शेष करने का तरीका अभी तक मालूम नहीं हो सका है।

फल-मक्खीः—यह चार-पाँच प्रकार की होती है। यह अमरूद, लोकाट, आड़ू, लाल-मिर्च आदि कई प्रकार के फलों पर आक्रमण करती है। फल पकने का समय पास

चित्र २३—फल-मक्खी

आने पर मादा फल पर अंडे रखती है। इल्ली फल के भीतर घुस जाती है। इसका जीवन क्रम बहुत थोड़े समय में ही पूरा हो जाता है और प्रजा-वृद्धि भी बहुत ही तेजी से होती है। इल्ली गूदा खाकर फलों को बेकार कर देती है। फल के जमीन पर टपक पड़ने पर इल्ली बाहर निकल कर मट्टी में कोश बनाती है।

आड़ू के कीड़ों पर लिखते समय इन मक्खियों पर लिखा जाएगा।

उपचार—जमीन पर गिरे हुए फल एकत्रित करके जला दिए जायं। जमीन के अन्दर हरगिज न गाड़े जायं और न इधर उधर फेंके ही जायँ। अनुभव से पाया गया है कि पाँच फूट की गहराई पर गाड़ देने पर भी मादा जमीन से बाहर निकल आती है।

जमीन पर गिरे हुए फलों को गहरा चीरा लगा कर, चीरे हुए भाग को ऊपर की ओर रखकर, झाड़ों के नीचे जगह जगह पर रख दिए जायँ। मादा इनमें अण्डे रख देगी। फलों में इल्ली दिखाई देते ही, उन्हें एकत्रित करके जला दिया जाय। तीन चार वर्ष तक लगातार ऐसा करते रहने से कीड़ा नामशेष हो जाता है। इन कीड़ों का नाश करने वाली किसी ओषधि का अभी तक पता नहीं लग सका है।

च—आम के तना-शाखा-छाल में छेद करने वाले कीड़े

मयद्—इस पर पहले विचार कर आए हैं। इससे कभी कभी नवजात कोमल पौधों को विशेष क्षति पहुँचती है।

दीमक—मट्टी की सुरंग बनाकर, और उसके अन्दर रहकर दीमक आम के पौधे की छाल खाती है। एक भाग क्रूड आइल इमलशन में एक भाग फिनाइल मिला कर छाल पर चुपड़ने से दीमक का उपद्रव बहुत कम हो जाता है।

सर्वसाधारण उपचार—आम के तना-शाखा-छाल में छेद करने वाले कीड़ों को नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय है, कीट-ग्रस्त भाग को काट कर जला देना। काटे हुए भाग पर डामर चुपड़ना अत्यावश्यक है।

एक भाग कारबन-बाय-सलफाइड या क्रियोसोट में दो भाग क्लोरोफार्म को मिलाकर इस मिश्रण में भिगोया हुआ रूई का फाहा छेद में भर कर छेद का मुँह काली मट्टी से बंद कर देने से कीड़ा मर जाता है। यह ओषधि पिचकारी से छेद में छिड़कने से भी कीड़ा मर जाता है।

ज—रस चूसने वाले कीड़े

चिकटा, मोया, और लाही की जाति के कीड़े आम के तना-शाखा आदि पर आक्रमण करते हैं, जिससे हर साल काफी नुकसान होता है। इनको नामशेष करने के लिए तमाखू का सत छिड़कना लाभदायक है। गत पृष्ठों में लिखी गई ओषधियों का प्रयोग भी सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

ऊपर लिखे हुए कीड़ों के अलावा अन्य भी कई प्रकार के कीड़े आम पर पाये जाते है। शत्रु रूप में ये कभी कभी ही आक्रमण करते हैं। अतएव उन पर यहां विचार नहीं किया गया है।

अमरूद के झाड़ के कीड़े

अ—पत्रभक्षक कीड़े

अमरूद का पौधा पत्र भक्षक कीड़ों से लगभग मुक्त ही है। चार प्रकार के मिलोसीरस कीड़े अमरूद के पत्ते खाते हैं। किन्तु ये नगण्य ही हैं।

ब—तना-शाखा में छेद करने वाले कीड़े

मयद्—इस कीड़े पर 'सन्तरा जाति के कीड़ों' शीर्षक के अन्तर्गत बहुत कुछ लिख आये हैं। इस कीड़े की प्रजा-वृद्धि पर नियंत्रण रखने की रीति पर भी लिख आए हैं।

दो-तीन कीड़े और हैं, जो तना-शाखा में छेद करते

हैं, किन्तु ये शायद ही कभी एक आध अमरूद पर पाये जाते हैं।

स—फल पर आक्रमण करने वाले कीड़े

सुरसा और बीजा कभी कभी अमरूद को खाते हैं, किन्तु ये शत्रु रूप में शायद ही कभी हमला करते हैं।

फल मक्खी—सभी प्रकार की फल मक्खियाँ अमरूद के फल में पाई जाती हैं ये बहुत ही कम कभी कभी ही इस पर जीवन-निर्वाह करती हैं।

च—रस चूसने वाले कीड़े

लाही जाति के कीड़े ही इस पर आक्रमण करते हैं और कभी कभी इनसे पौधे को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचता है। पिछले पृष्टों में भिन्न भिन्न फसलों के शत्रुओं पर लिखते हुए लाही के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

फिश-ऑयल रोफ्रिन-सोप या ऐसी ही अन्य ओषधियाँ छिड़क कर फसल को सुरक्षित रखा जा सकता है।

अनार के झाड़ के कीड़े

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

डोकरी और आकुटेलु पर पिछले पृष्टों में लिख आए हैं। यह पौधा इन कीड़ों के भक्ष्य पौधों में से है। अन्य भोज्य पदार्थों के अभाव में, ये इस पौधे पर जीवन-निर्वाह करते हैं। मिलोसीरस भी इस पौधे के पत्ते खाता है।

ब—फल खाने वाले कीड़े

सुरसा—इसे मद्रास की ओर मथलम्युइक्कु कहते है। यह अनार का एक भयंकर शत्रु हैं। छोटी-सी तितली फूल पर या छोटे फलों पर राई के समान अण्डे रखती है। इल्ली जन्म लेते ही छेद करके फल के अन्दर घुस जाती है और भीतर ही भीतर वृद्धि पाती रहती है, जिससे फल खाने लायक नहीं रहता। कीटग्रस्त फल टपक भी पड़ते हैं। अमरूद, लुकाट, इमली, सन्तरा आदि के फल भी इसके भक्ष्य हैं। किन्तु वास्तव में इसका मुख्य भोजन अनार ही है।

इल्ली पूँछ के अन्तिम छोर से छेद को बन्द किए रहती है और इसी छेद में से विसर्जित मल बाहर फेंकती है।

उपचार—इल्ली फल के अन्दर ही रहती है। अतएव ओषधि से इसको मारना संभव नहीं। मादा अधिकतर फूल में ही अण्डे रखती है अतएव फल पर क्राफ्ट पेपर या महीन कपड़े की थैली बाँध देने पर भी कुछ फल खराब हो ही जाती हैं। फिर भी, उत्तम जाति के फलों की रक्षा की दृष्टि से गर्भाधान हो जाने पर फूलों पर या नवजात फलों पर महीन कपड़े की या क्राफ्ट पेपर की थैलियाँ बांधना लाभदायक ही है।

फूल और फलों पर बारह औंस क्रूड आइल इमलशन को दस गैलन पानी में मिलाकर छिड़कने से एक हद तक फसल की रक्षा हो जाती है। साबुन मिला हुआ तमाखू का सत भी छिड़का जा सकता है।

प्रति तीसरे चौथे दिन फूल और फलों को सावधानी पूर्वक देखकर अंडों को मार डालना चाहिए।

स—रस पीने वाले कीड़े

मोया, चिकटा, लही, लखी आदि की जाति के छोटे-छोटे कीड़े पत्ते के नीचे के भाग पर जम जाते हैं। तमाखू का सत या राल का मिश्रण छिड़कना लाभ-दायक है।

अंगूर की लता के कीड़े

अ—पत्र भक्षक कीड़े

कई प्रकार के कीड़े अंगूर की बेल के पत्ते खाते हैं। किन्तु बहुत ही थोड़े-थोड़े ऐसे हैं, जो ज्यादा पत्ते खाकर बेल को कमजोर बनाते हैं।

उदड़िया या उड़दिया—इसे कहीं-कहीं 'उड़ेदा और उधेड़ा' भी कहते हैं। यह भारत के सभी भाग में पाया जाता

है। अंगूर की लता की जाति की जंगली बेलों और पौधों पर भी यह पाया जाता है। इससे फसल को बहुत हानि पहुंचती है। इसके जीवन-क्रम के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त हो पाई है। यह लता के अंकुरों को खाकर नष्ट कर देता है।

उपचार—लता पर लकड़ी से धीरे-धीरे आघात करने पर कीड़ा जमीन पर गिर पड़ता है। इसे एकत्रित करके मार डालना चाहिए। पूर्णावस्था प्राप्त भुंगा, हाथजाली से भी पकड़ा जा सकता है। छँटाई करने के बाद लता पर उदर-विष-छिड़कना भी लाभदायक है। शाखाओं पर तीन-चार पत्र-कलिकाएं रख कर शेष भाग छांट दिये जाने चाहिए। और उखड़ी हुई छाल को भी सावधानी से काट कर हटा दिया जाना चाहिए।

केले के सूखे हुए पत्तों की कम चौडी लम्बी चिन्दियां करके उन्हे मेहतर के झाड़ू की तरह बाँध कर दो शाखाओं के जोड़ पर रखदेना चाहिए। रात को भुंगे इनमें जमा हो जायंगे। दूसरे दिन सवेरे इन भुंगों को, मिट्टी के तेल के मिश्रण या फिनाइल मिश्रण में, झटक कर गिरा देना चाहिए। कीड़े मर जायंगे।

सुरंगी—एक प्रकार की सुरंगी (P. Toparcha) पत्तों में सुरंग बनाती है। इस पर पहले लिख आए हैं।

ब—तना शाखा छेदने वाले कीड़े

तना—शाखा में छेद करने वाले कीड़ों की संख्या नगण्य हैं और इनसे पौधों की नाम-मात्र की क्षति होती है। अतएव इन पर यहाँ कुछ नहीं लिखा गया है।

स—फल का रस पीने वाले कीड़े

फल—तितली और डोकरी पर अन्यत्र लिख आए हैं। फल-तितली फल में छेद करके रस पीती है, जिससे वे सड़ जाते हैं।

च—रस चूसने वाले कीड़े

लाखी, मोया, लद्दी आदि कीड़े अंगूर की लता का रस पीते हैं। ये पत्ते के नीचे के भाग पर जम जाते हैं।

उपचार—राल का मिश्रण, तमाखू का सत या क्रूड-आइल-इमलशन छिड़कना लाभदायक है।

ज—जड़ खाने वाले कीड़े

दीमक—इस पर पहले लिखा ही जा चुका है।

केला के झाड़ के कीड़े

भारत में कई उपजाति के केले बोये जाते हैं, और इन पर कइ प्रकार के कीड़े आक्रमण करते हैं। इन में से तने में छेद करने वाले कीड़ों से ही पेड़ को क्षति पहुँचती है।

अ—पत्रभक्षक कीड़े

कोलिया, अरकन, और आकुटेलु नामक कीड़ों के सम्बन्ध में गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है। कोलिया की इल्ली को, पत्तों पर से चुनकर सरलतापूर्वक नष्ट किया जा सकता है। छेदों का पता लगाकर इल्ली को पकड़ कर मार डालना बहुत ही सरल काम है। आकुटेलु की इल्ली को हाथ से कदापि न छूआ जाय, चिमटे का ही उपयोग किया जाना चाहिए।

नोडोस्टोमा—इसका लैटिन नाम Nodostoma subcostata है। स्थानीय नाम का पता न चलने के कारण ही लैटिन नाम के पूर्वार्द्ध को ही कीड़े का नाम मान लिया गया है। यह छोटा-सा भुंगा, पत्ते में कई छेद कर देता है। यह कम उम्र के पोधों के पत्ते भी खाता है, जिससे उस पर काले दाग पड़ जाते हैं। भुंगा पत्ते के बीच ही शिरा की नाली में बैठा रहता है और सरलता से पकड़ा जा सकता है।

उपचार—इने गिने झाड़ों पर के कीड़े हाथ से पकड़े जा सकते हैं। किन्तु बगीचे के झाड़ों पर उदर-विष छिड़कना ही लाभ-दायक है।

[क्रमशः]

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जयन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७३ सम्वत् २००८ जुलाई १९५१ संख्या ४

प्रयोगशाला में ईंधन की समस्या

आज हमारे लिए यह कहना कठिन है कि संसार की किस अन्वेषणशाला में आग का पहली बार अन्वेषण हुआ। इस देश की परम्परागत आयी हुई विचारधारा यह बताती है कि अपौरुषेय प्रथम कला जो मनुष्य द्वारा अवतीर्ण हुई, उसका सर्वप्रथम शब्द ही "अग्नि" था—अग्निमीले पुरोहितं० । यह अग्नि ही साम का प्रथम गान थी—"अग्न आयाहिवीतये ०"। यह अग्नि ही यजुः के यज्ञों का आधार थी। अग्नि के साथ मनुष्य की संस्कृति का विकास हुआ। अग्नि की स्थापना प्रत्येक घर में की गयी । गृहस्थी में अग्नि का शाश्वत प्रज्वलित रहना आवश्यक समझा गया और इस गार्हपत्य अग्नि से जीवन की अन्तिम दृष्टि भी प्रज्वलित की गयी—दाह संस्कार में इसका व्यवहार हुआ। अग्नि की साक्षी ने दम्पति को प्रणय सूत्र में बाँधा। सर्वतोन्खी उपयोग के कारण ऋषियों ने इस अग्नि दूतका वरण किया—अग्निदूतं वृषीमहे० ।

हमारे देश का प्राचीन शिष्य हाथ में अरणि लेकर—समित्पाणि होकर—गुरु के पास शिक्षा-दीक्ष के लिए पहुँचने लगा। ये अरणियाँ या समिधा संसार का प्राचीनतम ईंधन हैं। काष्ठ की इ अरणियों से अग्नि के विस्फुल्लिंग उत्पन्न करने की कला विशेष पुरोहितों और याज्ञिकों को ही ज्ञात थी, और अग्नि-मन्थन का कार्य्य विशेष निष्ठा औ सार्वजनिक उत्साह से किया जाता था। यज्ञ की सहकारिता में हमारे देश के छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र और रेखागणित का विकास हुआ, और इस यज्ञ के साथ ही अग्निशास्त्र और इध्मशास्त्र का विवर्धन हुआ। यज्ञ पहली अन्वेषणशाला थी, जिसमें इध्म या ईंधन का प्रयोग करना सीखा गया। "अयन्त इध्म आत्मा०" और "ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः०" आदि ऋचाओं में ईंधन या इध्म का उल्लेख अति प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। अग्नि, उसका आश्रय इध्म, और उसका भक्ष्य या उत्तेजक

हविष्, इसका प्रस्तार और विस्तार वैदिक युग में बड़ी निष्ठा से हुआ। अनेक वनस्पतियों और वन के अनेक काष्ठों का प्रयोग करके यज्ञ के लिए ग्राह्य और त्याज्य इध्म का विवेचन किया गया।

यज्ञ से संपर्क रखने वाली दूसरी सत्ता गो गाय थी। गाय के दूध और घी ने यज्ञ को सफल बनाया। विना आज्य अथवा घृत के यज्ञ सफल ही न था। इस गो के गोमय या गोवर ने आर्य्य संस्कृति के अनेक अंगों में स्थान पाया। गोवर ने कृषि, आयुर्वेद, शिल्प और यज्ञ भूमि में स्थान तो पाया ही, इसने इस देश की गृहस्थी में ईंधन के रूप में भी स्थान ले लिया। गोवर के कण्डे किसने कब बनाए, यह प्रश्न उठाना व्यर्थ है। इस ईंधन का आविष्कार जनता की घरेलू प्रयोगशाला में हुआ। इसका उपयोग आयुर्वेद की अन्वेषण शालाओं में भी होने लगा। कौटलीय अर्थशास्त्र में कुप्याध्यक्ष के कर्त्तव्यों में अनेक प्रकार के काष्ठों के संग्रह का उल्लेख है।

ईंधन पर आजकल की अन्वेषण-शालाओं का ध्यान विशेष रूप से गया है। इन प्रयोगशालाओं में तीन प्रकार के ईंधनों की मीमांसा की गयी है। एक तो सार्वजनिक व्यवहार के लिए ईंधन, कारखानों के लिये ईंधन और विशिष्ट प्रयोगों के लिए ईंधन। सार्वजनिक उपयोग के ईंधनों में लकड़ी, गोबर, कोयला, गैस और मिट्टी का तेल है। लकड़ी आजकल हमें अन्य कार्य्यों के लिये सुरक्षित रखनी है—दियासलाइयों, वस्त्रों और कागज के कारखानों के लिए, गोबर का ईंधन में प्रयोग करना इसका दुरुपयोग है, क्योंकि इसका सब से अच्छा उपयोग खाद में है। कोयला पत्थर के कोयले, लकड़ी के कोयले, पीट और कोक के रूप में प्रयुक्त होता है। हमारे देश में पत्थर के कोयले का सब से अधिक खर्चा रेलगाड़ियों में हैं। कोयले का भंडार भी सीमित है, और जिस रूप में यह साधारणतया भट्टियों में जलाया जाता है, उस रूप में ३० प्रतिशत से कम ही इसकी गर्मी का उपयोग हो पाता है, यदि इसी कोयले को अधिक वैज्ञानिक विधियों से उपयोग में लावें, तो जो ईंधन १ वरस चलेगा, उसमें हम डेढ़ वरस का काम निकाल सकते हैं। भारतवर्ष की प्रयोगशालाओं में और विदेशी प्रयोगशालाओं में पत्थर के कोयले के चूरे के उपयोग की पद्धति निकाली गयी है। खानों में से निकालते समय खान से विभिन्न स्थानों तक ढोते समय और फिर एंजिन में प्रयोग करते समय बहुत सा कोयला चूरा बन जाता है। इस चूरे को जमाकर बड़े बड़े ढोके, जिन्हें ब्रिकेट कहते हैं, बनाने की सफल पद्धतियाँ निकाली गयी हैं। उद्देश्य यह है कि आज ईंधन को देश की महत्वपूर्ण सम्पत्ति माना जाता है, और इसके किसी भी अंश को नष्ट न होने देना वाञ्छनीय समझा जाता है।

कारखानों में ईंधन का प्रश्न बड़े ही महत्व का है। यदि किसी भी विधि से २-४ प्रतिशत खर्चे की कमी करली जाय तो इससे कारखाने के स्वामियों को वर्ष के अन्त में लाखों का लाभ हो जाता है। कारखानों की दृष्टि से ईंधन की समस्या के अन्तर्गत ही भट्टियों के बनाने की समस्या मानी जाती है। ईंधन संबंधी अन्वेषणशालाओं में भट्टियों के निर्माण पर बड़ा ध्यान रक्खा जाता है। इन अन्वेषणशालाओं में भट्टियों को इस प्रकार की रूपरेखा दी गयी है, कि ईंधन से प्राप्त समस्त गर्मी का सुचारु रूप में उपयोग हो सके। ईंधन की गर्मी का किस प्रकार व्यर्थ दुरुपयोग होता है, इसका हम एक उदाहरण लेंगे। रेल के एंजिन को ही लीजिए। एंजिन के मुख से निकला हुआ धुआँ मुख से निकलते समय काफ़ी गरम होता है, जब यह अन्तरिक्ष में उड़ा दिया जाता है, तो इसकी गर्मी का व्यर्थ ही क्षय हो जाता है। इस धुयें के साथ साथ कोयले के सूक्ष्म कण भी उड़जाते हैं। यह भी दुरुपयोग है। कारखानों के अच्छे मालिक

न तो कोयले के उड़ जाने को क्षम्य समझेंगे और न धुएँ के साथ जो गरमी उड़ गयी उसको ही। अतः अनेक कारखानों की भट्टियों में इस प्रकार का प्रबन्ध किया गया है कि साथ में उड़े हुए कोयले या कार्बन के कण भी इकट्ठे कर लिए जायँ और जो धुएँ या कार्बन द्विआक्साइड के साथ गर्मी गयी है, उसे भी फिर काम में लाया जाय। इस काम के लिए अन्वेषणशालाओं के कार्यों के फलस्वरूप कूपर-पुनरुत्पादक स्टोव या रीजेनेरेटिव स्टोव बनाए गए हैं। भट्टियों के मुख से निकली हुई तप्त गैसें ठंढी हो कर बाहर निकलने के पूर्व ईंटों के बने कमरों या वेश्मों को तप्त करती हैं। जब ये वेश्म तप्त हो जाते हैं, तो इनमें हवा का प्रवाह प्रविष्ट होता है और जब यह हवा इन वेश्मों से गरमी ले लेती है, तो फिर यह गरम हवा भट्टी के ईंधन पर जाती है। इस प्रकार ईंधन की व्यर्थ नष्ट गरमी फिर उसे प्राप्त हो जाती है। यह तो मैंने एक सरल उदाहरण दिया। अन्वेषणशालाओं में ईंधन के प्रश्न के समाधान में इन सब बातों का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। ईंधन के प्रश्न के साथ-साथ भट्टियों की कला का प्रश्न सन्निहित और सबद्ध है।

अन्वेषणशालाओं में ईंधन के प्रश्न पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जाता है। मान लीजिए कि आपको किसी ऐसे कारखाने या नगर में ईंधन पहुँचाना है जो कोयले या मिट्टी के तेल की खान से अथवा जंगल से ५० मील दूरी पर है। अब प्रश्न यह है कि इस नगर में ईंधन किस रूप में पहुँचाना सरल होगा। जंगलों की लकड़ी की ढुलाई में खर्चा अधिक है पर यदि उस लकड़ी का कोयला बना लिया जाय, तो फिर ढुलाई का खर्चा कम हो जायगा। पत्थर के कोयले की अपेक्षा कोक की ढुलायी कम पड़ती है, यद्यपि पत्थर के कोयले से कोक बनाने में ईंधन के लाभदायक गुणों में अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार गत १५-२० वर्ष के अनुसन्धानों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि यदि तप्त कोयले पर वायु अथवा जलवाष्प की क्रिया से कुछ दाह्य गैसें बना ली जाँय, तो उनका उपयोग करना बड़ा सुविधाजनक होगा। इस प्रकार वाटर गैस और सेमि-वाटर गैस तैयार की गयीं। कोयले से चलने वाली मोटर लारियों में प्रोड्यूसर गैस का प्रयोग शायद आप ने देखा हो। इस गैस ने पेट्रौल का काम दिया। इसी प्रकार एक मौंड गैस भी है, जो भाप और कोयले के योग से बनायी गयी। डाउमन गैस भी इसी प्रकार की है जो कोक और कोयले के योग से बनायी जाती है।

कारखानों से संलग्न अन्वेषणशालाओं में एक दृष्टि से प्रयोग और आरम्भ किए गए। ईंधन जब जलाया जाता है तो उसके जलाने का मुख्य उद्देश्य तो गरमी प्राप्त करना है। पर पत्थर के कोयले में गन्धक, और नाइट्रोजन से बने यौगिक भी होते हैं। साधारण भट्टियों में ये यौगिक व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं। बड़े बड़े कारखानों में यह प्रयत्न किया गया है कि इन यौगिकों को पृथक् करके उनका सदुपयोग कर लिया जाय। भट्टियों से निकली गैसों में से अमोनिया और उसके लवण निकाले जाते हैं, जिनका उपयोग खाद में होता है। इन गैसों में जो हाइड्रोसायनिक ऐसिड गैस निकलती है, उससे सायनाइड तैयार किए जाते हैं, जिनका उपयोग चाँदी और सोने के धातुकर्मों में होता है। गन्धक के यौगिकों के उपयोग से सलफ्यूरिकऐसिड भी बनाया जाता है। हजारों टन कोयला जिस कारखाने में जलता हो, उसकी व्यर्थ गैसों से ५०-१०० टन यदि और कोई चीज तैयार कर ली जाय, तो व्यवसाय की दृष्टि से वह कितने महत्व की होगी, इसका आप अनुमान कर सकते हैं। ईंधन संबंधी अन्वेषणशालाओं में ईंधन के इन विविध प्रश्नों पर उदारता पूर्वक विचार किया जाता है।

आजकल की संस्कृति में ईंधन का विशेष महत्व है। बिजली का युग जब से आया, तब से इसने ईंधन के प्रश्न को एक दूसरा रूप दे दिया। बिजली दो प्रकार से प्राप्त की जाती है। एक तो कोयला आदि ईंधन को जलाकर और दूसरे बिना ईंधन के। बिना ईंधन वाली बिजली वह है जो जल-प्रपातों के प्रयोग से प्राप्त की जाती है। ईंधन के साथ आजकल के शिल्पियों ने जिस प्रकार भट्टियों की कल का विकास किया है, उसी प्रकार बिजली के उत्तरोत्तर उपयोग के साथ साथ बिजली की भट्टियों के निर्माणकी कला भी विकसित हुई। बिजली की भट्टियों द्वारा हमें अत्युच्च तापक्रम प्राप्त होता है। लकड़ी या कोयले की भट्टियों में हम कठिनता से ३००-४००° का तापक्रम प्राप्त कर सकते हैं। कोल गैस जलाकर १८००° का तापक्रम हमें मिलता है। हाइड्रोजन गैस को जलाकर १६००° और एसिटिलीनगैस को जलाकर २५००° का तापक्रम प्राप्त कर सकते हैं। आक्सीजन और एसिटिलीन के मिश्रण में ३०००° के लगभग का तापक्रम मिल सकता है। पर यदि बिजली के आर्क का प्रयोग करें तो ३७००° तक का तापक्रम हम प्राप्त कर सकते हैं। बिजली की भट्टियों में हम ४५००° तक के ऊँचे तापक्रमों को प्राप्त कर सके हैं। आज के व्यवसाय में अनेक कार्यों के लिए हमें इन उच्च तापक्रमों की आवश्यकता है। बिजली की भट्टियों में और उनमें संचालित कार्यों या चापों में हम न केवल ऐल्यूमीनियम ऐसी धातुयें तैयार करते हैं, हमें कैलसियम कार्बाइड, कर्बोरंडम आदि पदार्थ भी मिलते हैं, और यही नहीं, इसकी सहायता से हम हवा के नाइट्रोजन और आक्सीजन को संयुक्त करके बिना शोरे के नाइट्रिक ऐसिड भी बना सकते हैं। यह बिजली का ईंधन आज इस दृष्टि में बड़े महत्व का है, और हाइड्रोइलेक्ट्रिक आयोजना से प्राप्त बिजली हमारे ईंधन के प्रश्न को सुगमता से सुलझाने में समर्थवान है।

भावीयुग का ईंधन न कोयले की प्रतीक्षा करेगा और न पैट्रौल की। अब हम परमाणु युग में आगए हैं, आजकल की अन्वेषणशालायें परमाणुओं के विच्छेद से अपने कार्यों के लिए गरमी प्राप्त करेंगी। अब हम यह समझ सके हैं कि सूर्य अपने ताप के के भंडार से परमाणुओं के विच्छेद द्वारा कि सप्रकार स्थायी बनाए हुए है। एक सेर प्लूटोनियम के साधारण परमाणु विच्छेद से एक नगर के ईंधन का कई दिनों तक के लिए प्रश्न हल हो सकता है। हमारे देश में मोनेजाइट बालू में जो थोरियम धातु है, वह भविष्य में हमारे ईंधन का अच्छा स्रोत बनेगी। परमाणुओं के भीतर की अक्षय शक्ति हमारी ईंधन सम्बन्धी आशंकाओं को संभवता दूर कर दे, ऐसा हम आज स्वप्न देख रहे हैं।

[आॅल इंडिया रेडियो के सौजन्य से]

[सत्य प्रकाश]

जड़ी बूटियाँ और औषधि विज्ञान

लेखक—जयनारायण

जड़ी बूटियों के ज्ञान से ही नवीन औषधि विज्ञान का विकास हुआ है, प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त विज्ञान के विकास का एक संक्षिप्त इतिहास मिलेगा। लेख में बड़ी उपयोगी सूचना है।

इतिहासज्ञों का कहना है कि जड़ी-बूटियों का वास्तविक उत्थान तीन सहस्त्र वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में इस अनुभव-जन्य ज्ञान को पुस्तकों में सीमित किया गया। इस विशाल भण्डार का निर्माण औषधियों के मनोहर इतिहास में प्रथम खण्ड है। इस संकलन में कुछ औषधियां ऐसी थीं जो यथार्थ में प्रभाव पहुँचाने वाली थीं और कुछ ऐसी थीं जिनका मूल अज्ञानता और भ्रान्ति में था अथवा जिनको परम्परा-गत प्रसिद्धि प्राप्त थी। सामयिक मनुष्यों के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि सच्ची औषधियाँ कौन कौन सी हैं तथा किसी रोग पर भिन्न भिन्न औषधियों अथवा उनके मिश्रणों का क्या प्रभाव होता है। प्रयास का यह परिणाम निकला कि सच्ची औषधियों का विन्यास जटिल है और अन्ततोगत्वा भेषज-विद्या की उन्नति हो चली।

अठारहवीं शताब्दी में रसायन और भेषज-विद्या में घनिष्टता बढ़ गई। रासायनिकों द्वारा प्राप्त वस्तुओं के औषधि सम्बन्धी गुणों की भेषज्ञों ने तथा भेषज्ञों द्वारा प्राप्त वस्तुओं के रासायनिक गुणों की रासायनिकों ने छान-बीन की। विज्ञान की इन दो शाखाओं को पारस्परिक सहयोग इन दोनों के विकास के लिए हितकर सिद्ध हुआ। इसी शताब्दी में फर्कराय सिनकोना की छाल से रवेदार कुनैन निकालने में सफल हुए और आने वाली शताब्दी में प्राकृतिक औषधियों के क्रियमाण अवयवों (active principles) को पाने की विधि अधिक विस्तीर्ण हो गयी। भिन्न भिन्न औषधियों से शुद्ध क्रियमाण अवयवों को निकाला गया और फिर उनके रासायनिक एवं औषधीय गुणों की जांच की गई। इन्हीं दो कार्य-प्रणालियों ने जड़ी-बूटियों की वास्तविक स्थिति पर बहुत प्रकाश डाला। प्राचीन भेषज्ञ-वेत्ताओं ने औषधि की प्राप्ति के बारे में बहुत कुछ लिखा है। कुछ विधियों में तो वैज्ञानिक तथ्य है पर कुछ में नहीं। उदाहरण के लिए इन वेत्ताओं का कहना था कि किसी विशेष औषधि को विशिष्ट पक्ष में निकालना चाहिए; यह तो केवल तंत्रादिक रस्मों से सम्बन्धित है। औषधियाँ रखने पर खराब हो जाती हैं, ऐसा इन भेषज्ञों का कहना था और वास्तविक बात ऐसी ही है। फॉक्सग्लव की पत्तियाँ अगर तोड़ने के बाद न सुखाई जायँ तो उनके भेषजीय गुण नमी और इंजाइमों द्वारा नष्ट हो जाते हैं। कच्ची औषधियाँ व्यवहार में नहीं लाई जाती थीं। इसलिये कि क्रियमाण पदार्थों के साथ-साथ अन्य हानिकारक पदार्थों की उपस्थिति असंभव नहीं है जैसे कि कच्ची पेनिसिलिनों के साथ पाइरोजीन (pyrogens) भी मिलते हैं जो शरीर प्रणाली में बुख़ार पैदा कर देते हैं।

आधुनिक भेपज में इन कठिनाइयों को दो प्रधान विधियों से दूर किया गया है (१) औषधि का नियतीकरण(standardization of the drug) (२) क्रियमाण पदार्थ की प्राप्ति (isolation of the active principle)। जीव विज्ञान सम्बन्धी परीक्षणों द्वारा औषधियों की नियत (standard) निर्धारित की जाती है। उदाहरण के लिए पेनिसिलिन के नियतीकरण (standardization) में स्ट्रिप्टो-कोकस ऑरियस (Strepto cocus aureus) का उपयोग होता है: भाँग (हशीश) के नियतीकरण में कुत्तों के ऊपर परीक्षण किया जाता है तथा कुनैन अथवा कुनैन से सम्बन्धित दवाइयों के नियतीकरण में चिड़ियों या मुर्गी के बच्चों का उपयोग होता है। पेनिसिलिन इन बेक्टीरिया की वृद्धि को रोक देता है वह मात्रा जो इनकी वृद्धि को रोक देने में समर्थ होती है पेनिसिलिन की नियत कहलाती है। भांग कुत्तों में एटेक्सिया उत्पन्न कर देती है वह मात्रा जो एटेक्सिया उत्पन्न करने में समर्थ होती है भाँग की नियत होती है। चिड़ियों या मुर्गी के बच्चों में मलेरिया कृत्रिम रूप से पैदा किया जाता है; औषधि की वह मात्रा जो इस कृत्रिम मलेरिया के रोक देने में समर्थ होती है उस औषधि की नियत कहलाती है। इस प्रकार प्रत्येक औषधि की शुद्धता पर नियंत्रण किया गया। प्रगतिशील देशों के पास भेषज रत्नमालाएँ (pharmacopoeias) हैं जो एक सामान्य आधार पर बनाई गई हैं। इनमें समस्त औषधियों की सूची है जिनकी शुद्धता के नियंत्रणादि विवरण भी दिये हुए हैं।

प्राकृतिक स्रोत से पाई गई औषधि से क्रियमाण पदार्थ को अलग करना दूसरी विधि है। एक औषधि में नाना प्रकार के निष्क्रिय पदार्थ सम्मिलित रहते हैं जैसे जल, लिगनेन (lignans) सेल्युलोज (cellulose), ग्लूकोज (glucose) और स्टार्च (Starch): इनके अतिरिक्त खाद्य पदार्थों में पाये जाने वाले पोषक वर्ग की वस्तुएँ भी रहती हैं। रासायनिक का यह अनुभव है कि क्रियमाण पदार्थ एक नहीं कई हुआ करते हैं और इस मिश्रण के अन्तर्गत ही सारी क्रियाशीलता निहित रहती है। अतएव अनावश्यक पदार्थों को निकाल कर क्रियमाण पदार्थ को प्राप्त किया जाता हैं। रासायनिक अन्वेषण से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लाभ यह निकला है कि क्रियमाण पदार्थ के विन्यास का पता चल जाता हैं और उसको रसायन शाला में संयुक्त (Synthesise) किये जाने का प्रयास भी किया जा सकता है। मनुष्य ने इस भाँति कुछ स्वावलम्बन सीखा है। औषधि के विन्यास में एक सामान्य परिवर्तन से ही कुछ नवीन औषधियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अतः इस प्रणाली को प्राकृतिक पदार्थों के क्षेत्र को विशाल करने का श्रेय प्राप्त है। कोकेन अचेतनता लाने वाली एक बड़ी बहुमूल्य औषधि है जो कोका नामक वृक्ष की पत्तियों से प्राप्त की जाती है। रासायनिक अन्वेषण से संगठन ज्ञात हो जाने पर प्रयोगशाला में इसको संयुक्त करने की कोशिश की गई। आरम्भ में वैज्ञानिक सफल नहीं हुये पर उन्होंने कोकेन से सम्बन्धित अन्य पदार्थों का संश्लेषण कर लिया। यूकेन (eucaine) इनमें प्रसिद्ध है; स्टोवेन (stovaine) हॉलोकेन (holocaine), नोवोकेन (novocaine) आदि अन्य संश्लेपित (synthetic) औषधियाँ हैं जो अचेतनता लाने में संतोषजनक सिद्ध हुई हैं।

नियंत्रित रासायनिक अन्वेषण से नवीन औषधियों का अनुसंधान हुआ। आक्सफोर्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में की गई गवेषणाएँ इसका सफल एवं उत्कृष्ट उदाहरण हैं। प्राचीन जड़ी-बूटी के विशेषज्ञों के नुस्खों में नाना प्रकार के पौधों के रसों का उपयोग होता है। पौधों के रसों को उन्हीं विधियों द्वारा निकाला गया जिनसे जड़ी-बूटी के ज्ञाता निकाला

करते थे। रसों का परीक्षण स्टेफीलो कोकस आरियस (Staphylococus aureus) वेसीलस कोली (Bacillus coli) इत्यादि बेक्टीरिया पर किया गया। पौधों के विभिन्न वर्गों में बेक्टीरिया की प्रगति को स्थगित कर देने की क्षमता कई दर्जे तक की पाई गई।

यद्यपि भेषज-विज्ञान का आधुनिक रूप प्राचीन जड़ी-बूटी वाद की नींव पर निर्मित हुआ है और इस विज्ञान की शाखा में प्राचीन तत्व-वेत्ताओं से अपूर्व सहायता मिली है तो भी हम यह कहने पर स्वतः बाध्य होते हैं कि प्राचीन ज्ञान से कहीं अधिक उत्थित और अग्रगण्य आज का औषधि विज्ञान हैं। जड़ी-बूटी विशेषज्ञों की आज भी इगलैंड, क्या समस्त यूरोप अथवा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में दूकानें मिलती हैं। अनुमान ऐसा है कि व्यापार-वाद ने जड़ी-बूटी-वाद को सामयिक उत्थान दिया है और इसके प्रसरण में इससे बहुत सहायता मिली है।

अब हम यहाँ पर मुख्य जड़ी-बूटियों का संक्षिप्त विवरण देंगे। डेडली नाइटशेड ('Deadly night shade) में एक क्षार मिलता है जिसको मिड्रियाटिक क्षार (mydriatic alkaloid) कहते हैं। इसमें आँखों की पुतलियों को स्थिर कर देने की क्षमता होती है। इसका लेटिन नाम एट्रोपा वेलाडोना (Atropa belladonna) है जिसके अर्थ 'सुन्दर' रमणी हैं। भूतकाल में स्त्रियाँ अपने को मोहक बनाने के लिए इसके फलों और पत्तियों के रसों का उपयोग करती थीं। आँखों में लगाने पर उनमें स्थिरता वढ़ जाती है अतएव मादकता कई गुनी हो जाया करती है। नाइटशेड में एट्रोपीन (atropine) नामक क्षार भी मिलता है जो विष है। नाइटशेड के वृक्ष अब विरले ही पाये जाने लगे हैं क्योंकि बच्चों के लिये हानिकर होने के कारण इनको नष्ट किया जाता रहा है पर अब इन पेड़ों की वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि की जाती है। पत्तियों से एट्रोपीन निकाला जाता है जिनमें सम्भवतः आधा प्रतिशत एक अन्य क्षार हियोस क्यामीन भी रहता है। नेत्र की शल्य-क्रिया में एट्रोपीन का बहुत उपयोग होता है। यह तपेदिक के रोगियों में पसीने और बेचैनी को कम कर देता है। एट्रोपीन के विषपान में मनुष्य की आँखें निकल आती हैं। मुंह सूख जाता है और बेहोशी छा जाती है। अगर मात्रा अधिक होती है तो साधारण लकवे का आक्रमण हो जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

वनस्पति परिवार के हियोस्क्यामस (Hyoscyamus) की कई जातियों में पाये जाने वाले क्रियमाण क्षार को हियोस्क्यामीन (hyoscyamine) कहते हैं। इसी वनस्पति परिवार में गांजा और भांग भी हैं। यह सैकड़ों वर्षों की विख्यात औषधि है। वे बीलोनिया के निवासी दांत के दर्द को कम करने के लिए इसके बीजों को उपयोग में लाते थे। इंगलैंड के कुछ भागों में तथा यूरोप के कुछ प्रदेशों में मुख्य कर बलकान्स (Balkans) में अभी भी इसका इस प्रकार उपयोग होता है। ईजिप्त की भांग, हीयोसक्यामस म्युटिकस (Hyoscyamus muticus) से हियोसक्यमीन व्यापारिक मात्रा में निकाला जाता है।

हियोसकीन (Hyoscine) एक दूसरी औषधि है जो एट्रोपीन और हियोसक्यामीन से मिलती-जुलती है और वानस्पतिक वर्ग सोलानासी (Solanacae) की कई जातियों में पाई जाती है। मोरफीन (Morphine) के साथ यह प्रसूतावस्था में हल्की निद्रा लाने के काम में लाई जाती है। नशेदार सिगरेटों के उत्पादन में भी इसका उपयोग होता है। सोलानासी वर्ग में डेडली नाइटशेड, आलू और टमाटर भी सम्मिलित है, धतूरा 'डेटुरा मेटल' (Datura metel) भारतवर्ष का एक सफेद फूल वाला पौधा

है। धतूरा की एक जाति, थार्न एपुल (Datura stramonium) एशिया के कई भागों में पाई जाती है। इसकी पत्तियों और बीजों से हियोसकीन और हियोसक्यामीन मिलता है। नूबियन लोग (Nubians) इसकी पत्तियों के धुएं को दमे और कंठ की बीमारियों में आराम पहुँचाने के लिये पीते थे। इंगलैण्ड में इसका प्रचार महान भेषज-वेत्ता जान गेरार्ड ने किया था। मेनड्रेक (Mandrake) की जड़ से हियोसकीन और हियोसक्यामीन के साथ साथ मेनड्रागोराइन (mandragorine) नामक औषधि मिलती है। यह कामोत्तेजक है अतः प्रेमी लोग वशीकरण की औषधि में इसका उपयोग करते हैं। स्त्रियाँ अपने पास सौंदर्य और मादकता लाने के लिये इसे रखती हैं। केंट, ग्रीस, सीरिया और टर्की की नारियाँ मेनड्रेक को इसी भाँति उपयोग करती है। आल्प्स पर्वत के चढ़ने वाले इसे अपने साथ रखा करते हैं क्योंकि यह शिथिलता को दूर करती हैं और शक्ति को प्रदान करती है।

कटु-विष (Monk'shood) एक दूसरा पौधा है जो विषाक्त गुणों के लिये प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। इसकी साधारण जाति एकोनाइटस नेपिलस (Aconitus napelus) है। यह एकोनी (Aconae) नामक शहर के आसपास बहुत पाया जाता था, इसलिये इसका नाम एकोनाइटस रक्खा गया। यह पौधा योरोप और एशिया के कई भागों में मिलता है। कभी-कभी बागवान इसको बगीचों में शोभा के लिये लगाया करते हैं। कटु-विष में कई विषैले क्षार मिलते हैं जिनका सम्मिलित नाम एकोनिटीन (Aconitine) हैं। अपराधियों की फाँसी में एकोनिटीन का उपयोग हुआ करता है। एक ग्रेन का पचासवाँ भाग प्राणान्तक सिद्ध होता है। एकोनिटीन के विषैले प्रभाव में आंखें निकल आती हैं, नाड़ी धीमी हो जाती है और आंशिक पक्षाघात का आक्रमण होता जाता है। मनुष्य को डर बहुत मालूम देता है और जब गहरा विष चढ़ जाता है तो पक्षाघात पूरी तरह से आजाता है और मृत्यु शीघ्र हो जाती है।

यूनानी लोग हेमलॉक (Hemlock) कोनियम मेकुलेटम (Conium maculatum) का उपयोग फाँसियों में करते थे। सुकरात के मृत्यु-दण्ड में इसी पौधे के आसव को दिया गया था। इसके विषपान से लकवा प्रारम्भ होता है और जैसे ही जैसे समय बीतता जाता है पैरों में भारीपन मालूम देने लगता है और अंत में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। मानसिक विक्षेप का कोई प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि सुकरात अंत तक होश में था। हेमलाक का क्रियमाण अवयव कोनीआइन (Coniine) है जो कि चूहों की सी दुर्गंध वाला द्रव है। हेमलाक की पत्ती का उपयोग निद्रा लाने में होता है। बवासीर और गुदा-सम्बन्धी अन्य रोगों में इसको पीस कर लेप के रूप में लगाया जाता है।

हेलेबोर (Hellebore) एक अन्य विषैला पौधा है। इसमें पाये जाने वाले क्षारों का सामूहिक नाम विराट्रीन (Veratrine) है। विराट्रीन एक भयानक विष है। कभी-कभी नसों के दर्द में वैद्य लोग उपयोग करने के लिए बतलाते हैं।

यद्यपि स्ट्रिचनीन का उपयोग औषधि में बहुत होता है तो भी यह विष की भांति जानी जाती है। यह स्ट्रिचनास (Strychnos) के बीजों से प्राप्त की जाती है। यह सफ़ेद, रवेदार कडुआ पदार्थ है। फांसी में काफी के साथ मिलाकर यह दी जाया करती है। काफ़ी के माध्यम में इसका कडुआपन छिप जाता है। स्ट्रिचनीन का मुख्य उपयोग आजकल कीड़ों को नष्ट करने में हो रहा है। इसके विषपान में विष के लक्षण बहुत जल्द ही दिखाई देने लगते हैं। पहले तो भयंकर एंठन शुरू हो जाती है और बाद में कंपकंपी छूटने लगता है। चेहरे की मांस पेशियों में बड़ा भयंकर

संकुचन हो जाता है और दाँतों में अनोखे प्रकार की किरकिराहट होने लगती है जैसी किरकिराहट टिटेनस की बीमारी में होती है। केंद्रीय स्नायु-संस्थान (Central nervous system) में स्ट्रिचनीन विशेष शक्ति पहुँचाती है। इंद्रियों के कार्य में तीव्रता उत्पन्न हो जाती है; सूंघने, सुनने, छूने और देखने की शक्ति दुगुनी हो जाती है। निमोनिया में स्ट्रिचनीन उत्तेजना के लिए दी जाती है और ऐसी अवस्था में इसकी पूरी खूराक रोगी के शरीर में गर्मी और जीवन-गति ला देती है। स्ट्रिचनीन से सम्बन्धित एक और क्षार ब्रूसीन (brucine) भी नक्स वामिका (Nux vomica) में मिलता है जो स्ट्रिचनीन से कम जहरीला होता है।

केफीन (Caffeine) एक बहुमूल्य उत्तेजक (stimulant) है। यह अधिकांशतया उन्हीं पौधों में मिलता है जिनका उपयोग उत्तेजक पौधों में होता है जैसे चाय, काफी, कोला, कोका और माटे। केफीन इनमें थियोब्रोमीन तथा थियोफाइलीन के साथ मिलती है। संयुक्तराष्ट्र अमेरीका में केफीन का उत्पादन संश्लेषण द्वारा किया जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि केफीन शरीर के तमाम अंगों पर प्रभाव डालती है।

जाफरान, कोलचिसम आटमनेल (Colchicum autamnale) में कोलचीसन (Colchicine) नामक मुख्य क्षार होता है जिसको गठिया बाई में प्रयोग किया जाता है। कोवलचीसीन सेल की क्रोमोसोमों की संख्या को कम कर देता है। इसका उपयोग भिन्न प्रकार के पौधों के प्रजनन तथा पैत्रिकता (Heredity) के अध्ययन में होता है।

सन् १८८७ में चीनी दवा माहुआंग (Mahuang) से इफीड्रीन (Ephedrine) निकाली गयी। यह इफीड्रा वंश के पौधों से निकाली जाया करती है। इसका प्रभाव मनुष्य प्रणाली के ऊपर एड्रीनलीन की भांति होता है इफीड्रीन दमे और गले की खरखराहट में बड़ा आराम पहुँचाती है।

पिसोस्टिगमा हिनीनोसम (Physostigma pininosum) के फल और केला-बारकी फलियों से फिसोस्टिगमीन (Physostigmine) नामक बहुमूल्य औषधि प्राप्त होती है। इसका उपयोग नेत्र शल्य-चिकित्सा में होता है। नाइजर नदी के मुहाने पर केलाबार प्रान्त में इसकी फलियाँ बहुत हुआ करती हैं। इसके विषैले होने के कारण लोग प्रायः इसे नष्ट कर दिया करते हैं। फिसोस्टिगमीन और पिलोकारपीन के सेवन से थूक बहुत निकलता है, नाड़ी बहुत मध्यम हो जाती है और पसीना अधिक निकलने लगता है।

चालमुगरा का तेल कोढ़ के रोग में अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसके उपयोग का पता लगभग पचास वर्षों से है। इसका क्रियमाण अवयव चालमुगरिक एसिड (Chaulmoogric acid) है। यह चालमुगरा, टाराकटो कुर्जी (Tarakto kurzi) नामक पौधे के बीजों के तेल से निकाला जाता है। हिडनोकारपस एंथेल मिन्टिका (Hydnocarpus anthelmentica) के बीजों के तेल के क्रियमाण अवयव हिडनोकारापक एसिड (Hydnocarpic acid) में भी ऐसा ही गुण है।

दक्षिणी अमेरिका के एक वृक्ष कुरारे (curare) से प्राप्त विष बड़ा ही तीव्र होता है। इसके क्रियमाण अवयव कुराराइन (curarine) तथा ट्युबो कुराराइन (tubeocurarine) हैं। निश्चित मात्रा में कुराराइन स्वतन्त्र कर्मण्य मांस पेशियों (involuntary muscles) में लकवा उत्पन्न कर देती हैं। विटप और अंतराल देश की शल्य-चिकित्सा (abdominal surgery) में यह मुख्य कर उपयुक्त होता है। मार्मिक अवयव जैसे गुर्दे, आँतें इत्यादि अपने स्वधर्मानुसार क्रिया करते रहते हैं अर्थात् उनके स्वतंत्र

कार्य में किसी प्रकार की भी बाधा नहीं पड़ती। कुराराइन का उपयोग बड़ी सावधानी से किया जाता है। क्योंकि निश्चित मात्रा घातक मात्रा (lethal dose) के सन्निकट ही रहती है।

जड़ी-बूटी वाद नवीन वेश में वानस्पतिक पदार्थों का अन्वेषण है जो एक सुसज्जित प्रयोगशाला ही में भली-भाँति किया जा सकता है। आधुनिक जड़ी-बूटी वाले की दूकान में केवल औषधियाँ ही नहीं रहतीं है वरन् बहुत ही लाभदायक तथा दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ भी रहती हैं। पिपरमिंट अजवायन, जाफरान, इलायची के तेल, लेवेण्डर के इत्र इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं जो आधुनिक जीवन की सर्वव्यापी आवश्यकताएँ बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त भाँति-भाँति की तम्बाकू भी इनकी दूकानों पर मिलती है। इस प्रकार ये सर्व साधारण की सेवा में तत्पर रहते हैं।

परन्तु वनस्पति साम्राज्य का क्रमानुसार अनुसंधान कार्य बड़ा ही विस्तृत और कठिन है। जब संश्लेषित औषधियां विशाल संख्या में हो जायेंगी तब तो यह खोज व्यर्थ हो चलेगी। यह अनुमान निश्चय ही सत्य है। आधुनिक रासायनिज्ञ में इतनी क्षमता नहीं है कि वह समस्त औषधियों को प्रयोगशाला में संश्लेषित कर सके। प्राकृतिक प्रयोगशाला ने सहस्रों की संख्या में सरलातिसरल एवं जटिल पदार्थों का उत्पादन कर रक्खा है जिसकी पूरी नकल मनुष्य अभी तक नहीं कर सका है। पेनिसिलिन के संश्लेषण में सैकड़ों रासायनिज्ञों ने वर्षों का मूल्यवान समय लगाया पर वे निष्फल रहे। यद्यपि समय आ जाने पर यह संश्लेषित हो जायगी तो भी रासायनज्ञ के सामने संश्लेषण का क्षेत्र अपरिमित है। वानस्पतिक औषधियों का विशाल भण्डार तो स्वतः ही प्राप्त है पर रासायनिक को उनके संश्लेषण करने में शताब्दियाँ लगेंगी। नवीन औषधियों की विस्तारमय गवेषणा ऐसा कार्य नहीं है जो सुगमता से हो जावे। अतः यह स्पष्ट है कि वनस्पति-औषधि विद्या यद्यपि विज्ञान की प्राचीनतम शाखाओं में से है इसको अपने आगे उज्ज्वल भविष्य प्राप्त है।

———

टूटने वाले तारे या उल्का

लेखक—रमेश चन्द्र गुप्त

टूटते हुए तारे देखना कभी अशुभ सूचक माना जाता था, पृथ्वी के वायुमण्डल में बड़े वेग से घुसने वाली प्रकाश की इन क्षणिक रेखाओं का रहस्य अब पता लग गया है। प्रस्तुत लेख में बड़े सरल ढंग से इनका वर्णन किया गया है।

प्रति दिन करोड़ों छोटे छोटे कण पृथ्वी के वायुमण्डल में अत्यन्त वेग से घुसते हैं, क्षण भर के लिए चमकते हैं और फिर लुप्त हो जाते हैं। प्रकाश की यह क्षणिक रेखाएँ उल्का (meteorites) या टूटने वाले तारे कहलाते हैं। कई शताब्दियों तक तारों का टूटना बिजली के चमकने की तरह केवल स्थानीय घटना ही मानी जाती थी। इस घटना की वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयत्न अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक नहीं हुआ था। सन् १७९८ में दो विद्यार्थी ब्रैन्ड्ज़ (Brandes) और बैन्ज़ैनबर्ग (Benzenberg) ने यह देखा कि यह घटना न तो बिजली की तरह बहुत पास ही होती है और न चन्द्रमा और ग्रहों के बराबर ऊँचाई पर। असंख्य उल्काओं के पथों के ध्यानपूर्वक निरीक्षण से उन्होंने कुछ उल्काओं की ऊँचाइयों और स्थितियों की गणना की। पहले निरीक्षण से उन्होंने पता लगाया कि उल्का लगभग अस्सी किलोमीटर की ऊँचाई पर चमकते हैं। उल्का के चमकने के समय को नाप कर उन्होंने दिखाया कि उनकी गति कई किलोमीटर प्रति सैकेन्ड की होती है और सिद्ध किया कि वे चन्द्रमा से ऊपर के स्थान में होते हैं। इन फलों पर तीस वर्ष तक कोई ध्यान नहीं दिया गया। अकस्मात् १२ नवम्बर सन् १८३३ को असंख्य टूटने वाले तारों की बौछार होने पर वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर फिर से आकर्षित हुआ। उस बौछार में यह दिखाई दिया कि तारे एक विन्दु से निकल कर चारों तरफ को फैले परन्तु यह केवल भ्रम ही है, क्योंकि यदि दो समानान्तर रेखाओं को बहुत दूर से देखा जाय तो वे एक विन्दु की ओर झुकती हुई दिखाई पड़ती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उल्का समानान्तर ग्रहपथों में चलकर पृथ्वी पर आते हैं।

उल्का भिन्न भिन्न चमक के होते हैं। कुछ तो इतने तेज होते हैं कि दिन में ही दिखाई दे जाते हैं और कुछ ऐसे हल्के होते हैं कि रात्रि में भी दूरबीन की सहायता से ही दिखाई देते हैं परन्तु अधिकतर उल्का अँधेरी रात्रि में वैसे ही दिखाई पड़ जाते हैं। उल्काओं के सम्बन्ध में जानने के लिए ज्योतिषी को उनकी दिशा, कौणिक ऊँचाई, तीव्रता और उनके चमकने के समय के विषय में जानना आवश्यक है। इन्हीं कारणों से ज्योतिषियों का कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है।

उल्काओं के चमकने की संख्या—किसी अंधेरी रात को एक व्यक्ति लगभग दस उल्के प्रति घंटे देख सकता है। इनकी ठीक ठीक संख्या ऋतु और

आकाश के कालेपन पर निर्भर होती है। ऊपर बताई गई संख्या वैसे तो बहुत कम प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। गणना करने पर ज्ञात होता है कि सारी पृथ्वी पर प्रति दिन इनकी एक बृहत् संख्या होती है। मनुष्य की दृष्टि का व्यास साठ अंश का होता है जो ८० किलोमीटर की ऊँचाई पर पाँच हजार वर्ग किलोमीटर का क्षेत्रफल होता है। चूंकि वायुमण्डल का पूर्ण क्षेत्रफल लगभग ५००,०००,००० वर्ग किलोमीटर है, इसलिए दर्शक के दस उल्का प्रति घंटे देखने का वास्तविक अर्थ यह है कि समस्त पृथ्वी पर एक दिन में २४,०००,००० उल्के दिखाई देते हैं। २४,०००,००० उल्के तो केवल वही हुए जो इस छोटी पृथ्वी से दिखाई देते हैं। इसलिए वास्तविक पूर्ण संख्या इससे कहीं अधिक होती है। इसके अतिरिक्त बहुत से उल्के प्रकाश में इतने हल्के होते हैं कि वे खाली आँखों से नहीं देखे जा सकते।

उल्काओं का गिरना—ऐसा हो सकता है कि उल्का वायुमण्डल में तेज़ी से चलने के पश्चात् वहीं पर समाप्त न हो बल्कि उसका कुछ शेष पृथ्वी पर आ गिरे। यही एक ऐसा पदार्थ हैं जो हमारी पृथ्वी पर और प्रयोगशालाओं में बाहरी स्थान से आता है। उनकी रचना और बनावट के ध्यान पूर्वक अध्ययन से और उनके पृथ्वी पर आने के ढंग को जान कर यह पता लगाया जा सकता है कि ग्रहों के बीच में किस प्रकार का पदार्थ होता है और उसका क्या इतिहास है।

उल्काओं की पहिचान पृथ्वी पर कठिनाई से होती है। अब तक केवल चौदह सौ उल्के जमा किये गये हैं। उनके नाम उनके पाये जाने के स्थान के ऊपर ही रख दिये गये हैं। भारत वर्ष में एक उल्का जो उत्तर प्रदेश में बस्ती में गिरा था, उसका नाम बस्ती ही रख दिया गया है। नये उल्के दो रीतियों से पहचाने जाते हैं। कुछ तो गिरते हुए दिखाई पड़ जाते हैं और कुछ संयोग से मिल जाते हैं। भारतवर्ष में कुल १११ उल्के गिरे हैं जिनमें से १०८ गिरते हुए दिखाई पड़ गये थे। चिली में ४३ उल्के गिरे जिनमें से गिरता हुआ एक भी नहीं दिखाई पड़ा।

यह देखा गया है कि उल्का अधिकतर गरमी के दिनों में दोपहर के बाद अधिक गिरते हैं। फ़िशर (W. J. Fisher) ने कहा है कि ऐसा सूर्य की कड़ी धूप के कारण होता है। यह भी कहा जा सकता कि दिन में गिरते हुए उल्का आसानी से देखे जा सकते हैं। रात में गिरने वाले उल्का तभी मिल सकते हैं जब वे किसी शहर या गाँव में गिरें। ऐसा बहुधा हो भी जाता है। सन् १८४७ में लोहे का एक उल्का ब्रौनॉ (Braunau), जिसका भार २१ किलोग्राम था, एक कमरे की छत तोड़ कर अन्दर जा गिरा। उसी कमरे में तीन बच्चे सो रहे थे परन्तु सौभाग्यवश वह उनके ऊपर नहीं गिरा और वे बच गये। ऐसा समाचार अभी तक कोई नहीं मिला है कि उल्का के गिरने से किसी मनुष्य या जानवर की जान गई हो।

उल्काओं के गिरने की संख्या और उनका आकार—पिछले बीस वर्षों में काफ़ी उल्के मिले हैं। अमरीका के मध्यवर्ती प्रदेश में जो उल्का गिरते हैं उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि आजकल २५ उल्का प्रति वर्ष गिरते हैं। समस्त पृथ्वी पर यह संख्या २६ जार प्रति वर्ष के लगभग है अर्थात् ५ या ६ प्रति दिन। पिछले वर्षों में ऐसा नहीं था। सन् १६०६ से १६०६ के बीच में केवल एक ही उल्का मिला था। अमरीका में एक समिति है जो कि उल्काओं पर अनुसंधान करती है। उसके सभापति श्री निनिंगर (H. H. Nininger) हैं। जितने उल्का अमरीका में पाये गये हैं वह मुख्यतः इन्हीं के प्रयत्नों का फल है।

गिरे हुए चौदह सौ उल्काओं की औसत तन्मात्रा बीस किलोग्राम है परन्तु आकाश से पृथ्वी तक आने में उनका बहुत कुछ भार कम हो जाता है। यदि उस कमी का भी हिसाब लगाया जाय तो हम कह सकते हैं कि वायुमंडल में प्रवेश करने से पहले प्रत्येक उल्का का औसत भार सौ किलोग्राम रहा होगा। इस प्रकार पृथ्वी पर गिरे हुए उल्काओं का कुल भार लगभग दो सौ टन प्रति वर्ष होता है, अर्थात् प्रति दिन पृथ्वी पर एक टन से कुछ कम भार के उल्का गिरते हैं।

उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका में ग्रूटफोन्टीन के पास लगभग ६० टन का सबसे बड़ा उल्का चूने में गिरा था और वह अब भी वहीं पर पड़ा है। उसका नाम होवा वैस्ट है और वह ३ मीटर लम्बाई, ३ मीटर चौड़ाई और १ मीटर मोटाई का आयताकार ठोस है। वह लचीली धातु का बना है इसलिये बड़ी कठिनाई से कटता है। उसमें १६ प्रतिशत निकल है। इससे छोटा ३३ टन का हनीघिटो (Ahnighito) है जो ग्रीनलैंड के केप यॉर्क शहर में सन् १८९७ में पेरी (Perry) साहब को मिला था। दुनिया का चौथा सबसे बड़ा उल्का जो अमेरीका में पाया गया है वह विलामेट (Willamette) के पास ओरगन (Oregon) से आया है। उसका भार २०-२५ टन अवश्य होगा। यह सब उल्का न्यू यॉर्क शहर में हेडेन प्लैनेटेरियम (Hayden Planetarium) में सुरक्षित रखे हैं।

उल्काओं की वायुमंडल में यात्रा—जब उल्का पृथ्वी के वायुमंडल में तेजी से बढ़ते हैं तो यकायक उनके ऊपर तापक्रम और दबाव का बहुत अधिक प्रभाव होता है। चूँकि इनकी गति वायु के अणुओं की गति से अधिक होती है इसलिये वायु बीच में फँस जाती है और बहुत दब जाती है। यह दबी हुई वायु बहुत गरम हो जाती है और वह उल्का की सतह के पदार्थ को गला देती है। यही द्रव वायु में छोटी-छोटी बूँदों के रूप में चमकता है। जब रगड़ के कारण उल्का की गति बहुत कम हो जाती है तो उसके चारों तरफ़ की गरम वायु बननी बन्द हो जाती है और उल्का की चमक भी समाप्त हो जाती है। उस समय उसके चारों तरफ़ की द्रव जम कर एक कड़ी तह बन जाती है जो पथरीले उल्काओं में विशुद्ध शीशा होती है और धातु के उल्काओं में निकेल और लोहे के ऑक्साइड की होती है, परन्तु शीशे की तरह चिकनी होती है।

उल्का के चारों तरफ़ की दबी हुई वायु के अत्यधिक दबाव के कारण कभी-कभी पथरीले उल्का तितर-बितर भी हो जाते हैं। उस दशा में पृथ्वी पर उल्का का एक बड़ा ढेर नहीं गिरता बल्कि काफ़ी बड़े क्षेत्र-फल पर भिन्न भिन्न आकार के कणों की बौछार हो जाती है। १२ जुलाई सन् १९१२ को हॉलब्रुक एरीज़ोना (Holbrook Arizona) उल्का के मटर के बराबर के हजारों टुकड़े पाँच किलोमीटर लम्बे और एक किलोमीटर चौड़े क्षेत्रफल से इकट्ठे किये गये थे। लोहे के उल्का भी कभी-कभी टूटे हुए पाये जाते हैं। अब तक शायद ही कोई ऐसा पत्थर मिला होगा जो कि पूरा-पूरा ज्यों का त्यों गिरा हो।

जब उल्का की गति वायुमंडल में इतनी कम हो जाती है कि उसकी चमक भी समाप्त हो जाय, उस समय वह काली वस्तु ऐसे गिर पड़ती है जैसे कोई पत्थर वायुयान से गिरा दिया गया हो। बड़े उल्का पृथ्वी पर इतनी शक्ति से गिरते हैं कि वे काफ़ी गहराई तक गड़ जाते हैं। ४३ किलोग्राम का लोहे का उल्का ह्रशीना (Hraschina) एक जुते हुए खेत में एक किलोमीटर की गहराई तक गड़ गया था। पुराने समय में बहुत से बड़े उल्के, विशेषतः लोहे के, मुलायम मिट्टी में गिरकर ख़ूब गहराई तक गड़ गये और फिर बहुत दिनों बाद भूमि की खुदाई या जुताई करने पर वे मिले। जितने उल्के पाये गये हैं उनमें

से ५ प्रतिशत से अधिक पृथ्वी के भीतर से निकाले गये हैं। कुछ उल्के तो ६ किलोमीटर की गहराई से निकाले गये हैं। अब भी ऐसे बहुत से उल्के होंगे जो हमारे पैरों के नीचे गड़े हुए होंगे।

उल्काओं का फ़ोटो तथा बनावट—उल्काओं के चमकीले पथ का फ़ोटो लेने का भी विचार किया गया था। सबसे पहला फ़ोटो प्रेग में २७ नवम्बर सन् १८८५ को लिया गया था। उसके पश्चात् और भी बहुत से फ़ोटो लिये गये। किसी अन्य वस्तु का फ़ोटो लेते समय बहुधा उसमें उल्काओं का फ़ोटो भी अपने आप आ जाता था। फ़ोटो में उल्का पहले तो बाल के बराबर पतली रेखा की तरह प्रगट होता है, तब और चमकता है, फिर हल्का पड़ जाता है और अन्त में तेज प्रकाश के साथ समाप्त हो जाता है। कैमरा के सामने शीशे का एक प्रिज्म (Prism) रख कर उल्का के प्रकाश का स्पैक्ट्रम (Spectrum) भी लिया गया है। स्पैक्ट्रम में कई पृथक चमकीली रेखाएँ मिलती हैं। वही रेखाएँ कुछ गैसों के स्पैक्ट्रम में भी मिलती हैं। इस समानता से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो प्रकाश हम देखते हैं वह गरम गैसों के बीच में होता है। मिलमैन (Millman) ने देखा कि स्पैक्ट्रम दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो वह जिसमें कैल्सियम (calcium) होने के कारण चमकीली रेखाएँ आती हैं और दूसरा वह जिसमें यह नहीं आतीं। कुछ उल्काओं के प्रकाश में केवल थोड़ी तेज रेखाएँ ही आती हैं जिनको लोहा और कैल्शियम की रेखाओं से मिलता जुलता पाया गया है। पैन-क्रोमैटिक फ़िल्म (panchromctia film) पर सोडियम मैगनीशियम, और सिलिकन की रेखाएँ भी मिलती हैं। यही वस्तुएँ मुख्यतः उल्काओं में पाई जाती हैं।

उल्काओं की बनावट में अन्तर होता है। चौदह सौ उल्के जो अब तक मिले हैं वे तीन प्रकार के हैं। एक तो पथरीले हैं जिनमें ऑक्सीजन, सिलिकन, एल्यूमिनियम, लोहा, मैगनीशियम, कैल्शियम और सोडियम होते हैं। दूसरे धातु वाले हैं जिनमें लोहा, निकल और कोवल्ट होते हैं। तीसरे वे हैं जिनमें धातु और पत्थर लगभग बराबर बराबर मात्रा में होते हैं, परन्तु इस प्रकार के उल्के कम होते हैं। धातु के उल्के जो मुख्यतः लोहे और निकॅल के होते हैं तुरन्त ही पड़े हुए पहचान लिये जाते हैं परन्तु पत्थर के उल्कों को पहचानने में कठिनाई होती है क्योंकि वे साधारण पत्थर से घनत्व और रूप में मिलते जुलते हैं।

रासायनिक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में यह पता लगा सकता है कि उल्का में कौन कौन से रसायनिक तत्व होते हैं और वे किस मात्रा में होते हैं। प्रयोगों द्वारा यह पता चला है कि एक टन के उल्का में केवल साठ ग्राम सोना और चाँदी होता है। रेडियम, थोरियम, यूरेनियम जैसे रेडियोएक्टिव तत्त्वों की मात्रा का पता लगाना और भी कठिन है। यूरेनियम और थोरियम धातुके एक टन के उल्के में एक ग्राम का दसवाँ भाग होते हैं परन्तु पथरीले उल्कों में वह इससे छ गुने अधिक होते हैं। उल्काओं और पृथ्वी की रसायनिक बनावटों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि पृथ्वी की तह की अपेक्षा पथरीले उल्कों में ऑक्सीजन और सिलिकन कम होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उल्काओं और पृथ्वी की चट्टानों में भिन्न भिन्न मात्रा में खनिज पदार्थ होते हैं। धातु के उल्काओं में निकल ५ से २० प्रतिशत तक होता है। सौभाग्य से चूँकि पृथ्वी पर लोहे और निकल के किसी मिश्रण (alloy) में निकल की मात्रा इतनी अधिक नहीं होती इसलिये किसी पदार्थ में निकल की मात्रा का पता लगाने से यह मालूम किया जा सकता है कि वह पदार्थ

उल्का है या नहीं। पथरीले उल्काओं में सिलिका की मात्रा ३० से ५५ प्रतिशत के लगभग होती है। इसी गुण के कारण उल्काओं को खनिज पत्थरों अलग पहचाना जा सकता है। यह देखा गया है कि पथरीले उल्का लोहे के उल्काओं से ४ से ६ गुने अधिक पाये जाते हैं।

उल्काओं की उत्पत्ति—हम ऊपर देख चुके हैं कि एक तो वे उल्का होते हैं जो आकाश में चमक कर वहीं पर समाप्त हो जाते हैं और दूसरे वे होते हैं जो कि आकाश में ही समाप्त नहीं होते लेकिन उनका कुछ अंश पृथ्वी पर आ गिरता है। अब हम दोनों प्रकार के उल्काओं की उत्पत्ति के विषय में विचार करेंगे।

चमकने वाले उल्काओं की उत्पति उस समय होती है जब कोई छोटा कण कई किलोमीटर प्रति सैकेन्ड की गति से चलता हुआ वायुमंडल के अणुओं और परमाणुओं से टकराता है। वायुमंडल के यह परमाणु उस ठोस कण से इतनी भीषणता से टकराते हैं कि वे उसकी ऊपरी सतह से परमाणुओं को निकाल देते हैं और उन्हें बड़ी तीव्र शक्ति से उड़ा देते हैं। इन उड़े हुए परमाणुओं से गैस का बादल बन जाता है जिसका तापक्रम लगभग २०००° शतांश होता है। अणुओं का उड़ना तब तक जारी रहता है जब तक कि छोटा ठोस कण पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता। कुछ कण चमकते हुए गोल चक्कर लगाते हैं, कुछ कई भागों में टूट जाते हैं और कुछ तेज़ी से चमक कर अपना आस्तित्व समाप्त कर देते हैं। यह कण पृथ्वी पर कभी नहीं आते और इसीलिये इनको तौल कर इनके भार का अनुमान नहीं लगा सकते। उनके आकार के बारे में उनके प्रकाश की तीव्रता से अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि उनकी चमक मुख्यतः उनकी गति और आकार पर निर्भर होती है। सिद्धान्त से यह पता लगता है कि उल्काओं की चमक उनकी तन्मात्रा और गति के अनुसार बदलती है अर्थात् एक बड़े कण से चमकीला एक उल्का बनता है और एक तीव्र गति वाले कण से भी एक चमकीला उल्का बनता है।

अब हम उन उल्काओं की उत्पत्ति के विषय में विचार करेंगे जो कि पृथ्वी पर गिरते हैं। वर्षों के अनुसंधान के पश्चात् फ्रान्सीसी एकेडेमी ने, जो उस समय वैज्ञानिक संसार का प्रतिनिधित्व करती थी, सन् १८०३ में यह घोषणा की कि पृथ्वी पर चारों तरफ़ से पत्थर गिर सकते हैं, और गिरते हैं। इस घोषणा से पहले आँधी और वर्षा के बाद जो कुछ काले पत्थर पाये जाते थे वह वायुमंडल में धूल के जमे कणों या साधारण चट्टानों पर बिजली के प्रभाव से बने माने जाते थे। फिर कभी कभी वह काले पत्थर बिना बादलों के आकाश से भी गिरते पाये गये। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में चल्दनी (Chaldni) को पूरा विश्वास हो गया कि उल्का पृथ्वी से पृथक किसी स्थान से आते हैं और उसकी इस बात का समर्थन ब्रैन्ड्ज़ और बैन्ज़ैनबर्ग ने किया। परन्तु बियट (Biot) ने L' Aigle' फ्राँस में २६ अप्रैल सन् १८०३ को गिरे हुए उल्काओं पर अध्ययन करके वैज्ञानिक संसार को विश्वास दिलाया कि उल्काओं का अस्तित्व होता है। परन्तु जन साधारण को इस बात पर विश्वास न होता था कि उल्का पृथ्वी से पृथक किसी स्थान से आते हैं। १७ दिसम्बर सन् १८०७ में आकाश से वेस्टन (Weston), कोनेक्टिकर (Connecticut) पर एक पत्थर गिरा। जब यह समाचार उस समय के अमरीका के प्रसीडेन्ट टॉमस जैफरसन (Thomas Jefferson) ने सुना तो उन्होंने कहा कि मैं इस बात पर विश्वास कर सकता हूँ कि यान्की के दो प्राध्यापक (Professor) झूठ बोल रहे हों परन्तु यह नहीं मान सकता कि आकाश से पत्थर गिरते हों। अब भी इस विचार के बहुत से मनुष्य मिलेंगे।

हमने देखा कि ज्योतिष शास्त्र से यह तो सिद्ध हो गया है कि उल्काओं का जन्म पृथ्वी से सम्बन्धित नहीं है परन्तु यह भी पूरी तौर से निश्चित नहीं है कि उल्का सूर्य मंडल का ही अंग होता है। रासायनिक बनावट में लोहे और पत्थर के उल्काओं में अंतर अवश्य पाया गया है परन्तु वे एक क्रम में बँधे हैं। उदाहरणार्थ, लोहे-निकेल के उल्कों में बहुमूल्य धातु अधिकता से होते हैं और पत्थर के उल्काओं में रेडियोएक्टिव तत्त्वों की अधिकता होती है। फिर भी, धातु और पत्थर के उल्के पथरीले लोहे के उल्कों के साथ स्पष्ट रूप से सम्बद्ध होते हैं। यह सब सबूत यह सिद्ध करते हैं कि पथरीले और लोहे के उल्के पदार्थ का एक अटूट क्रम बनाते हैं और उन दोनों की उत्पत्ति एक ही स्थान से होती है।

उल्कों की उत्पति के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह चन्द्रमा के ज्वालामुखी क्रिया का फल है, परन्तु यह बिल्कुल ठीक नहीं है। हम इनकी उत्पत्ति का स्थान चन्द्रमा से कहीं और अधिक दूरी पर समझते हैं और अब हम इस पर विचार करेंगे कि यह कैसे बनते हैं। यह तीन प्रकार से बन सकते हैं। वे छोटे छोटे टुकड़ों के ऊपर जमा होते जाने से उत्पन्न हो सकते हैं, एक एक परमाणुओं के इकट्ठे होते जाने से बन सकते हैं, अथवा वह ग्रह के बराबर बड़े एक ठोस वस्तु के छोटे छोटे टुकड़े हो सकते हैं।

अन्तर ग्रही और तारों के बीच के स्थान में हाइड्रोजन, सोडियम, कैल्शियम, टाइटेनियम, और बहुत से अन्य तत्त्वों के परमाणु होते हैं। हाल ही में तारों के बीच में कार्बन और नाइट्रोजन के अणु पाये गये हैं और शायद वहाँ पर पानी के अणु भी उपस्थित हैं। यह अणु आपस में जुड़ सकते हैं और एक छोटा न्यूक्लियस (nucleus) बना सकते हैं। यह न्यूक्लियस इधर उधर के परमाणुओं को पकड़ सकता है और तब धूल का एक कण बन सकता है। परन्तु हम उल्काओं की रासायनिक और भौतिक बनावट को जानते हुए कह सकते हैं कि वह इस प्रकार व्यक्तिगत परमाणुओं के इकट्ठे होने से नहीं बन सकते।

पथरीले उल्का गिरने से छोटे छोटे टुकड़ों में बिखर जाते हैं। इससे हम यह कह सकते हैं कि उल्का छोटे छोटे कणों के इकट्ठे होने से बनते हैं। फिर भी पथरीले और धातु के उल्काओं में रासायनिक और खनिज बनावट के एक क्रमानुसार सम्बन्ध होने के कारण हम उस प्रकार की उत्पति को नहीं मान सकते जब तक कि हम स्थान में पदार्थ के किसी विशेष प्रकार के वितरण के विषय में न जान जायँ। इस विषय में हम उल्का के स्पैक्ट्रम से सबूत ले सकते हैं और कह सकते हैं कि पथरीले उल्के सूर्य मंडल के ही सदस्य होते हैं और धातु के कण तारों के बीच से आते हैं। परन्तु उससे हम फिर पत्थर और लोहे की बनावट के बीच के क्रमबद्ध सम्बन्ध की अवहेलना करते हैं। कुछ वस्तुओं की बनावट रवों की तरह की होती है, जैसे कामासाइट (Kamacite) की, और यह बात इसके बिल्कुल विरुद्ध है कि लोहे के उल्के परमाणु या कणों के इकट्ठे होने से बने हैं। तो वे द्रव से धीरे धीरे ठंडा होने पर ही बन सकते हैं।

रासायनिक और खनिज एकरूपता और क्रमबद्धता से यह निम्कर्ष निकलता है कि सारे उल्काओं की उत्पत्ति समान दशाओं में होती है और अन्त में यही सम्भावना सत्य मालूम पड़ती है कि उल्का पृथ्वी के बराबर की एक ठंडी होती हुई वस्तु का तरह उत्पन्न होता है।

उल्काओं का तापक्रम—उल्काओं के तापक्रम के विषय में एक ग़लत धारणा है। जो वस्तुएँ सूर्य के सामने है वे अवश्य ही पृथ्वी और चन्द्रमा की तरह

गरम हो जाती हैं। पृथ्वी के चारों तरफ़ वायु का एक घेरा है और इसीलिये सूर्य की गरमी कुछ समय तक पृथ्वी पर बनी रहती है। जब उल्का वायुमंडल में तेज़ी से बढ़ते हैं, तो उनकी अपनी सतहें गरम हो जाती हैं और पिघल कर द्रव हो जाती हैं। वायु के प्रचण्ड प्रवाह के कारण द्रव की यह सतह शीघ्र ही उस उल्का से अलग हो जाती है और उल्का की ठंडी सतह फिर ऊपर आ जाती है। चूँकि वायु में उल्का की यात्रा कुछ ही सैकंडों की होती है इसलिये ताप उतने कम समय में द्रव के भीतरी स्थान तक नहीं पहुँच पाता और फिर उस उल्का की सतह द्रव नहीं बन पाती। ताज़े गिरे हुये उल्का केवल इतने ही गर्म होते हैं कि हम उन्हें छू सकते हैं। वे बहुत जल्दी ही ठंडे हो जाते हैं। इससे यह पता चलता है कि ताप केवल बाहरी सतह तक ही सीमित रहता है। ऐसा कभी नहीं देखा गया कि ताज़े गिरे हुये उल्का के ताप के कारण उसके नीचे की घास, भूसा, या अन्य कोई वस्तु झुलस गई हो। यह विचार बिल्कुल ग़लत है कि गिरते समय उल्का गर्मी के कारण लाल होता है।

[पृष्ठ २६ का शेष]

प्रति ग्रास गले के नीचे नहीं उतारना चाहिये। थके प्यासे आकर, तुरन्त पानी पी लेना भी उचित नहीं। भूख लगने पर जीभ आमाशय, पित्ताशय आदि अपना रस लेकर भोजन को ग्रहण करते ही पचाने के लिये तैयार रहते हैं। उन पर यह पिया पानी उँड़ेला जाकर उनकी क्रिया रोक देता है। इसलिए पहले कुछ गर्म भोजन कर लेने पर खाने के बीच में पानी पिया जा सकता है। उसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। खाने के बाद भी पानी पिया जाय। (५) ठूस-ठूस कर खाना हानिकारक है।

बच्चों का स्वास्थ्य

लेखक—केदारनाथ गुप्त

मानव शरीर प्रकृति की सर्वोत्तम देन है, बचपन से ही स्वास्थ्य का ध्यान रखना अत्यावश्यक है, तत्सम्बंधी आवश्यक सूचना प्रस्तुत लेख में मिलेगी। विषय-प्रतिपादन ऐसा किया गया है, कि विषय के प्रति पाठकों की स्वाभाविक उत्सुकता बनी रहे।

स्वास्थ्य क्या है ?—यदि हम यह प्रश्न करें कि स्वास्थ्य क्या है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि रोग का न होना ही स्वास्थ्य है। किन्तु आरोग्य और स्वास्थ्य पर्यायवाची शब्द नहीं हो सकते। केवल नीरोग होना ही स्वास्थ्य नहीं है। स्वास्थ्य का यथार्थ रूप नीरोग रहने के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। स्वास्थ्य का अर्थ जीवन का अधिक से अधिक प्रस्फुटित रूप है जिसमें हम आरोग्य के अतिरिक्त स्फूर्ति, उत्साह और लोक-सेवा की भावना का जीता जागता रूप देख सकते हों। सुन्दर फल यथार्थ में उसी रूप में यथार्थ फल नहीं कहा जा सकता जिसमें केवल सड़े गलेपन वा सूखेपन का अभाव हो बल्कि उसमें रस और मधुरता फूट पड़ती हो। उसके रस और गूदे में स्वाद और पौष्टिकता की प्रचुरता और उसका बड़े से बड़ा आकार हमारा ध्यान बरबस खींच लेता हो। कुम्हलाने वा मुरझा कर गिर पड़ने से बचा हुआ फूल ही अपना फूल नाम सार्थक नहीं करता, बल्कि यथार्थ फूल वह है जो अपनी भीनी सुगंध, मनोमोहक सुन्दरता और विशाल आकार से प्रकृति की अपार सुन्दरता बढ़ाता है। इसी प्रकार केवल ऊसर और बंजर न रहने वाली भूमि को ही उपजाऊ खेत नहीं कहा जा सकता, बल्कि यथार्थ खेत वह है जिससे उपजी अन्न राशि किसान के बखार को भर कर खाने पीने और परिवार के अन्य व्ययों को संभाल कर भी अपना भंडार अशेष न करती हो। ठीक इन्हीं उदाहरणों की तरह सच्चा स्वास्थ्य वह है जिसमें जीवन के उत्कृष्टतम रूप की पूर्ण झांकी दिखलाई पड़ती हो। ऐसा रूप केवल वही नहीं हो सकता जिसमें केवल आरोग्य ही हो वा शरीर का पुष्ट रूप ही हो, बल्कि उसमें सभी प्रकार की उत्तमताओं का समावेश हो। ऐसा रूप ऊपर बताए अनुसार जीवन, उत्साह, स्फूर्ति और आरोग्य के साथ लोक-सेवा की भावना लिए हुए ही हो सकता है। हमारी शारीरिक स्वस्थता के साथ मानसिक स्वस्थता का भी सुन्दर मेल होना आवश्यक है।

ऐसे स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए हमें बराबर उद्योगशील रहने की आवश्यकता है। हमें आरोग्य और स्वास्थ्य के यथार्थ सिद्धान्तों वा उनके अभाव के कारणों को जान लेना ही यथेष्ट नहीं है बल्कि उनका अपने और राष्ट्र से जीवन में व्यावहारिक रूप उतार-लेना ही जीवन के सुन्दर और उत्कृष्टतम रूप अर्थात् यथार्थ स्वास्थ्य की प्राप्ति का मार्ग है। हमें न भूलना चाहिए कि किसी राष्ट्र का यथार्थ धन वहाँ की जनता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार के अन्य

राष्ट्रीय धन भूमि, खनिज पदार्थ, उद्योग धंधे आदि होते हैं। अतएव हमें अपने स्वास्थ्य के आदर्श रूप क प्राप्ति से उदासीन रहने से राष्ट्र की उन्नति का स्वप्न दूर दिखाई पड़ सकता है। स्वास्थ्य के यथार्थ नियमों को जानकर भी उसे व्यावहारिक रूप न देना नित्य के अपने जीवन में न उतारना उसी प्रकार है जैसे पुस्तक के अंदर लिखी हुई अनभ्यास की हुई विद्या वा भूमि के अंदर गाड़कर रक्खा धन। इन दोनों समस्याओं के संबंध में सम्पन्न देशों में भी जितनी अज्ञानता और उपेक्षा की जाँच की गई है उसका कुछ अनुमान एक विद्वान के कुछ आंकड़ों से लगाया जा सकता है। उसने अपने उन्नत और सम्पन्न कहे जाने वाले देश के सम्बन्ध में भी लिखा है कि प्रति वर्ष जन्म लेने के लिए माता के कोख में गर्भ रूप में स्थान पाने वालों की सवा नौ लाख से भी अधिक संख्या में से सवा लाख को तो जन्म लेने का अवसर नहीं मिलता, उसका कारण गर्भ में आने वाले शिशु की दुर्बलता ही है। आठ लाख के लगभग जो जन्म धारण कर पाते हैं उनमें भी एक लाख एक वर्ष की आयु समाप्त करने के पहले ही परलोकगामी हो जाते हैं। शेष में से भी एक लाख पंद्रह वर्ष की आयु पूरी होने के पूर्व तक सुरधाम पहुँच गए होते हैं। इस तरह युवा होने वालों में से भी एक लाख सैनिक सेवा करने योग्य स्वास्थ्य के नहीं होते। इस प्रकार कुल संख्या का आधा भाग साधारण अवस्था में ही नष्ट हो जाता है।

जहाँ एक समुन्नत देश में ऐसी अवस्था देखते हैं वहाँ एक दूसरे बहुत ही समुन्नत देश की जनसंख्या के रूप का अध्ययन कर पता लगाया गया है देश में चिकित्सा का उत्तम ज्ञान रखने वाले डाक्टरों के समान ही यदि साधारण जनता को भी आरोग्य रहने के सिद्धान्तों का ज्ञान हो सके और उन्हें वे दैनिक व्यवहार में ला सकें तो देश भर की कुल मृत्यु-संख्या का ४२ प्रतिशत मृत होने से बचाया जा सकता है। ऐसी अवस्था हम अमेरिका ऐसे समुन्नत देश में पाते हैं। इतनी अधिक अकाल मृत्यु जनता की अज्ञानता और उपेक्षा से ही है। अतएव हमारे लिये आवश्यक है कि हम स्वास्थ्य और आरोग्य के नियमों का ज्ञान ही प्राप्त कर न रह जायें, बल्कि उनका प्रचार अन्य व्यक्तियों में कर उनको सबके द्वारा व्यवहृत कराने और स्वयं भी उनका आचरण कराने का बीड़ा उठा कर राष्ट्र की जनता रूप निधि को रक्षित कर ऊँचे तल के स्वास्थ्य पर रख सकें। किसी देश के बच्चे ही उसकी भावी जनता होते हैं, अतएव उनमें स्वास्थ्य के ऊँचे उद्देश्य की भावना से भर कर जीवन के जीते जागते रूप का दर्शन करना बड़ी भारी और सच्ची राष्ट्र और समाज सेवा हो सकती है।

सारांश रूप में हम स्वास्थ्य की ठीक परिभाषा और उसकी आवश्यकता समझाने के लिए यह कह सकते हैं कि बच्चों को किताबी कीड़ा बनाना, कुछ विषय का ही बोध करा देना वा गणित के कुछ टेढ़े मेढ़े प्रश्न कर सकने की योग्यता ला देना ही शिक्षा का आदर्श नहीं हो सकता, वा उनको केवल कसरत और खेल कूद सिखा कर पुष्ट पेशियों वाला बना देना ही अंतिम उद्देश्य नहीं, बल्कि उनको जीवन के हँसते और खिलते रूप में आरोग्य और शारीरिक पुष्टता, उत्साह और स्फूर्ति, सेवा और उदारता आदि सभी गुणों के समन्वय से उत्कृष्ट जीवन बिताने की भावना रखने के लिये प्रेरणा दे सकना स्वास्थ्य का ठीक अर्थ और रूप समझना है। इन सब गुणों और उत्कृष्टताओं का उचित मात्रा में मिश्रित रूप का जीवन उस सुन्दर मिष्टान्न की तरह हो सकता है जिसमें घी, शक्कर, खोआ और आटा आदि में से कोई एकांगी पदार्थ ही न होकर सभी पदार्थों का उचितमात्रा में समावेश होकर सुन्दर परिपाक हुआ हो।

इस सब दृष्टियों से हम देख सकते हैं कि स्वास्थ्य का ठीक अभिप्राय 'स्वस्थ शरीर में स्थित स्वस्थ मस्तिष्क' की उक्ति में देखा जा सकता है। एक विद्वान का कहना है कि केवल नीरोग रहने को स्वास्थ कहना आत्मवंचना का परिचयक है किन्तु स्वास्थ्य को जीवन की उत्कृष्टता रूप में बताना एक स्फूर्ति और वर्धमान सफलता का द्योतक है।" इन रूपों में स्वास्थ्य को जान कर हमें उसकी वृद्धि के साधन ढूंढ़ने में लगे रहना चाहिये। एकांगी जीवन की तल्लीनता उचित नहीं है। केवल पढ़ने लिखने में ही डूबा हुआ छात्र, धन कमाने में लगा धनाढ्य, सेवा कार्य में लगा हुआ नेता या समाज-सेवी, या अध्यापन में लगा अध्यापक स्वास्थ्य के सांगोपांग रूप की चिन्ता न कर शारीरिक आरोग्यता या शरीर को स्वस्थ रखने के लिये उद्योगों को न कर सकने के लिये समय न मिलने का बहाना करे, तो यह उचित नहीं। हमें चारों ओर ध्यान रखना चाहिए और जीवन की सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक भाग की हानि कर भी दूसरे के लिए समय निकालना चाहिए। जैसे समाजसेवी शारीरिक आरोग्य और पुष्टता के लिये समय निकालने के लिए अपना सेवा-कार्य कुछ कम कर सकता है, विद्यार्थी अपनी कुछ पठन-क्रिया स्थगित कर सकता है। सेवा कार्य की भावना उत्पन्न करने के लिए व्यायाम और खेल में लीन व्यक्ति अपनी कसरत और खेल के समय को कुछ कम कर सकता है। इस तरह हर पलड़े को बराबर रख कर चलने से जीवन अपनी उत्कृष्ट स्थिति में दिखाई पड़ सकता है। इस तरह से हम अपने समय को एकांगी रूप में लगाकर किसी बात को व्यसन सा बनाए होने पर उस की कुछ न्यूनता कर स्वास्थ्य का मार्ग ग्रहण करने के उपाय करने का समय और सामर्थ्य पा सकते हैं। हमें यह भी जान लेना चाहिए कि शारीरिक आरोग्य की प्राप्ति के लिए भी हमें स्वयं उद्योग करना पड़ सकता है। कोई अन्य व्यक्ति या समाज उस में हमारी अधिक सहायता नहीं कर सकता। सामूहिक रूप से कुछ धन लगा कर कहीं नगर में सफाई, जल, बगीचे, पार्क आदि का प्रबंध कुछ हो सकता है किन्तु हमारे व्यक्तिगत लाभ और उन्नति के लिए हमारा उद्योग ही आवश्यक होगा। विद्वानों का कथन है कि "जीवन की सरिता उतनी ही मात्रा में सम्पन्न भरी पूरी, और स्थायी होगी जितना उसके पोषण करने वाले साधनों को हम प्रवाहित करेंगे। ये साधन कोई जादू या चमत्कार नहीं हैं। वे तो प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति हैं जो संक्षेपतया निम्न लिखित हैं—ताजी हवा, उचित प्रकार और मात्रा का भोजन, उचित व्यायाम और मनोरंजन, बैठने का उचित आसन शरीर की रक्षा, नशीली वस्तुओं से बचना और मस्तिष्क की समुचित अवस्था।"

शरार की वृद्धि और विकास

बच्चों का जीवन उनके भविष्य के जीवन के लिए शरीर की वृद्धि करने और अंगों का विकास करने का समय होता है। उसके लिए उन्हें उपयुक्त अवसर देने वाले साधन पुष्ट भोजन शुद्ध खुली हवा और धूप तथा शरीर के अंगों का गति करते हुए पुष्ट और विकसित होना है। हम अपनी स्थिति के अनुसार रहने सहने और भोजन आदि का प्रबन्ध करते हैं, उसके लिए उचित परामर्श देना परिस्थितयों पर ही निर्भर कर सकता है, परन्तु बच्चों को खेल, कूद और खुले में दौड़ धूप कर स्वाभाविक व्यायाम का लाभ उठाने का अवसर तो माता पिता, अभिभावक या गुरु ही दे सकते हैं। नन्हां बच्चा भी नहलाए जाने के बाद जब रोता चिल्लाता है तो उसी बहाने उसका व्यायाम हो जाता है, उसके शरीर की पेशियाँ फैलने, बढ़ने और पुष्ट होने का अवसर पाती

हैं। चलने फिरने लगने पर दिन रात कूद फांद कर वह स्वभावतया ही शरीर के उन्नत पुष्ट और विकसित करने का अवसर पाता है किन्तु बहुत से सम्पन्न वा अपने को अधिक बुद्धिमान समझने वाले व्यक्ति बच्चे को इस कार्य से बराबर रोकते और डाटते मिल सकते हैं जिससे कहीं उसके कपड़ों में मैल न लग जाय, वे कहीं खरोंच खाकर फट न जांय, कहीं गिर पड़कर वे अपना अंगभंग न कर लें। ऐसे लाड़ प्यार की भावना से अपने बच्चे का अहित करने वाले लोगों, प्रकृति द्वारा शरीर के विकास के लिए बच्चे के हृदय में चंचल रहने और कूद फांद करने की भावना का दमन करने वाले माता पिताओं वा अभिभावकों को शरीर-शास्त्र और स्वास्थ्य विज्ञान का संदेश सुनाने रहते की बराबर आवश्यकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दरिद्र व्यक्ति का बच्चा पौष्टिक पदार्थों और भोजनों की कमी होने पर दौड़ धूप कर अपने शरीर के विकास करने का कुछ ही अवसर पा जाता है, उसी प्रकार सम्पन्न व्यक्ति का बच्चा भी दूध, फल और अन्य पौष्टिक पदार्थों की पर्याप्त सुलभता होने पर भी खेलने कूदने से बराबर रोके जाते रहने पर, कपड़ों के मैले होने के डर से बाहर खुली हवा में नौकरानी या सेवक द्वारा खेलने या कहीं बैठने न दिया जा कर उन भोजनों के पोष्टिक अंश को अपने शरीर के अंगों की गति और थकान द्वारा ग्रहण करने और पचाने का उचित रूप में अवसर ही नहीं पाता। इस कारण हमारे दोनों प्रकार के धनी और निर्धन बच्चे किसी न किसी कारण शरीर की वृद्धि और विकास का पूर्ण अवसर नहीं पाते।

पढ़ने योग्य होने और पाठशाला में जाने वाले बच्चों के लिए इस कारण हमें इस अज्ञानता से दूर रखना चाहिए। उनको पढ़ने के साथ ही खेल कूद, उचित व्यायाम और दौड़ धूप का अवसर देना उनके शरीर के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। स्वाभाविक रूप से शरीर के थकान वाले खेल कूद में उन्हें लाभ उठाने का जिस प्रकार अवसर मिल सकता है उसे हम समझ सकते हैं। शरीर में रक्त का अधिक संचार हृदय की मजबूती और फेफड़ों के रक्त शोधन में अधिक लगने का तभी अवसर मिलता है जब बच्चा उनमें अधिक गति कराने का अवसर पावे। इन अंगों का विकास इस रूप में कराना तो उचित ही है। परन्तु उन्हें ऐसे मुकाबले के खेल या व्यायाम में नहीं लगाना चाहिए जिसमें बहुत ही अधिक क्लान्तता आकर अंग को धक्का लगाकर हानि पहुँचने का भय हो। साधारण रूप की दौड़-धूप या खेल कूद वा व्यायाम से थकान उत्पन्न होने पर पुट्ठों के सिकुड़ और फैल कर पुष्ट होने और अंगों की वृद्धि करने का अवसर प्राप्त होता है। व्यायाम वा खेल कूदों का उचित रूप में प्रयोग होने से सारे शरीर के अंगों की उचित रूप में वृद्धि होती है। हृदय की क्रिया से रक्त का प्रवाह अधिक होने से शरीर के सब अंगों में जब पुष्ट भोजन पहुँचता है, वहाँ मल का अंश भी शीघ्रता से गुर्दे मूत्राशय आदि से बाहर निकाला जाता है। फेफड़े और आँतें भी शरीर का विकृत अंश शीघ्र बाहर निकालती हैं। किन्तु जहाँ अंगों में गति बढ़ा कर इतना शरीर को पोषक अंश देने और मल निकालने तथा पेशियों के फैलने और पुष्ट होने का अवसर मिलता है, वहाँ इन लाभों से वंचित रह कर खेल कूद व्यायाम आदि से दूर रहनेवाला बालक अपनी नासमझी से भविष्य के लिए दुर्बलता, कृषता मोल लेने के लिए अपना सारा समय सुस्त बैठे पड़े रहने, कुछ पढ़ने या बात करने में ही बिता देता है। बहुत से बालक अपने शरीर के अंगों की दुर्बलता का बहाना कर इन शरीर निर्मायक साधनों से दूर रह कर व्यायाम या खेल कूद से दूर भागते हैं। वे इस तरह अपनी दुर्बलता,

शरीर के अंगों की शिथिलता दूर करने का जो एक मात्र अवसर हो सकता है, उससे दूर रह कर अपनी भारी हानि करते हैं। जो लोग उनके भविष्य का विचार कर सकते हैं उनका ही वह कर्तव्य हो सकता है कि उनको ऐसी भूल कर अपनी स्थायी हानि न होने देकर स्वास्थ्य लाभ के लिए हर तरह उत्साहित करें।

शरीर का सुडौलपन

हमारी ठटरी की हड्डियों का कार्य शरीर के कुछ अंगों की रक्षा करना, पुट्टों के सिरे बँधा रखने को स्थान देना और शरीर के ढांचे और अंगों को संभाल रखना है। बच्चे के शरीर का ठीक विकास होने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी हड्डियों का आकार ठीक बना रहे जिस से वे ऊपर बताए कामों या उद्देश्यों को पूरा कर सकें। इस कारण शरीर के भाग को ठीक स्थिति में रखना अत्यंत आवश्यक है। बच्चों में हड्डियां नर्म रह कर विकसित होती रहती हैं, इस लिए कुम्हार के कच्चे घड़े की भाँति उनका जो रूप इस समय बन सकता है वही युवावस्था में पके घड़े की भाँति स्थिर रूप का बना रह सकता है अतएव उन्हें हड्डियों को टेढ़ा मेंढ़ा वा झुका हुआ रखने वा दुर्बल न बनने देने का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है। ठीक रूप की हड्डी से सुरक्षित या आधारित रहने पर ही अंग अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकते हैं। इस लिए उसके सुडौल रूप में रखने के लिए बच्चों के उठने बैठने के ढंग का अवश्य ही प्रभाव पड़ सकता है।

तकुए की तरह सीधा खड़ा आकार ही बदन का सुडौलपन नहीं कहा जा सकता। सुडौलपन का अभिप्राय साधारण रूप में शरीर का सीधा रहना, धड़ पर सिर की ऐसी स्थिति होना कि किसी ओर झुका न मालूम पड़े, अन्य अंगों का विन्यास भी स्वाभाविक हो। सुडौलपन वा अंग-विन्यास मानसिक और शारीरिक स्थित प्रकट करने वाला होता है। सीधी रूपरेखा से शरीर को खड़ा करके हम मुर्दनी और सुस्ती की अवस्था को दूर कर सकते हैं। आज कल अध्ययन काल खेल कूद, व्यायाम आदि से दूर भागने वाले छात्र और छात्राओं को अवस्था बढ़ने पर कृषित बदन का देखा जा सकता है। वे वस्त्रादि से कितना भी शरीर ढक और सुसज्जित कर अपना रोबीला रूप दिखाने का प्रयत्न करें परन्तु प्रारंभिक अवस्था में उनका शरीर-निर्माण के परिश्रम, खेल कूद, व्यायाम आदि की अवहेलना के कारण शिथिल बना शरीर अपनी वास्तविकता दूर से देखने पर ही प्रकट कर देता है। एक मुर्दनी और शिथिलता का परिचय ही हम उनके शरीर में पा सकते हैं जो उनके भविष्य जीवन के लिए स्वास्थ्य-धन की बहुत दुर्बल सामग्री रूप में होता है।

सुडौलपन या सुन्दर अंगविन्यास के लाभ बहुतेरे हैं। सीधा सुडौल, स्फूर्तिपूर्ण शरीर अपने अंगों को समुचित रूप से स्थित रखता है जिस से शरीर का कार्य अत्यंत सुचारु रूप से चलता है। उसकी वाह्य रूपरेखा अंतस्तल की आत्मा का प्रकाश करती है। कहीं भी व्यवसाय, नौकरी आदि के लिए ऐसे व्यक्ति को किसी के पास जाने पर उचित सम्मान मिलता है। उसके खड़े होने पर वा चलने से उसकी चेतनता और मानसिक शक्ति प्रकट हो जाती है। शरीर के उभाड़ से ही आत्मा का भी उभाड़ होता है। झुके हुए सिर और सामने निकले हुए पेट का शरीर ले कर चलने वाला कभी उच्च गौरव का भागी नहीं हो सकता।

शरीर के रखने की चार स्थितियां या आसन कहे जा सकते हैं खड़ा रहना, बैठना, सोना और चलना। पाठशाला में बच्चों को अधिकतर बैठना पड़ता है। वे यदि दिन भर कमर झुका कर किताब पढ़ते, पाठ याद करते ही अपना समय बिताते रहें तो उनके शरीर की रचना सुडौल नहीं रह सकती। हड्डियों का

रूप विगड़कर स्थायी कुरूपता धारण कर सकता है। कमर टेढ़ी हो सकती है।

इस लिए बच्चों को बैठने का अवसर छोड़कर दूसरा आसन दौड़ धूप करना ही है। इसके लिए खेल कूद, व्यायाम आदि का बीच बीच में कार्य-क्रम रखना आवश्यक है। गर्दन और पीठ झुकाकर उन्हें बैठने का अभ्यास न डलवाना चाहिए। कूबड़पन के अतिरिक्त रीढ़ की हड्डी दाएं या बाएं भी झुक जाती है। इसका कारण एक हाथ पर बराबर किताब ढोना भी अनुमान किया जाता है। एक पैर पर खड़े होना भी ऐसा विकार उत्पन्न कर सकता है। इसलिए दंड देने के लिए बच्चे को इस स्थिति में प्रायः खड़ा करवाना अनुचित हो सकता है। बच्चों के पैर में टेढ़ापन लाने का कारण चलने या दौड़ने का अशुद्ध ढंग और तंग जूता पहनना हो सकता है। चलते समय पैर की एड़ी पर पहले जोर देना चाहिए, बाद में पंजों पर। तंग जूते खींच खांच कर कभी भी न पहनना चाहिए। इन सब अवस्थाओं में देखा जा सकता है कि कृत्रिम या अस्वाभाविक रूप में गतियाँ ही कुडौलपन वा अंग का टेढ़ापन उत्पन्न करती हैं। स्वाभाविक रूप में खेलना कूदना, दौड़ धूप करना, व्यायाम करना उनके शरीर के उचित रूप में विकास करने में बराबर सहायता ही करता है। दिन रात शिथिल और सुस्त रहने वाला बालक बुद्धि के कार्यों में चाहे जितना होनहार हो, अपने शरीर का उचित विकास न कर जीवन के उस उत्कृष्ट रूप की ओर नहीं बढ़ सकता जिस की प्रत्येक सफल व्यक्ति को नितान्त आवश्यकता हो सकती है।

हवादार स्थान—सांस द्वारा ली गई हवा से आक्सिजन ग्रहण कर रूप शुद्ध करने और कार्बन डायक्साइड रूप में विकृत पदार्थ को बाहर करने के रूप में फेफड़े के कार्यों को हम जानते हैं। इसकी हमारे शरीर को कितनी आवश्यकता है, हम समझ सकते हैं, परन्तु इसके लिए आक्सिजन का भंडार कहीं संचित रखने और बाद में काम आते रहने का प्रबन्ध शरीर में नहीं है। प्रकृति ने इसका अक्षय भंडार खुली हवा में भर रक्खा है। केवल हमें थोड़ा प्रयत्न करने से ही यह सर्वत्र सुलभ है। यदि बच्चों को हम एक ऐसे स्थान में दिन भर रहने के लिए बाध्य करें जहाँ कहीं बाहर से यथेष्ट हवा आते रहने के लिए खुली खिड़कियाँ, झरोखे, दरवाजे आदि कम हों वा न हों तो सब बच्चों के सांस से बाहर निकली हुई हवा कार्बन डायक्साइड रूप में विकृत और हानिप्रद रूप में ही मिलेगी और प्रकृति के इतने भरे पुरे हवा के शुद्ध भंडार से आक्सिजन ग्रहण कर सकने का उन्हें अवसर न मिलेगा। अतएव उनके शरीर में रक्त के शोधन, और उससे सारे शरीर को पौष्टिक तत्व पहुँचाने तथा विकृत भाग के बाहर निकालने का अवसर कम मिलेगा।

प्रकाश—हवा की तरह प्रकाश भी बच्चों के लिए आवश्यक ही है। उनके नेत्रों पर बल न देने के लिए प्रकाश का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जो सूर्य के धूप की तरह हो, धुँधला प्रकाश हानिकर है। गोधूलि वेला या प्रातः काल के सूर्योदय के पूर्व उषः काल के धुँधले प्रकाश वा रात को धीमे जलते प्रकाश में उनके नेत्र पढ़ने लिखने में विशेष कष्ट पा सकते हैं। प्रकाश एक स्थिर आधार से आना चाहिए। हिलते डुलते आधार से आने वाला वा नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न करने वाला प्रकाश हानिकर है। यह सिर के ऊपर-या बगल से आना चाहिए। लिखने के समय यह आवश्यक है कि बाईं ओर से हमको प्रकाश मिले, किन्तु जिन्हें दाएँ हाथ के स्थान पर बाएँ हाथ से लिखने का अभ्यास होता है उनके लिए प्रकाश दाईं ओर से आना चाहिए। सूर्य की तेज धूप भी नेत्रों को हानिकर है। बहुत तेज वा चकाचौंध वाला प्रकाश नेत्रों के लिए उचित नहीं।

किसी चलती गाड़ी से मिलने वाला प्रकाश हिलने डुलने के कारण पढ़ने लिखने के अनुपयुक्त होता है क्योंकि अंधेरे और प्रकाश के बदलते रहने से आंखों को बराबर उसके अनुसार पुतली हेर फेर करने में कष्ट होता है। पढ़ने के स्थान पर परछाईं डालने वाला प्रकाश भी उचित नहीं।

शरीर की स्वच्छता— बच्चों को अपने शरीर के अंगों को उचित रूप में कार्य करने देने के लिए शरीर की सफाई रखना चाहिए। गंदगी से शरीर के अंदर कीटाणु पहुँचकर व्याधा उपस्थित कर सकते हैं। साबुन लगाकर मल-मल कर नित्य स्नान करने से त्वचा अपने पसीने बहाने वाली ग्रंथियों और छिद्रों को काम में लाने योग्य रखकर शरीर के विकार को बाहर करती और शरीर का शोधन कार्य करती रह सकती है। यदि असावधानी और आलस से स्नान कर बदन रगड़ रगड़ कर स्वच्छ न किया जाय तो यह शोधन कार्य रुक कर शरीर में विकार उत्पन्न कर चर्मरोग वा अन्य कष्ट उत्पन्न कर सकता है। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब कभी छूत की कोई बीमारी किसी बच्चे को हो जाय, तो उसे पाठशाला में न भेजकर अन्य कई रोगों से बचावें। पढ़ने के थोड़े लाभ के लिए अपने शरीर का रोग अन्यों तक पहुँचाना बड़ा ही अहितकर कार्य है।

आँख, कान और दाँत की रक्षा

आँख—बच्चों की आँखों की रक्षा करने के लिए आवश्यक है कि वे बारीक वस्तुओं की देर तक छान बीन करने, उनकी सूक्ष्मता का अवलोकन करने से बचाए जायँ। सिलाई के बारीक बखिए, चित्र की सूक्ष्म लकीरें, पुस्तकों की पतली छपाई के अक्षर उन के नेत्रों में शीघ्र थकान उत्पन्न कर देते हैं अतएव बच्चों को ऐसे थकान के कार्यों से दूर रखना चाहिए। बहुत अधिक समय तक पढ़ते ही रहना भी उनके कोमल नेत्रों को हानि पहुँचाता है। पढ़ते पढ़ते कुछ समय के लिए दूर की कुछ वस्तुएँ देखने में उन्हें लगाना उनके थके नेत्रों के लिए उचित हो सकता है। २० फीट के दूर की वस्तु देखने में आखों की पेशियों को परिश्रम नहीं करना पड़ता, इस लिए थकान के बाद ऐसी दूर की वस्तुएँ उनके नेत्र को आराम पहुँचा सकती हैं।

यदि आँखों की रक्षा का बराबर ध्यान रक्खा जाता रहे तो आँखें सुन्दर और सुडौल बनती हैं। असावधानी से अनेक नेत्र-रोग हो जाते हैं। इस दृष्टि से निम्न बातें नेत्रों के लिए अहितकर हैं— (क) दुर्बल शरीर, हीन जीवन शक्ति, मरियल शरीर वाले की आँखें भी वैसी ही तेज हीन और भीतर धसी हुई मिलेंगी (ख) आँखों का बहुत अधिक उपयोग, बहुत अधिक रात दिन पढ़ना वा निकट से देखकर काम करते रहना। (ग) धुँधला प्रकाश (घ) हानिकर पदार्थों का संसर्ग-जैसे धुआँ, धूल, अधिक गर्मी, आँधी रासायनिक द्रव्य आदि। नेत्रों के भिन्न-भिन्न रोग भी इन्हें हानि पहुँचाते हैं। अपने पूर्वजों से भी नेत्र के रोग उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होते हैं। आँखों की अनेक बीमारियों में प्रायः अँखीजनी बच्चों को होती दिखाई पड़ती है। पलकों की ग्रंथियों में छोटे फोड़े रूप में मवाद आ जाता है। उसे पक जाने पर धीरे से फोड़ कर मवाद निकाल देना चाहिए। नित्य प्रातः काल उठते ही ठंडे पानी से आँखों को धो लेना चाहिए। कीचड़ साफ कर लेना चाहिए।

कान—कान में ऊपर निकले चौड़े भाग के बीच में एक -एक छेद होता है। उस में नीचे कान का पर्दा होता है जिस पर मोम जैसी कुछ मैल बैठी रह कर उसकी रक्षा करती है। वह पर्दा बड़ा ही कोमल होता है। कभी-कभी उसके ऊपर की मोम सूखकर

लकड़ी सी हो जाती है। उसे किसी औजार वा कील से खोद कर साफ करने का प्रयत्न करना भयानक हो सकता है। ग्लिसरीन की एक बूंद डाल कर नम पड़ने पर मैल साफ करना सुगम हो सकता है किन्तु किसी दशा में कान में कड़ी चीज घुसेड़ कर कान साफ करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

दाँतों की रक्षा—दाँतों की जड़ में कीटाणु उत्पन्न होकर पायरिया नाम का रोग पैदा करते हैं जिससे मसूड़ों से खून और मवाद बहने लगता है। मुँह से बदबू निकलने लगती है। दाँत के रोग के द्वारा अन्य बहुत से रोगों के भी शरीर में उत्पन्न होने का प्रमाण पाया जाता है। लोग दूध के दाँतों की रक्षा का ध्यान रखना उचित नहीं समझते, परन्तु दूध के दाँतों से स्थायी दाँतों के जमने पर प्रभाव पड़ता है। यदि दूध के दाँत समय से पहले टूट गए तो स्थायी दाँतों को भी असमय ही उनका स्थान लेना पड़ सकता है जिसके लिये उनमें यथेष्ट तत्व एकत्रित न हो चुके हों। अतएव वे दुर्बल और बेडौल हो सकते हैं। दाँतों की सफाई के लिये हमें इन बतों का ध्यान रखना चाहिये कि जब कभी भोजन किया जाय, उसके पश्चात् ब्रश या कूची बन सकने योग्य बबूल, नीम, महुआ, मौलसरी आदि की दातुन से दाँतों की अवश्य सफाई की जाय। दाँतों में फँसे खाने के पदार्थों के टुकड़े ब्रश वा दातुन से निकाल लिये जायें लेकिन मसूड़ों से खून न बहने पावे। नमक घुला पानी वा चूने का पानी सोते समय कुल्ली करने के लिये प्रयुक्त किया जाय। जीभ की सफाई भी आवश्यक है।

भोजन

हमारे नित्य के जीवन में शरीर के अंग कार्य करते हैं। उस में शक्ति का ह्रास होता रहता है। उस कमी की पूर्ति भोजन करते हैं। बाल काल में हमारे शरीर की वृद्धि भी होती है, इसलिये हमें भोजन से ही वे पदार्थ भी प्राप्त होते हैं जो शरीर के तन्तुओं का निर्माण करें। इन सब के लिये पदार्थों का हमारे शरीर में सदा रासायनिक परिवर्तन हुआ करता है। अतएव हमारे शरीर में भोजन के तीन उपयोग होते हैं। (१) शक्ति-प्रदान करना (२) तन्तुओं का निर्माण करना और (३) शरीर के अंगों की क्रियाएँ नियंत्रित करना।

इन दृष्टियों से भोजन के गुणों को देखकर हम उसका भेद कर सकते हैं। दूध इन सब गुणों की पूर्ति करता है। बच्चों के लिये तो केवल माँ का दूध ही पूर्ण रूप से आवश्यकता पूर्ति करने वाला होता है। अन्य भोजन पदार्थों में कुछ शक्ति प्रदान करते हैं, कुछ तन्तु निर्माण करते हैं, कुछ इन दोनों का गुण रखते हैं और कुछ अंगों के कार्य का ही नियंत्रण करते हैं। हम को अपनी आवश्यकतानुसार इन गुणों के मेल वाले पदार्थों को भोजन रूप में लेना उचित है। पदार्थों के रासायनिक मेल के हिसाब से तीन भेद किये जाते हैं। कार्बोहाइड्रेट (श्वेतसार और शर्करा), चिकनाई वाले पदार्थ और तन्तुनिर्मायक पदार्थ या प्रोटीन। जो पदार्थ पाचन क्रिया में बदल कर शक्कर बनते हैं श्वेतसार कहलाते हैं। इन को कर्वोज या कर्बोहाइड्रेट कहते हैं। चिकनाई वाले पदार्थ वसा (फैट) कहलाते हैं जिनमें दूध, मलाई, घी तेल आदि होते हैं। ये दोनों ही पदार्थ शक्ति प्रदान करने वाले पदार्थ हैं। इन में भी कर्बोज को बदल कर स्निग्ध बनते देखा गया है। ये दोनों पदार्थ अधिकांश खाद्य पदार्थों में होते हैं। दूध में श्वेतसार, वसा और तन्तुनिर्मायक (प्रोटीन) तीनों पदार्थ समान मात्रा में होते हैं। अधिकांश खाद्यान्नों में भी ये तीनों पदार्थ होते हैं। किन्तु कोई दो पदार्थ तो सब खाद्यान्नों में अवश्य होते हैं। शाक भाजी में भी तीनों ही पदार्थ प्रायः पाए जाते हैं। श्वेतसार उनमें अधिक मात्रा में पाया जाता है। मेवे में वसा और तन्तु-

निर्मायक पदार्थ होते हैं। श्वेतसार वा शर्करा और वसा हमारे शरीर में ईंधन की भाँति काम करते हैं। अक्सिजन के संसर्ग से ये जलते हैं और शक्ति पैदा करते हैं। राख और धुएँ और भाप रूप में कार्बन डायक्साइड और जल शक्ति उत्पन्न कर देने पर बच जाता है। पदार्थों से श्वेतसार रूप में बदला भाग रस रूप में यकृत में संचित किया जाता रहता है। वही समय पर शक्ति उत्पन्न करने में प्रयुक्त होता है। शक्ति उत्पन्न करने की शक्ति वसा में श्वेतसार से दुगुनी से भी कुछ अधिक होती है। आवश्यकता से अधिक होने पर वसा शरीर में चर्बी रूप में जमा होती रहती है।

शरीर के तन्तुनिर्मायक पदार्थों में दूध, गेहूँ और अन्य साधारण अन्न हैं। अन्न और मांस की तन्तु-निर्मायक श्रेष्ठता का निर्णय नहीं किया जा सका है। वे प्रत्येक जातियों की धार्मिक भावना पर भी प्रभाव डालने से विवाद में लाने योग्य नहीं। प्रोटीन वा तन्तुनिर्मायक पदार्थ को हम नाइट्रोजन युक्त पाते हैं। हमारे शरीर से विसर्जित मल में पर्याप्त नाइट्रोजन बाहर होता है। वह शरीर के कार्यों में प्रयुक्त होकर विसर्जित हो जाता है। उसकी पूर्ति प्रोटीन वाले पदार्थ ही कर सकते हैं।

भोजन विज्ञान की नई खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि विशेष रूप के पदार्थों के कुछ विशेष गुण होते हैं। इनके अभाव होने से मनुष्य के शरीर के आवश्यक पदार्थों का मेल बिगड़ जाता है। इस लिये विशेष तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। चावल यदि मिल का कुटा और पालिश किया हुआ ही खाया जाय तो बेरी बेरी बीमारी होती है। ताजे फल, फूल और शाक भाजी न खाए जायें तो स्कर्वी नाम बीमारी होती है। जब कई तरह की बीमारियाँ नए नए रूप में दिखाई पड़ने लगीं तो बीमारों के पूर्व खान पान की छान बीन कर और वैसे ही पदार्थों का चूहों पर प्रयोग कर पदार्थों की विवेचना की गई। विटेमिन ए, बी, सी, डी, ई, जी, आदि पदार्थों के स्वाभाविक गुण ढूंढ़ निकाले गये। इन का विशेष वर्णन भोजन-विज्ञान की बड़ी पुस्तकों में देखा जा सकता है। परिणाम यह निकला है कि ताजे फल, कंद, शाक पत्ती वाली भाजियाँ नए अन्न, ताजा दूध, आदि प्राकृतिक रूप में विटेमिन के सब विभेदों को प्रकट करने वाले गुण भिन्न-भिन्न मात्रा में रखते हैं। जहाँ तक हो सके इन का उपयोग करना लाभदायक होता है। श्वेतसार, शर्करा, वसा और प्रोटीन रूप में भी जो भेद हैं उनके सर्वोत्तम मेल के पदार्थ ताजे अन्नों फलों साग भाजियों आदि में सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वस्थ गाय व बकरी का दूध तो और भी उत्तम होता है। बहुत कूटे पीसे और पकाए वा डब्बों में बन्द किए वा कृत्रिम रूप में बनाए पदार्थ उतना लाभ कभी नहीं पहुँचा सकते। इसीलिये अब टमाटर गाजर, हरी मटर, पालक आदि पदार्थ ढूंढ़ ढूंढ़ कर उपयोग में लाने की चलन हो रही है।

भोजन का शुद्ध ढंग—भोजन करने के क्या शुद्ध ढंग है, यह भी आवश्यक प्रश्न है। वह निम्न रूप में स्मरण रखना चाहिये :—

(१) भोजन करने का स्थान—जहाँ भोजन किया जाय वह स्थान स्वच्छ आकर्षक, दुर्गंधि रहित हो। हल्ला-गुल्ला वा भाग दौड़ न हो कर शान्ति हो। शान्त और सुन्दर वातावरण में खाने की रुचि होती है। (२) भागे और थके हुये आ कर तुरन्त नहीं खाना चाहिए। (३) भोजन धीरे धीरे करना चाहिये। ३०, ३२ बार कुचल कर प्रति नेवाला खाने का हिसाब लगाना ठीक नहीं। खाने के काम में एक गिनती का बखेड़ा कर और कुछ ध्यान बटाने से खाने का आनन्द चला जाता है। हड़बड़ी न होने पर यों ही कूँच कूँच कर खाया जायगा। (४) पानी पी-पी कर

[शेष पृष्ठ १७ पर देखें]

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग** १—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेटके गणित के विद्यार्थियों के लियेले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियो के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का सग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

पुराने सभी ढंगोंका ब्योरेवार वर्णन। इसमें कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम०, ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१९—**कलम पेवंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२०—**जिल्दसाजी**—क्रियात्मक और ब्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८० पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२१—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २॥=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।'

२२—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२३—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार- अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति। पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।

२४—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम** भाग—सम्पादीक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षित इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५० पृष्ठ और ३३० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२५—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ॥।)

२६—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ॥।)

२७—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं। २६८ पृष्ठ और ६४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

२८—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२९—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौडाई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

३०—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय संस्करक ले०—पण्डित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मए और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उप-योगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै०उ० ।३।५

भाग ७३ | सम्वत् २००८ अगस्त १९५१ | संख्या ५

संस्कृत साहित्य में गणित और खगोल

भारतीय संस्कृति में गणित और खगोल विद्याओं की परम्परा इतनी पुरानी है कि इस परम्परा का आरम्भ कब हुआ, इसका मूल स्रोत क्या था, यह जानना अब न तो संभव ही है, और न आवश्यक ही। मनुष्य ने जिस दिन से अपने नेत्र खोले और सूर्य्य के दर्शन किये, उसका खगोल ज्ञान आरम्भ होगया। ऋग्वेद के मनीषियों ने जिस दिन "जीवेम शरदः शतम्" अर्थात् सौ शरद तक हम सब जीवें, इस घोष का पाठ आरम्भ किया, उस दिन उसे न केवल शरद आदि ऋतुओं के आधार पर वर्ष की गणना करने की पद्धति ज्ञात होगयी, उसे सौ और उससे अधिक तक गिनने की गिनती भी आगयी। सूर्य्य की परिक्रमा के आधार पर वर्ष और चन्द्रमा की कलाओं के पुनरावर्त्तन के आधार पर महीनों की गणना आरम्भ हुई। "सूर्य्या-चन्द्रमसौ" के समान वैदिक सूक्तियों के साथ-साथ "अहोरात्र", "संवत्सर" आदि के शब्द ऋग्वेद के अघमर्षण मंत्रों में प्रत्येक सन्ध्योपासन करने वाला व्यक्ति प्रतिदिन दोहराता है। वेद के अनुशीलन करने वालों ने अपने ६ वेदांगों में ज्योतिष् को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। सबसे पुराना ग्रन्थ लगध मुनि का वेदांगज्योतिष इस समय हमारे ज्योतिष साहित्य का संभवतः सबसे प्राचीन प्राप्त ग्रन्थ समझा जाता है।

ज्योतिष और खगोल ज्ञान का आरम्भ सूर्य्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गतियों से होता है। वेदांग ज्योतिष में बतलाया गया है कि धनिष्ठा नक्षत्र के आदि पर जब सूर्य्य रहता है तब उत्तरायण आरम्भ होता है। यह सब ज्ञान खगोल की घटनाओं का अवलोकन करके किया जाता था। यजुर्वेद में ऐसे व्यक्तियों को जो खगोल पिंडों की गतियों का अवलोकन किया करते थे "नक्षत्रदर्श" कहा है—"प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्"।

गणित का आरम्भ गणना या गिनती से होता है, एक से लेकर शंख महाशंख तक की गणना करने की पद्धति इस देश से आरम्भ हुई। यजुर्वेद के एकाचमें तिस्रश्चमे पञ्चचमे वाले प्रसिद्ध मन्त्र में

१ से लेकर ३३ तक की विषम संख्यायें १, ३, ५, ७, ६ आदि दी हुई हैं, और इस मन्त्र के अगले मन्त्र में ही चतस्रश्चमेऽष्टौचमे द्वादशचमे मन्त्र में चार का पूरा पहाड़ा दिया हुआ है।

भारतवर्ष में गणित का वस्तुतः विकास ज्योतिष के साथ साथ हुआ। यही नहीं, शिल्पकला के सहयोग में भी गणित के अनेक नियमों का अनुसन्धान हुआ। यज्ञ-भूमि की रचना में भी रेखागणित के मोटे मोटे सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया। हमारे देश ने गणित के विकास में चीन, यूनान, मिश्र और अरब देश के गणितज्ञों और ज्योतिषियों का भी सहयोग पाया। इन पाँचों प्राचीन देशों ने मिलकर अति उन्नत गणित शास्त्र का विकास किया। अतः इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है कि गणित के किन सिद्धान्तों का मूल प्रतिपादन इस देश में हुआ और कौन सी बातें बाहर से आयीं। हमारा गणित और ज्योतिष सम्बन्धी समस्त साहित्य श्लोकों में पद्य बद्ध है। श्लोक याद रखना आसान था पर श्लोकों में गणित द्वारा निकाले गए अन्तिम फल ही दिये हुये हैं। गणित के प्रमेयों को कैसे सिद्ध किया गया, यह विस्तार इन श्लोकों में नहीं दिया हुआ है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है, कि प्रमेयों को सिद्ध करने की प्रथा ही न थी। इस बात में यूनानी साहित्य से हमारा साहित्य विभिन्न है। यूनानी साहित्य में गणित साहित्य गद्य में है और इसलिए प्रमेयों को सिद्ध करने की विधियाँ भी उन्होंने सुरक्षित रखी हैं।

हम अपने गणित ज्योतिष काल को दो मुख्य विभागों में बाँट सकते हैं। पहला शुल्वसूत्र काल जो पुराने समय से २०० ई० तक माना जा सकता है, और दूसरा गणित काल जो २०० से १२०० ई० तक का समझा जा सकता है। शुल्वसूत्र काल वह समय है, जब यज्ञ के सम्बन्ध में गणित के नियमों का प्रयोग हुआ। अधिकांश शुल्वसूत्र ८०० ई. स. पू. से २०० ई० के बीच में बनाये गये माने जाते हैं। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में दी गई गणनाएँ इनसे भी पुरानी हैं। इन शुल्वसूत्रों में वर्ग और आयतों के खींचने की अनेक विधियाँ दी हुई हैं। पाइथागोरस के जिस प्रमेय का इतना महत्त्व है कि समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग शेष दो भुजाओं के वर्ग के योग के बराबर होता है, वह प्रमेय शुल्व सूत्रकाल में ही लोगों को ज्ञात था। शुल्वसूत्रों में ये तीन सूत्र स्पष्टतया दिए हुये हैं—$३^२+४^२=५^२$, $१२^२+१६^२=२०^२$ और $१५^२+३६^२=३९^२$। वर्ग मूल भी इन सूत्रों में यथार्थता पूर्वक प्रकट करने का विधान है। २ का वर्ग मूल निकालने का पूरा श्रेणीबद्ध समीकरण दिया हुआ है। तुल्यवर्ग और आयतों और तुल्यवृत्त और वर्गों के सम्बन्ध में ऐसे नियम दिये हुये हैं, जो उस समय के गणित ज्ञान के अच्छे परिचायक हैं।

इस देश के गणितज्ञों और ज्योतिषियों में आर्य्य भट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये पटना के निकट कुसुमपुर में सन् १४७६ ई० में पैदा हुए थे। इन्होंने आर्य्यभटीय नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसके एक खंड में गणित की विशेष चर्चा है। यों तो इस ग्रन्थ में ४ खंड हैं—गीतिका पाद, गणित पाद, कालक्रिया पाद और गोलक्रिया पाद। करोड़ों की संख्याओं को अक्षरों द्वारा व्यक्त करने की सरल पद्धति से इस ग्रन्थ का आरंभ किया गया है। आप को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि आर्य्य भट ने अपने ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थ में अंकगणित, बीजगणित और रेखा गणित के बहुत से कठिन प्रश्नों को ३० श्लोकों में भर दिया है। एक श्लोक में आर्य्य भट ने श्रेणी गणित के ५ नियम दे दिये हैं, और अगले श्लोकों में वर्ग, वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शंकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोल का घनफल, विषम चतुर्भुज क्षेत्र के कोणों के सम्पात से भुज की

दूरी और क्षेत्रफल, और इसी प्रकार के अन्य विषयों का प्रतिपादन है। एक श्लोक में बताया है कि यदि वृत्त का व्यास २०००० हो तो परिधि ६२८३२ होती है, जिससे π का मूल्य ३.१४१६ निकलता है। श्लोकों में ज्या खंडों के जानने की व्युत्पत्ति बतला दी गई है जिससे सिद्ध होता है कि ज्याओं की सारणी (Sine table) आर्य्य भट ने कैसे बनायी थी। और भी अनेक विषयों का प्रतिपादन छोटे से ३० श्लोकों के इस खंड में है।

ईसा की पाँचवी शताब्दी में सूर्य सिद्धान्त नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना हुई, जिसके रचयिता का नाम अज्ञात है। लगभग इसी समय में वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्त नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें उस पुराने सूर्य सिद्धान्त का सारांश तो दिया ही, चार अन्य ज्योतिष् ग्रन्थों का भी उसने इसमें समावेश किया। इस प्रकार पांच सिद्धान्त ये हैं–पौलिश, रोमक, वसिष्ट, सौर और पितामह। संभवतः वराहमिहिर और आर्य्य भट समकालीन थे। इनका समय ५०५ ई० के आस पास है। वारह मिहिर को यूनानी ज्योतिष से विशेष राग था, और उन्होंने अपनी पंचसिद्धान्तिका के रोमक सिद्धान्त वाले अध्याय में यवन ज्योतिष का सार दिया है।

सूर्य्य सिद्धान्त ज्योतिष का प्रारंभिक ग्रन्थ है। इसका जो रूप इस समय मिलता है वह वराहमिहिर के समय में नहीं था। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। पंचसिद्धान्तिक और सूर्य सिद्धान्त संबंधी ज्योतिष साहित्य में गणित का दुरूह ज्ञान दिया हुआ है। गणित के सबसे बड़े आचार्य जो लगभग इसी समय हुए वे ब्रह्मगुप्त थे। प्रसिद्ध भास्कराचार्य ने इनको गणक-चक्र-चूड़ामणि कहा है। ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में भी कराया गया था—दो ग्रन्थ ये थे—अससिन्ध हिल् और अल् अर्कन्द। पहली पुस्तक ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त का अनुवाद है और दूसरी खण्ड खाद्यक का। ब्रह्मगुप्त का जन्म ५९३ ई० में हुआ था और ३२ वर्ष की आयु में इन्होंने ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त की रचना की। ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त में ज्योतिष् सम्बन्धी अन्य अध्यायों के साथ साथ एक गणिताध्याय भी है। इसमें जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घन मूल, भिन्न के जोड़ बाक़ी, त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक, भाण्ड प्रतिभांड (बदले के प्रश्न), श्रेढी व्यवहार (क्षेत्रफल निकालने की रीति) खाई आदि का घनफल निकालने की रीति, आरा चलाने वाले के काम का गणित, नाज का परिमाण जानने की रीति आदि २८ प्रकार के कर्मों से संबंध रखने वाली गणित का उल्लेख किया है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के कुट्टकाध्याय में, धन, ऋण और शून्यों का जोड़, बाकी, गुणा, भाग, करणी (Surds) का जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि करने की रीतियां दी गयी हैं। एक अध्याय शंकुच्छाया से संबंध रखता है जिस में त्रिकोणमिति के सिद्धान्तों का अच्छा उपयोग किया गया है।

भास्कराचार्य ने अपने बीज गणित में पद्मनाभ और श्रीधर नामक दो आचार्यों का उल्लेख किया है। श्रीधर का एक गणित ग्रन्थ "त्रिशतिका" है। महावीर नामक एक और व्यक्ति बीज गणित और पाटी गणित के आचार्य हो चुके हैं जिनका समय ८५० ई० के लगभग है। इनका एक ग्रन्थ गणितसार संग्रह उपयोगी माना जाता रहा है।

सन् ९५० के लगभग एक और आर्य भट हुए जिन्होंने महासिद्धान्त नामक ग्रन्थ में अंकगणित या पाटी गणित के उपयोगी प्रश्न दिये हैं। गणित के संबंध में आगे चलकर प्रसिद्ध भास्कराचार्य हुए जिनका जन्म १११४ ई० में हुआ। इन्होंने ३६ वर्ष की आयुमें सिद्धान्त शिरोमणि नामक ग्रन्थ की रचना की। इनका दूसरा ग्रन्थ "करण कुतूहल" था। भास्कराचार्य का

एक प्रसिद्ध ग्रन्थ "लीलावती" भी है। चौथा ग्रन्थ इनका "बीजगणित" है। लीलावती ग्रन्थ का नाम तो बहुतों ने सुना होगा। यह ग्रन्थ लीलावती नामक लड़की को संबोधन करके प्रश्नोत्तर रूप में लिखा गया है। इस पुस्तक के अंत में गणित पाश (Permutation) नाम का एक अध्याय और है। लीलावती की संस्कृत साहित्य में अनेक टीकायें हो चुकी हैं।

भास्कराचार्य का सिद्धान्त-शिरोमणि ग्रन्थ ज्योतिष सिद्धान्त का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं—गणिताध्याय और गोलाध्याय। इस ग्रन्थ में गणित और खगोल सम्बन्धी बड़ा उपयोगी ज्ञान है। सिद्धान्त-शिरोमणि की टीकायें लगभग प्रत्येक शताब्दी में होती रहीं। भास्कराचार्य के काल कुतूहल में ग्रहों की गणना के लिए सुगम रीति बतायी गयी है। भास्कराचार्य के ग्रन्थ लीलावती का अनुवाद फारसी में फैज़ी ने १५८७ में किया था, और शाहजहाँ के समय में अता उल्लाह रसीदी ने बीज गणित का अनुवाद फ़ारसी में किया। अँग्रेज़ी में बीज गणित और लीलावती दोनों के अनुवाद उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही होगए थे।

गणित और ज्योतिष् संबंधी आर्य्य साहित्य जिस प्रकार संस्कृत भाषा में पाया जाता है उसी प्रकार जैन साहित्य भी है, जो संस्कृत भाषा में भी है और प्राकृत भाषा में भी। भारतीय गणित के विकास में जैनाचार्य्यों का भी प्रधान हाथ रहा है। कहा जाता है कि जैन गणित का विकास ग्रीकों के आगमन से पूर्व ही हो गया था। जैन गणित और जैन ज्योतिष् ईसवी सन् से ५०० वर्ष पूर्व अंकुरित ही नहीं, पल्लवित और पुष्पित भी थे। जैनों का एक ग्रन्थ सूर्य्य प्रज्ञप्ति वेदांग ज्योतिष् के समान धार्मिक कृत्यों के उपयोग का सा है ही, इसमें अनेक ज्योतिष् सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है। अनेक जैनग्रन्थों में यत्रतत्र बहुत से गणित सूत्र बिखरे मिलते हैं। भारत ने जिस दशम पद्धति द्वारा संख्याओं के व्यक्त करने की पद्धति का आविष्कार किया, उसका प्रयोग जैनों के बहुत पुराने ग्रन्थों में मिलता है। इन संख्याओं का स्थान-मान बाईं ओर से लिखा गया है। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञान विधि में आर्य भट के संख्या क्रमसे भिन्न संख्या-क्रम लिया गया है। बराहमिहिर की बृहत् संहिता की भट्टोत्पली टीका में भद्रबाहु की सूर्य्य प्रज्ञप्ति टीका के कुछ अवतरण पाये जाते हैं, जिनमें गणित संबंधी अनेक सूक्ष्मताओं का वर्णन है। भट्टोत्पल ने तीन गणितज्ञ जैनाचार्य्यों का उल्लेख किया है। ऋषिपुत्र, भद्रबाहु, और गर्ग। जैनों के कुछ गणित ग्रन्थ ये हैं—श्रेष्ठ चन्द्र का गणित शास्त्र, महावीराचार्य का गणितसूत्र, कविराज कुंजर का लीलावती कन्नड़ और श्रीधर का गणितसार संग्रह। वृत्त क्षेत्र के संबंध में प्राचीन गणित में जितना कार्य्य जैनाचार्य्यों का मिलता है, उतना अन्य लोगों का नहीं। वृत्त के संबंध में इनका प्रधान कार्य्य अन्तः वृत्त, परिवृत्त, बाह्यवृत्त, सूत्री व्यास, वलयव्यास, समकोणाक्ष, केन्द्र परिधि, ज्या, तिर्यक, कक्षा कोणीय नियामक दीर्घवृत्त और चापीय त्रिकोणानुपात के विषयों पर है। बीज गणित के अनेक सिद्धान्त धवला टीका, त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति, लोक विभाग, अनुयोग द्वार सूत्र, गणितसार संग्रह आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। धवला टीका में घाताङ्क सिद्धान्त का अच्छा प्रतिपादन है।

[आ० इ० रे० के सौजन्य से]

[सत्य प्रकाश]

———

विज्ञान का गुप्तचर विभाग

लेखक—जगपति चतुर्वेदी

विज्ञान के गुप्तचर विभाग में प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों का पता लगाने में दो बहुत ही महत्वपूर्ण यंत्र हैं—एक तो किरण-चित्र और दूसरा रौंजन किरणें। लेख में शुष्क ज्ञान व सिद्धान्तों का रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

किरण चित्र :—हम यहाँ पर विज्ञान के गुप्तचर (जासूसी) विभाग की एक बहुत ही विलक्षण और मनोरंजक कहानी सुनाना चाहते हैं। अधिकांशतः किसी भीषण अपराध के अपराधी को हम खोज सकने या पहचानने में समर्थ नहीं होते किन्तु पुलिस विभाग के कुशल गुप्तचर अपनी बुद्धि और विद्या का बल लगा कर उस अपराधी का किसी न किसी प्रकार पता पा ही जाते हैं। इस खोज की विधि को जासूसी या गुप्तचर विद्या कहा जाता है। वे जासूस जब पूरे प्रमाण एकत्र कर अपराधी के उस अपराध में हाथ बटाने के सम्बन्ध की कहानी न्यायालय में उपस्थित करते हैं तो सब लोग उसको वास्तविक अपराधी सहज ही मान लेते हैं। ठीक उसी प्रकार विज्ञान की खोजों ने सृष्टि के छिपे रहस्यों के सम्बन्ध में अपनी गहरी छान बीन कर प्रमाणों के साथ उसकी विलक्षण कथा को विद्वानों के न्यायालय के सामने रखने में सफलता पाई तो हमें उस कथा को आश्चर्य करते हुए भी सत्य मानना पड़ेगा। हम यहाँ पर सृष्टि को बनाने वाले तत्वों या परमाणुओं के संबंध में एक अद्भुत कथा का वर्णन करना चाहते हैं जो इनका फोटो (छाया-चित्र) हमारे सामने रखने के सदृश हैं। हम आपको बताना चाहते हैं कि किस प्रकार विज्ञान ने यथार्थ में तत्वों के पृथक छाया चित्र (फोटो) उतार लेने में सफलता प्राप्त कर ली है।

आपने इन्द्रधनुष देखा है। प्रकृति की सुन्दर रचनाओं में यह कितनी मनोहर वस्तु है। बच्चों को भी इसे वर्षा के दिनों में आकाश में उदय होते देख कितना आह्लाद होता है। सयाने भी उसे देख चकित हो अपना मनोरंजन कर चुप लगा जाते हैं। कवियों ने भी इसके विविध रंगों की महिमा वर्णन कर प्रकृति का गुणगान कितने ही स्थानों पर कितनी ही भाषाओं में किया है; परन्तु यह सब देशों में बरसाती मौसम में सहज ही दिखाई पड़ने वाला इन्द्रधनुष क्या है, कैसे बनता है, इससे सृष्टि की रचना का कुछ रहस्य समझने में किसी प्रकार सहायता मिल सकती है या नहीं, हम इन प्रश्नों पर गम्भीरता से कदाचित ही कभी विचार करते हैं। विज्ञान ने भी बहुत दिनों तक इस संबंध में मौन धारण कर रक्खा था। न्यूटन के इस विचार को विद्वान सुनते और मनन करते आ रहे थे कि सफेद रोशनी या सूर्य का प्रकाश सात रंगों के मेल से बना है। और आकाश की बूंदों में सूर्य के प्रकाश की किरण झलक कर टेढ़ी हो सात रंगों में बट जाती

है। वही बिखरे रंग इन्द्र धनुष में एक साथ आधे वृत्त या मेहराब के आकार में दिखाई पड़ते हैं। यही दृश्य सूर्य या प्रकाश की किरणों को झाड़फानूस में शोभा के लिए लटकाए जाने वाले त्रिपार्श्व (तिपहल) शीशे के टुकड़े में देखने पर मिल सकता है। तिपहल शीशे के टुकड़े पर सूर्य की किरण गिरकर झलक फेंकती हैं किन्तु दूसरे सिरे से निकलने पर उसे टेढ़ा होकर बिखर जाना पड़ता है। इस लिए सातों रंग दिखाई पड़ने लगते हैं। लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला आसमानी नीला और बैंजनी ये रंग किस प्रकार श्वेत रंग के बिखरने से बन जाते हैं, इसका वर्णन दूसरी जगह मिल सकता है। प्रकाश को उत्पन्न करने वाली आकाश में छोटे या बड़े नाप की उठी हुई लहरें होती हैं और उनकी छोटाई या बड़ाई के हिसाब से ये भिन्न भिन्न रंग की जान पड़ती हैं। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है। इनका वर्णन हमारी मुख्य कथा के लिए तुरन्त आवश्यक नहीं अतएव इनकी चर्चा हम यहीं छोड़ देते हैं।

आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जर्मन देश के म्यूनिक नगर में एक शीशे गढ़ने के व्यापारी के कारखाने में एक निर्धन नवसिखुआ लड़का काम सीख कर निर्वाह कर रहा था। दैवयोग से ईश्वर का प्रकोप होने से उसका पुराना मकान ढह गया और उस के परिवार के सब लोग भी उसी में दब कर मर गए किन्तु केवल यह लड़का अपने दुख के दिन बिताने के लिए बच गया। उस की ऐसी दीन दशा देखकर उसी मार्ग से जाते हुए किसी सम्मानित पुरुष को उस पर दया आ गई और उसने अपनी जेब में हाथ डाल कर जो कुछ थोड़े बहुत पैसे पास में देखे, उस दुखी बालक की सहायता के लिए दे दिए। इस उदार पुरुष को धन्यवाद दे कर बालक ने यह बिना माँगी सहायता प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार की और उन पैसों में से कुछ अपने स्वामी को देकर उस से छुटकारा पा लिया और शेष पैसों से उसने शीशे का व्यापार आरम्भ करने के लिए शीशे गढ़ने वाली कल और कुछ पुस्तकें खरीदें। कुछ ही दिनों में उस की चतुरता और परिश्रम से उस का व्यापार चमक उठा। दूरबीन में काम आने वाले शीशे, जिन्हें लेंस या ताल भी कहा जाता है, उसके गढ़े हुए बहुत सुन्दर होते। धीरे धीरे सारे योरप महाद्वीप में उसका बड़ा-नाम हो गया और दूरबीन का शीशा तैयार करने में वह सब से चतुर माना जाने लगा। बड़े से बड़े दूरबीनों में उसी के गढ़े शीशे या लेंस काम में आते। साथ ही दृष्टि-विज्ञान का बड़ा पंडित भी वह माना जाने लगा किन्तु उसके बालपन की झेली कठिनाइयों ने उसके शरीर पर बुरा प्रभाव डाला था अतएव ३९ वर्ष की कच्ची उम्र में ही उसका परलोक वास होगया। इस मेधावी व्यक्ति का नाम जासेफ फ्रानहोफर था।

फ्रान होफर ने तिपहल शीशे में सूर्य की किरणों के बिखर कर सात रंगों में दिखाई पड़ने की बात देखी सुनी थी। कौतूहल वश उसने इस संबंध में कुछ विशेष रुचि रख कर एक प्रयोग किया जो बाद में बड़ा ही युग-प्रवर्तक सिद्ध हुआ। उसने एक कमरे में खिड़की पर काले पर्दे डाल कर सूर्य की एक पतली किरण कमरे में आने के लिए पर्दे में नन्हा छेद रक्खा। यह किरण एक तिपहल शीशे पर गिरती थी, किन्तु उसने उस तिपहल शीशे के पीछे एक छोटा सा दूरबीन कहीं से लेकर लगा दिया। उसका अभिप्राय था कि तिपहल शीशे में बिखरती सूर्य किरण से बनने वाले इन्द्र धनुष के खंड का चित्र दूरबीन से बड़े आकार का देख कर वह विशेष अध्ययन कर सके। किन्तु किरणों के चित्र अर्थात इन्द्र धनुष खंड को तिपहल शीशे द्वारा बना हुआ दूरबीन में बड़े आकार का देखकर उसके सम्मुख जो दृश्य उपस्थित हुआ वह बड़ा विस्मय उत्पन्न करने वाला था। उसने देखा कि इस प्रकार बने इन्द्र

धनुष खंड या किरणचित्र में रंगों की पट्टियों में तरह तरह की मोटाई पतलाई, और हल्के तथा गहरे रंग की काली लकीरें सैकड़ों की संख्या में खिंची हुई हैं। उसने इस प्रयोग को कई बार दुहराया और प्रत्येक बार उसे निश्चित स्थानों पर निश्चित मोटे या पतले पन या हल्के वा गहरे रंग की काली लकीरें निश्चित संख्या में ही मिलती गई। अधिक स्पष्ट और मोटी लकीरों पर अक्षर लिख उसने उनके नाम भी रख दिए। अक्षरों से उन लकीरों के नाम-निर्देश की पद्धति आज भी वैज्ञानिक उसी प्रकार कर रहे हैं। लकीरों का नाम विज्ञान-जगत में उसी के नाम पर "फानहोफर' रेखाएं प्रसिद्ध है। इन लकीरों की संख्या फ़ानहोफर को ५७६ से भी अधिक मिली थीं किन्तु इतनी खोज के बाद वह इस संबंध में आगे कुछ न जान सका और उस खोज को आगे बढ़ाकर मनुष्य का ज्ञान-कोष वृद्ध करने की थाती दूसरे खोजियों को मिली। संसार के ज्ञान भंडार की वृद्धि कण-कण जोड़ कर इसी प्रकार होती गई है।

यदि आप से कहा जाय कि किरण चित्र में दिखाई पड़ने वाली फानहोफर रेखायें सूर्य लोक से हमारे पास आए हुए बेतार के तार के सन्देश हैं तो आप इस बात को हँसी में उड़ा देंगे, परन्तु यथार्थ बात यही है। बेतार के तार के संदेश बेतार के तार के भेजने के स्टेशनों से प्रसारित होते हैं। हम जानते हैं कि ये सन्देश आकाश के शून्य तत्व में उठकर चारों ओर लहरों के रूप में फैलते रहते हैं। बेतार तार के तार का संदेश भेजने के लिए एक स्टेशन से कुछ निश्चित नाप की लहरें आकाश में विजली द्वारा फेंकी जाती हैं। हर एक स्टेशन में एक निश्चित नाप की लहरें फेंकने की व्यवस्था होती है। एक ही नाप की लहरों में स्वर-भेदकर संवाद भेजे जाते हैं। संवाद ग्रहण करने वाले यंत्र उतनी ही नाप की लहरों के अनुसार अपने यंत्र को अनुकूल कर वे संदेश सुन लेते हैं।

प्रकाश भी आकश में उठी लहरों का फल है। केवल उन लहरों का आकार बेतार के तार की लहरों से छोटा है। लहरों का आकार या लम्बाई का अर्थ एक उठी हुई लहर के बाद दूसरी उठने वाली लहर के शीर्षो के बीच की दूरी से होता है। बेतार के तार की लहरों में इस प्रकार का अंतर मीलों का होता है। लहरों के बीच का यह अंतर मीलों से प्रारम्भ होकर नीचेकी ओर घटता घटता उनका गुण बदलता जाता है। प्रकाश की लहरें इतने लंबान की उठती हैं कि हमारी आंखों का बेतार का तार ग्रहण करने वाला यंत्र अपने को उनके ग्रहण करने के अनुकूल बना लेता है। इन लहरों में भी सब से लम्बी हमारे नेत्रों को लाल मालूम पड़ती हैं। उनसे क्रमशः छोटी होती जाती लहरें नारंगी, पीले, हरे आदि रंग की मालूम पड़ती हैं। इनमें सबसे छोटी, सातवें क्रम की बैंजनी या कासनी रंग की लहर हमें मालूम पड़ती है। लहरों का क्रम इससे भी नीचे बहुत बारीकी तक पचासों दर्जे नीचे जाकर विलक्षण फल दिखलाता है किन्तु हमारी आँखें जिस प्रकार प्रकाश की सबसे बड़ी लहरें लाल रंग से ऊपर की लम्बी बेतार के तार की लहरों को ग्रहण वा अनुभव कर सकने में असमर्थ होती है उसी प्रकार कासनी रंग से परे की छोटी लहरें भी हमारे नेत्रों की ग्रहण-शक्ति से बाहर की होती हैं। 'रौंजन' किरण या "एक्सरे" नाम की प्रसिद्ध किरणें इन्हीं में से एक होती हैं जिनमें शरीर के भीतर की हड्डी वा किसी दृढ़ पदार्थ के भी फोटो वा छाया-चित्र उतार लिए जाते हैं। चिकित्सा-जगत में ये 'एक्सरे' या रौंजन रश्मियाँ बहुत उपयोगी और महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। हमारे शरीर को जो गर्मी अनुभव होती है वह भी ऐसी लहरों का परिणाम है जो प्रकाश की सब से लम्बी लहर 'लाल' से तो बड़ी

किन्तु बेतार के तार की लहरों से छोटी होती हैं। इसी कारण उनको ताप की लहरों के स्थान पर वैज्ञानिक भाषा में "परा लाल" 'अर्थात् लाल रङ्ग से परे' या 'इन्फ्रा रेड' नाम की लहरें कहते हैं।

लहरों के बीच की दूरी कम या अधिक होने से उनमें क्रमशः भेद होने का परिणाम है कि हमारे लिए वे विशेष प्रकार के काम करती हैं। लहरों की लम्बाई जान कर बे तार के तार का यंत्र तुरन्त ही उन लहरों को पकड़कर उनका अर्थ बता देता है वा वैसे ही शब्द उच्चारण कर देता है परन्तु प्रकाश की लहरें हमें लहर रूप में नहीं दिखाई पड़ती। लहर रूप में देखने और उनकी लम्बाई नापने का काम हमारी श्रवण इन्द्रियाँ करती हैं और हमें केवल प्रकाश का ही भान होने देती हैं। तिपहल शीशे में उन्हीं प्रकाश की किरणों को पार कराने से लहरों की लम्बाई के हिसाब से लाल, पीली, हरी आदि लहरें पृथक पृथक दिखाई पड़ती हैं किन्तु इतना ही नहीं, हमें इन सतरंगी मिली हुई पट्टियों में जो काली रेखाएँ सैकड़ों की संख्या में मिलती हैं वे कुछ निश्चित सन्देशे लाती हैं। कालिदास के वर्णित भाप और धूम के बने बादल सन्देशे भेजने में अवश्य असमर्थ रहे होंगे परन्तु वैज्ञानिक खोजी सरीखे चतुर खिलाड़ी के हाथ में पड़े हुए अनन्त काल से सृष्टि में अपनी आभा दिखाने वाले ये निर्जीव, निष्प्राण इन्द्रधनुष वा किरणचित्र सजीव, बोलते और मनीषी सन्देश-वाहक बन जाते हैं।

आप स्वयं एक साधारण प्रयोग कर सकते हैं। खाने का मामूली नमक किसी दीपक की तेज लौ में रखिये। उसमें से स्पष्ट पीले रंग की लौ उठ पड़ेगी किन्तु यही प्रयोग कर तेज लौ में दहकते हुये नमक की लपटें आप ऊपर बताये हुए प्रकार तिपहल शीशे में दूरबीन लगा कर देखें तो आप को इन्द्र धनुष के रंगों के स्थान में केवल पीले रंग की खड़ी रेखा खिंची दीख पड़ेगी। ऐसे तिपहल शीशे को दूरबीन के साथ रख कर देखने के जो यंत्र बनाये गये उनको "किरण चित्र दर्शक" या केवल "किरण चित्रक" नाम से पुकारा जा सकता है। इन से दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब वा चित्र को 'किरण-चित्र' कहा जाता है, ऊपर वर्णित प्रयोग जान हर्शल नाम के एक वैज्ञानिक ने किया था। ऐसे ही प्रयोग को जर्मन देश के दो विद्वानों ने कई प्रकार कर 'फान होफर' रेखाओं का पूर्ण रहस्य खोलने में सफलता पाई। इन विद्वानों के नाम राबर्ट बुनसन और गुस्ताव किरशाफ थे। ये हीडेलबर्ग के विश्व-विद्यालय में विज्ञान के आचार्य थे।

इन विद्वानों ने 'प्रयोग' करते करते यह ज्ञात किया कि किसी ठोस पदार्थ को दहकती आग की तरह कर उनका 'किरण चित्रक' में किरण-चित्र उतारने पर सात रंग की मिली हुई पट्टियाँ दिखाई पड़ती हैं उदाहरणार्थ किसी लोहे के डले को दहकते हुये रूप में किरण-चित्र-दर्शक यंत्र में देखने पर सतरंगी एक में एक मिले रंगों की पट्टियाँ मिलेंगी जिन्हें "अविच्छिन्न किरणचित्र" कह सकते हैं अविच्छिन्न का अर्थ बिना किसी प्रकार के अंतर वा बीच में रुकावट की। इसी प्रकार की बेजोड़ सतरंगी पट्टी उस दशा में भी मिलती हैं जब किसी पदार्थ को दहकते हुए द्रव या तरल रूप में कर किरण-चित्र उतारा जाय। उदाहरणार्थ पिघले हुये लोहे वा दूसरे धातु को किरण-चित्रक में देखने पर वैसी ही इन्द्र धनुष के रंग की मिली हुई पट्टियाँ मिलती हैं जिस प्रकार इनके दहकते हुए ठोस रूप में। इतना ही नहीं बल्कि घने दबाव में वायव्य या वायुरूप (गैस) में तपाया हुआ पदार्थ भी वैसी ही मिली जुली पूर्ण सतरंगी पट्टियाँ 'किरण चित्र' रूप में प्रकट करता है।

इन प्रयोगों के विपरीत जब उन्होंने हल्के दबाव के वायुरूप (गैस) तत्वों वा दूसरे तत्वों को तपा कर

हल्के वायव्य (गैस) रूप में बनाकर 'किरण चित्रक' में देखा तो उन्हें सतरंगी अविच्छिन्न पट्टियों की जगह कुछ रंगीन खड़ी रेखाएँ ही मिलीं जिन का स्थान किरण-चित्र में निश्चित विन्दुओं पर था। खाने वाले नमक को दहका कर वायव्य रूप में कर पीले रंग की रेखाएँ मिली थी। इन वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न तत्वों को तपाकर वायव्य रूप में बना हल्के दबाव पर रख कर भिन्न-भिन्न रंगों में इन्द्र धनुष के रंगों के मध्य निश्चित स्थानों पर सदा रेखाएँ प्रकट करते देखा। प्रत्येक तत्व अपने प्रभाव से कुछ विशेष रंगों में विशेष स्थानों पर ही उस रंग की रेखाएँ किरण चित्र में प्रकट करता था। रंग की पट्टियों का स्थान निश्चित रूप से बटा हुआ होने पर उनमें निश्चित स्थानों की किसी भी रंग की रंगीन रेखाओं को देख कर उस तत्व का नाम निश्चित रूप से बताया जा सकता था जिस का वायव्य (गैस) रूप में किरण-चित्र लिया गया होता। यह एक महत्वपूर्ण खोज थी जिसने सिद्ध किया कि प्रत्येक तत्व हल्के दबाव के वायव्य (गैस) रूप में तपाये जाने पर कुछ निश्चित रंग के निश्चित स्थान पर ही रंगीन रेखाओं का किरण-चित्र उत्पन्न करता है।

इन वैज्ञानिकों ने इस से भी आगे बढ़कर एक दूसरी और भी अधिक महत्वपूर्ण खोज की। इन्होंने खाने के मामूली नमक को दहका कर इसके वायव्य रूप का किरणचित्र पीले रंग की पट्टी में निश्चित स्थान पर की रेखाओं के रूप में देखा था। हम जानते हैं कि खाने का नमक सैन्धकम (सोडियम) नाम के एक विचित्र और भीगे धरातल पर लहक उठने वाले नर्म धातु और दूसरे तत्व हरिन (क्लोरिन) नाम जहरीले वायव्य (गैस) के संयोग से बना यौगिक पदार्थ है अतएव नमक के किरणचित्र में उठी पीले रंग की रेखा इस सैन्धकम् (सोडियम) तत्व की है। इन वैज्ञानिकों ने देखा था कि सूर्य के प्रकाश की किरणों के किरणचित्र में भी पीले रंग की पट्टी पर ठीक उसी स्थान पर काले रंग की रेखा पाई जाती है। इन्होंने कौतूहल वश सूर्य के प्रकाश की किरणों के किरणचित्र और सैन्धकम तत्व के किरण-चित्र को एक सीध में उत्पन्न कर एक के किरण-चित्र को ठीक दूसरे के किरणचित्र के ऊपर बनने दिया। परिणाम देख उन्हें विस्मय हुआ। ऐसा करने से सूर्य-किरण के किरण-चित्र की पीले रंगों के मध्य की वह निश्चित रेखाएं बहुत अधिक गहरी काली हो गई।

इस प्रयोग का फल इन वैज्ञानिकों ने इस रूप में निकाला कि भूमंडल में के वायुमंडल में सैन्धकम का नाम भी न होने से अवश्य ही पीले रंग की पट्टी में इस तत्व को प्रकट करने वाली रंगीन रेखा के स्थान पर सूर्य की किरणों का किरणचित्र सूर्य में सैन्धकम की उपस्थिति प्रकट करता है। उन्होंने इसे और भी स्पष्ट रूप में इस तरह प्रकट किया कि किसी तत्व का हल्के दबाव में वायव्य रूप में दहका कर लिया किरण-चित्र उसके निश्चित स्थान पर रंगीन रेखाएँ प्रकट करता है किन्तु यदि उसके मार्ग में किरण-चित्रक तक पहुँचने के पहले ही उसी तत्व का उससे अधिक शान्त रूप का उसी तत्व का वायव्य (गैस) मौजूद होकर उसके मार्ग में बाधा डालता है तो किरण चित्र की रंगीन रेखा काली रेखा के रूप में दिखाई पड़ती है। इतनी बात कहने में बड़ी सीधी सी है परन्तु यह गहराई का भेद खोलने वाली है। सूर्य के प्रकाश की किरणों के किरण-चित्र की सैकड़ों रेखाएँ सिद्ध करती हैं कि उन तत्वों के दहकते हुए वायव्य-सूर्य के तल पर हैं जिससे किरण-चित्र में रंगीन रेखाएँ उत्पन्न करने वाली उन तत्वों की किरणें चलनी प्रारम्भ करती हैं किन्तु सूर्य के चारों ओर उन की अपेक्षा ठंडी गैसें उन्हीं तत्वों की फैली हुई मिलती हैं जो रुकावट पैदा कर उनको धूमिल कर देती हैं।

इसी कारण किरण-चित्र में सूर्य की किरणें केवल सैकड़ों काली रेखाएँ ही प्रकट करती हैं।

आज इन किरणचित्रों का बहुत ही सूक्ष्म और विस्तार पूर्वक अध्ययन किया जा चुका है। आज इन रहस्यपूर्ण किन्तु स्पष्ट संदेश रखने वाली रेखाओं को १०००० की संख्या में सूर्य की किरणों के किरणचित्र में देखा जा चुका है। इन रेखाओं की संख्या, किरण-चित्रों में इनकी ठीक ठीक स्थिति और मोटे या पतले-पन से सूर्य के निर्माण करने वाले तत्वों और उनकी अवस्था के अतिरिक्त वहाँ के तापमान और दबाव, तथा बिजली और चुम्बक के प्रभाव को भी स्पष्ट रूप से प्रकट करने वाला सिद्ध किया गया है और वे हमारे ज्ञान में लाखों कोस पर स्थित दूर के आकाश-पिंडों के बारे में भी अद्भुत सूचनाएँ पहुँचाती नित्य ही मनुष्य के हाथ में एक करामाती या जादू की लकड़ी के रूप में प्रकट होती है। इससे अधिक विस्मय की बात दूसरी क्या हो सकती है।

आज विज्ञान की प्रयोग-शालाओं में सूर्य के प्रकाश के किरण-चित्र की इन सहस्रों काली रेखाओं की तुलना, पृथ्वी पर मिलने वाले तत्वों के किरण-चित्र उत्पन्न कर उनसे की जाकर नित्य ही इस संबंध की खोजों को बार बार दुहराया जाता वा उस सम्बन्ध की नई नई खोजें करने का प्रयत्न किया जाता है। इन खोजों के परिणामसे यह ज्ञात हो सका है कि सूर्य के तल वा वायुमंडल में ५८ तत्व स्पष्ट रूप से मौजूद हैं। ९२ तत्वों में से शेष ३४ के मौजूद होने का कोई प्रमाण किरणचित्र द्वारा न मिलने पर वैज्ञानिकों का अनुमान है कि कदाचित वे इतनी कम मात्रा में वा इतनी गहराई की तह में सूर्य में विद्यमान हैं कि हम तक उनकी मौजूदगी का संदेश भेजने में किरणें अपने को असमर्थ पाती हैं वा उनके संदेश वहाँ से चल कर भी इतने दुर्बल शक्ति के हों कि हमारे लोक के वायुमंडल में न पहुँच पाते हों। कुछ भी कारण हो यदि सूर्य लोक की रचना एक प्रकार के मूल से हुई और उनकी वर्तमान स्थिति में पृथ्वी लोक के तत्व सूर्य में नहीं मिलते तो उसके कारणों का रहस्य विज्ञान कदाचित हमें भविष्य में अपनी कुछ और प्रबल खोजों से बतला सके। सूर्य में सबसे अधिक मात्रा में जो तत्व मौजूद मालूम पड़ते हैं उनमें मात्रा की अधिकता के हिसाब से दूसरे स्थान पर लोहा और चौथे स्थान पर 'सैन्धकम' तत्व जान पड़ता है। सब से अधिक मात्रा खटिकम (काल्सियम) नामक तत्व की जान पड़ती है जो हमारे शरीर की हड्डियाँ बनाने वाला मुख्य तत्व है। उदजन वायव्य (हाइड्रोजन गैस) तीसरे स्थान पर जान पड़ता है।

एक तत्व के किरण-चित्र की रेखा की विचित्र कहानी है। वैज्ञानिकों ने सूर्य के प्रकाश के किरण-चित्रों की काली रेखाओं का अपनी अपनी प्रयोग शालाओं में भूतल पर प्राप्त तत्वों के किरण-चित्र की रंगीन रेखाओं से मिलान कर कुछ रेखाओं की पूर्ण पूर्ण व्याख्या करली तो एक वैज्ञानिक को बड़े ध्यान से देखने पर ज्ञात हुआ कि बहुत सी रेखाओं का तो मिलान होकर सूर्य के तत्वों का ज्ञान हो जाता है किन्तु सूर्य के प्रकाश के किरण-चित्र में एक स्थान पर ऐसी रेखाएँ मिलीं जिनके स्थान पर भूतल पर का ज्ञात कोई भी तत्व अपनी किरण चित्र वाली रंगीन रेखा नहीं उत्पन्न करता था। उसने बार बार प्रयोग कर उन रेखाओं को उसी निश्चित स्थान पर उत्पन्न होते देखा, इस लिये उसने पूर्ण विश्वास किया कि सूर्य में अवश्य ही ऐसा कोई तत्व है जो हमारे भूतल पर सुलभ नहीं ज्ञात होता। उसने उस तत्व को एक स्वतन्त्र तत्व हिलियम (हिमजन) नाम से प्रसिद्ध कर दिया। कुछ वर्षों के बाद ठीक यही तत्व भूतल पर भी बड़ी खोज के बाद एक दूसरे वैज्ञानिक को मिल सका इस लिये पहले वैज्ञानिक की खोज वाली वह बात सत्य सिद्ध हुई। यह तत्व तत्वों की सूची में उदजन

(हाइड्रोजन) के बाद ही दूसरा स्थान प्राप्त करता है। इसमें परमाणु-केन्द्र के चारों ओर दो ऋणाणु परिक्रमा करते रहकर इस परमाणु की रचना करते हैं। परमाणु में परमाणु-केन्द्र के चारों ओर ऋणाणु जिन कक्षाओं में घूमते हैं उनमें पहली कक्षा में एक या दो ऋणाणु रह सकते हैं। उदजन के परमाणु में एक धनाणु से निर्मित परमाणु-केन्द्र का एक ऋणाणु पहली कक्षा पर परिक्रमा करता है किन्तु हिमजन (हिलियम) के उदजन से बलिष्ठ धनाणु-कोष से बने परमाणु-केन्द्र की परिक्रमा पहली कक्षा में दो ऋणाणु पृथक पृथक मार्ग से करते हैं। ऊपर के परमाणुओं में ऋणाणु-संख्या बढ़ते जाने पर भी पहली कक्षा में दो से अधिक ऋणाणु स्थान नहीं पा सकते। वे दूसरी कक्षाओं में जगह लेते हैं। इस लिये हिमजन के परमाणु अपनी कक्षा के भरे पूरे होने से सहज में दूसरे परमाणुओं से मिलकर अणु रूप में दूसरे पदार्थ बनाना नहीं चाहते। उसके आत्म-संतुष्ट रहकर अलग रहने का स्वभाव ही उसके दुर्लभ होने का कारण था।

रोंजन की किरणें:—जिन किरणों की कहानी हमें कहनी है, उनको करामाती या जादू की किरणें कहा जा सकता था किन्तु हम ऐसा न कह कर उनको मर्म-भेदी किरणों के नाम से पुकारेंगे। मर्म का अर्थ भीतरी रहस्य और भेदी का आसान मतलब खोल कर बताने वाला वा प्रकट करने वाला। किसी का मर्म अर्थात उसके हृदय के अंदर, भीतरी भाग में प्रवेश कर उस बात को जान सकना 'मर्म-भेदन' कहा जा सकता है। ऐसा कर सकने वाला मर्म भेदी कहा जायगा। ये किरणें वे ही हैं जो आज हमारे फेफड़े, हृदय, या किसी भी बाहर से न दिखाई पड़ सकने वाले भाग का छाया-चित्र (फोटो) खींच कर सामने रख देती है। शरीर की कोई हड्डी कहीं पर टूटी हो, और बाहर से उसका कुछ मर्म न जान पड़ता हो उस समय ये किरणें हमारी सहायता कर उस टूटी हड्डी का ठीक ठीक रूप चित्र में सामने रख देती हैं जिससे चिकित्सक उसको उचित रूप से प्लास्टर बाँध कर जोड़ने का उपाय कर देता है। क्षय रोग से पीड़ित रोगियों के फेफड़ों की परीक्षा के लिए तो ऐसे चित्रों का नित्य ही उपयोग होता है। पेट में या अँतड़ियों में कहीं भी दैव संयोग से कोई नोकीली सुई, पिन या हानि पहुँचाने वाली कोई वस्तु अटक गई होती है वा कहीं कोई फोड़ा भीतर ही भीतर बनता रहता है तो ये किरणें तुरन्त ही उनके यथार्थ चित्र खींच कर उनकी प्राण-रक्षा के लिए उचित रूप में चिकित्सा करने में सहायता करती हैं। यही नहीं, अपराधियों की खोज में भी इन का विचित्र उपयोग देखा जाता है। आप कभी कोई सिक्का, अंगूठी बहुमूल्य धातु किसी अपराधी के पास छिपा होने का संदेह करते हैं किन्तु बाहर से खोजने पर कुछ ज्ञात नहीं होता। कहीं गुप्त रूप में शरीर में छिपाए होने पर ये किरणें उस रहस्य का चित्र खींचकर खोल देती हैं। बम्बई में कितने ही अरबी व्यापारियों को अपने गुप्त अंगों में सोना छिपा कर चोरी चोरी बेच कर भारी लाभ उठाने का रहस्य इन किरणों ने खोला जिसे समाचार-पत्रों में पढ़कर एक हँसी सी मालूम पड़ती थी। तात्पर्य यह कि आज इन किरणों के यथार्थ स्वरूप को न जानते हुए भी जन-साधारण इनके गुणों वा कार्यों से भली भाँति परिचित हो गए हैं।

जादू, बाजीगरी या चमत्कारिक कार्य क्या हैं। ये केवल हमारी दृष्टि वा चौकस बुद्धि से भी तुरन्त पकड़ में न आने वाली युक्तियाँ या तरकीबें हैं जिनसे कोई पुरुष कोई ऐसा काम कर दिखलाता है जो अन-होनी सी मालूम पड़ती हों वा जिनकी नकल कर हम वैसा ही काम न कर सकते हों। वास्तव में ताशों के विचित्र खेल, बाजीगर के हाथ से कोई वस्तु उड़ जाना, मिट्टी से रुपया, फल, मिठाई आदि बना कर दिखा देना आदि देखने में विचित्र, कौतूहल वर्द्धक कार्य

हाथ की सफाई, विशेष सावधानी और कुछ विशेष कर इसी धंधे के लिए बनाए गये औजारों का फल होते हैं, इन कार्यों की विचित्रता का कोई वैज्ञानिक आधार किसी ने नहीं देखा। हाँ, इन तरकीबों के जानने वाले पेशेवर लोग बड़ी ही कठोरता से इनके ज्ञान को दूसरों तक न फैलने देने का पूरा यत्न करते हैं। इसी लिए बाजीगरी का सिलसिला चला कर अपनी जीविका चलाते हैं, यदि ऐसी बात न होती तो हथेली पर पेड़ जमाने वाले, धूलि से चाँदी के रुपए और बेला चमेली के सुगंधित इत्र बना सकने वाले गली गली दो पैसों के लिए माँगते फिरते क्यों दिखाई पड़ते! ऐसे ही जादू या बाजीगरी के कार्य जब हम कहीं नित्य ही होते देखते हैं तो उसका आकर्षण मिट सा जाता है अर्थात् वह हमारे लिए पूर्ण जादू नहीं रह जाता। इसी प्रकार ऊपर हमने जिसे किरण का नाम लिया है उसका पूरा ज्ञान वा रहस्य न जानते हुए भी हम उसका प्रत्यक्ष कार्य नित्य देखते हैं इस लिए उसे जादू वा बाजीगर के कार्य कह चकित करना उचित नहीं।

इन विचित्र मर्मभेदी किरणों की कहानी अपूर्व है। एक दिन एक वैज्ञानिक ने जर्मन देश की एक विज्ञान-परिषद् के सम्मुख एक प्रकार की विचित्र किरण की खोज कर लेने की घोषणा की और उस वैज्ञानिकों की मंडली के सम्मुख अपने हाथ ही हड्डियों और चमड़े की थैली में बंद धातु के पदार्थों का छाया-चित्र (फोटो) खींच कर दिखा दिया। सब वैज्ञानिक इस खोज को देख कर हक्का बक्का हो गए। यह एक संसार में हलचल मचा देने वाली नई खोज थी जिसका भविष्य में बड़ा ही महत्व बढ़ने वाला था किन्तु जिस वैज्ञानिक ने इस भारी खोज के करने में सफलता पाई उसे यह भी मालूम नहीं था कि ये ठोस पदार्थों के भीतरी भाग में भी प्रवेश कर उनका चित्र उतार देने वाली किरण है क्या वस्तु। वह इसका कोई नाम भी नहीं बता सकता था। जब हम किसी वस्तु का नाम नहीं जान पाते वा गणित में कोई अज्ञात राशि होती है तो किन्हीं भी अक्षरों में से एक से उसे पुकारते हैं। इसी प्रकार 'क' किरण के समान अंग्रेजी 'एक्स' अक्षर से इसका नाम पुकार कर एक्स रेज़ (रे का अर्थ किरण—रेज़—किरणें) या 'एक्स किरणें' कहना प्रारम्भ किया। सीधे शब्दों में यह कहें कि बिना नाम की अमुक किरण। इस खोजी का नाम रोञ्जन था इस लिए उसके नाम पर भी इन किरणों को 'रोञ्जन' किरणों के नाम से पुकारा जाता है। यह वैज्ञानिक जर्मन देश का निवासी था।

प्रोफेसर विल्हेल्म कोनर्ड रोञ्जन की इस विचित्र खोज के पूर्व जिन वैज्ञानिकों ने अन्य प्रकार की खोजें कर मार्ग दिखाया था उनकी चर्चा करना उचित है। हम बिजली के लट्टू (बल्ब) को देखें तो ज्ञात होगा कि उसके अंदर बहुत पतले रेशे सरीखे किसी पदार्थ का एक छोटा जाल सा बना है। ये ही रेशे दहक कर प्रकाश करते दिखाई पड़ते हैं। यह रेशे बिजली की धारा बहाने वाले दो तारों के सिरे से बल्ब के मुँह पर मिले होते हैं। बल्ब का मुँह किसी दृढ़ मसाले से बन्द किया होता है। बिजली के तार ऋणात्मक और धनात्मक सिरों वाले कहे जा सकते हैं। इनके संयोग से बिजली की धारा बहती है। बल्ब के अन्दर रेशों के जाल से होकर इनका संयोग होता है। रेशे कुछ विशेष पदार्थ के बने होने के कारण बिजली की धारा में रुकावट पैदा कर चमक पैदा करते हैं। इन बल्बों में भीतर से हवा अधिक से अधिक निकाल दी गई होती है। किसी स्थान से अधिक से अधिक हवा निकाल देने पर उस स्थान को (वैकुअम) शून्य स्थान कहते हैं। बल्ब का भीतरी भाग ऐसा ही शून्य स्थान होता है। इन रेशों के स्थान पर विशेष प्रकार के नवीन (निउन) नामक वायुरूप

तत्व (गैस) भरकर उनमें बिजली की धारा बहा कर डंडे के आकार में नगरों में प्रकाश होते देखा जाता है।

एक वैज्ञानिक ने एक शीशे की नली लेकर एक वल्व बनाकर कुछ प्रयोग करना चाहा जिसमें दो सिरे थे। बिजली के एक एक तार उन सिरों में धातु के किसी कीले से लगे थे। दोनों मुंह बंद कर दिये गए थे और नली के भीतर हवा थी। तारों का संबंध आपस में कहीं नहीं किया गया था। बाहर तारों का संबंध बिजली पैदा करने वाले यंत्र से था। उसने इस नली में बिजली की धारा बहा कर देखा तो कुछ नतीजा निकलता नहीं दिखाई पड़ा किन्तु जब उस नली के अंदर से कुछ हवा निकाल कर उसने शून्य स्थान बनाने का प्रयत्न किया तो उसे विचित्र दृश्य दिखाई पड़ा। पूरी नली में प्रकाश की चमक मालूम पड़ने लगी। इस शीशे की नली में बिजली के तारों का परस्पर संबंध नहीं था। इस लिए यह देखा गया कि बिजली का शून्य स्थान में ही कुछ प्रभाव हुआ है। ऐसी ही नली का दूसरा प्रयोग एक दूसरे वैज्ञानिक ने करना प्रारम्भ किया जिसने एक ऐसे पम्प का आविष्कार किया था जो किसी स्थान से अधिक मात्रा में हवा बाहर खींच कर उसको अधिक शून्य स्थान या अधिक अच्छे रूप का वैकुअम बना सकता था। इस सुधारे हुए पम्प से उसने प्रयोग की नली में से हवा को और अधिक मात्रा में बाहर निकाल सकने में सफलता प्राप्त की। ऐसी नलियों में बिजली की धारा बहाने पर उसे कुछ दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ा। उसके प्रयोग में नली में प्रकाश की चमक तो नहीं दिखाई पड़ी किन्तु जिधर से बिजली की धारा बहाई जाती थी उस ऋणात्मक धारा के तार के सिरे की कील पर से हल्की किरणें उठती मालूम पड़ती थीं किन्तु जब वे किरणें दूसरे सिरे तक जाकर नली के शीशे में टकराती थीं तो वहाँ सुनहरी चमक दिखाई पड़ती थी। ऐसी नलियों में ऋणात्मक बिजली के तार वाला सिरा ऋणोद और धनात्मक बिजली के तार वाला सिरा धनोद कहा जाता है। यह बिजली की विचित्र रूप की किरणें ऋणोद अर्थात् शून्य स्थान (वैकुअम) वाली नली के ऋणात्मक बिजली वाले तार के सिरे से प्रारम्भ होती थी इस लिए इन किरणों को ऋणोद (कैथोद) किरणें नाम से पुकारा जा सकता है। इस वैज्ञानिक का नाम सर विलियम क्रूक्स था जो इंगलैंड की प्रसिद्ध राजकीय विज्ञान परिषद का सभापति था। अतएव उसी के नाम 'कैथोद' (ऋणोद) किरणें उत्पन्न करने वाली प्रयोग की शीशे की नलियाँ 'क्रूक्स' नली नाम से प्रसिद्ध हुई।

'क्रूक्स नलियाँ विज्ञान-जगत में इतनी अधिक प्रचलित हो गई थीं कि कोई भी उन्नत देश ऐसा न होगा जहाँ विज्ञान की प्रयोगशालाओं में इसके प्रयोग न दिखाई पड़ते हों परन्तु यह खोज कुछ ठोस नतीजा दिखलाती नहीं जान पड़ती थी। इस संबंध की खोज करने वालों में ही विल्हेल्म कोनर्ड रोंजन नामक जर्मन देश का वैज्ञानिक भी था जिसका नाम पहले लिया जा चुका है। रोञ्जन एक प्रयोग करने की तैयारी में था। कुछ रासायनिक पदार्थ पोत कर एक दफ्ती उसने तैयार की थी जिसका धरातल ऋणोद किरणों के दिखलाने से चमक उठता था। यह एक साधारण सी बात थी। वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों में ऋणोद किरणों की विचित्रताओं का अध्ययन किया था। इन किरणों की धारा सीधी रेखा में चलती थी और नन्हें पहिए को उसके मार्ग में रखने से पहिया घूमता देखा गया था। किरणों के मार्ग में कोई वस्तु रखने से वे गर्म हो जाते थे। हीरे या दूसरे रत्न किरणों के मार्ग में जगमगा उठते थे।

रोञ्जन ने अपने प्रयोग के लिए एक विशेष रासायकिन पदार्थ (Fluorescent screen)

से लेप की हुई दफ़्ती बनाई वह चमक दिखा जाती थी और कोई दूसरी विशेष बात नहीं ज्ञात होती थी। एकदिन उसने रासायनिक पदार्थ से पोती दफ़्ती को नज-दीक छोड़ कर अपनी प्रयोग की नली को काली दफ़्तियों में लपेट कर उसकी किरणें बाहर निकलने से बंद करना चाहा। दफ़्ती के कालेपन से पूरी तरह ढकी रोशनी बाहर नहीं आ सकती थी। वह इस बात की पड़ताल ही कर रहा था कि सब छेद पूरे तौर पर बंद हैं कि नहीं कि उसकी आंखों ने दूसरे दृश्य को देख कर उसे बड़े आश्चर्य में डाल दिया। सारी नली काले क़ाग़ज़ के ढक्कन से पूरी तरह ढकी होने पर और उसके पूर्ण संतोष कर लेने पर रासायनिक पदार्थ से पुती हुई दफ़्ती चमक उठी। वह अवश्य ही 'क्रुक्स' नली की किरणों से प्रभावित हुई थी क्योंकि यह प्रयोग अंधेरे बन्द कमरे में किया जा रहा था जहाँ कहीं से प्रकाश नहीं पहुँच सकता था अतएव उस नली की किरणें ही ऊपर से प्रकाश रोकने के काले कागज के ढक्कन को पार कर भी बाहर पहुँच रही थीं। यह बिलक्षण बात थी।

रोंजन ने जो प्रयोग किया वह कोई भी वैज्ञानिक कर सकता था क्यों कि इन्हीं शीशे की नलियों का विज्ञान-शालाओं में वे भी प्रयोग करते थे किन्तु संयोग की बात थी कि रोंजन के सामने यह बात अकस्मात खुल गई। दूसरे वैज्ञानिकों को इस पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। रोंजन ने इस सम्बन्ध के दूसरे प्रयोग कर देखा कि ऋणोद से निकली हुई किरण जब सामने किसी रुकावट के ठोस पदार्थ से टकराती हैं तो घूम कर पेंदे की ओर जाती हैं। इस प्रकार टकराने से कोई किरण बनती है वह शीशे के पेंदे से बाहर हो शीशे की पर्त भेद कर भी चली जाती है। यह किरणें आँख से दिखाई न पड़ने पर भी ऐसी शक्ति रखती हैं कि अनेक पदार्थों को चमकीला कर सकती हैं। ये किरणें ठोस पदार्थ को पार कर भी अपना प्रभाव फोटो खींचने वाले शीशे में दिखा सकती हैं। इस नली से निकलती हुई किरणों को 'रोंजन' किरण कहा जाता है।

रोंजन ने इस नली के प्रभाव से अंधेरे में चमकती दफ़्ती के पास अपना हाथ इस प्रकार रक्खा कि वह दफ़्ती और नली दोनों के बीच हो। उसे चमकती दफ़्ती में अपने हाथ की हड्डियाँ दिखाई पड़ीं। इन्हीं प्रयोगों को उस ने बढ़ा कर फोटो खींचने वाले शीशे में भी इन किरणों से चित्र उतरवाने में सफलता प्राप्त की। ये किरणें अधिक सूक्ष्म और प्रभावशाली होने के कारण ठोस वस्तु में भी प्रवेश कर सकती हैं किन्तु हमारे बदन में चमड़े और माँस की अपेक्षा हड्डी अधिक दृढ़ होने से रोंजन किरणों में हड्डी द्वारा कुछ अधिक रुकावट होगी जिस से फोटो में उसके गहरे निशान दीख पड़ेंगे किन्तु मांस और चमड़े नर्म होने से रुकावट डालते नहीं दिखाई पड़ेंगे जिस से उनके स्थान पर बहुत हल्का निशान सा हो कर रह जायगा।

अधिक प्रबल शक्ति की बिजली की धारा बहाने से रोञ्जन किरणें अधिक ठोस वस्तुएँ पार करती देखी जाती हैं। बहुत प्रबल शक्ति की बिजली की धारा से उत्पन्न रोंजन किरणों के लोहे में भी कई इंच की गहराई तक प्रवेश करने का प्रयोग किया गया है परन्तु इतनी तेज धारा शीशे की नली में नहीं ठहर सकती, वह उसको चूर चूर कर देगी। इस लिए ऐसे प्रयोगों के लिए धातुओं की दृढ़ नलियाँ बना कर रोञ्जन किरणें उत्पन्न करनी पड़ती हैं।

रोञ्जन किरणों के आधार परमाणु के बलपूर्वक बिखराए हुए अत्यधिक संख्या के ऋणाणु हैं जो बिजली की प्रबल धारा के रूप में विलक्षण आकार बनाकर अपना चमत्कार दिखलाते हैं। रोंजन का यह वैज्ञानिक अनुसंधान इस से भी अत्यंत अधिक महत्वपूर्ण जिन दूसरे अनुसंधान के

लिए मार्ग बना सका, उसकी कहानी और भी विचित्र और विलक्षण है। वह "रश्मि शक्ति" की खोज के नाम से प्रसिद्ध है।

किरणें लहर हैं:—यदि हम यह कहें कि हम को सुनाई पड़ने वाले शब्द कुछ नहीं हैं बल्कि हवा में उठी भिन्न भिन्न नाप की लहरें हैं तो यह बात बहुत स्पष्ट समझ में आने वाली न जान पड़ेगी और यदि यह भी कह दिया जाय कि 'प्रकाश' भी कुछ नहीं है बल्कि बिजली और चुम्बक की शक्तियों से उठी हुई भिन्न भिन्न नाप की आकाश की लहरें हैं तो यह बात और भी जटिल मालूम पड़ेगी किन्तु विज्ञान 'शब्द' और 'प्रकाश' को इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की लहरों का खेल बतलाता है। आप एक तालाब के किनारे बैठ कर पानी में लहरों के उठने का खेल देख सकते हैं। पानी के तल पर एक कंकड़ी गिराने से एक लहर उठती है वह लहराती हुई दूसरे किनारे की ओर जाती जान पड़ती है। इसी प्रकार आप एक स्थान पर किसी मथानी की तरह लकड़ी लेकर वा हाथ से ही पानी में ऊपर नीचे बार बार थपकी देते रहें तो एक के बाद दूसरी लहरें उठती चारों ओर दूर तक चली जाती जान पड़ेंगी। ऐसा करने में पानी चारों ओर दौड़ता हुआ नहीं जाता बल्कि थपकी देकर पानी के तल पर बाधा देने से वा हवा के बार बार झोंकों से पानी के तल में सिहरन पैदा होती है। वह सिहरन वा कँपकपी ही लहर बन कर चलती मालूम पड़ती है। खूब ध्यान से देखकर वा रंग का कहीं एक टुकड़ा फेंक कर पानी का कुछ भाग रंगीन कर यह देखा और समझा जा सकता है कि पानी वहाँ का वहाँ ही पड़ा है, सिर्फ उसके तल का चढ़ाव व उतार लहर बन कर हमारी दृष्टि में चलता जान पड़ता है। एक लहर जहाँ उठी है वहाँ का पानी वहीं छोड़ कर वह उतना ही चढ़ाव या तनाव जरा सा स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर बनाती है। कोई हल्की तैरने वाली वस्तु भी इन लहरों में रख कर प्रयोग किया जा सकता है कि लहरों के बल से उनके साथ वे खिसकते नहीं जाते। हाँ हवा के झोंके से बहाए जा कर उनमें जो गति हो सकती है उसका पानी की लहरों से कोई विशेष संबंध नहीं कहा जा सकता।

पानी की लहरें उठाने के लिए हम जितनी देर का अंतर देकर लकड़ी के किसी चौड़े टुकड़े या हाथ से थपकी देते जाँय उतनी ही जल्दी या देर में लहरें उठने से दो लहरों के बीच की पानी के तल पर की दूरी कम या अधिक होगी। जितनी जल्दी जल्दी थपकन होगी उतनी ही निकट निकट दूरी की लहरें होंगी।

पानी की लहरों का तरह हवा में भी कोई शब्द करने, ताली बजाने, हथोड़े की चोट करने वा बाजों के तार वा मढ़े चमड़े के तल पर हाथ मारने से सिहरन वा कंपन पैदा होता है। वही सिहरन चारों ओर स्वाभाविक रूप से फैलती है। हमारे कान के पर्दे उन कंपनों या सिहरनों से प्रभावित हो कर अपने कोमल तल पर वैसी ही कँपकपी या सिहरन पैदा करते हैं। शब्द न तो कहीं उत्पन्न ही होता और न रेलगाड़ी की तरह दौड़ ही लगाता है। केवल उन कम्पनों को हमारे सुनने की इन्द्रियों में कान के पर्दे पर उत्पन्न होने से हमारे ज्ञान-तन्तुओं से हमारे मस्तिष्क को कुछ विशेष प्रकार का अनुभव होता है जिसेहम शब्द रूप में समझते हैं। पानी की लहरों की तरह इनमें भी लहरों के बार बार उठने के वेग में अंतर होता है। जो आवाज जितनी ऊँची होगी उसके कंपन उतने ही शीघ्र शीघ्र उठकर हवा में फैल कर जोर से गूंजते जान पड़ेंगे। तालाब में उठी हुई लहरें किसी किनारे से टकराकर फिर उसी विन्दु की ओर लौटती हुई फिर लौटानी लहरें बनाती पीछे आती देखी जा सकती हैं। उसी प्रकार एक स्थान से

उठी हुई हवा में उत्पन्न शब्द के कम्पन की लहरें चारों ओर फैल कर फिर उसी स्थान को लौटती कम्पन उत्पन्न करती आती जान पड़ती हैं जिनसे हमें जोर से उठे हुए शब्द कुछ हल्के रूप में सुनाई पड़ते हैं जिन्हें हम "प्रतिध्वनि" कह कर पुकारते हैं।

हवा में उठी शब्द-लहरें भिन्न भिन्न आकार की उत्पन्न हो कर हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द सुनाती हैं। ऐसे यन्त्र बनाए जा सके हैं जिन से शब्द की लहरों के उठने का वेग और उनकी लम्बाई और प्रकार नापा जा सकता है। एक ऐसा यन्त्र बना है जिस में शब्द के इन कम्पनों को बिजली की रेखाओं के रूप में बदल कर उन का चित्र उतारा जा सकता है। इस प्रकार खोज करने वालों ने पता लगाया है कि शब्द की लहरें साधारण रूप में ११२० फीट प्रति सेकेंड (३०० मील प्रतिघंटा) चलती हैं। जो शब्द हम को धीरे-धीरे सुनाई पड़ते हैं उन में शब्द की लहरें धीरे-धीरे कम्पन होने से उठी होंगी और उन में इसी दो लहरों की शिखाएँ एक दूसरे से अधिक दूर होंगी इस लिए इन्हें लम्बी लहरें कहा जायगा। इसके विपरीत जो लहरें तेज शब्द उत्पन्न करने वाली होंगी वे शीघ्र-शीघ्र कम्पन उत्पन्न करने से बनी होंगी इस लिए दो लहरों के मध्य की दूरी कम होगी। इस कारण इन्हें छोटी लहरें कहा जायगा। वैज्ञानिक प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि मनुष्य के कान जो शब्द सुन सकते हैं उन की लहरों की लम्बाई लगभग ३५ फीट अधिक से अधिक हो सकती है और छोटी से छोटी लहरों कीलम्बाई एक तिहाई इंच हो सकती है। यह अनुमान किया जाता है कि हमें सुनाई पड़ सकने वाले शब्दों से भी अधिक तेज शब्द कुछ जानवरों वा कीड़ों को सुनाई पड़ सकते हैं। ये शब्द अधिक तेज होने से $\frac{1}{3}$ इंच से भी कम लम्बाई की लहरों के होंगे।

शब्दों की लहरें लम्बाई की जगह दूसरे रूप में भी प्रकट की जा सकती हैं। लम्बाई न कह प्रति सेकेंड इनके उठने की संख्या बता कर इनकी तेजी वा हल्कापन बताया जा सकता है। उदाहरण के लिए सब से हल्का शब्द प्रति सेकेंड ३२ लहरों के वेग का कहा जाता है। इसे लहरों की कंपन-संख्या या झूलन-संख्या भी कह सकते हैं। सब से तेज सुनाई पड़ सकने वाली आवाज की झूलन-संख्या ३२००० लहरें प्रति सेकेंड होती है।

जिस प्रकार शब्द की उत्पत्ति हवा में उठे कंपनों वा लहरों से होती है उसी प्रकार प्रकाश दूसरे प्रकार के कंपन वा लहरों से हमारे नेत्रों को एक रूप का अनुभव होता जान पड़ता है। ये लहरें समस्त आकाश में व्याप्त पदार्थ में उठ कर प्रकाश का अनुभव कराती हैं। वास्तव में प्रकाश कोई वस्तु नहीं बल्कि ये लहरें आकाश के कम्पन हमारे नेत्रों की पुतली तक पहुँचाती हैं तो उस में से ही कंपन उत्पन्न होते हैं। हमारे ज्ञानतंतु उनसे एक प्रकार का विशेष अनुभव कर हमारे मस्तिष्क को रंग का भान कराते हैं। यह विस्तार से यहाँ पर इस लिए बतलाया गया है जिस से हम अनुभव कर सकें कि प्रकाश किसी दिखाई पड़ने वाली वस्तु से हमारे नेत्र तक पहुँचा हुआ कोई पदार्थ नहीं है बल्कि ईथर की भिन्न-भिन्न नाप की लहरें ही हमारे नेत्र तक आती हैं जिन को हम अपनी कल्पना या अनुभव से रंगों का नाम दे देते हैं।

आकाश में उत्पन्न ये लहरें हमारे नेत्रों को जितना अनुभव हो सकती हैं वे बहुत थोड़ी ही नाप की हैं। जिस प्रकार शब्द की लहरें हमारी ग्रहण-शक्ति से परे की भी होती हैं उसी प्रकार हमारे नेत्रों से ग्रहण न की जा सकने वाली आकाश की लहरें हैं। हमने ऊपर लहरों के नाप का जो ढंग से बताया है उस ढंग से आकाश की लहरें जिन्हें हम प्रकाश की लहरें भी कह सकते हैं, लम्बाई और छोटाई या झूलन वा कंपन

संख्या से इतने अधिक प्रकार की पाई गई हैं कि उनका एक अंश मात्र ही हम नेत्रों से अनुभव करते या देखते जान पड़ते हैं। हमको अधिक से अधिक लंबी प्रकाश की लहर से लेकर छोटी से छोटी प्रकाश की लहर तक जितना भाग प्रकाश रूप में जान पड़ता है यदि उसे हारमोनियम के किसी एक स्वर की तिल्लियाँ मान लें तो इस तरह के स्वर के एक एक समूह मिलकर इतना बड़ा हारमोनियम बना सकते हैं जो गजों लंबा हो। इस तरह कदाचित हमारी दृष्टि की शक्ति में आसकने वाला प्रकाश आकाश की लहरों के भंडार का ६०वाँ भाग से भी कम होगा। हमको प्रकाश की लहरें जिस नाप की दिखाई पड़ सकती हैं उनकी लम्बाई $\frac{१}{\text{दस हजार}}$ इंच से लेकर $\frac{१}{\text{२० हजार}}$ इंच तक बताई जाती है। इनमें लाल रंग की जान पड़ने वाली लहर सब से लम्बी और कासनी रंग प्रकट करने वाली सब से छोटी होती है। लाल रंग से लम्बी लहर ताप की लहरें हैं जिन्हें हम सूर्य के किरण चित्र में लाल रंग की लहरों के पास के स्थान में ताप नापने का यंत्र "ताप मापक" द्वारा जान सकते हैं। हमें यह जान कर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि हमारे प्रकाश की जाति की ही लहर हमें ताप पहुँचाती और उनसे भी अधिक लम्बाई की होने पर हमें बेतार के तार के संदेश वा गाने, संवाद आदि सुनाती दिखाई पड़ती है। इन लहरों की लम्बाई मीलों तक की होती है। आप अनुभव कर सकते हैं कि इनकी लम्बाई अधिक होने से इनकी झूलन संख्या प्रकाश की लहरों से अवश्य कम होगी। इसलिये ही बेतार के तार वा रेडियो का संवाद ग्रहण करने वाले यंत्र थोड़ी बिजली की धारा से हमें संबाद सुनाते रहते हैं।

प्रकाश की लहरों से और अधिक छोटी लहरें इतनी अधिक छोटी किन्तु उसके साथ ही उतनी ही अधिक झूलन संख्या की होती हैं कि उनका वर्णन कुछ यथार्थ रूप में उनका चित्र हमारे सामने नहीं रख सकता है। उनको अधिक कुशल वैज्ञानिकों के हाथ ही अधिक विलक्षण कामों के लिये काम में ला सकते हैं। ठोस वस्तुओं के अन्दर प्रवेश करने वाली मर्मभेदी या 'रोञ्जन' किरण इन्हीं में से एक है।

प्रकाश की लहरों का जन्म आकाश के फैले हुये अनन्त सागर में किस प्रकार और क्यों होता है, इसकी कुछ खोज विज्ञान ने करने का प्रयत्न किया है। इसके लिये पहले हमें परमाणुओं की रचना और उसके अंगों की गति पर ध्यान देना चाहिये। हम जानते हैं कि परमाणु में एक परमाणु-केन्द्र है और उसके चारों ओर नाच कर उसकी चलती फिरती चहार दीवारी बनाने का काम भिन्न भिन्न संख्या के ऋणाणु करते हैं। सब से सरल उदजन (हाइड्रोजन) परमाणु में जहाँ एक ऋणाणु चक्कर लगाकर चहार दीवारी बनाता है वहाँ ऊपर के ६२वें स्थान का जटिल आकार का परमाणु ६२ ऋणाणुओं के बाहरी मंडल से घिरा होता है। परमाणु-केन्द्र में जिस परिमाण की धनात्मक बिजली होती है उतनी ही उसके बाहरी मण्डल को बनाने वाले ऋणाणुओं में साधारण अवस्था में होती है। इस प्रकार उदजन का परमाणु एक धनात्मक बिजली और एक ऋणात्मक बिजली का संयोग होता है। दूसरे परमाणुओं में भी इसी ४,८,१२ वा किसी संख्या के ऋणाणु होने पर परमाणु केन्द्र में इतनी ४,८, १२ वें गुने बल की बिजली होने पर ऋणाणु में भी इतनी ही शक्ति की बिजली ऋणात्मक रूप की होती है।

परमाणु की शक्ति ऋणाणुओं के मंडल के उलटफेर पर निर्भर करती है। साधारण तौर पर परमाणु केन्द्र के धनाणु ऋणाणु के मंडल से बिजली की शक्ति में बराबरी रखने के कारण शान्त

रूप से ज्ञात होते हैं किन्तु ऋणाणुओं का क्रम कई प्रकार की बाधाएं पड़ने, छेड़े जाने से, गर्मी पहुँचाने से वा कोई रासायनिक क्रिया करने या बिजली की धारा बहाई जाने से बदलता रहता है। जब ऐसे कारणों की तरह किसी भी कारण ऋणाणु अपना स्थान छोड़ने के लिये विवश होते हैं तो वे पल मात्र के लिये अपने मूल घर से बेघर के हो जाते हैं किन्तु तुरन्त ही उन्हें कहीं न कहीं घर बनाना ही पड़ता है, इस लिए वे दूसरे परमाणुओं के ऋणाणुओं से उनके बाहरी मंडल से मिल जाकर कुछ समय के लिए शरण लेते हैं। इस तरह जब कभी एक परमाणु को ऋणाणु की निश्चित संख्या से कम ऋणाणु रखने का अवसर होगा उसके केन्द्र के धनाणु अपनी धनात्मक बिजली का भंडार ऋणाणु के ऋणात्मक बिजली के कोप से अधिक देखेंगे। इसे धनात्मक बिजली से संचारित परमाणु कहा जायगा। इसी प्रकार जिस परमाणु में फालतू ऋणाणु शरण लिये रहेंगे उसमें ऋणाणु मन्डल की ऋणात्मक बिजली का पलड़ा भारी होगा। इस लिये उसे ऋणात्मक बिजली से संचारित परमाणु कहा जायगा जिस तल में ऐसे परमाणुओं की लड़ी सी बन जायगी उनमें उसी प्रकार की बिजली का संचार कहा जायगा।

किसी प्रकार छेड़खानी से हलचल होने पर परमाणु में ऋणाणु-मंडल में बाहरी परिधि के किसी ऋणाणु को कभी दूसरे परमाणु में शरण लेने के स्थान पर अपनी ही परिधियों में भी स्थान बदलना पड़ जाता है। जब कभी एक ऋणाणु ऊपर बताये कारणों से कहीं दूसरे परमाणु में शरण लेने पहुँचता है तो पहले परमाणु में भी उस ऋणाणु का स्थान लेने के लिये किसी भीतरी परिधि का कोई ऋणाणु छलांग मार कर उस बाहरी परिधि में स्थान लेता है। इस प्रकार ऋणाणुओं को हम हलचल होने की दशा में एक परमाणु से दूसरे परमाणु और एक ही परमाणु में एक ऋणाणु-मंडल से दूसरे मंडल में कूद कर जाते देखते हैं। ऋणाणुओं के इन उछल-कूद, एक परिधि से दूसरी परिधि में छलांग मार कर जाने से ही आकाश में भिन्न-भिन्न परिमाण में कंपन उत्पन्न होते हैं। उन्हीं कम्पनों को हम गर्मी या आँखों को दिखाई पड़ सकने वाले प्रकाश की किरणों के रूप में देखते हैं।

जिस प्रकार साधारण चोट वा खटखुट वा बोली वा बाजों के हल्के शब्द वायु में हल्के कम्पन उत्पन्न कर वैसी ही हल्की लहरें उत्पन्न करते हैं और भारी शब्द, भारी कम्पन वा लहरें, उसी प्रकार परमाणुओं के बाहरी घेरे की परिधि में ऋणाणुओं में जो उलट फेर होने से उनकी उछल कूद से आकाश में लहरें उत्पन्न होती हैं वे हल्के शब्दों की लहरों की तरह उठी मानी जा सकती हैं, वे सब हमें प्रकाश का ज्ञान कराती हैं किन्तु इनसे भी भारी प्रकार के आकाश के कम्पन दृश्य प्रकाश उत्पन्न करने वाले कारणों से अधिक शक्ति के कारणों से उत्पन्न होते हैं जो परमाणु के बाहरी ऋणाणु मंडल के स्थान भीतरी परोधि के ऋणाणुओं में हलचल मचाते हैं। भीतरी परिधियों में इनके एक परिधि से दूसरी में कूदने में अधिक शक्ति का व्यय होता है। इसी कारण वे कम्पन भी अधिक तेज़ किन्तु हमारे नेत्रों की दृष्टि शक्ति से बाहर के होते हैं। उन कम्पनों से उत्पन्न 'रोञ्जन' किरणें ठोस वस्तुओं में प्रवेश कर सकने का गुण इसी कारण रखती हैं। इन्हीं हलचलों को उत्पन्न करने वाली शक्ति इतनी प्रबल हो जो परमाणु के अधिक से अधिक भीतरी वा अंतिम परिधि के ऋणाणुओं को भी अपने स्थान से हटाकर कूद भागने के लिये विवश करे तो वह रोञ्जन किरणों से भी बहुत ही अधिक तेज और शक्तिशाली होगी। सबसे अधिक तेज लहरों का वेग और उनकी सूक्ष्मता अभी विज्ञान के खोजों का ही विषय है।

भारतीय वन-औषधि

लेखक—रमेश चन्द भारद्वाज

भारतीय वनों में अमूल्य सम्पदा भरी पड़ी है, इस लेख में उन औषधियों पर विचार प्रकाशन किया गया है जिन पर पर्याप्त आधुनिक खोज हुई हैं। लेख सूचनात्मक है।

वनों का हमारे जीवन में क्या महत्व है इस विषय पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पृथ्वी को सौंदर्य प्रदान करने के अतिरिक्त वनों का मानव-जीवन से विशेष सम्बन्ध है। मानव का विकास वनों की सघन छाया में हुआ और वहीं से उसने अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास भी किया है। उसके जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ वनों ही से पूरी होती हैं। आधुनिक युग में हमारी आवश्यकताएं पहिले से बहुत अधिक बढ़ गई हैं। इसी कारण से वनों का महत्व भी आज के युग में और भी बढ़ गया है।

भारतीय वनों में अमूल्य सम्पदा भरी पड़ी है, जिसका उपभोग भारतीय जनता आदि काल से किसी न किसी रूप से करती आई है। भारतीय वनों से प्राप्त होने वाली उपयोगी वस्तुओं की सूची बहुत लम्बी है। इस लेख में हम कुछ भारतीय वन-औषधियों पर विचार करेंगे। यहाँ पर केवल उन्हीं औषधियों पर विचार किया जाएगा, जिनका प्रयोग भारत में एक दम नया या जिनके विषय में हमारा ज्ञान पुराना हो गया है किन्तु आधुनिक खोजों ने उनपर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

(१) एकोनाइट (Aconite)

नामावली—विष, वत्सनाभ, अतैच, अति विष—संस्कृत। अतीस—हिन्दी।

विवरण—यह पौधा काश्मीर से लेकर आसाम और ब्रह्मा की पहाड़ियों पर पाया जाता है। संसार में इस पौधे की ११० उपजातियाँ (Species) पाई जाती हैं जिनमें से भारत में केवल १३ पाई जाती हैं। अधिकतर ये उपजातियाँ तीव्र विष धारी होती हैं अतः कुछ ही का प्रयोग औषधि के रूप में होता है। १९०४ ई० तक भारतीय एकोनाइटों के विषय में हमारा ज्ञान अधूरा था। १९०५ में आचार्य स्टाफ़ (Dr. Stapf) ने भारतीय एकोनाइटों का वर्गीकरण किया। भारत के अतिरिक्त यह पौधा योरुप में जर्मनी, स्पेन, स्वीट्ज़रलैंड और रूस में भी पाया जाता है। वर्त्तमान युग में चारों ओर इस पौधे की मांग बढ़ती जा रही है अतः इसका महत्व और भी बढ़ गया है। जंगली एकोनाइट के भरोंसे अब हम अधिक समय तक नहीं रह सकते हैं। अतः इसकी कृषि होना आवश्यक हो गया है।

कृषि के लिए, ऊँचाई, ठंडी जलवायु, चिकनी बलुई मिट्टी तथा छाया आवश्यक है। औषिधि के रूप में केवल जड़ों का ही उपयोग किया जाता है। पौधे का ऊपरी भाग जब सूख कर नष्ट हो जाता है तब इसकी जड़ें खोदकर सावधानी से सुखा ली जाती हैं। छोटी छोटी जड़ों को कृषि के लिए रख लिया जाता है। प्रसार के लिए बीज भी बोया जा सकता है किन्तु जड़ों द्वारा लगाई हुई फ़सल बढ़िया मानी जाती है।

रासायनिक-परिचय :—एकोनाइट में नाइट्रोजन युक्त एल्कलॉयड (alkalloids) होते हैं। भिन्न-भिन्न उपजातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के एल्कलॉयड पाए जाते हैं। ये एल्कलॉयड अधिकतर विषैले होते हैं। इसीलिए कुछ ही उप-जातियों का औषधि के रूप में प्रयोग हाता है। कुछ प्रसिद्ध उप-जातियाँ और उनके एल्कलॉयडों की मात्रा नीचे दी जाती है :—

1. Aconitum napellus Linn—Aconitine ४%
2. Aconitum Ferox Wall.—Pseudoaconitine
3. Aconitum spicatum Stapf-Bikhaconite ४%
4. Aconitum heterophyllum Wall. —Atisine ४%

इन एल्कलॉयडों में atisine और aconitine सबसे कम विषैले होते हैं, अतः इन उप-जातियों का प्रयोग औषधियों में होता है। Indoaconite नामक एल्कलायड बहुत ही कम विषैला होता है और यह Aconitum chasmanthum Stapf नामक उप-जाति में पाया जाता है।

एकोनाइट का प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए। एक घोड़े को यमलोक पहुँचाने के लिए ३ मि० ग्राम aconitine पर्याप्त होती है। एकोनाइट खाए हुए रोगी को शीघ्र ही गर्म कपड़ों से ढक कर तुरन्त पेट खाली करा देना चाहिए। ऐसे अवसर पर कृत्रिम-श्वास (artificial respiration) और उत्तेजक (stimulant) औषधि भी देनी चाहिए।

प्रयोग और क्रिया :—आंतरिक (internal) और बाह्य (external) दोनों ही तरह से एकोनाइट का प्रयोग किया जाता है। किन्तु आजकल आंतरिक रूप ही से अधिकतर प्रयोग किया जाता है। एकोनाइट की क्रिया विशेषतः स्नायु-संस्थान पर होती है। पहिले यह ज्ञानेंद्रियों में उत्तेजना पैदा कर देता है, और फिर उन्हें जड़वत् कर देता है। थोड़ी मात्रा में यह हृदय को क्षति नहीं पहुँचाता है। अधिक मात्रा में यह हृदय की गति को मन्द कर देता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

वैद्य लोग एकोनाइट को प्रयोग में लाने से पहिले शुद्ध करते हैं। जड़ों के छोटे-छोट टुकड़ों को गाय के मूत्र में भिगो देते हैं और दो या तीन दिन तक इन टुकड़ों को इसी प्रकार भीगने देते हैं। इस प्रकार एकोनाइट में से हृदय को क्षति पहुंचाने वाला अंश पृथक् हो जाता है। किन्तु आधुनिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि शोधन के लिए मूत्र के बजाय गाय का दूध अधिक लाभदायक है।

एकोनाइट का प्रयोग बहुत से रोगों में किया जाता है। नाना प्रकार की सूजनों में, शिरोवेदना में, अम्ल-पित्तमें, आम वात में, खाँसी में, दंत-पीड़ा में, नाक और कान के बहने में, अतिसार में तथा विशेषतः चिर कारी ज्वर में इस औषधि का प्रयोग होता है।

प्रसिद्ध-उप-जातियाँः—1. Aconitum ferox, Wall—विष या वत्सनाभ—संस्कृत। विष—हिन्दी। वास्तव में बाजारू बिष में केवल A. ferox Wall ही नहीं बल्कि Aconitum napellus Linn. नामक उप-जाति की भी जड़ें मिली रहती हैं। तथा

A. laciniatum Stapf और A. spicatum Stapf की भी जड़ें पाई गई हैं। यह उप-जाति स्नायु-रोग, आमवात, सूजन, उदर-रोग, और नाना प्रकार के ज्वरों में विशेष कर लाभदायक है।

2. Aconitum heterophyllum Wall.—अतैच या अतिविष—संस्कृत। अतीस—हिन्दी और बंगला। यह पौधा हिमालय में ६००० फ़ीट से १५००० फ़ीट तक पाया जाता है। कुमायूं में यह पौधा काफी मात्रा में मिलता है और यहीं से इसका निर्यात भी होता है।

अतीस का प्रयोग चूर्ण के रूप में किया जाता है। इसमें atisine के अतिरिक्त heterasin और hetsin भी पाए जाते हैं। यह औषधि ज्वर-शामक क्रिया के लिए प्रसिद्ध है। मलेरिया जैसे ज्वर के बाद शारीरिक दुर्बलता के लिए यह औषधि खूब उपयोगी सिद्ध हुई है। अतिसार, पेचिश तथा अंत्र रोगों में भी इसका प्रयोग होता है।

(२) बरबेरिस (Berberis)

नामावली—दारु-हरिद्रा या दार्वी—संस्कृत। दारु हल्दी—हिन्दी।

विवरण—यह पौधा अधिकतर ५-७ फीट ऊँचा कंटीली झाड़ी के समान होता है। इसके फूल तथा अन्दर की लकड़ी का रंग पीला होता है। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी-अफ्रीका को छोड़कर यह पौधा संसार के सभी समशीतोष्ण भागों में पाया जाता है। संसार में बरबेरिस की १६० उप-जातियाँ पाई जाती हैं जिनमेंसे केवल १३ भारत में पाई जाती हैं। हमारे देश में यह पौधा विशेषतः हिमालय पर पाया जाता है। इसके अतिरिक्त यह बिहार में पारसनाथ की पहाड़ियों पर, आसाम की पहाड़ियों पर, मध्य प्रदेश में पंच मढ़ी पर, तथा मद्रास में नीलगिरी पर भी पाया जाता है। इस वनौषधि का प्रयोग भारत में काफी पुराना है, किन्तु अब संसार के अन्य देशों में भी इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया है। औषधि के रूप में केवल जड़ों की छाल का ही प्रयोग होता है।

रासायनिक-परिचय—बरबेरिस की भिन्न-भिन्न उप जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के एल्कलॉयड पाये जाते हैं। एल्कलॉयडों के अतिरिक्त इनमें resins और माड़ी (starch) भी पाई जाती हैं। बरबेरिस की कुछ प्रसिद्ध उप-जातियों के एल्कलॉयडों की सूची यह है—

—नाम उप-जाति— —एल्कलॉयड—

1. Berberis aristata DC—Berberina (जड़में)

2. Berberis asiatica Roxb.—Berberine और Oxyacanthine (तने और जड़में)

3. Berberis insignis HK. F. & T.—Umbellatine (तने की छाल में और जड़ में)

4. Berberis lycium Royle.—Umbellatine (तने की छाल और जड़ में)

बरबेराइन (berberine) निकालने के लिये बारीक पिसी हुई औषधि में हल्के सिरके का अम्ल मिलाते हैं। जब यह काढ़ा गाढ़ा हो जाता है तब इसमें ३ भाग (आयतन) २०% वाला गंधकाम्ल मिलाते हैं।

कुछ समय बाद बरबेराइन सल्फेट (Berberine sulphate) धीरे धीरे रवों के रूप में पृथक हो जाता है। बरबेराइन सल्फेट को शुद्ध करने के लिये पहिले ठंडे पानी से खूब धोया जाता है। फिर इसे खौलते हुये पानी में घोल दिया जाता है। कुछ समय पश्चात् इसमें कुछ सुरासार (alcohol) और गंधकाम्ल भी मिला दिया जाता है। कुछ समय बाद

इस घोल में से बरबेराइन सल्फ़ेट शुद्ध पीत वर्ण के रवों के रूप में पृथक हो जाता है।

उपयोग और क्रिया—इस औषधि का प्रयोग कई रूप से किया जाता है। कोढ़ के रूप में, टिंक्चर के रूप में, और रसौत के रूप में। बरबेरिस का काढ़ा अन्य औषधियों के साथ नाना प्रकार के रोगों में इस्तेमाल होता है। जैसे रक्त प्रदर, गर्भ-प्रवाह, कामला तथा पैत्तिक मूत्र-कृच्छ्र। रसौत का प्रयोग आयुर्वेद में होता है। रसौत बनाने के लिये जड़ों की छाल को पानी में खूब खौलाते हैं और इस काढ़े को धूप में रख देते हैं। कुछ समय बाद जब यह गाढ़ा हो जाता है तब रसौत कहलाता है।

रसौत का खास उपयोग नेत्र रोगों में होता है। रसौत को मक्खन और फिटकरी या अफ़ीम और नीबू के रस में मिला कर नेत्र प्रदाह में प्रयोग करते हैं। दूध में रसौत का एमल्शन (emulsion) बना कर आँख में डालने से दर्द और जलन को सुख पहुँचता है। रसौत से सड़े गले घावों को धोने की प्रथा बहुत पुरानी है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है कि Oriental sores (व्रणों) को ठीक करने में Berberine sulphate विशेष गुणकारी है। सप्ताह में केवल एक बार ३-५ इन्जेकशन (१-२ घ० से० मी० १-२% बरबेराइन) देने से ऐसे घाव शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

प्रसिद्ध उप-जातियां:— 1. Berberis aristata DC. यह पौधा कँटीली झाड़ी के समान होता है। कभी कभी यह १८ फीट तक ऊँचा पाया जाता है। यह हिमालय में ६००० फी० से १०,००० फ़ी० तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। इस उप-जाति में से बरबेराइन, सल्फ़ेट और हाइड्रोक्लोराइड के रूप में सरलता से प्राप्त हो सकती है।

2. Berberis aristata Roxb यह पौधा हिमालय के शुष्क भागों में २००० फ़ी० से ८५०० फी० तक पाया जाता है। इसमें berberine के अतिरिक्त oxycanthine नामक एल्कलायड भी पाया जाता है।

यह दोनों उपजातियाँ रसौत बनाने के काम में आती हैं। इनमें berberine की मात्रा सबसे अधिक पाई जाती है।

[क्रमशः]

समालोचना

भौतिक विज्ञान के चमत्कार

ले०—सोहन लाल गुप्त एम० एस सी० एम० ए०

प्र०—शान्ति पुस्तक भंडार कनखल यू० पी० मूल्य ||=)

वैज्ञानिक आविष्कारों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये जन साधारण की जो जिज्ञासा बनी रहती है उसको पूर्ण करने के लिये प्रस्तुत पुस्तक में प्रयास किया गया है। घड़ी, रेडियो, इंजन टाकी आदि आधुनिक जीवन के सहायक यंत्रों का ऐतिहासिक परिचय देते हुये इस पुस्तक में सरल एवं सूक्ष्म रूप से सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। चित्रद्वारा यन्त्र के विभिन्न भागों का कार्य (Function) दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है। किन्तु जन साधारण के लिये बोधगम्य बनाने के लिये सिद्धान्तों की व्याख्या को कुछ और विस्तृत और चित्रों को अधिक स्पष्ट बनाने की आवश्यकता है। आशा है दूसरे संस्करण में पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिये इस ओर ध्यान दिया जायगा।

र० द० ति०

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग** १—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटमिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का सग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

पुराने सभी ढंगोंका ब्योरेवार वर्णन। इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम०, ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१९—**कलम पेबंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२०—**जिल्दसाज़ी**—क्रियात्मक और ब्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८० पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२१—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २॥=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।"

२२—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२३—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार-अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति। पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य ।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।

२४—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५० पृष्ठ और ३२० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२५—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ॥।)

२६—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ॥।)

२७—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं। २६८ पृष्ठ और ६४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

२८—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री बीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी०, कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२९—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौडाई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

३०—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय सस्करण ले०—पण्डित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और व्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ० ।३।५

भाग ७३ | सम्वत् २००८ सितम्बर १९५१ | संख्या ६

अक्षयवट

प्रयागराज के अक्षयवट का बड़ा माहात्म्य है। बड़ी दूर दूर से लोग इसका दर्शन करने आते हैं। त्रिवेणी में स्नान कर अक्षयवट का दर्शन करना आवश्यक समझा जाता है। हमारे देश वासियों का विश्वास है कि अक्षयवट का कभी नाश नहीं होता। इस वृक्ष की विनश्वरता सिद्ध करने के लिये इसकी प्राचीनता भी आवश्यक ही है। वर्तमान रूप के छोटे वट के दीर्घायु न होने की कल्पना कर श्रद्धालु दर्शकों के हृदय को कदाचित ठेस लगती हो, इसका विचार कर पं० शिवनाथ जी काटजू ने त्रिवेणी तटस्थ मुगलकालीन दुर्ग के पार्श्वभाग में किसी दूसरे बड़े वट वृक्ष को ढूँढ़ निकाल कर उसे मूल अक्षयवट सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। यह वृक्ष वनस्पति-शास्त्र के आचार्य डा० रंजन (उप सभापति, विज्ञान परिषद्) को भी दिखलाया गया था जिन्होंने उस वृक्ष के ५ शताव्दी पुराने होने की घोषणा की थी। अब प्रश्न उठता है कि २ सौ, ४ सौ या हजार दो हजार वर्ष की आयु होने पर भी हम इसके अक्षयत्व की भावना का किस प्रकार सामंजस्य कर सकते हैं। नीचे लिखे कुछ वैज्ञानिक तथ्यों की ओर हमारा ध्यान जाने से लोगों की अंध श्रद्धा और अवैज्ञानिक मनोवृत्ति देखकर बड़ा खेद होता है। भूगर्भ विज्ञान की दृष्टि से हम विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि वट क्या, किसी भी पुष्प या वीजधारी वर्ग के वनस्पति (पौधे या वृक्ष, लतादि) का अस्तित्व आज से १३ करोड़ वर्ष पूर्व नहीं था। यही नहीं, आज से ३७ करोड़ वर्ष पूर्व तो स्थल के किसी वनस्पति का भी जन्म नहीं हुआ था। जल के अन्दर उत्पन्न होने वाले प्रारंभिक वनस्पतियों का उदय भी आज से दो अरबों वर्ष पूर्व ही हो सका होगा। हमारी धरती का उदय कदाचित उससे भी एक अरब वर्ष पूर्व हो सका होगा, अतएव धरती की पूर्ण आयु आज ३ अरब वर्षों की होगी। इन काल की सारिणियों में मनुष्य के पृथ्वी पर जन्म धारण करने का समय आज से कुछ लाखों वर्ष पूर्व ही विश्वास किया जाता है। मान लीजिये मनुष्य ने आज २५, ३० लाख वर्ष पर्व

प्रारंभिक अवस्था में जन्म धारण भी किया तो वह प्राकृतिक घटनाओं का उल्लेख करने की क्षमता तभी रख सका लाभ होगा जब संसार में सभ्यताओं का उदय हुआ होगा। उसकी चर्चा हमारे विवाद के परे हैं। हम तो इतना ही कहते हैं कि जब संसार की घटनाओं का निरीक्षण या उल्लेख कर सकने वाला मनुष्य कुछ सहस्त्रों या लाखों वर्ष पूर्व ही जन्म धारण कर सका अथवा उसके बहुत पहले भी कुछ करोड़ों वर्ष पूर्व ही वट की भाँति के किसी भी प्रकार के पुष्प या फल धारी वृक्ष भी जन्म धारण कर सके तो हम सृष्टि के पृथ्वी-जन्म के भी सीमित काल में अक्षय स्वरूप की कल्पना किसी वट या इतर वृक्ष के संबंध में किस प्रकार कर सकते हैं।

वनस्पतियों की जन्म-कथा की बात हम थोड़ी देर के लिये भूल भी जायँ और भूमि तल या पर्वतों की रचना के कालों पर ध्यान दें तो उस दृष्टि से तो हमारे पैरों के तले की मिट्टी ही खिसकती जान पड़ती है। क्या भूगर्भ विज्ञान के विद्वान हमें इतना भी नहीं बता सकते कि प्रयाग राज के तीर्थ स्थान को बनाने वाली भूमि का इतिहास कितना पुराना हो सकता है? निस्सन्देह ही, हमारे पास उस भूमि तल की आयु बताने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, परन्तु सृष्टि रचना का रूप निर्धारित करने वाले इतना तो बतलाते ही हैं कि संसार के कुछ भागों को हम बहुत ही प्राचीन काल का बना मान सकते हैं जो प्राकृतिक प्रकोपों से कट कट घिस घिस कर अपना पृष्ठ भाग बहुत कुछ परिवर्तित कर चुके होंगे परन्तु फिर भी अन्य भागों की अपेक्षा उनकी प्राचीनता स्वीकृत है। ये भाग पृथ्वी के आदि तल के बनने के समय के माने जा सकते हैं। उनमें हमारे दाक्षिणात्य देश (दक्षिणी पठार) का भी समावेश है किन्तु समुद्र के गर्भ में अन्य भूखंडों के चूर्ण तलछट रूप में आ जमने या समुद्र-जल में घुलित उन के सदृश पदार्थों के जमने से तलछटीय शिला या प्रस्तर (तह के बाद तह वाली वस्तु) रूप में उत्तर भारत के हिमालय, विन्ध्य आदि पर्वतों के उत्पन्न होने का समर्थन कराने की आज आवश्यकता नहीं रह गई है। हिमालय के निर्माण की आयु आप अंतिम रूप में उस समय की ही मान सकते हैं जब मनुष्य का भी उदय नहीं हुआ था। कोटि वर्ष पूर्व उसका रूप पूर्णतया स्थल के ऊपर उभड़ा बन सका होगा परन्तु विन्ध्यपर्वत अधिक प्राचीन है और एक अरब वर्ष पूर्व हम उसके समुद्र गर्भ से ऊपर उठ आने की कल्पना कर सकते हैं। उत्तर भारत की भूमि हिमालय और विन्ध्य के मध्य समुद्र भाग या नदी-नदों के प्रवाह में आई तलछटों से जम जम कर इतनी ऊँची बन पाई है कि हमारे वैज्ञानिक साधन अभी उस की निचली तह तक नल धसा कर निम्नतम शिला स्तर का पता नहीं लगा पाए हैं किन्तु आज के ऊपरी तल की नवीनता और अल्पायु का तो कोई सन्देह ही नहीं। अतएव किसी भी दशा में विन्ध्य की आयु से बहुत ही कम इसकी आयु हो सकती है।

भारत भूमि के उत्तर खंड की रचना ही जब पृथ्वी के इतिहास में आपेक्षिक दृष्टि से इतनी नवीन, इतनी अल्पायु हो तो हम उन श्रद्धालु सज्जनों की भावना के लिये क्या कहें जो भ्रमवश पृथ्वी के जन्म काल से किसी महावृक्ष की उपस्थिति कह कर उसके शाश्वत काल तक जीवित, हरे भरे रहने और सृष्टि-पर्यंत आगामी संतानों की दर्शनाकांक्षा पूरी होते रहने की अभिलाषा रखते हैं। मालूम पड़ता है हमारे देश में वैज्ञानिक जागरूकता आने में अभी यथेष्ट समय लगेगा।

[जगपति चतुर्वेदी]

विश्व—एक पहेली

ले- श्री कृष्ण चन्द्र दुबे

प्रथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न भिन्न सिद्धातों का संक्षिप्त परिचय लेखक ने सुन्दर रूप से दिया है। विश्व के विनाश के कारणों की वैज्ञानिकों की कल्पना हमारे भय का कारण नहीं होनी चाहिए। ऐसी कोई घटना हो भी सके तो उसे लाखों, करोड़ों वर्ष पश्चात् होने की कल्पना कर पाठक निश्चिंत हो कर जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

जिस क्षण से मानव ने अपने चारों ओर देखना आरम्भ किया, उसी क्षण से उसका विचारशील मस्तिष्क यह जानने को उत्सुक है कि वह जिस पृथ्वी पर रहता है—उसकी उत्पत्ति कैसे हुई होगी, उसका स्वरूप क्या है—उसका अन्त कैसे और कब हो सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर में मानव ने प्राचीन काल से अभी तक अनेक अनेक विचार दिये हैं पर अभी भी इन समस्याओं का हल पूर्णतया नहीं हुआ है और हम यही कह सकते हैं कि विश्व हमारे लिये अभी भी एक पहेली ही है।

'पृथ्वी की उत्पत्ति'

पृथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में सन् १६०६ से पूर्व तो विद्वानों ने ऐसे ऐसे विचार दिये कि जिनको पढ़ कर हंसी आ जाती है पर उस वर्ष गैलीलियो ने अपनी दूरबीन आकाश की ओर लगाकर इस दिशा में एक नये युग का जन्म दिया।

पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रथम वैज्ञानिक विचार जर्मन दार्शनिक इमानुएल कांट ने दिया और इसी विचार को फ्रांसीसी गणितज्ञ लैपलेस ने और भी सुदृढ़ रूप दिया और उसे 'नेबुलर' विचार कहते हैं। लैपलेस के अनुसार पृथ्वी तथा अन्यग्रहों का जन्म एक गरम, घूमते हुए गैस-पिंड (Nebula) से हुई। अपना ताप खोने से यह गैस-पिंड ठंडा हुआ और सिकुड़ा जिससे उससे घुमाव में और भी तीव्रता आई। भूमध्य-रेखीय भाग में वह कुछ फैला और अन्त में यह फैला हुआ भाग एक छल्ले की भाँति अलग हो गया। इस प्रकार १० छल्ले टूटे और एक ने पृथ्वी को जन्म दिया होगा। वर्तमान वैज्ञानिक और ज्योतिष विचारों की समीक्षा के सम्मुख यह विचार नहीं ठहर सका है।

सन् १७०० के लगभग दो अमेरिकन वैज्ञानिकों, चैमबरालिन और मुल्टन, ने एक दूसरा विचार सामने रखा और इसे 'Solar Disruption Theory' कहा। इनके अनुसार किसी समय सूर्य किसी अन्य तारे से टकरा गया और उसके जो भी टुकड़े इधर उधर गये, उन्होंने ग्रहों को जन्म दिया।

इन्हीं दोनों वैज्ञानिकों ने एक और विचार दिया। यह 'Planetesimal Hypothesis' कहलाया। सूर्य से गर्म गैस बड़ी फुहारों (jets) में निकली। वह ठंडी होकर कुछ विभिन्न भागों में बंट गई। प्रत्येक भाग एक ग्रह का प्रथम रूप था। बाद में उसने और भी Planetesimals खींचकर ग्रह का रूप धारण किया।

पृथ्वी की उत्पत्ति के प्रायः सभी विचार वैज्ञानिक समीक्षा के अनुसार अपूर्ण हैं और इस समस्या के पूर्ण हल के लिये हमें उस समय तक ठहरना पड़ेगा जब तक कि २०० इंच या उससे भी बड़ी दूरबीनों की आकाश-खोज पूरी नहीं होती।

'पृथ्वी की अवस्था'

पृथ्वी की अवस्था पर भी लोगों में काफ़ी मत-भेद रहा है। कुछ धार्मिक मत के अनुसार पृथ्वी एकाएक ईसा से४००४ वर्ष पूर्व पैदा हुई और इसके अनुसार उसकी अवस्था ४००४+१९५०=५९५४ वर्ष ही हुई जो असंभव ही है।

वर्तमान समय में वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की अवस्था निकालने के कई तरीके निकाले हैं। अणु से लेकर ग्रहों और उपग्रहों तक का सहारा लिया गया है। आर्थर होम्स ने रेडियो तत्वों के आधार पर पृथ्वी की अवस्था ३५०० लाख वर्ष बताई है। इसी प्रश्न पर ज्योतिष आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी ४००० लाख वर्ष से कम ही होगी।

'पृथ्वी का आकार और विस्तार'

पृथ्वी के आकार के बारे में भी वैसे ही भ्रममूलक विचार मिलते हैं जैसे उसकी उत्पत्ति और अवस्था के बारे में। पर अब प्रायः यह निश्चित ही है कि पृथ्वी का आकार नारंगी सा है।

पृथ्वी का ध्रुव से ध्रुव तक का 'डायामीटर' ७९०० मील और भूमध्यरेखीय ७९२६ मील है। उसका घनत्व ५.५ है पर सतह पर की सभी चट्टानें २.७ से ज्यादा घनत्व की नहीं हैं। इसी से यह सहज अनुमान लगाया जाता है कि भूगर्भ की ऐसी स्थिति होगी कि उसका घनत्व १२ के लगभग होगा। भूगर्भ के बारे में भी बड़ा मतभेद है और इस लेख में उसे नहीं दर्शाया जा सकता। वह प्रश्न कभी अगले लेख में दर्शाया जावेगा। पर पृथ्वी का मध्यभाग लोहा और निकेल धातु का ही कोई संमिश्रण होगा।

पृथ्वी का बाहरी रूप ही कई समस्याएं पैदा करता है। नक्शे को देखने से पहिली बात जो दर्शक के मस्तिष्क को आकर्षित करती है यह है कि उत्तरी गोलार्ध में थल की और दक्षिणी में जल की अधिकता। दूसरे, महाद्वीप त्रिभुजाकार हैं और उनका आधार उत्तर की ओर है। जल और थल का यह विचित्र स्वरूप और बंटवारा भी एक पहेली है।

पहाड़ों की उत्पत्ति कहाँ और कैसे हुई? क्या हिमालय और आल्प्स सभी समुद्र के गर्भ में थे? फिर वे अपनी वर्तमान अवस्था को कैसे पहुँचे? यह तो निश्चित है कि पृथ्वी की सभी पर्वत-श्रेणियाँ समुद्र के गर्भ में थीं क्योंकि सामुद्रिक जीवों के चिन्ह उनमें मिलते हैं। पर ऐसा कौनसा कारण था जो उन्हें ऊपर उठाने में समर्थ हो सका? सन् १९१४ में जर्मन वैज्ञानिक वेगनर ने एक नया विचार दिया था जिसके अनुसार कारबोनिफेरस (Carboniferous) युग में भारत—अफ्रिका—दक्षिण-अमेरिका इत्यादि सब मिले थे और यह महाद्वीप पैनजीया (Pangeae) कहा जाता है। पर यह विचार भी आजकल बड़ी समीक्षा का कारण है। अभी भी साइंस-कांग्रेस में आये हुए एक आस्ट्रेलियन भूतत्व-वेत्ताने इसे फिर से दुहराया कि आस्ट्रेलिया और भारतवर्ष कारबोनिफेरस युग में मिले रहे होंगे।

'पृथ्वी का भविष्य'

प्रत्येक मनुष्य के मन में एक न एक समय यह विचार उठता है कि पृथ्वी का भविष्य क्या है? न्यूयार्क के वैज्ञानिकों ने कुछ समय पहिले यह बताया था कि पृथवी का अन्त कैसे हो सकता है।

[शेष पृष्ठ ९ पर]

पुराजन्तुक (पेलिओज़ोइक) युग के कुछ जन्तु

ले०—जगपति चतुर्वेदी

प्रस्तुत लेख में शिलाभूत अवशेष रूप में प्राप्त सबसे प्राचीन जन्तुओं का मनोरंजक वर्णन दिया गया है। आशा है इससे पाठकों का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन होगा।

त्रिफंकांगी का अर्थ तीन फंकों (फांकों) वाला जंतु है। इस जन्तु के शरीर के ऊपरी भाग में तीन फांक इस प्रकार मालूम होते थे मानो दो गोलाकार छेमियाँ या मटर, अरहर, गोल सेम आदि की फलियाँ समानान्तर रूप में रख कर सटी रखी हों और उनके ऊपर एक तीसरी छेमी बीच में-रक्खी हो। छेमी में हम एक एक बीज का भाग बटा हुआ सा देखते हैं। उसी प्रकार इस जन्तु के शरीर की रचना भी अंगूठी की माला रूप में थी जिसमें एक अंगूठी दूसरी में पिरोई होकर लंबा आकार बनाती हो। ये जन्तु वैज्ञानिकों के लिये बहुत दिनों तक एक पहेली बने हुये थे। कोई कीड़े मकोड़े बताता, कोई बिना पर की तितली बताता, कोई कुछ और ही बताता। अन्त में स्वीडन के एक विद्वान लिनियस ने इसको बिच्छू या केकड़े की जाति का विशेष जन्तु बतलाया जो अपने शरीर पर सींग के निर्मायक तत्व की बनी खाल मढ़ी रखते थे और उनका शरीर गाँठ गाँठ से मिल कर बना होता था। केकड़े (कर्क) के शरीर पर भी यह कड़ी खाल देखी जा सकती है। इस आकार प्रकार के जन्तु को इसी कारण कर्कांगी या वृश्चिकांगी (क्रस्टेशियन) कहा जा सकता है। इसका ट्रिलोबायट्स (त्रिफंकांगी) नाम तीन फांकों के कारण जर्मनी के विद्वान प्रो० वाल्च ने रखा जिसे आज सारा संसार स्वीकार कर उसी नाम से इस जन्तु को पुकारता है। ये जन्तु विशेषकर पुराजंतुक युग के ही हैं। उसके प्रारंभिक काल (केम्ब्रियन) में इसके अवशेष पहले पहल मिलते हैं। उनमें कुछ परिवर्तन और विभेद होते जाकर पुराजंतुक काल के अंत में इनका सर्वथा लोप हो जाता है। त्रिफंकांगी के शरीर के प्रारम्भिक रूप को अवशेष रूप में पाकर केम्ब्रियन काल की शिला सारे संसार में निश्चित रूप से पहचानी जाती है। वे भेद अन्य काल में नहीं मिल सकते। इस प्रकार संसार के भौगर्भिक इतिहास की समकालीनता ज्ञात की जा सकती है। यह कैसा अद्भुत प्रमाण है जो आज ५० करोड़ वर्ष बीत जाने पर भी पृथ्वी के इतिहास-निर्णय में इतनी सहायता करता है। यह जन्तु आज के बिच्छू की तरह स्थल का जीव नहीं था, बल्कि समुद्र में रहने वाला था। अन्य जीवों का उदय इससे भी पहले हुआ होगा परन्तु हमें अवशेष रूप में सब से प्राचीन जीव का प्रमाण इसी जन्तु का मिलता है। सींग या बाल का निर्माण करने वाले पदार्थ (चिटिन्स) नत्रजन (नाईट्रोजन) तत्व युक्त होते हैं जिनमें चूने का भी अंश रहता है ये प्राकृतिक संहार शक्तियों का सामना कर जल में स्थिर रहने की अधिक शक्ति रखते हैं अतएव हम इन पदार्थों की खाल युक्त त्रिफंकांगी का कंकाल का

ऊपरी भाग या खाल चूने के पत्थरों या चिकनी मिट्टी की शिलाओं (शेल) या अन्य शिलाओं में पथराए अवशेष रूप में सुरक्षित पाते हैं।

त्रिफंकांगी छिछले समुद्र के वासी थे। ये सब प्रकार की तलछटीय शिलाओं में मिलते हैं। इनमें से कुछ समुद्र की तरेटी में रेंग कर भी चलते थे और कुछ तैर सकते थे। पुराजन्तुक युग की पहचान रूप में उसके पूर्वखण्ड के कालों में इसकी विकसित होती अनेक जातियाँ भरी पूरी पाई जाती हैं। किन्तु बाद में अवनति का मार्ग ग्रहण करने में कम होते जाकर पुराजंतुक युग समाप्त होते विलुप्त ही हो जाते हैं। फिर उनका कहीं भी चिन्ह नहीं मिलता। यह भौगर्भिक इतिहास का प्रथम प्रधान जीव वैज्ञानिकों के बड़े ही अध्ययन का विषय बन गया है। अब तक लगभग इसके २ हजार भेदों का ज्ञान हो सका है। ये त्रिफंकांगी नामक क्षुद्र जीव अपने समय के प्रधान जन्तु थे। समुद्र में ही पहल पहल छोटे छोटे जीवों का उदय हुआ था। उनमें भी त्रिफंकांगी सबसे प्रधान, मांसाहारी जन्तु था। यह गिद्ध शृगाल की भाँति समुद्र के मलीन अंग की स्वच्छता कर अपना भोजन बनाकर श्वपच या भंगी का भी काम करता था। इन सब रूपों में रह कर भी यह उस काल के जन्तुओं का शिरमौर था। वृक्ष के अभाव में रेंड (अरँडी) का पौधा ही पेड़ कहलाता है।

कुछ जन्तुओं को छोटे रूप में हम शरीर को मोड़ कर गेंद का रूप धारण करते देखते हैं। यह शरीर के अंग की रचना गांठों के ऐसे रूप में जुटे रहने से होती है कि वे झुक कर गोलाई में शरीर को हो जाने दें। इस जन्तु की गाँठें या वलय (सेगमेंट) भी इस तरह एक दूसरे से पिरोए थे कि यह खटका होने पर उन्हें झुका कर गेंद रूप में बन कर अपनी रक्षा करता। रक्षा का प्रश्न इसके सामने अवश्य रहा होगा। अन्य जन्तुओं, मछलियों आदि का रीढ़धारी जन्तु रूप में उदय होने पर त्रिफंकांगी की महानता समाप्त हो चुकी थी। कैम्ब्रियन और आरडोवीसियन काल ही उसकी प्रधानता के थे। गोलाई में मुड़ जाने की प्रवृत्ति तो कैम्ब्रियन काल के अन्तिम भाग में प्रारम्भ हो सकी थी परन्तु दूसरे काल आरडोवीसियन में यह गुण सभी त्रिफंकांगियों में आ गया था, परन्तु मछलियों के आगमन पर यह बचाव की युक्ति और नाम मात्र की मोटी खाल भी विशेष सहायक न रह सकी। अपने से प्रबल त्रिफंकांगियों के प्रहार से ही वे अपनी रक्षा इन उपायों से कर सकते थे। इन जंतुओं का आकार चौथाई इंच से लेकर २¼ फीट तक पाया जाता है। किन्तु साधारणतया इनकी लम्बाई डेढ़ इंच होती थी। कुछ बड़ी नस्ल के जंतु ३, ४ इंच से लेकर ६ इंच तक लम्बे होते किन्तु इनके दानवाकार रूप का अनुमान कुछ खंडित अंगों को जोड़ कर २¼ फीट का लम्बा किया गया है। त्रिफंकांगी के शरीर की रचना विचित्र है। इसका अगला भाग सिर कहलाता है जिस पर अर्द्ध गोलाकार या तिकोनी कड़ी खाल होती है जिसमें वलय या गाँठें नहीं होतीं। इसका मध्यभाग मुख और अगल बगल के भाग कपोल होते हैं। मुख और कपोल के बीच एक एक गहरी रेखा सी बनी होती है। उनके पीछे का भाग वक्ष और सबसे पीछे का भाग दुम कहलाता है। त्रिफंकांगी की आँखें किसी में होती हैं, किसी में नहीं, किन्तु जिन की आँखें होती हैं उनमें ऊपर प्रत्येक में प्रकाशपट (लेंसेज) की संख्या १४ से लेकर १५ हजार तक होती है। ऐसे क्षुद्र जन्तु की दोनों आँखों के प्रकाश-पटों की संख्या ३० हजार तक पहुँचना कितने आश्चर्य की बात है। सिर के आगे दो मूंछें सी होती हैं। वक्ष में वलय या गाँठों की संख्या २ से लेकर २९ से भी अधिक हो सकती हैं। दुम की गाँठें जुड़ी होती हैं। सबसे विचित्र अंग त्रिफंकांगी के पाद (पैर) होते हैं। ये दुहरे होते हैं

जिनमें एक कुछ जोड़ों से बना सारा पैर होता है और उसका दुहरा भाग एक रोम युक्त क्षुद्र पंख की भाँति होता है। इनमें पहले को साधारण पाद और दुहरे पाद को रोममय पाद या भुजा कह सकते हैं। सिर से लेकर पीछे के भाग तक ऐसे दुहरे पाद होते हैं। सिर के नीचे के चार पादों से वह भोजन ठूसने और खाने का काम लेता है। साधारण पाद कुछ अधिक दृढ़ और थोड़े जोड़ों युक्त होता है। वह रेंगने के काम आता है किन्तु रोमयुक्त पाद या भुजा जो साधारण पाद के आधार से ही जुटे होते हैं, इसे पानी में तैराने के काम आते हैं। वे अधिक जोड़ों युक्त और कोमल होते हैं किन्तु वे पाद के साथ ही साथ फेफड़े का भी काम करते हैं। उनमें संचारित रक्त पानी से आवश्यक ओषजन (आक्सिजन) चूसकर जीवन का आधार ग्रहण करता है। चलते समय उसके साधारण पाद मिट्टी आदि मुख की ओर ठेलते जाकर भोजन रूप में पहुँचाते हैं। उसे यह मुख में डालकर अपना पोषक पदार्थ ग्रहण करता है। हय जन्तु वयस्क होने तक अनेक बार केंचुल बदलता है फिर उसमें शरीर वृद्धि होती है और वलय या गाँठ बढ़ता है। इस तरह ही केवल सिर से प्रारम्भ होकर धीरे धीरे एक एक गाँठ बनती जाकर उसका पूर्ण शरीर निर्मित होता है।

समुद्री बिच्छू (सी स्कार्पियन)

फेफड़े से साँस लेने वाले जन्तुओं में स्थल पर पाए जाने वाले जन्तुओं के प्रारंभिक रूप में बिच्छू का नाम लिया जाता है। वह उभयगामी (ऐम्फीबियन) रूप में ही शायद पहले स्थल पर आया होगा किन्तु आज तो केवल स्थल पर ही बिच्छू का रूप देखा जा सकता है। जल में उसका कहीं भी निवास नहीं देखा जाता है। वैज्ञानिकों ने अवशेषों की खोज कर ऐसे बिच्छू को ढूँढ़ निकाला है जो समुद्र में ही रहता था। इस समुद्रजीवी बिच्छू के एक कंकाल को अमेरिका में ६ फीट लम्बा पाया गया है। यह समुद्र-बिच्छू की अधिक लम्बाई है। इसका रूप कुछ बिच्छू से मिलता-जुलता ही होता था। इसके शरीर की रचना वलय या गाँठों द्वारा हुई थी जिस पर सींग के निर्मायक पदार्थों की कड़ी खाल थी। ऐसी खोल स्थलीय बिच्छू के अंग में भी पाई जाती है। इसलिये यह केकड़े की शरीर रचना से मिलता-जुलता होने से कर्कांगी कहलाता है। इस बिच्छू का काल सिलूरियन काल था। इसके बहुत थोड़े अवशेष ही सुलभ हो सके हैं। हम इसके पानी में रहने के गुण और ६ फीट इतनी लंबाई को देख कर आज आश्चर्य कर सकते हैं परन्तु ऐसा अवशेष मिलने से इसे कल्पना या सन्देह की बात न मान कर ठोस सत्य ही मानना पड़ेगा।

समुद्री बिच्छू पुराजन्तुक के पूर्व खंड के समाप्त होने के समय (सिलूरियन) काल में अपनी प्रधानता स्थापित कर सके थे। ये पानी में रहने वाले जन्तु रूप में त्रिफंकांगी से प्रबल थे और उनका शिकार कर अपना पेट भरते थे। श्वास लेने के लिये इनमें फेफड़े के स्थान पर मछलियों की भाँति गलफड़े ही थे। ये उस समय के भयानक और तेज जन्तु थे। अतएव त्रिफंकांगी के बाद समुद्री जन्तुओं में प्रधानता का मुकुट कदाचित इन्हीं को मिला। किन्तु इनकी यह प्रधानता अल्पकालीन ही थी। पृष्ठवंशीय जंतुओं के आगमन ने इनको दबा दिया।

शृंगदंडी जीव (ग्रेप्टोलिट्स)

पूर्व काल में पुराजन्तुक युग बताने वाला एक जन्तु प्रवाल का कोई विशेष रूप कहा जा सकता है। थैले की भाँति एक गड्ढा ही उदर रूप में रखने वाले जन्तु झोलानुमा या झौलिकांगी कहे जा सकते हैं। इनमें अन्य अंगों का अभाव ही होता है। प्यालीनुमा

भारतीय वन-औषधि

लेखक—रमेश चन्द भारद्वाज

भारतीय वनों में अमूल्य सम्पदा भरी पड़ी है, इस लेख में उन औषधियों पर विचार प्रकाशन किया गया है जिन पर पर्याप्त आधुनिक खोज हुई हैं। लेख गतांङ्क से क्रमशः प्रकाशित हो रहा है।

(३) एफ़ीड्रा (Ephedra)

नामावली :—Joint-fir—English; मा हाँग-चीन; तूतगुंथा-जौनसार

विवरण :—यह पौधा झाड़ी के समान होता है जिसमें पतली पतली शाखाएँ होती हैं। पत्तियाँ बहुत छोटी छोटी और बारीक होती हैं। प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis) का कार्य अधिकतर तना और शाखाएँ ही करतीं है। यह जाति (genus) अधिकतर शुष्क भागों में पाई जाती है। संसार में लगभग इसकी ३० उप-जातियाँ पाई जाती हैं। ये उप-जातियाँ पश्चिमी एशिया, भूमध्य सागरीय प्रदेश उत्तरी अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में तथा समस्त एंडीज पर्वत पर पाई जाती हैं। भारत में इसकी केवल ३ या ४ उप-जातियाँ पाई जाती हैं। काश्मीर, चकराता, गढ़वाल, सिकिम इत्यादि पर्वतीय प्रदेशों में यह विशेषतः पाया जाता है। एक उप-जाति Ephedra foliata Boiss राजपूताना के रेगिस्तान में भी पाई जाती है।

आधुनिक युग में एफीड्रा ने बहुत ख्याति प्राप्त की है। इस युग से पहिले एफ़ीड्रा को भारत में कोई जानता भी न था। हाँ! कुछ लोगों का कहना है कि आर्यों की सोम-लता यही थी। किन्तु यह निश्चय करना कठिन है। चीन देश में इस औषधि का प्रयोग बहुत पुराना है। यूरोप में १९वीं शताब्दी तक इस पौधे का उपयोग नहीं जानते थे।

रासायनिक परिचय :—एफ़ीड्रा अपने एफिड्रीन (ephedrine) नामक एल्कलॉयड के कारण जगत्प्रसिद्ध हो गया है। एफिड्रीन श्वास रोग विशेषतः दमे की रामबाण औषधि है। सन् १८८७ में नगाई नामक एक जापानी वैज्ञानिक ने Ephedra vulgaris नामक उप-जाति से एफ़ीड्रीन को पृथक किया था। इसके बाद वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर बराबर बढ़ता ही गया। १९२४ में चेन और श्मिड नामक वैज्ञानिकों ने एफीड्रीन के आयुर्वेदीय गुणों पर प्रकाश डाला।

रासायनिक दृष्टि से एफ़ीड्रीन का adrenaline से घनिष्ट सबन्ध है। यह सम्बन्ध स्थापित हो जाने से वैज्ञानिकों की रुचि इस एल्कलॉयड में और भी बढ़ गई। एफ़ीड्रा से एफ़िड्रीन निकालने की कई युक्तियाँ हैं किन्तु वास्तव में यह एक कठिन कार्य है। भारत में सन् १९३१ में डा० कृष्ण और श्री घोष ने भारतीय एफ़ीड्रा से एफ़िड्रीन निम्नलिखित युक्ति से निकाली थी—

हरी पिसी हुई औषधि को धूप में सुखा लिया। १०० ग्राम बारीक पिसी हुई औषधि में ४०० घ. से.

मी. ईथर और क्लोरोफार्म (३ भाग ईथर और १ भाग क्लोरोफार्म) मिलाया। इस मिश्रण को जिसमें औषधि भी है) २ घन्टे तक इसी प्रकार रहने दिया। फिर इसमें ५० घ. से. मी. एमोनिया (३ भाग एमोनिया और १ भाग पानी) मिलाया गया। मिश्रण को खूब भली प्रकार हिला कर एक रात्रि के लिए इसी प्रकार रहने दिया। इस सत (extraet) को छान कर जो कुछ शेष (residue) बचा उस पर ऊपर लिखी हुई क्रिया को दो तीन बार दोहराया गया। इसी प्रकार मिले जुले सतों (extracts) में से घोलक पदार्थ निकालने के लिए distil किया। इसके बाद जो शेष बचा उसमें क्रम से ७५,६० और ५० घ. से. मी. नमक का अम्ल (hydrochloric acid) मिलाया गया और छान लिया गया। इसे क्षारीय (alkaline) बनाने के लिए Potassium carbonate मिला कर साधारण नमक से संतृप्त (Saturate) कर दिया। इस मिश्रण को absorbent cotton द्वारा छान कर distil करके ईथर निकाल दिया गया और शेष को साधारण तापक्रम पर evapoate होने दिया। इस प्रकार प्राप्त की हुई एफ़ीड्रीन को hydrochloride में परिवर्तित करने के लिए alcoholic hydrochloric अम्ल मिलाया गया।

सन् १९२८ तक केवल चीनी एफ़ीड्रा मां-हांग में से ही एफीड्रीन निकाली जाती थी। इसीलिए यह औषधि अधिकतर चीन ही से निर्यात होती थी। किन्तु कुछ समय बाद भारतीय एफ़ीड्राओं में से एफ़ीड्रीन निकालने का प्रयत्न हुआ। भारतीय एफ़ीड्राओं में सबसे अधिक एफीड्रीन पाई जाती है। उससे कम चीनी और सबसे कम अमेरिकन एफीड्राओं में होती है। भारतीय उप-जातियों में से Ephedra Nelrodensis Tines में सबसे अधिक एफीड्रीन (१.६-३%) पाई जाती है। चीनी एफीड्रा E. equ में १.५७६% एफ़ीड्रीन होती है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय एफ़ीड्रा, एफीड्रीन निकालने के लिए सबसे उपयोगी है।

प्रयोग और क्रिया:— जैसा कि अभी कहा जा चुका है कि एफ़ीड्रीन में adrenaline के समान गुण होते हैं और उसी की भांति यह भी हृद्‌गति को उन्नत कर देती है और रक्त का दाव बढ़ा देती है। यह mucous membrane की सूजन को कम करती है और आँख की पुतली को चौड़ा देती है। एफ़ीड्रीन adrenaline के बजाए कुछ कारणों से अधिक लाभदायक सिद्ध हुई है। एफ़ीड्रीन adrenaline के मुकाबिले में अधिक टिकाऊ है। adrenalin घोल के रूप में अधिक समय तक नहीं रह सकती है। शरीर में पहुँच कर यह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है अतः अपना प्रभाव पूर्ण रूप से दिखा सकती है। एफ़ीड्रीन पर उदर और आँतों के पाचक-रसों का प्रभाव कम पड़ता है अतः यह बहुत धीरे धीरे नष्ट होती है और शरीर पर अपना पूरा पूरा प्रभाव भली प्रकार कर सकती है।

एफ़ीड्रीन एफ़ीड्रा के अतिरिक्त बला (Sida Cordifolia Linn.) और सेंजना (Moringa pterygosperma Gaertn) में भी पाई गई है। किन्तु इस विषय में हमारा ज्ञान अभी अधूरा है।

प्रसिद्ध-उप-जातियाँ–(Ephedra foliataBoiss) यह पौधा बहुत कम वर्षा वाले प्रदेशों में पाया जाता है। पंजाब मैदान में, बिलोचिस्तान में, कुर्रम घाटी में और राजपूताना में विशेषतः पाया जाता है। एफ़ीड्रीन की दृष्टि से यह उप-जाति व्यर्थ है। इसमें pseudoephedrine भी नहीं होती है।

२. Ephedra gerardiana Wall. जौनसार में यह पौधा तूत गुंथा के नाम से प्रसिद्ध है। हिमालय में यह ८—१४००० फ़ी० तक की ऊँचाई पर

पाया जाता है। इसमें १.५२% तक एफ़ीड्रीन पाई जाती है।

३. Ephedra intermedia Sehr. &Mey. यह पौधा उत्तर पश्चिम भारत, बिलोचिस्तान तथा काश्मीर में ४००० फ़ी० से ६००० फीट तक पाया जाता है। इसमें सबसे कम एफ़ीड्रीन होती है। एफ़ीड्रीन के अतिरिक्त इसमें pseudoephedrine भी पाई जाती है।

कुचला (Nux-vomica)

नामावली:—Strychnos nux-vomica Linn; कुचला—हिन्दी।

विवरण:- हमारे देश में कुचले का औषधि के रूप में प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। प्रचीन साहित्य में भी हमें इसके विषय में कोई भी हवाला नहीं मिलता है। यूरोप में भी इसका प्रयोग केवल १६वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है, किन्तु भारत में तो इसका प्रयोग और भी नया है।

यह वृक्ष भारत के अतिरिक्त, कोचीन-चीन तथा आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है। भारत में कुचला मालाबार तट, कारोमण्डल-तट तथा मानभूमि में बहुतायत से पाया जाता है। औषधि में केवल इसके बीजों का ही प्रयोग होता है। इस वृक्ष का फल सेव के आकार का होता है, जिसमें पाँच तक चपटे बीज होते हैं। यह बीज बहुत ही विषैले होते हैं। पके हुए फलों को सड़ने दिया जाता है या कुचल कर बीजों को बाहर निकाल लेते हैं। यह बीज बहुत ही कठोर होते हैं। इन बीजों का निर्यात भारत से विशेषत: मद्रास कोचीन और कोकोनाड़ा से होता है। संसार में जितने कुचले का प्रयोग होता है उसका ३/३ भाग भारत से ही प्राप्त होता है।

रासायनिक-परिचय—कुचले में निम्नलिखित रासायनिक पदार्थ होते हैं—

Alkalloids < Strychnine, Brucine } १.८५—५.३% तक

Glucosides—Loganin
Acid (अम्ल)—Isasuric acid
Proteins (प्रोटीन)..............
Fixed oil (स्थिरतैल)...........

Strychnine और brucine दोनों ही अति उपयोगी एल्कलॉयड हैं। Strychnine तैयार करने के लिए कुचले के सुरासारीय-सत (alcoholic extract) का प्रयोग किया जाता है। सत को पानी में घोल कर lead acetate मिला देते हैं। Lead acetate के मिलाने से अन्य पदार्थ तलछट (precipitate) के रूप में पृथक हो जाते हैं। और strychnine घोल में रह जाती है। इस घोल में (जिसमें strychnine भी है) lead acetate का अंश मिला रहता है जिसे अलग करना आवश्यक हो जाता है। Lead acetate पृथक करने के लिए घोल में hydrogen sulphide गैस मिलाई जाती है। Lead तलछट के रूप में पृथक हो जाता है। इसे छान कर magnesia के साथ खौलाते हैं। Magnesia अम्ल के साथ मिल जाता है और strychnine और brucine तलछट के रूप में रह जाती हैं। इस तलछट को ठंडे पानी से धोकर सुरासार में घोल देते हैं। अनुपयुक्त magnesia अलग हो जाता है और brucine तथा strychnine मिश्रण के रूप में रह जाते हैं। इस मिश्रण में से strychnine पृथक् करने के लिए मिश्रण को हल्के सुरासार में घोटते हैं। हल्के सुरासार में brucine घुल जाती है और strychnine चूर्ण के रूप में रह जाती है। शुद्ध करने के लिए इस चूर्ण को rectified spirit में घोल देते हैं और evaporate होने देते हैं। कुछ समय

बाद सुरासार सूख जाता है। और strychnine रवों के रूप में जमा हो जाती है।

Strychnine भिन्न-भिन्न अम्लों के साथ मिल कर भिन्न-भिन्न प्रकार के लवण बनाती हैं। उदाहरणार्थ—Strychnine sulphate S. nitrate तथा S. Phosphate आदि।

Brucine प्राप्त करने के लिए छाल का प्रयोग किया जाता है, और Magnesia के तलछट को अधिक नहीं धोया जाता है क्योंकि brucine पानी में अधिक घुलनशील है। Magnesia की तलछट में मिले हुए सुरासार को evaporate हो जाने से brucine वेरोजे के रूप में प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार से प्राप्त हुई brucine रवों का रूप धारण करने में असमर्थ होती है। Brucine को शुद्ध करने के लिए Oxalic acid मिला कर हल्के सुरासार (४०° पर) और ईथर (६०° पर) का मिश्रण मिलाया जाता है। इस प्रकार brucine की अशुद्धियाँ अलग हो जाती हैं और brucine, Oxalate के रूप में प्राप्त हो जाती है। इस brucine oxalate को magnesia द्वारा decompose कर दिया जाता है और brucine सुरासार द्वारा अलग कर दी जाती है।

Strychnine की भांति brucine भी अम्लों के साथ मिलकर लवण बनाती है।

प्रयोग और क्रिया:—इस वनोषधि का प्रयोग नाना रोगों में होता आया है। स्नायु रोगों में विशेषतः यह औषधि उपयोगी सिद्ध हुई है। मालाबार में इसकी जड़ को सांप के विष को शान्त करने में प्रयोग करते हैं। कोनकान में यह हैजे और अतिसार के लिए बहुत इस्तैमाल होती है। ताजे बीजों का तेल पुरानी गठिया में लाभप्रद होता है। कुचले और strychnine का प्रयोग, भूख न लगने में, क्षीण दृष्टि में, नपुंसकता में, चूहे के काटे में, तिल्ली बढ़ने में, अंत्र रोग में तथा सुरासार, ईथर और क्लोरोफार्म इत्यादि विषों को शान्त करने में इसका प्रयोग होता है। सड़े गले घावों पर कुचले की पुल्टिस बांधने से लाभ होता है। जड़ की छाल को नीबू के रस में घोट कर गोली बना कर खिलाने से हैजे के रोगी को विशेष लाभ होता है। Brucine का प्रयोग कान की सूजन में होता है।

भारत में Strychnos की एक और उप-जाति पाई जाती है। इसे Strychnos potatorum Linn .f. कहते हैं। यह पौधा दक्षिण, मध्य भारत और ब्रह्मा में पाया जाता है। इसके भी बीजों का ही प्रयोग होता है। शहद और कपूर के साथ इसके बीजों को घोट कर नेत्र रोगों में लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त यह अतिसार, मूत्राशय की जलन, सूजाक इत्यादि रोगों में भी लाभदायक सिद्ध हो चुकी है। कुछ वैज्ञानिकों की दृष्टि में वह मधुमेह नाशक भी है।

आर्टीमीजिया (Artemesia)

विवरण:—गैंदा-वंश (Compositae) की जाति का यह पौधा अधिकतर उत्तरी गोलार्द्ध में पाया जाता है। कुछ उपजातियाँ दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में भी पाई जाती हैं। इस विशाल जाति की २८० उपजातियाँ संसार में पाई जाती हैं। हमारे देश में आर्टीमीजिया की ३४ उपजातियाँ होती हैं जो कि हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेश में फैली हुई हैं। इस औषधि का प्रयोग यूनान में बहुत पुराना है, किन्तु भारत में इसका उपयोग अभी हाल में ही प्रारम्भ हुआ है। इसकी कुछ उपजातियाँ औषधि तथा कुछ चारे के रूप में इस्तेमाल होती हैं। कुछ उपजातियों में से सारभूत तैल भी निकाले जाते हैं।

आर्टीमीजिया का विशेष गुण कृमिनाशक है।

इस पौधे में सैन्टोनिन नामक एक क्रियाशील-आधेय (Active Principle) होता है जो कि अति तीव्र कृमिनाशक है। चिकित्सा में इसी क्रियाशील आधेय का प्रयोग होता है। सैन्टोनिन Artemesia cina Berg नामक उप-जाति में सबसे अधिक पाई जाती है। यह पौधा रूसी तुर्किस्तान में होता है। भारत में भी ऐसी उपजाति की खोज हुई जो कि सैन्टोनिन निकालने के काम आ सके। Artemesia maritima Linn. एक ऐसी उपजाति है जिसमें उचित मात्रा में सैन्टोनिन पाई जाती है। यह पौधा काश्मीर से लेकर कुमायूं तक पाया जाता है। जबसे भारत में सैन्टोनिन बनने लगी है तब से इस पौधे की माँग भी बहुत बढ़ गई है। इसी विचार से काश्मीर में इसकी कृषि आरम्भ कर दी गई है।

सैन्टोनिन निकालने के लिये केवल वही उपजाति उपयोगी होती है जिसमें कम से कम १.२% सैन्टोनिन हो। रूसी आर्टीमीज़ियाओं में सैन्टोनिन भारतीय आर्टीमिज़ीयाओं की अपेक्षा अधिक होती है। काश्मीरी उपजातियों में १.२% तक सैन्टोनिन पाई जाती है। सैन्टोनिन अधिकतर पत्तियों और अधखिली कलियों में ही रहती है। ऋतु के अनुसार इन अङ्गों में सैन्टोनिन की मात्रा घटती बढ़ती रहती है।

रासायनिक-परिचय:—सैन्टोनिन के अतिरिक्त आर्टीमीज़ियाओं की भिन्न भिन्न उपजातियों में भिन्न भिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थ पाये जाते हैं। जैसे सारभूत तैल जिसमें Artemesia ketones, pinene, Cineole और Camphor होते हैं; Absinthin तथा B-santonin और Pseudosantonin नामक क्रियाशील आधेय भी पाये जाते हैं।

सैन्टोनिन निकालने के लिये उचित समय पर पत्तियाँ और कलियां एकत्रित की जाती हैं। पत्तियों और कलियों को कुचल कर उनमें से वाष्प-स्रवण (Steam distillation) द्वारा उत्पन्न तैल को पृथक् कर लिया जाता है। इस तैल में चूने का पानी (Milk of lime) मिलाकर रख देते हैं। सैन्टोनिन चूने के पानी के Calcium के साथ मिलकर Calcium Santoninate बना देती है। इस मिश्रण को छान कर, छने हुये भाग में Sodium hydroxide मिला देते हैं। ताकि Calcium santoninate सोडियम के लवण में परिवर्तित हो जाय। calcium को अलग करने के लिए इस मिश्रण में कार्बन डाइ-आक्साइड गैस मिलाते हैं। इस क्रिया से calcium अपने कार्बोनेट के रूप में पृथक् हो जाता है। इसे छान लेते हैं। छने हुये भाग को तनिक गर्म करके अम्ल मिला देते हैं। कुछ समय बाद जब यह घोल ठंडा हो जाता है तो सैन्टोनिनी अम्ल पृथक् होकर एक दम सैन्टोनिन में परिवर्तित हो जाता है।

सैन्टोनिन ($C_{15}H_{18}O_3$) एक रवेदार तथा रङ्गहीन पदार्थ होता है, जो पानी में बहुत कम घुलन शील है। गर्म सुरासार क्लोरोफार्म और बेञ्जीन में सरलता से घुल जाती है। सैन्टोनिन को सदा रङ्गीन बोतलों में रखना चाहिये क्योंकि सूर्य प्रकाश से यह पीले रङ्ग की हो जाती है और Photosantonin में परिवर्तित हो जाती है।

उपयोग और क्रिया—आर्टीमीज़िया के फूल कृमिनाशक तथा दीपन (Stomachic) होते हैं। विषैले जन्तुओं के काटे पर इसके फूल-पत्तों की पुल्टिस बांधने से विष शान्त हो जाता है। Round worms नामक कीड़ों को नष्ट करने के लिए Santonin का प्रयोग होता है। ये कीड़े मनुष्य के पाचक-अङ्गों में रहते हैं। इस औषधि का प्रयोग थोड़ी मात्रा में करना चाहिये (१—३ ग्रेन तक) अधिक मात्रा करने से भयङ्कर उत्पात हो जाते हैं; जैसे—सिर का चकराना, शरीर का पीला और ठंडा

पड़ जाना, उल्टी होना, पसीना अधिक वहना, कम्पन, अचेतना, तथा वस्तुओं का पीला, हरा या बैंगनी दिखाई देना। मूत्र का रङ्ग हरा या पीला हो जाना, तथा श्वास और हृद्गति मन्द पड़ जाती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

प्रसिद्ध उपजातियां:–1. Artemesia absinthium Linn. यह पौधा काश्मीर में ५००० फीट से ७००० फीट तक पाया जाता है। इसमें absinthus नामक glucoside होता है। इसका तेल बलकारक और पाचक-अङ्गों को लाभ पहुँचाता है। इसका टिंक्चर भी प्रयोग में आता है।

2. Artemesia maritima Linn. यह उपजाति सैन्टोनिन निकालने के लिये काम में आती है। यह पौधा काश्मीर, कुर्रम, कांगन, बशाहर तथा कुमायूँ में पाया जाता है। सैन्टोनिन के अतिरिक्त इसमें β—santonin, pseudosantonin तथा artemesia भी पाये जाते हैं।

3. Artemesia palleus Wall exDC. यह पौधा दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेशों में पाया जाता है। पूना के आस पास इसकी कृषि भी होती है। इसका तैल perfumery में प्रयुक्त होता है। मैसूर में भी इसकी खेती होती है।

4. Artemesia vulgaris Linn. नागदमनी—संस्कृत। नाग-दोना—हिन्दी तथा बँगला। धोरदवन—मराठी। मर्चीपत्री—तामिल। यह पौधा भारत के हर एक पर्वतीय प्रदेश में पाया जाता है। पश्चिमी हिमालय में यह ५००० फी० से ८००० फी० तक पाया जाता है। इस औषधि में कई गुण हैं। यह कृमिनाशक, बल्य, काल ज्वरनाशक, ज्वरशामक तथा त्वचा रोगों के लिये भी लाभदायक है। कुछ अज्ञान स्त्रियों का विश्वास है कि इस पौधे के पास होने से भूत प्रेत नहीं सताते हैं।

(क्रमशः)

[पृष्ठ १३ का शेष]

हरे शाक पत्तों में यह पाया जाता है। उबालकर पकाने पर यह नष्ट नहीं हो सकता। नारियल की गरी वा तेल, जैतून का तेल, आदि में भी यह होता है। मटर, मसूर, सेम और ताजे फलों में भी यह मिलता है। त्वचा सूखने का रोग इसके अभाव में होता है।

विटामिन जी—आँतों की बीमारी रोकता है। टमाटर पालक, दाल, मूँगफली, अंडे, दूध आदि में यह होता है।

—:o:—

बच्चों का स्वास्थ्य

लेखक—केदारनाथ गुप्त

जुलाई अङ्क में यह लेख छापा गया था। उसका शेषांश यहाँ दिया जा रहा है।

विटामिन के प्रकार—विटामिनों की कुछ चर्चा पहले की गई है। उनके कुछ भेद और लाभों की जानकारी लाभप्रद हो सकती है। जिन पदार्थों में विटामिन नहीं होते हैं उनको हम कृत्रिम रूप में बनाया देख सकते हैं जिन में बहुत अधिक मिलावट कुटाई पिसाई, बहुत उबाल आदि से प्राकृतिक तत्व नष्ट हो गये होते हैं—जैसे-मैदा, कूट कूट कर कनीं निकाला वा पालिश किया चावल, अत्यधिक उबाला दूध, बनावटी (वनस्पति) घी, मुरब्बा, बहुत उबाली सब्जी आदि। इन पदार्थों के उपयोग से हमारा शरीर दुर्बल पड़ कर अनेक रोग के कीटाणुओं के फैलने का रास्ता खोल हमें बीमार डालता है। बेरी-बेरी, स्कर्वी, सूखा, रतौंधी, त्वचा फटना, मन्दाग्नि, मसूड़े सड़ना आदि अनेक रोग ऐसे हैं। इनसे बचने का उद्योग करना चाहिये।

विटामिन ए—रोगनाशक होता है, रोग के कीटाणुओं को दूर भगाता है। शरीर को पुष्ट बनाता है। इसके अभाव में ही रतौंधी, आँखों से पानी कीचड़ आदि आना देखा जाता है। हरे पत्ते के कच्चे वा साधारण रूप में पके शाक, पालक, बथुआ पोदीना, चौराई, पके आम, गाजर, टमाटर, पपीता, दही, मक्खन, एक उबाल का वा धारोष्ण दूध या अंडे की जर्दी में यह मिलता है। मूली की पत्ती, पालक, शलगम की पत्ती आदि खाकर हम रतौंधी आदि रोग दूर कर सकते हैं। बहुत अधिक उबाली सब्जी में यह तत्व नष्ट हो जाता है।

विटामिन बी—यह स्मरण-शक्ति बढ़ाता, शरीर पुष्ट करता और पाचन-शक्ति उत्पन्न करता है। बेरी-बेरी रोग इस के अभाव में होता है जिस में पेंडुली में दर्द होता है हाथ पैर सूज जाते है बदन सुस्त पड़ता है। इस रोग से मृत्यु भी हो जाती हैं। खटाई, मसाले आदि के साथ बहुत उबाले शाकों में यह पोषक तत्व नष्ट हो गया होता है। टमाटर, मूली, गाजर, प्याज, सेम, हरे शाक आदि में होता है। यह अन्नों के ऊपरी छिल्के की भीतरी तह में होता है। इसलिए कूटकर निकली वा चाली हुई गेहूँ की भूसी, चावल के कने और धोवन वा मांड में यह होता है जिसे हम फेंक देते हैं। चोकर, भूसी, कने आदि के रूप में यह पोषक तत्व लाभदायक है।

विटामिन सी—स्कर्वी रोग इसके अभाव में होता है। यह तत्व ताजे शाक और भिगोए हुए अन्नों में निकले अँखुए में होता है। गाजर, गोभी, अनन्नास, पपीता, लौकी, संतरा, नीबू, पके टमाटर, आदि में यह मिलता है। मसूड़े में सड़न होने से यह रोकता है। खटाई, मसाला आदि के साथ पकी सब्जी में यह नष्ट हो गया होता है।

विटामिन डी—इसके आभाव में बच्चों में सूखा रोग हो जाता है। इसकी कमी पूर्ति करने के लिये काड मछली के कलेजे का तेल दवा रूप में दिया जाता है। अंडे की जर्दी, पालक, टमाटर, घी, दूध, मक्खन में यह तत्व होता है। खुली धूप में रहने से भी इस तत्व का शरीर में निर्माण होता है।

विटामिन ई—मक्खन, गेहूँ की गूदी के रस वा

[शेष पिछले पृष्ठ पर देखें]

हमारे पोषक तत्व

ले० श्रीमती राधा पन्त

हमारे शरीर के पोषक तत्वों रूप में विटामिन का विवरण लेख में मनोरंजक रूप से दिया गया है।

कुछ समय पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि मनुष्य तथा अन्य पशुओं के खाद्य के सभी आवश्यक पदार्थ केवल जल, कार्बोहाइड्रेट, प्रत्यामिन या मांस वर्द्धक पदार्थ, चिक्कण पदार्थ तथा खनिज लवणों से बने होते हैं इनमें पानी प्रायः सभी खाद्यों में होता है; कार्वोहाइड्रेट जैसे शर्करा और श्वेतसार मुख्यतः अनाजों और फलों में होते हैं, चिक्कण पदार्थ जैसे तैल और घृत वनस्पतियों के बीजों तथा जानवरों के दूध और अंगों से निकाले जाते हैं, प्रत्यामिन मुख्यतः दालों और मांस आदि में होते हैं तथा खनिज लवण प्रायः प्रत्येक खाद्य में विशेषकर हरी शाक भाजियों और फलों में होते हैं।

परन्तु हमारे स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ धीरे-धीरे वैज्ञानिकों और चिकित्सकों को शङ्का होने लगी कि शायद भोजन में इन पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कुछ वस्तुओं का होना भी अनिवार्य हो, और अन्य कुछ प्रयोगों से यह प्रत्यक्ष होने लगा कि शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने के लिये लघु मात्रा में आवश्यक पोषक तत्वों का होना भी आवश्यक है। अन्त में हापकिन्स तथा अन्य पाश्चात्य वैज्ञानिकों के विविध प्रयोगों ने इस शताव्दी के प्रारम्भ में इन विचारों की पुष्टि कर दिखाई। हापकिन्स ने सर्व प्रथम १९१२ में यह सिद्ध कर दिया कि दूध से पृथक किये हुये केवल विशुद्ध प्रत्यामिन, शर्करा, लवण और चिक्कण पदार्थों को खिलाने से चूहे के बच्चों की बाढ़ ठीक नहीं होती परन्तु यदि उन्हें थोड़ी सी मात्रा में भी दूध पिलाया जाय तो वे आदर्श रूप से बढ़ने लग जाते हैं। शीघ्र ही आराकमैन, पैकैलहेरिङ्ग, Osborne तथा Mendl आदि के वैज्ञानिक अन्वेषणों से यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि प्रशीताद, बेरीबेरी, बालचक्र या रिकेट्स और रतौंधी आदि विकार इन आवश्यक पोषक तत्वों की कमी के कारण ही होते हैं।

सन् १९११ में Funk नामक वैज्ञानिक ने चावलों को छाँट कर उनके छिलके के अन्दर के भाग से एक पदार्थ निकाला जिसे खिलाने से चिड़ियों की बेरीबेरी का उपचार हुआ अतएव उसने इस पदार्थ का नाम विटामिन या जीवन रामीन (तत्व) रखा। परन्तु आज इस शब्द का उपयोग भोजन के सभी पोषक तत्वों के लिये होता है।

विटामिनों या पोषक तत्वों की ठीक ठीक व्याख्या करना सम्भव नहीं परन्तु उनके मुख्य तीन गुण इस प्रकार के हैं :—

प्रथम, भोजन के बहुमात्रा में लिये जाने वाले पदार्थों में से किसी एक पदार्थ के बदले दूसरे पदार्थ का उपयोग हो सकता है परन्तु प्राणियों की प्रत्येक जाति के लिये विशेष मात्राओं में आवश्यक पोषक तत्वों की मात्रा आदि में कोई अन्तर करना

सम्भव नहीं। उनके स्वास्थ्य एवं जीवन के निमित्त इनका होना आवश्यक है।

द्वितीय, हमारे अन्य खाद्य पदार्थों की आवश्यक मात्रा को शरीर के भार के अनुसार सेर, छटांक, तोला और Calorie आदि में नापा जा सकता है परन्तु पोषक मात्रा की रत्ती या माशा और उससे भी कम मात्रा में आवश्यकता होती है।

तृतीय, भोजन के अन्य सभी पदार्थ जैसे प्रत्यामिन, Carbohydrate तथा चिक्कण पदार्थों का उपयोग पूर्णतया, शक्ति उत्पादन के हेतु इंधन के रूप में होता है परन्तु पोषक तत्वों के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि ये हमारे जीवन संचालन के मुख्य आवश्यक पदार्थों को बनाते हैं। इस प्रकार यह तो नहीं कहा जा सकता कि पोषक तत्व स्वयं शरीर की पुष्टि करते हैं परन्तु वे भोजन के उपयोग में शरीर को अग्रसर करने में सहायता देते हैं और इसी कारण वे हमारे दैनिक भोजन में अत्यावश्यक हैं तथा इनसे हम खाद्य न्यूनता के विकारों से वंचित रह पाते हैं। यद्यपि आज तक अनेक पोषक तत्वों का पता लग चुका है परन्तु इनमें से केवल ६ पोषक तत्व ऐसे हैं जिनका चिकित्सा शास्त्र एवं भोजन में विशेष महत्व है क्योंकि उनसे न्यून खाद्य को खाने से शरीर में न्यूनता के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इनके नाम हैं, Vitamin A, 'B' वर्ग जो वास्तव में तीन मुख्य विटामिनों से बना है, Thiamin, या B' niacin या nicotinic अम्ल और Riboglavin या B२ कहते हैं। तथा Vitamin C या ascorbic अम्ल, और vitamin D। यह भी बहुत सम्भव है कि भविष्य में इनके अतिरिक्त और भी पोषक तत्वों का पता लगे।

पोषक तत्व साधारतः दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो तैल में घुलनशील हैं जैसे विटामिन A, और D, और दूसरे वह जो पानी में घुलते हैं जैसे B वर्ग और विटामिन C। आइये, अब थोड़ी देर इन सब पोषक तत्वों और उनकी न्यूनता से होने वाले विकारों का भी वर्णन सुनिये।

Vitamin A साधारणतः स्वास्थ्य को ठीक रखता है और Influenza, जुकाम आदि रोगों के प्रति शरीर को सुदृढ़ बनाकर उसकी रक्षा करता है। इसकी कमी से बच्चों की बाढ़ रुक जाती है। तथा इसकी न्यूनता से शरीर की त्वचा में भांति-भांति प्रकार के विकार उत्पन्न होने लग जाते हैं। पाचन शक्ति कम हो जाती है और रतौंधी का रोग हो जाता है। इससे परिपूर्ण भोजन को खाने से बच्चे सुचारु रूपसे बढ़ते हैं। उनकी हड्डियाँ, दांत और मांस पेशियाँ सभी सुदृढ़ बनती हैं। यही नहीं युवा तथा वृद्धावस्था में भी Vitamin A की आवश्यकता रहती है और इससे चिरकाल तक मनुष्य स्वस्थ रहता है। यह दूध, मक्खन, अंडे के पीले पदार्थ, शाकों भाजियों जैसे गाजर, सलाद, और पालक, मांस, तथा मछली, विशेषकर cod नामक मछली के यकृत के तैल में पाया जाता है। बढ़ते हुए बच्चों और गर्भवती स्त्रियों के लिए इसकी विशेष आवश्यकता होती है। और ऐसी अवस्था में मछली का तैल एक उत्तम खाद्य है।

Vitamin D चूने या Calcium तथा भास्वर या Phosphorus के उपयोग में शरीर का सहायक है, अतएव अस्थियों तथा दाँतों की बनावट और उनकी उन्नति में इसका विशेष महत्त्व है। इसकी कमी से बच्चों को बालचक्र अथवा सूखा रोग, बड़ों को Ostromalacia नामक रोग तथा दाँतों में घुन लगने लग जाता है। यह साधारणतः मछलीके तैल, दूध, मक्खन, अंडे के पीले पदार्थ आदि में पाया जाता है। शरीर में तैल लगाकर धूप में बैठने से यह स्वयं शरीर में बनने लग जाता है और बाल-

चक्र से पीड़ित बच्चों के लिये यह क्रिया विशेष लाभदायक है।

'B' वर्ग के विटामिनों में मुख्य Thiamin या Vitamin B' Riboflavin या Vitamin B_2 तथा Nicin या Nicotine अम्ल है। Thiamin की कमी से मंदाग्नि, तथा बेरीबेरी का रोग हो जाता है। यह स्नायु संस्थान को ठीक अवस्था में रखता है तथा शरीर द्वारा Carbohydrate के उपयोग का संचालन करता है। Riboflavin की कमी से होठों के फटने का रोग हो जाता है और मुँह आ जाता है। Nicotinic अमल की कमी से वल्क चर्म या pellagra का रोग हो जाता है जिससे विशेषकर शरीर के खुले अंगों, हाथ, पैर और मुँह में छाले पड़ जाते हैं, अंग शिथिल हो जाते हैं और भूख कम हो जाती है। ये Vitamins विशेषकर पौधों के बीजों, जैसे, मटर, सेम, सोया, अन्डे के पीले पदार्थ, ताजे शाक और फल, पूरे गेहूँ, बे छँटे चावल, मांस तथा ताजी ताड़ी (Yeast), इनमें पाये जाते हैं। गर्भवती तथा बच्चों को दूध पिलाने वाली स्त्रियों के लिये 'B' वर्ग के विटामिनों की और भी अधिक आवश्यकता होती है।

Vitamin C की कमी से मसूड़ों से रक्त बहना, दातों का गिरना तथा प्रशीताद या स्कर्वी का रोग हो जाता है। यह ताजे शाकों जैसे गोभी Asparagus और पालक, तथा फलों में जैसे टिमाटर, आँवला, नीबू सन्तरा अमरूद आदि में पाया जाता है।

विटामिनों से परिपूर्ण रखने के लिये खाद्य का उचित ढंग से उपयोग करना भी आवश्यक है। बासी खाद्य पदार्थ में से 'B' वर्ग और C vitamin नष्ट हो जाते हैं। और ये विटामिन खाने को अधिक पकाने और उबालने से भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये शाकों को कम उबालिये और उनके उबाले हुये पानी को न फेंकिये क्योंकि इसी पानी में 'B' वर्ग और C विटामिन होता है जो कि पानी में घुलनशील हैं। ताजा भोजन खाइये, और नित्य कुछ फलों का सेवन कीजिये। Polish किये हुये छँटे चावल तथा चोकर निकाले हुये आटे में से लगभग संपूर्ण B वर्ग निकल जाता है अतएव बिना छँटे चावल तथा बिना छाने हुये आटे की रोटियाँ आँखों को प्रसन्न करने में असमर्थ होने पर भी शरीर के लिये अधिक पुष्टिकर होती हैं। स्वास्थ्य परमधन है और उसकी सुरक्षा के लिये पोषक तत्त्वों से परिपूर्ण भोजन को खाना परम आवश्यक है।

—आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से

[पृ० २१ का शेषांष]

लिए प्रचारित की गयी है। जो लोग उसके विषय में अपनी सम्मति देना चाहते हों, वे अधिक से अधिक २८, सितम्बर, १९५१ तक उसे इस पते पर भेज सकते हैं—"डाइरेक्टर, इंडियन स्टैंडर्डस इंस्टिट्यूशन, १९ यूनिवर्सिटी रोड, क्लाइव लाइन्स, दिल्ली ८।"

वैज्ञानिक समाचार

इमली के बीज का चारा

इज्जतनगर की भारतीय पशु-चिकित्सा गवेषणाशाला में की गयी गवेषणा से मालूम हुआ है कि जो चीजें अभी बेकार समझी जाती है, समुचित शोधन के बाद उनका उपयोग पशुओं के सहायक चारे के रूप में किया जा सकता है। एक ऐसी वस्तु, इमली का बीज है, जिसमें प्रोटीन व कार्बोहाइड्रेट जैसे पोषक- तत्व तथा केल्शियम व फासफोरस जैसे खनिज पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। उक्त शाला में पशुओं को काफी दिनों तक यह बीज देकर देखा गया है कि वे उसे हजम कर सकते हैं। इसलिए सिफारिश की गयी है कि लोग यह बीज पशुओं को खिला सकते हैं, किन्तु उसकी मात्रा पशु को दी जाने वाली खली, आदि की मात्रा की एक-तिहाई से अधिक न होनी चाहिये।

वनस्पति तेल साफ करने की अच्छी प्रणाली

भारत में वनस्पति तेल साफ करने के अधिकतर कारखाने पुराने ढंग से तेल साफ करते हैं। तेल में क्षार या कास्टिक सोडा मिलाने के बाद वे तेल को विभिन्न तापमानों तक गरम करते हैं और जब क्षार या सोडा नीचे बैठ जाता है तो तेल को निकाल लेते हैं। किन्तु इस ढंग से तेल का बहुत सा भाग बेकार चला जाता है। यूरोप और अमेरिका में सेंट्रीफ्यूगल प्रणाली से तेल साफ किया जाता है जिसमें तेल बहुत ही कम नष्ट होता है। वैज्ञानिक और औद्योगिक गवेषणा की पत्रिका के जुलाई अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें इस प्रणाली पर प्रकाश डाला गया है। लेख में बताया गया है कि इस प्रणाली से वनस्पति तेल की मिलें प्रतिवर्ष लगभग १६०० टन तेल नष्ट होने से बचा सकती हैं।

आलू की अधिक अच्छी 'संकर' जातियां

आलुओं की कई किस्मों के मेल से, केंद्रीय आलू गवेषणाशाला में जो नयी 'संकर' जातियां उत्पन्न की गयी हैं, उनके गुणों की परीक्षा से पता चला है कि स्थानिक किस्मों की अपेक्षा उनकी उपज ५०-६० प्रतिशत अधिक बैठती है। पटना नगर के किसान इन नयी संकर जातियों की भारी उपज तथा अन्य अच्छाइयों से बहुत प्रभावित हुए हैं और बड़े पैमाने पर उनकी खेती के लिए, उनके बीज अधिक मात्रा में उत्पन्न करने का विचार कर रहे हैं।

अन्य बातें, जिनसे उपज में वृद्धि होने की संभावना रहती है, ये हैं—बीज बड़ा हो; वह कम-कम फासले पर बोया जाय; और ठीक समय पर अर्थात् अक्टूबर के अन्त में बोया जाय। पता चला है कि पिछड़ कर फसल बोने से उपज तो कम होती ही है, साथ ही आलुओं में 'करियई' (चारकोल रॉट, नामक रोग लगने की आशंका बढ़ जाती है।

मछली पालने के लिए बीज-मछली

देश के कमी वाले राज्यों को मछली पालने के लिए बीज-मछली उपलब्ध करने के विचार से केंद्रीय अंतर्देशीय मछली गवेषणा केंद्र, कलकत्ता द्वारा किये गये पर्यवेक्षण के परिणामस्वरूप कई स्थानों पर प्रजनन कार्य के लिए उपयुक्त बीज मछली का पता लगा है। उड़ीसा में रामेदेगा स्थान पर महानदी की

एक पहाड़ी नदी में 'माहसीर' मछली तथा कलकत्ते से २० मील दक्षिण में घुटियारी शारीफ 'मैंगुलेट' मछली मिलती है। ये मछलियाँ मत्स्य पालन के लिए बीज का काम देती हैं।

एक तालाब में रोहू जाति की मछलियों की मृत्यु के कारणों की जांच-पड़ताल करने पर मालूम हुआ कि मृत्यु का कारण 'अगु'लुस' कीड़ा (जू) था जो तालाब में बहुतायत से पैदा हो गया था। अल्कोहल मिला हुआ 'गेमेक्साइन' का घोल तथा उसके बाद चूना डालने पर मछलियों का मरना बंद हो गया।

भारत की विज्ञान-शालाएं

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के 'ब्यूरो आफ एजुकेशन' ने 'नेशनल इंस्टिट्यूट्स आफ साइंसेज आफ इंडिया' (भारत की राष्ट्रीय विज्ञान शालाएं) के सहयोग से हाल ही में 'साइंटिफिक इंस्टिट्यूशन्स एंड सोसाइटीज इन इंडिया' (भारत की वैज्ञानिक संस्थाएं और सोसाइटियाँ) नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमें भारत की ५९ वैज्ञानिक संस्थाओं, आदि के संबंध में विस्तृत विवरण दिया गया है। इससे पहले शिक्षा मंत्रालय मानव-हित संबंधी सोसाइटियों तथा संस्थाओं की एक रिपोर्ट भी प्रकाशित कर चुका है। प्रस्तुत ग्रंथ इस रिपोर्ट का ही एक सहायक ग्रंथ है।

कांच बनाने की रेत

भारत के भूगर्भ पर्यवेक्षण विभाग ने हाल में ही एक पुस्तिका प्रकाशित की है, जिसमें विंध्यप्रदेश और उत्तरी प्रदेश के भागों तथा राजस्थान के बूंदी जिले में कांच बनाने की रेत के भंडारों का पता लगने के विषय में अनेक बातें बतायी गयी हैं। अब तक यह रेत उत्तर प्रदेश के "नैनी क्षेत्र" से ही मिलती रही है और देश के कांच व सोडियम सिलिसेट उद्योगों की आवश्यकताओं की अधिकांश पूर्ति इसी क्षेत्र से होती रही है। पुस्तिका में जिन रेत-भंडारों का जिक्र किया गया है, वे इस नैनी क्षेत्र के पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम में हैं। बूंदी का भू-भन्डार इनसे पृथक है

पुस्तिका में यह भी बताया गया है कि इन नये भन्डारों की रेत किस प्रकार की है और उसमें किन चीजों की मिलावट है। इस जानकारी से यह मालूम किया जा सकता है कि नयी रेत से किस-किस प्रकार का कांच तैयार किया जा सकेगा। बूंदी क्षेत्र में मिली रेत उच्च कोटि की है और खयाल है कि उसका उपयोग चश्मों के शीशे, आदि बनाने के काम में भी किया जा सकेगा। इस क्षेत्र में लगभग ११,-६२,००० टन रेत होने का अनुमान है।

इमारती लकड़ी का परिरक्षण

भारत में इमारती सामान की कमी पड़ रही है, जिसमें इमारती लकड़ी भी है। साल और सागवान जैसी टिकाऊ इमारती लकड़ी उतनी प्राप्त नहीं है, जितनी की आवश्यकता है। इसलिये इन लकड़ियों का स्टाक बढ़ाने और उचित तरीके से सिझा कर उन्हें अधिक टिकाऊ बनाने तथा अपेक्षाकृत कम टिकाऊ किस्म की इमारती लकड़ी को भी सिझा कर अधिक टिकाऊ बना सकने की बड़ी आवश्यकता है।

भारतीय मान-निर्धारण संस्था की इमारती लकड़ी संबंधी वैभागिक समिति ने हाल में ही एक विधि-पुस्तिका का प्रारूप तैयार किया है, जिसमें लकड़ी को सिझाने के काम के कई प्रकार के परिरक्षक द्रव्यों, सिझाने की कई प्रणालियों, आदि का ब्यौरा दिया गया है। बताया गया है कि किस लकड़ी के लिए कौन परिरक्षक द्रव्य ठीक होगा, आदि आदि। पुस्तिका में एक तालिका तथा तीन परिशिष्ट दिये गये हैं, और देश व विदेश में वह संबंधित लोगों के मत जानने के

[शेष पृ० १९ पर]

समालोचना

निम्नलिखित पाँच पुस्तकें शांति पुस्तक भंडार, कनखल हरद्वार द्वारा प्रकाशित हैं, जिनके लेखक सोहनलाल गुप्त एम० ए०, एल० टी०, एल० एल० बी० गणिताध्यापक, म्युनिसिपल कालेज, हरद्वार, हैं। उनकी लिखी पुस्तक भौतिक विज्ञान के चमत्कार की आलोचना विज्ञान के पिछले अङ्क में की जा चुकी है। ये सभी पुस्तकें छोटे आकार की और सुलभ मूल्य की हैं। मूल्य के विचार से इन पुस्तकों को बहुत मँहगा नहीं कहा जा सकता किन्तु छपाई और आवरण पृष्ठ आदि बाह्याकर्षण बहुत ही साधारण हैं। खेद का विषय है कि विज्ञान की पुस्तकों के अच्छे प्रकाशक नहीं मिलते। इन पुस्तकों के लिखने में जितना परिश्रम किया गया है, उसी तरह सुन्दर छपाई, चित्ताकर्षक आवरण पृष्ठ और व्यवसाय-कुशल, पुस्तकों के अनुभवी-प्रकाशक द्वारा प्रकाशन होता तो इन पुस्तकों का अच्छा प्रचार हो सकता। फिर भी सभी पुस्तकें रोचक, पठनीय और संग्रहणीय हैं। आशा है इन विषयों के प्रेमी इनका स्वागत करेंगे।

१—विज्ञान के मनोरञ्जन मूल्य ॥) पृष्ठ संख्या ५२। पतले टाइप में छपी तथा कुछ छोटे चित्रों युक्त।

लेखक ने इस पुस्तक में जादू और खेलों का वह पक्ष लेने का उद्योग किया है जो वैज्ञानिक साधनों से किये जा सकते हैं। प्रारम्भ में आग के मनोरञ्जन—आतशबाजी का वर्णन है। साधारण पाठक को आतशबाजी बनाने के लिये विस्फोट पदार्थों को साधारण पदार्थ का मिश्रण भी कूटने, पीसने, जलाने, आदि में किस तरह की सावधानी रखना चाहिये जिससे दुर्घटना न हो सके, इसका अभाव विशेष रूप से खटकता है। इसकी सावधानी के लिये पर्याप्त सूचना दी जानी चाहिये। आशा है दूसरे संस्करण में इनका लेखक अवश्य ध्यान रखेंगे। पुस्तक के अन्य विषयों में पानी में आग के खेल, पानी में रङ्ग पैदा करना, बदलना, लुप्त कर देना, चित्रों में रङ्ग पैदा करना, छिपी स्याही, पानी या गर्मी या रसायन द्वारा गुप्त लेख प्रकट करना, बोतलों से रङ्गीन धुएं उठाना, पानी पर अंडा नचाना, बिना आग पानी गर्म करना, द्रव को सिकोड़ना, विविध रासायनिक मनोरञ्जन जैसे सीसे, राँगे, चाँदी सोने आदि का वृक्ष बनाना, पैसे से अठन्नी बनाना, भौतिक मनोरञ्जन जैसे पानी पर सुई तैराना, बिना बत्ती का दीपक, कृष्ण वसुदेव प्याला, उलटे गिलास से पानी न गिरना, लाठी को उँगली पर खड़ी करना, ताप और प्रकाश के खेल जैसे खौलते पानी में बरफ न गलना, ठंडे पानी से पानी खौलाना, चवन्नी को अठन्नी या अठन्नी का रुपया दिखाना, पर्दे के पीछे की वस्तु देखना, जीवित और बोलते सिर को कटी गर्दन की भाँति अलग दिखाना, तथा चुम्बक और बिजली के मनोरञ्जन जैसे बालों में शब्द और सीता का राम से आकर्षण तथा रावण से घृणा प्रकट करना आदि अनेक मनोरञ्जक प्रसङ्ग पुस्तक में दिये हैं।

२—रासायनिक उद्योग धन्धे—पृष्ठ संख्या ४६ मूल्य ॥)

साबुन, स्याही, दर्पण, दियासलाई, मोमबत्ती, वार्निश, फोटो, फोटो ब्लाक, बिजली की कलई आदि का विवरण और बनाने की विधियाँ पुस्तक में दी हुई हैं। इन सब का इतनी छोटी पुस्तक में विस्तृत

विवरण नहीं दिया जा सकता था। अतएव बहुत कम नुस्खों से काम चलाया गया है। घरेलू उद्योग की की भाँति साधारण वस्तुओं से साधारण उपयोग की वस्तुएं बना लेने के नुस्खों पर ही ध्यान देना अधिक उचित होता। बड़े कारखानों में साबुन बनाने की क्रिया, फोटो ब्लाक आदि की चर्चा साधारण पाठक के लिये व्यवहार्य नहीं हैं। पुस्तक फिर भी उपयोगी है।

३—ज्योतिष के मनोरञ्जन—पृष्ठ संख्या ७५ मूल्य ।||)

यह सरल ज्योतिष की पुस्तक है जिसमें कैलेंडर, राशि और नक्षत्र चक्र, चन्द्रमा और सूर्य की गतियाँ, तिथियां, ग्रहण, ग्रहों का वर्णन, पञ्चाङ्ग की सरल सूचनात्मक बातें, तारों का साधारण वर्णन देने का प्रयत्न किया गया है। थोड़े स्थान में इतनी अधिक चर्चा देख कुछ आश्चर्य सा होता है। थोड़े प्रसङ्गों का विशद, विस्तृत वर्णन अधिक रोचक होता। ४०, ५० वर्षों में ग्रहण घटने की तिथियां पाठकों को अग्रिम रूप में दी हुई मिलती हैं। ज्योतिष के नामों का परिचय अच्छा मिल जाता है। किन्तु चित्रों के अभाव और विषय ठूसने के प्रयत्न से पाठक आधुनिक ज्योतिष विज्ञान की सुन्दर रूप-रेखा हृदयङ्गम करने में कदाचित सफल न हो। बहुत से ब्यौरे सब पाठकों को रुचिकर नहीं हो सकते। परन्तु ज्योतिष की जानकारी रखने के इच्छुक गम्भीर पाठक के लिए पुस्तक सुन्दर है।

४—गणित के मनोरञ्जन—पृष्ठ संख्या ६४ मूल्य ||≈)

५—गणित का इतिहास—पृ० सं० ३८ मूल्य ।≈)

ये दोनों पुस्तकें गणित सम्बन्धी मनोरञ्जन और जानकारी की हैं। पहली पुस्तक में विविध मनोरञ्जन जैसे संख्यायें बैठाने वाली उलझनें, गणितीय कौतूहल के प्रश्न, अङ्कगणित के मनोरञ्जन, युक्तियों द्वारा मन में रक्खे गए नाम, संख्या आदि बताना, रेखागणित के मनोरञ्जन जैसे जादू की पट्टी, खानों के घटने बढ़ने का जादू, भूल भुलैया, विचित्र चित्र खींच लेना, ताशों के मनोरंजन। शतरंज के मनोरंजन, वर्ग के संख्यात्मक खेल आदि मनोरंजक प्रसंग हैं। पुस्तक सरल और बहुत ही रोचक है। विद्यार्थियों और साधारण पाठकों के उत्तम मनोरञ्जन की सामग्री इसमें दी हुई है।

दूसरी पुस्तक गणित का महत्व बताने के लिये देश देशों में इसके उद्भव की कथा बताती है। यह साधारण मनोरञ्जन के स्थान पर ज्ञान वर्द्धन की पुस्तक ही है। अतएव गणित के इतिहास की उधेड़ बुन में पड़ने वाले पाठकों के लिये पुस्तक रुचिकर है।

ही० ला० नि०

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग १**—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनेंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ० ।३।५

भाग ७४ | तुला सम्वत् २००८ अक्टूबर १९५१ | संख्या १

विज्ञान-यज्ञ

आपने वैदिक यज्ञों के होने की बात सुनी होगी। वैदिक मन्त्र-गानों से गुंजरित, घृत-समिधा और हवन सामग्री के प्रज्वलित होने से सुवासित हवन मंडप को देखा या सुना होगा। हम एक दूसरे महान यज्ञ की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसकी वेदी ज्ञान-विज्ञान की समिधाओं से सुसज्जित तथा विज्ञान-प्रेमियों, विज्ञान-शोधकों रूपी होताओं के वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण, पठन-पाठन, तथा गवेषणा रूपी हविष-दान और मंत्रोच्चार से गुंजित हो सकती है। एक ऐसा यज्ञ हम भी गत ४० वर्षों से विज्ञान-परिषद द्वारा वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण, प्रकाशन और "विज्ञान" मासिक के प्रकाशन द्वारा करते आ रहे हैं। परिषद की स्थापना जिन उद्देश्यों को लेकर कतिपय साहित्य और विज्ञान-प्रेमी मनीषियों, विद्वानों और उदार प्रेमयों ने की थी, उनकी पूर्ति हम अब तक किस सीमा तक कर सके हैं, इसके निर्णय का भार हम विज्ञ पाठकों, जागरूक आलोचकों तथा विचारशील द्रष्टाओं पर छोड़ते हैं। किसी भी प्रकार के प्रतिफल की आशा न रखते हुए ही परिषद के अवैतनिक पदाधिकारी अपने कर्तव्यों की पूर्ति का जो कुछ प्रयत्न करते आए हैं उसका उल्लेख हम किस प्रकार करें जब हम भी उनके वर्ग में से ही एक हैं। अपने मुहँ अपनी प्रशंसा करने का स्वाभाविक लांछन आप हम पर अविलंब ही लगा सकते हैं। फिर भी परिषद-हितैषी या उसके उदार पोषक और सहायक होने के नाते हम अपने पाठकों और साधारण तथा सम्मानित सदस्यों के सम्मुख अपनी बात कहने में कुछ संकोच का भी अनुभव नहीं कर सकते।

ऊपर हमने जो यज्ञ की बात कही है वह ठीक ही है। उद्देश्य महान होने पर भी उसकी पूर्ति उसके आधार स्तम्भों की दृढ़ता पर ही निर्भर करती है। किसी भी वैदिक यज्ञ को पूरा करने के लिए सद्गृहस्थ की आर्थिक अथवा सामग्री-प्रदान की सहायता अपेक्षित है। वही बात हमारे विज्ञान-यज्ञ की भी है। हमको भी इस की पूर्ति के लिए ऐसे सद्गृहस्थों की

अपेक्षा हो सकती है जिससे इसका कार्य-संपादन सुचारु रूप से हो सके।

आज हमारे सामने कितनी भारी कठिनाइयाँ हैं। हम सब कुछ प्रयत्न कर भी प्रति मास विज्ञान का प्रकाशन मुद्रण और कागज की यथेष्ट सुविधा न हो सकने से समय पर कर सकने में असमर्थ रहे हैं। आज किसी प्रकार इस समस्या को सुलझा कर ७४ वें वर्ष का प्रथम अंक अंग्रेज़ी मास प्रारम्भ होने के समय ही निकाला जा रहा है। आगे भी नियमित समय पर प्रकाशन का हम सब कुछ प्रयत्न करेंगे। परन्तु आप इस में किस प्रकार हमारा हाथ बटा सकते हैं इसकी ओर हम थोड़ा संकेत ही कर चुप रहेंगे।

हमारी भारी आर्थिक कठिनाई को सुलझाने के लिये यज्ञ के प्रश्रयदाता सद्‌गृहस्थ की भाँति ३ सहस्र रुपये की एक कालिक सहायता हमारे उत्तर प्रदेश के शिक्षा-सञ्चालक श्री इबादुर्रहमान तथा सहयोगी शिक्षा सचिव श्री बी० एन० झा महोदयों ने प्रादेशिक सरकार की ओर से प्रदान कर हमारी परिषद् को आभारी किया है। उसका उल्लेख विशेष रूप से किए बिना हम नहीं रह सकते। अन्य प्रादेशिक सरकारें हमारे वैज्ञानिक साहित्य-सृजन, प्रकाशन, प्रचार तथा विज्ञान के सुन्दर रूप में निकालने में योग देने के लिए याचित अथवा अयाचित सहायताएँ दे सकती हैं।

अन्य सज्जनों को हम किसी न किसी रूप में सहायता प्रदान के लिए अग्रसर होने के लिये आमन्त्रण देने के बहाने कुछ व्यावहारिक पथों का निर्देश कर देते हैं :—

यदि आप परिषद् के सदस्य हैं तो अपने नए सुझाव, परिषद् के कार्यों की आलोचना, विज्ञान के सम्बन्ध में क्रियात्मक सहयोग प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य महानुभावों, मित्रों तथा बन्धुओं को भी सदस्य होने के लिये अनुप्रेरित कर सकते हैं।

यदि आप विज्ञ लेखक हैं तो हमारे पूर्व प्रयत्नों पर अपनी उचित सम्मति, सुझाव देने की उदारता प्रकट कर अपनी अमूल्य रचनाओं, लेखों, ग्रंथों आदि द्वारा योग प्रदान करने का उत्साह पूर्वक ध्यान रख सकते हैं।

यदि आप ग्राहक हैं तो स्वयम् अपनी बहुमूल्य सम्मति विज्ञान या परिषद् के प्रकाशन पर देकर अपनी रुचि का निर्देश कर सकते हैं जिससे हम अपने प्रकाशन को अधिकाधिक लोकोपयोगी और सुन्दर बनाने का उद्योग कर सकें। दूसरे विचारशील, उत्साही व्यक्तियों को पठन पाठन में अपना विज्ञान-सखा बना कर आप उन्हें विज्ञान-प्रेमी, सहायक अथवा ग्राहक बनाने का उद्योग कर सकते हैं। ऐसे ही सुधी और उदार महानुभावों की सहायता, अनुप्रेरणा और सौहार्द्र से हम अपना विज्ञान-यज्ञ अहर्निश सञ्चालित रखने की आशा करते हैं।

—

परमाणु का केन्द्रक और उसका विखंडन

लेखक—डा० डी० एस० कोठारी

परमाणु-बम के युग में पाठकों की उत्सुकता परमाणुओं का रहस्य या उनके खंडन के द्वारा विस्फोट होने के कारणों को समझने के सम्बन्ध में बढ़ रही है। इस विषय पर भौतिक विज्ञान के मान्य आचार्य का यह सरल और मनोरंजक लेख ज्ञान वर्द्धक और कौतूहलोत्पादक रूप में लिखा गया है।

सभ्यता के आदि से मनुष्य ने पदार्थ की बनावट के विषय में तरह तरह के सिद्धान्त बनाये हैं किन्तु यह हाल ही की बात है (कुछ वर्षों के ही अन्दर की) कि हमको परमाणु की बनावट का सही सही ज्ञान हुआ और वस्तुओं की भाँति हमारा शरीर भी परमाणुओं से बना है। एक शरीर की बनावट में परमाणुओं की संख्या अत्यधिक होती है। यही परमाणुओं की अधिकता ही एक परमाणु की बनावट और उसकी विशेषतायें समझने में मुख्य कठिनाई का कारण होती है। परमाणु की अपेक्षा हमारा शरीर कितना विशाल होता है।

इसका कुछ अनुमान यों होगा। एक छोटे से जल बिन्दु को उसके नन्हें भाग करके भारत के सारे मनुष्यों में बाँट दो। अब जो तुम्हारा हिस्सा आये उसे एक बार फिर इन्हीं सारे मनुष्यों में विभाजित करो तो अब इस छोटे से भाग में भी लगभग एक हजार से भी अधिक अणुओं की संख्या होगी। इससे कुछ परमाणु की सूक्ष्मता का ज्ञान होता है।

प्रत्येक परमाणु में एक केन्द्रक (न्यूक्लियस) होता है और इसके चारों ओर विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) परिक्रमा करते हैं। विद्युदणु पर ऋण विद्युत और केन्द्रक पर धन विद्युत का आवेश होता है। विद्युदणु का भार केन्द्रक की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म होता है। इसलिये परमाणु का सारा भार उसके केन्द्रक में ही होता है। परमाणु का आयतन बहुत ही कम होता है। अभी तक किसी ने भी परमाणु को अपनी आँख से नहीं देखा और न ही उसे देखना कभी संभव होगा। यदि परमाणु से परमाणु सटा कर एक सरल रेखा में रक्खे जायें तो करीब दस करोड़ १०००००००० परमाणु एक इञ्च भर लम्बाई में आयेंगे। परमाणु हमारे मुकाबले में उतना ही छोटा है जितना सूर्य्य मण्डल के मुकाबले में हम। सूर्य मण्डल में पृथ्वी, मङ्गल, बृहस्पति इत्यादि ग्रह विशाल सूर्य्य की परिक्रमा करते हैं और परमाणु में विद्युदणु केन्द्रक की।

परमाणु में केन्द्रक (नूक्लियस) और विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) में पारस्परिक आकर्षण अभ्याकृष्टीय शक्ति (ग्रेवीटेश्नल फोर्स) यद्यपि होती तो है पर इतनी कम कि न होने के बराबर। परमाणु की बनावट समझने के लिये विद्युदणु और केन्द्रक में पारस्परिक विद्युत् आकर्षण शक्ति ही ध्यान देने योग्य शक्ति है।

नील बोर (शक्त्यणुवाद) या ऊर्जाणुवाद (क्वान्टम सिद्धान्त) के महान ज्ञाता हैं और लार्ड रदरफोर्ड सर्वकाल से महान संपरीक्षक अथवा प्रयोगकारी हुये

हैं। लगभग चालीस वर्ष की बात है कि इन दोनों का मेल हुआ। यह विज्ञान के इतिहास में बड़े सौभाग्य का अवसर था। इन दोनों के सहयोग और परिश्रम से परमाणु की बनावट का भेद खुला। बोर ने यह नई बात बतलाई कि विद्युदणु जब केन्द्रक की परिक्रमा करते हैं तो उनकी कोणीय गमता (एंगूलर मोमेन्टम) प्राकृतिक अपरिवर्त्ती 'h' जिसको प्लाँक अपरिवर्त्ती कहते हैं, का सरल संख्या गुणनफल होता है। प्लाङ्क अपरिवर्त्ती (प्लाँक कान्सटेन्ट) के लिये हमेशा अंग्रेजी अक्षर 'एच' लिखते हैं। यह अपरिवर्त्ती परमाणु संसार का विशेष अपरिवर्त्ती है। पचास वर्ष पहले एक जर्मन भौतिक विज्ञान आचार्य प्लाँक ने इसका परिचय दिया था और उसी ने इसकी ईजाद की थी। इस अपरिवर्त्ती के होने का मतलब यह है और इसको बोर ने सबसे पहले समझा कि पदार्थ की भाँति कोणीयगमता अथवा शक्ति भी छोटे छोटे नियत कणों से मिल कर बनी है। इसकी प्रत्येक एकाई को ऊर्जाणु (क्वान्टा) कहते हैं। शक्ति की इस प्रकार की छोटी छोटी पृथक रह सकने वाली इकाइयों का संग्रह होने का विचार जितना आश्चर्यजनक है उतना ही महान मालूम होता है। पृथ्वी की गहरी नींव का आधार कण ही कण पर है। पदार्थ को बनाने वाले कण (ईंटें) परमाणु होते हैं और शक्ति का छोटे से छोटा अलहदा रह सकने वाला कण ऊर्जाणु (क्वान्टा)।

चलिये विद्युदणु को केन्द्रक के चारों ओर नाचने दें और उन्हें छोड़ कर केन्द्रक पर अब ध्यान जमायें। केन्द्रक परमाणु का भीतरी गढ़ है अथवा उसका हृदय समझिये। केन्द्रक का आयतन परमाणु के आयतन का एक लाखवाँ हिस्सा होता है। सारे परमाणुओं के केन्द्रक दो प्रकार के आधार भूत कणों से बने हैं जिन्हें हम प्राणु (प्रोटोन) और (क्लीवाणु) न्युट्रोन कहते हैं। प्राणु (प्रोटोन) पर धन विद्युत का आवेश होता है और वास्तव में प्राणु (प्रोटोन) हाईड्रोजिन का केन्द्रक होता है। क्लीवाणु (न्यूट्रोन) पर किसी प्रकार की विद्युत का आवेश नहीं होता।

क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की पदार्थ मात्रा लगभग प्राणु (प्रोटीन) के बराबर होती है। वास्तव में प्राणु (प्रोटोन) से थोड़ी अधिक है।

क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की खोज सन १९३२ में रदरफ़ोर्ड के शिष्य चेडविक ने की थी। इसके उपरान्त ही वैज्ञानिकों ने केन्द्रक की बनावट समझना शुरू किया। क्लीवाणु (न्यूट्रोन) स्थायी नहीं होता जैसा कि प्राणु (प्रोटोन) और विद्युदणु (इलेकट्रोन) होते हैं। यदि किसी क्लीवाणु (न्यूट्रोन) का निरीक्षण करो तो देखोगे कि वह तुरन्त ही प्राणु (प्रोटोन) और विद्युदणु में परिवर्तित हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक वस्तु और निकलती है जस पर यहाँ ध्यान नहीं देंगे। बड़ी-बड़ी परमाणु की मशीनों द्वारा क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के क्षय का प्रायोगिक प्रमाण दिया गया है और विज्ञान क्षेत्र में यह १९५० की महान सफलता है। एक क्लीवाणु (न्यूट्रोन) को एक प्राणु (प्रोटोन) और एक विद्युदणु (इलेकट्रोन) में बदलने में लगभग १३ मिनट लगते हैं।

किसी परमाणु के केन्द्र में प्राणु (प्रोटोन) और क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की संख्या का जोड़ इस केन्द्रक की मात्रा संख्या (मास नवम्बर) कहलाता है। और केवल प्राणु (प्रोटोन) की संख्या परमाणु संख्या (एटोमिक नम्बर) कहलाती है। हाईड्रोजिन में केवल एक ही प्राणु (प्रोटोन) होता है। इस लिये हाईड्रोजिन की परमाणु संख्या एक है। और मात्रा संख्या भी एक है।

यह हुआ सब से हल्का परमाणु। पिछले वर्षों में कुछ तत्त्व मनुष्यों ने भी बनाये हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। पर प्राकृतिक तत्त्वों में

यूरेनियम की सब से बड़ी परमाणु संख्या ९२ है। यूरेनियम के परमाणु का केन्द्रक दो प्रकार का होता है। एक की मात्रा संख्या २३५ और दूसरे की २३८ होती है। प्राणु (प्रोटोन) की संख्या इन दोनों में एक ही होती है। यूरेनियम २३५ में क्लीबाणु (न्यूट्रोन) की संख्या विषम होती है यानी १४३ और यूरेनियम २३८ में क्लीबाणु (न्यूट्रोन) की संख्या युग्म १४८ होती है। यह अन्तर यूरेनियम केन्द्रक के विखण्डन में विशेष कर महत्त्वकारी है। यूरेनियम २३३ भी होता है पर वह बहुत कम मिलता है। हाल में चार पाँच साल के अन्दर वैज्ञानिकों ने यूरेनियम से भी भारी तत्त्व बनाये हैं। दो के नाम नेपट्यूनियम और प्लूटोनियम हैं। इनके नाम नेपट्यून और प्लूटो ग्रहों पर रक्खे गये हैं। इनकी परमाणु-संख्या ९३ और ९४ है। इसके बाद एमरसियम तत्त्व, जिसका नाम एमरीका के नाम पर है, बनाया गया। इसकी परमाणु-संख्या ९५ है। इसके बाद क्यूरियम तत्त्व जिसकी परमाणु संख्या ९६ है। इनका नाम श्रीमती क्यूरी और इसके पति के नाम पर इन्हें सम्मानित करने के लिये रक्खा गया। इसके उपरान्त बरकीलियम और केलीफ़ोर्नियम बनाये। इसकी परमाणु-संख्या क्रमशः ९७ और ९८ है। केलीफ़ोर्नियम तो गत वर्ष १९५० में बनाया गया था। अभी तक ९८ भिन्न-भिन्न तत्त्व मालूम किये गये हैं। इनमें से ६ मनुष्य के बनाये हैं। इनकी खोज में अमरीकी की रसायनशास्त्री सीबर्ग ने सब से अधिक प्रशंसनीय काम किया है।

जब क्लीबाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) के संयोग से केन्द्रक बनता है तो इस क्रिया में उनका भार कम हो जाता है। इसके फलस्वरूप केन्द्रक का भार प्राणु और क्लीबाणु के पृथक भार के जोड़ से हमेशा कुछ कम होता है। और यह भार का अन्तर क्लीबाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) की बन्धन शक्ति पर निर्भर करता है।

जितनी अधिक शक्ति से वे आपस में जुड़े होंगे उतनी ही अधिक भार में कमी होगी। क्षण भर के लिये सोचिये कि क्लीबाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) जो मिलकर केन्द्रक बनाते हैं उन अमीर आदमियों की तरह हैं जो संसार त्याग कर सन्यासियों का मठ बनने जायें, तो उस संस्था में सम्मिलित होने के पहले उन्हें अपना धन छोड़ना होगा। इसी प्रकार क्लीबाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) केन्द्रक में सम्मिलित होने में अपनी पदार्थ-मात्रा त्याग देते हैं। पदार्थ का लोप ही केन्द्रक की बन्धन शक्ति है।

लगभग ४५ वर्ष पहले आइन्सटाइन ने शक्ति और पदार्थ की समानता बतलाई थी। यदि एक ग्राम पदार्थ को पूर्णतः शक्ति में परिवर्तित कर दें तो क़रीब क़रीब २५० लाख किलोवाट घन्टे शक्ति के प्राप्त होंगे। इस शक्ति का अन्दाज़ यों किया जा सकता है कि दिल्ली का बिजली घर यदि १००० घन्टे चालू रक्खा जाये तो जितनी शक्ति वह पैदा करेगा इसके बराबर होगी। जिस समय केन्द्रक बनता है तो प्रत्येक क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) स्वतंत्र क्लीबाणु और प्राणु की अपेक्षा कुछ क्षीण होते हैं। यह पदार्थ की न्यूनता आइन्सटाइन के बताये हुये सिद्धान्त के अनुसार शक्ति का रूप धारण करती है।

अब प्रश्न उठता है कि क्लीबाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) को केन्द्रक में बन्धन से रखने वाली शक्तियाँ किस प्रकार की शक्तियाँ हैं। यह अभ्याकृष्टीय (ग्रेवीटेशनल) शक्ति नहीं हैं और न ही यह विद्युत् शक्ति है।

यह एक तीसरे प्रकार की शक्ति है और इस शक्ति की बड़ी ही अनोखी विशेषतायें हैं। यह कणों के बहुत ही निकट होने से उत्पन्न होती है। इस शक्ति के पैदा होने के लिये अधिक से अधिक कणों की दूरी एक इँच का एक लाख करोड़वाँ हिस्से से ज्यादा न होनी चाहिये। जब निकटता इससे भी अधिक हो तो

यह शक्ति भी अति प्रबल होती है और तीव्रता में किसी भी विद्युत् शक्ति से कहीं भी ज्यादा। पर यदि कणों की दूरी इससे जरा भी बढ़ जाती है तो यह शक्ति नगण्य हो जाती है। यह शक्ति सर्वदा आकर्षक होती है और लगभग जितनी दो क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के मध्य उतनी ही दो प्राणु (प्रोटोन) के मध्य और लगभग उतनी ही एक प्राणु (प्रोटोन) और क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के मध्य। सही तो यह कहना होगा कि एक प्राणु (प्रोटोन) और क्लीवाणु (न्यूट्रोन) में आर्कषण शक्ति थोड़ी अधिक होती है, और दो प्राणु (प्रोटोन) के बीच यह कुछ कम होती है क्योंकि इसमें विद्युत् की हटाव शक्ति भी लगी हुई है। केन्द्रक के भीतर के कणों की आकर्षण शक्ति का क्या असली रूप है यह वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के सामने बड़ा भारी प्रश्न है।

पिछले साल दो साल के दरमियान यह पता लगा है कि केन्द्रक के अन्दर क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) स्तरों में लगे हैं। जिन केन्द्रकों के अन्दर प्राणु (प्रोटोन) या क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की संख्या २, ४, २०, २४, ५०, ८२ या १२६ है उनके गुण दूसरे केन्द्रकों से किसी न किसी बात में एकदम विभिन्न होते हैं। इसलिये यह संख्यायें 'विशेष संख्याएँ' कहलाती हैं। इन संख्याओं को समझने के लिए केन्द्रक का प्रकवच अथवा स्तर वाला रूप बड़ी सहायता करता है। केन्द्रक के इस रूप का आधार ही यह है कि इसके भीतर के क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) फर्मी संख्यात के अधीन हैं। जो कण फ़र्मी संख्यात के अधीन पाये जाते हैं उन्हें "फ़र्मीयन" कहते हैं। वास्तव में प्रकृति के सारे कण दो वर्ग या दर्जों में बाँटे जा सकते हैं और इस विभाजन का बड़ा व्यावहारिक और सैद्धान्तिक महत्व है। एक वर्ग के कणों को "फ़र्मीयन" कहते हैं। यह नाम इटली के भौतिक वैज्ञानिक फ़र्मी के नाम पर पड़ा। यह आजकल अमरीका में हैं। और दूसरे वर्ग के कणों को बोसोन कहते हैं। यह नाम कलकत्ता विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान के आचार्य, श्री एस० एन० बोस के नाम पर रक्खा गया है। यह इस देश के लिये बड़े गर्व की बात है।

अब हम केन्द्रक के विखंडन की ओर ध्यान दें। यूरेनियम और इसी प्रकार के और भारी तत्वों के परमाणुओं के केन्द्रकों में इतनी अधिक प्राणु (प्रोटोन) की संख्या होती है कि वह केन्द्रक अस्थिर होने लगता है। यूरेनियम के केन्द्रक में यदि एक क्लीवाणु (न्यूट्रोन) प्रवेश कर जाये तो वह वहाँ पर बड़ी गड़बड़ी पैदा करता है और केन्द्रक में इतनी हलचल मचती है कि वह अपने कणों को दृढ़ स्थिर नहीं रख सकता और वह दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। और कभी कभी तीन में यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है। इस क्रिया को विखंडन कहते हैं। और इस क्रिया में दो तीन क्लीवाणु भी स्वतन्त्र हो भागते हैं। इसको एक प्रकार से और समझा जा सकता है।

जिस समय क्लीवाणु (न्यूट्रोन) किसी केन्द्रक में प्रवेश करता है तो वह उसको शक्ति प्रदान करता है और यह शक्ति केन्द्रक के कणों को बेहद गर्म कर देती है। उनका ताप क्रम बहुत ही ऊँचा हो जाता है लगभग दस खरब १०००००००००००° सी०। केन्द्रक इतना तप्त हो जाता है कि सारे ब्रह्माण्ड में उसके समान किसी का ताप नहीं होता। सूर्य्य के मध्य केन्द्र पर भी जो ताप होता है उसे इसके मुकाबिले में बर्फ़ीली ठंडक का स्थान समझिये। इस कारण केन्द्रक में बेहद हलचल मचती है। उसमें ऐंठन पड़ती है और उसका रूप बिगड़ता है और अन्त में उसका दो भागों में विखण्डन हो जाता है।

एक धीमे चलने वाला क्लीवाणु (न्यूट्रोन), यूरेनियम २३५ के केन्द्रक में प्रवेश करके उसका विखण्डन कर सकता है। पर यूरेनियम २३८ के केन्द्रक को

तोड़ने के लिये तेज चलने वाला यानी अधिक शक्ति-शाली क्लीवाणु (न्यूट्रोन चाहिये।

सूटोनियम का केन्द्रक भी धीमे चलने वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के आघात से टूट सकता है। ऐसे पदार्थों को जो अल्प वेग वाले क्लीवाणु(न्यूट्रोन से टूट जाते हैं विखण्डनीय (फ़िसाइल) पदार्थ कहते हैं। ऐसे पदार्थ तेज़ चलने वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) से तो तोड़े ही जा सकते हैं।

थोरियम जो अपने देश में बहुतायत से मिलता है विखण्डनीय पदार्थ नहीं है। यानी थोरियम का केन्द्रक केवल तेज चलने वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) से ही टूटेगा। धीमें चलने वाले से नहीं। विखण्डनीय और अविखण्डनीय पदार्थों का भेद परमाणु शक्ति पैदा करने में विशेष महत्व का है

अधिक शक्ति वाले क्लीवाणु न्यूट्रोन लगभग दस करोड़ इलेकट्रोन वोल्ट के क्लीवाणु (न्यूट्रोन) का प्रयोग करके 'भिधतु' विसमथ, 'पारा' (मरकरी), और स्वर्ण (गोल्ड) जैसे हल्के तत्त्व के परमाणु भी तोड़े जा सकते हैं।

प्रोमेथियस ने आकाश से अग्नि चुराई थी, किन्तु अग्नि रासायनिक क्रिया है और इस क्रिया में केन्द्रक कोई भाग नहीं लेता, केवल उसकी परिक्रमा करने वाले विद्युदणु (इलेकट्रोन ही भाग लेते हैं। बीसवीं शताब्दी का विज्ञान बहुत ही शक्ति शाली अग्नि लाया है। यह केन्द्रीय शक्ति की ज्वाला है। इसका उपयोग मनुष्यता और मनुष्य की सभ्यता को उस ऊँचाई पर ले जा सकता है जिसका कि ऋषि और मुनियों ने ध्यान किया है, पर जिसके साधन अभी तक नहीं थे।

—आ० इ० रे० के सौजन्य से

[पृष्ठ १४ का शेष]

जिसे हर्मिट-क्रैव कहते हैं। यह अपने साथ-साथ सी-एनी मोन नामक एक कीट को लिये लिये फिरता है। सी-एनीमोन के शरीर में से दीप्ति निकलती रहती है। इस दीप्ति का लाभ यह जोगी-केंकड़ा उठाता है। जोगी-केंकड़ा जो कुछ आखेट इस प्रकाश की सहायता से करता है, उसका थोड़ा सा बचा खुचा भाग सी-एनीमोन को भी देता है। इस प्रकार दोनों का जीवन एक दूसरे के सहारे चलता है।

जल-जन्तुओं के पास प्रकाश का यह विधान क्यों होता है, इसका आप कुछ अनुमान लगा सकते हैं। इससे कई लाभ हैं—पहला यह कि छोटे जल-जन्तु इस प्रकाश की सहायता से देख सकते हैं कि कोई बड़ा जलजन्तु उनकी टोह में तो नहीं बैठा हुआ है। दूसरा यह कि कभी-कभी जलजन्तु अपने प्रकाश की सहायता से दूसरे जलजन्तुओं को प्रलोभित कर लेते हैं। और जैसे ही वे इनके पास आये, इन्हें पकड़ कर हड़प कर डालते हैं। गहरे समुद्र में रहने वाले एंग्लर प्राणी प्रकाश का इसी प्रकार उपयोग करते हैं। तीसरा लाभ यह है कि इस प्रकाश की सहायता से जलजन्तु गहरे समुद्रों में अपना मार्ग निर्धारित करते हैं। चौथा लाभ कभी-कभी यह होता है, कि नरजन्तु मादाजन्तु को उसके प्रकाश की सहायता से पहिचानते हैं और परस्पर प्रकाश के सहारे अपनी विहार लीलायें करते हैं।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे बल्बों और दीपकों का तापक्रम इतना अधिक होता है कि शरीर जल जाय, पर इन प्राणियों के पास ठंढा प्रकाश होता है।

प्राणियों में सन्तान-प्रेम

ले० श्री० उमाशंकर श्रीवास्तव

मानव-प्राणी ही में केवल संतान-प्रेम नही होता बल्कि मानवेतर जन्तुओं में भी कुछ सीमा तक स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। उसी का उदाहरणों पूर्वक मनोहर विवरण लेखक ने इस लेख में दिया है।

सृष्टि के निरन्तर प्रवाह के लिये प्रकृति ने प्रत्येक जीव में अपनी जाति तथा कुटुम्ब के प्रसार के लिये मनोवृत्तियों का जन्म दिया है। वासना, विवाह अथवा सन्तान-प्रेम सभी इस प्रकार की मनोवृत्तियों से सम्बन्धित हैं क्योंकि इनका उद्देश्य वस्तुतः कुटुम्ब की रक्षा तथा वृद्धि है। मनुष्य-समाज में इन्हीं मनोवृत्तियों का अधिक संस्कृत रूप देखने में आता है किन्तु मौलिक भावनाएँ वे ही हैं।

मानव-शिशु जन्मोपरान्त बहुत काल तक दूसरों पर आश्रित रहता है। उसके भोजन, प्यास तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं के लिये माता-पिता तथा कुटुम्ब के अन्य जन देखरेख करते हैं। इस प्रकार क्रमशः बड़े होने पर वह शारीरिक आवश्यकताओं के लिये दूसरों पर कम से कम आश्रित रहता है। पर समाज की जटिलता के कारण उसको शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता होती है और तब एक निश्चित शारीरिक और मानसिक अवस्था तक पहुँच कर वह स्वतंत्र-रूप से जीवन-यापन करने के योग्य बनता है।

साधारण-जन के विचार में मनुष्येतर अन्य प्राणी भावना-शून्य होते हैं। यदि कोई मनुष्य सुरापान करने में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने परिवार की चिन्ता ही नहीं करता या अन्य दुष्कर्मों में लिप्त रहता है तो लोग उसे 'जानवर' की उपाधि प्रदान करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। वास्तव में जिन प्राणियों को हम अत्यन्त क्षुद्र समझते हैं उनमें भी सुन्दर-भावनाओं की अपूर्व झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। अन्य प्राणियों में भी बहुधा संतान के पालन-पोषण और उनके प्रीति प्रेम के अद्भुत उदाहरण देखने को मिलते हैं। आइए, हम ऐसे ही कुछ अनुपम दृश्यों की खोज में प्राणी जगत् की सैर करें। मनुष्य के निकटतम सम्बन्धी वानर-वर्ग से तो सभी भली भाँति परिचित होंगे। बन्दर अपने निवास के लिये घर नहीं बनाते और न घोंसलों का निर्माण करते हैं। कन्दराओं, गुफाओं, पेड़ों की सघन छाया या हमारे आपके घर—सभी उनके लिये अपने घर जैसे हैं। इस अवस्था में अपने शिशुओं की सुरक्षा का प्रश्न उनके समीप अधिक कठिन रहता है। वे उन्हें कहीं छोड़ कर नहीं जा सकते। फलतः जन्म के बाद से ही माता अपने बच्चे को सीने से लगाये रहती है। हमारी भाँति बन्दर के बच्चे भी जन्म के कुछ काल बाद तक केवल माता का दूध ही पी सकते हैं। अतः माता उन्हें छाती से लिपटाए अपने भोजन की खोज में स्थान स्थान घूमती-फिरती, उछलती-कूदती रहती है। कुछ बड़े होने पर माता-पिता तथा गिरोह के दूसरे बन्दर उसे अपने साथ रखकर उछलना-कूदना तथा 'वानरोचित'

अन्य क्रियायों की शिक्षा देकर दक्ष बना देते हैं।

बन्दर के ही समान कुछ अन्य दूध पिलाने वाले प्राणी भी अपने शिशुओं को अपने कलेजे से लगाए फिरते हैं। चमगादड़ के छोटे बच्चे तब तक अपनी मां के पेट से चिपके रहते हैं जब तक वे स्वयं अपने छतरी जैसे पंखों का उपयोग न कर सकें। ऐसी अवस्था में मां दिन भर पेड़ों की डालों से लटकी रहती है और रात होने पर डालों पर उचकती और कीड़ों-मकोड़ों का शिकार करती रहती है। चूहे, खरगोश, लोमड़ी आदि अपने बच्चों की रक्षा के लिये बिल बनाते हैं और समय-समय पर ही दूध पिलाते अथवा बाहर निकाल कर चलना-फिरना आदि सिखाते हैं। किन्तु ये उनकी रक्षा किस प्रकार जी-जान से करते हैं, सब को विदित है। उनकी तो बात ही छोड़िये, आपके घर में पली गाय या कुतिया भी शायद ही आपको अपने छोटे बच्चों के निकट पहुँचने दे।

इसी सम्बन्ध में आस्ट्रेलिया के विचित्र प्राणी कंगारू के विषय में कुछ कहना उचित होगा। यह विचित्र जानवर अपनी दो बड़ी पिछली टांगों से सरलता से चलता फिरता है। आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं की सहायता से यह बड़ी ऊँची उछालें भी मारता है। इसकी मादा के पेट में सामने की ओर एक बड़ी खुली थैली होती है जिसके भीतर माता के स्तन होते हैं। जन्म के समय कँगारू के बच्चे अत्यन्त छोटे-लगभग एक इंच लम्बे और अविकसित होते हैं—आँखें बन्द, रोंए नाम को नहीं और टांगे एक दम पतली और कमजोर। पैदा होने पर ये माता की घुमावदार पूँछ पर ढुलककर उसकी थैली में पहुँच जाते हैं और स्तन मुँह में दाब लेते हैं। स्तन मुँह के भीतर फूल उठता है जिससे बच्चा एक प्रकार से फंस जाता है। बस इसी अवस्था में वह महीनों थैली के भीतर पड़ा रहता है और धीरे धीरे बढ़ता है। कंगारू-माता बच्चे को थैली में डाले ही घूमती फिरती और उछलती-कूदती है। कुछ बड़े होने पर बच्चे थोड़ी-थोड़ी देर के लिये बाहर निकाले जाते हैं और थोड़ा-बहुत शिक्षण के बाद फिर थैली में डाल लिये जाते हैं। हृष्ट-पुष्ट होने पर ये सदा के लिये माता की थैली के बाहर कर दिये जाते हैं और स्वतन्त्र जीवन यापन करते हैं।

ये तो हुए बच्चे देने वाले प्राणियों के संतान-रक्षा के कुछ उदाहरण। अंडे देने वाले प्राणियों के भी अंडों-बच्चों की देखभाल के अनेक सुन्दर दृष्टान्त मिलते हैं। साधारणतः अंडे देने वाले प्राणी निचली श्रेणी के होते हैं। उनमें बुद्धि का विकास क्षीण होता है अतः उन्हें अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिये बहुत कुछ प्रकृति के ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है। बच्चों की रक्षा और विकास के लिये भी उनके प्रयत्न सीमित रहते हैं। इसलिये साधारणतः ये प्राणी गिनती में अधिक अंडे-बच्चे उत्पन्न करते हैं। अभिप्राय यह है कि अंडे इतने हों कि प्रतिकूल वातावरण में बहुतेरे अंडे बच्चों के नष्ट हो जाने पर भी कुछ कुटुम्ब बनाए रखने के लिये बच जांय। चिड़ियों के अंडे सेने और बच्चों के दुगाने से हम सभी परिचित हैं। कबूतर, मुर्गी आदि पालने वाले जानते हैं कि इनकी मादाएँ किस लगन के साथ इस काम को करती हैं। बहुधा नर चिड़ियां भी इस कार्य में हाथ बटाती हैं। अंडों के फूटने पर माता-पिता दोनों अपनी चोंचों में आहार भर कर लाते हैं और बेताबी से परखते हुये बच्चों को खिलाते हैं। घोंसले की चौकीदारी का काम अधिकतर नर करते हैं। मेरे एक मित्र के यहाँ पले हुये एक मुर्गे ने अंडों की लालच में दरबे की ओर जाने वाले कई लड़कों के सिर खोल दिये। यही नहीं, कुछ पक्षियों में संतान की सेवा-शुश्रूषा का अधिकांश भार नर ही अपने

ऊपर ले लेते हैं। शुतुर्मुग, किवी आदि चिड़ियों में पिता ही अंडों के सेने और बच्चे को पालने का काम करता है।

कुछ चिड़ियां अंडों के सेने में उतनी दत्तचित्त रहती हैं कि उनको इसकी भी पर्वाह नहीं रहती कि वे अपने ही अंडे से रही हैं या दूसरी चिड़ियों के। कौए और कोयल की कहानी प्रसिद्ध है। कोयल सदा अपने अंडे कौवों के ही घोंसलों में रखती है और कौए उसे अपने अंडों के समान सेते हैं।

पिता द्वारा संतान की देखरेख के कुछ बड़े अद्भुत उदाहरण मेंढकों की कुछ जातियों में मिलते हैं। "पाइपा" जाति के मेंढकों में माता अंडे देते समय ही उन्हें पिता की पीठ पर चिपका देती है। पिता तब तक उन अंडों को चिपकाए घूमता है जब तक उनसे तैरने वाले बच्चे नहीं निकल आते। चिली के एक मेंढक का ढंग और भी निराला है। इसको बहुधा "डार्विन का मेंढक" कहते हैं। इस जाति में माता जैसे ही अंडे देती है, पिता उन्हें निगल जाता है और अपने गले में स्थित एक थैली में जमा कर लेता है। अंडे इसी थैली में फूटते हैं और बच्चों को बढ़ने के लिये और भी स्थान की आवश्यकता होती है। फलतः थैली बढ़ती जाती है और धीरे धीरे सारे शरीर के ऊपर फैल जाती है। बच्चे जब तक बिल्कुल मेंढक की शक्ल के और फुदकने योग्य नहीं हो जाते इसी थैली में बने रहते हैं। ठीक अवस्था के होने पर ये थैली फाड़ कर बाहर निकल आते हैं।

कई जाति की मछलियां भी अपने अंडे-बच्चों की सुरक्षा का प्रबन्ध करती हैं। अंडे देने के लिये पानी में सिवार आदि के बीच घोंसले बनाती हैं और स्वयं उसके आसपास रहती हैं।

समुद्री-घोड़ा भी एक प्रकार की मछली ही है। इसकी लंबाई लगभग ४-६ इंच होती है और यह तेजी से तैर नहीं सकती। अधिकतर यह अपनी लंबी पतली पूँछ के सिरे को किसी बहती हुई चीज़ में लपेट लेती है और उसके सहारे स्वयं बहती जाती है। इस मछली में भी नर को अंडों की रक्षा का कार्य संभालना पड़ता है। इसके पेट में सामने की ओर एक गड्ढा होता है जिसमें मादा अंडे देती है। बाद को गड्ढा एक थैली की भाँति बन्द हो जाता है। अंडे जब तक थैली में रहते हैं, पिता के रक्त के द्वारा पोषित होते हैं—वैसे ही जैसे माता की कोख में भ्रूण पोषित होता है। अंत में बच्चे स्वयं तैरने के योग्य हो जाते हैं और थैली के बाहर आ जाते हैं।

निम्न श्रेणियों के कीड़ों मकोड़ों में भी संतान रक्षा के प्रयत्न बहुधा दिखाई पड़ते हैं। मधुमक्खियों की रानी अपने अंडों-बच्चों को बराबर चाटती है और उनको अपने पेट का पचा भोजन खिलाती है। बरसात का भय होने पर चींटियां अपने अंडों को अपने मुँह में दबाए एक जगह से दूसरी जगह सुरक्षित स्थान की खोज में घूमती हैं। कितने ही दूसरे कीड़े-मकोड़े अंडों-बच्चों के ही लिये छत्ते, बिल या घोंसले बनाते हैं। गुबरैले की जाति का एक कीड़ा 'पाइपा मेंढक' के ही समान अपनी पीठ पर अपने अनेक अंडों को चिपका लेता है और इस प्रकार शत्रुओं से उनकी रक्षा करता है।

वैज्ञानिक की डायरी

ले० श्री० सत्यप्रकाश

कतिपय वैज्ञानिक कौतूहल-वर्द्धक प्रसङ्गों का वर्णन रेडियम, एक्सरे आदि के रूप में इस लेख में लेखक ने साधारण पाठकों के लिये इस लेख में दिया है, जो सहज, बोधगम्य और मनोरञ्जक ढङ्ग से लिखा गया है।

हमारी यह सृष्टि कौतूहल से पूर्ण है। इन कौतूहलों और रहस्यों का उद्‌घाटन करना वैज्ञानिकों का काम है। संसार में यह कौतूहल विभिन्न श्रेणियों के हैं। मनुष्य को अनुभव के लिये पांच इन्द्रियां दी हैं—आंख, नाक, कान जिह्वा और त्वचा। इन पांचों से संवेदनाएं प्राप्त करके हम अपने ज्ञान का विकास करते हैं। संसार में जितने जन्तु और प्राणी हैं लगभग उन सब के यह इन्द्रियां होती हैं। पर इन इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य इन सब में भिन्न-भिन्न है। हमारे कान वे शब्द नहीं सुन सकते और हमारे कण्ठ से वे सब ध्वनियाँ नहीं निकल सकतीं जो कि चमगादड़ों के कान तथा कंठ से सम्बन्ध रखती हैं। कुत्ता अपनी घ्राणशक्ति अर्थात् सूँघने की क्षमता से जो कार्य कर सकता है वह हम नहीं कर सकते। जिन सूक्ष्म रसों के भेद को छोटे-छोटे कीट पतङ्ग समझते हैं, उन्हें हम नहीं समझ सकते। अँधेरे में तो हमारी आंख कुछ नहीं देख पाती पर हमारे परिचित बहुत से प्राणी ऐसे हैं जो कि अँधेरे में भी अपने नेत्रों से काम लेते हैं।

मनुष्य ने अपना काम सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश में प्रारम्भ किया। अन्धकार का समय उसने विश्राम करने और सोने का समय माना। आग का आविष्कार होने पर मनुष्य ने आग की मशालों से तथा छोटे-छोटे दीपकों से रोशनी करना सीखा। शनैः शनैः बिजली का आविष्कार हुआ और तरह तरह के विद्युत्दीप बने, जिनमें प्रतिवर्ष निरन्तर विकास होता आ रहा है। कहां तो मिट्टी के तेल से जलने वाले दिये और फिर मिट्टी के तेल से जलने वाली ढिबरियां और लालटेनें, गैस की हंडी, एसिटलीन गैस तीव्र ज्योति, टंग्सटन और कार्बन के जलने पर प्राप्त बल्बों का प्रकाश, जगमगाते हुये विभिन्न बल्बों के ट्यूबों की ज्योति और दूध सा प्रकाश देने वाले आज के युग के लम्बे लम्बे फ्लोरेसेंट लैम्प। यह सब वैज्ञानिक युग के विकास की मनोरञ्जक और रोमांचकारी कथा है।

मनुष्य ने अपना कार्य प्रकाश के इन साधनों से चलाया। हम आज की वार्त्ता में उन प्राणियों और जन्तुओं का उल्लेख करेंगे, जो अपनी दिनचर्या के लिये किसी दूसरे के प्रकाश के पराधीन नहीं हैं। जिनके शरीर में स्वयं ही प्रकाश का एक पुञ्ज है, जो ऐसे स्थान पर प्रकाश से जगमगाते हैं, जहां मनुष्य के बनाये हुये दीपकों का उपयोग सरल नहीं है। इनमें से कुछ जन्तु तो ऐसे हैं जो स्वेच्छा से उस समय अपनी रश्मियों का उपयोग करते हैं, जब उन्हें आवश्यकता होती है, अन्यथा अन्य समय पर वे अपने प्रकाश-पुञ्ज को सुरक्षित रखते हैं, मानों उनके

पास सूखी बैटरी से काम करने वाली कोई टार्च हो।

अन्धकार में स्वतः चमकने वाली कुछ चीजों से तो हम परिचित हैं। लोगों का कहना है कि अंधेरे में बिल्ली और शेर की आंखें चमकती रहती हैं। आप लोगों ने शायद फॉसफोरस का नाम सुना हो। हमारे श्रोताओं में से शायद कुछ ने फॉसफोरस देखा भी हो। फॉसफोरस दो प्रकार का होता है, एक तो लाल और दूसरा सफ़ेद या पीला। यह सफ़ेद या पीला फॉसफोरस पानी के भीतर रक्खा जाता है। पानी के ठण्डे तापक्रम पर ही इसमें से दीप्ति निकलती रहती है। अँधेरी कोठरी में फॉसफोरस की बोतल ऐसी जगमगाती है जैसे आग का दहकता अङ्गारा रक्खा हो। लाल फॉसफोरस में ऐसा नहीं होता। हमारी आजकल की दियासलाइयों में लाल फॉसफोरस का उपयोग होता है, पर आज से ४० वर्ष पूर्व इन दियासलाइयों में सफेद या पीले फॉसफोरस का प्रयोग किया जाता था। ये वे दियासलाइयां थीं, जिनकी तीलियों को कहीं भी रगड़ दीजिये, ये जलने लगती थीं।

इस परमाणु बम के युग में कौन ऐसा होगा जिसने रेडियम का नाम न सुना हो। इस रेडियम का आविष्कार मैडेम क्यूरी ने किया था। यह रेडियम धातु भी अँधेरे में चमकती है। इसमें से हलका सा प्रकाश निकलता है। क्या तुमने ऐसी घड़ियां देखी हैं, जिनकी सुइयों को आप घोर अँधेरे में भी देख सकते हैं। घड़ी के डायल पर लिखे घंटे और मिनटों के अङ्क आप अंधेरे में पढ़ सकते हैं। विज्ञापन वाले ऐसी घड़ियों का नाम रेडिंयो या रेडियम शब्दों पर रखते हैं, पर वस्तुतः इन घड़ियों में न तो रेडियम लगा होता है और न फॉसफोरस।

रसायनज्ञों ने अब बहुत से ऐसे पदार्थ बनाये हैं जो रात को चमकते हैं, जिनमें से अँधेरे में तरह तरह के रंगों की आभायें निकलती हैं। ये पदार्थ कुछ तो आसानी से ही तैयार किए जा सकते हैं। १०० भाग खड़िया या कैलसियम कर्बोनेट में ३० भाग पिसा गन्धक मिला कर बन्द बर्तन में एक घंटे तक लाल लाल दहकाओ। अब इसे ठंढा कर लो। अब इसमें बिसमथ नाइट्रेट मिला एलकोहल अच्छी तरह मिलाओ। १००० भाग खड़िया में एक भाग बिसमथ सॉल्ट होना चाहिए। इससे अधिक नहीं। अब सारे मिश्रण को हवा में सुखा लो और फिर दो घंटे तक लाल दहकाओ। ऐसा करने पर जो कैलसियम सलफाइड तुम्हें मिलेगा, वह अँधेरे में बैंजनी रंग का प्रकाश देगा। स्ट्रौंशियम सलफाइड से चटक हरे रंग की किरणें निकलती हैं, और बेरियम और स्ट्रौंशियम सलफाइडों के मिश्रण में सुनहरे रंग की। ये पदार्थ परम शुद्ध रूप में तो प्रकाश नहीं देते, पर यदि इनमें बिसमथ, ताँबा, सीसा,, मॉलिबडीनम, टंग्सटन या यूरेनियम के लवण सूक्ष्म मात्रा में मिले हों, तभी इनमें से प्रकाश निकलता है। इन पदार्थों की सहायता से ज्योतिर्मय या luminous पेंट अनेक कामों के लिए तैयार की गयी हैं, जिनका व्यवसाय बराबर बढ़ता जारहा है।

क्या तुम ने कभी डाक्टर के एक्स-रे के कमरे में प्रवेश किया है? एक्स-रे के द्वारा किसी हड्डी के टूटे होने की परीक्षा करते समय या फेफड़ों की परीक्षा के समय क्या एक्स-रे से चमकते हुये अंगों का चित्र आपने एक विशेष पट पर देखा है? आप यह तो जानते हैं कि एक्स-रे तो आँखों से देखी ही नहीं जा सकती। तो फिर डॉक्टर किस चीज़ से हड्डी आदि को देखता है। शायद तुम जानते हो कि उसके पास एक स्क्रान, पट या चौखटा होता है जिस पर एक मसाला लगा होता है। यह मसाला अँधेरे या उजेले में नहीं दिखाया पड़ता, पर अंधेरे कमरे में जब इस पर एक्स-रे पड़ती हैं, तो यह स्वयं चमकने लगता है, जैसे अँधेरे में फॉसफोरस चमकता है। बस इस

चमक के आधार पर ही डाक्टर लोग हमारे शरीर के रहस्यों को जान लेते हैं। तुम शायद अँधेरे में चमकने वाले इस मसाले का नाम जानना चाहो। वैसे तो ये कई प्रकार के होते हैं। पर इनमें से दो अधिक प्रसिद्ध हैं—एक को बेरियम प्लैटिनो सायनाइड कहते हैं, और दूसरे को कैलसियम टंग्सटेट।

अब हम उन जन्तुओं की ओर आते हैं जो रात में अपनी विचित्र रोशनी से हमें कौतूहल में डाल देते हैं। कभी-कभी बरसाती घोर अंधेरी रातों में आप अपनी दीवालों या जमीन के फ़र्श की ओर नजर डालें, तो शायद आपको कहीं रेंगती सी कोई ज्योति दिखायी पड़े। जिन बँगलों में हरियाली है, और पेड़-पौधे हैं, उनके घरों में ये चमकते हुये छोटे मोटे कीट अवश्य दिखायी दे जायेंगे, और बच्चे इनको बड़े उत्साह से देखते हैं। अगर ये कीट पकड़ में आगये, तो इनके साथ आप खेलवाड़ भी कर सकते हैं। इनमें से कुछ कीड़े बड़े चालाक होते हैं। अगर इन्हें आहट मिल गयी कि आप इन्हें पकड़ने आ रहे हैं, तो ये अपनी रोशनी को छिपा लेंगे। आप यदि पकड़लें, तो इनका चमकना बन्द हो जायगा। पर यदि आप फिर इन्हें स्वतंत्र छोड़ दें, तो स्वराज्य पाने पर ये फिर बड़े उत्साह से अपना प्रकाश चलते फिरते प्रदर्शित करेंगे।

अँधेरे में चमकने वाले कीटों में अग्निभृंग या फायरफ्लाइ और खद्योत या जुगनू तो प्रसिद्ध ही हैं। जैसे हमारे देश में जुगनू की महिमा है, उसी प्रकार अमरीका के उष्ण प्रदेशों में अग्निभृंग या ज्योतिर्मय मक्खे की। ये भृंग या मक्खे डेढ़ इंच लम्बे होते हैं और इनका विशेष भूरा रंग होता है। इनके कण्ठ के समीप अंडे की शकल के दो पीले पीले धब्बे होते हैं। रात को जब भृंग क्रीड़ा करते हैं, तो इन्हीं धब्बों में से प्रकाश निकलता है। इनके पेट के पास भी एक अँधेरे में चमकने वाली गोल रेखा होती है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि इन कीड़ों के अंगों से भी रात में चमकने वाली रोशनी होती है। यह रोशनी नम स्थानों में दो तीन दिन दिखायी पड़ती है। ज्योतिर्मय इन भृंगों के रहने के स्थानों को आप पीस डालें, तो उस चूरे में भी चमक मिलेगी। मरे भृंगों के शरीर को पीस डालें तो इस चूर्ण में भी चमक मिलेगी। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में गुप्तचरों को ऐसे अञ्जन लगाने का निर्देश किया है जिससे कि रात में देख सकें। ये अञ्जन जिन पदार्थों से बनाये जाते थे, उनमें से संभवतः कुछ ऐसे ही पदार्थ थे, जिनका सम्बन्ध ज्योतिर्मय इन भृगों से है।

इन भृंगों के रुधिर में ल्यूसिफरेज़ नामक एक सक्रिय प्रेरकाणु होता है। जब भृंग स्वांस लेता है, तो ऑक्सीजन की सहायता से यह ल्यूसिफरेज़ ऑक्सीकरण या उपचयन करता है। जिस पदार्थ का उपचयन होता है, उसका नाम तो ल्यूसिफेरिन रख लिया गया है, पर इस पदार्थ की पूरी जाँच भी रसायनज्ञ नहीं कर पाये हैं। जब यह भृंग सोता है, उस समय इसमें से बहुत हल्का प्रकाश निकलता है। पर जब यह मस्ती से विहार करता है और तेजी से साँस लेता है, उसी समय इसके शरीर में से निकला प्रकाश भी तीव्र हो जाता है। लोग अभी यह ठीक निश्चय नहीं कर पाये कि यह भृंग इस प्रकाश से क्या लाभ उठाता है।

मैक्सिको वाले लोग जुगनुओं के समान चमकने वाले कीटों को कुकुजोस (cucujos) कहते हैं। इनकी सहायता से बहुधा यात्रियों के प्राणों की रक्षा भी हो सकी है। अँधेरी रात में मैक्सिको के जंगलों में मौज करने वाले लोग इन कीटों को हाथ, कमर और पैरों में बाँध लेते हैं, और फिर इनकी रोशनी में नाचते, कूदते और खेलते हैं। इनसे अपने शरीर का या वासस्थान का शृंगार भी करते हैं। काँच

का एक गिलास इन कीटों से भर लिया जाय तो, इतना प्रकाश निकलेगा, कि उस रोशनी में आप पुस्तक पढ़ सकते हैं। इनके पकड़ने की रीति भी विचित्र है। मैक्सिको के आदिम निवासी डंडों के सिरों पर रोशनी जलाते हैं। इस रोशनी से आकर्षित होकर ये भृंग पास में आजाते हैं, और तब जाल में इन्हें फांस लिया जाता है। इन्हें जाली लगे बक्सों में रक्खा जाता है, और प्रतिदिन दो बार पानी में नहलाया जाता है। खाने को इन्हें गन्ना दिया जाता है।

जुगनुओं की दीप्ति का उल्लेख करना अपने देशवासियों के लिए व्यर्थ होगा, गावों के खेतों और विशेषतया जंगलों में अँधेरी रात में इनके झुंड के झुंड चमचमाते हुए कितने प्रिय लगते हैं। जुगनुओं में विशेष प्रकाश तब होता है जब मादा जुगनू नर जुगनू को देख पाती है। नर और मादा जुगनुओं में लगभग एक सा ही प्रकाश होता है, पर एक भेद भी है। नर जुगनुओं में चमचमाहट अधिक तीव्र गति से स्पन्दित होती है, पर स्पन्दन का समय थोड़ा होता है। मादा में प्रकाश की स्पन्दन की गति धीमी होती है, पर स्पन्दन काल अधिक होता है। नर-जुगनू-मादा जुगनू के प्रति आकर्षित होकर उत्साह से नाचने लगते हैं और तब इनके शरीर से निकला आलोक मनोमोहक होता है। मादा-जुगनू एक नर-जुगनू से ही सन्तोष नहीं करती, थोड़ी देर में आप देखेंगे कि एक मादा-जुगनू के चारों ओर बहुत से नर-जुगनुओं का समूह एकत्रित हो गया है। यह कल्पना की जाती है कि जुगनू के शरीर में ल्यूसिफेरिन नाम का एक पदार्थ होता है जो ल्यूसिफरेज प्रकाश या एञ्जाइम द्वारा प्रभावित होने पर यह प्रकाश विसर्जित करता है।

बहुत सी मछलियाँ मरने के बाद जब सड़ने लगती हैं, तो उनके शरीर से विशेष प्रकार का प्रकाश निकलने लगता है। अब यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि सड़न पैदा करने वाले बहुत से ऐसे कीटाणु हैं जो चमकते हैं। मछलियाँ जब सड़ती हैं, तो ये कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। ये कीटाणु अपनी क्रिया करते समय प्रकाश विसर्जित करते हैं। बहुत एलगी और फंगस अर्थात् वनस्पति जगत् की फँफूँदी भी हैं, जिनसे हलका सा प्रकाश होता है। ऑलिव अर्थात् जैतून के पेड़ की जड़ों के निकट ये एलगी चमचमाते हुये बहुधा देखे जाते हैं।

समुद्र के गहरे पानियों में रहने वाले बहुत से मगरमच्छ की जाति के प्राणी ऐसे हैं, जो अपने प्रकाश पुंज के लिए प्रसिद्ध हैं। समुद्र में सौ डेढ़ सौ गज नीचे प्रकाश इतना कम होता है कि इससे नीचे वनस्पतियाँ नहीं उग सकतीं। ३००-४०० गज़ नीचे दोपहरी के सूर्य की हलकी सी आभा भी कठिनता से ही पहुँच पाती है। पर आप जानते होंगे कि समुद्री जन्तु इससे नीचे भी गहरे पानी में रहते हैं। इन गहरे पानियों में रहने वाले सभी जन्तुओं में स्वत: प्रकाश उत्पन्न करने का कोई न कोई विधान होता ही है। आलोक से संबंध रखने वाले ये जन्तु मूँगा, मत्स्य, क्रस्टेशिया, स्टारफिश, कटलफिश आदि वर्ग के होते हैं। गहराई में पड़े बड़े जन्तु छोटे जन्तुओं का आहार करते हैं। इन छोटे जन्तुओं की टोह में चुपके से वे तैयार सधे रहते हैं। उनके पास कोड़े के समान एक तन्तु सामग्री होती है और उनके शरीर में टार्च के समान प्रकाश का एक प्रबन्ध रहता है। इस टार्च की सहायता से छोटी छोटी मछलियों का वे पता लगाते हैं। जैसे ही कोई छोटी मछली पास आयी वे कोड़ा फटकारते हैं। बेचारी मछली उस कोड़े की मार से बेसुध भी हो जाती हैं; और बड़े जल-जन्तु का आहार बन जाती हैं।

हिन्द महासागर में एक जोगी केंकड़ा होता है,

[शेष पृष्ठ ७ पर]

"रामानुजम्"

[ले० श्री० रमेश चड्ढा]

गणित जगत के अनुपम रत्न श्री रामानुजम् का नाम किस विज्ञान-प्रेमी ने न सुना होगा। विश्व-विद्यालयों की उच्च शिक्षा के अभाव में भी इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी गवेषणाओं से गणित जगत को चौंका दिया था और विदेशी विद्वानों द्वारा सम्मानित हुये थे। उनका ही संक्षिप्त मनोरञ्जक परिचय प्रस्तुत लेख में दिया है।

रवीन्द्र को भारत में सबसे अधिक प्रतिष्ठा उसी समय मिली जिस समय विदेश में उनकी कृतियों की उत्कृष्टता के कारण उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला। कहते हैं कि इस घटना से पूर्व की उपेक्षा और तदुपरान्त अपनी प्रतिष्ठा को देख कर स्वयम् रवीन्द्र को भी रोष हुआ था—यह देखकर कि भारतवासी विदेश में मान्यता-प्राप्त व्यक्ति को ही राष्ट्रीय सम्मान दे सकते हैं।

परन्तु रवीन्द्र का ही जीवन इस दिशा में एकाकी उदाहरण नहीं। भारत मां की कोख ने एक अन्य लाल को भी पैदा किया जिसे उसके अपने देश-वासियों ने कङ्कर-पत्थर समझ कर धूलि में फेंक दिया था। उसे भी धूलि से उठा कर रत्न की संज्ञा देने का श्रेय एक विदेशी को है।

उसी भारत-रत्न से आज हम अपने पाठकों को परिचित करवाते हैं---

'श्री रामानुजम्'

रामानुजम् के माता-पिता भारत की उसी विशाल जनता में गण्य हैं जो दोनों काल उदर पूर्ति मात्र से सन्तुष्ट हो जाते थे। इनके पिता तिंजोर जिले में एक कपड़े की दुकान पर मुनीम थे। बालक रामानुजम् ने सात वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ किया। स्कूल में वैसे तो साधारण बालकों में गण्य थे। पर कभी-कभी ये बुद्धि की ऐसी विलक्षणता दिखाते थे कि सबको अचम्भित हो जाना पड़ता।

एक समय इनके अध्यापक को कुछ सुस्ताने की सूझी—और इस आशय से कि विद्यार्थी खाली बैठे बैठे ऊधम न मचाएं उन्हें एक लम्बा सा योग का प्रश्न दे दिया '१ से १०० तक की सब संख्याओं को जमा करो।'

पर १० मिनट भी न गुजरने पाये थे कि एक विद्यार्थी ने उनके अवकाश में बाधा डाल दी। उसने अध्यापक के हाथ पर अपनी स्लेट रख दी। उत्तर निस्सन्देह ठीक था पर इस विद्यार्थी ने साधारण जोड़ का तरीका न अपना कर, एक गणितीय सूत्र का प्रयोग किया जिसका ज्ञान केवल कालेज के विद्यार्थियों को ही होता है।

जी हाँ, यह विद्यार्थी रामानुजम् ही था। अध्यापक महोदय इस विलक्षणता को देख कर अचम्भित हो गये। रामानुजम् को इस सूत्र का ज्ञान किसी पुस्तक के पढ़ने से हुआ होगा, ऐसा मानने का कोई

कारण नहीं। तो फिर क्या उसकी प्रतिभा दैवी थी ?

यह विलक्षणता रामानुजम् ने केवल गणित के विषय में ही प्रदर्शित की। हाई स्कूल के दिनों में भी, बैठे बैठे वह गणित की अनेक जटिल समस्याओं के समाधान खोज निकालते। निस्सन्देह यूरोप के विद्वान भी इनमें से अधिकांश: समस्याओं को हल कर चुके थे। पर रामानुजम् को कभी इनकी कृतियाँ पढ़ने का संयोग न हुआ था - उस जैसे निर्धन बालक के लिये इन बहुमूल्य पुस्तकों को खरीदना एक असम्भवता थी। इसके अतिरिक्त प्रश्नों को हल करने के तरीके भी विदेशी विद्वानों के तरीकों से सरल परन्तु विचित्र-स्वच्छन्द तरीके थे।

अध्यापक गण चकित हो जाते यह प्रतिभा देख कर! यह नहीं कि रामानुजम् अपनी प्रतिभा से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत वे भी शायद अनुभव करते थे कि विषय विशेष में यह प्रतिभा एक दैवी देन है। अतएव गणित की नयी-नयी समस्याओं के हल खोजने में वे सर्वदा संलग्न रहते, अन्य विषयों को वे प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखते। १९०३ में मैट्रिक पास करने पर आपको छात्रवृत्ति मिली। पर गणित से एकाकी प्रेम के कारण वे ग्यारहवीं कक्षा में अनुतीर्ण हो गए और उनकी छात्रवृत्ति बन्द हो गई।

इनके दिल को धक्का लगना स्वाभाविक ही था: परिणाम स्वरूप एक वर्ष के लिये ये पढ़ाई को जारी न रख सके। इस वर्ष भी उपस्थिति अपूर्ण होने के कारण ये यूनिवर्सिटी की परीक्षा में न बैठ सके। दो वर्ष पश्चात् प्राइवेट तौर पर उन्होंने परीक्षा देने का प्रयास किया पर उत्तीर्ण न हो सके।

इसी बीच इन पर एक और उत्तरदायित्व आ पड़ा। १९०९ में - अर्थात् १९ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया। गृहस्थ धर्म के अनुरूप अपनी प्रवृत्तियों को तिलाञ्जलि देकर इन्हें जीविका उपार्जन का कोई साधन ढूंढ़ना पड़ा। नौकरी भी मिल गई मद्रास पोर्ट ट्रस्ट में: ४० रु० की क्लर्की।

देश की विकृत शिक्षा प्रणाली ने इनका दिल तोड़ दिया, किस्मत ने साथ छोड़ दिया, परिस्थितियों ने बाधित किया कि वे गणित में अनुसन्धान की उच्च आकांक्षा को त्याग कर एक मामूली शिक्षित युवक के समान क्लर्की की कलम चलाएँ परन्तु ...... "लागि लगन छूटै नहीं।"

कई बार कलम चलाते-चलाते रामानुजम् सोचने लगते—"क्या मैं इसी निकृष्ट काम के लिये उत्पन्न हुआ हूं?" और तत्क्षण अन्तरात्मा उत्तर देती— "नहीं—कदापि नहीं ...... परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने का यह अर्थ नहीं कि मैं प्रतिभाहीन हूँ .."

नहीं कदाचित् नहीं। अवकाश के समय रामानुजम् ने, आँख बचा कर लुके-छिपे—गणित की समस्याओं से जूझने की आदत बना ली लेकिन ...

एक दिन वे पकड़े गए उनके साहब ने—जो कि अंग्रेज थे—उनकी मेज की दराज टटोली तो उन्हें कुछ ऐसे कागज मिले जिनका दफ़्तर के काम से कोई सम्बन्ध न था। हाँ—इन पर गणित के संकेतों और साम्यों के अतिरिक्त कुछ न था।

साहब गणित के विद्वान थे। वे जानते थे कि रामानुजम् एफ० ए० में भी उत्तीर्ण न हो सके थे पर इन कागजों पर जिन समस्याओं की नाप तोल की गई थी वे अत्यन्त उच्च कोटि के गणित से सम्बद्ध थीं। यही नहीं, उनमें से अधिक मौलिक अनुसन्धान थी। साहब ने कागजों को लपेट कर अपने हाथ में थामा और रामानुजम् के मुख पर एक प्रश्नात्मक दृष्टिपात किया—"क्या यह युवक क्लर्की की निकृष्ट कुर्सी पर ही बैठने के योग्य है?"

"नहीं" उनकी सहृदयता ने उत्तर दिया। और साहब सोचने लगे कि इस भारतीय का सदुपयोग

कैसे हो सकता है—उसी भारतीय का, जिसे अपने ही देश और देशवासियों ने "असफल विद्यार्थी" घोषित करके क्लर्की की निकृष्ट कुर्सी पर पटक दिया।

× × ×

प्रो० जी० एच० हार्डी इंगलैण्ड के प्रख्यात् गणितज्ञ थे—विशेषकर "अंक सिद्धान्त" नाम के गणित के एक अंग के। रामानुजम् के काम का भी सम्बन्ध इसी अंक सिद्धान्त से था। अतएव उनके साहिब ने, उन कागजों को जो उन्हें रामानुजम् के मेज की दराज से प्राप्त हुए थे, इन्हीं प्रो० हार्डी के पास भेजा। इंगलैण्ड के इस लब्धप्रतिष्ट गणितज्ञ ने इन कागजों का अनुशीलन किया और अनुशीलन के पश्चात् आश्चर्यचकित रह गये। "ऐसी प्रतिभा और यह अवस्था" उन्होंने अविलम्ब परामर्श भेजा कि रामानुजम् का भारत में रहना एक मौक्तिक का सीप के उदर में बन्द होकर समुद्र की सतह पर पड़ा रहने के तुल्य है जहाँ उसकी कुछ भी कदर नहीं।

सलाह होने लगी रामानुजम् को इंगलैण्ड भेजा जाए। पुरातन विचारों के सम्बन्धियों ने विरोध किया भी परन्तु रामानुजम् की इच्छा विदेश जाने की थी। अतएव यह अवरोध तो किसी प्रकार दूर हुआ। एक दूसरी अड़चन धन की थी परन्तु इस कठिनाई को भी एक छात्रवृत्ति द्वारा दूर किया गया। इस प्रकार एक विदेशी के सानुकम्प प्रयासों से रामानुजम् के लिये विदेश जाना सम्भव हो गया। इंगलैण्ड में वे प्रोफेसर वाटसन, प्रो० हार्डी तथा मोर्डल के संपर्क में आए। यह सम्पर्क उनके जीवन का एक नूतन आलोक था। मद्रास में अपने सीमित क्षेत्रों में रह कर उनके लिये यह भी जानना असम्भव था कि गणित में क्या-क्या प्रगति हो रही है और किस दिशा में। अपनी ओर से किये गये अनेक मौलिक आविष्कार भी—बाद में उन्हें ज्ञात हुआ—पहिले ही अन्य विद्वानों के नाम से, प्रकाशित हो चुके थे। इस प्रकार अपनी शक्तियों को केन्द्रित करके और उन्हें उपयोगी दिशा में लगाना, श्री रामानुजम् के लिये अधिक सुगम हो गया। तथाच उक्त गणितज्ञों ने जिस आत्मीयता से इनका पथ-प्रदर्शन किया, तथा जिस उदारता से उन्हें प्रमुख गणितज्ञों में प्रतिष्ठा पाने में सहायता दी, उसके लिये भारतीय सदा इन विदेशियों के कृतज्ञ रहेंगे, क्योंकि इसी व्यवहार द्वारा एक भारतीय का संसार भर के गणितज्ञों में, अद्वितीय प्रतिभा का पाना सफल हो सका। लगभग तीन वर्ष तक रामानुजम् अपनी दैवी प्रतिभा से अपने इन नये मित्रों को प्रभावित करते रहे। इसी बीच प्रो० हार्डी ने, इंगलैण्ड की रायल सोसायटी के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि श्री रामानुजम् को भी इसका "फ़ैलो" निर्वाचित करना चाहिये।

"फ़ैलो आफ़ दी रायल सोसायटी' एक स्पृहनीय सम्मान था तथा किसी भारतवासी को इसके प्राप्त करने का सौभाग्य न मिला था। अतएव रायल सोसायटी के तात्कालिक कर्णधारों ने इस प्रस्ताव को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। इनमें से अनेक तो रामानुजम् के केवल भारतीय होने के कारण ही इस प्रस्ताव को अंगीकार करने में संकोच करते थे। प्रोफेसर हार्डी को अपने देशवासियों की यह मनोवृति देखकर बहुत रंज हुआ। वे एक न्यायप्रिय तथा सत्यनिष्ठ पुरुष थे तथा अपने महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव के प्रति इस अकारण उपेक्षा को सहन न कर सकते थे। उन्होंने प्रकट किया कि यदि उनका प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ तो वे रायल सोसायटी से त्यागपत्र दे देंगे।

प्रोफेसर हार्डी की इस सत्यनिष्ठा का परिणाम यह हुआ कि रामानुजम् के विरुद्ध भावनाएँ शिथिल पड़ गईं और वे भी रायल सोसायटी के सदस्य निर्वाचित हो गये। परन्तु इस प्रकार के सम्मानों का आस्वादन करते रहना रामानुजम् के भाग्य में न था। ३३ वर्ष की अल्पायु में ही उनका इंगलैण्ड में देहान्त हो गया।

उनके देहान्त का कारण भी उल्लेखनीय है। मद्रासी तात्कालिक पुरातन धार्मिक परंपरा के अनुकूल रामानुजम् भी पूरे धर्मनिष्ठ थे। विदेश में रह कर भी दैनिक दिनचर्य्या तथा धार्मिक अनुज्ञाओं का उल्लघंन उन के लिये असम्भव था। इंगलैण्ड के कठोर शीत में भी वे अब्राह्मण के हाथ का भोजन न खा सकते थे। पर विदेश में मनोवांछित ब्राह्मण मिलता कहाँ से ? अतः उन्हें स्वयम् ही केवल एक मात्र धोती पहन कर अपने लिये भोजन तैयार करना पड़ता और यह भी इंगलैण्ड के कठोर शीत में !

मद्रास जैसे गर्म देश का वासी इस अस्वभाविकता का कब तक सामना कर सकता था ? तीन वर्ष के अन्त में रामानुजम् को अपनी धर्मनिष्ठा के कारण प्राणों से हाथ धोने पड़े।

अनेक आलोचक रामानुजम् की इस निष्ठा को धर्मान्धता कहते हैं। पर यदि रामानुजम् की मानसिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो उनकी धर्मनिष्ठा अत्यन्त स्वभाविक प्रतीत होगी। उनकी अपनी अनुभूति थी कि उनकी प्रतिभा का श्रेय "नम्माकाल" नाम की एक देवी को था जिसके वे परम भक्त थे। गणित की जटिल समस्याओं का हल उन्हें स्वप्नावस्था अथवा अन्यथा अचेतनावस्था में मिला। उनका विचार था कि इस अवस्था में यही देवी उन्हें दर्शन देकर उनको समस्याओं का सुझाव प्रकट करती थी।

प्रातः काल उठकर प्रायः वे स्वयम् गतरात्रि में प्राप्त उत्तरों को विधिपूर्वक प्राप्त करने का यत्न करते। पर दुर्भाग्यवश उन्हें कुछ प्रयासों में असफल रहना पड़ता। वे स्वयम् अंगीकार करते कि "भव्या नम्माकाल" देवी की प्रेरणा से वे उत्तर तो जान जाते परन्तु समस्याओं का हल जानने में अपनी यदा कदा की असफलता उनकी ससीम बुद्धि के कारण थी।

भारत के रूढ़िगत धर्म के अनुयायी होते हुए भी वे सभी धर्मों को समान मान्यता देते थे। वार्तालाप में भी वे भव्य तथा मधुर भाषी थे। प्रोफेसर हार्डी ने उनका स्मारक ग्रन्थ लिखते हुये प्रकट किया कि उनके संपर्क में रहने या उनके साथ बैठ कर चाय की चुस्की लेने में विशेष आनन्द आता।

३३ वर्ष की अल्पायु में भी रामानुजम् ने, गणितज्ञ के रूप में जो प्रतिष्ठा पाई वह वास्तव में आश्चर्यजनक थी। इससे न केवल अपना बल्कि अपने देश का नाम भी आलोकित कर गये।

उपर्युक्त लेख प्रकट करता है कि रामानुजम् की विलक्षण बुद्धि को नष्ट होने से एक विदेशी ने बचाया। पर रामानुजम् का जीवन—हमारा दृढ़ विश्वास है इस प्रकार का एक मात्र उदाहरण नहीं। न जाने कितने रामानुजम् कल तक—और आज भी—अपनी प्रतिभा को प्रकट करने के लिये उपयुक्त परिस्थिति तथा प्रोत्साहन न पाकर अलक्षित ही रहे और रह रहे हैं। इस प्रकार भारत न जाने कितने वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार, कवि तथा विद्वान् खो चुका है और खो सकता है।

नव भारत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उच्च पदासीन देखने के इच्छुक राजनीतिज्ञों के लिये रामानुजम् का जीवन एक प्रबल चुनौती है। किसी देश की महत्ता का आधार कतिपय महान् विभूतियाँ ही हुआ करती हैं। यदि राष्ट्र जागरूक तथ सचेत हो तथा होनहार पौदों को फलने फूलने का उपयुक्त अवसर मिले तो सम्भव है इस दिव्य देश में नित्य प्रति टैगोर, सुभाष, रामानुजम् तथा रमन जैसे देश उन्नायक उत्पन्न होकर पनपें। इसके लिये वांछित यही है कि युवकों को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का उचित अवसर मिले तथा सप्रतिभ व्यक्तियों को समाज मेंसम्मान।

समाज रामानुजम् के विषय में प्रथम कर्तव्य की पूर्ति तो न कर सका। उसका प्रायश्चित यही है कि समाज आने वाली पीढ़ियों के साथ यह उपेक्षा भूल कर भी न करे।

हाथी की पूर्व-पीढ़ियाँ

ले०—जगपति चतुर्वेदी

विलुप्त जन्तुओं की कथा विज्ञान का एक कौतूहलजनक प्रसंग है। प्रस्तुत लेख में हाथियों की विलुप्त पीढ़ियों का विशद विवरण दिया गया है।

हाथी हमारे युग का सब से बड़ा थलचर प्राणी है। अन्य प्राणियों में ह्वेल ही इस को आकार में लज्जित कर सकता है। हाथी के वृहद् आकार की अपेक्षा सूँड़ एक विशेषता है जिसका सानी हमें आज के जन्तु-जगत में नहीं मिलता। हाथियों की नस्ल एक तो हमारे देश, ब्रह्मा और श्याम आदि एशियाई देशों में मिलती है और दूसरी नस्ल अफ्रीका में पाई जाती है। अफ्रीका का हाथी भारतीय हाथी से अधिक विकराल रूप का होता है। उसके एक दाँत की लंबाई १० फीट से भी कुछ अधिक पाई गई है और उसका तौल २२८ पौंड है किन्तु इतने बड़े दाँत के अफ्रीकीय हाथी के डील-डौल का उल्लेख प्राप्त नहीं है। हो सकता है वह १२,१३ फीट तक ऊँचा हो। यों ११ फीट तक ऊँचे हाथी पाए जाते हैं। एक छोटे डील-डौल का भी हाथी अफ्रीका में पाया जाता है। किन्तु हाथियों को पालतू बनाने का श्रेय भारत आदि एशियाई देशों को ही है। अफ्रीका का हाथी जंगली होता है। इसी कारण हमारे देश से हाथी के बच्चे भेंट स्वरूप दूसरे देशों को भेजे जाते रहने का संवाद सुनाई पड़ता रहता है।

हाथी के सूँड़ की विचित्र कथा हैं। एक मनचले विदेशी साहित्यिक ने तो यह कल्पना की कि कोई हाथी का बच्चा पानी पीने कहीं नदी के किनारे गया। उन दिनों तक हाथी के सूँड़ नहीं होती थी। हाथी के बच्चे का मुँह पानी में पहुँचते ही मगर ने उसके ऊपरी ओठ को पकड़ लिया। दोनों में खूब खींचतान प्रारम्भ हो गई। हाथी के बोझ को खींच सकना शायद मगर के लिये असंभव हुआ लेकिन इसी खींचतान में ओठ लंबा हो गया। वही उसके वंश में सूँड़ हुआ, किन्तु ऐसी मनगढ़ंत कथाओं से कोई तत्व नहीं निकल सकता। वैज्ञानिक ढंग से हाथी के सूँड़ की उत्पत्ति या उसके मुख की बनावट का जो मंतव्य निश्चित किया गया है, वह बड़ा कौतूहल-वर्द्धक है।

यदि आप बुलडाग के मुँह की दूसरे कुत्तों के मुँह से तुलना करें तो आप को ज्ञात होगा कि अन्य कुत्तों का लंबा चेहरा बुलडाग में चपटे चेहरे के रूप में हो गया है। उसके चेहरे या खोपड़ी का सामने का भाग सपाट खड़ा सा है। ऐसा हुआ होगा कि बुल-डाग के पूर्व वंश में वैसे लंबे चेहरे होते होंगे लेकिन वे आगे से चपटे होते जाकर खड़े सपाट चेहरे के रूप में हो गये। हाथी के चेहरे में मस्तक की हड्डी खड़ी दीवाल की तरह दिखायी पड़ती है। अन्य जानवरों का मुँह इस तरह खड़ी दीवाल की तरह चपटा नहीं होता। इसके साथ ही हम यदि हाथी के दाँतों की परीक्षा करें तो विचित्र बात ज्ञात होगी। उसके सामने

के कुल दो दांत बाहर लंबे दांतों के रूप में निकले दिखाई पड़ते हैं। इन दो के अतिरिक्त भीतर की ओर केवल एक या डेढ़ चर्वणक या चहू का दाँत दोनों ओर जबड़े में होता है। डेढ़ दांत कैसे हो सकता है, इसकी व्याख्या करनी पड़ेगी। जब तक हाथी का बच्चा छोटा रहता है, उसके मुँह में प्रारम्भिक अर्थात दूध वाले तीन दांत दोनों ओर जबड़े में होते हैं। द्वितीय वर्ष से पन्द्रह वर्ष की आयु तक यही दाँत रहते हैं। फिर इनका लोप हो जाता है और इनकी जगह तीन असली चर्वणक या चवाने वाले दाँत आने का प्रयत्न करते हैं लेकिन इनमें एक बार में एक ही दाँत उत्पन्न होता है। जब वह डाल, पत्ती चबाते-चबाते घिस कर नष्ट हो जाता है तो उसकी जगह दूसरा दाँत ले लेता है। वह भी दस वर्ष में जब घिस कर नष्ट हो जाता है तब तीसरा दांत अकेले उसकी जगह आ जाता है। कभी-कभी इन असली दाँतों के घिस कर नष्ट होने और उनकी जगह दूसरे नये दाँत के आने का कार्य साथ-साथ ही होता रहता है। इसलिये एक के पूरी तरह से घिस कर नष्ट न हो चुकने और दूसरी के पूरी तरह आ न जाने के कारण डेढ़ दाँतों का होना कहा जा सकता है। हमारे स्थलचर जन्तुओं के इतने बड़े जन्तु के मुँह के लिये एक या डेढ़ से अधिक भारी दाँत को जबड़े में एक ओर स्थान देना कठिन हो सकता है इसलिये दाँतों की इतनी न्यूनता होती है। इस तरह चबाने के कुल चार या छः और दिखाने वाले दो दाँत मिला कर कुल छः या आठ दाँतों का गजराज वराह की ४४ आदर्श दन्तावली का सामना नहीं कर सकता। उसके पूर्व वंशों में इस आदर्श दन्तावली के कुछ अधिक दाँत होते रहे होंगे, यहाँ तक कि अधिक पूर्व के वंश में वे सभी दाँत लगभग पूर्ण संख्या में होंगे।

हमें दाँतों की न्यूनता और चेहरे में साधारण पशुओं के थूथन की लम्बाई का अभाव जैसा आधुनिक हाथी के वंश में दिखाई पड़ता है, उसमें कुछ परिवर्तन या मूलरूप के आदर्श की ओर झुकाव एक हाथी की ऐसी नस्ल में मिलता है जो 'मेस्टोडोन' या मैमथ नाम से पुकारा जाता है। इस नस्ल के अवशेष कई देशों में पाए जाते हैं। इस विलुप्त जाति के हाथी में दो या तीन चर्वणक दाँत पाए जाते हैं।

आधुनिक हाथी के चर्वणक या चबाने वाले दाँत में एक और बात देखते हैं। भारतीय जाति के हाथी के चर्वणक दांत के शिखर या ऊपरी तल पर कूटे हुए सिल की भाँति चौड़ाई में आरपार ऊँचे ऊँचे मेड़नुमा लंबे अर्बुद या उभाड़ होते हैं। ये उभड़े तल पतले होने से भारतीय हाथी में तो एक चर्वणक दाँत में २७ तक पाए जाते हैं लेकिन अफ्रीकीय हाथी के प्रत्येक चर्वणक दाँत में ११ ही होते हैं। डालों व जड़ों आदि को हाथी दाँत के इन उभरे तलों से ही कुचल डालता है और ये धीरे धीरे घिसते जाते हैं। जंगली सूअर के चहू के दांतों में हम २, ३ उभड़े तल ही देखते हैं, इसलिए अफ्रीकीय हाथी को हम भारतीय हाथी की अपेक्षा इस आदर्श रूप के कुछ निकट पाते हैं। मेस्टोडोन के अवशेष में हम चर्वणक दाँत के उभरे तल २ से ५ तक पाते हैं। इसलिए वह आदर्श के विशेष निकट है। दो या तीन बड़े बड़े चर्वणक या चहू के दाँत होने के कारण इसके जबड़े भी कुछ लंबे होते हैं। इस कारण जहाँ आधुनिक हाथी अपने बुलडाग की भाँति सिकुड़ी और खड़ी दिवाल की खोपड़ी होने के कारण एक ही चहू का बड़ा दाँत रख सकता है वह कुछ अधिक फैले स्थान में दो तीन बड़े बड़े चहू के दाँत जबड़े में दोनों ओर रख पाता है। किन्तु क्या यह चेहरा लंबा होने और अधिक चर्वणक दाँतों के स्थान होने का क्रम कुछ और पुरानी पीढ़ियों में देखा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर मेस्टोडोन के कुछ पूर्व समय के अवशेष देते हैं जो उससे नीचे की पहले की शिलाओं में

पाए जाते हैं। यह शिलाएँ 'मिश्रोसीनी' काल की हैं जिनकी आयु आज से ३ करोड़ वर्ष पूर्व से लेकर एक करोड़ ३ लाख वर्ष है। ये धरातल से ४५० फीट नीचे से प्रारंभ होकर १४५० फीट की गहराई तक पाई जाती हैं अर्थात् इनकी कुल मुटाई १००० फीट होगी। इस काल की शिला में मिलने से वे अवशेष "मिश्रोसीनी मेस्टोडोन" कहलाते हैं। ऊपर की शिलाओं में धरातल से २०० फीट गहराई तक वर्तमान और प्लीस्टोसीनी तथा उससे भी नीचे २५० फीट मोटी सिश्रोसीनी शिलाएँ हैं। आज से एक करोड़ बीस लाख वर्ष पहले ये सभी निर्मित हो चुकी थीं।

वर्तमान (रीसेंट) और सिस्टोसीनी तहों की आयु अधिक से अधिक बीस लाख वर्ष होने और उससे भी नीचे की तह सिश्रोसीनी के उनसे भी एक करोड़ बीस लाख वर्ष पुराने होने से हम इन तहों में मिलने वाले मेस्टोडोनों के 'अवशेष' एक करोड़ तीस लाख वर्ष तक की आयु के समझ सकते हैं। यह कितना लं ा समय है और ऊपर बताया हुआ उनके चेहरे का आकार व दाँतों की संख्या में परिवर्तन इतने अधिक काल में हुआ, यह कोई विस्मय की बात नहीं मालूम पड़ती। अतएव जब हम एक करोड़ ३० लाख वर्ष से भी पूर्व ३ करोड़ वर्ष पहले तक बनी 'मिश्रो-सीनी' काल की शिलाओं में मिलने वाले हाथी के अवशेष में पाए जाने वाले विचित्र रूपों के प्रमाण सहित उल्लेख पढ़ते हैं तो कुछ भी अधिक आश्चर्य की बात नहीं है।

पहले हम यह बता देना चाहते हैं कि ऊपर बताए दो नमूनों के चेहरों में अल्पायु हाथी में कुछ विशेषता देखी जाती है। आजकल के हाथी के बच्चे का चेहरा प्रारंभ में कुछ लंबा पाया जाता है किन्तु उसके सयाने होने पर वर्तमान रूप हो जाता है। इसी तरह मेस्टोडोन के बच्चे हाथी में नीचे के जबड़े में केवल एक जोड़ा आगे के दांत दिखाई पड़ने का प्रमाण मिलता है जो सयाने होने पर लुप्त हो जाते हैं इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें 'मिश्रोसीनी' मेस्टोडोन के अवशेष में बाहर निकले हुए लंबे लंबे अगले दाँत नीचे और ऊपर दोनों जबड़ों में प्राप्त होते हैं। हम ऐरावत हाथी में सात सूंड़ होने की पौरा-णिक कथा तो सुनते हैं किन्तु यह चार बाहर निकले लम्बे लम्बे दाँतों और उनके ऊपर एक सूंड़ वाले विचित्र रूप के चेहरे का साक्षात दर्शन उनके अवशेषों में किया जा सकता है। ऐसे अवशेष जर्मनी और फ्रांस में प्राप्त हुए थे। इनका अवशेष पेरिस के संग्रहालय में देखा जा सकता है।

इस मिश्रोसीनी मेस्टोडोन का नीचे का जबड़ा असाधारण रूप से लम्बा है जिसमें दो लम्बे बाहर निकले दाँत लगे हैं। इन समानान्तर दोनों दाँतों के ऊपर ऊपरी जबड़े के लम्बे बाहर निकले दाँत कुछ नीचे की ओर सिरे पर झुके हुए होते हैं। इस हाथी का नाम 'टेट्राबेलोडोन' भी रक्खा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस हाथी का सूँड़ स्वतन्त्र आधार पर लटका न रह कर नीचे के जबड़े के दाँतों के ऊपर ठहरा रहता होगा। यह हाथी का बढ़ा हुआ ऊपरी ओठ ही है जो हम सूँड़ रूप में आज देखते हैं। किसी युग में जब दोनों जबड़ों के लम्बे होने और दोनों में दो दो दाँत निकले होने से हाथी को मुँह कुछ बाधा अनुभव करने लगा तो ऊपरी ओठ शायद इतना लम्बा हुआ जिसमें नाक भी लगी थी। पहले वह निचले दाँतों के आधार पर रहता था। बाद में जब कुछ परिवर्तन होने से निचला जबड़ा छोटा हो गया और इसमें दाँत का भी अभाव हो गया तो आवश्यकतानुसार वही ऊपरी ओठ मोटे आकार में हाथी का मुख्य अङ्ग हो गया जो पानी पीने, मुँह में चारा पहुँचाने, डाल आदि तोड़ने, शत्रु को भगाने और साँस लेने आदि का आधार हुआ। ऊपरी जबड़े

या खोपड़ी के लम्बे रूप से धीरे धीरे छोटा बनने का कारण भी यह सूँड़, उसका निरन्तर काम में लगे रहना और निचले जबड़ों का सिकुड़ कर छोटा होना हुआ।

हाथी के वंश वृक्ष का अधिक रहस्य खोलने वाली बड़ी महत्वपूर्ण खोज डा० सी० डबल्यू० एंडरूज की हैं जो इङ्गलैंड के प्रमुख संग्रहालय ब्रिटिश म्यूजियम के एक अधिकारी और रायल सोसाइटी के सदस्य थे। वे अवकाश लेकर मिस्र देश में स्वास्थ्य लाभ के लिये गये थे। वहां उनको कोई खोज करने वाला उनके स्वदेश वासियों का दल मिला। विद्या-व्यसन और खोज वृत्ति के कारण वे भी दल में सम्मिलित हो गए। नगरों से दूर घोर सुनसान रेगिस्तान में इनका पड़ाव एक स्थान पर पड़ा जहाँ किसी काल में कोई झील रही होगी! फयूम नाम के रेगिस्तान में यह स्थान बस्ती से इतना दूर था कि पीने के लिए पानी ऊँटों पर तीन दिन चल कर लाया जाता। इस स्थान की झील के बचे खुचे गड्ढे के खारे पानी में कुछ मछलियाँ तैरती पाई गयी थीं। डा० एण्डरूज की मिहनत का फल शीघ्र ही मिला। उन्हें मेस्टोडोन के कुछ और पूर्व की पीढ़ी के अवशेष वहाँ अधगड़े प्राप्त हुये। इस अवशेष का नाम पुरामेस्टोडोन (पेलियो-मेस्टोडोन) रक्खा गया। यह इओसीन शिला की ऊपरी तह का अवशेष था। इओसीन कालीन शिला की आयु आज से सात करोड़ वर्ष पूर्व से लेकर साढ़े चार करोड़ वर्ष पूर्व तक मानी जाती है। यह आधुनिक युग कैनोजोइक एरा) की सब से निचली शिला है। अतएव यह मेस्टोडोन जर्मनी और फ्रांस में प्राप्त हाथी या मेस्टोडोन के अवशेष से अधिक पुराना होगा। इसे इङ्गलैंड और मिश्र के संग्रहालय में देखा जा सकता है।

पेलिओ-मेस्टोडोन का चेहरा काफी लम्बा और खोपड़ी आगे निकली है। दो बाहर निकले दाँत नीचे की ओर झुके हैं किन्तु वे टेट्रोबेलोडोन की तरह बहुत लम्बे नहीं हैं। इसकी दन्तावली आदर्श संख्या के अधिक निकट है। चर्वणक या चहू के दाँतों की संख्या जबड़ों में प्रत्येक ओर ५, ५ है। यह मेस्टोडोन की पीढ़ी का ही पुराना रूप है। इस हाथी का आकार मध्यम डीलडौल के घोड़े के बराबर होगा।

फयूम के रेगिस्तान की इस पुरानी जगह में ही बाद की खोजों में डा० एंड्रूज को एक ऐसे रूप को अवशेष मिला जो कुछ और छोटे डीलडौल के हाथी का ही कहा जाता है किन्तु पहले पहल ऊपर से देखने पर उसे कोई भी हाथी का अवशेष नहीं कह सकता। उसमें सूँड़ का कदाचित बिल्कुल अभाव है क्योंकि नर्म भागों का अवशेष रह सकना बड़ा कठिन होता है और वहाँ कोई ऐसा चिह्न नहीं मिला जिससे सूँड़ का भान होता किन्तु इस अवशेष में दाँतों की संख्या लगभग पूर्ण आदर्श की ही भाँति पाई जाती है। चर्वणक या चहू के दाँतों की संख्या दोनों जबड़ों में प्रत्येक ओर ६, ६ पहुँच गई हैं। खोपड़ी और जबड़े काफी लम्बे हैं। लेकिन बाहर निकले हाथी के दाँतों के नाम पर हँसी के योग्य ही कुछ बाहर निकले हुए दो बड़े दाँत ऊपर के जबड़े में हैं। ऊपर के जबड़े में आगे वाले या कर्त्तनक या छेदक दाँत ६ हैं। इसमें से दूसरा दाँत ही बाहर निकला हुआ दोनों ओर दिखाई पड़ता है। नीचे के जबड़े में ४ ही कर्त्तनक दाँत हैं। ऊपर के जबड़े में हमें छोटा रदनक या कुकुरदंता भी मिलता है। शूकर दंतावली में हमें यह कुकुरदन्ता ही बाहर निकला दिखाई पड़ता है, अतएव उससे भिन्न किन्तु उतनी संख्या के लगभग दन्तावली हमें उस अवशेष में मिलती है। फयूम रेगिस्तान की वह झील, जहाँ ये अवशेष मिले, मेरि नाम की है, इसलिए इस हाथी या मेस्टोडोन के लिए "मेरिस्थ बनचर" (मेरिथेरियन) नाम दिया जा सकता है। मेरिथेरियन के चर्वणक दाँत में

मेस्टोडोन की तरह आड़े रेतीनुमा उभाड़ भी पाए जाते हैं जिनकी संख्या प्रत्येक दाँत में २ या ३ है। इस तरह अनेक रूपों से यह जन्तु हाथी का अति पुरातन पूर्वज जान पड़ता है। इसका आकार जंगली शूकर के बराबर रहा होगा।

ऊपर के वर्णनों से हम हाथी के सूंड़ बनने या उसकी पुरानी पीढ़ियों का कुछ आभास पाते हैं। वैज्ञानिकों की खोजों से नित्य ही नई बातें ज्ञात होती रहती हैं। क्रमिक रूप से पुरानी शिलाओं में प्राप्त अवशेषों की लड़ी जन्तुओं के विकास और सृष्टि के निर्माण की कहानी हमें आज भी बताने का प्रयत्न करती हैं। नई नई खोजों से हम अपने पुराने अनुभवों में सुधार करते रहते हैं। इस प्रकार के ज्ञान या खोजों का ठोस अधार अवशेषों के रूप में कितना विश्वसनीय और प्रामाणिक है! उसके सुलभ करने के लिए हमें प्रकृति का आभारी होना चाहिये।

अधो-हनुदन्ती हाथी (डिनोथेरियम)

जर्मनी या अन्य स्थानों में प्राप्त एक विचित्र रूप के हाथी की खोपड़ी मिओसीन काल की प्राप्त होती है। यह मेस्टोडोन के आकार-प्रकार का ही जन्तु था। इसके ऊपरी जबड़े में बाहर निकले दाँत नहीं होते थे। उसकी जगह निचले जबड़े में दो बड़े-बड़े दाँत निकले होते थे किन्तु उनमें एक और विचित्रता थी। वे आगे की ओर निकले या ऊपर की ओर मुड़े न होते थे बल्कि जबड़े के ठीक नीचे बढ़े भाग से नीचे ही बढ़ते जाकर पीछे की ओर मुड़े थे। यह विपरीत प्रबंध क्यों था, किस प्रयोजन के लिए था, यह कुछ समझ में नहीं आता। इसका कोई भी आधुनिक प्रतिनिधि आज जीवित नहीं है। शायद यह हाथी वंश की ही कोई शाखा रही होगी जिसका विलोप हो गया। यह अपने पीछे मुड़े निचले जबड़े के लम्बे-लम्बे दाँतों से जड़ मूल आदि खोदने का काम लेता हो और नदी या तालाबों से उन्हें खोद कर खाता रहता हो। जर्मनी देश में इसका अवशेष राइन नामक प्रसिद्ध नदी-तट के एक स्थान में मिला है। किन्तु इसके अवशेष दूर-दूर के देशों तक में उस काल की शिलाओं में पाए जाते हैं। इसकी पूरी ठठरी के अवशेष तो नहीं पाए गए किन्तु खोपड़ी जर्मनी में और अन्य भागों के अवशेष फ्राँस, यूनान और एशियाई कोचक में पाए गए। लगभग इससे मिलते-जुलते जन्तु के अवशेष भारत में भी पाए गए हैं।

डिनोथेरियम की खोपड़ी के देखने से ज्ञात होता है कि उसके सूँड़ बड़े आकार के रहे होंगे। बकलैंड नाम के वैज्ञानिक का विश्वास है कि यह जन्तु अधिकतर जलचर स्वभाव का रहा होगा किन्तु इसको पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह बात असंभव नहीं मानी जा सकती। निचले दाँतों से वह पानी में काम लेता होगा। यह कुछ जचने वाली बात नहीं जान पड़ती। धरातल पर शायद वह पेड़ उखाड़ने और डालें तोड़ने का काम लिया करता होगा। खोपड़ी के हिसाब से इस जन्तु की की लम्बाई १८ फीट कूती गई है।*

---

* लेखक की शीघ्र प्रकाशित होने वाली पुस्तक विलुप्त जन्तु (प्रकाशक किताब महल इलाहाबाद) से उद्धृत।

रूस में विज्ञान

लेखक—श्री नन्दलाल मालवीय

उत्साही लेखक ने रूस की वैज्ञानिक गवेषणाओं के संबंधी की जानकारी योग्य मनोरंजक बातें संगृहीत तथा वर्णन करने का प्रयत्न किया है।

"आजकल की दुनिया में सांइस विधाता है। विधाता ही नहीं; वह कर्त्ता, धर्ता, हर्ता त्रिमूर्ति है।" ये शब्द राहुल जी ने आज से करीब ढाई वर्ष पहिले अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३५ वें अधिवेशन पर सभापति पद से बम्बई में कहा था। आज जब हाइड्रोजन बम, ऐटम बम आदि ऐसी अनेक चीजों की चर्चा हो रही है यह वाणी और भी सत्य प्रतीत हो रही है। संसार में इस समय अमरीका और रूस उन्नति के शिखर पर दिखाई पड़ रहे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि रूस विलक्षण गति से उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, जिसकी संभावना भविष्य के अंधकार में है।

अपने देश के अनु-श्यान (sub-freezing) क्षेत्रों में तुषार-रोधक (frost-resisting) नये प्रकार के पौधों का विकसन करने के लिये रूसी वैज्ञानिक मंगल ग्रह की वनस्पति का बारीकी से अवलोकन कर रहे हैं। प्रो० गाव्रिल टिखोव (Prof. Gavril Tikhov), एकेडमी ऑफ सान्इसेज (रूस) के एक सभ्य तथा ज्योतिर्वनस्पतिशास्त्र (Astro-botany) के जन्मदाता, का कहना है कि उन्होंने पृथ्वी पर ऐसी वनस्पतियों का पता लगाया है कि जिनकी भेदशील आकृतियाँ मंगल की वनस्पतियों के समान हैं। उनके सभी अनुसन्धान दक्षिणी रूस के कजाकिस्तान प्रदेश में केन्द्रित हैं। यहीं संसार की केवल एक ऐसी वेधशाला है जहाँ विज्ञान की इस नयी शाखा ज्योतिर्वनस्पतिशास्त्र में अनुसन्धान होता है। पृथ्वी के उत्तरीय प्रदेशों की वनस्पति द्वारा जिस प्रकाश का प्रभूपण (absorption) होता है उसका ही अध्ययन ये रूसी वैज्ञानिक कर रहे हैं। ऐसी आशा की जाती है कि मंगल ग्रह वनस्पति के सम्बन्ध में जिस प्रकाश वृत (light phenomena) का अवलोकन किया गया है उसके समझने में यह सहायक होगा। उदाहरणार्थ, ऊँचे पर्वतों और आर्कटिक प्रदेशों की वनस्पति और मंगलीय (Martian) वनस्पति के चकासत् (luminescent) गुण एक दूसरे के सदृश हैं। एक अन्य रुचिकर बात यह है: ऐसा जान पड़ता है कि सभी वन्य (wild) पौधे तथा फूल अधोरक्त (infra-red) और red heat waves तरंगे विकिरण (radiate) करते हैं। वनस्पतियों के स्वयं चकासा (self luminescence) के संख्यात्मक लक्षणों (numerical characteristics) की गणना करने में यह लोग सफल हुये हैं। तापक्रम की न्यूनता के साथ स्वयं-चकासा में भी घटाव होता है। "न्यूज क्रानिकल" के विज्ञान सम्पादक का लिखना है कि आजकल ज्योतिषिक (astronomers)

लोग मङ्गल पर जीव होने की बात का खंडन नहीं करते। वहाँ के वायुमंडल में आक्सीजन और जल-वाष्प बहुत थोड़ा स्थिर रहता है। विषुवद्वृतीय प्रदेशों का तापक्रम मध्य रात्रि में ५०° फा० से रात्रि में —१३०° फा० तक बदलता रहता है। प्रचलित धारणा यह है कि इस ग्रह में, वनस्पति, यदि है भी तो वह, कवाष्य (lichen) वा सेंवार (mosses) के रूप में ही होगी। इसी खोज (मङ्गल पर वनस्पति का होना) के आधार पर प्रो० हिरवोव परिणाम निकालते हैं कि (i) किन्हीं विशेष प्रकार के पौधों के लिये पृथ्वी उष्ण है और यह कि (ii) मङ्गल की वनस्पति ने अपने को वहाँ की कड़ी जलवायु के अनुकूल कर लिया है।

जीव–रसायन (Bio-Chemistry)

श्वसन (Respiration) के अध्ययन से पता चला है कि उसके दो प्रकार्य (functions) होते हैं। उसमें से एक यह है :—A T P (Adenorine Triphosphate) के समान किन्हीं विशेष पदार्थों द्वारा, जो शरीर के कोशों में बँटे हुये हैं, शरीर के सभी केन्द्रों के लिये ऊर्जा (energy) प्राप्य करना। इन पदार्थों को ऊर्जा पूर्ण भास्वीय बन्धों (energy rich phosphate bonbs) के नाम से जाना जाता है। प्रो० एंग्लेहर्ट (Prof. Englehardt) के अनुसार कुछ विषों का प्रभाव ऐसा है कि वे एक प्रकार्य का रोधन करते हैं जबकि सामान्य श्वसन होता जाता है और कुछ दूसरे प्रकार के विष ऐसे होते हैं जो दूसरे प्रकार का रोधन सामान्य श्वसन में बिना किसी प्रकार की बाधा डाले हुये करते हैं। इनकी सहायता से वे दोनों प्रकार्यों का अध्ययन कर सकते हैं। रूस में हुये जीव-रसायनिक अनुसंधानों से मानुष शरीर के कोषीय प्रकार्यों के मूल प्रकृति के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण फल प्राप्त हुये हैं। सभी प्रकार की कोशीय क्रियाशीलता (Cellular activity) के लिये ऊर्जा रसायनिक है। मानवी आहार में इसकी पूर्ति भास्वरिक अम्ल (Phosphoric Acid) के संयोगों से होती है। वहाँ रासायनिक अनुसन्धान का उपयोग रूसी जनता की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया गया है। चाय की माँग, उदाहरणार्थ, अब देशीय उत्पत्ति द्वारा ही पूरी की जाती है और जीव-रासायनिक नियन्त्रण द्वारा विधा (Process) में काफी सुधार किया जा चुका है। इसी तरह डबलरोटी उद्योग भी आटा तथा पिष्ट (dough) जैसे अपक्व (raw) द्रव्यों की व्यवस्था तथा नियन्त्रण करने से काफी सुधर गया है। विटामिन क (Vitamin A) संकेन्द्रित (Concentrates) की कमी भी इसी प्रकार पूरी की गयी। महायुद्ध के पहिले रूस इस विटामिन का संयुक्त राष्ट्र अमरीका से आयात करता था। परन्तु अब वहाँ एक ऐसे कर्णधार संयन्त्र (Pilot Plant) की रचना की गयी है जो मत्स्य यकृत तैल, जिससे विटामिन क बनाया जा सकता है, का व्यूहाणवीय आसवन (Molecular distellation) कर सकने में सफल हुआ है और अब इससे बड़े पैमाने पर इस विटामिन की उत्पत्ति की जा रही है। पेशी-ऊति (Muscle tissue) पर भी काफी अनुसन्धान किया गया है। इससे हृदय और पेशियों से सम्बन्धित रोगों के उपचार करने के लिये नये तरीकों की खोज हुई है।

वैज्ञानिक शालायें व कार्यकर्ता

विज्ञान वा वैज्ञानिक अनुसन्धानों को रूसी उन्नतिशील कार्यक्रमों में वहाँ की सरकार सदैव प्रथम स्थान देती है। आज रूस में २०० से ऊपर वैज्ञानिक संस्थायें व प्रयोगशालायें हैं जहाँ विज्ञान की अनेकानेक शाखाओं पर अनुसन्धान होता है; १९१७ की

क्रान्ति के पूर्व केवल दो थे। एक ऊँचे राजनीतिज्ञ से लेकर एक साधारण आदमी तक सभी विज्ञान से परिचित हैं। यहाँ इस बात का निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा कि श्री एन्ड्री विशिन्स्की भी, जिनका नाम हम भारतवासियों को सुरक्षा परिषद् में हुये विभिन्न वाद-विवादों के कारण मालूम है, जीवन में प्रवेश करने पर सर्व प्रथम मास्को विश्वविद्यालय में विज्ञान के एक प्रोफेसर थे। जैसा कि प्रो० एंग्लेहर्ट ने बम्बई में हाल के एक भाषण में कहा रूसी क्रान्ति ने देश में कई आश्चर्यजनक परिवर्तन किये—दस वर्ष के अन्दर ही निरक्षरता को दूर करना जिसमें मुख्य रहा - तथा वैज्ञानिक गवेषणाओं को नई चेतन-शक्ति प्रदान की। मध्य एशिया के वृहत खेतों, जिसका क्षेत्रफल पश्चिमी योरोप के आधे से कम नहीं है, को प्रति तीन वर्ष में एक दफा होने वाली घोर अवृष्टि से जो महान क्षति पहुँचती है उसके निवारणार्थ एक योजना रूसी सरकार के विचाराधीन है। वहाँ की नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज, जिसका कार्यक्षेत्र एक सलाहकार सीमित तक ही समित नहीं रहा अपितु अधिशासक का भी है, ने उन खेती के पट्टकों (plantation belts) का परिभ्रमण किया था और अणु-जैविक कारकों (microbilogical factors) का अध्ययन करने के बाद सरकार के सम्मुख एक योजना रक्खी थी। आज प्रत्येक रूसी नागरिक को चिकित्सा के लिये निशुल्क सहायता दी जाती है जबकि जार के शासनकाल में हजारों आदमी बिना किसी उपचार के ही मर गये थे (मास्को के लोक-स्वास्थ मंत्रिमण्डल के डा० वी० वटरोव के अनुसार) १९१३ में रूस में केवल २०,००० चिकित्सक तथा १००० अस्पताल, जिसमें १,५०,००० से भी कम रुपया का प्रबन्ध था, थे। आज वहाँ २,००,००० चिकित्सक, १५,००० ग्राम-औषधालय, ५,००,००० व्यावसायिक (technical) कार्यकर्त्ता तथा ७०,००० अस्पताल (८,००,००० शय्या सहित हैं।

रूस में विज्ञान का यह अत्यन्त ही सूक्ष्म वर्णन है। तोभी, इसमें सन्देह नहीं है कि भारत के तरुण को वैज्ञानिक प्रवृतियों के प्रचार करने के लिये इससे समुचित प्रेरणा होगी।

—:o:—

हाथी की पूर्व पीढ़ियां (देखिए पृष्ठ २३)
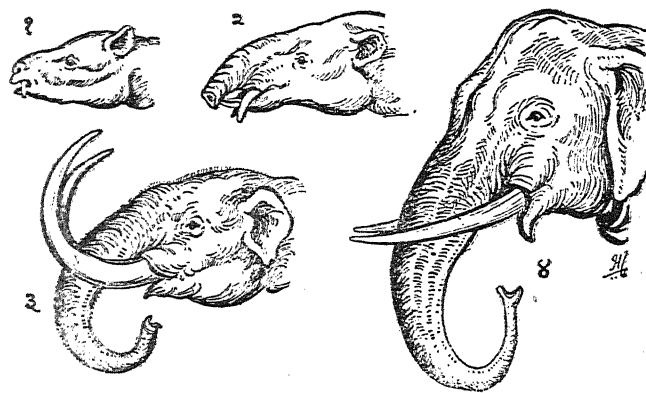
रेडियम चिकित्सा

ले० जगपति चतुर्वेदी

औषधि को शरीर के अंदर क्रिया करते हुये देखना किस प्रकार संभव हुआ है। उसका वर्णन इस लेख में मनोरंजक रूप से किया गया है।

रेडियम की खोज होने पर उसकी किरणों की प्रबल शक्ति से शरीर के भयंकर कीटाणुओं का संहार कर कुछ विकट रोगों से छुटकारा पाने की युक्ति सोचना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। जहरवाद (कैंसर) ऐसा विषैला घाव होता है जो मनुष्य के प्राण ही ले लेता है। उसके कीटाणु बड़े भयानक होते हैं। उनका संहार करने के लिये रेडियम के बल का उपयोग किया जाता है। रेडियम या इसी तरह के दूसरे आधार से उत्पन्न किरणें अपने प्रबल वेग के कारण घाव की भीतरी तह में घुस कर कीटाणुओं को मार डालती हैं किन्तु ऐसे प्रयोगों में हमारी सीमित बुद्धि होने के कारण कितने ही रोगियों को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। रेडियम की नई खोज होने से कुछ उत्साही चिकित्सकों ने इनका मनुष्य-शरीर के भीतर प्रवेश करा कर रोग को दूर करते देखा किन्तु मुँह से एक बार नीचे उतरा हुआ वा किसी दूसरे साधन से शरीर के अंदर स्थान पा लेने वाला रेडियम रोग का नाश कर लेने पर भी शान्त नहीं रह सकता था। उसका असीम बल रोग के नाश करने के बाद रोगी के नाश करने में लग जाता था। रेडियम की आयु हज़ारों वर्ष की है और इसकी शक्ति बड़ी प्रबल है, अपनी काया से प्रबल किरणें निरंतर निकाल कर बाहर फेंकता रहता है। अतएव प्रारम्भ में तो रोगी रोग से छुटकारा पाते दिखाई पड़ता किन्तु बाद में फिर शरीर के पोषक अंगों, रक्त और मासपेशियों पर रेडियम का विषैला प्रभाव पड़ता और शरीर के भीतर स्थान बना लेने पर इसको बाहर निकाल सकना भी असंभव होता अतएव प्रयोगों में मनुष्य मृत्यु के ग्रास बने।

अब अनेक प्रयोगों और अनुसंधानों से रेडियम की शक्ति का लाभ उठा सकने का उत्तम उपाय ढूंढा जा सका है। हमको आज कृत्रिम रूप से लगभग सभी परमाणुओं को रेडियम के सदृश रश्मि शक्तिमय बनाने की विधि ज्ञात हो गई है। ऐसे कृत्रिम रूप से रश्मि शक्तिमय पदार्थ छोटी क्रम संख्याओं के परमाणु भी हैं इन सब कृत्रिम रश्मि शक्तिमय पदार्थों की आयु कुछ दिनों वा घंटों की पाई जाती है। अतएव हम सहज ही एक दो सप्ताह की आयु वाले कृत्रिम रश्मि शाक्तिक पदार्थ को औषधि रूप में निर्माण कर रोगी को दे सकते हैं जिस से उसके रोग के भयंकर कीटाणु कुछ ही समय में नष्ट हो जायँ परन्तु रेडियम की तरह इनसे बाद में हानि का भय नहीं क्योंकि एक या दो सप्ताह की रोग कीटाणु नाशक क्रिया के बाद उनकी रश्मि शाक्तिकता अपनी अवधि बीत जाने से स्वयं शान्त होकर कोई हानिकर प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। इस संबंध की चिकित्सा

बहुत सफलतापूर्वक की जा रही है और रेडियम का केवल बाहरी उपयोग ही किया जाता है।

हमारा शरीर कितना पेचीदा है। शरीर के अंदर पहुँचा हुआ भोजन, रस और रक्त रूप में पता नहीं कब और कहाँ जा पहुँचता है। हम कोई औषधि खाते हैं। उतनी ही मात्रा के पदार्थ मल मूत्र से हमारे शरीर से बाहर जाने का हमें प्रमाण मिल सकता है किन्तु हम यह नहीं जान सकते कि उस औषधि का कहीं प्रभाव हुआ या नहीं और मल मूत्र रूप में बाहर हुई उतनी मात्रा की वस्तु वह दवा ही थी या दवा प्रभाव डालने के लिये कहीं रह गई और उसके प्रभाव से या शरीर की साधारण क्रिया से उतनी मात्रा के वैसे ही दूसरे पदार्थ शरीर के बाहर जा सके। किन्तु कृत्रिम रश्मि शाक्तिक पदार्थों के रूप में बड़ी ही प्रबल शक्ति हमारे हाथ में आ गई है। किसी औषधि रूप में दिये या दूसरी औषधि के संयोग में उसी प्रकार के पदार्थ का कृत्रिम रश्मि शाक्तिक रूप शरीर में छोड़ा जा सकता है। जिस प्रकार हिरन के घाव लगे शरीर से निकला रक्त पृथ्वी पर गिरने के निशानों से शिकारी को उसके निकट पहुँचा देता है उसी प्रकार हम रश्मि शाक्तिक पदार्थ की झलक अपने रश्मि शक्ति प्रदर्शक यंत्र में पग पग पर देख सकते हैं। शरीर के बाहर से ही हमारे नेत्र उन पदार्थों को शरीर के किसी भी अंग में पहुँचते और अपना प्रभाव दिखाते मालूम पड़ सकते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है। मनुष्य की युक्तियों से एक निर्जीव कण मानों हाथ में बिजली का प्रकाश लेकर शरीर भर में घूम-घूम कर वहाँ पहुँचने का संवाद बेतार के तार से हमारे पास भेजता रहता है।

यह साधारण खेल वा तमाशे की बात नहीं है। हमारे चिकित्सा-विज्ञान सम्बन्धी खोजियों को एक ऐसा प्रबल खोज का हथियार हाथ लगा है जो किसी भी दूसरे साधन से सुलभ नहीं हो सकता है। यह विज्ञान की विलक्षण खोजों का परिणाम है। हम इन खोजों से अनेक असाध्य रोगों की भी चिकित्सा की जाकर संसार में स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि होने की आशा करते जा सकते हैं। मानव ऐसे अमर खोजियों के प्रति सदा ही कृतज्ञ और ऋणी रह कर उनका सदा गुणगान करता जायगा।

समालोचना

विज्ञान-जगत की झाँकी

ले० श्री० नारायण सिंह परिहार, प्राध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय तथा प्रकाशक—छात्रहितकारी पुस्तक माला दारागंज इलाहाबाद। पृ० सं १६० मुल्य २)

इस पुस्तक में ज्योतिर्विज्ञान, जीवजंतु विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, तथा भूगर्भ विज्ञ न अदि विषयों के मनोरंजक प्रसंग प्रश्न और उत्तर रूप में संक्षेप में देने का प्रयत्न किया गया है जिससे पाठकों का पर्याप्त मनोरंजन हो सकता है। कुछ प्रश्नों के नमूने इस प्रकार हैं जिन का संक्षिप्त उत्तर पुस्तक में पढ़ने को मिल सकता है। ज्योतिषी कितनी दूर देख सकता है ? तारों की संख्या कितनी है ? आयु क्या है ? क्या मछलियाँ प्रेम संगीत गाती हैं ? मकड़ी अपने जाल में क्यों नहीं फँसती ? बिल्ली रात को क्यों देखती है ? आँसू क्यों बहते हैं ? चिड़ियाँ कंकड़ क्यों खाती हैं ? हम छींकते क्यों हैं ? क्या पेड़ पौधों ने भी जानवरों पर हमला किया ? पतझड़ क्यों होता है ? अदृश्य स्याहियाँ क्या हैं ? क्या हिमालय ह्वेल मछलियों के साथ था ? आदि आदि।

अंत में ३०, ३५ पृष्ठों में ही वैज्ञानिकों का बहुत संक्षिप्त जीवन परिचय देकर पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ा दी गई है। कुछ नई खोजों और आविष्कारों का परिचय देने का प्रयत्न भी रुचिकर है। जहाँ हिन्दी में वैज्ञानिक-साहित्य का अभाव सा है, वहाँ श्री परिहार का यह उद्योग अभिनंदनीय है। पुस्तक को चित्रों से आकर्षक बनाने का प्रयत्न इसे और भी रोचक बनाता है। नयनाभिराम आवरण पृष्ठ पुस्तक का आकर्षण और बढ़ा देता है।

विज्ञान के महारथी

ले० जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी भूषण, विशारद-प्रस्तावना-लेखक डा० सत्यप्रकाश, रसायन विभाग, प्र० वि० वि, प्रकाशक- छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, इलाहाबाद। पृष्ठ सं० १८० मूल्य २)

प्रस्तुत संस्करण पुस्तक का द्वितीय संस्करण है। विज्ञान ऐसे शुष्क विषय की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने और पाठकों के मनोरंजन के साथ ज्ञानवर्द्धन का यह एक उत्तम प्रयास है। लेखक हिन्दी संसार को अनेक लोकप्रिय पुस्तकें भेंट कर चुके हैं। पाठकों ने उनकी इस गंभीर किन्तु अत्यन्त रोचक पुस्तक के द्वितीय संस्कारण कराने का अवसर देकर अपनी सुरुचि और उत्साह का परिचय दिया है। जिन वैज्ञानिकों ने परिस्थितियों की कठिनाइयाँ झेलकर भी अपने अन्वेषण कार्य जारी रक्खे तथा अत्यंत निष्ठा पूर्वक गूढ़तम विषयों की छानबीन करने का सफल उद्योग किया, उनके कार्यों और उद्योग का महत्व किसी भी राष्ट्र-निर्माता से कम नहीं है। लेखक ने अपनी सुबोध और मनोरंजक शैली में उन्हीं उद्योगों की अमर गाथा चित्रित करने का उद्योग किया है। हम लेखक को इस स्तुत्य प्रयास के लिए बधाई देते हैं। आशा है विज्ञान-प्रेमी पाठक ऐसी पुस्तकों को अधिकाधिक प्रचार कर हिन्दी के लोक प्रिय वैज्ञानिक-साहित्य का पोषण करने में अपने उत्साह की निरंतर वृद्धि ही करते रहेंगे।

ही० ला० नि०

[टिप्पणी—समालोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आनी चाहिए—संपादक]

प्रचार-पत्रक

विज्ञान के प्रेमी सज्जनों और ग्राहकों की सहानुभूति और सहायता पर ही हम विज्ञान को बराबर निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं। ग्राहकों की संख्या जब तक पर्याप्त न हो तब तक हम विज्ञान को न तो स्वावलंबी ही बना सकते हैं और न इसे अधिक सुन्दर रूप से निकाल सकते हैं। अतएव हम अपने उदार पोषक और ग्राहकों की सेवा में यह प्रचार पत्रक-विज्ञान के इस अंक द्वारा प्रेषित कर रहे हैं जो सज्जन ग्राहकों की संख्या बढ़ाने में हमारा हाथ बटाने के इच्छुक हों वे नीचे लिखा फार्म भरवा कर भेज सकते हैं।

मंत्री विज्ञान परिषद्, बैंक रोड प्रयाग

महाशय,

कृपया नीचे लिखे सज्जनों को विज्ञान का एक अंक नमूने के रूप में या वी० पी० द्वारा भेज दें। मुझे आशा है कि वे ग्राहक होना स्वीकार करेंगे।

१—नाम

पता

२—नाम

पता

३—नाम

पता

४—नाम

पता

निवेदक

हस्ताक्षर...............

पता..............

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग** १—विज्ञानकी प्रारम्भिक वातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटर-मीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का सग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग** १—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

पुराने सभी ढंगोंका ब्योरेवार वर्णन। इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम०, ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१६—**कलम पेवंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२०—**जिल्दसाजी**—क्रियात्मक और ब्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८० पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२१—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २।।=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।"

२२—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२३—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार-अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति। पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य ।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।

२४—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५० पृष्ठ और ३२० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२५—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२६—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२७—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं। २६८ पृष्ठ और ६४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

२८—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री बीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी०, कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२९—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौडाई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

३०—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय संस्करण ले०—पण्डित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ०।३।५

भाग ७४ | वृश्चिक सम्वत् २००८ नवम्बर १९५१ | संख्या २

रसायन-युग

पुराना युग आजकल के समय से अनेक बातों में भिन्न था। आज हम इस बीसवीं शताब्दी में यह कल्पना कठिनता से ही कर सकते हैं, कि दो चार सौ वर्ष पहले ही, घरों में आग कैसे जलाई जाती थी। जब कि दियासलाइयाँ न थीं। इसी प्रकार हमारे लिये कल्पना करना कठिन है, कि जब फाउण्टेनपेनें नहीं थीं तो लोग कैसे लिखते थे, और जब कागज़ इतनी अधिक मात्रा में नहीं बनता था, और जब छपाई नहीं होती थी, तो देश के लाखों विद्यार्थी कैसे पढ़ते थे। आजकल का व्यक्ति इसी प्रकार उन दिनों की भी कल्पना नहीं कर सकता है, जब पेट्रोल का व्यवहार करना मनुष्य ने नहीं सीखा था। पहले के युग में लोग प्राकृतिक पदार्थों पर अधिक निर्भर थे, और उनका उपयोग ही अधिक करते थे। यों तो मनुष्य प्रकृति से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं कर सकता, पर फिर भी आज हम प्रकृति के पदार्थों को अप्राकृतिक रूप में उपयोग करने की कला सीख गये हैं। पहले के युग का व्यक्ति नील के पौधे से नील का रंग और मजीठ और टेसू से उनके रंग प्राप्त करता था। आज के युग के व्यक्ति के लिये यही नील बिना नील की खेती के प्राप्त हो जाता है और यही मजीठ का रंग बिना मंजिष्ठा के मिल जाता है। पहले के युग में रबर की प्राप्ति के लिये रबर के पौधे पर निर्भर रहना पड़ता था, पर आज के युग में हम यह प्रयत्न कर रहे हैं कि रबर की खेती न करनी पड़े और रबर बन जाय। इसी प्रकार अभी पचास वर्ष पूर्व रेशम प्राप्त करने के लिये रेशम के कीड़ों को पालना आवश्यक समझा जाता था, और अपनी हजारों वर्ष की सभ्यता में रेशम के कीड़ों से ही रेशम प्राप्त करना हमने सीखा था। पर इस बीसवीं शताब्दी में जो रेशम बना, उसने हमें रेशम के कीड़ों की परतन्त्रता से मुक्त कर दिया। आज हम एक काया-पलटके युग में हैं। शताब्दियों से घरों में व्यवहार में आने वाले पीतल, कांसे और लोहे के बर्तनों के स्थान में कांच, चीनी मिट्टी, और अब प्लास्टिक के बरतनों का व्यौहार बढ़ रहा है। पत्थर

और लकड़ी की धन्नियों से पाटी जाने वाली नयी छतें अब बहुत कम बनती दिखाई देती हैं। सीमेन्ट और लोहे की छड़ों की सहायता से गृह-शिल्प में एक क्रान्ति आ गई है, और सीमेन्ट की फैक्ट्रियों के बिना अब काम निकलना कठिन हो गया है।

इस प्रकार के परिवर्तनशील नये युग में मनुष्य ने साधारण प्राकृतिक पदार्थों की सहायता से असाधारण कृत्रिम अनेक पदार्थों का निर्माण करना सीखा है। इस निर्माण में रसायनज्ञों ने विशेष भाग लिया, और उन्होंने प्रयोगशालाओं में अनेक रसायनिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया। रसायनिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते समय उन्हें प्रकृति के अनेक कौतूहलपूर्ण रहस्यों का पता चला। उन्हों ने देखा कि रसायनिक प्रतिक्रियाओं की सफलता के लिये कभी कभी कुछ विचित्र पदार्थों की उपस्थिति विशेष सहायता देती है। ये विचित्र पदार्थ रसायनिक प्रतिक्रिया में स्वयं परिवर्त्तित तो नहीं होते, और आरम्भ से अन्त तक बहुधा एक से ही बने रहते हैं, पर इनकी उपस्थिति मात्र का ही यह प्रभाव होता है कि जो प्रतिक्रिया सम्भवत: घण्टों और महीनों में भी पूर्ण न होती, वह क्षण भर में वेग से चलने लगती है, और शीघ्र पूरी हो जाती है। वे पदार्थ जो अपनी उपस्थिति मात्र से किसी रसायनिक प्रतिक्रिया की प्रगति को तीव्र कर दें और स्वयं परिवर्तित न हों, उत्प्रेरक या कैटेलिस्ट कहलाते हैं। हम यहाँ पर कुछ एसे ही उत्प्रेरकों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने नये पदार्थों के संश्लेषण में एक नया युग उपस्थित कर दिया।

आप यह तो जानते हैं कि लोहा में जंग तब लगता है जब वह वायु के आक्सीजन को ग्रहण कर के आकसाइड बन जाता है, पर लोहे को आप कई दिन हवा में या आक्सीजन में खुला रख छोड़िये इसमें तब तक जंग न लगेगा, जब तक हवा में नमी काफी न हो। इसी लिये आप देखते हैं कि लोहे में जंग लगने की प्रतिक्रिया पानी की सहायता से अति वेग से चलती है। पानी स्वयं अपरिवर्तित रहता है। जंग लगने की प्रतिक्रिया में हम इसे उत्प्रेरक कहेंगे। इसने अपनी उपस्थिति मात्र से प्रतिक्रिया के वेग को तीव्र कर दिया।

सन् १९१४ वाले विश्वव्यापी प्रथम महायुद्ध की बात है कि जर्मनी देश वालों को बाहर से भोजन और युद्ध सामग्री मिलनी कठिन हो गई। जमीन के लिये खाद की आवश्यकता थी, और युद्ध के लिये गोला बारूद की। आप जानते हैं कि इन दोनों कामों के लिये अमोनिया लवण, नाइट्रिक एसिड, और इसी प्रकार के अन्य नाइट्रोजन वाले पदार्थों की आवश्यकता थी। हवा में नाइट्रोजन और आक्सीजन दोनों हैं। पानी से नाइट्रोजन भी मिल सकता है। पर नाइट्रोजन एसी निष्क्रिय गैस है कि आक्सीजन और हाइड्रोजन से आसानी से संयुक्त ही नहीं होती। और जब तक संयुक्त न हो तो अमोनिया और नाइट्रिक एसिड बने कैसे। विपदा के समय मनुष्य को विशेष प्रतिभा प्राप्त हो जाती है। युद्ध के समय चारों ओर से घिरे होने के कारण जर्मनी के रसायज्ञों ने अनेक आविष्कार किये और उन्होंने यह देखा कि नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का संयोग लोहचूर्ण की सहायता से, जिसमें थोड़ा सा मॉलिबडीनम और बालू मिली हो, आसानी से होता है। दोनों गैसों के संयोग से अमोनिया गैस बनती है। हाबर नामक रसायनज्ञ ने अमोनिया बनाने की जो विधि निकाली, उसने जर्मनी को विपदा से बचाया। यह भी लोगों को पता चला कि अमोनिया और आक्सीजन के योग से अगर नाइट्रिक एसिड बनाना हो तो दोनों को गरम प्लैटिनम धातु के पृष्ठ पर प्रवाहित करना चाहिए। प्लैटिनम कैटेलिस्ट या उत्प्रेरक का काम करता है। नाइट्रिक एसिड बनाने में ही नहीं बल्कि सलफ्यूरिक

ऐसिड का व्यापारिक मात्रा में बनाया जाना तभी सफल हुआ जब उचित उत्प्रेरकों का पता चल गया। हवा में गन्धक जलाकर सलफ़र द्विआक्साइड गैस तो बन जाती है पर जब तक यह और आक्सीजन से संयुक्त न हो तो तब तक सलफ्यूरिक एसिड न बनावेगी। इस संयोग की सफलता के लिये अनेक उत्प्रेरकों की खोज की गई। यह देखा गया कि यदि सलफ़र द्विऑक्साइड और आक्सीजन गैसों के मिश्रण में थोड़ी सी मात्रा नाइट्रोजन के आक्साइडों की हो तो सलफ़्यूरिक एसिड बनाया जाना सम्भव हो जायगा। प्लैटिनम के पृष्ट पर दोनों गैसों का संयोग हो सकता है पर आजकल सब से अच्छा उत्प्रेरक इस काम के लिये वैनेडियम पंचौक्साइड और बालू के कणों का मिश्रण माना जाता है। इन पदार्थों की थोड़ी सी ही मात्रा मनों और टनों सलफ्यूरिक एसिड तैयार करने के लिये काफी है।

हमने आरंभ में नील के व्यवसाय का उल्लेख किया है। हमारे देश में बिहार और उत्तरप्रदेश में नील की खेती होती थी और अनेक स्थानों में नील की कोठियाँ थीं। भारतवर्ष से विदेशों में भी नील रंग बहुत जाता था। सन् १८६० में ह्यूम नामक एक रसायनज्ञ ने रासायनिक विधियों से कृत्रिम नील बनाने की विधि का आविष्कार किया। नील बनाने की इस विधि को इतनी सफलता मिली कि प्राकृतिक नील संसार से विलुप्त हो गया। यह नील नैपथलीन से प्राप्त यौगिकों से बनाया जाता है। नैपथलीन की गोलियों से आप परिचित होंगे। कपड़ों में कीड़े न लगें, इसलिए उनमें नैपथलीन की गोलियाँ रक्खी जाती हैं। नैपथलीन स्वयं बड़ा निष्क्रिय पदार्थ है। ऑक्सीजन में संयुक्त कराके इसे थैलिकऐसिड में परिणत करना आवश्यक था क्योंकि थैलिकऐसिड के बिना नील बनाना असंभव था। एक रसायनज्ञ नैपथलीन को सलफ़्यूरिक ऐसिड के साथ गरम कर रहा था, और दैवयोग की बात थी कि उसका थर्मामीटर टूट गया और थर्मामीटर का पारा नैपथलीन और सलफ्यूरिक ऐसिड के मिश्रण में मिल गया। पारे ने उत्प्रेरक का काम किया और नैपथलीन शीघ्र ही थैलिक ऐसिड में परिणत हो गया। इस प्रयोग ने कृत्रिम नील के बनाने की विधि में सहायता दी। आजकल तो नैपथलीन की वाष्पों को हवा के ऑक्सीजन से मिश्रित करके वैनेडियम पंचौक्साइड उत्प्रेरक के ऊपर प्रवाहित करते हैं, और थैलिक ऐसिड बना लेते हैं।

जिस दालदा और वनस्पतिक घी का प्रचार इतना बढ़ा हुआ है, उसका बनाया जाना तो उत्प्रेरक या कैटेलिस्ट की महिमा पर निर्भर है। मूंगफली या बिनौले के तेल से यह नक़ली घी बनाया जाता है। तेल में हाइड्रोजन गैस का प्रवाह करते हैं। अगर हाइड्रोजन तेल में संयुक्त हो जाय तो बस दालदा तैयार हो गया। पर हाइड्रोजन का यह संयोग आसान बात नहीं है। सन् १६०५ के लगभग सेबेतिये नामक फ्रेंच रसायनज्ञ ने यह देखा कि यदि निकेल धातु के बहुत महीन चूर्ण की उपस्थिति में तेल के भीतर हाइड्रोजन गैस प्रवाहित की जाय तो हाइड्रोजन बिना किसी कठिनाई के तेल से संयुक्त हो जायगा। यह आविष्कार रसायन के इतिहास में बड़े महत्व का माना जाता है। निकेल चूर्ण की सहायता से तेल से न केवल दालदा आदि वनस्पतिक घी बनाये जाते हैं, अनेक अन्य पदार्थ इस उत्प्रेरक की सहायता से बनते हैं।

पानी और कार्बन एकौक्साइड गैस के मिश्रण को लोहे के ऑक्साइड पर प्रवाहित करके मेथिल एलकोहल तैयार किया गया जिसका आजकल के युग में बहुत उपयोग है। इसी प्रकार की बहुत सी प्रतिक्रियायें क्रोमियम, सबीडियम, और मैंगनीज ऑक्साइडों की उपस्थिति में आसानी से होती हैं।

सन् १९२६ में फिशर और ट्रौप्श ने कोवल्ट-थोरियम का जेलगुर मिश्रण को उत्प्रेरक के रूप में प्रयोग करके पानी और कार्बन एकौक्साइड गैस के मिश्रण से अनेक पदार्थ बनाए जिन्हें हाइड्रोकार्बन कहते हैं और इनमें से कुछ का उपयोग मोटरों में पेट्रोल के स्थान पर हो सका। यही नहीं, इस विधि से मशीनों में डाले जाने वाले लुब्रिकेटिंग तेल और कई प्रकार के मोम भी तैयार किए गए। पेट्रोलियम से मोटर के योग्य शुद्ध पेट्रोल जब पृथक कर लेते हैं, तो पेट्रोलियम का शेष दूषित अंश जो शेष रहजाता है, उसमें हाइड्रोजन प्रवाहित करके उचित उत्प्रेरकों की सहायता से और पेट्रोल तैयार करने की विधियाँ भी निकाली गयी हैं।

महायुद्ध के समय में जर्मन लोगों ने कृत्रिम रबर भी तैयार की थी। कैलसियम कार्बाइड से तो आप शायद परिचित हों, जिसका प्रयोग एसिटिलीन लैम्पों मे किया जाता है। इस कार्बाइड और पानी के योग से एसिटिलीन गैस बनी, उसके बहुलीकरण से ब्यूटाडाइ-ईन नामक पदार्थ बनाया गया। यह पदार्थ सोडियम धातु की विद्यमानता में विशेष स्थितियों में रबर बन गया। सोडियम धातु ने रबर बनाने में उत्प्रेरक का काम किया। रूस ने जो नकली रबर तैयार की उसके लिए उसने ब्यूटाडाइ-ईन एलकोहल से तैयार किया। एलकोहल की वाष्पों को ऐल्यूमीनियम और जिंकऑक्साइड के मिश्रण पर उच्चतापक्रम पर प्रवाहित किया। इस मिश्रण ने ब्यूटाडाइ-ईन बनाने में उत्प्रेरक का काम किया। १०० भाग एलकोहल से इस प्रकार २३ भाग रबर तैयार हो गयी। यह विधि केवल काल्पनिक ही नहीं, व्यावहारिक भी थी। सन् १९३५ में रूस ने इस विधि से २५ हजार टन नकली रबर तैयार की थी। आजकल तो वहाँ बहुत मात्रा में रबर इस विधि के ही किसी परिष्कृत रूप से तैयार की जाती होगी।

इस समय के प्लास्टिक युग में जो प्लास्टिक तैयार होता है उसको सफलता पूर्वक बनाने में कहीं न कहीं उत्प्रेरकों से सहायता अवश्य ली जाती है। प्लास्टिक तैयार करने में विनिल योगिकों का बहुलीकरण बहुधा करना पड़ता है। और यह बहुलीकरण बैंजोइल परोक्साइड की सूक्ष्म मात्रा (१०० भाग में १ भाग) की उपस्थिति में सफलता पूर्वक होता है। फीनोल और फॉर्मेलडीहाइड से बेकेलाइट बनाने में भी उत्प्रेरकों की आवश्कता होती है, अन्यथा दोनों में संयोग कठिनायी से होता है।

रसायनज्ञ सदा इस बात की खोज में रहते हैं कि कठिन से कठिन प्रतिक्रियाओं को सरल रूप में सम्पदित करने के लिये विशेष उत्प्रेरकों का पता चल जाय। व्यापारिक दृष्टि से उपयोगी उत्प्रेरकों का उचित रूप में तैयार करना बड़े महत्व का माना जाता है। उत्प्रेरक रहस्यमय कार्य करते हैं, और जैसा हम कह चुके हैं, कि ये स्वयं बहुधा परिवर्त्तित नहीं होते परन्तु अपनी उपास्थिति-मात्र से रासायनिक प्रतिक्रियाओं को प्रेरणा देते रहते हैं।

—सत्य प्रकाश

[. आ० इ० ० के सौजन्य से]

कीटाणु की चोरी

ले० श्री० एच० जी० वेल्स

अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि के अमर लेखक श्री एच० जी० वेल्स का परिचय हिन्दी पाठकों को देने की आवश्यकता नहीं। आज से शताब्दियों पश्चात् विज्ञान की चरम सीमा पहुंच जाने पर भी पारस्परिक रागद्वेष से संसार के युद्ध द्वारा विनाश होने की विद्वान लेखक की प्रसिद्ध काल्पनिक कथा को "भावी जगत की रूप रेखा" पुस्तक रूप के अतिरिक्त चलचित्रों तक में भी विज्ञ पाठकों ने देखा ही होगा। उनकी ही एक कल्पना के परिणाम स्वरूप कीटाणुओं के सम्बन्ध की एक कहानी पाठकों के मनोरंजनार्थ दी जा रही है। पाठकों को रुचिकर होने पर ऐसी ही अन्य कथाएँ देने का हम उद्योग करेंगे।

इधर देखो। "कीटाणु-विशेषज्ञ ने खुर्दबीन के नीचे काँच की स्लाइड सरकाते हुये कहा, "यह हैं प्रसिद्ध विशूचिका कीटाणु।"

पीत-वर्ण मुखाकृति के पुरुष ने खुर्दबीन में आखें गड़ा दीं। वह इस प्रकार देखने का अभ्यस्त न था अतः उसने अपनी अस्थिर आँखों पर अपना पतला दुबला सफेद हाथ रखा ताकि भली प्रकार देख सके। "मुझे तो कुछ भी नहीं दिखाई देता," वह बुदबुदाया।

'यहाँ हाथ रखो!' कीटाणु-विशेषज्ञ ने बतलाया। "कदाचित खुर्दबीन दृष्टि-केन्द्र से हट गई हो और हाँ! नेत्र नेत्रों में भी अन्तर होता है। थोड़ा सा इधर उधर घुमाने पर खुर्दबीन केन्द्र-विन्दु पर अवश्य आ जायेगी।"

"ठीक! ठीक! हाँ! अब मुझे दिखाई देने लगा।" आगत पुरुष ने हर्षातिरेक में उत्तर दिया। "पर बहुत साफ और स्पष्ट तो कुछ नहीं है, केवल हल्के और छोटे गुलाबी चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आश्चर्य है कि ऐसे हल्के और लघुतम चिह्न सूक्ष्म अणुमात्र होकर भी बहुत बड़े नगर को ध्वंस कर सकते हैं यदि फैलते जायँ।"

वह खड़ा हो गया और काँच के टुकड़े को खुर्दबीन के नीचे से हटाकर उसने हाथ में ले लिया। तत्पश्चात् खिड़की की ओर मुड़कर उजाले में गौर से उसे देखते हुये बोला, "क्या यह जिन्दा हैं? क्या अब भी यह खतरनाक हैं?" वह पूछते हुये कुछ हिचक रहा था।

"नहीं! यह जिन्दा नहीं हैं। इन्हें मारकर रंग दिया गया है। पर यदि काश! हम सृष्टि के इन सब कीड़ों को मारने में समर्थ हो सकते!"

हल्की स्मिताभा होंठो पर छितराकर पीत-युवक ने पूछा। "मेरे ख्याल में शायद आप अपने पास ऐसी चीजों को जिन्दा हालत में तो न रखते होंगे।"

"विपरीत इसके, हमें वह अधिकतर जिन्दा ही रखने पड़ते हैं। उदाहरण के लिये......" और वह बगल के कमरे में गया तथा बहुत सी ट्यूबों में से एक को उठा लाया। "यह हैं जीवित कीटाणु जो विशूचिका जैसी भयंकर बीमारी के जन्म-दाता हैं।" वह कहते कहते हिचका। "वास्तवमें बोतल में बन्द हैजा।"

पीले मुख के मनुष्य के चेहरे पर क्षण भर के लिये सन्तोष की आभा फैल गई। "आपके पास

दरअस्ल में यह बहुत खतरनाक वस्तु है।" छोटी ट्यूब को आँखों में समाते हुये उसने कहा। कीटाणु-विशेषज्ञ को अपने आगत के मुख पर अत्यधिक हर्ष नृत्य करता हुआ दृष्टि गोचर हुआ। यह आदमी, जिसका आगमन केवल एक पुराने मित्र द्वारा परिचित कराये जाने के कारण हुआ, उसके लिये मजे का कारण बन गया। पुराने मित्र और इस पुरुष की प्रकृतियों में कितना अधिक अन्तर था. इसे देखकर कीटाणु-शास्त्री सोच में पड़ जाता था। उसके वह घुंघराले काले बाल और गहरी भूरी आँखें, तीक्ष्ण भंगिमा और भयभीत दशा उस वैज्ञानिक से कतई नहीं मिलते थे जो कीटाणु-विशेषज्ञ के साथ काम करता था।

कीटाणु-शास्त्री ने गम्भीर-पूर्वक ट्यूब अपने हाथ में ले लिया। "देखो, यहाँ रोग कैद है। केवल एक ट्यूब मात्र तोड़कर पानी के हौज में डाल दो और तब इन अदृश्य सूक्ष्म अणुओं से कहो कि जाओ अपनी संख्या बढ़ाओ और हौज़ को पूरी तरह भर दो, और तब फिर चारों ओर मृत्यु का ताण्डव, भेद-भरी और मृत्यु ही मृत्यु, व्यथा और भीषण कष्ट से भरी हुई अचानक दुंदभि देखो, अनुभव करो और सुनो। शहर भर जिसकी चपेट में आ जायगा। कहीं सुनाई देगा कि मौत ने पति को पत्नी से छीन लिया। बच्चे को माँ से, लोक-सेवक को अपने सेवा-कार्य से और दुखित को दुख से हटा दिया। कीटाणु रेंगकर, बहकर और सरककर हौज से नलों के द्वारा घर घर में पहुँच जायेगा और सबका सत्यानाश करता हुआ चलेगा। जिन घरों में लोग पानी उबाल कर इस्तेमाल नहीं करते हैं, उन्हें तो वह क्षणभर में मटियामेट कर देगा। घरों में वह सलाद, सब्जियों के भीतर घुसकर अपना कमाल दिखायेगा और निर्मल-जल के कुओं में जाकर उन्हें बीमारी के दुर्ग बना देगा। वह धरती की मिट्टी में निवास लेकर, जज्ब होते हुये पानी के संग भीतर घुस जायगा और नये बनने वाले सोतों और कुओं को बरबाद कर देगा। इसी प्रकार वह हजारों स्थानों में पहुँचकर नगर भर को क्षण-मात्र में ध्वंस कर सकता है।" विशेषज्ञ कहते-कहते अचानक रुक गया क्योंकि लोगों की शिकायत उसके प्रति यह थी कि साधारण बातचीत में भी भाषण दे डालता है और काव्यमय हो जाता है। विशेषज्ञ को इसका स्मरण हो आया था अतः वह सरल ढंग से बोला, "परन्तु ट्यूब के भीतर कैद होने पर कीटाणु कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं और मैं पूरी तरह से खतरे से बाहर हूँ।"

पीत-मुख-मानव ने मस्तक झुका लिया मानो वह विशेषज्ञ की प्रत्येक बात से सहमत हो, उसे सिर आँखों परले लेने के लिए तैयार हो तथा एक शिष्य की भाँति प्रत्येक शब्द अपने मस्तिष्क में बिठा लिये हों। उसकी आखें प्रथम उदित तारे की भाँति उज्ज्वल हो उठीं। उसने कुछ कहने के लिये गला साफ किया और तब होंठों ही होंठो में बड़बड़ाया, "यह आतंकवादी भी बेवकूफ होते हैं और यह क्रान्तिकारी नालायक, जो इन वस्तुओं के रहते हुये बम, पिस्तौल आदि का इस्तेमाल करते हैं।"

किसी ने द्वार पर थपकी दी। विशेषज्ञ ने द्वार खोला। "बस मिनट भर के लिये एक बात सुन लीजिये।" उसकी पत्नी ने भीतर से कहा। विशेषज्ञ पत्नी की इच्छानुसार भीतर चला गया।

जब पुनः वह रसायन-शाला में वापिस लौट कर आया तो आगत अपनी कलाई पर बंधी घड़ी को देख रहा था। "मुझे समय का ज्ञान न रहा और मैंने लगभग आपका एक घंटा बरबाद कर दिया है।" वह बोला। "इस समय चार बजने में केवल बारह मिनट शेष है और मुझे साढ़े तीन बजे ही यहाँ से चला जाना चाहिये था, पर आपकी बातें बहुत रुचिकर थीं इसलिये कुछ देर हो गई। अब मैं एक मिनट भी

नहीं रुक सकता। ठीक चार बजे मुझे दूसरी जगह पहुँच जाना है।"

वह धन्यवाद कहता हुआ कमरे से बाहर हो गया। कीटाणु- विशेषज्ञ उसे द्वार तक छोड़कर अपनी रसायनशाला में वापिस लौट आया। विशेषज्ञ को आगत के सम्बन्ध में अत्यधिक उलझन पैदा हो गई। वह उसके सम्बन्ध में ही सोच रहा था। "न तो यह मनुष्य टिटौनिक मालूम पड़ता है और न लैटिन। जो भी हो पर वह अजीब मनुष्य है अतः मुझे कुछ सन्देह सा है। किस बुरी तरह से वह ट्यूब को घूर रहा था।"

विशेषज्ञ के मस्तिष्क में पुनः सन्देह के बादल घुमड़ने लगे। वह भाप के बर्तन के समीप बड़ी तेजी से गया और फिर अपनी मेज के समीप। तब उसने अपनी जेबों को बुरी तरह से टटोला और बड़बड़ाता हुआ द्वार की ओर भागा। "शायद मैंने उसे बड़े कमरे की मेज पर छोड़ दिया हो।"

"मिन्नी!" वह जोरों से चिल्लाया।

"क्या बात है?" भीतर से उसकी पत्नी की आवाज सुनाई दी।

"जिस समय में तुमसे भीतर बात करने आया था, क्या उस समय मेरे हाथ में कोई चीज थी?"

मिन्नी भीतर से चली आई। "नहीं तो......" उसने सोचकर कहा, "जहाँ तक मुझे ख्याल है कुछ नहीं था।"

'गजब हो गया।' कीटाणु-विशेषज्ञ चिल्लाया और द्वार की ओर बेतहाशा भागा। उसके कदम मिनटों में द्वार से बाहर होकर सड़क पर पहुँच गये।

जोरों से किवाड़ों के बन्द होने की ध्वनि सुनकर मिन्नी घबड़ाकर खिड़की के पास पहुँची। सड़क पर कुछ दूर एक पतला दुबला आदमी बग्घी पर सवार हो रहा था। कीटाणु-विशेषज्ञ चप्पल पहिन और बिना हैट के ही हांपता हुआ बग्घी की ओर भाग रहा था। हड़बड़ में उसकी एक चप्पल पाँव से खिसक कर छूट गई पर उसने उसकी कोई परवाह नहीं की। वह पागल सा हो गया था। "क्या इनका दिमाग खराब हो गया है?" मिन्नी अपने आप में बड़बड़ाई। "यह सब विज्ञान के पीछे इस तरह हर वक्त जुटे रहने का कारण है।" वह खिड़की से झांककर अपने पति को आवाज देने लगी। मिन्नी ने यह भी देखा कि पतला दुबला आदमी घबराई हुई दृष्टि से चारों ओर देख रहा है और कीटाणु-विशेषज्ञ को द्वार से बाहर निकलते देखकर उसने जल्दी से बग्घी वाले को कुछ कहा जिसको सुनते ही बग्घीवान ने घोड़े पर जोरों से चाबुक कसा। पतला दुबला आदमी शीघ्र बैठा और खट से बग्घी का द्वार बन्द हो गया। सड़क पर अश्व की टाप सुनाई देने लगी और पैदल भागते हुये कीटाणु-विशेषज्ञ को पीछे छोड़कर बग्घी आगे बढ़ गई।

मिन्नी मिनट भर के लिये उसी प्रकार और झांकती रही। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ थी। वह सोच रही थी कि वास्तव में उसका पति कुछ खब्ती है। लन्दन की सड़कों पर बिना हैट, उचित मोजों और ठीक वस्त्रों के इस प्रकार भागना यदि मूर्खता नहीं तो और क्या है? अचनाक किसी भाव-प्रेरणा से वशीभूत होकर उसने अपनी टोपी पहनी और तत्पश्चात् अपने पति के ओवरकोट, जूतों और हैट को लेकर सड़क पर आ गई। जल्दी से किसी गाड़ी वाले को बुलाया, "मुझे 'हैवलौक क्रीसेंट' के चारों ओर घुमाओ जिससे हम मखमली कोट पहिने तथा बिना हैट के किसी आदमी को ढूँढ सकें।"

'क्या मखमली कोट और बिना हैट......?' गाड़ीवाले ने पूछा।

'हाँ!'

'बहुत अच्छा, सरकार।'

और उसने घोड़े पर चाबुक कसी और उसे

इतनी तेज दौड़ाया जितना शायद उसने अपनी जिन्दगी में कभी न दौड़ाया हो।

'हैवलोक हिल्स' के समीप बढ़ती हुई घोड़ागाड़ी की वेगवती चाल देखकर बहुत से लोफर चकरा गये और अदरखी रंग के घोड़े को आँख फाड़ फाड़ कर देखने लगे। मिन्नी को उनके क़हक़हे सुनने पड़े यद्यपि उसे शोर-गुल से इस समय कोई दिलचस्पी नहीं थी।

सबसे आगे वाली बग्घी में बैठा हुआ मनुष्य बग्घी में किसी भय से सिकुड़ और सिमट कर बैठा हुआ था। उसकी भींची हुई मुट्ठियों में कीटाणुओं की ट्यूब थी। कुछ तो अपने पकड़ लिये जाने के डर से वह भयभीत था और कुछ अपने कार्य के कारण जिसे वह शीघ्र करने जा रहा था। उसका हृदय इस जघन्य पाप-कर्म की स्मृति-मात्र से कम्पित हो उठता था पर वह अपने को ढाढ़स दे लेता था क्योंकि उसे ज्ञात था कि वह जो कुछ भी करने जा रहा है अपने स्वार्थ के लिए नहीं वरन किसी मान्यता अथवा मानवी जीवन दृष्टिकोण की प्रेरणा से। उसके भय का कारण केवल यह था कि इससे पहिले आतंक-वादियों के इतिहास में ऐसा खौफनाक कदम अब तक किसी ने न उठाया था जिसे वह कुछ देर बाद उठाने जा रहा था। वह यह भी चाहता था कि किसी भाँति उसका यह प्रगति-पूर्ण दृढ़ संकल्प पूर्ण हो जाय तब चाहे उसकी मृत्यु ही क्यों न हो जाय, उसे किञ्चित-मात्र भी शोक न होगा। आतंकवादियों के इतिहास में वह सबसे महत्व-पूर्ण और कठिन पाठ जोड़ने जा रहा था जिसके समीप रैवेशोल, वेलियंट, आदि महान क्रान्ति-कारी आतंकवादी भी तुच्छ हो जाते जिनके लिये उसके हृदय में अब तक प्रतिस्पर्धा होती चली आई है। पर आज वह अपने को इनसे महान् देख रहा था और हो जायगा यदि वह किसी तरह भी हाथ में पाई हुई ट्यूब को तोड़ कर पानी की बड़ी टंकी में छोड़ दे। उसे साथ-साथ ही अपनी बुद्धि का कायल होना पड़ रहा था कि किस प्रखरता और शीघ्रता से वह इसको सोच सका है और किस कुशलता और साहस में उसने समय का उपयोग किया है। बस कुछ ही मिनटों में जब वह अपने कार्य को पूर्ण कर लेगा तो उसके समान भाग्यशाली संसार में कोई न हो सकेगा। अब तक तो उसके अन्य साथियों ने उसे बेकार समझा है। दूसरे आतंकवादी-साथी उसे कोई महत्व नहीं देते आ रहे हैं पर जब नगर भर में चारों ओर भीषण मृत्यु का ताण्डव-नृत्य होगा तब दुनिया उसे समझेगी।

उसने पीछे मुड़कर देखा। कीटाणु-विशेषज्ञ केवल पच्चास गज की दूरी पर था। उसके मस्तिष्क के तार झन-झना उठे। 'वह पकड़ा जा सकता है।' उसने अनुभव किया और अपनी जेबें टटोल कर बग्घीवान को ललचादेने के लिये आधा-सावरन उसकी हथेली पर रख दिया। "बहुत तेज चलाओ उस्ताद जिससे हम विशेषज्ञ के हाथ न आ सकें। तुम्हें बाकी इनाम फिर देंगे।"

सावरन की गर्मी ने जोश उत्पन्न किया और साँय साँय चाबुक आकाश में गूँजी। घोड़ा सर्राटे से भागने लगा। सावरन सवारी की हथेली से जल्दी लेकर बग्घीवान ने कहा। "बहुत अच्छा साहब।" घोड़े की चाल बहुत द्रुत-गामी थी और आतन्क-वादी का पतला दुबला शरीर शटलकाक की चिड़िया की भाँति उछलने लगा। वह स्थिर न बैठ सका। अपने को स्थिर करने के लिये उसने ट्यूब थामे हुये हाथ से बग्घी के डन्डे को पकड़ने की कोशिश की। कुछ देर के लिये वह ट्यूब का अस्तित्व भूल गया था। लोहे के डन्डे से ट्यूब टकरा गई और अचानक टूट जाने से आधा तरल पदार्थ टूटी ट्यूब में रह गया और बाकी वहीं फर्श पर बिखर गया। अत्यन्त दुख और पश्चाताप के साथ आतंकवादी अपने को कोसता

धम्म से बैठ गया और अतृप्त नेत्रों से बिखरी हुई तरल बिन्दुओं को घूरने लगा।

वह कांपा। मस्तिष्क में एक विचार विद्युत की भाँति चमक उठा। उसने झुककर टूटी हुई ट्यूब में बची बूँद को पी डाला। वह किसी तरह भी हार नहीं मानना चाहता था। "खैर कोई बात नहीं," वह श्वांस खींचता हुआ बोला। "मैं अमर-शहीद हूँगा। वैसे तो यह भद्दी मृत्यु है पर देखें क्या होता है? लोगों के कथनानुसार तो बहुत तड़फन होती है ऐसी मृत्यु में: असहनीय व्यथा; पर मुझे तो अपना जीवन सफल करना ही है।"

बूँद को पीते ही उसके मस्तिष्क में विचार आया कि अब कीटाणु-विशेषज्ञ को धोखा देते हुये बचकर भागना बेकार है। बिलिंगटन स्ट्रीट पर उसने बग्घी-वान् को रुक जाने का आदेश दिया। बग्घी की सीढ़ियों में उसका पाँव फिसला और सिर चकरा गया। उसे अनुभव होने लगा कि विशूचिका कीटाणुओं ने धावा बोल दिया है। उसने विजय-गर्व में बग्घीवान् को धकेल दिया और वक्ष पर दोनों हाथों को आपस में लपेट कर खड़ा हो गया कीटाणु-विशेषज्ञ की प्रतीक्षा में। शहीद होकर मरने की उच्च भावना ने उसे दम्भी बना डाला।

"आतंकवाद जिन्दाबाद! आतंकवादी अमर हों!" वह चिल्लाया और कीटाणु-विशेषज्ञ को समीप आते हुये देखकर बोला। "तुम देर से आये मित्र! मैं उसे पी चुका हूँ। विशूचिका अवश्य फैलेगी। मैं पहिला शहीद हूँगा और फिर चारों ओर मृत्यु का ताण्डव।" वह अट्टहास करके हंसने लगा।

विशेषज्ञ ने आश्चर्य में भरकर देखते हुये पूछा "हैं! क्या तुमने पी लिया है? तुम अनार्किस्ट हो। समझा।" वह कुछ और कहना चाहता था पर एक अत्यन्त अनोखे विचार ने मस्तिष्क में जन्म लेकर उसे न बोलने दिया। विचार की स्मृति-मात्र से ही उसके होंठो पर मुस्कान फैल गई। विचार ने आकर विशेषज्ञ की मस्तिष्क-उलझनों को सुलझा दिया था। अब उसे कुछ चिन्ता नहीं थी।

विशेषज्ञ को समीप आया देखकर आतंकवादी जमा भीड़ में घुस गया और अपने शरीर को जान जानकर दूसरों के शरीर से भिड़ाने लगा। वह अनुभव करने लगा था कि उसका शरीर छूत की बीमारी का घर है और वह चाहता था कि वह सबको फैल जाय।

विशेषज्ञ मुस्कराते हुये उसकी इन अजीब हरकतों को देख रहा था पर अचानक मिन्नी को वहाँ उपस्थित देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। "शाबाश मिन्नी! बड़ी होशियार हो।" उसने मिन्नी के हाथ से ओवरकोट, हैट और चप्पल लेते हुये कहा। "मैं तो आतंकवादी के पीछे इन सबको भूल गया था।"

"कृपया पहिले आप इन्हें पहिन लीजिये।" उसने अनुरोध किया।

'अवश्य!' विशेषज्ञ ने कहा।

मिन्नी को अपने पति के पागलपन का कारण ज्ञात हो गया था। वह आश्चर्य-चकित होकर अनार्किस्ट को देख रही थी।

विशेषज्ञ बड़बड़ाया। "वास्तव में बड़ी गम्भीर घटना है।" पुनः मिन्नी की ओर देखते हुये उसने कहा, "तुन जानती होगी कि यह पीतवर्ण युवक मेरे घर केवल मुझसे मिलने आया था पर वास्तव में ऐसी बात नहीं। वह आया था भीषण अपराध करने पर मैं उसको बता देना चाहता हूँ कि विशूचिका-कीटाणु के स्थान पर वह गलती से नीले दाग डालने वाली ट्यूब को उठा लाया है जिसे वह पी चुका है तथा जिसकी कृपा के फल-स्वरूप उसके सम्पूर्ण शरीर पर नीले दाग उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। इस प्रकार नीले चकत्ते अधिकतर वन्दरों के शरीर पर उत्पन्न होते हुये देखे गये हैं। आतंकवादी उसे नगर भर की टंकी में छोड़ने जा रहा था। अजीब सी बात

होती जब नगर भर के शरीरों पर बन्दरों की तरह नीले चकते दिखाई देते। अनोखी सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती। क्या क्या होता, इसके विषय में विशेषज्ञ स्वयं भी अधिक नहीं जानता था क्योंकि वह बन्दरों के इस नीले रोग पर शोध-कार्य कर रहा था, और पूरी तरह किसी सत्य पर नहीं पहुँच सका था। हाँ! उसका प्रयोग विशेषज्ञ ने एक चिड़िया, एक बिल्ली के बच्चे और तीन कुत्ते के पिल्लों पर अवश्य किया था जहाँ वह सफल हुआ था और सबके शरीर नीले चकत्तों से भर गये थे। आतंकवादी ने उसे पी लिया था, हो सकता है उसके शरीर पर भी नीले दाग पड़ जायँ। आतंकवादी के नीले चकत्त वाले रूप का स्मरण करके वह मन ही मन मुस्कराया और उसे खुशी हुई कि वह उसे नगर की टंकी में नहीं डाल सका है, नहीं तो सबके सब नीले चकतों में दिखाई देते। अब तो आतंकवादी तक ही वह सीमित रहेगी, चलो छुट्टी हुई। पर उसे इस बात का अत्यन्त दुख हो रहा था कि उसका बहुत सा समय, पैसा और परिश्रम जो उसने इस नीले रोग शोधन के हेतु लगाया था बरबाद हो गया था तथा उसे शोध-कार्य पुनः प्रारम्भ से करना पड़ेगा।

—अनु० श्री० राम रत्न बडोला

[पृष्ठ ४८ का शेष]

था। यह ४७ फीट लम्बा था और खड़े होने पर इसकी ऊँचाई १६ फीट तक पहुँचती थी। यह पिछले पैर पर ही खड़े होकर चलता था और अगले पैर बाजुओं की तरह कुछ शिकार आदि पकड़ने के काम आते थे। इसका अवशेष मध्य युग की सभी शिलाओं में पाया जाता है। योरप, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका दक्षिणी अफ्रिका तथा भारत में इसके अवशेषों के अंश पाए जाते हैं। यह हिंसक जंतु (मेगालोसॉरस) दीर्घगोधिका की जाति का ही माना जा सकता है किन्तु इसका डीलडौल अधिक भारी था। इसकी खोपड़ी ४ फीट से भी बड़ी पाई जाती है। इसकी ठठरी का अवशेष पहले पहल सन् १६०२ ई० में इतने रूप में पाया गया कि उससे एक पूरी ठठरी खड़ी करने का अटकल लगाया जा सका। लुप्त अंगों व हड्डियों के लिए अन्य स्थानों में मिली हड्डियों के नाप-जोख से कुछ काल्पनिक अस्थियाँ प्लास्टर की बनाकर इसकी ठठरी एक जन्तु रूप में दिखाई पड़ सकने वाली बनाई जा सकी।

'प्रचंडगोधिका' (टाइरनोसौरस) के १६ फीट तक ऊँचे पहुँचने वाले डील-डौल और कटारीनुमा नुकीले दाँतों की तेजी उसके खून के प्यासे स्वभाव को बनस्पतिजीवी अन्य सरीसृपों के सामने किस रूप में रखती होगी, इसका काल्पनिक चित्र हम मन में बड़ी आसानी से खींच सकते हैं। ५, ६ फीट तक की, मनुष्य की ऊँचाई तो उसके सामने कुछ भी नहीं होती। यही हिंसक जन्तु उस समय के सब थलचरों का सम्राट रहा होगा जिसका दबदबा आजकल के बनों के राजा सिंह से भी अधिक रहा होगा।

[क्रमशः]

मध्य जन्तुक युग के विलुप्त जन्तु

ले०—जगपति चतुर्वेदी

आज से ७ कोटि वर्ष से १८ कोटि वर्ष पूर्व तक पृथ्वी के इतिहास में जिन विराट जन्तुओं का उदय होकर लोप हो गया उन्हें दानवसरट या महागोधिका का नाम देकर लेखक ने उनका मनोरंजक वर्णन देने का प्रयत्न किया है। विलुप्त जन्तुओं की इस कथा को पाठक अवश्य ही रुचिकर पाएगें।

महागोधिका या दानवसरट (डिनोसौरस)

महागोधिका सुनने में एक विचित्र शब्द सा ज्ञात होता है। कुछ अनजान और नवीन सा शब्द उस जन्तु के परिचय के लिए हम प्रयोग कर रहे हैं जिसके रूप का कोई पशु या दूसरा जन्तु आज देखने को नहीं मिल सकता। महागोधिका का अर्थ बहुत भारी या दानवाकार गोह हुआ। यही अर्थ विज्ञान जगत में प्रचलित यूनानी शब्द डिनोसौरस का है जिसमें 'डिनो' का अर्थ विकट और "सौरस" गोह की जाति का जन्तु है। वही अर्थ हमारा हिन्दी शब्द महागोधिका भी दे सकता है। हम इस विकट जन्तु का साधारण परिचय और अनेक भेदों के अवशेष की चर्चा करने के पहले यहाँ कुछ इस बात की चर्चा करना चाहेंगे कि अवशेष शिलाओं में किस प्रकार की परिस्थितियों में पाए जाते या बने हैं। हम इस जन्तु के वर्णन से उस वर्ग के जंतुओं के "अवशेष" की चर्चा प्रारम्भ कर रहे हैं जो स्थल पर के जीव कहे जाते हैं।

आज की दुनियाँ में जन्तुओं की कमी नहीं है। उनके अनेक भेद-विभेदों से सारी दुनिया पटी पड़ी है किन्तु हमारे मन में प्रश्न उठ सकता है कि हमें आज कितने नए अवशेष बनते दिखाई पड़ सकते हैं। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें बहुत सोचने की आवश्यकता नहीं। हम देखते हैं कि स्थल पर जीव-जन्तु मर कर कैसे जल्दी कीड़े-मकोड़ों, गीदड़ों, गिद्धों आदि से खा लिए जाते हैं। क़ब्र या समाधि में भी धरती के अन्दर की क्रिया उनकी हड्डी-हड्डी तक को कुछ दिन में बिल्कुल मिट्टी बना देती है। यह प्रकृति की नित्य की क्रिया है। यदि इतनी सफाई, फेर-बदल और उलट-पलट कर प्रकृति के अपने पूर्व रूप में लौट आकर एक जंतु के मर खप जाने पर नए पैदा होने वाले जंतुओं के लिए साफ़ मैदान बनाते जाने का कार्य जोर से न चलता रहे तो इतना कूड़ा-कबाड़, गर्द आदि संसार में फैल जाय कि आगे के जीवों को पग रखने का भी स्थान न मिले। समुद्र की गहराई में, उसकी निचली सतह तक में भी यह संहार-क्रिया जारी रह कर सृष्टि या जन्म लेने वाली जीव-मंडली की सुविधा के लिए स्थान खाली करती रहती ही है। प्रकृति के ये स्वाभाविक भङ्गी मृतजीव रूपी मल की सदा सफाई करने में कभी तनिक भी नहीं चूकते।

हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रकृति का जो क्रम है, वह जैसा आज है वैसा ही पूर्वकाल में भी उलट-फेर करते जाने और जीवों की जीवन-लीला समाप्त होने पर

उसके अंगों को अपने प्राकृतिक साधनों द्वारा टुकड़े-टुकड़े, अणु-अणु में विखेर कर फिर तत्वों में मिला देने का व्यापार कभी ढीला न पड़ा होगा। "मिट्टी का शरीर मिट्टी में ही मिल जाना है। इस पर तू क्यों इठलाता है।" यह दार्शनिक उपदेशकों की उक्ति मनुष्य शरीर के ही लिए नहीं, बल्कि सारे सृष्टि-मात्र के लिए है। अतएव साधारण रूप में जीव की ठठरी को तो कुछ वर्षों तक ही कहीं बचा सकना कठिन सा है, लाखों करोड़ों वर्ष तक बच सकने वाली ठठरियों के लिए अवश्य ही कुछ विशेष सुविधा मिली होगी। प्राचीन जन्तु के अवशेष उन शिलाओं में जमे मिलते हैं जो आज निश्चय ही समुद्र की सतह से ऊँची तहों पर पर्वत रूप में विद्यमान मिलती हैं। यह बात नहीं है कि सब अवशेष उन्हीं शिलाओं में बने होंगे जो आज ऊँची सतह पर या पर्वत रूप में हैं, बल्कि ऐसी शिलाएँ ही हमारी दृष्टि में आती हैं जो स्वाभाविक रूप से या मनुष्य के हाथों टूट-फूट कर जहाँ-तहाँ अवशेषों को दिखलाती हैं। इसीलिए हम इनकी बात कर रहे हैं। हम यह भी देखते हैं कि समुद्र से इतनी दूर और ऊँचे हिमालय ऐसा पहाड़ की तहों में भी समुद्री जीव या मछलियों तक के पुराने अवशेष मिल जाते हैं। इस स्थिति का स्पष्ट चित्र नेत्रों के सामने लाने के लिए हमें पर्वत-निर्माण की क्रिया पर एक पल दृष्टि डालनी चाहिए। उसको समझ लेने से हमें यह ज्ञात हो सकेगा कि हमें प्राप्त होने वाले अवशेषों में अधिकांश समुद्री जीवों या ऐसे जीवों के ही होते हैं जो समुद्र के छिछले पानी या उसके तट के पास के दलदलीय स्थान में रहते थे या कभी बाढ़ या बहाव के साथ नदी के मुहाने में पहुँच पाते थे।

आज भी आँधी, पानी, ओले आदि से पहाड़ और भूमि कट कट कर नदियों के बहाव से समुद्र के समीप पहुँच 'डेल्टा' बनाते या समुद्र के तल की भूमि ऊँची करते रहते हैं। पहले के युगों में शायद यह और प्रचंड रूप में होता रहा होगा। अधिक भारी नदियाँ अधिक भयानक रूप से बहती रहती होंगी। अब मान लीजिए कहीं समुद्र में कुछ दूर तक छिछला और कुछ और भीतर उससे कम छिछला अर्थात् कुछ अधिक गहरा पानी है। इन दोनों स्थानों में नदियों द्वारा बहाई मिट्टी, घास-पात, कूड़ा-कबाड़ आदि की तह जमती जाती है। छिछले पानी में तो थोड़ी मिट्टी जम पाएगी लेकिन उसके पास के ही गहरे पानी में अधिक तलछट यानी मिट्टी और सड़ी-गली आदि वस्तुएँ पेंदे में जमती जायेंगी। यह गहरे पानी की जमी तलछटीय तह मोटी होगी और कुछ समय में दबाव पाकर अवश्य ही कड़ी बनने लगेगी। उसी क्रिया में उसकी तह टेढ़ी-मेढ़ी और नीचे ऊपर मिट्टी की लहर बनाती सी जकड़ जायगी। फिर उस पर दूसरी मोटी तह जम जायेगी। यह भी धस कर मोटी बनेगा। कुछ समय के बाद भौतिक परिवर्तन होने से ये तहें भूकम्प द्वारा उठ कर ऊँची भूमि या लम्बे टीले या पठार रूप में होंगी। वह किसी समय फिर वर्षा आदि से कट कट कर नीची बन समुद्र के तल के के बराबर होती जायगी। फिर कालचक्र से उस पर सतह का हेरफेर होगा। वह समुद्र के पेटे में पहुँची रहेगी जिस पर तलछटीय तह नदियों द्वारा जमा होती जायगी और वह अपना दबना, कड़ा बनकर टेढ़ी-मेढ़ी ऊँची-नीची तह में धँसना जारी रख कर दूसरे युग में दूसरे परिवर्तनों के समय ऊँची भूमि हो जायगी। ऐसे ही कितने चक्रों और हेरफेरों के बाद भारी ऊँचा उठा हिमालय ऐसा पर्वत बनेगा।

अब यह देखना चाहिए कि यदि तलछट धीरे-धीरे जम रही है तो उसमें पहुँचे या किनारे रहते ही उन फँसे जीव का अवशेष बचना शायद ही सम्भव है। लाखों कीड़े-मकोड़ों, हिंसक जंतुओं और स्वाभाविक सड़ान की क्रिया द्वारा वह नष्ट हो जायगा, लेकिन तलछट का जमना इतना तेज है और ऐसे

शीघ्र परिवर्तन हो रहे हैं कि जीवित या मृत जंतुओं की एकादुका या सामूहिक समाधियाँ मिट्टी की तह से इतनी अधिक ढक जाती हैं कि हवा पानी, कीड़े-मकोड़ों आदि का कुछ प्रभाव नहीं पड़ पाता, तो उस अवस्था में बनी शिलाओं में अवशेषों का ढेर मिलेगा। यही कारण है कि हमें इतने अधिक रूप में अवशेष नहीं मिल सकते कि प्रत्येक युग की जीव-श्रेणियाँ पूर्ण रूप में हमें आज ज्ञात हो सकती हों। उदाहरण के लिए मनुष्य को ले लीजिए। अपनी बुद्धि और चपलता से वह सब मुसीबतों में अपनी रक्षा का साधन शायद ढूँढ़ लेता हो। इसलिए उसकी सावधानी और चतुरता के कारण ऐसी समाधि बनने का वह अपने शरीर को अवसर न देता हो। कदाचित यही कारण है कि हमें सारे संसार में उँगलियों पर गिने जाने योग्य ही मनुष्य के अवशेष बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सके हैं। पक्षियों के हवा में उड़ सकने, पेड़ों पर रहने और खोखली हल्की हड्डियाँ होने से उनका 'अवशेष' मिलना और भी कठिन है। अवशेषों के बनने की ये परिस्थितियाँ हैं। फिर भी जितनी छोटी-मोटी हड्डियाँ, खोपड़ियाँ, पूरे कंकाल के अवशेष, नर्म अंगों तथा पैरों तक के छाप हमें प्राप्त हैं, वे पूर्व काल के संसार का बहुत कुछ चित्र हमारे सामने रख देते हैं।

अब हम महागोधिका या दानवसरट की कहानी लेते हैं। पुराने विचित्र जीवों में भी विचित्र और भारी भरकम डीलडौल होने से इस को दानवों में दानव या महादानव कहने के लिए दानवासुर कहें तो अंग्रेजी के "डिनौसौर" नाम की भाँति इसका उच्चारण भी हो सकता है और अपने रूप रंग या डीलडौल की विकटता का एक चित्र स्वभावतः हमारे हृदय में खींच सकता है। प्राचीन कथाओं, पुराणों और किंवदन्तियों में राक्षसों, किन्नरों, दानवों आदि का नाम सुनते हैं। उनके लिए तो कोई प्रमाण या चिह्न हमें संसार में देखने को अब तक नहीं मिला। उनकी कथायें कुछ अर्थ रखती हों तो हम नहीं कह सकते, किसी अन्य जाति के मनुष्यों की भाँति ही बोलने चालने वाले जीवों का भी संसार को कुछ पता नहीं है, लेकिन यह सम्भव है कि जहाँ-तहाँ विलुप्त जन्तुओं के भयानक कंकालों वा अस्थियों का पता मिलने से लोगों ने बहुत सी कथायें गढ़ ली हों, किन्तु इतना तो विज्ञान की खोजों से कहा जा सकता है कि मनुष्य की उत्पत्ति से बहुत पहले ही उन विचित्र रूप के महाजंतुओं का विलोप हो चुका था जिन को सरीसृपों वा गोधिका के साथ विकट, महा वा दानवाकार विशेषण लगाकर प्रकट किया जा सकता है।

इस श्रेणी के जंतुओं की इक्की दुक्की हड्डियों के अवशेष पहले मिलते रहे होंगे। बड़े अकार की हड्डियाँ किसी अंग की होने पर भी लोगों को कुछ ज्ञात न होता होगा। इधर भी ऐसी कितनी हड्डियों के अवशेष मिलते रहे। लेकिन उनका वैज्ञानिक अनुसंधान न होने से यह ज्ञात न हो पाता था कि वे किस विशेष जंतु के होंगे। पहले पहल अवशेषों की विद्या के संस्थापक श्रीयुत कुवियर महोदय ने महागोधिका के वंश की कभी धरती पर पूर्व युग में तूती बोलते रहने की भविष्यवाणी की और बताया कि पृथ्वी पर कभी ऐसे विचित्र आकार प्रकार के भारी भरकम जानवर ही फैले होंगे जो सरीसृप श्रेणी के ही जीव रहे होंगे। तब से कितने ही स्थानों पर मिली कितनी ही छोटी बड़ी अकेली हड्डियों और कहीं एक तह में ही लेकिन दूर दूर और समय समय पर मिली अंग की भिन्न भिन्न हड्डियों के मिलते जाने से इन भारी जन्तुओं का कुछ मोटा ढाँचा अनुमान किया जा सका। कितने ही स्थानों पर अवशेष रूप में दो ही दो बहुत भारी पैरों के चिह्न शिलाओं की पुरानी तह पर मिल थे जो ऊपर से दूसरी शिला की तह से जम जाने से अब तक सुरक्षित रह सके। इन चिन्हों में कुछ इतने बड़े थे कि एक पैर का चिह्न एक वर्गगज भूमि घेरता था।

यह एक भारी पहेली बहुत दिनों तक बनी रही कि दो ही दो, और उन में भी कुछ इतने बड़े पग चिह्न किन जन्तुओं के हो सकते हैं। पक्षियों के दो पैर होते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान होता है कि वे पक्षियों के ही शायद हों किंतु यह तो बड़ी बेतुकी और असम्भव सी बात लगती है। हाथी के पैर से भी बड़ा जन्तु यदि पक्षी हो तो उसका क्या रूप होगा किंतु कुछ और अवशेष मिलने और उनका कुछ ढाँचा बनाने पर ज्ञात हुआ कि ऐसे भारी जन्तु महा-गोधिका (डिनोसौर) श्रेणी के ऐसे जीव थे जो अपने पिछले दो पैरों पर खड़े हो कर कंगारू की तरह चल सकते थे। अगले पैर कुछ आकार में छोटे थे। इसलिए अवशेष में एक जोड़ा बड़ा और दूसरा जोड़ा छोटा पग पाकर इस बात का निश्चय किया गया कि हो न हो, वे चिह्न इन भारी जन्तुओं के ही हैं।

कुछ महागोधिका या दानवसरट छोटे आकार के थे और कुछ बहुत बड़े आकार के। ऐसा मालूम पड़ता है कि इनकी प्रारंभिक सृष्टि कुछ छोटे आकार की हुई, इसलिए अधिक पुरानी शिलाओं में इनकी छोटी ठठरी के अवशेष मिलते हैं, किन्तु आगे के कालों में इनका रूप भारी और अनेक रूपों का होता गया। कुछ ठठरियों के अवशेष में हम आगे वाले पैरों को भी पिछले पैरों के बराबर ही या उससे कुछ ही छोटा पाते हैं। वे शायद चारों पैरों से चलते हों। उनमें से बाद में जो पीढ़ियाँ आईं वे धीरे-धीरे पिछले पैरों पर खड़ा होकर चलना या अपना आहार ढूँढ़ना प्रारम्भ करने लगीं। फिर इसी अवस्था में अधिक रहते-रहते उनकी कमर भारी होती गई। पिछले पैरों के ऊपरी जोड़, कूल्हे और रीढ़ की अंतिम हड्डियों या कशेरुकाओं का रूप भी इस तरह होने लगा कि वे खड़े रहने में अधिक सुभीता पा सकें। इस कारण काम में न आने से आगे की बाहें या पैर हल्के या छोटे रूप के बनते गए। पूरा शरीर इसी रूप के सुभीते के अनुसार ढलने लगा।

शरीर के भारीपन को सँभालने के लिए हम उनके भारी पैर देखते हैं, जिनमें अंगुलियों में चंगुल से निकल आए थे, अगली टाँग भी चंगुल वाली थी, जिससे वे पत्ती, समुद्री पौधे आदि नोच कर मुँह में डालते। किसी जानवर पर हमला करना होता तो उन चंगुलों से काम लेते या यदि वे मांसाहारी थे तो दूसरे जानवर को उन्हीं चंगुलों से दबोच लेते। हम इनके दो प्रकार के भेद देखते हैं जिनको शाकाहारी और मांसाहारी कहते हैं। शाकाहारी सीधे जन्तु रहे होंगे। उनकी ऊँची देह, दो पैरों पर खड़ा होने से और भी ऊँचा धड़ और अधिकतर सब में लंबी गर्दन, यह सब स्थिति उनको बड़े-बड़े पेड़ों की नर्म पत्तियों तक पहुँचाने के लिए बिलकुल अनुकूल थी। हिंसक जन्तुओं में पैने दाँत और सिंह की तरह फ़ुर्ती तथा साहस इनको स्थल पर बड़ा भयानक रूप दिए होंगे।

महागोधिका जाति के जन्तुओं का डील-डौल देख कर हम उनमें से कुछ को घड़ियाल के आकार से तुलना कर सकते हैं और दूसरे प्रकार के दो पैरों पर चल सकने वाले जन्तुओं का शुतुर्मुर्ग जाति के पक्षियों से मिलान कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के जन्तुओं का कुछ आकार इस तरह मिलता देख कर प्रोफेसर हक्सले सरीखे विद्वान तक यह कहने लगे थे कि पक्षियों की समूची जाति इन्हीं महा-गोधिकाओं (डिनोसौर) के वंश से उत्पन्न हुई होगी। परन्तु दूसरे वैज्ञानिक इस मत को निराधार बताते रहे। अनेक अवशेषों और महागोधिकाओं के शरीर का पूरा अध्ययन कर उन्हें पक्षी-जाति का पूर्वज विज्ञान नहीं मानता। इन विरोधी पक्षों में सर हेनरी ओवेन जैसे विद्वान थे जिन्होंने बहुत सोच विचार कर इन जन्तुओं का नाम डिनोसौर रक्खा।

महागोधिका जाति के जन्तु सारे संसार में फैले

थे। अतएव उनके अवशेष योरप, अफ्रीका, भारत, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया तक में मिलते हैं। घड़ियाल के शरीर में रीढ़ की रक्षा के लिए एक हड्डी की पट्टी होती हैं। कुछ महागोधिकाओं में यह हड्डी की पट्टी होती है। रीढ़ जिन छोटी-छोटी हड्डियों से वनी होती है वह अंगूठी की गोलाई लेते हुए इस तरह की होती है कि उनके एक दूसरे से मिलने पर एक तो खोखली नली सी वन जाती है जो मस्तिष्क तक जाने वाली स्नायुओं को स्थान देती है, दूसरे एक मिली हुई दृढ़ सीढ़ी सी वन जाती है जिसके सहारे पसलियाँ ठठरी में जुड़ी रह कर धड़ वनाती हैं। यह स्नायुओं को स्थान देने वाली छोटी-छोटी हड्डी कशेरुका (वर्टीवरी) कहलाती है। यदि इन कशेरुकाओं से वनी नली पतली है तो उस जानवर की खोपड़ी में मस्तिष्क भी छोटा ही होगा और वह वहुत चतुर नहीं हो सकता। इसी तरह कुछ और वातें अनुमान कर या जोड़ों का रूप रंग देख कर हेनरी ओवेन ऐसे विद्वानों का यह दावा होता था कि एक कशेरुका को देख कर वे उस जन्तु का वहुत कुछ रंग-ढंग अनुमान कर सकते हैं। किन्तु स्तनपायी जन्तुओं के लिए कशेरुका के स्थान पर दाँतों की दृष्टि से जाति पहचान सकना वे अधिक सुगम समझते थे। महागोधिकाओं की कशेरुकाओं के नीचे ऊपर के दोनों सिरे खोखले या अधखोखले पाए जाते हैं। यही वात मच्छगोधिका (इचथ्योसौरस) की रीढ़ में भी पाई जाती है। यह प्रबंध शायद प्रकृति ने इसलिए किया कि रीढ़ वहुत भारी न हो जाय जिससे महागोधिका के पैर संभाल न पावें।

हाथी और दरयाई घोड़े को अपने आकार के सामने तुच्छ वता सकने वाले और ८०, ८४ फीट की लंवाई तथा ३० फीट तक ऊँचाई के जन्तुओं का संसार जैसा रहा, उसके कुछ रूपों को समझने के लिए हम उनके एक-एक भेदों के कुछ जन्तुओं की चर्चा करेंगे। इनका कितने समय तक फैलाव था, किन स्थानों पर उनके मुख्य अवशेष प्राप्त हो सके हैं, उनका आकार-प्रकार और स्वभाव क्या रहा होगा, इनकी चर्चा साथ-साथ की जायगी। उनके अवशेषों के आधार पर वैज्ञानिकों द्वारा अनुमान किए हुए कंकाल या चित्रकारों द्वारा अनुमानित चित्रों का अवलोकन कर उन वर्णनों की सहायता से उन जन्तुओं का कुछ स्थूल रूप अनुमान करना कठिन न होगा।

हिंसक महागोधिकाएँ

आक्सफोर्ड से लगभग १२ मील दुर स्लेट की पुरानी शिलाएँ जिनमें वहुत से अवशेष पाए जाते हैं। उन्हीं में मिली कुछ अंगों की अस्थियाँ वैज्ञानिकों के सामने आईं। डा० वकलैंड और श्री कुवियर नाम के वैज्ञानिकों ने सन् १८२४ ई० में इनकी जाँच की, इन अवशेषों की हड्डियों में दाँत सहित नीचे के जवड़े का भाग, एक जाँघ की हड्डी, रीढ़ के कुछ हड्डियों (कशेरुकाओं) की लड़ी और कुछ और टुकड़े मिले। उन हड्डियों से उन विद्वानों ने हिसाव लगाकर देखा कि वे अवश्य ही किसी वड़े जन्तु की होंगी। इसलिए उस जंतु का नाम उन लोगों ने मेगालोसौरस (ग्रेट लिज़ार्ड) रक्खा। इसका नाम दीर्घ गोधिका कह सकते हैं। ये सब हड्डियां एक ही कंकाल की तो नहीं थीं, किन्तु एक ही शिला के तह में मिली थीं, इसलिए कुछ विद्वानों ने ठीक ही हिसाव लागाया कि वे एक ही जाति के किसी जन्तु की होंगी। इस जन्तु की पूरी ठठरी के अवशेष तो प्राप्त नहीं हैं, लेकिन वैसे ही दाँतों और अंगों के दूसरे कंकाल एक दूसरे जन्तु के के मिले हैं जिसे सिराटोसौरस (शृंगीसरट या सींग वाली गोधिका) नाम दिया गया है। इस नाम का यह कारण है कि इसके थूथुन पर सींग होती है।

डा० मैंटेल नाम के वैज्ञानिक को एक दूसरे स्थान की शिला में ऐसे ही दांतों सहित दोनो जवड़ों के

भाग पहले ही मिले थे। ये जवड़े संग्रहालयों में रक्खे हैं। एक जवड़े में नौ दाँत या उनकी जड़ों के गड्ढों की पंक्तियाँ पाई जाती हैं। दांतों की वनावट से साफ जाना जा सकता है कि वे किसी हिंसक जन्तु की हैं। इस मेगालोसौरस (दीर्घ गोधिका) हिंसक महा-गोधिकाओं का नमूना बना लिया गया है। यह जन्तु लगभग ३० फीट लंबा, पिछले पैरों से खड़े होकर दो पैरों से दौड़ने या कुलाँचे मारने वाला जन्तु रहा होगा जिसके कटारीनुमा नुकीले पैने लंबे दाँत, मजबूत पंजे और छोटा सिर उसका भयानक रूप बनाते होंगे। शुतुर्मुर्ग की हड्डियों की भाँति इसकी कुछ हड्डियों के भाग देखकर इसके दो पैर पर खड़े होने का अटकल लगाया जा सका है। इतनी थोड़ी सी हड्डियों से ही इसके रूप रंग आदि का हिसाव वैठा सकना वैज्ञा-निकों के लिए एक प्रशंसा की बात है।

जहाँ मेगालोसौरस की अकेली दुकेली हड्डियों से उसके पूरे आकार प्रकार का हिसाव बैठाया गया था, वहाँ वैज्ञानिकों की मानो इन सूझों को ही ठीक साबित करने के लिए इसी प्रकार की मिलती जुलती जाति के जन्तुओं के पूरे कंकाल अवशेषों के रूप में अमेरिका के खोजियों को प्राप्त हो सके! इनमें अल्लोसौरस नाम का जन्तु है जिसका अवशेष कोलोरडो की प्रसिद्ध घाटी में प्राप्त हुआ जो अवशेषों की निधि ही कही जा सकती है। यह अवशेष जुरासिक काल की शिलाओं में पाया गया जो आज से १५ करोड़ वर्ष पहले वननी प्रारम्भ हुई थीं और जिस काल में धरातल पर पहले पहल फूलों का उदय हुआ था।

एकसिंगी गोह या एकशृंगी गोधिका (केराटोसौरस)

एकशृङ्गी गोधिका की पूरी ठठरी के अवशेष अमेरिका में प्राप्त हुए हैं। इस संबंध की खोज का श्रेय प्रोफेसर मार्श नाम के प्रसिद्ध वैज्ञानिक को है। इस जंतु में सींग ही एक विशेषता नहीं थी वल्कि इसके रीढ़ की हड्डियाँ भी अजीब तरह की बनी थीं और उनके ऊपर हड्डियों की बाढ़ या अर्बुद खोपड़ी के पीछे से लेकर पूरी गर्दन, और पीठ पर ऊपर निकले हुए थे। ऐसे उभड़े भाग या अर्बुद गर्दन या पीठ के ऊपर छाए हुए लम्बी ढाल की तरह होंगे जिन पर चमड़े की ओढ़नी लगी होगी। घड़ियाल की पीठ और गर्दन में यह अर्बुद या हड्डियों की बाढ़ छोटे-छोटे कोहानों की माला की तरह देखी जा सकती है। यही नहीं, कूल्हे की हड्डी रीढ़ की अंतिम हड्डियों से मिलकर एक हड्डी सी बनी हुई थी जिसका नमूना शुतुर्मुर्ग या अन्य चिड़ियों में देखा जा सकता है जिन्हें दो पैरों पर ही खड़े होने या चलने का काम पड़ता है। यह जन्तु कुछ विशेष चतुर था। क्योंकि इसका मस्तिष्क कुछ बड़ा मालूम होता है। इसकी कुछ उंगलियाँ चगुल रूप में बदली थीं। इसे दीर्घगोधिका (मेगालो-सौरस) जाति का ही कहा जाता है। अवशेष में इस जंतु की लम्बाई २२ फीट थी।

इस हिंसक जंतुओं के एक छोटे नमूने का अवशेष पूरे रूप का मिला है। इसकी लम्बाई २ फीट ही होगी लेकिन यह बड़ा तेज और दो पैरों पर दौड़ने वाला शिकारी जंतुओं या चिड़ियों का शिकार करता होगा। कोम्पसोगनथस नाम से इसे पुकारा गया है। इसकी ठठरी और कूल्हे की हड्डियों के देखने से वैज्ञानिकों को पूरा विश्वास हुआ कि यह अवश्य ही दो पैर पर चल व कूद सकने वाला जंतु होगा। इसकी गर्दन लम्बी, सिर छोटा और आगे के वाजू नन्हें-नन्हें थे। इन वाजुओं से वह बिल्ली के अगले पैरों के चंगुल की तरह शिकार के जानवरों को दबो-चने का काम लेता होगा।

किन्तु सभी हिंसक गोधिकाओं में 'टाइरनोसौरस' या 'प्रचंडगोधिका' का रूप सबसे बड़ा और भयानक

[शेष पृष्ठ ४२ पर]

फसल के शत्रु

लेखक—शंकर राव जोशी

यह लेख क्रमशः छप रहा है। यहाँ फसल के कीड़ों का वर्णन किया गया है।

ब—तना-मूल भक्षक कीड़े

ओडोई पोरस—यह दो प्रकार का होता है। स्थानीय नाम ज्ञात न हो सकने के कारण लैटिन नाम के पूर्वार्द्ध को ही स्वीकार करना पड़ा है। इस कीड़े का लैटिन नाम Odoiporus longicollis और O. Planipennis है। इल्ली तने में छेद करती है, जिससे पौधा मर जाता है। अण्डे में से निकलने के बाद ही दो माह की अवधि में ही कीड़ा पूर्णावस्था प्राप्त कर लेता है। भुंगा, दो साल तक जिंदा रहता है। यह सुस्त प्राणी है। और पौधों पर बारहों महीने दिखाई देता है। पुराने ठूंठ पर यह आक्रमण नहीं करता है। यह पत्र-कोष में रहता है और वहीं बैठ कर तने को खाता है। भारत के कुछ भागों में यह बहुत ज्यादा नुकसान करता है।

उपचार—कीट-ग्रस्त पौधे को काटकर उसके पत्तों की पर्तें खोल कर देखी जायं और कीड़ों को एकत्रित कर नष्ट कर दिया जाय।

स—रस पीने वाले कीड़े

मोया, लाही आदि पर पहले लिखा जा चुका है, तदनुसार ही उपाय-योजना की जाय। खटमल की जाति के कीड़ों के लिए सांसर्गिक-विषौषधि छिड़की जानी चाहिए।

आड़ू के झाड़ के कीड़े

फल मक्खी—आड़ू के झाड़ पर आक्रमण करने वाले कीड़ों में से फल-मक्खियां ही पैदाइश को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचाती हैं। इन के सम्बंध में, संक्षेप में, पहले लिखा जा चुका है। ये सपोटा, बेल, लूकाट, आम, आड़ू, पोमेलो, लाल मिर्च आदि फलों को भी नष्ट करती हैं।

उपचार—फलों की लगभग आधी बाढ़ हो जाने पर ही मादा फल पर अण्डे रखती है। फल पकने का समय आने तक इल्ली (इसके पैर नहीं होते) की पूर्ण बढ़ हो जाती है। इल्ली तब फल में से निकल कर जमीन पर गिर पड़ती और मट्टी में कोश बनाती है और दूसरे साल, फलों की आधी बाढ़ होने तक कोशावस्था में ही पड़ी रहती है। कभी-कभी डेढ़-दो साल तक पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा कोश से बाहर निकलता है।

तीन औंस लेड आर्सेनेट और आधा पौंड गुड़ को पाँच गैलन पानी में मिलाकर पत्तों पर छिड़का जाय। पत्तों पर जमी हुई ओषधि की बूंदों को पान कर कीड़ा मर जाएगा। झाड़ों पर जगह-जगह इस ओषधि में डुबाई गई शाखाएं बाँध देने से भी काम चल सकता है।

कीट-ग्रस्त फलों को पानी में डाल कर उबाला जाय। इससे कीड़े मर जाएंगे। इन फलों को जमीन में कदापि न गाड़ा जाय।

लाही, चिकटा आदि के सम्बंध में पहले लिखा ही जा चुका है।

बादाम, सपोटा, अंजीर, बेर, सिंघाड़ा, शहतूत, इमली, पपीता आदि फल के झाड़ों पर कई प्रकार के कीड़े आक्रमण करते हैं। किन्तु इससे नाम मात्र की ही हानि होती है। अतएव अनावश्यक समझ कर इन फल के झाड़ों के शत्रुओं के सम्बंध में इस पुस्तक में कुछ नहीं लिखा गया है।

ताड़ की जाति के पौधों के कीड़े

नारियल के झाड़ के कीड़े

अ—रोपों को हानि पहुँचाने वाले कीड़े

दीमक—इस पर पहले लिखा जा चुका है। तमाखू के बेकार डंठलों को पौधे के आस पास, सिंचाई के लिए बनाए गए आलवाल (थाले) में, छोटे छोटे टुकड़े करके गाड़ दिया जाय।

ब—पत्ता और अकुर खाने वाले कीड़े

पटली—यह कीड़ा ताड़ की जाति के कई पौधों पर पाया जाता है। खजूर और नारियल पर भी यह आक्रमण करता है। छोटे पौधों के पत्तों पर से इल्ली को हाथ से चुन कर जला दिया जाय।

गेंगरा:—इसका लैटिन नाम Gangara Thyris है। इल्ली, ताड़ की जाति के कई पौधों पर जीवन-यापन करती है। यह अधिकतर शोभा के लिए बोये गए ताड़ के पौधों और शिशु-पालन-गृह (नरसरी) में के नारियल के पौधों को ज्यादा नुकसान पहुंचाता है। पत्तों को लपेट कर बनाई गई नलिका में बैठ कर इल्ली पत्ते खाती है। कोश भी यहीं बनाती है। छोटे पौधों पर की इल्लियाँ सरलता पूर्वक पकड़ी जा सकती हैं।

आकुटेलु—कीट-ग्रस्त पत्तों को काट कर जला देना ही उत्तम है। छोटे पौधों पर ओषधि छिड़की जा सकती है। बड़े झाड़ों पर दवाई छिड़कना संभव नहीं। तने पर लगे हुए कोशों को एकत्रित करके नष्ट कर दिया जाय।

भोमरा या गैंडा भुंगा—भुंगा डेढ़-दो इंच लम्बा और काले रंग का होता है। पूर्णावस्था प्राप्त प्राणी रात के समय उड़ कर पौधे के बढ़ने वाले भाग के अंकुर के आधार के पास छेद करके तने में घुस जाता है। पत्तों की छतरी को बारीकी से देखने पर बढ़ने वाले भाग के पत्तों के आधार के पास तन्तु-मय पदार्थ दिखाई देगा। इसको हटाने पर लगभग दो इंच व्यास का छेद नजर आएगा। यह छेद एक फुट तक गहरा होता है। खाने के बाद बचा हुआ पदार्थ कीड़ा इस छेद द्वारा बाहर फेंकता जाता है। बढ़ने वाले भाग का गाभा खा लिया जाने से पौधा मर जाता है।

मादा, सभी प्रकार के सड़े-गले वानस्पतिक पदार्थों पर मूंग के आकार के सफेद अण्डे रखती है। इल्ली, हाथ के अंगूठे के समान मोटी, माँसल और शलदार होती है। इस का सिर लाल और जबड़े मजबूत होते हैं। खाद या अन्य सड़े हुए पदार्थों के ढेर, सूखे हुए झाड़ के तने में इल्ली पोषण पाती है। और कोश से बहर निकलते ही भुंगा पौधे पर आक्रमण करता है।

उपचार—गड्ढे में से खाद निकाल कर जमीन पर फैला दिया जाय। और इस में से इल्लियों को चुन कर जला दिया जाय। सूखे और सड़े हुए, ताड़, नारियल आदि के तनों को चीर कर उनमें से इल्लियां निकाल ली जाँय और तने के कोमल गाभे को खुरचकर जला दिया जाय। सड़े-गले वानस्पतिक पदार्थों के ढेरों को नियमित रूप से जमीन पर फैलाकर इल्लियों को एकत्रित कर के जला दिया जाय।

भुंगा प्रकाश की ओर आकर्षित होता है। अतएव बगीचे में स्थान-स्थान पर कचरा-कूड़ा आदि के ढेर लगा कर रात के वक्त एक साथ ही आग सुलगा दी जाय। ज्वाला देखते ही भुंगा उधर को दौड़ पड़ेगा और ज्वाला में गिरकर जल जाएगा। जो भुंगे आग में न गिरें, उन्हें डंडे से पीट कर मार डाला जाय।

डेढ़-दो फूट लम्बे कड़े तार के एक सिरे की नोक, सुई की नोक के समान नुकीली बनाली जाय। यह तार कीड़े द्वारा बनाए गए छेद में डाला जाय। दबाने से तार कीड़े की देह में घुस जाएगा। तार को बाहर खींचने पर कीड़ा भी बाहर निकल आएगा। इस प्रकार भुंगे को निकाल लेने पर डामर से तर किए गए रुई के फाहे को छेद में भर कर गीली मट्टी से छेद का मुँह बंद कर दिया जाय। एप्रिल-मई में ही कीड़ा पौधे पर आक्रमण करता है। अतएव इन्हीं महीनों में इसे नष्ट करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

खाद और सड़े गले पदार्थों के ढेर पर सुअरों को चरने दिया जाय। वे इल्लियों को खा लेंगे।

स—तना पर आक्रमण करने वाले कीड़े

सुंडिया भुंगा—इसे मद्रास की ओर सेवण्डु कहते हैं। यह नारियल आदि ताड़ की जाति के पौधों का भयानक शत्रु है। इस भुंगे की केवल इल्ली पौधे को नुकसान पहुंचाती है। मृतप्राय झाड़ों के तना आदि के छेदों, और खोखलों में चपटी इल्ली वृद्धि पाती है। इल्ली को पैर नहीं होते हैं। इसके जबड़े बहुत ही मजबूत होते हैं। छाल के नीचे ही कोशावस्था व्यतीत की जाती है। पूर्णावस्था प्राप्त लाल रंग का भुंगा दो इंच लम्बा होता है। इसके वक्ष पर काले धब्बे होते हैं। इसकी थूथन (snout) लम्बी और मजबूत होती है। थूथन से ही कीड़ा कोमल तने में छेद करता है। मादा, भोंमरा द्वारा किये गए छेद और ताड़ी निकालने के लिये बनाए गए खाँचे में, अण्डे रखती है। इसलिए ताड़ी निकालने का मौसम खतम होने पर, खाँचे पर डामर पोत देना अनिवार्य है। भोमरा द्वारा बनाये गए सब छेद भी डामर में भींगे हुए रुई के फाहे से बंद कर दिए जायँ। सूखे और सड़े हुए ताड़ आदि के तनों को चीर कर इल्लियां नष्ट कर दी जायँ।

भोमरा, हरे झाड़ के पत्तों की छतरी के वृद्धि-शील भाग के आधार के पास छेद करता है। किन्तु इसकी इल्ली सड़े-गले पदार्थों पर ही जीवन-निर्वाह करती है। अतएव पूर्णावस्था-प्राप्त प्राणी इस छेद में स्थायी रूप से नहीं रहता है। भोमरा के चले जाने पर सुंडिया भुंगा की मादा इस छेद में अण्डे रखती है। अतएव इन छेदों को बंद करना परमावश्यक है।

ताड़, खजूर, सुपारी, और शोभा के लिये लगाए गए ताड़ के झाड़ों पर, नारियल के झाड़ पर आक्रमण करने वाले सभी कीड़े हमला करते हैं। अतएव इन झाड़ों के शत्रुओं के बारे में अलग अलग नहीं लिखा गया है।

उद्यान के अन्य पौधों के कीड़े

क्रायसैंथिमम (Chrysanthimum) के कीड़े

कोलिया—इस पर अन्यत्र लिख आए हैं। यह पत्ते खाता है।

चिकटा, लाही आदि कोमल भागों पर जम जाते हैं। साबुन मिश्रण छिड़का जाय।

दीमक—इसके सम्बन्ध में गत पृष्ठों में कई जगह लिखा जा चुका है।

गुलाब के कीड़े

अ—पत्रभक्षक कीड़े

कई प्रकार के कीड़े गुलाब के पत्ते खाते हैं। कभी-कभी तो पौधे पर एक भी पत्ता अखंड नहीं रहने पाता है। सभी पत्र-भक्षक कीड़ों को नामशेष करने के लिए उदर-विष छिड़का जाना चाहिए।

कुछ कीड़े पत्तों को बाँध कर गुच्छा-सा बना लेते हैं और उसी के भीतर रहकर इल्लियां पत्ते खाती हैं। गुच्छों को तोड़ कर जला देना ही उत्तम है।

ब—कली व फूल खाने वाले कीड़े

जूरी—इल्ली छेद कर कली में घुस जाती और भीतर ही भीतर उसे खाती रहती है। छेद को देखकर कली के कीट-ग्रस्त होने का पता सहज ही चल जाता है। कीट-ग्रस्त कली को तोड़ कर गरम पानी में उबाल कर जला कर कीड़ा मारा जा सकता है।

कली या फूल खाने वाली अन्य इल्लियों को हाथ से पकड़ कर ही मार डालना चाहिए।

दीमक, कभी-कभी मूल, तना और कलमों को नष्ट कर देती है। सिंचाई के पानी में क्रूड आइल इमलशन या फिनाइल का हलका मिश्रण मिला दिया जाय।

क—रस चूसने वाले कीड़े

मोया, लाही, लप्पी आदि को मारने वाली ओषधियां छिड़की जायँ।

च—तना-शाखा में छेद करने वाले कीड़े

मयद के समान एक कीड़ा तने में छेद करता है। इन कीड़ों से पौधे की रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। कीट-ग्रस्त भाग या पौधे को हटाकर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

बगीचे में बोये गए फूल झाड़ों पर उदर-विष छिड़कने से अधिकांश पत्र-भक्षक कीड़ों से छुटकारा मिल सकता है। छोटी क्यारियों में बोये गए पौधों को अकसर देखते रहना चाहिए और इल्लियों को पकड़ कर तुरन्त ही मार डालना चाहिए।

ओषधि और रंग के पौधों के कीड़े

तमाखू की फसल के कीड़े

अ—रोपे खाने वाले कीड़े

मुल्ल—यह कीड़ा चार-पाँच प्रकार का होता है। चने के कीड़ों के अन्तर्गत इसका वर्णन किया जा चुका है। पौधे के आसपास की मट्टी को हटाकर इसे पकड़ कर मार डालना चाहिए।

बूट—इस पर पहले लिख आए हैं।

झिंगुर—इससे फसल को बहुत कम हानि पहुँचती है।

घुरघुरा—यह कीड़ा भूले-भटके ही इस फसल पर आक्रमण करता है। यह अपने छिपने के लिए बिल खोदता है, जिससे जड़ें कट जाती हैं।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

अरकन व कोलिया—इस पर अन्यत्र लिखा जा चुका है,

जूरी—मादा पत्ते पर—विशेषकर ऊपर के पत्ते पर, अलग-अलग अण्डे रखती है। इल्ली पत्ते खाती है, जिससे पत्तों में बड़े-बड़े छेद हो जाते हैं। मट्टी में कोशावस्था बिताई जाती है। यह अरहर और चने की फलियां भी खाती हैं। इस पर पहले लिख आए हैं।

पोपटिया टीड़—मादा मट्टी में पास-पास अण्डे रखती हैं। पूर्ण बाढ़ होने तक शिशु (परी) पत्तों पर जीवन-निर्वाह करता है। यह तमाखू, गोभी, और कुछ अन्य पौधों पर भी पाया जाता है। पूर्णावस्था कीड़ा भी तमाखू के पत्ते खाता है। टिड्डे को हाथ से या थैली से पकड़ कर जला दिया जाय।

स—तमाखू की डोड़ी खाने वाले कीड़े

जूरी—यह डोड़ी में छेद करके बीज खाती है।

भेरवा—बिल बनाने के लिए कीड़ा जमीन खोदता है, जिससे पौधे को क्षति पहुंचती है।

चिकटा—गत पृष्ठों में काफी लिख आए हैं।

अफीम की फसल के कीड़े

बड़ी मुल्ल—इल्ली जड़ों पर जीवन-निर्वाह करती है।

जूरी—पहले कई स्थान पर वर्णन किया गया है।

मुल्ल, अरकन व बूट पर पहले लिखा जा चुका है।

गोदला—यह शायद ही एक आध बार इस फसल पर आक्रमण करता है।

वर्त्तमान में अफीम की काश्त बहुत घट गई है और धीरे-धीरे प्रति वर्ष घटती जा रही है। अतएव इस फसल के शत्रुओं के सम्बंध में अधिक लिखना उचित नहीं समझा गया है।

साग-भाजी की फसल के कीड़े

स्वस्तिकाकार पुष्प वाली फसलों के कीड़े

(सरसों की जाति की फसलें)

सरसों-राई की फसल के कीड़े

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

काली इल्ली—मादा पत्तों पर अंडे देती है। इल्ली दिन में पत्ते खाती और रात को मट्टी के अन्दर रहती है। इल्ली पत्ते और फूल में छेद करती और पौधे के बढ़ने वाले भाग के सिरे को काटती है। इस पर एक परोपीजीवी कीड़ा

अंडे रखता है। इससे फसल को साधारण हानि पहुँचती है।

मेहरी—इल्ली पत्तों को खाती है। पर, साथ ही फलियों पर भी आक्रमण करती है। पत्ते खाने से तो फसल का कुछ बिगड़ता नहीं है। किन्तु फलियों पर आक्रमण होने पर पैदावार बहुत घट जाती है। मादा पत्तें पर पास पास अंडे रखती है। इल्ली के शरीर पर दूर दूर लम्बे बाल होते हैं।

अधिकता से पाया जाता है। कमजोर फसल को तो यह नष्ट ही कर देता है। पुष्ट और जोरदार पौधे इसकी मार सह लेते हैं। एक प्रकार का आमिषभोजी कीड़ा इन्हें खाता है।

स—फली खाने वाले कीड़े

मेहरी—इसके सम्बन्ध में ऊपर लिखा ही गया है। पत्तों पर कीड़ा नजर आते ही उनके नाश की उपाय-योजना करने से फूल और फली की रक्षा आप ही आप हो
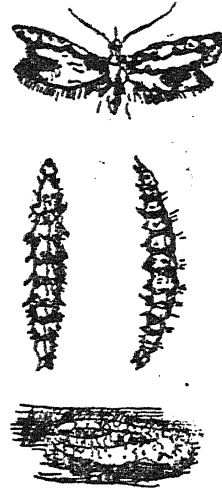
चित्र २४—स्वस्तिकाकार पुष्प वाले पौधों के कीड़े

जाती है। देरी से पकने वाली फसल को इस कीड़े की मार से बचाना बहुत ही कठिन होता है।

उपचार—कभी कभी इल्ली पूरे झाड़ को जाले-से बाँध देती है और तभी फसल के लिये हानिकर हो जाती है। प्रथम आक्रमण के वक्त ही जाली से बँधे हुये भाग को तोड़ कर इल्ली मार डाली जाय और पौधों पर उदर-विष छिड़क दिया जाय। फली निकलना शुरू होने से पहले ही उपाय-योजना की जाय। मिट्टी के तेल से भीगी हुई राख छिड़कने से पत्तों पर आक्रमण नहीं हो पाता है।

ब—रस पीने वाले कीड़े

चोपड़ो—यह पाँच प्रकार का होता है। एक प्रकार का चोपड़ो (A. brassicae) भारत के सभी भागों में

मूली, नोलकोल, राई-सरसों; शलजम आदि पर एक ही प्रकार की इल्ली पाई जाती है, जो पत्तों को सफाचट कर जाती है। उदर-विष छिड़क कर इसका नाश किया जा सकता है।

गोभी की फसल के कीड़े

गोभी पर आक्रमण करने वाले सभी कीड़े न्यूनाधिक रूप से, नोलकोल, टर्रानप, मूली, लेटयूस और क्रेस पर भी

पाए जाते हैं। अतएव इन फसलों के कीड़ों पर एक साथ ही विचार किया जा रहा है।

चींटी—इस का लैटिन नाम Dorylus orientalis है। यह दीमक की तरह जड़ों पर, जमीन के अन्दर से आक्रमण करती है। सिंचाई के पानी में क्रूड ऑइल इमलशन मिलाने से इसका उपद्रव कुछ कम हो जाता है। दीमक का उपद्रव भी इसी तरीके से कम किया जा सकता है।

काली इल्ली—इस पर पहले लिख आये हैं।

झिंगुर—इस पर अन्यत्र लिख आये हैं। खेत में वेहन (रोपे) लगाने के बाद ही कीड़ा हमला करता है। शाम के वक्त झिंगुर अपने बिल में से बाहर निकलता है उस समय यह सरलता से मारा जा सकता है। बिल में पानी या थोड़ा सा पेट्रोल डाल कर बिल का मुँह बन्द कर देने से भी कीड़ा मर जाता है।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

मुल्ल—एक प्रकार की मुल्ल गोभी के शीर्ष (head) में घुस कर उसे खराब कर देता है, जिससे वह खाने लायक नहीं रहता है। यह वेहन को भी काटता है। यह दिन में गोभी के शीर्ष में ही रहता है। अतएव पकड़ कर मार डालना चाहिये।

अरकन व गोदला—इन पर पहले लिख आये हैं।

मेहरी—इस पर अन्यत्र लिखा गया है। यह अधिकतर बीज के लिये रखे गये पौधों पर ही आक्रमण करता है।

ऊपर लिखे हुये कीड़ों के अलावा अन्य कुछ कीड़े गोभी पर आक्रमण करते हैं। पत्तों पर लगी हुई इल्लियों और कोशों को बीन कर नष्ट कर देना चाहिये।

बड़ी मुल्ल—इसके आक्रमण को रोकना बहुत कठिन है। इल्ली पौधे के आस-पास मिट्टी में रहती है। मिट्टी कीले या लकड़ी से कुरेद कर इल्ली को बीन कर मार डालना ही सर्वोत्तम उपाय है।

नरसरी में उगे हुये नवजात पौधों पर दो तीन प्रकार की इल्लियाँ आक्रमण करती हैं। खेत में बोने से पहले, वेहन या रोपे को तमाखू के सत में डुबो लेना चाहिये। नरसरी के पौधों पर उदर-विष भी छिड़का जा सकता है। किन्तु साग-भाजी की फसलों पर विषैली औषधियाँ अनिवार्य आवश्यकता होने पर ही छिड़कना चाहिये।

स—रस चूसने वाले कीड़े

माहू या लही—इस कीड़े के लगने से पौधे बहुत कमजोर हो जाते हैं। नरसरी के पौधों को सप्ताह में एक बार अवश्य ही बारीकी से देख लेना चाहिये। आधसेर वाशिंग सोडा को बीस सेर पानी में मिलाकर तैयार किये गये मिश्रण या तमाखू के सत में धोकर ही रोपों को खेत में स्थायी स्थान पर लगाना चाहिये।

अन्य तरकारियों और मसाले की फसलों के पौधों के कीड़े

आलू की फसल के कीड़े

अ—नवजात पौधे के कीड़े

छोटी मुल्ल—इस पर अन्यत्र लिख आए हैं।

बड़ी मुल्ल—इल्ली जड़ें और तने के जमीन के अन्दर के भाग को खाती है। अतएव ओषधि छिड़कना व्यर्थ है। इल्ली को खोज कर मार डालना ही सर्वोत्तम है।

ब—पत्र-भक्षक कीड़े

खर्र—यह एक से अधिक प्रकार की होती है। इल्ली, कोश और पूर्णावस्था प्राप्त कीड़े को हाथ से पकड़ कर मार डालना चाहिए। उदर-विष छिड़कना लाभदायक है।

स—जड़ और कंद खाने वाले कीड़े

जड़ और कंद खाने वाले कीड़ों का उपद्रव कम करने के लिए सिंचाई के पानी में क्रूड-ऑइल-इमलशन मिलाना आवश्यक है।

ड—तना में छेद करने वाले कीड़े

भट छेदा—यह कीड़ा पौधे की फुनगियों के तने में छेद करता है, जिससे वे मुरझा जाते हैं। यह कीड़ा अधिकतर बैंगन के तने पर ही आक्रमण करता है। इसको भारत के दक्षिणी भाग में 'माथे मारू' कहते हैं। कीड़े द्वारा किये गए छेद के कुछ नीचे, मुरझाए हुए भाग को काट कर अलग करके जला दिया जाय। इल्ली तने में ही कोशावस्था बिताती है। मादा पत्ते के नीचे के भाग पर मध्य-शिरा के पास अण्डे रखती है। इल्ली के शरीर पर रोएँ होते हैं। अण्डे में से बाहर निकलते ही इल्ली अपना काम प्रारंभ कर देती है।

बटाटा-इल्ली—यह कीड़ा विदेश से आलू के साथ भारत में प्रवेश पा गया है। जब तक आलू मट्टी के अंदर दबे रहते हैं, इस का जोर नहीं चलता है। मट्टी से बाहर निकले हुए आलुओं की आंखों में, मादा अण्डे रख देती है। अतएव आलूओं को हरगिज खुले न रहने दिया जाय। जमीन में से निकाले गये आलूओं को भी खेत में ढक कर ही रखा जाय। अण्डे में से निकलते ही इल्ली आँख में छेद कर भीतर घुस जाती है, जिससे उसकी उगने की शक्ति नष्ट हो जाती है। आलू को खाती हुई इल्ली आगे बढ़ती है और खाली स्थान में मल भर देती है, जिससे वह खाने लायक नहीं रहता है। कोशावस्था भी आलू में ही बिताई जाती है। आलू के साथ ही यह कीड़ा भी गोदाम में प्रवेश पा जाता है। गोदाम में रखे हुए आलुओं का यह एक भयंकर शत्रु है।

उपचार—खड़ी फसल के आलू खुले नजर आते ही उन्हें तुरन्त ही मट्टी से ढक दिया जाय। खोदे गए आलुओं को रात के समय तो अवश्य ही ढक देना चाहिए। हरे रंग के आलू गोदाम में हरगिज न रखे जायँ। हरे रंग के आलुओं को छाँट कर तुरन्त ही बेच दिया जाय या एक जुदे स्थान पर अलाहिदा रखे जायँ।

बीज के लिए रखे गये आलुओं को लेड आर्सेनेट, क्रूड आइल इमलशन, या नीले थोथे के मिश्रण में डूबा कर गोदाम में रखा जाय।

आलू को एक के पास एक पतली तह में जमा कर उन पर नेपथलीन मिली हुई महीन रेत या कोयले का चूरा ढक दिया जाय। इससे वे सुरक्षित रहेंगे। कारबन-बाय-सलफ़ाइड या हायड्रोसायनिक ऐसिड का धूआँ देना भारतीय किसान के लिए संभव नहीं है।

देवी या माता—इसे Eel worm या Nomatode eel worm कहते हैं। कीड़ा चर्म-चक्षु से दिखाई नहीं देता है। मादा, पौधे के जमीन के अंदर के मज्जा तन्तुओं पर वृद्धि पाती है, जिससे छाल खुरखुरी हो जाती है। यह कीड़ा लगभग पाँच सौ पौधों पर आक्रमण करता है। जड़ के अग्रभाग में से कीड़ा पौधे के भीतर प्रवेश करता है और बीज के साथ ही यह खेत में पहुँचता है।

उपचार—गहरी जुताई करने और बार-बार मिट्टी को पलटते रहने से तेज धूप से यह मर जाता है। बीज के आलू को, १०४ अंश (फा) उष्णता में चौबीस घंटे तक रखने से कीड़े की मृत्यु हो जाती है।

तम्बेरा—वर्षा में बोई जाने वाली आलू की फसल को, कई प्रान्तों में, इससे बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचता है। तम्बेरा, एक अति सूक्ष्म जीव (mite) है। यह पत्ते के नीचे बाजू पर रहकर जीवन-यापन करता है। यह अपनी महीन सूंड चुभाकर पत्ते का रस पीता है। जिस जगह सूंड चुभाई जाती है, वह लाल रग की हो जाती है। धीरे-धीरे पूरे पत्ते पर लाल रङ्ग की झाँई आ जाती और तब गिर पड़ता है। अधिकतर नए निकले हुए कोमल पत्तों पर ही कीड़ा आक्रमण करता है। आलू लगना शुरू होते ही, कीड़ा अपना कार्य आरंभ कर देता है। पत्ते के किनारे सिकुड़ जाते हैं। पौधे के सिरे के पत्ते गिरने लगते हैं और धीरे-धीरे सभी पत्ते गिर जाते हैं। केवल शाखा-तना ही रह जाता है। तम्बेरा लग जानेसे आलुओं की बाढ़ रुक जाती है। यह गुवार पर भी हमला करता है।

उपचार—लाइम-सलफर-चूर्ण या गंधक मिश्रण छिड़कना लाभदायक है। चूर्ण छिड़कना सस्ता पड़ता है, किन्तु मिश्रण अच्छा असर दिखाता है। औषधि तीन बार छिड़की जानी चाहिए। प्रथम बार पौधे की उम्र लगभग एक मास की होने पर, दूसरी बार, पहली बार औषधि छिड़कने के महीना-सवा महीना बाद और तीसरी बार फसल की उम्र तीन-साढ़े तीन माह की हो जाने के बाद।

बैंगन की फसल के कीड़े

अ—पत्र-भक्षक कीड़े

खर्र—दो प्रकार की खर्र की इल्ली और भुंगा पत्ते खाते हैं। उदर-विष छिड़क कर या हाथ से कीड़े चुनकर मार डाले जायँ।

पानड़ी—इस पर पहले लिख आए हैं। इल्ली पत्ते का सिरे की ओरका भाग लपेटती है। लपेटे हुए पत्ते में रह कर ही यह पत्ता खाती है, और कोशावस्था भी वहीं बिताती है। पानड़ी लगे हुए पत्ते का रंग ही बदल जाता है।

मादा पत्ते पर पास-पास अण्डे रखती है। इल्ली के बदन पर रोएँ होते हैं और वह बेंगन के रंग की ही होती है।

उपचार—कीट-ग्रस्त पौधों को तोड़कर जला दिया जाय। यह कीड़ा तने में छेद नहीं करता है। बेंगन की जाति का एक जंगली पौधा भी इसका भक्ष्य है। इसे खोज कर नष्ट कर देना चाहिए।

पड़ बिच्छू—इस पर पहले लिख आए हैं।

बटाटा इल्ली—दो प्रकार की बटाटा इल्ली (P. blapsigona और P. ergasima) बेंगन पर हमला करती हैं। ये फूल की कलियां खाती हैं। कभी कभी फल पर भी आक्रमण करती हैं। इस पर पहले लिख आए हैं।

पोपटिया टीड़—यह कीड़ा बरसात में ही कसरत से पैदा होता है। इल्ली फल में घुस कर भीतर ही भीतर उसे खाती रहती है, जिससे फल पीले पड़कर गिर पड़ते हैं। यह पौधे के वृद्धिशील अंकुर को भी खाता है। बेंगन की जाति के जंगली पौधों पर भी यह कीड़ा पाया जाता है।

उपचार—जमीन पर गिरे फल और पौधे पर लगे हुए पीले फलों को हटाकर जला दिया जाय। बेंगन की जाति के जंगली पौधों को खेत में और खेत के आस-पास की जमीन में न रहने दिया जाय।

भटेला—इल्ली पौधे के बढ़ने वाले भाग या तने के अंदर घुसकर भीतर ही भीतर उसे खाती रहती है। तना खोखला हो जाने से पौधा सूख जाता है। सूखे हुए पौधों को तथा मुरझाए हुए अंकुरों को हटाकर जला दिया जाय।

ब—रस चूसने वाले कीड़े—

चिकटा, लाही आदि पर सांसर्गिक-विषौषधि छिड़की जाय।

टमाटर की फसल के कीड़े

अरकन, खर्र, जूरी, और भटेला तथा लच्छी, लाखी, लाही, आदि पर गत पृष्ठों में लिख आए हैं।

लाल मिर्च के कीड़े

झिंगुर—नरसरी में बोए गए छोटे रोपों पर आक्रमण करता है। इस कीड़े के सम्बंध में पहले कई बार लिखा जा चुका है।

भटेला—इस पर 'बेंगन की फसल के कीड़े' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा गया है।

फल मक्खी—कभी कभी लाल मिर्च के फलों पर हमला करती हैं।

चिकटा, लाही और दीमक पर भी पहले कई जगह लिख आए हैं।

शकरकन्द की फसल के कीड़े

कई प्रकार के कीड़े शकरकन्द के पत्ते खाते हैं। किन्तु इनसे फसल को नाम-मात्र की क्षति पहुंचती है। अतएव उनपर कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझा गया है।

सिलास—कभी कभी शकरकन्द के कन्द पर काली पट्टियां या महीन छेद नजर आते हैं। यह सब इसी कीड़े की करामात है। Cylas formicarius इसका लैटिन नाम है। स्थानीय नाम का पता न चल सकने के ही कारण लैटिन भाषा के प्रथमार्थ को ही इस कीड़े का नाम मान लिया है।

यह शकरकन्द का जबरदस्त शत्रु है। किन्तु इस पर नियंत्रण नहीं रखा जा सकता है। फसल निकाल लेने पर कीट-ग्रस्त कंद अलग करके उबाल लिए जायँ। ऐसा करने से कीड़े मर जाएँगे। कीट-ग्रस्त कंद पशुओं को भी खिलाए जा सकते हैं। इन्हें घूरे पर या इधर उधर हरगिज न फेंका जाय।

अदरख, हलदी, प्याज, लहसुन, गाजर, कालीमिर्च, मेथी, सौंफ आदि को कीड़ों से नाम-मात्र की क्षति पहुंचती है। अतएव इस पुस्तक में इन फसलों के शत्रुओं पर कुछ नहीं लिखा गया है।

कुम्हड़ा जाति की फसलों के कीड़े

कुम्हड़ा, तुरई, आदि भिन्न-भिन्न फसलें बोई जाती हैं। इनको हानि पहुँचाने वाले कीड़े भी एक-से ही हैं।
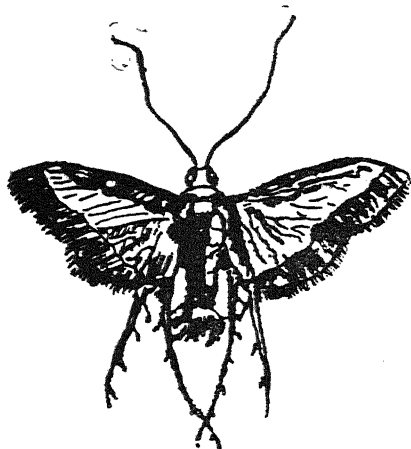
चित्र २५—कुम्हड़ा की बेल पर का कीड़ा।

नीचे सिर्फ कुम्हड़ा की फसल के कीड़ों का ही वर्णन किया गया है। यही कीड़े कुम्हड़ा की जाति की अन्य फसलों पर भी पाये जाते हैं।

तेला—भिन्न-भिन्न प्रकार के तेला कुम्हड़ा के फल खाते हैं।

खर्र—दो तरह की खर्र पत्ते खाती है। इस पर पहले लिख आये हैं।

लाल भौंरी या लाल भौंडी—यह कीड़ा हर साल पाया जाता है।। खेत की दरारों में मादा अंडे देती है। इल्ली, जमीन के अन्दर रह कर जड़ें खाती है। यह मोटी जड़ के अंदर घुस कर भी उसे भीतर ही भीतर खाती रहती है। जमीन पर पड़े हुये सूखे पत्ते भी इसका भोजन हैं। कोशावस्था भी मिट्टी में ही व्यतीत की जाती है। और गरमी के मौसम में फिर प्रकट हो जाती है। इसकी प्रजा-वृद्धि भोज्य-पदार्थों की न्यूनता या विपुलता पर निर्भर करती है। पूर्णावस्था प्राप्त भौंडी का भोजन तो पत्ते ही हैं। यह कोमल पत्तों को बड़ी रुचि से खाता है।

मादा, लगातार तीन सप्ताह तक धीरे धीरे दो सौ तक अंडे रखती है। लगभग दो सप्ताह में इल्ली बाहर निकल आती है। पौधे की आसपास की जमीन में रात के समय अंडे रखे जाते हैं। एक साल में कीड़े की चार पुश्तें हो जाती हैं।

भौंरी लाल रङ्ग की होती है और पेट के नीचे का भाग काला होता है। कुछ भौंड़ियों के पङ्ख काले भी होते हैं।

उपचार—पत्तों पर मिट्टी का तेल मिली हुई राख छिड़की जाय। हाथ-जाली से हाथ से पकड़ कर मिट्टी का तेल मिले हुए पानी में डाल देने से भी कीड़ा मर जाता है। उदर-विष भी छिड़का जा सकता है।

फसल निकाल लेने के बाद कद्दू की जाति के सभी पौधों के मूल, तना, शाखा सड़े-गले फल आदि एकत्रित करके जला दिये जायँ। खेत में हल आदि देकर ढेले तोड़ दिये जायँ, जिससे कोशस्थ प्राणी को पक्षी चुग लेंगे।

(१) एक सेर राख में एक पाव मिट्टी का तेल डालकर अच्छी तरह से मिला लिया जाय।

(२) बीस सेर महीन धूल में, तीन सेर मिट्टी का तेल, तीन सेर महीन राख, और एक सेर तमाखू का महीन चूरा या सूंघने की तमाखू मिला दी जाय।

दोनों में से किसी एक मिश्रण को मलमल की महीन थैली में भर कर प्रति आठवें-दसवें दिन पौधे पर भुरभुरा दिया जाय।

(३) उदर-विष उन्हीं खेतों में छिड़का जाय, जहाँ पशु न जा सकते हों।

(अ) एक भाग पैरिस ग्रीन या लेड आर्सेनेट को २५ भाग चूने में मिलाकर पत्तों पर फैलाया जाय।

(आ) लेड आर्सेनेट ६ औंस, और गुड़ १ पौंड को ४० पौंड पानी में मिला कर मिश्रण तैयार कर लिया जाय। लेड आर्सेनेट को थोड़े पानी में अच्छी तरह से घोल कर बाकी बचा हुआ पानी मिलाकर खूब चलाओ। इसमें हल्की किस्म का गुड़ मिला कर इतना चलाओ कि सब चीजें एकजीव हो जायँ। यह मिश्रण पौधों पर छिड़का जाय।

भौंडी या भौंरी उड़ कर एक खेत से दूसरे खेत में चली जाती है। अतएव आस पास के सभी खेतों में एक साथ ही औषधि छिड़की जानी चाहिये। तीनों प्रकार की लाल भौंडी इन औषधियों से नामशेष की जा सकती है। तीसरे प्रकार की लाल भौंड़ी (A. stevesi) फूलों को भी खाती है।

बेलनी—इसका लैटिन नाम margaronia (Glyphodes) Indica है। मादा पत्ते पर अंडे रखती है। इल्ली इस पत्ते को लपेट कर पत्ता खाती है। कभी-कभी यह फल में भी छेद करती है। फल में बनाये गये छेद में ही कोश बनाया जाता है। इससे पौधे को मामूली हानि पहुँचती है। इल्ली और कोश को हाथ से चुनकर नष्ट कर दिया जाय।

ब—तना में छेद करने वाले कीड़े

तीन तरह के कीड़े तने में छेद करते हैं। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़े को पकड़ कर मार डालना ही हित-कारक है और कीट-ग्रस्त भाग या पौधे को हटा कर जला दिया जाय।

स—रस पीने वाले कीड़े

चिकटा, माहू, लही आदि पर विषोषधि छिड़की जाय।

ड—फल-भक्षक कीड़े

फल-मक्खियों का वर्णन पहले कर आये हैं। इस पौधे के फलों पर आक्रमण करने वाली फल-मक्खी की इल्ली कभी कभी तने में भी छेद करती है।

सभी प्रकार के कुम्हड़ा—कद्दू, चचिंडा, लौकी आदि पर भी उक्त सभी कीड़े आक्रमण करते हैं और उनका नुकसान पहुँचाने का तरीका भी वही है, जो ऊपर बतला आए हैं।

चिकटा, टिड्डी और नाज के कीड़े

माहू या चिकटा (Plant lice)

इन कीड़ों पर पिछले पृष्ठों में कई बार बहुत कुछ लिख आए हैं। इसे 'लही' भी कहते हैं। यह चार पाँच प्रकार का होता है और भारत के भिन्न भिन्न भागों में यह जुदे जुदे नाम से पहचाना जाता है। यह लगभग सभी फसलों पर आक्रमण करता है। रस चूस लिया जाने से पौधा कमजोर हो जाता है।

हरे, पीले और काले रंग के बहुत ही छोटे छोटे कीड़े कई पौधों पर हमला करते हैं। इस जाति का बड़े से बड़ा कीड़ा एक इंच के दसवें भाग से अधिक बड़ा नहीं होता है। इनमें से कुछ कीड़ों को पार-दर्शक पंख भी होते हैं। परदार कीड़े उड़कर दूसरे पौधों पर जा जमते हैं। पेट भर जाने पर कीड़ा पौधे पर चहल-कदमी करता रहता है।

कीड़े के शरीर के पिछले भाग पर छोटी छोटी ग्रंथियां हैं, जिनमें से एक प्रकार का मीठा रस निकलता है। चींटियां इस मधुर-रस को बड़े चाव से पीती हैं। चींटिया
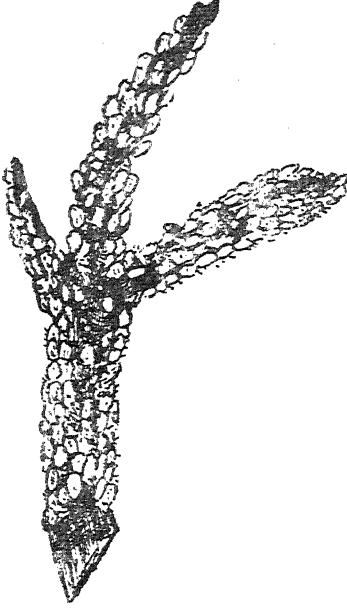
चित्र २६—माहू या चिकटा

इन गुंथियों को अपनी स्पर्शेन्द्रिय से सहलाती हैं। इससे प्रसन्न होकर कीड़ा ग्रंथियों में से रस छोड़ता है जो दो नलियों द्वारा बाहर निकल आता है और चींटियाँ यथेच्छ पान करती हैं। यही कारण है कि माहू लगे पौधों पर चींटियां एक बड़ी संख्या में दिखाई देती हैं। जिन पौधों पर माहू कीड़े बहुत ज्यादा संख्या में मौजद होते हैं, उन के उन पत्तों पर मीठे रस की बूंदें दिखाई देती हैं। कीड़ा, अपनी इन्जेकशन की सुई की नोक-जैसी महीन सूंड पौधों के कोमल भाग में चुभाकर रस-पान करता है। पत्ते और शाखा-तना का बहुत ज्यादा रस चूस लिया जाने से पौधा मर जाता है। रोगी और कमजोर पौधों पर माहू अति शीघ्रता से जम जाता है और इन पौधों को क्षति भी अत्यधिक पहुंचती है। मौसम की खराबी और मट्टी में से पानी के निकास (drainage) की गड़बड़ी के कारण माहू का जोर बहुत बढ़ जाता है।

तमाखू, गोभी, सरसों, रिजका, कपास, गेहूँ, द्वि-दल जाति की फसलों, कई फल-फूल के पौधों, आदि पर यह पाया जाता है।

उपाय—इन कीड़ों का नाश करने के लिए गत पृष्ठों में स्थान-स्थान पर औषधोपचार बतला आए हैं। नीचे कुछ औषधियां दी जाती हैं।

नरसरी में बोए गए पौधों को खेत में स्थायी स्थान पर लगाने से पहले तमाखू के सत या वाशिंग सोडा मिश्रण में डुबो लेना चाहिए। बीस सेर पानी में आधा सेर वाशिंग सोडा (कपड़ा धोने का सोडा) डालकर उबालने से यह मिश्रण तैयार होता है।

फिश-आइल रेसिन सोप, मिट्टी के तेल का मिश्रण, क्रूड ऑइल इमलशन, छिड़कने से माहू मर जाता है।

केरोसीन इमलशन—पाव भर बार सोप को छोटे छोटे टुकड़े करके एक कनस्तर भर पानी (चार गैलन) में डालकर उबाला जाय। उबाल आते ही पानी में पीसा हुआ एक तोला गोंद डाल दिया जाय। पानी को तब आग पर से उतार कर दो गैलन मट्टी का तेल मिला दिया जाय। इस मिश्रण को तब मथानी से—रवई से तब तक मथा जाय, जब तक कि वह दूध-सा सफेद और दही सा गाढ़ा न हो जाय। इस में २० गैलन पानी और मिलाकर पौधों पर छिड़को।

पाव भर साबुन को छह बोतल पानी में डाल कर आग पर रख दो। साबुन के गल जाने पर पानी को आग पर से हटाकर बारह बोतल केरोसीन मिला कर खूब चलाओ। तेल और साबुन के पूरी तरह से एकजीव हो जाने पर १२० बोतल पानी मिलाकर काम में लो। इन्कोसोपल भी पौधों पर छिड़का जा सकता है।

गत पृष्ठों में स्थान-स्थान पर बतलाई गई औषधियों को भी सफलता पूर्वक काम में लिया जा सकता है।

शलभ (टिड्डी-दल)

भारतीय किसान टिड्डी-दल से बहुत ज्यादा भय खाते हैं। टिड्डी दल को देखते ही किसान अधमरा-सा हो जाता है। 'ईति-प्रीति भइ प्रजा दुखारी' की सत्यता टिड्डी दल आने पर प्रत्यक्ष हो उठती है। अरब के रेगिस्तान तथा वायव्य-प्रान्त और सिंध-राजस्थान की मरु भूमि में मादा रेत में अण्डे रखती है। मादा एक समूह में पास-पास सौ के लगभग अण्डे रखती है। अण्डे रखने के लगभग डेढ़ मास बाद परी का जन्म होता है। इसके पंख नहीं होते हैं। त्वचा बदलती हुई परी बढ़ती रहती है और लगभग तीन मास में वह पूर्णावस्था प्राप्त कर लेती है। और तब करीब एक महीने में एक पुश्त पूरी हो जाती है। पूर्णावस्था प्राप्त टिड्डी, प्रारंभ में, कुछ हलके गुलाबी रंग की होती है, जिस पर नीले रंग की झाईं नजर आती है। लाल रंग धारण करते ही शलभ-दल देशाटन को निकल पड़ता है। शलभ-दल जिस प्रदेश पर आक्रमण करता है, उस प्रदेश की वनस्पति के पत्ते आदि कोमल भाग खाकर सफाचट कर देता है। जिस झाड़ पर टिड्डियाँ बैठ जाती हैं, उसकी शाखाएँ टिड्डी के वजन से टूट जाती हैं। पूर्णावस्था प्राप्त टिड्डी का नाश करना असंभव ही है। अण्डे और परी अवस्था में इसका नाश करना सरल तो है, किन्तु है अत्याधिक-श्रम-साध्य।

चित्र २७—शलभ (१) (२) (३)

(१) अण्डों का नाश करना—अण्डे रखने के स्थान का पता लगा कर उस जमीन की गहरी जुताई कर दी जाय। मट्टी पलटने वाले हल से गहरी जुताई कर देने से अण्डे मट्टी के अन्दर दब कर मर जायंगे।

(२) परी का नाश करना—परियों को देखते ही मार डालना चाहिए। परियाँ समूह बनाकर, अपने जन्म स्थान को छोड़कर, दूसरे स्थान की ओर बढ़ती हैं। अतएव जिस दिशा की ओर यह दल बढ़ रहा हो, उस दिशा में रास्ते में दो फुट गहरी और दो फुट चौड़ी

नालियाँ खोद दी जायं। पत्तों वाली लम्बी-लम्बी डालियाँ लेकर कीड़ों को नालियों की ओर भगाया जाय। नालियों के किनारे पर कुछ आदमी खड़े कर दिए जायं, जो कीड़ों के गिरते ही नाली में मट्टी भरना शुरू करदें और पैरों से मट्टी को दबाते भी जायं, जिससे कीड़ा मट्टी में से बाहर नहीं निकल सकेगा।

यदि कीड़ा ज्यादा बड़ा हो गया हो, और यह जान पड़े कि वह नालियों को लांघकर भाग जाएगा, तो नालियों के एवज में खुली जगह पर दूर दूर पर घास फूस की लम्बी कतारें लगा दी जायं। भगाए जाने पर कीड़े घास-फूस में जा छुपेंगे। कीड़ों के घास-फूस में प्रवेश करते ही आग लगा दी जाय।

टिड्डी दल का नाश—टिड्डी दल के आने पर यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि वह फ़सल पर बैठने न पाए। फ़सल पर बैठ जाने पर कीड़ों को भगाना या मारना संभव नहीं।

किसान लोग टिड्डियों को भगाने के लिए खेतों में ढोल तासे-कनस्तर आदि बजाते हुए हो हल्ला करते और कपड़ों को हवा में घुमाकर उन्हें भगाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु इन उपायों से कुछ भी लाभ नहीं होता है। खूब धूआँ करने से टिड्डी-दल अपने उड़ने की दिशा अवश्य बदल देता है।

रात के समय, विशेष कर शीतकाल में, टिड्डी जमीन या झाड़ों पर विश्राम करती है। दूसरे दिन सबेरे आठ-नौ बजे तक वे वहीं जमीं रहती हैं। अतएव झाड़ों को हिलाकर उन्हें जमीन पर गिरा दिया जाय, और तब झावड़ों से समेट कर जला दिया जाय। लकड़ियों से पीट कर भी मार सकते हैं। फसल पर बैठी हुई टिड्डियों को थैलियों से पकड़ कर जला दिया जाय।

पूर्ण बाढ़ को पहुँचा हुआ, पीले रंग का प्राणी बहुत कम नुकसान करता है। अण्डे रखे गए स्थान का पता लगा कर अण्डों को नष्ट करना ही एक मात्र सर्वोत्तम उपाय है। खेतों में मुर्गियाँ छोड़ देना लाभदायक है। पेट भर जाने पर भी मुर्गियाँ कीड़ों को मारती रहती हैं।

कोठार-बोखारी आदि में संग्रहित नाज के कीड़े

खेत में फ़सल बोने के दिन से पैदावार तैयार होने पर बेची जाने तक या कोठारों में भरने तक पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े, मनुष्य आदि नाना प्रकार के शत्रु फ़सल और उसकी पैदावार को नष्ट करने के काम में जुट जाते हैं और कोठारों में नाज, साग-तरकारी आदि पैदावार संग्रहित करने के बाद भी चूहे, कीड़े, और रोग उसको नष्ट करते रहते हैं। यदि विशेष सावधानी रखी जाय और शक्ति भर प्रयत्न किया जाय, तो कम से कम प्रतिशत दस तक पैदावार अनायास ही बचाई जा सकती है।

किसान मट्टी के कुठलों, मट्टी के बरतनों, कनस्तर आदि में नाज भरते हैं और जमीदार-व्यापारी आदि कोठा-बोखारी, खोह (खत्ती) आदि में नाज का संग्रह करते हैं। कभी कभी साधारण-सी असावधानी से बहुत सा नाज बेकार हो जाता है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि नाज भरने से पहले कोठले, कोठे, बोखारी आदि को कीट-रहित कर दिया जाय।

जिन स्थानों में नाज भरा जाय, वे सीलदार न हों। फर्श पक्का और इतना मजबूत हो कि चूहे आदि बिल न बना सकें। फर्श और दीवारों में तिड़ें-दरारें और बिल न हों। नाज भरने से पहले कोठा-बोखारी आदि में आग जला कर; गंधक की धूनी देकर और कीट-नाशक औषधि छिड़क कर कीड़ों को नष्ट कर दिया जाय।

सोंधा—चावल, गेहूँ, ज्वार आदि में घुन लग जाते हैं। चावल में लगने वाला घुन (Rice Weevil) लम्बा, और काले रंग का होता है। इल्ली, और पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा दोनों ही दाने को खाते हैं। इसका लैटिन नाम Calandra oryza है।
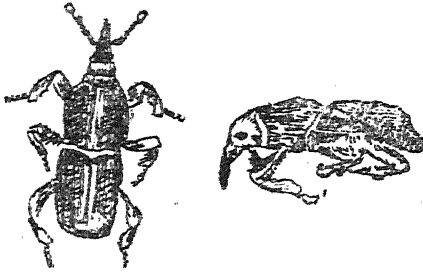
चित्र २:—चावल का घुन

सुरमा—धान के पकने के दिनों में ही सुरमा (Paddy store moth) अंडे रखती है। अंडे खलिहान में ही पोषण पाते हैं और धान के साथ ही गोदाम में पहुंच जाते हैं।

चित्र २६—गेहूँ का घुन

भूरे रंग की तितली एक बार में सौ तक अण्डे रखती है। इल्ली दाने में छेद करके भीतर घुस जाती है। गोदाम, कोठी आदि में भरी जाने वाली साल (धान) को धूप में अच्छी तरह से सुखा लेना चाहिए।

धान को कूट कर चावल निकाला जाता है। अक्सर चावल को राख में मिलाकर रखते हैं और तब कोठी, कनस्तर, बरतन का मुँह मट्टी से बंद कर देते हैं, जिससे हवा भीतर घुस नहीं सकती है। पचास सेर चावल में डेढ़ सेर महीन चूना मिलाकर रखने से कीड़े नहीं लगते हैं।

मेकली—इसे जाला, जालेरा, जाला कीड़ा आदि भी कहते हैं। तितली भूरे रंग की होती है। इसके पंख पर रोएं-से होते हैं। इल्ली का रंग सफेद और सर पीला होता है। इससे ज्वार और चावल का बहुत नुकसान होता है। दानों को एक दूसरे से चिपका कर जाला तैयार किया जाता है और जाले में बैठ कर ही इल्ली दाने खाती है।

जाला—इसका लैटिन नाम Corcyra cephelonica है। यह मेकली से कुछ बड़ी होती है। बंद हवा में प्रजावृद्धि तेजी से होती है। सफेद इल्ली चावल के दानों को एक दूसरे से चिपका कर जाला बनाती है और उसी में बैठ कर दाना खाती है। यह विशेष कर चावल में ही पाई जाती है। ज्वार में शायद ही कभी दिखाई देती है।

सुसरी—इसका लैटिन नाम Rhizopertha dominica है। इल्ली दाने में घुस कर भीतर ही भीतर उसे खाती है। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा ही ज्यादा नुकसान करता है। अँधेरे कोठारों में प्रजावृद्धि तेजी से होती हैं। गेहूँ, ज्वार और चावल का सबसे ज्यादा नुकसान होता है।

लालसर—इसका लैटिन नाम Tribolium castancum है। यह चपटा होता है और ज्यादातर सड़े हुए और घुने हुए नाज को ही खाता है। इल्ली और पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा दोनों ही नुकसान पहुँचाते हैं। यह गेहूँ व ज्वार को भी खाता है।

खपरा—इसका लैटिन नाम Trogoderma khapra है। इसे कहीं कहीं खपरी, खपरिया आदि भी कहते हैं। यह ज्यादातर गेहूँ के कोठारों में ही लगता है। कभी कभी ज्वार पर हमला करता है। बालदार इल्ली ही नाज को खाती है। शीत काल में इल्ली सुस्त पड़ी रहती है। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़ा नुकसान नहीं करता है।

चपटा घुन—इसका लैटिन नाग Loemophlocus sp: है। यह हलके लाल रंग का होता है। इसकी स्पर्शेन्द्रिय लम्बी होती है। यह मुख्यतः सड़े नाज और खराब आटे में रहता है। इसके साथ ही साथ एक कीड़ा

रहता है, जिसके वक्ष पर आरे-सी दँतिया होती हैं। माइट (mite) इन सूक्ष्म कीटों से नाज में दुर्गंधि आने लगती है। ये आटे में भी रहते हैं।

फुदकिया—यह द्विदल जाति के नाजों का घुन है। मादा दाने पर अंडे रखती है। इल्ली दाने में घुसकर भीतर ही भीतर उसे खोखला कर देती है। यह दाने में ही कोश बनाती है। पूर्णावस्था प्राप्त कीड़े का उदर बड़ा होता है। यह दो प्रकार का होता है। इसका लैटिन नाम Bruchus affinis (भोंटवा या फुदकिया) व Bruchus chinensis (छोटा भोंटवा) है। ये कीड़े खेत में दाने पर आक्रमण नहीं करते हैं।

उपाय

सभी प्रकार के नाज को कोठारों में भरते समय नीचे लिखी हुई बातों पर अमल किया जाना चाहिए।

कोठार, थैले आदि में भरने से पहले नाज को अच्छी तरह से सुखा लिया जाय। घुन आदि लगे हुए नाज को भी धूप में सुखा लेना आवश्यक है। चावल को धूप में सुखाने से वे टूट जाते हैं। इन्हें तो खुली हवादार जगह में ही फैला देना चाहिए। भरने से पहले नाज को साफ कर लिया जाय और घुने हुए और कीटग्रस्त दाने सूप से छाँट कर निकाल लिए जायं। नाज भरने के बाद, कोठे, बोखारी, कनस्तर आदि का मुँह मट्टी से बंद कर दिया जाय, ताकि हवा भीतर न घुसने पाए।

द्वि-दल जाति के नाज के ऊपर, छह इञ्च मोटी महीन रेत की तह फैला दी जानी चाहिए। अण्डे में से निकल कर कीड़े रेत की सतह पर आ जायँगे और तब फिर से भीतर प्रवेश न कर सकेंगे।

हायड्रौसायनिक ऐसिड या कारबन-बाय-सलफाइड का धूआं इन कीड़ों को नष्ट करने के लिए रामबाण साबित हुआ है। किन्तु साधारण किसानों के लिए इनका उपयोग करना खतरनाक है। बड़े व्यापारी और बड़े किसान, जो प्रतिवर्ष कई सौ मन नाज संग्रह करते हैं, इन ओषधियों का उपयोग करके लाभ उठा सकते हैं। चूना-ईंट और सीमेंट की बनी बोखारियों और बंडों में ये ओषधियां डाली जा सकती हैं।

नाज को बन्द हवा वाले स्थान में, कोठी, कनस्तर, बोखारी आदि में भरकर चारों ओर से छेद, दरारें आदि मिट्टी या चूना-सीमेंट से बंद कर दिया जाय। शाम के समय, जब उष्णता मान ७० अँश से १०० अँश (श) के लग-भग हो कोई एक ओषधि डाल दी जाय। और तुरन्त ही मुँह बन्द कर दिया जाय, ताकि धूआँ या गैस बाहर न निकलने पाए। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि, धूआँ या गैस आँख-नाक में प्रवेश न करने पाए।

शीघ्र ज्वाला-ग्राही पदार्थ होने से इन दोनों को सदा काँच के ढक्कन वाली बोतलों में ही रखना चाहिए। बोतलें धूप में कदापि न रखी जायँ और न इनके पास आग, माचिस, दीपक आदि ही आने दिया जाय। बीड़ी-सिगरेट, और चिलम हुक्का भी इन स्थानों के आस पास न पीए जाने चाहिए। मतलब यह है कि, कार-बन-बाय-सलफाइड या हायड्रोसायनिक ऐसिड डाले गये नाज के भंडार के चारों ओर कम से कम सवा सौ फुट के अन्दर, आग, माचिस, कंदील आदि कदापि न जलाए जायँ और न ऐसा कोई काम ही किया जाय, जिससे इन पदार्थों की गैस आग पकड़ ले। थोड़ी-सी असावधानी से आग धधक उठेगी, जिस पर काबू पाना सरल नहीं।

नाज भरने से पहले कोठा, बोखारी या खत्ती में 'गमेक्साने' की बत्तियाँ जलाने से हवा शुद्ध हो जाती है। एक छटाक बत्ती से एक हजार घन फूट स्थान की हवा शुद्ध की जा सकती है। यदि इनमें भरे गए नाज़ में 'खपरा' लग गया था, तो फिर से नाज भरने से पहले खाली कोठे या बोखारी या खत्ती में एक हजार भाग पानी में एक भाग 'पाइरो कोलाइड' मिलाकर दिवारों और फर्श पर छिड़का जाय। जमीन के फर्श पर सौ वर्ग फूट के लिए पाँच सेर 'गमेक्साने' डी० ओ० २४ छिड़कने से सभी प्रकार के कीड़े तथा उनके अण्डे आदि नष्ट हो जाते हैं।

खपरा लगे कोठे आदि की दीवारों और फर्श पर सौ भाग पानी में एक भाग 'पाइरो कोलाइड' मिलाकर छिड़का जा सकता है।

१४—फसल के गोमज (फंगस) रोग

कीड़े आदि अन्य शत्रुओं के अलावा गोमज या कबक-रोग (fungus diseases) भी फसलों को प्रतिवर्ष क्षति पहुंचाते हैं, जिससे भारत को हर साल लाखों रुपयों का नुकसान उठाना पड़ता है। गोमज की कई जातियां हैं। किन्तु विस्तार-भय से उनके वर्गीकरण आदि पर यहाँ कुछ नहीं लिखा गया है और न साधारण किसानों और जमीदारों के लिए गोमज रोगों की भिन्न भिन्न जातियों और उपजातियों का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक ही है। आगे चलकर उन्हीं गोमज या कबक-रोगों पर विचार किया जाएगा, जिनकी जानकारी प्राप्त कर लेना प्रत्येक किसान के लिए आवश्यक ही नहीं,—अनिवार्य भी है।

गोमज किसे कहते हैं?

'पौधे' शब्द का उच्चारण करते ही शाखा-पत्तोंयुत झाड़-झंखाड़ आँखों के सामने आ खड़े होते हैं। किन्तु कई ऐसी वनस्पतियाँ भी हैं, जिनकी शाखा-पत्ते आदि चर्म-चक्षु से दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। काई, कुकुर-मुत्ता आदि इसके उदाहरण हैं। पुरानी लकड़ी, खाद, अचार, रोटी आदि पर जमने वाले पदार्थ कबक ही हैं।

गोमज किसे कहते है, इस प्रश्न का सरल और समाधान कारक उत्तर देना जरा कठिन है। ज्यों ज्यों हम निम्नकोटि की वनस्पतियों की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न वर्ग, जातियों और उपजातियों को पहचानना अधिकाधिक कठिन होता जाता है। गोमज और अन्य जाति की वनस्पतियों में महान अन्तर है। पौधों के पत्ते हरे होते हैं और वे वातावरण में से भोजन ग्रहण करते और अन्न-रस तैयार करते हैं। किन्तु गोमज का रंग हरा नहीं होता है और उसके पत्ते भोजन भी तैयार नहीं कर सकते हैं। इनको प्राणियों की तरह बना-बनाया भोजन ही आवश्यक होता है। और यही कारण है कि वे दूसरे पौधों और सड़े-गले पदार्थों पर जीवन-निर्वाह करते हैं।

वनस्पतियों पर आक्रमण करने वाला गोमज पालक-पौधे (Host plant) के बाहरी या ऊपर के भाग पर जीवन बिताता है। दूसरे प्रकार के गोमज-रोगों में एक बड़ा भाग ऐसे रोगों का है, जो पालक-पौधे की देह के भीतर अपने जीवन का एक बड़ा अंश व्यतीत करते हैं। सन्तानोत्पादक अवयवों के विकसित होने का समय प्राप्त होने पर ही ये, पौधे की देह से बाहर निकल आते हैं और इसी समय ओषधि छिड़कर इनका फैलाव रोका जा सकता है। रोगी पौधे को रोग-मुक्त करना संभव नहीं है, कारण कि रोग शरीर के भीतर ही भीतर बढ़ता रहता है और औषधि रोग-ग्रस्त पौधे की देह में प्रवेश नहीं कर सकती है। पौधे की देह के बाहर निकलते ही ऐसी ओषधि छिड़की जाती है, जो गोमज के ऊपर चिपट कर उसे पूरी तरह से ढक लेती है, जिससे रोग फैलने नहीं पाता है। ओषधि ऐसी होनी चाहिए, जो कीट-पतंगे और रोग को नष्ट करने में समर्थ हो, किन्तु पौधे को क्षति न पहुंचाए। साथ ही उसका सस्ता होना भी आवश्यक है।

गोमज का भोजन

दूसरे पौधों की तरह गोमज को भी लवणों की आवश्यकता होती है। पोटैशियम, मैगनेशियम, और संभवतः लोह के साथ ही साथ नोषजन, फासफेट, और गंधक भी इनके भोज्य-पदार्थ हैं। कबक पौधों को ये पदार्थ बहुत कम परिमाण में आवश्यक होते हैं और इन्हें ये पदार्थ पालक-पौधे की देह में से ही पर्याप्त हो जाते हैं।

गोमज दो प्रकार का होता है (१) मृत पदार्थों की देह में से भोजन ग्रहण करने वाला या शवोपजीवी और (२) सजीव पदार्थों के शरीर में से भोज्य पदार्थ ग्रहण

[क्रमशः]

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग १**—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटमिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले -डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

पुराने सभी ढंगोंका ब्योरेवार वर्णन। इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम , ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१६—**कलम पेबंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२०—**जिल्दसाजी**—क्रियात्मक और ब्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८० पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२१—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २॥=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।"

२२—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२३—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार-अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति। पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य ।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।

२४—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षित इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५० पृष्ठ और २३० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२५—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।||)

२६—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।||)

२७—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं। २६८ पृष्ठ और ६४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

२८—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी०, कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२९—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौडाई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

३०—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय सस्करण ले०—पण्डित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ० ।३।५

भाग ७४ | धनु सम्वत् २००८ दिसंबर १९५१ | संख्या ३

विज्ञान के प्रति अज्ञानता !

किसी लेखक ने हमारी राष्ट्रभाषा के साहित्य में एक स्थान पर लिखा है :—

"वैज्ञानिकों के मन में यह भावना संभवतः चक्कर मार रही थी कि दो चार धनी आदमी ही इस व्यापार में लगें और पूरे शहर में दूध बाँटने का काम उन्हीं के हाथ आ जाय। दूध से कीटाणुओं को मार भगाने का ठेका इन लोगोंने लिया और जनता में यह भय भर दिया गया कि तुम्हारे घर में जो दूध दुहा जायगा उसमें रोग पैदा करने वाले कीटाणु रहेंगे जो तुम्हें और तुम्हारे खानदान को मार डालेंगे।"

[दूध चिकित्सा पृ० ३६

ऊपर का उद्धरण दूधरक्षित करने की वैज्ञानिक विधियों के संबंध में उपर्युक्त पुस्तक से लिया गया है। प्रसंग समझने के लिए इस उद्धरण के ठीक ऊपर का अंश भी नीचे दिया जा रहा है—

"ग्राहकों के पास दूध पहुँचाने के लिए समय चाहिए। उतने समय में दूध में बीजाणुओं के बढ़ जाने की अशंका रहती ही है। वैज्ञानिकों ने साधारण जनता में इस बात का ढिंढोरा पीट कर काफी भय पैदा कर रखा है और एक खास तरह का क्षेत्र तैयार कर लिया है। उस मौके से लाभ उठाने के लिए २-३ विधियाँ ऐसी काम में लाई जाने लगीं जिसमें दूध में कम से कम परिवर्तन हो और लोगों के पास यदि देर में भी पहुँचे तो खराब न हो। इन विधियों के आविष्कार में जनता के लाभ का उतना ध्यान नहीं रखा गया था जितना व्यापार का।"

लेखक ने दूध, की चर्चा में कीटाणु-विज्ञान और तत्संबंधी खोजियों के संबंध में जो उद्गार प्रकट किए हैं, उनके परिणाम स्वरूप हम एक स्थान पर नीचे लिखी उक्ति भी उपर्युक्त पुस्तक में ही पा सकते हैं :—

"मेरी राय में यह दूध हरगिज इस्तेमाल के काबिल नहीं होता।.. .. .. ..

एक महीने अथवा एक हफ्ते या दो दिन का रखा हुआ दूध चाहे उसमें कोई विकार या खराबी न दिखाई दे पूर्ण रूप से बिना किसी तरह के परिवर्तन के कैसे रह सकेगा जब कि संसार की कोई भी चीज़ आधे सेकेंड भी बिना परिवर्तन के नहीं रह सकती।"

[दूध चिकित्सा पृ० ३८]

उपर्युक्त उद्धरण हमने किसी पुस्तक या लेखक विशेष की आलोचना करने के लिए नहीं दिए हैं। क्योंकि व्यक्तियों की तो हम सुगमता से उपेक्षा कर सकते हैं। हम तो वैज्ञानिक-जगत के सम्मुख ऐसी विचित्र विचार-धाराओं को रखने की भावना से ही प्रेरित हुए हैं जिनकी दृष्टि में आज की प्रयोगशालाओं में हुई या होने वाली शोधें कोई मूल्य नहीं रखतीं और पुरातन दृष्टिकोणों या मान्यताओं की धुँधली स्मृति उन्हें प्रबल आकर्षक और एक मात्र सत्य प्रतीत होती हैं जिनसे संसार के सारे कार्य-कलाप प्राचीन और मध्य युग में भी चलते रहे हैं और आगे भी चलते रहेंगे। हमारे ये रूढ़िवादी अपनी कठोर अज्ञानता और अंधकारप्रियता को हमारे सभी प्रगतिशील कार्य-कलापों और सदुद्योगों पर इतनी तत्परता और दृढ़ता से लादना चाहते हैं कि किसी प्रकार भी एक पग आगे उन्नति की ओर अग्रसर करना सर्वथा असंभव ही हो। अतएव इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं कि धर्म, समाजनीति राजनीति आदि क्षेत्रों में जहाँ ऐसी अवरोधक शक्तियों का बलपूर्वक सामना करना पड़ सकता है, वहाँ विज्ञान का शुभ्र निर्मल क्षेत्र भी इनसे अछूता नहीं बचा है। ये पुरातनवादी अपनी कठदलीलों, साधारण जन-समाज की स्वाभाविक प्राचीनतापोषक प्रवृत्तियों से पूरा पूरा लाभ उठा कर ज्ञान-दीप्ति की आगे बढ़ती, कभी क्षीण कभी सबल और कभी अत्यंत वेगवान् किरणों को ऐसे प्रयत्नों से अंधकारासन्न करने का उद्योग कर आज हमारे देश में वह पिछड़ा युग उपस्थित करना चाहते हैं जिस युग को पाश्चात्य देशों ने असह्य वेदनाओं और अनार्थों का सामना करते रह कर कई शताब्दियों पूर्व ही ध्वस्त कर विज्ञान के निर्मल प्रकाश का प्रशस्त मार्ग बनाया। क्या हमारे देशवासी वैज्ञानिक उन प्रतिक्रियावादी और विपथगामी शक्तियों से मुठभेड़ लेकर ज्ञान के प्रकाश को प्रसारित करने में शिथिलता आने देंगे। आज प्रयोगशालाओं और प्रत्यक्ष परीक्षणों से परे सत्य की अवस्थिति की धुँधली कल्पना कर सकना भी जहाँ संसार के प्रगतिशील देशों में एक अकल्पनीय बात है वहाँ हमारे पुरातनवादी अपनी थोथी कल्पनाओं तथा अनर्गल तर्कों से शाश्वत सत्य का निर्णय करने का साहस करते हैं।

हमारे लिए यह जान लेना उचित हो गया है कि केवल सत्य की शोध करना ही वैज्ञानिकों का परम कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत वैज्ञानिक शोधों को ग्रहण और स्वीकृत कर प्रसार में सहयोग प्रदान करने के लिए उत्सुक जन-समाज अर्थात् विज्ञान का उर्वर वातावरण भी स्वयं ही तैयार करना है। क्या हम इस गौण कर्तव्य से पीछे रह कर वैज्ञानिक शोधों के, जनता द्वारा, पूरे पूरे उपयोग का अवसर आने के लिए भिन्न-भिन्न उद्योगों का ध्यान नहीं कर सकते? लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य इस सम्बन्ध में प्रबल शक्ति है। आप स्वयं भी लोक-रंजक वैज्ञानिक साहित्य तैयार करें और दूसरों द्वारा प्रस्तुत लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य भी स्वयं पढ़ें तथा प्रत्येक पठित बन्धु, पड़ोसी, ग्राम या नगर-बन्धु को पढ़ने के लिए प्रेरित करें। पत्रों में भी लेख, आलोचना आदि लिखें वा लिखे जाने का वातावरण वा उत्प्रेरणा संचारित करने का सतत उद्योग करें। प्रकृति-दत्त वाक्शक्ति के सुधी व्यक्तियों को अपने मनोहरण वैज्ञानिक भाषणों एवं रेडियो के संलापों के अवसर प्राप्त करने की तो बात ही सुझानी अनावश्यक है।

यहाँ पर यह भी कह देना अनुचित नहीं होगा कि अपनी प्राचीन संस्कृतियों या मान्यताओं के भ्रम में वैज्ञानिक सत्यों को अपने गले के नीचे न उतार सकने वाले व्यक्ति अर्द्ध शिक्षित या विज्ञानके प्रसार-क्षेत्र से दूर रहने वाले पुरुष ही नहीं, प्रत्युत शिक्षित और सुधी समाज में भी सत्य से बर्बस दृष्टि फेरने वाले व्यक्ति हमारे प्रधान विश्वविद्यालयों के उच्च मञ्चों पर व्याख्यान देने वाले अचार्य तक हैं। एक परम आदरणीय, विश्वविद्यालय के अचार्य की बात हम जानते हैं जिनकी हाल में ही क्षय रोग से मृत्यु हुई है। डाक्टरों, वैद्यों आदि के द्वारा बराबर सचेत किए जाते रहने पर भी न तो उन्होंने अपने शरीर को, अंतिम दिनों तक भी क्षय रोग से आक्रान्त होना ही स्वीकार किया और न कोई उपयुक्त चिकित्सा किए जाने का ही अवसर दिया। अन्त में अपना अनाथ संतानों को विलाप करने के लिए छोड़ कर वे असमय ही काल-कवलित हुए। ऐसे दृश्यों को देखकर किसके रोंगटे खड़े नहीं हो सकते ? क्या ऐसी घटनाएँ हमारे विज्ञान-प्रचार के उद्योगों को दिन-रात बलवती बनाने के लिए हमें आह्वान नहीं करतीं ? क्या हम संसार के अन्य देशों से अपनी पुरानी रूढ़ियों के कारण, चार छः शताब्दियों पूर्व का वातावरण उपस्थित करना ही उचित समझेंगे और संसार के अनर्थकारी अंधे युगों की पुनरावृत्ति रोकने का भरपूर उद्योग करने में कुछ भी शेष रक्खेंगे ?

[पृष्ठ ६६ का शेष]

इन योजनाओं के फलस्वरूप ३१·१२ लाख एकड़ भूमि सिंचाई के अंतर्गत आवेगी और १०·३ लाख टन अधिक अन्न उत्पन्न होगा और ८·५ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति पैदा होगी।

इस प्रकार ये योजनाएँ देश को सुख और समृद्धि के शिखर पर ले जावेंगी। खाली हमें थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है और उससे भी अधिक आवश्यकता है प्रांतीयता की संकुचित भावना दूर रखने की।

"हमारी बृहद् जल-योजनाएँ"

ले० श्री कृष्णचन्द्र दुबे

नदियों के स्रोत का जल भारी कृत्रिम झीलों में परिवर्तित कर देश की आर्थिक उन्नति के लिए पन-बिजली उत्पन्न करने तथा बाढ़ के नियंत्रण तथा नहरों और सिंचाई की संयुक्त व्यवस्था की बृहद योजनाएं कितनी महत्त्व पूर्ण हैं ! इन समस्याओं पर इस लेख में विद्वान लेखक ने प्रकाश डाला है।

अमेरिका की टेनेसी-घाटी-योजना ने (Tennesse Valley) बृहत-जल योजनाओं की दिशा में एक नई प्रेरणा और उत्त जना पैदा कर दी है। और भारत सरीखे राष्ट्र को जिसे अपने भविष्य का निर्माण करना है—इस प्रकार की योजनाओं पर विचार करना आवश्यक है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बृहद्-योजनाओं (Multi-purpose Projects) का अर्थ क्या है। यदि किसी नदी पर कोई बांध बांधा जावे जिसका उद्देश्य केवल सिंचाई का हो, या केवल बाढ़ रोकना ही जिसका उद्देश्य हो, या खाली विद्युत-उत्पादन हो तो उस योजना को हम बृहत योजना नहीं कह सकते। बृहत-जल योजना वह योजना है जिसमें ये सब उद्देश्य और योजनाएं एक साथ ही एक योजना में निहित हों। हमारे देश में इस प्रकार की योजनाओं की बाढ़ सी आ गई है और कुछ मुख्य योजनाएं कोसी, दामोदर, भखरा, तुंगभद्रा आदि हैं। इस लेख में हम इस प्रकार की योजनाओं पर विचार करेंगे।

बाढ़ का प्रश्न :—नदियों में बाढ़ के कारण प्रतिवर्ष हमारे देश में अगणित धन-जन की हानि होती है। हमारे यहाँ कभी कभी तो जलदेव अत्यधिक कृपा कर देते हैं और कभी कभी बिलकुल ही रूठ जाते हैं। और उनकी अत्यधिक कृपा के फलस्वरूप हमारी नदियों में बाढ़ आ जाती है। बृहत योजनाओं के अंतर्गत इन बाढ़ों को रोकने का भी एक प्रश्न है। बंगाल की दामोदर नदी तो बाढ़ के कारण बंगाल का दुःख (Sorow of Bengal) कहलाती हैं। नदी पर बांध बनाकर बाढ़ के जल को रोका जा सकता है और इस प्रकार बाढ़ को भी रोका जा सकता है पर अधिक उचित तो यह है कि मुख्य नदी में बांध के साथ-साथ सहायक नदियों में भी बांध बांधे जावें।

सिंचाई :—जिस वर्ष जलदेव रुष्ट हुए उस वर्ष देश में अकाल की बाढ़ आ जाती है। सिंचाई के लिये हमारी नदियों में जल रहता नहीं। यदि हम जल का संग्रह बांधों में कर सकें तो ऐसे समय में उसका उपयोग कर सकते हैं। हमारे यहाँ की ७० % जनता कृषि उद्योगी है और ७७६ लाख एकड़ भूमि में से हम केवल ३८० लाख एकड़ भूमि में ही खेती कर सकते हैं। बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये हमें हमेशा ही अनाज की कमी रहती है। बृहत योजनाओं के पूर्ण हो जाने के बाद इस दिशा में हम एकदम आगे बढ़ जावेंगे। अभी तक हम केवल ४७ लाख

एकड़ भूमि को ही सींच सकते हैं पर दामोदर, तुंग-भद्रा, हीराकुंड, भोर और भकरा योजनाएँ पूर्ण हो जाने के बाद हम ३ लाख टन अधिक अन्न उपजाने में समर्थ हो सकेंगे और साथ ही साथ कपास और जूट उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

मछली-पालन (Fisheries) :—अभी तक हमारे देशवासी खाली अन्न पर ही निर्भर रहे हैं। पर यह उचित है कि अन्न के साथ साथ हम दूसरे साधनों पर भी ध्यान दें जैसा कि पश्चिम के देशों ने किया है। अभी तक मछली का भोजन इतना मंहगा रहा है कि अन्न के अभाव में साधारण व्यक्ति इन खाद्यों का उपयोग नहीं कर सकता था। वृहत योजनाओं के अंतर्गत मछली-पालन का भी प्रश्न है।

विद्युत :—विद्युत-उत्पादन प्रत्येक योजना का मुख्य अंग है। पर अभी हमारी अधिकांश योजनाओं के सम्मुख प्रश्न यह है कि इस शक्ति का उपयोग कैसे हो। हमारा देश उतना उद्योगप्रधान नहीं है जितना अमेरिका है और इससे इस विद्युत-शक्ति का उपयोग अभी हाल में कठिन है। दूसरा प्रश्न जो हमारे सामने है वह है दो या दो से अधिक योज-नाओं में संघर्ष (Competition) का भय। उदाहरण के लिये कोसी योजना के पूर्ण होने के पूर्व ही दामोदर घाटी योजना विद्युत उत्पादन करने लगेगी और फिर कोसी योजना के द्वारा उत्पादित शक्ति का कोई स्थान नहीं।

खनिज-विकास :—वृहत योजनाओं से उत्पा-दित विद्युत शक्ति हमें अपने खनिज पदार्थों का विकास करने में अमूल्य सहायता देगी। हमारे बहुत से भागों के खनिजों का उपयोग केवल इसलिये नहीं हो सका है कि हम उन्हें कोयले के रूप में शक्ति (Power) नहीं दे सके। दामोदर घाटी विभाग में अपाटाइट (Apatite), बाक्साइट (Bauxite), क्रोमाइट (Chromite), क्ले (Clay), कोयला, तांबा, सोना, लोहा और अभ्रक, गंधक, वैनेडियम इत्यादि उपयोगी खनिज विद्यमान हैं और इस प्रकार वहाँ 'फेरस और नानफेरस' (Ferrous & non-ferrous), रसायनिक और हेवी केमिकल्स (Heavy (Chemicals) सीमेंट, पॉटरी, कांच, इंसुलेशन (Insulation) और पेंट इत्यादि उद्योगों के लिये बहुत स्थान है। जैसे ही दामोदर योजना से विद्युत शक्ति मिलने लगेगी ये उद्योग विकसित किए जावेंगे।

जल-मार्ग :—(Navigation) वृहत योज-नाओं के अंतर्गत जलमार्गों को विकसित करने का भी विषय है। कई विभागों में जलमार्ग थलमार्ग से अधिक उपयोगी और सस्ते पड़ सकते हैं। पुराने समय में हमारे देश में ऐसे मार्गों की अधिकता थी। टेनेसी योजना ने अमेरिका में जलमार्ग का काफी विकास किया है और वही उदाहरण हमारे सम्मुख भी है। पूर्वी और पश्चिमी समुद्री किनारों को हम नर्मदा, रिहांद, सोन और गंगा पर योजनाएँ बनाकर जलमार्ग द्वारा जोड़ सकते हैं। इसी प्रकार आसाम और पश्चिमी बंगाल को तिस्ता (Tista) के आधार पर जोड़ा जा सकता है। दामोदर योजना के अंतर्गत रानीगंज कोयला-विभाग को हम हुगली से संबंधित कर सकेंगे।

भारतवर्ष में १६० योजनाएँ इस समय हमारे सामने हैं। उनमें से ४६ पर कार्य भी जारी है। इन योजनाओं पर ३७१ करोड़ रुपया का खर्च अनुमानित है। ५३ और योजनाओं पर विचार हो रहा है और इनपर ५३० करोड़ रुपया का व्यय होगा। ६१ और योजनाओं पर अभी मामूली तौर से विचार हो रहा है और इनपर ६३० करोड़ के व्यय का अनुमान है।

[शेष पृष्ठ ६७ पर]

मध्य जन्तुक युग के विलुप्त जन्तु

ले०—जगपति चतुर्वेदी

आज से ७ कोटि वर्ष से १८ कोटि वर्ष पूर्व तक पृथ्वी के इतिहास में जिन विराट जन्तुओं का उदय होकर लोप हो गया उन्हें दानवसरट या महागोधिका का नाम देकर लेखक ने उनका मनोरंजक वर्णन देने का प्रयत्न किया है। विलुप्त जन्तुओं की इस कथा को पाठक अवश्य ही रुचिकर पाएगें।

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने इन पुराने विलुप्त जन्तुओं के सम्बन्ध में जितनी खोज की है, और उनके देश के संग्रहालयों की ओर से देश भर में विशेषज्ञ विद्वानों की टोलियों ने घूम घूम कर विलुप्त जन्तुओं के अवशेषों की टोह लेकर जितना अधिक काम किया है, वह बड़ा प्रशंसनीय है। महागोधिकाओं के संबंध में तो उनकी खोजें अपूर्व हैं। सौभाग्य से उनके देश में प्रकृति इनके बड़े से बड़े और पुराने अवशेषों का भंडार भी सुलभ बनाती जान पड़ती हैं। हिंसक जन्तुओं के संबंध में प्रोफेसर मार्श की जो खोजें हैं उनकी विज्ञान जगत प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। हिंसक गोधिकाओं के एक कुछ छोटे किन्तु सबसे पुराने वर्गों में की एक ठठरी के कुछ भाग लोगों को जहाँ तहाँ मिल रहे थे। सबसे पहले १८१८ ई० में कुछ ठठरी का भाग मिला। कुछ दिनों बाद वैसे ही जन्तु की ठठरी के कुछ भाग १८६५ ई० में मिले जिसका वर्णन एक वैज्ञानिक ने कर उस जन्तु का कुछ नाम रखने का प्रयत्न किया, किन्तु इनके बाद सन् १८८४ ई० उस काल की शिला में ही उस जन्तु से कुछ बड़े किन्तु उसी भाँति व जाति के जन्तु के कंकाल का पता प्रोफेसर मार्श को मिल सका। कंकाल का अवशेष कदाचित पूरा ही था लेकिन असावधानी होने से उसका अंश ही प्राप्त हो सका। इसी तरह दूसरी ठठरी के अवशेष का पता सन् १८६१ ई० में लगा। इसकी खोपड़ी और अधिकांश भाग प्रोफेसर मार्श को प्राप्त हो सके। अवशेष के कुछ लापता भागों की पूर्ति अन्य अवशेषों की हड्डियों के अनुरूप बनाकर उन्होंने इस जन्तु का पूरा ढाँचा खड़ा कर दिया। यह जन्तु अंचीसौरस (अधिगोधिका) नाम से पुकारा गया। कदाचित जिस स्थान पर यह जन्तु मरा था, वहीं कंकाल पाया भी गया था।

इस अधिगोधिका या प्रारम्भिक प्रकार के हिंसक महागोधिका के शरीर की बनावट ध्यान देने योग्य है। एक तो उसकी रीढ़ और पैरों की हड्डियाँ खोखली थीं और सारा ढाँचा हल्का था। दुम मामूली आकार की थी। किन्तु सबसे बिचित्र बात यह थी कि उसके धड़ का अगला भाग और अगले पैर ऐसे थे कि वह कभी चारों पैर से भी चल सकता और दो पैर पर भी खड़ा होकर चलता। दो पैर पर बन्दर, गिलहरी आदि को हम खड़ा होते देखते हैं। इसी तरह अंचीसौरस भी करता होगा। अगले पैर कुछ हल्के और छोटे होने से वैज्ञानिकों का विचार है कि वह अधिकतर दो पैरों पर ही चलता होगा।

अंचीसौरस या अधिगोधिका से एक और भारी समस्या हल होती है। पुरानी शिलाओं में दो पैरों के निशान मिलते हैं जो इस तरह के जोड़े बने मिलते हैं कि चार पैर वाले जन्तु से वे चिह्न नहीं बन सकते। उनके छोटे और प्रारम्भिक चिह्नों में पैर की तीन उँगलियों या चंगुल के निशान बने मिलते हैं। वैज्ञानिकों का यह मत है कि वे प्रारम्भिक चिह्न अधिगोधिका के ही होंगे। उनका यह कहना है कि अधिक नर्म मिट्टी की तह पर तो पाँचों उँगलियों के निशान उखड़ते, लेकिन कुछ कड़ी तह पर तीन ही उँगलियाँ निशान उठा सकती थीं। इसी तरह से अन्य बड़े पग-चिह्नों के अन्य शिलाओं में मिलने पर उनका भी यही अनुमान किया जाता है कि अधिकांश अन्य महागोधिकाओं के ही होंगे जो छोटे रूप की अधिगोधिका पीढ़ी से दो पैर पर चलना प्रारम्भ कर बाद में बड़े आकार के और दूसरे-दूसरे वर्गों के होकर बड़े पग-चिह्न बना सके होंगे। कुछ पग-चिह्न दूसरे जन्तुओं, कछुए, आदि के शायद हों। पूँछ के निशान कड़ी तह के कारण ही शायद अधिगोधिका के पग-चिह्नों के साथ नहीं उठे दिखाई पड़ते। यह जन्तु लगभग ६ फीट लम्बा था और मध्य युग के प्रारम्भिक काल ट्रायसिक या आदि महागोधिका काल में बनी शिलाओं के समय हुआ होगा। उन शिलाओं में ही इसके अवशेष मिलते हैं। इन शिलाओं को बने १८ करोड़ वर्ष हुए होंगे।

वनस्पतिभोजी महागोधिकाएँ

हिंसक महागोधिकाएँ जिस काल में हुईं उसी समय वनस्पतिभोजी, सीधेसादे इसी जाति के जन्तु भी स्थल पर फैले। आज हमें गिरगिट व गोहों के ऐसे ही रूप मिलते हैं जो छोटे-छोटे पैरों वाले मामूली जीव हैं। उनके बदन पर हमें छिछड़े की परत भी दिखाई पड़ती है किन्तु कुछ इनके पूर्व वंश के जन्तु व महागोधिकाओं का रूप का अनुमान करना हो तो ऐसे जीव ध्यान में लाइए जिनके बदन पर चमड़े की तह हो, मजबूत पैर हों, बहुत भारी बदन हो और पृथ्वी पर वे ही सब और बड़े जानवरों के रूप में दिखाई पड़ते हों।

हम पहले 'ब्रोंटोसौरस' (वज्र गोधिका) की चर्चा करते हैं जिसका बदन लगभग ७० फीट लम्बा और हज़ार मन भारी रहा होगा। इसकी छोटी खोपड़ी में मस्तिष्क की तनिक सी जगह और रीढ़ की नली में पतले स्नायुओं का स्थान होने से हमें इसकी बुद्धि बहुत थोड़ी होने का अनुमान हो सकता है। इसके शरीर में रक्षा के लिए हड्डी की पट्टिका और रीढ़ के ऊपर अर्बुद या हड्डियों के उभाड़ का प्रबन्ध नहीं मिलता। इसलिए समझा जा सकता है कि यह दयनीय दशा में रहने वाला जन्तु होगा। हाँ, सींग न होने पर यह कुछ दुम को ही हिला डुला कर छोटे मोटे जानवर को डरा सकता होगा। प्रोफेसर मार्श और प्रोफेसर कोप ने इस जन्तु के अवशेषों के सम्बन्ध में अच्छी खोज की। यह जन्तु कुछ कुछ घड़ियाल की शक्ल से मिलता जान पड़ता था। यह शायद पानी के किनारे या छिछले जल में रह सकता हो और समुद्री घास पात और सेवार खाकर रहता हो। इसलिए इसे स्थल और और छिछले जल दोनों में चलने फिरने वाले स्वभाव का जन्तु कहा जा सकता है। इसके अवशेष विशेषकर वैसे स्थानों में पाए गए हैं जहाँ दलदलीयभूमि झील व नदी के किनारे रही हो और उस स्थान में रहते व पानी पीने जाते किसी समय झुंड के झुंड फँस कर निकल न सकते हों। ऐसी भूमि का पुराने समयों में अभाव न रहा होगा और उनमें कितने ही जन्तु मर खप जाया करते होंगे। अन्य जन्तुओं के अधिक संख्या के अवशेष ऐसी

स्थिति में कभी रही भूमि से बनी शिलाओं में पाए जाते हैं। यह जन्तु दो पैरों से नहीं, बल्कि चारों पैर से चला करता था। क्योंकि इसके अगले पैर बड़े ही पाए गए हैं। लम्बी गर्दन और लम्बी दुम इसकी शक्ल को अजीब बनाती थी।

ब्रोंटोसौरस का भाई का अटलांटोसौरस अतुल-काय गोधिका है। इसकी ठठरी के अधिक भाग तो नहीं मिलते लेकिन इसकी एक जाँघ की हड्डी ही आदमी की कद से कुछ बड़ी ६ फीट २ इंच की पाई गई है। यह जन्तु इतनी बड़ी हड्डी की जाँघ का होने पर कितना भारी रहा होगा, इसका अनुमान करने के लिए हम बड़े से बड़े हाथी के बगल में खड़े होकर उसके जाँघ की हड्डी को अपने कद से नाप सकते हैं। यह उससे बहुत बड़ी हड्डी होने से यह अटकल लगाया गया कि इस जन्तु की लम्बाई अवश्य ८० फीट से अधिक पहुँची होगी। इस हड्डी के अतिरिक्त इसकी रीढ़ के भिन्न भिन्न भागों की कुछ हड्डियाँ प्रोफेसर मार्श को प्राप्त हो सकीं। जिन शिलाओं में इनको पाया गया, उन्हीं में जङ्गल के भरे पेड़ पौधों के भी अवशेष सुरक्षित हैं। उन हरियालियों को ही खाकर यह भारी भरकम शरीर का जन्तु अपना समय बिताता रहता होगा। ब्रोंटोसौरस और अटलांटोसौरस के अवशेषों के मिलने के स्थान कोलोरडो नदी के प्रसिद्ध घाटी की ही वे शिलाएँ हैं जिनका समय जुरासिक या आदिपुष्प काल अर्थात् मध्य युग का द्वितीय खण्ड है। उस काल का प्रारम्भ आज से १४, १५ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा।

यहाँ पर हम अपने सामने युगों की अवशेष रूप की कहानी सुनाने वाली शिलाओं को अपनी एक मील गहरी घाटी काट कर रखने वाली कोलो-रडो नदी की विशेष चर्चा करने की अपनी उत्सुकता नहीं रोक सकते। जिस नदी की कृपा से हमें प्राचीन विलुप्त जन्तुओं की विस्तृत समाधि वाले मैदान शिलाओं की कोख से खुले मालूम पड़ सके हैं, वह संयुक्त राज्य अमेरिका में बहने वाली नदी है जिसकी लम्बाई २२२० मील होगी। यह नदी कोलो-रडो और व्यूमिंग् नाम के दो राज्यों से निकलने वाली ग्रीन और ग्रैंड दो सहायक नदियों के मिलने से बनी है। वह राकी और सियरा नेवादा नाम की पर्वत श्रेणियों के बीच के सूखे मैदान में बहती हुई पैसिफिक महासागर की कैलिफोर्निया नाम की खाड़ी में जाकर गिरती है। मार्ग में इसने एक मील के लगभग जो गहरी घाटी बनाई है उसी में सैकड़ों मील तक राकी पर्वत-माला के बगल में मैदान पाया जाता है जिसकी नीचे शिलाओं में नाना प्रकार के जन्तुओं के अवशेष मिलते हैं। भिन्न-भिन्न अवशेषों के मिलने के स्थान उन अवशेषों के नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं। अमेरिका के येल कलेज के संग्रहालय में इन स्थानों के प्राप्त कई सौ प्रकार के जन्तुओं के अवशेषों का भंडार है जिनसे इनका अध्ययन करने का बहुत अच्छा अवसर मिलता है। प्रोफेसर मार्श ने इस सुविधा से लाभ उठाकर कितनी ही महत्वपूर्ण ठठरियों का रूप खड़ा कर व उनके संबंध की खोजें कर बड़ा यश और नाम कमाया है।

हमारे देश में इसी तरह की नदी हिमालय के सर्वोच्च शिखर एवरिस्ट और गौरीशंकर से निकले स्रोतों का जाल लेकर संसार की अधिक से अधिक गहरी घाटियों में स्थान पाने वाली घाटी का निर्माण अरुण नदी करती है किन्तु दुर्भाग्यवश वे शिलाएँ अति प्राचीन अतएव अवशेषहीन हैं।

लम्बकाय महागोधिका या दानवसरट
(डिपलोडोकस)

हमें प्रत्यक्ष रूप से अपनी आँख से ठठरी का पूरा रूप देखने के लिए जितने भी जन्तुओं का

रूप मिल सकता है उनमें सबसे लम्बी 'लम्बका-यगोधिका' (डिपलोडोकस) है। इसकी वैज्ञानिकों द्वारा पूरी खड़ी की हुई ठठरी अमेरिका के कार्नेगी संग्रहालय, पिट्सबर्ग में सुरक्षित है किन्तु आधुनिक युग के महादानी अमेरिकन कर्ण, स्वर्गीय श्रीयुत ऐंड्रू कार्नेगी ने लाखों करोड़ों दान कर कितनी ही ज्ञान-वृद्धि की संस्थाएँ खोलने के साथ एक प्लास्टर की बनाई हुई पूरी ठठरी असली ठठरी की ही नकल पर बनवा कर इङ्गलैंड के विख्यात संग्रहालय ब्रिटिश म्यूजियम के "अवशेष विभाग" को दान कर दी है। उस अद्भुत ठठरी का नमूना वहाँ भी देखा जा सकता है। इस प्लास्टर की ढली ठठरी की प्रत्येक हड्डी अलग-अलग ढाली गई थी, जिससे ठीक असली का ही नमूना हो।

डिपलोडोकस की पूरी लम्बाई सिर से लेकर दुम तक ८५ फीट है। सीधे खड़े होने पर इसकी उँचाई १४ फीट पहुँचती है। इसके ढांचे की बनावट में हड्डियाँ इस तरह की हैं जिससे कम से कम बोझ में अधिक से अधिक मजबूती लाने का प्रयत्न हो। नाक लम्बी गर्दन के सिरे पर छोटी खोपड़ी के अन्तिम सिरे पर बनी है। लम्बी गर्दन और नाक उसके अन्त में होने से यह अनुमान किया गया है कि यह जन्तु छिछले पानी में अपना शरीर रख कर शत्रुओं से अपने को बचाता हुआ समुद्री या तट के घास पात आदि को खाता रहता होगा।

डिपलोडोकस की ठठरी के लिए हड्डियाँ व्यूमिंग राज्य के उस स्थान में प्राप्त हुई जहाँ अनेक जन्तुओं के अवशेष थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही पड़े मिलते हैं किन्तु कोई भी एक पूरी ठठरी एक जगह नहीं मिल सकी। कई बार में कई अधूरी ठठरियों के मिले अवशेषों का पूरा अध्ययन कर कारनेगी संग्रहालय के अध्यक्ष डा० डबल्यू० जे० हालैंड ने अपने निरीक्षण में एक पूरी ठठरी का रूप खड़ा करने का उद्योग किया। जो ठठरियाँ अधूरी मिली थीं उसमें से एक सन् १८९९ ई० में अवशेष खोज करने वाली मंडली के एक नेता डा० वोर्टमैन को व्यूमिंग में मिली थी। उसके दूसरे ही साल उन्हीं क्षेत्रों में दूसरी अधूरी ठठरी एक दूसरे खोजी दल के श्री पिटर्सन को मिली। इसीतरह कुछ और ठठरियाँ मिलीं, किन्तु सब अधूरी। इनमें से किसी में भी पूरी खोपड़ी नहीं थी। प्रोफेसर मार्श के पास दो, कार्नेगी संग्रहालय में एक और अमेरिकन राजकीय संग्रहालय में चौथी अधूरी खोपड़ी थी। इन सब को देखकर इस जाति के ही ब्रोंटोसौरस की खोपड़ी से मिलान कर पूरी खोपड़ी बनाने का उद्योग डा० हालैण्ड ने किया। दुम की पूरी ७० हड्डियाँ और धड़ की अधिकांश हड्डियाँ मिल चुकी थीं। इन सबसे इस जन्तु का लम्बा ढाँचा तैयार किया जा सका। इस जन्तु के दाँत मामूली और कमजोर हैं, इसलिए यह बनस्पति-जीवी ही रहा होगा।

भीमकाय महागोधिका (ब्रेचियोसौरस)

मोटे तगड़े और ऊँचे बदन वाला ब्रेचियासौरस अवश्य ही भीमकाय महागोधिका कहे जाने योग्य है। यह बनस्पतिजीवी ही महाजन्तु था। इसके अधूरे अवशेष अमेरिका और अफ्रीका में पाए गए हैं।

भीमकाय महागोधिका का शरीर भीम की तरह भारी होने पर हमारी पृथ्वी पर के आजकल के किसी भी जानवर से अधिक भयानक रूप रखने वाला रहा होगा। इसके मोटे पैर हाथी के पैरों को झूठा बताने वाले होंगे। इसकी ऊँचाई गर्दन उठाने पर ३० फीट होती होगी। यदि लम्बा आदमी ६ फीट के डीलडौल का हो तो उसके समान ५ आदमी एक दूसरे की गर्दन पर खड़े होकर बड़ी ही कठिनाई से अपनी पहुँच उसके ऊपर उठे मुँह के निकट तक

कर पाते। दुम के सिरे से सिर तक की लम्बाई ६० फीट रही होगी। इसके पैर की निचली लम्बी हड्डी जिसे प्रगंडास्थि (ह्यूमरस) या हमारे हाथ में केहुनी के नीचे से हथैली तक हड्डी के समान हड्डी ७ फीट और एक पसली ६ फीट लम्बी थी। यह चारों पैरों पर चलने वाला जन्तु था। इस जन्तु का सारा भार १४०० मन (५० टन) रहा होगा।

विचित्रदंती दानवसरट (इग्वानोडोन)

इग्वानोडोन एक विचित्र दानवसरट या महागोह है जिसके अवशेष में दाँतों ने बहुत दिनों तक खोजियों को हैरान कर रक्खा था। इसके दाँतों का ऊपरी तल या शिखर चौड़ी रेतीनुमा था जिसके किनारे आरी की तरह हों। ऐसे दाँत पहले-पहल डा० गिडियन मैन्टेल नाम के एक बड़े परिश्रमी और उद्योगी खोजी को सन् १८२२ ई० में ससेक्स नाम के प्रान्त के किसी स्थान की शिलाओं में इंगलैंड में प्राप्त हुए थे। वे शिलाएँ खरिया की शिलाओं से नीचे वाली शिलाएँ थीं जिनका निर्माण मध्य युग के अन्तर में अर्थात् आज से दस करोड़ वर्ष पहले प्रारम्भ होगा। डा० मैन्टेल की स्त्री ने पहले-पहल ऐसे दाँतों को उन शिलाओं से प्राप्त किया था किंतु उनके शिखर कुछ घिसे हुए होने से उन दाँतों का पूर्ण रूप नहीं ज्ञात होता था, फिर भी वे विचित्र रूप के थे। उन शिलाओं में आजकल पाए जाने वाले स्तनपायी जीवों के बड़े अवशेष नहीं पाए जाते हैं किन्तु दाँत इस बात को प्रकट करते थे कि वे ऐसे जन्तु के हैं जो घास पात चबाने का काम दाँतों से लेता हो। उस काल के किन जन्तुओं के वे होंगे, इसका बता सकना कठिन सा था। कोई यह नहीं अनुमान कर सकता था कि सरीसृप में भी ऐसे जन्तुओं की नस्ल हो सकती थी जो घास-पात दाँतों से चबा कर आजकल के चौपायों की जुगाली का अनुकरण करती। यह समस्या नई थी, किसी ऐसे सूझ वाले व्यक्ति की आवश्यकता थी जो इतनी दूर की एक अजीब सी व अनहोनी जान पड़ने वाली बात को भी भाँप सकता।

डाक्टर मैन्टेल ने भूगर्भविद्या परिषद् के सदस्यों के सम्मुख वे दाँत रक्खे किन्तु किसी ने उसका कुछ ठीक उत्तर देकर डा० मैन्टेल को सन्तोष नहीं किया। किसी जन्तु के साधारण रूप के होंगे, यही समझ कर उन सब विद्वानों ने टाल सा दिया। डा० मैंटेल ने साहस कर फिर दाँतों को उस समय के इन विषयों के सब से बड़े विद्वान कुवियर के पास किसी विद्वान द्वारा भेजवाए। कुवियर महोदय ने उन्हें देखा और रख दिया। उन्होंने सीधा जवाब दे दिया कि उन दाँतों का कोई भी महत्व नहीं है। वे किसी जन्तु के साधारण प्रकार के दाँत हैं। उनकी ओर विशेष ध्यान देने की कोई भी आवश्यकता नहीं।

यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो इतने बड़े विद्वान का बोझिल मत पाकर अवश्य ही चुप लगाता और फिर अपनी टाँग उसमें अड़ा कर व्यर्थ परिश्रम करने और उस की उधेड़बुन में पड़े रहने का कभी भी साहस नहीं करता किन्तु मालूम पड़ता है कि ज्ञान के विशाल क्षेत्र में छोटे और बड़े सब को एक ही समान अधिकार प्राप्त होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी बड़ी प्रतिष्ठा ख्याति, आश्चर्यजनक खोजों और महत्वपूर्ण मीमांसाओं के ही कर लेने से ज्ञान-देव का बहुत प्रियपात्र व सखा नहीं बन पाता। उनके यहाँ तो छोटे-बड़े सभी की एक सी पहुँच है। प्रत्येक के लिए सदा ही द्वार खुला है। केवल उद्योग कर खटखटाने भर की देर है अन्यथा वहाँ पहुँच होने में कोई बाधा नहीं। यही बात डा० मैन्टेल के उद्योग से सिद्ध होती है। आगे-पीछे की कोई बात सोचे या हिचकिचाहट के बिना ही डा० मैंटेल ने उन दाँतों के सम्बन्ध की खोज जारी ही रक्खी। उसका पूरा फल भी निकला लेकिन कुछ अधिक देर में

और उनके धैर्य और साहस की पर्याप्त परीक्षा के पश्चात्।

भूगर्भविज्ञान परिषद के डा० बकलैंड और श्री कोनयबियरे ऐसे अपने देश के विद्वानों और श्री कुवियर ऐसे विश्वविख्यात फ्रांसदेश वासी विद्वान की उत्साहप्रद उसम्मति न मिलने पर भी डा० मैंटेल ने एक छोटे स्थान में रहते हुए, लन्दन ऐसे प्रसिद्ध नगर के संग्रहालयों, विद्वन्मंडलियों व प्रसिद्ध पुस्तकालय के वातावरण से दूर रहते हुए भी अपनी खोज-वृत्ति को बुझने न देकर अवशेषों के संग्रह का कार्य जारी रख इन दाँतों की उधेड़बुन बन्द नहीं की। शिलाओं को अपने काम के लिए तोड़ लेजाने वाले खनकों व मजदूरों को पुरस्कार दे देकर उन्होंने ऐसे दाँतों का जो भंडार बनाया उनमें छोटी आयु के जानवर के नये दाँतों से लेकर पूरी आयु तक के जानवरों के बड़े और पूरे तथा घास चबा चबा कर घिसा डाले हुए दाँतों तक की पूरी श्रेणियाँ सामने आ गईं। फिर उन्होंने सरीसृपों के दाँतों से उनका मिलान करने के लिए संग्रहालयों की भी धूल छानी लेकिन वैसे दाँत कहीं दिखाई न पड़े। संयोग से एक प्रकार के आधुनिक गोह के ऐसे दाँत मिले जिसके दाँत को किसी व्यक्ति ने संग्रह कर रक्खा था। उस छोटे रूप के दाँत ही ये बड़े रूप थे जो किसी बहुत बड़े आकार के सरीसृप के होने चाहिये।

डा० मैंटेल ने अपनी इन सब सामग्रियों को श्री कुवियर के पास भेजा तो डा० मैन्टेल यह देखकर स्तब्ध हो गए कि श्री० कुवियर ने अपनी पिछली सम्मति को वापस लेकर अपनी भूल स्वीकार कर ली है और यह मत प्रकट किया है कि वे अवश्य ही किसी ऐसे सरीसृप (रेप्टाइल) के होंगे जो वनस्पतिजीवी होगा किन्तु उन्होंने सलाह दी कि दाँतों का रहस्य खोलने के लिए उन्हें किसी जबड़े में लगा हुआ मिलना उचित होगा और इस संबंध में उन्होंने डा० मैन्टेल को अपना खोज जारी रखने के लिए उत्साहित किया। श्री० कुवियर का पहला मत यह था कि शायद वे किसी गेंडे के ऊपरी जबड़े के अगले दाँत हों लेकिन उसे उन्होंने अब भूल मान लिया। सच है ज्ञान का सच्चा पारखी कभी भी झूठी शान व मर्यादा के पीछे पड़कर सत्य का कभी गला नहीं घोट सकता। श्री कुवियर का इतना संकेत ही कि ये दाँत किसी नए प्रकार के सरीसृप के हो सकते हैं, इग्वानोडोन की खोज का मार्ग खोल सका।

आजकल के जीवित गोधिकाओं या सरीसृपों में हम देख सकते हैं कि वे कीड़े पतंगे या घास पात भी अपनी जीभ बढ़ा कर निगल भर जाते हैं। छिपकली, गिरगिट, गोह आदि में यही देखा जा सकता है। कुचल कर खाने की क्रिया इन में कोई नहीं करता। यह तो स्तनपायी चौपायों में ही पाया जाता है जिनकी पहले की शिलाओं में कोई स्मृति नहीं मिलती। वे बाद की सृष्टि हैं। इसीलिए वैज्ञानिकों के ध्यान में ही यह बात नहीं आती थी कि कुचल कर खाने वाले दाँतों का यह जन्तु उन समयों के अवशेष रूप में सरीसृपों के पड़ोस में कैसे आ सकता है किन्तु जब इस बात की कुछ संभावना मालूम पड़ी तो इग्वाना नाम की एक आधुनिक गोह के दाँतों के मेल का दाँत मिलने से इस प्राचीन अकल्पनीय जन्तु का नाम उसका रूप ज्ञात हुए बिना ही इग्वानादंती या इग्वानोडोन रख दिया गया। श्री० कोनीबियरे की राय से डा० मैन्टेल ने यह नाम पसंद किया और अपनी खोज जारी रक्खी। अन्त में सन् १८४१ और ४८ में ऐसे जबड़ों के भाग मिल सके जिनमें दाँत लगे थे। इस जन्तु के कुछ रंग ढंग का अनुमान होने पर अन्य देशों में भी खोजी उधेड़बुन में लगे और कितनी ही हड्डियों के अवशेष योरप और अमेरिका आदि में प्राप्त होने लगे। इसी जाति व इसी श्रेणी के अन्य जन्तुओं की खोज की जा सकी। इग्वानादंती

या चर्वणदंती महागोधिका के पूर्ण रूप को संसार के सन्मुख रखकर डा० मैन्टेल के स्वप्न को पूरा करने वाला एक दूसरा देश निकला जो इस खोज के लिए अभिमान कर सकता है।

सन् १८७८ ई० में योरप की भूमि पर बेलजियम में फ्रांस की सीमा के निकट की खदानों में जब इग्वानोडोन की एक दो नहीं, बल्कि दर्जनों ठठरियों के पूरे अवशेष का संवाद मिला तो विज्ञान-जगत को बड़ी ही प्रसन्नता हुई। एम० डे पाव नाम के विद्वान ने बड़ी ही सावधानी से इन अवशेषों का समग्र रूप धीरे-धीरे शिलाओं से कटवा कर तैयार कर संग्रहालय में रखवाया। इनमें छोटी और बड़ी दो जातियों के जंतु थे। बड़ा जाति के चर्वणदंती महागोधिका अर्थात् इग्वानोडोन की ऊँचाई दो पैरों पर खड़े होने पर १५ फीट तक पहुँचती। सिर से दुम के सिरे तक लम्बाई ३० फीट होती। इसके अगले पैर बाहुओं की तरह छोटे थे लेकिन उनमें हथेली में एक विचित्र बात दिखाई पड़ती थी। पाँचों उँगलियों में जो अंगूठा था, उसका आकार बड़ा था और वह बगल की ओर तर्जनी उँगली से सीधा समकोण बनाता खड़ा मालूम होता था। पहले यह अनुमान किया गया कि यह विचित्र तरह की हड्डी शायद सींग हो, लेकिन बाद में यह निश्चय किया गया कि वह विचित्र रूप का अंगूठा ही होगा जिसे वह किसी चीज में घुसेड़ने का काम लेता हो। अपनी रक्षा के लिए शायद छोटी बर्छी रूप में वह अंगूठा ही मिला हो। कूल्हे की हड्डियों की बनावट से और पिछले पैरों का आकार अगले पैरों या बाजुओं से लम्बा होने से यह ज्ञात हुआ कि यह दो पैरों पर खड़ा होकर चलता होगा। इसके पैर में तीन ही उँगलियाँ थीं जिनके चिन्ह शिलाओं में अवशेष रूप में पाए जाते हैं।

इग्वानोडोन खरदूषण का भाई मालूम होता है क्योंकि उसके थूथन गदहे की तरह लम्बे हैं। इस जन्तु के पूरे रूप की ठठरी बेलजियम की राजधानी ब्रुसेल्स के संग्रहालय में रक्खी है। उनका प्लास्टर का नमूना अन्यत्र भी मिलता है। इतना भारी-भरकम विशाल जन्तु आजकल के हाथी की बराबरी का रहा होगा। उसके जाँघ की हड्डी ५ फीट तक लम्बी पाई जाती है। यह पेड़ पौधों के पत्ते खाकर रहने वाला जीव था। इसके बदन के ऊपर कैसा चमड़ा रहता होगा, इस बारे में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। कदाचित वह चिकना होता होगा। इसके मुँह के आगे का भाग कड़े चमड़े के थूथन की तरह था जिससे वह घास-पात आदि नोचा करता होगा। दाँत उससे पीछे होते थे। लम्बी और भारी दुम देखकर यह कहा जाता है कि शायद यह पानी में कुछ रहा करता हो और पूँछ से तैरने का काम निकालता हो। इसको अपने शत्रुओं का भय भी अवश्य ही रहता होगा लेकिन इसकी भारी उँचाई इसकी अवश्य ही सहायता करती होगी।

इग्वानोडोन के रंग रूप को देखकर कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि पक्षियों की उत्पत्ति ऐसे ही जंतु से हुई होगी। स्तनपायी जन्तुओं की पीढ़ी तो निश्चित रूप से एक अलग ही जाति रूप में उत्पन्न हुई जिनका सरीसृप वर्ग से स्पर्श नहीं के बराबर माना जाता है किन्तु पक्षियों की जाति के पूर्वजों के सम्बन्ध में विद्वानों में अधिक मतभेद है। कुछ भी हो, अपने वंश के पुराने रूप में तो इग्वानोडोन या उसके भाई बन्धु अब केवल अपने अवशेष ही हमारे सामने छोड़ गए हैं। उनकी ही लड़ी बना कर सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम और इतिहास समझने का प्रयत्न किया जाता है।

सशस्त्र दानवसरट

दानवसरट या महा-गोधिकाओं के अनेक विचित्र और विराट रूपों में हिंसक और वनस्पतिभोजी भेद-प्रभेदों की विज्ञान ने गहरी खोज की है किन्तु उनका

सशस्त्र रूप तो अति ही अपूर्व और विलक्षण है। हाथी या दरियायी घोड़े सरीखे आधुनिक जन्तुओं या बड़े से बड़े गैंडे के डील-डौल से होड़ करते हुए ये जन्तु जब हमारे अनदेखे रूप के कवच और भालों के समान हड्डियों से बने हथियार में सुसज्जित दिखाई पड़ते हैं तो प्रकृति की व्यतीत युग की इन कौतूहल पूर्ण कृतियों को देख कर हम स्तब्ध रह जाते हैं। ये सशस्त्र जन्तु या महागोहें हिंसक नहीं थीं, प्रत्युत घास-पात खाने वाली वनस्पति-जीवी थीं। जान पड़ता है कि इन बेचारे बेडौल जन्तुओं के भारी शरीर को प्रकृति ने बहुत अरक्षित देखा और इन पर आक्रमण करने वाले हिंसक शत्रुओं व महागोहों का जोर अधिक होने लगा तो इन बेबस महा जन्तुओं की रक्षा के लिए ब्रह्मा के सलाहकारों की कोई विशेष बैठक हुई और उसमें कवच और शस्त्र प्रदान कर इनकी रक्षा करने का मंतव्य स्वीकृत हुआ। हम इस दैवी क्षेत्र की बातों का निबटारा करने का भार तो दार्शनिकों, मीमांसकों पर ही छोड़ते हैं किन्तु विज्ञान बतलाता है कि ये सशस्त्र और कवचित या वर्मधारी (आरमर्ड) जन्तु अपना अवशेष मध्य युग या महागोधिका युग के उत्तरार्द्ध में छोड़ गए।

शल्यधारी महागोधिका (स्टेगोसौरस)

इन हथियारबन्द और हड्डी की ढाल धारण किए जन्तुओं में एक ऐसा जन्तु था जिसका आकार आज-कल के बड़े से बड़े गैंडे के बराबर रहा होगा। इसका सिर बहुत छोटा था किन्तु धड़ का रूप मोटा होता हुआ कमर के पास तक काफी भारी हो गया था। पिछले पैर अगले पैरों से बड़े थे, जिससे इसका शरीर एक मेहराब की तरह उठा मालूम पड़ता। कमर से एक दम ढाल पर उसकी भारी दुम दिखाई पड़ती। इस विचित्र रूप में साही के काँटों युक्त शरीर को तुच्छ बनाने के लिए उसकी गर्दन से लेकर दुम के प्रारंभिक भाग तक हड्डियों की पट्टियां खड़े ढाल के रूप में उठी हुई मढ़ी थीं जिनका आकार भिन्न-भिन्न तरह का था। वे सभी ऊपर एक शिखर बनाती हुई एक दूसरे से रीढ़ के निकट सटी हुई, एक शिखर-मालिका बनाए रहती थीं। यह पट्टियों की माला एक ही नहीं, बल्कि दुहरी होती थी। अंत में पूँछ के बचे भाग में भालानुमा हड्डी के हथियार एक दो नहीं, बल्कि चार जोड़ जड़े हुए थे, जो दुहरी पक्ति में थे मानों गर्दन पर से दुम के प्रारम्भिक भाग तक की ढाल रूपी दुहरी अस्थिपट्टियाँ पर्याप्त रक्षा का साधन न समझा जाकर यह शल्य-मालिका अर्थात् भालों की दुहरी माला लगाई गई थी। जिस जन्तु पर यह जन्तु अपनी इस भालों वाली पूँछ से चोट करता, उसकी क्या हिम्मत पड़ती कि इसके निकट आवे। यह जन्तु शल्यधारी महागोधिका (स्टेगोसौरस) कहा जा सकता है। यह चारों पैरों पर चलनेवाला सरीसृप था।

इस जन्तु का आकार २५ फीट लम्बा और कमर के पास ६ फीट ऊँचा था। कठोर त्वचा के चोंचनुमा थूथन इसके होते थे। यह घास-पात खाने वाला ही जन्तु था। इसकी रीढ़ या पृष्ठवंश की नली कमर की ओर इतनी बड़ी हो गई थी कि उसका आकार उसके मस्तिष्क का बीस गुना अधिक था। इस जन्तु का मस्तिष्क इसके बड़े आकार के हिसाब से बहुत ही छोटा सा था। इसलिए अवश्य ही बहुत अल्पबुद्धि रहा होगा। यही कारण शायद रहा हो जिससे इतने भारी बचाव के प्रबंधों—भारी-भारी अस्थिपट्टिकाओं के वर्म सारे शरीर में होते, भाले द्वारा पूँछ सुसज्जित होते भी यह जीव नष्ट हो गया। इसी की तरह अन्य महागोधिकाओं के वंश का भी नष्ट होने का कारण शायद कुछ दूसरा भी रहा हो, उसका पता अभी तक नहीं लगता।

त्रिशृंगी दानवसरट (ट्रिसराटाप्स)

तीन सींगों में से दो आँख के ऊपर और एक

वर्तमान और परिमृत जीवों की लम्बाई की तुलना

वर्तमान और परिमृत जीवों की उँचाई की तुलना

विलुप्त या परिमृत जंतु

चर्म पंखी

चंचुमुखी सरीसृप वि

विचित्रदंती या इग्वानोडोन

अवशेष रूप में पगचिन्ह
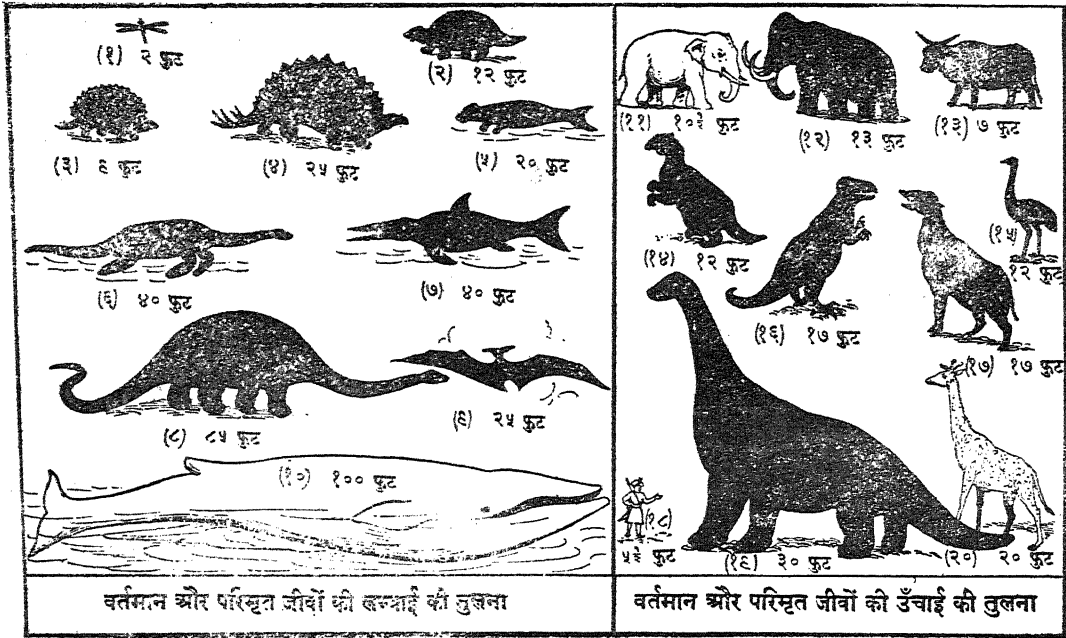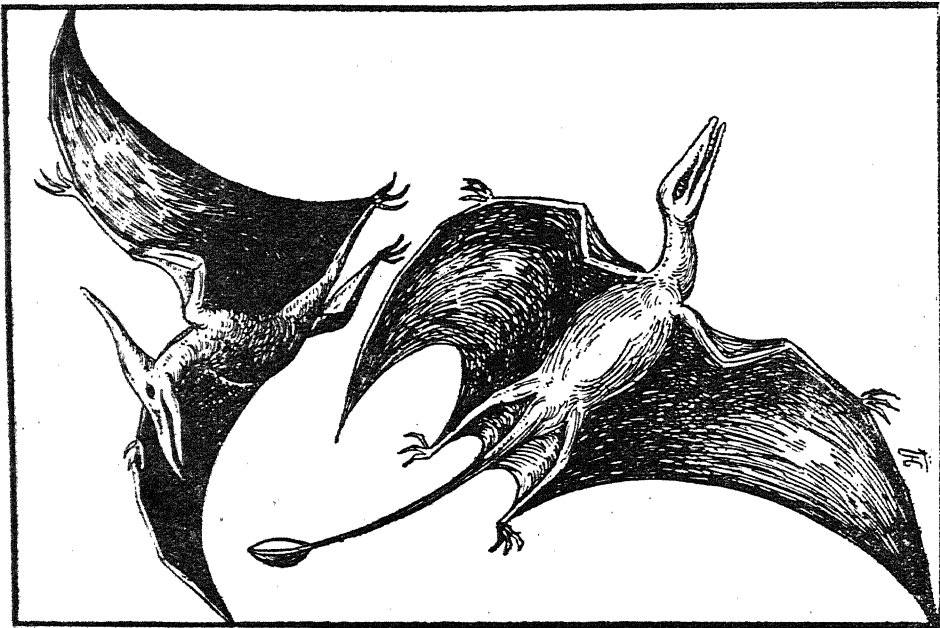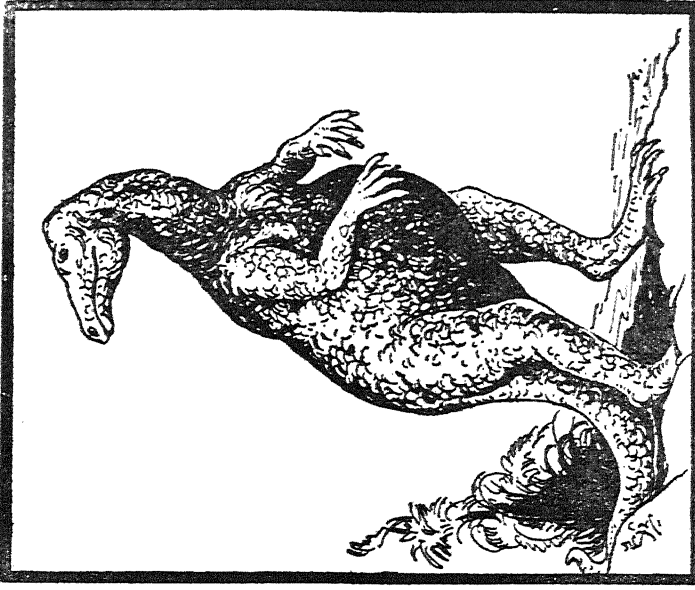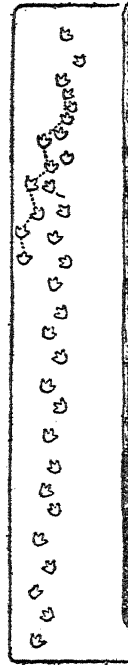
नाक के पास रखने वाले जन्तु का नाम त्रिश्रृङ्गमुखी या त्रिश्रृङ्गी महागोधिका (ट्रिसराटाप्स) है। इसकी गर्दन पर ऊपर आधी गोलाई में एक कवच या वर्म हड्डियों के खंडों से माला रूप में जकड़ा हुआ ऊपर लगा होता था। यह उसकी हड्डियों की झालरनुमा ढाल या कवचमाला थी। इस तरह के अस्थि-पट्टियों से कवचित या वर्मधारी कुछ और महागोधिकाएँ भी पाई जाती हैं किन्तु इसकी तीन सींगें विशेषता थीं। इस जन्तु का आकार कैसा था, इसका अनुमान करना हो तो एक बड़े हाथी की कल्पना कीजिए जिसके सिर पर भारी सींगें हों और खोपड़ी बहुत ही भारी हो। एक खोजी ने अमेरिका के सुनसान मैदानों में रेलवे स्टेशन से ५० मील दूर के स्थान में जब इस जन्तु की दो खोपड़ियाँ ५०, ५० मन (दो टन) से भी भारी पाई तो इनको संग्रहालय तक लाना एक भारी समस्या बन गई। इस तरह की भारी खोपड़ी दो गज की लम्बी जिस जन्तु की हो, वह कैसा विकराल रूप रखा करता होगा।

त्रिश्रृङ्गी महागोधिका के अवशेष अमेरिका और कनाडा की उस शिलाओं में मिलते हैं जो मध्य-युग के अंतिम भाग क्रिटेशियस काल (आदि स्तनपायी या पक्षी काल) में पाए गए हैं जिसका निर्माण पृथ्वी की पपड़ी में आज से सात करोड़ वर्ष पूर्व हो चुका था। इसकी लम्बाई २५ फीट, और ऊँचाई पिछले भाग की ओर ६ फीट थी।

सब से उल्लेखनीय बात त्रिश्रृङ्गी महागोधिका का मस्तिष्क है। शरीर का घटाटोप तो इतना, सींगों और अस्थिपट्टियों के कवच का प्रबन्ध और खोपड़ी का आकार इतना, किन्तु 'ऊँचीं दूकान का फीका पकवान' की भाँति इसका मस्तिष्क बहुत ही क्षुद्र! इसके आकार के घड़ियाल का मस्तिष्क जितना बड़ा हो सकता है उसके भी दशमांश के बराबर इसका मस्तिष्क कठिनाई से होगा। यही कारण है कि जीवन-युद्ध में यह वनस्पतिजीवी जन्तु अपने दूसरे वर्म-धारी महागोधिका स्टेगोसौरस की भांति ही पराजित हो गया। महागोधिकाओं के वंशों में कुछ छोटे मोटे वर्ग ही हमारे सम्मुख जीवित रह सकने और शेष के नष्ट हो जाने के कारणों की छानवीन एक गहरी समस्या बनी हुई है जिसका उत्तर विज्ञान संतोषजनक रूप से इस कारण नहीं दे सका कि उसके पास इन करोड़ों वर्ष बीते युगों के कुछ प्रमाण नहीं ज्ञात होते।

पोर्स्लीन-उद्योग

[ले० श्री० एच० एन० बोस]

पोर्स्लीन या चीनी मिट्टी के उद्योग के संबंध में इस विषय के अनुभवी विद्वान की उपादेय लेखमाला प्रकाशित की जा रही है। यह तीन अंकों में समाप्त हो जायगी। आशा है लेख पाठकों को रुचिकर ज्ञात होगा।

पोर्स्लीन की उत्पत्ति

साधारणतयः मनुष्य का विचार है कि पोर्स्लीन श्वेत मिट्टी से बनी हुई एक वस्तु है। परन्तु सब इस बात को अच्छी तरह नहीं जानते कि श्वेत मिट्टी से बनी हर एक वस्तु को पोर्स्लीन नहीं कहा जा सकता। मिट्टी से बनी वस्तुओं के कई विभाग हैं जिनमें पोर्स्लीन का स्थान सबसे ऊँचा है।

सफेद मिट्टी से बने एक प्याले को लेकर आँख के सामने रखिए और उसके पिछले भाग पर अंगुली चलाइए। यदि अंगुली चलती हुई दिखाई दे तो प्याला अल्प-पारदर्शक है और पोर्स्लीन का बना है। पोर्स्लीन की वस्तुएँ अत्यन्त सुन्दर, चिकनी तथा मधुर शब्दकारी होती हैं। सफेद मिट्टी से बनी वस्तुएँ अल्प-पारदर्शक न होने पर, सुन्दर होते हुए भी पोर्स्लीन नहीं कही जा सकतीं। इसी से मिट्टी की भिन्न-भिन्न गुणवाली वस्तुओं को भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं यथा पोर्स्लीन, स्टोन-वेयर, अर्दनवेयर आदि।

पोर्स्लीन से बनी वस्तुएँ काँच के समान पूर्ण पारदर्शक नहीं होतीं। काँच सोडा, चूना तथा रेत के सम्मिश्रण से बनाया जाता है। किन्तु पोर्स्लीन बनाने में चीनी मिट्टी, फेल्सपार तथा क्वार्ट्ज़ नामक खनिज पदार्थ काम में लाए जाते हैं। काँच बनाने के लिए सर्वप्रथम उपर्युक्त कच्चे सामान को किसी विशेष अनुपात में मिला कर उच्च ताप द्वारा तरल रूप में लाया जाता है। इसके बाद उस तरल पदार्थ को विभिन्न रीतियों द्वारा तरह तरह के रूप दिए जाते हैं। पोर्स्लीन बनाने की रीति इससे बिल्कुल भिन्न है। सबसे पहिले क्वार्ट्स तथा फैल्सपार नामक कठोर पत्थरों को पीस कर बारीक कर लिया जाता है। फिर उस चूर्ण को पानी के द्वारा नर्म चीनी मिट्टी के साथ अच्छी तरह से मिलाया जाता है। यह मिश्रित पदार्थ बहुत नमनीय (Plastic) होता है। इस मिश्रण से विभिन्न प्रणालियों द्वारा तरह तरह की वस्तुएँ बना ली जाती हैं। इन वस्तुओं को अच्छी तरह से सुखा कर उच्च ताप पर पकाया जाता है। पोर्स्लीन से निर्मित वस्तुओं पर जो चमक और चिकनापन दिखाई देता है, वह एक विशेष प्रकार के प्रलेप के कारण होता है। इस प्रलेप को अंग्रेजी में ग्लेज़ (glaze) कहते हैं। इस प्रलेप के चढ़ाने के पश्चात् वस्तुओं को फिर से सुखाना और पकाना पड़ता है। इस विषय में रुचि रखने वाले पाठकों को लेखक की मॉडर्न पॉट्री मैनुफैक्चर (Modern Pottery Manufacture) नामक अंग्रेजी की पुस्तक लाभदायक हो सकती है।

पोर्स्लीन का जन्म-स्थान चीन है। चीन के

प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि हान् वंश के सम्राट ओआन् टी के राज्यकाल में (१७५-१५१ ई० पू०) चीन देश में सफेद मिट्टी की बनी वस्तुओं का प्रचलन हुआ। परन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि उस समय को पोर्सलीन आधुनिक पोर्सलीन के बराबर सुन्दर व श्रेष्ठ नहीं थी। चीनी लोगों ने कई शताब्दियों में अपनी पोर्सलीन बनाने की प्रणाली में उन्नति की। चीन के पुरातन ग्रन्थों से स्पष्ट पता चलता है कि पोर्सलीन-शिल्प की विशेष उन्नति १७वीं तथा १८वीं शताब्दियों में अर्थात् चिंग वंश के सम्राटों के राज्य-काल में सम्राटों की विशेष सहायता द्वारा ही हुई। तत्कालीन प्रणाली का विवरण योरोपीय ईसाई धर्म के प्रचारक पेरी-डी-एन्ट्राकोले (Pery-de-Entracole) के सन् १७१२ वा १७२२ ई० के लिखे दो विशेष पत्रों में मिलता है। इन पत्रों से स्पष्ट प्रकट होता है कि प्राचीन काल के ईसाई धर्मप्रचारक धर्म-प्रचारार्थ प्राच्य देशों में आकर वहाँ के विशेष शिल्पों का हर प्रकार से संधान करते थे तथा वहाँ की गुप्त प्रणालियों को अपने देश में भेजकर प्राच्य शिल्पकला का गुप्तभेद प्रकाशित करते थे तथा उन गुप्त प्रणालियों को अपने देश में व्यवहार रूप में लाते थे।

इन धर्मप्रचारकों के लिखे हुए विवरणों से ज्ञात होता है कि चीनी लोग पोर्सलीन बनाने में दो प्रकार के खनिज काम में लाते थे। एक का नाम काउलिंग् (kauling) तथा दूसरे का पी-टुन-सी (Pe-tun-tse) था। इसी काउलिंग् शब्द से वर्तमानकाल के केवलिन (keolin) शब्द की उत्पत्ति हुई। केवलिन को ही हिन्दी में चीनी मिट्टी कहते हैं। पी-टुन्-सी को एक प्रकार का अर्ध-परिवर्तित-ग्रनाइट (Half-dis-integrated granite) भी कह सकते हैं, जिस में फैल्सपार, क्वार्ट्ज तथा अल्प मात्रा में चीनी-मिट्टी व अभ्र (या अबरक) मिले रहते हैं। यह पत्थर पानी के साथ महीन पीसने पर चिपकना हो जाता है, जिसे चीनी मिट्टी के साथ मिलाने से एक प्रकार का लोथ बन जाता है। इसी पदार्थ से सुन्दर पतले पतले बर्तन बनाए जा सकते हैं। किन्तु हमारे देश की चिनी मिट्टी, क्वार्ट्ज तथा फैल्स्पार के संयोग से उतने पतले बर्तन बनाना सम्भ वनहीं है। यही कारण है कि हमारे देश की अपेक्षा चीन तथा जापान के चीनी के बर्तन अधिक पतले होते हैं। हमारे देश के कुम्हार गंगा की चीनी मिट्टी या पोली मिट्टी से जो बहुत ही नमनीय (Plastic) होती है, उतने पतले बर्तन बना सकते हैं। इसका कारण केवल यही है कि चीनी मिट्टी पोली मिट्टी के बराबर नमनीय नहीं होती, तथा अन्यान्य पत्थरों के चूर्ण मिलाने से उसकी नमनीयता और भी घट जाती है।

चीन देश के इस नए पदार्थ (अर्थात् पोर्सलीन) की ख्याति बहुत पुराने समय में ही देश-विदेशों में फैल गई थी। उस समय तक स्वेज नहर भी नहीं बन पाई थी तथा योरोपीय व्यापारियों को दक्षिण अफ्रीका का चक्कर लगाकर भारत आने का मार्ग भी नहीं मालूम था। लाल-सागर (Red sea) तथा भूमध्य-सागर (Mediterranian sea) के तटस्थ देशों के साथ केवल अरब व्यापारी ही व्यापार कर सकते थे। चीन की चाय उस समय योरोपीय देशों में प्रचलित हो चुकी थी। किन्तु चाय की व्यवहार-प्रणाली विपरीत थी, अर्थात् उस समय चाय की पत्ती को उबालकर पानी को फेंक दिया जाता था और शेष पत्तियों में मक्खन लगाकर खाना ही रईसी का लक्षण माना जाता था। मध्य-पूर्व तथा सुदूर पश्चिम के देशों में चीन की पोर्सलीन का प्रचलन चाय के द्वारा ही हुआ। इसका कारण यह था कि यह (पोर्सलीन) इतनी मूल्यवान थी कि बहुत धनवान व्यक्ति ही इसका उपयोग कर सकते थे। मिश्र देश के प्राचीन इतिहास से पता

चलता है कि काहिरा के सालदिन नामक प्रसिद्ध व्यापारी ने सन् ११७१ ई० में डमास्कस के सुल्तान को चालीस चीनी पोर्स्लीन के बर्तन उपहार रूप में दिए थे। चीनी पोर्स्लीन के विषय में विदेशियों द्वारा लिखित यही प्राचीनतम विवरण मिलता है।

योरूप में पोर्स्लीन का प्रचार सर्वप्रथम इटली में हुआ तथा इसी देश को 'पोर्स्लीन' शब्द की उत्पत्ति का श्रेय है। इटालीय भाषा में पोर्सिलाना शब्द का अर्थ है 'बाल-शूकर'। किन्तु प्राचीन काल में इटालीय लोग शंख से निर्मित बहुमूल्य पदार्थों को पोर्स्लीन नाम से ही पुकारते थे। सन् १२९८ ई० में इटली के विख्यात परिव्राजक मार्को पोलो ने अपने चीन-भ्रमण के वृत्तान्त में चीन देश के सफेद मिट्टी के बर्तनों को पोर्स्लीन नाम ही दिया है। उसी समय से यही नाम चला आ रहा है। अभी सन् १९३८ में अफ्रीका के कुछ व्यक्तियों ने पोर्स्लीन शब्द पर आपत्ति की थी। उनका कहना है कि मिट्टी के शिल्प के इतने सुन्दर तथा रोचक पदार्थ का नाम शूकर शब्द से क्यों सम्बन्धित किया गया। अनेक शताब्दियाँ से व्यवहृत इस नाम में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, भविष्य में होगा या नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता।

उस समय इटली के लोग जो मिट्टी के बर्तन बनाते थे वह चीनी पोर्स्लीन के बर्तनों से नीची श्रेणी के होते थे। इसीलिए सबसे पहिले उन्होंने ही चीनियों के समान पोर्स्लीन बनाने की चेष्टा की। उन्होंने सोचा कि पोर्स्लीन पारदर्शक काँच तथा अपारदर्शक श्वेत मिट्टी के बीच की कोई विशेष वस्तु है। इस धारणा के अनुसार ही उन्होंने काँच के चूर्ण तथा चीनी मिट्टी को मिलाकर पोर्सलीन बनाने का प्रयत्न किया और उससे पोर्स्लीन के समान एक नई वस्तु निकाली। यह नकली पोर्स्लीन असली चीनी पोर्स्लीन के बराबर सुन्दर न होने पर भी अल्प-पारदर्शक होने के कारण पोर्स्लीन ही कही जा सकती है। इस नकली पोर्स्लीन के प्राचीनतम नमूने हम लन्दन के विक्टोरिया तथा ऐलबर्ट अजायबघर में देख पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि ये बर्तन इटली के फ्लोरेन्स नामक नगर में सन् १५७५ तथा १५८५ ई० के बीच में बनाए गए होंगे। तत्कालीन मेडिसी वंश के सम्राटों की पृष्ठपोषकता द्वारा ही इटालीय कुम्हारों ने मृत्तिका शिल्प की उन्नति की। परन्तु गलत रीति ग्रहण करने के कारण इटालियों को असली पोर्स्लीन बनाने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद जर्मनों को असली पोर्सलीन के अनुसन्धान का श्रेय मिला।

इटालियों के बाद फ्राँसीसियों को ही पोर्स्लीन बनाने की ओर ध्यान देते हुए देखा जाता है। सम्राट लुई चतुर्दश के राज्यकाल में लगभग सन् १६७३ ई० में सैन्ट सेवर (St Sevre) नामक गाँव के मिट्टी के कारखाने में चीनियों के समान पोर्स्लीन बनाने की बात सुनी जाती है। इसके पश्चात् सन् १७५६ ई० में लुई पंचदश के राज्यकाल में राज्य के धन द्वारा सेवर पोर्स्लीन कारखाने की स्थापना हुई। सन् १७५६ तथा १७७० ई० के बीच में राज्यकोष पर अवलम्बित इस कारखाने की ख्याति बहुत फैल गई। उस समय इस कारखाने का लक्ष्य केवल यही था कि किसी भी उपाय से चीनी पोर्स्लीन के अनुरूप वस्तु बनाई जाय। इस कार्य में धन-व्यय की कोई सीमा नहीं थी। अत्यधिक व्ययी होने पर यही कारखाना धीरे-धीरे फ्राँसीसियों के मृत्तिका-शिल्प की उच्च शिक्षा का केन्द्र हो गया। बहुत दिनों तक असीम धन व्यय करके अनवरत गवेषणा का यह फल हुआ कि आधुनिक 'सेवर पोर्स्लीन' नामक नूतन द्रव्य की रचना हुई। यह पोर्स्लीन बहुत ऊँचा तापक्रम सह

सकती है और साधारण पोर्स्लीन के समान शीघ्र उष्ण-शीत परिवर्तन से नहीं चटकती। आजकल इसी द्रव्य से रासायनिक प्रयोगशालाओं के लिए क्रूसीबिल आदि उत्ताप सह वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

१८ वीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी में पोर्स्लीन बनाने की चेष्टा चल रही थी जब कि जॉन फ्रैड्रिक बट्कर नामक एक साधारण युवक रसायनिक (Alchemist) ने सफलता का मुख देखा। वर्षों तक कठिन परिश्रम करके तथा अत्यधिक धन व्यय करके सन् १७०६ ई० में बट्कर ने जो पोर्स्लीन बनाई वही चीनी पोर्स्लीन की सर्वप्रथम निकटतम नकल थी। इस अनुसन्धान के लिए उन्हें ईंधन की आवश्यकता पड़ी थी परन्तु, कथा प्रचलित है कि उन्होंने इससे हतोत्साह न होकर और अन्त में घर की मेज कुर्सी आदिक सारा लकड़ी का सामान जलाकर कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ा।

बट्कर की गवेषणा का समाचार बहुत दूर दूर तक फैल गया। इसी कारण सैक्सनी के प्रधान फ्रैड्रिक् अगस्टस्-प्रथम ने बहुत शीघ्र ही बट्कर को माईसेन के निकटवर्ती एक दुर्ग में बन्द कर दिया। इसी बन्दीगृह में बट्कर तथा उनके साथी कारीगरों को जीवन भर पोर्स्लीन बनाने के लिए बाध्य किया गया। परन्तु बट्कर को इस कारागार का जीवन बहुत दिनों तक नहीं व्यतीत करना पड़ा। सन् १७१६ ई० में केवल ३५ वर्ष की अपरिपक्व अवस्था में ही उनका देहावसान हो गया। कुछ ही दिनों में उस कारागार के कारखाने का समाचार चारों ओर फैल गया और सन् १७५६-१७६१ ई० में प्रशिया के सम्राट् फ्रैड्रिक महान ने इस कारागार को लुटवा लिया और कारीगरों सहित उसका सारा सामान बर्लिन भेज दिया। सन् १७६३ ई० में सम्राट् फ्रैड्रिक ने बर्लिन में अपना कारखाना स्थापित किया और तभी से वह बर्लिन में 'रॉयल पोर्स्लीन फैक्टरी' नाम से प्रख्यात है। फ्राँस के सेवर कारखाने के समान ही बर्लिन के इस कारखाने ने भी राज्यकोष की सहायता से जर्मनी के पोर्स्लीन शिल्प की उन्नति की। सन् १८१४ ई० में हार्मन् सैगर ने इस कारखाने के अनुसन्धान विभाग का भार ग्रहण किया। उनकी जीवन-पर्यन्त गवेषणा का परिणाम यह निकला कि पोर्स्लीन-निर्माण की प्रणाली पहिले के बराबर व्ययपूर्ण न रही बल्कि पोर्स्लीन शिल्प सर्व-साधारण-लब्ध, अत्यधिक प्रचारशील एवं लाभकारी शिल्प हो गया। उन्हीं की गवेषणा का फल है कि आज हम सैगर कोन् नामक अधिक उत्तापमापक यन्त्र प्रयोग में लाते हैं, जिसके बिना पोर्स्लीन की मट्टी के उच्च ताप का ठीक पता लगाना बहुत ही दुष्कर है।

सेवर के कारखाने के समान ही बर्लिन के इस कारखाने को चलाने के लिए राज्यकोष से बहुत धन व्यय करना पड़ता था। इस लिए इस व्यवसाय के व्यय को कम करने के लिए विभिन्न उपाय सोचे जाते थे। इतने प्राचीन समय में भी बर्लिन के यहूदियों के भाग्य पर ही हस्तक्षेप किया गया। प्रत्येक यहूदी को विवाह से पूर्व एक मूल्यवान पोर्स्लीन के बर्तनों का सेट खरीदना पड़ता था, नहीं तो उसे 'विवाह अनुमति पत्र' नहीं दिया जाता था। इसके अलावा भी बर्लिन में हर साल सहस्रों रूपए के पोर्स्लीन के बर्तन नीलाम द्वारा दिए जाते थे। इन सब वृत्तान्तों से विदित है कि आज की इतनी साधारण सी वस्तु पोर्स्लीन) का प्रचार सरलता से नहीं हो सका बल्कि इसके प्रचार के लिए कितने ही भले बुरे उपायों का सहारा लेना पड़ा था। इसी लिये हमें याद रखना चाहिए कि जब कभी भी हमारे देश में किसी नए शिल्प का जन्म हो तो उस समय तक, जबतक कि वह लाभजनक तथा आसानी से मिलने योग्य न हो जाय, उसकी हर प्रकार से

सहायता करनी चाहिए, नहीं तो उसकी अकाल मृत्यु निश्चित है। छोटे बच्चे के लिए जैसे माता-पिता की सहायता की आवश्यकता है उसी प्रकार नए शिल्प के लिए राज्यकोष की सहायता आवश्यक है।

फ्रांस तथा जर्मनी की पोर्स्लीन बनाने की वार्ता जब धीरे २ इंग्लैण्ड पहुँची तब वहाँ के कुम्हार भी पोर्स्लीन बनाने में तत्पर हो गए तथा अपने देश के विभिन्न खनिजों से प्रयोग करने लगे। उस समय तक इंग्लैण्ड में चीनी मिट्टी या केवलीन का अनुसन्धान नहीं हो पाया था। इस लिए वहाँ के कुम्हार वहाँ पर बहुतायत से मिलने वाली सेलखरी को व्यवहार में लाने लगे। और हम देखते हैं कि सन् १७५० ई० के लगभग ब्रिस्टल नामक स्थान से एक नए पदार्थ अर्थात् सेलखरी-पोर्स्लीन (Steatite Porcelain) का जन्म हुआ। यह नया पदार्थ अधिक दिनों तक नहीं टिका क्योंकि सन् १७५५ ई० में विलियम कुक वर्दी नामक एक अंग्रेज ने कॉर्नवाल नामक प्रदेश में चीनी मिट्टी तथा चीनी-पत्थर (China stone) का अनुसन्धान कर लिया। तभी से इंग्लैण्ड में पोर्सलीन बनाने के लिए ये दोनों पदार्थ प्रधानतया काम में लाए जाते हैं। अंग्रेजों का गवेषणा का उत्साह यहीं तक सीमित नहीं था क्योंकि हम देखते हैं कि १९ वीं शताब्दी के अन्त में स्टोक-ऑन-ट्रैन्ट नामक नगर में एक नई प्रकार की पोर्स्लीन का जन्म हुआ जिसका नाम अस्थि-पोर्स्लीन (Bone china) रक्खा गया। इस पोर्स्लीन के बनाने में लगभग ५० प्रतिशत, हड्डी की भस्म काम में लाई जाती थी। बहुत शीघ्र ही इस नए पदार्थ की ख्याति समस्त इंग्लैण्ड में फैल गई और अभी तक इस द्रव्य को बहुत ऊँचा स्थान मिला हुआ है। अस्थि-पोर्स्लीन बनाने के सम्बन्ध में जो लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि जब इंग्लैण्ड के कुम्हार बहुत प्रयत्न करने पर भी चीनियों के सदृश पोर्स्लीन नहीं बना सके तो उन्होंने उपर्युक्त ईसाई धर्म प्रचारक पेरी-डा एन्ट्राकोले का स्मरण किया। पेरी डी-ऐन्ट्राकोले ने चीनियों से जब अपने देश के कुम्हारों की असफलता की बात कही तो चीनियों ने अलंकारिक भाषा में उत्तर दिया कि 'हड्डियों के बिना शरीर गठन नहीं होता'। परन्तु जब यह अलंकारिक वाक्य इंग्लैण्ड पहुँचा तो वहाँ के कुम्हार पहिले के समान हड्डी की भस्म से ही प्रयोग चलाते रहे और बहुत वर्षों के अध्यवसाय के फलस्वरूप अन्त में उन्हें सफलता प्राप्त हो गई। सर्वप्रथम अस्थि-पोर्स्लीन का आरम्भ सन् १७४८ ई० में बो (Bow) नामक स्थान में हुआ। किन्तु उस समय वह उतनी सुविधाजनक नहीं बन पाई। लगभग ५० वर्ष पश्चात् अथवा १८ वीं शताब्दी के अन्त में जोसिया-स्पोड् (Josia spode) नामक एक व्यक्ति ने स्टोक-ऑन ट्रैन्ट नामक नगर में जिस अनुपात से मिश्रण (Compostion) बनाया वही आज तक व्यवहार में लाया जाता है।

भारतवर्ष में पोर्स्लीन शिल्प का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। इस से पूर्व इस प्रकार की कोई वस्तु यहाँ बनाई जाती थी अथवा नहीं इसका कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला। सर्वप्रथम सन् १८६० ई० में भागलपुर के पाथर घाटा नामक स्थान में एक अंग्रेज ने पोर्स्लीन का कारखाना खोला। परन्तु यह कारखाना अधिक दिनों तक नहीं टिका क्योंकि उस समय हमारे देश में पोर्स्लीन की वस्तुएँ व्यवहार में लाई जाती थीं और यह बहुत महँगी वस्तु समझी जाती थीं। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में महाराजा मनीन्द्र चन्द्र नन्दी ने सत्यसुन्दर देव नामक एक विद्यार्थी को इस शिल्प के सीखने के लिए जापान भेजा। उसके बाद सत्यसुन्दर बाबू ने कुछ दिनों तक जर्मनी में भी

शिक्षा प्राप्त की। सन् १९०८ ई० में उन्होंने कलकत्ते के रानी स्वर्णमयी मार्ग पर एक पोर्सलीन का कारखाना स्थापित किया। कारखाने की उन्नति होने पर, और अधिक बढ़ाने के लिए इसे टेंगरा मार्ग (Tengra Road) पर ले जाया गया। वहीं पर वही कारखाना कलकत्ता पॉट्री वर्क्स नाम से आज भी प्रख्यात है। सन् १९२५ ई० में सत्यसुन्दर बाबू ने इस कारखाने से अपना सम्बध तोड़ लिया और १९३३-३४ ई० में बंगलौर में 'रॉयल पोर्सलीन कारखाने' का निर्माण किया। प्रत्येक पथ-प्रदर्शक के समान सत्यसुन्दर बाबू को भी बहुत कष्ट उठाना पड़ा। परन्तु जिस कार्य को उन्होंने अपने जीवन का व्रत मान लिया था उस से वह कभी विमुख नहीं हुए। इस देश के कारीगरों को वैज्ञानिक रीति सिखाने के लिए उन्हें पहिले पहिल जापान से कारीगर बुलाने की आवश्यकता पड़ी थी। उन्हीं के सिखाए हुए कारीगर और परम्परागत शिष्य ही अब भारतवर्ष के स्थान स्थान पर पोर्सलीन के कारखानों का काम चला रहे हैं। कुछ समय पश्चात् सत्यसुन्दर बाबू ने कलकत्ते के पास बेलघरिया नामक स्थान में 'बङ्गाल पोर्सलीन वर्क्स' नामक कारखाने की स्थापना की और आजकल उनके पुत्र सरलदेव उस कारखाने को चला रहे हैं। भारतवर्ष का चौथा पोर्सलीन का कारखाना त्रावंकोर संस्थान में वहाँ के महाराजा की सहायता से स्थापित हुआ। इन चारों को छोड़कर भारतवर्ष के कई स्थानों में छोटे-छोटे कारखाने खोले गए हैं जिनका विवरण यहाँ उपयुक्त न होगा।

भारतवर्ष के विद्यार्थियों को वैज्ञानिक रीति से पोर्सलीन बनाने की शिक्षा का केन्द्र सब से पहिले सन् १९२४ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थापित हुआ। इसके ५ साल बाद सन् १९२९ ई० में लेखक ने वहाँ पर इस शिक्षा का भार ग्रहण किया और लेखक के शिष्यों ने आज भारतवर्ष के बहुत से स्थानों पर पोर्सलीन, एनामिल आदिक मृत्तिका-शिल्प के कारखाने खोल रखे हैं।

हम देखते हैं कि लगभग ४०० वर्ष की अनेक प्रकार की गवेषणाओं द्वारा जो पोर्सलीन जातीय वस्तुएँ बनाई गईं वे सब की सब स्थायी नहीं हुईं। आजकल प्रचलित पोर्सलीन निम्नलिखित ३ प्रकारों में विभक्त की जा सकती हैं :—

(१) फैल्सपार-पोर्सलीन—यह असली चीनी पोर्सलीन का जर्मनों द्वारा प्रस्तुत अनुकरण है। यही पोर्सलीन सबसे अधिक कठोर होती है और इसी से हर प्रकार के विद्युत् रोधक, उत्ताप रोधक तथा रसायनिक पोर्सलीन आदि उच्च श्रेणी की वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इस पोर्सलीन के बनाने में बहुत उच्च ताप की आवश्यकता होती है।

(२) काँच-पोर्सलीन—यह काँच के समान भञ्जन-शील होती है। सबसे पहिले यह इटली व फ्रांस में बनाई गई थी। इससे अधिकतर चाय के प्याले या इसी प्रकार के बर्तन बनाये जाते हैं। इसके बनाने में फैल्सपार-पोर्सलीन की अपेक्षा कम ऊँचे ताप की आवश्यकता होती है। इससे सुन्दर, रङ्गीन खिलौने भी बनाये जाते हैं। इसी से इसका अधिक प्रचार है।

(३) अस्थि-पोर्सलीन (Bone China)—इसका आविष्कार इंग्लैंड में हुआ था। काँच के समान यह भी भञ्जनशील होती है और अल्प ताप में ही बन जाती है। यह बहुत सुन्दर होती है। इसी से लोग इसे अधिक पसन्द करने लगे हैं। अम्रीका में इसका प्रचार बहुत अधिक है। इसके बनाने में हड्डी की भस्म की आवश्यकता होती है। इसी कारण भारत में इसके बनाने की चेष्टा बिलकुल नहीं की गई।

परन्तु हम इसी से बने प्याले आदि विदेशों से मँगाकर काम में लाते हैं।

"पोर्सलीन के मूल-पदार्थ"

पोर्स् लीन बनाने में साधारणतया तीन खनिज पदार्थ काम में लाये जाते हैं। (१) शुद्ध श्वेत मिट्टी व केवलिन (२) स्फटिक पत्थर या क्वार्टज (Quartz) तथा (३, फैल्सपार नामक एक कठोर खनिज लेकिन अस्थि पोर्स् लीन (Bone China) तथा कांच पोर्स् लीन (Glassy Porcelain) के निर्माण के लिए अस्थिचूर्ण व संगमरमर आदि कई अन्य पदार्थों की भी आवश्यकता होती है। इसके सिवाय बर्तन बनाने के सांचे निर्माण के लिए जिप्सम (Gypsum) भी आवश्यक है।

केवलिन (Kaolin)—शुद्ध केवलिन श्वेत खरियां के समान एक कोमल मिट्टी है। वैज्ञानिक इसे मिट्टी का शुद्धतम रूप बताते हैं। इसका मुख्य अवयव ऐलूमिनियम-हाइड्रोसिलिकेट (Aluminum Hydro-silicate) है। किन्तु साधारण रूप में यह थोड़ी बहुत मात्रा में रेत आदि अन्य वस्तुओं से मिश्रित रहती है। जिन केकारण ही इसके रंग व गुणों में भिन्नता आ जाती है। केवलिन या चीनी मिट्टी की उत्पत्ति ग्रेनाइट (Granite) तथा फैल्सपार नामक पत्थरों से होती है। ग्रेनाइट एक अग्नि-शिला है जिसके प्रमुख अवयव क्वार्ट्ज, फैल्सपार, तथा अभ्रक है। यह पत्थर कठोर होते हुये भी विभिन्न रूपों से काटा जा सकता है। इसलिए यह मन्दिर, मकान आदि बनाने में काम आता है। फैल्सपार भी एक कठोर पत्थर है। लेकिन यह विभिन्न रूपों में काटा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि काटने पर इससे पत्तर (Scales) छूटने लगते हैं। ग्रेनाइट-उद्भूत फैल्सपार तथा खनिज फैल्सपार एक ही पदार्थ हैं। अन्य द्रव्यों के मिश्रण के कारण ग्रेनाइट उद्भूत फैल्सपार के रवे (crystals) छोटे होते हैं। जल, वायु तथा वायुस्थित गैसीय पदार्थों के कारण पृथ्वी के फैल्सपार व अन्य पत्थरों का विश्लेषण होने पर केवलिन की उत्पत्ति होती है। प्राकृतिक विश्लेषण के समय फैल्सपार में स्थित सोडा, पोटाश आदि घुलनशील द्रव्य पानी में घुल जाते हैं तथा बालुलोह चूर्ण आदि अनघुल होने के कारण केवलिन में ही रह जाते हैं। इसलिये यह खान से निकलते ही व्यवहार में नहीं लाई जा सकती। सर्वप्रथम इसे शुद्ध करने की आवश्यकता होती है, अन्यथा अशुद्धियों के कारण इसके रंग, रवे की सूक्ष्मता, जल मिलाने की नमनीयता (Plasticity) पकाए जाने पर भी उच्च ताप-सहन की शक्ति, तथा पकने के बाद की कठिनता आदि गुणों में परिवर्तन हो जाता है। हम चारों ओर जो मिट्टी देखते हैं वह केवलिन की सजातीय होते हुये भी अशुद्धियों (Impurities) के कारण रूप गुणों में भिन्न होती है।

केवलिन की विशुद्धि-करण-विधि विशेष कठिन नहीं होती किन्तु हमारे देश में इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इसीलिए हमारे यहाँ की चीनी मिट्टी अन्य देशों की चीनी मिट्टी से रंग व गुणों में निम्नतर होती है। लेकिन यदि वैज्ञानिक रीति व्यवहार में लाई जाय तो हमारे यहाँ की मिट्टी विदेशों की मिट्टी से रंग व गुणों में किसी प्रकार से भी कम नहीं रहेगी, तथा यही मिट्टी उच्च श्रेणी की पोर्स् लीन बनाने के काम में लाई जा सकेगी।

पोर्स् लीन तथा अन्य मिट्टी के उद्योगों के सिवाय केवलिन अन्य कितने ही पदार्थ बनाने में काम आती है यथा श्वेत कागज के निर्माण में, वस्त्र के मांड़ में, वस्त्रके रंगने में, परिपूरक (Fillers) रूप में, फिटकरी, अल्ट्रामैराइन व डिस्टैम्पर आदि रंगने के पदार्थों में एवं साबुन में भी केवलिन काम आती है।

हमारे देश में केवलिन की खानों का अभाव नहीं है। लेकिन सभी खानों की मिट्टी विशुद्ध नहीं होती अर्थात सभी खानों की मिट्टी से पोर्सलीन नहीं बनाई जा सकती। जिन खानों की मिट्टी की लेखक ने परीक्षा की है उनके नाम व स्थान नीचे दिये गये हैं।

विहार प्रदेश में लाल झर्रा, पाथरघाटा, सामूकिया, मंगल, झाझा, सिमूलतला आदि स्थानों में उच्च श्रेणी की मिट्टी मिलती है।

वम्बई प्रदेश में कासल रॉक, रत्नगिरी व बेलगांव जिले की मिट्टी भी उच्च श्रेणी की है। इसके सिवाय बंगलौर, मैसूर, त्रिवंकोर की मिट्टी भी अच्छी है। दिल्ली के पास जो मिट्टी मिलती है उसमें लोहे का अंश कुछ अधिक रहता है और इसी कारण पकाने के पश्चात् उसका रंग दूध के समान श्वेत नहीं हो पाता इसीलिए दिल्ली की मिट्टी व्यवहार में लाने से ग्वालियर पोट्री (Gwalior Pottery) का सामान अधिक श्वेत नहीं होगा।

बंगाल में अच्छी चीनी मिट्टी नहीं मिलती। वर्धमान, वीरभूम, बांकुरा आदि स्थानों में जो मिट्टी मिलती है वह अशुद्ध होती है और उससे पोर्सलीन नहीं बनाई जा सकती। लेकिन अन्य मिट्टी उद्योगों में इसका व्यवहार अच्छी प्रकार हो सकता है। लेखक के मतानुसार विहार की पोर्सलीन बनाने की मिट्टी ही सर्वश्रेष्ठ है।

चीनी मिट्टी जब खान से निकलती है तो उसमें अधिक मात्रा में रेत, अभ्रक, फैल्सपार व लौह विमिश्र (Iron compounds) आदि कई विजातीय द्रव्य मिले रहते हैं। व्यवहार के लिए इसे शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। यद्यपि विशुद्धिकरण-विधि सरल होती है फिर भी इसके लिए अध्यवसाय, ज्ञान तथा अनुभव की आवश्यकता होती है। अनुभवहीनता तथा अध्यवसाय के अभाव के कारण ही हमारे देश की मिट्टी विदेशों की मिट्टी के बराबर उत्तम नहीं होती।

मिट्टी-शोधन के लिए सर्वप्रथम चूर्ण करके अधिक मात्रा में जल मिलाया जाता है। जल के साथ, थोड़ा सोडा-सिलिकेट व सोडा कार्बोनेट मिलाने से मिट्टी के छोटे-छोटे कण विच्छिन्न होकर पानी के ऊपर तैरने लगते हैं। तत्पश्चात् जल-मिश्रित तरल मिट्टी सकरी नालियों में प्रवाहित की जाती है। प्रवाह के समय ही मिट्टी में मिले हुऐ विजातीय पदार्थों के कण नीचे बैठ जाते हैं तथा मिट्टी के छोटे-छोटे कण पानी के साथ ही बहते रहते हैं। इस जल को एक टैंक में लाया जाता है जहाँ प्रवाह न होने के कारण शुद्ध मिट्टी के कण धीरे-धीरे नीचे बैठ जाते हैं। ऊपर से मिट्टी-रहित जल निथार लिया

चित्र १—केओलिन धोने की नालियाँ

जाता है तथा नीचे बैठी हुई मिट्टी सुखा ली जाती है। इस प्रकार शुद्ध चीनी मिट्टी उपलब्ध होती है।

[क्रमशः]

फसल के शत्रु

लेखक—शंकर राव जोशी

यह लेख क्रमशः छप रहा है जिसमें फसल के कीड़ों का वर्णन किया गया है। पिछले अंक से फसलों के रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का वर्णन दिया जा रहा है। अगले अंक में अंतिम अंश दिया जायगा।

गोमज-रोग

प्रयोगों द्वारा भले प्रकार सिद्ध हो गया कि, बाह्य परिस्थिति का, विशेषतः तापमान, वातावरण में आर्द्रता (तरी) का परिमाण आदि का इस रोग की वृद्धि पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

रोग की उत्पत्ति :—प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि, जमीन में तरी न होने पर पौधा आप ही आप सूख जाता है। किन्तु जमीन में काफी तरी के मौजूद रहते हुए भी, यदि पौधा खड़ा का खड़ा सूख जाय, तो स्पष्ट है कि, यह गोमज रोग की ही करतूत है। परोपजीवी गोमज रोग का आक्रमण होने पर जड़ों के कोष मर जाते हैं, जिससे पौधा सूख जाता है। कबक रोग लग जाने पर पत्तों के मंड या मांडी बनाने वाले कोष निर्जीव हो जाते हैं, जिससे पर्याप्त भोजन न मिलने से पौधे की बाढ़ रुक जाती है और वह फूलता-फलता भी नहीं है। यदि फूलता फलता भी है, तो फल अच्छी तरह से जमते नहीं हैं। भिन्न-भिन्न जाति के कबक रोग जुदे-जुदे प्रकार से क्षति पहुंचाते हैं। कुछ गोमज-रोग एक विशेष प्रकार के विष को जन्म देते हैं, जिससे पौधा सड़ जाता है। कुछ रोग पौधे का भोजन स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं, जिससे भोजन की कमी के कारण पौधा धीरे धीरे कमजोर होता जाता है और तब मर जाता है। एक जाति का गोमज फूल-फल को नष्ट करता है और दूसरी जाति का एक रोग पौधे के किसी मुख्य अवयव, जड़-तना आदि पर, आक्रमण कर उसे नष्ट कर देता है। संक्षेप में, पौधे का कोई अवयव ऐसा नहीं है, जिसपर गोमज-रोग आक्रमण न करते हों और गोमज का एक भी कार्य ऐसा नहीं, जिससे पौधे को क्षति न पहुंचती हो।

रोग के लक्षण :—परिस्थिति पूर्णतया अनुकूल होने पर भी यदि पौधे का एक आध पत्ता या उसका अवयव विशेष निर्जीव सा दिखाई दे, तो इसका एक मात्र कारण गोमज रोग का आक्रमण ही हो सकता है। पाला, पतझड़ के मौसम आदि के अभाव में पौधे के पत्ते पीले पड़ जायँ या उन पर पीले, काले या भूरे दाग दिखाई दें, तो यह निश्चित है कि, गोमज-रोग ने आक्रमण किया है। ये रोग पत्ते, तना, फूल-फल, कंद आदि पर आक्रमण करते हैं। डालियों पर छोटी-छोटी गाँठों का वर्तमान होना भी इस रोग का अस्तित्व प्रकट करता है।

रोग से फसल की रक्षा के उपाय

१—सबसे पहला उपाय यह है कि एक ही खेत में लगातार कई वर्ष तक एक ही फसल कदापि न बोई जाय। प्रति चौथे-पाँचवें वर्ष वही फसल बोना लाभदायक है

गोमज-रोग की वृद्धि रोकने के लिए फसल का हेर-फेर करना आवश्यक है। खेत की मट्टी में गोमज रोग के कीटाणुओं का अस्तित्व होने पर तो इस ओर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये।

२—खेत और उसके आस-पास की जमीन को साफ रखना अत्यावश्यक है। खेत में और उसके आस-पास सड़े-गले घास-पात, कूड़ा-कर्कट, आदि के ढेर पड़े रहने से कबक की प्रजा-वृद्धि में सहायता पहुंचती है। कारण कि, कुछ कबक सड़े-गले पदार्थों पर शीघ्रता से वृद्धि पाते हैं और अवसर पाते ही फसल पर हमला बोल देते हैं। अरहर, भिंडी, चना, कपास, ज्वार, मक्का आदि पौधों के अवशेषों को एकत्रित करके जला देना चाहिये।

३—गहरी जुताई करने और बार बार हल-बखर देने से तेज धूप से रोग के बीजाणु नष्ट हो जाते हैं।

४—कुछ जाति के गोमज पौधे के सड़े हुये भागों या घावों में जम जाते हैं। इसलिये जहाँ तक हो सके, शाखा आदि काटने के बाद कटे हुये भाग या घाव पर तुरन्त ही डामर पोत दिया जाय।

५—रोग-ग्रस्त बीजों या रोग-ग्रस्त पौधे की कलमों का उपयोग कदापि न किया जाय। रोग लगे हुये कन्द, गन्ने आदि के टुकड़े हरगिज न बोये जायँ।

६—ताजा गोबर या बिना सड़ी खाद देने से भी गोमज-रोग की वृद्धि होती है।

७—ज्यादा खाद देने से फसल पुष्ट और बलवान होती है, जिससे वह डट कर रोग का मुकाबला कर सकती है। कमजोर पौधों पर ही रोग घातक आक्रमण करता है और वे ही उसकी मार न सह सकने के कारण मर जाते हैं।

८—इंगलैंड की राथमस्टैड कृषि-अनुसन्धान-शाला का अनुभव है कि, पोटैश युत खाद देने से भी गोमज रोग की वृद्धि रुक जाती है।

औषधोपचार

रोग का आक्रमण होने पर उसके निवारण का उपाय करने की अपेक्षा रोग को पैदा न होने देना ही उत्तम है। ऊपर लिखे अनुसार पूरी पूरी सावधानी रखने पर भी यदि आक्रमण हो ही जाय, तो उसको नामशेष करने या कम से कम उसका फैलाव रोकने के लिये औषधोपचार करना अत्यावश्यक है।

भारत में कबक रोग से फसल को प्रतिवर्ष उतनी क्षति नहीं पहुंचती है, जितनी पश्चिमी देशों में। यूरोप और अमेरिका में तो कभी कभी पूरी की पूरी फसल नष्ट हो जाती है। अकसर, इन रोगों के आक्रमण से हजारों एकड़ जमीन में एक पाव नाज भी पैदा नहीं हो पाता। और इसीलिये उन देशों में इन्हें नामशेष करने के लिये कई तरह की औषधियाँ बनाई गई हैं। किन्तु भारत में गोमज-रोगों सम्बन्धी छानबीन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है और यही कारण है कि अभी तक अधिकांश रोगों की सस्ती और रामबाण औषधियों का पता ही नहीं चल सका है।

नीचे कबक रोगों की कुछ औषधियों का विवरण दिया गया है। ये औषधियाँ केवल मूल्यवान फसलों और बगीचों के लिये ही काम में ली जानी चाहिये। फिर भी, कुछ साधारण फसलों पर भी ये औषधियाँ छिड़कना लाभदायक है।

गोमज रोग की दो उपजातियाँ हैं। पहली उपजाति के गोमज रोग, पौधे के शरीर के भीतर ही भीतर वृद्धि पाते रहते हैं और तब पौधे के भुट्टे, बाली या फल में प्रकट होते हैं। दूसरी उपजाति के गोमज रोग पत्ता-तना आदि पर बाहर से आक्रमण करते हैं। इनको नष्ट करने के लिये काम में ली जाने वाली औषधियों में नीचे लिखे गुणों का होना आवश्यक है।

अ—औषधि ऐसी हो, जिससे रोग नष्ट किया जा सके या कम से कम उसका फैलाव रोका जा सके।

ब—औषधि सस्ती हो और उसका प्रयोग सरलतापूर्वक किया जा सके एवं उसको तैयार करना भी सरल हो।

औषधियों को काम में लाते समय नीचे लिखी बातों पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये :—

(१)औषधि सावधानी पूर्वक तैयार की जाय।

(२)अनुकूल मौसम में उचित अवसर पर ही औषधि छिड़की जाय।

(३)फल झाड़ों पर 'बहार' के दिनों में औषधि कदापि नहीं छिड़की जानी चाहिये।

(४)साग-भाजी की फसलों पर वही औषधि छिड़की जानी चाहिये, जो प्राणियों को हानि न पहुंचाये।

गोमज-रोगाक्रान्त पौधों पर औषधियाँ द्रव या महीन चूर्ण के रूप में ही छिड़की जाती हैं। गन्धक आदि का महीन चूर्ण और द्रव औषधियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की डस्टर मशीनों और फव्वारा यन्त्र (स्प्रेअर मशीन) द्वारा ही छिड़की जाती हैं।

पौधों की देह में वृद्धि पाने वाले रोगों की औषधि

बीज पर औषधि का प्रयोग—पौधे की देह में वृद्धि पाने वाले गोमज-रोग को नामशेष करने के लिये सबसे अच्छा उपाय, बीजों को औषधि से धोकर बोना ही है। इन रोगों के बीजाणु बीज पर चिपके रहते हैं। अतएव बीज को ऐसी औषधि से धोना चाहिये, जिससे बीज की उगने की शक्ति नष्ट न हो। बहुत-सी ऐसी औषधियाँ हैं भी, किन्तु नीला थोथा ही सबसे अच्छी औषधि है और इसके तैयार करने का तरीका भी सरल है।

खेत की मिट्टी पर औषधि का प्रयोग—गोमज रोग के बीजाणु मिट्टी में भी पाये जाते हैं। अतएव मिट्टी को, बीजाणु रहित करने के लिये, रोग नाशक औषधि से तर-बतर करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। चाय और काफी के खेतों में चूना डालने से इन फसलों की जड़ों पर लगने वाले गोमज-रोग के बीजाणु नष्ट हो जाते हैं।

अधिकतर नरसरी (शिशु-पौधा पालन गृह) की मिट्टी को ही औषधि सींची जाती है। नरसरी की मिट्टी को खोद कर अच्छी तरह से ढीली कर दी जाय और ढेले भी तोड़ दिये जायँ। पाँच सेर फार्मेल्डिहाइड (formaldehyde) को २५० सेर पानी में मिलाकर मिश्रण तैयार कर लिया जाय। तीन वर्ग फीट जमीन की मिट्टी को पाँच सेर मिश्रण से चार इञ्च की गहराई तक अच्छी तरह तर कर दिया जाय। और इसी मिश्रण से तर किये गये टाट के टुकड़े से मिट्टी को २४ घंटे तक ढका रहने दिया जाय। बाद में टाट हटाकर प्रति तीसरे चौथे दिन मिट्टी फावड़े से उलट-पुलट की जाती रहे। औषधि सींचने के लगभग एक सप्ताह बाद नरसरी में बीज बो दिया जाय।

पौधे के बाहरी भाग पर आक्रमण करने वाले रोगों की औषधि

एक ही रोग पर भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न औषधियाँ छिड़की जाती हैं। तथापि कुछ औषधियाँ ऐसी भी हैं, जो सब प्रकार की फसलों के रोगों पर प्रयुक्त की जाती हैं।

१—बोर्डो-मिश्रण(Bordeux mixture)

गोमज-रोगों की यह एक उत्तम औषधि है। खेतों में बोई गई फसलों पर औषधि छिड़कना अवश्य ही कष्ट-साध्य है। यदि औषधि ठीक तरह से तैयार नहीं की गई, तो पत्तों को क्षति पहुंचने की सम्भावना रहती है।

भिन्न-भिन्न शक्ति के बोर्डो मिश्रण की औषधियों का परमाण—

(१) नीलाथोथा २ सेर, कली का चूना २ सेर, पानी २५० सेर।

(२) नीलाथोथा २½ सेर, कली का चूना २½ सेर, पानी २५० सेर।

(३) नीला थोथा १½ सेर, कली का चूना १½ सेर, पानी २५० सेर।

औषधि तैयार करने की रीति—नीलेथोथे को टाट के टुकड़े में बाँध कर बीस सेर पानी भरे हुये लकड़ी के टब में लटका दो और रात भर पड़ा रहने दो। किसी दूसरे

बरतन में चूना भर कर इतना पानी डालो कि, चूना डूब जाय। चूने का बुदबुदाना बन्द होने पर इतना पानी और मिलाओ कि सब पानी पचास सेर हो जाय। पानी मिलाने के बाद चूने को तेजी से चलाओ और तब मोटे कपड़े से छान लो। इसके बाद नीले थोथे के पानी को पतली धार से चूने के पानी में डालते जाओ और मिश्रण को तेजी से चलाते रहो, ताकि सब चीजें एक जीव हो जायँ। यही बोर्डो मिश्रण है, जो तुरन्त ही काम में लिया जा सकता है। यह मिश्रण अधिक से अधिक चार घंटे के अन्दर काम में ले लिया जाना चाहिये। यदि अधिक समय तक पड़ा रहने दिया गया, तो इसका पत्तों पर चिपकने का गुण नष्ट हो जायगा।

चूने का पानी ठंढा हो जाने के बाद ही नीले थोथे का पानी मिलाया जाना चाहिये। चूने का पानी, नीले थोथे के पानी में हरगिज न डाला जाय। नीला थोथा युक्त पानी को ही चूने के पानी में मिलाना चाहिये। नीला थोथा का घोल काफी पतला होना चाहिये। चूने का घोल मामूली गाढ़ा हो, तो भी हर्ज नहीं। लोहे के बर्तन का उपयोग कदापि नहीं किया जाना चाहिये। इसमें थोड़ा सा बार-सोप मिलाने से मिश्रण की रोग-नाशक-शक्ति बढ़ जाती है। बोर्डो मिश्रण में चाकू का फलक एक मिनट तक डुबाये रखने हर, यदि उस पर ताँबे जैसा रङ्ग आ जाय, तो थोड़ा चूना और मिलाना चाहिये।

नाशपाती, आड़ू आदि कुछ पौधों के कोमल पत्तों को, इस मिश्रण से हानि पहुँचती है। अंगूर, आलू, टमाटर आदि के पत्तों को इससे किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती है। जिन पौधों के पत्तों को इस मिश्रण से हानि पहुँचती हो, उन पर मिश्रण नं० ३ छिड़का जाना चाहिए। पहले नम्बर का मिश्रण फल झाड़ों के लिए फायदेमंद साबित हुआ है। पाँच सेर नीला थोथा और २½ सेर चूने का मिश्रण आलू के पत्तों पर लगे हुए गोमज रोग पर बहुत मुफीद पाया गया है।

२—राल का मिश्रण.

पाँच सेर पानी में आध सेर कपड़ा धोने वाला साबुन (बार-सोप) छोटे छोटे टुकड़े करके डाल दो और तब उसे आग पर रख दो। पानी में उबाल आने पर एक सेर राल का चूर्ण डाल दो और तेजी से चलाते रहो। सब पदार्थों के एक जीव हो जाने पर आग पर से हटाकर रख लो। एक सेर मिश्रण में बारह सेर पानी मिलाकर काम में लो।

खासिया पहाड़ियों में आलू के पत्तों पर लगे हुए गोमज-रोग के लिए यह मिश्रण बहुत ही फायदेमंद साबित हुआ है। बोर्डो मिश्रण की अपेक्षा यह मिश्रण तुरन्त और अधिक लाभ पहुंचाता है। औषधियां तभी छिड़की जानी चाहिए, जब उनके वर्षा से धुल जाने की आशंका न हो। यदि औषधि छिड़कने के बाद शीघ्र ही पानी बरस जाय, तो तुरन्त ही दुबारा औषधि छिड़क देना चाहिए।

३—बरगंडी या सोडा-बोर्डो मिश्रण

यह औषधि अधिकतर उन स्थानों में काम में ली जाती है, जहाँ कली का चूना कठिनाई से मिलता है। इसमें तीन गुण हैं—(१) यह वर्षा से जल्दी नहीं धुलता है। (२) अति शीघ्र तैयार किया जा सकता है और (३) पौधों पर छिड़कते समय इससे मशीन की नली बंद नहीं होती है किन्तु यह बोर्डो मिश्रण से कुछ मँहगा पड़ता है।

नीला थोथा पाँच सेर, कपड़ा धोने का सोडा ६½ सेर और ५०० सेर पानी से यह मिश्रण बोर्डो-मिश्रण की तरह ही तैयार किया जाता है। फर्क इतना ही है कि, कली के चूने की जगह वॉशिंग सोडा मिलाया जाता है।

यह मिश्रण फ्रांस में आलू के पत्तों पर लगे हुए गोमज रोग पर उपयोग में लिया जाता है। इससे फायदा भी काफी हुआ है।

४—चूना-गंधक मिश्रण

चूना २५ सेर, गंधक २५ सेर, पानी ५०० सेर

पानी को आग पर रख दो। खौलने लगे तब थोड़ा चूना मिलाते जाओ और पानी को तेजी से चलाते रहो। चूना खतम हो जाने पर गंधक मिलाओ। गंधक मिला देने के बाद मिश्रण आध घंटे तक और आग पर रहने दो और तब आग पर से हटा कर ठंडा हो जाने दो। मिश्रण को टाट के टुकड़े से छान कर रख लो। पाँच सेर मिश्रण में ६-७ सेर पानी मिला कर काम में लो।

कपास की जाति की फसलों के रोग

कपास की फसल के रोग

कपास की फसल पर दो-तीन तरह का गोमज रोग आक्रमण करता है; किन्तु इनसे फसल को नाम-मात्र की क्षति पहुंचती है। एक जाति का गोमज-रोग ब्रह्मदेश, मिश्र, अफ्रीका, बलगेरिया आदि देशों में पाया जाता है।

उकठा (Wilt)—इससे प्रतिवर्ष भारत को हजारों रुपयों की हानि उठानी पड़ती है। कभी कभी लगभग आधे पौधे रोग-ग्रस्त हो जाते हैं। इसके बीजाणु (Spores) खेत की मट्टी में रहते हैं और जड़ों द्वारा आक्रमण करते हैं। इस रोग के आक्रमण से पौधे मौसम भर मरते रहते हैं। किन्तु इस रोग से सारे खेत की फसल कभी नष्ट नहीं होती है। फूल और ढेंढुई लगने से पहले पौधे अधिक संख्या में मरते हैं। इस रोग से फसल की रक्षा करने का एक मात्र उपाय है, ऐसी किस्म का कपास बोना, जिस पर यह रोग आक्रमण न करता हो।

उकठा से मिलता-जुलता ही एक रोग कपास की ढेंढुई पर आक्रमण करता है। प्रारंभ में ढेंढुई पर लाल भूरे दाग पड़ जाते हैं। ज्यों ज्यों दाग बड़े होते जाते हैं, इनका मध्य भाग काला पड़ता जाता है। इस रोग के आक्रमण से ढेंढुई का छिलका कड़ा हो जाता है, आकार बिगड़ जाता है और पूर्ण बाढ़ को पहुंचने के पहले ही ढेंढुई फट जाती है।

उकठा के आक्रमण से तना सड़ जाता है, जिससे पौधा मर जाता है। रोग-ग्रस्त ढेंढुई और पौधों का हटाकर जला देना चाहिए। यदि संभव हो, तो फसल निकाल लेने के बाद, पौधों के अवशेषों को एकत्रित करके जला देना चाहिए। रोग-नाशक औषधि छिड़कने से विशेष लाभ होने की संभावना नहीं है। यह रोग अन्य फसलों पर आक्रमण नहीं करता है।

भिंडी की फसल के रोग

सूखा (Leaf Wilt)—इस रोग के आक्रमण से पत्ते एकाएक सूखने लगते हैं। नीचे के पत्ते पूर्ण बाढ़ के पहले ही पीले पड़ कर गिर जाते हैं। रोगी पत्तों को तोड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

भूरी—इसका लैटिन नाम Eryrisiphecichoracea है। इसके आक्रमण से पत्तों पर सफेद धूल-सी जम जाती है। रोगी पत्ते सूख कर गिर पड़ते हैं, जिससे फल कम बैठते हैं और वे छोटे भी हो जाते हैं। गंधक का चूर्ण छिड़कना फायदेमंद है।

तृण वर्ग की फसलों के रोग

धान की फसल के रोग

मररोग (Selerotial Disease)—इसका लैटिन नाम Selerotium Oryzoa है। धान के पौधों के जिस स्थान पर जमीन के पास शाखाएँ फूटती हैं, उस जगह यह रोग आक्रमण करता है। रोगी पौधे को उखाड़ कर देखने से पोली डंडी में पीले रंग की बूरी-सी नजर आती है और पत्ते के कोष में काले रंग के बीजाणु जम जाते हैं। इस रोग के बीजाणु मट्टी में दबे रहते हैं और दूसरे वर्ष धान की फसल बोने पर, हमला करते हैं। इनके निवारण का कोई उपाय ही ज्ञात नहीं हुआ है।

लाल कजली (False Smut)—इसका लैटिन नाम Ustilaginoidea Virens है। यह अधिकतर बंगाल-बिहार में ही इस फसल पर आक्रमण करता है। बाली के कुछ दाने मोटे और हरे दिखाई देते हैं। दाने को तोड़ कर देखने पर पीला या लाल रंग का पदार्थ निकलता है। किन्तु बाली के सभी दाने ऐसे नहीं होते हैं। इस रोग के उत्पन्न होने के कारणों का अभी तक पता नहीं चला है।

ज्वार की फसल के रोग.

ज्वार के पत्तों पर तीन प्रकार का गोमज-रोग आक्रमण करता है; किन्तु इनसे फसल को बहुत ही कम क्षति पहुँचती है। इन रोगों का इलाज भी अभी तक मालूम नहीं हो सका है।

काणी (Smut)—इसे कजली, काजली, कायमा आदि भी कहते हैं। दक्षिणी यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के उन सभी पूर्वी देशों में पाया जाता है, जहाँ ज्वार बोई जाती है। मद्रास, बम्बई, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, मध्य प्रदेश मध्य भारत आदि में इससे प्रतिवर्ष लाखों रुपयों की हानि उठानी पड़ती है। काणी के प्रकार नीचे दिए जाते हैं।

(१) भुट्टे में दाने की जगह कजली की पोटली-सी निकल आती है। इसे अंगरेजी में ग्रेन स्मट या लूज स्मट (Grain Smut or Loose Smut) कहते हैं। (२) लम्बी कजली या झंडा काणी (Long Smut) के दाने लम्बे होते हैं। कजली के पोटली ज्वार के दाने को ढकने वाले बूरे से बहुत ज्यादा बाहर निकली रहती है (३) भुट्टा काणी या पोखड़ा काणी (Head Smut) की पोटलियां भुट्टे के सभी दानों के स्थान पर निकल आती हैं।

चित्र ३०—काणी रोग

कजली की पोटली को दबाने से काजल-सा काला चूर्ण-सा निकल आता है। पकने पर यह पोटली फूट

जाती है और कजली के बीजाणु हवा से उड़ कर नाज के दानों पर चिपट जाते हैं। रोग के बीजाणु लगे हुए बीज बोने से गोमज, नवांकुरित पौधे की देह में प्रवेश कर उसके साथ ही साथ, तने में महीन धागे के रूप में बढ़ता रहता है। फूल आने तक गोमज के अस्तित्व का कोई बाहरी चिन्ह दिखाई ही नहीं देता है। बीज या दाने के स्थान पर प्रगट होने पर ही इसके अस्तित्व का पता चलता है। अतएव बोने से पहले बीज पर चिपटे हुए रोग के बीजाणुओं को नष्ट कर देना परमावश्यक है।

उपचार :—मिट्टी की नांद या लकड़ी के टब में पाँच सेर पानी में ढाई तोला नीला थोथा का महीन चूर्ण डाल कर खूब चलाओ। इस मिश्रण में एक एकड़ में बोया जाय, इतना बीज लगभग दस मिनट तक डुबा कर रखा जाय। बीज को कपड़े की थैली में भर कर नाज से चार अंगुल ऊपर से डोरी से बांध दिया जाय। और तब थैली को इस मिश्रण में डुबो दिया जाय। नाज से ऊपर कम से कम एक इंच मिश्रण रहे। थैली को बार बार हिलाना भी चाहिए जिससे सभी दाने अच्छी तरह से गीले हो जायं। नीले थोथे में भिगोया हुआ बीज अधिक से अधिक २४ घंटे के अंदर बो ही दिया जाना चाहिए। अधिक समय तक पड़ा रहने देने से बीज की उगने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अतएव उतना ही बीज भिगोया जाना चाहिए, जितना २४ घंटे के अन्दर बोया जा सके।

नीले थोथी की जगह गंधक भी काम में लिया जा सकता है। बोने से काफी दिन पहले बीज को गंधक के मिश्रण में भिगो लेना चाहिए।

प्रतिवर्ग इंच में १०० छेद वाली छलनी में छना हुआ गंधक का महीन चूर्ण ही काम में लिया जाना चाहिए, कारण कि इससे बड़ा कण, बीज के दाने पर नहीं चिपकेगा। पाँच सेर बीज के लिए तीन तोला चूर्ण काफी है। इससे ज्यादा चूर्ण डाल देने पर भी बीज के उगने की शक्ति नष्ट नहीं होती है। बीज को बड़े बरतन में भर कर उन पर गंधक का चूर्ण फैला दिया जाय और तब लगभग बीस मिनट तक बरतन को खूब हिलाया जाय, जिससे गंधक के कण हर एक बीज पर चिपक जायं। गंधक लगे हुए बीज सूखे ही, किसी सूखे और साफ बरतन में भर कर रख दिए जायं और आवश्यकतानुसार बो दिए जायं। गंधक से बीज की उगने की शक्ति नष्ट नहीं होती है।

गेहूँ की फसल के रोग.

गेरुवा (Rust)—इसे महाराष्ट्र में ताबड़ा, गुजरात और मध्य प्रदेश में गेरवा तथा मध्य भारत में गेरू, गेरवा और उत्तर प्रदेश में कंडुवा आदि कहते हैं। कन्नड़ में इसे कुमकुम रंग नाम दिया गया है।

गेरुवा तीन प्रकार का होता है—(१) प्रारंभ में, तने पर और बाद में पत्तों और डंठलों पर लाल रंग के छोटे छोटे दाने दिखाई देते हैं, जो बाद में काले हो जाते हैं। (२) पत्तों पर लाल रंग लिए हुए नारंगी रंग के दाग दूर दूर पर दिखाई देते हैं, जो धीरे-धीरे फैलकर एक दूसरे से मिल जाते हैं और (३) प्रारंभ में, पत्ता तोड़ने पर पीले दाग नजर आते हैं, जो बाद में फैलकर लम्बे हो जाते हैं।

पंजाब बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मालवा, मध्य-भारत, मध्य प्रदेश आदि में तीनों ही प्रकार का गेरुवा न्यूनाधिक परिमाण में, प्रतिवर्ष, फसल पर आक्रमण करता है। किन्तु इनसे फसल को बहुत कम हानि पहुँचती है। कई वर्षों में एक आध वर्ष ही ये उग्र रूप धारण करके फसल को नष्ट कर देते हैं। इस रोग के लगने से पौधे लाल या पीले रंग के दिखाई देते हैं। पौधों का हरा रंग नष्ट हो जाता है। सफेद कपड़े पहन कर खेत में फिरने से कपड़ों पर गेरुवा रंग लग जाता है। रोग-ग्रस्त फसल के दाने पतले पड़ जाते हैं, जिससे पैदावार कम आती है। कभी कभी पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। नदी-नालों की तटवर्ती और झील की (नीची) नमी युत जमीनों की फसलों को यह रोग लगने का डर हमेशा बना रहता है।

रोग-ग्रस्त फसल की पैदावार का बीज खेतों में न बोया जाय। गेहूँ की जिस किस्म पर यह रोग न लगता हो, वही बोई जाय।

काजलिया रोग (Smut)—इसे गुजरात में 'अगारियों' महाराष्ट्र में काणी और मध्य भारत में

चित्र ३ —कजलिया रोग (गेहूँ की बाली पर)

काजली, कायमो, काजरी, कजरी आदि कहते हैं। जब तक बालियां नहीं निकल आती हैं, इस रोग के अस्तित्व का पता ही नहीं चलता है। रोग-ग्रस्त पौधों को बालियां कुछ पहले निकल आती हैं। बालियों में दाने के स्थान पर काजलिया के बीजाणुओं का समूह (दाने के समान) निकल आता है। पकने पर काजल-सा काला पदार्थ फैल जाता है, जो हवा से उड़ कर अन्य पौधों पर फैल जाता है।

यह रोग, गेहूँ, ज्वार, आदि तृण-वर्ग के पौधों पर ही आक्रमण करता है। रोग के बीजाणु हवा से उड़ कर दानों पर चिपक जाते हैं। रोग-ग्रस्त पौधे के बीज बोने से वे खेत में प्रवेश पा जाते हैं। और तब दूसरे वर्ष इस रोग से फसल की रक्षा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतएव रोग-ग्रस्त पौधे को उखाड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

मिश्र देश में यह रोग तना और पत्ते पर भी आक्रमण करता है। कहा जाता है कि बोने से पहले बीजों को गरम पानी में धो लेने से रोग का जोर कुछ कम हो जाता है।

उपचार—ज्वार के काणी रोग के लिए बतलाया गया उपचार किया जाय। सौ सेर पानी में एक सेर नीला थोथा मिलाकर तैयार किये गए मिश्रण का उपयोग किया जाय। नीले थोथे में भिगोए गए बीजों को सौ सेर पानी में आध सेर कली का चूना मिला कर तैयार किए गए घोल से धो लिया जाय। ऐसा करने से नीले थोथे का हानि-कारक असर नष्ट हो जाएगा। बीजों को तीन मिनट तक घोल में डुबाये रखना ही काफी है।

जौ, मक्का, आदि पर गोमज रोग आक्रमण तो अवश्य करते हैं, किन्तु इनसे फसल को बहुत ही कम नुकसान पहुंचता है। अतएव इन फसलों के रोगों पर विचार नहीं किया गया है।

[क्रमशः]

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग १**—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के ब[illegible]न कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले -डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ०।३।५

भाग ७४ | मकर २००८ जनवरी १९५२ | संख्या ४

भारत के प्रति अज्ञानता

अमेरिका के एक प्रसिद्ध लेखक पाल डी क्रफ ने (Paul de Kruif) कीटाणुओं के सम्बन्ध में शोध करनेवाले वैज्ञानिकों की अमर कहानी अपनी पुस्तक 'माइक्रोब हंटर्स' (Microbe Hunters) में अंकित की है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई है कि उसके पचासों संस्करण अबतक हो चुके हैं। ऐसी पुस्तक में प्रसंग वश भारतीयों का उल्लेख कितने वीभत्स रूप से किया गया है, उसकी चर्चा करने के पहले हम इस पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक के देश-वासियों के कतिपय प्रशंसात्मक उद्‌गार नीचे दे रहे हैं। ये महत्व पूर्ण सम्मतियाँ अमेरिका के मुख्य पत्रों की हैं जो पुस्तक के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई हैं :—

"युग-युगान्त की कथित कथाओं में यह एक सर्व-श्रेष्ठ रोचक कथा है। सच बात तो यह है कि इसमें एक भी वाक्य अरुचिकर नहीं है।"

"पुस्तक अंत तक आपको मंत्रमुग्ध बनाए रखेगी।"

"लेखक ने ऐसे मनुष्यों और उनके कर्तृत्वों का प्रशंसात्मक वर्णन किया है जो वैज्ञानिक इतिहास के मनो-मुग्धकारी और उत्प्रेरक अध्याय उसी प्रकार बनाते हैं जैसे कोई भी दिग्विजय, अभियान अथवा अन्वेषण के साहसिक कार्य बना सकते हैं।"

"यह उन पाठकों के लिए ग्रंथ हैं जिन्हें उद्भट साह-सिक कार्य प्रिय हैं तथा जो स्पष्ट शौर्यपूर्ण लेख और रोमांचक वर्णनों से रुचि रखते हैं।"

"यह सब साहसिक कथा की भाँति लिखी गई हैं जो रोमांच से ओत-प्रोत किन्तु दुरूहता-हीन है। यह अत्यंत रोचक और जानकारी पूर्ण है। इसमें जीवन कथा, विज्ञान तथा शौर्य का समान मात्रा में भव्य सम्मिश्रण है।"

जिस पुस्तक ने इतनी ख्याति प्राप्त की है, जिसके पचासों संस्करणों की अमेरिका में ही नहीं प्रत्युत अन्यान्य देशों में भी खपत हुई और लाखों प्रतियाँ हमारे देश में भी प्रसारित हुई होंगी उसी के एक अध्याय में मच्छड़ों द्वारा मलेरिया-प्रसार की शोध के सम्बन्ध में निम्नांकित उद्धरण उपेक्षणीय नहीं हैं :—

(मलेरिया संबंधी शोध के सफल अनवेषक और नोबुल-पुरस्कार-विजेता वैज्ञानिक रोनाल्ड रास (Ronald Ross) ने भारतीय सरकार के चिकित्सा विभाग में रहकरपैट्रिक मेंसन (Patrick Manson) नामक

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै०उ० ।३।५

भाग ७४ | मकर २००८ जनवरी १९५२ | संख्या ४

भारत के प्रति अज्ञानता

अमेरिका के एक प्रसिद्ध लेखक पाल डी क्रफ (Paul de Kruif) कीटाणुओं के सम्बन्ध में शोध करनेवाले वैज्ञानिकों की अमर कहानी अपनी पुस्तक 'माइक्रोब हंटर्स' (Microbe Hunters) में अंकित की है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई है कि उसके पचासों संस्करण अबतक हो चुके हैं। ऐसी पुस्तक में प्रसंगवश भारतीयों का उल्लेख कितने वीभत्स रूप से किया गया है, उसकी चर्चा करने के पहले हम इस पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक के देश-वासियों के कतिपय प्रशंसात्मक उद्गार नीचे दे रहे हैं। ये महत्व पूर्ण सम्मतियाँ अमेरिका के मुख्य पत्रों की हैं जो पुस्तक के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई हैं :—

"युग-युगान्त की कथित कथाओं में यह एक सर्वश्रेष्ठ रोचक कथा है। सच बात तो यह है कि इसमें एक भी वाक्य अरुचिकर नहीं है।"

"पुस्तक अंत तक आपको मंत्रमुग्ध बनाए रखेगी।"

"लेखक ने ऐसे मनुष्यों और उनके कर्तृत्वों का प्रशंसात्मक वर्णन किया है जो वैज्ञानिक इतिहास के मनोधिकारी और उत्प्रेरक अध्याय उसी प्रकार बनाते हैं जैसे कोई भी दिग्विजय, अभियान अथवा अन्वेषण के साहसिक कार्य बना सकते हैं।"

"यह उन पाठकों के लिए ग्रंथ हैं जिन्हें उद्भट साहसिक कार्य प्रिय हैं तथा जो स्पष्ट शौर्यपूर्ण लेख और रोमांचक वर्णनों से रुचि रखते हैं।"

"यह सब साहसिक कथा की भाँति लिखी गई हैं जो रोमांच से ओत-प्रोत किन्तु दुरूहता-हीन है। यह अत्यंत रोचक और जानकारी पूर्ण है। इसमें जीवन कथा, विज्ञान तथा शौर्य का समान मात्रा में भव्य सम्मिश्रण है।"

जिस पुस्तक ने इतनी ख्याति प्राप्त की है, जिसके पचासों संस्करणों की अमेरिका में ही नहीं प्रत्युत अन्यान्य देशों में भी खपत हुई और लाखों प्रतियाँ हमारे देश में भी प्रसारित हुई होंगी उसी के एक अध्याय में मच्छड़ों द्वारा मलेरिया-प्रसार की शोध के सम्बन्ध में निम्नांकित उद्धरण उपेक्षणीय नहीं हैं :—

(मलेरिया संबंधी शोध के सफल अनवेषक और नोबुल-पुरस्कार-विजेता वैज्ञानिक रोनाल्ड रास (Ronald Ross) ने भारतीय सरकार के चिकित्सा विभाग में रहकरपैट्रिक मैंसन (Patrick Manson) नामक

वैज्ञानिक की उत्प्रेरणा से कीटाणु द्वारा मलेरिया के मच्छड़ द्वारा फैलाए जाने की खोज की थी)। उनके संबंध में लिखते हुए लेखक ने लिखा है कि जब अन्य डाक्टरों ने मलेरिया के कीटाणु पर कुछ अविश्वास प्रकट किया तो उन्होंने एक बेचारे हिन्दू को पकड़ कर परीक्षा की जो मलेरिया के रोग से बुरी तरह पीड़ित था। किन्तु उसके शरीर में कीटाणु का पता न चला। तब मैंसन के आदेशानुसार रास ने एक भारतीय पर उन मच्छड़ों के प्रहार का प्रयोग किया जो पहले किसी मलेरिया-रोग पीड़ित रोगी का रक्त चूस चुके थे। ऐसे परीक्षा के लिए रास द्वारा प्रयोग का लेखक ने निम्न शब्दों में वर्णन किया है :—

"He let the pests loose under nets over beds on which lay naked and foolishly superstitious dark skinned people of a cast so low that they had no proper right to have emotions,"

—Microbe Hunters page 313

"उसने अर्थात् खाट पर मच्छड़दानी के भीतर मच्छड़ छोड़ दिए जिसपर एक नंगधड़ंक और मूर्खतापूर्ण अंधविश्वासी, काले वर्ण का व्यक्ति लेटाया गया था जो ऐसी अधम श्रेणी के मानव वर्ग का था जिसको यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि उस वर्ग के लोगों में भी मनोभाव नाम की कोई वस्तु होती है।"

किसी स्वाभिमानी भारतीय के लिए इससे अधिक मर्मान्तक और स्वाभिमान को अधिक वेग से चोट पहुँचाने वाले शब्द नहीं हो सकते। हम इनके आगे के कुछ वाक्यों का सरल अनुवाद ही प्रसंग समझने और लेखक के विष उगलने की भावना को अधिक स्पष्ट करने के लिए देते हैं :—

"इन लोगों का रक्त मलेरिया के कीटाणु से विचित्र रूप से भरापुरा था। मच्छड़दानी के अंदर मच्छड़ भनभनाते रहे। किन्तु काटते नहीं थे। शोक! मच्छड़ों को काटने के लिए विवश नहीं किया जा सका।—रास ने इस सम्बन्ध में मैंसन को लिखा कि वे "खच्चर की तरह हठी हैं।" किन्तु वह लगा ही रहा। उसने मच्छड़ों की मिन्नत की। उसने रोगियों की मिन्नत की। रोगियों को उसने धूप में बैठाया जिससे "उनकी दुर्गंधि उड़ जाय।" मच्छड़ भनभनाते ही रहे और हठ पकड़े रहे। किन्तु अंत में उसके ध्यान में मच्छड़दानी पर पानी छोड़ने की बात आई जो पानी में भीग जाय और रोगी भी तर हो जाय जिसमें कोई परेशानी की बात ही नहीं थी। और अन्त में मच्छड़ों से काम लिया गया। **उन्होंने भर पेट हिन्दू का रक्त चूसा।"**

लेखक ने हिन्दू को भारतीय के समानार्थी शब्द की भाँति प्रयुक्त किया है।

हमने ऊपर के प्रथम उद्धरण में भारतीयों को अपमानित करने वाले जिन शब्दों को उद्धृत किया है, वह किसी ईर्षाद्वेष वश नहीं, बल्कि केवल इस दृष्टिकोण से कि विज्ञान के पवित्र क्षेत्र में जहाँ जाति, देश, ऊँच नीच की भावना नहीं होना उचित है, वहाँ कुछ प्रचारकों ने इस क्षेत्र को भी दूषित करने का जानबूझ कर या अनजाने ही प्रयत्न किया है। उस पर से अपनी दृष्टि फेर लेना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। यह पुस्तक तो आज से २०, २५, वर्षों पूर्व लिखी गई थी, या अन्य ग्रंथों का भी प्रकाशन पूर्व समय का ही हो सकता है परन्तु वे अब भी प्रसारित होती पाई जाती हैं। उनके बहु-संख्यक प्रसार से हमारा अधिक अहित होता रहा है। अतएव हम आशा करते हैं कि हमारी राष्ट्रीय सरकार का वैदेशिक विभाग सुझाव देने पर **ऐसे ग्रन्थों के दूषित भागों को अविलम्ब वर्जित कराने या कम से कम अपने देश में उनकी रोकथाम करने और ऐसे साहित्य की जन्म-भूमि की सरकार को सचेत करने का प्रयत्न कर सकता है।** जो जागरूक पाठक या सम्मानित सदस्य विज्ञान क्षेत्र के साहित्य ऐसे अनुचित प्रसंगों या उद्गारों को देखकर प्रकाशनार्थ

भेजना चाहें उन्हें हम सहर्ष प्रकाषित करते रहेंगे और जो प्रभावशाली विचारवान पाठक या सदस्य अपनी आवाज केन्द्रीय या विदेशी सरकारों तक पहुँच सकने योग्य समझते हों, आशा है वे इस सम्बन्ध में अवश्य ही उद्योग करेंगे।

[पृ० १०२ का शेषांश]

कुछ कहना अनुचित न होगा। बहुत से प्राणियों में थूक उत्पन्न करने के लिए कई जोड़ा गिल्टियाँ होती हैं। सांप की ऐसी ही एक जोड़ा गिल्टी में थूक के बजाय विष उत्पन्न होता है। इस गिल्टी से एक बहुत पतली नलिका निकलती है और ऊपर के जबड़े में पीछे की ओर के एक दांत में खुलती है। यह दांत विष-दंत कहलाता है। कुछ विषैले सर्पों में (जैसे वाइपर में) इस दांत में आरपार एक खड़ा, महीन छेद होता है। जैसे इंजेक्शन की सुई में; कुछ में (जैसे नाग में) इस दांत में बाहर की ओर एक लंबी गहरी नाली बनी होती है। विषदंत माँस में धसाने के बाद सर्प अपनी विष गिल्टी दबाता है। बस विष की कुछ बूँदें नलिका से होती हुई मांस के भीतर उसी तरह प्रवेश कर जाती हैं जैसे इंजेक्शन के द्वारा।

सर्प काटने के बाद सब से पहले इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो विष शरीर में रक्त-संचार के साथ फैलने न पावे। इसके लिए घाव के ऊपर (हृदय की ओर), कुछ हटकर, कस कर, लपेट कर बांध देना चाहिए। फिर किसी तेज चाकू या छूरे से घाव पर काट देना चाहिए जिससे रक्त के साथ ही अधिक से अधिक विष निकल जाय। यदि दुर्घटना के बाद जल्दी ही यह किया जा सके तो बहुत लाभ होता है। घाव पर पोटेशियम परमेगनेट (कुएँ की लाल दवा) का गाढ़ा घोल भी कुछ लाभदायक है।

सर्प विष का आधुनिक इलाज

'ऐन्टीवेनीन' दवाई के इंजेक्शन का होता है। सर्प का विष एकत्र करके बहुत थोड़ी मात्रा में घोड़ों के शरीर में प्रवेश कराया जाता है। प्रतिक्रिया-स्वरूप घोड़ों के शरीर में कुछ ऐसी वस्तु उत्पन्न हो जाती है जो विष को नष्ट कर सकती है। धीरे धीरे विष की मात्रा बढ़ाई जाती है जिससे रक्त में यह वस्तु अच्छी मात्रा में उत्पन्न हो जाय। जब घोड़ों के रक्त में यह शक्ति अच्छी तरह उत्पन्न हो जाती है तो उनके रक्त का प्ररस (सीरम) निकाल कर विष के उपचार में उपयोग किया जाता है। यही प्ररस "ऐन्टीवेनीन" है। कसौली में इस विषय पर बहुत प्रयोग किये जा रहे है। इस इलाज में एक ही कठिनाई है। किसी विशेष प्रकार के सर्प के विष से बनाए गए ऐन्टीवेनीन से उसी सर्प के काटने का उपचार हो सकता है। उदाहरण के लिए करैत से बनाए गए एन्टीवेनीन के काटे व्यक्तियों का इलाज हो सकता है। किन्तु इस कठिनाई पर भी विजय पाने का प्रयत्न हो रहा है। इस प्रसंग में ब्राजील के एक डाक्टर, वाइटल ब्राजील का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपना जीवन इस खोज में व्यतीत किया है।

हमारे देश में पाए जाने वाले सांप

श्री उमाशंकर श्रीवास्तव

हमारे देश में एक लाख मनुष्य प्रति वर्ष साँप के काटने से मरते हैं। इसलिए अपने देश के विषैले सांपों के सम्बन्ध में हमें जानकारी लाभदायक है।

विषैले सर्पों से हमारा क्या तात्पर्य है ? साधारणतः हम उन सर्पों को ही विषैले कहते है जिनके काटने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाय। वास्तव में अनेक जातियों के सर्पों में अपने शिकार को मारने या उनको निःशक्त कर सकने भर के लिए पर्याप्त विष होता है। किन्तु अधिकतर ये शिकार छोटे, निम्न श्रेणियों के प्राणी होते हैं। केचुए, मेंढक, छोटी-मोटी चिड़ियां, चूहे आदि ही अधिकांश सर्पों के लिए भोजन के काम आते हैं और इनके मारने के लिए बहुत न्यून मात्रा में विष की आवश्यकता होगी। विष को उतनी ही मात्रा से मनुष्य को कोई विशेष हानि होने की संभावना नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि बहुधा विषैले तथा विषहीन कहलाने वाले सर्पों के बीच विष के किसी विशेष गुण का अन्तर नहीं होता बल्कि उसकी मात्रा का। उदाहरण के लिए "सिलीब्युरा" नामक सर्प का विष नाग के विष से अधिक तेज होता है मगर उसके काटने से मनुष्य इसलिए नहीं मर सकता कि उसमें मनुष्य के मारने के लिए पर्याप्त विष नहीं होता।

इस परिभाषा के अनुसार भारत में पाई जाने वाली सर्पों की लगभग तीन सौ जातियों में से केवल चालीस जातियां ही विषैली कही जा सकती हैं। यह संख्या कुछ कम नहीं है। आपको यह जानकर अचम्भा होगा कि ब्रिटेन में सर्पों की केवल एक ही विषैली जाति मिलती है। मडागास्कर में साँपों की अनेक जातियां पाई जाती हैं किन्तु उनमें से एक भी विषैली नहीं कही जा सकती। हां! इन संख्याओं में समुद्र के सर्प नहीं शामिल हैं। अधिकांश समुद्री सर्प बहुत विषैले होते है। इन चालीस जातियों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है :—नाग वर्ग, करैत, कोरल सर्प तथा वाइपर। नाग की दो जातियां हमारे देश में मिलती है, करैत की बारह जातियां, कोरल सर्पों की सात जातियां तथा वाइपर की उन्नीस जातियां। सौभाग्य-वश ये सभी जातियां बराबर विषैली नहीं होतीं। हमारी वर्तमान सूचनाओं के अनुसार इनमें से पांच प्रकार के सर्प ही इतने विषैले हैं कि उनके काटने से किसी वयस्क तथा स्वस्थ मनुष्य की मृत्यु हो जा सकती है। ये है :—नागराज, साधारण नाग सर्प, करैत, फूरसा तथा दबोइया।

नागराज या किंग कोबरा

यह संसार की सब से बड़ा विषैला सर्प है। बम्बई के "नैचुरल हिस्ट्री म्युजियम" में इस सर्प की एक १५ फीट से अधिक लंबी खाल सुरक्षित है। भाग्यवश घने जंगलों के अतिरिक्त दूसरी जगहों पर बहुत कम

दिखाई पड़ता है। दक्षिणी भारत के कन्नड़ तथा आसाम के जंगलों में यह बहुधा देखा गया है। नागराज के बच्चों का रंग कुछ गाढ़ा भूरा होता है और उनके शरीर पर कुछ हल्के धब्बे होते हैं। प्रौढ़ का रंग बहुधा काला होता है और उस पर धब्बे नहीं होते। इसके शिर पर फन होता तो अवश्य है किन्तु साधारण नाग के फन की तुलना में यह बहुत कम चौड़ा होता है। हां ! यह अपने शरीर के अगले भाग को काफी ऊँचाई तक खड़ा कर लेता है। कभी-कभी तो यह मनुष्य के बराबर ऊँचाई तक खड़ा हो जाता है। ऐसी अवस्था में इसकी भयंकरता का आप अनुमान कर सकते है।

नागराज दूसरी छोटी जातियों के सर्पों की ही प्रकार जीवित रहता है। इस विषय में वह विषैले अथवा विष-हीन के बीच भी भेद नहीं करता। जनमत के अनुसार यह भयानक सर्प मनुष्य को देखते ही उस पर आक्रमण करता है किन्तु कई विश्वस्त उल्लेखों से मालूम होता है कि वास्तव में यह सर्प शान्तिप्रिय है और जहां तक संभव होता है वह मनुष्य की उपस्थिति से दूर भागता है।

साधारण नाग या कोबरा

इससे हम सभी परिचित हैं। किसी भी सपेरे का तमाशा नाग के दर्शन के बिना पूरा नहीं होता। नाग-पंचमी पर उत्तर भारत में सभी जगह इसकी पूजा होती है। इसके फन चौड़े और देखने योग्य होते हैं और अक्सर उस पर एक या दो हल्के धब्बे होते हैं। यह सर्प बहुधा हमारे साथ ही रहना पसन्द करता है। हमारे घरों, बंगलों या बागीचों में यह अक्सर दिखाई पड़ता है। पुरानी कच्ची दिवारें, इंटों के बीच की दरारें, गोशालाएं, कबूतरों या मुर्गियों के दर्बे आदि इस सर्प के निवास के लिए बड़े सुविधाजनक होते हैं। अंडों की खूराक इनको बहुत पसन्द है इसलिए मुर्गियों या कबूतरों का घरमें रखना ही इनको न्यौता देना है। किन्तु इनका मुख्य आहार चूहों तथा मेढकों का होता है। कहा जाता है कि नाग दूध बहुत पसन्द करते हैं। कुछ लोगों का तो विश्वास है कि नाग गायों के थन से चुपचाप दूध पी जाते हैं। किन्तु ये दोनों बातें असत्य हैं और थन में मुंह लगा कर दूध पीना तो सांपों के लिए असम्भव है। उनके होंठों की रचना इस कार्य के लिए बिल्कुल ही अनुपयुक्त है।

रंग-रूप में नागों के कई भेद होते हैं। सब से साधारण नाग के फन पर दो लंबे सफेद चिन्ह होते हैं। हिन्दुओं के अनुसार ये चिन्ह श्री कृष्ण के चरणों के हैं। श्री कृष्ण यमुना में रहने वाले कालिया नाग को नाथ कर उसके फन पर खड़े हुए थे। उनके चरणों के चिन्ह कालिया और उसके वंशजों के फन पर बने रह गए। दूसरे प्रकार के नाग के फन पर बीच में एक ही गोल चिन्ह होता है। यह बंगाल में पाया जाता है। तीसरे प्रकार के नाग के फन पर कोई चिन्ह नहीं होता। यह समान रूप से काला होता है और अक्सर राजपूताना, पंजाब या सिंध में दिखाई देता है।

साधारणतः नाग डरपोक होता है और मनुष्य से दूर भागना चाहता है किन्तु यदि बचाव आसान न हुआ तो वह आक्रमण करने में भी नहीं चूकता। इसके बच्चे अधिक खतरनाक होते हैं। प्रौढ़ों की सी बुद्धि और उनका सा धैर्य उनमें नहीं होता और उनके आक्रमण तेजी से होते हैं। नाग अपने अंडे बरसात के आरंभ में देते हैं। अंडों से लगभग दो महीनों में करीब ७ इंच लंबे बच्चे निकलते है और कुछ दिन बाद ही उनमें विष उत्पन्न हो जाता है।

हमारे देश के विषैले सर्पों में करैत सब से अधिक शर्मीला और एकांतप्रिय है किन्तु साथ ही यह सब से खतरनाक भी है। साधारण करैत एक से डेढ़ गज तक लंबा, कुछ नीलापन लिए हुए काले रंग का होता है। इसके शरीर पर बहुधा कुछ लंबे, छल्ले जैसे सफेद धब्बे होते हैं। ये छल्ले पूँछ की ओर अधिक साफ मालूम होते हैं। रंगरूप में करैत एक विषहीन सर्प से बहुत मिलता जुलता है। छोटे होने पर भी जानकारों के अनुसार यह

सर्प हमारे देश में अन्य सभी सर्पों से अधिक मृत्युओं का कारण होता है। यह धान के खेतों, घास के जंगलों आदि में अधिकतर रहता है और कभी-कभी घरों और बंगलों में भी दिखाई पड़ जाता है। खपरैल या छत में यह अक्सर चिपका रहता है। कभी-कभी यह विस्तरों में भी पाया गया है कदाचित छत से टपक कर ही यह विस्तरों पर पहुँचता है।

करैत की दो जातियाँ हमारे देश में विख्यात हैं—"चितकौड़ियाँ" और "राज सांप"। चितकौड़ियाँ (बन्गेरस सीरूयूलस) अधिक साधारण है और उत्तरी भारत में अधिक पाया जाता है। यह चार फीट से अधिक लंबा शायद ही कभी होता हो। दूसरी जाति, राज सांप (बन्गेरस फेजियेटस) बंगाल और दक्षिणी भारत में अधिकतर मिलता है और इसकी लंबाई पांच फीट तक होती है। इसके अतिरिक्त इसके शरीर पर पीली तथा काली गड़ारियां पड़ी होती हैं। करैत मनुष्य से दूर भागता है और इसलिए इसका पकड़ा जाना बहुत कठिन होता है। फिर भी यह हमारे देश का सब से खतरनाक सांप है।

मरे हुए करैत की पहिचान आसान है। इसके पीठ पर, बीच में बराबर बड़े, छःपहले सेहलों की एक कतार होती है। किन्तु इस लक्षण की सहायता से जीवित सर्पों को पहचानने की कभी चेष्टा न करनी चाहिए।

वाइपर वर्ग सर्पों का एक बड़ा वर्ग है। संसार में इस वर्ग की लगभग ११० जातियां है जिनमें से १६ जातियां भारतवर्ष में पाई जाती हैं। वैसे इस वर्ग को दो समूहों में बाँटा जा सकता है—एक वर्ग के सर्पों आँख और नाक के बीच एक गड्ढा होता है और दूसरे के नहीं। भारत में गड्ढेदार वाइपर नहीं पाए जाते। बिना गड्ढे वाले समूह की दो जातियां यहां होती हैं—फूरसा (एकिस कैरिनेटा) तथा दबोइया (वाइपेरा रसेलाई)। दोनों जातियां राजपूताने, पंजाब और सिंध के मरुस्थली प्रदेशों में मिलती हैं।

विषैले सर्पों में फूरसा

यह लगभग सब से छोटा होता है। इसकी लंबाई एक फुट से अधिक शायद ही होती हो। इसका रंग इसके वातावरण के ऊपर निर्भर होता है। मरुस्थलों में इसका रंग अधिकतर हल्का भूरा, बालू जैसा होता है। हरियाली में, इसके विपरीत यह कुछ पीला पोता।

फूरसा बहुत विषैला नहीं होता और जानकारों के अनुसार इसके काटे हुए मनुष्यों के लगभग एक चौथाई की ही मृत्यु होती है। फिर भी देश के जिन भागों में यह अधिक पाया जाता है, वहां इसके काटने से बहुत से व्यक्ति मरते हैं।

दबोइया सर्प प्रायः खेतों, घास के मैदानों, रास्तों या घरों के आस-पास सभी जगहों पर देखा जा सकता है। लंबाई में यह लगभग दो गज तक पहुँचता है। इसका रंग कुछ भूरा होता है और इसके ऊपर काले रंग के अँडाकार धब्बे होते हैं जो जंजीर के समान तीन कतारों में होते हैं।

यह बहुधा धूप में चुपचाप पड़ा रहता है और आस-पास में आने वाले व्यक्तियों की भी इसकी चिन्ता नहीं रहती। यह स्वयं छेड़खानी बिरले ही करता है किन्तु जब यह किसी पर आक्रमण करता है तो भरपूर। जब यह काटता है तो शिकार को देर तक पकड़े रहता है। इसका विष काफी तेज होता है और उससे पीड़ा भी बहुत होती है। कांटने पर घाव से एक लाल तरल धीरे धीरे निलकता है। इस सर्प के विषय में एक और भी बात उल्लेखनीय है। अधिकांश सर्प अँडे देते हैं किन्तु दबोइया के अँडे माता के पेट में ही फूटते है जिससे माता अँडे देने के बजाय बच्चे उत्पन्न करती है—और बच्चे भी एक साथ कई दर्जन।

सांपों के विष और उनके उपचार के विषय में भी

[शेष पृ० ६६ पर]

राष्ट्र-निर्माण में तथ्यपूर्ण आँकड़ों का महत्व

ले०—राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद

नई दिल्ली में ५ दिसम्बर १९५१ को अन्तर्राष्ट्रीय अंकविषयक संस्था के २७ वें अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने निम्न भाषण दिया था :—

भारत में आपका हार्दिक स्वागत करते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि अन्तर्राष्ट्रीय अंक-विषयक संस्था के वर्तमान सम्मेलन ने आप में से बहुतों को भारत में प्रथम बार आने का अवसर प्रदान किया है। मुझे आशा है कि यह यात्रा आपको हमारे देश और हमारे लोगों से परिचित करा सकेगी और आप अपने साथ यहाँ की अमिट स्मृति ले जाँयगे जो हमारे देशों के बीच पहले से अधिक सद्भावना उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होगी।

भारत सदा से ही संसार में शान्ति, मित्रता, और सहयोग का समर्थक रहा है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इसने सक्रिय कार्य भी किया है। इसलिए, समस्त संसार के उन प्रसिद्ध अंक-विशेषज्ञ तथा अर्थशास्त्र वेत्ताओं का यहाँ स्वागत करते हुए मुझे विशेष प्रसन्नता है, जिन्होंने गत ६० वर्षों में अपने संयुक्त प्रयत्न द्वारा एक रचनात्मक क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अपने प्रकाशित ग्रंथों तथा वैज्ञानिक और प्रोद्योगिक पत्रिकाओं की सहायता से, वैज्ञानिक साधारणतः एक दूसरे के विचार और दृष्टिकोण से परिचित होते हैं। किन्तु इस प्रकार के सम्मेलनों के समय जो वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित होते हैं वे आपके कार्य में और भी अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वैज्ञानिकों के सम्मिलन से नये विचारों के विकास को सदा ही प्रोत्साहन मिलता है और मुझे आशा है कि इस सम्मेलन के प्रयत्नों से भी अंक-विषपक क्षेत्र में नये विचारों के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा, जो शान्तिपूर्ण और समृद्ध संसार के निर्माण के लिए दृढ़ अर्थिक नीति निर्धारित करने में महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

अंक-विषयक, पद्धतियों के विकास में भारत सरकार की बहुत रुचि है और हाल के वर्षों में सुसज्जित अंक संगठनों की स्थापना को इसने प्रोत्साहन दिया है। यह सरकार इस बात से अवगत है कि वर्तमान आर्थिक और सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं तथा व्यापक कार्य-कलाप के कारण, सरकार के लिए अब अंक-विषयक पूर्ण जानकारी के बिना अपनी नीति निर्धारित करना संभव नहीं है। भारत अपने इतिहास में पहली ही बार एक संयुक्त राज्य हुआ है। इस देश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल १२.२ लाख वर्ग मील या ७८०० लाख एकड़ है और पिछलो जनगणना के अनुसार, जनसंख्या ३६ करोड़ से कुछ अधिक है। इस प्रकार यहाँ प्रति व्यक्ति पीछे भूमि का अनुपात लगभग २.१६ एकड़ है जब कि चीन में यह ६ एकड़, अमरीका में १३

एकड़, और रूस में २८ एकड़ है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार कुल कृषि योग्य भूमि २६०० लाख एकड़ है जो प्रतिव्यक्ति तीन-चौथाई एकड़ से भी कम बैठती है। हमारे यहाँ के अधिकांश प्राकृतिक साधनों की अभी तक पूरी तरह जांच पड़ताल नहीं हुई है और उनका विकास तो बहुत ही कम हुआ है। बहुत देशों की तुलना में इस देश के लोगों की रहन-सहन का स्तर नीचा है। इस प्रकार हमारे सामने कितनी ही समस्याएं हैं। पंचवर्षीय योजनामें निर्धारित आर्थिक और सामाजिक विकास के कार्यक्रम को हमारी सरकार हाथ में ले रही है। इस योजना को अधिक यथार्थ बनाने के लिए हमारे पास अपने राष्ट्रीय जीवन के सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानकारी होनी चाहिए जिससे कि हम अपनी आवश्यकताओं तथा साधनों का ठीक अनुमान लगा सकें। सरकार को वास्तविक तथ्य मालूम होने चाहिएं और उसके पास ऐसी सामग्री होनी चाहिए जिससे वह वर्तमान और अतीत की तुलना कर सके और साथ ही वह भविष्य का अनुमान लगा सके। तथ्यपूर्ण जानकारी के बिना, कोई भी सरकार उन्नति के लिए सफलता से योजना नहीं बना सकती।

यद्यपि वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप संसार के दूरवर्ती स्थान आज एक दूसरे के निकट आ गये हैं, किन्तु फिर भी, तथ्यों की दृष्टि से बहुत से क्षेत्र अभी अज्ञातावस्था में ही पड़े हैं। बहुतेरे ऐसे देश हैं, जिसके सम्बन्ध में तथ्यात्मक जानकारी उपलब्ध नहीं, जिनके कारण अंतर्राष्ट्रीय मेल-मिलाप में बाधा पड़ती है। यदि हमें विश्व पर्यन्त एक विज्ञ जन-समुदाय का निर्माण करना है, जो समस्त मानवता के कल्याण के लिए समान रूप से यत्नशील होकर एक दूसरे की समस्याओं को समझने और उनका आदर करने का प्रयास करें, तो निश्चय ही इसके लिए हमें तथ्यों के वास्तविक ज्ञान और स्वतन्त्र एवं पूर्ण रूप से उसके तथा उससे सम्बन्धित विचारों के आदान-प्रदान की परम आवश्यकता है।

यह बात विशेष महत्त्व की है कि 'इंटर्नेशनल स्टेटिस्टकल इंस्टिट्यूट' का यह अधिवेशन एक एशियायी देश में किया जा रहा है। आप सभी जानते हैं, कि अंक विषयक संघटनों के विकास और नीतियों के निर्धारण में अंकों के प्रयोग का कार्य, एशिया में उतना नहीं हुआ जितना कि संसार के अन्य भागों में। फिर भी; सभी एशियायी देशों की आर्थिक उन्नति सम्बन्धी हाल की नीतियों के प्रसंग में, सही आंकड़ों के संकलन का कार्य अब महत्वपूर्ण बन गया है। मुझे आशा है कि इस सम्मेलन के एक एशियायी देश में किये जाने के फलस्वरूप, अंक विज्ञान सम्बन्धी सुसंघटित प्रणालियों की ऐसी व्यवस्था सम्भव हो पायेगी, जो एशिया तथा विश्व के राष्ट्रों की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए एक ठोस आधार निर्मित करने में काफी महत्त्वपूर्ण एवं सहायक सिद्ध हो सकेगी।

भारत सरकार द्वारा इस सम्मेलन के लिए निमंत्रण भेजते समय, हमारे प्रधान मंत्री ने कहा था—"आंकड़ों के और भी अध्ययन में उन्नति करने तथा शासन व्यवस्था व उद्योग के मामलों में अंक विज्ञान के तरीके अपनाने में हमारी बहुत दिलचस्पी है। 'इंटर्नेशनल स्टेटिस्टिकल इंस्टिट्यूट' का अधिवेशन करने से इस अध्ययन कार्य को प्रोत्साहन प्राप्त होगा, और बहुत से देशों के अनेक प्रतिष्ठित अंक-विशारदों की उपस्थिति से हमें प्रसन्नता तो होगी ही, साथ ही हमारा बड़ा लाभ भी होगा।" इस प्रकार हम आशा कर रहे हैं कि आप लोगों के विचार विमर्श और आप के साथ हमारे आंकिकों तथा अंक-विशेषज्ञों के सम्पर्क के फलस्वरूप, विश्व के कल्याण के लिये अंक विज्ञान सम्बन्धी कार्य में तो प्रगति होगी ही, साथ ही हमें भी स्वयं अपनी कठिनाइयां हल करने में सहायता मिलेगी।

एक बार फिर मैं आप लोगों का हृदय से स्वागत करता हूँ, और आप लोगों के श्रम के पूर्णतः सफल होने की कामना करता हूँ।

पोर्स्लीन-उद्योग

[ले० श्री० एच० एन० बोस]

पोर्स्लीन या चीनी मिट्टी के उद्योग के संबंध में इस विषय के अनुभवी विद्वान की उपादेय लेखमाला पिछले अंक से प्रकाशित की जा रही है। आशा है लेख माला पाठकों को रुचिकर ज्ञात होगी।

वाह्य दृष्टि से यह विशुद्धिकरण-विधि बहुत सरल प्रतीत होती है, लेकिन इसके परिचालन के लिए विशेष अनुभव की आवश्यकता होती हैं। मिट्टी में जो विजातीय द्रव्य मिले रहते हैं उनके कण एक बराबर नहीं होते और न उनका गुरुत्व ही एक होता है। इसीलिए विभिन्न गुणधारी विजातीय द्रव्यों को दूर करने के लिए जल-प्रवाह के वेग का बड़ा महत्व है। साधारणतया जल-प्रवाह हर समय एक ही नहीं रखा जाता। विभिन्न द्रव्यों की विभिन्न तहें बनाई जाती हैं। विभिन्न तहों के लिए पानी के प्रवाह की गति भी भिन्न होती है। उदाहरणतः पानी मिट्टी मिला जल बड़े टैंक में डाला जाता है तो उसके प्रवाह की गति २ फुट प्रति मिनट होनी चाहिए, लेकिन इससे पहिले की गति ५ से १० फुट तक होनी चाहिए। इसके सिवाय मिट्टी का रंग बिल्कुल श्वेत करने के लिए थोड़ा सा नीला रंग (जैसा धोबी कपड़ों में लगाते हैं) भी मिलाया जाता है।

आजकल कितने ही देशों में मिट्टी का विशुद्धि विद्युत द्वारा की जाती है। इस रीति को इलैक्ट्रो-आस्मौस (Electro-osmos) कहते हैं। इस रीति से विजातीय द्रव्यों के छोटे-छोटे कण भी जो कि साधारण पानी वाली रीति से दूर नहीं हो सकते, दूर किये जा सकते हैं। इस रीति का विशेष विवरण लेखक की मॉर्डन पॉट्री मैनुफैक्चर (Modern Pottery Manufacture) नामक अंग्रेजी पुस्तक में दिया हुआ है।

क्वार्ट्ज—यह एक शुद्ध खनिज है जिसका मुख्य अवयव सिलिका (Silica) या सिलिकन-डाई ऑक्साइड (Silicon-di-oxide) है। पृथ्वी से निकले सभी खनिजों में लगभग ६०% सिलिका रहता है। यह सिलिका विभिन्न रूपों में होता है, अर्थात् इसके रवे बहुत स्पष्ट होते हैं। अगेट और लन्ट प्रच्छन्न रवेदार (Crypto Crystalline) होते हैं अर्थात इसके रवे इतने छोटे होते हैं कि केवल शक्तिशाली अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखे जा सकते हैं। ओपल रवाहीन (Amorphus) सिलिका होता है।

शुद्ध क्वार्ट्ज रंगविहीन कांच के समान होता है। इसे स्फटिक कहते हैं। इसे बिल्लौर भी कहा जाता है। पूर्व समय में यह चश्मे बनाने के काम में लाया जाता था और 'ब्राजिल का पत्थर' Brazillian Pebble, कहलाता था। कुछ अशुद्ध क्वार्ट्ज का रंग सफेद या गुलाबी होता है और रूप अपारदर्शक होता है। इस प्रकार का क्वार्ट्ज हमारे देश में बहुतायत से मिलता है। इसी प्रकार का क्वार्ट्ज

जिसमें ९८ प्रतिशत सिलिका रहता है, पोर्सलीन बनाने के काम में लाया जाता है।

क्वार्ट्ज पत्थर नदी और वर्षा के जल से चूर्ण होकर बालू या रेत बन जाता है। यदि यह बालु शुद्ध हो अर्थात विजातीय द्रव्यों से न मिला हो, तो पोर्सलीन बनाने के काम आ सकता है। फ्लिन्ट या चकमक पत्थर गोल बटियों के रूप में मिलता है। इन बटियों (Pebbles) की उत्पत्ति समुद्र में होती है। समुद्र के जल में घुले हुए सिलिका या सिलिसिक ऐसिड के कण जलीय जानवरों पर अवलम्ब पाकर उसी प्रकार बढ़ने लगते हैं जिस प्रकार कि धागे को छूकर मिश्री के रवे बढ़ने लगते हैं। यद्यपि फ्लिन्ट पूर्ण रूप से रवेदार नहीं होता फिर भी इसमें सूक्ष्म दाने होते हैं। यह पत्थर हमारे देश में अधिक नहीं पाया जाता। फ्रांस देश के डियेप नामक स्थान पर समुद्रतट पर यह बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। यहीं से यह कितने ही देशों को भेजा जाता है। क्वार्ट्ज की भांति फ्लिन्ट भी पोर्सलीन बनाने के काम में लाया जाता है।

क्वार्ट्ज और फ्लिन्ट गर्म करने पर धीरे धीरे बढ़ते हैं और १७०० तापक्रम (centigrade) पर जलकर काँच की भाँति पारदर्शक तरल पदार्थ में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी द्रव सिलिका से बने उच्च ताप सहन कर सकने वाले द्रव्यों से आजकल रासायनिक परीक्षागार एवं कारखानों में बहुत सुविधा दी गई है। बिहार प्रदेश में गया, मिहीजाम, म्बुना तथा अजमेर, जबलपुर, मैसूर, त्रिवङ्कोर, ग्वालियर आदि भारत के विभिन्न स्थानों में शुद्ध सिलिका मिलता है। यह उत्तम पोर्सलीन बनाने के काम में लाया जाता है।

फैल्स्पार—यह एक बहुपदार्थ-मिश्रित खनिज है। रसायनिक अवयवों पर आधारित इसके कई नाम हैं यथा आर्थोक्लेज, ऐल्बाइट तथा ऐनौर्थाइट्। इन सब प्रकारों का मूल अवयव अलूमिनियम सिलिकेट् है लेकिन पोटाशियम्, सोडियम् और कैल्शियम् के संयोग वश विभिन्न प्रकार के फैल्स्पार बनते हैं और उनके रूप और गुण भिन्न हो जाते हैं। पोर्सलीन के निर्माण के लिये पोटाशियम फैल्स्पार ही प्रसिद्ध है।

फैल्स्पार एक रवेदार खनिज है। यह पारदर्शक, अपारदर्शक एवं हल्के रङ्गीन रूप में पाया जाता है। मूल्यवान चन्द्रकांत मणि एक प्रकार का पारदर्शक किञ्चित नीलवर्ण का फैल्स्पार है। यह लङ्का में मिलती है। इसे कितने ही रूपों में काटकर अलङ्कार बनाने के काम में लाया जाता है।

आर्थोक्लेज महीन पीस कर १२००° तापक्रम पर गर्म करने से द्रव रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए केवलिन और क्वार्ट्ज मिला कर गर्म करने पर फैल्स्पार पिघल कर उसी प्रकार सारे पदार्थों को बाँध लेता है जिस प्रकार सिमेंट और रेत पानी के साथ मिलने पर कठिन हो जाते हैं। केवलिन के प्रयोग का उद्देश्य नमनीय बनाना होता है जिससे इच्छित रूप दिया जा सकता है परन्तु केवलिन गर्म होने पर श्वेत पत्थर की भांति कठिन हो जाती है। अन्य साधारण मिट्टियाँ भी गर्म होने पर कठिन हो जाती हैं। लेकिन केवलिन की भाँति श्वेत नहीं होतीं तथा केवलिन के समान उच्च ताप भी नहीं सह सकतीं। क्वार्ट्ज के व्यवहार से पोर्सलीन श्वेत, दृढ़ तथा कर्ण-प्रिय शब्द-कारी हो जाती है।

केवलिन, क्वार्ट्ज तथा फैल्स्पार के संयोग से जो मिश्रण बनता है उसे अंग्रेजी में बॉडी (Body) कहते हैं। इस शब्द का अर्थ शरीर होता है, बॉडी शब्द के प्रयोग का कारण यह है कि प्राणियों के शरीर के तीन प्रमुख अवयव पोर्सलीन के अवयवों से भली भाँति समानता रखते हैं। केवलिन रूप बनाने वाले मांस की तरह है, क्वार्ट्ज शरीर को दृढ़ करने वाली

अस्थियों की तरह तथा फैल्स्पार शरीर में बहने वाले रुधिर के समान होते हैं।

क्वार्ट्ज की भाँति फैल्स्पार भी हमारे देश में कितने ही स्थानों पर बहुतायत से पाया जाता है बङ्गाल में आसनसोल व रानीगञ्ज, बिहार में गिरीडी, कोडर्मा, मिहीजाम, गुर्पा, हजारीबाग, सिमूलतला और भाभा नामक स्थानों में बहुत फैल्स्पार मिलता है। इसके सिवाय बीकानेर, अजमेर, बंगलौर व कटनी नामक स्थानों में भी फैल्स्पार मिलता है।

अस्थिभस्म— इसकी आवश्यकता केवल अस्थि पोर्स्लीन निर्माण में होती है। अन्य प्रकार की पोर्स्लीन में यह काम में नहीं आती। केवल गो-अस्थि ही इस काम में लाई जाती है क्योंकि शूकर या घोड़े की हड्डी से बनी पोर्स्लीन का रंग उतना उज्ज्वल नहीं होता। इसका कारण है कि इनमें लोहे का अंश अधिक होता है। जीवधारियों की अस्थि का विशेष अवयव कैल्शियम फॉस्फेट् है लेकिन कुछ कैल्शियम कार्बोनेट भी मौजूद रहता है। लोहे का अंश साधारणतया कम रहता है। ये सब अवयव जिलैटीन (Gelatin) नामक एक जैव पदार्थ (Organic matter) से बंधे रहते हैं। इसीलिए अस्थि इतनी कड़ी होती है लेकिन जलाने पर अस्थि कोमल हो जाती है यहाँ तक कि इसका चूर्ण बहुत आसानी से बनाया जा सकता है। यह अस्थि भस्म का चूर्ण ही अस्थिपोर्स्लीन बनाने में काम आता है।

मरमर पत्थर—(Marble) इस पत्थर की उत्पत्ति चूने के पत्थर से उच्च ताप तथा दबाव के प्रभाव से होती है। इसका प्रधान अवयव कैल्शियम कार्बोनेट है। विशुद्ध मरमर का रंग श्वेत होता है लेकिन अन्य पदार्थों के मिल जाने पर यह काला या रंगीन हो जाता है। रङ्गों के अनुसार ही मरमर का मूल्य रहता है।

पोर्स्लीन बनाने के लिए श्वेत मरमर का प्रयोग होता है। इसका कारण यह है कि श्वेत मरमर में लोहे का अंश बहुत कम रहता है। मरमर का अभाव होने पर चूने का पत्थर तथा चाक (Chalk) काम में लाया जाता है। मरमर ६०० तापक्रम पर साधारण चूने में परिवर्तित हो जाता है। यह चूना बहुत तापसह्य होता है लेकिन थोड़ी सी मात्रा में सोडा व रेत मिलाने पर शीघ्र ही पिघल जाता है। इसी द्रव पदार्थ से काँच बनाया जाता है। पोर्स्लीन बनाने के समय भी चूना, बालु, सोडा व पोटाश के मिश्रण से एक तरल पदार्थ की उत्पत्ति होती है। यही द्रव्य अन्य अवयवों को बांधकर पोर्स्लीन बनाता है।

भारतवर्ष के बहुत से स्थानों में कई प्रकार का मरमर मिलता है। मध्यप्रदेश में जबलपुर, सियूनी राजपूताने में अजमेर, जोधपुर, किशनगढ़, जयपुर, अलवर आदि स्थानों में बहुत मरमर मिलता है। मूर्ति बनाने के लिए छोटे रवेवाला मरमर अच्छा रहता है।

जिप्सम—इस खनिज का मुख्य अवयव कैल्शियम सल्फेट तथा कुछ रवे का पानी है। यह पत्थर विशेष तापक्रम पर जल छोड़ देता है और स्वयं बहुत कोमल हो जाता है। उस समय चूर्ण करने पर जो वस्तु मिलती है उसे प्लास्टर्-ऑफ पैरिस कहते हैं। इस प्लास्टर् से सांचे बनाये जाते हैं, पोर्स्लीन शिल्प में प्लास्टर् के सांचे बहुत काम में आते हैं। जिप्सम स्वयं पोर्स्लीन का अवयव नहीं होता है।

विशुद्ध जिप्सम का रंग श्वेत किन्तु साधारणतया भूरा होता है। यह बहुत कड़ा नहीं होता तथा चाकू से आसानी से खुर्चा जा सकता है। एक प्रकार का पारदर्शक जिप्सम अलाबास्टर् कहलाता है जिसे हिन्दी में रूखम कहते हैं। इस पदार्थ से मनोरंजक द्रव्य बनाये जाते हैं। आगरे में इससे ताजमहल की

छोटी छोटी आकृतियाँ, धूपदानी, डिबिंए आदि बहुत बनाई जाती हैं।

जिप्सम भारत के अनेक स्थानों में मिलता है जैसे—पंजाब में कांगड़ा काश्मीर में जम्मू, उत्तर प्रदेश में हरिद्वार, राजपूताने में जोधपुर व बीकानेर, सिन्ध, काठियावाड़, मध्य प्रदेश तथा विहार आदि। पाकिस्तान में झेलम और कोहाट आदि में मिलता है।

जिप्सम से प्लास्टर् बनाने के लिए इसे पानी में धोकर, धूप में सुखाकर बारीक पीस यि जाता है ताकि यह १०० नं० की छलनी (100 mesh seive) में छन सके। इस चूर्ण को फिर एक लोहे के वर्तन में धीरे धीरे गर्म किया जाता है। गर्म करने पर पानी वाष्प रूप में बुदबुदे बनाकर खौलने लगता है। उवाल कम होता देखकर ही अनुभवी लोग गर्म करना बन्द कर देते हैं। लेकिन यह वैज्ञानिक रीति से करना चाहिए ताकि समान गुण वाला प्लास्टर बने। साधारणतया जिप्सम में २०% जल रहता है। प्लास्टर बनाने में तीन चौथाई पानी उड़ जाता है। केवल ६ प्रतिशत शेष रह जाता है इसलिए गर्म करने के लिए परिमित तापक्रम की व्यवस्था होनी चाहिए। साधारणतया १२०° से १४०° तापक्रम (सेन्टीग्रेड) पर प्लास्टर बनाया जाता है। जब जल का परिमाण ६ प्रतिशत रह जाता है तभी गर्म करना रोक दिया जाता है। इस प्रकार से बने प्लास्टर् को सुचारु रूप से ढके बर्तन में रखा जाता है। इसका कारण यह है कि वायु में स्थित जल के संयोग से प्लास्टर् धीरे२ कठिन होने लगता है और किसी काम का नहीं रहता।

पोर्स्लीन को रूप देने के लिए प्लास्टर् के सांचों की बड़ी आवश्यकता होती है। सांचे बनाने के लिए प्लास्टर् उपयुक्त परिणाम में पानी के साथ भली भांति मिलाया लाता है। जब यह मिश्रण खीर के समान गाढ़ा हो जाता है तभी इससे इच्छानुकूल सांचे बना लिये जाते हैं। जो पाठक विशेष विवरण जानना चाहते हैं उन्हें लेखक की ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सिलिकेट इन्डस्ट्री (An Introduction to Silicate Industry) नामक अंग्रेजी पुस्तक लाभदायक होगी।

गठन-प्रणाली

प्रायः तीन पदार्थ पोर्स्लीन के गठन में प्रयोग होते हैं। इनका विवरण पहिले ही दिया जा चुका है। इनमें से चीनी मिट्टी को छोड़कर शेष अत्यन्त पाषाण सदृश्य कठोर होते हैं। इस कारण जब तक यह दोनों भली भाँति चूर्ण नहीं कर लिए जाते चीनी मिट्टी से इनका समान मिश्रण नहीं हो सकता। समान मिश्रण होने पर ही पोर्स्लीन के अच्छे पात्रों का निर्माण होता है। अतएव दोनों कठोर पदार्थों (स्फटिक व फैल्सपार) को केवलिन या चीनी मिट्टी के साथ मिलाने के पूर्व अति सूक्ष्म चूर्ण कर लिया जाता है। कच्चा स्फटिक अत्यन्त कठोर होता है और इसका कच्ची अवस्था में चूर्ण करना अत्यन्त कठिन होता है। तदापि यदि स्फटिक को जला दिया जावे तो वह आयतन में बढ़ जाता है और कुछ नरम हो जाता है। अतएव स्फटिक को चूर्ण करने के पूर्व साधारण चूने की चुल्ली में ८००°–९००°C पर जला दिया जाता है परन्तु फैल्सपार पर जलाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव उसे नहीं जलाया जाता है।

इन कठोर पदार्थों को चूर्ण करने के हेतु नाना प्रकार की कलें प्रयोग में आती हैं। प्रायः जो कलें पोर्स्लीन उद्योग के चूर्ण करने के लिए प्रयुक्त होती हैं उनको तीन श्रेणी में विभाजित किया जाता है।

(१) पहली श्रेणी में वे कलें हैं जिनसे कि बड़े पत्थर छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़े जाते हैं। उस कार्य

के लिए दो कलें प्रयुक्त होती हैं जिनको जो क्रशर एवं रौलर मिल कहते हैं। इन मिलों में पत्थर के टुकड़े प्रायः ½ इंच के हो जाते हैं।

(२) दूसरी श्रेणी की कलों को पैन मिल कहते हैं। इस मिल में चूर्ण करने के उपरान्त पदार्थ मोटे बालू कण के समान हो जाते हैं। इस मिल में प्रायः ईंटों को चूर्ण करके मकान के लिए सुरखी तैयार की जाती है।

(३) तीसरी श्रेणी की कलों को बॉल मिल या ट्यूब मिल कहते हैं जिनमें पदार्थ अत्यधिक सूक्ष्म कर लिया जाता है। पोर्सलीन के निर्माण के लिए चूर्ण इतना सूक्ष्म होना चाहिए कि १४० नं० की छलनी में से छाना जा सके। यह चूर्ण मैदे के समान सूक्ष्म होता है।

बॉल मिल :—बाल मिल एक साधारण सा यन्त्र है लेकिन इसकी कार्य शक्ति असाधारण होती है। इस मिल में एक बंद लोहे का ढोल होता है जो कि एक समतल कील पर धीरे-धीरे मशीनों द्वारा घुमाया जाता है। जो पदार्थ चूर्ण करने होते हैं उनको भिन्न-भिन्न आकार के गोल चकमक पत्थरों के साथ ढोल में रख दिया जाता है। जब ढोल धीरे-धीरे घुमाया जाता है तो यह चकमक पत्थर ऊपर से नीचे गिरते हैं और पदार्थों को अपने भार से चूर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार कि हम ढेंकी को प्रयोग करते हैं। छोटे चकमक पत्थर उलट पुलट कर एक दूसरे से रगड़ खाते हैं और पदार्थों को अपने घर्षण से चूर-चूर कर देते हैं जैसे कि सिल और लोढ़ी के बीच में मसाला चूर्ण हो जाता है। इस प्रकार के पतन एवं घर्षण से ढोल के अंदर का पदार्थ धीरे धीरे अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण में परिवर्तित हो जाता है। चकमक केवल ढोल के अंदर के पदार्थ को ही नहीं वरन् ढोल के भीतरी भाग को भी चूर्ण कर सकते हैं। इस कारण चकमक पत्थरों की रगड़ से बचाने के लिए ईंटों का स्तर ढोल के अंदर लगा दिया जाता है। यह ईंटें साधारण ईंट नहीं होतीं वरन् साईनेक्स और चार्ट नामक अति कठोर खनिज प्रस्तरों से बनाई जाती हैं। जहां पर उपयुक्त प्रस्तर प्राप्त नहीं होते वहां पर पोर्सलीन निर्मित विशेष ईंटों का प्रस्तर प्रयुक्त किया जाता है। आजकल कतिपय देशों में रबर का प्रस्तर भी प्रयुक्त किया जाता है।

लौह-कण पोर्सलीन के प्रधान शत्रु हैं। यदि किसी प्रकार ढोल के अंदर लौहकण पदार्थ में मिल जावें तो पोर्सलीन पात्रों में विशेष हानि पैदा करते हैं। अतएव पोर्सलीन-निर्माण के लिए प्रस्तुत किए गए पदार्थों को लौह कण से सर्वप्रकार सुरक्षित रखना चाहिए। अति अल्प मात्रा में होने पर भी लौह कण अति हानिकारक हैं।

ट्यूब मिल (Tube mill): यह मिल एक लम्बी लोह नालिका है जिसके दोनों सिरे खुले रहते हैं। यह समतल रहती है और धीरे-धीरे मशीनों द्वारा घुमाई जाती है। इस मिल में भी बाल मिल की तरह चकमक पत्थर होते हैं। जो पदार्थ चूर्ण करना होता है वह एक सिरे से भरा जाता है और अति सूक्ष्म चूर्ण होकर दूसरे सिरे से निकल जाता है अतएव यह मिल अविराम गति से कार्य करती है। बॉल मिल अविराम गति से नहीं चलती। जितना सूक्ष्म चूर्ण प्रस्तुत करना होता है उसी के अनुसार इस मिल की लम्बाई भी बढ़ाई जाती है। इस मिल में भी बॉल मिल की तरह विशेष ईंटों का प्रस्तर बैठा दिया जाता है जिनका विवरण बॉल मिल में किया जा चुका है। आजकल बड़े बड़े कारखानों में बॉल मिल के स्थान पर ट्यूब मिल प्रयोग करते हैं क्योंकि इसकी कार्य-शक्ति बॉल मिल से अधिक एवं अविराम होती है।

ब्लंजर या मिश्रण-यन्त्र :—अति सूक्ष्म स्फटिक और फैल्सपार चूर्ण के ठीक अनुपात में

चीनी मिट्टी और जल से मिश्रण किया जाता है। इस मिश्रण के लिए एक दूसरे प्रकार का यन्त्र प्रयोग में लाया जाता है जिसको कि अंग्रेजी में ब्लंजर कहते हैं हम इसको "मिश्रण यन्त्र" कहेंगे। इसमें एक बड़ा काठ का हौज होता है जिसके केन्द्र में एक लौह दण्ड खड़ा रहता है इसमें बिजली के पंखे की तरह पंख लगे रहते हैं अतएव जब-लौह दण्ड घूमता है पंख भी घूमने लगते हैं और हौज में रखे हुए तरल और ठोस पदार्थों में डोलन पैदा करते हैं। इस डोलन से भिन्न-भिन्न प्रकार के चूर्ण मिट्टी और पानी का एक समान मिश्रण तैयार हो जाता है।

मिट्टी तथा चूर्ण पदार्थ के समान मिश्रण के लिए जल की अत्यन्त आवश्यकता होती है और यह एक तरल मिश्रण बन जाता है जिसको कि अंग्रेजी में स्लिप कहते हैं। हम इसको तरल पिंड कहेंगे। इस मिट्टी के पिंड को जो कि नमनीय होता है हम नमनीय पिंड कहेंगे।

हमने पहले ही वर्णन कर दिया है कि लौह या किसी भी प्रकार का लौह-यौगिक पदार्थ पोर्स्लीन के लिए अति अनिष्टकारी होता है अर्थात पोर्स्लीन पिण्ड के साथ में यह पदार्थ अति अल्प परिमाण में होने पर भी पोर्स्लीन की दुग्ध-शुभ्रता को नष्ट कर देता है अथवा गठित द्रव्य के स्थान-स्थान पर काले या बादामी धब्बे आजाते हैं। अतएव पोर्स्लीन पिंड से किसी भी प्रकार का लौह या लौह यौगिक कण हटा लेना चाहिए। इस लौह या लौह यौगिक कणों को हटाने का उपाय तड़ित-चुम्बक है।

पोर्स्लीन उद्योग के लिए यह तड़ित-चुम्बक यन्त्र नाना प्रकार के होते हैं। तरल पिंड को धीरे-धीरे तड़ित-चुम्बक यन्त्र के ऊपर प्रवाहित किया जाता है। इस प्रकार तरल पिण्ड में स्थित मोटे लौह-यौगिक कण इस तड़ित-चुम्बक द्वारा आकर्षित होकर अपसारित हो जाते हैं। इस प्रकार चुम्बक यन्त्र शोधित पोर्स्लीन पिंड से दुग्ध-शुभ्र पात्रों का निर्माण किया जा सकता है।

पोर्स्लीन पात्रों के गठन के लिए जो विशेष प्रणाली व्यवहार में लाई जाती है उसे तीन श्रेणी में विभाजित किया जाता है :—(१) नमनीय पिंड प्रणाली २) तरल पिंड प्रणाली या ढलाई ३) शुष्क चाप प्रणाली। इन तीनों प्रकार की प्रणालियों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

नमनीय पिंड प्रणाली :—पहिले कहा जा चुका है कि मिट्टी और प्रस्तर-चूर्ण के लिए काफी मात्रा में जल की आवश्यकता रहती है। इसमें से जल भाग को घटाकर नमनीय मण्डल प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार फटे दूध से दबाव देकर जल घटाया जाता है उसी प्रकार तरल पिंड से जल घटाकर नमनीय पिंड तैयार किया जाता है लेकिन अधिक परिमाण में होने पर यन्त्रों का प्रयोग होता है। इस पानी निकालने की कल को जल-निष्काषण-यन्त्र (फिल्टर प्रेस) कहते हैं। अधुनिक जल-निष्काषण यन्त्र प्रायः तीस या चालीस लोहे की थालियों का स्मृष्टि विशेष है। थालियों के बीच में एक छिद्र रहता है। थालियों को दो लोहे के चौखटों के बीच झुला देते हैं और हर दो थालियों से बीच में एक मोटे कपड़े की थैली डाल दी जाती है। थालियाँ दबाव से परस्पर एक साथ इकट्ठी की जाती हैं और बाहर से थालियों के भीतर तरल पिंड पम्प द्वारा भर दिया जाता है। इन थालियों पर पम्प का दबाव जितना ही बढ़ाया जाता है, तरल पिंड से उतना ही जल धीरे-धीरे कपड़ों के छिद्रों में से छनता जाता है, जब जल निकलना बन्द हो जाता है तब पम्प को बन्द कर दिया जाता है और थालियों को दूर हटाकर कपड़े की थैली में से मिट्टी के पिंड को बाहर कर लिया जाता है।

जल-निष्कासण-यन्त्र से जो मिट्टी का पिंड बाहर निकालते हैं उसमें २४-२६ प्रतिशत जल रहता है। अब इस मिट्टी के पिंड का अति उत्तम रूप से दलन कर लिया जाता है। इस दलन के पश्चात् मिट्टी का पिंड अति सुकोमल व नम्यनीय हो जाता है, और इस पिंड से किसी भी प्रकार का रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। जिस यन्त्र से मिट्टी के पिंड का दलन किया जाता है उसको दलन यन्त्र (पग मिल) कहते हैं। दलन यन्त्र से निकले हुए मिट्टी के पिंड में २२-२४% पानी रहता है। इस नम्यनीय मण्डल का तीन प्रकार से गठन किया जाता है (१) चाक प्रणाली (२) जौली प्रणाली (३) चाप प्रणाली।

चाक प्रणाली :—इस प्रथा के अनुसार मिट्टी के पिंड को चाक के ऊपर रखकर कारीगर उसको दोनों हाथों से निपुणता पूर्वक घुमाता है और नाना प्रकार के पात्र तैयार कर लेता है। गठित वस्तु का
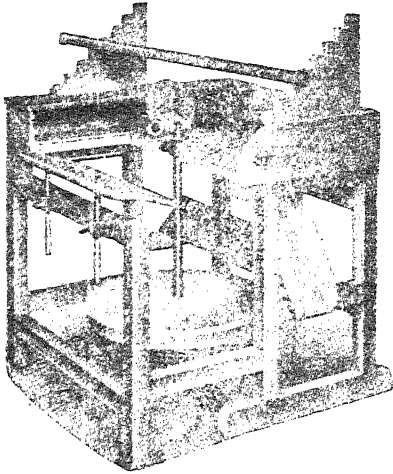
चित्र २—कुम्हार का उन्नत चाक

सौन्दर्य कुम्हार की निपुणता पर निर्भर रहता है। इस चाक प्रथा से केवल गोलाकृति पदार्थ तैयार किए जाते हैं जैसे कि कटोरा, हंडिया, फूलदानी, सुराही इत्यादि। इस प्रथा को अंगरेजी में थ्रोइंग कहते हैं। इस प्रथा को सीखने के लिए काफी समय और निपुणता की आवश्यकता है। हमारे देश में यह प्रथा वंश-परम्परागत होती है लेकिन इस यन्त्र-काल में अन्य जातियों ने भी इसे चालू कर दिया है। मिट्टी का पिंड जितना अधिक नम्यनीय होगा वैसे पतले पात्रों का निर्माण किया जा सकता है। हमारे देश की चीनी मिट्टी अधिक नम्यनीय नहीं होती. इस कारण विदेशों की तरह हम पतले पात्रों का निर्माण नहीं कर पाते। हमारे कारीगर इसके लिए दोषी नहीं हैं। वे काफी निपुण होते हैं। जहाँ संभव हो सकता है वहां पर पात्रों का निर्माण अति सुन्दर होता है जैसे गंगा यमुना की मिट्टी से बनाये हुए पात्र।

जौली प्रणाली :—यह प्रथा पूर्ववर्णित चाक प्रथा का यन्त्र-संस्करण है। इसी प्रणाली में कुम्हार की निपुण उंगलियों के बदले विशेष प्रकार के 'फल' प्रयोग में लाये जाते हैं। इस विशेष यन्त्र का नाम जिगर जौली है। इस यन्त्र द्वारा विभिन्न आकृति व आयतन के पात्र प्रस्तुत किए जाते हैं।

यह यन्त्र दो भागों में विभाजित होता है निचले भाग को जिगर कहते हैं। जिगर कुम्हार के चाक के समान लोहे की घूमती हुई तख्ती होती है इसके ऊपर एक गोल सांचा लगा होता है। यह सांचा प्लास्टर आफ पेरिस से प्रस्तुत किया जाता है। यन्त्र के ऊपरी भाग को जौली कहते हैं। यह एक लोहे के पत्तर का बना हुआ होता है जो कि नीचे और ऊपर झुकाया जा सकता है। इस पत्तर के साथ आवश्यकतानुसार लोहे का फलक लगा रहता है जिसे प्रोफाईल कहते हैं। वस्तु के रूप के अनुसार ही प्रोफाईल की शक्ल होती है। पात्रों का गठन करते समय पत्तर एक घूमते हुए मिट्टी के सांचे के भीतर

बैठा दिया जाता है और प्रोफाईल के सहयोग से
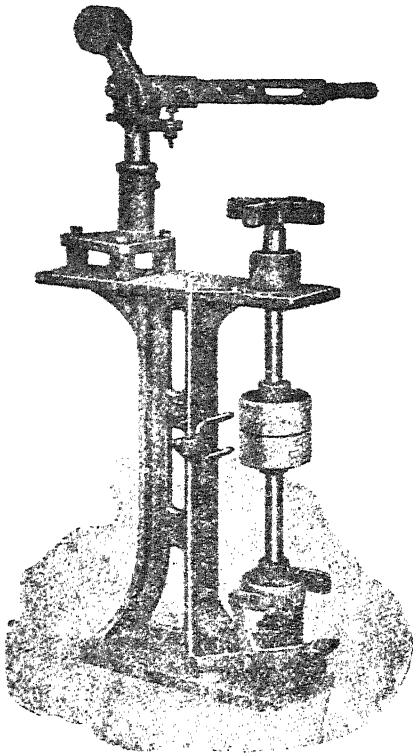
चित्र ३—जिगर और जाली

प्रोफाईल और सांचे के अनुरूप पात्र तैयार हो जाता है।

जब एक ही शक्ल के बहुसंख्यक पात्रों की आवश्यकता होती है तो यह प्रणाली सबसे उपयुक्त है। इस प्रथा में कारीगर की निपुणता की आवश्यकता नहीं होती। जितनी अधिक कारीगर की फुर्ती होगी उतना ही अधिक पात्रों का निर्माण प्रणाली से हो सकता है। अतएव आजकल यह जौली प्रणाली अत्यन्त चालू है।

चाक प्रणाली :—इस प्रणाली में जो मिट्टी का पिंड व्यवहार किया जाता है उसमें जल भाग दूसरे प्रणालियों से कम रहता है। प्रायः २०–२२% जल रहने से कार्य अच्छा होता है। जलभाग अधिक रहने से मिट्टी सांचे से चिपक जाती है।

इस प्रथा में प्लास्टर का सांचा तैयार किया जाता है। परन्तु कभी कभी जली मिट्टी का सांचा भी प्रयोग में लाया जाता है। यह सांचा दो भागों में विभक्त होता है। निचले भाग में उपयुक्त परिमाण में मिट्टी का पिंड देकर सांचे का ऊपरी भाग लगा दिया जाता है और दवाब देने से गीली मिट्टी विस्तृत होकर सांचे की शक्ल प्राप्त कर लेती है। अतिरिक्त मिट्टी दोनों भागों के जोड़ में से निकल जाती है। अब सांचे को कुछ देर सूखने देने से मिट्टी का कुछ भाग पानी सांचे में खिंच जाता है जिससे कि गठित द्रव्य सांचे से आसानी से निकाला जा सके। प्यालों के दस्ते, चायदानी का ढक्कन, बिजली के स्विच इत्यादि ठोस पदार्थ इस प्रणाली से प्रस्तुत होते हैं।

ढलाई प्रणाली :—इस प्रणाली में जिस रूप विशेष की आवश्यकता होती है उसके अनुरूप ही प्लास्टर से तैयार किए सांचे की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार के द्रव्य के गठन की आवश्यकता होती है उसी के अनुसार सांचे को एक या अधिक भागों में विभक्त किया जाता है। वस्तु का रूप जितना जटिल होता है उतने ही सांचे के अधिक भाग होते हैं जिससे कि गठित वस्तु को बाहर निकालते समय वस्तु को हानि न पहुँचे।

ढलाई के उपयुक्त तरल पिंड तैयार करने में विशेष यत्न रखना पड़ता है। तरल पिंड की विशेषता यही है कि कम से कम जल देकर अधिक से अधिक पतला पिंड तैयार किया जा सके। नमनीय पिंड में २२–२४% जल रहता है परन्तु तरल पिंड में २८–३२% जल रहता है अर्थात् ५–६% अधिक जल देकर नमनीय पिंड से तरल पिंड प्रस्तुत किया जाता है।

साधारणतया मिट्टी के साथ ३०–३२% जल मिलाने से वह तरल नहीं होती। इसके लिए कम से कम ५०–६०% जल की आवश्यकता होती है। ३०–३२% जल मिलाकर तरल पिंड प्रस्तुत करने के लिए एक विशेष प्रकार के रसायन की आश्यकता पड़ती है। यह रसायन पदार्थ सोडियम कार्बोनेट, सोडा सिलिकेट या कास्टिक सोडा से प्रस्तुत किया जाता है। नमनीय पिंड के साथ अति अल्प परिमाण में भी यह रसायनिक द्रव्य मिलाने से वह तरल हो जाता है और यह तरल पिंड अति सहज रूप में एक पात्र से दूसरे पात्र में डाला जा सकता है।

तरल पिंड प्रस्तुत करने के लिए जल-निष्काषण यन्त्र से प्राप्त मिट्टी के पिंड को एक मिश्रण यन्त्र में रखाता जा है जिसे अंगरेजी में ब्लंजर कहते हैं इसमें अति अल्प परिमाण में सोडा सिलिकेट डाल दिया जाता है। अब मिश्रण यन्त्र को चलाने के लिए मिट्टी के पिंड को कूटकर जल के साथ मिश्रण किया जाता है। इस सोडा-सिलिकेट और सोडा कार्बोनेट की सहायता से तरल पिंड बन जाता है। सोडा-सिलिकेट का परिमाण मिट्टी का ०.२–०.३% होना चाहिए और मिश्रण-कार्य भली-भाँति होना चाहिए।

तरल पिंड प्रस्तुत होने पर उसे प्लास्टर के सांचे में डाल दिया जाता है और थोड़ी देर में सांचे के भीतर मिट्टी की एक तह चिपक जाती है। यह तह उपयुक्त परिमाण में मोटी हो जाने पर शेष तरल पिंड निकाल दिया जाता है और सांचे को सुखा दिया जाता है। सांचे के सूखने पर निर्मित पात्र अथवा वस्तु सांचे से निकाल लिया जाता है। इस प्रकार से प्रति साँचे से दिन में तीन या चार ढलाई हो सकती हैं। ढलाई के उपरान्त सांचे को भली-भांति सुखा लेना चाहिए नहीं तो सांचा कुछ समय में ही नष्ट हो जाता है।

ढलाई-प्रणाली से किसी भी आकृति का गठन हो सकता है और इस कार्य के लिए अति कुशल कारीगर या किसी यन्त्र विशेष की भी आवश्यकता नहीं होती। अतएव छोटे छोटे कारखानों में यह प्रणाली अत्यन्त उपयोगी है। यह प्रणाली नाना प्रकार की मूर्तियों के गठन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस प्रणाली की यह विशेषता है कि मिट्टी के अधिक नमनीय न होने पर यह प्रणाली प्रयोग में लाई जा सकती है।

शुष्क चाप-प्रणाली :—इस प्रथा में जल निष्काषण यन्त्र से जो पिंड निकलता है उसको सुखा लिया जाता है। उस शुष्क मिट्टी को चूर्ण करने से उपरान्त उसे विशेष यन्त्र से दबाव देकर पात्रों का गठन किया जाता है। प्रायः दीवालों और फर्श के खपड़ों (Tiles) का निर्माण इस प्रणाली से किया जाता है। इसके अतिरिक्त पोर्सलीन निर्मित स्विच, कट आउट, सिलिंग रोज इत्यादि बिजली के काम में आने वाली वस्तुएं भी इस प्रणाली से गठित होती हैं। इस प्रणाली से निर्मित द्रव्य को सुखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रणाली के दो विशेष लाभ हैं (१) निर्मित वस्तु को सुखाने की आवश्यकता न होने के कारण समय और मेहनत दोनों की काफी बचत है। (२) पात्रों में जल का परिमाण अति अल्प होने से संकुचन कम होता है और पात्रों के किनारे तीखे रहते हैं क्योंकि अगर दीवाल पर खपड़े के किनारे तीखे और सीधे न रहें तो टाइल के बीच में जगह रह जाती है।

इस प्रणाली में जो मिट्टी का चूर्ण व्यवहार किया जाता है वह सम्पूर्ण शुष्क नहीं रहता। इसमें ८-१० प्रतिशत जल रहता है परन्तु इतने जल भाग के रहने पर भी चूर्ण शुष्क ही प्रतीत होता है। मिट्टी का चूर्ण जितना अधिक शुष्क होगा उतना ही अधिक दबाव गठन-कार्य में लगेगा। अगर गठित वस्तु पूर्णतया शुष्क हो तो अत्यधिक दबाव देने पर भी द्रव्य में

दृढ़ता नहीं आती। अतएव मिट्टी के चूर्ण के साथ थोड़ा जल भी मिला दिया जाता है। छोटे-छोटे पोर्स्लीन की सामग्री तैयार करने में जो चूर्ण व्यवहार किया जाता है, उसमें पानी के साथ अति अल्प परिमाण में तेल भी मिला दिया जाता है जिससे कि मिट्टी सांचे के साथ चिपक न जावे। इस कार्य के लिए प्रस्तुत सांचा लोहे या पीतल का तैयार किया होता है।

कभी कभी एक ही पात्र के निर्माण में एक से अधिक प्रणाली काम में लाई जाती है। चायदानी के निर्माण में विभिन्न प्रणालियां काम में लाई जाती हैं। इसका पेट चाप-प्रणाली से या जौली प्रणाली से गठित किया जाता है और इसका दस्ता (Handle) चाप-प्रथा से परन्तु इसकी टोंटी और ढकनी ढलाई-प्रणाली से। यह सब टुकड़े सुखाने के उपरान्त थोड़ा तरल पिंड देकर पेट से चिपका दिये जाते हैं।

जिन सांचों में एक से अधिक भाग रहते हैं उनमें ढालने के उपरान्त कुछ धब्बे लग जाते हैं। द्रव्य के सुखाने के पश्चात् यह सब दाग साफ कर दिये जाते हैं। अगर वह धब्बे भलीभांति साफ न कर दिये जावें तो बाद में पात्रों में आ जाते हैं। सफाई के बाद द्रव्य समूह को उत्तम रूप से सुखा लेना चाहिए। अगर पात्र भली भांति न सुखाए जावें तो जलाते वक्त वे फट जाते हैं। मूल्यवान पोर्स्लीन-पात्रों को भली भांति गठन करने के पश्चात् विशेष प्रकार सुखाना चाहिए।

मिट्टी जितनी अधिक नमनीय होती है उतना ही अधिक जल शोषण करती है जिसके सुखाने में अधिक समय लगता है। यदि अग्नि-ताप में जल्दी जल्दी सुखाने की चेष्टा की जावे तो कोमल पोर्स्लीन पात्रों के फट जाने का भय रहता है। इस फट जाने का कारण यह है कि भीगी हुई मिट्टी सुखाते समय धीरे धीरे संकुचित होती है। यदि यह संकुचन सब दिशाओं में असमान हों तो पात्रों के फटने की संभावना रहती है। पोर्स्लीन-पात्र सुखाते समय धीरे धीरे सुखाना चाहिए जिससे कि भीतर व बाहर समान संकुचन होवे और पात्र न फटें।

मिट्टी के पात्रों को सुखाने में ताप और हवा दोनों की आवश्यकता होती है। हवा जितनी गर्म और शुष्क होगी द्रव्य उतना ही शीघ्र सूख जावेगा। परन्तु गर्म हवा के नम होने से भीगा द्रव शीघ्र नहीं सूखने पाता है। इस देश में वर्षा ऋतु में हवा का ताप काफी ऊँचा रहता है परन्तु हवा की नमी भी अधिक रहने से भीगे कपड़े या मिट्टी के पात्र जल्दी नहीं सूख पाते। जाड़े के दिनों में हवा में नमी बहुत कम रहती है इसलिए हवा का कम ताप रहने पर भी पात्र शीघ्र सूख जाते हैं। मिट्टी के पात्रों को जब सूखने रखा जाता है तो उसके ऊपरी भाग से जल वाष्प में परिणत होकर उड़ जाता है। इसके उपरान्त भीतरी भाग से धीरे धीरे पानी ऊपर आ जाता है। इस प्रकार पात्रों के सूखने के साथ २ संकुचन होता है क्योंकि मिट्टी के भीतर से पानी आना घट जाता है और मिट्टी के भीतर का शुष्क छिद्र भर जाने के लिये मिट्टी का कौषिक आकर्षण भी घट जाता है। अतएव इस समय ऊपरी भाग से जल का सूखना कम कर देना चाहिए नहीं तो भीतर व बाहर का असमान संकोचन होने से पात्रों के फटने का भय रहता है। इस समय पात्रों को अधिक हवा से दूर रखना चाहिए क्योंकि हवा की गति अधिक होने से जल भी शीघ्र सूख जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली में जिस तरह पोर्स्लीन सामग्रियों को शीघ्रतया सुखाया जाता है उसको वाष्प प्रथा (Humidity system of drying) कहते हैं हैं। इस प्रथा में एक कमरे के भीतर टांडें रहती हैं और उस पर सूखने को पात्र रख दिए जाते हैं। अब इस बन्द घर के भीतर गर्म वाष्प छोड़कर

घर को धीरे-धीरे गर्म कर दिया जाता है। जब इस घर के अन्दर वाष्प अधिक हो जाता है तो वायु की नमी बढ़ जाती है। इस कारण मिट्टी के ऊपरी भाग से जल सूखने नहीं पाता जैसे कि वर्षा ऋतु में वायु की नमी अधिक होने से भीगा कपड़ा शीघ्र नहीं सूखने पाता। बन्द घर धीरे-धीरे ताप बढ़ने से पोर्स्लीन का कच्चा माल भी गर्म हो जाता हैं। इस कारण पात्रों के भीतर से पानी बाहर आता है जैसे गर्मी में शरीर से पसीना। अब अगर इस बन्द घर से गर्म वाष्प हटाकर गर्म हवा प्रवेश की जावे तो कच्चे माल के ऊपरी भाग से जमा हुए जल कण अति शीघ्र सूख जावेंगे और पात्रों के फटने का भय कम हो जावेगा। इस प्रणाली से अविराम गति शुष्क सुरंग (Continuous drying tunnel) का निर्माण हुआ है। इस विशेष सुरंग के एक दरवाजे से कच्चे माल को ठेलागाड़ी पर लादकर भर दिया जाता है। यह ठेला धीरे-धीरे सुरंग के भीतर से चलकर दूसरी तरफ के दर्वाजे से निकल जाता है। इस सुरंग में यथास्थान वाष्प और गर्म हवा प्रवेश की जाती है। इस सुरंग से निकला हुआ माल उत्तम रूप से सूख जाता है। शीत-प्रधान देशों में इसका अत्यधिक प्रचार है परन्तु गर्म देशों में यह प्रयोग में नहीं लाई जाती।

सूखने के पश्चात् पोर्स्लीन-पात्रों को भली भाँति पकाया जाता है। पोर्स्लीन पात्रों को प्रायः दो बार पकाया जाता है परन्तु जिस पोर्सलीन को चित्रित करना होता है उसको एक मर्तबे अधिक पकाया जाता है।

पहली बार अल्प ताप (८००°-९००°c) में पोर्स्लीन पात्रों को पकाया जाता है। इस अल्प ताप में प्रथम पकाने का उद्देश्य यही है कि मिट्टी के भीतर से जल और सर्व प्रकार का गैस निकाल दिया जावे जिससे पात्र कठोर हो जावें। इस पकाने को अंग्रेजी में "विस्कुट फायरिंग" कहते हैं। हम इसको "सेंकना" या "मृदु पोढ़" कहेंगे। इसी सेंकने की वजह से पोर्स्लीन पात्र कठोर हो जाते है परन्तु अत्यन्त छिद्रित होते हैं।

इस सेंके हुये छिद्रित पात्र के ऊपर एक विशेष प्रलेप लगाया जात्ता है। इसे अंग्रेजी में "ग्लेज" कहते हैं। हम इसको "चिकनाई-प्रलेप" कहेंगे। इस प्रलेपन क पश्चात् पात्रों को दुबारा जलाया जाता है। इस पकाने का नाम "चिकनाई पोढ़" (ग्लोस फायरिंग) है। इस पकाने से पात्र चिकने एवं अल्पपारदर्शक हो जाते हैं। यह "चिकनाई-प्रलेप" अग्नि में गल कर एक तरल कांच का आकार धारणा करलेता है और पोर्स्लीन के पात्रों पर समान स्तर में फैल जाता है। दूसरी बार पकाने में जो ताप लगता है वह अवस्थानुसार अधिक या कम होता है। अस्थि पोर्स्लीन और कांच पोर्स्लीन में १३००°c और फैल्सपार पोरसीलेन व कठिन पोर्स्लीन में १४००°c तथा रसायानिक या दूसरे प्रकार के पोरसीलेन के निर्माण में १५००°-१६००°c तक ताप की आवश्यकता होती है। इस रसायानिक पोर्स्लीन को रसायानिक गवेषणागार में या रेडियो यन्त्र के निर्माण में प्रयोग करते हैं।

अस्थि पोरसीलेन या कांच पोर्स्लीन के ऊपर नाना प्रकार का रङ्ग देकर चित्र अंकित करते हैं। इस अंकन के बाद चित्रित पात्रों को तीसरी बार पकाते हैं। इस पकाने से अंकित चित्र पात्रों पर स्थायी हो जाते हैं अर्थात् वे जल से या अन्य द्रवों से नष्ट नहीं होते। तीसरी बार पकाने का ताप ७००-९००°c के भीतर रहता है। अंग्रेजी में इस तीसरे पकाने को "इनामेल फायरिंग" कहते हैं। हम इसको "चित्रण पोढ़" कहेंगे।

पोर्स्लीन पात्रों को पकाने के लिए जो भट्टी व्यवहार की जाती है उसको अंगरेजी में किल्न कहते

हैं। यह भट्टी अनेक प्रकार की होती है। इन भट्टियों की कार्यक्षमता गठन-प्रणालियों पर निर्भर करती है। किसी भी गठन प्रणाली से निर्मित होने पर भी भट्टी के तीन विशेष भाग होते हैं। प्रथम एवं बृहत्तम अंश एक "प्रकोष्ठ" होता है। इस प्रकोष्ठ क भीतर पोर्स्लीन पात्रों को सजाकर रखना पड़ता है। अगर पोर्स्लीन पात्रों को खुले हुए सजाया जावे तो धुएँ से उनके नष्ट होने का भय रहता है। पोर्स्लीन पात्रों को एक "दुगालनीय सन्दूक" के भीतर रखा जाता है और इन सन्दूकों को प्रकोष्ठ के भीतर स्तर में साधकर भर दिया जाता है। प्रकोष्ठ के भर जाने पर उसका दर्वाजा दुगालनीय ईंटों से भर दिया जाता है। इन दुगालनीय सन्दूकों को "सैगर" कहते हैं। यह दुगालनीय सन्दूक दुगालनीय मिट्टी और विशेष पदार्थों से तैयार होता है। भट्टी के द्वितीय भाग का नाम "चूल्हा" है। इस चूल्हा के अंदर ही अग्नि जलाई जाती है। चूल्हों की संख्या भट्टी के आयतन पर निर्भर करती है। साधारणतया भट्टियों में ३ से ११ तक चूल्हों का व्यवहार किया जाता है। चूल्हे में बाहर से अग्नि डालने से अग्नि का सोखा या उत्तप्त गैस प्रकोष्ठ
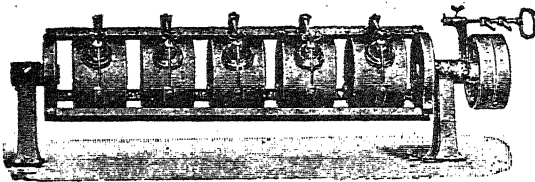
चित्र ४—ग्लेज़ चूरने का पॉट मिल

के भीतर सजे हुए दुगालनीय सन्दूकों के चारों तरफ बहकर दुगालनीय प्रकोष्ठ को धीरे-धीरे उत्तप्त कर देता है और अन्त में धुआं नाली से बाहर निकल जाता है। भट्टी के तृतीय अंश का नाम चिमनी या धुआं नाली है। इसे प्रकोष्ठ के बाहर अलग तैयार किया जाता है और जमीन के नीचे से सुरंग या नाली देकर मूलप्रकोष्ठसे मिला दिया जाता है। इस धुआं-नाली का कार्य चूल्हे और प्रकोष्ठ के भीतर के धुएं को बाहर करना है। कोयले का धुआं अधिक समय प्रकोष्ठ के भीतर रहने से पोर्स्लीन पात्रों के लिए अनिष्टकारी
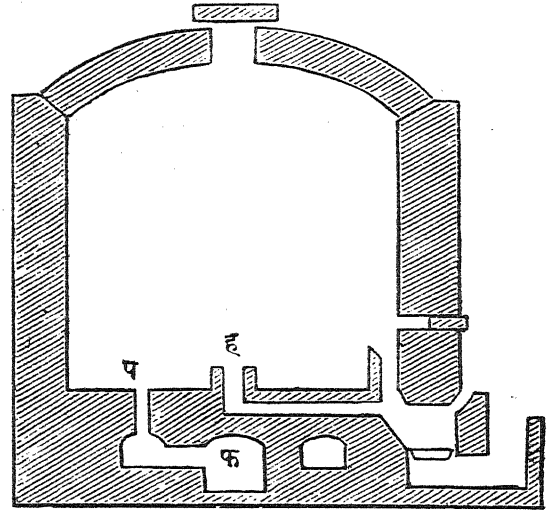
चित्र ५—एक प्रकोष्ठ-भट्टी

है। भट्टी जलाने में साधारणतया २०-२४ घंटे समय लगता है। यह समय तापक्रम व रूप पर निर्भर करता है। उसके बाद २०-२४ घंटे समय देकर भट्टी को धीरे-धीरे ठंडा किया जाता है। अधिक शीघ्र ठंडा करने से गर्म पोर्स्लीन पात्र फट जाते हैं। भट्टी ठंडी हो जाने पर दुगालनीय ईंटों को हटाकर उसका द्वार खोल दिया जाता है और प्रकोष्ठ के अंदर से दुगालनीय सन्दूकों को बाहर कर लिया जाता है और पोर्स्लीन पात्रों को चुन दिया जाता है। सर्व प्रकार का यत्न और सावधानी करने पर भी कुछ पात्र नष्ट हो जाते हैं कुछ फट जाते हैं। प्रायः १०-२० प्रतिशत पोर्स्लीन पात्र नष्ट हो जाते हैं अतएव पोर्स्लीन पात्रों की कीमत इतनी अधिक है।

आजकल पोर्स्लीन पात्रों को पकाने के लिए

बहु प्रकार की अविराम-गति-भट्टी उपलब्ध है और व्यवहृत होती है। इस भट्टी में ईंधन की बचत रहती है। यह अविराम गति-भट्टी साधारणतया दो प्रकार की होती है (१) अविराम-गति-कोष्ठ-भट्टी (२) अविराम-गति-सुरंग-भट्टी

इन भट्टियों में ईंधन की बचत कैसे होती है उसका नमूना नीचे दिया जाता है।

साधारण सामयिक भट्टी :—१६–२० प्रतिशत भाग
प्रकोष्ठ-अविराम-गति-भट्टी :—३५–४० प्रतिशत „
अविराम-गति-सुरंग-भट्टी :—४५–५० प्रतिशत „

"चित्रण पोड़" के लिए एक विशेष प्रकार की भट्टी व्यवहार की जाती है उसको "मफल किल्न" कहते हैं। इस भट्टी में पोर्स_लीन पात्रों को एक प्रकोष्ठ में खुला रखकर सजा दिया जाता है और प्रकोष्ट का मुंह बंदकर इस बक्स को बाहर से तपाया जाता है। इस विधान से केवल अग्नि का ताप ही प्रकोष्ठ के भीतर जा पाता है। धुवां या किसी प्रकार का गैस प्रकोष्ठ के भीतर प्रवेश नहीं कर पाता अतएव अंकित पदार्थों का कोई अनिष्ट नहीं होता।

सूत्र

पोर्स_लीन के निर्माण में जो भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रयुक्त होते हैं, उनका विवरण पहिले ही दिया जा चुका है। अब हमको पोर्स_लीन पात्रों के पकाने में होने वाली रसायानिक क्रियाओं को अध्ययन करना है और यह देखना है कि किस प्रकार नरम व अपार दर्शक पात्र कठोर एवं पारदर्शक पोर्स_लीन में परिवर्तित हो जाता है।

५००°C तक पकाने में कोई रसायनिक परिवर्तन नहीं होता, केवल नमी पूर्णतया हट जाती है। ५००°C पर चीनी मिट्टी के भीतर का रवे का पानी (Water of Crystallisation) उड़ जाता है। इस अवस्था में मिट्टी के पात्र कठोर एवं रन्ध्रमय हो जाते हैं। पात्रों को निकाल कर उनपर चिकनाई प्रलेप लगा दिया जाता है। इस कठोर एवं रन्ध्रमय अवस्था में पात्रों को मृदुपोढ़न किया हुआ या सेंका हुआ कहते हैं।

चिकनाई-प्रलेपन की अनेकों विधियाँ हैं। इनका वर्णन इस अध्याय के अन्त में किया गया है। चिकनाई-प्रलेपन के उपरान्त पात्रों को सुखाकर अगालनीय सन्दूकों में इस प्रकार सजाया जाता है कि वे एक दूसरे को स्पर्श न करें क्योंकि पकाने पर चिकनाई प्रलेप पिघल जाता है अतएव काफी पास रखने पर पात्र एक दूसरे से चिपक जाते हैं। पात्रों के पेंदे में भी चिकनाई-प्रलेप इसी कारण नहीं लगाया जाता है अथवा खुरच दिया जाता है, नहीं तो उनका अगालनीय सन्दूकों से चिपकने का भय रहता है। अब भट्टी को ६००°C तक पकाया जाता है। इस समय कोई वर्णन योग्य रसायनिक परिवर्तन नहीं होता परन्तु ताप के ६००° से ऊपर जाने पर रसायनिक परिवर्तन होने लगता है। मिट्टी के कण 'सिलिका' एवं "एलुमिना" में विभाजित हो जाते हैं। थोड़ा सा लौह-कण जो कि चीनी मिट्टी में रह जाता है वह लौह के आक्साइड में परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था में यदि भट्ठे से पात्र निकाले जावें तो निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि उनका रंग लौह-आक्साइड के कारण हल्का बादामी है। अधिक ताप होने पर लौह-आक्साइड लुमिना व सिलिका से मिल जाती है और यह रंग नष्ट हो जाता है।

जब भट्ठ का ताप १२००°C पहुँच जाता है तो पोर्स_लीन पिंड में स्थित फैल्सपार एक सांद्र कांच में पिघलने लगती है। यह पिघला हुआ द्रव्य शेष अवयवों को घोलकर पात्रों को अल्पपारदर्शक बना देता है, जिसको हम पोर्स_लीन कहते हैं। १३००°C से ताप अधिक होने पर पात्रों के ऊपर का चिकनाई-प्रलेप पिघलकर एक द्रव्य में परिवर्तित होकर पात्रों से चिपक जाता है। कांच पोर्स_लीन व अस्थि पोर्स_-

लीन इस अवस्था में हटाई जाती हैं, नहीं तो पात्रों के विकृत होने का भय रहता है। इन कांच व अस्थि पोर्सलीनों में संगमरमर (मार्बल) या हड्डी की राख रहती है जिससे कि रसायनिक क्रियाएँ कुछ नीचे ताप पर ही समाप्त हो जाती हैं और पात्रों को कांच के समान आसानी से टूटने वाली बना देती हैं। कठोर पोर्सलीन या फैल्सपैथिक पोर्सलीन में (बोन-ऐश) हड्डी की राखी या चूना नहीं होता है अतएव इनके लिए अधिक ताप की आवश्यकता होती है। कठोर पोर्सलीन को १४००-१६००°C तक पकाया जाता है। ताप के बढ़ाने के साथ फैल्सपार भी अधिकाधिक एलुमिना एवं सिलिका को घोलने लगता है और ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जब कि द्रवित फैल्सपार में और अधिक अलुमिना व सिलिका नहीं घुल सकती। इस अवस्था में अगर भट्ठी को धीरे २ ठंडा किया जावे तो घुले हुये सिलिका व एलुमिना के कण रवों के रूप में प्रकट होने लगते हैं और ये नये रवेदार कण "मुलाइट" कहलाते हैं। इनका रसायनिक सूत्र "३ एलुमिना २ सिलिका" है।

कठोर पोरसीलेन में इन रवों का बनना ही उनकी कठोरता, रसायनिक व विद्युत रोधकता का परिचय देता है जैसे कि "हाई टेन्शन इलेक्ट्रिकल इनसुलेटर" में ३०% मुलाइट रवे होते हैं और रसायनिक पोरसीलेन में ३५% मुलाइट रवे होते हैं। इन रसायनिक पात्रों का शेष भाग "गलित फैल्सपार का एक समष्टि विशेष" होता है जो कि मुलाइट रवों को अत्यन्त कठोर बना देता है और इन मुलाइट रवों के ही प्रताप से कठोर पोरसीलेन पात्र दूसरे अवयवों से निर्मित पात्रों से अधिक मजबूत होते हैं।

कांच पोरसीलेन को अल्प ताप पर प्रस्तुत करने के लिए उसमें घुलने वाली चीजें मिला दी जाती हैं जैसे कि सुहागा (Borax) और शोरा (नाइटर)। इन पानी में घुलने वाली चीजों को बालू या मिट्टी के साथ पिघलाकर अघोलनीय बना लिया जाता है। इन पिघले हुए योगिकों को "फ्रिट" कहते हैं। गर्म व पिघले हुए फ्रिट को जल में डाल देते हैं जिससे वह एकाएक ठोस होकर छोटे छोटे टुकड़ों में बिखर जाता है। यह फ्रिट आसानी से चूर्ण किया जा सकता है। नीचे एक मृदु पोरसीलेन के बनाने का सूत्र दिया जाता है।

फ्रिट मिश्रण

सुहागा (बोराक्स)	४८
स्फटिक (क्वार्टज)	२४
संगमरमर चूर्ण (मार्बल पाउडर)	२०
फैल्सपार	२०
केवलिन	८

पोरसीलेन मिश्रण

फ्रिट मिश्रण	२०
केवलिन	४०
(क्वार्टज) स्फटिक	२५
फैल्सपार	१३
संगमरमर चूर्ण	२

इस मिश्रण से बनाये जाने वाले पात्रों का ८००°-९००°C तक मृदुपोढ़न करके, उन पर चिकनाई प्रलेपन कर दिया जाता है और दुबारा १२००° पर पकाया जाता है। इस प्रकार एक सुंदर कांच पोरसीलेन तैयार की जा सकती है। यह पोरसीलेन प्रायः प्याले, खिलौने, फूलदानी इत्यादि पात्र, जो कि भिन्न भिन्न रंगों से चित्रित किये जाते है, बनाने के काम में आती है क्योंकि यह पोरसीलेन अल्प ताप पर ही प्रस्तुत की जाती है।

चिकनाई प्रलेप मिश्रण

फैल्सपार	३७
स्फटिक (क्वार्टज)	२५
संगमरमर चूर्ण (मार्बल पाउडर)	१०
बैरियम कार्बोनेट	१५
जिंक आक्साइड	५
केवलिन	८

अस्थि पोरसीलेन इंगलैण्ड में बनाया जाने वाला एक विशेष पदार्थ है। आजकल दूसरे देश जैसे अमेरिका भी इसको तैयार करने लगे हैं। इंगलैण्ड में बॉल क्ले व कार्निश स्टोन इन पात्रों के निर्माण में प्रयुक्त होते हैं परन्तु जिन देशों में यह पदार्थ प्राप्त नहीं होते वे एक विशेष प्रकार का मिश्रण प्रयोग करते हैं। इंगलैण्ड में प्रयोग होने वाले मिश्रण का सूत्र नीचे दिया जाता है।

इंगलिश अस्थि पोरसीलेन

	I	II
चीनी मिट्टी	४०	२३
बाल मिट्टी	८	१०
कार्निश प्रस्तर	२४	३२
बोन ऐश	२८	३५

उन देशों में जहां बॉल मिट्टी एवं कार्निश प्रस्तर नहीं मिलते वहाँ पर स्फटिक व फैल्सपार का एक मिश्रण प्रयुक्त होता है जिसका सूत्र नीचे दिया जाता है।

	I	II
चीनी मिट्टी	३५	४०
फैल्सपार	२५	१२
स्फटिक (क्वार्टज)	—	८
बोन ऐश	४०	४४

इस प्रकार की अस्थि पोरसीलेन की यह विशेषता है कि मृदुपोढ़न एक ऊंचे ताप पर किया जाता है और चिकताई प्रलेप करने के पश्चात् पकाव नीचे ताप पर किया जाता है क्योंकि बोन ऐश रहने के कारण मृदुपोढ़न के लिए कम ताप की आवश्यकता होती है परन्तु इस पकाने के लिए अत्याधिक सावधानी व निपुणता की आवश्यकता होती है। ऐसा न होने पर छोटे छोटे बुलबुले पात्रों से चिपके रह जाते हैं और थोड़े समय बाद पात्रों की सुन्दरता को नष्ट कर देते हैं। प्रायः पहला पकाव ११२०-११५०°C पर किया जाता है।

इस प्रथम पकाव के उपरान्त पात्र थोड़े से अल्प-पारदर्शक हो जाते हैं और अगली प्रलेपपोढ़न के लिए आध घंटे बाद ठीक हो जाते हैं प्रलेप पोढ़न अल्प ताप पर विशेष चिकनाई प्रलेप से की जाती है। प्रलेप के अवयव इस अनुपात से मिलाये जाते हैं कि वे इस ताप में पिघल सकें। अस्थि पोरसीलेन के लिए द्वितीय पकाव १००२-१०४०° पर किया जाता है। इस अल्प ताप वाले चिकनाई प्रलेप में सुहागा मिलाना पड़ता है जो कि फ्रिट किया हुआ होता है। नीचे दो चिकनाई प्रलेपों के सूत्र दिए जाते हैं, पहला इंगलैण्ड में प्रयुक्त होता है, शेष स्थानों पर द्वितीय प्रयुक्त होता है।

फ्रिट मिश्रण

	अ	ब
सुहागा (बोराक्स)	३०	४०
ह्वाईटिंग	२०	१०
स्फटिक चूर्ण	१५	२०
केवलिन	१०	—
कार्निश प्रस्तर	२५	—
फैल्सपार	—	३०

चिकनाई प्रलेप-मिश्रण

फ्रिट मिश्रण	६५ अ में से	५० ब में से
कार्निश प्रस्तर	१५	—

स्फटिक चूर्ण	११	१०
ह्वाईट लेड	१०	१५
चीनी मिट्टी	—	१०
फैल्सपार	—	१५

यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि चिकनाई प्रलेप के अवयव मिट्टी के मिश्रण के आधार पर ही निर्भर होते हैं। एक ही चिकनाई प्रलेप हर एक प्रकार की मिट्टी पर प्रयोग नहीं किया जा सकता अन्यथा सतह पर अत्यन्त बारीक धारायें बन जाती हैं। इस प्रकार की बारीक धारायें जो प्रलेप पर बन जाती है अंग्रेजी में "क्रेजिंग" कहलाती हैं।

हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि फैल्सपैथिक या सख्त मिट्टी के बने हुए पात्र अपने रसायनिक अवयवों के अनुसार ही भिन्न भिन्न कार्यों में लाये जाते हैं। नीचे कुछ सख्त चीनी मिट्टी के मिश्रण को उद्धृत करते हैं जिनमें टल (Talc) प्रयुक्त होता है और जो इन्सुलेटर बनाने के काम में आते हैं।

	१	२
चिनी मिट्टी	४५	५३
फैल्सपार	३०	१६
स्फटिक	२५	२१
स्टीइरेटाइट या टल	—	१०

पहला मिश्रण छोटे छोटे इन्सुलेटर बनाने में प्रयुक्त होता है (जो तार या टेलीफोन लाइन में काम में आते हैं) दूसरा मिश्रण अधिक तड़ित-रोधक चीनी मिट्टी के पात्रों के बनाने में काम आता है। इन पात्रों पर लगाये जाने वाले चिकनाई प्रलेपन नीचे दिए जाते हैं।

	१	२
फैल्सपार	४२	३४
स्फटिक (क्वाटर्ज)	४१	४५
केवलिन	७	१३
डोलामाइट	१०	८

पहला प्रलेपन प्रथम नम्बर के अवयवों के बने पात्रों पर प्रयुक्त होता है और १३००°C पर पकाया जाता है परन्तु दूसरा प्रलेपन दूसरे नम्बर के अवयवों के बने पात्रों पर प्रलेपन करके १४°C पर पकाया जाता है।

अधिक ताप पर पके हुए इन चीनी मिट्टी के रसायानिक पात्रों में सिलिमेनाइट पदार्थ होता है। जिन स्थानों पर इस पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती वहाँ पर अत्यधिक ताप पर पकाई हुई चीनी मिट्टी प्रयोग की जाती है। इस प्रकार के चीनी मिट्टी के समिश्रणों में जिनमें सिलिमेनाइट या चीनी मिट्टी प्रयोग होती है, पकाने पर आसानी से मुलाइट रवों में बदल जाते हैं। इस चीनी मिट्टी को ८००–९००°C पर पकाकर उपयुक्त चिकनाई प्रलेप लगा दिया जाता है। तदन्तर १५००°C पर फिर इनको पकाया जाता है जिसका उद्देश्य चिकनाई प्रलेप को पिघलाना तथा मुलाइट रवों को उचित रूप से बढ़ाना है रसायानिक पोरसीलेन पात्रों का सूत्र नीचे दिया जाता है।

चीनी मिट्टी	५०	५०
स्फटिक	१८.५	८
फैल्सपार	११.५	१२
पकी हुई केवलिन	२०	—
सिलिमेनाइट	—	३०

फसल के शत्रु

लेखक—श्री० शंकरराव जोशी

यह लेख क्रमशः छप रहा है जिसमें फसल के कीड़ों का वर्णन किया गया है। पिछले अंकों से फसलों के रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का वर्णन दिया जा रहा है। अगले अंकों में अंतिम अंश दिया जायगा।

गन्ना की फसल के रोग

काजलिया (Smut)—यह रोग संसार के सभी देशों में पाया गया है। पौधे के बढ़ने वाले भाग पर अर्थात् अंकुर के स्थान पर काले पदार्थ युत एक तुर्रा के समान लम्बा पत्ता-सा निकल आता है, जो कई फुट लम्बा होता है। इस तुर्रे पर रोग के बीजाणु चिपके रहते हैं। एक बीजाणु पूरे-पूरे पौधे को रोगी बनाने के लिए काफी है। रोग-ग्रस्त पौधे के टुकड़े बोने से, यह रोग खेत में प्रवेश पा लेता है और एक बार प्रवेश पा लेने पर इससे फसल को बचा पाना संभव नहीं है।

इस रोग से ज्यादा नुकसान तो नहीं होता है। किन्तु लगातार तीन चार साल तक रोग-ग्रस्त बीज बोते रहने पर पूरे खेत की फसल मारी जाने की संभावना रहती है। इसलिए फसल को बचाने का एक मात्र उपाय है, रोग-ग्रस्त बीज न बोना।

रातड़िया (Red Rot)—इसे गुजरात में रातड़ियो या राती, महाराष्ट्र में 'उंस रंगणें', मालवे में रातड़ी, रातड़ो, या रातड़ियो कहते हैं। मध्यभारत में कहीं-कहीं इसे तांबडियो, तांबडो और लालियो भी कहते हैं। इसके आक्रमण से कभी-कभी पूरी की पूरी फसल मारी जाती है।

यह रोग बहुत ही भयानक है। रोग-ग्रस्त पौधों में शकर की मात्रा घट जाती है, और शकर भी घटिया दरजे की होती है। रोगी पौधे ठिंगने रह जाते हैं और पौधे की पूर्ण बाढ़ होने से पहले ही पत्ते सूख कर गिर पड़ते हैं।

प्रारम्भ में, इस रोग के अस्तित्व का कोई बाहरी चिन्ह दिखाई नहीं देता है। रोग की प्रथमावस्था में गन्ने को चीर कर सूंघने पर खट्टी दुर्गंध आती है और भीतर जड़ की ओर के हीर भाग में लाल रंग की झाई-सी दिखाई देती है। हीर-भाग संकुचित हो जाता है, जिससे बीच में पोली नली-सी नजर आती है। प्रारंभिक अवस्था में नग्न आँखों से इसे पहचानना जरा कठिन हो जाता है। कारण कि दूसरे कई रोगों के आक्रमण से भी गन्ने का भीतरी भाग लाल हो जाता है। रोग का आक्रमण तीव्र हो जाने पर, सिरे की ओर से तीसरे या चौथे पत्ते की नोंक कुम्हला जाती है। पत्ते का बीच का भाग तो हरा बना रहता है; किन्तु किनारे की ओर से पत्ता धीरे-धीरे कुम्हलाने लगता है।

उपचार—नीरोग गन्ने के टुकड़े ही खेत में बोये जायँ। पूरा का पूरा सांठा बोने का रिवाज हानिकारक है। गन्ने के प्रत्येक टुकड़े को, दोनों ओर से सावधानी पूर्वक देख लेना चाहिए। लाल रंग का आभास मिलते ही या आशंका होते ही पूरे गन्ने को अलग कर लेना चाहिए। आवश्यकता से अधिक सिंचाई कदापि न की जानी चाहिए। नहर से सींचे जाने वाले खेतों में, फसल

निकाल लेने के बाद शीघ्र ही, जुताई कर दी जानी चाहिए और जड़ें आदि पौधों के अवशेषों को एकत्रित करके जला दिया जाय। जिस खेत की फसल को यह रोग लगा हो, उस खेत में जड़ी की फसल कदापि न ली जाय। गहरी जुताई करके मट्टी को कड़ी धूप में तपने देने से रोग के अधिकाँश बीजाणु मर जाते हैं। गन्ने की जिन जातियों को यह रोग न लगता हो, वेही बोई जायँ।

सड़न (Stinking Rot)—रोग का आक्रमण होने पर, पत्ते, पौधे के सिरे की ओर से नीचे की ओर को सड़ने लगते हैं और पौधा भी भीतर से सड़ने लगता है। ऊष्ण और आर्द्र जलवायु वाले प्रदेशों में यह रोग ज्यादा फैलता है। रोगग्रस्त बीज न बोना और रोगी पौधे को हटाकर जला देना ही एक मात्र उत्तम उपाय है।

सफेद कोढ़ (mosaic)—पत्ते निस्तेज हो जाते हैं और उनपर सफेद चट्टे से नजर आते हैं। प्रारम्भ में पत्तों पर छोटे-छोटे छींटे-से दीख पड़ते हैं। इस रोग के उत्पन्न होने के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है। रोग लगने से शकर की मात्रा दस प्रतिशत तक घट जाती है। रोग-ग्रस्त पौधों को उखाड़ कर जला ही देना चाहिए।

द्विदल वर्ग की फसल के रोग

अरहर की फसल के रोग

चिटली (wilt)—इसे महाराष्ट्र में 'मर' और कन्नड़ में सिदिही मोना' कहते हैं। यह रोग, सभी प्रकार के द्वि-दल पौधों पर हमला करता है। रोग का आक्रमण होने पर पौधा धीरे-धीरे या एक दम सारा का सारा या उसका एक आध अवयव आपही आप सूख जाता है। यदि तना या शाख को चीर कर देखा जाय, तो उसमें काले धब्बे या धारियाँ नजर आती हैं।

इसके बीजाणु खेत की मट्टी में ही छुपे रहते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही पौधे पर हमला कर देते हैं। यह रोग बम्बई, मध्य भारत, उत्तर-प्रदेश आदि में ज्यादा होता है।

इस रोग की वृद्धि को रोकने के लिए फसल का हेर फेर करना ही एक मात्र उपाय है। यह रोग, भारत के सिवा अन्य देशों में, शायद ही पाया जाता है। जिस पौधे पर इसका मामूली आक्रमण होता है, वह अधमरा-सा हो जाता है और उसकी बाढ़ रुक जाती है एवं फल भी बहुत ही कम बैठते हैं।

यह रोग जड़ों द्वारा ही पौधे पर आक्रमण करता है इसलिए औषधि द्वारा इसे नष्ट करना सरल नहीं है। इस रोग की कोई कारगर दवा भी नहीं मालूम हो पाई है।

अरहर पर लगने वाले गोमज रोग के समान 'इनफ्यूसोरिया' जाति के दूसरे रोग, कपास, चना, तिल, सन आदि फसलों पर भी आक्रमण करते हैं। इन रोगों के लक्षण 'चिटली रोग' से ही मिलते जुलते हैं। इनको नष्ट करने का एक मात्र उपाय रोगी पौधे को उखाड़ कर जला देना और फसलों का हेर फेर ही है।

बटला की फसल के रोग

भूरिया रोग (Powdery mildew)—यह रोग आम, ज़ीरा आदि पर भी हमला करता है, जिससे पैदावार बहुत घट जाती है। यह पौधे के सभी भाग पर आक्रमण करता है। कभी-कभी पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। इसके बीजाणु, बीज पर चिपके रहते हैं। रोगाक्रान्त पौधा ऐसा दिखाई देता है, मानो उसपर सफेद राख छिड़क दी गई हो।

फसल बोने के डेढ़-दो मास बाद गंधक का महीन चूर्ण सिर्फ एक बार छिड़कना पर्याप्त है। गंधक इस तरीके से छिड़कना चाहिए कि, पौधे का प्रत्येक भाग उससे ढक जाय। यदि वर्षा से औषधि धुल जाय, तो दूसरी बार औषधि छिड़कना आवश्यक है।

तिलहन की फसल के रोग

अण्डी की फसल के रोग

हरिया :— अण्डी के पौधों के छह सात इंच ऊँचे बढ़ जाने पर एक प्रकार का गोमज-रोग आक्रमण करता है, जिससे पत्तों पर हलके हरे रंग के छोटे छोटे धब्बे से दिखाई देते हैं। और इसी लिये मध्य भारत के नेमाड़ प्रदेश में उसे हरिया, लीलिया, थोथिया आदि नामोंसे पहचानते हैं। इसका आक्रमण होने पर धीरे धीरे पत्ते झड़ जाते हैं। पौधों की उम्र लगभग छह मास की हो जाने के बाद यह रोग आक्रमण नहीं करता है। यह केवल पत्तों पर ही हमला करता है। छोटे पौधे इसकी मार को सह नहीं सकते हैं और मर जाते हैं। भारत के सिवा अन्य देशों में यह रोग नहीं पाया जाता है।

जिन प्रदेशों में अण्डी के पत्तों पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं, उन प्रदेशों में रोगी पत्ते कीड़ों को नहीं खिलाए जाने चाहिए। रोगी पत्ते खाने से कीड़े मर जाते हैं या इतने कमजोर हो जाते हैं कि, वे बहुत ही छोटा कोश बनाते हैं और रेशम का धागा भी कमजोर होता है।

वर्षा में बोई गई फसल पर ही यह रोग आक्रमण करता है। जिन खेतों में पानी का निकास अच्छा नहीं होता, और पौधों की जड़ों को काफी हवा नहीं मिलती है, उन्हीं खेतों में यह रोग ज्यादा जोर पकड़ता है, और कभी कभी आधी के लगभग फसल मारी जाती है।

मूंगफली की फसल के रोग

टीका रोग :— इसे टिकली भी कहते हैं। यह रोग मूंगफली के पत्तों पर हमला करता है। यह रोग, अमेरिका, अफ्रीका, जावा, मलाया, चीन फिलिपाइन आदि देशों में इस फसल पर आक्रमण करता है।

फसल की उम्र दो मास की हो जाने के बाद रोग प्रकट होता है, जिससे पत्तों पर काले दाग पड़ जाते और धीरे धीरे पत्ते झड़ जाते हैं जिससे खेत में पत्तों के छोटे छोटे ढेर दिखाई देते हैं। यह तने पर भी आक्रमण करता है।

मूंगफली के पत्ते सघन होते हैं। अतएव औषधि से कुछ भी लाभ नहीं होता है, कारण कि नीचे के पत्ते औषधि से गीले ही नहीं हो पाते हैं।

उपचार— सौ सेर पानी में एक पाव नीला थोथा डाल कर तैयार किए गए मिश्रण में बीजों को डुबा कर बोने से रोग का जोर बहुत घट जाता है।

औषधि आदि फसलों के रोग

तमाखू की फसल के रोग

भूरी— यह रोग यूरोप, सिलोन, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका आदि देशों में भी पाया जाता है। पत्तों पर धब्बे पड़ जाते हैं, जो धीरे धीरे बढ़ते जाते हैं और अन्त में पत्ता मुरझा जाता है। प्रारंभ में, यह रोग जमीन के पास के पत्तों पर ही आक्रमण करता है और धीरे धीरे ऊपर की ओर बढ़ता है।

जिन खेतों में पानी का निकास अच्छा नहीं होता और पौधों को काफी हवा नहीं मिलती है, उन्हीं खेतों में यह रोग प्रकट होता है। इस रोग से बचने का एक मात्र उपाय है, पौधों को एक कतार में एक दूसरे से थोड़ी दूरी पर लगाया जाय और झील की जमीन में तम्बाखू कदापि न बोई जाय।

अफीम की फसल के रोग

पत्ता भूरी— इसे गुजरात में छारों और मालवे में भूरियों, और राखोडियों कहते हैं। यह पहले, पत्ते पर लगता है और कलियाँ निकलते ही उन पर हमला करता है। पत्ते पर भूरे धब्बे पड़ जाते हैं। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही यह फूल पर फैल जाता है और तब तने को भी धर दबाता है। इस रोग से पत्ते, फूल और पौधा सूख जाता है।

उपचार— बोर्डो मिश्रण छिड़का जा सकता है; किन्तु इसमें खर्च ज्यादा बैठता है। रोग-ग्रस्त पत्ते और

पौधे हटाकर जला दिए जायँ और फसल निकाल लेने के बाद पौधों के अवशेषों को एकत्रित करके जला दिया जाय।

फल वृक्ष के रोग

संतरा की जाति के वृक्षों के रोग

गोंदिया:—पौधे के तने में से गोंद-जैसा रस बहने लगता है, इसीलिए इसे यह नाम दिया गया है। इस रोग के पैदा होने के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है। छाल फटना, छाल में से गोंद-जैसे द्रव-पदार्थ बहना और छालका शाखा-तना से जुदा होकर गिर पड़ना, इस रोग के मुख्य लक्षण हैं। रोग-ग्रसित पौधे की बाढ़ रुक जाती है, फल कम बैठते हैं और कभी-कभी पौधा मर भी जाता है। सन्तरा की जाति के पौधों का यह एक भयानक शत्रु है। जम्भूरी पर लगाई गई सन्तरा कलमों से तैयार हुए पौधों को यह रोग नहीं लगता है।

उपचार:—नीरोग और पुष्ट पौधे ही बगीचों में बोये जाने चाहिएँ। पौधे के तने के आस पास दो दो फूट तक मिट्टी चढ़ा दी जाय, जिससे वर्षा या सिंचाई का पानी तने को स्पर्श न करने पाए। थालों में तनों से छूता हुआ पानी भरा रहने से, आस पास की मिट्टी में की एक प्रकार की फँफूद तने पर आक्रमण कर देती है। जंभेरी पर जिस जगह चश्मा चढ़ाया गया है, वहीं यह रोग अपनी जड़ जमा लेता है और तब छाल पर हमला करता है। छाल और काष्ट के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भर जाता है, जिसके दबाव से छाल खड़ी फट जाती है और लम्बी चीर में द्रव पदार्थ बहने लगता है।

रोग-ग्रस्त छाल और उसके आस-पास की दो-तीन इंच तक की नीरोग छाल तेज धार वाले चाकू से छील कर हटा ली जाय। छाल निकालते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि काष्ट पर लगी हुई अन्तर्छाल को बिलकुल ही क्षति नहीं पहुँचे। छीले हुए भाग को स्वच्छ पानी से अच्छी तरह धोकर, एक भाग पानी में एक भाग कार्बोलिक ऑसिड मिलाकर चुपड़ दिया जाय। प्रतिशत तीस शक्ति का क्रियोसोट ऑइल भी चुपड़ा जा सकता है। यदि ये न मिल सकें तो डामर पोत दिया जाय।

सन्तरा का क्षय रोग (Die back)—यह बीमारी कुपोषण से ही होती है। जमीन कमजोर होने और पौधों को आवश्यक भोज्य-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में न मिलने से वृद्धि रुक जाती है और वह दुर्बल हो जाता है। जमीन में नीचे चट्टान आ जाने से या जमीन सूख जाने से, जड़ें पौधे को काफी खूराक नहीं पहुँचा सकती हैं; जिससे पौधा धीरे-धीरे कमजोर हो जाता और अन्त में सूख जाता है। यह रोग गोमज के आक्रमण से नहीं होता है।

जिस जमीन में चूने की कमी होती है और नीचे के स्तर में आवश्यकता से अधिक पानी भरा रहता है, उसमें बोए गए झाड़ों को क्षय रोग जल्द दबा लेता है। अतएव पानी के निकास (drainage) का समुचित प्रबन्ध करना और पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक खाद देना अत्यावश्यक है।

रोगी पौधे के पत्तों का हरा रंग बदल जाता है और उन पर धारियाँ पड़ जाती हैं एवं पत्ते पीले पड़ कर झड़ जाते हैं। तने के जमीन के पास के भाग पर नई शाखाएँ निकल आती हैं, जिससे पौधे के बढ़ने वाले भाग को कम भोजन मिलता है, और उसकी बाढ़ रुक जाती है। जड़ों पर भी छोटी-छोटी गाँठें बँध जाती हैं। धीरे-धीरे पौधा कमजोर हो जाता और अन्त में मर जाता है।

उपचार—पौधे की जड़ें खोलकर छोटी और मामूली मोटी जड़ें काट दी जांय। वही जड़ें काटी जानी चाहिए, जिनके काटने से पौधे को क्षति न पहुँचे। पाँच-सात दिन तक जड़ों को धूप और हवा खिला देने के बाद पूरी तरह सड़ी हुई सेंद्रिय खाद डाल कर जड़ें ढक दी जांय। लकड़ी की राख या मछली की खाद भी फायदेमंद पाई गई है। पोटैश और फासफेट युत खाद देने से भी फायदा

होता है। खाद दी जाने के बाद पौधे को काफी पानी सींचा जाय।

सूखी या आधी सूखी वेकार डालियाँ छाँट कर, कटे हुए स्थान पर डामर, फिनाइल मिश्रण या बोर्डो-ऑइल इमलशन (Bordeaux-oil-emulsion) पोत दिया जाय। पौधे पर बोर्डो मिश्रण नम्बर ३ छिड़का जाय।

मर (Dumping off)—रोग नरसरी में उगे हुए शिशु-पौधों पर इस रोग का आक्रमण नहीं होता है। नरसरी में कलमें एक दूसरों से कुछ दूरी पर लगाने और यथा समय काफी सिंचाई करते रहने से यह रोग हमला नहीं करता है। रोग का आक्रमण इतना अनपेक्षित और तीव्र गति से होता है कि रोग का आक्रमण होने की बात ध्यान में आते न आते और उपचार करने का अवकाश मिलने से पहले ही पौधा मर जाता है। अतएव प्रतिदिन नरसरी के पौधों को सावधामी पूर्वक देखते रहना अत्यावश्यक है।

आम के वृक्ष के रोग

काजली—खटमल की जाति का खूंटी के आकार का एक छोटा-सा कीड़ा,—अमकूदा (jasside hopper) एक प्रकार का रस छोड़ता है, जो फूलों पर फैल जाता है। काजल-सा काला गोमज इस पर जम जाता है, जिससे फूल काले नजर आते हैं। इन कीड़ों और काजली से कभी-कभी पूरी की पूरी फसल मारी जाती है। अतएव इस रोग के छुटकारा पाने के लिए अमकूदा का नाश करना आवश्यक है। आम के कीड़ों पर विचार करते हुए इस कीड़े पर पहले लिख आए हैं।

भूरी (Powdry mildew)—यह रोग अंगूर की लता पर लगने वाले रोग के समान ही है। इसे भुकटी भूरी, भूरिया रोग, भुकटा, बूरी आदि भी कहते हैं। इस रोग का आक्रमण होने पर फूलों पर सफेद धुल-सी जमी नजर आती है। प्रारंभ में यह रोग कली के अग्रभाग और कोष (scale) पर दिखाई देता है। पुष्प-कोष और नवजात फलों पर भी यह रोग आक्रमण करता है, जिससे वे निर्जीव होकर गिर पड़ते हैं। रोग के बीजाणु उड़कर अन्य फूल आदि पर फैल जाते हैं। परिस्थिति अनुकूल होने पर यह शीघ्रता से वृद्धि पाता और फैलता है। इस रोग से आम के फल पर दाग पड़ जाते और फल खराब हो जाते हैं।

उपचार—गंधक का चूर्ण छिड़कना लाभदायक है। अमकूदा का नाश करने के लिए छिड़के गए गंधक-चूर्ण से इस रोग का भी नाश हो जाता है।

काली बूरी—माहू (चिकटा) द्वारा छोड़े गए मीठे रस पर बूरी जम जाती है, जिससे पत्ते काले पड़ जाते हैं। इस रोग के लग जाने से पत्ते अपना कार्य ठीक तरह से नहीं कर सकते हैं, जिससे फल कम लगते हैं।

उपचार—माहू या चिकटा कीड़ों को नष्ट करने के लिए छिड़की जाने वाली ओषधि से यह रोग भी नामशेष हो जाता है। माहू के नष्ट होते ही इस रोग का अस्तित्व भी नहीं रहता है।

अमरूद के वृक्ष के रोग

अमरूद के पत्तों पर ताँबे के से रंग के छींटें या बुंदकिया दिखाई देती हैं। इसे मालवे में कहीं-कहीं बुंदकी, छींट, छींटड़ी आदि कहते हैं। धीरे-धीरे यह सभी पत्तों पर फैल जाता है। अति तीव्र आक्रमण होने पर पौधा मर जाता है। रोग-ग्रस्त पत्तों को तोड़कर जला दिया जाय। यह रोग अंजीर पर भी होता है।

अंगूर की लता के रोग

करपा (Anthracnose)—कभी-कभी इस रोग से अत्यधिक क्षति उठानी पड़ती है। इसे नामशेष करना संभव नहीं है। अतएव इसका फैलाव रोकने की कोशिश ही की जानी चाहिए।

असाधारण नमी युत मौसम में जल्दी छाँटी गई लताओं पर यह रोग भयानक रूप से आक्रमण करता है।

प्रारंभ में, पत्तों के डँठल और शिराओं पर छोटे-छोटे भूरे चट्टे या दाग नजर आते हैं। नसों पर पत्ते मुड़ जाते हैं और उनका आकार बिगड़ जाता है। ये दाग कुछ ललाई लिए और बीच में कुछ दबे हुए होते हैं। लता का वृद्धि-शील अंकुर नष्ट हो जाता है और जरा-सा झटका लगते ही टूट जाता है। रोग ग्रस्त फूलों को फल नहीं बैठते हैं। फूल-जले हुए-से नजर आते हैं और उन पर पक्षी की आँख से धब्बे दीख पड़ते हैं। धब्बे का मध्य भाग भूरे रंग का होता है और उनके चारों ओर लाल घेरा सा बन जाता है इसी तरह के दाग फलों पर भी दिखाई देते हैं नवजात फलों की बाढ़ रुक जाती है और वे गिर पड़ते हैं। तीव्र आक्रमण होने पर फल का छिलका फट जाता और बीज दिखाई देने लगते हैं।

नमी और तापक्रम का उस रोग से घनिष्ट सम्बन्ध है। वर्षा या ओस के कारण नमी बनी रहने पर यह रोग तेजी से फैलने लगता है। तापक्रम के घटने से रोग की वृद्धि में सहायता मिलती है। नमीयुत सर्द मौसम में छाँटी गई लताओं पर यह रोग बहुत तेजी से फैलता है।

रोगी भाग को काटकर जला दिया जाय। लता की छँटाई करने के बाद निकले हुए नवजात अँकुरों के १०-१२ इंच लम्बे बढ़ जाने पर बोर्डो मिश्रण नं० २ छिड़का जाय। सर्व प्रथम मई में, दूसरी बार जुलाई के अन्तिम सप्ताह के लगभग या अगस्त के प्रथम सप्ताह में ओषधि छिड़की जाय। दूसरी बार छिड़की जाने वाली ओषधि में २५० सेर बोर्डो मिश्रण में दो पौंड फिश-ऑइल-रोझिन-सोप मिलाना लाभदायक है। यदि प्रारंभ में ही इस रोग का फैलाव रोकने की कोशिश नहीं की गई तो फसल को बचा पाना असंभव हो जाता है।

भूरी (Powdery mildew)—इससे अंगूर की फसल को बहुत नुकसान पहुंचता है। प्रारंभ में, पत्तों पर सफेद धब्बे से नजर आते हैं, जो बाद में भूरे रंग के हो जाते हैं। धब्बा पत्ते के दोनों ओर रहता है। पत्ते के नीचे की ओर के धब्बे का रंग गहरा और ज्यादा सफेद होता है। यह रोग पौधे के बढ़ने वाले भाग पर ही प्रकट होता है। यह गन्ने पर भी आक्रमण करता है। फूलों के रोग-ग्रस्त होने पर फल नहीं बैठते हैं। लगे हुए फल गिर पड़ते और उनकी छाल फट जाती है। मामूली आक्रमण से फलों का आकार बिगड़ जाता है। यह रोग पौधे के सभी अवयवों पर हमला करता है।

उपचार—एक वर्ग इंच में दो सौ छेद वाली छलनी से छना हुआ गंधक-चूर्ण डस्टर-मशीन से छिड़का जाय। यह बजारों में, ग्राउंड सलफर (Ground Sulphur), सबलिम सलफर (Sublim Sulphur) और फ्लावर ऑफ सलफर (Flour of Sulphur) नाम से बिकता है।

रोग की उग्रता और मौसम पर ही यह निर्भर है कि, ओषधि कितनी बार छिड़की जानी चाहिए। उन प्रदेशों में जहाँ अंगूर की खेती बड़े पैमाने पर की जाती हैं, तीन चार बार ओषधि छिड़कना आवश्यक है:—प्रथम बार, छँटाई करने पर नए निकले हुए अंकुरों के १०-१२ इंच लम्बे बढ़ जाने पर, दूसरी बार फूल खिलने से कुछ पहले या फूल खिलना शुरू होने पर और तीसरी बार इससे लगभग एक मास बाद। यदि आवश्यकता जान पड़े, तो चौथी बार औषधि छिड़की जाय। गंधक का चूर्ण छिड़कने के बाद पाँच-सात दिन तक धूप बनी रहे इस बीच वर्षा न हो, तो अच्छा है। यदि वर्षा से ओषधि धुल जाय, तो तुरन्त ही पुनः ओषधि छिड़क देना चाहिए, वर्षा प्रारंभ होने से पहले बोर्डोमिश्रण नंम्बर ३ छिड़कना लाभदायक है।

केवड़ा भूरी या केवड़ा (Dawny mildew)—पत्तों पर कुछ गोल हरे रंग की झाँई युत पीले (केवड़े के रंग के समान) धब्बे दिखाई देते हैं। ये धब्बे बाद में भूरे हो जाते हैं। प्रकाश की ओर रख कर देखने से धब्बे कुछ अधिक पारदर्शक दिखाई देते हैं।

रोग का आक्रमण होने पर नवजात फलों के गुच्छों में

से फल टपकने लगते हैं। शाखा के बढ़ने वाले भाग की बाढ़ रुक जाती है। रोगाक्रान्त फल कड़े होकर सिकुड़ जाते हैं। पूर्ण बाढ़ को पहुँचे हुए तना-शाखा पर यह रोग आक्रमण नहीं करता है। तरीयुत मौसम में ही यह रोग ज्यादा फैलता है। नई छाँटी हुई लताओं के नवजात अंकुरों पर घातक आक्रमण करता है।

पान की लता के रोग

पान का उकठा या नागर उकठा (wilt)— इस रोग से कभी कभी नागरवेल की पनवाड़ी नष्ट हो जाती है। पनवाड़ियों में यह रोग बना ही रहता है। रोग के बीजाणु मट्टी में रहते हैं। ग्रीष्म-ऋतु में बीजाणु पड़े रहते हैं। किन्तु वर्षारंभ होते ही ये अपने पैर फैलाने लगते हैं। कहा जाता है कि, जैब खाद देने से यह जोरों से फैलने लगता है।

प्रारंभ में पत्ते निस्तेज दिखाई देते और नीचे की ओर को झुक जाते हैं। यह रोग सब से पहले सिरे पर के पत्तों पर आक्रमण करता है। धीरे धीरे पत्ते पीले पड़कर गिर जाते हैं। कुछ ही दिनों में रोगाक्रान्त लता मुरझा जाती है और तना सड़ जाता है। रोगी तना थोड़ा-सा खींचते ही उखड़ जाता है।

उपाय—सौ फूट लम्बी कतार की मट्टी को, सौ सेर बोर्डोमिश्रण से, गमलों को पानी सींचने के झोर से, लता के आस-पास की मट्टी को सींचा जाय। इससे रोग के बीजाणु निर्जीव हो जाते हैं और लता की बाढ़ को भी तेज गति मिल जाती है। लता पर बोर्डो मिश्रण नम्बर ३ छिड़का जाय।

इस रोग को नामशेष करने के लिए, लता बोने के स्थान की मट्टी हटाकर बोर्डोमिश्रण नम्बर ३ सींच कर बीज बोया जाय और प्रतिमास बेल के आस-पास की मिट्टी हटाकर यह मिश्रण सींचा जाता रहे।

पान की बाड़ी में घास-पात आदि बेकार पौधे न उगने देए जायँ। बाड़ी के आस-पास गहरी नालियाँ खोद कर पानी के निकास का उत्तम प्रबन्ध कर दिया जाय। जिस बाड़ी में यह रोग लगा हो, उस बाड़ी में काम में ली गई मचान की लकड़ी आदि दूसरी बाड़ी में काम में न ली जायँ। वर्षा में खली आदि जैब-खाद न दिए जायँ। कृत्रिम या रासायनिक खाद ही उपयोग में लिए जायँ। बेलों पर आवश्यकता से अधिक छाया न की जाय। रोग का चिन्ह दिखाई देते ही रोगी लता पर और उसके आस-पास की सात-सात आठ-आठ बेलों पर बोर्डोमिश्रण छिड़का जाय।

ताड़ की जाति के पौधों के रोग

सुपारी के वृक्ष के रोग

कोलोरोगा—यह कन्नड़ भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'सड़ाने वाला रोग'। यह अधिकतर सुपारी के झाड़ पर ही आक्रमण करता है, जिससे सुपारी टपक पड़ती है और पैदावार बहु घट जाती है।

यह रोग बहुधा जून मास के अन्त में या जुलाई मास के प्रारंभ में दिखाई देता है। रोगी सुपारी का प्राकृतिक हरा रंग नष्ट हो जाता है और उस पर सफेद भूसी जम जाती है। यह रोग ज्यादातर बरसात में ही फैलता है, जिससे लोगों की धारणा हो गई है कि, वर्षा ही रोग को जन्म देती है। किन्तु वास्तव में, बात ऐसी नहीं है। वर्षा में, अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने से ही, रोग जोरों से फैलता है।

उपचार—बोर्डोमिश्रण या बरगंडी मिश्रण छिड़का जाय।

साग भाजी की फसल के रोग

गोभी के फसल के रोग

ब्लैक रोगः—यह रोग मट्टी के पास, तना पर आक्रमण करता है। तना पिचक कर पीला पड़ जाता है और उसकी नसें काली हो जाती हैं। इसके आक्रमण से नरसरी के

पौधे मर जाते हैं। बोने से पहले बीजों को ११२ अँश (फा) गरम पानी में भिगो लेने से रोग लगने की आशंका बहुत कम हो जाती है। एक प्रतिशत मरकरी-क्लोराइड के मिश्रण में भिगो लेने से भी बीज पर चिपके हुए रोगों के बीजाणु मर जाते हैं।

जड़ पर गाँठ बाँधना (Club Root)—जड़ों पर गाँठें बँध जाने से उनकी जमीन में से भोजन ग्रहण करने की शक्ति घट जाती है, जिससे पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण पौधा कमजोर हो जाता है। मट्टी में अम्लता बढ़ जाने से ही यह रोग होता है। चूने की खाद देने से अम्लता दूर हो जाती है। एक छटाक मरकरी-क्लोराइड को सौ सेर पानी में मिलाकर नरसरी में सींचने से फायदा होता है। नरसरी की मट्टी में ज्यादा पानी भरा नहीं रहना चाहिए। अतएव पानी के निकास का प्रबंध करना आवश्यक है। फसल के हेर फेर की ओर भी पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

आलू की फसल के रोग

चूड़ी रोग (Ring disease)—इसे महाराष्ट्र में बांगड़ी, कन्नड़ में 'चक्ररोग' मध्य भारत में 'चूड़ी,' या 'मूंदड़ी रोग'। 'चकरी रोग' और 'चक्री' कहते हैं। आलू की खेती करने वाले सभी प्रदेशों में यह रोग पाया जाता है।

प्रारम्भ में, रोग पत्तों पर आक्रमण करता है। रोग की प्रारंभिक अवस्था में, पत्ते पर एक छोटा-सा भूरा दाग नजर आता है, जो धीरे-धीरे बढ़कर मूंदड़ी (अंगूठी) या चूड़ी के समान गोलाकार हो जाता है। पहले पहल रोगी पौधे का कुछ हिस्सा मुरझाया हुआ दिखाई देता है, किन्तु शीघ्र ही पूरा पौधा मुरझा जाता है। यह रोग पूरे खेत में एक साथ ही प्रकट नहीं होता है। खेत में इधर उधर एक आध पौधे या उसके किसी भाग पर ही रोग का आक्रमण होता है। रोगी पौधे के आलू की बाढ़ रुक जाती है, जिससे आलू छोटे रह जाते हैं और पैदावार कम आती है। कई आलू सड़ भी जाते हैं। फसल पकने का समय नजदीक आने पर ही यह रोग आक्रमण करता है। पत्ते पीले पड़कर गिर जाते हैं। कोमल तना सिकुड़ कर मुरझा जाता है। कुम्हलाए हुए तने को दबाने या चीर कर देखने से मटमैले रंग का सफेद-सा या गहरा खाकी रंग लिए सफेद पदार्थ दिखाई देता है। तने में रोग के बीजाणु वर्तमान रहते हुए भी पौधा नीरोग दिखाई देता है और उसका रंग हरा भी दिखाई देता है।

चित्र ३२—आलू का चूडी रोग (चक्री रोग)

विज्ञान-परिषद् की प्रकाशित प्राप्य पुस्तकों की सूची

१—**विज्ञान प्रवेशिका, भाग १**—विज्ञानकी प्रारम्भिक बातें सीखने का सब से उत्तम साधन—ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; सजिल्द; ॥।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—इसमें रसायन विज्ञान उपन्यास की तरह रोचक बना दिया गया है, सब के पढ़ने योग्य है—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—पृष्ठ संख्या १२१४, ; १४० चित्र तथा नकशे—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग में, मूल्य ८)। इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—**वैज्ञानिक परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमाँसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १॥) द्वितीय भाग ॥=)

७—**निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्नि नत्रीहो० बी एस-सी०; ॥।)

८—**बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी, १।),

९—**गुरुदेव के साथ यात्रा**—डाक्टर जे० सी० बोस की यात्राओं का लोकप्रिय वर्णन; ।=)

१०—**केदार-बद्री यात्रा**—केदारनाथ और बद्रीनाथ के यात्रियों के लिये उपयोगी; ।=)

११—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१२—**मनुष्य का आहार**—कौन-सा आहार सर्वोत्तम है—ले० वैद्य गोपीनाथ गुप्त; ।=)

१३—**सुवर्णकारी**—क्रियात्मक—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

१४—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का सग्रह १)

१५—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ; सैकड़ों चित्र, सजिल्द; २)

१६—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले०-प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द; २)

१७—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमडल का सरल वर्णन—ले -डाक्टर के० बी० माथुर; १८६ पृष्ठ; २५ चित्र सजिल्द २),

१८—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और

पुराने सभी ढंगोंका ब्योरेवार वर्णन । इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम०, ए०; २१८ पृष्ठ; ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१९—**कलम पेबंद**—ले०—श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों, मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी; सजिल्द; २)

२०—**जिल्दसाजी**—क्रियात्मक और ब्योरेवार । इससे सभी जिल्दसाज़ी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०; १८० पृष्ठ, ६२ चित्र; सजिल्द २)

२१—**त्रिफला**—दूसरा परिवर्धित संस्करण,-प्रत्येक वैद्य और गृहस्थ के लिए—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, २१६ पृष्ठ; ३ चित्र, एक रङ्गीन; सजिल्द २॥=)

"यह पुस्तक गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की १३ श्रेणी के लिए द्रव्यगुण के स्वाध्याय पुस्तक के रूपमें शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है।"

२२—**तैरना**—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गयी है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२३—**अंजीर**—लेखक—श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार-अंजीर का विशद वर्णन और उपयोग करने की रीति । पृष्ठ४२, दो चित्र, मूल्य ।=)

यह पुस्तक भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के शिक्षापटल में स्वीकृत हो चुकी है ।

२४—**सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद । बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। विज्ञान के आकार के ४५ पृष्ठ और २३० चित्रों से सजे हुए ग्रन्थ की शोभा देखते ही बनती है। सजिल्द मूल्य ६)

२५—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्त-प्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ॥)

२६—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ॥)

२७—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम उपयोगी आविष्कारों का समावेश तथा अनुभवी फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे आदि दिये गये हैं । २६८ पृष्ठ और ६४ चित्र सजिल्द मूल्य ४)

२८—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनानेकी अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री श्री बीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी०, कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२९—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौडाई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है । पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

३०—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय सस्करण ले०—पण्डित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है । २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ० ।३।५

भाग ७४ | कुम्भ सं० २००८, फरवरी १९५२ ई० | संख्या ५

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

का ३८ वाँ वार्षिक उत्सव

१० मार्च सन् १९१३ को एक अधिवेशन में म्योर सेन्ट्रल कालेज, प्रयाग के कुछ अध्यापकों ने (महामहोपाध्याय पं० गङ्गानाथ झा, प्रो० हमीद उद्दीन साहेब, श्री रामदास जी गौड़ और पं० सालिग राम भार्गव ने) यह निश्चय किया कि देशी भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य की रचना और प्रचार का काम सुसंगठित रूप से चलाने के लिए "वर्नाक्युलर साइंटिफिकिट लिटरेचर सोसाइटी" की स्थापना की जाय। इस संस्था का हिन्दी नाम डा० झा ने विज्ञान परिषद् और उर्दू नाम मौलवी हमीद-उद्दीन ने अञ्जुमन-सनाअ-व-फ़नून रक्खा। उस समय के प्रिंसिपल जे० जी० जेनिंग्स ने इस संस्था को म्योर कालिज में स्थान दिया। जेनिंग्स के सभापतित्व में ही इस वर्ष परिषद् का पहला व्याख्यान श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने दिया। सन् १९१३ में परिषद् की स्थापना, हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य पर छोटी-छोटी पुस्तकों का लिखा जाना, और वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में व्याख्यानों का आरम्भ होना, वस्तुतः पंडित गङ्गानाथ झा के शब्दों में एक "अद्भुत" घटना थी। जब परिषद् ने 'विज्ञान प्रवेशिका' नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की, तो साहित्य-जगत् में उसका आदर हुआ।

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य का कुछ कार्य १९ वीं शताब्दी के अन्त में ही आरम्भ हो गया था। पं० लक्ष्मी शङ्कर मिश्र और पं० सुधाकर द्विवेदी की गणित और ज्योतिष की कुछ पुस्तकें उस समय प्रकाशित हुईं। परिषद् ने इन चालीस वर्षों में वैज्ञानिक साहित्य की काफी सृष्टि की है। "विज्ञान" पत्रिका ने ३९ वर्षों में १४ सहस्र पृष्ठों की पठनीय सामग्री जनता को भेंट की। जिस समय परिषद् की स्थापना हुई थी, उस समय हमें आशा कम थी, कि इतने शीघ्र विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक शिक्षण का माध्यम हिन्दी हो जायगी। हमें यह जानकर सन्तोष होता है कि इन्टरमीडिएट कक्षाओं तक के विद्यार्थी आज हिन्दी में अध्ययन करते और परीक्षा

देते हैं। परिषद् ने इस दिशा में जो मार्ग-प्रदर्शन किया है, वह महत्वपूर्ण है।

जहाँ परिषद इतना काम कर सकी है, वहाँ हमें अभी आगे बहुत करना है। हिन्दी में आज उतना भी वैज्ञानिक साहित्य नहीं है जितना यूरोप के छोटे छोटे देशों की भाषाओं में है। जनता और सरकार दोनों की उदासीनता खेद की बात है।

३८ वें वर्ष (अक्टूबर १९५० से सितम्बर १९५१) का कार्य विवरण

इस वर्ष का कार्य गत ३,४ वर्षों की अपेक्षा अधिक संतोषजनक रहा। इस वर्ष हमने तीन नई पुस्तकें प्रकाशित की हैं—(१) साँपों की दुनियाँ, (२) फसल के शत्रु (३) पोर्सलीन उद्योग। साँपों की दुनियाँ कई वर्ष पहले से आधी छपी पड़ी थी जिसे हम अब पूरा कर सके हैं। इसके अतिरिक्त घरेलू डाक्टर, उपयोगी नुसखे तथा मधुमक्खी-पालन के नये संशोधित संस्करण भी छपे हैं। इस प्रकार अपनी प्रचलित पुस्तकों के भंडार को, जो समाप्त हो चुका था, हम पुनः पूरा कर सके हैं। इस कार्य में हमारा सारा धन व्यय हो गया है और जो पुस्तकें पुनः प्रकाशित हुई हैं उनके लिए धन हमें अपने स्थायी कोष से लेना पड़ा है परन्तु पुस्तकों के पर्याप्त मात्रा में हो जाने के कारण हमें विश्वास है कि क्रमशः हम इस ऋण को पूरा कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त हमारी अन्य पुस्तकें जैसे ताप, सूर्य-सिद्धान्त वायुमण्डल, मिट्टी के बर्तन, कलम पेवन्द, सरल विज्ञान-सागर, उपयोगी नुसखे तथा घरेलू डाक्टर के अन्य भाग का प्रकाशन होना आवश्यक है। परन्तु इसके लिए हमारे पास धन नहीं है। सरकार या विज्ञान के अन्य उदार प्रेमियों की सहायता के बिना हम यह कार्य करने में असमर्थ हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार से हमें १२००) वार्षिक सहायता मिलती है जो बहुत ही कम है। परन्तु हमें यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि गत २-३ वर्षों से हमारी उत्तर प्रदेश सरकार हमें कुछ न कुछ अधिक रुपया (Non-recurring Grant) के रूप में दे देती है। इस प्रकार इस वर्ष हमें ३०००) मिला जिसकी सहायता से हम कुछ पुस्तकें प्रकाशित कर सके हैं तथा विज्ञान का एक विशेषाङ्क निकाल रहे हैं जिसका नाम होगा "राष्ट्रीय अनुसन्धानशाला विशेषाङ्क।" उसमें हम उन ११ प्रयोगशालाओं के सम्बन्ध में विवरण देंगे जो केन्द्रीय सरकार ने गत २-३ वर्षों के अन्दर खोला है। इस प्रकार अपनी राष्ट्रीय सरकार द्वारा किए गए कार्य को हिन्दी भाषा में हम जन-साधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे। यह अङ्क लगभग १० फार्म का होगा तथा इसमें लगभग ४० चित्र होंगे। इस सहायता के लिए हम अपने शिक्षा-मंत्री माननीय डा० सम्पूर्णानन्द जी तथा शिक्षा-सञ्चालक डा० इबादुर्रहमान के बहुत ही कृतज्ञ हैं। इस सहायता के बिना हम यह सब करने में असमर्थ थे।

विज्ञान परिषद् एक अखिल भारतीय संस्था है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा तो अब हुई है। परन्तु यह परिषद् गत ३८ वर्षों से हिन्दी भाषा में विज्ञान का जन-साधारण में प्रचार करती रही है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने के पश्चात् हमने यह आशा की थी कि हमें अपनी केन्द्रीय सरकार से इस कार्य में कुछ सहायता मिलेगी। हमने केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री माननीय मौलाना आज़ाद तथा शिक्षा-सचिव ताराचन्द्र जी को प्रार्थना-पत्र भेजे तथा कई पत्र लिखे परन्तु उत्तर यही मिला कि सरकार हमारी सहायता करने में असमर्थ है। इस उत्तर से हमको दुखी तो न होना चाहिये था, हमारी सरकार है यदि पैसा नहीं है तो दुख किस बात का। परन्तु फिर भी यह ध्यान अवश्य होता है कि जहाँ अनेक ऐसी

संस्थायें हैं जो उर्दू या हिन्दुस्तानी का प्रचार करने के लिए बहुत सा रुपया पा रही हैं, इस संस्था को रुपया न मिले। फिर रुपया हम किस लिए चाहते हैं? हिन्दी में विज्ञान के प्रकाशनार्थ। हमारे सभी कार्य-कर्त्ता, सम्पादक, लेखक—सब सेवा-भाव से यह कार्य करते हैं, कोई भी कुछ वेतन नहीं लेता।

हमारी मासिक पत्रिका 'विज्ञान' अब ठीक समय पर निकलती है और इसका श्रेय हमारे प्रधान सम्पादक डा० हीरालाल निगम तथा श्री जगपति चतुर्वेदी जी को है। हमें अभी विज्ञान में अनेक सुधार करने हैं। इसे रोचक तथा लोक-प्रिय बनाना है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे ग्राहक बढ़ें तथा अधिक आर्थिक सहायता मिले। इसके अतिरिक्त हमें एक वैतनिक सहायक सम्पादक की आवश्यकता है जो पत्रिका के प्रकाशन का कार्य सँभाले तथा पुस्तकों के प्रकाशन में भी हमारी सहायता करे।

गत वर्ष हमने यह कहा था कि हमारा विचार हिन्दी में एक चतुर्मासिक अनुसन्धान-पत्रिका निकालने का है। हमारे देश में अभी इस प्रकार का कोई पत्र नहीं है। इसमें अनुसन्धान-लेख तो हिन्दी में छपेंगे परन्तु लेखों का सारांश हिन्दी तथा अँग्रेजी और यदि सम्भव हुआ तो फ्रेन्च व जर्मन में भी छपेंगे जिससे abstract करने वालों को सरलता हो और हमारे अनुसन्धान संसार के abstracts में स्थान पा सकें। अन्य देशों में इस प्रकार की पत्रिकायें छपा करती हैं। इसमें लगभग ३०००) प्रति वर्ष लगेगा। यह सोचकर कि केवल योजना रखने से कोई रुपया न देगा, हमने इस कार्य का श्रीगणेश कर दिया है। इसका पहला अङ्क अप्रैल तक प्रकाशित होगा। इस अनुसन्धान-पत्रिका के मुख्य सम्पादक डा० सत्यप्रकाश हैं तथा सम्पादक-मंडल में डा० कर्मनारायण बाहल, डा० दौलत सिंह कोठरी, डा० अवधेश नारायण सिंह तथा डा० रञ्जन हैं। स्वतन्त्र भारत में हिन्दी में वैज्ञानिक पत्रिकायें निकालना आवश्यक है तथा इससे हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अधिक प्रौढ़ होंगे।

हमारे कार्यों का सुचारु रूप से न चल सकने का एक कारण हमारा अपना विज्ञान-भवन न होना है। डा० राय रामचरण जी अग्रवाल की सहायता से हमें इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट से एक छोटी सी जमीन मिल रही है। भवन बन जाने से हमारे कार्य में बड़ी सहायता मिल सकेगी और पूर्ण आशा है कि तब हमारा कार्य और सुचारु रूप से चल सकेगा।

सभ्य तथा पदाधिकारी

इस वर्ष परिषद के आजीवन सभ्यों की संख्या ४७, साधारण सभ्यों की संख्या ८१ तथा ग्राहकों की संख्या २०५ रही।

इस वर्ष परिषद् के पदाकिारी इस प्रकार थेः—

सभापति—माननीय श्री हरिश्चन्द्र जी, जज, हाईकोर्ट

उप सभापति (१) श्री हीरालाल खन्ना

(२) डा० श्री रंजन

प्रधान मंत्री—डा० रामदास तिवारी

मंत्री—(१) डा० हीरा लाल दुबे

(२) डा० रमेशचद्र कपूर

कोषाध्यक्ष—श्री हरिमोहनदास टंडन

स्थानीय अंतरंगी—(१) प्रो० सालिकराम भार्गव (२) डा० दिव्य दर्शन पंत (३) डा० गोरख प्रसाद (४) डा० सन्तप्रसाद टंडन

प्रधान सम्पादक—डा० हीरालाल निगम

बाहरी अन्तरंगी—(१) श्री जनार्दन प्रसाद शुक्ल (कानपुर) (२) डा० बृजमोहन (काशी वि० वि०) (३) डा० रामनिवास राय (देहली वि० वि०) (४) डा० रामाधार मिश्र (लखनऊ वि० वि०) (५) डा० ओंकार नाथ परती (सागर वि० वि०)

आयव्यय परीक्षक—डा० सत्यप्रकाश

परिषद् के भूतपूर्व सभापति

१. डा० सर सुंदर लाल	१९१३-१९१७	२. माननीय सर राजा राम पाल सिंह	१९१७-१९२०
३. श्रीमती डा० एनी बीसेण्ट	१९२० १९२१	४. जस्टिस श्री गोकुल प्रसाद	१९२१-२२
५. डा० सी० वाइ० चिन्तामणि	१९२२-१९२५	६. श्रद्धेय बाबू शिव प्रसाद गुप्त	१९२५-१९२७
७. महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा	१९२७-१९३०	८. डा० नीलरत्नधर	१९३०-१९३३
९. डा० गणेश प्रसाद	१९३३-१९३५	१०. डा० कर्मनारायण वाहल	१९३५-१९३८
११. प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा	१९३८-१९४१	१२. प्रो० सालिग राम जी भार्गव	१९४१-१९४५
१३. डा० श्री रञ्जन	१९४५-१९४८	१४. श्री हरिश्चन्द्र जी जज	१९४८-१९५१

वर्ष १९५०-५१ के आय-व्यय का लेखा

आय

आजीवन सभ्यों से	१०१)
साधारण सभ्यों से	२०३)
पुस्तकों की बिक्री से	७४६।)
विज्ञान के ग्राहकों से	७६०॥।≡)
उ० प्र० सरकार से	२०००)
ब्याज से	११०॥)
	४०२४॥≡)
पिछली रोकड़ बाकी	४२७८॥-)४
फिक्स्ड डिपाज़िट का रुपया लिया गया	३६६९)८
	११९७२।-)

व्यय

लेखक का वेतन	५२०)
चपरासी का ,,	४०५)
गोदाम का किराया	१८०)
एक्का ठेला आदि	२०॥।=)
पारसल आदि का खर्च	२०॥)
स्टेशनरी	४॥)
विज्ञान की छपाई	२९८६॥)
अन्य पुस्तकों की छपाई	४३०३।=)
पोस्टेज	२९३।=)॥
फुटकर	३॥।=)॥
कागज़	१५०८॥।≡)
ब्लाक बनवाई	५८५॥।-)
बैंक कमीशन	८-)४
साइकिल की मरम्मत	१४-)
प्रूफदिखाई (विज्ञान)	२२०)
पुरस्कार (श्री शंकर राव जोशी)	२००)
गोदाम के लिये ३ रैक बनवाये	१५६)
	११४३२॥।=)
रोकड़ बाकी	५३९।=)२
	११९७२।-)

पुस्तकों के मुद्रण-व्यय का ब्योरा इस प्रकार है :—

(१) उपयोगी नुसखे—२००० प्रतियाँ

कागज़	११८०।≡)
ब्लाक	३८६।≡)
प्रूफ़रीडिंग	८०)
छपाई	१३६७)
	२६५४=)

(२ घरेलू डाक्टर—१००० प्रतियाँ

कागज़	३२८॥)
ब्लाक	८७)
फ्लैप का कागज	४०)
बाइंडिंग व छपाई	१०३३)
	१४८८॥)

(३) मधु-मक्खी-पालन १००० प्रतियां

कागज़	६१०।≡)
ब्लाक	२३५॥–)
छपाई	६३८।)
	१४८४।)

तीनों पुस्तकों की छपाई में कुल ५९२७=) रु० खर्च हुआ।

विज्ञान के सम्बन्ध में (१९५०-५१) के आय-व्यय का लेखा

आय		व्यय	
ग्राहकों से	७६०।॥≡)	विज्ञान की छपाई तथा कागज़	२९८६।।)
सभ्यों से	१२७)	ब्लाक बनवाई	५८५।॥)
यू० पी० सरकार से	१२००)	डाक खर्च	१५२।–)
	२११७।॥≡)	लेखक का वेतन कुल का ⅓	३४६॥=)८
		चपरासी का वेतन ,,	२७०)
पिछली रोकड़ बाकी	४२७८॥–)४	गोदाम का किराया ,, ½	६०)
		इका ठेला स्टेशनरी आदि फुटकर	४६।॥)॥
	६३९६॥)४	साइकिल की मरम्मत	१४–)
		प्रूफ दिखाई	२२०)
		रैक बनवाई	१५६)
			४८७४=) २
		रोकड़ बाकी*	१५२२।=) २
			६३९६॥) ४

*नोट—(१) गत दो वर्षों से विज्ञान की रोकड़ बाकी का कारण विज्ञान का अनियमित रूप से छपना रहा। विज्ञान बहुत पिछड़ा रहा और पुराने अंकों की छपाई इसी रोकड़ बाकी से देनी है।

(२) यह रोकड़ बाकी पुस्तकों की छपाई में खर्च हो गई है।

आगामी वर्ष (१९५१-५२) के लिये अनुमान-पत्र

(परिषद् के सम्बन्ध में)

आय		व्यय	
आजीवन सभ्यों से	१४०)	विशेषांक के लिये	१०००)
साधारण सभ्यों से	१२०)	पोर्सलीन पुस्तक की छपाई	३००)
पुस्तकों की बिक्री से	१२८४)	फसल के शत्रु की छपाई	१२००)
सरकार से	३०००)	अनुसंधान पत्र	६००)
	४५४४)	स्टेशनरी	४०)
		डाक व्यय	१८०)
		लेखक का वेतन कुल का ⅓	१८०)
		चपरासी ,, ⅓	१४४)
		गोदाम का किराया कुल का ½	१५०)
		विज्ञान का घाटा—	७५०)
			४५४४)

आगामी वर्ष (१९५१-५२) का अनुमात्रन-प

(विज्ञान के सम्बन्ध में)

आय		व्यय	
ग्राहकों से	७५०)	विज्ञान की छपाई	१४४०)
सभ्यों से	१५०)	,, का काग़ज़	६००)
सरकार से	१२००)	कवर का काग़ज़	२००)
	२१००)	,, की छपाई	४००)
		बाइंडिंग	२४०)
पिछली पोकड़ बाकी	१५२२।=) २	ब्लाक बनवाई	३००)
	३६२२।=) २	प्रूफ दिखाई	२४०)
घाटा परिषद देगा—	७५०)	डाक व्यय	१५०)
	४३७२।=) २	लेखक का वेतन कुल का ⅔	३६०)
		चपरासी का वेतन ,,	२८८)
		गोदाम का किराया कुल का ½	१५०)
		फुटकर	४।=) २
			४३७२।=) २

३८ वाँ वार्षिक अधिवेशन

विज्ञान परिषद का ३८ वाँ वार्षिक अधिवेशन २३ जनवरी सन् १९५२ को प्रयाग विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान विभाग के लेकचर थिएटर में हुआ। अधिवेशन के पूर्व लाला रामदयाल अग्रवाल ने अतिथियों को जल-पान कराया। तत्पश्चात् अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। मुख्य अतिथि माननीन श्रीप्रकाश जी का स्वागत परिषद के गत वर्ष के सभापति माननीम जस्टिस हरिश्चन्द्र ने किया। अधिवेशन के प्रारम्भ में सभापति महोदय ने जनता को परिषद के कार्यों से अवगत कराया। मुख्य अतिथि माननीय श्रीप्रकाश जी ने भी अपना भाषण दिया। डा० रामकुमार सक्सेना ने शिलीन्ध्र (Fungi) के महत्व पर मनोरंजक भाषण दिया। अंत में नए सभापति श्री० हीरालाल खन्ना ने अतिथि तथा श्रोताओं को धन्यवाद देकर अधिवेशन समात किया

माननीय श्रीप्रकाश जी का भाषण

विज्ञान-परिषद, प्रयाग के ३८ वें वार्षिक उत्सव में माननीय श्री श्रीप्रकाश, मंत्री, प्राकृतिक साधन तथा वैज्ञानिक अनुसंधान, केन्द्रीय सरकार ने प्रमुख अतिथि रूप में भाग लिया। माननीय मंत्री महोदय ने वैज्ञानिकों से आग्रह किया कि वे अपने अनुसंधानों आविष्कारों, तथा प्रयोगशालाओं को जन-साधारण के सर्वोत्तम लाभ के लिए उपयुक्त करें और इस प्रकार देश का सर्वाधिक कल्याण करने का अवसर प्राप्त करें। उन्होंने वैज्ञानिकों से यह भी अनुरोध किया कि वे सारी जनता के जीवन का दृष्टिकोण वैज्ञानिक बनावें ताकि वे अपनी स्थिति सुधार एवं उत्कृष्ट जीवन-यापन कर सकें। माननीय श्री श्रीप्रकाश जी ने यह भी कहा कि भारतवर्ष वैज्ञानिकों से केवल प्रयोगशाला-कार्य की ही आशा नहीं रखता, प्रत्युत जीवन के वैज्ञानिक या समुचित पथ-निर्देश की भी आशा रखता है। विज्ञान द्वारा सुसम्मत जीवन के व्यवस्थित तथा नियमित जीवन-मार्ग में ही सफलता का रहस्य निहित है।

माननीय श्रीप्रकाश जी ने परिषद द्वारा अब तक किए कार्य की प्रशंसा की और आशा की कि उसे निरन्तर सफलता प्राप्त होती रहेगी और वह भारत में विज्ञान के क्षेत्र में एक आदर्श कार्य कर दिखायगी। किन्तु उन्होंने खेद प्रकट किया कि यथेष्ट धन के अभाव में ऐसी संस्थायें आशानुकूल कार्य कर सकने में असमर्थ होती हैं। उन्होंने वैज्ञानिकों जनता में वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार के लिए आह्वान किया तथा अनियन्त्रित जन-संख्या-वृद्धि के प्रति सावधान किया।

माननीय श्री प्रकाश जी ने विज्ञान के ज्ञान के प्रसार की आवश्यकता समझाई तथा यह कहा कि एक वैज्ञानिक का कार्य सत्य की शोध करना तथा जन-साधारण के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करना है।

विज्ञान-परिषद् के सभापति
माननीय जस्टिस हरिश्चन्द्र का भाषण

भाइयो और बहनो

मैं विज्ञान परिषद् की ओर से बड़े हर्ष के साथ माननीय श्र प्रकाश जी का स्वागत करता हूँ। वे अनेक सरकारी कार्यों में व्यस्त रहते हैं और इस समय चुनाव के कारण अवकाश न होते हुए भी उन्होंने समय निकाल कर आज यहाँ उपस्थित होने की कृपा की इसके लिए मैं उनको अनेक धन्यवाद देता हूँ। उनकी देशभक्ति, विद्वत्ता, कार्य-कौशल और त्याग आप सब जानते ही हैं। इस समय वह भारत सरकार के वैज्ञानिक अनुसन्धान के मंत्री हैं। उन्होंने हमारे इस वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होकर हमको बहुत प्रोत्साहन दिया है।

यह एक पुरानी संस्था है जो अत्यन्त प्रतिकूल समय होते हुए भी उत्साह के साथ काम करती रही है। अब समय अनुकूल होते हुए भी आर्थिक कठिनाई तथा अन्य कारणों से पूरा काम नहीं कर पा रही है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी, जैसा आपको वार्षिक रिपोर्ट से ज्ञात हुआ होगा, इस संस्था की ओर से एक चतुर्मासिक अनुसन्धान-पत्रिका निकालने का आयोजन किया जा रहा है। मैं आशा करता हूँ कि वैज्ञानिक अनुसन्धान क्षेत्र में यह एक उच्च कोटि की उपयोगी पत्रिका बन जावेगी और समय पर इस देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को प्रौढ़ बनाने में भी भाग ले सकेगी। इसके अतिरिक्त अनेक उपयोगी वैज्ञानिक पुस्तकों को राष्ट्र भाषा में तैय्यार कराने का भी प्रयत्न किया जा रहा है।

श्री रामचरण अग्रवाल, चेयरमैन, इलाहाबाद इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, की सहायता से हम लोगों को एक छोटा जमीन का टुकड़ा मिल जाने की आशा हो गई है और आशा है कि शीघ्र ही हमारा एक अपना स्थान बन जावेगा जिसके बिना हम लोगों को कार्य में बड़ी कठिनाई पड़ती रही है।

यह एक अखिल भारतीय संस्था है। उत्तर प्रदेश सरकार से हमको जो सहायता मिलती रही है उसके लिये हम अपने सरकारी शिक्षा विभाग के आभारी हैं और आशा करते है कि इसी प्रकार उत्तर प्रदेश की सरकार से हमें प्रोत्साहन और सहायता मिलती रहेगी। किन्तु हमारे उद्देश्य बहुत बड़े हैं और हम केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर दिलाना चाहते हैं और आशा करते हैं कि केन्द्रीय सरकार भी इस संस्था के उद्देश्य पर ध्यान रखते हुए हमको यथोचित आर्थिक व अन्य सहायता प्रदान करेगी।

हमारे कार्यकर्त्ता केवल प्रेम के नाते बड़े उत्साह और भक्ति से इस संस्था के काम में लगे हुए हैं और यदि किसी प्रकार यह आर्थिक और अन्य कठिनाइयां दूर हो जावें तो मुझे पूर्ण आशा है कि थोड़े ही काल में यह संस्था अपना काम सुचारु रूप से करने लगेगी और इस देश की वैज्ञानिक उन्नति में पूर्ण भाग ले सकेगी।

अन्त में मैं श्री डा० रामकुमार सक्सेना को उनके रोचक और लाभदायक भाषण के लिए धन्यवाद देता हूँ और अपने प्रधान अतिथि माननीय श्री श्रीप्रकाश जी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने यहाँ आने का कष्ट किया।

आजीवन सभ्य

१—श्री गोपाल स्वरूप भार्गव एम० एस-सी० कायस्थ पाठशाला इन्टर कालेज, इलाहाबाद
२—श्री हरदयाल सिंह बी० एस-सी० ६० गौतम मार्ग, लखनऊ
३—श्री कन्हैयालाल भार्गव, रईस कीटगंज इलाहाबाद
४—श्रीमती रानी फूलकुमारी देवी साहिबा १२ ए० पी० सेन रोड, लखनऊ
५—श्री नील रतन धर डी० एस-सी०, बेली रोड, इलाहाबाद
६—श्री शंकर प्रसाद भार्गव, एम० ए०, एल-एल० बी० शंकर सदन, ११३/४८ सरजू नगर, कानपुर
७—श्री प्रिन्सपल हीरालाल खन्ना, ८/२१५ आर्यनगर, कानपुर
८—श्री चुन्नीलाल साहनी, (रिटायर्ड डाइरेक्टर, शिक्षा विभाग उत्तर प्रदेश) लखनऊ
९—श्री डा० डी० बी० देवधर रिटायर्ड प्रोफेसर, फिजिक्स डिपार्टमेन्ट, लखनऊ
१०—श्री बा० पुरुषोत्तम दास टंडन क्रास्थवेट रोड इलाहाबाद
११—श्री डा० सत्य प्रकाश जी डी० बेली रोड इलाहाबाद
१२—श्री परमानन्द जी, चैथम लाइन्स, इलाहाबाद
१३—माननीय श्री हरिश्चन्द्र जी एम०एस-सी०आई० सी० एस० १२, हैमिल्टन रोड, इलाहाबाद
१४—श्री के० एन० भाल, वाइस चान्सलर विश्वविद्यालय, पटना
१५—श्री पं० अमरनाथ झा, जार्ज टाउन, इलाहाबाद
१६—श्री वेंकट लाल ओझा 'साहित्य रत्न' कसरट्टा रोड, हैदराबाद (दक्षिण)
१७—श्री स्वामी हरिशरनानन्द जी वैद्य, अकाली मार्केट, अमृतसर, पू० पंजाब
१८—श्री वेद मित्र जी, बी० एस-सी प्रयाग
१९—श्री तोताराम शर्मा, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर
२०—श्री चन्द प्रकाश गोविल सी० ई०, एस० डी० ओ० कैनाल पी० डब्लू० डी० लक्ष्मी बिल्डिंग, बन्दर रोड, करांची
२१—श्री आर० बी० लाल, सुपरिन्टेन्डेन्ट क्लेम्स एण्ड रिफन्ड्स मिन्ट हाउस, बनारस कैन्ट
२२—श्री डा० श्रीरंजन, डी० एस-सी०, ए० बेली रोड०, इलाहाबाद
२३—श्री पुरुषोत्तमदास स्वामी रसायन विभाग, डूँगर कालेज शान्ति आश्रम, बीकानेर
२४—श्री डा० सदगोपाल, डी० एस-सी०, फारेस्ट रिसर्च इन्सटीटयूट देहरादून
२५—श्री प्रो० दयाशंकर दुबे एम० ए० इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, दारागंज, इलाहाबाद
२६—श्री लाल उदयभान सिंह जी (गौरा रायबरेली) ५६ गुइन रोड, लखनऊ
२७—श्री शिवबहादुर सिनहा, एम० ए०, एल-एल० बी० वकील स्टेशन रोड, रायबरेली
२८—श्री राजा रघुवीर सिंह जी राजासाहेब "मछन्द" पो० महौना ज़िला भिण्ड (ग्वालियर स्टेट)
२९—श्री ओंकारनाथ शर्मा, लोकोमोटिव फ़ोरमैन, कासगंज जंकशन

३०—श्री कल्याण जी ओधव जी गाँधी रूम न० १ मुखराचाल पांजरा पोल कम्पाउन्ड, बम्बई न० २

३१—श्री स्वामी अभयानन्द जी गुरुकुल घटकेश्वर N.S.R.

३२—श्री डा० रामदास तिवारी रसायन विभाग—विश्व विद्यालय, इलाहाबाद

३३—श्री ओंकारनाथ परती लेकचरर रसायन विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर, (C.P.)

३४—श्री राजा कैंवट लाल जी लोया C/o सीताराम नारायण लाड बाजार, हैदराबाद (Deccan)

३५—श्री रामशंकर त्रिवेदी श्री राधाकृष्ण काटन मिल्स न० २, १७५, गिरीश घोष रोड, बेलूर, हावड़ा

३६—श्री डा० वृजमोहन पी-एच०-डी० हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

३७—श्री सभापति, साइंस असोसियेशन, सेंट एन्ड्रूज़ कालेज, गोरखपुर

३८—श्री रामचरण मेहरोत्रा रसायन विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

३९—श्री हरिमोहन दास टंडन, रानीमंडी, इलाहाबाद

४०—श्री युत नन्दकुमार तिवारी १३ डी० प्रयाग स्ट्रीट इलाहाबाद

४१—श्री दुकालूप्रसाद मिश्र मालगुज़ार सेड़ी खेड़ी, पो० रायपुर (C.P.)

४२—श्री कैलाशनाथ कपूर C/o श्री बांकेलाल गोपीनाथ लि० २०३ हरिसन रोड, कलकत्ता

४३—श्री डा० हीरालाल दुबे, रसायन विभाग विश्व विद्यालय, इलाहाबाद

४४—लाइब्रेरियन भारती भवन लाइब्रेरी, इलाहाबाद

४५—पं० जनार्दनप्रसाद शुक्ल एम० एस-सी० वायु केमिस्ट, रामपुर डिस्टिलरी, रामपुर

४६—श्री सेठ हज़ारी लाल गुप्त, बस्की, दारागंज, इलाहाबाद

४७—श्री विरेन्द्र नारायण सिंह, सेल्स टैक्स आफ़िसर, फतेगढ़

४८—श्री श्यामसुन्दर जी रमन लाल बल्देवदास शुगर मर्चेंट कलक्टरगंज, कानपुर

४९—लाला दयाराम मातादीन भगवानदास आयलमिल, कानपुर

५०—श्री डा० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग विश्व विद्यालय इलाहाबाद

५१—डा० सन्त प्रसाद टन्डन, डायमन्ड जुबली होस्टल, इलाहाबाद

५२—डा० रमेश चन्द्र कपूर, रसायन विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय,

५—डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

५४—प्रोफेसर अमियचन्द्र बनर्जी, गणित विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

५५—डा० अमर सिंह, वनस्पति-विज्ञान विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

सभ्य

१—श्री प्रो० एच० आर दिवेकर, एम० ए०, डि० लिट० औदिक वैद्य का वाड़ा, छत्री बाज़ार लश्कर (ग्वालियर)

२—श्री डा० निहाल करन सेठी डी० एस-सी० आगरा कालेज, आगरा

३—श्री फूलदेव सहाय वर्मा, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

४—श्री प्रो० सालिगराम भार्गव, इलाहाबाद विश्व विद्यालय, इलाहाबाद

५—श्री डा० गोरख प्रसाद जी डी० एस-सी० इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

६—श्री डा० राम प्रसाद त्रिपाठी, वाइस चांसलर सागर वि० विद्यालय, सागर (C. P.)

७—प्रोफेसर शान्ती स्वरूप दसज, दरबार कालेज रीवा

८—श्री डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी०-एच० डी०, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

९—श्री हरदास शर्मा पो० सकरार, झांसी

१०—श्री राव सुखपाल सिंह मु० व पो० कोढेरा (ग्वालियर) via जावरा अलापुर

११—श्री नन्दलाल मालवीय २१४ खरिलकार रोड गुरगांव, बम्बई ४

१२—डा० दिव्यदर्शन पन्त, बनस्पति विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय

१३—कर्नल श्रीगोविन्द तिवारी साइंस विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१४— श्री बृजराजकिशोर एम० बी० बी० एस०, शिवचरणलाल रोड, इलाहाबाद

१५—श्री प्रो० एम० एल० सराफ, बिरला कालिज, पिलानी (जयपुर स्टेट)

१६—श्री घनश्याम दीक्षित डिवीजनल सुपरिन्टेन्डेन्ट ई० आई० आर०, ५. खुसरू बाग हाउस लीडर रोड इलाहाबाद

१७—श्री आनन्द मोहन, डिप्टी चीफ ट्रान्सपोर्टेशन सुपरिन्टेन्डेन्ट आसाम रेलवे, स्टेशन कालोनी, गौहाटी (आसाम)

१८—श्री राजा भाऊ लक्ष्मण राव घोड़गांवकर पो० कम्नवान, धार स्टेट (सी० आई०)

१९—श्री छोटू भाई बी० एस-सी० विशारद, चरोतर एजूकेशन सोसाइटी अनाद, (गुजरात)

२०—श्रीविद्या सागर 'विद्यालंकार' जगन्नाथ दुलीचन्द बिल्डिंग, नई चन्दावल, सब्ज़ी मंडी दिल्ली

२१—श्रीमहन्त शान्तानन्द नाथ जी, श्री श्रवण नाथ, ज्ञानमन्दिर पुस्तकालय हरद्वार

२२—श्री आर० पी० सक्सेना, परेड, कानपूर

२३—श्री डा० अवधेश नारायण सिंह, लखनऊ वि० विद्यालय, लखनऊ

२४—श्री रामदास जी चैकर, दौराला खांड़ मिल्स दौराला, जिला मेरठ

२५—श्री मन्त्री सार्वजनिक पुस्तकालय पो० तारा-नगर, बीकानेर स्टेट

२६—श्री बलवीर सिंह जी C/o नेशनल इम्पोरियम रुड़की, यू० पी०

२७—श्री के० पी० सेंगरिया, आई० एफ़० एस० मंत्री, फारेस्ट पालिस कमेटी, सेन्ट्रल प्राविन्सेज एण्ड बरार, नागपुर (C. P.)

२८—श्री रामनारायण जी कपूर, बी० एस-सी० मिशन रोड कलकत्ता

२९—श्री पं० चेतराम शर्मा, आर्य कन्या गुरुकुल, राजवड़ी पोरबन्दर, काठियावाड़

३०—श्री निरञ्जन लाल हरिशङ्कर, महावीर गंज, अलीगढ़

३१—श्री युत श्रीकृष्ण, पाडेय कान्यकुब्ज इन्टर मीडियेट कालेज, लखनऊ

३२—श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव बी० एस०-सी० C/O श्री सरजू प्रसाद जी एडवोकेट जौनपुर

३३—श्री मुरलीधर साहु ५ मेडिकल कालेज हास्टल पो० बांकीपुर पटना

३४—श्री के० एस० कृष्णन, एफ० आर० एस० दिल्ली

३५—श्री श्रीनिवास झगड़ूलाल शर्मा, परमानी निजाम स्टेट

३६—श्री डा० एफ० सी० आलक फिजिक्स डिपार्ट मेंट, देहली यूनिवर्सिटी, देहली

३७—श्री श्री कृष्णलाल जी पोद्दार ११५ ए० चितरञ्जन एवेन्यू कलकत्ता

३८—डा० यमुनादत्त तिवारी, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

३९—श्री पं० गोवर्धन शर्मा 'विशारद' सत्योषधालय बेगम बाजार, हैदराबाद (दक्षिण)

४०—श्री डा० बी० एन० प्रसाद, गणित विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

४१—श्री नित्यानन्द जी, कृष्ण आयल मिल्स, ८ ए० नई मंडी मुजफ्फर नगर (यू० पी०)

४२—श्री चिरंजी लाल पालीवाल मु० मझिला पो० इद्रगढ़ जिला फतेहगढ़

४३—श्री जगदेव प्रसाद मु० जयनगर पो० बरहज बाजार, जिला गोरखपुर

४४—असिस्टेन्ट सिक्रेट्री, गुजरात विद्यासभा, भद्र (अहमदाबाद) (गुजरात)

४५—श्री सुरेश चन्द्र माथुर C/O बा० अनूप नारायण, सब गवर्नमेन्ट प्लीडर, शिकोहाबाद (ई० आई० आर०)

४६—श्री विजन चक्रवर्ती, नया कटरा, इलाहाबाद

४७—श्री सुशील कुमार श्रीवास्तव एम० एस-सी० प्रोफेसर मैथेमेटिक्स, दरबार कालेज, रीवां

४८—श्री कैलाश नाथ जी बगला नं० २५ रेलवे कालोनी इन्जीनियर D. O. R. गोरखपुर

४९—श्री मंत्री, हिन्दू प्रकाशन मंडल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस

५०—श्री रामदेव मिश्र, बाटनी डिपार्टमेन्ट, सागर विश्व-विद्यालय सागर (सी० पी०)

५१—श्री श्रीनिवास दास वैद्य, श्रीराम औषधालय जीरापुर (होल्कर स्टेट) via पाचौर

५२—श्री डा० सुरेन्द्र प्रसाद जी, १३ मेडिकल कालेज होस्टल पो० लहरियासराय दरभंगा

५३—श्री बा० बट्टन लाल गुप्ता आडीटर सहकारी विभाग मऊरानी-झांसी

५४—श्री मोहनलाल लड्ढा C/O लाढूराम मोहन लाल १८० हरिसन रोड, कलकत्ता

५५—श्री जसवंतसिंह मंडल B. B. C. I.

५६—श्री एम० पी० मुशरान, रसायन विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद

५७—श्री गोपीकृष्ण दास एम० एस-सी०, रत्नाकर भवन, शिवाला, बनारस

५८—श्री एस० नागराज, कराइकुन्डी, मदरास

५९—श्री हीरालाल निगम, रसायन विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

६०—श्री ए० बी० महाजनी एम० एस-सी०, रसायन विभाग, सागर विश्वविद्यालय सागर C. P.

६१—श्री एस० लाल, एम० एस-सी० लेकचरर रसायन विभाग, सागर विश्वविद्यालय सागर (सी० पी०)

६२—श्री एस० एन० झा, बी० एस-सी० (एग्री०) लेकचरर आफ एग्रीकलचर, दरबार डिगरी कालेज रीवाँ

६३—श्री सतगुर सरन निगम, लेकचरर रसायन विभाग, सागर विश्वविद्यालय सागर (C.P.)

६४—श्री जी० एस० पण्ड्या, आफिस आफ दी डी० एम० आई० मिनिस्ट्री आफ इन्डस्ट्री एण्ड सपलाई, पो० वर्नपुर, जिला बर्दवान।

६५—श्री परमेश्वर नाथ भार्गव एम० एस-सी० पबलिक अनलिस्ट, पबलिक हेल्थ लेबारेटरी जलेब चौक, जयपुर

६६ –श्री पी० वी० देहादराय लेकचरर इन जियालोजी सागर विश्वविद्यालय सागर (सी० पी०)

६७—श्री ओम प्रकाश, C/O नत्थूमल खयाली राम महावीर गंज, अलीगढ़

६८—श्री रामधर मिश्र, रीडर, गणित विभाग यूनिवर्सिटी, लखनऊ

६९—श्री जागेश्वर दयाल वैश्य, इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स, कोटा राजस्थान

७०—श्री महेश चन्द्र गुप्ता, गोला महादेव, चन्दौसी (U.P.)

७१—श्री प्रहलाद राय सिंहानिया पोस्ट आफिस समस्तीपुर जि० दरभंगा (विहार)

७२—श्री रामचन्द्र गुप्त ४२ शाह खाकी, मेरठ

७३—श्री वृजकिशोर मालवीय किंग जार्ज मेडिकल कालेज, लखनऊ

७४—श्री रुद्र पालसिंह जी इलाहाबाद विश्व विद्यालय इलाहाबाद

७५—श्री राम प्रसाद मिश्र जहानाबाद गया (रबिहार)

७६—श्री बद्री प्रसाद जोशी बी० एस-सी०, बी० टी०, माधव निवास मंडी, उदयपुर, (मेवाड़)

७७ –श्री अरुन डे, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्व विद्यालय इलाहाबाद

७८—श्री राम मूर्ती मेहरोत्रा, गवर्नमेन्ट हायर सेकेन्डरी स्कूल, प्रताप गढ़

७९—श्री द्वारका नाथ बदामी, भौतिक विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

८०—श्री दामोदरदास खन्ना मिलेटरी साइन्स विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय

८१—डा० सत्येश्वर घोस रसायन विभाग प्रयाग वि०

८२—,, इकबाल कृष्ण तैमिनी ,, ,, ,,

८३—,, बालकृष्ण ,, ,, ,,

८४—,, कृष्णबहादुर ,, ,, ,,

८५—,, तेजनारायण शिवपुरी ,, ,, ,,

८६—श्री स्वरूप नारायण तिवारी ,, ,, ,,

८७—,, कृष्णकान्त वर्मा ,, ,, ,,

८८—,, सत्यप्रकाश, रसायन विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद कालेज प्रयाग

८९—डा० प्रेमनाथ सक्सेना, रसायन विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद कालेज प्रयाग

९०—,, रवीन्द्रनाथ सिंह चौहान रसायन विभाग चौधरी महादेव प्रसाद कालेज प्रयाग

९१—श्री श्यामविहारी लाल श्रीवास्तव भौतिक विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद कालेज प्रयाग

९२—,, विजयनारायण सहारिया भौतिक विभाग चौधरी महादेवाप्रसाद कालेज प्रयाग

९३—डा० नन्दकिशोर, रसायन विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद कालेज प्रयाग

९४—श्री नरेन्द्र प्रसाद श्रीवास्तव, कायस्थ पाठशाला इन्टर कालेज प्रयाग

९५—श्री रघुवंश नारायण माथुर, कायस्थ पाठशाला इन्टर कालेज प्रयाग

९६—श्री वीरेन्द्र प्रताप खरे कायस्थ पाठशाला इन्टर कालेज प्रयाग

९७—श्री वी० एस० दलेला, कायस्थ पाठशाला इन्टर

९८—इन्द्रमोहन लमगोड़ा कायस्थ पाठशाला इन्टर कालेज प्रयाग

९९—बाला प्रसाद श्रीवास्तव, ईविंग क्रिश्चियन कालेज प्रयाग
१००—कैप्टेन रामकृष्ण कौल, रसायन विभाग प्रयाग वि० वि०
१०१—डा० बलदेव विहारी सक्सेना, रसायन विभाग प्रयागविश्वविद्यालय
१०२— " हारूराम मेहरा, जीवविज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१०३— " उमा शङ्कर श्रीवास्तव, जीव विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१०४— " मुरलीधर श्रीवास्तव, जीव विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१०५— " सात कौडिदत्त, जीव विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१०६— " हरीशङ्कर चौधरी, जीव विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१०७— " धर्मेन्द्रनाथ वर्मा, जीव विज्ञानविभाग, प्रयाग वि० वि०
१०८— " धर्मनारायण, जीव विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१०९— " सत्यनारायण प्रसाद, जीव विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
११०— " कैलाशनाथ श्रीवास्तव, जीवविज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१११— " रामकुमार सक्सेना, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११२— " ब्रह्म स्वरूप मेहरोत्रा, वनस्पति विभाग प्रयाग वि० वि०
११३— " कामेश्वर सहाय भार्गव, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११४—श्री गिरजादयाल श्रीवास्तव, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११५— " शम्भू प्रसाद नैथानी, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११६— " ए० के० मित्रा, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११७— " अनन्त प्रसाद मेहरोत्रा, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११८— " रामनारायण टन्डन, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
११९— " नारायण सिंह परिहार, वनस्पति विभाग, प्रयाग वि० वि०
१२०— " के० मजूमदार, भौतिक विज्ञान, प्रयाग वि० वि०
१२१—श्री बालकृष्ण श्रीवास्तव, भौतिकविज्ञान, विभाग प्रयाग वि० वि०
१२२—डा० विशम्भर दयाल सक्सेना, भौतिक विज्ञान, प्रयाग वि० वि०
१२३—श्री कृष्ण गोपाल, भौतिक विज्ञान, विभाग प्रयाग वि० वि०
१२४— " प्रेमस्वरूप, भौतिक विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१२५— " आनन्द प्रकाश, भौतिक विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि०
१२६— " देवकुमार मिश्र, ग्रंथमाला कार्य्यालय, पटना
१२७—डा० देवेन्द्र शर्मा, भौतिक विज्ञान विभाग, प्रयाग वि० वि० प्रयाग

कृषि में हारमोन्स का उपयोग

लेखिका :—कुमारी रवीन्द्र कौर

कृषि विज्ञान के नवीन अनुसंधानों में हरमोन्स का उपयोग बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उसी का विशद विवरण इस लेख में लेखिका ने किया है।

भारत कृषि-प्रधान देश है लेकिन यहाँ की कृषिप्रणाली योरप की कृषिप्रणाली से १०० वर्ष पिछड़ी है। योरप में भी इधर २० वर्ष से ही इस ओर वैज्ञानिकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। मुख्यतया रसायन शास्त्र की सहायता से अलौकिक परिणाम निकले हैं और मनुष्य अब प्राणियों के विकास के ढाँचे को परिवर्तन करने में समर्थ हो सका है।

इससे बढ़कर अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन क्या हो सकता है जैसे बीज-रहित फल पैदा करना। अब तक तो यह समझा जाता था कि फल लगने के लिए गर्भाधान आवश्यक है लेकिन अब वैज्ञानिक जीव-उत्पत्ति की गूढ़ समस्याओं को समझने और परिवर्तन करने में तुला बैठा है।

इस लेख में कुछ रसायनिक पदार्थ, जिनको सामूहिक रूप से "हारमोन्स" (Hormones) कहते हैं, का उल्लेख किया गया है और इनके पृथक उपयोगों से वनस्पतियों में क्या क्या विभिन्नता हुई है, संक्षिप्त रूप से वर्णन किया जा रहा है।

ये पदार्थ निम्नलिखित विभिन्न उपयोगों के लिए प्रयुक्त हुए हैं :—

(क) कलम या पैवन्द लगाना

(ख) असमय फल गिर पड़ने पर नियंत्रण

(ग) बीज-रहित फल पैदा करना

(घ) बीजों को हारमोन से प्रभावित करना

(च) खर-पतवार का नियंत्रण

(छ) सुप्तावस्था (dormancy) को भंग करना व बढ़ाना

यह आयोजन किया गया है कि छोटे छोटे लेख क्रम से निकाले जाँय जिनमें उपर्युक्त प्रत्येक समस्या समावेश हो।

साधारणतः फल, पौधों में गर्भाधान के बाद लगते हैं। इसकी अधिक बारीकी में जाने के पूर्व में एक उभय-लिंगी फूल का उदाहरण लेकर वर्णन करूँगी।

फूल पुष्पनाल के द्वारा तने अथवा शाखा से लगा रहता है। इसका ऊपरी सिरा छोटी चपटी घुन्डी के आकार का होता है जिसको स्तम्भक कहते है जिसके ऊपर पुष्पपर्णों के चार चक्र क्रमानुसार पुट-चक्र (calyx), दल-चक्र

(corolla) पुलिंग-चक्र (Androecium) और स्त्रीलिंग चक्र (Gynoecium) रहते हैं।

पुनर्जनन की क्रिया से सीधे सम्बन्ध रखने वाले पुंकेसर तथा गर्भकेसर आवश्यक भाग कहे जाते हैं।

गर्भ केसर के तीन भाग होते हैं। पहले सबसे निचला फूला हुआ भाग जिसको गर्भाशय कहते हैं, दूसरा गाँठ के समान चिपचिपा शिखर का हिस्सा जिसको योनिछत्र कहते हैं और इन दोनों के बीच के भाग को योनिसूत्र कहते हैं। में पराग-रेणु परिपक्व होने पर, परागकोष्ठ के फूट पड़ने पर स्त्रीलिङ्ग-चक्र के योनिछत्र पर गिरता है जो परिक्व होने पर कुछ थोड़ा सा स्निग्ध हो जाता है, जिस पर पराग-रेणु चिपक जाते हैं। तत्पश्चात पराग जमने पर एक नलिका बाहर निकालते हैं जो गर्भाशय के अन्तस्तल में पहुंच जाता है जहाँ पराग के जीवित द्रव्य और गर्भ-विन्दु के जीवित द्रव्य में सम्मिश्रण हो जाता है। इस क्रिया को गर्भाधान कहते हैं। गर्भाधान के परिणाम-स्वरूप गर्भ में कोष-विभाजन

उभयलिंगी फूल
चित्र नं० १
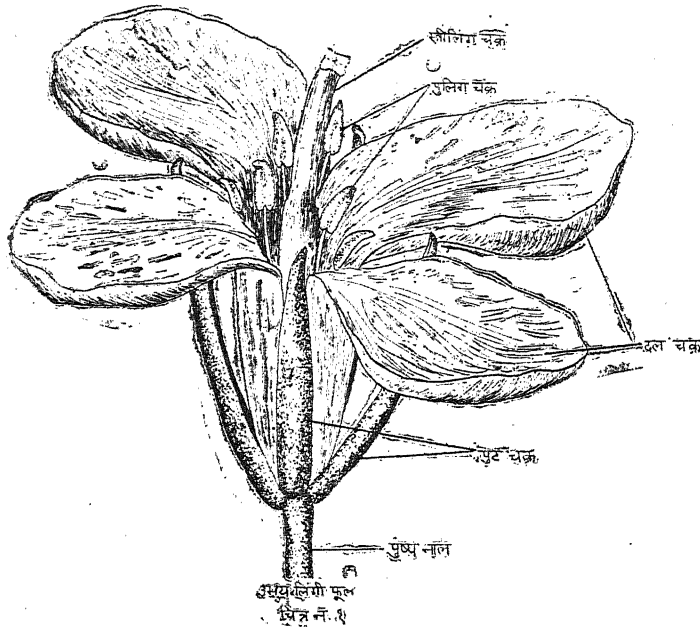
गर्भाशय में गर्भकोष्ठ होते हैं जिनमें गर्भ-विन्दु या रज-विन्दु रहते हैं जिनसे बीज बनता है।

प्रत्येक पुंकेसर में चार पराग-कोष्ठ (anther lobes) होते हैं जो लिङ्गसूत्र (filament) के शिखर पर संयोजक (Connective) द्वारा जुड़े रहते हैं। छत्र के कोष्ठो में पराग विद्यमान रहता है।

पौधों की कुछ जातियों में एकलिंगी (Unisexual) फूल होते हैं और ऐसी दशा में फूल में या तो पुलिंग चक्र होता है या स्त्रीलिङ्ग चक्राआत्मसेचित फूलों सम्पन्न होने लगता है। गर्भान्वित होने के साथ 'हारमोन्स नामक रसायनिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो गर्भाशय के अन्य भागों में फैलकर गर्भाशय के विकसित होने का कारण बनते हैं जैसे अँगूर, नारङ्गी, खीरा आदि फलों में किन्तु कतिपय अवथाओं में जहाँ गर्भाशय स्तम्भक में आवेष्टित रहता है हारमोन्स के प्रभाव से स्तम्भक का विकास होता है जिसके परिणाम-स्वरूप स्तम्भक से फल बनता है जैसा कि सेब, नासपाती आदि के फलों में।

ऐसे हारमोन्स पौधों के अतिरिक्त रसायनशाला में

निर्मित कर लिए गए है और बिना गर्भान्वित कराए ही कृत्रिम रूप से फलों का विकास किया जा सका है।

हारमोन टमाटर आदि के फलों की उपज-वृद्धि करने में विशेष रूप से सहायक हैं। यह देखा गया है कि इन वस्तुओं का उपयोग करने से उत्तमतर प्रकार के फल शर्करा और विटामिन "सी" की अधिकतायुक्त उत्पन्न किये जाते हैं और फलों की उपज भी अधिक होती है।

एक नवीनतम और उल्लेखेनीय रूप में रसायनिक पदार्थों के उपयोग से बड़े पैमाने पर बीजरहित फल उत्पन्न करने का प्रयत्न 'ओवरबीक' द्वारा अनन्नास में किया गया है, डाइक्लोरो फेनोक्सी एसेटिक एसिड और नेप्थेलीन एसेटिक एसिड के उपयोग द्वारा ओवरबीक ने अनन्नास को सभी ऋतुओं और इतने विभिन्न रूप में इस प्रकार प्रवर्तित करने में सफलता प्राप्त की जो कि बागबानी की विधियों से उत्पन्न करना कठिन है।

प्रकृति में बिना बीज के उत्पन्न होने वाले फलों में केला, वाशिंगटन की नेवल औरेन्ज, अंगूर, चीनी परसीमम आदि हैं, हारमोन के प्रयोग से अनेक प्रकार के बीजरहित फल कृत्रिम रूप से पैदा किये जा सकते हैं।

ऐतिहासिक

कृत्रिम निःसेच्य प्रजनन-विज्ञान का प्रारम्भ सबसे प्रथम सन् १८४६ ई० में गार्टनर (Gartner) ने किया।

मिलारडेट (Millardett) ने १६०१ में योरोपीय अंगूरों की कुछ जातियों में निसेच्य प्रजनित फल प्रवर्तित किया और खीरा वर्ग के फूलों के गर्भाशय में वृद्धि की, इसी प्रकार मैसर्ट (Massart) ने १६११ ई० में आरकिड के फूल के योनिछत्र पर मृत पराग छिड़कने पर गर्भाशय में वृद्धि थोड़ी मात्रा में अनुभव किया।

फिटिंग (Fitting) ने १६०६ में आरकिड के साथ बहुसंख्यक प्रयोग किये और देखा कि कुछ प्रकार के आरकिड के पराग-रस, फूल के गर्भाशय में प्रयुक्त किये जाने पर उनमें विकास उत्प्रेरित करते हैं।

सन् १६१८ ई० से लेकर १६३६ ई० तक लैबाक (Laibach), यासुडा (Yasuda) और अन्यों ने विभिन्न प्रकार के पराग को आरकिड, बैंगन, तम्बाकू, ककड़ी आदि के फल का विकास करने के लिये उपयोग किया।

गस्ताफसन (Gustafson) प्रथम व्यक्ति था जो निःसेच्य प्रजनित फल विकास को अन्य कृत्रिम रसायनिक पदार्थों से जो पौधों में विद्यमान नहीं रहते, सम्पन्न करने में सन् १६३६ ई० में समर्थ हुआ। पुष्ट फल के विकास के लिये उत्प्रेरण करने वाले निश्चित रसायनिक द्रव्य का प्रथम वैज्ञानिक उल्लेख यही है। जिन फलों पर वह सफल हो सका था वे ये हैं—स्नैपड्रैगन, मिर्च, बिगोनिया, तरबूज, तम्बाकू, कद्दू आदि।

गस्ताफसन द्वारा प्रयुक्त रसायनिक पदार्थ निम्नलिखित थे :—

इन्डोल एसीटिक एसिड; इन्डोल प्रोपियोनिक एसिड, इन्डोल ब्यूटाइरिक एसिड, फिनाइल एसीटिक एसिड।

अन्य बहुत से रसायनिक पदार्थ तब से फल-विकास उत्प्रेरण करने में काम में लाये गये हैं। उनमें से कुछ ये हैं—फेनाइल नेफ्थाक्सी एसीटिक एसिड, नेप्थलीन एसीटिक एसिड।

साधारणतः लोग समझते हैं कि गूलर में फूल नहीं होता है लेकिन यथार्थ में उसमें फूल होते हैं जो कि बन्द स्तंभक के अन्दर छिपे रहते हैं। गूलर में पुष्पन (Inflorescence) एक नासपाती के आकार के स्तंभक से आवेष्टित रहता है। यह स्तंभक खोखला रहता है और इसके आंतरिक दीवाल पर बहुसंख्यक फूल स्थित रहते हैं। (चित्र नं० २) स्तंभक का द्वार बहुत छोटा होता है। पुष्प खोखले भाग को पूर्ण रूप से भरे से रहते हैं, ये पुष्प नर व मादा दो रूप के रहते हैं। कुछ जातियों में दो प्रकार के मादा फूल होते हैं (चित्र नं० २ब) एक में लम्बे योनिसूत्र और विकसित योनिछत्र और दूसरों में छोटे योनिसूत्र और छोटे योनिछत्र पाये जाते हैं। दूसरे प्रकार के फूल को द्रुस्फोट पुष्प (Gall flower) (चित्र नं० २स) कहते

हैं। अधिकांश जातियों में खोखले पुष्पन के निम्न भाग में मादा पुष्प पाई जाती है और नर फूल स्ततंभक के द्वार पर
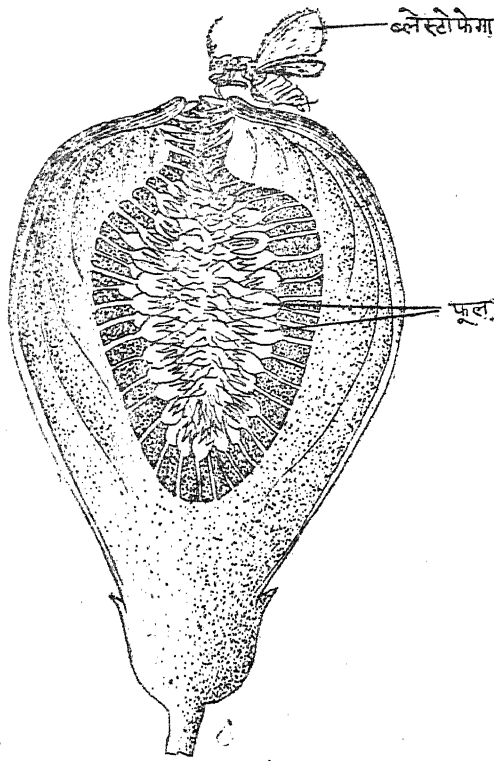
गूलर का पुष्पंन
चित्र नं 2

होते हैं। (चित्र नं० २अ) परागीकरण का वाहक ब्लेस्टोफेगा नामक कीट होता है जो स्तम्भक के खोखले में द्वार से प्रविष्ट होता है और फिर गर्भाशय में पहुंच जाता है, वहाँ वह अंडे देता है और गर्भाशय उसके बाद फूल जाता है। इसको ही दुस्फोट पुष्प कहते हैं। जब कीट युवा हो जाते हैं तो वे दुस्फोट पुष्प को त्याग देते हैं और अल्पकाल तक ही पुष्प व्यूह के गर्त में रुकते हैं। जितनो शीघ्र ही संभव हो सकता है वे खुली हवा में निकल आते हैं। ऐसा करने से स्वभावतया ही वे नर फूल के पराग के संसर्ग में आते हैं और अपना सम्पूर्ण शरीर रेणु आच्छादित कर लेते हैं। तब वे

2 (ब)
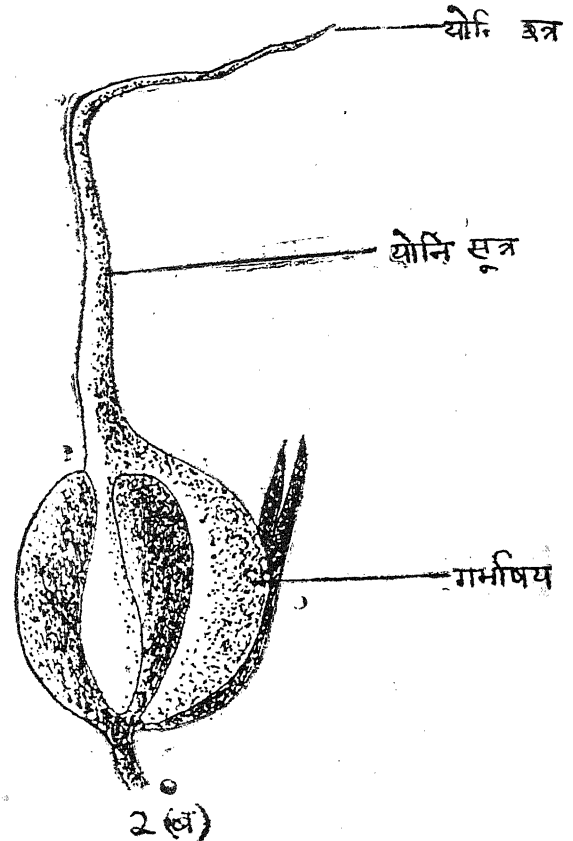
उसी वृक्ष या निकट के अन्य गूलर वृक्ष के पुष्प व्यूह पर उड़ कर चले जाते हैं, जन्म से अब तक उनका शरीर पराग से आच्छादित रहता है और यह पराग दूसरे फूलों के योनिछत्र पर छिटक जाता है और इस प्रकार पराग सेचन क्रिया हो जाती है।

उद्यान-विज्ञान-वेत्ताओं ने प्रायः देखा है कि उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में प्राप्त ऋतु आदि सम्बन्धी उपादान गूलरों की उत्पत्ति के लिये उपयुक्त है जिनसे उनका भरपूर उत्पादन होना चाहिये। परन्तु इन स्थानों में इन कीटों के अभाव के कारण फल नहीं बनते। ऐसी अवस्था में हारमोन्स का उपयोग अत्यन्त उपादेय सिद्ध होता है।

सन् १९४९ ई० में क्रेन्स और ब्लान्डियन ने गूलर में

नर फूल
२ (अ)
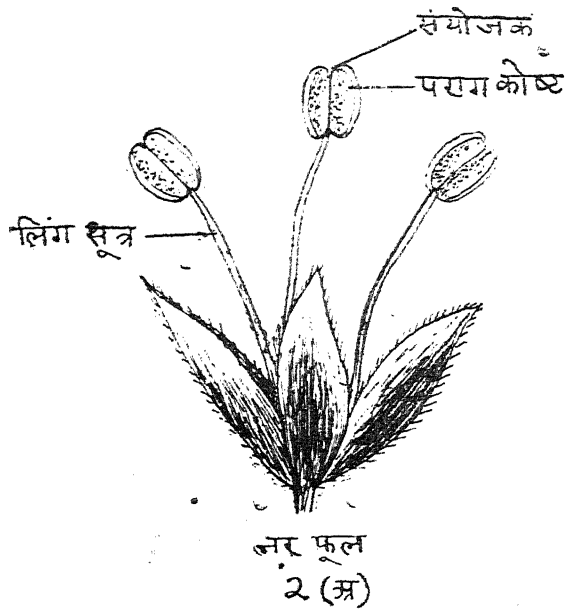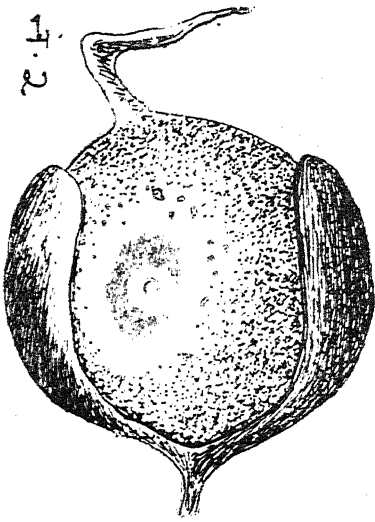
द्रुष्फोट मादा फूल
२ (स)

प्रजनित फल प्रवर्तित करने के लिये हारमोन की परीक्षा की। उन्होंने देखा कि इन्डोल व्युटाइरिक एसिड असेच्य प्रजनित फल उत्पन्न करने में अत्यधिक प्रभावोत्पादक है जो परागीकृत नियंत्रण के समक्ष बराबर ही या अधिक उत्तम परिणाम उत्पन्न करने वाली है। इस प्रकार उत्पन्न असेच्य प्रजनित फल पूर्णतया बीजहीन थे।

फल-प्रवर्तन के लिये उपकरण-विधि

असेच्य प्रजनित फल उत्पन्न करने के लिये साधारणतया उपयुक्त हारमोन्स निम्नलिखित हैं :—

(१) नेप्थलीन एसेटिक एसिड
(२) नेप्थाक्सी एसेटिक एसिड
(३) इन्डोल एसेटिक ऐसिड
(४) इन्डोल व्युटाइरिक ऐसिड
(५) इन्डोल प्रोपियोनिक ऐसिड
(६) क्लोरोफेनाक्सी एसेटिक ऐसिड
(७) २,४ डाइक्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड

ये रासायनिक पदार्थ गर्भाशय के विकास को उत्प्रेरित करते हैं किन्तु निस्सन्देह रूप से पुष्ट फलों का उत्पादन प्रवर्तित नहीं करते।

हारमोन्स को उचित रासायनिक पदार्थ और उनके ठीक समाहरण (Concentration) का उपयोग किए जाने पर पायस (Emulsion), घोल (Solution) लेप (paste) या चूर्ण (dust) रूप में सफलता पूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है। लेप की अवस्था में हारमोन्स लेनोलिन (lanolin) से मिश्रित कर दिया जाता है जो साधारणतया सभी अंग्रेजी औषधि विक्रेताओं के यहाँ प्राप्त हो सकता है। प्रयोगात्मक कार्यों में हारमोन्स एरो सोल्स (फुहार के रूप) में उपयोग भी अत्यंत सफल सिद्ध हुआ है।

पौधें:—रासायनिक प्रवर्तन द्वारा अनेक प्रकार के पौधे बीजहीन फल उत्पन्न करने के लिये उत्प्रेरित किए

जा सके है। जैसे भिंडी, बैंगन (Brinjal) मिर्च (pepper), पपीता (papaya) टमाटर (toma toes) स्निप- ड्रैगन, पेटूमिया, और कुकुर वर्ग के फल।

हरमोन्स प्रवर्तन का समय—हारमोन्स उपयोग का समय आंशिक रूप से अभीष्ट प्रभाव पर निर्भर रहता है, बीज-हीन फल के लिए हारमोन्स का उपयोग फूल पूर्णतया प्रस्फुटित होने के पूर्व ही होना चाहिये अर्थात् जब परागीकरण की कोई आशंका हो उसके पूर्व ही हो जाना चाहिए। फल को विशेष ध्यान दिए बिना ही बीज हीन होने के निश्चित परिणाम के लिए गुच्छक के प्रथम फूल के प्रस्फुटित होने पर ही हरमोन्स का उपयोग करना चाहिए, उसके बाद गुच्छक के प्रस्फुटन काल में ५ या ६ दिन के अंतर पर द्वितीय, तृतीय बार उपयोग होना चाहिए। कली की अवस्था में उपयोग, बीज हीन फल उत्पन्न करता है, किन्तु इसकी राय नहीं दी जाती, क्योंकि इस प्रकार उत्पन्न फल छोटे प्रकार और निम्न कोटि के होते हैं।

हारमोन्स के उपयोग की विधियाँ

लेप रूप में हारमोन्स का उपयोग किये जाने पर साधारण प्रचलन यह है कि गर्भाशय के तनिक ऊपर प्रत्येक पुष्प का योनिसूत्र काट दिया जाय और कटे भाग पर हारमोन्स का उपयोग किया जाय। लेप-क्रिया में समय अवश्य लगता है, परन्तु छोटे पैमाने के सभी कार्यों के लिए सुविधाजनक है क्योंकि प्रत्येक पुष्प व्यक्तिगत रूप से पृथकतया प्रवर्तित किए जा सकते हैं और केवल एक बार उपयोग की आवश्यकता होती है। लेप-विधि बड़े पैमाने के कार्य के लिये उपयुक्त नहीं है, यद्यपि इसमें अत्यधिक प्रतिशत सफलता प्राप्य है। कलमी फल वा बीजहीन फल उत्पादन के निश्चय के लिए फूलों में हारमोन्स के उपयोग की सुगमतया विधि फुहारा छोड़ना (Spray) है। लेप-विधि की अपेक्षा इसका उपयोग अधिक बड़े पैमाने पर किया जा सकता है।

पायस (Emulsion) द्वारा, और विशेषतया इंडोल ब्युटायरिक और नेपथाक्सी एन्सेटिक ऐसिड संयुक्त पायस से अत्यन्त ही सुन्दर फल प्राप्त किए जा रहे हैं। एक नेजल आटोमाइज़र द्वारा फूल पर पायस की फुहार छोड़ी जानी चाहिये। वे हरित प्रदर्शन भवनों के पौधों के लिए तो अत्यधिक सफल हैं, परन्तु खेतों के उपयोग के लिए लाभदायक अभी तक सिद्ध नहीं हुए हैं।

फलों को उत्प्रेरित करने के लिए हारमोन्स के उपयोग की विधि में (Dust) रूप में और पौधों में फुहार छोड़ने तथा रसभेदन (इंजेकशन) के लिए घोल उपयुक्त हुए हैं। हरित प्रदर्शन भवन में फल के बनने के लिए रेणु गुणकारी सिद्ध हुई है, किन्तु जब खेत में उपयोग किया गया तो यथेष्ट फूल और सड़ान परिणाम निकला। घोल का छिड़काव केवल (Holly) हौली के प्रयोग में सफल प्रतीत हुआ है। एक चर्मवेधी सुई द्वारा गर्भाशय के अन्दर हारमोन्स घोल को प्रविष्ट करने का काम बड़ा कठिन है और अनेक बार गर्भाशय के लिए हानिकर भी है। रेणु के अतिरिक्त किसी अन्य साधन के व्यापक रूप से प्रयोग होने की आशा नहीं है।

भारतवर्ष में पौधों में हारमोन्स का व्यावहारिक प्रयोग अभी शैशवास्था में है। ऐसा कार्य थोड़े दिनों पूर्व आधुनिक समय में प्रारम्भ हुआ है। प्रयाग विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के श्री परिहार पहले व्यक्ति थे जिन्हों ने अमरूद (Psidium guava) और अन्य पौधों की कलम जमाने का कार्य इस विभाग में प्रारम्भ किया। इसकी चर्चा आगे के अध्यायों में की जायगी। फलों के निःसेच्य प्रजनन-विकास का कार्य मेरे द्वारा सन् १९४९ ई० में भिंडी, बैगन, पपीता, ककड़ी वर्ग के पौधे शरीफा आदि पर आरम्भ किया गया। हारमोन्स वे प्रयुक्त हुए थे जिनका वर्णन पहले हुआ है।

भिंडी का वर्णन पहले किया जायगा। भिंडी हारमोन्स के उपयोग के लिए दो विधियाँ अनुसारित की गई हैं। (क) फुहार छोड़ना (स्प्रेइंग) (ख) हारमोन्स का लेप।

फूल की रचना—भिंडी मालवेसी वर्ग का पौधा है। फूल उभयलिंगी होता है। पुंकेसर की संख्या अगणित होती है और योनिसूत्र को आच्छादित किए हुए एक नलिका निर्मित करते हैं। स्त्रीलिंग-चक्र एक बहुमंडलीय गर्भाशय होता है जिसमें अगणित रजोविन्दु में, एक योनि-सूत्र और एककंकयुक्त योनिछत्र होता है।

अनुसंधान के लिए निर्वाचित फूल, विकास की तीन अवस्थाओं में थे: प्राग प्रस्फुटन (Pre-anthesis) कली अवस्था में फूल, प्रस्फुटन (Anthesis) पूर्ण खिला फूल, तथा प्रस्फुटनानंतर (Post-anthesis) मुरझाया हुआ फूल। चुने हुए फूल के पुंकेसर काट दिये गये थे और योनिछत्र पृथक कर लिए गए थे। कटे हुए योनिसूत्र के शिखर पर या तो फुहार छोड़ दी गई थी या उपर्युक्त हारमोन्स से लेपित कर लिए गए थे।

(क) फुहार (spray)—फुहार छोड़ने की युक्ति भिंडी के लिये अनुसरित की गई जिसमें निम्न लिखित वस्तुयें सम्मिलित थीं— ०.०१ % मेथील नेप्थाक्सी एसेटेट, ०.५ % इंडोल व्युटाइरिक ऐसिड ०.१ % क्लोरो फेनाक्सी ऐसटिक ऐसिड ०.१ %,०.०१ % और ०.०००१ %; २ ४ डाइक्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड।

उन अवस्थाओं में जिन में ०.०१ % मेथील नेपथाक्सी एसेटेट के साथ चार बार फुहार २४ घंटे के अंतर से छोड़ी गई, यद्यपि फल लगे, तथापि ये बहुत प्रारम्भकाल में ही गिर गए। इस लिए आगे के प्रयोगों में फूलों पर एक बार ही फुहार छोड़ी गई।

(ख) हारमोन लेप (Hormone paste) हारमोन लेप का उपयोग निम्न समाहरण (concentration) की नेप्थलीन एसेटिक ऐसिड के साथ किया गया— ०.०५ %,०.१ %, ०.२ %,०.४ %,०.६ %,०.८ % और १ % तथा, ०.१ % तथा ०.२ % नेपथाक्सी एसेटिक ऐसिड, ०.०५ % और ०.१ % क्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड, ०.१ % और ०.२ % २ ४ डाइक्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड ०.२% इंडोल व्यूटाइरिक ऐसिड, और ०.२५ % इंडोल ब्यूटाइरिक ऐसिड + नेपथाक्सी एसेटिक ऐसिड।

प्रयोगात्मक परिणाम निम्न प्रकार है :—

प्रागप्रस्फुटन (Pre anthesis) उपर्युक्त हारमोन की फुहार छोड़ने से पूर्णतया बीजहीन फल विकसित होते दिखाई पड़े। फलों का आकार लगभग साधारण आकार तक पहुंच गया, किन्तु इंडोल ब्यूटाइरिक ऐसिड की अवस्था में फल कम सौत्रिक थे और अधिक समयतक हरे ही बने रहे।

उपर्युक्त लेप एक व्यवच्छेदक सुची से योनसूत्र के कटे शिखर पर लेपित किया गया था। इस बात की सावधानी रक्खी गई कि लेप गर्भाशय की भित्ति पर चारो ओर न पोत जाय क्योंकि यह फल को हानिप्रद सिद्ध होता था।

जिन अवस्थाओं में हारमोन्स लेप का उपयोग किया गया, नेप्थलीन एसेटिक ऐसिड के ०.२% समाहरण को छोड़ कर शेष सभी समाहरण का उपयोग फलों को आरम्भिक अवस्था में ही गिरा देने वाला सिद्ध हुआ। ०.२% नेपथलीन एसेटिक ऐसिड, ०.१% और ०.२% नेपथाक्सी एसोटिक ऐसिड, ०.५% और ०.१% क्लोरो फेनाक्सी एसोटिक ऐसिट, ०.१% और ०.२% २ ४ डाइक्लोरो फेनाक्सी एसोटक ऐसिड, ०.२५ % इंडोल ब्यूटाइरिक ऐसिड और ०.२५ % इंडोल ब्यूटाइरिक ऐसिड तथा नेपथाक्सी एसेटिक ऐसिड से जिनको प्रवर्तित किया गया उन्होंने अच्छा परिणाम दिखाया और फल विकसित करने वाले सिद्ध हुए। (चित्र ३ (अ) और ३ (ब) देखिये) किन्तु ये सभी फल नियंत्रण की अपेक्षा तनिक छोटे ही हुए।

प्रस्फुटन—(Anthesis) इस अवस्था में भी हारमोन के उपयोग के पूर्व फूलों की तैयारी उसी प्रकार की गई जिस प्रकार प्राग् प्रस्फुटन स्थिति में की गई थी। पूर्व की ही भांति हारमोन के सभी समाहरण प्रयुक्त किए गए।
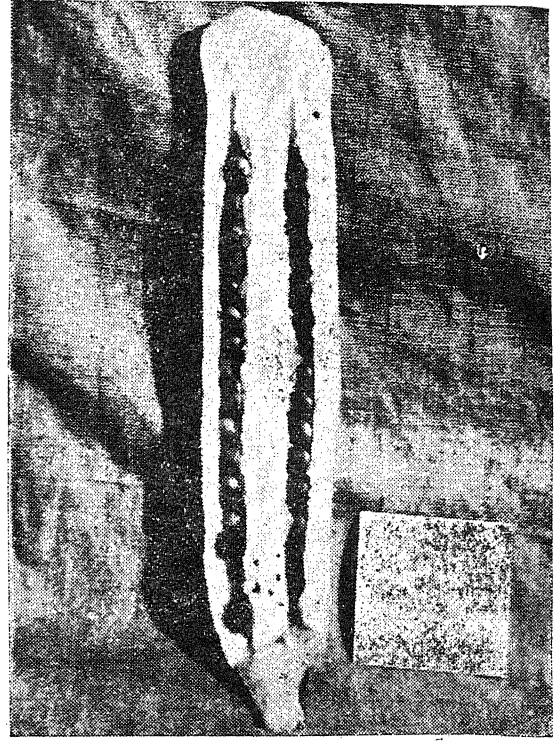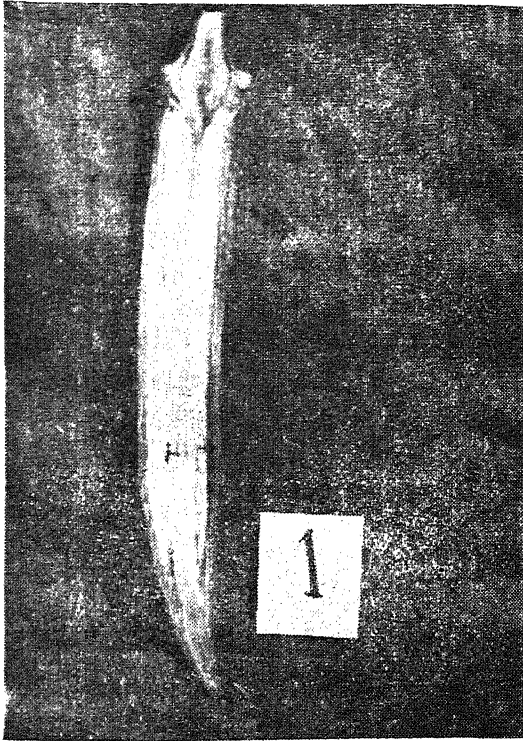
परिणामों से यह ज्ञात हुआ कि नियंत्रण के आकार के समान साधारण आकार के फल इसमें भी उत्पन्न हुए किन्तु प्राग् प्रस्फुटन अवस्था में प्रवर्तित फलों में वे आकार में बड़े थे। यह भी देखा गया कि कुछ फल बहुत कम मात्रा में बीजयुक्त थे। इन में से कुछ बीज साधारण आकार के थे। यह विश्वास किया जाता है कि पुंकेसर काटने की (emasculation) के पूर्व ही कुछ अवस्थाओं में गर्भ स्थापन हो चुका होगा जिससे कुछ बीजों की उत्पत्ति हुई।

प्रस्फुटनान्तर (Post-anthesis)

प्रस्फुटनान्तर पर क्रिया, बीजहीन फल उत्पन्न करने के संबंध में नहीं थी, प्रत्युत मुख्यतः फलों का आकार जानने के लिये केन्द्रित थी। यह देखा गया कि ०.०५% और ०.१% क्लोराफेनाक्सी ऐसीटिक ऐसिड, और ०.१% तथा ०.२% २ ४ डाइक्लोरो फेनाक्सी ऐसिटिक ऐसिड के प्रयोग के पश्चात् के फलों का आकार नियंत्रण की अपेक्षा दीर्घाकार विकसित हुआ जिन वर्गों में ०.२% नेप्थाक्सी एसेटिक ऐसिड भी दी गई उनमें नियंत्रण की अपेक्षा सांग-रूप से दीर्घतर फलों का विकास हुआ। फलों को काटने से ज्ञात हुआ कि हारमोन्स प्रवर्तित फलों में नियंत्रण की अपेक्षा कम सौत्रिक तन्तु थे। किन्तु ०.२% नेप्थलीन एसेटिक ऐसिड से प्रवर्तित वर्ग में यद्यपि नेप्थाक्सी एसेटिक ऐसिड वाले वर्ग की ही भाँति फलों का विकास था, तथापि सौत्रिक अवस्था नियंत्रण के प्रकार के समान थी।

फलों का वाह्य रंगीकरण भी कुछ विभेद प्रकट करता था, क्योंकि नियंत्रण से उत्पन्न अधिकांश वर्गों में सफेदी

लिए पीला रंग उत्पन्न हुआ। हारमोन्स प्रवर्तित वर्ग अधिक हरे रहे जिससे प्रकट होता था कि नियंत्रण की अपेक्षा इस अवस्था में विकास की स्थिति कम आगे बढ़ी थी।

फलों के आकार के संबंध में गुस्ताफसन (१९३९) ने मालूम किया कि फल में गर्भाशय की उत्पत्ति का आरंभ आक्सिन (auxin) से होता है जो इसके अंदर या तो पराग द्वारा पहुंचाया गया हो वा पराग नलिका द्वारा। हाफ टेलिंग (Haughtaling) ने टमाटर के ऊपर प्रयोग कर दिखाया है कि प्रस्फुटन के पश्चात् कोष-निभाजन होता है और मेकआर्थर (Mac Arthur) तथा बटलर (Buttler) बतलाते हैं कि प्रस्फुटनानंतर काल में मुख्यतया कोष प्रसार होता ही है। अतएव गुस्ताफसन अनुभव करते हैं कि टमाटर के आकार के भेद का कारण निश्चय ही बीज युक्त फलों की अपेक्षा असेच्य प्रजनित फलों में लघुतर कोषों का होना होगा। मेरे प्रयोग भी गुस्ताफसन को अप्रत्यक्ष रूप से अनुमोदित करते हैं। यदि मैं यह मान लूं कि पराग द्वारा प्राप्त आक्सिन तथा प्रयुक्त किए हुए निर्धारित रसायनिक हरमोन्स के माधयम से कोष का प्रसार संपादित होता है तब प्रस्फुटनानंतर अवस्था में मिश्रित हारमोन्स की अधिक मात्रा फल को प्रदान की जायगी जिस के परिणाम स्वरूप बड़े आकार के फल उत्पन्न होंगे। प्राग प्रस्फुटन अवस्था में फल साधारण आकार के थे।

(क) फूल में हारमोन्स के उपयोग और (ख) कुछ छोटी संख्या के रजोबिन्दुओं के गर्भाधान हो जाने द्वारा कुछ सीमा तक प्राप्त आक्सिन के सामूहिक प्रभावों से ऐसा हुआ होगा। प्रागप्रस्फुटन काल के हारमोन्स प्रभावित फलों के छोटे आकार प्रकट करते हैं कि गर्भाशय का विकास प्रयोग किए हुए हारमोन्स के रासायनिक पदार्थों पर ही पूर्णतया अवलंबित था। यदि आक्सिन की मात्रा आकार के लिए उत्तरदायी है तो असेच्य प्रजनित फलों के आकार अधिक मात्रा में आक्सिन प्रयुक्त कर संवृद्ध करना संभव जान पड़ता है। ऐसा करने के लिए विधियों का विकास करना पड़ेगा क्योंकि इसके लिए लेनोलिन लेप पोत देना ही यथेष्ट नहीं हो सकता जो हानिप्रद हो सकता है।

बैंगन (Solanum Melongena)

यह सोलेनेसी Solanaceae वर्ग का पौधा है, जिसमें फूल की साधारण रचना होती है। ये फूल उभयलिंगी होते हैं। इसको पुंलिंग चक्र में ५ पुंकेसर, पंखुड़ियों के फांक, अंतर देदेकर स्थित होते है। स्त्रीलिंग-चक्र में एक लंबा गर्भाशय, एक दीर्घ योनिसूत्र और एक द्विफंकी योनि-सूत्र होता है।

जाड़ों की सफेद गोल किस्म के बैगनों पर ही प्रयोग किया गया और केवल फूल के प्रागप्रस्फुटन काल पर ही प्रयोग सीमित रहा। कली पर हारमोन का उसी रूप में प्रयोग किया गया जिस प्रकार भिंडी की अवस्था में किया गया था। हारमोन्स और समाहरण निम्न प्रकार के प्रयुक्त थे:—०·००१%, ०·०१% मेथील नेप्थाक्सी एसेटिक एसिड फुहार रूप में और ०·२% नेप्थलीन एसेटिक ऐसिड ०·२%] क्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड तथा ०·२% इंडोलब्यूटाइरिक ऐसिड लेप रूप में।

परिणामों से ज्ञात होता है कि ०·००१% और ०·०१% मेथील नेप्थाक्सी एसेटिक ऐसिड को फुहार रूप में और ०·२% नेप्थलीन एसेटिक ऐसिड लेप रूप में प्रभावित फूलों का विकास असेच्य प्रजनित फलों के रूप में हुआ जो बीजहीन थे। जिनको ०·२% क्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड और ०·२ इंडोल ब्यूटाइरिक ऐसिड से प्रभावित फूलों ने गर्भाशय का अल्प विकास प्रकट किया जो बहुत प्रारम्भिक अवस्था में शिथिल पड़ गई।

असेच्य प्रजनित रूप से विकसित फलों के विभिन्न आकार जहाँ तक उनके आधार का सम्बन्ध है, नियंत्रण सृजित फलों की अपेक्षा अधिक चौड़े थे और शीर्ष की ओर नुकीले होते जाते थे। चित्र इसके विपरीत नियंत्रण सृजित फलों का शीर्ष अधिक भोथरा था और गोल था। इस प्रकार प्राप्त बीज हीन फलों की औसत गठन और आकार नियंत्रण गठित साधारण फलों से यदि सुन्दरतर नहीं थे तो समान अवश्य ही थे।

पपीता (Carica papaya)—पपीते के फूल पर भी हारमोन का प्रयोग उसी प्रकार किया गया जिस प्रकार भिंडी, और बैगन पर किया गया था। पपीता की अवस्था में कुछ बीजों की विद्यमानता व अभाव एक उद्यानविज्ञानवेता के लिए कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाता किन्तु उत्तर प्रदेश में पपीते के पेड़ क्षुद्राकार के होते जा रहे हैं। यह देखा गया है कि जब २·१ % के डाइक्लोरो फेनाक्सी एसेटिक ऐसिड का फूल पर प्रयोग किया गया तो नियंत्रण गठित फूल की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से इसका विकास हुआ। कुछ प्रयोगों में यह देखा गया कि इस प्रकार प्रभावित फलों के आकार नियंत्रण गठित फलों की अपेक्षा तिगुने हो गए हैं, आगे भी इस दिशा में कार्य प्रचलित है।

कुछ फलों पर हारमोन्स के उपयोगों का उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन प्रकट करता है कि भारतीय उद्यान वैज्ञानिक फलों जैसे शरीफा (Custard apple) अमरूद (guava), लोकाट (Louquat) आम (Mangoes) और अंगूर (grapes) आदि पर कार्य करने का विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है। ये सब इन हारमोन्स के उपयोग द्वाराबीज हीन और अधिक सुस्वादु तथा दीर्घाकार उत्पन्न किए जा सकते हैं।

नए वर्ष के पदाधिकारी तथा अंतरंगी

सभापति—श्री हीरालाल खन्ना
उपसभापति—डा० गोरख प्रसाद
,, डा० निहाल करण सेठी
प्रधान मन्त्री—डा० रामदास तिवारी
मन्त्री—(१) डा० देवेन्द्र शर्मा
(२) डा० रमेशचन्द्र कपूर
कोषाध्यक्ष—डा० हीरालाल दुबे
स्था० अन्तरंगी—(१) डा० हरी शंकर चौधरी
(२) डा० दिव्य दर्शन पन्त
(३) डा० राम किशोर शर्मा
(४) डा० सन्त प्रसाद टंडन

प्रधान सम्पादक—डा० हीरालाल निगम
बाहरी अंतरङ्गी—(१) श्री जनार्दन प्रसाद शुक्ल
(इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट आफ शुगर टेकनालाजी कानपुर)
(२) डा० वृजमोहन, काशी वि० वि०
(३) डा० दौलत सिंह कुठारी, देहली
(४) डा० शिव कंठ पांडे,
(लखनऊ विश्वविद्यालय)
(५) डा० ओंकारनाथ परती
(सागर वि० वि०)
आय-व्ययपरीक्षक—डा० सत्य प्रकाश

पोर्स्लीन-उद्योग

[ले० श्री० एच० एन० बोस]

पोर्स्लीन या चीनी मिट्टी के उद्योग के संबंध में इस विषय के अनुभवी विद्वान की उपादेय लेखमाला पिछले अंक से प्रकाशित की जा रही है। आशा है लेख माला पाठकों को रुचिकर ज्ञात होगी।

इस प्रकार की पोर्सलेन की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :—

(१) पात्र बहुत तापरोधक होते हैं तथा आकस्मिक ताप बदलने से नहीं टूटते।

(२) पात्र बिल्कुल काचिक (Vitrified) होते हैं और उनमें रवे भी नहीं होते। इनके सतह पर जो लेपन लगाया जाता है वह केवल हाइड्रोक्लोरिक एसिड के अतिरिक्त किसी भी क्षार या तेजाब से प्रभावित नहीं होता। वर्तमान वैज्ञानिक काल में अनेक प्रकार के चीनी मिट्टी के पात्र बनाये गये हैं परन्तु इस पुस्तक में उनका विवरण असंभव है।

बहुत ही कम लोगों को यह बात मालुम होगी कि हम लोगों के बुढ़ापे में जो कृत्रिम दांत काम में लाये जाते हैं वे भी एक विशेष प्रकार की पोर्स्लीन के बने होते हैं। इस दांत बनानेवाली मिट्टी के अवयवों की विशेषता यह है कि पोर्स्लीन को फिर किसी प्रलेपन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि जब मिश्रण को उचित ढंग से पकाया जाता है तो उसकी सतह स्वयं चिकनी हो जाती है। इस दांत बनाने वाली पोर्स्लीन के अययव नीचे उद्धृत करते हैं।

फैल्सपार	८०	६६
स्फटिक	१५	२५
केवलिन	५	४
संगमरमर चूर्ण	—	५

लंदन में भिन्न प्रकार के अवयव काम में लाये जाते हैं। इस प्रकार के दो मिश्रण नीचे दिये जाते हैं

चीनी मिट्टी	३०	८
बॉल मिट्टी	८	२
कार्निश प्रस्तर	३०	८२
प्रस्तर	२०	५
बोन ऐश	१२	३

भिन्न प्रकार के दांत बनाने वाली चीनी मिट्टी के अवयवों पर विचार करने पर देखेंगे कि मुख्य वस्तु फैल्सपार या कार्निश प्रस्तर के पिघले हुये समष्टि विशेष (मेट्रिक्स) है। इन मिश्रणों में अल्प मात्रा में मिट्टी सांचा बनाने की क्रिया को सरल बनाने के लिए प्रयुक्त होती है और पिघलाने की क्रिया को सरल करने के लिए थोड़ा सा संगमरमर चूर्ण या बोन ऐश काम में लाये जाते हैं। सांचे में ढालने को सरल करने के लिए थोड़ा सा पैराफीन का तेल मिला दिया जाता है और फिर मिश्रण को कांसे के बने हुए सांचों में ढाला जाता है।

फिर उसको सांचे के साथ पकाते हैं जिससे दबने से दाँत सख्त हो जाते हैं, फिर दाँतों को साँचे से निकालकर सावधानी पूर्वक साफ किया जाता

है। इन सख्त तथा स्वच्छ दाँतों को फिर दुबारा "मफल भट्टी" में १२८०-१३५०°C पर पकाया जाता है।

इन कृत्रिम दाँतों के बनाने वाली चीनी मिट्टी की यह विशेषता है कि दुबारा पकाने के बाद बहुत ही सख्त हो जाती है और बिल्कुल पाषाण से भी कठोर हो जाती है।

दूसरे प्रकार के विशेष अवयवों के मिश्रण को मूर्तियों के निर्माण में प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की मिट्टी में किसी प्रलेपन की आवश्यकता नहीं होती और यह "पैरियन" मिट्टी के नाम से प्रसिद्ध है। इस "पैरियन" शब्द का प्रादुर्भाव इटली के "पोरारा" पत्थर से होता है। यह "पोरारा पत्थर" मूर्तियों के निर्माण में प्रयुक्त होता था। इस "पैरियन" मिट्टी की विशेषता यह है कि इसमें फैल्सपार अधिक मात्रा में होता है पर स्फटिक की मात्रा बहुत कम होती है। चीनी मिट्टी की मात्रा मूर्ति के आकार पर निर्भर होती है। पैरियन पोर्सलीन के तीन विशेष अवयवों को नीचे उद्धृत करते हैं।

	१	२	३
केवलिन	३७	४५	५०
फैल्सपार	६०	४६	३६
स्फटिक	—	५	१०
प्रस्तर	३	—	३
जिंक आक्साइड	—	१	१

पहला मिश्रण छोटी मूर्तियों तथा खिलौने बनाने के काम में आता है। यह ११४०-११६०° पर पकाया जाता है। दूसरा तथा तीसरा मिश्रण बड़ी मूर्तियाँ बनाने के काम में आता है। यह १२५०-१२८०°C पर पकाया जाता है। पहले मिश्रण की सफेदी काफी स्थायी नहीं होती है और धीरे धीरे इन छोटी मूर्तियों पर थोड़ा सा रङ्ग फिर से रङ्गने को दिया जाता है। अन्य मिश्रण पकाने के पश्चात् दूधिया सफेदी धारण कर लेते है और बिना रंगे हुए इसी प्रकार भेज दिए जाते हैं। इन पैरियन पोर्सलीन पात्रों पर किसी प्रकार का प्रलेपन नहीं होता अतएव इन पर की हुई खुदाई अन्त तक स्पष्ट रहती है। इन मूर्तियों के पकाने में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है क्योंकि अधिक पकाने पर इनकी आकृति बिगड़ जाती है।

चीनी मिट्टी पर प्रलेपन के विशेष तरीके हैं जो कि मूर्ति की आकृति तथा ढाँचे पर निर्भर हैं। कभी-कभी प्रलेपन के लिए एक से अधिक विधियाँ काम में लाई जाती हैं। इन विधियों को संक्षिप्त में नीचे वर्णन किया जाता है।

डुबाना :—यह सबसे शीघ्र तथा सन्तोषप्रद विधि है। पात्र इस विधि के लिए मृदुपोढ़न के पश्चात् काम में लाये जा सकते हैं। प्रलेपन की मोटाई पात्रों की रन्ध्रता, डूबे रहने के समय तथा प्रलेपन द्रव के आपेक्षित घनत्व पर निर्भर है। इस विधि में प्रलेपन द्रव को एक चौड़े बर्तन में रखकर डुबा दिया जाता है जिससे प्रलेपन पात्र के चारों तरफ चिपक जाता है।

(१) (Pouring) **ढारना** :— यह विधि उसी समय लाभदायक साबित होती है जब प्रलेपन पात्रों के अन्दर ही की तरफ करना होता है, खोखले बर्तन जिनके अन्दर की तरफ ही प्रलेपन करना होता है, प्रलेपन द्रव्य से भर दिए जाते हैं और जो द्रव्य अधिक होता है वह निकाल लिया जाता है।

(२) (Spraying) **छिड़कना** :—ऐइरोग्राफ या स्प्रेयर के द्वारा प्रलेपन सूक्ष्म कणों में पात्रों पर, हवा के दबाव से छिड़क दिया जाता है। प्रलेपन में थोड़ा सा बबूल का गोंद भी मिला देते हैं। कच्ची अवस्था में बड़े पात्रों को प्रलेपन करने के लिए यह विधि अति उत्तम है।

(३) (Dusting) **पोतना** :—यह विधि अब बहुत ही कम और सस्ते पात्रों के प्रलेपन के लिए प्रयोग की जाती है। गीले पात्रों पर धूल के कणों के समान शुष्क प्रलेपन कणों को छिड़क देते हैं जो गीले पात्रों पर चिपक जाते हैं। कभी कभी यह विधि पकाए हुए जैसे फर्श की टाइलों इत्यादि पर सजाने के लिए प्रयोग होती है।

(४) (Painting) **चित्रण** :—सुन्दर एवं चित्रित पात्रों के लिए यह विधि आवश्यक है। जिन पात्रों में एक से अधिक रंग देने होते हैं वहाँ यह विधि ही केवल लाभदायक है। थोड़ा सा गोंद मिला कर प्रलेपन द्रव को गाढ़ा करके ब्रुश से पात्रों पर चित्रित किया जाता है।

(५) (Volatilization) **वाष्पिक्रम**—इस विधि में प्रलेपनद्रव भट्टी के अन्दर रख दिया जाता है जिससे कि वह भट्टी की गरमी से वाष्प बन कर उड़ जाता है और पात्रों पर जम जाता है। साल्ट ग्लेजिंग इस विधि के अधीन ही है।

पोर्स्लीन पर ग्लेज या रंग चढ़ाने से वह बहुत सुन्दर हो जाती है, पर अधिक सुन्दर बनाने के लिये उस पर रंगों से अंकन किया जाता है। इन रङ्गोंको विशेष प्रकार के रसायनों से बनाया जाता है, जो कि अधिक ताप पर विनष्ट नहीं होते।

पोर्स्लीन के लिए विशेष प्रकार के रङ्गों की प्रस्तुत विधि और रङ्ग लगाने के विविध उपाय जानने के लिए लेखक की अंग्रेजी पुस्तक (Modern Pottery Manufacture) का पठन करना चाहिये। यहाँ सब बातों का वर्णन करनाकठिन है।

पृष्ठ १५६ का शेषांश

पशु-पक्षी, मनुष्य आदि से फसल की रक्षा करने का प्रयत्न करते ही हैं।

केकड़ा :—इस पर पहले एक स्थान पर लिख आए हैं। बिल में कैलशियम सायना माइड डाल कर बिल का मुंह बंद कर देने से ये मर जाते हैं।

चूहा :—गोदाम, बोखारी, आदि में चूहे का प्रवेश न होने दिया जाय। काँच के टुकड़े भर कर सीमेंट से बिल बंद कर दिये जाँय। कारबन-बाय-सलफाइड डाल कर बिल बंद कर देने से भी चूहे मर जाते हैं। आटा आदि में सोमल आदि घातक विष मिलाकर खेतों में रख देने से भी चूहों की संख्या काफी कम हो जाती है। बाजारों में चूहों का नाश करने वाली औषधियाँ भी मिलती हैं।

पक्षी—सभी पक्षी फसल को हानि पहुँचाते हैं। कई प्रकार के पक्षी पौधों पर लगी इल्लियाँ, कीड़े, और कीड़ों के कोश खाकर किसान का हित-साधन भी करते हैं। कुछ नाज के दाने और फल खाते हैं, जिससे पैदावार बहुत घट जाती है। गोफन से पत्थर फेंक कर किसान पक्षियों को भगाते ही हैं। कीमती झाड़ों पर जालियाँ फैला देने से पक्षियों से फलों की रक्षा की जा सकती है। किन्तु बड़े-बड़े बगीचों में और बड़े झाड़ों पर जालियाँ फैलाना संभव नहीं हैं।

खेतों के चारों ओर पाँच फूट ऊंची काँटे आदि की मजबूत बागुड़ लगाना अनिवार्य्य है। यदि तार का कम्पौंड खींच दिया जाय और बाहर से काँटे गाड़ दिये जायँ तो और भी अच्छा है। खेतों के चारों ओर बबूल, करौंदा आदि काँटे दार झाड़ बो दिये जायँ, तो कुछ वर्षों में अच्छी बागुड़ तैयार हो जाती है। किन्तु नागफनी थूहर हरगिज न लगाया जाय।

फसल के शत्रु

ले० श्री० शंकर राव जोशी

यहाँ अंतिम अंश दिया जा रहा है। आशा है इसे कृषि प्रेमी पाठक लाभदायक पाएँगे।

बीजाणु तने में से होकर पौधे के जमीन के अन्दर के भाग में प्रवेश करता है और आलुओं तक पहुँच जाता है जिससे आलू सड़ने लगते हैं। रोगी पौधे के आलू को काटकर देखने से, जिस स्थान पर वह पौधे से जुड़ा रहता है उस स्थान पर, आलू के छिलके के पास एक भूरे रंग का गोलाकार भाग दिखाई देता है। इसी पर से इस रोग को यह नाम दिया गया है। रोगी आलू को दबाने से पीलापन लिए हुए सफेद (मलाई के रंग समान) पदार्थ निकलने लगता है। इसी द्रव पदार्थ में इस रोग के बीजाणु वर्तमान रहते हैं। रोग का आक्रमण कुछ देरी से होने पर आलू बड़े होते हैं और उनपर रोग का हलका चिन्ह दिखाई देता है।

रोगाक्रान्त आलू बोने से ही यह रोग खेत में पहुंचता है। गत वर्ष की फसल के आलू खेत में रह जाने से मट्टी में रोग के बीजाणु बने रहते हैं, जो दूसरे वर्ष बोई गई आलू की फसल पर आक्रमण करते हैं। अतएव सदा नीरोग बीज ही बोया जाना चाहिए। रोगी आलू खेत की मट्टी में दबे रह जाने पर, नीरोग बीज बोने पर भी फसल रोगाक्रान्त हो जाती है। अतएव आलू की फसल निकाल लेने के बाद खेत की खूब जुताई कर दी जानी चाहिए, ताकि कड़ी धूप से रोग के बीजाणु नष्ट हो जायँ। जिस खेत की फसल को यह रोग लग गया हो उस खेत में दूसरे वर्ष आलू, टमाटर, बैंगन आदि फसलें कदापि नहीं बोई जानी चाहिए। खेत में, पोटैश, राख, चूना, आदि की खाद देने से रोग का जोर बहुत घट जाता है।

आलू का बीज वहीं से खरीदना चाहिये, जहाँ यह रोग न लगा हो। बोने के लिये टुकड़े करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि, आलू को यह रोग तो नहीं लगा है। शङ्का आते ही आलू अलग कर दिया जाय। रोगी आलू काटने से रोग के बीजाणु चाकू या छुरी पर लग जाते हैं। अतएव इन्हें उबलते पानी से धोकर ही दूसरा आलू काटना चाहिए। फसल को अकसर देखते रहना चाहिए और रोगी पौधे को देखते ही तुरन्त उखाड़ कर जला देना चाहिये। जड़ें खोदकर सभी आलू भी निकाल लिये जायँ। आलुओं को ठडे गोदाम में ही रखना चाहिये।

अँखुई रोग (sore eye)—गोदाम में रखे

गये आलू की आँख में से एक प्रकार का द्रव पदार्थ बहने लगता हैं। इसीलिये इस रोग को यह नाम दिया गया है। आँख में से पानी बहना शुरू होने से पहले भी रोग के अस्तित्व का पता चल जाता है। आलू की आँख का रङ्ग काला हो जाता है और वे निस्तेज और भीतर धँसी हुई सी नजर आती हैं। आँख के आसपास का भाग एक विशेष प्रकार का काला रङ्ग लिए नजर आता है। खास कर यह विशेषता आलू के नीचे के भाग पर दिखाई देती है। आँख का वल्क-पत्र काला व सूखा हुआ नजर आता है। आलू के छिलके की ताजगी नष्ट हो जाती है और वह निस्तेज हो जाता है।

खेत में से निकाले हुये आलुओं में से रोगी आलू छाँट कर अलग कर लिये जायँ। नीरोग आलू गोदाम में रख दिए जायँ। किसी आलू के रोगाक्रान्त होने की आशङ्का होते ही उसे अलग कर देना अत्यावश्यक है।

खोखा (Dry rot)—यह रोग Fusarium Trichothecioids व fusarium oxvsyorum से उत्पन्न होता है। इस रोग के लगने से आलू का छिलका पिलपिला हो जाता है और वह कुछ दबा हुआ-सा दिखाई देता है। कभी-कभी छिलका इस स्थान से फट भी जाता है। यदि छिलका फट जाता है, तो रोग पूरे आलू को ही नष्ट कर देता है। यदि आलू फटता नहीं है, तो वह सिकुड़ जाता है और छिलके पर शल पड़ जाते हैं। प्रतिशत २० आलू इस रोग के शिकार हो जाते हैं।

रोग-ग्रस्त आलू का छिलका फट जाने से या रोगी आलू के संसर्ग से दूसरे आलू को रोग लग जाता है। रोग-ग्रस्त बीज बोने पर पैदावार निरोग दिखाई देती हैं, किन्तु ये गोदाम में बहुत जल्दी सड़ने लगते हैं।

उपचार:—रोग-ग्रस्त बीज या रोग-ग्रस्त फसल की पैदावार का बीज कदापि न बोया जाय। जिस खेत की फसल को रोग लग गया हो, उस खेत में दो-तीन साल तक आलू कदापि न बोए जायँ।

बूरी (Potato Blight)—इसे Rhizoctonia Blight भी कहते हैं। निरोग पौधा बिना किसी प्रकट कारण के मुरझाने लगता है। प्रारम्भ में रोग, पौधे के नीचे के भाग के पत्तों पर आक्रमण करता है और सात आठ दिन के अन्दर ही सभी पत्ते कुम्हला जाते हैं और तब पूरा पौधा मुरझा जाता है। उखाड़ने पर तना सूखा हुआ और सड़ा हुआ दीख पड़ता है और तना और जड़ पर सफेद रङ्ग का गोमज रोग लगा दिखाई देता है।

उपचार—रोगी बीज न बोया जाय। निरोग आलू ही गोदाम में रखे जाँय। यदि गोदाम में काफी हवा फैलती रहे और आर्दता बढ़ने न पाए तो गोदाम में रखे आलुओं को रोग होने की संभावना बहुत ही कम होती है।

खेत में पानी का निकास (drainage) अच्छा न हुआ और खेत की मट्टी में पानी भरा रहा, तो इस इस रोग का जोर बहुत बढ़ जाता है। कच्ची या कम सड़ी खाद कदापि न दी जाय। जुताई की ओर काफी ध्यान दिया जाय।

बोर्डों मिश्रण या राल का मिश्रण छिड़कने से लाभ हो सकता है। वरगंडी मिश्रण तुरन्त ही अच्छा असर दिखाता है।

खुजली रोग—Powdery Potato Seab—इस रोग का लैटिन नाम Spongosphora Subterrancea है। आलू पर छोटी छोटी फुडियां उठी रहती हैं, वैसी ही जैसी मनुष्य को खुजली होने पर उठती हैं। ये कुछ ऊपर उठी रहती हैं और आलू पर जगह जगह ½ इंच से ¾ इंच तक के घेरे में दिखाई देती हैं। यह रोग छिलके का ऊपरी भाग नष्ट कर देता है। रोग के बीजाणु नासका—सूंघने की तम्बाकू के रंग के कण से दिखाई देते हैं। यह रोग ठंडे प्रदेशों में बोई गई फसल पर ही पाया जाता है।

उपचार—रोग-ग्रस्त आलू न बोए जायँ। जिस जमीन की फसल को यह रोग लगा हो, उस जमीन में दो-एक साल आलू की फसल बोई जाय। प्रति एकड़ साढ़े चार सौ सेर

गंधक का चूर्ण खेत में डालने से रोग का जोर बहुत घट जाता है।

बैंगन की फसल के रोग

बैंगन के फल तथा पौधों पर भी गोमज-रोग आक्रमण करता है, जिस से पौधे सूख जाते हैं, और फल गिर पड़ते हैं और फूल कुम्हला जाते हैं। बोर्डो मिश्रण छिड़कना लाभदायक है।

टमाटर की फसल के रोग

फफूंद (Leaf mould)—टमाटर के पत्तों के नीचे के भाग पर पीले दाग से फैल जाते हैं। नीचे के पत्ते पूर्ण बाढ़ को पहुंचने के पहले ही पीले पड़ कर सड़ जाते हैं। यह फूल और फल पर भी आक्रमण करता है। रोगी पत्तों को तोड़ कर जला देना ही उत्तम उपाय है। बोर्डो मिश्रण भी छिड़का जा सकता है।

फूल-सड़न (Bossom end rot)—यह रोग फूलों के गुच्छे के सिरों पर ही आक्रमण करता है। इससे फूल ही नष्ट हो जाते हैं। इस रोग के लगने से फूल सूख कर पर पौधों पर ही लटक जाते हैं। पौधों को उचित अवसर पर सिंचाई करते रहने से इस रोग का आक्रमण रुक जाता है। यदि तापमान ज्यादा हो तो पानी भी ज्यादा सींचना चाहिए।

चीर, पड़ (Spotted wilt)—पौधे पर कुछ पीलापन लिए टिप-कियां नजर आती हैं। रोगी पौधे को उखाड़ कर जला देना ही उत्तम उपाय है।

मूली, गोभी, आदि टमाटर की ही जाति के पौधे हैं। केवड़ा (डौनी भूरी), और सफेद सुरमा (white Rust) गोभी और मूली पर भी आक्रमण करते हैं।

चीर-पड़ टमाटर की जाति के पौधों पर आक्रमण करते हैं। खेत में और खेत के आसपास की जमीन में घास फूस कदापि न बढ़ने दिया जाय।

लालमिर्च की फसल के रोग

भुकटी भूरी—इसका लैटिन नाम (Oidiopsis Taurica) है। इसे मध्यभारत के कुछ भागों में भूरिया, राखोड़िया, सफेद कोढ़िया, आदि कहते हैं। नवम्बर मास के लगभग रोग प्रकट होता है। रोग का आक्रमण होने पर पत्ते पीले पड़ कर झड़ने लगते हैं। पूर्ण बाढ़ को पहुंचने के पहले ही पत्ते और फूल झड़ने लगते हैं।

उपचार—महीन कपड़े में छना हुआ गंधक का महीन चूर्ण छिड़का जाय।

फूलमार (Die back disease)—इसे मध्यप्रदेश में 'मर' कहते हैं। वर्षा होनेपर Vermicularia cadsica नामक फंगस आक्रमण करता है। फूल की कलियाँ और पौधे के बढ़नेवाले भाग कुम्हला कर धीरे-धीरे गिर पड़ते हैं। पौधे का बढ़ने वाला भाग पीला पड़कर निर्जीव हो जाता है। तना सफेद-सा नजर आता है और फल पहले लाल रंग धारण करते हैं और तब घास के रंग के हो जाते हैं। छाया में उगे हुए पौधों पर इसका आक्रमण कम होता है।

उपचार—रोगी पौधे को उखाड़ कर जला दिया जाय।

कुम्हड़ा की जाति के पौधों के रोग

ककड़ी, कुम्हड़ा, तुरई, घीया तुरई, पेठा आदि सभी फसलों पर नीचे लिखे हुए रोग न्यूनाधिक परिमाण में आक्रमण करते हैं।

केवड़ा—इसका लैटिन नाम Pseudoperonospra cubesis है। रोग लगने पर पत्ते पीले पड़ने लगते हैं और पत्तों पर पीले दाग भी दिखाई देते हैं और धीरे धीरे पत्ते सड़कर गिरने लगते हैं।

भुटकी भूरी—इसका लैटिन नाम Earisiphe Cichoracearum है। केवड़ा और भुटकी भूरी, कई फसलों पर आक्रमण करते हैं। भुटकी भूरी को गुजरात में 'छारो', मालवे में दवारिया, राखिया, राखोडिगा, सफेद कोढिया आदि कहते हैं। यह भिंडी पर भी आक्रमण करता है। मिश्र और दक्षिण यूरोप के देशों में यह रोग जंगली पौधों पर भी आक्रमण करता है। पत्तों की

ऊपरी सतह पर भूरे रंग की धूल-सी जम जाती है। रोगी पौधों के पत्तों का हरा रंग नष्ट हो जाता है और वे सूख कर गिर पड़ते हैं। इस रोग का आक्रमण होने से फलो की संख्या घट जाती और उनका आकार छोटा हो जाता है।

उपचार—एक वर्ग इंच में दो सौ छेद वाली छलनी में छना हुआ गंधक का चूर्ण, डस्टर मशीन से, सवेरे ओस सूखने से बहुत पहले पत्तों पर छिड़का जाय। चूर्ण या लुगदी के रूप में बाजार में मिलने वाला लेडक्रोमेट भी छिड़का जा सकता है। पचास सेर पानी में दो छटाक लुगदी मिलाना आवश्यक है।

बोर्डो मिश्रण से पौधों को क्षति पहुंचती है। थोड़े पानी में आधा सेर नीला थोथा गला लिया जाय। आठ छटाक चूना एक दूसरे बरतन में गलाया जाय। नीले थोथे के पानी को पतली धार से चूने में डालते जाओ और मिश्रण को खूब चलाओ। मिश्रण के अच्छी तरह से मिल जाने पर शेष सब पानी मिलाकर मिश्रण को खूब चलाओ। एक सेर नीला थोथा, एक सेर चूना और २५० सेर पानी से तैयार किया गया मिश्रण भी छिड़का जा सकता है। दोनों में से कोई एक मिश्रण प्रति १५वें दिन छिड़का जाय।

बुरसी—लाल कद्दू के पत्तों के पृष्ठ भाग पर सफेद धूल-सी जम जाती है। रोगी पत्तों को तोड़ कर जला देना ही एक मात्र उपाय है। उक्त ओषधि छिड़कने से भी कुछ लाभ हो सकता है।

परोपजीवी वनस्पति

पहले लिख आए हैं कि कुछ वनस्पति ऐसी हैं, जो सजीव पौधों की देह में अपना एक अवयव प्रवेश करके पौधे की देह में से रस चूसती है। इन्हें परोपजीवी वनस्पति कहते हैं।

अगिया :—यह पौधा ज्वार के खेत में होता है। अगिया की देह में से एक विशेष अवयव (Haustorum) निकल कर ज्वार के पौधे की देह में प्रवेश करता है। अगिया इसी अवयव द्वारा ज्वार के पौधे में से रस चूसता है।

इसे ढूंढ कर उखाड़ कर जला दिया जाय या जमीन में गहरा गाड़ दिया जाय। उखाड़ कर खेत में डाल देने से यह फिर जड़ पकड़ लेता है।

अमर बेल :—इससे सभी भली प्रकार परिचित हैं। यह बड़े-बड़े झाड़, बागुड़ आदि पर लटकी रहती है। पौधे का रस चूस कर ही यह वृद्धि पाती है जिससे झाड़ बहुत कमजोर हो जाता और तब सूख जाता है। अमरबेल को हटा कर जला देना ही एक मात्र उपाय है।

बंडा (Laranthus)—इसे हिंदी में बाँड, गुजराती में बंडो, मराठी में बिन्दु कली, बाँड गुल, बंदगुल, आदि कहते हैं। यह परोपजीवी वनस्पति है। खैर, सीताफल, फनस (कटहल) पलास, सन्तरा, अंजीर, आम, नीम, आदि पर पाया जाता है। इसकी जड़ जम जाने पर पूरा बगीचा ही नष्ट हो जाता है।

इसकी शाखाओं को हटा कर जला दिया जाय। यदि इसकी जड़ का थोड़ा-सा भाग भी पौधे पर रह जाएगा, तो वह फिर से पनप उठेगा।

कभी-कभी पीपल, बड़ आदि भी झाड़ों पर उगे हुए दिखाई देते हैं। इन्हें देखते ही उखाड़ कर फेंक दिया जाय। किसी झाड़ या उसकी जड़ों के पास किसी प्रकार का पौधा न उगने दिया जाय।

फसल के अन्य शत्रु

गत पृष्टों पर फसल पर लगने वाले कीड़े और रोगों पर लिख आये हैं। इनके अलावा सूअर, (जंगली) हिरन, नीलगाय (रोइन) चूहे, पशु-पक्षी आदि भी फसलों को बहुत हानि पहुंचाते हैं। इन सभी पर यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि किसान सूअर (जंगली),

शेष १५५ पृष्ठ पर

समालोचना

विलुप्त जन्तु

[लेखक—जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी भूषण, विशारद प्रकाशक, किताब महल, इलाहबाद।

मूल्य २)]

हमारी धरती पर आज से कितने करोड़ों वर्ष जीव का उदय हुआ, उनका क्या रूप था, इनके क्या नाम रहे होंगे, आदि बातों पर प्रकाश डाल सकना आज मनुष्य के लिए सर्वथा कठिन सा ही है क्योंकि इन सब नैसर्गिक सृजन कार्यों का द्रष्टा कोई भी यथेष्ट चेतन प्राणी अत्यंत प्रारंभिक सृष्टिकाल में भूतल पर उदय न हो सका होगा। मनुष्य की तो बात ही दूसरी ही है क्योंकि उसका धरातल पर उदय अधिक से अधिक कुछ लाखों या हजारों वर्ष ही माना जा सकता है। मनुष्य ने अपनी उत्पत्ति से करोड़ों अरबों वर्ष पूर्व की घटनाओं को भी जीवों के जन्म के संबंध में समझने का अद्भुत रूप से प्रयत्न किया है। युग-युगों में जो क्षुद्र, तुच्छ कीट, आदि शरीरधारी जीव जन्म लेकर काल-कवलित हो गए उनकी तो हमें कुछ भी स्मृति शेष नहीं मिलती जान पड़ती, परन्तु कुछ कठोर अंग धारण कर सकने योग्य जीवों ने दैव-संयोग से नित्य नूतन प्रस्तरों की निर्माण-क्रिया में बद्ध होकर अपना शव या कंकाल पाषाण रूप में कर भी अपना परिचय सुरक्षित रख सकने का अवसर दिया। उन्हें हम प्रस्तरीभूत अवशेष या फासिल नाम देकर स्मरण करते हैं। इन अवशेषों के प्रमाण से हम उन अद्भुत स्वरूपों के छोटे बड़े जीवों को क्रमिक रूप से संसार में अवतरित होते देखते हैं जिनका नाम-लेवा आज कोई नहीं दिखाई पड़ता। उन्हीं जीवों में से बहुतों का वंश लोप हो जाने पर नए नए प्रकार की सृष्टि होकर अधुनिक जीव-जंतुओं का युग उपास्थित हो सका। उन लोप हुए वंशों का ही वैज्ञानिकों ने कुछ नाम और रूप निर्धारित कर भूत युगों का दिग्दर्शन कराने का उद्योग किया है। उनका कुछ मनोरंजक और सुबोध वर्णन हमें इस पुस्तक में पढ़ने को मिल सकता है। हम ऐसे ऐसे विचित्र जीवों का अवलोकन पुस्तक में कर सकेंगे जो कौतूहल का एक स्वप्न-जाल सा नेत्रों के सम्मुख बिछा देंगे। त्रिफंकांगी, शृंग दंडी समुद्री बिच्छू, कटार दंती, भीमदेही, चतुः शृंगी, षद्शृंगी, विचित्र मुखी, पृष्ठ कंटकी, अधोहनु, दंती, चर्मपक्षी, त्रिशृंगी, दानवसरट, महागोधिका, सिधुगोधिका मत्स्य-गोधिका आदि विचित्र नाम एक अपूर्व आकर्षण के ही विषय हैं। लेखक ने ऐसे प्रसंगों को अपनी पुस्तक का विषय बनाकर हिन्दी-जगत की सेवा की है। हमें आशा है कि विचारशील और उत्साही पाठक ऐसे साहित्य को प्रथश्रय और प्रोत्साहन देने में अवश्य ही सहयोग प्रदान करने का प्रयत्न करेंगें।

राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ

प्रकाशक
विज्ञान परिषद, प्रयाग

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
परिषद् की ओर से	..	..	
१—अनुसन्धानशालाओं द्वारा राष्ट्र-निर्माण	..	..	१
२—वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग (डिपार्टमेंट आफ़ साइंटिफिक रिसर्च) तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान परिषद (कौंसिल आफ़ साइंटिफिक ऐण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च,)		..	४
३—राष्ट्रीय रसायनिक अनुसन्धानशाला	..	..	२०
४—राष्ट्रीय भौतिक अनुसन्धानशाला	..	..	२५
५—राष्ट्रीय धातु अनुसन्धानशाला	..	..	२७
६—केन्द्रीय पथ अनुसन्धानशाला	..	..	३१
७—केन्द्रीय भवन अनुसन्धानशाला	..	...	३४
८—केन्द्रीय खाद्य-शिल्प अनुसन्धानशाला	..	..	३६
९—केन्द्रीय काँच और सिरेमिक अनुसन्धानशाला	..	..	३८
१०—केन्द्रीय विद्युत-रसायनिक अनुसन्धानशाला	..	..	४३
११—केन्द्रीय औषधि अनुसन्धानशाला	..	..	४६
१२—केन्द्रीय ईन्धन अनुसन्धानशाला	..	..	५५
१३—केन्द्रीय चर्म अनुसन्धानशाला	..	..	५९
परिशिष्ट—			
१—चीनी प्रोद्योग तथा गन्ना गवेषणाशाला	..	..	६०
२—विज्ञान की सहायता से उद्योग की उन्नति	..	..	६१
३—राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में रुचिकर प्रयोग	..	..	६३
४—भारतीय मिट्टी से चीनी मिट्टी बनने लगी	..	..	६४
५—भारत की प्रथम विपाक्त व्रण गवेषणाशाला	..	..	६४
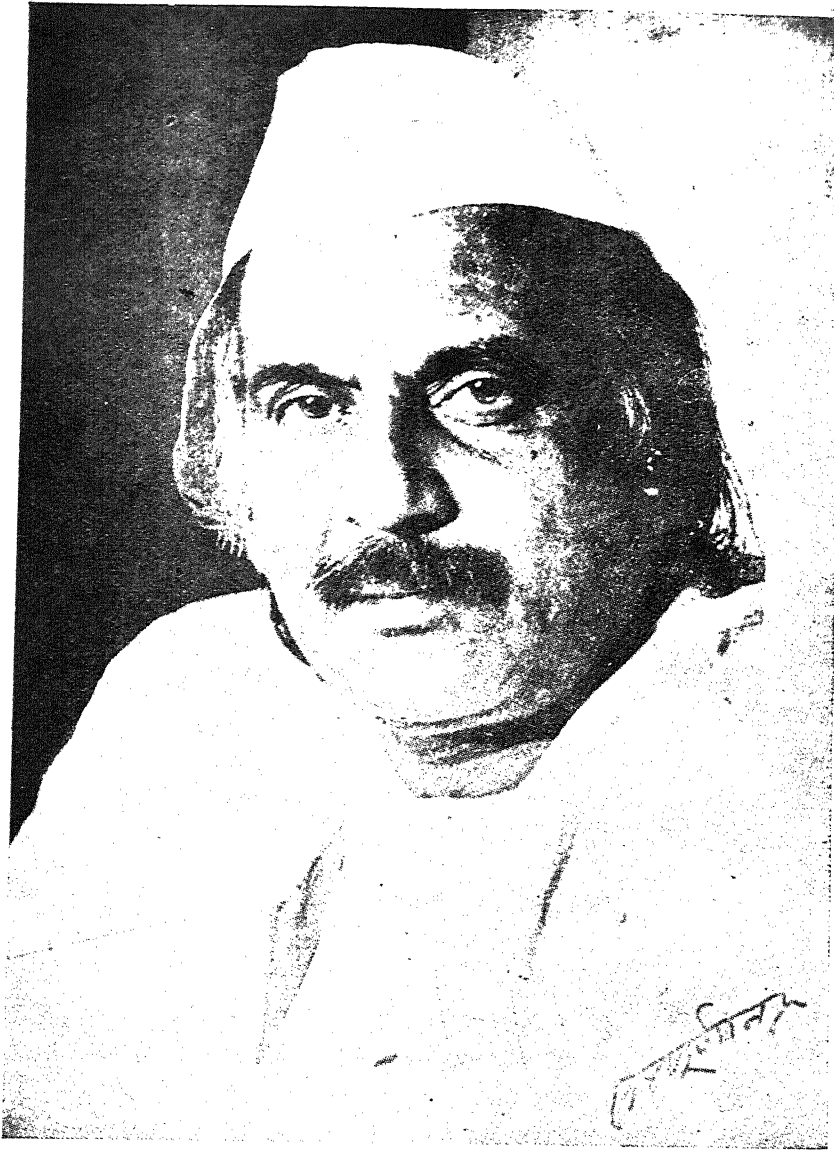
डा० सम्पूर्णानन्द, शिक्षा-मंत्री, उत्तर प्रदेश
जिनकी उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से राष्ट्रीय
अनुसंधानशाला विशेषांक प्रकाशित
किया जा रहा है।

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै०उ० ।३।५

भाग ७४ | मीन २००८, मार्च १९५२ ई० | संख्या ६

परिषद् की ओर से

हमारी राष्ट्रीय सरकार के वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग ने राष्ट्र-निर्माण के लिए जो प्रयत्न किए हैं उनमें वैज्ञानिक अनुसंधानशालाओं का निर्माण बड़ा ही महत्त्व रखता है। हमने उन्हीं अनुसंधानशालाओं का वर्णन हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखने के लिए विज्ञान का यह विशेषांक निकाला है। इन अनुसंधानशालाओं के सम्बन्ध के कुछ चित्र तथा अनुसंधानशालाओं संबंधी अंग्रेजी विज्ञप्तियाँ केन्द्रीय सरकार के वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग ने हमें प्रदान कर हमारा भार हल्का किया है। उसके लिए हम केन्द्रीय सरकार के विशेष आभारी हैं। कुछ हिन्दी तथा अंग्रेजी पत्रों में प्रकाशित सामग्री भी उपयुक्त हुई है। उसके लिए हम उन पत्र-संपादकों के आभारी हैं।

अनुसंधानशालाओं के वर्णन को लेख रूप में प्रस्तुत करने में हमारे जिन विद्वान लेखकों ने सहयोग प्रदान किया है, उनके प्रति भी हम ऋणी हैं। इन में डा० रमेश चन्द्र कपूर, डा० सत्य प्रकाश, डा० संत प्रसाद टंडन, डा० देवेन्द्र शर्मा, डा० कृष्ण बहादुर, श्री बालकृष्ण अवस्थी, तथा डा० हीरा लाल दुबे के नाम उल्लेखनीय हैं।

हमारी प्रान्तीय सरकार ने इस विशेषांक को निकालने में हमारी भारी आर्थिक सहायता की है। उसके लिए हम शिक्षा-मंत्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी; तथा शिक्षा-संचालक डा० इबादुर्रहमान खां के प्रति विशेष आभारी हैं।

राम दास तिवारी
प्रधान मंत्री

लेखकों को पुरस्कार-प्रदान

हमें यह सुनकर बड़ा ही हर्ष हुआ कि उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा हिन्दी-लेखकों को पुरस्कार देने वाली परामर्श दातृ समिति ने हमारे विज्ञान के लेखकों को भी पुरस्कार प्रदान किया है। इनमें श्री रामेशवेदी, आयुर्वेदालंकार को उनकी आयुर्वेदिक पुस्तकों पर ६००) तथा श्री जगपति चतुर्वेदी, सहायक सम्पादक, विज्ञान को, विलुप्त जन्तु तथा बिजली की लीला पर ५००) का पुरस्कार प्रदान किया है। हम अपने इन लेखकों को उनकी कृतियों तथा उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द जी को इस उदारता के लिए धन्यवाद देते हैं। आशा है हमारे लेखक वैज्ञानिक विषयों की लोकप्रिय रचनाओं को हिन्दी-जगत के सम्मुख रखने का अधिक उत्साह से प्रयत्न करते जायेंगे तथा हमारी प्रादेशिक सरकार भी विज्ञान विषय के लेखकों को उनकी कृतियों के महत्व के अनुसार पुरस्कार तथा प्रश्रय देते रहने में अपनी विशेष उदारता सतत प्रकट करती रहेगी।

हीरा लाल निगम
प्रधान सम्पादक

निवेदन

सभ्यों से

इस अंक से वर्ष समाप्त होकर अप्रैल १९५२ से नया वर्ष प्रारंभ होता है, अतएव सभ्यों से प्रार्थना है कि वे अपना वार्षिक सभ्य-शुल्क ५) मनी आर्डर द्वारा भेज दें। सभ्य-शुल्क प्राप्त होने पर परिषद् द्वारा प्रकाशित निम्न पुस्तकें रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा भेजी जावेंगी।

१९५२ में बने नए सभ्यों को अंतिम दो पुस्तकें और पुराने सभ्यों को तीनों पुस्तकें भेजी जायँगी। ३) प्रवेश शुल्क तथा ५) वार्षिक सभ्य शुल्क देकर कोई भी महानुभाव परिषद् के सभ्य बन सकते हैं।

शिशु-पालन

लेखक—श्री मुरलीधर शर्मा बौड़ाई, बी० एस-सी० मूल्य ४)

साँपों की दुनिया

लेखक—श्री रामेश बेदी, आयुर्वेदालंकार मूल्य ४)

पोर्सलीन्

लेखक—प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०) मूल्य ।।।)

—रामदास तिवारी
प्रधान मंत्री

माननीय श्री जवाहर लाल नेहरू—प्रधान मंत्री

आपने राष्ट्रीय रसायनिक अनुसंधानशाला, पूना, केन्द्रीय धातु अनुसंधानशाला, जमशेदपुर का उद्घाटन किया। केन्द्रीय सरकार का वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग पहले आपके ही आधीन था जिसके द्वारा राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं की श्रृंखला का बीज वपन हुआ।

माननीय श्री श्रीप्रकाश जी, राज्यपाल, मद्रास, तथा भूतपूर्व मंत्री, प्राकृतिक साधन तथा वैज्ञानिक अनुसंधान। आपने केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला का उद्घाटन किया।

अनुसंधानशालाओं द्वारा राष्ट्रनिर्माण

पिछले दो विश्वव्यापी महायुद्धों के पूर्व, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य जर्मन साम्राज्य का शासन-सूत्र आधुनिक युग के योरोपीय चाणक्य, बिस्मार्क के हाथों में था, जो लौह-पुरुष के नाम से इतिहास में विख्यात है। जिन दिनों इस विचक्षण राष्ट्रनिर्माता का भाग्य-सूर्य पूर्ण प्रकाशमान था, योरप के अन्य राष्ट्र इसके दबदबे से हतप्रभ हो रहे थे। उसकी दुर्दमनीय वाहिनी पार्श्ववर्ती राष्ट्रों की सीमाएं उल्लंघन कर अपनी विजय-पताका फहराने में बड़े गर्व का अनुभव करती थीं। फ्रांस देश भी इन विजय-वाहिनियों से पदाक्रान्त होकर निष्प्रभ हो रहा था। इन परिस्थितियों में फ्रांस के एक स्वाभिमानी पुरुष ने अपने देशाभिमान की भावना अपने मर्मस्थल में कुचलित होने का अनुभव किया। उसने रणभूमि में इस अभिमान की रक्षा में अपने देश की अक्षमता देखकर एक दूसरे क्षेत्र का साहाय्य लेकर अपनी प्रिय जन्मभूमि का मस्तक गर्वोन्नत करने का अद्भुत दृश्य उपस्थित किया। इस व्यक्ति को हम लुई पास्तूर नाम से वैज्ञानिक शोध-जगत में ख्याति प्राप्त करते देखते हैं।

"Science is of no country. But though science has no country, the man of science must keep in mind all that works towards the glory of his country. In every great man of science will be found a great patriot. The thought of adding to the greatness of his country sustains him in his long efforts, and throws him into the difficult but glorious scientific enterprises which bring about real and durable conquests."

"विज्ञान एकदेशीय नहीं है। किन्तु यद्यपि किसी भी एक देश का विज्ञान पर एकाधिपत्य नहीं है, तथापि विज्ञान-साधक को उन सब बातों की हृदय में अपेक्षा रखनी पड़ती है जो उसके देश को गौरवान्वित करें। प्रत्येक महान विज्ञानवेत्ता में हम एक महान देशभक्त की आत्मा भी सन्निविष्ट देखेंगे। अपने देश की महानता में परिवर्द्धन करने की भावना उसके विशाल प्रयत्नों में शक्ति प्रदान करती है तथा उसे दुष्कर किन्तु गौरवशाली वैज्ञानिक शोध-कार्यों के लिए स्फूर्तिदान करती है जो यथार्थ तथा स्थायी विजय-लाभ कर सकें।"

इन शब्दों को विज्ञान-जगत के प्रमुख शोधक पास्तूर ने सन् ८८४ ई० में कोपेनहेगेन की अंतर्राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान-परिषद के अधिवेशन में कहा था। ये वाक्य उस समय जितने सत्य थे, उतने ही आज भी हैं। हो सकता है कि कुछ परले दर्जे के अव्यावहारिक, कोरे आदर्शवादी, विज्ञान-साधक का पथ अन्यतर रूप में घोषित करने वाले महापुरुष भी हमें दृष्टिगोचर हों किन्तु व्यावहारिकता का परिधान पहनने वाले विचारकों को हम उपर्युक्त भावनाओं का समर्थन करते देखेंगे।

लुई पास्तूर की उर्वर मेधा-शक्ति ने जिन अपूर्व शोधों को जगत के सम्मुख रखने में सफलता प्राप्त की, उस से केवल उसकी जन्मभूमि ही गौरवान्वित तथा लाभान्वित नहीं हुई प्रत्युत सारा विज्ञान जगत कीर्तिशाली बन सका। आधुनिक युग में हम उसकी स्थापित महान अनुसंधान-शाला "पास्तूर इंस्टिट्यूट" रूप में उसके कीर्तिस्तम्भ की स्थापना देख सकें। आज भी वह अनुपम कार्यस्थल

साधकों की तपस्या-भूमि होने के अतिरिक्त संसार के मानव समुदाय के लिए कल्याणकारी कार्यों द्वारा एक महान तीर्थस्थल बना हुआ है जिस की विस्तृत रूप में शाखाएँ या सहमार्गी संस्थाएँ विश्व में प्रसारित होकर उस स्वनामधन्य वैज्ञानिक तथा उसकी लीला-भूमि फ्रांस की मधुर स्मृति दिलाती हैं।

चिकित्सा-क्षेत्र में जिस उल्लेखनीय नवीन अनुसंधान-कार्य का बीज-वपन महान शोधक पास्तूर ने किया, तथा विशाल अनुसंधानशाला को जन्म देकर इस कार्य को वेग पूर्वक आगे बढ़ाया, उसके समस्त अन्य क्षेत्रों में अनेक महत्वपूर्ण विशाल अनुसंधानशालाएँ खड़ी होकर देश-देशान्तरों की सर्वांगीण उन्नति करने तथा मानव जीवन का स्तर ऊँचा करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग ले रही हैं। इन अनुसंधानशालाओं के क्या लाभ हैं, उनका यथार्थ मूल्यांकन हम इनके द्वारा प्रत्यक्ष सफलताओं के प्रस्तुत करने पर कर सकेंगे। आजकल जीवन की प्रत्येक दिशा में विज्ञान की शोधों का प्रमुख प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। शोधों द्वारा उन्नत तथा विकसित उत्पादन साधन ज्ञात कर नाना उद्योग-धंधों की असीम वृद्धि की जानी संभव है। उन्नत उपायों से थोड़े धन के ही व्यय से प्रचुर उत्पादन की विविध विधियाँ आविष्कृत होकर राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकती हैं। देश के लड़खड़ाते उद्योग-धंधों को बल प्रदान कर समुन्नत करना देश की समस्या को बहुत कुछ न्यून करने में सहायक हो सकता है।

इन अनुसन्धानों को थोड़े या अधिक धन से अपने उद्योग को चलानेवाले उद्योगपति स्वयं अपने प्रयत्नों से करने में बड़ी ही कठिनाई का अनुभव कर सकते हैं। राष्ट्र सामूहिक रूप से देश भर की उस प्रकार की व्यवसाय सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण करने के लिए अपनी केन्द्रीय प्रयोगशाला में सुविधा कर उस कार्य को कर सकता है जिसे अन्य व्यक्तिगत प्रयत्नों में हम अधिक धन अपव्यय होने पर भी सफल होते नहीं देख सकते।

इस प्रकार के कितने ही उद्योग सम्बन्धी लाभ तथा देश की अन्य कल्याणकर समस्याओं के लिए राष्ट्रीय अनुसंधान-शालाओं का महत्व थोड़ा नहीं है। इन कार्यों से हम अपने प्रयत्नों द्वारा अन्य अवनत देशों के लिए भी अनु-करणीय उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं जो हमारी साधन-सम्पन्न अनुसन्धानशालाओं के सफल प्रयोगों से लाभान्वित होने का अवसर प्राप्त कर सकते हैं। इतना ही नहीं, अपने अथक उद्योगों से शोध-जगत की होड़ में उल्लेखनीय सफ-लताएँ प्राप्त कर हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कीर्ति-लाभ करने तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में सामना कर सकने की शक्ति प्राप्त करने का अवसर प्राप्त कर सकते हैं।

ऐसी अनुसन्धानशालाओं के सम्बन्ध में लुई पास्तूर ने आज से एक शताब्दी पूर्व जो वाक्य कहे थे उनको हम अपने हृदय पर अंकित रख कर अपने इन प्रारम्भिक उद्योगों में अनवरत उत्प्रेरणा पाते रहने का अवसर पा सकते हैं। पास्तूर ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य में अपने देश की सरकार द्वारा वैज्ञानिक शोधों के प्रति उदासीनता तथा उपेक्षा से दुखी होकर लिखा था :—

"If the conquests useful to humanity touch your heart—if you are jealous of the share your country may boast in these—then I implore you, take some interest in those sacred dwellings sneeringly described as *laboratories.*"

अर्थात्—"यदि मानवता के लिए उपयोगी विजय आपके हृदय को स्पर्श करती है—यदि इन सम्बन्धों में आप का देश जो भाग लेने का गर्व कर सकता है, उसके प्रति आप स्पर्द्धावान हैं—तो मैं आप से अनुनय करता हूँ कि आप उन पुनीत भवनों में कुछ रुचि प्रकट कीजिये जिनको उपेक्षापूर्वक अनुसन्धानशालाएँ नाम से पुकारा जाता है।

अपने देश की अधोगति का यथार्थ कारण पास्तूर

के शब्दों में जो था उसको हम नीचे दे रहे हैं। इन भावनाओं ने ही उसे अपने महान आविष्कारों के प्रति उत्प्रेरित किया था। हमारी राष्ट्रीय अनुसन्धानशालायें पास्तूर द्वारा वर्णित उन न्यूनताओं की पूर्ति करने में योगदान दे सकती हैं जिनसे हमारा देश भी सर्वाङ्गीण उन्नति कर सकने का अवसर पा सकता हो। पास्तूर के शब्द हमारे इन राष्ट्रीय उद्योगों के प्रति अपूर्व स्फूर्तिदान करने में आज भी समर्थ हो सकते हैं। पास्तूर ने अपने एक छात्र को लिखे पत्र में अपनी अन्तर्भावना को इस प्रकार व्यक्त किया था:—

"It is not with impunity that a great nation is allowed to lose its intellectual standard. We are paying the penalty of fifty years' forgetfulness of science, of its immense influence on the destiny of a great people, and of all that might have assisted the diffusion of light I can not go on, all this hurts me."

"कोई देश अपने बौद्धिक मापदंड को शिथिल कर व्याघातों को आमंत्रण देने से वञ्चित नहीं रह सकता। हमने पिछले ५० वर्षों से विज्ञान को विस्मृत कर दिया है तथा एक महान राष्ट्र के भाग्य-सूत्र पर इसके निस्सीम प्रभाव को भुला दिया है तथा उन बातों को भी भुला दिया है जो प्रकाश के विकीर्ण करने में सहायक हुई होतीं, इन्हीं कारणों से हमारी अधोगति हुई है ....मैं यह देख नहीं सकता। इन सबसे मुझे क्लेश होता है।"

पास्तूर के अन्तर्तम की पुकार ने फ्रांस देश की उन्नति में जो स्फूर्ति प्रदान करने में सहायता प्रदान की, उसे विज्ञान तथा संसार के इतिहास की कथा पढ़ने वाले भली-भाँति जानते हैं। इस दिशा में प्रगतिशील होकर देश के स्वातंत्र्य-युग का आरम्भ होते ही राष्ट्रीय सरकार ने प्रचुर धन लगाकर तथा उदार देशभक्तों तथा राज्य की सरकारों से धन तथा अन्य सहायतायें प्राप्त कर अनुसन्धानशालाओं को अल्पकाल में ही मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया है उसे देखकर हमारा हृदय गर्वोन्नत हुये बिना नहीं रह सकता। हम दृढ़ आशा करते हैं कि इन अनुसन्धान-पीठों में आधुनिक उपकरणों, यन्त्रों तथा अन्य सहायक साधनों के आयोजन से हमारे उत्साही विज्ञानवेत्ता पूर्णतया लाभ उठाकर अपनी प्रतिभा के उपयोग का अवसर प्राप्त करेंगे। आशा है हमारे पाठक इन प्रयत्नों की महत्ता अनुभव कर इनकी सफलताओं की कामना रक्खेंगे। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर हम भारत की राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं के संबंध में यह विशेष विवरण विज्ञान के विशेषांक रूप में निकाल रहे हैं। हमारे इस प्रकाशन-कार्य में उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा-मंत्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी तथा शिक्षा-संचालक डा० इबादुर रहमान खाँ ने आर्थिक सहायता प्रदान कर हमारे भार को जितना हल्का कर दिया है, उसके प्रति हम कृतज्ञता प्रकाश करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

डिपार्टमेंट आफ साइँटिफिक रिसर्च

(वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग)

और

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च

(वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान परिषद्)

परिचय

दूसरे महायुद्ध से पहिले संगठित वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च की ओर सरकारी तौर पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। लड़ाई के दिनों में बहुत सी समस्याएँ पैदा हुईं। उनको हल करने के लिये एक मजबूत केन्द्रीय रिसर्च संगठन की आवश्यकता अनुभव हुई। १९४० में हिन्द की सरकार ने बोर्ड आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च बनाया। १९४० से ४२ तक जो तजुर्बा इकट्ठा हुआ, उसके आधार पर, और जनता से सहायता तथा सहयोग पाने के विचार से १९४२ में कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च एक स्वतन्त्र रजिस्टर्ड संस्था के रूप में स्थापित की गई। लड़ाई के दिनों में इसने जो काम किया उसका मुख्य उद्देश्य युद्ध को सफलतापूर्वक चलाना था।

स्वतन्त्रता मिल जाने पर वैज्ञानिक रिसर्च को देश की जिन्दगी में उचित स्थान प्राप्त हुआ। १९४८ में मंत्रिमंडल ने इसके लिये एक नया विभाग बनाया और प्रधान-मन्त्री स्वयं उसके अध्यक्ष बने। इससे वैज्ञानिक रिसर्च को देश की उन्नति के सम्बन्ध में अलग स्थान मिला और ठीक-ठीक महत्व प्राप्त हुआ। इस विभाग के बनने से पहिले सभी दूसरे विभाग, खास तौर पर, शिक्षा, उद्योग और रसद के विभाग, अपना अपना वैज्ञानिक काम अलग-अलग करते थे। अब उसका बहुत सा हिस्सा इकट्ठा होकर इस विभाग के नीचे आ गया है। यह नया विभाग वैज्ञानिक रिसर्चों का संगठन करता है, सरकारी विभागों को वैज्ञानिक सलाह देता है, विश्वविद्यालयों और रिसर्च संस्थाओं में विशेष समस्याओं पर रिसर्च कराता है, व्यावहारिक वैज्ञानिक समस्याओं पर रिसर्च करने के लिये वृत्तियां देता है, तथा विदेशी और अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक समितियों और कमीशनों से सम्पर्क बनाता है। इस विभाग ने एटॉमिक एनर्जी रिसर्च बोर्ड का काम भी अपने हाथों में ले लिया है। कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, जो अब भी

गैरसरकारी स्वतन्त्र संगठन है, इस विभाग के नीचे काम करती है। देश में एटम शक्ति देने वाले जो खनिज पैदा होते हैं, उनका इस्तेमाल करने और परमाणु शक्ति के रिसर्च के विकास से सम्बन्ध रखने वाले मामलों को हल करने के लिए एक एटोमिक एनर्जी कमीशन बनाया गया है। डा० एच० जे० भाभा, एफ० आर० एस०, डा० के० एस० कृष्णन, एफ० आर० एस०, और डा० एस० एस० भटनागर, एफ० आर० एस० इस कमीशन के सदस्य हैं। वैज्ञानिकों की एक ऊँची कमेटी भी बनाई गई है। एक ही काम अनावश्यक रूप से जगह-जगह पर दुहराया न जाये इसलिये यह अलग-अलग विभागों में होने वाला वैज्ञानिक रिसर्चों में सुगठन करती है, मिलकर काम करने का प्रबन्ध करती है और नई वैज्ञानिक योजनायें बनाती है।

कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च

क्षेत्र और कार्य

१९४१ में हिन्द की व्यवस्थापिका एसेम्बली ने एक प्रस्ताव पास किया, जिससे कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना १८६० के सोसाइटी एक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड स्वतंत्र संस्था के रूप में हुई। इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

अ. हिन्द में वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च आरम्भ करना, उसे रास्ता दिखाना और उसका सुगठन करना : इसमें रिसर्च विशेष का आरंभ करना और उस पर धन लगाना भी शामिल है।

आ. उद्योग विशेष और व्यापार की समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये विशेष संस्थाओं का बनाना और उनका विकास करना, तथा बनी हुई संस्थाओं के विभागों को सहायता देना।

इ. कौंसिल के नीचे देश के उद्योगों के विकास के लिए की गई रिसर्चों के नतीजों को इस्तेमाल करना।

ई. रिसर्च लेबोरेटरियों का बनाना, उन्हें चलाना और उनका प्रबन्ध करना।

उ. वैज्ञानिक रिसर्चों और औद्योगिक समस्याओं आदि के सम्बन्ध में सूचनायें इकट्ठी करना और उनका प्रचार करना।

हिन्द के प्रधान मन्त्री कौंसिल की शासक संस्था के अध्यक्ष हैं। कौंसिल में कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं, कुछ बड़े उद्योगपति और कुछ दूसरे सरकारी विभागों के प्रतिनिधि। वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च का एक सलाहकारी बोर्ड इसे सलाह देता है। रिसर्च के सब प्रस्ताव जाँच पड़ताल और सिफारिश के लिये उसके पास भेज दिये जाते हैं। सलाहकारी बोर्ड में भी वैज्ञानिक, उद्योगपति और सरकारी विभागों के प्रतिनिधि होते हैं। बोर्ड को सहायता देने के लिये उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाली विशेषज्ञों की रिसर्च कमेटियाँ हैं। दवाइयों और खेती को छोड़कर प्राकृतिक विज्ञान की सब शाखाओं पर रिसर्च, और उद्योगों में उनका व्यवहार वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च बोर्ड के क्षेत्र में आते हैं। ऐसा नियम है कि जो महत्वपूर्ण रिसर्च योजनायें कौंसिल के पास आती हैं, कौंसिल बारीक जांच के लिये उन सबको उन विषयों की रिसर्च कमेटियों के पास भेज देती है। प्रत्येक रिसर्च कमेटी अपने क्षेत्र में हिन्द में होने वाली

रिसर्च पर नज़र रखती है, और छोटी तथा लम्बी रिसर्चों के लिये सुगठित योजनायँ बनाती है। आज कल बोर्ड की २६ रिसर्च कमेटियां हैं। उनके नाम नीचे दिये जाते हैं :

१ एप्लाईड फ़िज़िक्स रिसर्च कमेटी (व्यावहारिक भौतिकी रिसर्च कमेटी) २. रेडियो रिसर्च कमेटी ३. एटमौसफ़ियर रिसर्च कमेटी (वातावरण रिसर्च कमेटी) ४. कमेटी फ़ार दि मेज़रमेंट आफ़ ज्योलोजिकल टाइम इन इंडिया। (हिन्द भूशास्त्रीय समय नापने की कमेटी) ५. स्टैटिस्टिक्स, स्टेंडर्डस और क्वालिटी कंट्रोल रिसर्च कमेटी। (अंक, आदर्श और गुण नियामक रिसर्च कमेटी) ६. इन्टरनल कम्बश्चन एंजिन्स रिसर्च कमेटी। ७. बिल्डिंग रिसर्च कमेटी। ८. हैवीकैमिकल्स एण्ड कैमिकल इन्डस्ट्रीज रिसर्च कमेटी। (भारी रसायनिक पदार्थ और रसायनिक उद्योग रिसर्च कमेटी) ६. डाइ-स्टफ रिसर्च सब कमेटी रंग पदार्थों की रिसर्च सब कमेटी) १०. फारमास्यूटिकल्स एण्ड ड्रग्स रिसर्च कमेटी। (औषधि पदार्थ और दवा रिसर्च कमेटी) ११. इन्डस्ट्रियल फरमेंटेशन एण्ड बायोलोजिकल प्रोडक्ट्स रिसर्च कमेटी। (औद्योगिक विपाक और जीवात्मक पदार्थ रिसर्च कमेटी) १२. प्लास्टिक्स रिसर्च कमेटी। १३ वेजीटेबल आयल्स रिसर्च कमेटी। (वनस्पति तैल रिसर्च कमेटी) १४. एसेन्शल आयल्स रिसर्च कमेटी। इत्र रिसर्च कमेटी) १५. वनस्पति रिसर्च एडवाइज़री कमेटी। (वनस्पति रिसर्च सलाहकारी कमेटी) १६. मेटल्स रिसर्च कमेटी। (धातु रिसर्च कमेटी) १७. बेरीलियम रिसर्च कमेटी। १८. एलेक्ट्रो कैमिकल इंडस्ट्रीज रिसर्च कमेटी। (विद्युत् रसायनिक उद्योग रिसर्च कमेटी) १६. ग्लास एण्ड रिफरैक्ट्रीज रिसर्च कमेटी। (कांच और दुर्गलनीय रिसर्च कमेटी) २०. सेलूलोस रिसर्च कमेटी। २१. लेदर रिसर्च कमेटी। (चमड़ा रिसर्च कमेटी) २२. साल्ट रिसर्च कमेटी। (नमक रिसर्च कमेटी) २३. पावर अल्कोहल सब कमेटी। शक्ति सुरा सब कमेटी) २४. फ्यूअल रिसर्च कमेटी। (ईंधन रिसर्च कमेटी) २५. माइनिंग रिसर्च स्टेशन कमेटी। (खनिज अनुसंधान स्टेशन समिति) २६. खाद्य तेल तथा वसा के लिए चिकित्सा-अनुसंधान की भारतीय परिषद से संयुक्त समिति।

रिसर्च का काम

कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च का मुख्य उद्देश्य वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च आरम्भ करना, उसे रास्ता दिखाना और उसका सुगठन करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कौंसिल की लेबोरेटरियों, हिन्द के विश्वविद्यालयों तथा दूसरी रिसर्च संस्थाओं में अनुसंधान किये जाते हैं। अधिकतर खोजबीन रिसर्च योजनाओं के अनुसार होती है। कौंसिल इन अनुसंधानों को धन की सहायता देती है। विश्वविद्यालयों में मौलिक तथा व्यावहारिक, दोनों प्रकार की रिसर्चों के लिये सामान तथा कार्यकर्ताओं की बहुत सुविधा है। पर अभी तक यह सुविधाएँ पूरी तौर से काम में नहीं लाई जा रही थीं। कौंसिल द्वारा दी गई आर्थिक सहायता से इन सुविधाओं का इस्तेमाल हो रहा है। और आज देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और विभिन्न संस्थाओं में सौ से अधिक रिसर्च योजनाओं पर काम किया जा रहा है।

युद्ध की समस्यायें

वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च के डाइरेक्टर की लेबोरेटरियां बनने के समय से ही अनुसंधान कार्य की जीवित केन्द्र रही हैं यहां पर बहुत सी रिसर्चें रसद विभाग, रायल हवाई सेना, अमरीकी हवाई सेना, युद्ध विभाग और दूसरे सुरक्षा विभागों की समस्याओं को हल करने के लिये की गईं। इस

सिलसिले में बहुत काम हुआ है। उन में से कुछ की चर्चा यहाँ की जाती है। हवाई जहाज़ से सामान फेंकने के लिये ऊपर से गिर कर न टूटने वाली टंकियां बनाई गईं। उन दिनों धातुयें नहीं मिलती थीं; इसलिये तरह-तरह के सामान रखने के लिये प्लास्टिक के वर्तन बनाये गये। देश में ही उपजने वाले भिलावें जैसे पदार्थ से प्लास्टिक, एनेमिल और वारनिशों का निर्माण किया गया। वनस्पति तेलों से मशीनों के पुर्जे चिकनाने के तेल बने; आग बुझाने के यंत्र और कीटनाशकों का विकास हुआ। भिलावें के एनेमिल जरूरत के समय बन सके और उनकी सहायता से देश का बोबिन उद्योग अपने पैरों पर खड़ा हो सका। यह पाया गया है कि लकड़ी के बोबिन पर इस एनेमिल की तह चढ़ा देने से उनकी जिन्दगी बहुत बढ़ जाती है, और वे बाहर से मंगाये जाने वाले अच्छे से अच्छे बोबिनों के मुकाबले के हो जाते हैं। देशी सामान से गैसरोधक कपड़ा बनाने का सफल गुर निकाला गया। बिलोचिस्तान में पायी जाने वाली गन्धक को शोधने की तरकीब खोजी गई। कितने ही लाख गज़ गैसरोधक कपड़ा तैयार हुआ। सुरक्षा विभागों के लिये ऊँचे टेंशन के इग्निशन केबुल जांचने के यंत्र, पेट्रोल रखने की धातुओं की टन्कियों के लिये स्लशिंग वारनिश, रबर की टंकियों के लिये मरमत के मसाले पेट्रोल में न गलने वाले होज़ पाईप, पेट्रोल रखने के बर्तन, पेट्रोल पम्प की झिल्लियाँ या डायफ्राम, पेट्रोल की टंकियां बद करने के मसाले, रंगीन धुएँ, विपत्ति के सिगनल, भोजन गर्म रखने के बर्तन, पानी परखने के मसाले, नारियल के रेशों से धक्का सँभालने वाली पैकिंग वस्तुए जैसी चीजें बनाई गईं। दक्षिण पूर्वी एशिया में लड़ने वाली सेनाओं के लिये पाइरेथ्रम से मलेरिया नाशक बनाये गये। सुरक्षा विभागों ने आग बुझाने के झाग और चमकदार रंगों का इस्तेमाल किया। सेना के भेदिया विभाग के लिये गुप्त परकार जैसे गुप्त यंत्रों का आविष्कार किया गया।

औषधि अनुसंधान

पिछले वर्षों में कौंसिल की लेबोरेटरियों में और दूसरी जगह पर जो रिसर्च हुई हैं, उन से पता चला है कि देश में दवाइयों के बहुत बड़े उद्योग चलाये जा सकते हैं। इन रिसर्चों की सहायता से देश में उपजने वाली वस्तुओं का लाभदायक उपयोग हुआ है। पशुओं की ग्रंथियों से बनाई जाने वाली इन्सुलीन, एड्रेनिलीन, पिटयूट्रीन और थाइरोक्सीन, पाइरेथ्रम से बनी मच्छर दूर रखने वाली क्रीम और छिड़काऊ तरल तथा नीम से निर्मित चर्म रोगों को लाभ पहुँचाने वाली दवाइयां कुछ ऐसी वस्तुए हैं जो छोटे उत्पादक पैमानेपर बनाई जा चुकी है। देश में उत्पन्न होने वाली कितनी ही जड़ी बूटियों पर रिसर्च हो रही है। एन्टी बायोटिक्स (रोगाणुनाशकों, के लिये बम्बई में रिसर्च केन्द्र बनाया गया है। वहां पर इन जड़ी बूटियों के औषधि-गुण की परख की जाती है।

मुहर की स्याही

प्रथम स्वतन्त्रता दिवस पर महात्मा गांधी की स्मृति में जो टिकट चलाये गये थे उन पर मुहर लगाने के लिये देशी स्याही की आवश्यकता अनुभव हुई। डाक और तार विभाग की जरूरत को पूरा करने के लिये यह स्याही बनाई गई। यह स्याही विदेश से आने वाली अच्छी से अच्छी स्याही के मुकाबिले की है। इस में उपयुक्त मुख्य वस्तुए ऐसे पेड़ से आती हैं जो हिन्द में ही पैदा होता है। इस काम के बाद अब सरकार को विदेश से इस प्रकार की स्याही मँगाने की आवश्यकता नहीं होगी।

रंग पदार्थ

एक समय था जब कि हिन्द रंग पदार्थ उत्पन्न करने वाले देशों का नेता था। पर जब से विदेशों में रंग कारखानों में बनने लगे और वनस्पति से बने रंगों की मांग न रही, तब से हिन्द इन पदार्थों के लिये विदेशों पर निर्भर रहता आया है। रंग पदार्थ रिसर्च सब कमेटी ने इस स्थिति की पूरी तौर से जांच की, और हिन्द में रंग पदार्थों का उद्योग चालू करने के विषय में एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की। यह रिपोर्ट प्रकाशित की जा चुकी है। बम्बई और मद्रास विश्व-विद्यालयों की अनुसंधान शालाओं में रंग पदार्थों के निर्माण में काम आने वाले रसायनिक पदार्थों के बनाने पर रिसर्च हो रही है। रुई को सीधा रंग देने वाले रंगों तथा क्षारों अर्थात् अल्कली में घुल कर रंगने वाले रंगों पर भी अनुसंधान किया जा रहा है। कोलतार को गर्मी से उड़ाने पर जो चीजें मिलती हैं, रंग के अतिरिक्त उन से दूसरे औद्योगिक पदार्थ बनाने के विषय में भी खोजबीन की जा रही है। नैप्थलीन से थैलिक एनहाइड्राइड बनाने का उपाय छोटे उत्पादन की अवस्था तक पूरा कर दिया गया है, और बड़े पैमाने पर उपयोग करने के लिये एक औद्योगिक संस्था को सौंप दिया गया है। नैप्थलीन से तरह तरह के क्लोरीन धारी पदार्थ भी बनाये गये हैं।

धातु और मिश्र धातु

संसार में मैंगनीज़ के खनिज उत्पन्न करने वाले देशों में हिन्द का स्थान रूस के बाद दूसरा है। मैंगनीज़ का सब खनिज अब तक विदेशों को भेजा जाता है। रिसर्च की सहायता से अत्यन्त शुद्ध मैंग-नीज़ छोटे पैमाने पर बनाया जा चुका है। और अब बड़े पैमाने पर इस उद्योग को चलाने का यत्न किया जा रहा है। हिन्द में निकिल धातु नहीं पाई जाती। आउसटिनिक इस्पात के निर्माण में निकिल डाला जाता है। रिसर्च से पता चला है कि इस्पात में आधा निकिल और मैंगनीज डालने से काम चल सकता है। चुम्बकीय मिश्रधातु, विद्युत् रेजिस्टेंस मिश्रधातु, तांबा और सिलीकन के कांसे तथा अल्यूमीनियम और टिटेनियम के धातु-मिश्रणों पर अध्ययन किये जा रहे हैं। धातुओं की थकावट और धातुओं तथा मिश्र धातुओं की एक्सरे परीक्षा पर मौलिक काम भी किया जा रहा है। विशेषज्ञों की एक कमेटी बेरी-लियम बनाने की तरकीब और बैरीलियम धातु रक्षक मिश्रणों के उत्पादन की समस्याओं पर रिसर्च कर रही है।

रेडियो और व्यावहारिक भौतिकी

रेडियो और उसके पुर्जे बनाने के सम्बन्ध में कितनी ही समस्याओं पर अनुसन्धान किया गया है। लाउड स्पीकरों और रेजिस्टेंसों के बनाने की रीतियाँ पूरी कर ली गई हैं और उद्योगियों को बता दी गई हैं। रेडियो के लिए उचित प्रकार के एलेक्ट्रोलाइटिक कंडेन्सर और बैटरियाँ तैयार करने की समस्या पर मद्रास की प्रान्तीय लेबोरेटरी में एक योजना पर काम हो रहा है। रेडियो वाल्वों के उत्पादन में परीक्षा करने के लिए अमरीका से मँगाई गई एक छोटी मशीन कलकत्ता विश्वविद्यालय में लगाई गई है। सफल ब्राडकास्टिंग और हवाई उड़ानों के लिये वातावरण से ऊपर व्याप्त आयन क्षेत्र की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। इस क्षेत्र का अध्ययन कर विशेष सूचनाएँ प्राप्त करने के लिये कलकत्ते में एक विशेष प्रयोगशाला बनाई गई है। हमारा यह कार्य आयन क्षेत्र के विश्वव्यापी अध्ययन का एक भाग है। कलकत्ते के निकट आयन क्षेत्र के अध्ययन के लिये एक विशेष केन्द्र निर्माण का प्रस्ताव है। यहाँ आयन क्षेत्र के अध्ययन के साथ-साथ विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के द्वारा उच्च आकाशीय वातावरण के अध्

यन से सम्बन्धित मौलिक अनुसन्धान भी किये जायेंगे। व्यावहारिक भौतिकी रिसर्च कमेटी की देख-रेख में विशेषज्ञों के द्वारा वायुनिष्काशक (वैकुअम) पम्प, कम्प्रेसर, अल्ट्रासेंट्रीफ्यूज, आम मीटर, वोल्ट-मीटर और हीरे के गाढ़ जैसे भौतिक यन्त्रों के बनाने पर काम किया जा रहा है। सूखे विद्युत सेलों के लिए कार्बन राड, कार्बन वेल्डिंग राड, सिनेमा आर्क कार्बन, कार्बन ट्यूब और कार्बन ब्रुश बनाने की विधियाँ पूरी की जा चुकी हैं, और छोटे पैमाने पर उत्पादन आरम्भ होने वाला है। इन अनुसंधानों के दौरान में एक चुम्बकीय विलगावक बनाया गया है। इस यन्त्र में विलगाये जाने वाले पदार्थ को सूखी अवस्था में हवा या गैस की सहायता से चुम्बक के क्षेत्र में ले जाया जाता है। यह नये प्रकार का विल-गावक चाल मिलों और हवाई विलगावकों के साथ मिलकर आटे की मिलों, रङ्गों की फैक्टरियों और काजल से वस्तुएँ बनाने के कारखानों जैसे स्थानों में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जा सकता है।

तेल, प्लास्टिक और चमड़ा

हिन्द में वनस्पति तेल सब देशों से अधिक पैदा होता है। इसलिए प्रयत्न है कि उसका अधिक से अधिक लाभदायक उपयोग हो। कौंसिल के सहयोग से जो विधियाँ निकाली गई हैं, उनकी सहायता से तेल की कम्पनियों ने पाँच करोड़ रुपये से अधिक मूल्य की पुर्जों की चिकनाई और ग्रीज वनस्पति तेलों से बनाई है। तांबा-कांसे के धुरे साधकों (बेयरिंगों) के लिये विशेष प्रकार के तेलों का विकास किया गया है। यह तेल आज हिन्द की रेलों द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे हैं। इसी प्रकार के दूसरे अनुसन्धानों द्वारा न सूखने वाले अंडी और मूंगफली जैसे तेलों के इस्तेमाल की विधियाँ रङ्ग और वारनिश उद्योगों में निकाल ली गई हैं। स्टियरिक और ओलीक एसिडों के उत्पादन के लिये तेल के खंडन में भी सफलता प्राप्त की गई है। बीजों में से तेल निकाल लेने पर खली बचती है। यह खली प्रोटीन धारी महत्वपूर्ण पदार्थ है। इससे प्लास्टिक, चेप और बनावटी रेशे बनाने के लिए रिसर्च की जा रही है। नीम की खली से अल्कोहल को पीने के अयोग्य बनाने के लिए डिनेचरेंट तैयार किये गये हैं। भिलावें के खोल से मिले तरल को वनस्पति तेलों के साथ मिलाकर अने-मिलें और वारनिशें भी बनाई गई हैं। लम्बे अनु-संधान के फलस्वरूप तेल में घुलने वाला भिलावां तरल पानी में घुलनशील बनाया जा सका है। इस रूप में उसे बबूल या बैंटिल की छाल के साथ मिला-कर चमड़े की अच्छी वनस्पति कमावट के लिए इस्ते-माल किया जा सकता है। इस कमावट का विशेष लाभ यह है कि कमाने में समय कम लगता है, और अधिक चमकदार चमड़ा प्राप्त होता है। इसी प्रकार के बनावटी कमाऊ पदार्थ काजू के खोल के तरल का उपयोग करके बनाए गये हैं। बङ्गाल सरकार के कलकत्ते के टैनिङ्ग इंस्टीट्यूट में चमड़े पर एक लम्बी योजनानुसार रिसर्च हो रही है। मद्रास विश्वविद्यालय को अपने चमड़े की कारीगरी का विभाग बढ़ाने के लिए विशेष आर्थिक सहायता दी गई है। चमड़े के उद्योग में जो और दूसरी चीजें बच रहती हैं उनको उपयोग में लाने पर भी ध्यान दिया जा रहा है। अब तक काम में न आने वाले किरेटिन धारी पदार्थों, सींग, खुरों आदि से ग्लु, जिलेटिन और हवा के साथ मिलकर बबूले देने वाले घोल बनाने की तरकीबें निकाल ली गई हैं। इन पदार्थों को लाख और यूरिया के साथ मिलाकर नये प्रकार के प्लास्टिक भी विकसित किए गये हैं।

परतदार प्लास्टिक

हिन्द में रसायनिक उद्योग अभी विकसित नहीं

हुआ है। प्लास्टिक बनाने के लिए जिन आधारभूत वस्तुओं की जरूरत है वे यहाँ नहीं मिलतीं। इसलिए प्लास्टिकों के निर्माण की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था। इधर कौंसिल की देख-रेख में जो रिसर्च हुई है उनसे यह नतीजा निकला है कि देश में प्राकृतिक रूप से उपजने वाले रेजिनों, राल जैसे पदार्थों, का इस्तेमाल प्लास्टिक बनाने के लिए किया जा सकता है। इन रेजिनों से, टाट, कपड़ा और कागज आदि का उपयोग करके पत्तरदार चद्दरें तथा सपाट, लहरदार और परतदार तख्ते बनाये गए हैं। इन वस्तुओं का उद्योग में बहुत उपयोग हुआ है। इनसे मकान बनाने के लिये हल्की वस्तुयें बनाई गई हैं। बिजली का सामान, स्विच बोर्ड, और पिस्टन के छल्ले को यथास्थान रखने के लिए जिग बनाये गये हैं। वे भांति-भांति के बर्तन बनाने के काम में भी लाई गई हैं। धातु की चद्दरें खींचने और दबाने की क्रिया को, सांचे में दबाकर वस्तु बनाने की क्रिया और परतदार चद्दरें उत्पादन की विधि के साथ मिला कर एक नये तरीके का आविष्कार किया गया है। इस तरीके की सहायता से प्लास्टिक से भरे हुये पत्तरों को एक ही बार में खींच और दबाकर टेढ़ी-मेढ़ी जटिल वस्तुओं का बना देना सम्भव हो गया है। कितनी ही प्रकार की उपयोगी वस्तुयें एक और अनेक रंगों की बनाई जा चुकी है। प्लास्टिक वस्तुयें बनाने के इस नये उपाय ने संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

बनावटी रेशम

देश में बनावटी रेशम का उद्योग जमाने के विचार से हिन्द के सेल्यूलोस उत्पन्न करने वाले पदार्थों का अध्ययन किया गया है। कुछ पदार्थों को उबालकर और ब्लीच करके अधिक से अधिक अल्फ़ा-सेल्यूलोस और कम से कम राख वाली लुग्दी प्राप्त करने के लिये सबसे अच्छी अवस्थायें निश्चित कर ली गई हैं। हिन्द में बनावटी रेशम का उद्योग कहाँ रखा जाये, इस पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की जा चुकी है। अहमदाबाद की कपड़ों की मिलों से तरह तरह के रसायनिक पदार्थ लिये हुये जो गंदा पानी बहता है, उसको शोधकर खाद का पानी बनाने के विषय में अध्ययन किया जा चुका है।

इत्र : उड़नशील तेल

हिन्द में इत्र उद्योग का अध्ययन पूरा किया जा चुका है। वह प्रकाशित भी हो गया है। देश में उपजने वाले खुशबूदार पौधों का एक दूसरा अध्ययन वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च की पत्रिका, 'जर्नल आफ़ दि कौंसिल आफ़ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च', में प्रकाशित किया जा रहा है। खस की खेती पर एक पुस्तिका भी छापी गई है। इत्रदार पौधों की खेती और चमेली तथा गुलाब से हिन्द के विभिन्न भागों में इत्र निकालने की रीतियों का भी अध्ययन किया गया है। तुलसी परिवार के पौधों को मिलाने और उनकी खेती करने से पता चला है कि इस परिवार के एक सदस्य, 'ओसीमम किलीमन-जैरिकम' से कपूर प्राप्त किया जा सकता है। यू० पी० की सरकार ने इस पौधे की खेती के लिये पचास एकड़ भूमि अलग कर दी है।

शक्ति अल्कोहल

कौंसिल ने पेट्रौल की जगह इस्तेमाल होने वाली अल्कोहल की ओर खास ध्यान दिया है। बंगलौर के इंडियन इंस्टीट्यूट आफ़ साइंस में एक योजनानुसार अनुसंधान किये गये हैं। इनसे अल्कोहल बनाने का जो उपाय निकला है उसके उपयोग में

हमें अल्कोहल पहिले से अधिक प्राप्त होती है। इस उपाय को बड़े पैमाने पर काम में लाने का यत्न किया जा रहा है। आशा की जाती है कि इससे अल्कोहल उद्योग में काफ़ी बचत हो जायेगी। गन्ने की खोई जैसी खेती व्यवसाय की बची खुची वस्तुओं का इस्तेमाल करके सस्ती शक्ति अल्कोहल बनाने की सम्भावना की जांच करने के लिए एक कमेटी बना दी गई है।

प्रोड्यूसर गैस

दिल्ली में स्थित कौंसिल की भौतिक लेबोरेटरी प्रोड्यूसर गैस से चलने वाली गाड़ियों को जांचने, और उनके विषय में रिसर्च का काम करती रही है। गैस छानने के लिए उत्तम छन्ने बनाकर इस ओर बहुत उन्नति की गई है। इस लेबोरेटरी में प्रोड्यूसर गैस की कई तरह की मशीनें परखी गई हैं और उनका आदर्श निश्चित किया गया है।

राष्ट्रीय अनुसंधानशालायें

भारत में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान के विकास के लिए परिषद् के महत्त्वपूर्ण कार्य रूप में राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं की स्थापना हुई है जो अब तक अपर्याप्त रूप से सुलभ सुविधाओं में यथेष्ट वृद्धि करती हैं। ये विशाल रूप में संयोजित, अधुनिक ढंग से निर्मित, आधुनिकतम तथा नवीनतम उपकरणों से सुसज्जित तथा संसार में इस प्रकार की सर्वोत्तम संस्थाओं में गिनी जाने की आशा रख कर बनी हैं। इनका "ज्ञान मंदिर" नाम सार्थक ही दिया गया है। ये उन कार्यों को कर सकने का अवसर उपस्थित करेंगी जो अब तक संभव नहीं माना जाता था। छोटे पैमाने पर उत्पादन इन की एक विशेषता है, और इस से अनुसंधान कार्य को उस पग तक बढ़ा सकना संभव होगा जहाँ से निर्माण विधियों की आर्थिक व्यावहारिकता को अच्छी तरह परखकर सकना संभव होगा। ये योजना-पत्रक बनाने में समर्थ बना सकेंगी जो व्यावसायिक उत्पादन केन्द्रों के अंतिम रूप का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत कर सकेगा।

इन अनुसंधानशालाओं का कार्यक्षेत्र मौलिक अनुसंधान के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष भी होगा। ये ऐसे कार्य को हाथ में ले सकेंगी जो उद्योगों के साधारण कार्य क्षेत्र में नहीं आ सकते। अधिक विस्तृत साधनों की उपलब्धि का प्रबंध कर सकने में समर्थ होने के कारण वे अधिक योग्य कार्य-कर्त्ताओं को नियुक्त कर सकती हैं तथा एक साथ ही समस्या के निराकरण के कई मार्गों का अनुसरण कर सकती हैं। इन राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं का कार्य पूरक तथा स्वतंत्र दोनों ही रूपों का होगा, वे सामूहिक या व्यक्तिगत उद्योग-धंधों द्वारा परिचालित संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों के अनुसंधान कार्यों से सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा उनके कार्यों में सहायता प्रदान ही कर सकेंगी।

इन राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं का संचालन-सूत्र योग्य वैज्ञानिकों के हाथ में दिया गया है। इनके कार्यकर्त्ता-मंडल में देश के योग्यतम वैज्ञानिक—प्रतिभासंपन्न व्यक्ति रक्खे जायेंगे। प्रत्येक अनुसंधान-शाला में एक प्रबंधक भी नियुक्त किया गया है जो प्रबंध संबंधी मामलों में संचालक की सहायता करता रहेगा, तथा हिसाब-किताब, और अन्य दैनिक कार्यों की देख भाल करेगा।

भवन निर्माण तथा उपकरणों में तीव्र प्रगति का अनुमान आंकड़ों के देखने से हो सकता है—बढ़ती हुई महँगाई तथा अन्य अनिवार्य कारणों जैसे मुद्रा-अनुमूल्य निर्धारण (डिवैल्युएशन से मूल अनुमान-पत्र को संशोधित करना पड़ा है और आज यह व्यय की धनराशि ४'१५ करोड़ के लगभग

है। व्यय का मुख्य भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान किया गया है किन्तु कुछ उल्लेखनीय धन-राशियाँ तथा मूल्यवान भेंटें राज्यों तथा उद्योग-पतियों द्वारा प्राप्त हुई हैं। इन को सधन्यवाद स्वीकार किया गया है।

प्रत्येक अनुसंधानशाला के संचालन में सहायता करने के लिए परामर्शदातृ समितियाँ भी स्थापित की गई हैं जिनका कार्य निम्न रूप का होगा :—

(क) वर्ष के प्रारंभ में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधानपरिषद को अनुसंधानशाला का कार्य-क्रम प्रस्तुत करना।

(ख) अनुसन्धानशाला की प्रगति की देख-रेख करना तथा उन्नति के लिए परिषद के सम्मुख प्रस्ताव भेजना।

(ग) अनुसन्धानशाला के आय-व्यय का लेखा बनाना तथा परिषद के पास विचारार्थ भेजना।

(घ) परिषद द्वारा जो अन्य कार्य सौंपे जायँ उसे पूरा करना।

अनेक राष्ट्रीय अनुसन्धान शालाओं के कार्यों के सर्वांगीण संयुजन के लिए सब संचालकों की एक समिति बनी है जिसका सभापति परिषद का सन्चालक होगा।

कौंसिल की रिसर्च संस्थाएँ

कौंसिल ने अपने छोटे से जीवन में अपने काम से सरकार को यह निश्चय करा दिया कि इस समय देश में एक व्यापक वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च संगठन और अनेकों राष्ट्रीय रिसर्च लेबोरेटरियों के बनाने की आवश्यकता है। वैज्ञानिक और औद्योगिक रिसर्च के डाइरेक्टर ने जो पांच राष्ट्रीय लेबोरेटरियां – राष्ट्रीय भौतिक लेबोरेटरी, राष्ट्रीय रसायनिक लेबोरेटरी, राष्ट्रीय धातु निर्माण लेबोरेटरी, ईंधन रिसर्च इन्स्टीट्यूट और केन्द्रीय ग्लास तथा सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट – बनाने का प्रस्ताव हिन्द की सरकार के सामने रखा था, वह स्वीकार कर लिया गया, और १६४४ में इस कार्य के लिए एक करोड़ रुपये की मंजूरी दे दी गई। १६४५ में कौंसिल की औद्योगिक रिसर्च प्लानिंग कमेटी ने खाद्य, औषधि, विद्युत-रसायन, चमड़े तथा मकान और सड़कों की समस्याओं पर रिसर्च करने के लिये पांच विशेष केन्द्रीय संस्थायें और बनाने की सिफ़ारिश की। सरकार ने इन संस्थाओं का बनाना भी स्वीकार कर लिया। अब तक ११ राष्ट्रीय प्रयोगशालायें बनकर काम करने लगी हैं इनका विवरण आगे दिया जायगा।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान की पत्रिका

ज्ञानिक अनुसंधान परिषद के कार्यों में एक अनुसंधान पत्रिका का प्रकाशन भी अपेक्षित था। सन् १६४२ के अक्तूबर मास में इस पत्रिका का प्रथम अंक निकला जिसका नाम जर्नल आफ साइंटिफिक ऐण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च (वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान की पत्रिका) रक्खा गया। पहले यह पत्रिका त्रैमासिक रक्खी गई किन्तु शीघ्र ही इस बात का अनुभव किया गया कि इसे मासिक रूप में निकाला जाय जिस में परिषद के वृद्धिशील क्रिया-कलापों के परिणाम स्वरूप शिल्प वैज्ञानिक लेखों की बढ़ती हुई संख्या का प्रकाशन हो सके। अतएव अप्रैल सन् १६४४ ई० में पहली मासिक पत्रिका निकली और तब से बराबर प्रतिमास इस पत्रिका का नियमित रूप से प्रकाशन होता आ रहा है। संपादक-मंडल ने १६४६ ई० में इस पत्रिका का एक खंड (पार्ट बी०) केवल मौलिक अनुसंधान के लेखों के लिए पृथक ही सुरक्षित कर लेने का निश्चय

किया। पृष्ठों की संख्या सन् १९४३ ई० में जहाँ ३८२ थी वहाँ १९४९ में ८३६ हो गई तथा इस की वितरित प्रतियों की संख्या सन् १९४३ में जहाँ ५८० थी वहाँ सन् १९४९ में १३८० हो गई। इस पत्रिका के परिवर्तन में बहुसंख्यक विदेशी तथा देशी पत्र आते हैं। तथा ऐसे आने वाले पत्रों की संख्या २०० से भी अधिक है।

पत्रिका में प्रकाशित सामग्री में अनुसंधानात्मक लेख, आलोचनात्मक लेख, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक पत्रों की अलोचना तथा भारत और विदेशों में व्यावहारिक विज्ञान के उपयोगों के सम्बन्ध में समाचार और टिप्पणियाँ रहती हैं। पत्रिका के द्वितीय खंड में प्रकाशनार्थ आने वाले मौलिक अनुसंधनात्मक लेखों की भरमार दिन पर दिन अधिक होती जा रही है और अब यह विचार करना पड़ रहा है कि मौलिक अनुसंधान की एक पृथक ही पत्रिका निकाली जाय।

इस पत्रिका में प्रकाशित लेखों का सारांश संसार के विभिन्न पत्रों में बराबर निकला करता है जो सारांश प्रकाशन का कार्य करते हैं। वैज्ञानिक समाचार के प्रसार के लिए एक प्रबल साधन रूप में हम इस पत्रिका को देख रहे हैं। इसमें अनुसंधान तथा उन्नति के कार्यों के सम्बन्ध में पूछताछ और उनके उत्तरों के प्रकाशन की व्यवस्था की गई है। अनेक अनुसंधानशालाओं के स्थापित होने के कारण परिषद् ने इस पत्रिका को विज्ञान तथा उद्योग-धंधों की सेवा के लिए अपूर्व अवसर तथा विशाल क्षेत्र प्रदान किया है।

आर्थिक उपज का कोश

कोश के कार्यालय ने देश भर के औद्योगिक साधनों तथा कच्चे मालों के सम्बन्ध में प्राप्त सभी सूचनाओं के पूर्ण संग्रह को प्रकाशित करने का भार अपने ऊपर लिया है। उन्हें संगृहीत करने, संपादित करने तथा विशद संग्रह रूप में प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व उसके ऊपर होगा। इस प्रकार संगृहीत तथा संपादित सूचनाएँ कई जिल्दों में प्रकाशित करने की व्यवस्था है जिसका नाम "वेल्थ आफ़ इन्डिया" (भारत की संपत्ति) होगा। प्रत्येक जिल्द में दो खण्ड होंगे। एक में कच्चे मालों का विवरण होगा तथा दूसरे में औद्योगिक उपज का।

इस प्रकार का कोई ग्रन्थ कितने ही दशकों से भारत में प्रकाशित करने का प्रयत्न नहीं किया गया और वाट का प्रसिद्ध कोश जो पिछली शताब्दी के अन्त में प्रकाशित हुआ था, आज से कितने ही वर्षों पूर्व पुराना पड़ गया तथा वह आज की विद्यमान परिस्थिति से सर्वथा भिन्न स्थितियों में संयोजित तथा प्रकाशित हुआ था। वाट के पश्चात् के दशकों में भारत केवल कृषि-प्रधान देश होने के स्थान पर अर्द्ध औद्योगिक रूप में परिणत हो गया है और इस परिवर्तन के वेग में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अधिक वृद्धि हुई है। प्राकृतिक साधनों की छान बीन तथा अनुसन्धान ने बहुत अधिक सूचनाओं का भंडार एकत्र कर दिया है जिनको विभिन्न स्थानों, वैज्ञानिक पत्रों, सरकारी विवरण-पत्रों, पुस्तिकाओं तथा विज्ञप्तियों से संगृहीत करना आवश्यक है। इस कार्यालय द्वारा ५० वर्ष की अवधि के साहित्य की खोज में अद्भुत सफलता मिली है और भारतीय सम्पत्ति (वेल्थ आफ इन्डिया) की प्रकाशित जिल्दों को विद्वानों ने भारत के आर्थिक साधनों के सम्बन्ध में "सर्वाधिक सूचना-भण्डार" तथा "प्रामाणिक ज्ञान-कोश" घोषित कर स्वागत किया है।

इस कार्य की गुरुता का अनुमान करने के लिये इस तथ्य पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है कि इस

विश्वकोश में निम्न रूप में ४२५२ उपशीर्षकों का समावेश होगा :—

वनस्पतिक साधन	३८५०
जान्तविक साधन	५२
खनिज साधन	६०
औद्योगिक साधन	२६०

माननीय प्रधान मंत्री के शब्दों में "भारत की सम्पत्ति" द्वारा विचार के नए क्षेत्र सम्मुख आते हैं तथा सूचना का मनोरंजक भंडार उपलब्ध होता है जो भारत के राष्ट्रनिर्माताओं के लिए बड़े महत्व का सिद्ध होगा। इस पुस्तकमाला की पहली जिल्द के दो खंड सन् १९४८ ई० में प्रकाशित हुए थे। दूसरी जिल्द १९५० ई० में प्रकाशित हुई तथा तीसरी जिल्द की पाण्डुलिपि तैयार होकर शीघ्र प्रकाशित होने की आशा की जा रही है।

इस कोष के सम्पादन के लिए कार्यालय ने भारत के भौतिक साधनों के सम्बन्ध की सूचनाओं के वर्गीकृत लेख-पत्र तथा एक सुन्दर पुस्तकालय संग्रहीत किया है। इस प्रकार यह एक सूचना संघ का कार्य करने में समर्थ संस्था हो गई है तथा इसके द्वारा प्राकृतिक साधनों के सम्बन्ध में उद्योगपतियों, सरकारी विभागों तथा अनुसन्धान कर्त्ताओं की पूछ-ताछ के सम्बन्ध में यथोचित उत्तर भेजे जा रहे हैं। कार्यालय को प्रकाशन का भी पर्याप्त अनुभव है और आर्थिक उपजों के सम्बन्ध में ग्रन्थ सूची तथा विज्ञप्ति-पत्र प्रकाशित करने का विचार किया जा रहा है। परिषद की बिक्री योग्य प्रकाशित पुस्तकों के विक्रय तथा प्रकाशन का भी प्रबन्ध उसके द्वारा होता है।

विज्ञान-कर्मियों का रजिस्टर

देश के उद्योग तभी फलफूल सकते हैं जब कि उन्हें कुशल कारीगरों और चतुर वैज्ञानिकों की सेवाएँ प्राप्त हों। सरकार ने सारे देश के विज्ञान-कर्मियों और कुशल कारीगरों का एक पूरा रजिस्टर बनाने का काम कौंसिल आफ़ सांइटिफ़िक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च को सौंप दिया है। २५,००० कारीगरों और विज्ञान कर्मियों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा चुकी है। जब यह कार्य पूरा विकसित हो जायेगा तो कौंसिल का यह विभाग देश के कारीगरों और विज्ञान कर्मियों के विषय में सूचनाओं का बैंक बन जायगा और उद्योग तथा सरकार अपने मतलब का कारीगर अथवा विज्ञान-कर्मी इसकी सहायता से प्राप्त कर सकेंगे।

उद्योग में सामूहिक रिसर्च

कौंसिल ने उद्योगों में रिसर्च को प्रोत्साहन देने के लिए प्रमुख तरीका इस्तेमाल किया है वह है उद्योग विशेष के लिए रिसर्च समिति की स्थापना। हिन्द में अधिकतर उद्योग छोटी-छोटी फर्मों द्वारा चलाये जाते हैं। वे अलग-अलग अपने रिसर्च विभागों का बोझ नहीं सम्भाल सकते। सहयोगी रिसर्च समितियों के द्वारा ये फर्म अपने उद्योग में होने वाली विश्व की प्रगति के साथ चल सकते हैं। अहमदाबाद कपड़ा उद्योग के लिए एक सहयोगी रिसर्च समिति की स्थापना की गई है। इसके लिए वस्त्र उद्योग ने ६६ लाख रुपये जमा किये हैं और सरकार ने भी अच्छी सहायता दी है। एक ऐसी ही समिति चर्म उद्योग ने मद्रास में २ लाख रुपये से आरम्भ की है। चमड़े और कपड़े उद्योगों की देखा-देखी रसायनिक रङ्ग और रेशम उद्योग भी ऐसी समितियाँ बनाने की बात सोच रहे हैं। समिति बनाने वालों की सुविधा के लिए सामान्य आरटिकल्स और मेमोरेंडम आफ़ एसोसियेशन तैयार कर लिये गये हैं। इस प्रकार की संस्था बनाने वाले उद्योग को इस काम में पूरी सहायता दी जाती है। इन समितियों के सदस्यों को निम्नलिखित सुविधाएँ होती हैं। १. वे

इस रिसर्च सन्गठन की सीमा में अपने उद्योग की विधियों के विषय में सूचनाएँ प्राप्त कर सकते हैं। २. वे समस्या विशेष पर रिसर्च किये जाने का सुझाव दे सकते हैं। समिति का शासक बोर्ड यदि उस समस्या को रिसर्च के लिए स्वीकार कर लेता है तो उस पर सुझाने वाले सदस्य से बिना अतिरिक्त धन लिये रिसर्च की जाती है और रिसर्च का नतीजा सब सदस्यों को बता दिया जाता है। ३. समिति के सदस्य समिति के किसी पेटेंट या उसकी गुप्त विधि को बिना कुछ मूल्य दिये अथवा नाम मात्र मूल्य देकर इस्तेमाल कर सकते हैं। ४. वे अपनी किसी कठिनाई पर अपने लाभ के लिए लागत मात्र पर अनुसन्धान करवा सकते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि सब उद्योग अपने काम के लिए अपनी लेबोरेटरी अलग ही बनायें। वे कौंसिल, किसी विश्वविद्यालय अथवा किसी दूसरी रिसर्च संस्था की लेबोरेटरी में अपना काम करा सकते हैं। इन संस्थाओं के साथ बातचीत करके उनकी सेवाओं की शर्तें तय की जा सकती हैं। कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च की लेबोरेटरियाँ पिछले पाँच वर्ष से मेसर्स स्टील ब्रदर्स एण्ड कंपनी लिमिटेड जैसे बड़े औद्योगिक संगठन के लिए काम करती रही हैं। अभी हाल में वनस्पति मैन्यूफ़ैक्चरिंग एसोसियेशन ने इस उद्योग से सम्बन्धित कितनी ही समस्याओं पर रिसर्च करने के लिए कौंसिल को काफ़ी रुपया दिया है।

औद्योगिक उपयोग

किसी नये औद्योगिक तरीके की सफलता परखने के लिए यह जानना जरूरी है कि कहाँ तक वह नवीन उद्योग आरम्भ करने में सहायता देगा और कहाँ तक उसके इस्तेमाल से पुराने जमे हुए उद्योग को लाभ पहुँचेगा। कौंसिल अपने कार्य के इस पहलू पर अपनी औद्योगिक सम्पर्क कमेटी से सहायता लेती है। यह कमेटी कौंसिल के तत्वावधान में विकसित किये गये नये तरीके या विधि को लाभदायक रीति से शीघ्रातिशीघ्र इस्तेमाल करने के विषय में सलाह देती है। यह काम जिस प्रकार किया जाता है उससे इस नवीन विधि का काफ़ी विज्ञापन हो जाता है। देश के उद्योगपतियों का ध्यान उस ओर आकर्षित करने के लिए अधिक से अधिक यत्न किया जाता है। नये तरीके की एक साधारण विज्ञप्ति उद्योग के सामने रख दी जाती है। इस विज्ञप्ति में तरीके की व्यापारिक सम्भावनाएँ, आवश्यक पूँजी, जरूरी समान, कच्चे माल की सूचना, निर्मित वस्तु के बाजार, बनाने की लागत आदि विषयों की चर्चा की जाती है। देश में जैसे-जैसे उद्योगों का विकास हो रहा है उद्योगों की अपनी आवश्यकताएँ भी बदल रही हैं। इसका ध्यान रखते हुए यह तरीके व्यापारिक उपयोग के लिए दे दिये जाते हैं। कौंसिल अब तक १४३ से ऊपर पेटेंट ले चुकी है। इन में से ५० के लगभग उद्योगों को इस्तेमाल के लिए दिये जा चुके हैं। जिन आविष्कारों ने संसार के अन्य देशों में लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है, वे हैं एक ही साथ खींच और दबा कर बनाई गई परतदार प्लास्टिक वस्तुएँ, प्लास्टिक तख्ते और बर्तन, अल्यूमीनियम द्रावक और भिलावे से बने एनेमिल तथा वारनिश।

धन और भूमि-दान की तालिका

	दान रुपये	उद्देश्य
१. सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट	८·३ लाख	नेशनल कैमीकल लेबोरेटरी
२. सर रतन टाटा चैरिटीज़	११·७ लाख	नेशनल मेटलर्जिकल लेबोरेटरी
३. इंडियन स्टील एँड वायर प्रोडक्ट्स लिमिटेड	१· लाख	,,
४. इंडियन मेटलर्जिकल एसोसियेशन	१० हजार	,,
५. सर यू० एन० ब्रह्मचारी	१० हजार	सेंट्रल ग्लास एँड सिरेमिक रिसर्च इंस्टीट्यूट
६. यू० पी० ग्लास वर्क्स	१० हजार	,,
७. बंगाल ग्लास मैन्युफैक्चरर्स	१० हजार	,,
८. इंडियन ग्लास मैनफैक्चरर फेडरेशन	३०००० रु०	
९. डा० आर० एम० अलगप्पा चेट्टियर	१५ लाख और कराइकुडी में ३०० एकड़ भूमि	सेंट्रल एलेक्ट्रो कैमीकल रिसर्च इंस्टीटयूट
१०. भारत सरकार	दिल्ली में ६६ एकड़ भूमि	नेशनल फिजीकल लेबोरेटरी
११. झरिया के राजा	धनबाद में १०० एकड़ भूमि	फ्यूअल रिसर्च इंस्टीट्यूट
१२. मद्रास सरकार	मद्रास में ७७ एकड़ भूमि	सेंट्रल लेदर रिसर्च इंस्टीट्यूट
१३. मैसूर की सरकार	चैलुवम्बा महल मैसूर में (अनुमानित मूल्य ५० लाख)	सेंट्रल फूड टेक्नोलोजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट
१४. यू० पी० सरकार	लखनऊ में छत्र मन्जिल	सेंट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट
१५. विहार सरकार	गाड्स गिफ्ट नामक भवन	मूल्य लगभग १ लाख
१६. विंध्य प्रदेश सरकार	उमरिया की सागरा इस्टेट	(कोयला सम्बन्धी खोज स्टेशन)
१७. मध्य प्रदेश सरकार	कोयला सम्बन्धी खोज स्टेशन	कामटी नागपुर के लिए जमीन
१८. टाटा आइल ऐण्ड स्टील क० लि०		नेशनल मेटालाजिकल अनुसधानशाला के लिए भूमि १) वार्षिक किराए पर।

डिपार्टमेंट आफ साइंटिफिक रिसर्च

(वैज्ञानिक रिसर्च विभाग)

वैज्ञानिक समितियों और संस्थाओं को सहायता

वैज्ञानिक रिसर्च विभाग के कामों में एक प्रमुख काम है हिन्द की वैज्ञानिक समितियों को मजबूत बनाना और विश्वविद्यालयों तथा रिसर्च संस्थाओं में वैज्ञानिक रिसर्च का विकास करना। यह कार्य निम्नलिखित रूपों में किया जाता है। १. विश्वविद्यालयों और रिसर्च संस्थाओं को इमारतें बनाने और सामान खरीदने के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। २. वैज्ञानिक साहित्य इकट्ठा किया जाता है, वितरण किया जाता है और पुस्तकालय की सुविधायें बढ़ाई जाती हैं। ३. योग्य व्यक्तियों का पता लगाया जाता है और उन्हें वृत्तियां देकर विशेष विषयों में दक्षता प्राप्त कराई जाती है। जून १९४८ से, जब से यह विभाग बना है, ४३,४१३२० रुपये इस प्रकार की सहायता के रूप में दिये जा चुके हैं। केन्द्रिक (परमाणु) भौतिकी के विशेष अध्ययन के लिए वृत्तियां दी गई हैं। इंडियन एकेडमी आफ़ साइंसेज, बंगलौर में भौतिकी के राष्ट्रीय प्रोफ़ेसर का स्थान बनाया गया है। आजकल हिन्द के महान वैज्ञानिक आचार्य सी०वी० रमन इस पद पर प्रतिष्ठित हैं।

सलाहकारी कमेटी

कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च के तत्वावधान में एक सलाहकारी कमेटी बनाई गई है। यह कमेटी औषधि और जन स्वास्थ्य, खेती और पशुपालन उद्योग, प्राकृतिक साधनों, इंजीनियरिंग और सुरक्षा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक काम का सुगठन करती है। यह काम सरकारी और गैर सरकारी बहुत सी संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं, इसलिए अनिवार्य है कि उनमें काफ़ी सम्पर्क हो, जिससे कि किसी काम के अनावश्यक रूप से दुहराये जाने में समय और शक्ति का अपव्यय न हो; और जहाँ सम्भव हो वहाँ कई संस्थाओं का सहयोगी कार्यक्रम बनाया जा सके। बहुत सी नयी वैज्ञानिक योजनायें ऐसी हैं जिन पर लाभदायक कार्य कई संस्थाओं द्वारा मिल कर ही किया जा सकता है। यह सलाहकार कमेटी इस प्रकार के वैज्ञानिक कार्य की योजना बनाने और उसे सङ्गठित करने में विशेष भाग लेती है। इस कमेटी की सिफारिशें जल्दी से जल्दी काम में लायी जा सकें, इसलिये हिन्द के प्रधान मंत्री स्वयं इस कमेटी के अधिवेशनों का सभापतित्व करते हैं। इस सलाहकारी कमेटी की सहायता से अंडमन में मछली पालन व्यवसाय की उन्नति और उससे सम्बन्धित समस्याओं पर रिसर्च करने के लिये एक शाला खोलने की योजना तैयार की गई है। संयुक्त राष्ट्र सङ्गठन एशिया में समुद्र विज्ञान और मछली पालन के विषय में एक या अधिक इन्स्टीट्यूट शीघ्र ही बनाना चाहता है। यदि अंडमन में हमारी प्रस्तावित मत्स्य पालन-शाला शीघ्र स्थापित हो जाती है तो वह एशिया में संयुक्त राष्ट्र सङ्गठन की मछली-पालन-शाला का केन्द्र बन सकती है। हिन्द के लिये उपयोगी अंतर्राष्ट्रीय विज्ञानशालाओं और वेधशालाओं की स्थापना करने के लिये संयुक्त राष्ट्र सङ्गठन को निमंत्रण देने की बात पर सोच विचार किया जा रहा है। इस सलाहकारी कमेटी ने एक सब कमेटी इस कार्य के लिये

बनाई है कि वह राष्ट्रीय उद्यान और सुरक्षित क्षेत्र बना कर देश के पशु-पक्षियों की रक्षा करने के विषय में सुझाव उपस्थित करे।

वैज्ञानिक सम्पर्क

वैज्ञानिक रिसर्च विभाग का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सम्पर्क स्थापित करना है। हिन्द का एक वैज्ञानिक सम्पर्क कार्यालय लन्डन में बनाया गया है। उसके कार्य निम्नलिखित हैं १. कामनवेल्थ के भीतर वैज्ञानिकों के घूमने फिरने और उनके लिये वैज्ञानिक और अन्य सम्पर्कों तथा काम की सुविधाओं का प्रबन्ध करना। २. कारीगरी, कौशल और वैज्ञानिक ज्ञान विकास की नई प्रगतियों के विषय में सूचनायें प्राप्त करना और उन्हें हिन्द भेजना। ३. वैज्ञानिक सूचनाओं तथा परीक्षण की सामग्री, जैसे पौधे, पशु, कीटाणु आदि, के आने जाने को सरल बनाना। ४. रिसर्च करने और दक्षता प्राप्त करने के लिए रिसर्च कर्मियों को ब्रिटेन और अमेरिका की शालाओं में यथा-स्थान पहुँचाने में आवश्यकता पड़ने पर सहायता देना। लन्डन स्थित हमारे वैज्ञानिक सम्पर्क कार्यालय ने लाभदायक वैज्ञानिक सूचनायें इकट्ठी करके भेजी हैं। वे देश भर में यथास्थान वितरित कर दी गई है है। इस कार्यालय ने हिन्द की राष्ट्रीय लेबोरेटरियों के लिये विदेशों में वैज्ञानिक सामग्री खरीदने में भी सहायता की है।

अंतर्राष्ट्रीय यूनियनें

जो अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सङ्गठन हिन्द के मतलब के विषयों से सम्बन्ध रखते हैं, हिन्द उनमें से बहुतों का पूरा सदस्य बन गया है। वैज्ञानिक यूनियनों की अन्तर्राष्ट्रीय कौंसिल और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक कमीशनों तथा सङ्गठनों की हिन्दी की सदस्यता से सम्बन्ध रखने वाला सब काम वैज्ञानिक रिसर्च विभाग करता है।

टाइप कलचरों के विषय में एक राष्ट्रीय कमेटी बनाई गई है। इसमें खेती, रेशम, दूध, औषधि पशु रोग, विपाक उद्योग, मौलिक लघुप्राणिशास्त्र और प्राणि रसायन के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। कौंसिल आफ़ साइन्टिफिक और इन्डस्ट्रियल रिसर्च की देख रेख में टाइप कलचरों का एक राष्ट्रीय भन्डार बनाया गया है। इसमें विपाकी कीटाणुओं के ५०० से अधिक शुद्ध कलचर वैज्ञानिक रीतियों से कुलों के अनुसार पाले जा रहे हैं। इस भन्डार से विपाक उद्योग तथा हिन्द की विभिन्न रिसर्च शालाओं को शुद्ध विपाकी कीटाणु प्राप्त होते रहे हैं।

एटोमिक एनर्जी रिसर्च

वैज्ञानिक रिसर्च का कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण कार्य परमाणु शक्ति कमीशन द्वारा किया जा रहा है। वह आज कल एटोमिक एनर्जी देने वाले खनिजों के प्राप्ति स्थानों के विषय में खोज कर रहा है। इस कमीशन के नीचे परमाणु शक्ति का रिसर्च बोर्ड (बोड आफ़ रिसर्च आन एटोमिक एनर्जी) काम करता है। यह पहले कौंसिल आफ़ साइंटिफ़िक एँड इंडस्ट्रियल रिसर्च के नीचे काम किया करता था। इस बोर्ड का प्रधान कार्य है हिन्द में परमाणु शक्ति के विषय में रिसर्च आरम्भ करना और विश्वविद्यालयों तथा अन्य रिसर्च संस्थाओं में होने वाली ऐसी रिसर्च को आर्थिक सहायता देना। विश्वविद्यालयों में जो केन्द्रिक भौतिकी और रसायन की शिक्षा दी जाती है, उसके सुधारने और उसे विस्तृत तथा गम्भीर बनाने के लिये यह बोर्ड यत्न कर रहा है। अभी हाल में एक समिति इस विषय में नवीन पाठ्यक्रम बनाने के लिये बुलाई गई थी। इस नये पाठ्यक्रम का उद्देश्य यह है कि

डा० मेघनाथ साहा, एफ० आर० एस०, सदस्य, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद्

डा० एच० जे० भावा—संचालक टाटा इंस्टिट्यूट श्राफ फंडामेंटल रिसर्च

प्रो० चन्द्रशेखर वेंकट रमन

अपनी शिक्षा पूरी करने तक विद्यार्थी परमाणु शक्ति पर ऊँची रिसर्च करने की योग्यता प्राप्त कर लें।

ट्रावनकोर में जो समुद्र के किनारे रेत मिलती है उसमें थोरियम बहुत होता है। परमाणु शक्ति उत्पन्न करने के लिये यह एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। ट्रावनकोर की इस मनोज़ाइट रेत से थोरियम अलग करने की योजना पूरी हो गई है और आशा की जाती है कि व्यापारिक तल पर इस रेत से शीघ्र ही थोरियम पृथक किया जाने लगेगा।

परमाणु शक्ति के रिसर्च बोर्ड ने बम्बई के टाटा स्कूल आफ़ फंडामेंटल रिसर्च में रिसर्च कराने और दक्षता प्राप्त कराने की महत्वपूर्ण योजनाएँ आरम्भ की हैं। युवक वैज्ञानिकों के एक दल को परमाणुक और केन्द्रिक विघटन के कौशल में दीक्षित किया जा रहा है। ट्रांसयूरेनिक मूलतत्वों, कास्मिक रश्मियों और रेडियो-एक्टिव आइसोटोपों के चिकित्सा में व्यवहार पर अनुसन्धान की योजना चल रही हैं। केन्द्रिक भौतिकी का एक गतिवान दल कलकत्ता विश्वविद्यालय में विकसित किया जा रहा है। वहाँ एक साइक्लोट्रोन भी बनाया गया है।

परमाणु शक्ति कमीशन सीधे प्रधान मंत्री की देख रेख में काम करता है, और सरकार को परमाणु शक्ति एक्ट के शासन में सहायता देता है।

टाटा मौलिक अनुसन्धानशाला

परमाणविक शक्ति आयोग द्वारा टाटा मौलिक अनुसन्धानशाला अपने बड़े पैमाने के कार्यों के लिए केन्द्र निश्चित हुआ है। परमाणु शक्ति आयोग के स्थायी उद्योगशाला में काम करने के लिए अनेक वैज्ञानिक कर्मियों को शिक्षा देने का कार्य भी टाटा मौलिक अनुसन्धानशाला को सौंपा गया है। परमाणविक भौतिकी, यन्त्र निर्माण, हाई वैकुआम वर्क अधिक संख्या में बनने वाले स्पेक्ट्रोमीटरों (किरण चित्र मापक यन्त्र) तथा काउन्टर ट्यूबों का रूपांकन तथा पचना तथा परमाणविक कार्य के लिए चित्रण सम्बन्धी शिल्प विज्ञान का उपयोग के लिए चुने हुए कार्यों की शिक्षा दी जा रही है। टाटा अनुसन्धान-शाला में प० श० आयोग का उपकरण विभाग उन अधिकांश एलेक्ट्रानिक तथा अन्य विशेष उपयोग के सामानों का रूपांकन तथा रचना करता है जो परमाणविक कणों की खोज के लिए आवश्यक होते हैं तथा रेडियो ऐक्टिव खनिजों के लिए जिआला-जिकल सर्वे द्वारा मांगे गए मीटर तथा अन्य उपकरण मी निर्मित होते हैं।

परमाणु शक्ति आयोग की रासायनिक तथा धातु अनुसन्धानशाला भी बम्बई में स्थित है और वहाँ पर रेडियो ऐक्टिव तथा अन्य खनिज पदार्थों के नमूनों के नित्य विश्लेषण होते रहने के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट खोज कार्य भी होते रहते हैं।

———

राष्ट्रीय रसायनिक अनुसंधानशाला

इतिहास :—यह प्रयोगशाला पूना में स्थित है और लगभग ढाई साल से कार्य कर रही है। सन् १६४१ में डा० शान्ति स्वरूप भटनागर ने, जो कि वैज्ञानिक व औद्योगिक अन्वेषण समिति के संचालक हैं, यह विचार प्रगट किया कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की एक श्रृङ्खला स्थापित की जाय। पहले पहल एक रसायनिक तथा एक भौतिक-रसायनशाला की योजना प्रस्तावित की गई और राष्ट्रीय रसायनिक प्रयोगशाला बनाने के लिए सन् १६४३ से कार्य आरम्भ किया गया। ६ अप्रैल सन् १६४७ को बम्बई के मुख्य मन्त्री माननीय श्री बी० जी० खेर ने इस प्रयोगशाला का शिलान्यास किया। सन् १६४८ से प्रयोगशाला का बनना प्रारम्भ हुआ। अक्टूबर १६४६ में इस प्रयोगशाला के प्रथम सञ्चालक प्रोफेसर जे० डब्लू० मैकबेन, एफ० आर० एस०, नियुक्त किए गए। इसके पूर्व आप संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के स्टैनफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में Emeritus प्रोफ़ेसर थे। ३ जनवरी सन् १६५० को इसका उद्घाटन भारत के प्रधानमन्त्री माननीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया। इस समारोह में कुछ विश्वविख्यात वैज्ञानिक भी सम्मिलित हुए थे। इस प्रयोगशाला के बनाने में टाटा संस्था ने भी सहायता की और लगभग सवा आठ लाख रुपये इस कार्य के लिए प्रदान किये। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने २५ लाख रुपये इसके बनवाने में तथा सामान (Chemicals) मँगवाने में व्यय किए।

प्रयोगशाला का विवरण :—पूना में यह प्रयोगशाला गणेश खिंद रोड पर स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ४७५ एकड़ है। प्रयोगशाला की इमारत ६४० फ़ाट लम्बी व २०० फ़ीट चौड़ी है। इमारत दो मञ्जिल की है और कुल ५० कमरे हैं। इसके भीतर सर्वत्र Air conditioned है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी इमारत कितनी विशालकाय होगी। अब यह विज्ञान व मुख्यत: रसायन के प्रोफ़ेसर तथा विद्यार्थियों के लिये एक आकर्षण-क्षेत्र बन गया है। प्रयोगशालाओं के अतिरिक्त इस भवन में पुस्तकालय, अजायबघर, वर्कशाप, छोटे-छोटे कारखानों के लिए हाल तथा रसायनिक इञ्जीनियरिङ्ग इत्यादि के विभाग भी हैं। पुस्तकालय का क्षेत्रफल साढ़े आठ हज़ार वर्ग फ़ीट है तथा इसमें २० हज़ार से अधिक पुस्तकें व लगभग ३०० अन्य अखबार (Journals) हैं। इस पुस्तकालय का उपयोग पूना की अन्य शिक्षा-संस्थाएं भी करती हैं। अजायबघर में रसायनिक प्रयोगशाला के विद्यार्थियों तथा कर्मचारियों की बनाई हुई चीज़ों के नमूने तथा Chemicals व वैज्ञानिक उपकरण जो कि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न कारखानों में बने हैं, प्रदर्शित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा व्याख्यानशाला भी है जिसमें ५३२ लोगों के बैठने के लिये प्रबन्ध है। यह हाल पूना का सब से अच्छा हाल है।

जनवरी सन् ५० में इस प्रयोगशाला के खुलने के पश्चात् ही सारे देश के औद्योगिक संस्थाओं से विभिन्न समस्याओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के प्रश्न यहाँ आने लगे। राष्ट्रीय रसायनिक प्रयोगशाला का एक प्रधान कार्य यह

डा० शान्ति स्वरूप भटनागर, संचालक वैज्ञानिक, तथा औद्योगिक अनुसंधान [illegible],
जिनके अनवरत उद्योग से हमारी राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं का जन्म हुआ है।
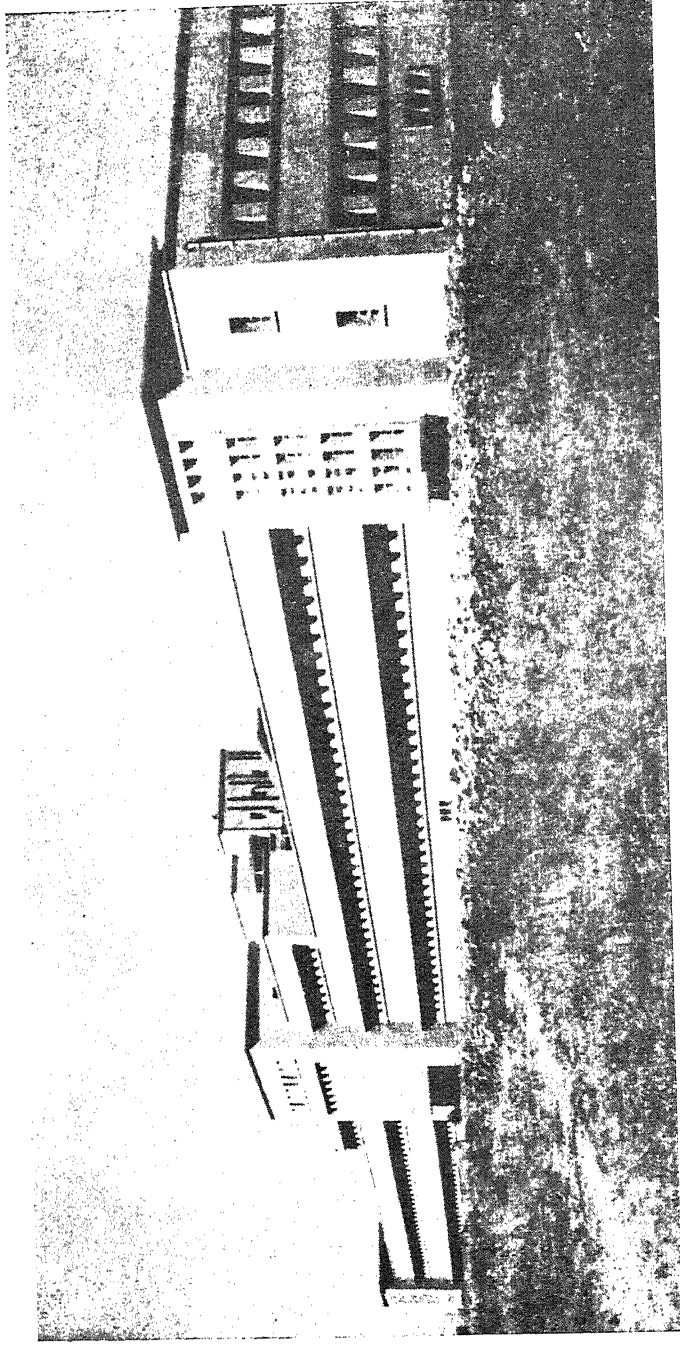
राष्ट्रीय रसायनिक अनुसंधानशाला

भी है कि जिन-जिन व्यापारिक तथा शिल्पीय संस्थाओं को जैसी भी जानकारी इस विषय में ज्ञात करना हो, प्रदान करे। किसी भी रसायनिक कारखाने को खोलने के पहले कई समस्याएँ आती हैं। इन सबों के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशाला से राय ली जा सकती है। इस काम के लिये ऐसे वैज्ञानिकों से सलाह ली जाती है जो उस चीज़ का विशेषज्ञ होता है। २० महीने के इस छोटे से समय में प्रयोगशाला ने लगभग ४६ सरकारी संस्थाओं तथा २०३ स्वतंत्र संस्थाओं को विभिन्न विषयों पर जानकारी प्रदान की।

संचालन :—सबसे मुख्य काम इस प्रयोगशाला का है – वैज्ञानिक अन्वेषण। इस कार्य के लिए रसायन शास्त्र को निम्नलिखित भागों में बाँट दिया गया है :—

(१) जीव रसायन
(२) कार्बनिक रसायन
(३) अकार्बनिक रसायन
(४) भौतिक रसायन
(५) High Polymers
(६) रसायनिक इंजीनियरिंग
तथा (७) Survey तथा जानकारी।

इन सब शाखाओं में मूल सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का अन्वेषण कार्य होता है। प्रत्येक विभाग का प्रमुख उस विभाग का सहायक सञ्चालक होता है। नीचे हम प्रत्येक विभाग का अल्प विवरण देंगे।

जीव-रसायन विभाग :—इसमें १८ रसायनज्ञ भिन्न-भिन्न विषयों पर कार्य करते हैं। इन विषयों में प्रोटीन, एमीनों एसिड, पौष्टिकद्रव्य तथा एञ्जाइम उल्लेखनीय हैं। इस विभाग की एक विशेषता यह भी है कि इसमें तरह-तरह के एञ्जाइम के कृत्रिम पोषित कीटाणु (Culture) एकत्रित रहते है जो कि अनुरोध पर औद्योगिक तथा अन्वेषण संस्थाओं को मुफ्त दिए जाते हैं।

कार्बनिक रसायन विभाग—इसमें २३ दक्ष रसायनज्ञ हैं जो कि इस समय २२ पृथक समस्याओं पर अन्वेषण कार्य कर रहे हैं। कुछ लोग चर्बी व तेल पर काम करते हैं, कुछ टी० बी० विनाशक औषधियों पर। इनके अतिरिक्त (Synthetic) मलेरिया-विनाशक औषधियाँ, पेंट व वार्निश, अंडी के तेल का उद्‌जनीकरण (hydrogenation), मेंहदी का व्यापारिक उपयोग, नए रंगों का बनाना, वाष्पीकृत (Volatile) तैल व टालुईन से तरह-तरह के Chemicals बनाने आदि विषयों पर कार्य हो रहा है। इस विभाग में Micro-analysis के लिए भी उचित प्रबन्ध है। यूनिवर्सिटी तथा अन्य अन्वेषण संस्थाओं में यदि किसी वैज्ञानिक को इसकी आवश्यकता हो तो यह विभाग उपयुक्त सहायता देने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

(३) *अकार्बनिक-रसायन विभाग*—इसमें ११ रसायनज्ञ विभिन्न विषयों पर अन्वेषण कर रहे हैं। इन विषयों में प्रमुख हैं—टिटैनियम डाई आक्साइड का बनाना, जर्मेनियम का निकालना, फ़ास्फ़ेट Fertilizers का बनाना और एंथ्राक्विनोन के ज़रिए हाइड्रोजन पराक्साइड बनाना। अकार्बनिक-विश्लेषण में भी इस विभाग ने दक्षता प्राप्त की है। इस कार्य के लिए Spot-tests, chromatography, polarography तथा Spectrum analysis का भी उपयोग करते हैं।

हाई-पालीमर विभाग—इस विभाग में १२ रसायनज्ञ काम करते हैं। यहां के विषयों में प्लास्टिक, रेज़िन, रबर व Synthetic coatings विशेष उल्लेखनीय हैं। जिन विषयों में इस विभाग को पर्याप्त सफलता मिली है, उनमें कुछ निम्नलिखित हैं :—तम्बाकू बीज के तैल से Plain surface coat-

ing enamels बनाना, बैटरी के लिए भारतीय एस्बस्टस तथा बिटुमेन का प्रयोग, तथा Ion exchange रेज़िन का बनाना व उसके उपयोग। यह सब विषय उद्योग की दृष्टिकोण से बड़े महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त Pure (Fundamental) अन्वेषण भी होता है। इसमें प्राकृतिक रबर का Polymerisation, chloriation व hydro chlorination मुख्य हैं।

(५) *रसायनिक इंजीनियरिंग विभाग*—जब ऊपर बताये गए किसी भी विभाग में अन्वेषण के परिणाम स्वरूप कोई ऐसा फल निकलता है जो कि उद्योग के लिए हितकर सिद्ध होता है, तो उसकी परीक्षा बड़े पैमाने में इस इंजीनियरिंग विभाग में की जाती है। यहां कई प्रकार की मशीनें सब काम के लिए लगी हुई हैं तथा हाल में सब प्रकार की आवश्यक सामग्री उपस्थित रहती है। किसी पदार्थ को बनाने के लिए कारखाना खोलने के पहले उस Process को एक छोटे पैमाने में आजमा कर देख लिया जाता है कि यह प्रयोग सफल होगा अथवा नहीं। इसे Pilot Plant Stage कहते हैं। प्रयोगशाला में सफलता मिलने के बाद ही उसे Pilot Plant में प्रयोग करके देखते हैं। यहाँ हर प्रकार की इंजीनियरिंग का उपयोग होता है। प्रयोगशाला के इस विभाग से यह लाभ है कि इस काम के लिए कहीं बाहर नहीं जाना पड़ता। अभी तक यहाँ निम्नांकित प्रयोग Pilot Plant Stage पर सफलता पूर्वक किए जा चुके हैं:—हड्डियों व चमड़ों से जिलेटीन बनाना, चट्टानों फास्फेट से डाईकैलसियम फ़ास्फ़ेट बनाना, तम्बाकू के निकृष्ट भाग से निकोटीन तैयार करना तथा सूखने वाले तेलों का बनाना।

(६) *भौतिक रसायन विभाग*:—१४ रसायनज्ञ इस विभाग में कार्य करते हैं। वे ऐसी समस्याओं पर अन्वेषण कर रहे हैं जैसे फ़ोटोग्राफ़ी की जिलेटीन बनाना, साबुन के घोलों का अध्ययन करना तथा Clays के गुण ज्ञात करना। सबसे विशेष बात इस विभाग के सम्बन्ध में यह है कि यहाँ कुछ ऐसे भी वैज्ञानिक यन्त्र (Instruments) मौजूद हैं जो कि एशिया भर में और कहीं-नहीं पाए जाते। कुछ ऐसे यन्त्रों का उल्लेख नीचे किया जाता है:—

Electron microscope

Light scattering photometer

Spinning top ultracentrifuge

X-ray diffraction spectrometer and single crystal cameras

Infra-red absorption spectrometer

Tiselius eletrophoresis apparatus

इन यन्त्रों के प्रयोग से हर विभाग के अन्वेषण-कार्य में सरलता रहती है।

(७) *सूचना व जानकारी विभाग*:—इस विभाग में ८ वैज्ञानिक हैं। इन लोगों का काम यह है कि जिन लोगों या कम्पनियों को किसी फैक्टरी लगाने के विषय में जानकारी प्राप्त करना हो या और कोई समस्या हो तो भरसक उसे हल करने का प्रयत्न करें। इन लोगों के पास यथेष्ट ज्ञातव्य बातें रहती हैं जिन्हें कोई भी व्यक्ति आवश्यकता के समय प्राप्त कर सकता है। समय-समय पर प्रदर्शन भी किए जाते हैं जिनमें यह बतलाया जाता है कि नये कारखाने किस प्रकार से खोले जा सकते हैं, तरह-तरह के chemicals कैसे बनाये जाते हैं या ऐसे पदार्थों के बदले जो कि बाहर से कठिनाई के कारण न आते हों, नये पदार्थों (Substitutes) का प्रयोग करना। इन प्रदर्शनों की वजह से यहाँ दर्शकगणों का मेला बराबर लगा रहता है। बहुत से लोग इनसे पूरा लाभ उठाते हैं जिससे कि इस विभाग का ध्येय सिद्ध हो जाता है।

संक्षेप में यह विवरण उन सातों विभागों का

है जिनसे मिल कर भारतवर्ष की राष्ट्रीय रसायनिक प्रयोगशाला बनी है। इन सब विभागों में कुछ यूरोप व अमरीका के वैज्ञानिक भी हैं।

प्रयोगशाला में काम करने वालों के लिए एक अलग बस्ती (colony) भी है जिसमें ६० क्वार्टर हैं और एक छात्रावास (hostel) भी है जिसमें २१ व्यक्तियों के रहने का स्थान है। इन सब की उचित देखभाल करने के लिए समितियां बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोगशाला का एक क्लब भी है। इसमे खेलकूद, सिनेमा फिल्म, पुस्तकालय आदि की सुविधाएं हैं। इस क्लब के अन्तर्गत picnic का भी आयोजन होता है। और भी ऐसी चीजें हैं जिससे वहाँ के काम करने वालों के लिए आमोद-प्रमोद की उचित व्यवस्था हो सके।

प्रयोगशाला की एक सहकारी समिति भी है। इसकी ओर से एक स्टोर है जहां पर हर प्रकार की वस्तु मिल सकती हैं। इसका संचालन ऐसे कार्यकर्ता गण करते हैं जिन्हें shareholders निर्वाचित करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ के काम करने वालों तथा staff के लिए हर प्रकार की सुविधाओं का ध्यान रक्खा जाता है।

उद्देश्य—डा० शान्ति स्वरूप भटनागर ने प्रयोगशाला के उद्घाटन-समारोह के अवसर पर अपने व्याख्यान में इस नई प्रयोगशाला का उद्देश्य श्रोताओं को बताया। आपने कहा कि हमारे देश में कई वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं और पूर्व काल से ही यहाँ अन्वेषण कार्य हो रहे हैं। पर जो फल हमें इन अन्वेषणों से मिलते हैं उन्हें उद्योग में किस प्रकार से प्रयोग किया जाय, इस ओर किसी ने पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं दिया। विश्वविद्यालयों व अन्य वैज्ञानिक अन्वेषण-केन्द्रों और उद्योग के बीच जो एक बहुत बड़ा अंतर था, उसकी पूर्ति अब इस प्रयोगशाला ने कर दी है। इस प्रयोगशाला का उद्देश्य यह हुआ कि इस बात का पता लगावें कि वैज्ञानिक जानकारी को मनुष्य के हित के लिए किस प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है। दूसरा ध्येय यह है कि fundamental research की जावे। इससे विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान की अत्यन्त वृद्धि होती है। और यह मनुष्य की प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है। यह आशा की जाती है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा अन्वेषण संस्था का सहयोग इसे प्राप्त हो सकेगा। तरह-तरह के सरकारी विभागों, जिसमें defence भी सम्मिलित है, को वैज्ञानिक मामलों में सलाह देना व सहायता करना भी इस प्रयोगशाला का कर्तव्य होगा। आगे चल कर आपने बताया कि प्रयोगशाला में पुराने तरीकों को सुधार कर नए तरीकों को उनके स्थान पर लाने का भी प्रयत्न किया जावेगा। जब एक नया तरीका ढूँढ़ लिया जाता है तो उसे औद्योगिक-रूप से प्रयोग में लाने का सवाल उठता है। प्रयोगशाला से सीधे उसे कारखाने में नहीं ले जाया जाता बल्कि पहले छोटे पैमाने पर प्रयोग किया जाता है जिसे pilot plant कहते हैं। इसमें अधिक रुपया भी व्यय नहीं होता व यह भी पता लग जाता है कि अमुक process कारखाने के रूप में सफल होगा या नहीं। भारतवर्ष में इस बात की कमी सदैव से रही है जिसकी पूर्ति करना अब आवश्यक सा हो गया है। जब तक कोई process pilot plant stage में सफल नहीं होता तब तक कोई भी रोजगार करने वाला अथवा उद्योगपति उस पर कारखाना चालू करने को तैय्यार नहीं होता। जब बड़े पैमाने पर फैक्टरी आरम्भ हो जाती है तो उसके बाद भी प्रयोगशाला समय-समय पर उसका हाल ज्ञात करती रहती है। यदि फिर कोई कठिनाई सामने आती है तो उसे प्रयोगशाला में पुनः हल किया जाता है। इस प्रकार

से दोनों में पारस्परिक सहयोग रहने से कार्य सुचारु रूप से चलता है और नई-नई मिलों के चलाने का बढ़ावा मिलता है। इसके अतिरिक्त देश के कच्चे माल raw materials के बारे में भी खोज की जावेगी कि किस प्रकार से उसे उपयोग किया जाय।

बाद में आपने उन विश्व विख्यात वैज्ञानिकों का वर्णन किया जो उस अवसर पर एकत्रित थे। उनमें प्रोफ़ेसर मैकबैन, डा० नुतविन, सर राबर्ट, राबिनसन (रायल सोसायटी के अध्यक्ष), प्रो० बेर्नाल, प्रो० व मैडेम क्यूरी जोलियो, डा० कान्डन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उद्घाटन समारोह के अवसर पर कुछ और लोगों ने भी अपने विचार प्रगट किए। उनमें पं० जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी, राजा सर महराज सिंह प्रोफ़ेसर मैकबेन (प्रयोगशाला के संचालक), सर राबर्ट राबिन्सन, डा० काम्टन, मैडेम व डा० क्यूरी तथा अपने यहाँ के विश्व-विख्यात वैज्ञानिक सर सी० वी० रमन थे। यहाँ पर प्रत्येक के भाषण का विवरण देना उपयुक्त न होगा पर मुख्य विचार जो प्रगट किए गए, उसका कुछ थोड़ा सा विवरण नीचे दिया जाता है।

आदरणीय पं० नेहरू जी ने कहा कि भारत सरकार की यह योजना थी कि देश भर में "राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की एक शृंखला बनाई जावे"। इस रसायनिक प्रयोगशाला का नम्बर सातवां है। आपने बताया कि हमारे देश में अन्वेषण के लिये सामग्री पर्याप्त यात्रा में है और ऐसे नवयुवकों की भी कमी नहीं है जो कि ऐसे कार्य में सरकार का हाथ बटावें। पर देश के सबसे बुद्धिमान वैज्ञानिक युवक सदैव सरकारी नौकरी में जाना पसन्द करते हैं। इसका कारण यह है कि उन लोगों को विज्ञान के क्षेत्र में उतना बढ़ावा नहीं मिलता जितना उनको मिलना चाहिए और इसी से उनकी मनोवृत्ति उस ओर नहीं जाती। आगे चलकर आपने कहा कि हमारे देश के उद्योगपति विज्ञान में कोई दिलचस्पी नहीं लेते। उनको यह समझ लेना चाहिए कि बिना विज्ञान के उद्योग का विकास कदापि नहीं हो सकता।

प्रो० मैकबेन ने कहा कि इस प्रयोगशाला की सफलता उसमें काम करने वाले वैज्ञानिकों पर निर्भर है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका से तुलना करते हुए आपने कहा कि आजकल के वैज्ञानिक अन्वेषण कार्य में बड़ी लम्बी लागत लगती है पर बाद में उससे अधिक का लाभ भी होता है। अब हमें refined यन्त्रों की सहायता लेनी चाहिए। भारतवर्ष में ऐसे सब नए वैज्ञानिक यन्त्र होने चाहिए जिनसे कार्य में बड़ी सुविधा मिलती है और उनको प्रयोग कैसे किया जाय, इसके लिए कुछ वैज्ञानिकों को उच्च शिक्षा दी जानी चाहिए। अन्वेषण का कार्य बड़ी सच्चाई, परिश्रम तथा लगन से करने से हम कुछ प्राप्त कर सकेंगे।

सर सी० वी० रमन ने कहा कि प्रकृति को समझने का प्रयत्न करना ही विज्ञान की खोज के लिए उत्साहित करता है। बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं से कोई लाभ नहीं जब तक उससे काम करने वालों की प्रेरणा व योग्यता उसके साथ न हो। आपने कहा कि रेडिओ-एक्टिविटी की खोज मैडेम तथा प्रोफेसर क्यूरी ने टीन के झोंपड़े में की थी।

सर राबर्ट राबिन्सन ने अपने व्याख्यान में कहा कि इंग्लैंड में हर बड़े बड़े कारखाने में एक बढ़िया प्रयोगशाला है। वहाँ सरकार वैज्ञानिक अनुसन्धानों के लिए बड़ी सहायता देती है और यूनिवर्सिटी व उद्योग में भी इसके लिए सुविधाएँ रहती हैं जिससे वहाँ पर प्रत्येक विज्ञान का नवयुवक अन्वेषण कार्य के लिए लालायित रहता है। यही कारण है कि वहाँ विज्ञान के क्षेत्र में इतनी प्रगति हो रही है।

डा० के० एस० कृष्णन, एफ० आर० एस०, संचालक, राष्ट्रीय भौतिक अनुसंधानशाला
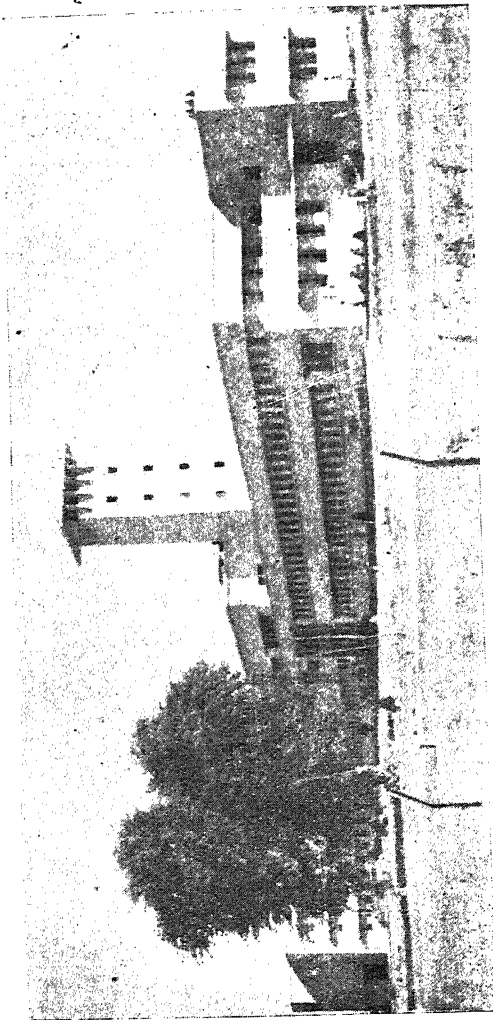
राष्ट्रीय भौतिक अनुसंधानशाला

राष्ट्रीय भौतिक अनुसंधानशाला

हमने बचपन में कहानियों में सुना था कि एक दैत्य का जीवन अमुक पिंजड़े में बन्द एक चिड़िया के जीवन पर अवलम्बित था......और राजकुमार ने जब चिड़िया की बाईं टाँग तोड़ दी तो दैत्य की भी टाँग टूट गई, फिर पक्षी का दाहिना पैर और दैत्य का भी दाहिना पैर......। पता नहीं बचपन की इन रसीली कहानियों का वास्तविक उद्गम कहा है, परन्तु हाँ, भारत के प्रजातन्त्र घोषित होने के पाँच दिन पूर्व दिल्ली में नेशनल फ़िज़िकल लैबरेटरी (आगे हम केवल प्रयोगशाला कहेंगे) के सामने के मैदान में सहस्रों की भीड़ थी। और वहाँ सबने देखा कि उक्त प्रयोगशाला की प्रतिमा के सम्मुख लगे हुए फ़ीते को सरदार पटेल ने काटा, और सबने प्रतिमा के द्वार खुलते हुए देखे। इतना ही नहीं, सबने देखा कि प्रयोगशाला के चारो मुख्य द्वार भी स्वतः धीरे धीरे खुल गये। भौतिक विज्ञान की प्रयोगशाला का इस प्रकार उद्घाटन करना उसके अनुरूप ही था। रेडियो और टैलीविज़न के इस युग में यह कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं।

भारतवर्ष के बोर्ड ऑफ़ साइण्टिफ़िक एण्ड इण्ड-स्ट्रियल रिसर्च (संक्षेप में बोर्ड) ने देश में विविध वैज्ञानिक विषयों में अन्वेषण कार्य के लिये कई प्रयोगशालाओं का निर्माण किया है, जो देश के भिन्न-भिन्न स्थानों हैं। नेशनल फ़िज़िकल लैबरेटरी (या प्रयोगशाला) इनमें से एक है। सितम्बर सन १९४१ में बोर्ड के डायरेक्टर डा० शान्ति स्वरूप भटनागर ने उस समय की सरकार के समक्ष ऐसी प्रयोगशाला के निर्माण के लिये प्रस्ताव रक्खा। द्वितीय विश्व-युद्ध और एक विदेशी राजतन्त्र की उदासीनता के कारण इस ओर प्रगति कुछ धीमी चाल से हुई। सन् १९४७ की जनवरी में पं० जवाहर लाल नेहरू ने इसका शिलान्यास किया, यद्यपि इमारत का बनना इसके प्रायः १ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ।

अब प्रश्न उठता है कि इस प्रयोगशाला के निर्माण का प्रयोजन क्या है। भौतिक विज्ञान की सब धाराओं से सम्बन्धित प्रतिमानों (Standards) की स्थापना और निगरानी इसका एक मुख्य काम है। इसके अति-रिक्त विज्ञान के इस भाग से सम्बन्धित मौलिक और यान्त्रिक अन्वेषण भी इसके मुख्य अङ्ग रहेंगे। इस दृष्टि से हम इसका मुक़ाबिला इङ्गलैण्ड की इसी नाम की संस्था, अमरीका के ब्यूरिओ ऑफ़ स्टैण्डर्डस और कैनेडा की नेशनल रिसर्च काउन्सिल से कर सकते हैं। इस प्रयोगशाला के निर्माण में संसार के बड़े बड़े भौतिक पण्डितों की सलाह और उनके अनुभवों से लाभ लिया गया है। जगत् की अन्य बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं को देखकर इस प्रयोगशाला को आधुनिक आवश्यकताओं और सुगमताओं से पूर्ण करके अधिक उपयोगी बनाने का पूर्ण प्रयत्न हुआ है। उदाहरण के लिये, प्रत्येक सार्व-जनिक संस्था की आवश्यकताएं कम या अधिक समय और परिस्थितियों के साथ बदलती रहती हैं। आज जहाँ एक छोटा कमरा पर्याप्त है वहाँ कल एक बड़े कमरे की आवश्यकता पड़ सकती है, अथवा कभी कभी इसके विपरीत। ऐसी दशा में हमें ऐसा भवन चाहिए जिसके कमरों आदि को आवश्यकतानुसार छोटा बड़ा किया जा सके। इस अभिप्राय से कथित प्रयोगशाला का भवन लम्बाई में ६ फ़ीट की इकाई और सब स्थानों पर २० फ़ीट की चौड़ाई पर बनाया गया है। इस प्रकार एक कमरे की लम्बाई ६ फ़ीट के गुणन (घात) हैं, अर्थात्

लम्बाई १२, १८, २४ फ़ीट आदि हैं। भवन का भार वाहन बाहरी दीवारों द्वारा होता है और बीच की पतली कंकरीट की दीवारें आवश्यकतानुसार बनाई या हटाई जा सकती हैं। इसी आधार पर अमरीका की नवीनतम अच्छी प्रयोगशालाएं बनी हैं, यथा बेल टेलीफ़ोन कम्पनी की लैबरेटरीज भवन में एक तहखाना है जिसके दो उपयोग हैं—एक तो गोदाम का काम और दूसरा गैस, पानी, बिजली के तार आदि को ले जाना जिससे ऊपर के भाग में जहाँ भी आवश्यकता हो सुगमता से सम्बन्ध कनेक्शन किया जा सके। क्योंकि प्रयोगशाला में बहुत सूक्ष्मता का काम होगा अतः तापक्रम का अचल रहना आवश्यक है। इसके लिये एयर कंडीशनिंग (air conditioning) का प्रबन्ध है।

जैसा हम पहले उल्लेख कर आये हैं यह दो वर्ष की शिशु प्रयोगशाला तीन प्रकार के काम कर रही है—प्रतिमान विषयक, मौलिक और उद्योग सम्बन्धी। इसका भार डाक्टर कृष्णन जैसे विश्वविख्यात भौतिकज्ञ के कन्धों पर है। उनके प्रकाश और चुम्बक सम्बन्धी अन्वेषणों से प्रत्येक भौतिक विज्ञान का विद्यार्थी परिचित है। डा० कृष्णन की सहायता के लिये प्रायः प्रत्येक विभाग का एक उप-डायरेक्टर है जो अपने विभाग के काम की देख-भाल करता है। सारी प्रयोगशाला का काम इन १० विभागों में विभाजित है—

१ भार और मान
२ उपयोगी द्रव्य-गति-शास्त्र
३ ताप और
४ प्रकाश
५ विद्युत
६ इलैक्ट्रौनिक्स और ध्वनि
७ भवन निर्माण
८ चलद् द्रव विषयक अन्वेषण
९ तात्विक (ऐनेलिटीकल) रसायन
१० औद्योगिक भौतिक ज्ञान

इसके अतिरिक्त एक केन्द्रीय पुस्तकालय और एक केन्द्रीय वर्कशॉप का भी प्रबन्ध है। वर्कशॉप में सभ्यक काम की शीशे की चीज़ें और काफ़ी सूक्ष्म मान के उपकरण बनाये जा सकेंगे। आज-कल अन्वेषण में तरल गैसों का प्रयोग बहुत बढ़ गया है। अनेक कामों में इसकी अवश्यकता पड़ती है। इस प्रयोगशाला में औक्सीजन, हाइड्रोजन और हीलियम को द्रवीभूत करने के प्लाण्ट्स को भी लगाया जा रहा है।

यह तो सर्व-साधारण को भी विदित है कि उद्योगों में विज्ञान का कितना महत्व है, और इस युग में वैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप अनेक आवश्यकता और सुखसाधना की वस्तुएँ बाज़ार में देखने में आती हैं। इस दृष्टि से यह प्रयोगशाला केवल एक वर्ग विशेष के लिये ही उपयोगी न होकर देश (या कहें संसार के लिये भी) के लिये सामान्य रूप से उपयोगी है। हम अपने देश की उपज (कृषि और खनिज) को किस प्रकार अच्छे से अच्छे ढङ्ग से तैयार वस्तुओं के बनाने में काम में ला सकते हैं इसका उत्तर अन्वेषण ही देगा। सब अन्वेषणों का प्रारम्भ प्रायः छोटे और मौलिक प्रयोगों से ही होता है और जन-साधारण जब किसी प्रयोगशाला में जाते हैं तो वे प्रायः इन प्रयोगों से प्रभावित नहीं होते। उनका प्रश्न होता है, 'तो तुमने क्या ईजाद किया ? इससे क्या लाभ होगा...... ..!' परन्तु सब ईजाद की हुई वस्तुओं की माता मौलिक प्रयोग हैं—इस प्रकार अनेक प्रयोगों में से उदाहरणार्थ रौञ्जन द्वारा एक्स किरण का अन्वेषण और रिचर्ड्सन के थर्मिऔनिक विकिरण पर प्रयोग आज के आधे से अधिक चिकित्सा शास्त्र तथा रेडियो के अण्ड रूप हैं। उस समय लोगों को वे केवल निरर्थक वस्तुओं की खोज प्रतीत होते थे। जब फ़ैरेडे अपने विद्युत-चुम्बकीय प्रेरणा सम्बन्धी प्रयोग दिखा रहा था तो श्रोताओं में से एक महिला ने पूछा,

'महाशय ! इनका क्या उपयोग ?'

'और श्रीमती, एक नवजात शिशु का क्या उपयोग ?' फ़ैरेडे ने पूछा ?

राष्ट्रीय धातु अनुसंधानशाला

(The National Metallurgical Laboratory of India)

केन्द्रीय काँग्रेस शासन ने अपने पिछले ५ वर्षों के कार्यकाल में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया हैं वह भिन्न भिन्न दिशाओं में वैज्ञानिक खोज का काम करने के लिए राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं की स्थापना ही है। युद्धकाल में भारतीय बृटिश शासन ने युद्ध कार्यों में सहायता प्राप्त करने के लिए नई दिल्ली में वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल की स्थापना की थी। इस कौंसिल के प्रधान पद पर डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की नियुक्त की गई थी और तब से अब तक वह ही इस कौंसिल के कार्यों की देख-रेख कर रहे हैं। युद्ध की समाप्ति के बाद काँग्रेस के हाथ में शासन आने पर राष्ट्रीय सरकार ने भी इस कौंसिल के कार्य के महत्व को अनुभव किया और इसके कार्य को आगे बढ़ाने की नीति रखी।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। प्रत्येक देश में उद्योग-धन्धों की उन्नति मुख्य रूप से वैज्ञानिक अनुसंधानों पर निर्भर करती है। भारतीय उद्योगों की विशेष उन्नति न हो सकने में अन्य कारणों के साथ साथ एक प्रमुख कारण यह रहा है कि यहाँ उद्योगों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धानों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इस अभाव को भली भाँति अनुभव किया और इसकी पूर्ति के लिए विभिन्न उद्योगों से सम्बन्धित अनुसन्धानशालायें स्थापित करने का निश्चय किया। स्वभावतः आरम्भ में उन उद्योगों से सम्बन्धित अनुसन्धानशालायें खोलने का ही विचार किया गया जो देश के लिए विशेष महत्व रखती हैं। इस विचार के अनुसार वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल के ११ अनुसंधानशालायें स्थापित करने का निश्चय किया। अब तक अधिकांश अनुसंधानशालायें खोली जा चुकी हैं। प्रत्येक अनुसंधानशाला देश के ऐसे स्थान पर स्थापित की गई है जो उस अनुसंधानशाला से सम्बन्धित उद्योग व कार्य के लिए केन्द्र-स्थान है। कौंसिल के प्रधान डा० शान्ति स्वरूप भटनागर के परिश्रम, दूरदर्शिता व कार्य-शक्ति का यह फल है कि इतने थोड़े वर्षों में इतनी अनुसंधानशालायें स्थापित की जा सकी हैं।

राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला की स्थापना— वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान-कौंसिल द्वारा अब तक स्थापित हो चुकी अनुसंधानशालाओं में राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला भी एक है जो जमशेदपुर में स्थित है। इसका उद्घाटन २६ नवम्बर सन् १६५० को भारत के जनप्रिय प्रधान मंत्री प० जवाहरलाल नेहरू द्वारा किया गया था। जमशेदपुर में टाटा का लोहे का बड़ा कारखाना है जो भारतीय धातु उद्योगों में प्रधान है। इसी कारण धातु अनुसंधानशाला के लिए जमशेदपुर का स्थान चुना गया। संक्षेप में इसकी स्थापना का इतिहास इस प्रकार है :—

सन् १६४० में डा० भटनागर ने वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान बोर्ड के सामने यह सुझाव रखा कि भारतवर्ष के धातु उद्योगों की उन्नति व प्रसार के लिए एक धातु-अनुसंधान समिति की स्थापना की जाय। यह समिति बनी और १६४० में ही इस समिति ने

अपनी प्रथम बैठक में यह मत प्रकट किया कि भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला का होना नितान्त आवश्यक है। इस मत को वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल ने स्वीकार किया और सन् १६४२ में यह निश्चय किया कि एक राष्ट्रीय धातु-अनुसधानशाला की स्थापना जमशेदपुर में की जाय। इस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए सन् १६४३ में एक राष्ट्रीय धातु-अनुसंधान योजना समिति का संगठन किया गया। इस समिति के सभापति सर जे० जे० गाँधी तथा सदस्य डा० शान्ति स्वरूप भटनागर, सर सिरिल एस० फाक्स, श्री आर० ए० मैकग्रेगर और ई० वी० पारकिन्सन चुने गये। इस योजना समिति ने सन् १६४६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट फिर विदेशों के बड़े-बड़े वैज्ञानिक व धातु-वेत्ताओं के पास उनकी सम्मति व सुझाव के लिए भेजी गई। प्रत्येक ने योजना को वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत बतलाया और उसकी प्रशंसा की। तब भवन-निर्माण का काम योजना के अनुसार आरम्भ किया गया।

धातु-अनुसंधानशाला के लिए ३८ लाख रुपये केन्द्रीय शासन ने, लगभग १२ लाख रुपये सर रतन टाटा ट्रस्ट ने और १ लाख रुपये सरदार बहादुर इन्द्रसिंह ने दिये। भारतीय धातु-संघ ने भी इस कार्य के लिए १०००० रुपये दान किये। इस प्रकार लगभग ५१ लाख रुपये की पूंजी इस कार्य के लिए उपलब्ध हुई और इस पूंजी से वर्तमान भवन तथा उसकी सामग्री का प्रबन्ध किया गया।

राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला जमशेदपुर में जिस स्थान पर स्थित है वह सारी जमीन भी टाटा कम्पनी की ओर से इसे दान स्वरूप प्राप्त हुई है। लगभग २६ एकड़ जमीन पर धातु-अनुसंधानशाला का भवन तथा कर्मचारियों के रहने के घर आदि बने हैं।

धातु-अनुसंधानशाला के भवन का शिलान्यास श्री० राजगोपालाचारी ने, जो उस समय केन्द्रीय शासन के शिक्षा व कला मंत्री थे, २१ नवम्बर सन् १६४६ को किया था। भवन-निर्माण का कार्य कुछ कठिनाइयों के कारण तुरन्त आरम्भ नहीं किया जा सका था और सन् १६४८ के जनवरी में आरम्भ किया गया था। इस कार्य में सलाह देने व देख-रेख के लिए वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल ने जमशेदपुर में एक स्थानीय समिति संगठित की थी जिसके सभापति सर जे० जे० गान्धी थे और सदस्य सरदार अजैब सिंह, मेजर डब्लू० एच० एमेस, श्री० बी० आर कागल और श्री० ए० के० आगा थे।

अनुसंधानशाला का स्वरूप—अनुसंधानशाला का भवन तीन मंजिला है और ५०,००० वर्ग फीट क्षेत्रफल जमीन पर स्थित है। इसमें कार्यालय, पुस्तकालय, वाचनालय, मीटिंग के लिए कमरे, एक्स-रे के कमरे तथा प्रयोगात्मक कार्य करने के लिए प्रयोगशालायें आदि हैं। इस मुख्य भवन के अतिरिक्त एक पृथक भवन और है जिसका नाम सर् रतन ठाटा औद्योगिक अनुसंधानशाला है, सर् रतन टाटा ट्रस्ट ने १२ लाख रुपये धातु-अनुसंधानशाला के कार्य के लिए देकर जिस उदारता का परिचय दिया है उसको ध्यान में रखते हुये वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान-कौंसिल ने सर् रतन टाटा के नाम पर औद्योगिक अनुसंधानशाला के भवन का नाम रखकर रतन टाटा की स्मृति को चिरस्थायी की है। रतन टाटा औद्योगिक अनुसंधानशाला का क्षेत्रफल लगभग ३८,००० वर्ग फीट हैं। इस भवन में यंत्रों के बनाने का कमरा, बिजली की मरम्मत का कमरा, ऊँचे ताप पर प्रयोग व कार्य करने के लिए भट्टियाँ, लोहार खाना, अग्निरोधक सम्बन्धी खोज का कार्य करने के लिए प्रयोगशाला, खनिजों को साफ करने व उनसे धातु पृथक करने के कमरे आदि हैं। बिजली, गैस, पानी व दबाव-युक्त हवा सब स्थानों पर पहुँचाने के लिए मुख्य भवन में ही प्रबन्ध है।

धातु-अनुसंधानशाला में आधुनिकतम यंत्रों व
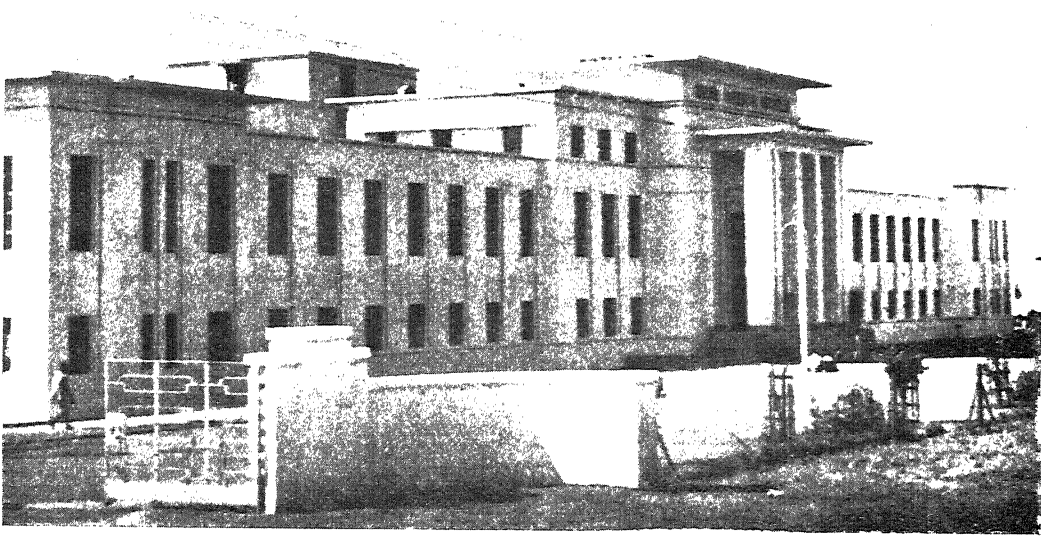
केन्द्रीय धातु अनुसंधानशाला

सर रतन जी ताता

श्री जे० आर० डी० ताता

उपकरणों को जुटाया गया है और सारी योजना नवीनतम ढंग से की गई है जिससे यहाँ धातु-उद्योगों से सम्बन्धित प्रत्येक दिशा में खोज का कार्य किया जा सके। धातु तथा इससे सम्बन्धित प्रत्येक प्रकार के कार्य के लिए अलग-अलग विभाग यहाँ रखे गये हैं। धातु-उद्योग में कच्ची धातु (Ores) से खनिजों को पृथक् करना और फिर उनसे धातु प्राप्त करने का काम सब से महत्व का है। इस कार्य के लिए यहाँ एक पृथक् खनिज खोज विभाग रखा गया है।

चूंकि धातु-उद्योगों में अग्निरोधक पदार्थों की सब से अधिक आवश्यकता होती है इस कारण अग्निरोधक पदार्थों सम्बन्धी खोज के लिए भी एक अलग विभाग यहाँ रखा गया है। इस विभाग में भट्टियों की योजना व बनाने का काम भी किया जायगा।

अन्य कार्यों के अतिरिक्त इस अनुसंधानशाला में निम्न प्रकार के कार्यों का भी प्रबन्ध है: धातुओं के आयात-निर्यात व उत्पादन सम्बन्धी आंकड़ों का संकलन व अध्ययन, खनिजों का रासायनिक विश्लेषण, धातुओं के गुणों का अध्ययन, खनिजों का परीक्षण व उनसे धातु निकालना, धातुओं पर ताप के प्रभाव का अध्ययन, धातु पदार्थों का परीक्षण, विद्युत द्वारा धातुओं का अवक्षेपन आदि। इस बात का भी प्रबन्ध यहाँ किया गया है कि खोज द्वारा जो नई-नई बातें ज्ञात हों उनका औद्योगिक रूप से परीक्षण कर यह जाना जाय कि उद्योगों में इनसे कहाँ तक लाभ उठाया जा सकता है।

धातु-अनुसंधान शाला में एक अच्छा पुस्तकालय भी है जहाँ धातु-विज्ञान सम्बन्धी उत्तम कोटि के ग्रन्थों का संग्रह है।

भारतवर्ष में धातु-अनुसंधान का महत्व—धातु-सम्बन्धी खोज का महत्व प्राचीन काल से चला आरहा है। खनिजों व कच्ची धातुओं से धातु निकालने की विद्या एक प्राचीन विद्या है। हमारे पूर्वज इस विद्या में कु शल थे। देहली का लोहे का स्तम्भ तथा मोहनजदाड़ो के काँसे के सामान हमारे पूर्वजों की इस कुशलता के उदाहरण हैं।

अब तक हमें ९६ तत्व ज्ञान हैं। इनमें से ७७ धातु-तत्व हैं। इससे हमारे जीवन में धातुओं का महत्व स्पष्ट हो जाता है। इन ७७ धातुओं में से एल्यूमिनियम, लोहा और मैगनीसियम मुख्य रूप से निर्माण सम्बन्धी कार्यों में उपयोग होते हैं। भारतवर्ष में लोहा और एल्यूमिनियम धातुओं के प्राप्त करने की ओर थोड़ा ध्यान दिया गया है। हमारे यहाँ सबसे पहले नवीन वैज्ञानिक विधियों द्वारा इस्पात तैयार कराने का श्रेय स्वर्गीय श्री जे०एन० टाटा को है। यद्यपि टाटा का लोहे का कारखाना एशिया में सबसे बड़ा लोहे का कारखाना है फिर भी इस कारखाने से हमारे देश की लोहे सम्बन्धी पूरी आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। लगभग दस लाख टन लोहे की कमी प्रति वर्ष हमारे यहाँ रहती है। भारतीय कृषि व उद्योगों की उन्नति तब तक पूर्ण रूप से नहीं हो सकती जब तक लोहे की इस कमी को हम पूरा नहीं करते। लोहा ही प्रत्येक उद्योग की उन्नति में आधारभूत होता है।

एक दूसरी धातु जो आजकल महत्व में आ रही है 'टाइटेनियम' है। नवीन वैज्ञानिक खोजों से ऐसा ज्ञान होता है कि भविष्य में इस धातु का महत्व लोहे से भी अधिक होगा। यह धातु 'इलमेनाइट' (Ilmenite) खनिज के रूप में पाई जाती है। अभी तक लगभग ९० प्रतिशत इलमेनाइट खनिज टाइटेनियम पेंट उद्योग में पेंट बनाने के लिए उपयोग होता रहा है और केवल १० प्रतिशत ही शुद्ध धातु बनाने के काम में लाया जाता रहा है। वैज्ञानिक खोजों से यह सिद्ध हुआ है कि टाइटेनियम धातु जहाजों व यंत्रों के बनाने के लिए लोहे से भी अधिक अच्छी धातु है। यह धातु समुद्र के नमकीन पानी व वायु मंडल की हवा के प्रति बहुत ही अधिक निष्क्रिय है और इस कारण समुद्री तथा हवाई जहाज़ बनाने के लिए लोहे की अपेक्षा हल्कापन, मज़बूती, जुड़ने का गुण आदि भी इसे इस्पात से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। वैज्ञानिकों

ने इसे भविष्य का आश्चर्यजनक धातु कहा है और यह भविष्यवाणी की है कि भविष्य में इस धातु का उपयोग ही सबसे अधिक होगा। टाइटेनियम की एक आक्साइड भी बनाई गई है जो यद्यपि हीरे की तरह कड़ी नहीं है पर उसकी चमक हीरे से कहीं अधिक है।

भारतवर्ष में टाइटेनियम का खनिज काफी मात्रा में प्राप्त है। अनुमानतः २००० लाख टन से भी अधिक इलमेनाइट खनिज हमारे यहाँ है। साथ ही हमारे यहाँ का इलमेनाइट अन्य देशों के इलमेनाइट से अधिक अच्छी जाति का है। हमारे यहाँ के इलमेनाइट में टाइटेनियम डाइ-आक्साइड (TiO_2) की प्रतिशत मात्रा ५४ से ६२ तक रहती है; अन्य देशों के इलमेनाइट में केवल ३१ से ४५ प्रतिशत तक ही रहती है। इसके साथ ही हमारे यहाँ इलमेनाइट समुद्र के किनारे बालू के ढेर के रूप में पाया जाता है और इस कारण इसकी खुदाई आदि सम्बन्धी खर्च भी अन्य देशों से कम पड़ता है जहाँ यह खदान से प्राप्त किया जाता है।

हम ऐसी आशा कर सकते हैं कि राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला टाइटेनियम धातु के नये-नये उपयोग ज्ञात करेगा और टाइटेनियम के उद्योग की उन्नति में सहायक होगा।

एक दूसरी धातु थोरियम भारतवर्ष में सब देशों से अधिक है। कुछ दिन हुये यूरेनियम के खनिज भी हमारे यहाँ दो स्थानों पर मिले हैं और अब तक की जाँच से यह अनुमान होता है कि यूरेनियम की भी हमारे यहाँ अच्छी मात्रा है। ट्रैवनकोर में पायी जाने वाली मोनाजाइट बालू (Monazite sand) में से यूरेनियम और थोरियम अलग-अलग प्राप्त करने की औद्योगिक विधि के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल की ओर से बराबर प्रयत्न हो रहा है। हम आशा करते हैं कि राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला इस कार्य में भी पूरी सहायता देगी। थोरियम और यूरेनियम धातुओं का परमाणुबम के सम्बन्ध में बहुत ही अधिक महत्व है और यदि हम इन धातुओं की अच्छी मात्रा अपने देश में प्राप्त कर सकेंगे तो हमारा देश भी सैनिक शक्ति में किसी से कम नहीं रहेगा। थोरियम और यूरेनियम के अतिरिक्त लीथियम धातु का भी आजकल परमाणु बम के सम्बन्ध में बड़ा महत्व है। भाग्य से हमारे यहाँ यह धातु भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्य है।

यद्यपि हमारे यहाँ लोहा, एल्यूमिनियम, टाइटेनियम, मैगनीसियम और मैंगनीज धातु अच्छी मात्रा में उपलब्ध हैं पर कुछ अन्य धातुयें जैसे कोबल्ट, निकेल, राँगा, मालीबडनम, टंगस्टन और पारा हमारे यहाँ लगभग नहीं के बराबर हैं। सीसा, ताँबा और जस्ता भी हमारे यहाँ थोड़ा ही है और हमारी आवश्यकता से बहुत कम हैं। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हमारे यहाँ अधिक मात्रा में पायी जाने वाली धातुओं से ही हम ऐसे धातुसंकर बनायें जो हमारे प्रत्येक प्रकार के कार्य के लिए उपयुक्त सिद्ध हों और हमें उन धातुओं की विशेष आवश्यकता न पड़े जो हमारे यहाँ नहीं मिलतीं या कम मिलती हैं। वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल के तत्वावधान में पिछले कई वर्षों में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ है और उसके फलस्वरूप स्थायी स्टील, शल्यचिकित्सा के योग्य स्टील, सिलीकन स्टील, स्थायी चुम्बक के उपयुक्त स्टील आदि बनाये गये है। अब राष्ट्रीय धातु-अनुसंधानशाला के खुल जाने से धातु के क्षेत्र में और भी अच्छा कार्य तीव्रगति से हो सकेगा। वास्तव में इस अनुसंधानशाला ने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

केन्द्रीय पथ-अनुसन्धानशाला

[The Central Road Research Institute]

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मार्ग या पथों की जितनी ही सुन्दर व्यवस्था होगी, देश का उद्योग, व्यवसाय और धन्धे उतने ही सम्पन्न होंगे।

पश्चिमीय प्रगतिशील देशों में सड़क बनाने वाले द्रव्यों पर बहुत अनुसंधान हो रहे हैं, और ये देश इन अनुसन्धानों पर काफ़ी धन लगा रहे हैं, पर हमारे देश में इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं गया है। सड़कों के बनाने अथवा उनकी दशा सुधारने के प्रति यहाँ के लोग उदासीन रहे हैं। इस समय देश में जितनी सड़कें हैं, वे देश की आवश्यकताओं को देखते हुये अपर्य्याप्त हैं। हमारे देश में प्रति वर्गमील क्षेत्रफल केवल ०.२२ मील लम्बी सड़क है, और इस सड़क का एक-तिहाई भाग ही ऐसा है जिस पर मोटर जा सकती है। गत २५ वर्षों में मोटर यातायात में बड़ी वृद्धि हुई है, पर सड़कों में कम ही हुई है।

हमारे देश में कई स्थानों पर सड़कों के सम्बन्ध में क्षेत्रीय-कार्य्य (field work) तो कुछ हुआ है, पर इस समस्त कार्य्य का समन्वय करके अनुसन्धान की वैज्ञानिक आयोजना अभी प्रस्तुत नहीं की जा सकी। पथ-अनुसन्धान जिस अर्थ में पश्चिमीय देशों में समझा जाता है, उसका तो हमारे यहाँ सर्वथा अभाव रहा है। हमारे देश की सड़कों की हालत बहुत ख़राब है। सड़क बनाने की कला और सड़क बनाने में जिन द्रव्यों का उपयोग होता है, उनकी वैज्ञानिक मीमांसा का अबतक अभाव रहा है। इसी दृष्टि से देश में केन्द्रीय पथ अनुसन्धानप्रयोगशाला स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

इतिहास

दिसम्बर १९४३ में नागपुर में देश के सभी प्रान्तों और रियासतों के चीफ़-इञ्जीनियरों की एक कान्फ्रेन्स हुई थी। उस कान्फ्रेन्स में केन्द्रीय पथ-अनुसन्धान प्रयोग शाला के प्रश्न पर बातचीत उठी। नागपुर कांफ्रेंस में यह सिफारिश की गयी कि देश में ४००,००० मील लम्बी सड़कें बनायीं जानी चाहिये, उनकी मरम्मत होनी चाहिये, और किसी केन्द्रीय स्थान में पथ-अनुसन्धान प्रयोगशाला खुलनी चाहिये। इस अनुसन्धान शाला में ऐसे प्रयोग होने चाहिये कि जिनके परिणाम स्वरूप सड़कें अच्छी और सस्ती बन सकें।

कौन्सिल अव सायंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की समिति "इंडस्ट्रियल रिसर्च प्लानिंग कमेटी" ने इंडियन रोड्स कांग्रेस के प्रस्तावों पर सन् १९४४ में विचार किया। सड़कों से संबंध रखने वाले केन्द्रीय परामर्शक इञ्जीनियर के सुझाओं पर भी विचार हुआ और १९४५ में इस समिति ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि केन्द्रीय पथ-अनुसन्धान प्रयोगशाला स्थापित हो। सन् १९४५ में डा० शान्ति स्वरूप भटनागर और परामर्शक इञ्जीनियर श्री जी० एम० मेककेलवी (Mec kelvie) ने इस प्रयोगशाला के संबंध में एक आयोजना प्रस्तुत की। कौन्सिल आफ सायंटिफिक एण्ड

इण्डस्ट्रियल रिसर्च ने यह आयोजना स्वीकृत की और १९४६ में सरकारी आर्थिक सहायता के लिए प्रयत्न किया। कौन्सिल ने आयोजना बनाने के लिए "रोड रिसर्च प्लानिंग एण्ड एडविज़री कमेटी" की स्थापना भी की।

इस आयोजना का विस्तृत रूप तैयार करने के लिए डा० आर० के० एन० आयंगर को अगस्त १९४७ में एसिसटेंट डायरेक्टर फॉर प्लानिंग नियुक्त किया गया। एडविज़री कमेटी की दो बैठकें दिल्ली में दिसम्बर १९४७ और जून १९४८ को हुईं। यह निश्चय हुआ कि एक मुख्य फील्ड रिसर्च स्टेशन स्थापित हो जाय और उसके साथ पथ-परीक्षण मार्ग (road test track) भी संलग्न रहे, जिस पर सड़क संबंधी प्रयोग किये जा सकें। फील्ड-प्रयोगों का खर्चा यातायात मंत्रि विभाग से मिले, और इन्स्टीटयूट बनने का खर्चा कौन्सिल आफ सायंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च दे। इस इन्स्टीटयूट का संबंध इञ्जीनियरिंग कालेजों और अन्य संस्थाओं, जैसे इण्डियन रोड्स कांग्रेस से भी स्थापित किया गया, और यह भी प्रबन्ध रहा कि इस प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों का विवरण जनता तक भी पहुँचता रहे। भारत के प्रमुख वैज्ञानिकों और इञ्जीनियरों की एक परामर्शक समिति भी बना दी गयी। इस प्रयोगशाला के संबंध में देश-विदेश सभी से परामर्श मांगे गये जिन पर एडविज़री कमेटी ने जुलाई १९४९ और सितम्बर १९५५ की बैठकों में विचार किया।

पथ-अनुसन्धान प्रयोगशाला का शिलान्यास यातायात मंत्री माननीय श्री एन० गोपाल स्वामी आयंगर द्वारा ३ सितम्बर १९५० को रक्खा गया, और ऐसा विचार हुआ कि दो मास में प्रयोगशाला के भवन-निर्माण का कार्य प्रारंभ हो जायगा।

प्रयोगशाला के उद्देश्य

इस प्रयोगशाला के उद्देश्य निम्न हैं—

१—सड़क बनाने की कला और सड़क बनाने के द्रव्यों की विवेचना।

२—द्रव्यों के आवश्यक गुणों का परीक्षण और आदर्शी-करण।

३—परीक्षणों में काम आने वाले यंत्रों का आविष्कार। इन यंत्रों द्वारा सड़कों के पृष्ठतल के दोषों का परीक्षण हो सकेगा, और सड़कों पर कितना यातायात होता है इसका अपनेआप लेखा भी रक्खा जा सकेगा।

४—जिस ज़मीन पर सड़कें बनती हैं उसकी मिट्टी की मीमांसा, जिससे सड़कें सब ऋतुओं के अनुकूल बन सकें।

५—सड़कों पर दुर्घटनाओं की संख्या की और उनके कारणों की जांच-पड़ताल। उन साधनों पर भी विचार जिनसे दुर्घटनाओं की संभावना कम की जा सके।

६—सड़क संबंधी कला का व्यक्तियों को शिक्षण और इस संबंध के ज्ञान का प्रमाण।

विवरण

यह प्रयोगशाला निम्न विभागों में विभाज्य है मृत्तिका, लचकदार मार्ग, दृढ़ मार्ग, सड़क, यातायात, आर्थिक।

सभी प्रदेशों के इंजीनियरों की सलाह यह थी कि इस प्रयोगशाला के लिए दिल्ली आदर्श स्थान रहेगा। दिल्ली मथुरा मार्ग पर ७ वें मील पर यह प्रयोगशाला बनी क्योंकि इस मार्ग पर सबसे अधिक यातायात होता है। यहाँ यह सुविधा है कि यह सभी यातायात किसी भी प्रयोगनिष्ठ सड़क पर चलाया जा सकता है, और इस सड़क की परीक्षा की जा सकती है। यह प्रयोगशाला ३१ एकड़ ज़मीन पर बनी है। यह ज़मीन पहले एक केथोलिक चर्च मिशन की थी। दिल्ली-शिमला के आर्क बिशप ने कौन्सिल को इस ज़मीन को दान देने का अनुग्रह किया।
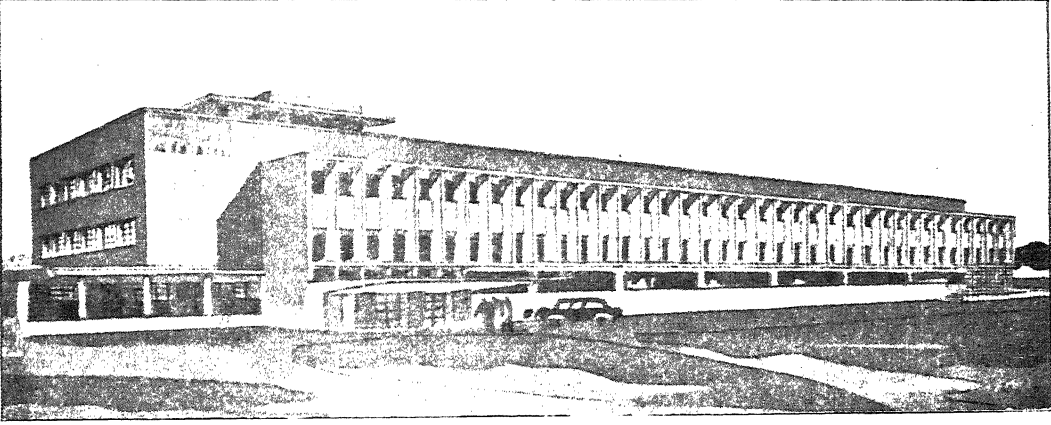
केन्द्रीय पथ अनुसंधानशाला

डा० जे० एन० मुकर्जी, सचालक-केन्द्रीय भवन
अनुसंधानशाला
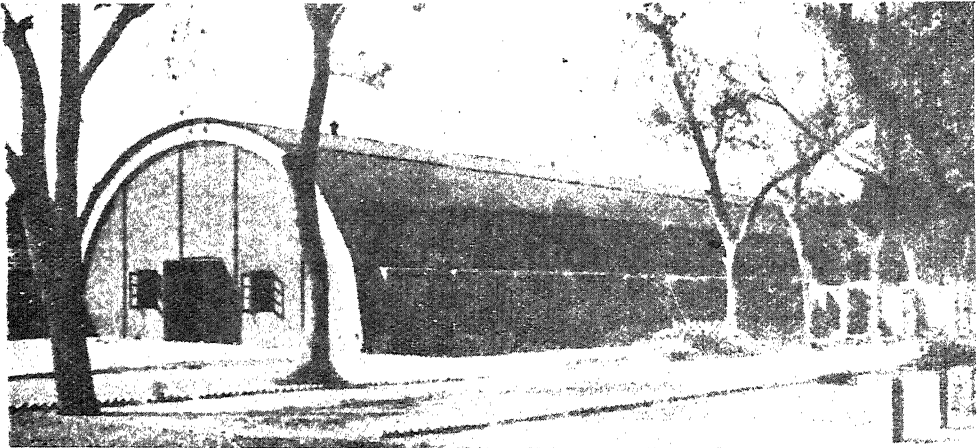
केन्द्रीय भवन अनुसंधानशाला

इस भवन के दो अंग हैं—शिल्प, और शासन। शासन वाले अंग में दफ़्तर, म्यूज़ियम, कान्फ्रेंस का कमरा और व्याख्यानालय हैं, और शिल्प वाले अंग में वर्कशाप और प्रयोगशाला ।

इस प्रयोगशाला के अधिष्ठाता डा० एर्नस्ट ज़िप्केस (zipkes) जो स्विट्ज़रलैंड के प्रसिद्ध रोड इञ्जीनियर थे, मई १९५० में नियुक्त हुए।

ऐसा अनुमान है कि प्रयोगशाला के भवन बनाने और उसे सम्पन्न करने में १७·३८ लाख रुपये लगेंगे। जब काम पूरी तरह चलने लगेगा, तो प्रतिवर्ष इस पर ५·९३ लाख रुपया खर्च होगा। भवन बनने में अभी कुछ समय लगेगा। इस समय काम चलाने के लिए अमरीकन प्रीफेब्रिकेटेड लकड़ी के कुछ कमरे तैयार कर लिए गए हैं।

The modern world depends to a very great extent, on science and the applications of science. If we are to be a prosperous and progressive nation, it is on science that we have to rely. If we have to solve the problem of liquidating poverty and unemployment, we have to go to science in its many phases and seek the inspiration from it. To whatever problems we address ourselves, science offers help and is a guide to action. Above all, it is to science and the spirit underlying science that we have to look for a widening of our horizon and to point the way for the solution of the many social and other problems that afflict us.

Thus every institute of science, every university where science is nurtured, should become a true temple for the search of truth and for the advancement of our people and of humanity.

—Hon'ble Jawahar Lal Nehru.

आधुनिक जगत बहुत कुछ विज्ञान तथा विज्ञान के व्यवहारों पर अवलंबित है। यदि हमें अपना राष्ट्र समुन्नत तथा वैभवसंपन्न बनाना है तो हमें विज्ञान मात्र का ही आश्रय लेना पड़ेगा। यदि हमें अपने दैन्य तथा बेकारी की समस्याएँ मिटानी हैं तो हमें विज्ञान के बहुमुखी उपयोगों की ओर जाना पड़ेगा तथा उससे उत्प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। हमें चाहे जिस समस्या का निराकरण करना हो, विज्ञान साहाय्य प्रदान करता है तथा कार्यशीलता का निर्देशक है। इन सब के अतिरिक्त विज्ञान तथा उसके आधारभूत भावना की ओर ही दृष्टि डालनी पड़ेगी जिससे हमारा विचार-क्षेत्र परिवर्द्धित हो तथा हमें आबद्ध रखने वाले अनेक सामाजिक तथा अन्य प्रश्नों के निराकरण का मार्ग प्रदर्शित हो

अतएव प्रत्येक विज्ञानशाला, तथा विद्यापीठ जहाँ विज्ञान की शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था हो, सत्य के शोध तथा हमारे जन-समाज एवं मानवता की उन्नति के लिए यथार्थ मंदिर बनना चाहिए—

—माननीय जवाहर लाल नेहरू

केन्द्रीय भवन अनुसन्धान प्रयोगशाला

[THE CENTRAL BUILDING RESEARCH INSTITUTE, ROORKEE]

जब से इस वर्तमान युग में विज्ञान, शिल्प और उद्योग व्यवसाय की उन्नति हुई है, उस समस्त सामग्री में जिसका उपयोग मकानों और भवनों के निर्माण में होता है, एक क्रान्ति उपस्थित हो गयी है। यही नहीं, भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से बनाये गए मकानों के नक़्शे कैसे होने चाहिये, उनकी रूपरेखा कैसी होनी चाहिए, इसमें भी परिवर्तन हो गया है। यह तो ठीक है कि ये मकान सब प्रकार की ऋतुओं में सुविधाजनक होने चाहिये, और उन पर ऋतुओं का प्रभाव भी न्यूनतम हो, इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें हैं जिनका ध्यान इन मकानों के बनाने में करना पड़ता है। मकान में काम करने वाले को जितने ही सुभीते मिलेंगे, वह उतना ही अधिक काम कर सकेगा। मनुष्य के काम करने की क्षमता बढ़ेगी, तो देश को उससे उतना ही अधिक लाभ होगा। यही बात है कि भवन-निर्माण का कार्य इस युग में न केवल एक कला है, प्रत्युत जीताजागता प्रगतिशील विज्ञान है। इस विज्ञान की उन्नति अन्य यूरोपीय और अमरीकन देशों में प्रबल गति से हो रही है। भवन-अनुसन्धान प्रयोगशालायें इंगलैंड, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में बहुत दिनों से काम कर रही हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में, और फ्रान्स में, इस दिशा में विशेष काम हो रहा है। अब तक हम इस क्षेत्र में इन विदेशी अनुसन्धानों से लाभ उठाते रहे हैं पर भवन निर्माण-विज्ञान हमारे देश में एक नये ढंग पर ही उन्नति कर सकता है। यूरोप और अमरीका की परिस्थिति हमारे देश की परिस्थिति से भिन्न है, हमारे देश की समस्यायें उन देशों की समस्याओं से भिन्न हैं। हमारे यहाँ की अधिकांश जनसंख्या अभी पुराने ढङ्ग की झोपड़ियों में ही अधिक रहती है। उनके मकान आदिम सभ्यता के निर्देशक हैं। इन मकानों के बनाने में आस पास के गाँवों में प्राप्त सामग्री का ही प्रयोग करते हैं, और उनके मकान बनाने की कला भी सीधीसादी है। परम्परागत जो ज्ञान चला आ रहा है, उसका ही जनता प्रयोग करती आ रही है। फलतः हमारे मकानों के बनाने में शक्ति, द्रव्य, समय आदि का पश्चिमी मकानों की अपेक्षा अधिक क्षय होता है। ये मकान कम टिकाऊ भी होते हैं।

आजकल श्रम बड़ा ख़र्चीला हो रहा है, मजदूरों के वेतनों में वृद्धि हो गई है, इसलिये मकान बनाना विकट आर्थिक समस्या है। मकान बनाने की सामग्री भी अब तेज़ दामों पर मिलती है। अतः यदि किसी विधि द्वारा एक दो प्रतिशत भी ख़र्च में कमी की जा सके तो पूरी लागत पर बहुत रुपये की बचत हो सकती है। इन्हीं बातों पर विचार करके "कौंसिल आव् साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च" ने, जहाँ अन्य राष्ट्रीय प्रयोगशालायें खोलीं, केन्द्रीय भवन अनुसन्धान प्रयोगशाला की भी स्थापना रुड़की में की। यह तो सब लोग जानते ही हैं कि रुड़की में बहुत दिनों से एक इञ्जीनियरिंग कालेज है, जिसकी ख्याति देश भर में व्याप्त है।

प्रारम्भिक इतिहास

सन् १६४२ में जब "कौंसिल आव् सायण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च" ने नेशनल फिजिकल लेबरेटरी (राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला) की आयोजना आरम्भ की तो यह विचार था कि इसी प्रयोगशाला में एक भवन अनुसन्धानशाला भी होगी। पर बाद को अनुभव ने यह बताया, कि इसके लिये एक पृथक् ही प्रयोगशाला होनी चाहिये। भवन अनुसन्धान एक विस्तृत विज्ञान है, और इस उद्देश्य से दिसम्बर १६४३ में एक बिल्डिंग रिसर्च कमेटी (भवन अनुसन्धान समिति) बनाई गई, जिसकी पहली बैठक दिसम्बर १६४४ में हुई। इस बैठक में निश्चित हुआ कि एक केन्द्रीय भवन अनुसन्धान प्रयोगशाला की स्थापना की जाय, उत्तर प्रदेश सरकार की सहायता प्राप्त करके रुड़की में एक "बिल्डिंग रिसर्च यूनिट" बनाया गया, जिसका सम्पर्क रुड़की के इन्जीनियरिंग कालेज से भी रक्खा गया। इस यूनिट ने मई १६४७ से काम करना आरम्भ किया। इस यूनिट ने इञ्जीनियरिंग कालेज की इमारत के एक हिस्से में ही स्थान पाया। बाद को रुड़की यूनिवर्सिटी ने इस काम के लिये दो विशाल कमरे उधार दे दिये, जिनमें यह मई १६४६ को चला गया।

बोर्ड आव् सायण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च ने अपनी जूलाई १६४८ की मीटिंग में यह निश्चित किया कि इस प्रयोगशाला के लिये तीन वर्षों में १६ लाख रुपया प्रारम्भ में खर्च किया जाय, और इसके अतिरिक्त नियमित रूप से ४·२५ लाख रुपया प्रति वर्ष खर्च हो।

इस प्रयोगशाला की इमारत रुड़की यूनिवर्सिटी के पूर्व की ओर है। यूनिवर्सिटी ने इस काम के लिए कौंसिल को दस एकड़ ज़मीन दी। इसके अतिरिक्त कौंसिल ने डिफेन्स-मिनिस्ट्री से एक S. W. P. हैंगर (hangar) और खरीदा जिसका फर्शी क्षेत्रफल ३५०० वर्ग गज़ है। इस हैंगर में इन्जीनियरिंग विभाग और वर्कशाप रहेगी।

उद्देश्य

इस प्रयोगशाला के निम्न उद्देश्य हैं—

(१) भवन निर्माण के लिए जितने प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग होता है, उनका परीक्षण, और उनमें जो कुछ सुधार हो सकें, उन पर प्रयोग।

(२) भवन निर्माण के लिए नये द्रव्यों का अन्वेषण। जिन द्रव्यों का अन्वेषण विदेशों में हो, उन पर भी परीक्षण।

(३) द्रव्यों के दोषों का वैज्ञानिक विवेचन।

(४) भवन निर्माण सम्बन्धी विद्या का जनता में प्रचार और इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक मनोवृत्ति का जागरण।

(५) तरह-तरह के भवनों के निर्माण के लिये आदर्श रूपरेखा का निर्धारण।

इस अभिप्राय से निम्न बातें प्रयोगशालाओं में होंगी:—

(१) ताप, प्रकाश और हवा की दृष्टि से वस्तुओं की जाँच-पड़ताल।

(२) सीमेण्ट, प्लास्टर, ईंट आदि बनाने के द्रव्यों का परीक्षण।

(३) द्रव्यों के बल, सामर्थ्य आदि की क्षमता का विवेचन।

(४) नीव के प्रश्न का वैज्ञानिक विवेचन।

(५) भवन में विविध प्रकार के सुख और आराम मिलने के उपाय।

इस प्रयोगशाला में द्रव्यों का विवेचन अनेक प्रकार से किया जायगा।

प्रयोगशाला के अँग—इस प्रयोगशाला के मुख्य अँग ये हैं—(१) रसायन, (२) शिल्प, (३) भौतिकी,

[शेषांश पृष्ठ ३७ पर।]

केन्द्रीय खाद्यशिल्प अनुसंधानशाला

संदेश

"विज्ञान" के इस विशेष अंक प्रकाशन के शुभ अवसर पर मैं आप सब भाइयों को जो पिछले ३६ वर्ष तक इसकी उन्नति में संलग्न रहे हैं हार्दिक बधाई देता हूं।

भारत में विज्ञान संबन्धी प्रगति अभी तक कई कारणों से मंद रही है। इस शिथिलता के बहिष्कार के लिये हमें दूसरे प्रगतिशील देशों के साथ संबन्ध बनाये रखना होगा और इसके लिये कम से कम अंगरेजी भाषा का ज्ञान अति आवश्यक है।

सारे वैज्ञानिक आविष्कारों को भारत में सर्व साधारण तक पहुँचाने के लिये हिन्दी भाषा का एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इस कारण राष्ट्रभाषा का विकास भी शीघ्र होना चाहिये।

मुझे पूर्ण आशा है कि "विज्ञान" दिन प्रतिदिन उन्नति के मार्ग पर चल कर आधुनिक वैज्ञानिक अनु-सन्धान संबन्धी साहित्य के प्रचार के लिये भारत में सर्वप्रिय साधन बनेगा।

—वी० सुब्रह्मण्यम
[संचालक]

भारतवर्ष में खाद्य शिल्प-विज्ञान (food techonology) और प्रक्रियित-खाद्य (Processed food) के मूल्य की आवश्यकता द्वितीय महायुद्ध में अत्यन्त अधिक प्रतीत हुई। १९४३ के बङ्गअकाल से तथा १९४६ के दक्षिण के अकाल की सम्भावनाओं से इस योजना की वास्तविक आवश्यकता और अधिक व्यक्त हुई। इन प्रकार के बहुत से प्रमाणों से प्रभावित होकर 'दि साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च प्लानिङ्ग कमिटी' ने अपने, प्रारम्भ की जाने वाली राष्ट्रीय प्रयोग-शालाओं में एक 'केन्द्रीय फूड टेक्नालोजिकल रिसर्च इन्सटीट्यूट' प्रारम्भ करने की योजना को सबसे अधिक महत्व दिया। इस योजना का केन्द्रीय सरकार की विभिन्न फूड इण्डस्ट्रीज ने भी समर्थन किया। विभिन्न प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों ने भी यही बात मानी कि 'दि काउन्सिल आफ़ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के अन्तर्गत खाद्य समस्याओं पर अनुसन्धान करने के लिए एक केन्द्रीय प्रयोगशाला प्रारम्भ की जाय।

केन्द्रीय सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकृति देते हुए १९४८ के फरवरी मास में इसकी अनुमति दी कि इसको कार्यरूप में परिवर्तन करने के लिये एक विस्तृत योजना तैयार की जाय। इसके उपरान्त शीघ्र ही समस्त प्रान्तों से पूछा गया कि वह इमारत, भूमि, पानी, विद्युत-शक्ति इत्यादि के रूप में कितनी सहायता कर सकते हैं। प्राप्त उत्तरों में सबसे महत्व का मैसूर सरकार का चेलुवम्बा मेन्सन्स (Cheluvamba Mansions) की इमारत, पार्क, भूमि इत्यादि देने का वचन था। यह सब मिलाकर १५० एकड़ भूमि में है। १९४८ के दिसम्बर मास तक में यह सब समिति के सभापति माननीय प्रधान मन्त्री को, प्राप्त हो गया। १९४९ में एक स्थानीय प्लानिङ्ग कमेटी बनाई गई जिसका अध्यक्ष पद मैसूर
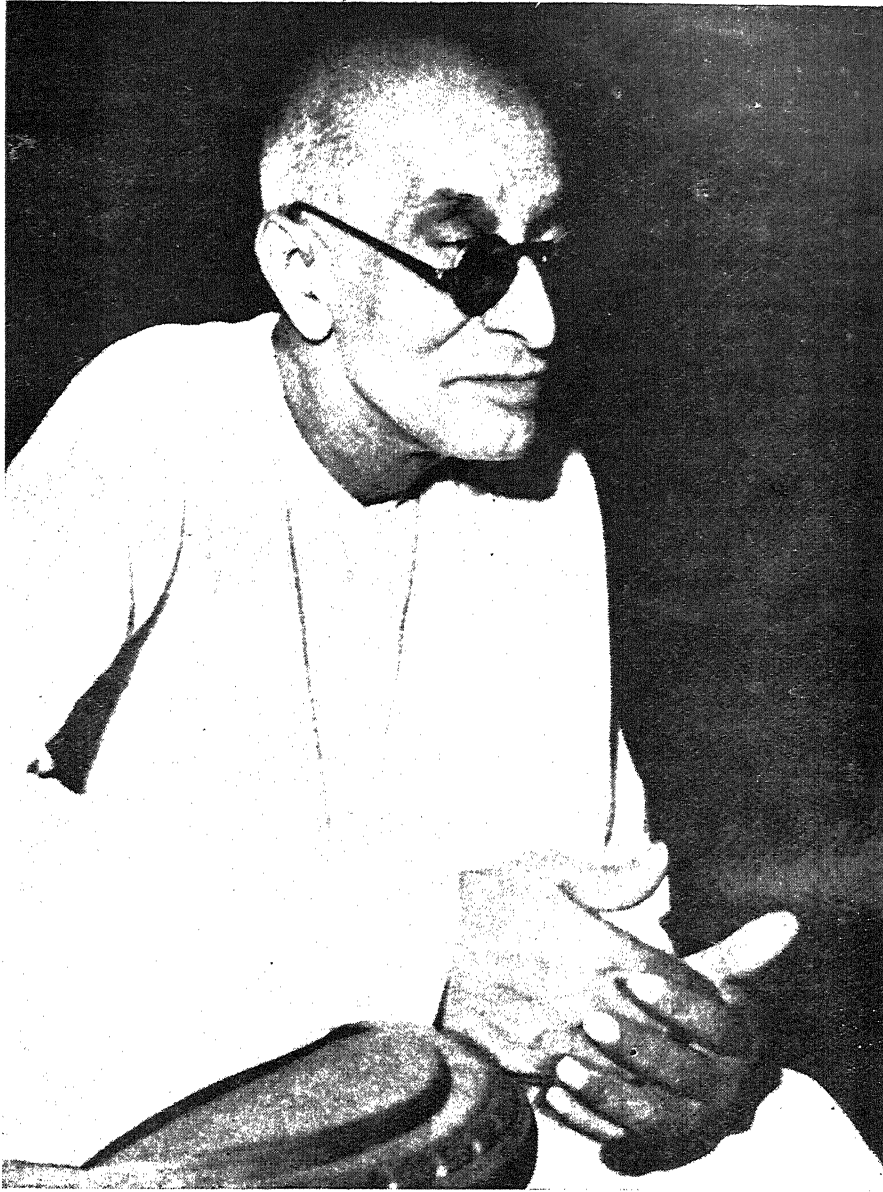
भूतपूर्व केन्द्रीय गृहमंत्री श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य। आपने केन्द्रीय खाद्यशिल्प अनुसंधानशाला, मैसूर का उद्घाटन २१ अक्टूबर १९५० को किया।
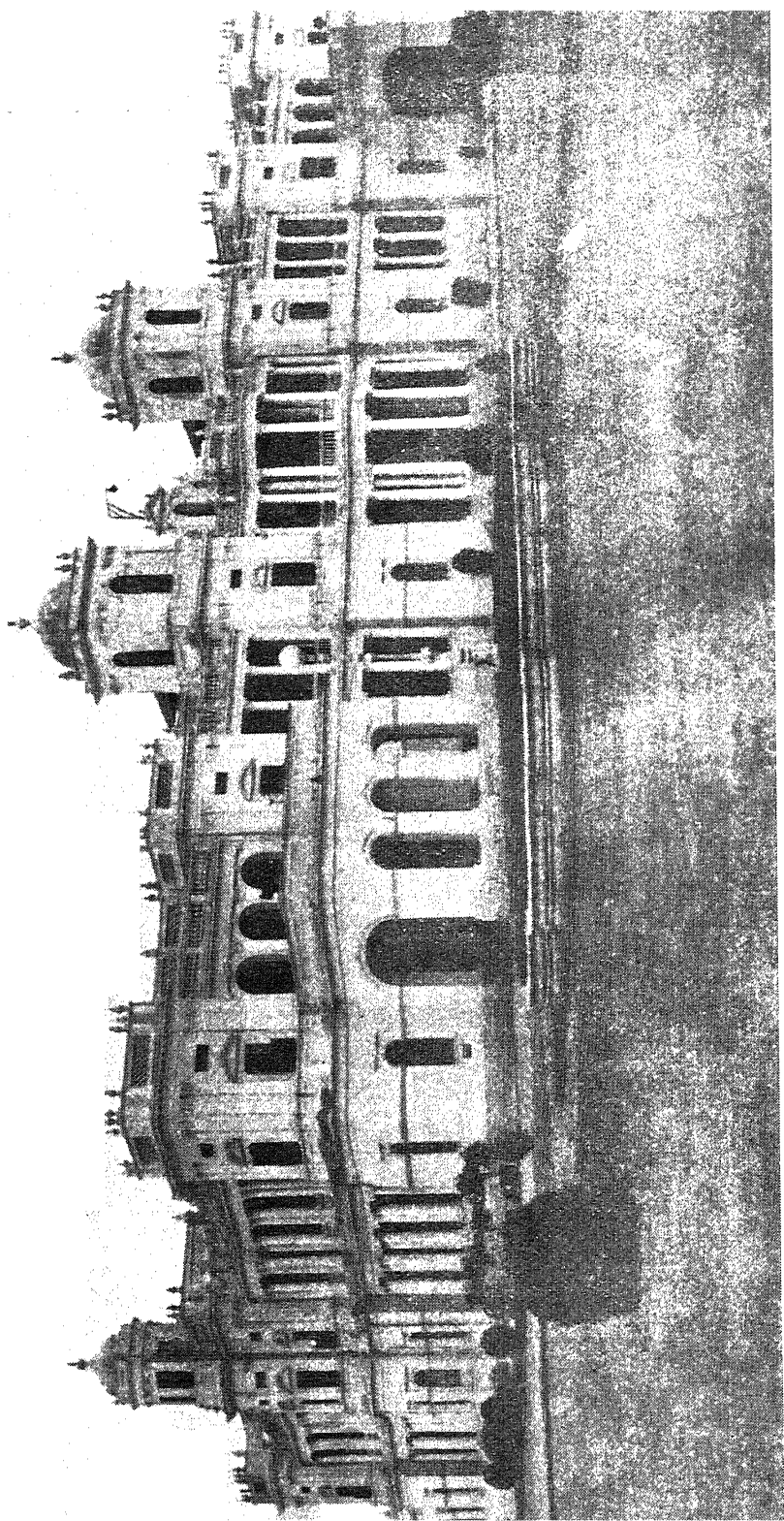
केन्द्रीय खाद्य शिल्प अनुसंधानशाला (चेलुवाम्बा प्रासाद, मैसूर)

प्रान्त के प्रधान मंत्री श्री के० सी० रेड्डी ने स्वीकार किया। इस कमेटी को यह काम दिया गया कि वह यह निश्चित करे कि इमारत तथा अन्य स्थानों को प्रयोगशाला में बनाने के लिए उनमें कितना परिवर्तन करना पड़ेगा।

१९४९ के जुलाई माह से इस नई प्रयोगशाला में कार्य प्रारम्भ हो गया। इस समय तक में ही वहाँ एक पुस्तकालय और पशुगृह भी तैयार हो गया।

१९५० मे केन्द्रीय कृषि मण्डल ने इस बात की स्वीकृति दे दी कि दिल्ली के इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ़ फ़ूड टेक्नोलोजी को इस नई संस्था में मिला दिया जाय। १९५० के मई मास तक में ही दिल्ली की प्रयोगशाला के कर्मचारियों तथा उपकरणों को मैसूर भेज दिया गया।

खाद्य शिल्प-विज्ञान इस देश के लिये आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण विषय है परन्तु पिछले १८ वर्षों में राजनैतिक अस्थिरता तथा बढ़ती जन-संख्या के कारण इस विषय पर पूर्व रूप से विचार नहीं हो पाया। यद्यपि यह सच है कि खाद्य-दानों को सुरक्षित रखने वाली बड़ी-बड़ी संस्थाओं का निर्माण देश में हो चुका है फिर भी अनाज तथा अन्न शीघ्र नष्ट हो जाने वाले खाद्य पदार्थ जैसे फल, तरकारी, मांस, मछली तथा दूध के पदार्थों को नये तथा उत्तम रूप से सुरक्षित रखने के विषय में अभी बहुत अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

खाद्य-शिल्पविज्ञान खाद्य सम्बन्धित बहुत से विषयों पर अनुसंधान करने का विस्तृत क्षेत्र सम्मुख रखता है। इनमें से प्रमुख कीड़े लगे तथा आंशिकरूप नष्ट खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखना और उनके उपयोग करने के तरीके निकालना, खराब हुये खाद्य पदार्थों से हानिकारक अवयव निकालना, खाद्य पदार्थ को ठण्डे स्थान पर रखना तथा खाने को ठण्ड से जमाना, अखाद्य पदार्थों को खाने लायक बनाना, खाने लायक पदार्थों को बनाने के लिये मार्गदर्शी यंत्र (pilot plant) बनाना इत्यादि होंगे।

आज के समय में जब देश में खाद्य पदार्थ की कमी है इस प्रकार के अनुसंधानों की अत्यन्त आवश्यकता है। इस प्रयोगशाला में यह भी प्रयत्न होगा कि इस देश में ऐसी वस्तुओं को जो अधिकता से पाई जाती हों यदि सम्भव हो सके तो रसायनिक प्रतिक्रिया द्वारा खाने लायक बनावे।

प्रयोगशाला का उदघाटन माननीय श्री सी० राजगोपालाचार्य ने किया। उत्सव के अवसर पर प्रधान मन्त्री माननीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपना शुभ संदेश भेजा। उत्सव में डा० यस० यस० भटनागर, माननीय के०सी० रेडी, महाराजा मैसूर, मान्नीय सी० गोपाला चार्य, माननीय थिरुमल राव, श्री यस० वी० राममूर्ती, सर सी० वी० रमन, डा० बी० यल० मञ्जूनाथ, और डाक्टर वी० सुब्रह्मण्यम ने महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली व्याख्यान दिये।

[पृष्ठ ३५ का शेषांश]

(४) इञ्जीनियरिंग। इनके अतिरिक्त कई अन्य उप विभाग भी आवश्यकतानुसार बढ़ाये जा सकेंगे।

इस प्रयोगशाला से निम्न प्रकाशन अब तक हो चुके हैं—(१) सस्ते मकान बनाना, (२) भारतीय ग्रामों में मकान बनाने की समस्या, भाग १ (मद्रास-प्रदेश), (३) ग्रामों में मकान' भाग २ (पंजाब)

इस प्रयोगशाला का शिलान्यास माननीय बाबू श्री प्रकाश के हाथों से हुआ। इस उत्सव के अवसर पर निम्न व्यक्तियों के भाषण हुए—डा० शान्ति स्वरूप भटनागर, डा० सी० ए० हार्ट (प्रिन्सिपल, इंजीनिरिंग कालेज), श्री माननीय बाबू श्रीप्रकाश, इस प्रयोशाला के प्रथम अधिष्ठाता डा० ज्ञानेन्द्र नाथ मुकर्जी, और अन्त में माननीय श्री जवाहरलाल नेहरू।

केन्द्रीय काँच और सिरेमिक अनुसंधानशाला

"केन्द्रीय काँच और सिरेमिक अनुसंधानशाला विज्ञान के एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपयोग का आवश्यक रूप से कार्य संचालन करती है। मैं आशा करता हूँ कि यह भारत में काँच-उद्योग के विकास में हा नहीं बल्कि इसके अनेक उपविभागों के विकास में भी मुख्य भाग लेगी। इन सब से परे मुझे विश्वास है कि यह अनुसंधानशाला विज्ञान की भावना आविर्भूत और प्रसारित करे गी जिससे हम अपनी संकीर्णता से ऊपर उठ सकें तथा अपने को और अपने देश को विचार एवं सफलता के उच्चतर स्तर पर अवस्थित कर सकें।"

उपर्युक्त शब्दों को भारत के प्रधानमंत्री माननीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने इस अनुसंधानशाला के उद्घाटन के समय भेजे अपने संदेश में कहा था। उन्होंने प्रयोगशालाओं की आवश्यकता बताते हुए यह भी कहा था कि "आधुनिक संसार अधिकांश रूप से विज्ञान और विज्ञान के उपयोग पर निर्भर है। यदि हमें एक उन्नतिशील और सम्पन्न राष्ट्र बनना है तो हमारी सहायक रूप में कोई वस्तु हो सकती है तो वह विज्ञान ही है। यदि हमें देश का दैन्य दूर करना है, बेकारी हटानी है, तो हमें विज्ञान के अनेक पहलुओं का आधार लेना पड़ेगा और उसी से उत्प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। चाहे जिस समस्या में हम उलझ रहे हों, विज्ञान साहाय्य प्रदान करता है तथा क्रियाशीलता का पथनिर्देशक बनता है। इन सब से परे विज्ञान तथा विज्ञान के अंतस्तल में निहित आत्मा ही वे वस्तुएँ हैं जो हमारे दृष्टकोणों को विशाल करने तथा हमें ग्रस्त करने वाले सामाजिक प्रश्नों तथा अनेक अन्य समस्याओं के सुलझाने में प्रकाश प्रदान कर सकती हैं।"

"अतएव प्रत्येक विज्ञान-मन्दिर, प्रत्येक अनुसंधान शाला, विज्ञान की शिक्षा दीक्षा प्रदान करने वाला प्रत्येक विश्वविद्यालय सत्य की शोध एवं हमारे जन-समाज एवं विश्व की मानवता की कल्पना के लिए एक यथार्थ मन्दिर माना जाना चाहिए।"

इन उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर ही हमारी राष्ट्रीय सरकार ने विज्ञान की ग्यारह अनुसंधानशालाओं के स्थापन का स्तुत्य आयोजन किया है। काँच, मृत्तिका एवं चीनी मृत्तिका सम्बन्धी अनुसंधानशाला भी उन्हीं विशाल आयोजनों में से एक है जिस की स्थापना कलकत्ता में आज से कुछ वर्षों पूर्व की गई तथा उसके भवन का उद्घाटन २६ अगस्त १९५० ई० को हो सका।

केन्द्रीय काँच अनुसंधानशाला स्थापित करने की आवश्यकता सन् १९१८ में ही अनुभव की गई थी जब भारतीय वाणिज्य आयोग (इंडस्ट्रियल कमिशन) बैठा था। प्रथम भारतीय महायुद्ध के समय इस की नितान्त आवश्यकता अनुभव की गई थी। और अनेक संस्थाओं ने इस प्रश्न पर जोर दिया था। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान के डाइरेक्टर के परामर्श देने पर भारतीय सरकार ने केन्द्रीय काँच अनुसंधानशाला स्थापित करने की अपनी स्वीकृति सन् १९४२ ई० में प्रदान की। यह योजना व्यवहार्य करने के लिए डा० एस० एस० भटनागर के सभापतित्व में एक समिति स्थापित की गई। उस समिति का पुनर्संगठन सन् १९४४ में

किया गया और एक स्थायी सचिव की सहायता से योजना प्रस्तुत की गई। वैज्ञानिक और औद्योगिक परिषद की कार्य-संचालक समिति ने इस योजना पर अगस्त सन् १९४४ ई० में अपनी स्वीकृति दी और व्यय के लिए १२ लाख रुपए स्वीकृत हुए। सन् १९४५ के उत्तरार्द्ध में शिल्प वैज्ञानिक भवन का निर्माण प्रारंभ हुआ तथा शिल्पिक कार्य सन् १९४८ ई० में आरंभ हुआ।

मुख्य भवन का शिलान्यास दिसम्बर १९४५ ई० में सर अरदेशिर दलाल के हाथों हुआ जो उन दिनों वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद के योजना तथा विकास विभाग के सदस्य थे। धन के अपर्याप्त कोष के कारण उस समय भवन-निर्माण कार्य प्रारंभ न किया जा सका। अतिरिक्त धन का प्रबन्ध किए जाने पर मुख्य भवन का निर्माण सन् १९४८ई० में आरंभ किया जा सका।

कार्य क्षेत्र—मुख्य रूप से इस अनुसन्धान शाला के निम्न कार्य हैं :—

१—मौलिक अनुसन्धान जिनका काँच तथा सिरेमिक के विभिन्न विभागों से सम्बन्ध हो।

२—परख तथा माप-दंड-निर्धारण।

३—उद्योग धंधों को शिल्पिक सहायता।

४—सूचना प्रदान करना।

५—विशेष कार्यों के लिए शिल्पज्ञों की दीक्षा।

इसके कार्य क्षेत्र में, काँच मिट्टी तथा चीनी मिट्टी के उद्योग (पोर्सलीन), इनेमल तथा दुर्गलनीय पदार्थ के संबंध में अनुसंधान तथा छानबीन।

मौलिक अनुसन्धान के अतिरिक्त इस अनुसंधान-शाला का यह एक मुख्य कार्य होगा कि वह उद्योग के तैयार माल की उत्तमता में उन्नति करने में सहायता प्रदान करे तथा और उद्योगों के सम्मुख वैज्ञानिक साधनों के लाभ को प्रदर्शित कर अपने कारखानों में उन्नत शिल्प विज्ञान के व्यवहार के लिये प्रेरणा प्रदान करे। उत्तम कोटि की वस्तुएं तैयार करने के लिये कच्चे माल की उत्तमता में वृद्धि और उसका उच्च मापदण्ड होना आवश्यक है। समय आने पर अनुसन्धानशाला उद्योगपतियों को अपने कर्मचारी थोड़े समय के लिये अनुसन्धानशाला में भेजने के लिये उत्साहित करेगी जिससे उनको वैज्ञानिक साधनों और उपकरणों के उपयोग की दीक्षा दी जा सके जिससे वे इस दीक्षा से लाभ उठाकर उसका उपयोग अपने कारखानों में वस्तुएँ तैयार करने में कर सकें। परस्पर सम्बन्ध स्थापित रखने के लिये यह भी प्रबन्ध किया जायगा कि अनुसन्धानशाला के कार्यकर्त्ता कारखानों में भी जब-तब जाया करें और कारखानों के कार्यों का अनुभव प्राप्त किया करें। इस प्रकार उन्हें कारखानों की मुख्य समस्याओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाया करेगा।

आंकड़े एकत्र करना तथा शिल्प विज्ञान सम्बन्धी सूचनाएँ प्रसारित करना, अनुसन्धानशाला का एक मुख्य कार्य होगा। इसके लिए अनुसन्धानशाला उद्योगधन्धों, विश्वविद्यालयों तथा अन्य शोध-संस्थाओं तथा सरकारी विभागों के सहयोग में अपना कार्य सञ्चालन करती रहेगी।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनुसन्धानशाला में अपने कार्यकर्त्ताओं के उपयोग के लिये एक पुस्तकालय भी स्थापित है। एक कौतुकशाला भी स्थापित की गई है जिसमें तैयार वस्तुओं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्राप्य कच्चे माल के विविध नमूनों को संगृहीत करने का प्रयत्न किया गया है। इस व्यवसाय सम्बन्धी अन्य वस्तुएँ भी उसमें रक्खी गई हैं।

यह संस्था कलकत्ता में गरिया हाट रोड पर एक सात एकड़ के मैदान में अवस्थित है। बंगाल के प्रधान मंत्री श्री० विधान चन्द्र राय की विशेष अनुकंपा का ही यह फल है कि अनुसन्धानशाला के लिये यह भूमि मिल सकी। इस भूमि को इञ्जीनियरिंग कालेज

जादवपुर के अधिकारियों ने अपनी सँस्था के लिये प्राप्त किया था किन्तु उनकी उदारता से इस भूमि को अनुसन्धानशाला के लिए ७६ साल के पट्टे पर प्रतिवर्ष ६००) किराये पर प्राप्त किया गया, जिससे उस स्थान पर, अनुसन्धानशाला का भवन निर्माण किया जा सकना सम्भव हुआ।

यह एक प्रवंचना की बात है कि संसार में अशान्ति का घोर साम्राज्य होने पर, महायुद्ध की विभीषिका राष्ट्रों के सिर पर नाचने पर वस्तुओं के निर्माण अथवा नई शोधों के लिए सरकारों को रुपए सहज ही सुलभ ही होने लगते हैं। जनता भी कोई विकल्प न देख भारी भारी करों को सहन कर युद्ध काल में प्रचुर धन की व्यवस्था कर इन विशेष आयोजनों के लिए सरकार का हाथ बटाती है। राष्ट्रीय ऋण की असीम वृद्धि भी अनुचित नहीं समझी जाती। ऐसे ही उत्तेजना पूर्ण वातावरण में कांच तथा सिरेमिक उद्योग की ओर भी भारतीय सरकार का ध्यान जाने से इस सम्बन्ध की अनुसंधानशाला की नीव कालान्तर में पड़ सकी। परन्तु एक महायुद्ध में जो आवश्यकता अनुभव हुई उसकी पूर्ति करने के लिए सक्रिय उद्योग का अवसर दूसरे महायुद्ध ने ही दिया किन्तु इन युद्ध-जनित आवश्यकताओं के अकस्मात खड़े हो जाने की पूर्ति जिस तत्परता से करने का उद्योग देखा जाता है, वैसा शान्तिकाल में ही हमारे देश की गत विदेशी सरकार ने करने का उद्योग किया होता तो हम अपनी अनुसंधानशालाओं में इसे भी आज बहुत कुछ कार्य कर चुकने का अवसर पाते देख सकते। परन्तु जो कुछ भी थोड़ा बहुत प्रयत्न पूर्व समय में हो सका था, उसी को वर्तमान सरकार ने अर्थाभाव के होते हुए भी वेग के साथ अधिक गतिशील कर कार्य रूप में परिणत करने का उद्योग किया।

हमारे देश में अन्य उद्योगों की भाँति काँच और सिरेमिक के सम्बन्ध में भी विशेष कार्य न हो सकने से आज ऐसी स्थिति है कि हम काँच और सिरेमिक की बहुत अधिक तैयार वस्तुएँ विदेशों से मँगाते हैं, परन्तु कच्चे माल का हमारे यहाँ इतना बाहुल्य है कि हमारे देश में इस उद्योग के चतुर कार्यकर्ताओं को दीक्षित करने, वैज्ञानिक निर्माण-पद्धति प्रसार करने और उनमें निरन्तर उन्नति कर उद्योग की वृद्धि करने से हम सहज ही तैयार माल विदेशों को भेजने लगने में समर्थ हो सकते हैं। इसी कारण सैकड़ों आवश्यक कार्यों के होने पर भी इस उद्योग के सुधार के लिये अनुसंधानशाला स्थापित करने का शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न किया गया। ग्यारह अनुसंधानशालाओं में इसकी स्थापना का नम्बर चौथा है। यह जागरूकता देश की आवश्यकता को भली-भाँति देखने और अध्ययन करने के कारण ही दिखाई पड़ रही है जिससे काँच तथा मिट्टी, चीनी मिट्टी आदि के उद्योग को भारी प्रोत्साहन तथा सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। यह उद्योग हमारी एक भारी राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति तथा विज्ञान की इस दशा में मौलिक गवेषणा के लिए एक भारी पग कहा जा सकता है।

डा० शान्ति स्वरूप भटनागर के भाषण का उद्धरण

[सिरेमिक और काँच अनुसंधानशाला के उद्घाटन समारोह के अवसर पर डा० भटनागर ने जो भाषण दिया था उसके सम्बन्ध में नोबल पुरस्कार विजेता, विश्व विख्यात वैज्ञानिक सर चन्द्रशेखर वेंकट रमण ने कहा था—"मैंने ऐसे अनेक अधिवेशनों के देखने और डा० भटनागर के भाषणों को सुनने का अवसर प्राप्त किया है परन्तु आज का भाषण सर्वोपरि था। हम सब जानते हैं कि वे एक भारी प्रबन्धक हैं—इतने भारा कि हम लोगों में से

अनेक यह बात भूलने लगे थे कि वे विज्ञान के व्यक्ति हैं किन्तु आज की वक्तृता काँच विषय पर विलक्षण प्रकाश डालने वाली थी, क्योंकि काँच कला की अभिव्यक्ति का एक विषय है और जिसके सम्बन्ध में मैं अनेक वर्षों से गंभीरता पूर्वक रुचि रखता आया हूँ।"]

डा० शान्ति स्वरूप भटनागर ने कहा था :—

...वैज्ञानिक और अनुसंधान परिषद ने अनुभव किया कि भारत के सिरेमिक और काँच उद्योग का वैज्ञानिक रूप से अवश्य ही विकास करना चाहिए जिससे वह उस सफलता तथा उन्नति की अग्रमुखी प्रगति को प्राप्त कर सके जिस पद पर भारत को अवश्य ही पहुँचने का हमें विश्वास है। प्रति वर्ष हम २ करोड़ रुपए मूल्य का काँच का सामान तथा ७० लाख रुपए की चीनी मिट्टी तथा पोर्सलीन का सामान विदेश से आयात करते हैं। भारत में ३.४५ करोड़ रुपए मूल्य का काँच का सामान तथा १.३१ करोड़ रुपए मूल्य का चीनी मिट्टी का सामान निर्मित होता है। भारत ज्यों-ज्यों उन्नति के शिखर की ओर प्रगतिशील होता जायगा, इन वस्तुओं की खपत अधिकाधिक होते जाना अवश्यंभावी है। अतएव इन उद्योगों में विज्ञान तथा शिल्प की सहायता से उन्नति करने का उर्वर क्षेत्र सुलभ होगा। इनके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी इन वस्तुओं की खपत उपयोगिता, सौन्दर्य, सुरक्षा और अन्य आवश्यक कामों में हो सकती है। इन क्षेत्रों के आँकड़े सुलभ नहीं हैं किन्तु निश्चय ही इन व्ययों की मात्रा भारी धनराशि तक पहुँचती है। कुछ वर्षों पहले ही जब ऐसी बहुतेरी वस्तुएँ बाहर से मँगाने की खुली छूट थी तो हमारे देश का काँच का आयात लगभग ३.६७ करोड़ रुपए तक पहुँच गया था। सुन्दर और भव्य वस्तुओं की अभिलाषा इस गाढ़े रूप से अर्जित विदेशी मुद्रा की भारी धनराशि से उन वस्तुओं के क्रय करने में प्रकट हुई थी जो बालू, चिकनी मिट्टी, कीचड़ तथा सस्ती वस्तुओं से ही निर्मित होती हैं। हमारी यह प्रवृत्ति इस बात की स्पष्ट परिचायक है कि इस संस्था की नितान्त ही आवश्यकता है और यह विद्यमान रही होती तो इसने भारतीय उद्योग को अपने उत्पादन की वृद्धि में इतना योगदान किया होता कि भारी आयात से वंचित रहना पड़ता और इस प्रकार बहुमूल्य विदेशी विनिमय मुद्रा की हानि बचाई जा सकती।

काँच और सिरेमिक का इतिहास प्राचीनता के अन्ध गह्वर में लुप्त हो गया है। मनुष्य के कृत्रिम रूप से काँच तथा बालू के संयोग से निर्मित वस्तुओं के बना सकने के बहुत ही पूर्व उसने प्राकृतिक रूप से सुलभ होने वाले काँचों से जो ज्वाला-मुखीय आधार से प्राप्त ओब्सिडियन शिला आदि की भाँति होती हैं— चाकू, तीर की नोक, तथा फलक आदि को निर्मित कर लिया था। मनुष्यनिर्मित प्राचीनतम काँच आज से १५००० वर्ष पूर्व (१२००० ईसा पूर्व) मिस्र देश के बडेरियन युग में पथरीली मनिका पर हरी पच्चीकारी रूप में है। सर फ्लिंडर्स पेटरी के कथनानुसार वह सभ्यता कदाचित भारत तथा एशिया से प्रविष्ट हुई थी। भारत के पुरातत्व विभाग के संचालक द्वारा हमारी अनुसन्धानशाला को प्रदत्त मोहन जो दारो और हड़प्पा के कतिपय संग्रहीत पदार्थों से यह प्रकट होता है कि इस देश के प्राचीन वासियों को वह पदार्थ ज्ञात थे।

काँच कहता है, 'मैं पिरामिडों से भी पुरातन किन्तु आगामी कल के अस्फुटित प्रभात से भी नवीनतर हूँ—समय के चिन्ह हमें प्रभावित नहीं कर पाते—क्योंकि मैं युगोपरि हूँ और अपनी कान्ति सतत अक्षुण्ण रखने वाला हूँ।' कवि के इन परिभाषात्मक शब्दों में जिन्हें कवि ने काँच के मुख

से व्यक्त कराया, एक साधारण व्यक्ति को सन्तोष प्रदान करने वाले दो भाव सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से काँच के दोमुखी चित्र हैं—प्रथम रसायनिक दृष्टि से यह कतिपय पदार्थों के संयोग के परिणामतः शीत रूप तथा एकरूपता से उत्पन्न पदार्थ है। यह रसायनिक वर्णन परीक्षाजन्य है और रवा हीन पदार्थों की स्थिति नहीं प्रकट करता। काँच केवल इस लिए काँच नहीं है कि वह एक रसायनिक रचना युक्त है। यह हमें तुरन्त ही दूसरे चित्र की ओर प्रवृत्त करता है जिसे भौतिक रचना कहा जाता है। काँच कतिपय रसायनिक संयोगों की भौतिक स्थिति है। मोरे के कथनानुसार 'काँच किसी पदार्थ की तरल अवस्था के अनुरूप तथा संलग्न अवस्था में एक अनैन्द्रिक संयुक्त पदार्थ है किन्तु जो मिलित रूप से शीतल होने के कारण इतनी उच्च मात्रा की स्निग्धता प्राप्त किया पदार्थ है जिसे सभी व्यावहारिक दृष्टि से दृढ़ नाम दिया जा सकता है। साधारण ताप पर कुछ निश्चित सीमित रूप की रचना सम्बन्धी क्रम-बद्धता रखता है जिस प्रकार के पदार्थ आकास्मिक तथा प्रबल स्निग्धता वृद्धि द्वारा सरल रूप में जम जा सकते हैं।"

काँच और सिरेमिक निर्मित पदार्थों के सभी उपयोगों तथा व्यवहारों का वर्णन कुछ मिनटों में कर सकना कठिन सा ही है। स्थापत्य तथा भवन-निर्माण, आवास, विद्युत वहन, प्रकाश, विद्युताणु विज्ञान (इलेक्ट्रानिक्स), ताल निर्माण विज्ञान, वस्तु निर्माण विधियों, तथा साधारणतया परिधान रूप के उपयोग तथा विज्ञान, अनुसंधान तथा उद्योग में इन वस्तुओं का उपयोग अधिकाधिक होता जा रहा है। भौतिक स्थितियों तथा रसायनिक रचनाओं में सावधानी पूर्वक उलट-फेर करने से काँच को कोमल, सुचिक्कण कान्तिमान वस्त्र की भाँति बनाकर पर्दे, चित्र, चादरें, नेकटाई, हैट, हैंड बैग तथा परिधानों के रूप में उपयोग किया जा सकता है जिनमें चमक, सुन्दरता तथा भव्यता की आवश्यकता होती है। इसे भंजनशील (मुरमुरा) या दृढ़, पारदर्शी, रंगीन या अपारदर्शी बनाया जा सकता है। यह इतना भंजनशील हो सकता है कि स्पर्श करते ही टूट जाय, तथापि इसे इतना दृढ़ भी किया जा सकता है कि फ़ौलादी ढाल का काम दे सके। इन यौगिकों के भौतिक तथा रसायनिक परिवर्तनों से नाना प्रकार के प्रभावों को उत्पन्न करने की शक्ति में वैज्ञानिक शोध के लिए विस्तृत क्षेत्र है।
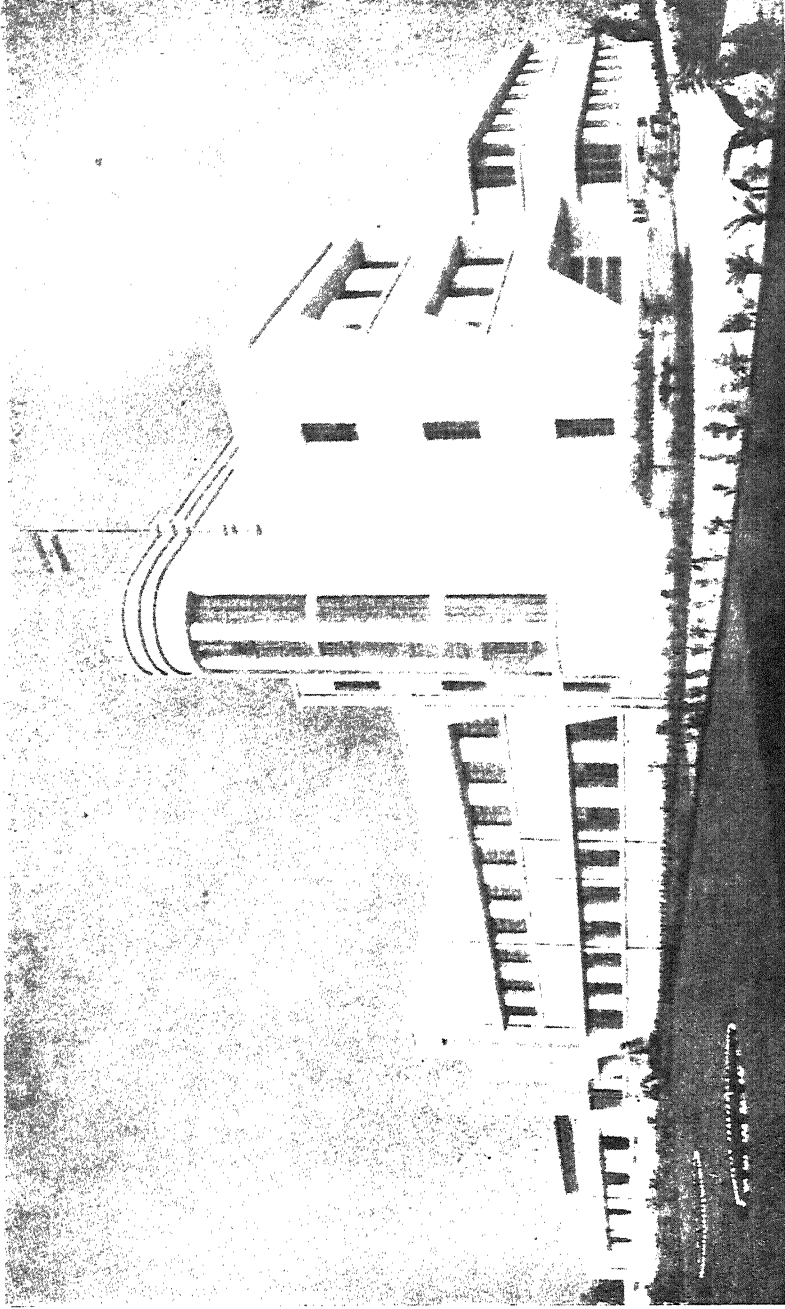
केन्द्रीय काँच और सिरेमिक अनुसंधानशाला

डा० आत्माराम, संचालक केन्द्रीय काँच और सिरेमिक अनुसंधानशाला
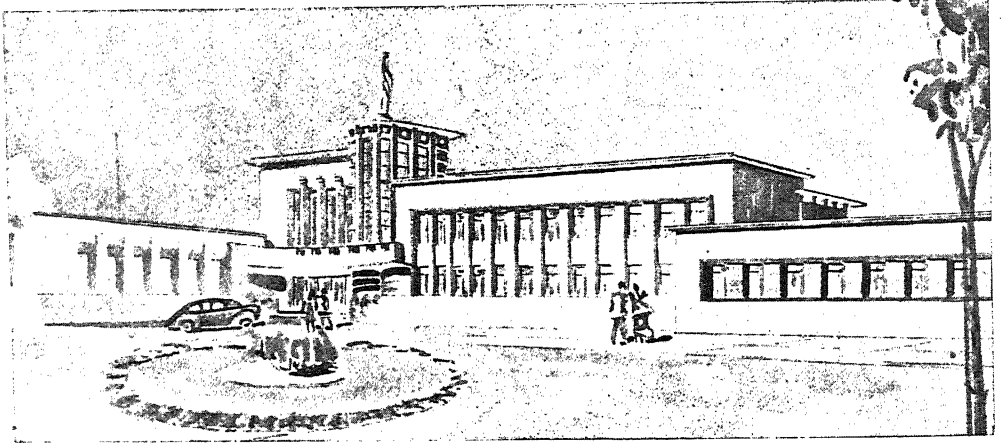
केन्द्रीय विद्युत् रसायनिक अनुसंधानशाला

केन्द्रीय विद्युत-रसायनिक अनुसंधानशाला

आधुनिक युग में विज्ञान के जिन विभिन्न विभागों ने आशातीत प्रगति कर मानव-समुदाय के जीवन स्तर को ऊँचा करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है उनमें विद्युत-रसायन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधों में अनेक आवश्यक वस्तुओं के निर्माण में विद्युत्-रसायन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। कास्टिक सोडा, क्लोरीन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, हाइड्रोजन पेराक्साइड, हेवी वाटर, काल्सियम कार्बाइड, कृत्रिम रूप से निर्मित अमोनिया, कार्बन बाइसल्फाइड, ग्रेफाइट, बेरीलियम के मिश्रधातु, मैगनीसियम, अल्यूमीनियम, प्राइमरी और सेंकडरी सेल तथा पाली हाइड्रिक अलकोहल आदि आवश्यक पदार्थ तैयार करने में विद्युत्-रसायन तथा इन्जीनियरी शिल्प की आवश्यकता होती है। इनमें से कास्टिक सोडा, हाइड्रोजन तथा मैगनीसियम आदि का तो अन्य साधनों से भी उत्पादन हो सकता है किन्तु अन्य पदार्थ जैसे अल्यूमीनियम तथा कारबाइड तो व्यय-सुलभ रूप से किसी भी अन्य विधि से तैयार ही नहीं किए जा सकते।

कुछ आधारभूत रसायनिक वस्तुएँ जैसे क्लोरीन, सोडियम, हाइड्रोजन पेराक्साइड तथा अल्यूमीनियम के उत्पादन-व्यय को न्यून करने में विद्युत्-रसायन की विधियों ने एक युगप्रवर्तक कार्य किया है। इन पदार्थों के सस्ते रूप में उत्पादन हो सकने के कारण अन्य अवलंबित धन्धे उन्नति करने का अवसर मिल सका है।

भारत में विद्युत् का उपयोग प्रति व्यक्ति के हिसाब से अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा बहुत ही कम है, किन्तु यह आशा की जाती है कि भारत सरकार की शक्ति परिवर्द्धन की निश्चित तथा साहसपूर्ण नीति के कारण विद्युत्-शक्ति का उपयोग अधिकाधिक वृद्धि करता जा सकेगा। भारत में कच्चे माल की बहुलता तथा श्रमिक शक्ति की सुलभता से लाभ उठाकर अनेक विद्युत् रसायनिक धन्धों को तीव्र वेग से विकसित करने का अवसर प्राप्त किया जा सकेगा। इन सब उद्योगों में विद्युत्-शक्ति की प्रचुर परिमाण में आवश्यकता होगी। उसके उत्पन्न करने का व्यय भी कम होने और अधिक परिमाण में उत्पन्न करने की व्यवस्था होने पर ही इसके आधारित धन्धों को वेग से पनपने का स्वर्ण अवसर मिल सकेगा।

हमारे देश में इस सम्बन्ध के अनेक धन्धे तो कुछ न कुछ प्रारम्भ दिखाई पड़ते ही हैं, परन्तु विद्युत् भट्ठियों के खड़े किए जाने पर अन्यान्य आवश्यक धन्धों को खड़ा किया जा सकेगा। इनमें कार्बन बाइसल्फाइड, कृत्रिम अब्रेसिव, काल्सियम कारबाइड, कृत्रिम ग्रेफाइट तथा पिग आइरन के नाम उल्लेखनीय हैं।

देशी कच्चे माल से तैयार माल बनाने के लिए धन्धों को खड़ा करने के लिए विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों--रसायनिक, धातु-वैज्ञानिक तथा विद्युत्-इन्जीनियर के प्रयासों की नितान्त आवश्यकता होती है जिनका समन्वयात्मक प्रयत्न इन धन्धों की समस्याओं का निराकरण करने में सफल होता है। मद्रास प्रान्त के कराइकुडा नामक स्थान में विद्युत्-रसायन अनुसंधानशाला की स्थापना इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हो रही है।

इस अनुसंधानशाला को मूर्त्त रूप देने में मद्रास प्रान्त के उदार विद्याप्रेमी दानवीर डा०

अलगप्पा चेट्टियर, एम० ए०, डी० लिट०, एल-एल० डी०, बार ऐट ला का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिनके दानों की राशि आज विभिन्न संस्थाओं के लिए ५० लक्ष रुपए तक पहुँचती है। जिस समय किसी उपयुक्त स्थान पर सुलभ मूल्य पर भूमि मिलना सर्वथा ही कठिन हो रहा था तथा मद्रास सरकार के प्रयत्न से भी उचित मूल्य पर भूमि प्राप्त करना एक असम्भव कार्य ज्ञात हो रहा था, उस समय एक ओर जहाँ कुछ धनाढ्य अपनी भूमि के अकल्पनीय मूल्य की माँग उपस्थित कर विज्ञान की इस दिशा में प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर इस उदारचेता महानुभाव को विज्ञान-जगत ने ३०० एकड़ भूमि निमूर्ल्य प्रदान करने के अतिरिक्त पन्द्रह लाख नकद रुपए प्रदान करने की भी घोषणा करते देखा।

कोट्टयूर से कराइकुडी स्टेशन जाने के मार्ग के समीप कराइकुडी स्टेशन से उत्तर की दिशा में कुछ दूर पर ही डा० अलगप्पा चेट्टियर कालेज अवस्थित है। इस शिक्षण-संस्था की बहुमुखी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त एक इन्जीनियरिंग कालेज की स्थापना का आयोजन उस स्थल पर पाया जाता है। इन वातावरणों की भूमि के समीप डा० अलगप्पा की प्रदान की हुई वह ३०० एकड़ भूमि है जहाँ पर भवन-निर्माण के शिलान्यास समारोह को प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने २५ जुलाई सन १९४८ ई० को उद्घाटित किया था। इस भूमि को विद्यु त् रसायनिक अनुसन्धानशाला के लिए उपयुक्त निर्धारित करने में भी कुछ कम कठिनाइयाँ नहीं खड़ी हुईं। अनुसन्धानशाला के लिए प्रचुर मात्रा में जल की आवश्यकता होगी उसका वहाँ पर अभाव ही देखा गया और पहले तो यह स्थान अनुसन्धानशाला के लिए अनुपयुक्त ही घोषित कर दिया गया। किन्तु डा० अलगप्पा की अटूट लगन और अनवरत उद्योग से यह ज्ञात किया जा सका कि उसी स्थान पर प्रति दिन दो लाख गेलन पानी प्राप्त करने में सफलता मिल सकती है। मद्रास सरकार के प्रयत्नों ने भी जल की इतनी प्रचुरता को सम्भव सिद्ध किया अतएव वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद ने डा० अलगप्पा के दान को सहर्ष स्वीकार कर वहाँ अनुसंधानशाला के निर्माण का निश्चय किया।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने विद्यु त् रसायन सम्बन्धी अनुसंधान की महत्ता पर प्रारम्भ में ही ध्यान दिया था। इस लिए इस सम्बन्ध में छानबीन प्रारम्भ की जा सकी थी। इस दिशा में कुछ काम विद्यु त्‌रसायनिक उद्योग अनुसंधान समिति तथा ग्रेफाइट और इलेकट्रोड समिति कर रही थीं किन्तु इन कार्यों में ऊँचे दर्जे के शिल्प विज्ञान तथा विशिष्ट रूप के अनुसंधानों की आवश्यकता थी, इस कारण वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने प्रारम्भ में ही एक केन्द्राय संस्था की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की जहाँ विशेषज्ञों के दल तथा आवश्यक उपकरणों तथा यंत्रों की सुलभता हो। इस के लिए पहले तो यह विचार किया गया कि रसायन अनुसंधान शाला में ही इसका एक विभाग खोल दिया जाय किंतु विशेषज्ञों के परामर्श से यह अनुभव किया गया कि राष्ट्रीय रसायन अनुसंधानशाला के भौतिक रसायन विभाग में ही विद्यु त-रसायन विभाग को स्थान देना संतोषजनक नहीं होगा। देश के अनेक विद्यु त्-रसायनिक धन्धों की वेग पूर्वक वृद्धि होते जाने के कारण इसे पृथक रूप देना ही युक्तिसंगत होगा। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की विद्यु त्-रसायनिक अनुसंधान-समिति ने अपना यह निर्णय अपनी एक बैठक में अप्रैल १९४४ ई० में बम्बई में प्रकट किया। निदान परिषद् ने भी इस मंतव्य को स्वीकृति प्रदान की।

फरवरी १९४८ ई० में परिषद् के डाइरेक्टर डा०

एस० एस० भटनागर ने मद्रास में स्थान का अवलोकन किया और डा० ए० एल० मुदालियर, डा० जे० जे० रुद्रा, श्री शेषाचलय चौधरी तथा डा० एम० ए० गोविन्द राव को मिलाकर एक समिति भी इस कार्य में सहायता के लिए बनी। इस अवसर पर स्थान की समस्या को डा० अलगप्पा ने हल कर अनुसंधानशाला-निर्माण का मार्ग सुगम बनाया।

अनुसंधानशाला के निर्माण के लिए अनुमानित लागत में १० लाख रुपया भवन-निर्माण तथा २५ लाख यन्त्र तथा उपकरण आदि के लिए निश्चित हुआ है; इसके संचालन में ढाई लाख रुपया प्रति वर्ष व्यय होने की व्यवस्था की गई है जो सरकार द्वारा प्रदान की जायगी। इसमें २८ वैज्ञानिक, १२ शिल्पज्ञ होंगे तथा प्रबन्ध आदि के लिए अन्य कर्मचारी वर्ग होंगे। अनुसंधानशाला की लागत में भूमि को छोड़कर ३५ लाख रुपए में से १५ लाख रुपए डा० अलगप्पा से दान द्वारा प्राप्त है। शेष २० लाख सरकार प्रदान करेगी।

———

I like these scientific laboratories growing up, because I believe and hope that they will gradually make the Indian people more and more in scientific outlook—scientific not merely in the sense of dabbling in test tubes and laboratories and the like, but get that type of mind and that type of thinking which scientists ought to have and which they always do not have. That is the poise, the dispassionate type of mind, which is not swept away by passion and prejudice, and which can consider problems of life reasonably, logically, and with as great a spirit of detachment as possible and thus come to conclusions.

—Hon'ble Jawahar Lal Nehru.

"मैं इन वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं को बढ़ते देखना चाहता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास और आशा है कि वे शनैः शनैः भारतवासियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला बनाएँगी—वैज्ञानिक इस अर्थ में नहीं कि केवल परख नलियों और प्रयोग-भवनों या इसी प्रकार के खिलवाड़ में संलग्न रहें, बल्कि उस प्रकार के मस्तिष्क तथा विचारधारा को प्रस्तुत करें जिन्हें वैज्ञानिकों को रखना चाहिए और सदा वे वैसा नहीं रखते। वही स्थिरता, मस्तिष्क का स्थितप्राज्ञ रूप है जो भावावेशों एवं राग द्वेष से विचलित नहीं हो पाता और जो जीवन की समस्याओं का युक्तिसंगत तथा तार्किक रूप से तथा इतने अधिक निरपेक्ष भावना से विवेचन कर सकता है जितना संभव हो तथा इस प्रकार निष्कर्ष पर पहुंचे।"

—माननीय जवाहर लाल नेहरू

केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला

(The Central Drug Research Institute.)

भारतवर्ष में बहुत समय से वैज्ञानिक ढंग पर औषधियों के व्यवसायों की बहुत कमी रही है। इनकी कमी स्वास्थ्य और भोजन की असंतोषजनक व्यवस्था के कारण और भी अधिक खटकती है। यद्यपि भारत में वनस्पति तथा खनिज पदार्थों की कोई कमी नहीं है, फिर भी हमको औषधियों के लिए बाह्य देशों की ओर देखना पड़ता है। इसका कारण यहाँ के वनस्पति कोष के उचित उपयोग का न होना है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि औषधि-व्यवसाय को उचित रीति से बढ़ाने के लिए एक संस्था की बड़ी आवश्यकता थी जिससे देश का बहुत सा धन बाहर जाने से बचाया जा सके और उसके विपरीत यहाँ के उद्योगों के बढ़ाने में लगाया जा सके। पिछले १० वर्षों में कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थों की खोज हुई है जिनकी सहायता से बहुत से असाध्य रोगों से संसार को छुटकारा मिलने की आशा प्रतीत होती है। इनकी खोज बहुत अनुसंधान तथा व्यय के बाद ही हो सकी है। यह बहुत आवश्यक है कि भारत में भी इस ओर ध्यान दिया जाय और न केवल इन पदार्थों को बड़े पैमाने पर बनाया ही जाय वरन् इस ओर अनुसंधान भी किया जाय।

इन सब दिशाओं में विचार करके काउंसिल आफ साइन्टिफिक ऐण्ड इंण्डस्ट्रियल रिसर्च की ड्रग कमेटी ने एक केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला (Central Drug Research Institute) के स्थापित करने की आवश्यकता बताई और अगस्त १९४७ की बैठक में इसके स्थापित करने की व्यवस्था स्वीकार कर ली। इस प्रस्ताव के अनुसार सन् १९४८ में एक प्लानिंग कमेटी माननीय डा० जीवाराज मेहता के सभापतित्व में बनाई गई जिसमें इस अनुसंधानशाला के लिए उचित स्थान के बारे में विचार किया गया। कई प्रदेशों के प्रस्तावों पर विचार के पश्चात उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ को इसके लिए सबसे उचित समझा गया। उत्तर प्रदेश की सरकार ने अवध की ऐतिहासिक इमारत छतर मंजिल को काउंसिल आफ साइन्टिफिक रिसर्च को इस कार्य के लिए सौंप देने का प्रस्ताव भी किया। जनवरी १९४९ में भारत के प्रधान मंत्री ने, जो वैज्ञानिक खोज-विभाग के भी मंत्री थे, इस प्रस्ताव को अंतिम रूप से मान लिया।

इस प्रस्ताव को मान लेने के पश्चात लखनऊ में एक स्थानीय प्लानिंग कमेटी उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य विभाग के मंत्री श्री चन्द्रभान गुप्त जी के सभापतित्व में बनाई गई। इस कमेटी की देख-रेख में छतर मंजिल को, जिसका निर्माण नवाबी-काल में हुआ था, एक अनुसंधानशाला में परिणत करने का कार्य प्रारम्भ हुआ और जनवरी ५१ में समाप्त हुआ। इस कार्य में ५½ लाख रुपए व्यय हुए हैं।

इस अनुसंधानशाला के बहुमुखी उपयोग हैं जिनमें विशेषकर औषधियों के अनुसंधान को बढ़ावा देना, नई औषधियों की प्रामाणिकता की परीक्षा करना और वैज्ञानिकों तथा विश्वविद्यालयों इत्यादि को उपयोगी सुगमता प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त देश में अस्पतालों आदि में औषधियों की संगठित रूप से

परीक्षा कराने तथा इनके बारे में ज्ञान फैलाने का कार्य भी इसी के द्वारा होगा। इस समय यह अनुसंधानशाला पाँच विभागों में बाँटी गई है :—

(१) रसायन (Chemistry)
(२) बायो-केमेस्ट्री (Biochemistry)
(३) फारमेकोलेजी (Pharmacology)
(४) माइक्रोबायोलेजी तथा पेरेसाइटालेजी (Microbiology & Parasitology)
(५) क्लीनिकल साइंस (Clinical Science)

वनस्पति विज्ञान (Botany) का एक छटा विभाग भी शीघ्र ही खुल जाने की आशा है। वैज्ञानिक विभागों के साथ इसमें कुछ और विभाग भी बनाए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं।

(१) पशु गृह
(२) परिगणन विभाग तथा केन्द्रीय पुस्तकालय
(३) यंत्र तथा रासायनिक भंडार
(४) शीशे आदि के यंत्र बनाने की उद्योगशाला
(५) निर्माण तथा रक्षा-विभाग
(६) कौतुक गृह
(७) शासन-प्रबन्ध विभाग
(८) भोजनालय

यहाँ की अनुसंधानशाला में सब विभागों का अनुसंधान सम्बन्धी सहयोग बहुत आवश्यक तथा अनिवार्य है। इस व्यवस्था में प्रत्येक औषधि की जाँच, जिसकी खोज यहाँ पर की जायगी, सब विभागों द्वारा होगी। औषधि को पौधे से निकालने का कार्य केमिस्ट करता है, तथा उसकी सब प्रकार से जाँच बायोकेमिस्ट तथा फारमेकोलाजिस्ट करते हैं। यदि ठीक समझा जाता है तो उनका जानवरों पर प्रभाव भी देखा जा सकता है और उसमें लाभ मालूम पड़ने पर वैद्यक विभाग द्वारा किसी रोग विशेष द्वारा पीड़ित रोगियों पर भी प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर सब विभागों द्वारा एक ही औषधि पर विभिन्न प्रकार के अनुसंधानों की व्यवस्था है। न केवल वनस्पति के परिच्छेद ही से औषधियाँ निकाली जाएँगी परन्तु रासायनिक प्रयोगों द्वारा भी औषधियां बनाई जाने की आशा की जाती है। इन अनुसंधानों में पशुओं पर प्रयोग बहुत आवश्यक है। इसलिये प्रयोगशाला के पास एक पशुगृह बनाया गया है जो अभी ही पूर्ण हुआ है। इसमें एयर कंडिशनिंग की भी व्यवस्था की गई है जिसमें पशु आराम से रह सकें।

इस अनुसंधानशाला के प्रथम डाइरेक्टर इंगलैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर एडवर्ड मेलेनबी नियुक्त किये गए थे। इन्होंने औषधियों से सम्बंधित बहुत उपयोगी कार्य किया है और ब्रिटेन की मेडिकल रिसर्च काउंसिल के मुख्य शासक रह चुके हैं। कुछ समय पश्चात वह ब्रिटेन वापस चले गए और उनके बाद दूसरे डाइरेक्टर डाक्टर बी मुकर्जी को नियुक्त किया गया।

१८ फरवरी सन् ५१ को भारतवर्ष के प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने इस प्रयोगशाला को खोला। इस दिवस पर भारत सरकार के अन्य मंत्री श्री श्रीप्रकाश तथा राजकुमारी अमृत कौर, उत्तर प्रदेश के गवर्नर, मुख्य मंत्री तथा अन्य मंत्री और अन्य भद्र पुरुष तथा वैज्ञानिक उपस्थित थे। काउंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च के प्रधान श्री शांति स्वरूप भटनागर ने इस दिवस पर अपना भाषण हिन्दुस्तानी में दिया जिसमें इस प्रयोगशाला के पूर्ण इतिहास की रूप रेखा दी। इसी समय श्री जवाहर लाल नेहरू, श्री होमी मोदी, श्री गोविन्दबल्लभ पंत, श्री श्रीप्रकाश, श्री चन्द्रभान गुप्त, राजकुमारी अमृत कौर, कर्नल आर० एन० चोपड़ा तथा सर एडवर्ड मेलेनबी, एफ० आर० एस० के भाषण हुए। सर मेलेनबी ने अपने भाषण में भारत में औषधियों की वर्तमान कमी तथा इस अनुसंधानशाला की आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाया।

इस प्रसिद्ध प्रयोगशाला के खुल जाने से हमको बड़ी आशाएं हैं। हमको पूर्ण विश्वास है कि इससे

शीघ्र ही भारत में प्रचुर मात्रा में औषधियाँ बनने में बहुत सहायता मिलेगी तथा उच्च कोटि के अनुसंधान इस दिशा में होंगे जिनसे भारत में जनता का स्वास्थ्य सुधरने तथा फैली हुई बीमारियों के दबाने में बड़ी सहायता मिलेगी और यहाँ के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने में साथ देंगे।

भारतीय औषधियों की गवेषणा

प्रायः १५० वर्ष पुरानी छतर मञ्जिल में इस केन्द्रीय औषधि गवेषणा शाला की स्थापना की गई है। सभी जानते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने ऐसे सैकड़ों नए-नए रासायनिक द्रव्यों की खोज की है, जो मनुष्य तथा पशुओं के अनेक घातक रोगों के नियन्त्रण एवं उपचार के लिए रामबाण का काम करते हैं। इसके कारण, काफी सीमा तक, अनेक रोगों की चिकित्सा प्रणाली का स्वरूप ही बदल गया है। उदाहरणार्थ, रोगाणुओं से उत्पन्न संक्रमण के लिए 'सल्फा' द्रव्य, कुष्ठ के लिए 'सल्फोन' निमोनिया व सूजाक के लिए 'पेनिसिलीन', गठिया के लिए 'कोर्टिसीन' क्षय के लिए, 'क्लोरोमाइसिटिन' नामक अद्भुत द्रव्यों की खोज हुई है।

किन्तु इन तथा अन्य द्रव्यों की खोज पश्चिमी देशों में ही हुई है। भारत में अब तक इनकी खोज के लिए समुचित व्यवस्था का नितांत अभाव था, और इस शाला की स्थापना इसी अभाव की पूर्ति के लिए की गयी है। औषधि गवेषणा प्रोत्साहन, आविष्कृत औषधियों का परीक्षण तथा मान-निर्धारण, वैज्ञानिकों विश्वविद्यालयों, तथा औषधि-निर्माण-उद्योग को परामर्श, आदि इस शाला के मुख्य कार्य है। कोई कारण नहीं, कि प्राचीन काल में जिस भारत की खोजों का प्रभाव यूनानी तथा रोमन चिकित्सा प्रणाली पर पड़ चुका है, वही भारत, अब, समुचित साधनों व सुविधाओं के उपलब्ध होने पर, ऐसी नयी एवं उपयुक्त औषधियों की खोज न कर सके जो उसके जलवायु आदि की दृष्टि से अधिक लाभकर एवं उपयोगी हो।

जड़ी बूटी

शाला ने सबसे पहले क्षय कुष्ठ और आमातिसार जैसे महा रोगों के उपचार से सम्बन्धित औषधियों की छानबीन शुरू की है। हमारे देश में चिकित्सा की अनेक प्रणालियां— आयुर्वेदिक, यूनानी, एलोपैथिक, हमियोपैथिक वर्षों से प्रचलित रही है और इनके अतिरिक्त साधु-संतो के टोटके, आदि अलग काम में लाये जाते रहे हैं। किन्तु इस देश में चिकित्सा के काम आने वाली अनेक जड़ी बूटियों तथा उनसे उत्पन्न औषधियों का विधिवत् वैज्ञानिक निरीक्षण शाला में अब पहली ही बार किया जा रहा है। यदि प्रयोग एव परीक्षा द्वारा ये वस्तुएँ उपयोगी सिद्ध हुई, तो आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली में उन्हें उपयुक्त स्थान प्राप्त होगा।

भारत में दवा-दारू के काम आने वाली तरह तरह लगभग २२०० जड़ी बूटियों और पौधे पैदा होते है। इनमें से कुछ ऐसे पौधे हैं जिन्हें या जिनसे उत्पन्न चीजों को विदेश भेजा जाता है, और दवा के काम के लिए वे शोधित रूप में फिर भारत आते हैं। कुछ ऐसी बनस्पतियाँ हैं जिनका प्रयोग वैद्य और हकीम करते हैं। कुछ ऐसी हैं, जो विशेष रोगों में लाभप्रद होने के लिए प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उदाहरणार्थ, क्षय की चिकित्सा के लिए वरुणा, गिदारू और वकेरी नामक औषधियों का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार कुष्ठ के निवारण के सम्बन्ध में भारत की प्रचीन बूटी 'चौलमूगरा' का नाम लिया जाता है। लखनऊ की औषधिशाला में इन सभी के सम्बन्ध में अनुसन्धान किया जा रहा है।

जन्तु घर

विभिन्न जड़ी-बूटियों तथा उनसे उत्पन्न औषधियों की परीक्षा के लिए शाला में अनेक प्रकार के जीव-जन्तु रखने की व्यवस्था है। शाला का जन्तुघर पूर्व में अपनी तरह का सबसे बड़ा जन्तु-घर कहा जा सकता है, जिसमें चूहे, चूहियां, सूअर, बन्दर पखेरू, कुत्ते, आदि को मिलाकर कोई १०,००० जन्तु रख सकने का प्रबन्ध

माननीया राजकुमारी अमृत कौर, मंत्री, स्वास्थ्य विभाग (केन्द्रीय सरकार)
आपने औषधि अनुसंधानशाला के उद्घाटन-समारोह के अवसर पर
सारगर्भित भाषण दिया था।

डा० बी० मुकर्जी, संचालक, केन्द्रीय औषधि-
अनुसंधानशाला
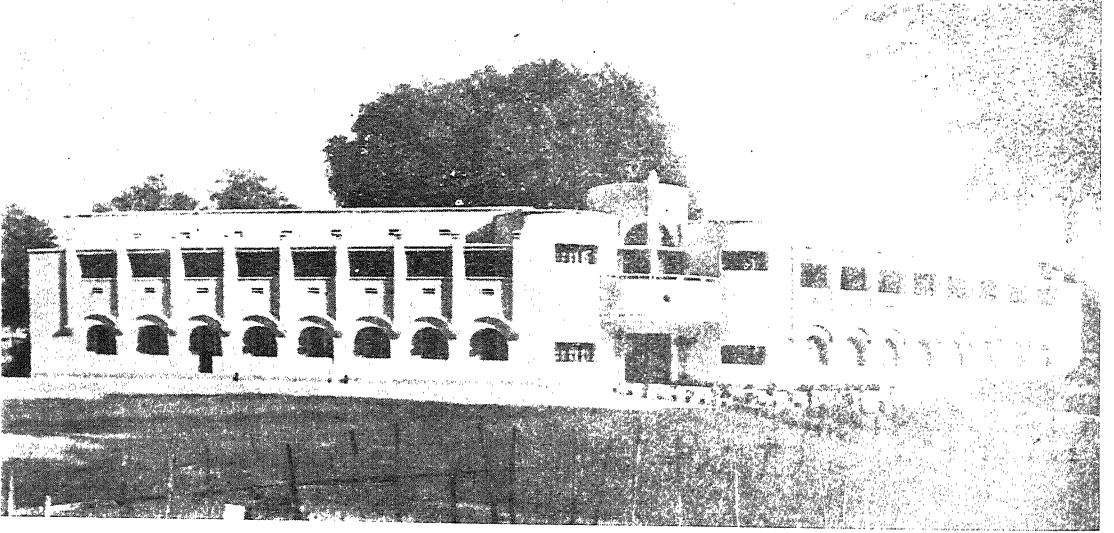
पशुगृह (केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला)

है। नयी-नयी औषधियों का असर इन्हीं जन्तुओं पर देखा जाता है। उनके पालन-पोषण तथा प्रजनन की व्यवस्था भी एक सी रखनी होती है। महल की दूसरी मञ्जिल में नियंत्रित कमरे हैं, जिसमें से कुछ में विष-गवेषणा के प्रयोग के लिए संक्रांत जन्तु रक्खे जाते हैं और कुछ में पशुओं की चीर-फाड़, (आपरेशन) का प्रबन्ध है। जब सारा लखनऊ ग्रीष्म ऋतु की बेहद गर्मी से झुलसने लगता है, इन कमरों में रहने वाले जन्तु फिर भी ठन्डक में रहते हैं।

शाला के निर्देशक ४८ वर्षीय डाक्टर मुखर्जी हैं, जो ब्रिटेन, अमेरिका और जर्मनी ही नहीं बल्कि चीन, जापान, फ्रांस, बेल्जियम, स्विटजरलैंण्ड, आदि देशों का भ्रमण किए हुए हैं, और वहां की प्रयोगशालाओं तथा कार्य का प्रचुर अनुभव रखते हैं। भारतीय वैज्ञानिकों की क्षमता में इनका असीम विश्वास है। इनका कहना है कि जिस प्रकार स्विटजरलैण्ड, जर्मनी, ब्रिटेन और अमेरिका में नित्य नयी दवाओं की खोज होती रहती है, उसी प्रकार भारत भी इस कार्य में आगे बढ़ सकता है।

प्रबन्ध समिति

देशी चिकित्सा पद्धतियों के सम्बन्ध में खोली हुई इस केन्द्रीय गवेषणाशाला के लिए भारत सरकार ने एक प्रबन्ध समिति नियुक्त की है जिसके सदस्य ये हैं :—डा० सी० जी० पण्डित(अध्यक्ष), डा० एम० विश्वेश्वर शास्त्री, डा० के० एस० म्हास्कारक डा० डी० एन० कुलकार्णी, उत्तर प्रदेशीय चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवाओं के आयुर्वेद विभाग के उपनिर्देशक, डा० बी० बी० योध, कविराज गणेशदत्त सारस्वत, आयुर्वेदाचार्य यादव जी त्रिकमजी, और डा० बी० सुब्रह्मन्यम्। इस समिति में दो सदस्य और बढ़ाये जायेंगे, जिनमें एक संसद तथा एक वित्तमंत्रालय की ओर से होगा।

देशी चिकित्सा पद्धतियों के सम्बन्ध में एक गवेषणा केन्द्र स्थापित करने तथा अन्य सम्बन्धी विषयों के बारे में भारत सरकार को परामर्श देने के लिए डा० सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता में, दिसम्बर १९४६ में एक समिति नियुक्त की गयी थी। उसकी सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए यह प्रबन्ध समिति नियुक्त की गयी है। समिति की इस सिफारिश को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया था कि प्रस्तावित गवेषणाशाला, जामनगर की गुलाब कुंवर आयुर्वेदिक संस्था को मिलाकर खोली जाय।

माननीय राजकुमारी अमृत कौर के भाषण का उद्धरण

"औषधि अनुसंधानशाला की आवश्यकता बहुत दिनों से अनुभव की जा रही थी। किसी भी राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए योजना प्रस्तुत करने में यह नितान्त आवश्यक है कि हम जन-साधारण के लिए रोग-निवारक औषधियों को उचित मूल्य पर सुलभ कर सकें। अपने देश में व्याप्त व्याधियों के शमन के लिए इस समय हमें औषधियों के लिए विदेशों का आश्रित रहना पड़ रहा है और यथार्थतः देश में औषधियों के आयात का मूल्य सन् १९४६ ई० में तो ८ करोड़ रुपए समान भारी धन-राशि तक पहुँच गया था। इन परिस्थितियों में उचित है कि अपने देश के लाखों व्यक्तियों को अपाहिज कर देने वाले या मृत्यु-अंक में शयन कराने वाले रोगों से मुक्ति दिलाने वाली औषधियों के लिए विदेशों पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा उन्हें अपने देश में ही निर्मित किया जाय। यह तभी संभव हो सकता है जब हम सुव्यवस्थित अनुसंधान कार्य से सहायता-प्राप्त सुसंपन्न औषधि-व्यवसाय को अपने देश में पनपा सकें। हमारे उद्योग-पति अनुसंधान की महत्ता समझने में बड़े ही दीर्घसूत्री रहें हैं और मैं आशा करती हूँ कि इस अनुसंधानशाला की स्थापना से उचित प्रोत्साहन प्राप्त हो सकेगा।

"हमारा राष्ट्र रोगों और अपाहिजपन की समस्याओं

को सुलझाने के लिए इस संस्था की ओर उन्मुख होगा। यह तो कुछ शोभा की बात नहीं है कि जो रोग केवल हमारे देश में ही व्याप्त हैं, उनके लिये विदेशों की शोधें ही शमन तथा अवरोध की औषधियाँ प्रस्तुत करें। पिछले २० वर्षों में रोग-निवारक-शक्ति की तीव्र प्रगति हुई है, बहुसंख्यक प्रधान घातक रोगों को वश में किया जा सका है। परन्तु कुछ रोग अब भी प्रबल हैं। फिर भी मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि असाध्य रोगों की जो निवारक औषधियाँ निकलीं वे प्रायः मँहगी ही है इस कारण हमारे अधिकांश देशवासियों की पहुँच के बाहर ही हैं। इस कारण मैं विज्ञान-कर्मियों से विशेष रूप से अनुरोध करूँगी कि वे हमारे भीषण रोग-ग्रस्त देशवासियों की आर्थिक दुरवस्था को ध्यान में रक्खें जिससे वे ऐसी औषधियाँ आविष्कृत कर सकें जो सर्वसाधारण की धन-हीन अवस्था के अनुकूल हो। आजकल सीमित आय के व्यक्ति चिकित्सा से प्रायः वंचित रह जाते हैं जिससे देश को हानि पहुँचती है, अधिक उत्पादन में बाधा पड़ जाती है। अतएव मैं वैज्ञानिकों से साग्रह प्रार्थना करूँगी कि वे देशी चिकित्सा में अनुसंधान करें जिस से उन में प्राप्त लाभदायक औषधि से सहज ही लाभ उठाया जा सके। आशा है संस्था इस दिशा में कार्य करेगी।"

राष्ट्रीय औषधि अनुसंधानशाला के प्रथम संचालक सर एडवर्ड मेलनबी, सदस्य रायल सोसाइटी (एफ० आर० एस०) के भाषण का उद्धरण

"जहाँ तक किसी देश के स्वास्थ्य का सम्बन्ध है, औषधियाँ द्वितीय रक्षा-पंक्ति बनाती हैं। पहली रक्षा-पंक्ति निस्संदेह ही सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग होता है जो इस बात का प्रयत्न करता है या जिसे प्रयत्न करना चाहिए कि पूर्ण सफाई और गंदे पानी के बाहर बहने का प्रबन्ध हो, शुद्ध और यथेष्ट जल सुलभ हो, सुन्दर पुष्टिकर खाद्य पदार्थों का बाहुल्य हो तथा व्यक्तिगत स्वच्छता का उच्च मापदंड हो। जब ये सब बातें पूरी हों तो द्वितीय रक्षा-पंक्ति, तब भी महत्वपूर्ण होने पर, समाज के लिए इतनी अनिवार्य आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु जब पहली रक्षा-पंक्ति दुर्बल हो तो दूसरी रक्षा-पंक्ति को प्रबल बनाना नितान्त आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में स्पर्श के रोगों की अधिकता से यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग में बहुत ही अधिक उन्नति और व्यक्तिगत स्वच्छता का मापदंड ऊँचा करने की आवश्यकता है। जब तक यह न किया जाय तब तक देश संक्रामक तथा अन्य रोगों से आक्रान्त ही होता रहेगा जिनको हम मलेरिया, चेचक, आँव, विशूचिका (हैज़ा), प्लेग, टायफायड तथा टायफस ज्वर नामों से जानते हैं। इन घातक रोगों का शमन तथा अवरोध तभी हो सकता है जब सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के अधिकारी विवेकशील जनता के सहयोग से सर्वोत्तम राजनीतिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक नेतृत्व में अधिक समय तक अनवरत उद्योगशील रहें। यह सत्य है कि इन रोगों में से कुछ के शमन की तथा अवरोध की कुछ चिकित्साएँ हैं किन्तु जब तक शक्ति-शाली सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के सहयोग में व्यक्ति काम न करें तब तक वे औषधियाँ व्यक्तियों के लिए बहुत उपादेय होने पर भी व्यापक संक्रामक रोगों के संघर्ष में विजय पाना कठिन ही है।

"औषधियों में विशेष रुचि रखने की आवश्यकता भारत के लिए एक अन्य इस कारण से भी है कि यद्यपि इन पदार्थों का भारी आयात विदेशों से होता है, तथापि उन में से बहुत सी औषधियाँ उन बनस्पतियों से बनी होती हैं जो भारत में अच्छी तरह उत्पन्न होती हैं। कर्नल चोपरा ने इस विषय पर विशेष कार्य किया है और उन्होंने अपनी गवेषणाओं तथा स्फूर्तिदान से इस परि-स्थिति के निराकरण करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। यह एक विस्मय की बात है कि जहाँ प्रामाणिक औषधि निर्माण विद्या के अनुकूल जो औषधियाँ बनती हैं, उन

में से अधिकांश वनस्पति इस देश में ही उत्पन्न होती है। तथापि इनमें अधिकांश औषधियाँ भारी मात्रा में विदेशों से आयात होती हैं। कुछ अवस्थाओं में तो वनस्पति तथा अन्य कच्चे माल भारत से निर्यात होते हैं और उन्हीं का विशुद्ध किया हुआ रस या सत चिकित्सा कार्य के लिए फिर भारत में आयात होता है। राष्ट्रीय दृष्टि से यह केवल आर्थिक हानि हैं और परिणामतः हमें इस प्रकार से आयात होने वाली अनेक औषधियों को मँगाने के स्थान पर देश में निर्मित करने का उद्योग करना चाहिए। पुनः यह एक ऐसी समस्या है जिसमें खोज के स्थान पर केवल उद्योग की ही आवश्यकता है। यह इस संस्था का एक मुख्य उद्देश्य होगा कि शिल्पिक परामर्श दे, भारी पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता बतावे, और जहाँ आवश्यक हो, कुछ प्रसिद्ध औषधियों के लिए नए स्रोत ढूंढ़े निकाले जिससे भारतवर्ष शीघ्रातिशीघ्र इन औषधियों के लिए स्वावलंबी हो जो हम अपने प्राकृतिक साधनों से ही तुरन्त उत्पन्न कर सकते हैं।

"यह विश्वास करने के अनेक कारण हैं कि भारतीय संस्कृति ने चिकित्सा की नींव डालने और विशेष कर काष्ठ औषधियों की चिकित्सा पद्धति में विशेष भाग लिया। उसके आविष्कारों ने प्राचीन यूनान और रोम की चिकित्सा पद्धतियों को बहुत अधिक प्रभावित किया जिसके फल स्वरूप पूर्वकालिक भारतीय ज्ञान को अंततोगत्वा पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति ने अधिकांश रूप में अपने में, सन्निविष्ट कर लिया। सचमुच यह कहा जा सकता है कि इस शताब्दी के प्रारम्भ तक पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति केवल अधिकांश रूप में उपचार ही रहा है जिसका आविष्कार तथा व्यवहार पूर्व और मध्य पूर्व के देशों—भारत, यूनान, अरब, और फारस आदि ने किया था। अधिकांश औषधियाँ लक्षणात्मक और दुखनाशक थीं जो सब प्रकार की पीड़ा हरण करतीं जैसे कफ, ज्वर, मंदाग्नि, तथा अन्य व्याधियाँ। व्याधि के मूल को इनमें से कोई भी स्पर्श नहीं करती। जब मैंने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया तो प्रायः रोग के मूल को नष्ट करने की दृष्टि से रोगनाशक औषधि—'व्रण-विकृति विरोधी औषधियों' को छोड़कर केवल मलेरिया में उपयोग की जाने वाली कुनैन और आँव में प्रयुक्त इपिकाक औषधि थी। उपदंश में पारा और आयडिन का भी व्यवहार ऐसी औषधि थी। ये औषधियाँ भी संयोग से ही उपयोग में आने लगी थीं, रोगों के कारण का उस समय तक भी कुछ ज्ञान नहीं था। सन् १६११ ई० में जब से एहलरिच द्वारा उपदंश-संहारक औषधि का आविष्कार हुआ, तब से नियमित रूप से अनेक रासायनिक औषधियाँ आविष्कृत होती गई।

निस्संदेह ही आज यह अतिशयोक्ति नहीं है कि प्राचीन और मध्य काल की घातक बीमारियों में से अधिकांश आज निवारण की जा सकने वाली हैं। इसका प्रमाण यह है कि आज इंगलैंड और अमेरिका में उत्पन्न हुआ बालक अपनी औसत आयु ६५ वर्ष होने की आशा रख सकता है। ये सब आशाएँ न्यूनाधिक रूप में भारत में भी कदाचित आशा से भी पूर्व ही प्रसारित हो सकेंगी क्योंकि इस संस्था के सम्बन्ध में सब से बड़ी बात मेरे मस्तिष्क में यह बात आ रही है जो यह प्रकट कर रही है कि भारत सरकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पूरी शक्तियों को जन साधारण के कल्याण के लिए प्रयुक्त कर देने को सन्नद्ध है।

"मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यद्यपि भारतीय चिकित्सा का प्राचीन पद्धति में अद्वितीय स्थान रहा है अर्थात लाक्षणिक और उपचार औषधियों का उसने आविष्कार किया है तथापि चिकित्सा की नवीनतर तथा अधिक प्रभावोत्पादक विधि के आविष्कारों में उसने व्यवहारतया कुछ भी भाग नहीं लिया है। यह स्पष्ट है कि भारत की वर्तमान राजनीतिक क्रियाशीलता का उत्प्रेरक एक उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की समस्याओं के निराकरण में महत्वपूर्ण भाग लेना है और इस में सन्देह

नहीं कि इस उत्कंठा का प्रसार राजनीतिक क्षेत्र के साथ साथ वैज्ञानिक क्षेत्र में भी है जिसके अंतर्गत चिकित्सा विज्ञान भी सम्मिलित है। प्राचीन काल में चिकित्सा पद्धति के आविष्कार के यशलाभ की भारतीय मर्यादा विवश करती है कि नवीन रोगनिवारक औषधियों का आविष्कार कर रोगों के विपक्ष आधुनिक संघर्ष में भारत भी आज भाग लेने का गौरव प्राप्त करे। चिकित्सा-जगत की इस ललकार को स्वीकृत करना भी इस अनुसंधानशाला का एक उद्देश्य होगा।''

जन्तु-शाला का उद्घाटन

केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला के संचालक डा० बी० मुकर्जी ने जंतुशाला के उद्घाटन के अवसर पर १२ जनवरी, १९५२ को जो भाषण दिया उसका मुख्य उद्धरण नीचे दिया जाता है:—

''आधुनिक औषधि अनुसंधान में अनेक शिल्पीय कठिनाइयाँ हैं तथा उसके लिए उच्चकोटि के दीक्षाप्राप्त व्यक्ति, संवेदनात्मक यंत्र तथा उपकरणों के साथ-साथ जन्तुओं के साथ बड़े पेचीदे ढंग के परीक्षणों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की गवेषणा में सहायता के लिए ही इस जंतुशाला का निर्माण हुआ है जिसे आप सामने देख रहे हैं। इसका उद्घाटन शीघ्र ही संसार के एक मान्य रसायनवेत्ता, बेसल, स्विज़र्लैंड के डाक्टर आर्थर स्टाल के हाथों होने जा रहा है।

''इस बात का अधिक दिनों से अनुभव किया जा रहा है कि जीवविज्ञान और चिकित्सा संबंधी अनुसंधानों के लिए एक जंतुशाला की आवश्यकता है। आज से बहुत पहले सन् १९२० ई० में मानव आहार विज्ञान के विख्यात अनुसंधान कर्त्ता सर राबर्ट मेककैरिसन ने पशुओं के प्रजनन और पोषण के एक उपयुक्त जन्तुशाला स्थापित करने की आवश्यकता बतलाई थी जिससे वे आहार के अभावगत अवयवों तथा विटामिन के संबंध में अपने परीक्षण संचालित करने में समर्थ हो सकें। उनके प्रयत्न से दक्षिण भारत के कुनूर के उनके अस्थायी अनुसंधान केन्द्र में एक छोटी जंतुशाला प्रारंभ की गई। कालान्तर में चिकित्सा-जगत तथा जीव-विज्ञान संबन्धी अनुसंधान-शालाओं के अनेक कार्यकर्त्ताओं ने अपनी प्रयोग-शालाओं के सन्निकट जंतुओं के रक्खे जाने की सुविधा होने की आवश्यकता अनुभव की। किन्तु धनाभाव तथा अन्य कठिनाइयों के कारण एक सुसंगठित जंतुशाला स्वतत्र रूप से स्थापित करना सम्भव न हो सका। केन्द्रीय गवेषणा मंदिर कसौली, शिमला पर्वत, हाफकिन इंस्टिट्यूट, बम्बई, स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिन (उष्ण प्रदेशीय चिकित्सा विद्यालय) कलकत्ता तथा गिंडी अनुसन्धानशाला, मद्रास, अपनी प्रयोगशालाओं से संबंधित जंतुशालाएँ रखती हैं। किन्तु लखनऊ में आज हम जिस जंतुशाला का उद्घाटन समारोह करने जा रहे हैं उसकी तुलना का कोई भी दूसरा पृथक और स्वतन्त्र जन्तु-गृह भारत में देखने को नहीं मिल सकता। जिस समय एक केन्द्रीय औषधि अनुसन्धानशाला स्थापित करने की योजना संयोजित हो रही थी उसी समय उससे सम्बद्ध एक स्वतंत्र जन्तुशाला रखने का विचार एक निश्चित रूप धारण कर सका था और डा० शान्ति स्वरूप भटनागर, संचालक, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान के भगीरथ प्रयत्नों से भारत में प्रथम जन्तु-शाला का स्थापन सम्भव हो सका है।

यह बात अब सब लोगों द्वारा स्वीकार की जाती है कि जीवविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान में किसी भी प्रगति के लिए प्रयोगशाला के जंतुओं पर सावधानतया और विवेक पूर्वक परीक्षण एक आवश्यक रूप से प्राथमिक आवश्यकता है। उष्ण प्रदेशों के रोग के तथा उनकी चिकित्सा के क्षेत्र में लगभग सभी अन्वेषण प्रयोगशाला के जन्तुओं पर परीक्षण करने से ही सम्भव हो सके हैं। मलेरिया अवरोधक नवीन औषधियाँ जो हमारे पास आज सुलभ हैं और जो हमारे देश में मलेरियाजन्य अति व्यापक मृत्यु संख्या तथा कृशता का निराकरण करने में

केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला की रसायनिक प्रयोगशाला में डा० शान्ति स्वरूप भटनागर, श्रीमती मेलेनबी तथा प्रधान मंत्री श्री० जवाहर लाल नेहरू
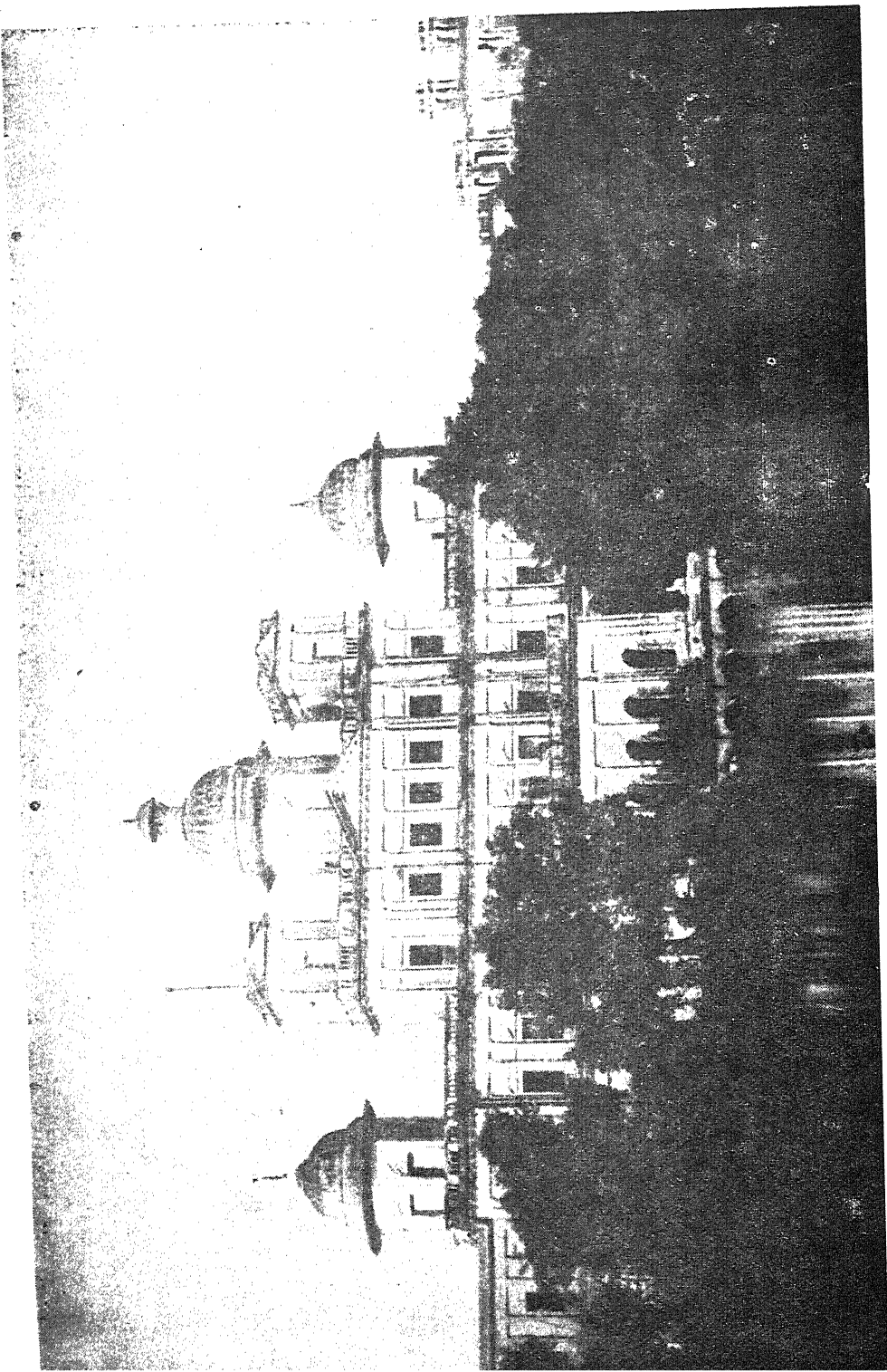
केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला (छतर मंजिल, लखनऊ)

सहायता कर रही हैं, वे इस कारण ही संभव हो सकी हैं कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में जर्मन वैज्ञानिक मलेरिया-ग्रसित जन्तुओं का अपने प्रयोगों में व्यवहार कर सकें तथा कालान्तर में अमेरिकन और ब्रिटिश वैज्ञानिक अपने प्रयोगात्मक कार्यों के लिए मलेरिया-ग्रसित मुर्गियों तथा बन्दरों का उपयोग कर सके। मानव आहार विज्ञान का हमारा सभी आधुनिक ज्ञान, जिसमें प्रोटीन और विटामिन के नवीनतर ज्ञान भी सम्मिलित हैं, प्रयोगशालाओं में पाले सफेद चूहों पर परीक्षण कर ही संभव हो सका है। खरगोश, सफेद चूहे और गिनी पिग ने अनेक रोगों के रहस्योद्घाटन तथा उनके निराकरण में महत्वपूर्ण भाग लिया है। औषधियों तथा अन्य रसायन चिकित्सात्मक पदार्थों के परीक्षणों में लगभग सभी प्रकार के ठंडे रक्त और उष्ण रक्त के जंतुओं का प्रयोग हुआ है। अतएव यह उचित ही है की भारत की प्रथम औषधि अनुसंधान-शाला में जिस का कार्य रोगों के निवारण के लिए पुरातन तथा नवीन चिकित्साओं का अध्ययन करना है, हमें एक जन्तु-शाला रखनी चाहिए जहाँ नस्ल बढ़ाना, और उनका पालन-पोषण आधुनिकतम वैज्ञानिक और सुविधाजनक अवस्थाओं में कर सकना सम्भव होगा। इस उद्देश्य को सामने रखकर ही केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला में जन्तु-शाला का स्थापन हुआ है। यह यथार्थ में अनुसंधान-शाला के अंदर एक अनुसंधानशाला है और यह आशा की जाती है कि यह केवल केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला के शोधकों के लिए ही उपयोगी सिद्ध नहीं होगी, बल्कि भारत के अन्य स्थानों के अनेक शोध-केन्द्रों के शोधकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें अब भी १००० जन्तु विद्यमान हैं तथा पूर्ण विकसित रूप धारण करने पर एक समय ही इससे दसगुनी संख्या के जंतु रक्खे जा सकेंगे।

इसके भवन की रूप रचना, प्रकाश तथा वायु-संचार की व्यवस्था के लिए विशेष ध्यान रक्खा गया है। यह अंग्रेजी के "E" अक्षर के आकार का भवन है जिसमें बीच वाली भुजा नहीं है। पूरी कुर्सी का क्षेत्रफल १०००० वर्ग फीट है तथा कमरों तथा बरामदों का क्षेत्रफल ७५०० वर्ग फीट है। धरातल पर की मंजिल में दस कमरे हैं जो जन्तुओं के रखने के उपयुक्त हैं। उनका विभाजन इस प्रकार है :—

बाहर से आए नए जंतुओं के लिए पृथक कमरा, नस्ल पैदा करने का कमरा, जंतु-गृह प्रयोगात्मक तथा पर्यवेक्षण कक्ष, प्रयोग के अनन्तर पर्यवेक्षण कक्ष, पृथक कक्ष, शल्य कक्ष, भोजन निर्माण कक्ष, भंडार-गृह, शव-परीक्षण कक्ष, तथा पिंजड़ों की मरम्मत और रंगाई का कमरा। इनके अतिरिक्त एक कार्यालय, भंडार गृह, स्नान गृह, तथा अधिवशन शाला को धरातल की मंजिल और दूसरी मंजिल में रखने का प्रबन्ध है। कमरों में अगले और पिछले भाग में बरामदे हैं जिनमें मक्खियों के लिए रुकावट की जाली लगी है। प्रत्येक विभाग में नल का पानी पहुँचाने का प्रबन्ध है। सब जगह गैस के भी नल लगे हैं जिससे विभिन्न विभागों में जंतुओं के लिए भोजन पकाया जा सके। विशेष निरोधित रूप के किवाड़ों में दुहरी काँच लगने का प्रबन्ध है जिससे यथाशक्ति सम रूप का ही तापमान सर्वदा रहे। बाद में मुर्गियों के दौड़ने घूमने के स्थान, खरगोशों के खेलने-कूदने के मैदान, बंदरों की कंदरा और मेढकों के आश्रय स्थल बनाने की भी व्यवस्था होगी। बाद में यदि आवश्यक हुआ तो घोड़ों के पालने का भी स्थान सुलभ होगा।

जंतुशाला की एक अनुपम और महत्वपूर्ण विशेषता एअर कंडिशनिंग प्लांट है। एअर कंडिशन (वायु के तापमान नियंत्रित) अवस्था में जंतु को रखने की व्यवस्था को प्रयोगशाला में परीक्षार्थ काम में लाकर यह सिद्ध हुआ है कि इस प्रकार की प्रयोगशाला के पोषित पालित जंतु साधारण अनियंत्रित तापमान के वायु में पले जंतुओं की अपेक्षा निष्कर्ष की शुद्धता तथा संगतता की दृष्टि से बहुत ही उत्तम परिणाम प्रगट करते हैं।

स्थिर, विश्वासनीय रूप में वर्ष भर में एक समान तापमान तथा आर्द्रता ऐसी सुविधाएँ हैं जिनका शरीर विज्ञान के प्रयोगों से परिचित कोई भी व्यक्ति निश्चय ही महत्व अनुभव करेगा। छत्त के रूप के छिद्रबहुल वायु छननों से सर्पिलाकार शीतक नलों में होकर छनी वायु बाहर से जन्तुशाला के कमरों में पहुँचाई जायगी जो कमरे का तापमान ७०° से लेकर ७५° फार्नहीट तक की सुविधाजनक रूप की कर देती है जिसमें आपेक्षिक आर्द्रता ४० से लेकर ५५%तक होगी जब कि बाहर के वातावरण में लखनऊ का तापमान ११५°तक पहुँचता है। इस प्रकार शीतक नलों से छनी हुई हवा लटकी रहने वाली धूल, गर्द और अन्य पदार्थों से पूर्णतया स्वच्छ होकर जंतुओं के कमरे में नियंत्रित तापमान पर पहुँचेगी। प्रयुक्त वायु इन नियंत्रित तापमान के कमरों से वायुनिष्कासक द्वारों से खुले बारजे की ओर भेजी जायगी जिससे जंतुओं को प्रति मिनट ताजी छनी हुई शुद्ध वायु मिलती रहेगी। बहुत अधिक गर्मी के मौसम के अतिरिक्त साधारणतया ७५°तापमान की वायु पहुँचाई जाती रहेगी और सब से गर्म मौसम में भी यह प्लांट इसका निश्चयात्मक ठेका लेता है कि बाहर के वातावरण में साये में जितना तापमान होगा उससे कम से कम ३५°कम के तापमान की शीतता उत्पन्न कर सकेगा। तापमान नियंत्रण व्यवस्था से अनेक प्रकार के जंतुओं के लिए उनके रहने के कमरों में विभिन्न तापमान रक्खा जा सकेगा। इस बात का निश्चित प्रबन्ध है कि कमरों के वायु की आपेक्षिक आर्द्रता ५५% से अधिक न होगी किन्तु अनेक तापमानों की आवश्यकता होने के कारण नीची सीमा तक आपेक्षिक आर्द्रता नियंत्रित करने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। व्यवहारतया अनुसंधानशाला के जंतुओं की सुविधा के अनुरूप ही उसे रखे जाने की आशा की जाती है।

"सभी प्रकार के जन्तुओं के लिए नए ढांचे के पिंजड़ों की व्यवस्था की गई है। धातुनिर्मित पिंजड़े उन प्रामाणिक प्रकारों के हैं जैसे लंदन के मिलहिल में स्थित चिकित्सा संबंधी राष्ट्रीय अनुसंधानशाला (नेशनल इंस्टिट्यूट फार मेडिकल रिसर्च) तथा न्यूयार्क के राकफेलर चिकित्सा गवेषणा मंदिर से सम्बद्ध जंतुशाला में प्रयुक्त होते हैं। प्रामाणिक रैकों पर मढ़े हुए बड़े-बड़े एकाकी पिंजड़ों में कुत्ते रक्खे जायेंगे। बिल्ली, खरगोश, गिनी पिग, चूहे ऐसे छोटे पिंजड़ों में रक्खे जाते हैं जिनको पहिए पर खिसकाया जा सकता है जिससे उनके नीचे की फर्श को पूर्णतया स्वच्छ किया जा सकता है। प्रति रैक १२ पिंजड़े रक्खे गए हैं। हम लोग चाहते थे कि दाग न लग सकने वाले स्टील से उनके पेंदे और छत को बनाया जाय किन्तु कलई किए उपयुक्त धातु के न मिलने से अधिकांश पिंजड़े काली चदरों से बनाए गए हैं। इनको अच्छी अवस्था में रखने के लिए शीघ्र-शीघ्र रंगा लेना पड़ेगा। हमें आशा है कि उनमें से कम से कम कुछ में थोड़े दिनों बाद कलई किए धातु को फिर लगवाया जा सकेगा। दूसरी मंजिल में कुछ पिंजड़े लटकने वाले रैक में होंगे जो पहियों पर दो पटरियों पर फर्श पर चल सके। इस प्रकार पिंजड़े के पूर्ण ढांचों को फर्श से ६ ा ८ इंच ऊपर रखना संभव होगा जिससे छूत, कीड़ों और मकोड़ों से हानि संभव न होगी। यह उल्लेख करते हर्ष होता है कि ये सब पिंजड़ों के ढाँचे इस अनुसंधानशाला से संबद्ध कारखाने में बनाए गए हैं हालाँ कि हमारा लुहारखाना अभी तैयार किए जाने की अवस्था में ही है।

"चिकित्सा और औषधि अनुसंधान क्षेत्र में भविष्य में क्या निहित है, इसे कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता। भविष्य की झाँकी के लिए हम केवल भूत का अध्ययन कर सकते हैं। इस शताब्दी के दो चतुर्थांशों में विज्ञान और चिकित्सा के विश्व भर के शोधकों ने बहुत कुछ किया है। हमारे पितामहों के समयों के कितने ही रोग शोध और गवेषणा ों के सम्मुख पछाड़ खा गए हैं। और हमारे चिकित्सकों की आयुधशालाओं में बहुत सी अव्यर्थ औषधियाँ हैं जो पूर्वकाल

में सर्वथा अज्ञात थीं। जितने वर्षों तक मनुष्य जीवित रहने की आशा कर सकता था, उसकी अवधि ऊँची हो गई है। इस केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला का उद्योग होगा कि इस जीवनाशा की अवधि को वर्द्धमान करने के लिए नई औषधियों का आविष्कार करे तथा पुरानी औषधियों की रोगनिवारण तथा अवरोध करने की शक्ति की पुनः शोध करे। इन उद्योगों में जंतुशाला द्वारा भी योगदान प्राप्त होगा। इस दिशा में सफलता मिलने का कोई निश्चय नहीं किन्तु हमें यह आशा है और विश्वास होता है कि इन क्षेत्रों में गवेषणा के लिए भारत में हम वह वातावरण उत्पन्न कर सकेंगे जो सफलता की ओर अग्रसर करा सकेगा। हमें अपने भारतीय युवा कार्य कर्ताओं में विश्वास है और उपयुक्त उत्प्रेरणा एवं सुविधाएँ प्रदान की जाने पर वे हमारे द्वार पर सफलता को ला पटकने में समर्थ हो सकेंगे। संसार भर में युवा वैज्ञानिक आगे पग बढ़ा रहे हैं। उचित पथप्रदर्शन करने पर भारत में भी वही सफलता प्राप्त करने में क्या सन्देह हो सकता है!

"भविष्य का मार्ग पेचीदा है और फल मन्द गति से प्राप्त होंगे किन्तु इतना तो पहले से ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक पग जो इस दिशा में बढ़ेगा वह हमारे रोगग्रस्त देश के वासियों को विमल सुख और स्वास्थ्य प्रदान करने में सहायक होगा। आगामी वर्षों में हम पास्तूर के शब्दों से अनुप्रेरित और पथप्रदर्शित होंगे जो एक अडिग बुद्धि का पुरुष था जिसने भविष्य की ओर दृष्टिपात किया और कहा कि "भविष्य के भोक्ता वे ही हैं जो लोककल्याण के लिए सर्वाधिक उद्योग करते हैं।" केन्द्रीय औषधि अनुसंधानशाला के हम लोगों ने इस देश में औषधि अनुसंधान की दीप-शिखा को प्रज्ज्वलित रखने का बीड़ा उठाया है और हमें आशा है कि लखनऊ तथा अन्य स्थानों के विश्वविद्यालयों तथा चिकित्सा विद्यापीठ के सहकर्मियों की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त होने पर हम कम से कम कुछ रचनात्मक कार्य कर सकने में समर्थ होंगे जो हमारी आगामी पीढ़ी के लिए एक दृढ़ भवन की सफलता पूर्वक आधारभित्ति स्थापन करने में समर्थ हो सकेंगे।"

केन्द्रीय ईंधन अनुसन्धानशाला

(National Fuel Research Institute)

यह अनुसन्धानशाला बिहार प्रान्त में धनबाद से १० मील दक्षिण की ओर जीलगोरा नामक स्थान पर स्थित है। केन्द्रीय सरकार ने जब सन् १९४४ में इस प्रकार की अनुसन्धानशाला खोलने की एक योजना बनाई, तब इसके लिए उचित स्थान की खोज की गई। सन् १९४५ में यह स्थान ले लिया गया और १७० एकड़ भूमि पर एक विशाल अनुसन्धानशाला बनने का काम आरम्भ हुआ। इसका शिलान्यास १७ नवम्बर सन् १९४६ को माननीय श्री सी० एच० भाबा ने किया और सन् १९४७ से पूर्ण रूप में काम आरम्भ हो गया।

अनुसन्धानशाला की इमारतें

इसकी मुख्य-मुख्य इमारतों का वर्णन यहाँ संक्षेप में किया जावेगा।

सामने की इमारत—इसका क्षेत्रफल १४००० वर्ग फ़ीट है और यह सिन्द्री रोड के सन्मुख स्थित है। इसमें अनुसन्धानशाला के दफ्तर व पुस्तकालय हैं।

प्रयोगशाला की इमारत—सामने की इमारत से फिर हम प्रयोगशाला में पहुँचते हैं। यह दोनों एक दालान के द्वारा मिले हुए हैं। इस प्रयोगशाला को ५ भागों में विभाजित कर दिया गया है जिनमें अलग-अलग कार्य होता है। प्रयोगशाला का स्टोर भी इसी इमारत में ही है।

टेकनालॉजी विभाग—यह प्रयोगशाला से २०० गज़ की दूरी पर है। यहां पर रेलवे लाइन ले जाने का भी प्रबन्ध किया जा रहा है। इसमें कोयला आता है, तौला जाता है और फिर तोड़-तोड़ कर अलग रख लिया जाता है। इसी के पास के कमरों में पत्थर के कोयले को जला कर कोक बनाने का प्रबन्ध है। दूसरे कमरे में कोयले को वाष्पीकृत (gasify) कर के आक्सीजन गैस बनाते हैं। कुछ कमरों में कोयले से पेट्रोल बनाने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। शेष भाग में पुर्जे बनाना व मरम्मत करना, बिजली का छोटा स्टेशन, इंजीनियरिंग का स्टोर तथा workshop इत्यादि हैं। इस विभाग के समीप ही विभिन्न कामों के लिए pilot plant का प्रबन्ध है। इसमें छोटे पैमाने पर कोयले का धोना, तोड़ना व पीसना व जलाना आदि का कार्य किया जाता है। इस टेकनालॉजी विभाग से मिला हुआ ही एक छात्रावास है।

प्रयोगशालाएँ—अधिकतर कमरे १८ फ़ीट × २१ फ़ीट के हैं व प्रत्येक में दो वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक के लिए अलग-अलग बेंचें हैं। शुद्ध वायु के आवागमन का भी प्रबन्ध है। यहां सब प्रकार की सुविधाएँ हैं। प्रयोगशालाओं के बीच की दीवालें बहुत हलकी होती हैं और इच्छानुसार अलग की जा सकती हैं। प्रकाश के लिए fluorescent tubes लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त सब प्रकार की आधुनिक सुविधाएँ यहां प्राप्त हैं। Balance व Microbalance के लिए अलग-अलग कमरे हैं।

Air conditioning—इससे प्रत्येक कमरे को ठंडा रक्खा जाता है। भट्ठियों के कारण कमरों में बड़ी गरमी हो जाती है और इसलिए यह आवश्यक है कि उनको आवश्यकतानुसार ठंडा रक्खा जावे। एमोनिया द्वारा यह कार्य किया जाता है। प्रत्येक कमरे में साधारणतः ७८° फ़ा० तापमान व ५५% relative

डा० जे० डब्ल्यू० व्हिटकर, संचालक, केन्द्रीय ईंधन अनुसंधानशाला
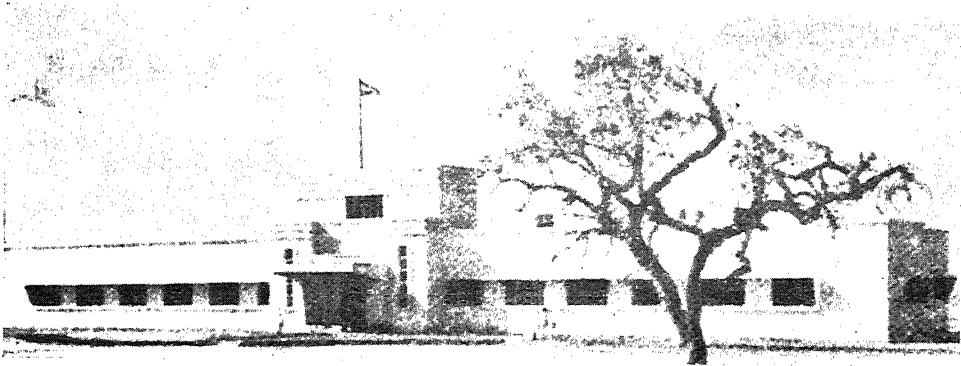
केन्द्रीय ईंधन अनुसंधानशाला

humidity रक्खी जाती है। दूषित वायु को ऊपर की ओर पाइप द्वारा निकाल दिया जाता है।

पानी, कोल गैस, बिजली, दबी हुई (compressed) वायु व वैकुअम का उचित प्रबन्ध सारी प्रयोगशाला में है। इन सब के पाइप जमीन के नीचे नीचे प्रत्येक कमरे में ले जाये गए हैं। पानी के लिए १५ फ़ीट चौड़ा व १२० फ़ीट गहरा एक कुआँ है जहाँ से एक टंकी में पानी पम्प किया जाता है। यहीं से सब जगह पानी जाता है।

इस अनुसन्धानशाला के विभिन्न विभागों में टेलीफ़ोन भी लगे हुए हैं जिसके कारण एक दूसरे से लगातार सम्बन्ध स्थापित रखने में बड़ी सहायता मिलती है।

Furniture (अ) **प्रयोगशालाओं में**--बैंचों का ढाँचा एलूमिनियम से बने हुए धातु संकर alloy की नलिका tubing का है। यह बड़ी हलकी होती हैं और सुगमता से हटायी व मिलायी जा सकती हैं। ऊपर 'टीक' लकड़ी १½" मोटी बैंचों पर बिछी हुई है।

(ब) दफ़्तरों में—सब जगह एक सा ही फ़र्नीचर है। केवल पुस्तकालय में लकड़ी की अलमारियाँ हैं, बाकी सब जगह लोहे की अलमारियाँ हैं।

रहने का प्रबन्ध—अनुसन्धानशाला के पदाधिकारियों के रहने के लिए पास ही टेकनालाजी विभाग के पीछे बङ्गले बने हुए हैं।

अनुसंधानशाला का कार्य—यहाँ ईंधन की विभिन्न समस्याओं पर अनुसन्धान किया जाता है। ईंधन (fuel) ठोस, द्रव, व गैस तीनों प्रकार के होते हैं। भारतवर्ष में कहाँ कहाँ व कितना कोयला पाया जाता है, इसका भी हिसाब रक्खा जाता है। कई प्रकार के कोयले होते हैं, अच्छे मेल के भी और घटिया भी। हर प्रकार के कोयले का उचित प्रयोग करना अति आवश्यक है और इसके लिए यह आवश्यक है कि उसको चूरा कर के उसका रसायनिक विश्लेषण किया जाय। जिन-जिन विषयों पर अनुसन्धान हो रहा है, उनमें कुछ ये हैं—भट्टियाँ boilers कम या अधिक ताप पर जलाना, कोयले का पीसना व धोना, उसको वाष्पीकृत करना, पेट्रोल बनाना, टार का hydrogenation. प्लास्टिक इत्यादि।

अनुसन्धानशाला के मुख्य विभाग

(१) कोयले का survey और विश्लेषण
(२) जलाना व उसके by-products
(३) द्रव ईंधन (जैसे पेट्रोलियम आदि)
(४) भौतिक विज्ञान (एक्सरे, स्पेक्ट्रोस्कोपी)
(५) वाष्प ईंधन
(६) इञ्जीनियरिङ्ग
(७) पुस्तकालय
(८) दफ्तर

पदाधिकारियों में सञ्चालक, उपसञ्चालक गण व लगभग ७० निपुण वैज्ञानिक व इञ्जीनियर हैं। कुल ३० लाख रुपए की लागत इसमें लगी है और लगभग ५६ लाख रुपए भिन्न-भिन्न विषयों पर अनुसन्धान करने के लिए और व्यय किए जावेंगे।

आजकल जिन विषयों पर अनुसन्धान हो रहे हैं, उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(अ) भारत में पाए जाने वाले कोयलों का भौतिक व रसायनिक अनुमान

(ब) कोक बनाने के लिए कोयलों की मिलावट,

(स) कोयलों को धोना,

(द) कोयले से तेल निकालना,

(फ) कोयले के चूर्ण को तरह तरह के प्रयोग में लाना।

भारत में लोहा बहुतायत से पाया जाता है और उसे गलाने के लिए कोयले की बहुत मात्रा में आवश्यकता होती है। इस कार्य के लिए कोयले को कई प्रयोगों द्वारा उपयुक्त बनाया जाता है। सबसे अधिक

कोयले की खपत रेलवे में होती है। प्रति वर्ष तीन करोड़ टन कोयला प्रयोग होता है। रेलवे बोर्ड को यदि कोयले सम्बन्धी किसी राय की आवश्यकता पड़ती है तो इस अनुसन्धानशाला से ली जाती है।

जितना खनिज तैल भारत में काम आता है उसका केवल ७ प्रतिशत ही यहाँ पैदा होता हैं। इसलिए कोयले से पेट्रोलियम की तरह का एक ऐसा तैल बनाया जाता है जिससे मोटर कार आदि चलाई जा सकें। इस प्रकार का तैल अन्य देशों में बहुतायत से बनाया जाता है। और इसकी अपने देश को भी आवश्यकता है। कोयले के चूर्ण को विभिन्न कार्यों के लिए प्रयोग करने के लिए भी खोज की जा रही है। भारतवर्ष में निम्न-लिखित स्थानों पर कोयला पाया जाता है :—

(१) रानीगञ्ज (बङ्गाल) (२) झरिया (विहार) (३) बोकारो-रामगढ़-करनपूरा (विहार) (४) पूर्वी प्रान्त (विन्ध्य प्रदेश) (५) मध्य प्रदेश (६) आसाम

प्रत्येक जगह पर एक प्रयोगशाला है। पहले सब वैज्ञानिकों की शिक्षा केन्द्रीय अनुसन्धानशाला में ही होती है।

जो काम अभी तक इस अनुसन्धादशाबा में किया जा चुका है :— जगह जगह पाए जाने वाले कोयले के घुलने की मात्रा,.... (synthetic) तैल बनाना (फ़िशर ट्राप्श के तरीके से) लगभग ३०० से अधिक प्रकार के कोयलों का भौतिक व रसायनिक विश्लेषण।

आजकल जो अनुसंधान कार्य हो रहे हैं, उनमें से यह मुख्य हैं :—

(१) कोयलों के घुलने की शक्ति,

(२) Froth floatation

(३) भारतीय कोयलों का घनत्व,

(४) उनको दबाव के साथ जलाकर कोक बनाना,

(५) कम ताप मान पर जलाना

(६) कोयले की बनावट पर प्रयोग

(७) फ़िशर ट्रप्श synthesis

(८) धरातल रसायनशास्त्र (surface chemistry)

(९) coal petrography

विश्लेषण—रसायन में निम्न तरीके मुख्य हैं :—

(अ) कोयले में कारबन व हाइड्रोजन की मात्रा Bomb calorimeter द्वारा ज्ञात करना।

(ब) जल्दी का तरीका जिसमें आक्सीजन के साथ ८५०° तक गरम करते हैं।

(स) कोयले में फासफोरस की मात्रा ज्ञात करना।

(द) पानी (watr of hysation) की मात्रा ज्ञात करना।

(फ) भिन्न-भिन्न प्रकार का सल्फर जो कोयले में पाया जाता है, की खोज करना।

केन्द्रीय चर्म अनुसन्धानशाला

चमड़े का उद्योग भारतीय आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। चमड़ा हमारे निर्यात व्यापार में एक महत्वपूर्ण वस्तु है। पर हिन्द में चमड़े का उद्योग अभी पुरानी लकीर ही पीट रहा है। आज के वैज्ञानिक तरीके उसने अभी इस्तेमाल नहीं किये हैं। हिन्द में खालें संसार के सब देशों से अधिक पैदा होती हैं। उसका अधिकार है कि वह इस उद्योग में संसार का नेतृत्व करे। इस उद्योग में वैज्ञानिक भावना संचारित करने और इसकी रीतियों को आधुनिक बनाने के विचार से केन्द्रीय चर्म रिसर्च इंस्टीट्यूट मद्रास में स्थापित करने की योजना बनाई गई है। मद्रास हिन्द के चमड़े के व्यापार का सब से बड़ा केन्द्र है।

मद्रास की केन्द्रीय चर्म अनुसंधानशाला चमड़ा तथा चमड़ा कमाने के उद्योग संबंधी सभी वैज्ञानिक क्रिया कलापों का केन्द्र बनेगी। यह चमड़ा के शिल्प विज्ञान की बारीक पेचीदगियों का सुलझाव करेगी विशेष-तया भारतीय परिस्थितियों में इस उद्योग की कठिनाइयों का अध्ययन होगा जिससे इस उद्योग की श्रेष्ठता तथा मापदंड उच्च होकर विदेशों का सामना कर सके। इसके कार्य क्षेत्र में अनुसंधान के सभी अंग मूल सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक और विकास सम्बन्धी होंगे। प्रतिक्रियाओं पर वैज्ञानिक नियंत्रण रखने पर विशेष ध्यान दिया जायगा तथा मान्य परीक्षणों से चर्म के भौतिक गुणों का माप निर्धारण करने तथा उत्पादन के यान्त्रिक साधन प्रचलित करने का प्रयास किया जायगा। गवेषणा के विषयों में चर्म शिल्प सम्बन्धित विविध कार्यों का अध्ययन सम्मिलित होगा जिसमें कीटाणु जनित तथा इन्जाइम सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ, ताप के प्रभाव तथा एकाग्रीकरण भी सन्निविष्ट होंगे। अनुसंधानशाला में आदर्श चर्मशाला भी सम्बद्ध होगी। इसके भवन बनाने की योजना पूर्ण हो चुकी है तथा कार्य की प्रगति के लिए परामर्शदातृ समिति भी स्थापित हो गई है।

केन्द्रीय चर्म अनुसंधानशाला

परिशिष्ट १
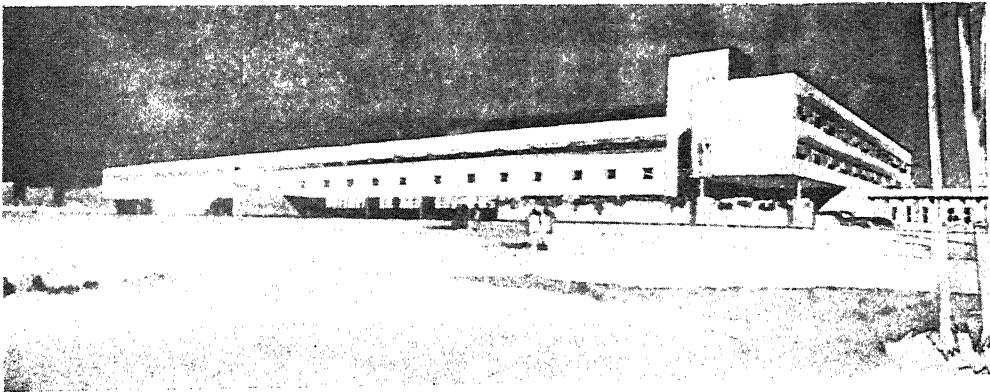
चीनी प्रौद्योग तथा गन्ना गवेषणाशाला

१६ फरवरी, १९५२ को लखनऊ में केन्द्रीय खाद्य-मंत्री श्री के० एम० मुंशी ने 'इंस्टीट्यूट आफ़ शुगर टेक्नोलोजी एण्ड शुगरकेन रिसर्च' का शिलान्यास किया। इस अवसर पर भाषण देते हुए उन्होंने यह आशा प्रकट की कि चालू वर्ष में भारत में कम से कम १२ लाख टन चीनी तैयार होगी जबकि पिछले वर्ष ११·१ लाख टन तथा १९४९-५० में ९·८ लाख टन तैयार हुई थी। उन्होंने कहा कि यदि वर्तमान तथा विस्तृत उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जाय तो वर्ष में १५ लाख टन चीनी तैयार करने का निर्धारित लक्ष्य दुष्प्राप्य नहीं है।

श्री मुंशी ने कहा कि इस गवेषणाशाला को अपने गवेषणा तथा विस्तार कार्यों में तीन मुख्य बातों का ध्यान रखना चाहिये। पहली, गन्ने की उपज में वृद्धि, दूसरी प्रौद्योगिक कार्य-कुशलता तथा तीसरी चीनी उत्पादन के नये तथा सस्ते साधनों का पता लगाना। उन्होंने कहा कि यदि इस शाला का ठीक ढंग से विकास हुआ तो एशिया में यह अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेगी।

अपने भाषण में खाद्य-मंत्री ने कहा कि भारत में चीनी उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश में ही केन्द्रित है अतएव यह उचित ही है कि लखनऊ में इस शाला की स्थापना की जा रही है। संयोगवश अब लखनऊ में दो महत्वपूर्ण शालाएँ हो जायँगी—औषधि गवेषणाशाला तथा यह चीनी प्रौद्योग और गन्ना गवेषणाशाला।

उन्होंने कहा कि यदि अन्न की फसल के स्थान पर गन्ने की फसल बोई जायगी तो भारत के लिये यह अत्यंत हानिप्रद होगा। अतएव, हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि हम कृषि-विस्तार की अपेक्षा भरपूर खेती के द्वारा उपज में वृद्धि करें।

मेरे विचार से ऐसी तीन बातें मुख्य हैं, जिनकी ओर हमारे गवेषणा तथा विस्तार-कार्यों को केन्द्रित करना चाहिये। इनमें से एक है अधिक पैदावार। आज हमारी प्रति एकड़ पैदावार केवल १½ से ३ टन तक की है, जब कि हवाई और जावा की प्रति एकड़ पैदावार ८ टन है। पेरू और मिश्र की पैदावार भी हमसे अच्छी है। दूसरी बात है प्रौद्योगिक कार्य-क्षमता की वृद्धि। शाला को माल तैयार करने की क्षमता सुधारने और लागत-खर्च कम करने की ओर भी पूरा ध्यान देना चाहिये। तीसरी बात है उत्पादन के नये साधनों के संबंध में। जो चीज अभी हम बेकार समझते हैं, उससे भी चीनी निकालने की बड़ी गुंजाइश है। हमें चीनी तैयार करने के नये तथा सस्ते साधनों की भी खोज करनी चाहिये।

शाला का कार्य-क्षेत्र काफी विस्तृत है, और देश को उससे बड़ी-बड़ी आशायें हैं। उसे गन्ना पैदा करने वाले किसानों का भी सहयोग प्राप्त करना होगा, और इसकी सुविधा के लिए शाला में एक विस्तार-विभाग भी रहना चाहिये।

मुझे मालूम हुआ है कि चीनी उद्योग की ओर से भी एक पृथक प्रौद्योगिक शाला खोलने की योजना बनाई गयी है, तथा उसके लिए धन एकत्र किया गया है। औद्योगिकों से मेरी प्रार्थना है कि वे व्यर्थ का दुहरकम न करें, अधिक अच्छा होगा यदि वे अपने साधनों को जुटाकर समिति के साथ मिलकर काम करें और इस शाला को एक महान संस्था बनाने में सहायता दें।

श्री मुंशी के भाषण से पहले खाद्य व कृषि उप-मंत्री और केन्द्रीय गन्ना कमेटी के अध्यक्ष श्री एम० तिरुमल राव ने भी अपने स्वागत-भाषण में जोर दिया कि हमें

अच्छे गन्ने की प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाने का पूरा यत्न करना चाहिये और कमेटी की पंचवर्षीय योजना का भी यह एक लक्ष्य है। उन्होंने कहा कि देश में गन्ना, चीनी और गुड़ का उत्पादन बढ़ाने के लिए किसानों, कारखानेदारों, व्यापारियों तथा गवेषणा-कर्मियों, सभी को सम्मिलित प्रयास करना चाहिये।

परिशिष्ट २

विज्ञान की सहायता से उद्योग की उन्नति

(राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के कार्य पर एक दृष्टि)

[डाक्टर एस० एस० भटनागर (एफ़० आर० एस०) तथा डाक्टर एस० डी० महन्त]

मैसूर तथा नयी दिल्ली और कलकत्ता तथा पूना जैसे एक दूसरे से दूर स्थानों में स्थापित हमारी अनेक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं, आज, भारतीय अर्थ व्यवस्था के विविध पक्षों से सम्बन्धित भारी समस्याओं को, विज्ञान की सहायता से हल करने के लिए कार्य-व्यस्त हैं। यद्यपि उनकी ओर से हम किन्हीं बड़े आविष्कारों का दावा नहीं कर सकते, किन्तु प्रधान-मंत्री के ही शब्दों में, कहा जा सकता है कि लड़कों युवा पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा "अनवरत गति और मौन भाव से किये जाने वाले इस कार्य से बहुतेरी समस्याएँ सुलझी हैं और वास्तविक गवेषणा कार्य की नींव पड़ चुकी है।" अबतक ऐसी सात शालाएँ खोली जा चुकी हैं, और चार अन्य खुलने को हैं। उद्योग के क्षेत्र में उनके कार्य से जिस प्रकार सहायता मिली है, उसका संक्षिप्त विवरण नीचे लिखी पंक्तियों में मिलेगा।

राष्ट्रीय रसायनशाला

आर्थिक दृष्टि से तम्बाकू और तेल वाले बीजों की फ़सलें भारत के लिए विशेष महत्व रखती हैं, और पूना की राष्ट्रीय रसायनशाला में किये गये कार्य के परिणाम स्वरूप कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ निकाली जा सकी हैं, जिनके द्वारा इन बीजों से पूरा-पूरा लाभ उठाने में देश को काफ़ी सहायता मिल सकती है। भारत में तम्बाकू की जो फ़सल होती हैं, उसमें से लगभग ६८.४४ करोड़ पौंड तम्बाकू परिशोधित रूप में विदेशों को भेजी जाती है। किन्तु इस परिशोधन में तम्बाकू का लगभग १० करोड़ पौंड ऐसा कूड़ा-करकट (डंठल, आदि) बच जाता है, जिसका इस देश में अबतक प्रायः कोई भी उपयोग नहीं हो पाता था। उक्त रसायनशाला ने ऐसी विधि निकाली है, जिसके द्वारा अब तम्बाकू के इस कूड़े से 'निकोटीन' निकाल कर, उसका उपयोग एक कीटाणु-नाशक द्रव्य के रूप में किया जा सकेगा। इस प्रकार प्राप्त निकोटीन देश में भी काम आ सकेगी, और विदेशों को भी भेजी जा सकेगी।....इसी प्रकार तम्बाकू के बीजों से रंग-रोगन के काम आने वाला तेल तैयार करने की एक नयी विधि भी निकाली गयी है, जो पेटेंट कराई जा चुकी है और जिसका उपयोग अब व्यापारिक क्षेत्र में किया जा सकता है।

नीम का जमाया तेल

इसी प्रकार नीम, कमला, पीसा, खाकन, फुलवारी, आदि बीजों के सम्बन्ध में भी गवेषणा की गयी है और

पता चला है कि पीसा, खाकन और फुलवारी बीजों के तेल को साबुन बनाने के काम में नारियल के तेल की जगह इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसे तरीके निकाले गये हैं, जिनके जरिये नीम के तेल से उसकी दुर्गंध, आदि दूर की जा सकती है और उसका शुद्ध तेल जमाया जा सकता है, तथा उससे उच्च कोटि की 'स्टीयरिक एसिड' निकाली जा सकती है, तथा तेल का उपयोग साबुन बनाने में किया जा सकता है। कमला के तेल को तुंग तेल की जगह इस्तेमाल कर सकने की भी विधि निकाली गयी है, यह तेल रंग-रोगन बनाने के काम आ सकेगा।

'डाइकेल्शियम फास्फेट' और फास्फेटिक जाति की विशेष प्रकार की कुछ नकली खादों के सम्बन्ध में भी छानबीन की गयी है और प्रयोग के तौर पर उन्हें तैयार करने के लिये रसायनशाला में नमूने के कारखाने खड़े किये गये हैं। अभी ये खादें भारत में तैयार नहीं होतीं।

केन्द्रीय खाद्यशाला

मैसूर की केन्द्रीय खाद्य गवेषणाशाला में नये खाद्यों की खोज की जा रही है। मूँगफली से ऐसा दूध और दही तैयार किया गया है, जो देखने तथा स्वाद में गाय के दूध-दही से मिलता-जुलता है। इसका लागत-खर्च भी गाय के दूध का आधा है और स्कूलों में इसे इस्तेमाल कराने से पता चला है किये ये गाय के दूध-दही की ही भाँति पोषक हैं।....टेपिओका और मूँगफली के मेल से पुष्ट अन्न तथा आटा तैयार करने का भी यत्न हो रहा है। इसके अतिरिक्त यह शाला मोटे अन्नों को शोध कर उन्हें चावल खाने वालों के लिए रुचिकर बनाने का भी यत्न कर रही है।

कांच प्रयोगशाला

राजस्थान में जो नमक तैयार किया जाता है, उसकी 'साल्ट-केक' नामक एक चीज अबतक प्रायः बेकार ही जाती रही है। कलकत्ते की केन्द्रीय कांच प्रयोगशाला में की गई छानबीन से पता चला है कि साल्ट-केक का इस्तेमाल 'एम्बर कांच' तैयार करने के लिए आवश्यक सज्जी-मिट्टी (सोडा एश) के बदले में किया जा सकता है।....रेलवे के सिगनलों में काम आने वाले लाल, नीले और पीले रंग के शीशे तैयार करने के संबंध में भी इस शाला ने जांच-पड़ताल की है और नमूने के तौर पर कुछ शीशे तैयार किये गये हैं, जिन्हें रेलवे अधिकारियों ने संतोषजनक माना है।

मिले हुए कच्चे धातुओं की खोज बढ़ा दी गयी है। गंधक और गंधकीय यौगिकों के जो भू-भंडार तारादेवी (शिमला), अमजोर (बिहार), गलाढाल (मैसूर) और विनाड (नीलगिरि) में प्राप्त हैं, उनके सम्बन्ध में अनुसंधान किया जा रहा है। कारवार में भी इन यौगिकों के कुछ भंडार का पता चला है....जीलगोरा (बिहार) स्थित ईंधन गवेषणाशाला ने पता लगाया है कि कोयले में मिले गंधकीय यौगिकों को अलग निकाला जा सकता है। इस प्रकार, कोयले से देश को प्रति वर्ष ६,०००टन गंधक प्राप्त हो सकेगा, जब कि उसकी वार्षिक आवश्यकता ५०–७० हज़ार टन है।....शाला ने कोयले की धुलाई के सम्बन्ध में भी छानबीन की है, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी बोकारो और जमदोबा (झरिया) में कोयला धोने के दो कारखाने चालू किये हैं। इस धुलाई के परिणामस्वरूप निम्न कोटि का कोयला लोहा व इस्पात तैयार करने के काम में लाया जा सकेगा, और उच्च कोटि-धातु शोधक कोयले के खर्च में बचत होगी। कोयले के विषय में अनेक अन्य बातों का भी पता लगाया गया है।

सूर्य-ताप

नयी दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में धूप से शक्ति प्राप्त करने और उसे व्यवहार में ला सकने के सम्बन्ध में प्रयोग किये जा रहे हैं। शाला में इस समय एक ऐसा इञ्जन है, जो केवल सूर्य-

ताप और वायु की शक्ति से चलता है। सूर्य से इस प्रकार प्राप्त शक्ति को खाना पकाने और पानी गर्म करने के काम में लाने के लिए आवश्यक यंत्र तैयार करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

विविध यन्त्र

एक ऐसा यन्त्र तैयार किया गया है, जिसकी सहायता से यात्रियों, आदि के थैलों या बंडलों में रखी धातु की वस्तुओं का पता लगाया जा सके। ये यन्त्र सीमा-शुल्क अधिकारियों के बड़े काम के होंगे, क्योंकि ये लोग सामान में छिपा कर सोना या विदेशी सिक्के लाने वालों की तलाश में अक्सर रहा करते हैं।....ऐसी विधि की भी खोज हो रही है, जिसके द्वारा विद्युत यन्त्रों की सहायता से पता लगाया जा सके कि अवैध तरीके से भारत में लायी जाने वाली अफीम वहाँ की बनी है। यन्त्र के जरिये अफीम की बनावट तथा अणुओं का अध्ययन करने से यह पता लगाया जा सकेगा कि वह किस देश की है।....

ब्रह्मांड-रश्मि (कासमिक रेज़) के विषय में भी इस शाला में प्रयोग किये जा रहे हैं।

विकास कारपोरेशन

किन्तु गवेषणा द्वारा प्राप्त परिणामों को राष्ट्रीय विकास कार्य के लिये प्रयुक्त करना बहुत ही आवश्यक है। यदि हमारी शालाएँ अनेकानेक प्रक्रियाओं की खोज करती रहें, और उन प्रक्रियाओं को वास्तविक उत्पादन कार्य में जुटाने में असमर्थ रहें, तो सारी गवेषणा और अनुसन्धान व्यर्थ है। इसीलिये सरकार भारत में एक राष्ट्रीय गवेषणा विकास कारपोरेशन स्थापित करने के प्रश्न पर विचार कर रही है। यह कारपोरेशन प्रदर्शन करके बतायेगा कि गवेषणा द्वारा प्राप्त विभिन्न विधियों तथा प्रक्रियाओं का उपयोग उत्पादन के लिये किस प्रकार किया जा सकता है। इस संस्था के शीघ्र ही स्थापित हो जाने से यह खतरा दूर हो जायगा कि शालाओं की खोजें कहीं शालाओं में ही न पड़ी रह जायँ।

———

परिशिष्ट ३

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में रुचिकर प्रयोग

सूर्य से शक्ति की प्राप्ति

विज्ञान ने अनेक चमत्कार कर दिखाये हैं। नयी दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में इन दिनों सूर्य से शक्ति प्राप्त करने के विषय में कुछ ऐसे प्रयोग किये जा रहे हैं, जिनकी पूर्ण सफलता भारत के जन साधारण के लिए प्रायः चमत्कार ही मानी जा सकती है। प्रयोगों के मार्ग में पड़ने वाली कठिनाइयों के दूर करने के लिए डाक्टर के० एस० कृष्णन के निर्देशन में उक्त शाला पिछले दो वर्षों से व्यस्त है।........इन प्रयोगों के इंचार्ज डाक्टर एम० एल० वई हैं। शाला में ऐसी यंत्र-व्यवस्था की गयी है कि उसके द्वारा सूर्य

के ताप से साधारण भोजन पकाया जा सकता है, चाय या काफ़ी तैयार की जा सकती है और पानी गरम किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, सूर्य के ताप से एक छोटा-मोटा मोटर चलाकर सिंचाई के लिए पानी निकाला जा सकता है और इसी ताप से ठंडक भी पैदा की जा सकती है। सूर्य से ताप प्राप्त करने के लिए धातु के एक अच्छे पालिशदार शीशे का प्रयोग किया जाता है। सूर्य की किरणें शीशे पर पड़ती हैं, और शीशा इन्हें एक अँगीठी (कुकर) पर फेंकता तथा केन्द्रित करता है। इस प्रकार प्राप्त ताप से भोजन पकाया जा सकता और पानी आदि गर्म किया जा सकता है।

भारत एक ऐसा देश है जहां सूर्य का प्रकाश प्रायः वर्ष पर्यन्त पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध रहता है। ख़याल है कि इन प्रयोगों के सफल होने से देश में ईंधन की काफ़ी बचत की जा सकेगी और क्या औद्यगिक तथा क्या घरेलू क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तनों की सम्भावना उत्पन्न होगी।

सूर्य से बिजली की तरह की शक्ति प्राप्त करना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है, किन्तु इस ओर भी सोच विचार किया जा रहा है। पूरी आशा है शाला में इस विषय में जो सैद्धांतिक तथा प्रयोगात्मक अध्ययन इस समय जारी है, उससे जन-साधारण को अवश्य लाभ होगा।

परिशिष्ट ४

भारतीय मिट्टी से चीनी मिट्टी बनने लगी

केन्द्रीय कांच तथा मृत्तिका-पात्र-गवेषणा (कलकत्ता) ने यह सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक पोर्सीलियन (चीनी मिट्टी) तैयार करने में भारतीय मिट्टियों का प्रयोग किया जा सकता है। शाला ने नमूने के तौर पर कोठालों, तश्तरियों तथा प्रयोगशाला में काम आने वाले अन्य पात्र तैयार किये हैं, जो विदेश द्वारा निश्चित तत्सम्बन्धी मानों के अनुकूल हैं। इन वस्तुओं को व्यापार के लिए तैयार करने के विषय में भी सोच-विचार किया जा रहा है।

उक्त शाला भारत के भूगर्भ-पर्यवेक्षण विभाग के साथ-साथ, भारतीय मिट्टियों के सम्बन्ध में काफ़ी दिनों से जांच-पड़ताल करती रही है, और यह सफलता उसके इसी प्रयास का फल है। इस प्रकार जबलपूर, ट्रावंकोर तथा अन्य स्थानों की कई तरह की मिट्टियों की जांच की गयी है।

परिशिष्ट ५

भारत की प्रथम विषाक्त-व्रण गवेषणाशाला

विषाक्त व्रण तथा अन्य सम्बद्ध रोगों के लिए उच्च शिक्षा तथा गवेषणा का प्रथम अखिल भारतीय केन्द्र बम्बई में शनैः शनैः किन्तु दृढ़ता पूर्वक सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट, भारत की सरकार तथा विदेशी शिक्षा वृत्तिक प्रतिष्टानों के सहयोगात्मक प्रयत्नों से स्थापित किया गया है।

सरकार, व्यक्तिगत प्रयासों तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि संस्थाओं के निकट सम्पर्क के परिणाम स्वरूप यह केन्द्र सारे एशिया भर में सर्वाधिक अद्यतम तथा सम्यक रूपेण सुसज्जित होगा। विदेशी गवेषणा प्रतिष्ठान तथा विशेषतया संयुक्त राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्थाओं ने बहुमूल्य वैज्ञानिक उपकरणों के क्रय करने एवं विशेष कुशलता-प्राप्त शिल्प-कला में अनुभवी कार्यकर्त्ता तैयार करने के लिए उदारता पूर्वक दान देकर देश के विकास में अपनी अभिरुचि दिखाई है।

संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका की सरकार ने ३०,००० डालर की स्वीकृति विद्युताणवीय सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र (इलेक्ट्रन माइक्रोस्कोप) सरीखे बहुमूल्य यन्त्रों को क्रय करने के लिए दी है जो टाटा मेमोरियल होस्पिटल की प्रयोगशाला और अनुसंधानशाला के सञ्चालक तथा प्राण श्री० वी० आर० खानोल्कर के कथनानुसार "विषाक्त व्रण (कैंसर) समस्या की जटिलता" रूप में कोषों की परा-सूक्ष्म-दर्शकीय खोज-बीन (अल्ट्रा माइक्रोस्कोपिक सेल स्टडीज़) में सहायता प्रदान करेंगे।

टाटा मेमोरियल होस्पिटल, जिसके साथ यह विपाक्त व्रण (ज़हरवाद) गवेषणाशाला सम्बद्ध होगी, के कार्यकर्त्ता वर्ग के छः सदस्य विदेशों से विपाक्त व्रण के शोध कार्य और दीक्षा को प्राप्त कर देश में वापस भी आ चुके हैं।

भारत सरकार ने भारत की विभिन्न चिकित्सा संस्थाओं में शोध-कार्य-कर्त्ताओं को दीक्षित करने की सुलभ सुविधाओं की जाँच करने के लिए एक विशेष समिति नियुक्त की थी, उसके सत्परामर्शों के फलस्वरूप इस भारतीय विपाक्त व्रण गवेषणाशाला के स्थापन का विचार उठा। समिति टाटा मेमोरियल होस्पिटल के कार्यों से इतनी अधिक प्रभावित हुई कि उसने यह अभ्यर्थना की थी कि सरकार अस्पताल के गवेषणा विभाग को अपने अधिकार में इस दृष्टि से ले ले कि इसको कालान्तर में एक अखिल भारतीय विपाक्त व्रण गवेषणाशाला रूप में विकसित कर सके।

सरकारी सहायता

प्रयोगशाला भवन का निर्माण बहुत कुछ प्रगति कर सका है और यह आशा की जाती है कि मार्च तक संस्था कार्य करने लग जायगी। भारत सरकार ने प्रयोगशाला भवन के निर्माण के लिए ३ लाख ४५ हज़ार रुपए की सहायता प्रदान की है। डेढ़ लाख रुपए की एककालिक सहायता वैज्ञानिक उपकरणों के क्रय करने तथा एक लाख रुपए की वार्षिक सहायता कार्यकर्त्ता वृन्द तथा अन्य दैनिक उपयोगों के लिए भारत सरकार द्वारा स्वीकृत हुई हैं।

सर दोराब जी टाटा ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने, जो सरकार के साथ इस संस्था के निर्माण में सहयोग कर रहे हैं, पिछले ११ वर्षों में टाटा मेमोरियल हास्पिटल को ७५ लाख रुपए का दान किया है।

सेंट लुई के वाशिंग्टन विश्वविद्यालय की बर्नसे कैंसर रिसर्च लेबोरेटरी के डायरेक्टर प्रोफेसर एडमंड वी० कौडरी द्वारा, जो भारत सरकार के निमंत्रण पर यात्रा तथा भाषण अभियान पर हमारे देश में तीन मास के लिए पधारे हैं, इस विपाक्त व्रण गवेषणाशाला का उद्घाटन होने की आशा है। वे इस समय टाटा मेमोरियल होस्पिटल में विपाक्त व्रण गवेषणा पर वाद-विवाद, भाषण आदि कार्य संपादित कर रहे हैं।

डा० कौडरी का कथन है कि बम्बई में विपाक्त व्रण गवेषणाशाला की स्थापना अंतर्राष्ट्रीय विपाक्त व्रण आयोग के इतिहास में महानतम घटना होगी जिसके सभापति डा० खानोलकर हैं।

किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा चिकित्सा क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सहायता अधिक अपेक्षित है।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६)

२१—**वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ**—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन. डी० फ़िल० मूल ।।।)

२२—**खाद्य और स्वास्थ्य**—ले०—ड० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फ़िल० मूल्य ।।।)

२३—**फोटोग्राफ़ी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफ़ी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफ़ी के नवीनतम आविष्कारों का समावेश तथा फोटोग्राफ़रों के लिए अनेक नुसखे हैं। सजिल्द मूल्य ४)

२४—**फल संरक्षण**—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक; २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२५—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलधर बडई बी० एस-सी० प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का क्रम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

२६—**मधुमक्खी पालन**—द्वितीय संस्करण ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान, भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधु-मक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नक़शे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

२७—**घरेलू डाक्टर**—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर डक्टर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी०, एम० बी० कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। २६० पृष्ठ, १५० चित्र, आकार बड़ा (विज्ञान के बराबर); सजिल्द; ४)

२८—**उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर**—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३।।)

नवीन पुस्तकें

फसल के शत्रु—ले० श्री शंकर राव जोशी	३।।)
साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी, आयुर्वेदालंकार	४)
पोर्सलीन उद्योग—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०) .. .	।।।)
राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड इलाहाबाद।

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै०उ० ।३।५

भाग ७५ | मेष २००९ अप्रैल १९५२ | संख्या १

शोध-अभियान का संबल

वैज्ञानिक शोध के लिए किन आवश्यक उपादानों की अपेक्षा हो सकती है, शोध-अभियान के लिए किस परिमाण या प्रकार के संबल की आवश्यकता हो सकती है, ये प्रश्न शोध और अविष्कारों के जगत की परिव्रज्या करने की उत्कंठा रखने वाले उदीयमान साधकों वा विज्ञान के साधना-पथ के अनुरक्तों को हो सकती है। क्या सच ही वैज्ञानिक शोध के लिए धन-धान्य, शारीरिक बल, समर्थ गुरु की दीक्षा, असीम अनुभव तथा वृहद् प्रयोग-शाला की नितान्त ही आवश्यकता है ? क्या इन मुख्य उपादानों रूपी नौ मन तेल की शोध रूपी राधिका के नृत्य-रत करने के लिए आयोजना आवश्यक है, अन्यथा नौ मन तेल के अभाव में राधा का नाच नहीं देखा जा सकता ? ये बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन का उत्तर साधना-मार्ग के छोटे या बड़े पथिक को पा ही लेना चाहिए। हम एक एक कर इन उपादानों के अभाव में भी शोध-कार्य को वेगपूर्वक अग्रसर करने वाले महारथियों की ओर एक इंगित मात्र कर इस समस्या की ऊहापोह में आगे बढ़ेंगे।

शोध-कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए क्या योग्य गुरु-दीक्षा या विश्वविद्यालय की कोई बोझिल उपाधि अत्यंत ही आवश्यक है ? इस प्रश्न की ओर ध्यान जाते ही हमारे हृदय में हालैंड के एक ग्रामीण, अर्द्धशिक्षित, ज्ञान और अनुभव से शून्य, अधकचरे कारीगर ल्यूवेन हुक की जीवन-साधना के प्रति श्रद्धा की लहर उमड़ पड़ती है जिसने अपनी ग्राम-सभा के सभा-भवन की दरबानी और बिसाती की मामूली दूकान करते जीवन बिताया किन्तु अपने थोड़े अवकाश में ही रात दिन लगे रह कर, शीशे चमका चमका कर, अणुवीक्षण यंत्रों की रचना कर सूक्ष्म वस्तुओं का पर्यवेक्षण करते रहना अपनी जीवन-साधना बनाया। उसकी अटूट लगन से ही संसार ने पानी की एक बूंद में अगणित कीटाणुओं का दर्शन कर कीटाणु-विज्ञान का आविर्भाव किया। विज्ञान-जगत को उसे ढूंढ़ कर सम्मानित करने की आवश्यकता पड़ी।

क्या प्रयोगों की मर्मज्ञता और भारी प्रयोगशाला भी नितान्त आवश्यक उपादान है ? राबर्ट काच को एक देहाती डाक्टर रूप में भटकते देखने के पश्चात हम

शोध-कार्य का श्रीगणेश होते और रोग का कारण कीटाणु होने का तथ्य प्रमाणित होते पाते हैं, उसे जर्मनी में ही नहीं, प्रत्युत अन्यान्य देशों में अनुप्रेरणा प्रदान कर महत्वपूर्ण शोध-कार्यों की ओर साधकों को अग्रसर करते देखा जाता है।

शिक्षा और उपाधि भी क्या शोध-कार्य के आवश्यक अंग हैं? इस तथ्य को देखने के लिए फैरडे को कभी जीवन के प्रारंभ में बोतल माँजने के कार्य से प्रयोगशाला में प्रवेश करते पाया जा सकता है, परन्तु चुम्बक के क्षेत्र को नर्तित कर बिजली की धारा के प्रादुर्भाव की युगान्तरकारी खोज करने का श्रेय इस साधारण रूप के हेय कार्य से अपने अनुभव बढ़ाते जाने वाले साधक को हम बल पूर्वक प्राप्त करते देखते हैं।

धन या अनुभव का भी स्थान क्या शोध-कार्य में विस्मृत नहीं किया जा सकता? कनाडा में नवसिखुए, बिल्कुल ही अनुभवहीन एक डाक्टर को अपनी डाक्टरी की नई लगाई हुई दूकान उठाते और सामान बेचते देखते हैं, यही नवयुवक डाक्टर किसी गुरुदीक्षा बिना ही मधुमेह की चिकित्सा आविष्कृत करने का सूत्र ज्ञात करता दिखाई पड़ता है। उस की सूझ को व्यावहारिकता का परिधान पहिनाने के लिए टोरंटो विश्वविद्यालय को हम उसकी सहायता के लिए पग बढ़ाते अवश्य देखते हैं, परन्तु आविष्कार की सूझ तो उसके नवसिखुएपन और अनुभवहीनता के अंधकार काल में ही मस्तिष्क में स्थान पा सकी थी।

इस प्रकार के ही नमूने हमें वैज्ञानिक शोध-जगत में मिलते हैं जो उपादानों के भी अभाव में सफलता प्राप्त कर सकने के ज्वलंत उदाहरण हैं। फिर कैसे कहा जाय कि भारी ज्ञान राशि, गंभीर अनुभव और विशालकाय प्रयोगशालाओं की विद्यमानता के बिना विज्ञान की गवेषणाओं का शकट गतिमान किया ही नहीं जा सकता, खोज कार्य को किसी भी प्रकार आगे बढ़ाया नहीं जा सकता। हम इस बात का महत्त्व कम नहीं बताना चाहते कि आज की परिस्थिति में अनेकानेक यंत्रों तथा उपकरणों से सुसज्जित विशाल समुन्नत प्रयोगशालाओं की प्रत्येक शोध का ँ में अन्यंत ही आवश्यकता है। यही नहीं, बल्कि अब तो अनुभज्ञी खोजियों को एक संयुक्त मडली रूप में ही परमाणु-विज्ञान सरीखे युगान्तरकारी विषयों के सबध में खोज कर सकता संभव हो सकना है तथापि यह कहना पड़ेगा कि उपादानों रूप में अनुभव, यंत्रों और उपकरणों से सम्पन्न प्रयोगशालाओं और पुस्तकालयों का महत्व तो अवश्य है परन्तु वैज्ञानिक शोध-नद के प्रवाह को गतिमान करने वाली यर्थाथ शक्ति कार्य की अटूट लगन, भीषण कर्मठता तथा उद्देश्य-सिद्धि के लिए महान त्याग की निश्चय भावना ही है।

पृथ्वी की शिलाएँ

ले० जगपति चतुर्वेदी

पृथ्वी के गर्भ का रहस्य विज्ञान ने किस रूप में प्रस्तुत किया है, इसकी जानकारी बड़ी ही रोमांचकारी है। इनका वर्णन भूगर्भ विज्ञान का मुख्य विषय है। उस विज्ञान के साधारण विषय-निरूपण में यह शिलाओं के संबन्ध में प्रारम्भिक अध्याय है।

जब कभी हमें कोई लम्बी यात्रा करनी होती है तो हम मार्ग के लिए व्यय का हिसाब लगाकर पग उठाते हैं। वास्तव में हमारा यह संबल ही हमारी यात्रा की छोटाई या बड़ाई, लघुता या दीर्घता, सरलता या कठिनता का आभास दे सकता है, किन्तु कितने ऐसे भी साहसी, वीर पुरुष होते हैं जो संबल की चिन्ता न करके भी यात्रा के लिये चल पड़ते हैं और उसे पूरा किए बिना दम नहीं लेते। ऐसी ही सामग्री-हीन और साहसिक यात्रा भूगर्भ विज्ञान की कही जा सकती है जिससे जिज्ञासु खोजियों ने अपनी जिज्ञासा और खोजवृत्ति से पृथ्वी के सम्बन्ध का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर उसकी तह में छिपी सामग्रियों को अपने अथक परिश्रम से ढूंढ़ निकाल निकालकर संसार के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया। उनका कोई पथ-प्रदर्शक नहीं था। उनके पास मार्ग का कोई संबल नहीं था। उनकी यात्रा का कोई उत्साहवर्द्धक वा प्रेरक कारण नहीं था। उन्होंने तो अपनी जिज्ञासा वृत्ति से ही अन्य क्षेत्रों वा कार्यों में लगे रहकर धीरे-धीरे इस विज्ञान की जड़ जमाकर इसे एक स्वतंत्र रूप दिया।

हमारी पृथ्वी कितनी विस्तृत है, उसके तल कितने विभिन्न प्रकार के हैं, उसके महासागर और स्थल खंडों की रचना कैसी विशाल है, जीव-जन्तुओं, वनस्पति आदि का फैलाव और आकार-प्रकार कितना अधिक है, इन सबकी पूर्व युग-युगान्त में क्या अवस्था थी, उनमें कब-कब कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं, उन अवस्थाओं और परिवर्तनों का भव्य चित्र किस प्रकार बोलते हुए चलचित्र (टाकी) की भाँति प्रदर्शित किया जा सकता है, ये कम मनोरंजक चर्चाएँ नहीं हैं। संसार की आज की, तुषार से आच्छादित हिमालय, आल्प्स, राकी आदि विशालकाय, दुर्लक्ष्य पर्वतमालाओं का पूर्व रूप मामूली सपाट भूतल ही नहीं, बल्कि उससे भी नीचे, समुद्र के क्षुद्र घोंघे, शंख, मछली आदि जन्तुओं से पददलित जलखंड था और दक्षिणी पूर्वी अफ्रिका, मेडागास्कर, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील आदि बीच के, आज के, जलखंडों से पृथक-पृथक न होकर किसी समय एक ही विस्तृत महादेश के भाग थे अथवा पृथ्वी पर आज से पूर्व कितने ऐसे जीव-जन्तुओं की जातियों का जन्म और लोप हो चुका जिनको हम कोई नाम भी नहीं दे सकते, जिनके हजार डेढ़-हजार मन तक तौल का हम कोई अटकल भी नही लगा सकते। इन सब बातों के अतिरिक्त पृथ्वी के तलों और निचली तहों की भी रचना, उनके निर्मायक पदार्थों की पूर्वकथा अथवा परिवर्तनशीलता, संसार की रूप रेखा, जलवायु आदि में उनके युगयुगों में मुख्य भाग आदि को भी बताने में भूगर्भ विज्ञान को कितनी सफलता मिली है, इसको समझते समय हमें ध्यान में रखना होगा कि इस विज्ञान के खोजियों ने कोई जादू की लकड़ी काम में नहीं ली, पृथ्वी के गर्भ में प्रविष्ठ करने का कोई अपूर्व साधन उन्होंने

नहीं प्राप्त कर लिया, विज्ञान का कोई सर्वथा नया सिद्धान्त उन्होंने प्रयोगशाला में नहीं ढूंढ़ निकाला, बल्कि भूतल पर की मिलने वाली साधारण वस्तुओं की ही देख-रेख तथा उनके गंभीर निरीक्षण से एक-एक सत्य की कड़ी विज्ञान की खोज में जोड़जोड़कर अपने अनुसंधान का सजीव महल खड़ा किया।

पृथ्वी-तल पर हम पर्वत की ऊँची से ऊँची चोटी एवरेस्ट छः मील से कुछ कम ऊँची ही देखते हैं जहाँ मनुष्य अपनी दृष्टि और खोज की निसेनी पहुँचा सकने में सफल हो सकता है, किन्तु दूसरी ओर महासागर की अधिक से अधिक गहराई फिलीपाइन्स के निकट प्रशान्त महासागर (पैसिफिक ओशेन) में मिलती है। इस गहराई का पता लगने पर भी उस तक खोज के साधन पहुँचाने का मनुष्य के पास कोई साधन नहीं। वहाँ पर पानी के ऊपरी दबाव का इतना अधिक दबाव मिल सकता है कि कोई यंत्र समुद्र की तलेटी तक पहुँच ही नहीं सकता। किसी मनुष्य के वहाँ तक पहुँचने की बात तो और भी कठिन है। इस तरह बारह मील की इन दोनों मिली हुई मुटाइयों के बराबर पृथ्वी के तल का दृश्य कुछ-कुछ हमारे सामने आ सकता है। इतने ही फैलाव के साधन पर मनुष्य की पृथ्वी संबंधी सभी खोजें आधारित हैं।

पृथ्वी के तल वा पपड़ी की इतनी मुटाई के भाग पर हम एक स्थूल या विहंगम दृष्टि डालना उचित समझेंगे। गहरे महासागरों के पेटे की बात तो जाने दीजिए जिन तक मनुष्य की अभी तक किसी प्रकार पहुँच ही नहीं हो सकी है, किन्तु मनुष्य की पहुँच हो सकने वाली गहराई के समुद्र के पेटे या तलेटी के भी नीचे की स्थिति ज्ञात हो सकना सुविधाजनक नहीं है। उस पेटे का भी भलीभाँति निरीक्षण कर सकना कठिक है परन्तु स्थल खंड सबके लिए खुला है जो उसकी खोज में घर से बाहर निकल सकने का कष्ट कर सकता हो। यह खुला हुआ पृथ्वी-तल का भाग ही मनुष्य की तीक्ष्ण दृष्टि से एक विलक्षण संग्रहालय रूप में परिवर्तित हुआ जान पड़ता है।

हिमालय की चोटी एवरेस्ट संसार के भूखंड की पर्वत-श्रेणियों का सबसे ऊँचा भाग है, जिसकी ऊँचाई समुद्र-तल से २९१४१ फीट है। ऐसे स्थलों में हमें भूमि-खंड का अधिक ऊँचा भाग दिखाई पड़ता है। इन सब ऊँचे-ऊँचे भागों का निर्माण जिन शिलाओं से हुआ है उन्हें तलछटीय या समुद्रीय शिलाएँ माना जाता है। हमें स्थूल दृष्टि से कहीं तो ऐसे ऊँचे पहाड़ दिखाई पड़ते हैं और कहीं सपाट मिट्टी से ढँका मैदान। वहीं मिट्टी फल फूल, वनस्पति आदि की उत्पत्ति करती है। उसी के नीचे से कुओं से पानी भी हमें प्राप्त होता है जो पीने और सिंचाई के काम आता है। हम नदियों के पेटे और कुओं की खुदाई वा पुल आदि बनाते समय इस मिट्टी की निचली तहों तक पहुंचाते हैं। बड़ी नदियों पर पुल बनाते समय इंजीनियर गहराई तक पाए धसाता है जहाँ पर नदी के जल द्वारा हानि पहुँचाई जा सकने वाली नरम तह न हो। वैसी ही पथरीली तह धरती पर मिट्टी या पानी के नीचे सब जगह होती है। ऊपर की मिट्टी की तह से हम उसे न देख सकने के कारण समतल भूमि के मैदान और ऊँचे तल पर ऊपर की मिट्टी न होने से पथरीला भाग ही दिखाई पड़ने पर पहाड़ या पहाड़ी नाम देते हैं। वास्तव में सारा जगत पथरीली तह के ऊपर ही है। हाँ जगह-जगह पर उन पथरीले तलों के प्रकार वा उस पर के ऊपर की मिट्टी की तह और उसके ऊपर भी पेड़-पौधों की बाढ़ में विभिन्नता अवश्य ही है। मिट्टी की तह और कुछ नहीं बल्कि हिमालय ऐसे पर्वतों की पथरीली तह का ही सड़ा-गला वा बिखरा रूप है जो आज हमें इतना लाभप्रद दिखाई पड़ती है। रासायनिक विश्लेषण करने पर इन सब नरम वा कड़े रूप के पदार्थों में एकरूपता स्पष्ट जान पड़ती है। अतएव भूगर्भ विज्ञान के विद्वान यदि मिट्टी, बालू, कोयला, चूना पत्थर आदि शिला शब्द के अन्दर ही मानते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यदि किसी का रूप बदला है, कण बिखरे हैं, कीचड़ धूल आदि की तरह गंदला रूप है तो

भी कोई बात नहीं। वे सब हैं उसी शिला के वंशज इस वंश का जो रूप तलछटीय शिला के नाम से पुकारा जाता है वही स्थल के ऊपर हमें सब जगह अधिकांश रूप में दिखाई पड़ता है। इसे हिमालय की ऊँची शिखर वा दूसरी ऊँची पर्वत-मालाओं के रूप में हम कहीं-कहीं कई मील ऊँचा भले ही देखें परन्तु स्थल पर इसके सब जगह फैलाव का औसत लिया जाय तो कुल मोटाई आधा मील ही होगी। किन्तु इस शिला या इसके बिखरे हुए रूपों के अतिरिक्त एक दूसरी शिला कहीं-कहीं धरातल पर ही देखी जाती है जिसका रूप पृथक रूप का मालूम पड़ सकता है। इसे मूल या आग्नेय शिला कहते हैं।

मूल या आग्नेय शिलाएँ तलछटीय शिलाओं से वैसी ही विभिन्नता रखती दिखाई पड़ सकती है जैसी नए सिले वस्त्र और गुदड़ी में मिलने वाले पुराने कपड़ों के तैयार किए पहनावे में हो सकती है। प्रकृति ने अग्नि शिलाओं की रचना में अपने गर्भ के पदार्थों को कोरे रूप में प्रयुक्त किया है लेकिन तलछटीय शिलाओं में उन पदार्थों के वे रूप नहीं रह गए हैं। एक तो उनके मौलिक पदार्थ या तत्व बिखर-बिखर कर कुछ नए और कुछ पुराने पदार्थों या यौगिकों की रचना किए होते हैं, दूसरे सभी कण घिसे-घिसाए रूप में ही होते हैं। अग्नि-शिला में पृथ्वी की भीतरी तह का कोरा पदार्थ प्रचंड ताप से पिघले रूप में रहकर जमा होता है जिससे उनके रवे या मणिभ (क्रिस्टल) खिले हुए रूप के होते हैं। रसायन विज्ञान हमें रवों के बनने का सुन्दर दृश्य दिखा सकता है। कुछ पदार्थों के घोल (पानी या तरल पदार्थों में घुले रूप) या पिघले द्रव किसी निश्चित ताप पर अपने अंदर विचित्र रूप के कण बनाते हैं जिनका आकार कुछ निश्चित रूप के कोणों या किनारों का होता है। उनका भली भांति अध्ययन कर भेद भी निश्चित किया जा चुका है।

हमें रवों के निर्माण और आकार-प्रकार के भेद में न उलझ कर शिलाओं की कुछ चर्चा करनी है। अतएव हमें यही जान लेना चाहिए कि यदि रवे धीरे धीरे बनने का समय पावें तो पूर्ण वृद्धि पाकर बड़े आकार के बन सकते हैं, परन्तु उनके लिए निश्चित तापक्रम को कुछ स्थिर न रखा जा सके तो तापक्रम शीघ्र कम या अधिक हो जाने से उनका बहुत छोटा रूप हो सकता है। यह तो रवों की छोटाई या बड़ाई की बात हुई। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि उचित तापक्रम पर्याप्त समय तक मिलने पर भी किसी कारण फैलने का स्थान न पा सकने पर उनके रवे अधबने या दबे हुए रूप के रह सकते हैं। परन्तु इन बाधाओं से उनकी जाति पहचानने में तो बाधा नहीं हो सकती। अतएव किसी न किसी रूप में रवों का रूप हमें आग्नेय शिलाओं में देखने को मिल सकता है। बड़े रवों वाले शिला-खंड में तो अपनी आंख से भी उनका रूप पहचान सकते हैं किन्तु छोटे आकार के रवे वाले शिला खंडों को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखकर हम उनके मणिभ का दिग्दर्शन कर सकते हैं। प्रारम्भिक शिलाओं की रचना में जिन रवों को प्रकृति ने रक्खा था या इस समय भी जो ज्वालामुखी के उद्‌गार के समय भूगर्भ से बाहर आए द्रव पाषाण या लावा रूप में धरातल पर आकर सूक्ष्म रूप में बनते दिखाई पड़ते हैं, उनको जब प्रकृति वर्षा, तुषार, आँधी, सर्दी गर्मी, नदी की धारा या समुद्र की लहरों आदि अपने अन्य उपादानों द्वारा खंडन मंडन कर मूल शिला से पृथक कर बखेर देती और उन्हें अपने भाग्य पर धक्के खाने के लिए छोड़ देती है तो वे चक्कर खाते-खाते, सब तरह के धक्कों, खंडन-मंडन क्रिया और भौतिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओं की चोट सहते-सहते जीर्ण-शीर्ण रूप के होकर नदी, झील, या समुद्र की तरेटी में पहुँच कर फिर कुछ अन्य सहायकों, जल के बंधक साधनों और दबाव की क्रियाओं से शिला रूप में होकर दृढ़ता धारण करते या कहीं स्वतन्त्र या अन्य वस्तुओं के साथ पड़े रहते हैं। हम सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से इन अभागे, धक्के खा-खाकर अपने मणिभीय रूप या आकारों को नष्ट किए कणों को घिसे-घिसाए रूप में देख सकते हैं।

पृथ्वी की पपड़ी में सबसे ऊपरी तह या पट्टी में हम

आधे मील की औसत मोटाई में जहाँ तलछटीय शिलाओं के होने का प्रमाण पाते हैं वहाँ उनके नीचे आग्नेय शिलाओं की पट्टी मिलती है। तलछटीय शिला के ठीक नीचे की पट्टी 'ग्रेनाइट' नाम की अग्नि शिला है। उसकी गहराई दस मील तक होगी। ग्रेनाइट की पट्टी के नीचे की अग्निशिला की ही पट्टी 'बसाल्ट' नाम की शिला है जो २५ या ३० मील की मोटाई में पृथ्वी के चारों ओर फैली होगी। बसाल्ट की पट्टी के नीचे भी पृथ्वी की गहराई में आधी दूर तक कुछ विशेष प्रकार की शिला ही है जिसको अग्निशिला का एक अन्य भेद कह सकते हैं। ये सभी शिलाएँ पृथ्वी की गहराई के आधे भाग तक फैली होकर मुख्यतया ठोस रूप में ही हैं। किसी कारणवश इनमें स कदाचित् बसाल्ट की तहें भूकंप के क्षोभ के समय भूतल में फटी दरारों या एक ही छेद से गले रूप में ऊपरी तल पर पहुँचकर भयानक कांड उपस्थित करती हैं। एक छेद से निकलने वाला लावा मुँह के ऊपर जमता जाकर ही उसे पर्वत रूप में ऊँचा करता जाने पर ज्वालामुखी पर्वत नाम दे देना है। ग्रेनाइट की पट्टी का ऊपरी तल हमें दक्षिण भारत, पूर्वी दक्षिणी अफ्रिका, ब्राजील आस्ट्रेलिया और कनाडा आदि में अब भी खुले रूप में दिखाई पड़ता है जहाँ कुछ अंश कदाचित् मूल रूप की तह का भी हो परन्तु उससे नीचे की अग्निशिलाओं की कोई पट्टी या तल अपने मूल स्थान पर देखने को नहीं मिल सकता। प्रकृति कदाचित् हमारी अशक्तता समझकर ही निचली तहों में से बसाल्ट के नमूने पृथ्वी के ऊपरी तल पर दहकते हुए लावा के रूप में पहुंचाती है। उनके सम्बन्ध में हम बाद में पृथक् रूप से वर्णन करेंगे। यद्यपि मूल स्थान पर बसाल्ट की तह हमें सुलभ नहीं है किन्तु ज्वालामुखियों या पृथ्वी के इसी प्रकार के क्षोभों से ऊपर लाए हुए लावा के अंशों की कमी नहीं है। वे बड़े विस्तृत क्षेत्र में भी फैलकर हमारे लिए आवास तथा कृषि, व्यवसाय आदि का आधार बने हैं। नीचे की तह से अधिक से अधिक २५ मील की गहराई के पदार्थ हमें धरातल पर पहुंचे हुए मिलते हैं। अतएव २५ मील की गहराई तक के भूखंड को पपड़ी या पर्पटी नाम दिया गया है। हम इतने ही भाग का अध्ययन प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

हम यहाँ पर कुछ अन्य शिलाओं की चर्चा कर देना अनुचित नहीं समझते जो इन शिलाओं के ही रूप से कुछ मिलती किन्तु प्रकारान्तर की हैं। इनमें हम चूने का पत्थर या खरिया मिट्टी का नाम पहले ले सकते हैं। जबलपुर में पहाड़ों की तरह इनको भी शिला रूप में देखा जाता है जिन्हें खोद-खोदकर लोग घरों की पुताई करते हैं। खरिया मिट्टी का ढोंका भी और कुछ नहीं, एक शिला खड ही है। ये दोनों पदार्थ दो नाम के होने पर भी एक ही मूल पदार्थ हैं। इनको जीव जन्तुओं की कड़ी खोल, हड्डी और घोंघे, शंख आदि का प्रसाद समझना चाहिए। घोंघे, दोहन, शख, सीपी आदि भी जीव हैं जो जल में अपने शरीर को कड़ी खोल के रूप में बना लेते हैं। इनकी ही अगणित संख्या के युगों तक एकत्र ही पैदा होते और मरते जाने से समुद्र में कभी तलछटीय शिलाओं की तरह एक पतली या मोटी से मोटी तह ही बन गई। वही हमें चूने के पत्थर रूप में मिलती है। हम सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर इसके कणों में उन जन्तुओं के कठोर खोल को स्पष्ट देख सकते हैं। पत्थर-कोयला भी इसी तरह पूर्वकाल के भारी-भारी जंगलों के कीचड़ में दबकर कठोर शिला रूप में हो जाने से बना है, जिसमें उनके डाल पत्ते प्रायः अपना रूप छोड़े दिखाई पड़ते हैं। इन डाल पत्तों के चिन्ह की तरह तलछटीय शिलाओं में हमें जीव-जन्तुओं के कंकाल या पगचिन्ह तक अपना आकार सुरक्षित रखकर शिला रूप ही हो गए दिखाई पड़ते हैं। इनको अवशेष या निखातक (खोदकर निकाला पदार्थ—फासिल) कहते हैं।

पत्थरों के पेट में छिपे हुए मृत जन्तुओं के कंकाल पेड़ बनस्पति आदि के ढाँचे या जन्तुओं के नर्म भाग या पग-चिन्ह तक के अवशेष हमें जिस रूप में संसार में मिलते हैं, उनसे पृथ्वी की पूर्व रचना के संबंध में बहुत कुछ ज्ञात

हो सका है। पत्थरों को खोदकर पाए जाने से ही इनको निखातक या खोदकर निकाला हुआ (फासिल) कहने से इन संबंध के ज्ञान या खोजों को निखातक विज्ञान (पेलियाण्टालाजी) कहा जा सकता है किन्तु आज से बहुत पहले भी ये जन्तुओं या वृक्षों की जड़, तने, डाल या पत्ते तक का वास्तविक रूप सुरक्षित रखसकने वाले चिन्ह लोगों को जब तब मिल जाया करते होंगे। खोज-वृत्ति के अभाव में इनके सम्बन्ध में लोगों की तरह-तरह की मनगढंत, अटकलपच्चू विचार या कल्पनाएँ लोगों के विवेकहीन मिथ्याविश्वास को प्रकट कर सकती हैं। कोई कहता था कि ये ब्रह्मा की सृष्टि के आदिम प्रयोग से हैं जिसे उन्होंने संतोषजनक न देखकर त्यक्त कर दिया। दूसरे कहते कि जिस तरह हमें पृथ्वी के सौन्दर्य के लिए धरातल के ऊपर विविध प्रकार के फूल पत्ते आदि दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार पाताल जगत के ये आभूषण स्वरूप हैं। कुछ की यह भी कल्पना थी कि ये सूर्य भगवान के प्रसाद हैं अपूर्व कल्पना किसी व्यक्ति ने यह की कि शैतान ने इन अवशेषों या निखातकों को मनुष्य को धोखा देने और चकित करने के लिए पाषाण गर्भ में स्थित किया है।

पाषाण-गर्भ में स्थित अवशेषों या निखातकों की विवेकपूर्ण खोज इटली के उद्भट विद्वान लियोनर्डो डा विंची ने आज से ४, ५ सौ वर्षों पहले की। लियोनर्डो इटली के फ्लोरेंस नगर में इंजीनियर था, किन्तु वह बड़ा ही मेधावी व्यक्ति था। आधुनिक युग के कलाकारों, वैज्ञानिकों और कवियों में उसको आदरपूर्वक स्थान दिया गया है। उसकी बनाई भव्य प्रस्तर-मूर्तियाँ संग्रहालयों में आज भी स्थान पाती हैं। इसने वैज्ञानिक रूप की अनेक खोजों की भविष्यवाणी की थी। इसे फ्रांस-सम्राट् के आमंत्रण पर फ्रांस जाने का अवसर मिला था।

एक कुशल इंजीनियर के रूप में देश के भिन्न-भिन्न स्थलों के निरीक्षण का अवसर मिलने से लियोनर्डो को निखातकों अर्थात् पत्थरों में छिपे अवशेषों का अध्ययन करने का भी अवसर मिला। इटली देश के पर्वतों के गर्भ में आधुनिक समुद्री जीवों के अनुरूप निखातकों का आकार उसे विशेष रूप से आकर्षित कर सका। समुद्र के किनारे जा-जाकर उसने जीवों का निरीक्षण करना प्रारम्भ किया और उनके रूप से पर्वतीय तल के निखातकों का मिलान प्रारंभ किया। दोनों में उसे अद्भुत समानता दिखाई पड़ी। अतएव उसने निष्कर्ष निकाला कि ये निखातक या अवशेष अवश्य ही कभी समुद्र-तल में बने होंगे और पानी में मिट्टी, रेत आदि के साथ दब कर अंतस्तल में दबे रहकर उस जमी हुई तरेटी के अंग हो गए होंगे। उस तरेटी के ही अन्य तलों से दबकर कड़ा होने और फिर सारे तल के ऊपर उठ जाने से पर्वत बना होगा। यह लियोनर्डो के पर्वत खंड और समुद्र तल में मिट्टी रेत आदि जमने और उनमें सीप घोंघे, जीवों के कंकाल आदि दब जाने का प्रत्यक्ष निरीक्षण करने का परिणाम था जिससे उसको ऐसी बात सूझी। लियोनर्डो ने पर्वत के पाषाण-खंड में निखातकों का ध्यानपूर्वक प्रत्यक्ष निरीक्षण कर देखा कि उसमें समुद्री जीवों की कड़ी खोल के छोटे या बड़े सभी रूप हैं मानो कोई जीव पैदा होकर अल्पायु ही हो, कोई वय प्राप्त हो तथा कोई जीर्ण अवस्था का हो। उनमें जीवों के नर्म मिट्टी पर चलने के समान बने पग-चिन्ह भी थे। कुछ टूटे फूटे घोंघे या कड़ी खोलों के भाग थे। कुछ सीपी आदि की तरह नीचे-ऊपर की दोनों खोलों युक्त थे। इस तरह की सृष्टि ताराओं या आकाश की किसी शक्ति के अद्भुत प्रभाव से बनी नहीं हो सकती थी। जन्म, मृत्यु और मध्य जीवन सभी रूपों का जमघट उनमें कैसे किसी बाहरी शक्ति की देन से हो जाता। वे प्रलय या तूफान के प्रभाव से भी इतने दूर के स्थल खंड में पहुँचे नहीं हो सकते थे, क्योंकि तूफान या प्रलय के क्षोभ से एक साधारण सीप की खोलों का जोड़े रूप में बचा रह सकना किस प्रकार संभव हो सकता था! फिर कुछ जन्तु उसे ऐसे दीख पड़े जिनकी मंद गति से दो-ढाई सौ मील की दूरी तै कर पर्वत खंड की यात्रा

कर सकना कभी भी संभव नहीं हो सकता था। इन तर्कों और प्रत्यक्ष निरीक्षणों से लियोनर्डो का निकाला निष्कर्ष भूगर्भ विद्या की महत्वपूर्ण खोज थी।

लियोनर्डो डा विंची ने पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में अपनी ये खोजें कीं। उसके कुछ समय बाद जर्मन देश के दो विद्वानों ने अठारहवीं शताबदी में इस खोज को और आगे बढ़ाया। उन विद्वानों के नाम लेहमैन और क्रिश्चियन फुशेल हैं। अपने देश में ग्रेनाइट नाम की आग्नेय शिलाओं के ऊँचे पर्वतीय खंड के अंचल में दूसरे प्रकार की शिलाओं से बनी कुछ निचली भूमि में उन्होंने निरीक्षण करने की पर्याप्त सामग्री देखी। लेहमैन ने ऊँचे विद्रूप शिलाखंड के ग्रेनाइट रुप को भी देखा जिसमें निखातकों या अवशेषों का अभाव था। उधर बड़ा मैदान बनाने वाले पथर निखातकों से भरे-पुरे और तहयुक्त दिखाई पड़ते। प्रस्तर शब्द का अर्थ ही है 'स्तरयुक्त'। वास्तव में इस शब्द के ठीक अर्थ के अनुरूप ही लेहमैन को मैदान वाले शिलाखंड दिखाई पड़े। इनमें उसने एक के बाद एक तह की खोज कर तीस स्तर या तहों तक का पता लगाया। इन तहों में भी अवशेष पाकर उसका ठीक ही अनुमान हुआ कि विद्रूप और अवशेष या निखातक (फासिल) हीन ग्रेनाइट पर्वत अवश्य ही पूर्व रचना के परिणाम होगे और उनके अंगों के खंडित पदार्थों के जमने और उनमें दबे हुए जन्तु कंकालों के चिन्हों से मिलकर प्रस्तर या तहदार पत्थर बने। इन प्रस्तरों में उसे पृथ्वी का इतिहास लिखा दिखाई पड़ा। उसने अवशेष या निखातक-हीन शिला को मुख्य या मौलिक शिला नाम दिया तथा अवशेष युक्त तथा स्तरों वाली शिलाओं को, बहुत दूर-दूर तक फैलकर अनेक तहों में बनी होने के कारण गौण शिला नाम दिया। यह भूगर्भ-विज्ञान की खोज में एक अगला पग था। फुशेल ने अपनी खोजों से स्वतंत्र रूप से यह ज्ञात किया कि अवशेष या निखातकों की विद्यमानता किसी विशेष क्रम को प्रकट करती है। शिला की निर्दिष्ट तहों में कुछ निर्दिष्ट रूप के निखातक (फासिल) या अवशेष ही पाए जाते हैं। यह क्रम का निर्देश अवश्व ही एक महत्व रखता है जो पृथ्वी की का रहस्य खोलने में सहायक हो सकता है।

फ्रांस देश में एक गरीब किसान का निकोलस नाम का लड़का अपना निर्वाह किसी तरह बालकपन में कर किसी पादरी की उदारता से गांव में ही कुछ शिक्षा प्राप्त कर सका। उसके प्रश्रयदाता ने उसकी प्रखर बुद्धि देखकर उसे पेरिस की भव्य नगरी में भेज दिया। वहाँ वह कुछ निजी रूप से अध्यापन कर निर्वाह करने लगा। धीरे-धीरे वहाँ कुछ विद्वानों और वैज्ञानिकों की मंडली के सम्पर्क में आ सका। सौभाग्य से सन् १७६३ ई० में उसे किसी विद्वान की कृपा से सरकारी नौकरी मिल गई और वह सरकारी उद्योग-धन्धे विभाग का निरीक्षक (इंस्पेक्टर आफ इंडस्ट्रीज) नियुक्त हो गया। यह सरकारी विभाग अपने कर्मचारी रूप में केवल एक व्यक्ति का विभाग था। इस पद पर रहते हुए निकोलस डेसमरेस्ट ने देश के भिन्न-भिन्न भागों का निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त किया। फ्रांस के एक जिले में एक उजाड़ सा पठार है। वहाँ पठार के ऊपर न तो कोई बस्ती थी और न उन दिनों कोई सुविधापूर्वक जाने का मार्ग। वहाँ जाने का कोई विशेष आकर्षण भी नहीं था। कुछ मनचले खोजी कभी-कभी उधर चले जाते थे। वहाँ पठार पर ज्वालामुखियों के कुछ चिन्ह, जमे हुए लावा आदि के भाग से बने पाषाण थे। डेसमरेस्ट ने पैदल ही जाकर, सब स्थानों को देखते, देहातियों से दिल खोलकर हँसते हुए मिलते निरीक्षण आरम्भ किया। जहाँ कहीं भी चट्टानों की खुदाई करते मजदूर मिलते, उन खंडों तक वह जाता, सब से बातें कर उन स्थानों का हालचाल जानने का का प्रयत्न करता। उसे धीरे-धीरे सब स्थानों को देखकर भली-भाँति ज्ञात हुआ कि किस प्रकार ज्वालामुखी का मुख कोई ऊँचा शंकाकार (लट्टू को उल्टा रखकर नाचने वाला कीला ऊपर और ऊपर वाला भाग नीचे रखने पर बना रूप) टीला होता है, उसका शीर्ष कुछ पचका हुआ

सा होता है। उस मुख से निकले लावा के जमे हुए रूप चारों ओर सर्प की चालसे फैले और जम गए दिखाई पड़ते हैं जिन पर आसमान के तल से भिन्न प्रकार के कुछ विशेष पौधे ही उगे दिखाई पड़ते हैं। उसने यह भी देखा कि यहीं सर्प की तरह फैले भाग मोटी तह होने पर दरार फट फट जाने से विचित्र खंभों या स्तभ के रूप में दिखाई पड़ते हैं। मूल ज्वालामुखी के लापता हो जाने पर भी मोटी तह की रचना पत्थर रूप में होने पर या लावा के धीरे-धीरे जमने पर ये खम्भे बने होते हैं। अधिक मोटी तह में कभी-कभी ऊपरी तह में खम्भों की एक श्रेणी मिलती है और नीचे की तह अधिक धीरे-धीरे जमने से अधिक सुन्दर रूप के खम्भों में दूसरी, तीसरी श्रेणी रूप में दिखाई पड़ती है।

एक प्रकार से ज्वालामुखी से लावा निकलकर उसका मुँह बनने, जमकर बाहर की लम्बी-लम्बी साँप की तरह तहें जमने या अन्य प्रकार की मोटी तहें जमने या उस प्रकार की शिला से ही दुहरे तिहरे खम्भों वाली विचित्र वस्तु बनने का अनुक्रमिक चित्र चलचित्र के रूप में वहां पठार पर उपस्थित था। डेसमरेस्ट ने उसका अध्ययन कर प्रकट किया कि पृथ्वी के गर्भ से बाहर निकले पिघले पदार्थों के ही जमने से आग्नेय शिलाएँ किस प्रकार भूतल पर विद्यमान होती हैं। उसकी इस खोज का महत्व आज के भूगर्भ-विज्ञानवेत्ता कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकते।

इन खोजों के होने के पश्चात् भी जर्मनी में एक दूसरा विद्वान हुआ जिसने अपनी प्रतिभा से भूगर्भ विद्या का प्रचार करने में बहुत अधिक सहायता तो अवश्य की किन्तु उसने एक भ्रान्त धारणा भी फैला दी कि आग्नेय शिलाएं अग्नि या ज्वालामुखी के प्रभाव की न होकर समुद्र देवता का ही प्रसाद हैं। इस विद्वान का नाम अब्राहम वर्नर था। इसका पिता एक लोहा ढालने वाला व्यवसायी था। अतएव अपने पुत्र अब्राहम वर्नर में खनिज विज्ञान की रुचि होने का विशेष प्रयत्न किया जर्मनी के सैक्सोनी प्रान्त में फ्रीबर्ग के खनिज विद्या के विद्यालय से इसने शिक्षा प्राप्त कर अपनी ऐसी योग्यता का प्रदर्शन किया कि १५ वर्ष आयु में ही वह वहां अध्यापक नियुक्त हो गया। धीरे-धीरे उसकी प्रतिभा का इतना यश फैला कि देश-देशान्तरों से खनिज विद्या का अध्ययन करने के लिए छात्रों का वहां तांता बंध गया। खनिज विद्या के इस विख्यात आचार्य ने निश्चय ही अपने छात्रों में खनिज विद्या की उन्नति के प्रति अगाध प्रेम उत्पन्न करना प्रारम्भ किया। किन्तु उसने बाहरी जगत का भ्रमण और निरीक्षण न कर सकने के कारण एक यह भ्रान्त मत बना लिया कि किसी समय सारा जगत् एक महासमुद्र के गर्भ में था। संसार के पृष्ठ को बनाने वाली सभी वस्तुएँ उस विचित्र महासागर के जल में ही घुली हुई थीं। उनमें से धीरे-धीरे सब से भारी पदार्थों के जमने से निचली तह ग्रेनाइट ऐसे पाषाण की बनी, फिर उससे हल्की वस्तुएँ अन्य शिलाओं और मिट्टी की तहों को क्रम क्रम से बना सकीं। ज्वालामुखी को वह ऐसी ही कोई गौण या बाद की घटना बतलाता था, जिसका भूगर्भ की रचना से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। इस तरह वर्नर का सिद्धान्त महासमुद्र या वरुण देव की कृपा का प्रसाद होने से वरुणवादी (नेपच्यूनिस्ट) प्रसिद्ध हुआ। दूसरा दल इसके विरुद्ध ज्वालामुखीवादी (वालकेनिस्ट) हुआ। दोनों दलों में जो संघर्ष हुआ वह पिछली शताब्दी की खोजों की कहानी में एक विशेष स्थान ही रखता है।

अब्राहम वर्नर के शिष्य बड़े कट्टर वरुणवादी होकर निकलते। उन्हीं में से लियोपोल्ड वान बुच, डी अब्यूसन तथा हम्बोल्ट भी थे जिन्होंने स्वयं विस्तृत क्षेत्र शिलाओं का निरीक्षण कर अपने आचार्य का मत मिथ्या देखा और उसका खंडन करने में संकोच नहीं किया। लियोपोल्ड वान बुच एक सम्पन्न परिवार का व्यक्ति था। अटूट विद्या प्रेम से ही वह वर्नर के निकट पहुँचा था। अनेक देशों में उसे शिलाओं की रचना का रूप देखने का अवसर मिला। उसने यह देखा कि ज्वालामुखी की क्रिया गौण नहीं कही जा सकती। उसके लावा से बने शिलाखंडों का व्यापक

रूप देश-देशों में दिखाई पड़ा। अंत में उसने बाल्टिक तटीय देशों में नार्वे में ग्रेनाइट का अद्भुत रूप देखा। वह थोड़े स्थान में न होकर बहुत विस्तृत क्षेत्र में तो फैला था ही, उसकी स्थिति निश्चित रूप से बाद की बनी गौण या तलछटीय शिलाओं की कुछ तहों के ऊपर दिखाई पड़ी। यही नहीं, प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण ने और भी स्पष्ट रूप का दिग्दर्शन कराया। नवीनतर काल की तलछटीय शिलाओं की तह के अंतरालों, लम्बे छिद्रों में प्रविष्ट कर पतली या नोकीली तह के रूप में जमी हुई दिखाई पड़ी। यह क्रिया पानी के अन्दर जमी होने पर ग्रेनाइट की शिला किस प्रकार भेद सकती थी? यह तो निश्चित प्रमाण था कि ग्रेनाइट का पदार्थ पिघले हुए रूप से बाद में जमा है और तलछटीय शिलाओं में उसी पिछले रूप के कारण अंतरालों, छिद्रों आदि में पतली तह या नसों के रूप में घुसा दिखाई पड़ता है। यद्यपि अनेक वैज्ञानिकों ने आग्नेय शिलाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहले ही खोजें कर ली थीं तथापि वान बुच की खोज और घोषणा ने वरुणवादियों की मिथ्या धारणा पूर्णतया खंडित करने का काम किया।

परिवर्तित शिलाएँ (मेटामार्फिक राक्स)

तलछटीय शिलाओं की तहों और निखातक या अव. शेष और आग्नेय शिलाओं की रवा युक्त रचना से विभिन्न रूप की शिलाएँ भी देखने को मिलती हैं। यथार्थ में ऊपर तल की बनी तलछटीय या आग्नेय शिलाओं के पुनः भूतल के आकस्मिक परिवर्तनों के कारण दबाव और अधिक गर्मी के प्रभाव में पड़ने से इनका रूप परिवर्तित हो जाता है। भूगर्भ से पिघले रूप में ऊपर की ओर आया हुआ पाषाण-द्रव (मग्मा) स्वयं आग्नेय शिला बनते समय अपने भयंकर ताप से अपने विस्तार क्षेत्र के किनारे की शिलाओं को रूपान्तरित कर देता है। उस प्रकार के परिवर्तन के कारण हमें तलछटीय शिला के निखातकों (अवशेषों) या स्तरों का रूप नहीं दिखाई पड़ सकता। कभी केवल भूगर्भ की कोई उत्तप्त लहर या ज्वाला ही आकर बड़े व्यापक क्षेत्र के पाषाण को उत्तप्त कर परिवर्तित कर देती है। इन परिस्थितियों में तलछटीय या आग्नेय शिलाएँ कुछ ऐसे विकृत या परिवर्तित रूप की हो जाती हैं कि उनके ठीक रूप या रचना का पता नहीं चल पाता और उनको तलछटीय या आग्नेय किसी वर्ग में रखना कठिन जान पड़ता है। इन शिलाओं को परिवर्तित शिलाएँ (मेटामार्फिक) कहते हैं। जेम्स हटन नाम के वैज्ञानिक ने इस प्रकार की शिलाओं के परिवर्तन का अनुमान किया था और उसने उनका कारण भूगर्भ की आंतरिक ज्वाला बतलाया था। चार्ल्स लिएल नाम के वैज्ञानिक ने इस संबंध की अधिक खोज कर इनको शिलाओं के पूर्व रूप से परिवर्तित होने की घोषणा की और इनका नाम परिवर्तितशिलाएँ (मेटामार्फिक राक्स) बतलाया।

—क्रमशः

हमारे मित्र कीड़े

लेखक—प्रेम दुलारे श्रीवास्तव, एम० एस-सी०

हमारी फसलों तथा वृक्षों को हानि पहुँचाने के स्थान पर लाभ पहुँचाने वाले उपयोगी कीड़े भी होते हैं। उन्हीं का इस लेख में वर्णन किया गया है।

आजकल कीड़ों की संख्या इतनी बढ़ी हुई है कि इसे आसानी से कीट-युग कहा जा सकता है। अभी तक कीड़ों की कुल तीन लाख जातियाँ (Species) वर्णन की जा चुकी हैं। ये जल, थल और नभ हर जगह छाये हुए हैं। जीवन में पग पग पर इनसे पाला पड़ता रहता है। कीड़ों की अधिकतर जातियाँ ऐसी हैं जो हमें किसी न किसी भाँति हानि ही पहुंचाती हैं। परन्तु कुछ कीड़े ऐसे भी हैं जिनकी गणना मनुष्य के मित्रों में की जा सकती है। ये कीड़े हमें भाँति भाँति से लाभ पहुंचाते हैं।

लाभदायक पदार्थ उत्पन्न वा एकत्र करने वाले कीड़े—इस श्रेणी में रेशम, लाख और मधु आदि के कीड़े सम्मिलित हैं।

(१) **रेशम का कीड़ा**—असली रेशम एक प्रकार के कीड़े के लार से बनता है। ऐसे कीड़े लगभग ३२० जातियों के होते हैं और प्रत्येक जाति द्वारा बनाये गये रेशम के धागे की मुटाई, नाप तथा शक्ति आदि भिन्न होती है। भारत में मुख्यतः दो प्रकार के रेशम के कीड़े होते हैं (I) शहतूत की पत्ती खाने वाला कीड़ा (Bombyx mori) और रेंडी या अरण्डी की पत्ती खाने वाला कीड़ा (Attacus ricuni)। शहतूत का कीड़ा तितली आदि के समूही (Sepidoptera) के बाम्बि सिडी (Bombycidae) वंश का, और अरण्डी का कीड़ा उसी समूह के सेटर्निडी (Saturnidae) वंश का सदस्य है।
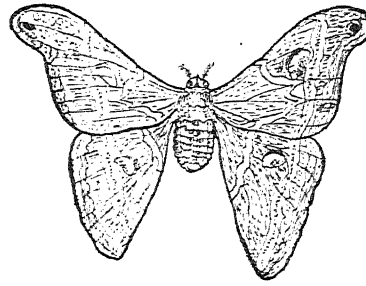
अरण्डी के रेशम के कीड़े की भिन्न अवस्थायें

अण्डों के फूटने से बच्चे निकलते हैं जो बहुत खाऊ होते हैं। उन्हे चाय की ट्रे (tray) जैसे मामूली लकड़ी के बने बर्तनों में सुगमता पूर्वक पाला जा सकता है। २५--३० दिन के जीवन काल में ये रेशम के कीड़े या सूड़ियाँ (Caterpillar) खूब खाती और खूब बढ़ती हैं। पूरी बढ़ी सूंड़ी खाना छोड़कर अपने रहने के लिए एक

घर का निर्माण करने में जुट जाती है जिसमें वह कोशित (Chrysalis) की अवस्था में शलभ बनने तक सुरक्षित रह सके। यह घर रेशम के धागों का बना होता है जिसे वह स्वयं कातती हैं। ये रेशम के धागे तीन दिन में सूखते तथा छः इन्च की रफ्तार से काते हैं। कोशित को उसके घर सहित कोया (Cocoon) कहते हैं। फिर कोशित शलभ में परिणत होकर कोये के रेशम को काट कर बाहर निकल आता है। कोये से निकलते ही नर मादा लैंगिक संयोग में लीन हो जाते हैं। मादा अंडे देना आरम्भ करती है और फिर नयी पीढ़ी का जीवन शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जीवन-चक्र चलता रहता है।

शहतूत के कीड़ों को पालना अंडी के कीड़ों की अपेक्षा कठिन है क्यों कि उनके पालने में अधिक सावधानी बरतनी होती है अन्यथा वे अनेकों रोगों के शिकार हो जाते हैं जिससे रेशम के उद्यम को करारा धक्का लगता है। यदि कीड़ों को धूल व नमी से बचाकर रखा जाय तो उन्हें रोगों से बचाया जा सकता है। रोगों के अतिरिक्त कुछ ऐसी मक्खियाँ भी होती हैं जो कीड़ों के शरीर में घुस जाती हैं जिसके फल स्वरूप कीड़े रेशम कात ही नहीं पाते और यदि कात भी लेते हैं तो मक्खियाँ उसे काट कर बाहर निकल आती हैं और रेशम बेकार हो जाता है।

रेशम के कोयों को उबाल कर या उन्हें भाप के सम्पर्क में रख कर उनके भीतर से शलभ निकलने से पहले ही कीड़ों को मार डाला जाता है परन्तु थोड़े से कोये संतति चलाने के लिये रख लिये जाते हैं। अंडी के रेशम के कोयों को साधारण रुई की तरह धुन कर काता जाता है इसलिये उनमें से शलभ निकल आने पर भी रेशम खराब नहीं होता। अतः अहिंसा के अखंड पुजारी भी अण्डी के कीड़ों को पाल कर सहज ही में लाभ उठा सकते हैं। परन्तु शहतूत के कीड़े का रेशम अण्डी के कीड़े के रेशम की अपेक्षा उत्तम अवश्य होता है।

रेशम के कीड़ों को पालने का सबसे पहला प्रयत्न चीन के महाराजाधिराज ह्वांग-टी (Hwang-Te) की रानी सी लिंग-ची (Si Ling-chi) ने किया था। रेशम का नाम ऋग वेद में भी आया है। कहा जाता है कि भारत में पहले पहल शहतूत के रेशम का कीड़ा और शहतूत के बीज एक चीनी राजकुमारी द्वारा छिपा कर लाये गये थे।

अच्छे किस्म के रेशम से पैराशूट बनते हैं। रेशम से कुछ औषधि संबंधी यंत्र तथा केबुल (Cable) भी बनने लगे हैं।

(ii) लाख का कीड़ा—लाख एक प्रकार के कीड़े के शरीर से निकले हुए रस से बनाता है। लाख का कीड़ा (Trachardia lacca kar) होमोप्टेरा (Homoptera) समूह के काक्सिडी (Coccidæ) वंश का एक सदस्य है। यह कीड़ा अपने को रक्षार्थ ढकने के लिये अपने शरीर से एक प्रकार का रस निकालता है जो हवा के सम्पर्क में आने पर सूख कर कड़ा हो जाता है और उद्धास सरीखे (resinous) पदार्थ का रूप धारण कर लेता है।
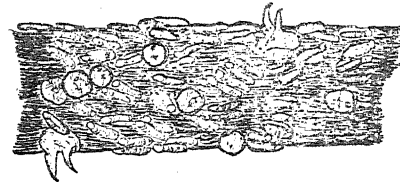
लाख का कीड़ा

इस कीड़े के पालक पौधों (host plants कुसुम (scleichera triyuga) बेर (Zizyphus jujuba), पालक (Butea frondosa), बबूल (Acacia arabica) तथा साल (Shorea robusta) मुख्य हैं। ये कीड़े आम पीपल, गूलर और अंजीर के पेड़ों पर भी मिलते हैं। भिन्न भिन्न पालक पौधों के लाख के गुणों में अन्तर होता है।

अंडों से लाल नन्हें और फुर्तीले शिशु (nymphs) निकलते हैं एक रस चूसने की नली भी होती है। कुछ देर तक पौधे पर विचरने के बाद वे नर्म टहनियों से चिपक कर रस चूसने लगते हैं। कुछ दिनों तक ऐसे ही

रस चूसते रहने के बाद नर कीड़ों के पंख (wings) निकल आते हैं और वे उड़ना आरम्भ कर देते हैं पर मादा यथास्थान चिपके चिपके बढ़ती है। नर उड़ कर मादा के पास आता और उससे लैंगिक संयोग करता है। इसके उपरान्त मादा और बढ़ती है और नई पीढ़ी को जन्म देती है। भारत में लाख का कीड़ा एक वर्ष में प्रायः दो बार अंडे देता है जिनसे शिशु निकलते रहते हैं। इस प्रकार सैकड़ों कीड़े क्रम से समूह में पेड़ों की डालियों से चिपके पड़े रहते हैं और सबके शरीर से उच्छास सरीखा रस निकलता रहता है जो सूखकर लाख बन जाता है। कीड़ों के समूह में होने के कारण लाख भी पेड़ की डालियों पर सिलसिले वार तह के रूप में होता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष भारत में पेड़ों की डालियों से छील कर लगभग दस लाख मन लाख निकाली जाती है। उसे धोकर या तो ऐसे ही कटवे लाख के रूप में उपयोग करते हैं या उसे कुछ क्रियाओं द्वारा चपड़ा (shellac) बना लिया जाता है।

लाख के कीड़े के जातक इतने पास पास होते हैं कि कुछ जातक अवश्य मर जाते हैं। तेज़ गर्मी, गर्म हवा तथा पाला आदि से भी क्षति पहुंचती है। इस प्रकार लाख की खेती में ३०-४० % से कुछ कम क्षति पहुंचती है। लाख के शत्रु कुछ कीड़े भी होते हैं उनसे ३०-४० % के लगभग हानि होती है। कुछ कीड़े लाख के कीड़े पर परजीवी और कुछ हिंसाजीवी होते हैं।

लाख का उद्यम हजारों वर्ष पुराना है। इसका उपयोग बड़े पैमाने पर कम से कम १५९० ई० में होता था। लाख का कीड़ा न पाला जाता है न उगाया जाता है। यह अपने आप ही जंगल के पेड़ों पर होता है और अपना जीवन खो कर लाखों दीन हीन मनुष्यों की रोज़ी चलाता है। लाख की खेती भारत में मध्य प्रदेश, बंगाल और आसाम में होती है। बरमा और पाकिस्तान (सिंध) में भी लाख की खेती होती है। उत्तर प्रदेश में चपड़ा बनाने का मुख्य केन्द्र है। अभी तक मनुष्य अपनी प्रयोगशाला में लाख के टक्कर की कोई दूसरी वस्तु नहीं बना सका है।

लाख का उपयोग वार्निश, पालिश, लिथोग्राफ स्याही, मुहर लगाने का चपड़ा, बिजली के विसंवाहक पदार्थों (insulating material) के बने सामान ग्रामोफोन के रेकार्ड, बर्तन, खिलौने, चूड़ियां तथा बनावटी फल फूल आदि बनाने में होता है।

(iii) मधुमक्खी—मधुमक्खियाँ तरह तरह के फूलों से मधु इकट्ठा करती हैं। मधु मक्खी चीटियों और बर्रों (wasps) की तरह एक सामाजिक कीड़ा (social insect) है जो समुदाय बना कर रहता है। यह कई जातियों की होती हैं इनकी तीन जातियाँ जो बर्रों आदि के समूह (Hymenoptera) के एपिडी (Apidae) वंश की सदस्य हैं अधिक सामान्य हैं। सारंग (Apis dorsata) भारतीय मधु मक्खियों में डील डौल में सब से बड़ी होती है और इसके छत्तों से सबसे अधिक मधु भी निकलता है। यह जंगली पेड़ों तथा पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर लगभग ४ फीट लम्बे अकेले छत्ते बनाती है। इसकी छत्तों को प्रायः छोड़ देने की प्रकृति के कारण यह अभी तक सफलता पूर्वक नहीं पाली जा सकी है। छोटी मक्खी (apis florea) तीनों में सबसे छोटी होने के कारण ही छोटी मक्खी कहलाती है। यह भी अकेले छत्ते बनाती है जो झाड़ियों तथा छतों के कोनों आदि में स्थित होते है। यह सीधी होते हुए भी नहीं पाली जाती है क्यों कि इसके छत्ते से बहुत कम मधु निकलता है (३) सत कोचवा (apis indica) सामान्य भारतीय मधुमक्खी है जो भारत भर में पायी जाती है। यह डील-डौल में सारंग से छोटी और छोटी मक्खी से बड़ी होती है। यह सात समानान्तर छत्ते बनाती है जो पेड़ों के खोखलों चट्टानों की कंदराओं तथा कुओं की भीतरी दीवारों आदि बचाव के स्थानों में स्थित होते हैं। यह सीधी भी होती है और इससे मधु भी अच्छी मात्रा में निकलता है।

साथ ही साथ यह साधारणतः छत्तों को छोड़ कर भागती भी नहीं । अभी तक मधुमक्खियों की केवल यही जाति सफलता पूर्वक पाली जा सकी है ।

मधुमक्खी के एक समुदाय (colony) में तीन प्रकार के प्राणी होते हैं (१) रानी मक्खी (Queen) का कार्य केवल अंडे देना होता है । एक छत्ते में एक ही रानी होती है जो अपने ३-५ वर्ष के जीवन काल में केवल एक ही बार नर से लैंगिक संयोग करती है । जीवन भर में यह लगभग १५ लाख अंडे दे सकती है और एक समुदाय में एक साथ लगभग एक लाख बच्चे जीवित रह सकते हैं ।
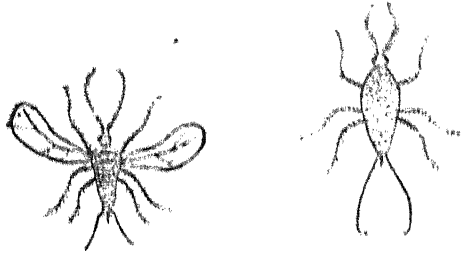
सत कोचवा मधुमक्खी

(२) नर मक्खियां (Drones) छत्ते के निठल्ले जीव होते हैं जो समुदाय को कोई विशेष लाभ न पहुँचाकर उल्टे छत्ते में संचित भोजन को खा जाते हैं । हजारों में कहीं एक को "राजा" बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है परन्तु "मुकुट" पहन लेने के बाद शीघ्र ही वह मर जाता है और उसके अन्य नर साथी भी छत्ते से बाहर निकाल दिये जाते हैं जहां भूख की व्यथा और रक्षा की कमी के कारण वे मर जाते हैं । कार्यकर्त्ता (Workers) वह नर या मादा मक्खियाँ होती हैं जो अंडे देने में असमर्थ होती हैं । ये छत्ते की वास्तविक शासक होती हैं । भोजन एकत्र करना, मोम बनाना, संतति पालन, रानी की सेवा और देख रेख, छत्ते में पानी लाना तथा उसे गन्दगी और शत्रुओं से मुक्त रखना कार्यकर्त्ता के मुख्य कर्तव्य हैं ।

रानी के लारवा (larvae) १५½ दिन में, नर के २ दिन में और कार्यकर्त्ता के २४ दिन में पूरे बढ़ जाते हैं । यह रानी की इच्छा पर निर्भर होता है कि वह नर से मिले । नर कोशाओं (sperms) को मादा कोशाओं (eggs) से मिलने दे या नहीं । जो अंडे निषेचित नहीं होते उनसे निकलने वाले बच्चे नर होते हैं और निषेचित अंडों से रानी और कार्यकर्त्ता निकलते हैं ।

भारतीय मक्खियों का मुख्य शत्रु, मोम शलभ (wax-moth) है । इस शलभ के जातक छत्तों की मोम को काट काट कर खाजाते हैं जिससे समुदाय को बड़ी क्षति पहुँचती है ।

शहद निकालने के प्रचलित ढंग नाशकारी और गंदे होते हैं । रात को जब मक्खियाँ छत्तों पर होती हैं, छत्ते लुकारों से जला दिये जाते हैं, जिससे अधिकांश मक्खियाँ जल कर मर जाती हैं और शेष भाग जाती हैं । फिर छत्तों को, जिसमें अंडे बच्चे और पराग भी होते हैं, दबा कर रस निकाल लिया जाता है जो मधु नाम से बिकता है । आजकल मधुमक्खियों को पालने के लिये लकड़ी की बनी हाइव (Hive) उपयोग में आने लगी हैं । मधु निकालने के लिये भी एक यंत्र (honey extractor) बना है जिससे छत्ते टूटते भी नहीं और शुद्ध मधु भी निकल आता है । मधु मक्खियाँ मोम जैसी उपयोगी वस्तु स्वयं तय्यार करती हैं परन्तु एक मन शहद खाकर केवल दो सेर मोम बना पाती हैं ।

वरजिल, अरिस्टाटल और प्लनी जैसे महापुरुष भी मधु और मोम से परिचित थे । मधु एक अत्यंत स्वादिष्ट और तुरन्त पचने वाला द्रव होता है । इसका बड़ा भैषजीय महत्व है । मोम से मोमबत्ती, खिलौने तथा अन्य उपयोगी सामान बनते हैं ।

(iv) **खद्योत या जुगनु** (firefly or glowworm) ये गुबरैले साधारणतः फोटिनस (Photinus) तथा फोटूरिस (photuris) प्रजाति (genus) के होते हैं जो इलैटिरिडी (elateridae) तथा लैम्पिरिडी (lampyridae) वंश के सदस्य हैं । इनमें अपने शरीर से प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति होती है । नर कीड़ों के

पंख होते हैं जिससे वे उड़ते रहते हैं। मादा के प्रायः पंख नहीं होते और वे घास पर ही पड़े पड़े चमका करते हैं। इनमें से कुछ के केवल पिछले सिरों से, कुछ के पिछले सिरों और बगल के पिछले भागों से और शेष के पूरे शरीर के दोनों ओर से प्रकाश निकलता रहता है। प्रकाश निकलने को प्रणय का एक अंग माना गया है जिससे नर मादा का पता पा कर उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। मादा का प्रकाश नर के प्रकाश तथा कोशित से दुगना तेज होता है। जुगनू के अंडे, जातक भी चमकते हैं। जुगनू तथा इसके जातक दोनों ही अन्य छोटे छोटे कीड़ों को खाते हैं। लेखक ने स्वयं जुगनू को पीपल के ऊँचे पेड़ों के सिरों पर न्यूनाधिक वर्ष भर उड़ते देखा है। बहुत सम्भव है वे पीपल के किसी कीड़े को आहार रूप में ग्रहण करते हों। जिन जातियों में नर मादा दोनों पंख-दार होते हैं उनमें उड़ते समय में ऊँचे पेड़ों के सिरों पर लैंगिक संयोग होता है। इतने ऊँचे और वह भी केवल एक विशेष प्रजाति के पेड़ों पर उड़ने के सम्भव कारण मालूम पड़ते हैं। इस पर अभी और खोज होने की आवश्यकता है।

जुगनू द्वारा निलकने वाले प्रकाश की विशेषता यह है कि उससे ९२ से १००% तक प्रकाश की किरणें निकलती हैं। यहाँ साधारण गैस के प्रकाश से केवल २५% बिजली के प्रकाश से १०% और धूप से ३५% प्रकाश की किरणें निकलती हैं और शेष ताप की किरणें होती हैं, प्रकाश उत्पन्न करने वाले अंग में ल्यूसिफ़ेरेस (lucife-rase) नामक विकर (enzyme) होता है जो उस अंग में विद्यमान ल्यूसिफ़ेरिन (luciferine) नामक पदार्थ को आक्सीजन-युक्त (oxidise) कर देता है जिससे प्रकाश निकलता है। यदि कभी ल्यूसिफ़ेरिन प्रयोगशालाओं में बन सका तो यह मानवता को एक अभूतपूर्व देन होगी क्योंकि मनुष्य को एक ऐसा प्रकाश मिल जायगा जो किसी भी प्रचलित प्रकाश से कई गुना कुशल होने के साथ ही साथ तापहीन भी होगा।

कुछ लोग, जुगनू का उपयोग, फ़ोटो ग्राफ़ी में कृत्रिम प्रकाश के लिए करते हैं।

(v) द्रुस्फोट (gall) बनाने वाले कीड़े—द्रुस्फोट मुख्यतः पौधों ही की विशिष्टता होती है जो मोटे तौर पर पौधे पर किसी भी प्रकार की असाधारण वृद्धि को कहते हैं जिसका कारण प्रायः नन्हे नन्हे कीड़े होते हैं।
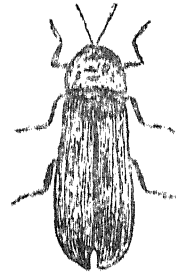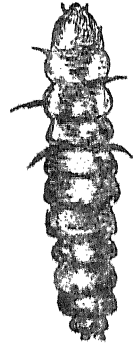
खद्योग

प्राचीन काल में मनुष्य को द्रुस्फोट का पता तो अवश्य था परन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि वे जीवित जीवों द्वारा बनाये जाते हैं। लिनी ने उनकी प्रकृति तथा वेग पूर्ण वृद्धि, मैल्पिगी ने (maipighi) उनके
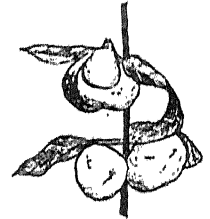
द्रुस्फोट

बनने के ढंग और थिओफ्रेस्टस (Theophrastus) ने उनकी भेषजीय गुणों की चर्चा की है। द्रुस्फोटों में मक्खी का जातक होना अकाल, और स्वयं मक्खी का होना युद्ध का सूचक माना जाता है।

द्रुस्फोटों से प्राप्त होने वाले पदार्थों में टैनिक आम्ल (tannic acid) मुख्य है जिससे निकोटीन टैनेट (Nicotine Tannate) नामक कीटनाशक दवा बनती है। टैनिक अम्ल से चमड़ा भी सिझाया (Tannig) जाता है। कहीं कहीं पर द्रुस्फोटों से निकलने वाले रंगों का भी उपयोग होता है। बहुत सी अच्छी स्थायी स्याहियाँ भी द्रुस्फोटों ही से तय्यार की जाती हैं। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में, द्रुस्फोटों को कई प्रकार के ज्वरों को रोकने के लिये उपयोग किया जाता था परन्तु आज कल इनका भेषजक महत्त्व कम हो गया है।

आहार के लिये उपयोग किये जाने वाले कीड़े—कुछ कीड़े मनुष्य के आहार भी हैं, जिनमें टिड्डे (grasshoppers), तेलपडवा या तैलबोट (Cockroaches), झींगुर (crickets) और टिड्डियाँ (locusts) मुख्य हैं। कहीं-कहीं पर तैलबोट बहुत स्वादिष्ट समझा जाता है। टिड्डे और टिड्डियाँ भी काफ़ी स्वादिष्ट समझी जाती हैं और इनका, विशेषकर टिड्डियों को खाने का प्रचलन दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। ग्रीस के निवासी टिड्डियों को खल में कूट कर आटा बनाते हैं। अमेरिका के रेड इंडियन कीड़ों की बड़ी बड़ी सूड़ियों (caterpillars) को सुखा कर बाद में उपयोग करने के लिये रख लेते हैं। कीड़ों के रक्त में लवण (salt) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण वे अधिक पसंद किये जाते हैं। इसके अतिरिक्ति नमक की कमी के स्थानों पर कुछ अंश तक वे नमक की कमी भी पूरी कर देते हैं।

औषधि के लिये उपयोग किये जाने वाले कीड़े—अनेकों कीड़े स्वयं या उनके रस अथवा उनके बनाये पदार्थ औषधि के रूप में उपयोग किये जाते हैं। मेलायडी (Meloidae) वंश के माइलेब्रिस (Mylabris) नामक फूलों को खाने वाले फफोले डालने वाले गुबरैले (blister beetle) को सुखा कर उससे कैन्थरिडीन नामक दवा तैयार की जाती है। कैन्थरिडीन मूत्रजनन संहति (urinogenital system) के भीतरी रोगों को अच्छा करने के काम आती है। बालों के धोने में भी इसका उपयोग होता है परन्तु यह हानिकर सिद्ध हुआ है। एपिस (apis) नामक दवा जो डिफ्थीरिया, स्कारलेट ज्वर, ड्राप्सी आदि रोगों को अच्छा करने के काम आती है, मधुमक्खी का अल्कोहल द्वारा निकाला हुआ रस होता है। घावों में विद्यमान जीवाणुओं तथा सड़ी गली ऊतियों को साफ़ करने के लिए घरों की मक्खी आदि के समूह (Diptera) के वोल्फ़ारशिया (wohlfahrtia) नामक मक्खी के जातक (maggots) उपयोग किए गए हैं। अभी हाल ही में यूरिया (urea) से कुछ दवा तैयार की गई है जिसने अब वोल्फ़ारशिया के जातकों की जगह ले ली है।

परागण में सहायता करने वाले कीड़े Pollinizers)—इस श्रेणी में मधुमक्खियाँ और तितलियाँ सम्मिलित हैं। कीड़े जब फूलों पर बैठकर उसका मकरन्द (nector) चूसते या पराग खाते हैं तो उनके शरीर पर पराग कण लग जाते हैं जो दूसरे फूलों पर बैठने पर झड़ जाते हैं और कुछ फूल के मादा अंगों पर भी पड़ जाते हैं जिससे फूलों का परागण हो जाता है। मटर, गूलर, अंजीर तथा पीपल आदि के फूल तो बिना कीड़ों के परागित ही नहीं हो सकते। परागण होने के उपरान्त फूल के नर कोश उसके मादा कोशाओं से मिलते हैं जिसके फलस्वरूप फल व बीज बनते हैं। परागण न होने पर फल व बीज नहीं बन सकते। फलों व बीजों का कृषि में कितना महत्व है यह बताने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि फल व बीज न होने पर संसार की अधिकांश जनसंख्या को भूखों मरने के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं रह जायगा।

भंगी के रूप में लाभ पहुँचाने वाले कीड़े (scavengers)—लोगों का ऐसा अनुमान है कि भंगी कीड़े ही आगे चलकर जीवित कीड़े आदि खाने लगे और हिंसाजीवी (predators) तथा परजीवी (parasites) बन गये। घरेलू मक्खियों के समूह (Diptera)

के सारकॉफेगिडी (sarcophagidae) वंश के कीड़े मृतक पौधे तथा प्राणी और जीवित पौधे तथा प्राणी सभी कुछ खाते हैं। भंगी और हिंसाजीवी तथा परजीवी कीड़ों के परस्पर सम्बन्धित होने के पक्ष में यह एक स्पष्ट प्रमाण है।

मरे हुए चूहे पर भंगी गुबरैले

भंगी वे कीड़े कहलाते हैं जो अनुपयोगी और बेकार तथा सड़ी गली वस्तुओं को खाकर गन्दगी दूर कर देते हैं। ये मृतक तथा सड़े गले पदार्थों में घुसकर उन्हें खा जाते
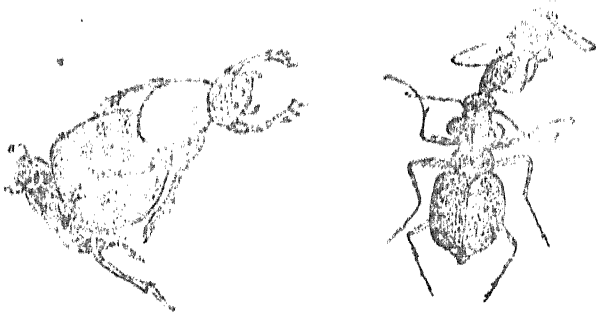
गोबर के टुकड़े को लुढ़काते हुए दो भंगी गुबरैले

एक हानिकारक कीड़े पर आक्रमण करते हुए एक हिंसा जीवी गुबरैला

हैं। ये कीड़े प्राय: निम्न श्रेणी के होते हैं जैसे थाइसेन्यूरा (Thysanura), कोलेम्बोला (collembola), आरथाप्टेरा (orthoptera) का तैलचोट आदि का वंश (Blattidae), तथा निम्न श्रेणी के गुबरैले (coleoptea) और मक्खियाँ (Diptera)। कुछ कीड़े उच्च श्रेणी के प्राणियों के गोबर व लीद (dung) को खाते तथा उसी में अंडे देते हैं। कुछ सड़ी गली लकड़ी आदि भी खाते हैं।

हिंसाजीवी और परजीवी कीड़े—इन श्रेणियों के कीड़े किसी जीवित पदार्थ पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं।
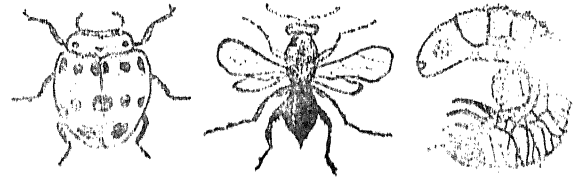
कुछ परजीवी कीड़े

हिंसाजीवी कीड़े दूसरे जीवों के सहारे जीवित रहते हैं और उसकी जीव सम्बन्धी ऊतियों (vital tissues) को खा जाते हैं। ये पालक पर नहीं पर उसके आसपास अंडे देते हैं। इनके पालक भी कई हो सकते हैं। तैलचोट के समूह (Orthoptera) का समूचा मैंटिडी Mantidae) वंश हिंसाजीवी होता है। कुछ गुबरैले भी हिंसाजीवी होते हैं।

परजीवी कीड़े दूसरे प्राणी पर बिना उसका जीवन छीने, जीवित रहते हैं। इनमें साधारणतः पालक एक ही होता है और उसी की ऊतियों में वे अंडे भी देते हैं। उस श्रेणी के अधिकतर कीड़े मधुमक्खी और बर्रे (wasps) के समूह (Hymenoptera) के होते हैं।

घासों (weeds) को नष्ट करने वाले कीड़े—कुछ कीड़े जो घासों आदि को खाकर जीवन निर्वाह करते हैं, किसान का बड़ा उपकार करते हैं। ये खेतों में उगने वाली घासों को खाकर सहज ही में उनका नाश कर के किसान के बहुत से समय और धन की बचत कर देते हैं।

मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने वाले कीड़े—कुछ कीड़े

मिट्टी में बिल बना कर मिट्टी को पोली करने के साथ ही साथ नीचे की अच्छी मिट्टी की, खेत के तल (surface) पर, एक नई तह जमा देते हैं। इनमें सभी बिल बनाने वाले कीड़े जैसे कुछ गुबरैले, तथा टीवाँ (gryllotolpar) आदि सम्मिलित हैं। ये कीड़े किसानों के लिये केंचुओं से अधिक लाभदायक सिद्ध हुए हैं। कीड़े अपने मल को खेतों में त्याग कर और खेतों ही में मर कर भी उसकी उर्वरता बढ़ाने में सहायक होते हैं।

संगीत कला तथा अन्य मानव आमोद के साधन वाले कीड़े—इन श्रेणियों के कीड़े संसार की भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा भिन्न-भिन्न ढंग से काम में लाये जाते हैं।

कुछ कीड़े अपने पंखों को एक दूसरे के साथ रगड़ कर, पंखों को टांगों से रगड़ कर तथा पंखों को आवेपित (vibrate) करके नाना प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। पर शोर वास्तव में संगीत तो नही कहा जा सकता फिर भी ऐसे कीड़े को कीट-जगत के वाद्य सांगीतज्ञ (instrumentalists) कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। जहाँ वरजिल सिकेडा (Cicada) के शोर को नापसंद करते हैं वहाँ शैली जैसे कवियो ने टिड्डों के संगीत पर कविताएं लिख डाली हैं। जापान में झींगुर और सिकेडा पक्षियों की तरह अपने संगीत के लिये छोटे-छोटे पिंजरों में पाले जाते हैं। टोकियो में कम से कम ऐसी ५० बाज़ारें होंगी जहाँ संगीतज्ञ कीड़ों का क्रय विक्रय होता है।

कुछ जातियाँ सुन्दर कीड़ों को आभूषणों के रूप में उपयोग करती हैं। प्रकाश उत्पन्न करने वाला कीड़ा जुगनू भी आभूषण के रूप में उपयोग किया जाता है। इक्वेडोर के प्राचीन निवासी ब्यूप्रेस्टिडी (Buprestidae) वंश के गुबरैलों के चमकीले हरे और कड़े पंखों के कान में पहनने वाले इयररिंग (earring) बनाते थे। कुछ तितलियों के पंखों से विशेष प्रकार के स्थायी आभूषण और चित्र बनते हैं। मिस्र के निवासी स्कैरब (Scarab) नामक गुबरैले को सूर्यदेव का चिह्न मानते थे। अमेरिका के रेडइंडियन बर्तनों तथा टोकरियों आदि को सजाने के लिये कीड़ों का उपयोग करते थे।

कहीं-कहीं पर झींगुर तीतर व बटेर की तरह लड़ाने के लिये भी सिखाये और पाले जाते हैं। कभी-कभी झींगुरों की लड़ाई पर बाज़ी भी लगाई जाती है और कुछ लोग कुशल झींगुरों के सहारे जुआ भी खेलते हैं। कुशल लड़ाकू झींगुर अच्छे दामों में बिकते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि यदि सब नहीं तो कम से कम कुछ कीड़े अवश्य ऐसे हैं जो मानव कल्याण में लीन रहते हैं और मनुष्य का अनेकों प्रकार से भला करते हैं। स्वभावतः हमारा यह कर्तव्य होता है कि हम न्याय का पल्ला पकड़ें और अपने इन कीड़-मित्रों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि एक मित्र दूसरे मित्र के साथ करता है जिससे उनके जीवन की रक्षा भी हो सके और हम कर्तव्यविमुख भी न हों।

[विशेष—पृष्ठ १२ के चित्र के नीचे "लाख" और पृष्ठ १४ के चित्र के नीचे "लाख का कीड़ा" पढ़िए।]

नाइट्रोजनिक यौगिकों का निर्माण एवं अन्न-उत्पादन में उनका स्थान

आचार्य नील रत्न धर, डी० एस-सी० (लन्दन-पेरिस)

कृषि की उन्नति के लिए वैज्ञानिक साधनों के रूप में खाद के प्रश्न पर रसायनाचार्य धर महोदय का यह लेख विशेष प्रकाश डालता है। सिंदरी के वैज्ञानिक खाद उत्पादन के कारखाने के उद्घाटन से पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित है। अतएव यह लेख विशेष रुचिकर सिद्ध होगा।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृषि का प्रारम्भ, मनुष्य के द्वारा १०,००० से १२,००० वर्ष पूर्व हुआ। मानवीय-इतिहास के प्रभात से ही फसलों की समुन्नति के लिए पशु-खाद के महत्व को लोगों ने समझा। पौदों से प्राप्त पदार्थों की उपयोगिता भी आरम्भ काल में ही सिद्ध हो चुकी थी। रोम के लेखक प्लिनी (२३-७६ ई०) ने निम्न प्रकार से लिखा :—

"विश्व के सभी लेखकों ने यह स्वीकार किया है कि ल्यूपिन्स (Lupins) की फसल को जोत देने के बराबर कृषि के लिए कोई दूसरी क्रिया लाभदायक नहीं। उन स्थानों में जहाँ पशु-पालन नहीं होता, वहाँ पृथ्वी को उर्वर बनाने के लिए पौदों के अवशेष (झड़न) या फर्न (Fern) की ही खाद देना गुणकारी है।"

बर्नार्ड पैलिसी

सर्वप्रथम अन्वेषक, जिसने खाद के वैज्ञानिक दृष्टि-कोण, पशु एंव वनस्पति पदार्थों तथा धातुओं या लवणों के अन्तर्गत पारस्परिक सम्बन्ध को सुलझाया वह **बर्नार्ड पैलिसी** (१५१०-१५८९ ई०) सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी सेरेमिक (Ceramic) का एक अधिकारी था। उसने निम्न-रूप में लिखा :—

"फसलों के उत्पादन में खाद का सहयोग नहीं अपितु उसमें खाद-सम्बन्धी लवण ही लाभदायक हैं।"

ग्लावर

अपने नाम के लवण के अन्वेषक, जर्मनी के रासा-यनिक विद्वान **ग्लावर** (१६०४-६८) को लवणों का वृहत ज्ञान था। उसके अनुसार साल्ट पिटर (Salt Petre) या शोरा (पोटेशियम नाइट्रेट) ही सब लवणों में प्रधान है अर्थात वनस्पति, पशु तथा धातुओं में यही लवण वर्तमान है।

सन् १६६५ ई० में सर केनेल्म डिगबी ने सूचित किया कि साल्ट पिटर के संयोग से उसने अधिक उत्पादन किया। चिली के साल्टपिटर (सोडियम नाइट्रेट), की खुदाई ब्रिटेन की पूँजी से सन् १८३० ई० में प्रारम्भ हो गई थी। इंगलैंड में सन् १८४० ई० में ही कोयले को गर्म करके सर्वप्रथम अमोनियम-सल्फेट बनाया जा चुका था एवं अन्नोत्पादन में इसका महत्व भी सिद्ध हो चुका था। परन्तु यह अमोनियम-सल्फेट आवश्यकता से कम था

अतएव अन्न उत्पादन के लिए नाइट्रोजनिक यौगिकों की उत्पत्ति तथा वायुमण्डल से प्राप्त नाइट्रोजन द्वारा विस्फोटकों के निर्माण की समस्या को बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही अत्यधिक गम्भीरता से सुलझाने का प्रयत्न हुआ।

विलहेल्म ओस्टवाल्ड तथा फ्रिट्ज़ हावर

सन् १९०३ ई० के प्रारम्भ में ही, एक महान जर्मन रासायनिक तथा युवकों को प्रोत्साहित करने वाले, विलहेल्म ओस्टवाल्ड ने घोषित किया कि नाइट्रिक एसिड जो विस्फोटक-निर्माण की प्रमुख सामग्री एवं युद्धाभिमुख-राष्ट्र का जीवन-रक्त है, जर्मन-वैज्ञानिकों द्वारा जर्मनी में ही प्राप्त-वस्तुओं से निर्मित की जानी चाहिए। उस समय नाइट्रिक एसिड जर्मनी में ही प्राप्त सल्फ्यूरिक एसिड (गंधकाम्ल) तथा चिली से आए हुए सोडियम-नाइट्रेट (चिली-साल्ट-पिटर) की प्रतिक्रिया से प्राप्त की जाती थी। ओस्टवाल्ड ने कहा कि यदि इंगलैंड से, जिसके पास महान शक्तिशाली बेड़ा है, युद्ध हुआ तो चिली-साल्ट-पिटर की प्राप्ति का अन्त हो जायगा। परन्तु वैज्ञानिक अनुसन्धानों में जर्मनी अत्यधिक बढ़ा हुआ है और औद्योगिकों, वैज्ञानिकों तथा राज्य में परस्पर प्रगाढ़ मैत्री एवं एकीकरण है, अतः प्रथम-विश्व-युद्ध के पूर्व ही नाइट्रिक एसिड तथा अन्य उपयोगी नाइट्रोजनिक-यौगिकों की उत्पत्ति के आयोजित अनुसन्धानों ने उन्नति की। ओस्टवाल्ड ने अपने शिष्यों, मुख्यतया **डा० ब्रायर** की सहायता से प्रतिपादन किया कि अमोनिया, वायुमण्डल की आक्सीजन के संयोग से, प्लैटिनम की उपस्थिति में, नाइट्रिक एसिड का वृहतरूप में निर्माण कर सकती है। चूंकि जर्मनी में अत्यन्त विस्तृत कोयले की खानें हैं अतएव ओस्टवाल्ड ने सोचा कि कोयले को वायुमण्डल की अनुपस्थिति में गर्म करने से अमोनिया बृहत मात्रा में प्राप्त की जा सकती है और वही इस प्रतिक्रिया द्वारा नाइट्रिक एसिड में परिवर्तित करके जर्मनी को वर्तमान विशाल-विस्फोटकों के निर्माण में अन्य राष्ट्रों से आत्म-निर्भर कर सकती है। परन्तु उसकी आशाएँ पूर्ण न हुईं क्योंकि शीघ्र ही यह पता चला कि कोयले से प्राप्त अमोनिया इस क्रिया के लिए पर्याप्त अशुद्ध थी क्योंकि प्लैटिनम अशुद्ध अमोनिया द्वारा दूषित हो गया था। आज के वेषभूषा-प्रिय लोगों को धन्यवाद है जो प्लैटिनम को आभूषणों के रूप में—कंगन, कर्णफूल, हार इत्यादि-प्रयोग करते हैं जिससे स्वर्ण की अपेक्षा प्लैटिनम मूल्यवान हो गया है अतएव औद्योगिक क्रियाओं में यत्रतत्र ही प्रयोगित है। परन्तु जर्मनी के पुरुष दृढ़-प्रतिज्ञ होते हैं अतएव ओस्टवाल्ड ने इस कार्य को छोड़ा नहीं वरन् अपने शिष्य फ्रिट्ज हाबर को, जो एक महान ज्यूरिश वैज्ञानिक तथा भौतिक-रसायन शास्त्र का महान नेता था, जर्मनी में शुद्ध अमोनिया के निर्माण के लिए आदेशित किया। आचार्य हावर ने, एक योग्य-अन्वेषक-वृन्द की सहायता से एवं जर्मनी के महान रासायनिक उत्पादक बाडिश एनिलिन और सोडा फैब्रिक से आर्थिक सहयोग प्राप्त कर इस समस्या का क्रमिक एवं निरन्तर बृहत अध्ययन बारह वर्ष तक किया।

वायुमण्डल की नाइट्रोजन और पानी की हाइड्रोजन, जो विशेष क्रिया द्वारा अत्यधिक तापक्रम एवं भार द्वारा परस्पर संयोजित हुईं, शुद्ध अमोनिया निर्मित करने में सफल हुईं। नइट्रोजन स्थिरीकरण (Fixation) की यह नवीन पद्धति नोबेल पुरस्कार के विजेता हावर तथा रसायनिक इञ्जीनियर डा० बास, जिन्हें बाद में नोबेल पुरस्कार मिला, के द्वारा सर्वप्रथम प्रचारित हो, अनेकानेक कृत्रिम घी या उसके सदृश वस्तुओं के उद्योगों की, फिर बाद में महान फ्रांसीसी आचार्य तथा नोबेल पुरस्कार विजेता टूलोज के निवासी पाल सेबैटियर और नोबेल पुरस्कार विजेता बर्गियस द्वारा कोयले से पेट्रोल की जननी बनी। सन् १९१३ ई० में सिंहासन-च्युत कैसर विलहेल्म तथा महान वैज्ञानिकों और जर्मनी के औद्योगिकों के समक्ष अमोनिया के बृहत निर्माण का

विजयी प्रदर्शन हुआ। परन्तु डा० हावर इस प्रदर्शन के पश्चात् ही कार्याधिक्य एवं वर्षों के अनवरत प्रयत्न तथा दैवी-कार्य के फल स्वरूप मूर्छित हो गए। इस प्रकार नाइट्रोजनिक स्थिरीकरण की नवीन प्रणाली हावर-वास की ही है।

सर विलियम क्रुक्स

इस उद्योग के स्थापन में, जो सुसंचालित अन्वेषण का जीवित उदाहरण है, सर विलियम क्रुक्स के नाटकीय वक्तव्य ने गहरा हाथ बटाया। क्रुक्स जो किसी विश्व-विद्यालय का उपाधिकारी भी न था और आत्मा में विश्वास रखता था, अपनी वैज्ञानिक कुशलता के कारण रायल सोसाइटी के सभापतित्व को ग्रहण कर सका, ब्रिटिश एसोशियेशन के समक्ष अपने प्रसिद्ध सभापति भाषण में सन् १८९८ ई० में संसार की बढ़ती हुई जन-संख्या की भोजन समस्या पर विहंगम दृष्टि फेरते हुए श्वेत जाति के मुख्य खाद्य-पदार्थ गेहूँ की समस्या पर विशेष जोर दिया। दुहराते हुए कहा कि यदि गेहूँ की उत्पत्ति को नहीं बढ़ाया जाता तो पीले और काले लोग जो चावल मक्का एवं अन्य अनाज ही खाते हैं जिनके उत्पादन में उतनी नाइट्रोजनिक विशिष्ट खाद नहीं लगती जितनी गेहूँ में, शीघ्र ही विश्व में श्रेष्ठता प्राप्त कर लेंगे। अन्तिम निर्णय करते हुये उसने कहा कि सन् १९३१ ई० तक विश्व के सभी प्राप्य गेहूँ के क्षेत्रों को बढ़ती हुई जन संख्या के लिये गेहूँ पैदा करना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप चिली तथा अन्य स्थानों से प्राप्त होने वाले प्राकृतिक शोरे के कोष रिक्त हो जायेंगे और श्वेत पुरुषों को भूखों मरना पड़ेगा। क्रुक्स का ध्येय, वैज्ञानिकों के ध्यान को उस दिशा में ले जाना था जिससे वे वायु की नाइट्रोजन को किसी प्रकार स्थिर कर सकें और भविष्य में रोटी की समस्या पूर्णरूपेण सम्भाव्य हो जाय। मध्यकालीन इङ्गलैण्ड में एक एकड़ में केवल ६ मन गेहूँ पैदा किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में भी, जर्मनी के महान रासायनिक विद्वान बैरन लीबिग ने जिसने राजकुमार कनसर्ट एलबर्ट के निमन्त्रण पर ब्रिटिश द्वीप समूह के एक छोर से दूसरे छोर तक एक सफल यात्रा की, घोषणा की कि इङ्गलैण्ड विज्ञान का देश नहीं अतः उसने अपने प्रसिद्ध शिष्य हाफमैन को इङ्गलैण्ड के नवयुवकों को पढ़ाने के लिये नवीन संस्थापित लन्दन के रायल कालेज आफ़ साइन्सेज (विज्ञान के राजकीय विद्यालय) में भेजा। कृषि उद्योग एवं शिक्षा में विज्ञान के प्रभाव से इङ्गलैण्ड की दशा शीघ्र ही बदल गयी और वह एक बड़ा औद्योगिक राष्ट्र तथा विज्ञान और उद्योग में सर्वप्रथम शक्ति बन गया।

जन-संख्या की रोक

सन् १८४५ में विश्व की जनसंख्या १ अरब ६० लाख थी जो सन् १९३१ में १ अरब ६० करोड़ हो गई तथा वर्तमान समय में २ अरब १३ करोड़ ५० लाख है। १८ सदी के अन्त में जनसंख्या की वृद्धि एवं कृषि की दीन दशा देखते हुये मालथस ने अपना सुप्रसिद्ध निबन्ध प्रकाशित किया जिसमें जनसंख्या के नियम तथा समाज की भविष्य उन्नति पर प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए जनसंख्या की रोक-थाम का प्रतिपादन किया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में छाई हुई शान्ति तथा रक्षा के कारण ही गत शताब्दियों की जन-संख्या में दुगनी वृद्धि हुई। निस्सदेह मालथस ने भविष्य को बड़ी गम्भीरता से आँका। इस प्रकार मालथस के सिद्धान्त ने ५० वर्ष तक जनमत को प्रभावित किया परन्तु यूरप तथा अमेरिका में कृषि, यातायात, शक्ति साधनों तथा अन्य उद्योगों में विज्ञान का आश्रय लेने से अन्न उत्पादन में वृहत अभिवृद्धि हुई। कृत्रिम तथा कार्बनिक (organic) खादों, विशिष्ट बीजों एवं खेती के वैज्ञानिक तरीकों का आश्रय लेने से गेहूँ की उपज ६ मन प्रति एकड़ से २५ मन हो गई। विश्व-भोजन-स्थिति के सुधार का दूसरा कारण घास

के मैदानों में कृषि का संचरण है जिसके फलस्वरूप उत्तरी अमेरिका के घास के मैदान तथा बड़ा मैदान एवं आस्ट्रेलिया के अर्धशुष्क भाग बहुत बड़ी मात्रा में अन्न पैदा कर रहे हैं।

भारत और चीन के अधिकतर भागों में मालथस का सिद्धान्त ही सर्वमान्य ज्ञात होता है क्योंकि इनकी जनसंख्या बहुत अधिक है, जनता अज्ञान है और वैज्ञानिक कृषि का अभाव है। अतः जन-वृद्धि की रोक ही एकमात्र औषधि प्रतीत होती है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् मालथस के सिद्धांत की ओर विशेष आकर्षण हुआ, जो युद्ध के समय भोजन की कमी के कारण ही हो सकता है। अमेरिका के महान जीव-वैज्ञानिक तथा जनगणना में कुशल, पर्ल के अनुसार विश्व की जनसंख्या आने वाली शताब्दियों में चिरकाल तक बढ़ती रहेगी परन्तु इससे यह कदापि अभिप्राय नहीं कि मानवीय दरिद्रता भी उसी पथ का अनुसरण करेगा। पश्चिम एवं पूर्व के मनुष्य समान ही प्राकृतिक शक्तियों के ज्ञान में वृद्धि करेंगे और उनको वश में करने तथा अपने लाभ के लिये प्रयोग करने में समर्थ होंगे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व नाइट्रोजनीय उद्योग की दशा

प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के पास स्वयं का नाइट्रोजनिक स्थिरीकरण-उद्योग होता है और संयुक्त नाइट्रोजन की उत्पत्ति को ही सभ्यता का मापदण्ड माना जा सकता है। आज नाइट्रोजनिक उद्योग उतना ही आवश्यक है जितना इस्पात या कोयले का उद्योग। इसमें जर्मनी सर्वप्रथम एवं जापान द्वितीय था। दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में नाइट्रोजनिक-उद्योग बहुत नवीन है। पहले मैसूर रियासत में नाइट्रोजन-स्थिरीकरण का कारखाना खोला गया तत्पश्चात ट्रावन्कोर में। आजकल एक नूतन कारखाना बिहार-स्थित सिंदरी में उन्नति करने जारहा है।

स्थिर की गई नाइट्रोजन टनों में—(१६३७)

देश	यन्त्रों की संख्या	मात्रा
जर्मनी	१३	१३,६५,८५०
जापान	२१	४६०,१३२
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१०	२६२,५१०
फ्रांस	२७	२४४,०५०
इंगलैंड	२	२३२,८७०
बेल्जियम	१०	२१७,६८०
सोवियट यूनियन	४	१५७,५००
इटली	१८	१४६,८३०
हालैंड	३	१३६,६३०
नार्वे	४	१२१ ०००
कनाडा	३	१०२,०००
मंचूरिया	१	४०,०००
स्वीडन	३	१४,०००
स्विटजरलैंड	३	१३,२००
स्पेन	२	८,०००
चीन	२	७,१७५
दक्षिणी अफ्रीका	१	५,७५०
हंग्री	१	५,७४०
योग	१२८	३५,४७,३५२ टन

द्वितीय विश्व युद्ध में अन्नोत्पादन के लिए कृत्रिम नाइट्रोजन का यूरप में न्यून प्रयोग

अच्छी फसल के लिए प्रति एकड़ पृथ्वी में २५-३० पौंड नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि इतनी मात्रा ही फसल एवं तिनके में वर्तमान रहती है। फिर भी, उन्नतिशील देशों में भी, कृत्रिम खाद के रूप में प्रयोग होने वाली नाइट्रोजन की मात्रा आवश्यक मात्रा से बहुत कम है।

प्रति एकड़ नाइट्रोजन का प्रयोग—पौंडों में

देश	प्रतिवर्ष प्रतिएकड़ में मिलाई गई नाइट्रोजन की मात्रा पौंडों में
हालैंड	२४.७९
वेल्जियम	२८.५५
जर्मनी	१८.६५
डेनमार्क	१०.२३
नार्वे	५.९८
स्वीडन	५.२४
फ्रांस	४.००
इटली	४.२६
ग्रेटब्रिटेन	२.४६
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१.३६
पोलैंड	०.७३
हंग्री	०.१५

विश्व की भोजन परिस्थिति

यह भलीभांति ज्ञात है कि भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में जन-समूह का पाँचवाँ भाग है। परन्तु इन दोनों देशों में सम्मिलित रूप से विश्व उत्पत्ति का, दशाँश ही अन्न उत्पादन है, जो ६० करोड़ टन है। यदि विश्व में उत्पन्न अनाज को पृथ्वी के सम्पूर्ण निवासियों में समान रूप से वितरित किया जाय तो हर एक को ३४०० कैलोरी शक्ति प्रतिदिन मिलेगी। अतः यह स्पष्ट है कि अनाज जो संसार भर के गरीब मनुष्यों का खाद्य पदार्थ है, भारतवर्ष तथा पाकिस्तान को भलीभांति भरण के लिए ६ करोड़ टन अधिक अन्न उत्पन्न किया जाना चाहिए। अनाजों में प्रायः दो प्रतिशत (२%) नाइट्रोजन होती है अतः ६ करोड़ टन अधिक अन्न उत्पत्ति के लिए १२ लाख टन नाइट्रोजन की आवश्यकता होगी परन्तु विश्व की संश्लिष्ट नाइट्रोजन की उत्पत्ति द्वितीय युद्ध के पूर्व ३५ लाख ४० हजार टन (पिछले पृष्ठ की तालिका के अनुकूल) थी। अच्छे भोज्य पदार्थ जैसे आलू, दूध, मक्खन, मलाई, खमीर, माँस, मछली तथा अंडे विश्व में ४० करोड़ टन की मात्रा में पैदा किए जाते हैं परन्तु भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में दशाँश से भी कम इनकी उत्पत्ति होती है। इन अच्छे भोज्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए लगभग १ करोड़ टन संयुक्त नाइट्रोजन की आवश्यकता होगी। अतएव विश्व का नाइट्रोजनिक उद्योग अन्न उत्पादन के लिए आवश्यक नाइट्रोजन की पूर्ति करने में समर्थ नहीं। वर्तमान समय में विश्व भोज्य पदार्थों का ३% ही कृत्रिम नाइट्रोजनिक खादों के कारण हो सकता है। भोज्य पदार्थों की उत्पत्ति को केवल १०% बढ़ाने के लिए स्थिरकृत नाइट्रोजन में चौगुनी वृद्धि होनी चाहिए जिसमें २५० करोड़ रुपए की पूंजी लगेगी, और इसमें १५ वर्ष से कम न लगेंगे अतः इससे यही विदित होता है कि आज भी विश्व की भोज्य सामग्री का उत्पादन कृत्रिम नाइट्रोजनिक यौगिकों द्वारा नहीं है अपितु पृथ्वी में निहित नाइट्रोजन के द्वारा ही सम्भाव्य है। अतएव सिंदरी कारखाने में नाइट्रोजनिक यौगिकों का निर्माण एवं उनका अन्न उत्पादन में प्रयोग विशेष रूप से भारतीय भोजन समस्या को सुगम नहीं बना सकता क्योंकि प्रथम तो हमारी पृथ्वी (मिट्टी) कार्बनिक पदार्थों में न्यून है साथ ही पौदों की आवश्यक वृद्धि के लिए पानी की कमी है।

फसलों के उत्पादन से कार्बनिक पदार्थों का महत्व

सन् १९३५ ई० से ही (सभापति भाषण नेशनल एकेडमी आफ साइंसेज इंडिया, १९ दिसम्बर १९३५ तथा १५ जनवरी १९३७) धर ने विशेष जोर दिया है कि पौदों से सम्बन्धित पदार्थों को बिना खाद बनाए खेतों में सीधे ले जाकर डाल देने से फसलों को

अधिक लाभ होता है क्योंकि शक्तिदायक पदार्थ जैसे कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate), सेल्यूलोज (Cellulose), लिगनिन (Lignin), चर्बी (fats) इत्यादि जब मिट्टी में मिला दिए जाते हैं तो इनका आंशिक आक्सिजनीकरण (Oxidation) होता है और इस क्रिया में वायुमण्डल की नाइट्रोजन स्थिर हो जाती है साथ ही ये कार्बनिक पदार्थ पृथ्वी की नाइट्रोजन को सुरक्षित रखने में सहायक होते हैं। पौदों के पदार्थों का महत्व, जब वे मिट्टी में मिला दिए जाते हैं इसलिए नहीं कि वे अपनी नाइट्रोजन दे देते हैं वरन इसलिए भी कि कार्बनिक वस्तुओं के आक्सिजनीकरण तथा सौर-प्रकाश के शोषण से नाइट्रोजन स्थिर हो जाती है। अतः अत्यधिक मृत्तिका-कार्बनिक-पदार्थ या ह्यूमस (जो प्रोटीन तथा लिग्निन या सेल्यूलोज अथवा कार्बोहाइड्रेट और सूक्ष्मप्राणियों का मिश्रण है) बनता है और जब पौदों से सम्बन्धित पदार्थ अन्यत्र कहीं खाद बनाए जाने के बजाए सीधे मिट्टी में मिला दिए जाते हैं तो यह ह्यूमस के रूप में मिट्टी में मिल जाते हैं। मिट्टी में पौदों के पदार्थों के इस प्रकार बिना खाद बनाए ही सीधे मिला देने की क्रिया को इंगलैंड, पेनसाइलवेनिया, कैलीफोर्निया तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के खेतों में अपनाया गया है और फिलिस्तीन के संतरों के कारबार धर के अनुसार ही संचालित हैं।

यह स्पष्ट है कि कृत्रिम विशिष्ट खाद, पौदे की स्वस्थ वृद्धि के लिए सम्पूर्ण पदार्थों की पूर्ति नहीं करती। परन्तु जब पौदों के अवशेष सीधे या खाद के रूप में मिला दिए जाते हैं तो वे पौदे की वृद्धि के लिए आवश्यक पदार्थों की, जिनमें अप्राप्य सूक्ष्मतत्व भी निहित हैं, पूर्ति करते हैं। धर एवं उनके सहयोगियों ने प्रयोगों द्वारा दिखाया है कि कार्बोहाइड्रेट, सेल्यूलोज तथा चर्बी, विरुद्ध-उत्तेजक (Negative Catalyst) के रूप में, प्रोटीन तथा अमोनिया के लवणों या यूरिया के नाइट्राइट एवं नाइट्रेट रूप में आक्सिजनीकरण होने में, कार्य करते हैं। अतएव पौदों के पदार्थों के साथ जब प्रोटीन मिलाया जाता है तो फसल के लाभ हेतु बहुत ही मन्थर गति से और अमोनिया के लवणों या यूरिया से अधिक समय तक नाइट्रेट निकलता रहता है। ह्यूमस से इस प्रकार के नाइट्रेट के मन्थर निकास के कारण मिट्टी से नाइट्रेट के धुल जाने का अवसर जाता रहता है। इलाहाबाद में यह सिद्ध हो चुका है कि जब मिट्टी में, अमोनियम सल्फेट के रूप में १०० पौंड नाइट्रोजन मिलाई जाती है तो ३ या ४ माह में मिट्टी या फसल को बिना लाभ पहुँचाए ही अस्थिर अमोनियम नाइट्राइट के सृजन एवं विनाश के कारण ६० पौंड नाइट्रोजन हवा के रूप में नष्ट हो जाती है। अतएव कृत्रिम खादें अपव्ययी एवं विनष्टकारी हैं। प्रोटीन का भी आक्सिजनीकरण होता है और आंशिक रूप में नाइट्रोजन की हानि होती है परन्तु कार्बोहाइड्रेट, सेल्यूलोज, तथा लिग्निन और चर्बी पदार्थ जो पौदों में या गोबर में उपस्थित होते हैं वे इस हानि को कम कर देते हैं और फसल अधिक समय तक बने हुए नाइट्रेट का धीरे-धीरे शोषण करती रहती है।

खाद के रूप में पत्थर के कोयले का प्रयोग

हम लोगों ने निरीक्षण किया है कि पीट (Peat) लिग्नाइट (Lignite) तथा बिटुमिनस कोयला (Bituminous Coal) जब सुरीति से चूर्ण करके मिट्टी में मिला दिए जाते हैं तो उनका धीरे धीरे आक्सिजनीकरण होता है और इस क्रिया में नाइट्रोजन भी स्थिर होती है। प्रकाश में स्थिर-कृत नाइट्रोजन की मात्रा अंधकार में स्थिर की गई मात्रा से अधिक होती है। विश्व की पीट एवं लिग्नाइट स्थित सम्पूर्ण नाइट्रोजन-सम्पत्ति ४७ अरब ६५ करोड़ टन अनुमानित है। साथ ही कोयेल में स्थित कार्बनिक-यौगिक, पौदों के पदार्थों से अधिक निष्क्रिय हैं अतः जब भली भांति चूर्ण किया

गया कोयला मिट्टी में मिला दिया जाता है तो मिट्टी की प्राप्य नाइट्रोजन उतनी सरलता से सूक्ष्म प्राणियों की प्रोटीन में परिवर्तित नहीं होती जितनी सरलता से पौदों के अवशेष हो जाते हैं। अतएव बारीक पिसा हुआ कोयला, जिसका प्रयोग अभी तक कहीं नहीं होता, मिट्टी में मिलाया जा सकता है, और बिना प्रतीक्षा किए हुए भी शीघ्र ही फसल उगाई जा सकती है परन्तु जब पौदों के पदार्थ मिट्टी में सीधे मिला दिए जाते हैं तो हमें कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

धान एवं गेहूँ की फसलों को हमारे प्रयोगों से, जिनमें हमने बारीक लिग्नाइट या बिटुमिनस कोयला मिलाया था विशेष लाभ पहुँचा क्योंकि इनके द्वारा नाइट्रोजनिक खाद तथा धातुएं जो फसल की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं, मिट्टी में मिल जाती हैं। कोयले एवं अमोनियम सल्फेट का मिश्रण अमोनियम सल्फेट से श्रेष्ट खाद है। कोयले को ऊसर भूमि या क्षारीय पृथ्वी को उपजाऊ बनाने में भी प्रयोग किया जा सकता है। यह अनुमान किया जाता है कि विश्व की जोती जाने वाली जमीन के ऊपर से प्रथम फुट की ह्यूमस में स्थित नाइट्रोजन की मात्रा ४० अरब टन है। सन् १९३७ ई० में संसार के सम्पूर्ण नाइट्रोजन-उत्पादक कारखानों में स्थिर की गई नाइट्रोजन की मात्रा ३५ लाख ४० हजार टन थी। अतः ऊपर से प्रथम फुट में पाई जाने वाली, सम्पूर्ण मिट्टी में, अब भी स्थिर की गई नाइट्रोजन से ११३५० गुनी अधिक नाइट्रोजन है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि विश्व की उपज का ३% ही कृत्रिम नाइट्रोजनिक खादों के कारण है।

विशिष्ट खादों के शोषण में कार्बनिक पदार्थों का सहयोग

विश्वमत इस पक्ष में है कि कृत्रिम खादें उन जमीनों में जहाँ कार्बनिक पदार्थ अधिक मात्रा में पाया जाता है, न्यून कार्बनिक पदार्थों की अपेक्षा, अधिक उपयोगी होती हैं। अतएव जब तक कार्बनिक पदार्थ चाहे वनस्पति अवशेष हों या दालों (Legumes) सरसों आदि के रूप में हरी खाद हों, हमारी जमीन में मिलाई न जाएँगी तब तक निश्चित रूप से फसलों की उपज में अत्यधिक वृद्धि की कोई आशा नहीं। साथ ही हमारी मिट्टियां कार्बनिक पदार्थों में क्षीण हैं अतएव खनिज पदार्थों की प्राप्ति भी दोषपूर्ण है। जमीन के सुधार की समस्या हमारे देश एवं संसार के अन्य भागों में भी कार्बनिक पदार्थ की वृद्धि पर ही अवलम्बित है क्योंकि यह मिट्टी की आत्मा के समान है। जर्मनी निवासियों ने अपनी बलुई जमीन को ल्यूपिन्स या अन्य हरी फसलें उगाकर के उपजाऊ बना लिया। एल० ब्रामफिल्ड महाशय ने अपनी कृति "मलाबार फार्म" तथा अन्य प्रकाशनों में पृथ्वी के कार्बनिक कोष की वृद्धि की आवश्यकता के लिए विशेष जोर दिया है। यदि कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति अधिक है तो अकार्बनिक विशिष्ट खादें (Inorganic Fertilizers) विशेष प्रकार से फसलों की उन्नति कर सकती है। यूरप और अमेरिका में अकार्बनिक खादों के प्रयोग से अधिक उपज होती है क्योंकि जमीनें कार्बनिक पदार्थों में धनी हैं। हमारी पहाड़ी मिट्टियों में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा मैदानों से अधिक है। कृत्रिम खादों एवं कार्बनिक पदार्थों जैसे पत्तियों, तिनकों आदि के प्रयोग से सामान्य आलू एवं शकरकन्द की पैदावार प्रचुर मात्रा में, पहाड़ियों में, बढ़ाई जा सकती है। यूरप के त्राता आलू ही सिद्ध हुए हैं। यूरप में अमेरिका से लाकर आलू के प्रचार के पूर्व प्रायः सभी यूरोपियन असन्तुलित अम्ल उत्पादक भोजन जिसमें अनाज, मांस, चर्बी तथा अण्डे एवं न्यून-क्षारीय भोजन जैसे फल, हरी तरकारियां, आलू आदि हैं, करते थे परन्तु आलुओं का योग जिनकी खपत प्रचुर मात्रा में आजकल यूरप में है, यूरप में एक अधिक विशिष्ट सन्तुलित भोजन उपस्थित करता है और जिसका अवशेष क्षारीय होता है जिसके कारण उदर-विकार पित्त

सम्बन्धी नासूर (ulcer) दूर हो जाते हैं। फलतः यूरप पहले से अधिक स्वस्थ है।

इसके अतिरिक्त सौ साल के लगातार प्रयोगों द्वारा रोथामस्टेड (Rothamsted) तथा विश्व के अन्य प्रयोगिक स्थानों में यह सिद्ध हो चुका है कि गोबर तथा पशु-खाद, वर्षों तक अधिक स्थिर रीति से फसल उत्पन्न करने में पूर्ण कृत्रिम खाद की अपेक्षा, जिसमें नाइट्रोजन, फास्फेट तथा पोटाश रहता है, अधिक समर्थ है। साथ ही साथ इन कृत्रिम खादों का लाभकारी प्रभाव फस्ल के लिए दूसरे साल से ही अप्राप्य हो जाता है जब कि गोबर एवं पशु-खाद तथा कार्बनिक पदार्थों के संयोग से अन्न की फसल को ८ साल बाद तक लाभ होता है और रोथामस्टेड के घास के मैदानों में ४० साल तक उनका प्रभाव रहता है।

यद्यपि विश्व की स्थिर-कृत नाइट्रोजन का उत्पादन प्रचुर मात्रा में बढ़ गया है परन्तु मूल्य अधिक है अतः यूरप में कृत्रिम नाइट्रोजन तिनका बुरादा तथा पशुखाद इत्यादि कार्बनिक पदार्थों के साथ प्रयोग में लायी जाती है।

क्षेत्र प्रयोगों में जिसमें मिट्टी में गोबर तीन बार मिलाया गया इलाहाबाद में उन क्षेत्रों की मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा ०.०४% से ०.२% हो गई और जिनमें शहर का कूड़ा डाला गया उनमें ०.०३८ से ०.२५% हो गई। इस प्रकार से सुधारी गई जमीनों में श्रेष्ठ फसलें पैदा की गईं। परन्तु अमोनियम सल्फेट या सोडियम नाइट्रेट के बार बार प्रयोग से पृथ्वी की नाइट्रोजनिक अवस्था में कोई सुधार नहीं होता। इसी प्रकार के परिणाम रोथामस्टेड प्रयोगिक केन्द्र में निकले।

अनु०—शिवगोपाल मिश्र, विशारद, एम० एस-सी० (फाइनल)

(पृष्ठ ३२ का शेषांश)

(७) "तापक्रम ९५ अंश है"। यह अशुद्ध है।

(८) "इसका एक दिन हमारे २० दिन के तुल्य होता है" यह प्रत्यक्षतः अशुद्ध है क्योंकि इसके पहले कहा जा चुका है कि शुक्र अपने अक्ष पर एक भ्रमण २३ घंटा २१ मिनट पर करता है।

पूर्वोक्त उद्धरण में अन्य बातें ठीक हैं या नहीं इसकी जाँच मैंने नहीं की, क्योंकि आठ बातें बिना प्रयास के ही अशुद्ध मिल गयीं।

इसी प्रकार की अंड बंड बातें अन्यत्र भी हैं। संभवतः सारी पुस्तक में अशुद्ध कथन अधिक और सत्य कथन कम होंगे। प्रूफ़ की अशुद्धियाँ भी बहुत हैं।

ऐसी पुस्तक क्यों छापी गयी आश्चर्य होता है। भूमिका में लिखा है कि पुस्तक के प्रकाशन का खर्च श्री सेठ पूर्णमल बूबना ने दिया है। जान पड़ता है धर्मभीरु सेठ जी लेखक के अनन्य भक्त होंगे और लेखक ने ज्योतिष न जानने वालों पर अपना रोब गाँठने के लिये एक पुस्तक लिख और छपा डाली है: अपनी गाँठ से तो कुछ खर्च होने को न था!

मनुष्य की उत्पत्ति और उसका विकास

लेखक—कृष्ण चन्द्र दुबे

[मानव जाति का उद्भव कैसे हुआ, यह एक कौतूहलजनक विषय है। विद्वान लेखक ने उस जिज्ञासा की परितृप्ति के लिए इन लेखों में प्रकाश डाला है जिनको सचित्र प्रकाशित किया जा रहा है। लेख का द्वितीय भाग अगले अंक में देखें।]

योगी अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'लाइफ़ डिवाइन' (Life Divine) में एक स्थल पर लिखा है—"पशुरूपी-प्रयोगशाला में प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण किया है! मनुष्य स्वयं एक जीवित प्रयोगशाला है जिसमें और जिसके सहयोग से प्रकृति महान मानव (Superman) की रचना करने में तल्लीन है।" मानव का विकास पशु से हुआ! मनुष्य स्वयं पशु है! मनुष्य पशु से अपने मस्तिष्क के आधार पर ही भिन्न है!

वर्तमान पशु-जगत में मनुष्य का सबसे निकट का समाज उन पशुओं का है जिसे लिनास (Linnaeus) ने 'प्राइमेट्स' (Primates) कहा है! इनके दो भाग किए जा सकते हैं :— (१) लेमूरिआइडिया (Lemuroidea) और (२) एन्थ्रॉपाइडिया (Anthropoidea)। जहाँ तक बाहरी समानता का प्रश्न है, मनुष्य और लेमूर में कोई समानता नहीं है। पर एन्थ्रॉपायड, जिसका एक प्रतिनिधि बनमानुष गोरिल्ला है, और मनुष्य में कुछ समानता अवश्य है।

भूगर्भशास्त्रियों ने भूकाल का जो वर्गीकरण किया है, उसके अन्त के दो पक्षों, प्लीस्टोसीन और आधुनिक, (Pleistocene & Recent) को चतुर्खण्ड (Quarternary) में वर्णित किया है! प्लीस्टोसीन पक्ष में आदि मानव (अथवा मानव-सम-पशु) के अवशेष मिलते हैं। इस समय में जब उत्तरी गोलार्ध हिममय था तथा बीच के कुछ गर्म मध्यांतर काल में एशिया, आफ्रिका और यूरप में यह मनुष्य-समाज रहता था, इसी समय के मध्य तथा अन्त भाग में उस जीव का उदय हुआ जिसे हम बिना किसी हिचक के आदि-मानव कह सकते हैं (Genus Homos)! भूकाल को आधुनिक पक्ष में इस आदि मानव ने 'होमो-सेपियंस' को जन्म दिया जिसके प्रतिनिधि हम सभी मौजूद हैं।

आदिमानव (Pithecanthropus)—सन् १८९२ के लगभग जावा द्वीप में एक पैर की हड्डी तथा तीन दांत मिले और इनके अध्ययन के फल स्वरूप इस आदि-मानव की खोज हुई। यह अवशेष प्लीस्टोसीन खंड की शिलाओं में से निकाले गए थे। इन अवशेषों के न्यून अध्ययन से यह पता लगा कि इस आदि मानव में वानर और मनुष्य दोनों के गुण मौजूद थे। आंख के ऊपर की हड्डी मुख्य थी, बुद्धि-कोष (Brain case) नीचा था। दांत मनुष्य के दांतों से मिलते थे और पैर की हड्डी (Femur) इस जीव के सीधे खड़े होने का द्योतक है। मैकग्रेगर ने इस मानव के मस्तिष्क भाग का अध्ययन किया है! बुद्धि-कोष का आकारमान (Volume) ७४० घन सेंटीमीटर था। गोरिल्ला का बुद्धिकोष ५६० घन से० मी० ही होता है। बुद्धिकोष की बनावट और रूपरेखा से प्रत्यक्ष है कि यह जीव बोल सकता था।

इस जीव को यद्यपि हम [मानव-समाज] 'होमिनिडी' (Family of men, Hominidae) में रख सकते हैं, पर आधुनिक मनुष्य का पास का पूर्वज यह नहीं था। (चित्र १)

उदायेर मानव :—(Eoanthropus, the Dawn man) इस मानव की खोज सन् १९११ और १९१७ में पिल्टडाउन, इंगलैंड, में प्राप्त अवशेषों से हुई। जबड़ा वनमानुष (Ape) के जबड़े से मिलता है और ठुड्डी (chin) नहीं थी। दांत मनुष्य के से हैं (molar teeth) पर पीछे के दांत वानर से हैं। मस्तिष्क का आकार आदि मानव के मस्तिष्क से बड़ा है! यह जीव भी प्लीस्टोसीन खंड में रहता था। (चित्र २)

चीनी आदि मानव :—(Sinanthropus, Fossil man of china) सन १९२८ में पेकिंग के पास इस जीव के दांत और जबड़े के कुछ भाग मिले तथा पश्चात् खोपड़ी भी प्राप्त हुई। इसका बुद्धि-कोष आदिमानव (Pithecanthropus) से २५% बड़ा था। जबड़ा विशाल और वानरों का सा था। ठुड्डी नहीं थी।

वक्र-मानव :—(Scyphanthropus or Stooping man) प्लीस्टोसीन खंड के मध्य भाग में यह जीव पृथ्वी पर रहता था। इसके अवशेष रोडेशिया, दक्षिण आफ्रिका, में मिले हैं! अवशेषों के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह मनुष्य वक्र था, कुछ झुका हुआ। बुद्धिकोष पहिले के तीनों जीवों से बड़ा तथा आधुनिक मनुष्य के बुद्धिकोष से छोटा था। (चित्र ३)

१—आदि मानव Pithecanthropus
२—उदायेर मानव Eoanthropus
३—वक्रमानव Scyphanthropus
४—नीएंडरथल मनुष्य Homo-neanderthatansis
५—आधुनिक मनुष्य Homo Sapiens
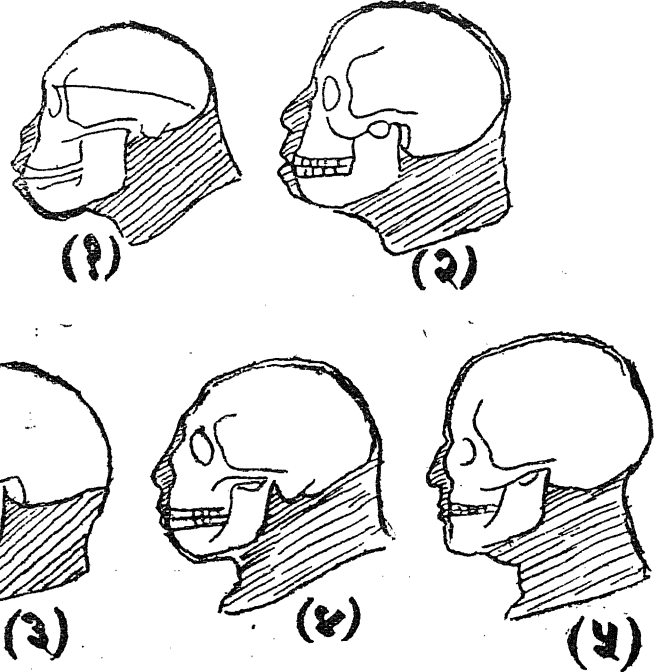
(मेकग्रेगर के आधार पर बनाए मानवों के चित्र)

आधुनिक मानव (Homo, Modern man)

हो सकता है कि आधुनिक मानव के पूर्वज पहिले के चार प्रकार के मानवों के समकालीन हों। पर कुछ पक्का नहीं कहा जा सकता। आधुनिक मानव का पूर्वज हीडिलवर्ग-मनुष्य था। इस अवशेष को 'होमो हीडेल-वर्गेसिस' कहा है। ठुड्डी का अस्तित्व स्पष्ट है—यद्यपि जबड़ों का आकार पुराने चारों जीवों सा ही है। नीएंडरथल जरमनी में दूसरे अवशेष मिले और हम सभी के पूर्वज के चिन्ह इस मानव में मिलते हैं। पर खड़े होने की स्थिति में यह जीव उतना सीधा न था जितने हम लोग हैं। यह मध्य प्लीस्टोसीन के अन्त भाग में था। यह जीव शिकारी था तथा अग्नि उत्पन्न करना जानता था। (चित्र ४) इन जीवों का स्थान 'होमो सैपियंस' नामक जीव ने लिया जो अभी तक चला जा रहा है और जिसके उदाहरण स्वरूप हम सभी मौजूद हैं।

आधुनिक मनुष्य-समाज (Living human family) का प्रथम उदाहरण क्रो-मैगनन मानव में है जो पश्चिमी यूरोप में रहता था। उसके शरीर का पूरा ढाँचा मिला है। उसका माथा ऊँचा, चेहरे भाग की हड्डियाँ सीधी और ठुड्डी थी। बुद्धि-कोष आधुनिक यूरोपियन के बुद्धिकोष के बराबर था। यह क्रो-मैगनन मानव सीधा खड़ा हो सकता था और शरीर के भिन्न अवयव प्रमाण-बद्ध थे। आधुनिक मनुष्य से ऊँचाई में कुछ बड़ा था।

मानव की जन्मभूमि—प्रथम मानव का जन्म कहाँ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है, पर बहुपक्षीय विचार है कि मनुष्य मध्य एशिया में उत्पन्न होकर सब ओर फैला (migration)। इस विचार के आधार स्वरूप निम्नलिखित हैं:—

(१) यह देखा जाता है कि पशु एक जगह उत्पन्न होकर, उस मध्य से चारों ओर फैलना आरम्भ करते हैं (Begin migrating) मध्य एशिया उस दृष्टि से विश्व का मध्य भाग कहा जा सकता है और विश्व के चारों ओर आदि-निवासी, जैसे आस्ट्रेलिया आदि-निवासी; बुशमेन; नेग्रीटोस और फ़्यूगेन, फैले हैं।

(२) मध्य एशिया पठार के चारों ओर आदि-सभ्यता के चिन्ह मिलते हैं।

(३) आदि ऐतिहासिक काल में यूरोप में कई बार पूर्व से आक्रमण हुए, चीन में पश्चिम से तथा भारत को उत्तर से आक्रमणों का सामना करना पड़ा था।

(४) आदि मानवों के अवशेष मध्यएशिया पठार के चारों ओर से प्राप्त किये गये हैं।

(५) भूकाल (Geologic Line) के तृतीय खड के जीवन के अध्ययन से यह अनुमान लगाया गया है कि यह भाग खुला था (Open), पानी की सुविधा थी, जीवन तुलनात्मक सरल था। इन सब कारणों से यहाँ मानव उत्पत्ति होने में कोई संदेह नहीं है।

मानव की उत्पति वानर से हुई अथवा मानव और वानर दोनों किसी दूसरे जीव से विकसित हुए और विकास की दो भिन्न शाखाएँ हैं—इस प्रश्न पर बहुत मतभेद हो चुका है! मनुष्य के विकास पर तथा इस प्रश्न पर अगले लेख में विचार किया जा सकता है! पर इस लेख का अन्त महान योगी अरविंद के उसी वाक्य से किया जा सकता है जिससे यह शुरू हुआ कि "पशु-रूपी प्रयोगशाला में प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण किया है।"

(इस लेख के लिये शब्दावली का प्रयोग करने में मुझे अपने मित्र प्रह्लाद जगताप से बहुत सहायता मिली है और उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।
—लेखक)

रेडियम-धर्मिता और भौमिक विज्ञान

ले०—श्री पुष्कर सिंह

विज्ञान की नीति सरल और रोचक रूप में वैज्ञानिक साहित्य को हिन्दी-पाठकों के सम्मुख रखना है। विषय जटिल है किन्तु मनोरंजक है।

रेडियम धर्मिता का प्रथम अन्वेषण श्रेय श्रीमती क्यूरी को जाता है। इसके अन्वेषण के पश्चात् रासायनिक तथा भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञों ने इस पर काफ़ी प्रकाश डाला। नागासाकी और हिरोसिमा का परमाणु-बम से विध्वंस इसी का परिणाम है। परन्तु इसके भौमिक विज्ञान की तरफ़ कुछ ही लोगों ने रुचि दिखलाई। इस लेख में हम रेडियम-धर्मिता और भौमिक विज्ञान का सम्बन्ध बतलाते हैं।

वैज्ञानिकों का मत है कि उन तत्वों के संस्थानी जिनके परमाणु-भार ८३ से अधिक हैं, रेडियम-धर्मा हैं। रेडियम-धर्मिता के अनुसार रेडियम-धर्मा तत्वों से तीन प्रकार की रश्मियाँ वियोजित होती हैं जिन्हें हम 'अ' 'ब' और 'इ' रश्मि कहते हैं। रेडियम-धर्मा तत्वों में हम यहाँ किरणातु, ऐक्टिनों-किरणातु तथा हसातु का वियोजन सूत्र देते हैं :—

किरणातु ^{२३८} > ८ यानाति ^{४} + शीसा ^{२०६} + ताप

ऐक्टिनोंकिरणातु ^{२३५} > ७ यानाति ^{४} + शीसा ^{२०७} + ताप; हसातु > ६ यानाति ^{४} + शीसा ^{२०७} + ताप

हम इन तीन फलों का अलग-अलग विश्लेषण तथा इनके गुण बतलाते हैं :—

यानाति—रेडियम-धर्मा तत्वों से वियोजित 'अ' रश्मि को हम यानाति भी कहते हैं। यानाति के वेधन शक्ति से मलाभ्रक में प्रभामंडल बन जाता है जिसे रंगप्लावित प्रभामण्डल (Pieochroic Halo) कहते हैं। 'अ' रश्मि की वेधन शक्ति का असर रंगप्लावित प्रभामंडल के रंग पर पड़ता है। जितनी अधिक 'अ' रश्मि की बौछार होगी उतना ही उसका रंग गाढ़ा होता जाता है तिलैया बांध के शैल-शिखा में जो अभी पञ्चवर्षीय योजना के अनुसार तैयार हो रहा है ऐसे रंगप्लावित प्रभामंडल बहुतायत में पाये जाते हैं। ये प्रभामंडल गर्मी के प्रभाव से अदृश्य हो जाते हैं। इससे कुछ वैज्ञानिकों का मत इसके 'प्रांगारिक उद्भव' के होने का है परन्तु निम्नलिखित कारण इसके रेडियम-धर्मिता के प्रभाव से बनने का पुष्टीकरण करते हैं :—

(१) रंगप्लावित प्रभामंडल के अन्तःस्थल में रेडियम-धर्मा तत्वों के सूक्ष्म रवे पाये जाते हैं।

(२) रंगप्लावित प्रभामंडल के अर्धव्यास और 'अ' रश्मि के वेधन शक्ति की दूरी की समता है

(३) रेडियम-धर्म की कृत्रिम युक्ति से रंगप्लावित प्रभामंडल बनाया जा सकता है।

ये रंगप्लावित प्रभामंडल शैल-शिखा की उम्र की गवेषणा करते हैं। ये 'अ' रश्मि एक साल में एक की दर से वियोजित होती हैं। इस से शैल-शिखा में पाये जाने वाले रंगप्लावित प्रभामंडल के रंग और कृत्रिम युक्ति से बनाये प्रभामंडल के रंग की तुलना कर उस शिखा की उम्र का पता लगा सकते हैं।

शीसा—रेडियम-धर्मा तत्वों के दूसरे वियोजन फल को शीसा कहते हैं। इसकी सहायता से हम पृथ्वी की

आयु का पता लगा सकते हैं। प्रो० ए० ओ० नायर का कहना है कि जब सृष्टि का निर्माण हुआ तब पृथ्वी शीसा-रहित थी और अब जो शीसा पाया जाता है वह रेडियम-धर्मा तत्वों के वियोजन से मिलता है। इन तत्वों की उम्र और पृथ्वी की उम्र का सम्बन्ध है। किरणातु की उम्र ६ × १०^{९} साल, ऐक्टिनो किरणातु का १०^{५} साल और हुसातु का १०^{१०} साल है। इन लोगों से तीन प्रकार के शीसों का निर्माण होता है जिनका परमाणु भार क्रमशः २०६, २०७ और २०८ है। मामूली सीसा इन तीनों के औसत से बनता है। हम किरणातु और शीसे का औसत निकाल कर पृथ्वी की आयु का पता लगा सकते हैं। इस विधि के अनुसार पृथ्वी की आयु २३००० लाख साल है। मनुशास्त्र में भी पृथ्वी की उम्र इतनी ही बतलाई गई है।

ताप—रेडियम-धर्मा तत्वों का तीसरा वियोजन फल ताप है। (Joly) जाली के अनुसार स्थल-पुञ्ज सौस्फ और समुंद्र पुञ्ज सैम्रा से निर्मित हैं। सैस्फ सैम्रा के ऊपर स्थित है। सैस्फ की विशिष्ट-म्याकृष्टि २.७ और सैम्रा की विशिष्ट-म्याकृष्टि ३ है। रेडियम-धर्मा तत्वों की मात्रा, सैस्फिक शैल में सैम्रिक शैल से अधिक होती है। इन रेडियम-धर्मा तत्वों से वियोजित ताप की मात्रा लम्बे अर्से के बाद सैस्फ में अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाती है। सैम्रा में रेडियम-धर्मा तत्वों की मात्रा कम होती है इसलिये सैस्फ की ताप, तापीय-प्रावण्य के कारण सैम्रा में चली जाती है। कुछ समय पश्चात ताप की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि सैम्रा पिघलने लगता है। सैम्रा का द्रवांक ११५०° शतांक है। इस ताप तक पहुँचने के लिये ३३,०००,००० साल लग जाते हैं। सैम्रा द्रवांक पर पहुँचने से पिघलने लगता है और सैस्फ जो कि उसके ऊपर स्थित है उसमें धँसने लगती है इससे समुद्र का जल, स्थल पुंज पर आक्रमण करता है। समुद्र के इस आक्रमण को समुद्रातिक्रमण (Marine transgression) कहते हैं। भारत ने अपने अंक में ऐसे पाँच समुद्रातिक्रमण दर्शाये हैं। ये समुद्रातिक्रमण क्षणभंगुर होते हैं और इसी थोड़े समय में ये एक विस्तृत पर्त बना डालते हैं। इसे भूद्रोणी (Geo-syncline) कहते हैं। ये भूद्रोणी भंजन और विभंग के कारण पर्वतमाला के रूप में बन जाते हैं।

प्रो० होम्स का कथन है कि ताप की अधिकता के कारण सैस्फ और सैम्र के बीच संवाहन प्रवाह शुरू हो जाता है। इसी संवाहन प्रवाह के कारण हम महाद्वीपों की अलग-अलग स्थिति में पाते हैं। इस क्रिया को महाद्वीपीय ऊढ़ (continental-drift) कहते हैं। रेडियम धर्मिता के विधि के अनुसार, कौन-कौन से द्वीप तथा महाद्वीप किस युग में अलग हुए यह नीचे दिया गया है:—

	ऊढ़ की वार्षिक गति	दूरी सहस्रमान	अलग होने का युग	साल
१—केप कामोरिन-स्काटलैन्ड	३६ से १८ मान	१७८०	हिमानु युग	५०,०००-१०००००
२—न्यूफाउन्डलैन्ड-आयरलैन्ड	०.२–०.१५ मान	२ १०	अतिनूतन युग	१५०-१६० लाख
३—ब्यूनर्सआयर्सकेप-टाउन	०.०७ मान	६२२०	खटी युग	६०० लाख साल
४—दक्षिण हिन्दुस्थान-दक्षिण आफ्रिका	०.०६ मान	५५५०	तृतीयक युग	७०० लाख साल
५—तसमानिया-विल्कीसलैन्ड	०.०७ मान	८८६०	आदि नूतन युग	४५० लाख साल

समालोचना

[डा० गोरख प्रसाद, डी०एस-सी० (एडिन०)]

"**भारतीय काल-गणना**—अर्थात् भारत में प्रचलित समस्त कालगणनाओं की विस्तृत विवेचना" लेखक और प्रकाशक—पण्डित देवकी नन्दन खेडवाल, पो० फतेहपुर (जयपुर), राजस्थान। मूल्य २ रुपया १४ आना। आकार डबल डेमाई १६ पेजी। पृष्ठ संख्या १४४। दफ्ती की जिल्द। न्यूज़प्रिन्ट पर छपा। छपाई साधारण।

इस पुस्तक के लिखने में लेखक ने बहुत परिश्रम किया है इसमें संदेह नहीं, परन्तु खेद है कि लेखक का ज्ञान इतना कम है कि इधर-उधर से सङ्कलित ब्योरों को वह शुद्ध रूप में नहीं रख सका है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। शुक्र नामक ग्रह के वर्णन में पृष्ठ ११ पर लिखा गया है :—

"शुक्र की परिधि २४८०० मील है तथा यह पृथ्वी से ३,४३,००,००० मील है और सूर्य से ६,७०,००,००० मील की दूरी पर हैं। किन्तु प्रति वर्ष यह पृथ्वी से एक बार पृथ्वी के निकट आ जाता है। तब इसकी दूरी २०,००,००० मील की ही रह जाती है। उस समय यह अधिक चमकता हुआ और बड़ा दृष्टिगोचर होता है। यह अपनी धुरी पर २३ घण्टा २१ मिनट में पूरा घूम लेता हैं। सूर्य की परिक्रमा २२४ दिन ४२ घटा २ पल और ४७ विपल में कर लेता है। यही इसका भगणकाल है। किन्तु स्थूल मान से द्वादश राशियों का भ्रमणकाल ३६५दिन १५ घण्टा माना जाता है। यह एक वर्ष मार्गी और एक वर्ष वक्री रहता है, जिनमें क्रमशः ४०७ और ३२४ दिन में बारह राशि पार करता है। इसका ताप-क्रम (ताप-क्रम ?) २५ अंश है। इसका एक दिन हमारे २० दिन के तुल्य होता है।...."

इस छोटे से उदाहरण में आठ अशुद्धियाँ हैं :—

(१) "शुक्र पृथ्वी से ३,४३,००,००० मील [पर] है," यह पूर्णतया अशुद्ध और भ्रमात्मक है। बात यह है कि शुक्र सूर्य के चारों ओर चलता है और पृथ्वी से उसकी दूरी घटती बढ़ती रहती है।

(२) "प्रति वर्ष यह [शुक्र] पृथ्वी से एक बार पृथ्वी के निकट आ जाता है।" एक तो वाक्य अशुद्ध है; "पृथ्वी से" इतना फालतू है और निकाल देना चाहिये। फिर "एक बार" से यह भ्रम होता है कि शुक्र से पृथ्वी की दूरी साधारणतः ३,४३,००,००० मील रहती है परन्तु 'एक बार' यह दूरी कम हो जाती है यदि मान लिया जाय कि पाठक अपनी बुद्धि से इसका शुद्ध अर्थ लगा सकेगा तो 'प्रति वर्ष' अशुद्ध है। पृथ्वी से लघुतम दूरी के क्षण से लेकर अगली बार की लघुतम दूरी के क्षण तक का समय एक वर्ष नहीं है।

(३, ४) "इस समय यह अधिक चमकता हुआ और बड़ा दिखाई देता है।" दो बातों में यह अशुद्ध है। जब शुक्र पृथ्वी से लघुतम दूरी पर रहता हैं उस समय यह दिखाई पड़ता, (क) अधिक चमकता और (ख) बड़ा होने को कौन कहे।

(५) "स्थूल मान से द्वादश राशियों का भ्रमण काल ३६५ दिन १५ घंटा माना जाता है"। यह अशुद्ध है। २२४ दिन ४२ घड़ी २ पल और ४७ विपल को स्थूल मान से ३६५ दिन १५ घंटा कैसे माना जाता है यह समझ में नहीं आता; उसे २२५ दिन मानते तो कोई बात भी होती।

(६) "एक वर्ष मार्गी और एक वर्ष वक्री रहता है"। यह अशुद्ध है। मार्गी और वक्री रहने के काल बराबर नहीं हैं। इनमें से कोई भी काल १ वर्ष नहीं है।

[शेष पृष्ट २६ पर देखिये]

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | वृष २००६; मई १६५२ | संख्या २

हम क्यों लिखें ?

'विज्ञान' ऐसा पत्र है कि उसके पोषकों में साधारण पाठकों की अपेक्षा विद्वानों, आदरणीय अध्यापकों, प्राध्यापकों तथा आचार्यों की संख्या उपेक्षणीय नहीं है। अतएव कभी कभी तो विज्ञान की पाठ्य-सामग्री के चयन में हमें द्विविधा में भी पड़ जाना पड़ता है कि किन के उपयुक्त लेखों का समावेश किया जाय। विद्वानों के लिए क्या सामग्री दी जा सकती है, यह एक कठिन प्रसंग है, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हम जो भी सामग्री देते हैं, उन्हें कुछ विद्वान गण भी भूले-भटके, यदाकदा देख ही लेते होंगे। ऐसे ही विद्वानों किंवा विद्याव्यसनी, हिन्दी-प्रेमी वैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिक साहित्य-प्रेमियों के प्रति हम यह उपर्युक्त शीर्षक संबोधित करते हैं। जिन विद्वानों के सम्पर्क में हमारे कुछ कृपालु पाठक रहते हों उनके कानों तक हमारे इस वक्तव्य का भाव किसी प्रकार पहुँचा देने की भी आशा कर हम उनसे सकते हैं।

लिखा क्यों जाय, यहाँ पर यह मुख्य प्रश्न है। विज्ञानेतर साहित्य की ओर ध्यान देकर हम अधिक भारी उलझन में न फँस कर वैज्ञानिक साहित्य के पक्ष को ही यहाँ लेते हैं। हमारे मान्य, यश-प्राप्त विद्वानों को यह प्रश्न संबोधित करते हुए, पाठकों का ध्यान अवश्य ही आर्थिक पक्ष की ओर जा सकता है। लिखने का द्रव्य रूप में क्या मूल्य है? निरर्थक समय नष्ट कर अन्य अर्थकर उद्योगों में लीन क्यों न हुआ जाय? हिन्दी में लिखाई के नाम पर मिल ही क्या सकता है? अपने मुख्य प्रश्न के उत्तर में इन उप-प्रश्नों को उठाए ही जाते देखकर तो हम मूक ही रह जा सकते हैं। यथार्थ में आज का प्रकाशक लेखक को किसी भी कोटि की रचना होने पर कितना अल्प पारिश्रमिक दे सकता है या पारिश्रमिक-दान से विमुख रख कर भी विद्वानों की कृतियाँ प्रकाशित कर सकने का अवसर भी आज का हिन्दी-जगत दे सकता है या नहीं, यह भी विचारणीय विषय हो सकता है।

पुरस्कार भी मिलता है। छोटे-मोटे अन्य पुरस्कारों के अतिरिक्त अब तो प्रादेशिक सरकारें

भी पुष्कल धनराशि प्रदान करने लगी हैं। किन्तु हम इस प्रश्न के कुछ दूसरे या गहरे पक्ष पर विचार करना चाहते हैं। हमारे एक पुराने, मान्य लेखक ने किसी प्रसंग वश कुछ खेद प्रकट करते हुए लिखा था कि विज्ञान के विषयों की इतनी उदार सरकारें भी पुरस्कार-दान में कदाचित् उपेक्षा करती हैं। इस कटूक्ति से सहमति या असहमति की भावना रखने वाले सज्जनों की गणना करने की हमारी तनिक भी इच्छा या उत्सुकता नहीं है। धनराशि-सम्पन्न दाताओं, प्रकाशकों, सरकारों तथा पुष्ट निर्णायक-बुद्धि-युक्त पुरस्कार-दातृ-समिति के सदस्यों की छींटाकशी जो करना चाहते हों, करें। हम तो यही कहेंगे कि पुरस्कार के लिए, पारिश्रमिक के लिए, जीविकोपार्जन के लिए हमें वैज्ञानिक साहित्य सृजन नहीं करना है। हमें आज भी भूला नहीं है कि रसायन विज्ञान के आधुनिक युग के प्रथम संस्थापकों में अर्द्ध विक्षिप्त, उद्‌जन गैस रूप में वायव्यों की खोज का प्रथम श्रीगणेश करने वाले महान विज्ञानाचार्य हेनरी केवेंडिश ने अपनी पूर्वजों की अर्जित अतुल सम्पत्ति बैंकों में ही सड़ते रहने दी थी, आजीवन उसे स्पर्श भी नहीं किया था, बैंक के किसी अधिकारी के रुपयों के उपयोग न किए जाने पर चिन्ता प्रकट करने पर कैवेंडिश द्वारा उसे दुत्कार और फटकार ही मिली थी। दुबारा फिर कभी उस धनराशि की चर्चा भी करने पर उस बैंक से निकाल कर दूसरे बैंक में उठा फेंक देने की धमकी ही मिली थी।

ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण हमारे वैज्ञानिक मनस्वियों के आए दिन मिलते रहते हैं। आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने धन का त्याग कर किस प्रकार सेवाव्रत ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। हम दूर क्यों जायँ, उन्हीं के शिष्य, हमारे विज्ञान परिषद् के भूतपूर्व सभापति आचार्य नील रत्न धरने अपनी आयुभर की गाढ़ी कमायी को दान कर श्रीमती शीला धर के स्मारक स्वरूप, प्रयाग विश्व विद्यालयांतर्गत शीला धर मृत्तिका-गवेषणाशाला स्थापन कर अपनी त्याग वृत्ति का मूर्तरूप हमारे समक्ष रक्खा है। जहाँ एक भावप्रवण वंग प्रान्तीय माता के लाल ने इतना कुछ कर दिखाया, वहां घोर पार्थिव-व्रत, तथा भौतिकवादी, कल्पना-जगत से दूर रहने वाले, हमारे योद्धा-प्रसू पांचाल प्रदेश ने आचार्य बीरबल साहनी सरीखा सपूत उत्पन्न किया जिसने विदेशों में विज्ञान-अध्ययनार्थ अनेक वर्ष बिताकर पार्थिव-आदर्शों का बहुत कुछ उदाहरण देख सुन-लेने के पश्चात भी अपनी जीवन भर की कमाई का अधिकांश पुरा-वनस्पति गवेषणाशाला की स्थापना में अर्पित कर दिया।

इन्हीं त्यागव्रती विद्वानों, विज्ञान-साधकों की संतान, हम आज याचना करने चले हैं! पुरस्कार की भीख माँगने चले हैं!! कभी नहीं, ऐसा कभी नहीं होने का। विज्ञान की सेवा का यथार्थव्रती इस पथच्युत मार्ग में कभी न जाने का। कोई पारिश्रमिक देता ही है, पुरस्कार देता ही है तो उस धन को अभिमान पूवक अपने त्याग के गर्व में ठुकराना भी कोई समीचीन नहीं कहेगा। किन्तु हमें अपनी संतान को याचना की थाती कदापि नहीं देनी है। अस्तु आर्थिक पक्ष में इससे अधिक हम क्या कहें। अब रहा विषय-निर्धारण विवेचन, शब्दावली, आदि पक्ष। आपके पास लिखने के लिए विषय नहीं मिलते, उपयुक्त शीर्षक नहीं मिलते, यह कह कर हम आपकी विद्वत्ता, अपार स्वाध्याय तथा विवेक का परिहास किस प्रकार उड़ा सकते हैं! किन्तु „उसमें कितने ही 'किन्तु' 'परन्तु' अवश्य मिलेंगे। किनके लिए लिखें, कैसा लिखें, ये प्रश्न हैं। कक्षाओं में आप जटिलता से युद्ध करते हैं, शिष्यों को, छात्रों को व्याख्या कर सुनाते हैं। उतने उच्चस्तर के पाठक तो नहीं हैं। किसी विशेष विषय के ही मनन में वे तो उतना समय नहीं लगा सके हैं। अतएव आपके सूक्ष्म सूत्रों, पेचीदी व्याख्याओं, तथा गणित को वे न

समझ सकेंगे। फिर भी कभी आप अपने घर में ज्ञानातुर, जिज्ञासु पुत्र, पुत्री, पत्नी या बंधुबाधव को अपने घोर परिश्रम से हृदयंगम की हुई विद्या की कुछ झांकी दिखाते ही होंगे। उन्हीं रूपों में कुछ अन्य पाठकों के लिए लिखिए। उनकी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए उनके ही हृदयंगम हो सकने योग्य सामग्री लिपिबद्ध कीजिए।

शब्दावली की कठिनाई मृगमरीचिका है। दूर से भयग्रस्त रखती है। निकट पहुँच कर आप सरलता की प्रतिमूर्त्ति अपने सम्मुख खड़ी देखेंगे। विषय को सरल रूप में प्रस्तुत करने की आपकी हार्दिक कामना है तो आप स्वयं शब्द गढ़ लेंगे। विदेशी शब्द ही तोड़-मरोड़ कर काम चला लेंगे। अब तो दर्जनों पारिभाषिक कोश भी सुलभ हैं। जो सुलभ हो सके, जो रुचिकर प्रतीत हो उसी को लेकर अपना प्रयत्न प्रारंभ कीजिए। हमारी शक्तियां अवश्य ही सीमित हैं किन्तु हम तो प्रत्येक प्रकार से आपके प्रयत्नों का प्रकाशन करने का प्रयत्न करेंगे। आप स्वयं न कर सकें तो हमें ही अपनी सूक्ष्म तथा चुनी सामग्री की सूचना दे सकते हैं। किन्तु सामग्री केवल नाम ले देने से तो मिलनी कठिन है। हम साधन-सम्पन्न नहीं हैं। अतएव आप अपनी सामग्री प्रदान कर सकते हों तो उसकी सूचना दें। हम आप की सहायता को सहर्ष स्वीकार कर उस साहित्य का सृजन और प्रकाशन करने का उद्योग करेंगे।

हम चाहते हैं कि हमारे पास विद्वानों की सहायता का इतना वचन तथा क्रियाशील सहयोग प्राप्त हो जाय कि हम बाहर के मैदान में कूदें। अन्य प्रकाशकों की विज्ञान-अभिरूचि जागृत कर भी प्रकाशन-कार्य बढ़ावें। उनको ऐसे साहित्य की वृद्धि में प्रवृत्त करें ऐसे साहित्य की ओर खींचें क्योंकि परिषद् का उद्देश्य ही प्रत्येक प्रकार से वैज्ञानिक साहित्य-वृद्धि करना है। हम व्यवसायी या लाभार्थी नहीं हैं। क्या हम आशा करें कि आप अपनी उत्कट उत्साह-वृत्ति से हमें अवगत करेंगे, हमारे दुर्बल कंधों को अपनी क्रियाशील सहायता से बल प्रदान करेंगे ?

मनुष्य की उत्पत्ति और उसका विकास

लेखक—कृष्णचन्द्र दुबे

पिछले लेख में मानव के पुरातन कंकालों के संबंध में कौतूहल पूर्ण वैज्ञानिक खोजों की चर्चा की गई थी। प्रस्तुत लेख में लेखक ने मनुष्य के विकास के संबंध में विचारोत्तेजक तथा मनोरंजक विवरण दिया है।

अलेक्जेंडर पोप ने एक स्थल पर यह प्रसिद्ध वाक्य लिखा है—"मनुष्यता का वास्तविक अध्ययन स्वयं मनुष्य ही है।"[1] ए० गोवान्स व्हाइट अपनी पुस्तक 'जीवन की सीढ़ी'—(Ladder of Life) में इससे भी एक चरण आगे बढ़ कर कहते हैं—"मनुष्य का वास्तविक अध्ययन उसके विकास का अध्ययन है।"[2] हम अपने पिछले लेख में अभी तक प्राप्त मानव-अवशेषों पर प्रकाश डाल चुके हैं। इस भाग में हम मनुष्य के विकास पर विचार करेंगे जो पोप के अनुसार मनुष्य का अध्ययन है।

जीव-विकास का प्रश्न डारविन की पुस्तक Origin of Species के साथ ही उत्पन्न हुआ। इसके (१८५८) के पूर्व इस दिशा में कोई गंभीर अध्ययन नहीं हुआ था। मनुष्य के विकास में महिला और कठिन प्रश्न है कि उसका विकास किस प्राणी से हुआ? चिंपंजी-गोरिल्ला और मनुष्य में बहुत कुछ बाहरी समानता है और इस कारण कुछ वर्षों पहिले तक यह सोचा जाता था कि मनुष्य का विकास इन वानरों से हुआ होगा। अभी भी कोई भी व्यक्ति जो इन जीवों के ढांचे का चित्र देखेगा तो उसके मस्तिष्क में भी एकाएक यही हल आवेगा। (देखिए चित्र) पर शरीर के ढांचे और बुद्धि-कोष की सूक्ष्म परीक्षा के उपरान्त इस विचार का वैज्ञानिक विचार-धारा में कोई स्थान नहीं है। आधुनिक विचार है कि मनुष्य और वानर एक ही पूर्वज से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित हुए। और इसलिये वानर (Ape) को मनुष्य का अविकसित प्रकार (degenerate form) नहीं कह सकते। वे अपने विकास में उसी स्थल पर हैं जिस ऊँचाई पर मनुष्य अपने विकास की दिशा में है। पर विकास की यात्रा में मनुष्य ने कुछ ऐसे गुणों को प्राप्त किया जो उसे इस ओर बढ़ने में और यह स्थान प्राप्त करने में सहायक हुए। ये गुण जो जीवनास्तित्व-युद्ध में सहायक हुए निम्नलिखित हैं :—

१. मनुष्य ने सीधा खड़े होने की स्थिति प्राप्त की। और इस स्थिति में वह बिना किसी कठिनाई के रह सकता है। रिंग-मास्टर के चाबुक के डर से अन्य पशु भी थोड़े समय के लिये दो पैरों पर खड़े होते हैं पर उन्हें कितनी कठिनाई अनुभव होती है यह कोई भी सरकस देखकर जाना जा सकता है। अपने इस गुण के कारण मनुष्य

1. The Proper study of mankind is man.—Alexander Pope.
2. The proper study of man, therefore, is the study of Man's evolution. —A. Gowans Whyte—in 'Ladder of Life; Thrift book. Edn. 1951. Pp. 118.

वानरो और मनुष्य के ढाँचे (हक्सले द्वारा)

(मैकग्रेगर के आधार पर हमारे पूर्वजों के चित्र)
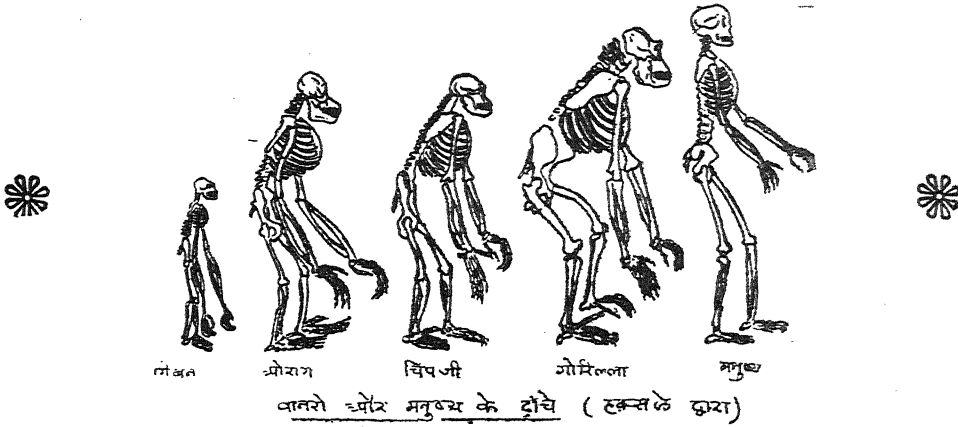
पशु से बहुत आगे बढ़ गया और उसे सिर को घुमाने-फिराने में जो सरलता प्राप्त हुई उससे वह अपने अस्तित्व को और पशुओं की अपेक्षा जीवन-युद्ध में अधिक सुरक्षित रख सका।

२. दूसरा विकसित गुण मनुष्य ने अपनी दृष्टि की दिशा में प्राप्त किया। दोनों आँखों को एक ही स्थान पर केन्द्रित (फोकस) करने में उसे दूरी और समीपता के ज्ञान में अधिक सहायता मिल सकी। यदि हम एक आँख बंद करके किसी दूर की वस्तु को देखें तो उसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लग पाता। इस गुण के फलस्वरूप मनुष्य को मस्तिष्क-विकास में भी सहायता प्राप्त हुई।

३. तीसरा गुण उसके अँगूठों की विरुद्ध दिशा (Opposable Thumbs) है। अपने हाथ के अँगूठों को हथेली के इधर-उधर वह सरलता से घुमा सकता है। मैं तो समझता हूँ कि अपने इस गुण के कारण मनुष्य इस जगह तक आ सका जहां उसने अपने लिये यह बीसवीं-शताब्दी की सभ्यता का निर्माण किया जहां वह हवा में उड़ने और पानी में तैरने और उस पर सैकड़ों मील प्रति घंटे की गति से दौड़ने लगा।

पर हमारे लिये यह अभी भी अंधकार का विषय है कि यदि मानव और वानर के एक ही पूर्वज थे तो किस अवस्था में आकर मानव-

वानर से भिन्न हुआ। अभी तक इस अवस्था का कोई भी अवशेष प्राप्त नहीं हो पाया है यद्यपि वैज्ञानिक और मानव-शास्त्र के कुछ विद्यार्थी दावा करते हैं कि उनकी खोजें इस अवस्था को प्रदर्शित करती हैं। यह अवस्था अप्राप्त अनुमानित अवस्था (Missing link) कहलाती है।

अपने पिछले लेख में मैंने अभी तक प्राप्त विभिन्न मानव अवशेषों पर लिखा था। आदि-मानव (Pithecanthropus) की खोपड़ी वानर-खोपड़ी से बहुत कुछ मिलती है पर पिल्टडाउन में प्राप्त खोपड़ी निश्चित रूप से अधिक विकसित जीव की खोपड़ी है। अभी तक प्राप्त अवशेषों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि निएंडरथेलर मनुष्य से वानर और मनुष्य भिन्न हुए।

तो मनुष्य, वनमानुष (Apes) और बंदर शायद एक ही पूर्वज की संतान हैं। जब वानर ने अपने वृक्ष के जीवन को छोड़कर पृथ्वी पर रहना भी आरम्भ किया, तब उसने मानव-विकास की ओर प्रथम चरण बढ़ाया। हम सबके ये पूर्वज भूकाल के तृतीय खंड में रहते रहे होंगे। मानव अवशेष प्लीस्टोसीन (Pleistocene) से मिलना आरम्भ होते हैं और उस आधार पर यह वानर-मानव पूर्वज प्लायोसीन (Pliocene) भाग में रहता था।

मनुष्य के आदि स्थान के प्रश्न पर पिछले लेख में कुछ लिख चुका हूँ। डारविन के मतानुसार मनुष्य का उदय आफ्रिका में हुआ। आफ्रिका में वानर-जाति बहुतायत से है और चिंपंजी, गोरिल्ला आदि वहाँ अभी तक हैं। इनका अस्तित्व ही इस बात का द्योतक है कि इनके विकास काल में ऐसी कोई परिस्थिति न आई जिससे उसमें कोई रुकावट होती। और श्री डारविन के मतानुसार मानव-विकास आफ्रिका से ही आरंभ हुआ होगा। १९२५ में प्रोफेसर रेमंड डार्ट (Raymond Dart) ने दक्षिण अफ्रीका में एक अवशेष प्राप्त किया है जो रूपरेखा में चिंपंजी सरीखा है। पर कुछ विद्वानों के अनुसार यह उस बीच की अवस्था का चिह्न है। १९३६ में डाक्टर ब्रूम (Dr. R. Broom) ने ट्रांसवाल में एक ऐसा ही अवशेष प्राप्त किया।

पर जैसा पिछले लेख में बताया गया था मानव का आदि-स्थान मध्य-एशिया में होना अधिक संभव है। इसके कुछ कारण उसी लेख में हैं। उनके आगे भी जो कारण है वह है शिवालिक पहाड़ियों के मायोसीन (Miocene) भाग की शिलाओं में कुछ वानर-अवशेष प्राप्त होना। इनमें ड्रायोपिथिकस (Dryopithecus) का नाम उल्लेखनीय है। यह अवशेष मानव के काफी समीप आ जाता है। यह समीपता दांतों की बनावट से प्रकट है, जो प्रोफेसर ग्रेगरी (Prof D. K. Gregory) के अनुसार वानर-मानव अवस्था का द्योतक है। और यह जीव वानर और मानव का पूर्वज हो सकता है। जलवायु के परिवर्तन के कारण जीव दक्षिण-पूर्व की ओर फैले (Migrated) और जावा में प्रथम आदि-मानव (Pithecanthropus) के अवशेष प्राप्य हैं। यह बहुत संभव है कि ड्रायोपिथिकस ने अपनी शिवालिक-जावा यात्रा में आदि-मानव को जन्म दिया हो। चीन में जलवायु परिवर्त्तन के फलस्वरूप वहाँ से कुछ जीव तो दूसरी ओर गये व कुछ का आगमन भी हुआ। उत्तर-पश्चिम से, तथा दक्षिण से कुछ आगमनों के फलस्वरूप चीनी आदि मानव (Sinanthropus) का विकास हुआ। इन सब को दृष्टि में रखकर यह कहा जा सकता है कि मध्य एशिया मानव का आदि-स्थान रहा होगा।

मानव-विकास पर कुछ विचार

सन् १८६४ में डिजराएली (Disraeli) ने कहा था—"मनुष्य वानर है या देवता? मैं तो सोचता हूँ—देवता।" (Is man an ape or angel? I, my Lord, I am on side of angels.) सर एम्ब्रोज फ्लेमिंग (Sir Ambrose

Fleming) १९३५ में मानव विज्ञान और जीव-विज्ञान के द्वारा सिद्ध वानर और मनुष्य की समानता और यह कि मानव और वानर एक ही पूर्वज की संतान हैं, आदि विचारों से क्षुब्ध हो उठे थे। उनके अनुसार समानता हड्डी, ढांचा और खून में है पर यह मनुष्य की मानसिक शक्तियों को ध्यान में नहीं लाती।

सर फ्रांसिस गाल्टन ने अपनी पुस्तक में १८६४ में कहा था—"हम यहां क्यों हैं इस संबंध में हम प्राय: पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। पर यह निश्चित है कि वैयक्तिक-जीवन किसी व्यापक प्रणाली का एक भाग है, और वह प्रणाली किसी ऐसे लक्ष्य की ओर अग्रसर है जिसकी हमें केवल एक धूमिल क्षीण रेखा ही दृष्टिगोचर होती है अथवा पूर्ण रहस्यमय है''और उसकी प्राप्ति के हेतु अनेक विभूतियां निरंतर कार्यरत हैं।" Sir Francis Galton in Hereditery Genius 1864 Pp 351) श्री गोवांस व्हाइट अपनी एक नई पुस्तक में कहते हैं—"सामान्य व्यक्ति का विचार है कि मनुष्य कुछ स्थितियों में प्रकृति की सीमाओं के बाहर है और जीवन विज्ञान की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मनुष्य का जन्म कैसे हुआ तथा उसे यह आध्यात्मिक-शक्ति कैसे प्राप्त हुई यह प्रश्न विज्ञान द्वारा हल नहीं हो सकता। पृथ्वी में जीवन-आरंभ तथा आगे चलकर मनुष्य का उद्भव ये किसी विशेष रचना के बल पर ही समझाये जा सकते हैं। (A. Gowans Whyte "Ladder of Life" Thrift Series, 1957, pp. 15)।

विकास किसी एक लक्ष्य विशेष की पूर्त्ति के हेतु हो रहा है—यह मत काफी विवाद का विषय है। श्री राबर्टसन के अनुसार ऐसा कोई कारण नहीं दिखता कि उसका कोई विशेष उद्देश्य रहा हो। पर पर सर आर्थर कीथ (Sir Arthur Keith; Essays on Human Evolution, Scientific Book Club Edn Pp 217) इस प्रश्न पर उत्तर देते हुए मानव-विकास में एक विशेष लक्ष्य की पूर्ति देखते हैं। और उन लक्ष्य की पूर्ति मानव-मस्तिष्क के विकास में हुई। मानव-विकास घटना मात्र ही नहीं है। डाक्टर वैडिंगटन भी विकास में एक विशेष प्रवृत्ति को मान्यता देते हैं। इसके विरुद्ध डाक्टर जुलियन हक्सले अपनी हाल की पुस्तक (Dr. Julien Huxley 'Evolution'—1942; pp. 576) में कहते हैं कि पृथ्वी पर मनुष्य की सृष्टि केवल एक घटना मात्र है। किसी लक्ष्य विशेष की पूर्ति उसमें निहित नहीं है, अल्फ्रेड मैकिन (Alfred Machin-'What is man') अपनी पुस्तक में लिखते हैं—'मनुष्य कोई अनबूझ पहेली नहीं है। वह जो भी करता या जो भी करता है, उसका कारण होता है, वह अकारण नहीं।' हरबर्ट स्पेंसर ने भी विकास में किसी एक ऐसी व्यापक प्रणाली दर्शन किया था जो निरंतर पूर्णता की ओर अग्रसर है। श्री अरविंद घोष प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में कोई लक्ष्य-साधन का भाव निहित देखते हैं।

इस लेख का आरंभ साधुश्रेष्ठ श्री अरविंद घोष के वाक्य से किया गया था। यह अनुचित न होगा कि इसका अंत भी श्रद्धेय "माता जी के कुछ शब्दों से किया जाये जो उन्होंने इस वर्षारंभ पर अरविंद आश्रम के 'बच्चों' को दिये थे—" प्रकृति में निरंतर विकास होता है जो पत्थर से पौधे, पौधे से पशु और पशु से मनुष्य में गतिमान हुआ है। यद्यपि मनुष्य कुछ काल के लिये विकास के शिखर पर है और सोचता है कि वह सृष्टि की अंतिम कलाकृति है। वह सोचता है कि उससे श्रेष्ठ कोई नहीं हो सकता। यह उसकी भूल है। अपने पार्थिव रूप में वह पशु ही है—सोचने और बोलने की शक्ति रखने वाला पशु। निस्संदेह प्रकृति अपनी इस अपूर्ण कलाकृति से संतुष्ट नहीं रह सकती। वह एक ऐसी कृति के निर्माण में संलग्न है जो मनुष्य की तुलना में वैसी होगी जैसे मनुष्य पशु की तुलना में है। पर कृति रहेगी मनुष्य ही—ऐसा मनुष्य जिसकी चेतना-शक्ति हम से बहुत ऊपर होगी।"

(चित्रों के लिए लेखक श्री सुशील कुमार हरिश्चन्द्र का आभारी है)

गणितीय वाक्यांश

लेखक—श्री ब्रज मोहन

शब्दों के वैज्ञानिक तथा तार्किक प्रयोग के लिए विद्वान लेखक का यह निबन्ध पठनीय है। वाक्यांशों के उदाहरण लेखकों तथा अध्यापकों के लिए उपयोगी तथा मनोरंजक सिद्ध होंगे।

भाषाओं में केवल शब्दों का ही अन्तर नहीं होता, प्रकृति का भी अन्तर होता है। बहुधा सुनने में आता है कि अँग्रेजी के ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जिनके पर्याय हिन्दी में नहीं मिलते जैसे Duty इस शब्द के लिये हिन्दी में कोई एक पर्याय नहीं है। मैं यहाँ चार वाक्य लेता हूँ :—

1. It is the duty of the rich to give alms.
2. The duty of a shudra is to serve the Brahmans.
3. I am on night duty these days.
4. There is no duty on this article.

स्पष्ट है कि इन चार वाक्यों में Duty के लिये एक ही पर्याय से काम नहीं चलेगा। हम इन वाक्यों का अनुवाद इस प्रकार करेंगे :—

१. धनाढ्यों का कर्त्तव्य है कि दान करें।
२. शूद्र का स्वधर्म है कि ब्राह्मणों की सेवा करे।
३. मेरा कृत्य आजकल रात का है, अर्थात् मैं आजकल रात में काम पर जाता हूँ।
४. इस वस्तु पर चुंगी नहीं लगती।

ऐसा ही एक शब्द Case है। इसके लिये भी हिन्दी में कोई एक पर्याय नहीं है। कहीं पर कोई और कहीं पर कोई अन्य प्रयुक्त होता है। मैं यहाँ कुछ उदाहरण देता हूँ :—

1. In such a case — ऐसी दशा में
2. In case — यदि
3. In the present case — प्रस्तुत परिस्थिति में
4. Card-board case — पट्ठे का बक्स
5. His is a case of plague — वह प्लेग का रोगी है।

परन्तु यदि इन शब्दों के लिए हिन्दी में किसी एक ही शब्द से काम नहीं चल सकता तो इसमें हिन्दी का कोई दोष नहीं है। हिन्दी के भी बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके लिए अँग्रेजी में कोई एक पर्याय नहीं है जो प्रत्येक स्थान पर ठीक बैठ जाय। हिन्दी का शब्द 'धर्म' लीजिये। क्या अँग्रेजी में इसके लिए कोई पर्याय नहीं है। पाठक कहेंगे कि अँग्रेजी शब्द Religion इसका पर्याय है। परन्तु तनिक इस वाक्य का अनुवाद करके देखिये।

बाग का धर्म है जलाना

क्या इस वाक्य में भी धर्म के लिए Religion शब्द का प्रयोग हो सकेगा। स्पष्ट है कि यहाँ Function शब्द से काम लेना पड़ेगा।

एक शब्द और लीजिये 'अपना'। मैं यहाँ कुछ वाक्य और उनके अँग्रेजी अनुवाद देता हूँ :—

१. मैं अपने घर जा रहा हूँ। I am going to my house.

२. तुम अपने घर जा रहे हो। You are going to your house.

३. वह अपने घर जा रहा है। He is going to his house.

४. वह अपने तईं बहुत लगाता है। He thinks too much of himself.

स्पष्ट है कि 'अपने' के लिये स्थान स्थान पर अँग्रेजी के अनेक शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा। इसको भी अँग्रेजी का दोष नहीं कहा जा सकता। भाषा केवल एक शब्द-समूह नहीं है। प्रत्येक भाषा के एक आत्मा होती है, विशेषता होती है, प्रकृति होती है। मैं यहां हिन्दी के तीन वाक्य देता हूँ जिनका अँग्रेजी में ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता।

१—वह फसकड़ा मार के बैठ गया।

२—वह सटाक से उठा और खटाक से चल दिया।

३—सारी धोती लपूझन्ना हो गई है।

इसी प्रकार अँग्रेजी के भी सैकड़ों वाक्य ऐसे हैं जिनका हिन्दी में ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। परन्तु कभी-कभी अँग्रेजी के वाक्यों का अनुवाद करना ही पड़ता है। ऐसे अवसरों पर यदि बिल्कुल शाब्दिक अनुवाद न हो सके तो भावानुवाद अथवा निकटतम अनुवाद से ही काम चलाना पड़ता है। आजकल हम लोग परिवर्तन युग से गुजर रहे हैं। अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि अँग्रेजी पारिभाषिक शब्दों और वाक्यांशों के हिन्दी पर्याय ढूंढ़ निकाले जायं। अध्यापकों और लेखकों का इसके बिना काम नहीं चल सकता। अतएव इस में मेरा विचार है कि कुछ गणितीय वाक्यांशों का विवेचन करूं और उनके लिये उपयुक्त हिन्दी पर्याय ढूंढ़ निकालने अथवा बनाने का प्रयत्न करूं।

मैं इस प्रकार के कुछ वाक्यांश यहां लेता हूँ :—

1. According to ascending powers of x — य की आरोह घातों के अनुसार, य की आरोह घातों में।

According to descending powers of x. — य की अवरोह घातों के अनुसार, य की अवरोह घातों में

2. Admits of all values. — समस्त मान ग्रहण करता है।

X admits of all values. — य के समस्त मान ग्राह्य हैं।

3. A hollow square. — एक खोखला वर्ग, एक अन्तः शून्य वर्ग।

4. Always divisible. — सदैव भाज्य

5. An example will illustrate the process. — एक उदाहरण से विधा स्पष्ट हो जायगी

6. An anomalous result. — एक विषम फल।

The result is apparently anomalous but true. — फल देखने में विषम है परन्तु वास्तव में सत्य है।

7. Application of the formula. — सूत्र का प्रयोग

8. Approaches a limit. — सीमा उपगमन करता है सीमा की ओर प्रवृत्त होता है। सीमा प्राप्त करता है, सीमा पर पहुँचता है।

9. Arithmetically inteligible. — अंकगणित के शब्दों में अधिगम्य, अंकगणितीय रूपसे अधिगम्य, अंकगणिततः बोधगम्य

10. As small a quantity as we please.	इतनी छोटी राशि जितनी कि हम चाहें, छोटी से छोटी राशि।
11. At frequent intervals.	छोटी छोटी अन्तर्धियों पर।
At more frequent intervals.	अधिक छोटी अन्तर्धियों पर।
12. Be brought under the domain of the ordinary laws of Algebra.	बीजगणित के साधारण नियमों के अन्तर्गत लाया जाय
13. Being given that.	जब कि यह दिया है कि
14. Be profitably employed.	का उपयोग हो सकता है
15. Beyond the scope.	क्षेत्र के बाहर।
16. By actual verification.	वास्तविक सत्यापन से, वास्तविक जाँच से।
17. By any the same quantity.	किसी एक ही राशि से।
18. By this contrivance.	इस युक्ति से, इस युक्ति द्वारा
19. By trial.	परख से।
20. Comprehensive view.	परिग्राही दृष्टि, व्यापक दृष्टि।
21. Can be disposed of.	का निपटारा कर सकते हैं।
22. Can be converted into.	में परिवर्तित कर सकते हैं।
23. Can be expressed in the following form.	निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं।
24. Can not be exactly found.	ठीक ठीक उपलब्ध नहीं हो सकता।
25. Can very conveniently be solved.	बड़ी सुगमता से हल हो सकती है।
26. Capable of assuming all values.	समस्त मान धारण करने योग्य।
27. Consists of five elements.	पाँच तत्वों से बना है।
28. Consistently with our definition.	हमारी परिभाषा के सांगत्य में।
29. Continued to infinity.	अनन्त तक वितत।
30. Deserving of special notice.	विशेष ध्यान देने योग्य।
31. Detailed discussion.	विस्तृत विवेचन, सविस्तर विवेचन।
32. Detailad proof.	विस्तृत उपपत्ति, सविस्तर उपपत्ति।
33. Due regard should be paid to the sign.	चिन्ह पर समुचित ध्यान देना चाहिये।
34. Each less by 2	प्रत्येक में से २ घटाकर।
35. Each lying between 10 and 50.	जिसमें से प्रत्येक १० और ५० के बीच में स्थित है।
36. Either.	या तो।
37. Enables us to determine.	की सहायता से निर्धारित कर सकते हैं।
38. Equation reduces to.	समीकरण इस लघु रूप में परिणत हो जाता है।
39. Exactly divisible.	पूर्णतया भाज्य।
40. Example of this nature.	इस प्रकार का उदाहरण।

41. Explain the double answer. — द्विगुत्तर की व्याख्या करो।
42. Expressed symbolically. — साँकेतिक रूप में व्यक्त।
43. Expression concerned. — सम्बद्ध व्यंजक, उक्त व्यंजक।
44. Expression under the radical sign. — करणी चिन्ह के अन्दर का व्यंजक।
45. Fact necessarily following. — आवश्यक तथ्य जो उससे निकलते हैं।
46. For a clearer view of the matter. — विषय की स्पष्टता के लिये।
47. For a similar reason. — समान कारण से, इसी प्रकार।
48. From 7 downwards. — ७ से नीचे की ओर।
49, From first principles. — प्राथमिक सिद्धान्तों से, प्राथमिक नियमों से।
50. Formal proof. — आकारी उपपत्ति।
51. From 2 upwards. — २ से ऊपर की ओर।
52. Further approximation. — अपर उपनयन।
53. General procedure. — व्यापक कार्यविधि, व्यापक विधा।
54. Generally speaking. — व्यापक शब्दों में, साधारणतया।
55. If not indispensable. — यदि अनिवार्य न हो तो।
56. In all cases axcept when. — केवल एक दशा छोड़कर जिसमें।
57. In any order. — किसी भी क्रम में।
58. In due order. — यथ.क्रम।
59. Independent of — से स्वतन्त्र।
60. In one and the same order. — एक ही निश्चित क्रम में।
61. In order that. — ताकि।
62. In order to. — के लिये।
63. In the same way. — इसी प्रकार।
64. Irrespective of the order. — बिना क्रम के विचार के।
65. It is to be noticed. — यह बात ध्यान देने योग्य है।
66. It is usual to do so. — साधारणतया ऐसा करते हैं।
67. May be regarded as a constant. — को अचल मान सकते हैं।
68. May conveniently be used. — का सुगमता से उपयोग कर सकते हैं।
69. Method of solving. — साधन विधि, हल करने की विधि।
70. Might have been adopted. — का प्रयोग कर सकते थे।
71. Made of reasoning. — तर्क प्रणाली, तर्क विधि।
72. Must include. — का समावेश होना चाहिये।
73. Never divisible. — कभी भी भाज्य नहीं, सदैव अभाज्य।
74. Number denoting the power. — घातद्योतक संख्या।
75. Of great use. — बहुत उपयोगी, बड़े काम का।
76. Of no practical value. — किसी अर्थ का नहीं, व्यर्थ।

77. Only those are to be retained.	केवल उन्हीं को रखना है।
78. Only when	केवल तभी।
79. Or.	या, अथवा।
80. Proceeding from case to case.	एक एक दशा को लेते हुये।
81. Property holds.	गुण होता है।
82. Provided that.	यदि।
83. Raised to power 5.	पंचायत में।
84. Ready application.	सुगम प्रयोग, तात्कालिक प्रयोग।
85. Ready method.	सुगम विधि।
86. Reduce them to the same base.	उनको एक ही आधार पर लाओ।
87. Reduce them to surds of the same order.	उनको एक ही वर्ण की करणियों में परिणत करो।
88. Reducible to this form.	इस रूप में लघुकरणीय।
89. Referred to one and the same unit.	एक ही इकाई से सम्बद्ध।
90. Roots by inspection.	प्रत्यक्ष मूल।
91. Satisfying the conditions of the problem.	समस्या की शर्तों को संतुष्ट करते हुये।
92. Set of 4 volumes.	चार भागों का कुलक।
93. Strongly recommended.	प्रकर्ष रूप से अभिशंसित।
94. Sum to infinity.	अनन्ती तक योग।
95. Sum to n terms.	ग पदों तक योग।
96. Taking one foom each of the n factors.	ग खंडों में से प्रत्येक में से एक लेकर।
97. The anomaly disapears.	कठिनाई दूर हो जाती है, उलझन दूर हो जाती है।
98. The method consists in multiplying.	विधि गुणा करने की है।
99. The principle is illustrated by the following example.	निम्नलिखित उदाहरण इस नियम का दृष्टान्त है।
100. The quantity can be made to differ from the sum by as small a quantity as we please.	इस राशि और योग का अन्तर हम उतना छोटा कर सकते हैं जितना चाहें।
101. The unknown quantities are similarly involved in the equation.	अज्ञात राशियां समीकरण में इसी प्रकार समाविष्ट हैं।
102. To equate the two.	दोनों के समीकरण के लिये।
103. Tolerably satisfactory proof.	साधारणतया संतोषजनक उपपति।
104. Treated of in this article.	इस प्रकरण में उपचरित।

[शेष पृष्ठ ५३ पर]

शिलाओं का रसायन

लेखक—जगपति चतुर्वेदी

धरती की पपड़ी बनाने वाली शिलाओं की रचना के संबंध में वैज्ञानिक विवेचन को कौतूहल पूर्ण तथा युक्ति-संगत रूप में इस लेख में देने का प्रयत्न किया गया है।

'रसायन' शब्द को शीर्षक में देखकर सम्भव है कि साधारण पाठक कुछ चौंकें और कुछ दुरूहता वा जटिलता के समावेश का सन्देह करें किन्तु बात ऐसी नहीं है। बच्चे रंगरेज के रंगे हुए सुन्दर हल्के या गहरे रंग के वस्त्र धारण कर अपार सुख का अनुभव करते हैं। हम तो अध्ययन करने का कष्ट नहीं करते कि किसी विशेष रंग का प्रभाव लाने के लिए किन-किन वस्तुओं या रंगों का मिश्रण करना चाहिए। रंगों के चटकीले या हल्के रूप करने के लिए क्या करना चाहिए। कच्चा या पक्का रंग कैसे उतारना चाहिए परन्तु रंगरेज अपनी विद्या, रंग का उतार चढ़ाव समझने, उनकी विविध छटा उपस्थित कर सकने आदि की उधेड़बुन में लगा रहकर बड़े आनन्द का अनुभव करता है। दर्जी भी हमारे कपड़े को सीते समय जरा-सी भी सिकुड़न दूर करने, कपड़ा ठीक तरह शरीर में फिट होने योग्य सी सकने के लिए भिन्न-भिन्न नाप-जोखों की पेचीदगी में रहकर सुख का जैसा अनुभव करता है हम अपने चुस्त वस्त्रों को पहनते हुए उस आनन्द में उतना भागी नहीं हो पाते। वैज्ञानिक भी हमारे पैर के नीचे की धरती, उसके गर्भ तथा वाह्य रूप में विस्तृत भूखंडों की निर्मायक वस्तुओं की गिनती, उनके रूपों की व्याख्या, मौलिक या यौगिक स्वरूप के ऊहापोह, परस्पर अनुपात, प्रभाव आदि की नित्य खोज, व्याख्या आदि में रहकर जैसे अपूर्व आनन्द, सुख, तथा गर्व का अनुभव करते हैं उनमें हम अपने को अधिक भाग लेते नहीं पाते हैं।

वैज्ञानिक की खोजों के आधार इन सब पदार्थों के उपयोग प्रभाव आदि से हम वंचित नहीं रहते। आंतरिक मर्म और रचना-चातुरी के सम्बन्ध में हमारी निपट अज्ञानता होने पर भी धरती हमें भूतल या गर्भ स्थल के पदार्थों के उपयोग करने में किसी प्रकार का ननुनचु नहीं करती किन्तु हम स्वयं ही अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए उसके रहस्यों, सतत नियमों, नाना रूप-परिवर्तनों तथा उसकी गहरी छान-बीन करने में संलग्न हो या अन्य कर्मठ खोजियों, उद्भट विद्वानों की संगृहीत ज्ञानराशियों का ही रसास्वादन करना चाहें तो प्रकृति हमारे सामने कोई बाधा नहीं डालती। अस्तु।

हम अपनी उत्सुकता वश यदि इन्हीं छान-बीन के विद्वानों के प्रयत्नों, सफलताओं, रहस्योद्‌घाटनों, तथा मार्मिक व्याख्याओं के अत्यंत स्थूल रूप को धरती की पपड़ी के निर्मायक पदार्थों के संबन्ध में साधारण पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न करें तो जटिलता या दुरूहता की दुहाई देने का कोई कारण नहीं। वैज्ञानिक सत्य की गहरी मीमांसा जो समर्थ विद्वान कर सकते हों, करें, किन्तु इस ठोस सत्य के मौलिक रूप की स्थूल व्याख्या भी

हमारी बुद्धि में नहीं धस सकती है, यह भ्रान्त धारणा तो हमारी भारी बौद्धिक कायरता, सत्य का रूप न समझने का भारी हठ ही हो सकता है! अतएव यह कहना हमारा दुस्साहस न होगा कि शिलाओं के रसायन की साधारण चर्चा कभी भी हमारी घबराहट का विषय न होगी। इतना अवश्य है कि वर्णन की दुर्बलता से उतना सुन्दर चित्र मस्तिष्क में भले ही न उतर आवे, किन्तु इस डर से चर्चा ही न करना कोई बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती।

यदि हमारे स्थूल जगत, ठोस सत्य रूप में हमें प्रति दिन दृष्टि आते, प्रयोग में आते, घोर उपयोगितावादी, पार्थिव संसार का स्वरूप चित्रण करने वाली रामायण कोई लिखता तो हम उसमें यह चौपाई का अंश पाते :—

शैल-प्रधान सृष्टि कर राखा।

इसकी व्याख्या भी कोई अधिक जटिल नहीं होती। धरती की ठोस पपड़ी से निर्माण में शैलम् (सिकिलन) या शैलकम् नाम के ठोस तत्व की प्रधानता है। इस वैज्ञानिक व्याख्या में हम यथार्थ में सत्य का निरूपण देखते। आप फिर पूछेंगे कि यह शैलम् या शैलकम् (सिलिकन) क्या बला है, कहाँ मिलती है, किस रूप-रंग की होती है, उसके लिए कोई व्याख्या करता कि इसके लिये दूर जाने की तो विशेष आवश्यकता नहीं, अपने पैर के नीचे देखिए, घर में सिर के ऊपर देखिए, दीवाल में देखिए, फर्श में देखिए, छत में देखिए, घर के बाहर सड़क पर देखिए, गली कूचे में देखिए, टीले में भी देखिए, नाले में भी देखिए, सब ओर सिलिकन, सिलिकन या शैलम, शैलम् ही तो दृष्टिगोचर होता है। इतने पर भी यदि शैलम् (सिकिलन) के रूप का आप पर प्रभाव पड़ता, उसके प्रसार का आभास मिलता न दिखाई पड़े, तो हम यह कहेंगे कि विज्ञान की सरल पुस्तकें पढ़िए। अस्तु।

शैलम् या सिलिकन तत्व क्या है, इसके उत्तर के लिए थोड़ा-सा धैर्य रखकर पृथ्वी के स्थूल भाग की, उसकी पपड़ी में विद्यमान रूप में, हमें विहंगम दृष्टि से छान-बीन करनी होगी। हम ओषजन (आक्सिजन) को जानते हैं जो वायव्य रूप में हमारे साँस लेने और प्राण-रक्षा करने के काम आती है। यही प्राणप्रद वायव्य (गैस) अर्थात् ओषजन पृथ्वी के अन्य रूप के पदार्थों में भी सम्मिलित है। ठोस पदार्थों में भी यह विद्यमान ही नहीं है, बल्कि पृथ्वी की पपड़ी में तो ठोस पदार्थों में सबसे अधिक मात्रा का यही तत्व विद्यमान है। यदि इस ओषजन और शैलम् दोनों के वर्तमान रूप को पृथ्वी की पपड़ी में खोज की जाय तो ये दोनों पदार्थ ही कुल पपड़ी अर्थात् मनुष्य की अन्वीक्षण दृष्टि में आ सकने वाले कुल स्थूल तह का ७५ प्रतिशत घेरे दिखाई पड़ेंगे। अर्थात् पृथ्वी के जितने भी अधिक से अधिक गहराई तक के भाग की छानबीन कर सकने की मनुष्य में सामर्थ्य है, उन सब भागों का निरीक्षण या वैज्ञानिक विश्लेषण या तत्वों के पृथक-पृथक विभाजन करने पर ७५ प्रतिशत में दो ही तत्व ओषजन और शैलम् का ही फैलाव मिलता है। इस प्रकार ओषजन को हवाई, वायव्य पदार्थ कहकर हम ठोस आकार की वस्तु पर ध्यान दें तो निश्चय ही शैलम् (सिलिकन) पृथ्वी के ठोस पदार्थों में सबसे अधिक मात्रा का मिलेगा।

तत्व क्या है? जिस प्रकार वर्णमाला के स्वर और व्यंजन अक्षर होते हैं उसी प्रकार स्थूल संसार रूपी ग्रंथ में वर्णमाला के स्वर और व्यंजन रूप में मौलिक पदार्थ "तत्व" (एलिमेंट) होते हैं। हम ध्वनि के सार्थक रूप में स्वर या व्यंजन की इकाई से नीचे जाने की सामर्थ्य नहीं रखते, उसी प्रकार मौलिक पदार्थों, तत्वों की रासायनिक रूप से कोई छोटी अवस्था नहीं की जा सकती। (भौतिक रूप से उनके सूक्ष्म अवयवों के भी विवेचन निरूपण, आदि का विषय परमाणु संबंधी भौतिक विज्ञान का विषय है। उस सूक्ष्म चर्चा का हमारे प्रसंग पर कोई सीधा प्रभाव नहीं।)

ओषजन (आक्सिजन) और शैलम् (सिलिकन) का जगत् की पपड़ी में ७५ प्रतिशत् विस्तार देखकर शेष २५ प्रतिशत् भाग में २४ प्रतिशत् हम अष्ट धातु को फैला देखते हैं। अन्य सभी पदार्थों को शेष १ प्रतिशत में ही फैला पाया जा सकता है। अष्टधातु का नाम सुनकर आप कदाचित् कह बैठें कि ओ हो! यह तो दकियानूसी, पुरानी-धुरानी बात हुई। भला अष्टधातु का वैज्ञानिक विश्लेषण में किस प्रकार स्थान हो सकता है, यह तत्वों का भेद और मात्रा बताने वाला वर्णन विश्वसनीय नहीं किन्तु हम यह कहेंगे कि अष्टधातु से निर्मित, मंदिर में बजने वाले, घंटे की ओर आप मत भ्रमित होइए। हमने तो जानबूझ कर यह शब्द इसलिए प्रयुक्त किया कि आप अष्ट धातु शब्द से परिचित हैं, कोई संख्या याद करने में कठिनाई नहीं होगी। ओषजन और शैलम् दो अधातु पदार्थों की प्रधानता होने के बाद शेष २५ प्रतिशत में २४ प्रतिशत का निर्माण कोई निश्चित वर्ग के पदार्थ करते हैं जो धातु नाम से ज्ञात हैं और उनकी मुख्य संख्या आठ है। इन आठों का नाम या रूप आप ज्ञान-मंदिर के घंटे रूप में ज्ञात करें, तब सत्य के अधिक निकट होंगे। इस वैज्ञानिक विश्लेषण के आठों रूपों के धातु क्या है, उनका नाम दे देने में कोई हानि नहीं, उनके अपरिचित होने, नाम, गुण, प्रकार आदि से अबोध होने के कारण कुछ चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी चर्चा का विषय छोड़कर धातु वंशावली लिखने नहीं जा रहे हैं। उसे आप रुचि होने पर अन्यत्र देख सकते हैं। वे धातु ये हैं—अल्यूमीनियम, लौह (आइरन), खटिकम् (काल्सियम) सैन्धकम् (सोडियम), पांशुजम (पोटैशियम) और मैगनीशियम । इनमें अल्यूमीनियम की मात्रा ८ प्रतिशत, लोहे की ४ प्रतिशत, काल्शियम की ३½ प्रतिशत और शेष तीन की भी इसी तरह क्रमशः कम मात्रा है। मगनीसिया या मैगनीशियम इनमें सबसे कम मात्रा २½ प्रतिशत का स्थान घेरता है। अल्यूमीनियम और लोहा हमारे परिचित पदार्थ हैं ही, खटिकम या काल्शियम चूना के पत्थर, खरिया मिट्टी, जीवों की कड़ी खोल, सीपी घोंघे, शंख आदि में विद्यमान हैं। नमक रूप में हम सैन्धकम या सोडियम खाते हैं। पोटाश खेतों की सुन्दर खाद बनता है। रहा मगनीसम या मैगनीशियम उसे चूर्ण या तार रूप में छायाचित्र उतारने में उपयोग होता है। यह अन्य वस्तुओं या धातुओं में संयुक्त मिलता है।

पृथ्वी के तहों की मनुष्य जहाँ तक परख कर सकता है उनमें हम इस प्रकार तत्वों की मात्रा देखते हैं। आठ मुख्य पदार्थ या तत्व जो २४ प्रतिशत भाग घेरते हैं, उनके विपक्ष शैलम् (सिलकन) की अपनी निजी मात्रा २८ प्रतिशत होती है। ४७ प्रतिशत स्थान ओषजन का मिलता है। शेष एक प्रतिशत में ही हमें आवश्यक या अनावश्यक सभी पदार्थ विद्यमान दिखाई पड़ सकते हैं। बहुमूल्य या उपयोगी धातु सोना, चाँदी, प्लेटिनम या ताँबा इसी एक प्रतिशत के अन्तर्गत हैं।

हमारी इस चर्चा का एक मुख्य उद्देश्य है। हम तत्व रूप में सब प्रकार के पदार्थ को मुख्यतया इतनी मात्रा में विभाजित समझ सकते हैं। अब हम अपनी वर्णमाला का उदाहरण फिर ध्यान में लेते हैं। हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यंजन को मूल रूप में हल् या हलंत ही माना जाता है और उसमें 'अ' या किसी स्वर के मिलने पर उच्चारण की ठीक इकाई हमारे सामने आती है। जैसे क्, ग्, ज्, द् आदि अक्षर 'अ' स्वर के संयोग से क, ग, ज, द आदि उच्चरित दिखाई पड़ते हैं। कहीं हलंत भी दिखाई पड़ते हैं, किन्तु कम। इसी प्रकार तत्व भी हमें हलन्त अक्षरों या व्यंजनों की भाँति लंगड़े से दिखाई पड़ते हैं। अतएव वे स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व हमें प्रायः नहीं दिखला पाते। अधिकतर

वे अन्य तत्वों के संयोग से अपना रूप स्थिर कर दिखाई पड़ सकते हैं।

सोना, प्लेटिनम, गंधक, कर्बन आदि पदार्थ मुक्त रूप में अपने परमाणुओं की ही मात्रा एकत्र कर शुद्ध रूप में मौजूद रह सकने में समर्थ हो सकते हैं, परन्तु अधिकांश तत्वों को हम दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखने वाला देखते हैं। इस कारण पृथ्वी की स्थूल पपड़ी में हम इन संयोगों का बोलबाला सर्वत्र देखेंगे। ओषजन की मात्रा सभी तत्वों से अधिक होने के कारण यह स्वाभाविक है कि इसका सहयोग बहुतों को प्राप्त हो। अकेले शैलम (सिलिकन) के ही इससे संयोग कर लेने पर बने यौगिक पदार्थ को हम पृथ्वी के ज्ञात हो सकने योग्य भाग या पपड़ी का ६० प्रतिशत घेरते देखते हैं। ओषजन के वायव्य रूप का शैलम (सिलिकन) से संयोग होने पर ६० प्रतिशत भूखंड घिरना कुछ विस्मय की बात नहीं है।

शैलम (सिलिकन) का शुद्ध रूप स्वतंत्र रूप से प्रकृति में कहीं नहीं पाया जा सकता। प्रयोग-शाला में उसे शुद्ध रूप में तैयार कर रखना कठिन ही होता है। ओषजन से संयुक्त शैलम (सिलिकन) को सिलिका कहा जाता है। बालू रूप में हमें उसका एक रूप देखने को मिल सकता है।

शैलम (सिलिकन) की भाँति पृथ्वी के भाग में मिलने वाले अन्य तत्व भी अधिकांशतः ओषजन से संयोग करते दिखाई पड़ते हैं। हम ओषजन के संयोग को उन पदार्थों के ओषिद (आक्साइड) कहते हैं। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। जिस तत्व का ओषजन से संयुक्त होकर पदार्थ बनेगा उसे उस तत्व का ओषिद कहेंगे। अतएव पृथ्वी की पपड़ी में अधिकांश रूप से मिलने वाले आठों धातुओं या अन्य कितने ही तत्वों में भी ओषजन के संयोग से बना उनका ओषिद (आक्साइड) देख सकते हैं। इनको स्वरयुक्त अक्षर या व्यंजन रूप में आप मान सकते हैं।

पृथ्वी के निर्मायक पदार्थों में ओषजन को सहायक रूप में संयोजक पदार्थ की कल्पना कर लेने पर शेष अधिकांश मात्रा वाले पदार्थों में जहाँ आठ धातु हैं, वहां एक अधातु शैलम (सिलिकन) मिलता है, किन्तु ६० प्रकार के लगभग सभी तत्वों की संख्या और भिन्न प्रकार का विचार किया जाय तो उनमें भी २० तत्व जहाँ हमें 'अधातु' कोटि के मिलेंगे वहाँ अन्य सभी 'धातु' नामधारी मिलेंगे। इस धातु और अधातु की खींचतान में मात्रा किस की अधिक है, प्रकार किनका अधिक है, इसे आप हिसाब लगाकर जोड़ लें। कदाचित आपको यह भूला न होगा कि २४ प्रतिशत कुल योग ही प्रधान धातुओं का है और शेष एक प्रतिशत में धातु अधातु सभी विभिन्न शेष तत्व हैं, इनके विपक्ष उधर अकेले ही शैलम् (सिलिकन) २८ प्रतिशत का है। अब शैलम्-प्रधान सृष्टि होने में आपको क्या संदेह हो सकता है।

हमने तत्वों के विभाजन और अनुपात का जो साधारण स्थूल चित्र यहाँ चित्रित किया है, वह अत्यन्त सरल है। हम कुछ पग इससे आगे बढ़ते हैं। धातु या अधातु का स्पष्ट रूप हमें कदाचित नहीं भान होता है, विशेषकर उस रूप में जब सोने चाँदी की तरह शुद्ध रूप में वे धातु नहीं दिखाई पड़ते जिनको हमने मुख्य सूची में पोटैशियम, सोडियम, मैगनीसियम आदि नाम से संबोधित किया है। हम साधारण रूप से धातु का अर्थ कोई कड़ी और दृढ़ वस्तु लेते हैं। लोहा, ताँबा हमारे ध्यान में तुरन्त आ जाता है। यथार्थ में धातु शब्द हमारे मस्तिष्क में दृढ़ता की प्रतिमूर्ति सा ज्ञात होता है। किन्तु हम भूलते हैं कि 'सोना' धातु है किन्तु उसमें दृढ़ता कहाँ, शुद्ध चाँदी में भी उतना कड़ापन कहाँ? रुपए में तो ताँबा या अन्य धातु मिश्रण कर कड़ापन लाया जाता था। किन्तु पांशुजम (पोटैशियम) सैन्धकम् (सोडियम) आदि तो ऐसे धातु हैं कि हाथ पर शुद्ध रूप में

रक्खे जाने पर तनिक नमी होने से हमारे हाथ को ही जला दें। नर्मी में वे ऐसे हैं कि चाकू से काट लिए जायँ।

अतएव धातु की यथार्थ परीक्षा क्या होनी चाहिए, यह प्रश्न उठता है। सूक्ष्म वैज्ञानिक परीक्षाओं को न लेकर हम यह कहेंगे कि धातु ताप और बिजली की धारा का वाहक होता है। मक्खन ऐसे नर्म धातु सोडियम और पोटैशियम आदि इस परीक्षा में उतरते हैं किन्तु कुछ अन्य पदार्थ भी इस परीक्षा में कुछ शिथिल रूप से धातु के ये गुण दिखाते हैं जिन्हें विज्ञान धातु नहीं कहता। उन अपवादों को वैज्ञानिकों की विवेचना के लिए छोड़ दें। हम एक दूसरी परीक्षा लेते हैं जिससे हमारा विशेष प्रयोजन है।

हमने पहले बताया है कि ओषजन के संयोग से अधिकांश तत्व 'ओषिद' (आक्साइड) बनते हैं। शैलम का ओषिद अर्थात् शैलम और ओषजन दोनों तत्वों के संयोग से बना पदार्थ योगिक कहलाता है। इस तरह ओषजन के मिलने से योगिक पदार्थ धातुओं और अन्य तत्वों में से अधिकांश के बनते हैं जो उन तत्वों के ओषिद (आक्साइड) नाम से पुकारे जाते हैं। शैलम तो स्थूल या जड़ जगत में अपनी प्रधानता रखता है किन्तु वनस्पति और प्राणि जगत में उनकी शरीर-रचना में विशेष भाग लेने वाला तत्व कर्बन होता है। पत्थर कोयला उसी का रूप होता है। इस कर्बन की इतनी विस्तृत माया है कि इसके संयोग से बनने वाले विविध योगिकों की संख्या लाखों तक पहुँचती है। हमारा उस प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने कोयले का नाम लेकर इस कर्बन तत्व का नाम भर परिचित कराया। ओषजन से इस तत्व का भी संयोग होकर 'ओषिद' बनता है। कर्बन के एक परमाणु से ओषजन तत्व के दो परमाणु के मिलने के कारण कर्बन द्विओषिद (कार्बन डायक्साइड) का नाम हम स्वास्थ्य की पुस्तकों में बराबर पा सकते हैं। इस कर्बन से ओषजन मिले योगिक या ओषिद को पानी में घुलाने से सोडा, लेमनेड आदि की बोतलों में हमें खटास या अम्ल का स्वाद मिलता है। अम्ल खटाई को कहते हैं। खट्टापन का हल्का स्वाद हमें उन सब वस्तुओं के ओषिद में मिल सकता है जो धातु नहीं कहे जाते। अतएव इन सब तत्वों को अम्लीय कहा जा सकता है। अधातु के ओषिद को पानी में घुलाने से जहाँ अम्ल (ऐसिड) बनता है, वहाँ धातु के ओषिद को पानी में घुलाने से अम्ल नहीं बनता, बल्कि भस्म बनता है। 'भस्म' का अर्थ राख है, अतएव हम समझ सकते हैं कि धातु का ओषिद पानी में धुलता नहीं, बल्कि कुछ चूर्ण सा बनाता है। यह परीक्षा भी पूर्ण रूप का नियम नहीं कही जा सकती। इसके कुछ अपवाद भी हैं। और उन्हीं मुख्य अपवादों में अधातु तत्व शैलम या सिलिका भी है। बालू या रेत को तो आप भी कभी पानी में घुलाकर कोई घोल या अम्ल नहीं बना सकते। बालू से पतले कणों का शैलम का शुद्ध ओषिद रेणु रूप होने पर भी कभी घुलकर तरल या अम्लीय बनता नहीं दिखाई पड़ सकता।

इन परीक्षाओं और परिभाषाओं के अनुसार जो पदार्थ या तत्व धातु हैं उनमें से अधिकांश ओषिद बनाते हैं, उन धातुओं के ओषिद का संयोग धातु या अधातु तत्वों के ओषिदों या अन्य धातु के ही ओषिदों से हुआ मिल स.ता है। ओषिदों के इस प्रकार के संयोग में अधातु के तत्वों के ओषिद अन्य अधातु तत्व के ओषिद से भी मिलते पाए जा सकते हैं। अतएव इस रूप में शैलम (सिलिकन) के ओषिद भी धातु या अधातु तत्वों के ओषिदों से संयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। संयुक्ताक्षर की तरह व्यंजन, व्यंजन का मेल और उसमें स्वरों का संयोग इस रूप की कुछ झाँकी दे सकता है। जब शैलम (सिलिकन) का ओषिद किसी धातु के ओषिद से संयुक्त होता है तो उसे शैलेत (सिलिकेट) कहकर उस तत्व का शैलेत

नाम देते हैं। यह दुहरा संयोग सा हुआ। शैलेत की ध्वनि पर अन्य संयोगों को भी पुकारे जाते देखकर यह समझ सकते हैं कि किसी ओषिद का दूसरे ओषिद से ऐसा संयोग हुआ जिसमें एक धातु का ओषिद है। हम धातु के ओषिदों को शैलम का ओषिद अपने में संयुक्त कर शैलेत नाम ग्रहण करते अधिक संख्या में पा सकते हैं। इन सब रूपों में शैलम् तत्व का जहाँ जहाँ भी संयोग पाया जा सकता है, उनका प्रसार पृथ्वी की पपड़ी के ८७ प्रतिशत में पाया जाता है। इन भिन्न-भिन्न रूपों के संयोगों से प्रकृति के पदार्थों की विविधता बहुत अधिक बढ़ जाती है। एक प्रकार के ऐसे समान तात्विक संयोग से बने पदार्थ को हम शिलाओं में पृथक रूप से देख सकते हैं। ऐसे एक रूप के जो पदार्थ शिलाओं का निर्माण करते हैं उनको खनिज (मिनरल) नाम दिया जाता है। इन खनिजों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल से भिन्न-भिन्न शिलाओं के रूप बनते हैं। धातु या अधातु तत्वों के ओषिदों के अनुपात से भी हम धातु-प्रधान या अधातु-प्रधान नाम से शिलाओं का वर्णन पाते हैं। धातु प्रधान या धातुओं के ओषिद की प्रधानता वाली शिला को इसी कारण भस्मीय (बेसिक) और अधातु प्रधान या अधातुओं के ओषिदों की प्रधानता होने पर अम्लीय (ऐसिडिक) नाम दिया जाना अपनी कथा या रचना का रहस्य बतला देता है, किन्तु इनमें मात्रा में धातु या अधातु का भाग ठीक आधे से कम या अधिक न देखकर धातु के ओषिद या भस्मीय ओषिद (बेसिक आक्साइड) की मात्रा ४५ प्रतिशत या अधिक और शेष अम्लीय ओषिद होने पर ही उस शिला को भस्मीय तथा इससे कुछ कम भस्मीय ओषिद युक्त शिला को मध्यमवर्गीय कहते हैं। ३५ प्रतिशत तक भस्मीय ओषिद और शेष ६५ प्रतिशत अम्लीय ओषिद होने पर शिला का नाम 'अम्लीय' कहा जाता है।

इन व्याख्याओं के पश्चात् हम यह कहें कि ग्रेनाइट शिला अम्लीय होती है किन्तु बसाल्ट शिला भस्मीय होती है तो हम उसका कुछ भेद अवश्य समझ सकेंगे। हम मध्यम वर्ग की एक शिला 'ऐंडेसाइट' मध्यवर्गीय अग्निशिला नाम से स्मरण रख सकते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों से प्रायः ये नमूने पृथ्वी के गर्भ से धरातल पर आ उपस्थित होते हैं। मध्यमवर्गीय शिला का द्रव रूप ऐंडीज पर्वतमाला के ज्वालामुखियों में मिलता है इसलिए उसका नाम ऐंडिसाइट अर्थात् ऐंडीपर्वतीय रखा गया है। भस्मीय शिला का द्रव रूप अर्थात् बसाल्ट का उद्भव हम इटली के विस्यूवियस, एटना आदि ज्वालामुखियों में देख सकते हैं। बसाल्ट गहरे रंग का होता है। गहरे रंग का होना भस्मीय शिला की एक पहचान सी मानी जा सकती है। ग्रेनाइट या उसी का बन्धु रिओलाइट अम्लीय शिला हैं जिनका रंग हल्का पाया जाता है अतएव रङ्ग का हल्कापन अम्लीय शिला का एक लक्षण हो सकता है। पृथ्वी के गर्भ में द्रव पदार्थों के रवे धीरे-धीरे ठंडे होने से बड़ा रूप बना पाते हैं, इसलिए बड़े रवे के रूप से उसके धरातल के नीचे बने होने का प्रमाण मिल सकता है। ग्रेनाइट में रवे स्पष्ट और बड़े-बड़े दिखाई पड़ते हैं किन्तु अम्लीयवंश की दूसरी शिला रिओलाइट छोटे रवों की होती है। यह लघुमणिभ या छोटे रवों का रूप उसे धरातल पर द्रव के पिघले रूप में पहुँच जाने के बाद थोड़े समय में ही ठंडे होने से जमने का रहस्य प्रकट करता है। बसाल्ट के रवे जहाँ छोटे होते हैं वहाँ उसी वंश की अर्थात् 'गब्रो' नामक भस्मीय शिला दीर्घमणिभ अर्थात् बड़े रवों वाली होती है। हम इसे कहने में कुछ भी अड़चन नहीं समझ सकते कि एक वंशीय शिला का 'गब्रो' रूप अवश्य ही कहीं पृथ्वी के गर्भ में बना होगा किन्तु बसाल्ट धरातल पर ही बना होगा। ऐंडेसाइट धरातल पर आकर जमने वाली शिला है इसलिए उसके रवे छोटे मिलेंगे। उसी मध्यवंश की 'डियोराइट' शिला अपने बड़े रवों के कारण

अपना जन्म-स्थान अर्थात् जमकर आधुनिक रूप रखने का स्थान पृथ्वी का गर्भ बतलाती जान पड़ती हैं। यह आग्नेय शिलाओं के ओषिदों के भेद और रवों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं। इनके नाम हम भूलकर भी इन रूपों का कारण तो मस्तिष्क में रख ही सकते हैं।

शिलाओं के निर्मायक पृथक-पृथक रूप के एक-रस (होमोजिनियस) पदार्थों को खनिज पदार्थ कहा जाता है। इस दृष्टि से सब प्रकार की शिलाओं के सभी एकरस पदार्थों को खनिज पदार्थ कहने से यह परिभाषा भूगर्भ विज्ञान द्वारा एक विशेष अर्थ की ओर अधिक व्यापक है। खनिज कहने से साधारणतया उस वस्तु का बोध होता है जो हमारी आँख से ओझल दूर गहराई की तह में मिलने वाली वस्तु होती है किन्तु भूगर्भ विज्ञान ऊपर लिखे अनुसार सभी एकरस पदार्थों को खनिज कहता है जो शिलाओं में पाए जा सकते हैं। शिलाएँ भी वे सब स्थूल खंड हैं जो मिट्टी, धूल बालू से लेकर बालू के पत्थर, चिकनी मिट्टी, पत्थर कोयला, चूने का पत्थर, ग्रेनाइट आदि रूप में ज्ञात होती हैं। हम यहाँ पर कुछ मुख्य खनिजों का अत्यन्त सरल परिचय देते हैं जो आग्नेय शिलाओं में प्रधान रूप से मिल सकती है। इनके परिवर्तित या टूटे-फूटे रूप से जो अन्य वस्तुएँ बनीं उनकी विशेष चर्चा नहीं की जायगी।

क्वार्ट्ज

किसी छपहल शीशे (षट्भुज ठोस घनाकार) में नीचे ऊपर दोनों ओर षट्भुजी बुर्ज लगी आकृति के इसके रवे होते हैं जो पूर्ण रूप में विकसित होने पर स्पष्ट दिखाई पड़ सकते हैं। इसका रंग दूधिया होता है। कभी-कभी कुछ विकारों के मेल से इसका रंग भूरा, गुलाबी या बैंजनी हो सकता है। कठोरता में शीशे से भी उच्च कोटि का होता है। इसके खरोंच का चिन्ह शीशे पर डाला जा सकता है। ग्रेनाइट या रियोलाइट शिलाओं या अन्य अम्लीय शिलाओं में शैलम का ओषित ६५ प्रतिशत से ऊपर होने से सभी ओषिद धातु के ओषिद में संयुक्त नहीं हो सकते तो वे स्वतन्त्र रूप में अपना अस्तित्व बनाकर रवा निर्माण कर लेते हैं। बड़े दानों के रूप में इसका एक रूप हम रवा के घिस जाने पर बालू रूप में देखते हैं जो कान और पूछ कटे कुत्ते की तरह अपने रवे के कोरों को खो चुका होता है। अन्य रेणुओं में भी इसी का छोटा रूप होता है।

फेल्सपर

यह शैलम धातु का ही यौगिक है जिसमें शैलम (सिलिकन) के ओषिद के साथ अल्यूमीनियम और पोटैशियम, सोडियम, या काल्शियम धातुओं के ओषिद संयुक्त होते हैं। इस खनिज का रंग श्वेत या गुलाबी हो सकता है। इसके यथेष्ट बड़े रवे ग्रेनाइट में देखने को मिल सकते हैं। यदि ग्रेनाइट का कोई टुकड़ा चूर्ण कर लिया जाय तो उसके टुकड़ों को छांटकर अलग करने से फेल्सपर के रवे अपनी पहचान चाकू की नोक से जोर से रगड़ने पर निशान बनने देकर करा सकते हैं। क्वार्ट्ज के रवों पर चाकू की नोक को कितना भी रगड़ें, चिन्ह नहीं बन सकता। क्वार्ट्ज उससे कठोर होता है। इसलिए अपने ऊपर चिन्ह नहीं बनने दे सकता किन्तु फेल्सपर उतने दर्जे की कठोरता न दिखाकर कुछ चिन्ह बन जाने देता है।

भूरा और श्वेत अभ्रक या अबरख (माइका)

भूरे अभ्रक का रंग गहरा, कभी काला भी होता है। श्वेत अभ्रक की परत निकाल निकाल कर हम होली के रंग के साथ खेल करते हैं। यह छोटे-छोटे चमकीले टुकड़े रूप में हमें दिखाई पड़ सकता है। भूरे अभ्रक की जगह श्वेत अभ्रक ही हमारे देखने में अधिक आता है। अब यदि

आप चाकू की नोक लेकर इसके टुकड़े पर रगड़ें तो यह सरसर कटता जायगा। आप एक ताँबे का पैसा ले लीजिए। उस पर क्वार्ट्ज फेल्सपर और अभ्रक तीनों से बारी-बारी से खरोच डालिए। क्वार्ट्ज और फेल्सपर से तो ताँबे पर खरोच पड़ जायगी परन्तु अभ्रक उस पर खरोच बना सकने में असमर्थ होगा। इसलिए स्पष्ट होगा कि अभ्रक क्वार्ट्ज और फेल्सपर से तो कठोरता में कम होता ही है, ताँबे से भी कठोरता में नीचे होता है। कठोरता की ऐसी पहचानों से कितने ही पदार्थ एक दूसरे पर खरोच बना सकने में समर्थ या असमर्थ होने पर आपेक्षित कठोरता प्रकट कर सकते हैं। हीरा या उससे कुछ नीचे की कक्षा के कठोर पदार्थ सेफायर और टोपेज क्वार्ट्ज से भी अधिक कठोर होते हैं।

फेरो-मेगनीसियन

फेरो का अर्थ लौह है। इस वर्ग के खनिज वर्ग शैलम् (सिलिकन) के साथ लोहे और मेगनीसियम के ओषिद के संयोग से बने होते हैं। इसमें अनेक प्रकार के योगिकों के रूप होते हैं। गहरा हरा या काला रंग मात्र ही इसका मुख्य चिन्ह कहा जा सकता है। काला अभ्रक इसी वर्ग का होता है। काले या गहरे रंग की अधिकांश वस्तुएँ हमें जो साधारण शिलाओं में मिल सकती हैं उन्हें हम स्थूल रूप से फेरो-मेगनीसियन श्रेणी का मान सकते हैं। धातु प्रधान अर्थात् भस्मीय शिलाओं में हम लोहे और मेगनीसियम के ओषिदों के कारण ही गहरा रंग पाते हैं। बसाल्ट या गत्रों के काले या गहरे रंग का यही कारण है।

चिकनी मिट्टी (क्ले)

अल्यूमीनियम धातु का शैलेत अर्थात् अल्यूमीनिम धातु के ओषिद के साथ शैलम धातु के ओषिद के संयोग में उदजन (हाइड्रोजन) और थोड़ी मात्रा में लोहा और मैगनीसियम इसका निर्माण करते हैं। शुद्ध रूप में इसका रंग श्वेत या हल्का होता है। इसका मटमैला या दूसरा रंग होने का कारण लोहा के ओषिद या अन्य पदार्थों का मिश्रण है। यह बहुत नर्म होता है, शीघ्र ही चूर्ण बनाने के लिए उँगलियों के बीच दबाना ही यथेष्ट होता है। कावलिन इसी का रूप है जो चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में मुख्य भाग लेता है।

खटिकेत (काल्साइट)

चूने का पत्थर खरिया आदि इसके ज्ञात रूप हैं। काल्सियम धातु के ओषित और शैलम के ओषिद के संयोग का यह फल है। यह नाखून या अभ्रक पर खरोच कर चिह्न बना सकता है किन्तु चाकू या शीशे का खरोच इस पर भली भाँति बन जाता है। चूने का पत्थर और संगमरमर का यही मुख्य निर्मायक पदार्थ हैं।

कृत्रिम शिलाएँ

शीशा

चूने का पत्थर तथा सोडियम कारबोनेट (सोडियम और कर्बन के ओषिदों का संयोग) इन दो धातुओं के ओषिदों को शैलम (सिलिकन) के ओषिद के साथ ऊँचे तापक्रम पर पिघला कर जमाने से शीशा बनाया जाता है। शीशा बनाने की विद्या बहुत ही प्राचीन काल से प्रचलित जान पड़ती है।

मिट्टी के बर्तन

मिट्टी के बर्तन में चिकनी मिट्टी का बर्तन पकाने पर लोहा और मेननीसियन के अंश के कारण मटमैले लाल रंग का हो जाता है।

ईंट

ईंटे में बालू और चिकनी मिट्टी मिलाते हैं। उसमें भी फेरो मेगनीसियम का अंश लाल रंग उत्पन्न करता है।

पोर्सलीन या चीनी मिट्टी के बर्तन

चीन देश में कावलिंग या कावलिन नाम की शुद्ध चिकनी मिट्टी पाई जाती है। उसी से ऊँचे

आँच पर सफेद बर्तन तैयार करने की विद्या आज के हजार वर्ष पहले ही चीनियों ने ज्ञात की थी। इसकी नकल बहुत दिनों बाद अन्य देशों ने की। इसमें कई तरह की चिकतनी मिट्टियाँ उपयोग में आती हैं। उनमें कावलिन मुख्य होती है। हाइड्रोजन और अल्यूमीनियम के साथ सिलिका के संयोग से कावलिन बनी होती है शुद्ध रूप के श्वेत कावलिन में सिलिका और फेल्सपर का बारीक बुरादा मिश्रित कर बहुत ऊँचे तापक्रम पर आंशिक रूप में पिघला कर जमाने से सुन्दर श्वेत रंग का बर्तन बनता है।

सीमेंट

चूने के पत्थर और चिकनी मिट्टी के मिश्रण को बड़े ही ऊँचे तापक्रम पर आंशिक रूप में पिघला कर योगिक बना लेते हैं। फिर उसे चूर्ण कर डालते हैं। वही चूर्ण हमें सीमेंट रूप में मिलता है। उसमें पानी डालने से वह पत्थर की भाँति बन जाता है। कड़ा करने के लिए उसमें बालू और मिट्टी आदि भी मिला देते हैं।

गणितीय वाक्यांश

[पृष्ठ ४४ का शेष अंश]

105. Three deep.	तीन तीन करके, तीन तीन के हिसाब से।
106. True for all values.	समस्त मानों के लिये सत्य।
107. Two ways of dealing.	दो प्रकार का व्यवहार।
108. Universally true.	सर्वतः सत्य
109. Whatever be the value of n.	ग का मान चाहे कुछ भी हो।
110. Whatever that number may be.	वह संख्या चाहे कुछ भी हो।
111. Without actual division.	बिना वास्तविक भाजन के।
112. Without any reference.	बिना प्रसंग के विचार के।
113. Without assuming any formula.	बिना किसी सूत्र की सहायता के।
114. With respect to each other.	एक दूसरे के प्रति।
115. With the special meaning assigned.	निर्दिष्ट विशेष अर्थ के साथ।
116. Without using the formula.	बिना सूत्र के प्रयोग के।

भारतीय ऊन : एक ऐतिहासिक विवेचना

लेखक—श्री निर्मल कुमार श्रीवास्तव

पुरातन सभ्यताओं का अध्ययन कर मनुष्य के परिधान के संबंध में प्राचीन प्रयोगों की चर्चा करते हुए लेखक ने भारतीय ऊन का ऐतिहासिक विवेचन बड़े सुन्दर रूप से इस लेख में किया है। लेख अत्यंत उपयोगी तथा मनोरंजक है।

वस्त्रों का मुख्य कार्य, शरीर की, शीत, वर्षा, तथा गर्मी आदि से रक्षा करना है। प्राग् ऐतिहासिक काल में वस्त्रों के लिए, चर्म (Skins) तथा पत्तियों का प्रयोग होता था। कुछ काल के उपरान्त रोयें (Furs) तथा वृक्षों की छाल भी वस्त्र रूप में प्रयोग की जाती थी। उदाहरण के लिये बाइबिल में ईभ (Eve) द्वारा अंजीर की पत्ती का वस्त्र रूप में प्रयोग उल्लेखनीय है। ऋगवेद के अनुसार प्राचीन आर्य भी वस्त्रों के लिये, गाय, भेड़, बकरी, तथा हिरन के चर्म का प्रयोग करते थे। भेड़, बकरी आदि के चर्म का प्रयोग करते समय ही, मनुष्य को, ऊन का, भेड़ को गर्मी प्रदान करने वाला गुण दृष्टिगोचर हुआ। ऊन को वस्त्र रूप में प्रयोग करने के लिये, यही गुण, मनुष्य को प्रभावित कर सका होगा। यही कारण है कि मनुष्य द्वारा प्रयोग किये जाने वाले वस्त्रों के लिये, सबसे प्राचीनतम रेशा ऊन ही था। ऊन सभी प्राचीन सभ्यताओं को, यहां तक कि प्राचीनतम सिन्धु घाटी सभ्यता को भी ज्ञात था। आर्य साहित्य में भी रुई से पहले ऊन का उल्लेख मिलता है।

मार्शल[1] के अनुसार सिन्धु घाटी सभ्यता के प्राग् ऐतिहासिक मनुष्यों द्वारा पाँच सहस्र वर्ष ई० पू० में भी ऊनी तथा सूती वस्त्रों का प्रयोग होता था। मोहन जोदरों तथा हरप्पा से, अन्य घरेलू पशुओं की हड्डी-कंकाल के साथ साथ, भेड़ की हड्डी का कंकाल भी प्राप्त हुआ था। इस भेड़ की हड्डी कंकाल की प्राप्ति से ही यह अनुमान लगाया गया था कि उस युग में भी ऊन का प्रयोग होता था। गुलाटी तथा टरनर[2] ने मोहन जोदरों से प्राप्त चाँदी पात्र में चपके वस्त्र के टुकड़े की परीक्षा की थी। वह वस्त्र रुई का बना था तथा वह वर्तमान, निम्न श्रेणी की आरबोरियम (Arborium) प्रकार की रूई का था। मोहन जोदरो में अनेक तकली (Spindle) तथा तकली-चक्र (Spindle-whorls) प्राप्त हुए थे। मैके[3] का कथन है कि प्राप्त तकली तथा तकली-चक्र, ऊन जैसा लचीला रेशा कातने के लिये हल्के तथा छोटे थे। परन्तु यह स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि रूई कताई का, घरेलू उद्योग के रूप में समुचित प्रचार था।

ऊन का प्रयोग सुमेरियनों की समकालीन सभ्यता को भी ज्ञात था। लाइडेकर[4] (Lydekkar) का विचार है कि सर्वप्रथम पालतू बनाये जाने वाले पशुओं में ओविस एरीज

*इस विवेचचना का मूल आधार ए० एन० गुलाटी रचित "लिट्रेचर आन इंडियन वूल : ए रिव्यू" है।

(Ovis Aries) भी एक था। इस पशु को स्विटजरलैंड के झील प्रदेशीय, प्रागऐतिहासिक निवासी पूर्व से लाये थे। यह पशु प्राचीन मिश्री स्मारकों (१४४६-१४२३ वर्ष ई० पूर्व) में भी प्रदर्शित है। इस पशु के अवशेष फेरोह के समय में नील वासियों द्वारा ममी के रूप में सुरक्षित कर रक्खे गये थे। फेरोह के युग में दो प्रकार की निश्चित पशु-जातियाँ ज्ञात थीं।

प्रोफेसर इवर्टस[५] (Everts) का कहना है कि प्लायोसीन युग (Pliocene Period) के प्रारम्भ में भेड़ गंगा व यमुना नदी के बीच के मैदान में चरती थीं। नारका के जंगल की सतह में भेड़ के सींग का लगभग ५ लाख वर्ष पुराना टुकड़ा पाया गया है परन्तु भेड़ सात सहस्र वर्ष ई० पूर्व तक पालतू नहीं बनाई गई थी।

सिन्धु घाटी सभ्यता से लेकर वैदिक काल तक का समय बिल्कुल ही अंधकारमय है। वस्त्रों के इतिहास तथा मुख्यतया ऊनी वस्त्र के इतिहास का इतना बड़ा भाग शून्य ही है क्योंकि इस समय के खंडहर, अवशेष आदि कुछ भी प्राप्य नहीं हैं।

आर्य जाति का भारत आगमन लगभग २०००-१५०० वर्ष ई० पूर्व में हुआ था। उस समय आर्यों को रूई का प्रयोग ज्ञात न था। मोतीचन्द्र[६] के विचार से उन्हें ऊन कातने तथा ऊनी वस्त्र बुनने की कला का समुचित ज्ञान था जैसा कि इन शब्दों से स्पष्ट है—

"अविका" जिसका अर्थ भेड़ का ऊन होता है। "अवी" और "उर्नवती" जिसके माने ऊन का वाहक अथवा भेड़ होता है।

वेदों में गाँधार, सिन्धु तथा रावी घाटियों से ऊन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद का "दुर्स" शब्द वर्तमान 'धुस्स' शब्द का ही प्राचीन रूप ज्ञात होता है। धुस्स साधारण मोटा कम्बल होता है। "मैत्रेय-संहिता" तथा "शतपथ ब्राह्मण" में "पान्डु" नाम का प्रयोग राजाओं द्वारा पहने जाने वाले श्वेत ऊनी वस्त्र के लिये किया गया है। "गोमिल गृहसूत्र" में 'अरूण' शब्द का प्रयोग ऊन के लिये किया गया है। ऋगवेद में भी करघे तथा ताने बाने (Loom, warp and weft) का उल्लेख है। ऋगवेद में जुलाहों तथा गड़रियों के देवता "पुशान" के ऊनी वस्त्र के लिये "कम्बल" शब्द का प्रयोग किया गया है।

रामायण, महाभारत, दोनों में ही पंजाब व गाँधार से प्राप्त ऊनी वस्त्रों का वर्णन मिलता है। भरत जी ने अपने पिता के मामाजी को भेंटरूप में अनेक कम्बल प्रदान किये थे। गर्म तथा महीन बुनावट (Texture) के उत्तम कोटि के शाल ज्ञात थे। ताजिकस्तान (कम्बोज), परिसिन्धु, चीन तथा अन्य पहाड़ी जगहों से आनेवाली व्यापारिक वस्तुओं में ऊन, पश्मीना, नमदा, तथा भेड़-बकरियों की खालें भी होती थीं। महाभारत के सभापर्व में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पंजाब तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रदेश अपने ऊन तथा चर्म के लिये प्रसिद्ध थे।

लगभग आठ सौ वर्ष ई० पूर्व के, मनु के नियमों में बनियों को ऊनी धागों का बना पवित्र जनेऊ पहनने को कहा गया है। मनु के नियमों का मैक्समूलर कृत अनुवाद इस प्रकार है—"ब्राह्मण का पवित्र डोरा (जनेऊ) रुई का बना होगा, लपेटन (Twist) दाहिने ओर को होगा और तीन धागों का मिलकर होगा। क्षत्रिय का जनेऊ मूँज का तथा वैश्य का जनेऊ ऊनी धागे का बना होगा।"

मौर्य्यकाल में भी ऊनी वस्त्र और कम्बल आदि का प्रचलन था। मौर्य्यकालीन युग में प्रचलित ऊनी वस्त्रों का समुचित वर्णन कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में (३०० वर्ष ई० पूर्व) मिलता है। कौटिल्य का वर्णन इस प्रकार है:—

"कम्बल दस प्रकार के होते हैं :—

(१) कम्बल।

(२) कौचपक (चरवाहों द्वारा व्यवहृत कम्बल)

(३) कुलमितिक (सर का वस्त्र)
(४) सौनीतिक (बैलों की पीठ का आवरण)
(५) तुरगस्त्राण (घोड़े की पीठ का आवरण)
(६) वर्णक (रंगीन कम्बल)
(७) तालिछक (बिछाने वाला कम्बल)
(८) वार्वण (कोट)
(९) परिस्तोम (बड़ा कम्बल)
(१०) सामन्त-भद्रक (हाथी की पीठ का आवरण)

इन कम्बलों में, पतले बालों का बना, मुलायम तथा भीगी सतह समान चिकना, ही सर्वोत्तम होता है। कम्बलों का रंग श्वेत, कमल-सदृश लाल या शुद्ध लाल होता है। ऊनी धागों से सिलाई द्वारा बनाये जाने पर कम्बल "खचित" कहलाते हैं। विभिन्न ऊनी रंगीन डोरों से बुने कम्बल "वर्नचित्र" होते हैं। ऊनी टुकड़ों से बने कम्बल "खण्ड साँघट्य' कहे जाते हैं। समान डोरों से बने काला कम्बल "तन्तु विछिन्न" होते हैं। आठ टुकड़ों से बना काला कम्बल "भिंगसी" कहा जाता है'। वर्षा-रक्षक (Rainproof) कम्बल "अपसरक" होता है। भिंगसी तथा अपसरक, नैपाल देश में बनाये जाते हैं।"

जंगली पशुओं के ऊन का प्रयोग भी मौर्य्यकाल में होता था। उसका वर्णन भी कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार किया है। अग्रलिखित वस्तुएँ जंगली पशुओं के ऊन से बनाई जाती हैं :–

१. 'सम्पुटिक' (पायजामा)।
२. 'चातुरस्त्रिक' (आयताकार कम्बल)।
३. 'लम्बारा' (पर्दा या लपेटन)।
४. 'कलावँक' (लम्बारा समान, परन्तु मोटे धागे से बना)।
५. 'प्रवारक' (कलावंक की एक अन्य जाति)।
६. 'सत्तालिका' (कालीन)।"

विभिन्न देशों की बनी अनेक वस्तुओं के विषय में कौटिल्य कहता है कि—"बंग देश का वस्त्र 'दुकुल (Dukul) श्वेत, मुलायम तथा अति उत्तम होता है। पान्ड्य देश का बना वस्त्र काला तथा मुलायम होता है। सूर्य कुन्ड देश का ऊन भीगी दशा में बुना जाता है और 'चतुरस्त्र (uniform) या व्यामिश्रण (Mixed) बुनावट का होता है। वह सूर्य के समान लाल तथा मुलायम होता है।

मौर्यकाल से लेकर मुगल काल तक लगभग दो हजार वर्ष तक ऊनी वस्त्र-उद्योग में कोई प्रगति नहीं हुई थी। ऊनी शालों का प्रचलन बाबर के समय से ही हुआ था। एम० डाउवर्गनो[७], जो शाल व्यवसाय से सम्बन्धित थे, के अनुसार शाल के इतिहास का विवरण इस प्रकार है। मुगल राजे अपनी पगड़ियों पर जवाहिरातों का आभूषण 'जिघा' पहनते थे। जिघा का रूप बादाम के समान होता है इसके शिखर पर परों का एक गुच्छा होता है। एक अन्दीजनी" जुलाहे ने जिघा की प्रतिलिपि बाबर के रूमाल पर इतनी सुन्दरता से बनाई कि तत्पश्चात् सभी रूमालों तथा शालों पर इसका प्रचार हो गया। यह जुलाहे भारतवर्ष में लाये गये। जिघा आज तक कालीनों में प्रदर्शित किया जाता है। इसी विवरण में अनेक प्रकार के रेशमी तथा सोने के डोरों से विभिन्न प्रकार के फूल पत्ती चित्रित कर काढ़े गये शालों का वर्णन है। इस प्रकार से ज्ञात होता है कि ऊनी वस्त्रों पर, मुख्यतया शालों पर, रेशमी तथा सोने के डोरों से फूल पत्ती की चित्रकारी मुगल समय से प्रारम्भ हुई थी।

मुगल काल में यद्यपि सूती वस्त्र-उद्योग अपने गौरव के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया था परन्तु उस समय भी उच्चकोटि के ऊनी वस्त्र यूरोप से ही आते थे। ब्राउन[८] भारतीय इतिहास में लिखता है कि मुगल काल में भारतवर्ष का मुख्य आयात चाँदी, सोना, सीसा, तथा ऊनी वस्त्रों का था। ऊनी वस्त्र यूरोप से (मुख्यतया फ्राँस से) आते थे।

मुगल काल से आगे फिर ऊनी वस्त्र उद्योग जहाँ-तहाँ ही रह गये तथा सूती-वस्त्र-उद्योग पूर्ण

विकसित हुआ है। भारतवर्ष में ऊन उन्नीसवीं शताब्दी तक हाथ द्वारा कात तथा बुनकर ही प्रयोग होता था। यूरोपीय निवासियों के आगमन के साथ-साथ ही इस देश में वस्त्र बनाने के नये पश्चिमी साधनों का आगमन भी हो गया।

उस समय से आज तक भारतीय ऊन उद्योग स्वदेशी अन्दोलन की सहायता तथा भारत सरकार की युद्ध कालीन मांगों पर ही निर्भर रहकर जीवित रह सका है। इन्हीं की सहायता से यह उद्योग विदेशी होड़ तथा आर्थिक चढ़ाव-उतार से भी टक्करें ले सका है। द्वितीय महायुद्ध से स्थिरता पाकर यह उद्योग भविष्य में और भी अधिक उन्नत होने का स्वप्न देख रहा है।

लेखक, डाक्टर ए० यन० दे, डी० यस-सी० (लन्दन); यस-सी० डी० (पेरिस स्टेट) का अत्यन्त आभारी है जिन्होंने लेखक को अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया। उनकी सहायता बिना कदाचित् यह लेख सम्भव भी न होता।

अवलोकित साहित्यः—

(१) मार्शल, (१९३१), मोहन-जोदरों एन्ड इन्डस सिविलाइजेशन, लन्दन।
(२) गुलाटी एन्ड टरनर, (१९२९), जरनल, टेक्सटाइल इन्स्टीट्यूट मैनचेस्टर।
(३) मैके, (१९३५), इन्डस सिविलाइजेशन, पृष्ठ १३८, लोवेट डिक्सन एन्ड थाम्पसन लिमिटेड, लन्दन।
(४) लाइडेकर (१९१२) दि शीप एन्ड इट्स कजिन्स, एलेन एन्ड अनविन, लन्दन।
(५) इवर्ट्स, जे० सी०, (१९२४), जर्नल टेक्सटाइल इंस्टीट्यूट।
(६) मोतीचन्द्र, (१९३९), भारतीय विद्या, खन्ड (१)
(७) एम० डाउवर्गनो, लारेन्स (१८९६), दि वैली आफ काश्मीर, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।
(८) ब्राउन, सर रिचर्ड, दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया (१९३७) केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, खन्ड ४, ३३७।

शिशुओं के कृत्रिम आहार

लेखक—डा० वसन्त कुमार सिंह

शिशु के पोषण के लिए माता के दूध के स्थान पर पशुओं के दूध का उपयोग आज एक दैनिक आवश्यकता हो गई है। उसका वैज्ञानिक प्रयोग किस प्रकार सम्भावित हानियों से बचा सकता है, उसका विवेचन बड़े सुन्दर रूप से इस लेख में किया गया है।

हमारे इस लेख का लक्ष्य शिशुओं के कृत्रिम आहार की प्रचलित व्यवस्थाओं के तथ्यों एवं उनकी व्यावहारिकता पर संक्षेप में ध्यान-केन्द्रीभूत करना है, जो अन्य लेखकों द्वारा अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से प्रतिपादित हो चुकी हैं।

शिशु-स्तन-पान की वाञ्छनीयता नवीन अन्वेषण नहीं है। हाल तक इसकी स्थानापन्न वस्तुयें इस प्रकार सङ्कटपूर्ण थीं कि उनका कम व्यवहार था और उनके स्थान पर दुग्ध-पान कराने वाली उपमाता (Wet-nurse) के मानवीय दूध ही सदैव प्रयुक्त होते थे। ताजे गो-दुग्ध के कीटाणु सम्बन्धी महत्व का पूर्ण ज्ञान न होना ही शायद इसका कारण था।

इधर निकट काल में मानवीय-दुग्ध को त्यक्त कर अन्य साधनों से शिशुपान कराना प्रमुखतः दो रूपों में हुआ है:—

(१) अन्य पशुओं के दूध व्यवहृत होना :— विशेषतः गो-दुग्ध, यद्यपि बकरी, गदही, तथा घोड़ी के दूध भी इस हेतु उपयोग में लाये गये हैं। सामान्य रूप से दूध दुहने के बाद उसे अपक्व या रूपान्तरित (modify) करके शिशुओं के स्तन में मुँह लगाकर पीने की प्रथा भी ख्याति पा चुकी है। पेरिस में यह प्रचलन गत शताब्दी के अन्त तक था। ब्रेनरमॅन के कथनानुसार आजकल कुछ देशों में बकरी के स्तन में मुँह लगाकर शिशु-पान कराया जाता है। इसका उपयोग वहाँ के स्थानीय प्रचलन के दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण माना जाता है, न कि औषधि-विज्ञान से प्रेरित होकर।

(२) दुग्ध-स्थानापन्न पदार्थों का व्यवहार (The use of milk substitutes)—दूध के अभाव के कारण हीं त कुछ वर्षों से दुग्ध-स्थानापन्न पदार्थों का व्यवहार होने लगा है। दूध के प्रति सुग्राहक (Sensitive) शिशुओं के लिए वह बहुत ही लाभदायक है।

दूध में प्रोभूजिन, शर्करा पदार्थ और वसा को जिस अनुपात में हम पाते हैं, उसी अनुपात में विभिन्न पदार्थों द्वारा (जैसे सोयाबीन, जैतून का तेल और स्टार्च के मिश्रण से तैयार किये हुये दूध से) शिशुओं का पालन-पोषण सफलता पूर्वक किया जा सकता है, परन्तु इसके आवश्यक मौलिक अंशों (essential constituents) का प्रचूषण (absorption) कहाँ तक होता है इसमें चिकित्सकों को सन्देह है। इसलिए जब तक इसकी नितान्त आवश्यकता नहीं हो जाती है तब तक इसका व्यवहार नहीं किया जाता है।

वर्त्तमान काल में कृत्रिम आहार द्वारा शिशुपान कराने की जितनी भी विधियाँ उपलब्ध हैं उनमें गो-दुग्ध का प्रयोग सबसे अधिक है। साथ ही

साथ यदि हम यह जानना चाहें कि ऐसा करने से शिशुओं को कहाँ तक लाभ पहुँचाया जा सकता है तो इसके लिए हमें सर्वप्रथम शिशुओं की अन्न-प्रणाली पर ध्यान देना होगा, और द्वितीय यह भी स्मरण रखना पड़ेगा कि किस अंश में गो-दुग्ध शिशुओं के स्वाभाविक आहार से विभिन्न है।

शिशुओं की अन्न-प्रणाली

नवजात शिशुओं में प्रचूसी (Absorptive) और उदासर्जक (Secretory) अपिस्तर Epi theliun) आधार-उति (Supporting tissues) की अपेक्षा अधिक रहते हैं। गर्भस्थ जीवन के अन्तिम महीनों में क्लोमिक एमाइलेज (Pancreatic amylase) को छोड़कर साधारण भोजन के लिये सभी विकर (Enzymes) पर्याप्त होते हैं।

क्लोमिक एमाइलेज नवजात शिशु में भी कुछ महीनो तक नहीं रहते। गर्भस्थ शिशु में आमाशयिक हाइड्रोक्लोरिक एसिड (Gastric Hydrochloric Acid) बहुत रहते हैं, परन्तु जन्म के बाद छः महीने तक इसकी मात्रा बहुत कम रहती है। अतः नवजात शिशु के आँत की बनावट पर ध्यान देने से पता चलता है कि ये सभी तरह के साधारण भोजनों को पचाने और प्रचूसने (Absorb) में समर्थ हो सकते हैं। इस समय आमाशयिक अम्ल (Gastric Acidity) की मात्रा कम रहती है और संयुक्त शर्करा पदार्थ (Complex Carbohydrate) तुरन्त व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। परन्तु प्रथम वर्ष के उत्तरार्ध में युवा और नवजात शिशु की अन्न-प्रणाली में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

मानवीय तथा गो-दुग्ध की तुलना

	वसा (प्रतिशत)	लेक्टोज (प्रतिशत)	पूर्ण प्रोभूजिन (प्रतिशत)	लेक्टअल्बूमीन (प्रतिशत)	केसीन (प्रतिशत)	खनिज (प्रतिशत)
मानव	४.०	७.०	१.२५	०.७५	०.१	०.२५
गाय	४.०	४.५	३.५	०.५	३.०	०.७५

उपर्युक्त सूची में मानवीय तथा गो-दुग्ध के बीच जो अन्तर उपस्थित किया गया है, वास्तव में उससे कहीं अधिक अन्तर इन दोनों के बीच पाया जाता है। और ऐसा होने का कारण अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। यहाँ तक कि इन दोनों दूधों में पाये जाने वाले समान रसायनिक सत्व भी एक से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सके हैं। अतएव हम इन दुग्धों के विभिन्न पदार्थों पर पृथक् पृथक् विचार करें।

(१) प्रोभूजिन (Protein) :—

गाय के दूध में कुल प्रोभूजिन की अधिक मात्रा के अतिरिक्त केसीन की बहुलता को भी हमें ध्यान में रखना पड़ेगा। विभिन्न जाति के दुग्धों में पाये जाने वाले लेक्ट अल्बूमिन के संयोजन (Composition) में विभिन्नता पायी जाती है; परन्तु अभी तक कोई ऐसा निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मिला है जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गो-दुग्ध का लेक्ट अल्बूमिन शिशुओं के लिये अनुपयुक्त है। लॅक्ट अल्बूमिन गर्म करने पर जम जाता है परन्तु आमाशय में यह नहीं फटता। केसीन का संयोजन (Composition) दोनों दुग्धों में एक ही सा रहता है, परन्तु इनके व्यवहार के बीच बहुत बड़ा भेद तब उत्पन्न होता है जब कि वे शिशुओं के आमाशय में प्रवेश करते हैं। दोनों

प्रकार के दूध आमाशय में आमाशयिक रस के संयोग से फट जाते हैं। मानवीय स्तन-पान के बाद जो दूध शिशुओं के आमाशय में जाता है वह बहुत मुलायम फटन का रूप धारण कर लेता है, और उसके पानी से अलग किये जाने के उपयुक्त वह नहीं रह जाता। परन्तु अपक्व गो-दुग्ध का प्रभाव कुछ और ही होता है, वह आमाशय में प्रवेश कर ठोस भोजन के रूप में परिणत हो जाता है। सर्वप्रथम वह फटन का रूप धारण करता है। और इसमें एक साथ पिचक जाने की विलक्षणता पायी जाती है। कुछ ही मिनट के अन्दर ये फटन एक दूसरे से मिलकर एकत्रित हो जाते हैं और इस रूप में क्रमबद्ध होने के कारण अखरोट के आकार के बन जाते हैं। तब इनमें विकरों (Enzymes) का प्रवेश दुष्कर हो जाता है और ये इतने बड़े हो जाते हैं कि न तो ये अंत्र की ओर जा सकते हैं और न वमन के साथ बाहर ही आ सकते हैं।

वास्तव में गो-दुग्ध को देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो वह बछड़ों को प्रारम्भ से ही रुखड़ा तथा ठोस भोजन के लिए अभ्यस्त बनाने के उद्देश्य से ऐसा बनाया गया हो। समय पाकर एकत्रित प्रोभूजिन सिकुड़ जाते हैं, परन्तु उसके ऊपरी भाग ही पाचन के योग्य होते हैं, क्योंकि इतने घने आकार में विकर (Enzymes) प्रवेश करने से असमर्थ रहते हैं। इसी स्वभाव के कारण अपक्व गो-दुग्ध पाचन-प्रणाली में गड़बड़ी का प्रबल कारण बन जाता है, परन्तु गो-दुग्ध के फटन के आकार को छोटा बना देने से इसका परिपाचन (Assimilation) भी मानवीय दुग्ध के सदृश ही होता है। परन्तु मानवीय दुग्ध की अपेक्षा इसकी आवश्यकता कुछ अधिक होती है।

इसी कारणवश वह योजना जो गो-दुग्ध के प्रोभूजिन को दो प्रतिशत या उससे भी कम करके मानवीय बनाने का प्रयत्न करती है, अपेक्षाकृत उन दुग्ध रूपान्तरित रीतियों से, जिनमें प्रोभूजिन की मात्रा अधिक रहती है, कम सफल सिद्ध हुई है।

२—*वसा :—*

मानवीय और गो-दुग्ध दोनों में सबसे अस्थायी पदार्थ वसा है। किसी किसी दूध में यह ५ प्रतिशत या उससे भी अधिक रहता है, परन्तु कुछ दूधों में इसकी मात्रा बहुत ही कम रहती है। गो-दुग्ध में मानवीय-दुग्ध से पामिटीन (Palmitin) और स्टीयरिन (Stearin) अधिक और ओलीन (Olien) कम पाये जाते हैं। इसमें उत्पन्न वसाम्ल (Volatile Fatty acids) की मात्रा भी अधिक है, जिससे कि अन्न-प्रणाली में गड़बड़ी होने की सम्भावना रहती है। साथ ही मानवीय-दुग्ध की अपेक्षा गो-दुग्ध खाने के बाद, आमाशय देर से खाली होता है तथा यह मुख्यत: इस दूध की वसा पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त जितने भी अन्तर उपस्थित किए गए हैं उनमें से कोई भी इस निर्विवाद सत्य की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं कर पाये हैं कि शिशुओं के लिए गो-दुग्ध की वसा का उपयोग करना बहुत ही कठिन है। खिरसा (Colostrum) में वसा का कम मात्रा में पाया जाना यह सूचित करता है कि नवजात शिशुओं को वसा की आवश्यकता कम होती है। हॉल्ट (Holt) महोदय के अनुसार जन्मोपरान्त दो दिन तक खिरसा का प्रतिशत संयोजन (Percentage Composition) निम्नांकित प्रकार का होता है।

खिरसा का प्रतिशत संयोजन

प्रोभूजिन	वसा	लॅक्टोन	क्षार ash	जल
८.६	२.३	३.२	०.३	८५.६

३. *शर्करा पदार्थ :—*

यह नवजात शिशुओं के लिए आवश्यक है। इसकी मात्रा गो-दुग्ध की अपेक्षा मानवीय दुग्ध में बहुत ही अधिक है। शर्करा पदार्थों में डेक्सट्रोज

और सुक्रोज Dextrose and Sucrose भी शिशुओं के लिए उतना ही लाभदायक है जितना कि लॅक्टोज। अधिक से अधिक प्रतिदिन एक शिशु सवा सेर (40 oz) माँ का दूध पी सकता है। सवा सेर (40 oz) दूध में डेढ़ छटाँक (3 oz) चीनी पाई जाती है। अतः कृत्रिम आहार में प्रतिदिन डेढ़ छटाँक से अधिक चीनी कभी भी नहीं दी जा सकती है। कुछ शिशुओं को अधिक चीनी खिलायी जा सकती है, परन्तु अधिक चीनी देने से किण्वन प्रवाहिका (Fermentative Diarrhœa) होने का भय रहता है; लेकिन कहा जाता है कि सुक्रोज के बदले डेक्सट्रीन और माल्टोज मिला कर देने से प्रवाहिका होने का भय कम रहता है।

हम लोगों ने पहले देखा है कि नवजात शिशु के अंत्र में प्रथम ६ महीने तक एमाइलेज (Amylase) की कमी रहती है और इसलिए इस समय शिशुओं को स्टार्च नहीं दिया जाता है। लेकिन आजकल कुछ लोगों का कहना है कि तीसरे महीने से ही अगर स्टार्च दिया जाय तो इसके परिपाचन (assimilation) में कोई कठिनायी नहीं होती है, क्योंकि वमन की चिकित्सा करते समय शिशुओं को अन्न मिला हुआ दूध देने से कोई हानि नहीं होती है। वे इसे भी स्वीकार करते हैं कि स्टार्च में कुछ विशेष गुण हैं जो कि साधारण (Simple) शर्करा पदार्थों में नहीं पाये जाते हैं। इसलिये जब केवल दूध से काम न चले तो उसमें स्टार्च मिला देने से बहुत ही लाभ होता है।

४. *खनिज पदार्थ* (Minerals):—

अपक्व गाय के दूध में लौह छोड़कर सभी खनिज पदार्थ मानवीय दूध से कहीं अधिक परिमाण में पाये जाते हैं। किन्तु इसकी कोई विशेष प्रधानता नहीं है, क्योंकि आवश्यकता से अधिक पदार्थ शीघ्र ही स्राव द्वारा (Excretion) शरीर से बाहर निकल जाते हैं। दूध में पानी मिलाने से चूर्णातु (Calcium) की मात्रा कम जा सकती है, परन्तु लौह की मात्रा और भी घट जाती है। बाजार में बहुत से परिवर्तित दूध (modified milk) मिलते हैं जिनमें आवश्यकतानुसार लौह भी मिला रहता है। फिर भी कृत्रिम पान करने वाले सभी शिशुओं में लौह की कमी की सम्भावना रहती है।

५. *विटामिन* :—

कहा जाता है कि गौ तथा मानवीय दोनों दुग्धों में विटामिन 'बी' पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। लेकिन विटामिन 'ए', 'सी', और 'डी' के लिए यह सत्य नहीं है। विटामिन 'सी' की मात्रा अस्थायी है, क्योंकि यह ऋतु, प्रोभूजिन-परिवर्तन क्रिया (Protein modifying process) आदि पर निर्भर करता है। विटामिन 'ए' और 'डी' का भी कोई ठीक नहीं। ये भी प्रायः अपर्याप्त ही रहते हैं। अतएव कुछ महीनों तक शिशुओं को विटामिन 'ए', 'सी' और 'डी' देना परम आवश्यक है।

व्यावहारिक उपयोग

कृत्रिम आहार के इस लेख का अभिप्राय गो-दुग्ध को इस प्रकार रूपान्तरित करना है जिससे शिशु इस पर भी उसी तरह रह सकें जिस प्रकार स्तन-पान पर। इस दिशा में अभी तक पूर्ण सफलता तो नहीं मिली है, परन्तु बहुत से शिशु इस पर भी अच्छी तरह स्वस्थ रहते हैं। विलियम केडोगॅन के मतानुसार गो-दुग्ध को व्यवहार में लाने के लिए कृत्रिम पान के निम्नलिखित कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है :—

(क) व्यवहार करने से पूर्व गो-दुग्ध के प्रोभूजिन को रूपान्तरित करना (Modify) आवश्यक है।

(ख) वसा की मात्रा कम रहनी चाहिए।

(ग) मानवीय शिशु में शर्करा पदार्थ की अधिक आवश्यकता होने के कारण उसे कृत्रिम पान में मिलाना आवश्यक है।

(घ) कृत्रिम रूप से भोजन पाने वाले के आहार में अलग से विटामिन 'ए' और 'डी' मिलाना चाहिए।

(क) प्रोभूजिन का परिवर्तन (Modification of Protein)—

गो-दुग्ध के फटन को मानवीय-दुग्ध के फटन के सदृश बनाने के बहुत से उपाय हैं। वे यों हैं:—

(१) जल-मिश्रण:—गो-दुग्ध को नवजात शिशु योग्य अच्छी तरह बनाने के लिए एक भाग दूध में ६ भाग पानी मिलाना पड़ेगा, लेकिन इससे इसकी शक्ति की मात्रा एकदम कम हो जाती है, परन्तु व्यवहार के लिए निम्नलिखित प्रकार से जल मिश्रण करने पर यथेष्ट फल प्राप्त हुआ है:—

प्रथम दो सप्ताह तक शिशुओं को गो-दुग्ध में बराबर बराबर जल मिला कर देना चाहिए। इसके बाद ४ महीने तक दूध की मात्रा पानी से द्विगुनी होनी चाहिए। और चार से ६ महीने तक के शिशुओं को तीन हिस्से दूध में एक हिस्सा पानी देना चाहिए। ६ महीने के बाद जलमिश्रित दूध की आवश्यकता बिरले ही होती है। इस समय स्वस्थ शिशुओं को दूध बिना जल मिलाए ही दिया जा सकता है।

निम्नलिखित तालिका यह बतलाती है कि नो महीने तक के शिशुओं को पिलाने के लिए गो-दुग्ध में कितना जल मिलाना चाहिए और इस तरह के बने मिश्रण का प्रतिशत संयोजन (Percentage Composition) कितने होंगे।

शिशु की अवस्था	दूध	जल	प्रोभूजिन (प्रतिशत)	वसा (प्रतिशत)	लक्टोस (प्रतिशत)
० — २ सप्ताह	१	१	१.७५	२.००	२.२५
२ सप्ताह—४ मास	२	१	२.३०	२.७०	३.००
४ ··· —६ मास	३	१	२.६०	३.००	३.३६
६ ··· —९ मास	सम्पूर्ण	—	३.५०	४.००	४.५०

(२) उबालना—जो दूध जितना ही अधिक उबाला जाता है उस दूध के फटन का आकार-प्रकार और घनत्व (Density) उतना ही कम होता है, इससे लैक्ट-अल्बूमीन जम जाता है।

(३) क्षारीयकरण (Alkalination):—चूने का पानी साइट्रेट और बाईकार्बोनेट फटन के आकार-प्रकार को कम कर देते हैं।

(४) रेनिन द्वारा पहले से दूध फाड़ना या पेपटोन द्वारा पहले से पचाने की क्रिया सफल तो है, लेकिन इनमें अधिक परिश्रम लगता है।

(५) अम्लीकरण (Acidification) मट्ठे में तृणाणु प्रभाव (Bacterial Action) से रूपान्तरित प्रोभूजिन पाये जाते हैं। परन्तु इसमें वसा की मात्रा बहुत ही रहती है, इसलिए ये और प्रकार के अम्लीय दूध (Acid Milk) से कोई अधिक लाभदायक नहीं हैं। लेकिन इसका स्वाद अम्लीय दूध से अच्छा होता है।

(अ) औटे हुए गो-दुग्ध में लैक्टिक एसिड मिलाने से भी उतना ही अच्छा फल प्राप्त होता है जितना कि मट्ठा से। साथ ही यह बनाना भी आसान है। इसे तैयार करने का नियम है कि दस छटाँक (एक पिएट) दूध को औटने के बाद उसे ठंडा कर लेना चाहिए। ठंडा हो जाने के बाद उसमें लगभग ४५ बूँद (मिनिम) लैक्टिक एसिड (बी० पी०) धीरे-धीरे मिलाना चाहिए। इस क्रिया में १५ मिनट के लगभग समय लगाना अच्छा

है। अन्त में बहुत छोटे-छोटे फटन के दाने बन जाते हैं जो कि साधारण दूध पीने वाली शीशे के रबर के छिद्र द्वारा आ जा सकते हैं। दूध पिलाते समय ही यह तैयार करना चाहिए।

अम्लीय दूध प्रोभूजिन के छोटे-छोटे दाने के साथ-साथ गो-दुग्ध की उस शक्ति को भी कम करता है, जो आमाशयिक हायड्रोक्लोरिक एसिड को नाश करता है। यह गो-दुग्ध के अधिक खनिज पदार्थ के प्रत्यारोधन (Butter action) पर निर्भर करता है। अम्लीय दूध का परिपाचन (Assimilation) बिना पानी मिलाए भी अच्छी तरह होता है। परन्तु इसका स्वाद विशेष कर बड़े शिशुओं को अच्छा नहीं लगता। आजकल ये शुष्क (Dried) रूप में भी मिलते हैं।

(६) *शुष्कीकरण* (Drying)

कुछ देशों में कृत्रिम आहार के लिए शुष्क दुग्ध का व्यवहार प्रामाणिक रीति (Standard method) हो गई है। शुष्कीकरण से प्रोभूजिन के फटन इस प्रकार रूपान्तरित हो जाते हैं कि उनके परिपाचन में कोई कठिनाई नहीं होती हैं आधे-छटाँक (एक औंस) पानी में चाय के चम्मच से एक चम्मच (एक ड्राम) दूध मिलाने से पूर्ण दूध (Whole milk) बन जाता है।

(७) *उद्वाष्पन* (Evaporation)

कहा जाता है कि उद्वाष्पित दूध केवल ताजे दूध से ही बन सकता है, जिसमें वसा की मात्रा अधिक होती है। इसलिये यह विश्वसनीय और अच्छा है। परन्तु इस क्रिया से विटामिन 'सी' नष्ट हो जाता है। बन्द टिनों में ये दूध बहुत दिनों तक रह सकते हैं, किन्तु खोलने पर यदि इन्हें शीतल स्थान में न रखा जाय तो शीघ्र हीं ये दूषित हो जाते हैं। शुष्क दूध कोठरी के साधारण तापमान पर भी अच्छी तरह बहुत दिनों तक रहते हैं।

अतएव उद्वाष्पित दूध में ४५ प्रतिशत चीनी (Sucrose) रक्षक (Preservative) के रूप में मिला दी जाती है। इस क्रिया से टीन खोलने के बाद भी ये दूध बहुत दिनों तक रह जाते हैं। इस प्रकार के दूध को मीठा संघनित दूध (Sweetened Condensed milk) कहते हैं।

सादा संघनित दूध शिशुओं के लिए बहुत ही अच्छा है। इसके प्रोभूजिन के फटन मुलायम होते हैं। यथोचित पानी और थोड़ा चीनी मिलाने से आसानी से दूध तैयार हो जाता है। अमेरिका में उसका व्यवहार यथेष्ट रूप से होता है।

मीठे संघनित दूध में शर्करा पदार्थ की मात्रा बहुत ही अधिक रहती है इसलिए ये शिशुओं के संतुलित भोजन (Balanced Food) नहीं हो सकते। कभी-कभी वैयक्तिकीय अवस्थाओं (Pathological Conditions) में इसका व्यवहार किया जासकता है, परन्तु स्वस्थ शिशुओं के लिए यह एकदम अच्छा नहीं है।

(ख) वसा कम करना (Fat Reduction

साधारणतः शिशुओं को प्रथम कुछ सप्ताहों तक अल्प वसायुक्त दूध देना अच्छा है। यह पूर्ण दूध में पानी मिलाकर उसे अच्छी तरह रूपान्तरित करने से हो सकता है। कम वसा वाला शुष्क दूध भी इस हेतु व्यवहार में लाया जा सकता है। कितने शिशु पूर्ण मलाई युक्त शुष्क दुग्ध (Full cream dried milk) पर जन्म से ही रह सकते हैं, परन्तु बहुत से शिशुओं को खिला कर ऐसा देखा गया है कि यदि प्रथम ६ से ८ सप्ताह तक कम वसा दिया जाय तो पाचन सम्बन्धी उपद्रव कम उत्पन्न होते हैं।

(ग) चीनी की मात्रा में वृद्धि:—

चाय के चम्मच से एक चम्मच चीनी डेढ़ छटाँक दूध में मिलाने से इसकी मात्रा लगभग ५ प्रतिशत बढ़ जाती है परन्तु ये माप एकदम ठीक नहीं हो सकते क्योंकि घरेलू चाय के चम्मच के आकार-प्रकार में थोड़ा बहुत भेद रहता ही है।

साथ-साथ सभी प्रकार की चीनी का घनत्व (density) एक सा नहीं होता, जिससे कि एक ही नाप के चम्मच में एक प्रचार की चीनी दूसरे प्रकार की चीनी से अधिक भारी हो सकती है। जल-दुग्ध-मिश्रण, जिसमें पानी और दूध बराबर-बराबर हिस्से में हैं अथवा दो भाग दूध में एक भाग जल है, उसमें एक चम्मच चीनी प्रत्येक डेढ़ छटाँक मिश्रण में देना चाहिए। इससे गाढ़े मिश्रणों में दो छटाँक में एक चम्मच की दर से चीनी मिलाना चाहिए। शिशु का मल यदि कड़ा होने लगे तो प्रत्येक भोजन के साथ एक चम्मच चीनी अधिक मिला देनी चाहिए। परन्तु यदि उसे पतला मल हो तो चीनी की मात्रा कुछ दिनों के लिए कम कर देनी चाहिए।

तरल पदार्थ एवं शक्ति की आवश्यकता

(Fluid and Energy Requirements)

शिशुओं में तरल पदार्थ संतुलित रखने के लिए ऐसा देखा गया है कि प्रतिपौंड शरीर-भार के लिए २ अथवा ३ औंस तरल पदार्थ की आवश्यकता प्रति दिन होती है। छोटे शिशुओं के लिए इनमें से बड़े अङ्क की आवश्यकता होती है और जैसे जैसे शिशु बढ़ता और भारी होता है वैसे ही इसकी आवश्यकता भी घटती जाती है स्वस्थ शिशुओं के लिए २½ औंस प्रति पौंड शरीर भार की दर से तरल पदार्थ प्रतिदिन देना सर्वमान्य है। इस प्रकार पान कराने से शिशु के शरीर-भार में यथेष्ट वृद्धि होती है। २० कलोरी शक्ति (Energy) प्रति औंस मानवीय-दुग्ध में पायी जाती है, इसलिए कृत्रिम पान भी इस प्रकार ठीक करना चाहिए कि प्रति औंस २० केलोरी शक्ति रहे। इस प्रकार का भोजन प्रथम ६ महीनों के शिशुओं के लिए बहुत ही अच्छा है।

आहार की संख्या

ऐसा देखा गया है कि साधारणतः नवजात शिशु ३ औंस से अधिक दूध एक साथ व्यवहार नहीं कर सकते। इसलिए एक ७ पौंड के शिशु को, जिसे २½ औंस प्रति-पौंड की दर से दूध दिया जाता है, प्रतिदिन ६ बार से कम भोजन देना ठीक नहीं। उसे दिन में प्रति तीन घंटे और रात में अधिक समय पर भोजन दिया जा सकता है। कुछ सप्ताहों के बाद तीन घंटे के अन्तर को बढ़ा कर चार किया जा सकता है और आहार की संख्या प्रतिदिन ६ से घटाकर ५ कर दी जा सकती है।

दो अकाट्य नियम

(१) आवश्यकता से कहीं अधिक पतले दूध से शिशु-पान आरम्भ करना चाहिए।

(२) शिशु-आहार में कोई भी परिवर्तन क्रमिक होना चाहिए और वह भी तब जब इसकी नितान्त आवश्यकता समझी जाय।

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय, 'विशारद' नागरी प्रेस, दारागञ्ज, प्रयाग। प्रकाशक—विज्ञान परिषद, प्रयाग।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६)

२१—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—खाद्य और स्वास्थ्य—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फ़िल० मूल्य ।।।)

२३—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम आविष्कारों का समावेश तथा फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे हैं। सजिल्द मूल्य ४)

२४—फल संरक्षण—तीसरा संशोधित संस्करण-फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक, २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२५—शिशु पालन—लेखक-श्री मुरलधर बड़ाई बी० एस-सी०, प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का कम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

२६—मधुमक्खी पालन—द्वितीय संस्करण ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। ४०० पृष्ठ; अनेक चित्र, और नक्शे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

२७—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी०'टी० एम०, प्रोफेसर डाक्टर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। २६० पृष्ठ, १५० चित्र, आकार बड़ा (विज्ञान के बराबर); सजिल्द, ४)

२८—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३।।)

नवीन पुस्तकें

फसल के शत्रु—ले० श्री शंकर राव जोशी	...	...	३।।)
साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार	...	...	४)
पोर्सलीन उद्योग—ले० श्री हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०)	...	...	।।।)
राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	... ...	...	२)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद।

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | मिथुन २००६; जून १६५२ | संख्या ३

हिन्दी का नवनिर्माण : साहित्य का सर्वांगीण

प्राकृत भाषाओं की अनेक परम्पराओं से प्रभावित होता हुआ हिन्दी का प्रवाह आज इस अपने वर्त्तमान रूप को प्राप्त हुआ है। अमीर खुसरो के समय से फोर्टविलियम कॉलेज के लेखकों तक, और फिर दयानन्द, भारतेन्दु और द्विवेदी काल तक हिन्दी भाषा ने अपने स्थायी रूप को ग्रहण करने का सतत प्रयत्न किया। हमारे इस प्रान्तमें ब्रज, अवधी और बुन्देलखण्डी इन तीन धाराओं में प्रवाहित होकर अन्त में इसने खड़ी बोली की रूपरेखा का आश्रय लिया। आज से १०० वर्ष पूर्व यह भाषा काव्य-साहित्य का माध्यम थी। और कुछ ग्रन्थों की गद्य टीकाओं का भी यह माध्यम बनी। दार्शनिक, आयुर्वेदिक और धार्मिक ग्रन्थों की टीकायें भी इस भाषा में लिखी गयीं। यह टीकायें ब्रज भाषा के गद्य में थीं, और शिक्षा का माध्यम् भाषा का यही रूप था। भारतेन्दु ने खड़ी बोली को ललित गद्य का माध्यम बनाया और अनेक जातियों के रूपक इसमें लिखे। दयानन्द ने इसे दार्शनिकों और गम्भीर विचारों का माध्यम बनाया, आगे चल कर द्विवेदी जी ने इसके सर्वांगीकरण का प्रयत्न किया, और उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थों के विविध विषयों के लिए इसे अपनाया—उन्होंने सम्पत्तिशास्त्र पर पुस्तक लिखी, और आलोचनाओं पर भी। उनकी "सरस्वती" में इतिहास, कला, आलोचना, विज्ञान, दर्शन, सभी अंगों पर लेख लिखे गये। विभिन्न विषयों के इन लेखकों ने हिन्दी साहित्य को सर्वांग-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया। इसी समय समाचार पत्रों का युग आया। वेंकटेश्वर समाचार, आर्य मित्र विश्व-मित्र, प्रताप आदि कई पुराने पत्रों ने हिन्दी को जीवित रूप प्रदान किया। इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा यह जनता की भाषा बन गई, प्रति दिन की भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनीं। इस युग में ही भारत ने अपनी पराधीनता पर विजय प्राप्त करने के लिये राष्ट्रीयता के मार्ग का अनुसरण किया। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये जो आन्दोलन हुआ, उसमें देशव्यापी नेताओं ने हिन्दी भाषा को राष्ट्र की आकांक्षाओं का माध्यम बना दिया। राष्ट्र के आन्दोलन

के साथ हिन्दी की सम्पन्नता भी अग्रसर हुई। आज यह हमारे देश की राष्ट्रभाषा है—देश के बल, लक्ष्य, एवं उसकी समस्त चेतनाओं का यह प्रतीक है।

देश की प्रगति के साथ शिक्षा-जगत में भी क्रांति उत्पन्न हुई। पचास वर्ष पूर्व के हाई स्कूलों में प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर मैट्रिक तक की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। ८-६ वर्ष के बालक को गणित, भूगोल, इतिहास और विज्ञान के विषयों को अंग्रेजी में ही पढ़ना और लिखना पड़ता था। यह युग विषयों को कण्ठाग्र कर लेने का था। विषय समझ में आवे या न आवे—अंग्रेजी की वाक्यावलियाँ याद कर ली जाती थीं। यह युग १६१५-१६ तक चला। इसके अनन्तर प्रारम्भिक कक्षाओं की पुस्तकें प्रान्तीय भाषाओं में, जिन्हें वर्नाक्यूलर कहा गया, आरम्भ की गईं। एंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों को खोलने का युग आया। १६२०-२५ तक के वर्षों में यह प्रयास किया गया कि हाई स्कूलों के शिक्षण का माध्यम प्रांतीय भाषायें बन जायँ। सन् १६३० के लगभग तक कई विषयों के लिये ऐसा होना सम्भव हो सका—भूगोल और इतिहास के लिये अवश्य, पर गणित और विज्ञान के क्षेत्र में तो अभी तीन-चार वर्ष हुए, कुछ सफलता प्राप्त हो सकी है। साहित्य का अभाव, अध्यापकों की ओर से कठिनाइयाँ, परीक्षकों की ओर से बाधायें, और अंग्रेजी का व्यापक महत्व हिन्दी के प्रसार में बराबर बाधा डालता रहा।

सभ्यता और संस्कृति के नये युग में हमारा पुराना शब्द-भण्डार समस्त भावनाओं और चेतनाओं को अभिव्यक्त करने में अपने को अशक्त पाने लगा। देश-विदेश से आई हुई सामग्री के साथ अनेक संज्ञायें और शब्द आये, जिनका प्रयोग यहाँ के भाषा-भाषी प्रचुरता से करने लगे। उदाहरणतः एक सायकिल के साथ ही ट्यूब टायर, ब्रेक, ह्वील, मडगार्ड, सीट, बेल, केरियर आदि दर्जनों शब्दों ने हमारी बोली में स्थान पा लिया। छापेखाने के खुलते ही वहाँ के कर्मचारी मशीन, फोरमेन, कम्पोजीटर, प्रूफरीडर, टाइप, लेड, केस करेक्शन आदि शब्दों का व्यवहार करने लगे। रेल और पोस्ट आफिस के सर्वप्रिय होने पर सैकड़ों विदेशी शब्द जनसाधारण को कण्ठाग्र हो गये। यही अवस्था अन्य कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों की हुई। पुराने धन्धों का स्थान ज्यों-ज्यों नवीन पद्धति के धन्धों ने लिया, हमारी भाषा में पुराने शब्दों का परित्याग और नये विदेशी शब्दों का ग्रहण आरम्भ हो गया। राजकीय विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने पर उनके साथ की आई हुई पदावली अभी बहुत काल तक हमारे देश में उनके सम्बन्ध की स्मृति दिलाती रहेगी।

हमारे देश से अन्य देशों के सांस्कृतिक सम्पर्कों का होना इस युग की कोई नई बात नहीं हैं। चीन अरब, पारस, मिश्र और युनान से इस देश का सदा से घनिष्ट संबंध रहा है। प्रत्येक युग में ही हमने इन देशों के साथ ज्ञान-विज्ञान, कला शिल्प और व्यापार का आदान-प्रदान किया। प्रत्येक शताब्दी में ही हमारे ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन और कथानकों के ग्रन्थ इन देशों के सम्पर्क में आये, और उन देशों के ग्रन्थों का अनुवाद भी यहाँ की अध्ययन अध्यापन की भाषा संस्कृत में हुआ। जयसिंह ने ज्योतिष के कई ग्रन्थों का अनुवाद कराया था, यह बात प्रसिद्ध ही है। फलतः आज समस्त भाषाओं में राशियों के नाम—मीन, मकर मेष, तुला, वृश्चिक, कन्या आदि एक ही अर्थ और भाव में पर्याय बने हुए हैं। आज से तीन शताब्दियों पूर्व तक हमारे पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद विदेशों और विदेशी शब्दों के अनुवाद हमारे साहित्य में थोड़े बहुत होते रहे।

गत दो शताब्दियों में विदेशों में विज्ञान इस प्रगति से बढ़ा और हमारा देश इस उत्कर्ष में भाग लेने से इतना वंचित रहा कि परस्पर का आदान-प्रदान बन्द हो गया। हम संसार की दौड़ में बहुत पिछड़ गये, और फलतः आज हमारी

भाषा अपने को शब्द-भण्डार के सम्बन्ध में दीन-हीन अनुभव कर रही है। हिन्दी में विज्ञान-विषयक पाठ्य पुस्तकों की रचना १६ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से आरम्भ हो गई थी—पर उस समय दो चार पुस्तकें ही और वे भी अत्यन्त प्रारम्भिक, लिखी गई। लेखकों ने इन पुस्तकों में अनेक नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने अपनी स्थापना के कुछ वर्षों के अनन्तर ही वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द-कोष की ओर ध्यान दिया और अनेक प्रान्तीय सरकारों और विश्व विद्यालयों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की चेष्टा की। फलतः इस सभा ने कुछ वैज्ञानिक-विषयों का एक शब्दकोष प्रकाशित किया। इस कोष में दर्शन, तर्कशास्त्र, शिक्षा, ज्योतिष, रसायन, गणित और भौतिक विज्ञान के शब्दों का चयन किया गया। इस शब्दकोष ने बहुत दिनों तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति की। कलकत्ता विश्व-विद्यालय और वंगीय साहित्य परिषद् ने आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्रराय के सहयोग से रसायन के शब्दों का संकलन प्रकाशित किया। बाद को मैट्रिक परीक्षा के उपयोग के लिये अन्य विषयों के छोटे पारिभाषिक संकलन भी प्रकाशित हुए। बंगाली में "प्रकृति" नामक एक पत्रिका भी वैज्ञानिक विषयों की प्रकाशित होने लगी, हिन्दी में तो १९१३ के लगभग से ही "विज्ञान" पत्रिका प्रकाशित हो रही है। मराठी में "मेकेनिकल इंजीनियर" नामक एक पत्रिका निकली। इन पत्रिकाओं में विशेष रूप से और अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं में गौण रूप से वैज्ञानिक लेखों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। अनेक विषयों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इन पत्रिकाओं में किया गया। भाषा को वैज्ञानिक विषयों के सांचे में ढालने का स्तुत्य प्रयास इन लेखों में हुआ। वैज्ञानिक साहित्य को अपनी भाषा में व्यक्त करने के लिये न केवल हमें पारिभाषिक शब्द ही चाहिए थे, हमें भाषा को वह रूप-रचना और वाक्य-विन्यास भी देना था, जो इन नए विषयों के सर्वथा उपयुक्त हों। रसायन, गणित, जीव विज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों की अपनी अलग एक भाषा और भाषा-पद्धति होती है, जिसमें हमें अपनी देशीय भाषाओं को सम्पन्न करना था। हिन्दी, मराठी, और बंगाली तीनों भाषाओं ने इस ओर इस युग में अच्छा प्रयत्न किया। तामिल और तेलगू भाषा में भी कुछ साहित्य इन विषयों का रचा गया। पर उससे हिन्दी भाषा को अधिक योग नहीं प्राप्त हुआ।

जब किसी नये शास्त्रीय विषय पर हिन्दी में पुस्तक लिखी गयी उस पुस्तक के अन्त में उस विषय के पारिभाषिक शब्दों के देने की पद्धति प्रारंभ हुई। इस प्रथा ने लेखकों और पाठकों की बड़ी सहायता की। धीरे धीरे हमारे पास शब्द-समूहों की अच्छी सामग्री हो गयी। १५ वर्ष हुए, विज्ञान परिषद प्रयाग ने अपने साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का एक संग्रह प्रकाशित किया। अजमेर से श्री सुखसम्पत्तिराय भंडारी ने शब्दकोष कई बृहद् खंडों में छापा। मराठी साहित्य के प्रसिद्ध कोषकार श्रीदाते जी ने अभी हालमें एक वैज्ञानिक शब्दकोष पूना से प्रकाशित किया है जिसमें हिन्दी साहित्य की सभी सामग्री का समावेश कर लिया गया है। गत कुछ वर्षों के प्रयासों में दो उल्लेखनीय हैं,—एक तो श्री डा० रघुवीर का, जिन्होंने नागपुर से लघु और बृहद् दोनों प्रकार के कोष तैयार कर दिए हैं; और दूसरा भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग का, जिसके कोष के अभी दो खंड निकले हैं।

भारतीय भाषाओं की पारिभाषिक नीति का अभी स्थिरीकरण नहीं हो पाया है। इंटर यूनिवर्सिटी बोर्ड और सरकार की ओर से बनी हैदरी कमेटी ने पारिभाषिक शब्दों के सुझाव देश में उस समय रक्खे थे, जब हम हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों को समकक्षता देने के लिए उत्सुक थे। इधर यूनिवर्सिटीज कमीशन रिपोर्ट ने इस संबंध में अपने सुझाव रक्खे हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित

हुआ है। समस्त विषयों का शिक्षण इन विश्वविद्यालयों में जब हिन्दी में आरंभ हो जायगा, तब कुछ काल के पश्चात् हिन्दी पारिभाषिक शब्दों का स्थिरीकरण हो सकेगा अधिकांश पक्ष इस समय इस विचार का है कि अन्तरराष्ट्रीय विदेशी शब्दों को हिन्दी में यथासम्भव पचा लिया जाय। उद्देश्य यह है कि हिन्दी भाषियों का साहित्य अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक जगत् के निकटतम रहने का प्रयास करे। हिन्दी भाषियों का भी बाहर के जगत् से इस प्रकार घनिष्ट संम्बन्ध रह सकेगा। अध्यापक, विद्यार्थी, लेखक और पाठक और व्यवसायी व्यक्तियों के अधीन यह बात है कि आगे के साहित्य की रूपरेखा किस प्रकार की हो। शब्दों का आदान-प्रदान भाषा का सहज स्वाभाविक गुण है, पर उससे भाषा का सौष्ठव बढ़ना चाहिए, न कि विकृत होना। इस बात का हमें सदा ध्यान रखना पड़ेगा। आज के दिन के अध्यापकों के सामने जो कठिनाइयाँ हैं, वे आगे आने वाले अध्यापकों के सामने इतनी अधिक नहीं होंगी।

वैज्ञानिक साहित्य में अस्थिरता है, और उसकी शब्दावली में एक प्रवाह है। प्रत्येक युग का विज्ञान अपने लिए नए शब्दों की रचना करता है। रेडियो और बेतार के तार ने नयी शब्दावली दी। इस परमाणु युग में एक नयी शब्दावली हमारे सामने आ रही है। दस पाँच बरस बाद फिर एक नया युग आवेगा, और तब नये, पारिभाषिक शब्द बनेंगे। यही अवस्था शिल्प के शब्दों की भी हैं। काव्य-युग, प्रस्तरयुग, और धातु युग के शब्द दूसरे थे। चीनी मिट्टी, काँच और सीमेण्ट के युग ने नए शास्त्र की सृष्टि की। प्लास्टिक के युग ने अब फिर एक विचित्रता आरंभ की है। हमारे देश के लिए यह सरल नहीं है कि सब उत्तरोत्तर युगों में अन्य देशों से समकक्षता बनाए रख सके। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी भाषा की क्षमता को आगे आने वाले युगों के उत्कर्ष के योग्य बना लें। साहित्य आज किसी छोटे से छोटे विषय की उपेक्षा नहीं कर सकता है। अणु से लेकर बृहद् ब्रह्मांड के सभी विषय मनुष्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक हैं। हमारे देश की समृद्धि भाषा की समृद्धि पर निर्भर है, और हमारा साहित्य देश के उत्कर्ष का प्रतीक है। इस युग में हम जीवन को साहित्य से पृथक् कर ही नहीं सकते। साहित्य के सर्वाङ्गीण नवनिर्माण में हम सब को भाग लेना है।

—*सत्य प्रकाश*

[आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से]

पौधों का वर्गीकरण

श्री रमेश कुमार श्रीवास्तव, एम० एस-सी०

पौधों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के प्रयत्नों और इतिहास का सुन्दर वर्णन इस लेख में किया गया है। पाठकों को लेख मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा।

कदाचित् प्राणि जगत् का वनस्पति जगत् पर पूर्ण अवलम्बन ही ऐसा सत्य था जिसने मनुष्य जाति को पौधों के नाम रखने पर विवश किया। जब मनुष्य के ज्ञान की सीमा इतनी विस्तृत थी और उसे ज्ञानोपार्जन की भावना ने इतना उत्साही नहीं बना दिया था तब कुछ सरल नामों से ही मनुष्य और वनस्पतियों का सम्पर्क साधारणतया बना रहता था। प्रतिदिन के कार्य के लिए कुछ ही पेड़ पौधों के नाम जानना आवश्यक था।

परन्तु विज्ञान के प्रवेश के समय वनस्पति जगत् के विषय में मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ चुका था। वैज्ञानिक समालोचनाओं ने प्रत्येक क्षेत्र को नियमित एवं व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया। वनस्पतिज्ञों ने भी पौधों के वर्गीकरण को निश्चित रूप देने के लिए कुछ मूल सिद्धान्त प्रस्तावित किए। सर्वप्रथम यह निश्चित किया गया कि पौधों के नाम द्विरूपी (Binomial) होंगे, अर्थात् प्रत्येक पौधे के नामकरण में गण तथा जाति दोनों ही का उल्लेख किया जावेगा। इसके पश्चात् यह भी निश्चित हुआ कि वर्गीकरण का आदर्श एक ऐसी रचना-क्रम को मान लिया जाय जिससे पौधों के विभिन्न वर्गों में न केवल प्राकृतिक या स्वाभाविक सम्बन्ध जान पड़े वरन् जिसे सरलता पूर्वक कार्यान्वित भी किया जा सके। किन्तु वर्तमान पौधों की संख्या ही वनस्पतिज्ञों के सभी प्रयत्नों को यथेष्ट समय तक परास्त करती रही। फिर वनस्पतिज्ञों को न तो आदिकाल के पौधों का ही पर्याप्त ज्ञान था न पौधों के विकास-क्रम का ही। ऐसी स्थिति में पौधों का वर्गीकरण एक कठिन प्रश्न बन गया। अंग्रेज वनस्पतिज्ञ जॉन-रे ने १७०४ में कहा कि, प्रकृति अपने को किसी नियमित प्रणाली का बन्दी नहीं बनने देगी।

वनस्पतिज्ञों ने वर्गीकरण का आधार कुछ प्रत्यक्ष तथा कुछ अप्रत्यक्ष प्रमाणों को बनाया। तुल्यात्मक बाह्य रूप, और रचना-क्रम, लुप्त पेड़ों की रचना तथा विकास-स्तर, पौधों का पृथ्वी पर वितरण तथा प्राकृतिक अवस्था में व्यवहार, कोषविज्ञान और उत्पत्ति विज्ञान, इत्यादि विषयों ने वर्गीकरण के प्रश्न को सुगम करने का प्रयत्न किया।

प्रारम्भ के वनस्पतिज्ञों के लिए बाह्य रूप ही वर्गीकरण का मुख्य आधार था। बाह्यरूप के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि अधिकांशतः पौधों में सरलता से विषमता की ओर विकास हुआ है। सरल रूप वाले पौधों को आदिकाल के पौधों के लगभग समान ही माना गया। हीकेल महोदय ने कहा कि पौधों का सीमित जीवन साधारणतया उनके इतिहास तथा विकास-क्रम की पुनरावृत्ति होता है। डाले महोदय ने बताया कि कोई भी जीवित वस्तु विकास-क्रम के उच्चस्तर से आदि

वस्तुओं की ओर नहीं लौटती। यह भी निश्चित हो गया कि समान उत्पत्ति वाले अवयव समान कार्य वाले अवयवों से कहीं अधिक विकास सम्बन्ध (evolutionary relations) के सूचक हैं।

डार्विन महोदय के जन्म के पहिले ही वनस्पतिज्ञों के पास बाह्य रूप के आधार पर इतना अधिक ज्ञान एकत्र हो चुका था कि उसकी व्याख्या करना सरल कार्य नहीं था। पौधों को कुल, गण तथा जातियों में विभाजित किया जा चुका था और कुछ बड़े बड़े वर्ग भी बना लिए गए थे। परन्तु प्रधान तथा अप्रधान गुणों में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। इस कारण वनस्पतिज्ञों ने भिन्न भिन्न गुणों को प्रधानता देकर उन्हें वर्गीकरण का आधार बना लिया था।

पौधों के रचना-क्रम ने भी वनस्पतिज्ञों को कई वर्षों तक एक निश्चित वर्गीकरण करने से रोका। अपर्याप्त ज्ञान के कारण पहिले तो यह माना जाता था कि रचना-क्रम के क्षेत्र में पौधों में बहुत ही अव्यवस्थित रूप से विकास हुआ है। परन्तु ज्ञान-वृद्धि के साथ साथ इसमें भी एक निश्चित प्रणाली बनती गई। जब यह देखा गया कि सूत्रिजों में रम्भ का अभाव है तथा हरितिजों में रम्भ अविकसित है तब हरितिज निश्चित रूप से विकास-क्रम में सूत्रिजों से ऊपर रख दिए गए। पर्णिजों में रम्भ प्रणाली दृढ़ हो चुकी थी और बीजिजों में पर्णिजों की खण्डनालों के स्थान पर कहीं वाहक नालें बनने लगी थीं। इस प्रकार इन चार बड़े भागों में विकास-क्रम निश्चित हो गया। पौधों की कार्य-प्रणाली ने भी वर्गीकरण में इसी प्रकार सहायता दी।

जहाँ जीवित पेड़ों के बाह्य रूप और रचना ने वनस्पति जगत् के विकास के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान अधिक बढ़ा दिया था वहाँ लुप्त पेड़ों के बाह्य रूप एवं रचना-क्रम ने उसे पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इनके अध्ययन से ज्ञात हुआ कि आदिकाल में चेतना पहिले जलमय क्षेत्रों में ही प्रारम्भ हुई। किन्तु आदिकाल की चेतन वस्तुएँ इतनी सुकोमल थीं कि उनका कोई शेष अब नहीं पाया जाता। इनके कुछ समय बाद अधिक नियमित रूप से पौधों और प्राणियों का विभाजन हुआ। इनमें दृढ़ कोषाभित्तियाँ थीं और इस कारण इनका कुछ शेष अब तक पाया जाता है। पृथ्वी के गर्भ में से निकाले गए असंख्य वनस्पति-अवशेषों (fossils) ने विकास-शृङ्खला की खोई हुई कड़ियों का कार्य किया है। परन्तु भूगर्भ शास्त्र का ज्ञान इतना सीमित है कि पौधों के वर्गीकरण के विषय में अभी कोई निर्णीत प्रणाली निश्चित नहीं की जा सकती।

वर्गीकरण के प्रधान आधार के विषय में ये विवाद अभी उलझे ही हुए थे जब एक नवीन समस्या वनस्पतिज्ञों के सम्मुख आई। पौधों को किन निश्चित वर्गों, श्रेणियों या विभागों में विभाजित किया जाय? परन्तु यह समस्या शीघ्र ही हल हो गई और भाग, श्रेणी, वर्ग, कुल, गण तथा जाति को इसका आधार माना गया। उदाहरणार्थ नीम के पेड़ का इस प्रकार वर्णन किया जाता है :—

वनस्पति जगत्
बीजिज भाग
आवृत बीजिज श्रेणी
मीलियेसी कुल
मीलिया गण
अजाडिराचटा जाति

गण एवं जातियों के एक ही नाम सभी वनस्पतिज्ञों ने अपना लिए हैं।

डार्विन महोदय की "ओरिजिन ऑफ स्पीशीज" या "जातियों की उत्पत्ति" से पहिले वनस्पतिज्ञ कोई निश्चित वर्ग-प्रणाली नहीं मानते थे। वर्गीकरण की प्रणाली ईसा से पूर्व चौथी व तीसरी शताब्दी में एरिस्टॉटल तथा उनके शिष्य थियो

फ्रेस्टस ने सर्वप्रथम बनाई। परन्तु इनके सिद्धान्त अप्रधान गुणों पर ही आधारित थे। कई शताब्दियों बाद इटली के वनस्पतिज्ञ सीजल पिनी ने फिर वर्गीकरण के कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये और ज्ञात पौधों के विषय में १६ ग्रन्थ लिख डाले। सत्रहवीं शताब्दी में स्विटजरलैन्ड के गेस्पेर्ड बौहिन ने अपनी पुस्तक "पाइनैक्स" में लगभग ६००० जातियों का वर्णन एवं वर्गीकरण किया। सन् १७०४ में जॉन रे ने "हिस्टॉरिया प्लेन्टेरम" में वनस्पति जगत् को प्रथम बार निश्चित आधार पर विभाजित किया । इनकी प्रणाली इस प्रकार थी :—

१. अबीज (शाक)
अ. अपूर्ण (पुष्परहित)
ब. पूर्ण (पुष्पसहित) द्विपत्री
एक पत्री या अपत्री

२. आरबोरीज (पेड़)
अ. एक पत्री
ब. द्वि पत्री

परन्तु जॉन रे की प्रणाली में शाक-प्रधान तथा काष्ठ-प्रधान गुणों को अधिकाधिक प्रधानता दी गई है।

स्वीडेन के केरोलस लिन्नियस ने १७५३ में "स्पीशीज प्लेन्टेरम" में सारी जातियों का तथा १७५४ में "जेनेरा प्लेन्टेरम" में सारे गणों का वर्णन किया। वास्तव में लिन्नियस ने पौधों के वर्गीकरण की कोई निश्चित प्रणाली नहीं बनाई परन्तु साधारण कार्यों के लिए एक कृत्रिम वर्गीकरण केवल पुष्प के रचनाक्रम और गुणों के ऊपर बना दिया। लिन्नियस का सबसे प्रधान कार्य वनस्पति विज्ञान में द्विरूपी नाम प्रचलित करना था।

सन् १७८९ में डी जस्यू ने वनस्पतियों को १५ श्रेणियों में विभक्त किया जिनमें से १५ श्रेणियाँ बीजिजों की थीं। उन्होंने पौधों को तीन बड़े वर्गों में बांटा :—

१. अपत्री—शैवाल, फफूँद, हरितिज एवं पर्णिज।

२. एक पत्री—बीजिज

३. द्वि पत्री—बीजिज

डी जस्यू ने काष्ठ-प्रधान तथा शाक-प्रधान गुणों का कोई महत्व नहीं दिया परन्तु बीज, पत्तों तथा पुष्प के गुणों को सर्वप्रधान बनाया। सन् १८१९ में डी कैन्डोले ने इस वर्गीकरण को बहुत कुछ सुधारा।

स्टीफेन एन्डलिकर ने १८४० में एक नया वर्गीकरण पौधों को दिया। इसमें सूत्रिजों को छोड़ शेष सब पौधों के लिए शीर्षीय बाढ़ ही प्रधान गुण माना गया। परन्तु इस कारण एन्डलिकर ने आवृत बीजिजों को द्विपत्री आवृत बीजिजों के साथ रख दिया और यह दोष बाद में बेन्थम और हूकर की प्रणाली में भी रह गया।

वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में इस समय अनेक अन्वेषण हो रहे थे। राबर्ट ब्राउन ने अपनी गवेषणाओं द्वारा यह बताया कि आवृत बीजिजों में बीज, भ्रूणपोष तथा गर्भधानी की बनावट में बहुत अन्तर है। हॉफमाइस्टर के भ्रूण विकास अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पौधों के प्रत्येक बड़े वर्ग में जनन एकान्तरण होता है। सन् १८५९ में चार्ल्स डार्विन ने "ओरिजन ऑफ स्पीशीज" में पौधों के विकास-क्रम को एक निश्चित एवं नियमित रूप दिया। इन्होंने लिखा कि पौधों के विकास में प्रकृति का कार्य सबसे प्रधान था। विकास-क्रम में प्रकृति ने शिथिल एवं क्षीण पौधों को तो त्याग दिया परन्तु स्वस्थ एवं योग्य पौधों को चुन कर उन्हीं से वनस्पति जगत् को इतना विस्तृत किया। प्रकृति ने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित कीं जिनके कारण सब पौधों में खाद्य पदार्थों के लिए एक विग्रह प्रारम्भ हो गया और

इस संग्राम में सबसे स्वस्थ एवं योग्य पौधे ही सफल हुए।

डार्विन महोदय के इस कल्पात्मक मत को वनस्पतिज्ञों ने शीघ्र ही अपनाया और वर्गीकरण की प्रणालियों को इसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया।

इंगलैंड के प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ बेन्थम और हूकर ने बीजिजों का एक विस्तृत वर्गीकरण किया जो आज तक विभिन्न रूपों में संसार के कई देशों में माना जाता है। यह वर्गीकरण वास्तव में डी जस्यू और डी कैन्डोले की प्रणालियों का ही बढ़ा हुआ और परिवर्तित रूप था। "जेनेरा प्लेन्टेरम" नामक पुस्तक में इन्होंने बीजिजों को द्विपत्री बीजिजों, अनावृत बीजिजों तथा एक पत्री बीजिजों में विभक्त किया। बेन्थम और हूकर ने लगभग २०० कुलों का वर्णन किया। इनमें रेनन कुलसी सबसे पहिले और ग्रेमिनी सबसे बाद में था। बेन्थम और हूकर की प्रणाली में अनावृत बीजिजों का स्थान ही अत्यन्त विवादग्रस्त था।

जूलियस वान सैक्स ने १८८२ में सूत्रिजों का एक वर्गीकरण बेन्थम और हूकर के सिद्धान्तों पर किया। सन् १८८३ में आइक्लर ने फिर पूरे वनस्पति-जगत को दो बड़े भागों में बाँटा।

अ. क्रिप्टोगैमी
  १. थैलोफाइटा (सूत्रिज)
  २. ब्रायोफाइटा (हरितिज)
  ३. टेरिडोफाइटा (पर्णिज)
ब. फेनेरोगैमी
  १. जिम्नोस्पर्मी (अनावृत बीजिज)
  २. एन्जियोस्पर्मी (आवृत बीजिज)

जर्मन वनस्पतिज्ञ एन्गलर और प्रैन्टल ने अपने ग्रन्थ "डाइनेचुरलिशेन फ्लान्जेन फैमिलिएव" में वनस्पति जगत् का एक नवीन वर्गीकरण दिया। अधिकांशतः यह आइक्लर की प्रणाली का ही बढ़ा रूप है परन्तु इसमें वर्गीकरण के कुछ मुख्य सिद्धान्तों का अधिक नियमित रूप से अनुकरण किया गया है। एन्डलर और प्रैन्टल के वर्गीकरण के विभिन्न भाग विशेषज्ञों द्वारा लिखे गए थे, इस कारण कदाचित इसमें पर्याप्त सम्बद्धता नहीं आई परन्तु आजकल यही प्रणाली सबसे अधिक प्रचलित है। सन् १८९४ में अमेरिकन वनस्पतिज्ञ बेसी ने बेन्थम और हूकर के वर्गीकरण को सुधार कर फिर से प्रस्तुत किया। इसमें अनावृत बीजिजों को द्विपत्री तथा एक पत्री आवृत बीजिजों के मध्य से हटाकर पहले रख दिया गया। सन् १९०१ में रिचार्ड वेट स्टाइन ने अपनी "हैन्डबुक डर सिस्टेमिटिशेन बोटेनीक" में एन्गलर और प्रैन्टल की प्रणाली को सुधारने का प्रयत्न किया। सन् १९०५ में हैन्स हैलियर ने एन्गलर और प्रैन्टल के वर्गीकरण की त्रुटियों को ठीक कर एक नयी प्रणाली बनाई।

पौधों के वर्गीकरण के इतने प्रयत्न भी कदाचित् यथेष्ट नहीं माने गए और वनस्पतिज्ञों ने अधिकाधिक प्राकृतिक एवं सरल वर्ग-प्रणालियां ढालने का प्रयत्न कम नहीं किया। सन् १९२६ में हचिंसन ने एक बार फिर पौधों के काष्ठ प्रधान तथा शाक-प्रधान गुणों को अपने वर्गीकरण का आधार बनाया।

इस समय तक भूगर्भ विज्ञान के क्षेत्र में बहुत अधिक अन्वेषण हो चुके थे। वनस्पति अवशेषों (fossils) के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पौधों के वाह्यरूप और रचनाक्रम की प्रस्तुत श्रेणियों में से अधिकांश कृत्रिम और काल्पनिक ही हैं। आदि पर्णिजों के उपवर्ग साइलो फाइटेलिस, आदि अनावृत बीजिजों के उपवर्ग साइकेडो फिलिकेलिस (सागुपर्ण उपवर्ग) एवं लुप्त आवृत बीजिजों के ज्ञान ने पर्णिजों, अनावृत बीजिजों तथा आवृत बीजिजों के अन्तर को अत्यन्त सूक्ष्म बना दिया। कई वनस्पतिज्ञों का यह विश्वास है कि ये भाग पृथ्वी के इतिहास में कई लाख वर्षों तक एक ही दिशा में विकास करते रहे।

लुप्त पेड़ों की रचना का ध्यान रखते हुए

अमेरिका के वनस्पतिज्ञ आर्नोल्ड ने स्म्भवाले पौधों को दो में विभक्त किया :—

१. लाइकाप्सिडा—इसमें पर्णिजों के कुछ वर्ग हैं, जिनमें पर्ण अवकाश नहीं होता।

२. टेराप्सिडा—इनमें पर्ण अवकाश होता है। ये पाँच भागों में विभक्त हैं :—

१—टेरिडोफाइटा (पर्णिज)

२—साइकेडोफाइटा
३—कोनोफरोफाइटा
४—क्लेमाइडोस्परमोफाइटा
} अनावृत बीजिज

५—एन्जिओस्परमोफाइटा (आवृत बीजिज)

इस प्रकार आर्नोल्ड के अनुसार पर्णिजों से आवृत बीजिजों तक पौधों के विकास-क्रम की एक अविच्छिन्न शृङ्खला है।

पौधों के वर्गीकरण की विभिन्न प्रणालियों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि वनस्पतिज्ञ अब तक पौधों के यथार्थ विकास क्रम एवं परस्पर विकास-सम्बन्ध के विषय में एकमत नहीं हैं। फिर भी सुविधा के लिए पौधों के कुछ बड़े भाग बना लिए गए हैं।

१—सूत्रिज या थैलोफाइटा
अ—शैवाल या एलगी
ब—फफूंद या फन्जाइ

२—हरितिज या ब्रायोफाइटा
अ—हिपैटिसी
ब—मसाई

३—पर्णिज या टेरिडोफाइटा
अ—इक्वसिटेलिस
ब—लाइकोपोडियेलिस
स—फिलिकेलिस

४—बीजिज या स्पर्मेटोफाइटा
अ—अनावृत बीजिज
ब—आवृत बीजिज

इस कृत्रिम वर्गीकरण में सूत्रिजों का विभाजन पोषण-क्रिया के आधार पर, हरितिजों का जन्युक और बीजाणुक के विकास-स्तर के आधार पर, पर्णिजों का बीजाणुक के रचना-क्रम तथा प्रजनन क्रिया के आधार पर तथा बीजिजों का विभाजन बीज की स्थिति, अण्डकोश की रचना एवं बीजाणुक की रचना के आधार पर किया गया है। वास्तव में पौधों की उत्पत्ति, उनका विकास-क्रम तथा उनका वर्तमान रूप अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारणों का परिणाम है। वनस्पतिज्ञ नए प्रमाण मिलते ही नए वर्गीकरण ढालने का प्रयत्न करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक वर्ग के विकास इतिहास का अध्ययन उचित मनोयोग से नहीं किया जाता वरन् सभी वनस्पतिज्ञ उस नवीन वर्गीकरण की समालोचना में अपना ध्यान लगा देते हैं। विशिष्ट क्षेत्रों में विस्तृत अध्ययन की ही इस समय आवश्यकता है।

दीवार की आकृति

मूल० ले० इ० वी० लूकास

कथा रूप में वैज्ञानिक समस्याओं की चर्चा तथा पाठकों में वैज्ञानिक कौतूहल उत्पन्न करने का प्रयत्न साहित्य की नई देन है, इस रोमांचक कहानी के पढ़ने का आनंद हमारे पाठक अपलक नेत्रों से ले सकते हैं।

डैबने क्लब की कल वाली घटना से मैं अब तक कांप जाता हूँ। कल की उस अनोखी बात के स्मरण मात्र से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते है परन्तु सन्तोष केवल इस बात का है कि क्लब की उस बात से केवल मैं अकेला ही प्राण-हीन सा न बना वरन् सब की वही दशा थी।

हम विचित्र, अमानवी और दैविक विषयों की चर्चा में पूर्णतया संलग्न थे और हममें से प्रत्येक साथी अपनी अपनी सुना रहा था। यद्यपि सब साथियों की घटनायें विचित्र थीं तब भी उनमें रोंगटे खड़े हो जाने का खिंचाव न था। उन वर्णित घटनाओं को सुनकर मानसिक द्वन्द्व की किञ्चित-मात्र भी उत्पत्ति नहीं होती थी। उनमें मनोवैज्ञानिक हलचल थी जो किसी मनोविज्ञान-शास्त्री के लिये पाठ्य और विवेचन की सामग्री बन सकती।

क्लब की कल वाली बैठक में कुछ नये चेहरे भी दिखाई दिये थे जिनमें एक मेहमान बहुत ही उल्लेखनीय है। मिस्टर रडसन वाइट उस मेहमान को अपने साथ लाये थे। श्वेत-मुख का वह पुरुष प्रत्येक कथावाचक को बहुत गौर से घूर रहा था परन्तु उसके होंठ वैसे ही चुप थे जैसे नींद में खोई हुई पलकें जो आँख की रोशनी पर ढक्कन डाल देती हैं। क्लब ने चाहा कि यह भी कुछ बोले। अतः इसी गरज से सब मेम्बरों ने उससे अनुरोध किया कि वह भी कोई तजुर्बे की कोई अनहोनी घटित घटना वर्णन करे।

वह कुछ देर तक चुप रहकर बोला, "दोस्तो! यह साधारण रूप में सुनी सुनाई कपोल-कल्पित कहानी नहीं है। मैं तो सदा सच्चाई का कायल रहा हूँ। मैं एक ऐसी अनोखी मनोवैज्ञानिक और सत्य घटना सुनाऊँगा जो उपन्यास की घटनाओं से भी मजेदार होगी। वह एक ऐसी घटना है जो मेरे साथ घटित होकर कल ही शाम समाप्त हुई है।"

उत्सुक होकर हमने उससे आरम्भ करने के लिये प्रार्थना की।

"दो एक साल पहिले," उसने आरम्भ किया, "मैं ग्रेट आरमाण्ड स्ट्रीट पर एक कमरा किराये पर लेकर रहता था। कमरे की दीवारें पुराने किसी किरायेदार ने गन्दी कर दी थीं और स्थान के नम तथा सीलन होने के कारण दीवारों पर बड़े बड़े गन्दे निशान हो गये थे। स्थान का रंग उड़ जाने के कारण अजीब २ रेखाओं का निर्माण हो गया था। उन रेखाओं के बीच में एक मनुष्य रूप बन गया था जो ठीक किसी मानव की मुखाकृति लगती थी। अपनी चारपाई पर लेटा हुआ मैं, सदा सोते जागते उस मुखाकृति को घूरा करता था और शनैः शनैः मैं आकृति को अपना एक सहवासी समझने लगा। इस आकृति में मुख्य बात यह थी कि

दीवारों के अन्य निशानों के सदृश यह अपना मौलिक रूप नहीं बदला करती थी। वह सदा एक रूप में दीवार पर बनी थी।

"एक बार मुझे इन्फ्लुइंजा ने आकर धर दबोचा और मेरी मानसिक स्थिति शोचनीय हो गई। मैं सदा कुछ न कुछ ऊलजलूल इस स्थिति में सोचा करता और मेरी दृष्टि हमेंशा दीवार के चेहरे पर टिकी रहती जो मेरी आँखों के ठीक सामने पड़ता था। मुझे ऐसा लगा कि उन दिनों वह मुखाकृति सत्यरूप में मानवी शक्ल में परिणत हो रही है। आकृति ने मेरे मस्तिष्क को घटाटोप की तरह छा लिया। मैं दिन-रात पड़ा पड़ा उसकी हरकतों को देखा करता और उसके विषय में सोचा करता। उसकी नाक ने एक अजीब टेढ़ापन अख्त्यार कर लिया था और सिर का झुकाव विचित्र दिशा में हो गया था। वास्तव में उस चेहरे का एक महत्वपूर्ण और अनोखा व्यक्तित्व था जो हजारों पुरुषों में अकेलापन लेकर भी ठीक मानवी था।

"मैं रुग्णावस्था से मुक्ति पाकर रोग-मुक्त हो गया परन्तु तब भी उस दीवार के चेहरे ने मेरा पिंड न छोड़ा। वह और भी अधिक एक पहेली बनकर मेरे मस्तिष्क में छा गया। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि इस संसार में कहीं न कहीं इस आकृति का असली मनुष्य अवश्यमेव मौजूद है जो कभी न कभी जरूर मुझे मिलेगा। अपने इस विश्वास का उत्तर मेरे पास भी न था पर मैं केवल इतना ही सोच सका था कि वह मनुष्य और मैं किसी न किसी रूप में आपस में अवश्य सम्बन्धित हैं। नियति ने ऐसा ही विधान बनाया है और ईश्वर की यही इच्छा है। अतः मुझे उस आदमी की खोज के लिये पागलपन सा सवार हो गया। मैं स्टेशनों, राजनीतिक जल्सों, फुटबाल मैचों और उन सभी स्थानों पर चक्कर लगाने लगा जहाँ बहुत भीड़ होती थी ताकि मुझे दीवार के चेहरे वाला आदमी मिल जाय, लेकिन सब बेकार रहा। मुझे वह चेहरा न मिला। मैं तो जैसे न मिलने पर ढूँढने के लिये और भी दीवाना हो गया। मैंने अन्य सब कुछ कार्य करना छोड़ दिया। मैं नगर के हंगामे भरे स्थानों के बीच खड़ा होकर आते जाते चेहरे को घूरा करता। लोग मुझे पागल समझने लगे। पुलिस मुझे सन्देह दृष्टि से देखने लगी। हाँ! मैंने स्त्रियों की ओर कभी न देखा, केवल पुरुष, पुरुष, और पुरुषों के चेहरे मेरी आँखों का शिकार थे।"

अपनी भवों पर परेशानी से हाथ फेरते हुए उसने कहा "और एक दिन', सच मानिये साहब; मैंने उसे पा लिया। वह एक टैक्सी में बैठा हुआ था जो पिकाडली की ओर बढ़ रही थी। मैं पागल सा टैक्सी के पीछे दौड़ा। पीछे से आती हुई खाली टैक्सी को देखकर उसे रोका और चढ़कर टैक्सी वाले से कहा, 'उस टैक्सी के पीछे पीछे चलो।' ड्राइवर ने टैक्सी को दृष्टि में रख अपनी टैक्सी उसके पीछे छोड़ दी। कलैरिंग क्रास आ गया। मैं प्लेट फार्म की ओर बढ़ा। अपने आदमी को एक छोटी बच्ची तथा दो औरतों के साथ देखा। वे २.२० मिनट पर फ्रांस के लिये रवाना होने वाले थे। मैंने उससे बातचीत करने की कोशिश की परन्तु असफल रहा। उसके दूसरे साथी उसके साथ हो लिये थे और वे सब ट्रेन में चढ़ गये।

मैंने जल्दी में, यह सोचकर फाक स्टान का टिकट ले लिया कि जहाज के खुलने के पूर्व मैं उसे पकड़ लूँ परन्तु फाकस्टान में वह अपने मित्रों के साथ मेरे पहुँचने से पहिले ही उतर कर जहाज के सैलून में घुस गया। सैलून के भीतर प्रवेश करने से स्पष्ट था कि वह एक मालदार व्यक्ति है।

पुनः मुझे निराश होना पड़ा परन्तु मैंने भी उससे बातचीत करने के लिए कमर कस ली थी। मेरे पास केवल बोलगों तक जाने के लिये एकतरफा किराये के पैसे शेष थे। अतः यह अनुमान लगाकर कि वह अवश्यमेव सब साथियों को छोड़कर डेक पर टहलने के लिए आयेगा ही, मैं सैलून के द्वार पर जमकर बैठ गया और उस सुनहरी

घड़ी की प्रतीक्षा करने लगा जब कि वह बाहर निकले और मैं उससे बातचीत कर सकने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ। लगभग आध घंटे बाद वह नन्ही बालिका की उंगली थामे बाहर आया। मेरा हृदय लहरों पर नाचती हुई नौका के समान जोरों से धड़कने लगा। उसके चेहरे में किञ्चित भी अन्तर न था—ठीक दीवार के चेहरे से मिलता हुआ, वही रेखायें, वही झुकाव और वही आकृति। उसने मुझे एक बारगी देखकर ऊपर डेक पर जाने के लिये कदम उठा लिये। बस मौका हाथ से न चूकना चाहिये, मैंने सोचा।

"क्षमा कीजिये।' मैंने कांपती बोली में पूछा "क्या आप मुझे परिचय-पत्र दे सकेंगे। अत्यधिक आवश्यक कारणों से मैं आपके साथ पत्र-व्यवहार करना चाहता हूँ।"

वह स्तम्भित हो गया, लेकिन उसने मेरी बात मान ली। शान्त भाव से उसने अपना कार्ड निकाल कर मुझे दे दिया और स्वयं नन्हो बालिका के साथ ऊपरी डैक के लिये बढ़ गया। यह निश्चय था कि उसने मुझे पागल समझ कर और झंझटों से बचने के लिए कार्ड चुपचाप मेरे सिपुर्द कर दिया था।

कार्ड को हाथ में दबोचे मैं जहाज के एक कोने में जा पहुँचा और पढ़ने लगा। मेरी आँखें चकित, विस्मित अपलक रह गई। मेरा सिर घूम गया। उसमें लिखा था मिस्टर आरमाँड वाल, पीट्स्वर्ग, यू. स. ए.। इसके आगे मुझे स्वयं याद नहीं कि क्या हुआ। हाँ, मैंने अपने को अस्पताल में पाया। मैं कुछ सप्ताह अस्पताल में पड़ा रहा और अभी एक ही महीने पहिले अस्पताल से आया हूँ।"

कहते कहते मेहमान एकदम चुप हो गया। हम बेजान एक दूसरे को निरन्तर देखने लगे। हमारी स्थिति ऐसी हो गई मानों साँप सूँघ गया हो।

उसने पुनः कहना आरम्भ किया। "मैं फिर अपने पुराने आरमाँड स्ट्रीट वाले कमरे में पहुँचा और दीवार के चेहरे के अब तक के परिवर्तनों को जाँचने लगा, जिसके साथ एक अमेरीकन की रहस्यमय जिन्दगी का निकटतम सम्बन्ध था। मैंने उस अमेरीकन के विषय में अधिक जानने के लिये पीट्सबर्ग बहुतों के लिये पत्र लिखा। आरमाँड वाल के लिये भी लिखा। अमेरीकन समाचार-पत्रों के सम्पादकों से पत्र-व्यवहार कर छानबीन की। लन्दन में अमेरीकन सोसाइटी की स्थापना की—पर मुझे केवल इतना ही पता लग सका कि वह एक करोड़पति है और उसके माँ बाप अँगरेज हैं जो लन्दन में रह चुके हैं। परन्तु कहाँ? इस प्रकार का उत्तर मुझे न मिल सका।

"इसी तरह समय बीतता चला गया। कल सुबह जब कि मैं अत्यधिक थका होने के कारण देर में उठा तो देखता हूँ कि सूरज अत्यधिक चढ़ आया है और उसकी किरणें कमरे को प्रकाशित कर रही हैं। अपनी आदत के अनुसार मेरी दृष्टि सर्वप्रथम दीवार की आकृति की ओर गई। मैं एकदम घबरा उठा जब मैंने देखा कि कि वह आकृति आज अत्यधिक धुँधली है। कल रात तो वह इतनी स्पष्ट थी मानों बात करने के लिए होंठ फड़काना चाहती हो। मैं परेशान होकर बिस्तरे से उठा। समाचार-पत्र का प्रातःकालीन संस्करण आ चुका था। मेरी नजरें एक दम इस समाचार पर पड़ गई।" अमेरीकन करोड़पति मोटर दुर्घटना में।' शायद आप लोगों ने भी उसे पढ़ा होगा। वह इस प्रकार था—मिस्टर आरमांड वाल (डीवार) पीट्सबर्ग के करोड़पति तथा अन्य साथी जो मोटर द्वारा स्थिजिया से पीसा जा रहे थे एक छकड़े से टकरा जाने पर घायल हो गये हैं और मिस्टर वाल (डीवार) की स्थिति अत्यधिक चिंताजनक है।

"पुनः मैं अपने कमरे में जाकर दीवार के चेहरे को देखने लगा और मेरे आश्चर्य का

ठिकाना न रहा जब कि वह मेरे देखते देखते अचानक गायब हो गया।

"बाद में मुझेपता चला कि मिस्टर वाल (डीवार) की मृत्यु उपरिवर्णित घटना से हो गई है।"

पुनः वह विचित्र कथावाचक अचानक चुप हो गया। मुख से अचानक एक साथ निकला, "वास्तव में आश्चर्यमय।" "लेकिन इससे क्या मतलब निकला महाशय।"

"मतलब! मतलब के बारे में पूछते हैं आप लोग? तो सुनिये—इससे तीन मतलब निकलते हैं। पहिला यह कि लन्दन की एक स्ट्रीट के कमरे में पीट्सबर्ग जैसे दूर देश के नगरवासी की आकृति का दीवाल पर बन जाना और उस अमेरीकन के जीवन के साथ दीवार के चेहरे का निकटतम सम्बन्ध, यह एक ऐसी विचित्र घटना है जो सबको आश्चर्यमय अवश्य लगेगी परन्तु मेरे विश्वास में विज्ञान एक दिन अवश्यमेव इस समस्या का निदान ढूँढ़ लेगा।"

"कैसे महाशय? डैवेन क्लब के एक मेम्बर ने प्रश्न किया। 'साधारण सी बात है।' वह बोला। "क्या विज्ञान की उस प्रगति को आप लोग नहीं समझ रहे हैं जो दर्शन और विज्ञान के सम्मिश्रण के जीवन की प्रत्येक गहराई को ढूँढ़ निकालना चाहती है। मनोविज्ञान जो मस्तिष्क की हलचलों से सम्बन्धित है, क्या विज्ञान का एक बहुत बड़ा अंग नहीं? क्या आपने नहीं सुना कि भारतवर्ष के ऋषि मुनि, सांस खींचकर आकाश में उड़ा करते थे और जमीन के भीतर गढ़ों में बन्द वर्षों कब्र के मुर्दों की तरह पड़े रहते थे। क्या आज के वैज्ञानिक के लिए यह समस्यायें सुलझाने के लिए हैं। जब यह सब हो सकता है तो इस कहानी को आप असम्भव किस दृष्टि में मान सकते हैं? कहिये आप लोगों के पास क्या उत्तर है?"

सब चुप रहे। पत्थर की मूर्ति की तरह सब सन्न थे। हमारे सबके मुखों पर एकबारगी दृष्टि दौड़ाकर वह पुनः कहने लगा। "और इसका उत्तर आपके चेहरे स्वयं दे रहे हैं। जो मानसिक आन्दोलन मेरे इन शब्दों से ज्वार की भाँति आप लोगों के मस्तिष्कों में उठा होगा, क्या विज्ञान उस मानसिक ज्वार-भाटे के लिए जवाब नहीं देगा? हाँ! दूसरी बात कहानी के विषय में यह है कि पीट्सबर्ग के उस महोदय के नाम और लन्दन की उस गली के नाम में सामञ्जस्य होने का आश्चर्य।"

वह एक दम पुनः कहते-कहते चुप हो गया। हमें उसकी बातों से सहमत होना पड़ा। हमारी दशा खराब थी। हम इतना चकित हो गये थे कि मानो हम इन्सान से शिला बन गये हों और हमारी नाड़ियों का रक्त किसी ने चूस लिया हो। इतने में ही वह विचित्र मेहमान उठकर द्वार तक पहुँच गया। उसे जाते देखकर स्पैन्टन ने साहस बटोर कर पूछा। "क्यों साहब? वह तीसरी बात भी कहते जाइये।"

वह चलते-चलते बोला, "क्षमा कीजियेगा। मैं कहना भूल गया था। वह तीसरी बात है कि... कि...वह कुछ रुक कर बोला। "मैंने अभी-अभी आध घंटे पहिले इस कहानी को पढ़ा है।" वह वायु के झोंके की तरह द्वार से बाहर हो गया।

'ओह! मार डाला।' मेरे मुख से निकला। मैं अब भी काँप रहा था। 'जहरीला सांप।' दूसरे ने लड़खड़ाती वाणी में कहा।

'हिप्नाटिस्ट!' तीसरे ने कहा।

छायानुवादक श्री रामरत्न बड़ोला

दक्षिण भारत का भूबंध

ले० जगपति चतुर्वेदी

हमारे देश में भी दक्षिण भारत में आज से ६-७ करोड़ वर्ष पूर्व ज्वालामुखी का इतना अधिक उभाड़ हुआ था कि लाखो वर्ग मील भूमि उसके लावा से ढक गई। उसी की कथा इस लेख में दी गई है।

दक्षिणी भारत के जिस भू-भाग पर ज्वालामुखीय प्रभाव की विस्तृत तहें फैलकर धरातल का निर्माण करती हैं, उसे दक्षिणी भारत का भूबंध (डेकेन ट्रैप) नाम दिया गया है। दक्षिणी भारत के पठार का उत्तर-पश्चिमी भाग इस रूप का पाया जाता है। इसके तल या ज्वालामुखीय उभाड़ों की तह का निर्माण-काल भूगर्भ विज्ञान के इतिहास में तृतीयक युग (टर्टियरी) का प्रारम्भ है जो आज से ६ या ७ करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ होगा। इसी युग का प्रथम खंड इओसीन काल कहलाता है। इस युग के प्रारंभ में संसार में कैसी उथल-पुथल रही होगी, क्या अवस्था रही होगी, इसका चित्रण स्वर्गीय डा० बीरबल साहनी ने अपने १६४० ई० के विज्ञान काँग्रेस, मद्रास के भाषण में निम्न रूप से किया था :—

"प्रामाणिक विद्वान तृतीयक युग का प्रारंभ ६ या ७ करोड़ वर्ष पूर्व बतलाते हैं। यह बहुत ही यथार्थ अर्थ में एक नए युग का जन्म है। महा-विकराल शक्तियाँ, धरती की कोख में विलोड़ित होकर धरती की पपड़ी में विशाल भू-विदीर्णता उत्पन्न कर चुकी थीं। और ये विदीर्णताएँ समुद्र तल में मुख विस्फारित कर रही थीं। पपड़ी के अन्य छोटे भूविस्फारणों (फिशर) से लावा की पुनर्वार बाढ़ रूप में पिघला पत्थर उभड़ रहा था जो लाखों वर्ग मील भूमि और समुद्र को घेर सका होगा। ज्वालामुखीय चूर्ण की वर्षा से विस्तृत भूमि अनुर्वर हो रही थी। उच्च ज्वालामुखीय पठार की मुख्य विशेषता रखकर एक नया भूतल निर्मित हो रहा था। भूतल का रूप वेग से परिवर्तित हो रहा था, वह वनस्पतियों का एक विशेष आधुनिक परिधान धारण करने लगा। सरिताएँ, तड़ाग तथा स्थल हम लोगों से अधिक परिचित रूप के जन्तुओं से आकीर्ण होने लगे। फिर भी उस समय मनुष्य का कहीं पता नहीं था। इस हलचल-पूर्ण काल से समुद्र के मध्य से महानतम पर्वत-श्रेणियों के जन्म होने का आभास मिलता था और भारत के उत्तर में कहीं धरती की विक्षुब्ध कोख मनुष्य का आदि जन्म-स्थल होने वाली थी।

"इस प्रकार का इओसीन काल था—यह यथार्थतः नवयुग का उषाकाल था।"

दक्षिण भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग जहाँ ज्वालामुखीय प्रभाव से इस युग की रचना बनकर दक्षिण-भारतीय भूबंध नाम से ज्ञात है, वहाँ पठार के पूर्वी और दक्षिणी भाग उस पुरातन युग की रचना हैं जिसे धरातल का आदि निर्माण-काल कहा जा सकता है और उसकी आयु एक अरब वर्ष से भी पूर्व की होगी। इन वातावरणों का स्मरण कर डा० साहनी ने दक्षिणी भूबंध की विशद चर्चा करने का जो प्रयत्न किया है, वह

विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने भाषण में कहा था :—

"दक्षिण-भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी और दक्षिणी भाग अधिकांशतः बहुत ही अधिक प्राचीन काल की शिलाओं से निर्मित हैं। यथार्थतः ऐसी शिलाएँ ही महाद्वीपों के भूखंड की आधार-भूमि निर्मित करती हैं।

"दक्षिणी पठार के मध्य और पश्चिमी भाग का दृश्य बिल्कुल दूसरा ही है।......अनेक स्थलों पर नवीनतर चट्टानें पुरातन आधार के तल-भंजित तल पर आधारित मिलती हैं......बहुत दिनों की निस्तब्धता के पश्चात् धरती के अंतर्भाग से फट पड़ी हुई ज्वालामुखीय शक्ति लावा की बाढ़ रूप में इतने विकराल रूप में उभड़ी जितनी न तो कभी भूतकाल में ही दिखाई पड़ी थी और न उसके पश्चात् ही दिखाई पड़ी।

"इस काँग्रेस के जिन प्रतिनिधियों ने उत्तर से बम्बई या नागपुर होकर यात्रा की होगी उन्होंने अवश्य ही लंबी नीची चपटे शिखर की पहाड़ियाँ देखी होंगी जो देश के उस भाग के अधिकांश खंड के दृश्य का मुख्य भाग बनाती हैं जो नर्मदा और ताप्ती नदियों तथा गोदावरी और कृष्ण के ऊपरी स्रोतों द्वारा प्रस्रवित होती है। इस रूप का ही दृश्य काठियावाड़ तथा कच्छ तक प्रसारित है। और कम से कम नर्मदा के उत्तर २०० मील तक विस्तृत है। बम्बई से पूना जाने वाली रेलवे लाइन पश्चिमी घाट को पार करते हुए भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर अवस्थित टीलों की एक शृंखला में कटी हुई घाटियों के मध्य से होकर जाती है, जो एक विशाल सीढ़ी के अवशिष्ट भाग समान हैं। ये टीले उस लावा की क्रमागत तहों के खुले तल हैं जो कुछ अवधियों के अंतर से रह-रहकर उभड़ी थीं जो कई सहस्रों वर्ष तक फैली घटना होगी तथा जो पश्चिमी तट पर ६ से १० हजार फीट तक मोटी बन सकी थी।

"यहाँ विस्यूवियस की भाँति के ज्वालामुखी नहीं थे। साधारणतया धरती के विदीर्ण तल से चुपचाप ही लावा उभड़ रहा था। किन्तु ये विदीर्ण तल सैकड़ों गज चौड़े और देश में मीलों तक फैले थे, उनके दाएँ-बाएँ ओर टेढ़े-मेढ़े दरार भी शाखा रूप फटे पड़े थे जिन सब में लावा के दहकते रूप उमड़ रहे थे। भड़ोंच के निकट राजपिपला पहाड़ी, कच्छ तथा काठियावाड़ तथा पश्चिमी भारत के कुछ अन्य भागों में इन पुराने विदीर्ण तलों में से कुछ अब भी पहचाने जा सकते हैं, जिनके भीतर लावा जमी हुई भित्ति रूप में पाया जाता है।

लौह की प्रचुरता से दक्षिणी भारत के लावा में ऐसी तरलता होती थी कि वह विलम्ब से जमता था। वह लगभग पानी की ही भाँति प्रवाहित होता था तथा स्थल खंड के खड्डों को भर देता और शीघ्रतापूर्वक धरातल पर चादर की भाँति मीलों तक फैल जाता, तब कहीं जम पाता जिसे हम बसाल्ट या भूबंधीय शिला नाम देते हैं। अपनी प्रलयंकरी यात्रा में यह दहकती बाढ़ भूमि को झुलसा देती और धरातल की सब हरियाली उदरस्थ कर लेती। स्वयं धरती ही अग्निमय बन गई थी।

"सरोवर तथा वापियाँ जल-तल के ऊपर लावा प्रवहमान होने से उबल उठती थीं। जहाँ-तहाँ किसी जल-धारा का वेग अवरुद्ध हो जाता और उसका जल एक अस्थायी जलाशय में परिवर्तित हो जाता। फिर यह कोई नया मार्ग पाकर या बनाकर किसी नई दिशा में प्रवाहित हो जाता अथवा दूसरे उभाड़ में अग्नि के प्रकोप से इसका भी अन्त हो जाता। बड़ी-बड़ी नदियाँ इतना शीघ्र अपना मार्ग अवरुद्ध न पाकर अपने पुराने मार्ग पर प्रवाहित होती रहतीं। कोई लावा की तह मार्ग में जम गई होती तो उसे काट कर वे अपना मार्ग बना लेतीं। किन्तु उभाड़ होने जारी रहे, स्थान-स्थान पर समय-समय पर होते ही रह कर

बड़े विस्तृत क्षेत्र में फैल सके। मूल रूप में कदाचित् १० लाख वर्ग मील तक राजमहेन्द्री से कच्छ तक तथा धारवार के निकट से झाँसी तक फैले थे। पिछले लावा की तह के ऊपर तह जमती, तथा पठार की पुरानी नींव सहस्रों फीट नीचे पड़ गई। करोड़ों वर्ष के तल-भंजन के पश्चात् भी दक्षिण भारत के भूबन्ध का विस्तार आज दो लाख वर्गमील है।

"आप नागपुर से बम्बई की ६०० मील दूर की यात्रा ज्वालामुखी शिला पर से अपना पग हटाये बिना ही कर सकते हैं।.........

"यह कहना कठिन है कि दक्षिण भारतीय भूबन्ध के विस्तृत क्षेत्र में पहले आग्नेय प्रक्रिया का कहाँ प्रारम्भ हुआ। नागपुर छिंदवाड़ा क्षेत्र के लावा अवश्य ही सबसे प्रथम उभाड़ के परिणाम होंगे और जहाँ तक हमारा आधुनिक ज्ञान है, इस शृङ्खला की सबसे अधिक ऊँचाई का उभाड़ मलावार पहाड़ी और बोर्ली में बंबई नगर में पाया जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उभाड़ दक्षिणी भारत के पूर्वी भाग से प्रारम्भ होकर पश्चिम की ओर बढ़ा किन्तु इसे हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। यह प्रकट करने वाली कोई वस्तु नहीं है कि उभाड़ का प्रारम्भ अनेक स्थानों पर दूर-दूर एक ही समय प्रारम्भ नहीं हुआ।

"लावा की धारा मुटाई में कुछ फीटों से लेकर सौ फीट तक की विभिन्न रूप की पाई जाती है। एक धारा के ऊपर जब दूसरी धारा जम जाती थी तो वह पुराने विदीर्ण तल को भर देती थी। बाद में होने वाले उभाड़ को इस नई पूरी तह को तोड़-फोड़ कर ऊपर आना पड़ता था। बड़ा ही भीषण उभाड़ होता था। एक नया विदीर्ण तल उत्पन्न होता अथवा पुराना विदीर्ण तल ही अधिक विस्फारित हो जाता। इस मृत्यु-मुख में बिजली की भयानक कौंध उठ पड़ती। आग बरस पड़ती, धुएँ, और ज्वालामुखी चूर्ण का उभाड़ मीलों ऊपर आकाश में हो जाता मानों आकाश पर ही आक्रमण हो।

चूर्ण फिर नीचे आता, विदीर्ण तल के चारों ओर प्रज्वलित लावा की तह पर बरस पड़ता। कदाचित् उससे कहीं इधर, कहीं उधर कोई टीला बन जाता अथवा भूतल की हरियाली के ऊपर ही इसकी तह उसे झुलसा कर बिछ जाती। पश्चिमी भारत में ज्वालामुखीय चूर्ण की अनेक तहें भरी हैं। उदाहरणार्थ पूना तथा महाबलेश्वर में ऐसी तहें विद्यमान हैं। यहाँ पर अवश्य ही उभाड़ केन्द्र रहे होंगे।"

रक्त-प्रवाह और हृदय की क्रिया

श्री बागेश्वरी सिंह परिहार

मानव-शरीर के रक्त-प्रवाह की क्रिया तथा खोज का वर्णन लेखक ने सुबोध रूप में करने का प्रयत्न किया है। छात्रों तथा सर्वसाधारण की जानकारी के लिए लेख उपादेय है।

मानव समग्र विश्व की नवीनतम रचनाओं तथा अनुसन्धानों का सम्राट है। मनुष्य भी एक प्रकार का जन्तु है जिसमें मस्तिष्क की मात्रा अधिक होती है जिससे वह अन्य के अपेक्षाकृत अधिक सोच व समझ सकता है। जीव शास्त्र के ज्ञाता मनुष्य को सबसे अधिक विकसित स्तनीय जीव कहते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य मेरुदण्ड सहित वह जीव है जो अपने बच्चों को दूध पिलाता है और वाह्य आपत्तियों से अधिक चतुराई के साथ बचाता है। वास्तव में मनुष्य के किसी अंग में कोई विशेष नूतनता नहीं आने पाई है, प्रत्युत उसे अन्य जन्तुओं की अपेक्षा प्रकृति और वातावरण पर अधिक अधिकार है।

समस्त पादप तथा जन्तु आदि के शरीर अगणित कोशों (Cells) के सम्मेलन से बने हैं। मानव-शरीर भी इसी प्रकार के तीन सौ पचास करोड़ (३५० करोड़) कोशों से मिलकर बना है। यदि इतने बड़े लोथड़े को भली भाँति सवारने या जोड़ों को ठीक बनाये रखने, या विभिन्न अंगों के विभिन्न पदार्थ (तत्व), न प्रदान किये गये होते तो बिचारा मनुष्य भी जेली मछली ही की भाँति एक असहाय जीव होता।

साधारणतया प्रकृति ने शरीर में प्रत्येक चीज ठीक बनाये रखने के लिये बहुत सी क्रियाओं का प्रबन्ध किया है। शरीर में बल देने के लिये पाचन क्रिया (Digestive System), नव-जीवन संचार तथा रक्त शुद्ध करने के लिये श्वास-क्रिया (Respiratory System), गंदगी सोखने और यातायात का सम्बन्ध बनाये रखने के लिये प्रवाहन क्रिया (Circulatory System), आदि कितनी ही क्रियायें मिल कर शरीर को ठीक रखती हैं।

रक्त-प्रवाहन की क्रिया का अनुसन्धान सर्वप्रथम विलियम हारवे (१५७८-१६५७) ने किया। इसी कारणवश चिकित्सा में एक नूतनयुग का आविर्भाव हुआ। पहले यह विश्वास किया जाता था कि नलियों में हवा रहती है, क्योंकि प्रयोगात्मक रूप से मुर्दों को ही देखा गया था। फिर पता लगा कि खून नलियों में यों ही आगे-पीछे घूमा करता है। तदुपरान्त हारवे ने यह सिद्ध किया कि वही रक्त बार बार नलियों में घूमता है और फेफड़ों से शुद्ध हो आया करता है। विज्ञान-जगत को उस समय यह बिल्कुल ही एक नवीन खोज हारवे ने दी।

रक्तः—रक्त-प्रवाहन् के विषय में कुछ जानने या बतलाने के पूर्व हमें रक्त के विषय में सूक्ष्म ज्ञान हो जाना चाहिये।

हमारा रक्त रंगविहीन तरल पदार्थ है। इस

खून के पानी को रक्तवारि (Plasma) कहते हैं। अनुमान किया जाता है कि इसमें लगभग ८०% जल ही होता है। कई प्रकार के घोलों के साथ रक्त में असंख्य सूक्ष्म ठोस अणु तैरा करते हैं जिसे रक्ताणु (Blood Corpuscles) कहते हैं। रक्ताणु दो प्रकार के होते हैं—लाल और श्वेत।
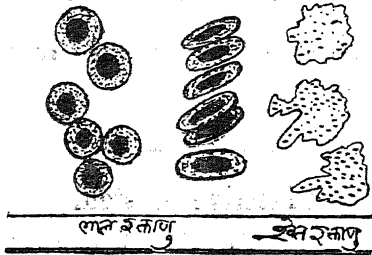
चित्र नं० १

रक्ताणु गोल-गोल ठोस कण होते हैं जो दोनों ओर से कुछ पिचके होते हैं। यह सूक्ष्मकण एक वर्ग इन्च की जगह में लगभग दस करोड़ की संख्या में आ सकते हैं। नग्न दृष्टि से यह नहीं दीख पड़ते। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर प्रत्येक कण कुछ पीलापन लिये हुए दिखाई पड़ता है किन्तु सामूहिक रूप में रंग लाल ही होता है। इसी कारण रक्त लाल ही रंग का दिखाई पड़ता है।

श्वेत रक्ताणुओं का कोई खास आकार नहीं होता है। अमीबा की भाँति यह अपने को तथा अपने आकार को निरन्तर बदला करते हैं, यहां तक कि अपने अपने को दबाकर पतली नलियों से होकर चले जाते हैं। यह बीमारी के छोटे कीड़ों को खा डालते हैं। इनकी संख्या शरीर में लाल रक्ताणुओं की अपेक्षा बहुत कम है।

आन्तरिक भागों के तन्तुओं और कोशों तक आक्सीजन ले जाकर पोषक पदार्थ दे आना, कार्बन डाय आक्साइड के साथ अन्य विकारों को ले आना, खून का प्रमुख कार्य है। नसों द्वारा रक्त फेफड़े तक आता है और वह साँस की आक्सीजन सहित शुद्ध वायु के सम्पर्क में भी आ जाता है। लाल रक्ताणु में हीमोग्लोबीन होती है जो आक्सीजन को अपने में मिला लेती है। जैसे जैसे रक्त विविध अंगों में पहुँचता है हीमोग्लोबीन के साथ मिली हुई आक्सीजन को कोशों के तन्तुओं में छोड़ता जाता है। इस प्रकार आक्सीहीमोग्लोबीन बन जाता है। यही कार्य सदा चालू रहता है।

हमारे श्वेत रक्ताणु बाहरी विकारों और कीड़ों को चारों तरफ से लिपट कर सोख लेते लेते हैं। इस प्रकार बीमारियों से भरसक बचाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। जब नहीं सोख पाते तो शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।

इन रक्ताणुओं में जमाव की शक्ति होती है। जब कहीं घाव होता है या चोट लग जाती है तब भी यही सहायता देते हैं। चोट के मुँह पर आकर जम जाते हैं और इस प्रकार रक्त का बहना बन्द हो जाता है। कभी कभी तो खून का पूरा थक्का बन जाता है। यदि वह न हो तो चोट लगने पर शरीर का सारा खून ही बह जाय और मृत्यु ही हो जाय।

रक्त-प्रवाह :—रक्त-परिभ्रमण की क्रिया जानने के लिये कुछ विस्तार में तो आना है, किन्तु यह कठिनाई दिये गये चित्रों से कम हो जायेगी।

रक्त शरीर में सदैव चक्कर लगाया करता है। इस क्रिया को रक्त-संचालन या रक्त-परिभ्रमण या रक्त-प्रवाह कहते हैं। इस क्रिया के होने में सबसे महत्वपूर्ण कार्य हृदय का होता है। हृदय से निकलती या गिरती हुई बहुत सी रक्त की नलियां (शिरायें और धमनियां) होती हैं जिनका केशिकाओं (Capillaries) के रूप में सारे शरीर में जाल सा बिछा रहता है। सिकुड़ कर हृदय खून बाहर निकाल देता है तथा प्रमुख धमनियों द्वारा विभिन्न भाग में रक्त पहुँच जाता है। जाते समय खून लाल तथा पोषक पदार्थों से भरा रहता है। किन्तु आते समय शरीर के

विकारों के कारण मैलालाल और अशुद्ध हो जाता है। गंदा खून फिर फेफड़े में साफ होकर दुबारा चक्कर लगाने के लिए तैयार हो जाता है। साधारणतया, इस क्रिया को हम नगर के पानी आने के प्रबन्ध से तुलना कर सकते हैं। पम्पिंग स्टेशन की भांति हमारा हृदय कार्य करता

चित्र नं० २ (रक्त-प्रवाह)

है। जिस प्रकार नगर के प्रत्येक घर में पानी की पाइप लगी रहती है उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग में खून की नलियां रहती हैं। इसे हम चित्र से भलीभांति देख सकते हैं। इस प्रकार यह क्रिया सदैव चला करती हैं तथा हृदय सदैव धड़कता रहता है। इस क्रिया का अन्त तो मृत्यु ही के साथ हो सकता है।

हृदय की बनावट :—रक्त-प्रवाहन की क्रिया का प्रभाव वाहक हृदय ही होता है। समस्त बहाव इसी पर निर्भर है। इसे कुछ लोग "रुधिर मांसल पम्प" (muscular blood pump) कहते हैं जिसके कारण रुधिर और रक्ताणु सदैव आगे बढ़ा करते हैं तथा रक्त-प्रवाहन की क्रिया पूरी होती रहती है। प्रथम दृष्टि से तो हृदय मांस का एक लोथड़ा मात्र ही लगता है जो स्वाधीन
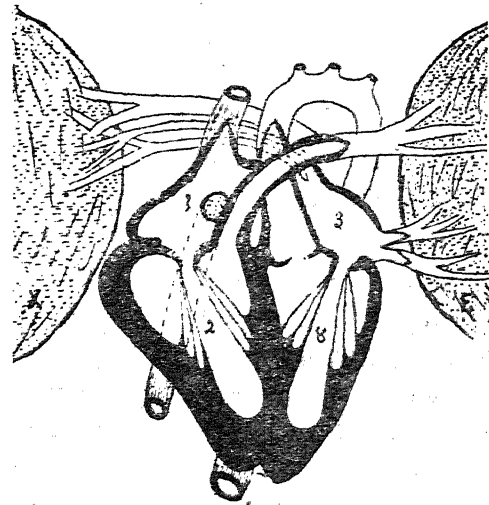
चित्र नं० ३

"हृदय की आन्तरिक बनावट"

१ और ३=दाहिने तथा बायें ग्राहक कोष्ट
२ और ४= ,, ,, ,, क्षेपक कोष्ट
५ और ६=दोनों ओर के फेफड़े

पेशियों (involuntary muscles) के सम्मिलन से बना है। मनुष्य के हृदय का आकार लगभग बन्द मुट्ठी का सा ही होता है। हृदय एक सौत्रिक तन्तु (fibrous tissue) की बनी थैली में पड़ा रहता है। इसे हृदय का आवरण ही कह सकते हैं। भीतर यह दो असमान (दायें-बायें) भागों

में एक मांस की दीवाल के द्वारा विभाजित रहता है। इसमें से प्रत्येक विभाजित टुकड़ा भी दो भाग में (एक बड़ा, एक छोटा) बँटा रहता है। इस प्रकार खोखले हृदय के भीतर चार कोठरियाँ पाई जाती हैं। ऊपर छोटे और निचले बड़े भागों को क्रमशः ग्राहक कोष्ट (auricle) और क्षेपक कोष्ट (Ventricle) कहते हैं। दोनों ऊपर ग्राहक कोष्टों में खून आने के लिये छिद्र रहता है जिसमें कपाट (Valve) लगे रहते हैं। यह कपाट रक्त को लौटाने से रोकते हैं। कपाटों के प्रबन्ध सहित एक छिद्र ग्राहक और क्षेपक कोष्ट के बीच में होता है। इस कपाट के कारण रक्त केवल ग्राहक से क्षेपक कोष्ट ही में आ सकता है, लौट कर ऊपर नहीं जा सकता।

दोनों निचले क्षेपक कोष्ट में सूक्ष्म छिद्र रक्त को धमनियों द्वारा बाहर निकालने के लिये होते हैं। दांये ओर का रक्त फेफड़े में सफाई के लिए और बांये ओर का रक्त सारे शरीर में धमनियों द्वारा भेज दिया जाता है। इसमें से सबसे प्रमुख धमनी को (Aorta) अओरटा कहते हैं। फेफड़े में जाने वाली धमनी के मुँह पर चक्करदार तिकोना कपाट लगा रहता है जिससे उल्टा बहाव नहीं होने पाता। ऐसे कपाटों का प्रयोग सबसे पहले हारवे ने बताया था। इस प्रकार रक्त का बहाव सदैव दाहिने ग्राहक से दाहिने क्षेपक और फिर फेफड़े में बाँये ग्राहक से बांये क्षेपक और निदान यहाँ से प्रमुख धमनियों द्वारा सारे शरीर भर में पहुँच जाता है।

हृदय की क्रिया:—हम जब कहते हैं कि हृदय में धड़कन हो रही है तो इसका तात्पर्य यह कि मांस की दीवालें सिकुड़ कर समीप आने की चेष्टा करती हैं। सिकुड़न का आरम्भ ग्राहक कोष्ट से ही होता है। भीतर दबाव पड़ने के कारण ग्राहक का खून उतर कर क्षेपक में चला आता है। यह सिकुड़न आगे बढ़ती आती है और क्षेपक कोष्ट भी सिकुड़ने लगता है। कपाट के कारण उल्टा तो हो नहीं सकता, अवशेष मार्ग धमनियों की ओर ही खून चढ़ने लगता है। इस प्रकार खून फेफड़े या शरीर में पहुँचने लगता है।

दोनों ग्राहक कोष्टों में सिकुड़न लगभग एक ही समय होती है। उसके बाद सारा हृदय ४/१० सेकेन्ड तक विश्राम करता है जिससे ग्राहक कोष्ट में शिराओं द्वारा फिर रक्त भर जाय। इसके बाद फिर सिकुड़न होती है और यही गति जीवन पर्यन्त तक रहती है।

नसों में भी खून को आगे बढ़ने के लिये उसी प्रकार से सिकुड़न हुआ करती है तथा इसकी गति बिल्कुल हृदय के बराबर होती है। इसी कारण तो हाथ की नाड़ी पकड़ने से हृदय की गति का अनुमान लगाया जाता है। नसों के भीतर भी कपाट का प्रबन्ध है जैसा चित्र में दिखाया गया है। यहाँ भी उल्टा बहाव इसी से रोका जाता है। इस प्रकार खून सारे शरीर में दौड़कर कुछ गंदला हो जाता है। इसकी सफाई फेफड़े में होती है जैसा हम पहले लिख चुके हैं। यही खून बार बार चक्कर लगाया करता है तथा गदला होकर बार बार साफ हुआ करता है। यह चक्कर चलता ही रहता है।

धमनियां और शिरायें कई भागों में आगे विभाजित होती रहती हैं और यहाँ तक कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म नसें सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी नहीं दिखाई पड़तीं। विलियम हारवे को भी नहीं दिखाई दिया था। उन्होंने केवल आगे के लिए कल्पना ही की थी कि नलियां शिराओं में विभाजित होकर फिर जुड़कर एक होकर मिल जाती हैं जैसा चित्र में है। यह हारवे की सुन्दर कल्पना सत्य ही हुई।

यह सारी क्रिया अपने आप हुआ करती है। प्रकृति के इन सब पर कुछ विचित्र नियम हैं तथा समग्र चेतन जगत उसी पर निर्भर है।

भारत में फल तथा वनस्पति-संरक्षण उद्योग का विकास

श्री जगदीश चन्द्र आनन्द

केन्द्रीय खाद्यशिल्प अनुसंधानशाला के एक शोधक द्वारा लिखित यह लेख प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठकों को सामयिक तथा एक उपयोगी विषय पर लेखक की यह रचना रुचिकर लगेगी।

सब से पहले नेपोलियन बोनापार्ट ने अपनी युद्ध सम्बन्धी यात्राओं में यह अनुभव किया था कि सेना की सफलता के लिए खाद्य-सामग्री का गोला-बारूद से कोई कम महत्त्व नहीं। यह सामग्री ऐसे संरक्षित रूप में ही होनी चाहिए जो चिरकाल तक पड़ी रहने से खराब न हो सके तथा सुगमता से प्रयोग में लाई जा सके। नेपोलियन की प्रार्थना पर फ्रांस सरकार ने यह घोषणा की कि जो व्यक्ति नेपोलियन की पैदल तथा जल सेना के लिए भोजन-संरक्षण की ठीक विधि का आविष्कार करेगा उसे बारह हजार फ्रांक्स का पुरस्कार दिया जायेगा। NICHOLS APPERT ने सन् १८१० में, "कई सालों तक पशु मांस, तथा वनस्पति संरक्षण की विधि," नाम की पुस्तक लिख कर यह पुरस्कार प्राप्त किया। एक प्रकार से यह पहला व्यक्ति था जिसने इस विज्ञान का श्रीगणेश किया। इस प्रकार एक दूसरे फ्रांसीसी वैज्ञानिक LOUIS PASTEUR लूइस पासचूर ने भी अपनी खोज से इस खाद्य-संरक्षण उद्योग का काफी विकास किया और इन्हीं आविष्कारों के कारण हम आज हर प्रकार के फल डिब्बों तथा बोतलों में खरीद कर उनका आनन्द ले सकते है। इस कारण हम न वैज्ञानिकों के प्रति आभारी है।

भारत में अचार, चटनी तथा मुरब्बे चिरकाल से घर २ में बनते तथा उपयोग में लाए जाते रहे हैं। परन्तु उनका औद्योगिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं था। यहां पर फल तथा वनस्पति उद्योग अभी तक आरम्भिक अवस्था में ही है। वास्तव में इस उद्योग का आरम्भ १०० साल हुए बंगाल में हुआ था। उस समय के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विदेशी कर्मचारियों को अचार तथा मुरब्बे इतने स्वादिष्ट लगे कि वे अपने स्वदेश को लौटते समय भारत के इन चटपटे पदार्थों को अपने सम्बन्धियों के लिए उपहार के रूप में ले जाते थे। इससे कुछ व्यक्तियों को बंगाल में आचार मुरब्बे बड़ी मात्रा में बनाने का प्रोत्साहन मिला।

दूसरे महायुद्ध से पूर्व फल-संरक्षण का थोड़ा बहुत काम होता रहा और डिब्बों में फल, जैम जैली तथा सक्वैश भारत में बनते रहे। इस युद्ध के आरम्भ हो जाने पर विदेशी सैनिकों के लिए, दूसरे देशों से इन संरक्षित फल तथा वनस्पति पदार्थों का, जहाज में स्थान कम होने के कारण, लाना कठिन हो गया जिससे सेना के आहार की सारी आवश्यकताएं, भारत से ही पूरी की जाने लगीं। खाद्य सम्बन्धी सैनिक आवश्यकताओं के लिए बड़े बड़े ठेके भारतीय फर्मों को ही मिलने लगे। इस से भारत में इस उद्योग का बहुत विकास हुआ और भारत में हर प्रकार के फल तथा

वनस्पतियाँ डिब्बों में बन्द होने लगीं तथा सुखाई जाने लगीं। साथ ही सक्वैश, कार्डियल, जैली, ममिलेड, चटनी तथा ऐसे दूसरे पदार्थ बड़ी मात्रा में बनने लगे। परन्तु युद्ध समाप्ति पर सैनिक आवश्यकताएँ कम होने लगीं तथा बाहर से ऐसा माल सस्ता मिल जाने के कारण इस उद्योग की गति फिर मंद पड़ गई। इसके साथ ही देश के विभाजन से सीमाप्रान्त तथा बिलोचिस्तान जैसे प्रदेश भारत से कट गए। इन प्रदेशों में डिब्बों में बन्द किए जाने वाले फलों की अधिकता थी। भारत में बहुमूल्य फलों का जैसे आड़ू, खुरमानी, अंगूर व अनार आदि का सर्वथा अभाव हो गया है।

सैनिक खाद्य सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में इस उद्योग का श्रेष्ठ स्थान है। सुरक्षित फल तथा वनस्पतियों का लम्बी यात्राओं में, वायुयान में, बड़े बड़े सहभोजों तथा ब्याह शादियों में भी कोई कम महत्त्व नहीं। इन उपायों से न केवल भारत के ही फल, परन्तु आस्ट्रेलिया के आड़ू, कैलेफोरनिया के संगतरे, हवाई के अनानास आदि फलों का हर स्थान पर तथा हर ऋतु में आनन्द ले सकते है। इस उद्योग द्वारा अधिक फल तथा वनस्पति-उपजाऊ केन्द्रों का फल बंजर तथा पथरीली भूमि पर रहने वालों के काम आने लगा है और वह इन पदार्थों से वंचित नहीं है। इस उद्योग के विकास से अधिक फल-उपजाऊ प्रदेशों के किसानों का स्तर भी काफी ऊँचा हो गया है क्योंकि उनको अपने फलों का अनुकूल मूल्य मिलने लगा है। अन्यथा यह फल कभी मंडी में इतनी मात्रा में आ जाते कि उनको मिट्टी के मोल भी कोई नहीं उठाता था। इसके अलावा हमारे बढ़ते हुए स्तर के लिए तथा शहरों में स्त्रियों के दूसरे उद्योगों में काम करने के लिए यह आवश्यक है कि रसोई की आवश्यकताएँ घर से निकाल कर औद्योगिक केन्द्रों से पूरी की जाए।

परन्तु इस समय इस उद्योग की अवस्था कोई उत्साहपूर्ण नहीं है और इस के भी कारण हैं:—

(१) दूसरे देशों के माल के साथ मुकाबला।

(२) इस उद्योग में इतना लाभ नहीं है।

(३) आज कल भारत में चीनी तथा दूसरे फलों व वनस्पतियों के अधिक भाव और भारत में अपनी आवश्यकता अनुसार डिब्बों के लिए टिन का अभाव।

भारत में कोई तीस लाख एकड़ भूमि में फलों की खेती हो रही है (तालिका १) ताजा फलों की मात्रा कोई १०० लाख टन पड़ती है जो दूसरे देशों से बहुत कम पड़ाती है। दूसरे देशों में फलों तथा सब्जियों का भाव कोई १॥ आने पौंड है परन्तु हमारे देश में लगभग ४ आने पौंड है। इसी प्रकार चीनी का भाव हमारे देश में कोई ८ आने पौंड है जब कि आस्ट्रेलिया में ३½ आने पौंड, क्यूबा में ३ आने पौंड है। इसी प्रकार फल बन्द करने वाले डिब्बों का भाव भी हमारे देश में आस्ट्रेलिया तथा इङ्गलैंड की अपेक्षा कोई तीन चार गुना है।

इन सारी कठिनाइयों के होते हुए भारत में फल-संरक्षण उद्योग कोई अधिक उन्नति नहीं कर पाया। कच्चे माल का भाव अधिक होने के कारण हम दूसरे देशों के माल के साथ मुकाबला नहीं कर सकते। भारतीय फल-संरक्षण उद्योग-पतियों की एसोसिएशन ने भारतीय टैरिफ बोर्ड (India Tarif Board) के सामने भारतीय खाद्य वस्तुओं के मूल्य की जो सूची रखी वह निम्न लिखित है।

वस्तु का का नाम	भारतीय माल			आयात वस्तु का मोल प्रति दर्जन		
	रु०	आ०	पाई	रु०	आ०	पाई
पौंड के डिब्बों में बन्द फल	१२	१०	०	६	०	०
एक पौंड " जाम	१२	४	०	६	०	०
शर्बत तथा सक्वैश	१७	६	०	६	०	०
दो पौंड के डिब्बों के बंद वनस्पति	६	०	०	३	८	०

ऊपर के आँकड़ों से प्रतीत होता है कि भारत से संरक्षित फल तथा वनस्पति का निर्यात उस समय तक असंभव है जब तक कि हम कच्चे माल के मूल्य कम न कर सकें। इन परिस्थितियों के होते हुए भी भारत में बने हुए चटनी, मुरब्बे तथा दूसरे तेल के मसालेदार अचार विदेशी मण्डियों में खूब बिकते हैं। इन पदार्थों को अच्छे आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से बना कर तथा सुरक्षित कर इनका निर्यात दुगुना तथा तिगुना किया जा सकता है। इस प्रकार दूसरे ऐसे फल जैसे आम, कैइयुएप्पल, लीची आदि जो कि केवल भारत में ही होते हैं दूसरे देशों में काफी मात्रा में बिक सकते हैं। आम का अचार तथा आम के सूखे रस की पपड़ी दूसरे देशों में काफी मात्रा में बिकती है। इन खाद्य पदार्थों के निर्यात से भारत को और अधिक दुर्लभ मुद्रा प्राप्त हो सकती है।

भारतीय सैनिकों की आवश्यकता हम अपने देश से ही पूरी करने के योग्य हो गये हैं। नमकीन पानी में डिब्बों में बन्द आलू, टमाटर, गोभी तथा पालक का साग बड़ी मात्रा में बनाये जा रहे हैं। अब तो पकी पकाई मसालेदार वनस्पतियां भी डिब्बों में भरी जाने लगी हैं। आशा है आनेवाले कुछ समय में वनस्पति उद्योग और उन्नति करेगा।

इस उद्योग के विकास के लिए अति आवश्यक है कि इसका विकास सहकारिता के आधार (Cooperative basis) पर हो। जिस किसी स्थान पर एक फल अधिक होता है उस फल से बनी वस्तुएँ उसी स्थान पर बननी चाहिये जिससे कि वहाँ के किसानों को अच्छे प्रकार के फल उगाने का प्रोत्साहन मिले। इसके अतिरिक्त इस उद्योग में काम आने वाले कच्चे माल जैसे चीनी, डिब्बे, तथा यातायात के लिये भारत सरकार को सुविधाएँ देनी चाहिये। साथ ही ग्राहक के हित को ध्यान में रखते हुए इन फलों की बनी वस्तुओं के स्तर के बारे में कड़ा नियन्त्रण रखना भी अति आवश्यक है।

भारत में फल की उपज

(क)

प्रदेश	फल-उपजाऊ भूमि का क्षेत्रफल	
उत्तर प्रदेश	१३,८६,७१४	एकड़
मद्रास	४,५८,८५३	,,
बिहार	३,२२,३५१	,,
पश्चिमी बंगाल	३,११,२७६	,,
बम्बई	६६,०४६	,,
उड़ीसा	६५,०००	,,
मध्य प्रदेश	८४,७११	,,
पंजाब (भारत)	५३,०२०	,,
आसाम	५२,५००	,,
मैसूर	७१,१०८	,,
ट्रावंकोर	५०,४१०	,,
हैदराबाद	३१,२१५	एकड़
जम्मू तथा काश्मीर	२०,०००	,,
कूर्ग	१६,५६८	,
बड़ोदा	५,४८३	,,
सिक्कम	२,७००	,,
कोचीन	२,६२०	,,
देहली	२,१४०	,,
पटयाला	२,७७०	,,
जोधपुर	३,३२१	,,
ग्वाल्यार	३६०	,,
हिमाचल प्रदेश	३५०	,,
कुल	३०,७८,८२४	एकड़

(ख) फलों के आधार पर

फल	क्षेत्रफल	
आम	२१,९२,३०८	एकड़
केला	२,४६,३९०	,,
नारंगी	१,६५.४८५	,,
अमरूद	१,०६,७०१	,,
जामन, अनार, आमला आदि	२४,०१८	एकड़
दूसरे फल	३,४०,९२२	,,
कुल	३०,७८,८२४	एकड़

भारत में फल-संरक्षण उद्योग के आँकड़े

नाम	मात्रा(पौंडों में)	मूल्य(रुपयों में)
(१) फल रसों से बने शरबत स्क्वैश कार्डियल आदि	३४,०६,२३२	२७,१४,१६५
(२)(क) जैम, जैली, मर्मलेड	६,६१,४६६	७,८६,५८६
(ख) चीनी से पगे फल	६७,३१५	१,१२,४६१
(३) डिब्बों में बन्द वनस्पतियाँ	७०,६१६	५६,६२१
(४) टमाटों कैटचप	८३,६६४	७६,९२४
(५) चटनी तथा अचार	२३,५६,६६१	१३,६५,२७७
(६) सास (Saucs)	५०,५३२	३४,३०२
(७) सिरका	४,६३,५५०	१,५७,५२५
(८) मुरब्बे	१५,८६,३२६	१०,६२,१३०
(६ सूखे तथा नमकीन फल	४२,२३५	३५,०८६
(१०) अन्य वस्तुएँ	३,१२,२८५	२,८७,१०६
कुल	६४,४४,५७१ पौंड या ४,२१६ टन	६७,५१,४८३ रुपये

इसके मुकाबले में अमरीका में सन् १६४५ में निम्नलिखित मात्रा में डिब्बों में फल तथा वनस्पतियाँ बनीं।

डिब्बों में बन्द फल १०,८४४७६ टन
,, ,, वनस्पतियाँ २१,२३,७२० ,,

भारत में सुरक्षित फल तथा वनस्पति पदार्थों की आयात

	१९४६-४७	१९४८-४९
डिब्बों में बन्द फल	३६० टन,	१३० टन
	३,६८,८६३ रुपये	१,६४,६४३ रुपये
जैम, जैली आदि पदार्थ	३७५ (टन)	१८० टन
	४,०८,५२६ रु०	२,२७,६६० रुपये

हमारी वायु-सेना

श्री सूर्य गुप्त

भारतीय वायु-सेना के जन्म और विकास की कहानी इस लेख में वर्णित है। पाठकों की जानकारी तथा मनोरंजन की सामग्री लेख में पर्याप्त है।

भारत की अपनी ही वायुसेना हो, यह विचार पहली बार सन् १९२९ में 'स्कीन कमेटी' ने भारत सरकार के सामने सिफारिश के रूप में रखा था। इससे पहले इस देश में नौ-सेना और स्थल-सेना की भाँति कोई वायु-सेना न थी। हाँ, कुछ "फलाईंग क्लब" अवश्य यहाँ जनता और सरकार को इस ओर लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उड़ने के शौकीन जो प्रायः धनी लोग ही होते थे सैकड़ों रुपये खर्च कर वायुयान चलाने का आनन्द लेते थे। इन अनेक ऐसे उड़ने वालों में श्री रामनाथ चावला का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने वायुयान का कार्य अपने खर्चे पर सीखा और लगभग १९३० में आपने कराची से लंदन की यात्रा का रिकार्ड तोड़ कर भारत के गौरव को ऊँचा उठाया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत सरकार को भी इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी कि भारत में एक सुदृढ़ वायुसेना का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उस समय की बृटिश सरकार को एक तो भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के इलाकों में कई बार ऐसी सेना की आवश्यकता पड़ती रहती थी और बृटिश "रायल एयर फोर्स" के द्वारा ही इस इलाके में कार्य लिया जाता था, दूसरे उस समय कुछ लोगों की साधारण मनोवृत्ति यह सोचने की थी कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के उत्तर में राज्य क्रांति के कारण यह बहुत दिनों तक समझा जाता रहा कि कदाचित भारत पर अकस्मात् आक्रमण हो जाय। अतएव कुछ इस भय के कारण भी यह उचित समझा गया कि भारतीयों को इस क्षेत्र में लाना उचित है और एक शक्तिशाली वायुसेना के निर्माण का बीज इस प्रकार हमारे देश में स्वभावतः पनपने लगा।

"स्कीन कमेटी" की सिफारिश के अनुसार सन् १९३३ में कराची में वायुसेना के एक छोटे से दस्ते का उद्घाटन हुआ। सन् १९३६ तक इस दस्ते ने पर्याप्त उन्नति की, भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में वायु-युद्ध सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। उसके पश्चात् यह दस्ता 'नम्बर १ स्कवाड्रन' के नाम से प्रख्यात हुआ। सितम्बर १९३९ में जब युद्ध आरम्भ हो गया तो भारतीय वायुसेना का विकास स्वाभाविक ही था क्योंकि उस समय यह सम्भावना बनी हुई थी कि कहीं सारा एशिया महाद्वीप युद्धग्रस्त न हो जाय। अतएव भारत के ३ हजार मील लम्बे समुद्र-तट को किसी भी प्रकार के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए सन् १९४० में बम्बई में पहली बार वायुसेना के तट-रक्षक दस्तों ने इस प्रकार का कार्य आरम्भ कर दिया। इन रक्षा सम्बन्धी उड़ानों में अधिकतर भारतीयों ने ही भाग लिया।

यह रक्षा का कार्य उन उड़ाकों ने किया जिन्होंने गैर सरकारी तौर पर "फलाइंग-क्लबों" में अपने ही खर्चे पर शिक्षा पाई थी। ऐसे स्वयं-सेवकों को सुसंगठित किया गया और इनकी एक अलग श्रेणी, जिसका नाम "वालंटियर रिजर्व" रखा गया, का उद्घाटन हुआ।

इस समय युद्ध बर्मा तक पहुँच गया था। वायुसेना के स्क्वाड्रन नं० १ ने विंग कमांडर, उस समय स्क्वाड्रन लीडर, के० के० मजूमदार की कमान में जापान के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की सेना की सहायता की। हमारी वायु सेना के और दस्तों ने जो कि इस समय तक बिल्कुल तैयार हो गए थे, तत्पश्चात् बर्मा युद्ध के दूसरे भाग में भाग लिया।

सन् १६४४ तक हमारी वायुसेना ठीक ढंग से एक यौद्धिक सेना बन कर तैयार हो गई थी और इसके पास नवीन हथियार और वायुयान भी उपलब्ध थे। दो दस्ते बम-वर्षक, 'डाइव बाम्बर', पाँच लड़ाकू विमान और देखभाल करने वाले वायुयानों का प्रयोग भलीभाँति कर रहे थे। इस वायुसेना ने मित्र राष्ट्रों की विख्यात् १४ वीं सेना के इम्फाल से रंगून तक के आक्रमण में सहायता दी। इस कार्य में इम्फाल, मांडले, अराकान, बुथीडांग, मांगडा, मैवान आदि अनेक स्थानों पर अन्य प्रकार के घोर युद्ध के अतिरिक्त वायुयुद्ध भी हुए। सन् १६४४ और १६४५ में वायुसेना ने न केवल इस प्रकार के सैकड़ों आक्रमणों में ही भाग लिया, वरन् बर्मा के घने जंगलों की दलदलों में मच्छर-मार औषधि बिछाई, अराकान के समुद्री तट पर युद्ध सफल बनाने के लिये धूम्र-चक्र रचे और खाने आदि का सामान ले जाने वाले वायुयानों की रक्षा की, इनके अतिरिक्त कितने ही भारतीय उड़ाके बृटिश वायुसेना के साथ इसी देश में और देश से बाहर भी कार्य कर रहे थे। हमारे कुछ उडाकों ने यूरोप में शत्रु-ग्रस्त भागों के ऊपर से कितनी ही बार उडाने कीं।

भारतीय वायुसेना की इन सेवाओं के बदले में युद्ध के पश्चात् सम्राट जार्ज ने भारतीय वायुसेना के नाम के पहले "रायल" शब्द के प्रयोग की स्वीकृति दी। इस प्रकार इस सेना का पूरा रायल इंडियन एयर फोर्स पडा। जब युद्ध का अनुभव प्राप्त करके यह सेना बर्मा से लौटी तो इसके सामने विकास का अवसर आया। प्रत्येक प्रशंसा और वीरता पदक के लिए इस सेना ने भारी मूल्य दिया था। अपने अनुभव के कारण यह सेना विभाजन के समय तथा उसके बाद संकटों में अत्यंत सहायक सिद्ध हुई।

सन् १६४६ में इसी सेना का 'नं० ४ स्पिटफायर' नामक दस्ता, भारतीय पैदल सेना के प्रख्यात दस्तों के साथ जापान में मित्रराष्ट्रों की सेना के साथ रहने के लिए चुना गया। हमारी वायुसेना का यह पहला अवसर था कि जब इसे दूसरे देश में रक्षा के लिए आमंत्रित किया गया। जापान में हमारी वायुसेना के दस्ते ने ब्रिटिश, आस्ट्रेलियन न्यूजीलैंड और अमेरिकी सेनाओं के साथ मिलकर कार्य किया।

सन् १६४७ में देश-विभाजन के कारण इस सेना के भी दो टुकड़े हो गए। और इस समय इसकी शक्ति पूरी न होने पाई थी कि अकस्मात् इस सेना को पाकिस्तान से भारतीयों को निकालने का कार्य सौंप दिया गया। इतना ही नहीं, कश्मीर में तो हमारी वायुसेना को अत्यंत दुष्कर कार्य करने पड़े। कश्मीर को इसी सेना के साहसी उडाकों ने बचाया, विमान-उड़ान की कठिन समस्याओं का सामना किया। कश्मीर जैसे पहाड़ी स्थान में, जहाँ हवाई अड्डों की कोई योजना न थी, इन साहसी वीर उडाकों ने वायुयानों को १२ हजार फीट तक की ऊँचाई पर ऊबड़-खाबड़ स्थानों पर उतारा। पूँछ और लेह के इलाकों में घिरी हुई सेनाओं और वहाँ के रहने वालों के लिए गोला बारूद का सामान

पहुँचाया और वहाँ से आते समय वहाँ से आने वालों को निकाला। इन इलाकों से लगभग ३०,००० व्यक्तियों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया। इन सेनाओं को बराबर खाने पीने के सामान और गोला बारूद, मौसम की कठिनताओं का सामना करते हुए इन साहसी उड़ाकों ने शत्रु के ऊपर से उड़ कर पहुँचाया जिससे सेनाएं बराबर लड़ती रहीं और इस प्रकार वहाँ विजय प्राप्त हुई।

कश्मीर में ही नहीं वरन् आसाम के इलाकों में तो प्रायः प्रति वर्ष ही, वर्षाऋतु में हमारी वायु-सेना हजारों व्यक्तियों की सहायता करती है। इस इलाके में प्रति वर्ष कोई न कोई आपत्ति बनी रहती है। कभी भूकम्प है तो कभी बाढ़ है। हजारों टन अनाज और अन्य खाद्य पदार्थ इन इलाकों में ये ही साहसी उड़ाके ले जाते हैं और भूखे मरतों को बचाते हैं। कश्मीर के पश्चात् हमारी वायुसेना ने हैदराबाद के "पुलिस एक्शन" में प्रशंसनीय कार्य किया।

इस सेना के पूर्ण विकास के लिए सरकार अब भी उचित कार्रवाई कर रही है। देश-विभाजन के पश्चात् वायुसेना के प्रधान कार्यालय को पुनः संगठित किया गया था जिसके अनुसार "टेक्नीकल एंड इक्वीपमैंट स्टाफ" के विभाग की वृद्धि की गयी। पालम के चालक समूह (जो कि वायुसेना के युद्ध संबंधी और ऐसे ही अन्य दस्तों का नियन्त्रण रखता है और शिक्षण समूह जो कि पृथ्वी पर काम करने वालों, मशीन के कार्य करने वालों और बिना मशीन कार्य करने वालों, का निर्माण करता है) के अतिरिक्त अब इस सेना के पास एक और अत्यंत आवश्यक विभाग है जो वायुयानों को ठीक दशा में रखने का कार्य करता है। इसका नाम 'बेस रिपेयर डिपो", कानपुर, है। इनके अतिरिक्त उड़ाकों की शिक्षा के लिए दो शिक्षणालय और खोले गए हैं जहाँ एक नये ढंग से शिक्षा दी जाती है और इसका नाम "आल थ्रू फ्लायंग ट्रेनिंग स्कीम" रखा गया है। बंगलौर में एक और शिक्षणालय का उद्घाटन किया गया है जहाँ हवाई बेड़े के 'टेक्नीकल अप्रेन्टिसों" को शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षणालय अपनी प्रकार का, पूर्व में, एक ही है।

ऊँचे दर्जे की वायु-शिक्षा प्राप्त करने के लिए इस सेना के अफसर ब्रिटेन आदि देशों में भेजे जाने की योजना है और उचित प्रकार के व्यक्तियों की भर्ती के लिए एक कार्यालय भी कार्य कर रहा है।

वायुसेना के अफसरों के लिए "मिलिट्री स्टाफ" कालेज में उच्चतम सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया गया है। वायुसेना ने हाल ही में "जेट फाइटर" वायुयान ब्रिटेन से प्राप्त किए हैं। यह "जेट" वायुयान और वायुयानों से अधिक गति से चलते हैं। इतना होते हुए भी हमारी वायुसेना अभी पश्चिमी देशों की वायुसेना के समकक्ष नहीं है। परन्तु फिर भी इस सेना का आधुनिक ढाँचा एक सुदृढ़ मकान की नींव की भाँति है जिस पर जिस समय राष्ट्र चाहे एक बलशाली हवाई सेना बनकर खड़ी हो सकती है।

हवाई शक्ति का विकास

लेखक—स्क्वाड्रन लीडर टी० वसु

हवाई शक्ति के महत्व तथा उपयोगिता का चित्रण प्रस्तुत लेख में किया गया है जो रोचक और पठनीय है।

हवाई शक्ति से, मानव-समाज, आज, सक्रिय रूप से प्रभावित है। यह विशाल शक्ति शांति का साधन भी बन सकती है और विनाश का साधन भी। इस दृष्टि से, मनुष्य पर इस सम्बन्ध में एक भारी जिम्मेदारी आ पड़ी है।

हवाई शक्ति की व्याख्या यों की गयी है...... "आक्रमणात्मक, प्रतिरक्षात्मक तथा सप्लाई सेवाओं के लिए, किसी राष्ट्र की, आकाश का उपयोग करने और शत्रु को उसका उपयोग न करने देने की सामर्थ्य।" इस व्याख्या के अनुसार, हवाई शक्ति का मतलब कुछ बहादुर उड़ाकों और सशस्त्र विमानों मात्र का नहीं है, बल्कि उसमें विमान-बल (हवाई सेना), और वैमानिक उद्योग, परिवहन, व संचार प्रणाली, आर्थिक स्थिति, सुरक्षित अड्डे, कुशल जन-बल, प्रगतिशील गवेषणा कार्य, आदि जैसे अनेक तत्व सम्मिलित हैं।

पहले की लड़ाई में

हवाई शक्ति के आविर्भाव से पहले, युद्ध सशस्त्र बल (स्थल व जल सेनाओं) तक सीमित था और नागरिक पर उसका प्रभाव परोक्ष रूप में ही पड़ता था। किन्तु अब हवाई-सेना (विमान-बल) जहाँ भी काम में लायी जाय, वहीं रण-भूमि बन जाती है और इस प्रकार, उसके कारण युद्ध नागरिक के बहुत ही निकट आ गया है। हवाई शक्ति ने युद्ध का स्वरूप ही बदल दिया है और उसे सर्वांगीण बना दिया है।

सैनिक उड्डयन पहले शत्रु सम्बन्धी सूचनाएँ लाने के लिए शुरू हुआ था। किन्तु सूचनाएँ लाने के लिए जाने वाले विमानों को शत्रु-विमानों से टक्करें लेनी पड़ीं, जिससे चित्र लेकर शत्रु की स्थिति का पता लगाने की प्रणाली का जन्म हुआ और साथ ही लड़ाकू विमान काम में लाये जाने लगे। इस प्रकार जो सूचनाएँ प्राप्त हुईं, उनसे शत्रु-प्रदेश में ऐसे लक्ष्यों का पता चला, जिसके लिए वैमानिक गोलाबारी आवश्यक थी। इस तरह हवाई सेना धीरे-धीरे स्थल सेना की एक सहायक सेना के रूप में विकसित हुई, और गोली की मार से बाहर के लक्ष्यों के लिए बम-वर्षा, आदि से काम लिया जाने लगा।

प्रथम महायुद्ध में

प्रथम महायुद्ध में हवाई सेना ने भाग तो लिया, पर उसने जल या स्थल सेना की सहायता मात्र का काम किया, न कि एक स्वतः निर्णयकारी सेना का। फिर भी, यह स्वीकार किया जाने लगा कि भावी युद्ध के लिए हवाई सेना का महत्व बहुत बढ़ जायगा। युद्ध के बाद, इंग्लैंड में तीनों तरह की सेनाओं (स्थल, जल तथा वायु) की पारस्परिक ईर्ष्या तथा अन्य कारणों से सैनिक उड्डयन की औद्योगिक प्रगति की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका।

[शेष पृष्ठ ६३ पर]

शास्त्र और विज्ञान

श्री रमाशंकर सिंह, एम० एस-सी०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

स्वतन्त्रता के बाद से इधर हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा है। इस समय एक ही वस्तु के लिये कई शब्द प्रयोग में आ रहे हैं, इसलिए उन शब्दों में किसका प्रयोग अधिक ठीक होगा, इसका भी विचार करना चाहिये। इस समय मेरा अभिप्राय केवल दो शब्दों से है—शास्त्र और विज्ञान। शास्त्र और विज्ञान के जो भी अर्थ पहले रहे हों, इस समय विज्ञान शब्द सायंस की जगह प्रयोग हो रहा है। यह ठीक भी है। इन पक्तियों के लेखक का विचार है कि शास्त्र शब्द का प्रयोग 'आर्ट्‌स' के स्थान पर हो तो ठीक होगा, क्योंकि 'आर्ट्‌स' में आने वाले अनेक विषयों को हम शास्त्र के ही नाम से संबोधित करते हैं, जैसे नागरिक शास्त्र, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र आदि।

यदि यह बात मान ली जाय तो हमें विज्ञान के विषयों को विज्ञान के नाम से ही संबोधित करना चाहिए, और उनके साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि सायंस को हम विज्ञान की संज्ञा तो दे ही चुके हैं।

इसलिए हमें इन विषयों को भौतिक-शास्त्र न कह कर भौतिक विज्ञान, इसी प्रकार रसायन विज्ञान, उद्भिज विज्ञान आदि नामों से पुकारना चाहिये। इस समय कुछ पुस्तकें जो हिन्दी में छपी हैं उनमें एक ही विषय को कई नाम देना ठीक नहीं जान पड़ता, जैसे रसायन शास्त्र और रसायन विज्ञान। यही नहीं, भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी इन नामों में समानता होनी चाहिये। बँगला में विज्ञान शब्द का ही प्रयोग इधर देखने को मिलता है, जैसे भौतिक विज्ञान। पता नहीं अन्य भाषाओं में क्या हो रहा है। अच्छा होता हिन्दी भाषा-भाषी इन विषयों के वास्ते एक नाम तो स्थिर देते, क्योंकि इस समय इसे हम नहीं करते तो हमेशा के लिए इस प्रकार की विभिन्नता रह जायगी। यही उपयुक्त समय है जब इसे किया जा सकता है। आशा है विद्वान इस बात पर ध्यान देंगे।

हवाई शक्ति का विकास

[पृष्ठ ९२ का शेष अंश]

तीव्र विकास

जर्मनी, इटली और जापान ने १९३५ के बाद से अपने विमान उद्योगों की ओर अधिक ध्यान देना शुरू किया। जर्मनी ने अपनी वायु-सेना को बढ़ाना शुरू किया और इटली व जापान ने भी नयी हवाई सेनाएँ संघटित कीं। रूस ने उड्डयन उद्योग में अपने आदमियों को ट्रेनिंग देने के लिए अमेरिका से सहायता माँगी और अपने विमान उद्योग की स्थापना की। १९३० से १९४० के बीच के वर्षों में अमेरिका ने अपने हवाई व्यापार की ओर पूरा ध्यान दिया, और ब्रिटेन ने भी आत्म-संतोष की भावना का परित्याग कर, अपनी हवाई नीति के अंतर्गत प्रतिरक्षा का रुख अपनाया। इसके बाद द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया और युद्ध-काल में जो सक्रिय औद्योगिक प्रगति हुई, उसने न केवल विमान-उद्योग में एक क्रांति पैदा कर दी, बल्कि वैमानिक युद्ध-प्रणाली को आधुनिक युद्ध का एक प्रबल एवं आवश्यक अंग सिद्ध किया।

वैज्ञानिक समाचार

तुंग वृक्ष

इन दिनों भारत में एक ऐसा वृक्ष महत्व प्राप्त करना जा रहा है जिसकी 'नर-मादा' भेद की समस्या कभी कभी इसकी औद्योगिक उपयोगिता को व्यर्थ बना देती है। इस वृक्ष का नाम तुंग है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसका उद्गम स्थान चीन है। इस वृक्ष के पत्ते हृदय के आकार के होते हैं और चीन में हृदय को तुंग कहते हैं, इसलिए इसका नाम तुंग है।

तुंग तेल की, जो इस पेडके फलसे निकाला जाता है, औद्योगिक उपयोगिता बहुत है। जल्दी सूखने का गुण रखने के कारण, यह तेल बढ़िया किस्म के रंग-रोगन बनाने के काम आता है। इसमें पनरोक गुण भी है। अतः यह पनरोक कपड़ा तथा कागज बनाने के काम भी आता है।

छपाई की बढ़िया रोशनाई, विशेषकर "चाइनीज इंडियन इंक" में इस तेल का उपयोग किया जाता है। चमड़े पर चमक और आब लाने के लिए, चमड़ा उद्योग को भी इसकी आवश्यकता होती है।

तुंग तेल, रबड़ का भी काम दे सकता है। कई बातों में तो यह रबड़ से भी अच्छा रहता है। रबड़ की तरह इसे भी लचीला बनाया जा सकता है, किन्तु रबड़ के समान इसमें स्वतंत्र गंधक नहीं होती, जिसके कारण यह कई कामों में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। 'टूथपेस्ट' तथा प्रसाधन सामग्री की मुड़ने वाली ट्यूबोंपर भी तुंग तेल लगाया जाता है।

जल और पाले के प्रभाव को रोकने की क्षमता के कारण, वायुयान के लिए यह बहुत उपयोगी है। विशेष परिस्थितियों में तो साबुन उद्योग भी इसका कुछ उपयोग करता है।

इस वृक्ष को वर्षा बहुत प्रिय है। आज से लगभग २० वर्ष पहले, तुंग के पेड़, भारत में पहले पहल आसाम में लगाये गये थे। ये वृक्ष खूब पनपे। किन्तु दुर्भाग्य से इनमें से बहुत से पेड़ 'नर' निकल आए। 'मादा' पेड़ों में भी, कुछ समय बाद, कम उपज के लक्षण दिखायी देने लगे। इसलिए, तुंग पेड़ लगाने का प्रयास, कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया। चार वर्ष बाद यह कार्य फिर शुरू हुआ।

आज तो भारत में, तुङ्ग वृक्ष, आसाम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, कश्मीर, बम्बई, मद्रास, मैसूर, कुर्ग और ट्रावनकोर-कोचीन में भी मिलेंगे। तुङ्ग वृक्ष की जो दो किस्में भारत में लगायी गयी हैं, उनको बहुत अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है। किन्तु जहाँ ये वृक्ष लगे हों वहाँ पानी जमा नहीं होना चाहिए। इनमें से एक किस्म के पेड़ ४ हजार फुट से अधिक ऊँचाई के लिए तथा दूसरी के दो और साढ़े तीन हजार फुट की ऊँचाई के बीच के क्षेत्र के लिए उपयुक्त हैं।

तुंग पेड़ लगाने में, साधारणतः इसके बीज ही बोये जाते हैं, किन्तु इसकी कलम भी लगायी जा सकती है। दूसरे या तीसरे वर्ष में यह पेड़ फल देने लगता है। किन्तु आरंभ के फल लगते ही तोड़ दिये जाते हैं, जिससे कि पेड़ का विकास अच्छा हो। चौथे वर्ष से आगे, फलों को बढ़ने दिया जाता है। १५ वें वर्ष तक इसकी पैदावार बढ़ती रहती है और प्रति पेड़ लगभग ४५ पौंड तक पहुँच जाती है। १५ से २५ वर्ष तक उपज स्थायी रहती है और बाद में गिरने लगती है। इसके फल जब पक जाते हैं तो वे टूट टूट कर नीचे गिरने लगते हैं। इन्हें धूप में सुखाकर रख लिया जाता है।

इसके फल का औसत वजन २.५ ग्रेन और गिरी का १.५ ग्रेन होता है। गिरी से कोई ६४.६ प्रतिशत तेल निकलता है। पुराने ढंग से तेल निकालने में छीजन बहुत होती है। आधुनिक मशीनों के उपयोग से तेल अधिक निकलता है और वह होता भी बढ़िया है।

इस समय कलकत्ते में ही तुंग तेल निकालने की मशीनें लगी हुई हैं। भारत के तुंग क्षेत्र में विस्तार होते ही इन मशीनों की भी अधिक संख्या में आवश्यकता होगी।

तुंग क्षेत्र का व्यापारिक भविष्य उज्जवल है और गवेषणा से इसके उपयोग तथा महत्व में और भी वृद्धि हो सकती है।

विज्ञान-प्रचार की नई योजनाएँ

समय समय पर हम विज्ञान-प्रेमियों को संबोधित कर सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने की विज्ञप्तियाँ, टिप्पणियाँ या सम्पादकीय निकालते रहते हैं। उनके उत्तर में कुछ पत्र हमें प्राप्त भी होते हैं; परन्तु अत्यल्प। हमारे सभ्य, ग्राहकों तथा उदार पाठकों में उत्साह की कमी तो नहीं है। परन्तु योजनाओं का कोई मूर्त रूप होने से हमें विशेष सहायता तथा प्रोत्साहन मिल सकता है। हम नीचे अपनी कुछ प्रस्तावित योजनाएँ दे रहे हैं।

परिचय-प्रचार—

हमारे एक मान्य सभ्य प्रो० नागराजन ने इच्छा प्रकट की है कि सभ्यों में परस्पर परिचय बढ़ाने की व्यवस्था की जाय। इस संबंध में हमारा सुझाव है कि केवल सभ्यों तक यह परिचय-प्रचार सीमित न हो। बल्कि हिन्दी-सेवी सभी वैज्ञानिकों का परिचय विज्ञान में, और फिर बाद में या साथ ही पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाय।

इसके लिए हम विश्व विद्यालयों के विज्ञान विभागों, शोध संस्थाओं आदि में कार्य करने वालों की टोह में रहेंगे। आप स्वयं कुछ लेख, भाषण, पुस्तक प्रणयन या विज्ञान-प्रचार में संलग्न रहने वाले हैं तो अपना परिचय तथा साहित्य सेवा का विवरण निस्संकोच लिख भेजें। संकोची और लज्जालु अथवा विनम्र सज्जनों से प्रार्थना है कि वे किसी परिचित व्यक्ति का ही नाम लिख भेजें जो उनके बारे में हमें सामग्री दे सकें या स्वयं लिख सकें। पत्र-व्यवहार करने और समुचित व्यवस्था करने के लिए हमारे पास न तो धन है, न कोई व्यवस्थित कार्यालय या कार्यकर्त्ता, अतएव विज्ञान द्वारा ही यह सूचना हम प्रकाशित करते रहेंगे किन्तु जो मौन रहकर ही, विज्ञापन बाजी से दूर रहकर वैज्ञानिक-साहित्य प्रचार के अनुष्ठान में योग दे रहे हों ऐसे आदर्श कर्मियों को भी हमें नहीं छोड़ना है। हम ऐसे उद्योग में विशेष संस्थाओं के विशेषांक भी निकाल

सकते हैं। संस्थाओं के संचालकों या उत्साही हिन्दी-प्रेमियों से हमारे उदार सभ्य, ग्राहक या विज्ञान-प्रेमी परिचित हों तो पत्र व्यवहार कर सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। इस संबंध में कोई वैज्ञानिक साहित्य-सेवी अपने चित्र का ब्लाक बनवाकर हमारी सहायता करें तो और भी सुविधा हो सकती है।

साहित्य-सेवा

उपर्युक्त महानुभाव ने ही हमारे मई के संपादकीय के संबंध में उत्तर देते हुए लेख लिखने का वचन दिया है। अन्य सज्जन भी रचनाएँ भेज कर हमें उत्साहित करेंगे। एक विशेष निवेदन हमें अपने नवयुवक उत्साही लेखकों से करना है। यदि वे छोटी मोटी पुस्तक रूप में किसी विषय पर अपनी रचनाएँ दे सकें जो सुपाठ्य तथा मनोरंजक हो और विज्ञान के एक या दो अंकों (लगभग ३२ या ६४ पृष्ठों) में पूर्ण हो सकती हो तो हम उसे विज्ञान के साथ ही पुस्तक का भी रूप देकर अपने पुस्तक भंडार की वृद्धि कर सकते हैं। धनाभाव में यह योजना बड़ी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है।

ग्राहक संख्या

एक बार प्रचार पत्रक हमने छापा था। कुछ उत्तर आए थे। जो सज्जन कुछ विज्ञान-प्रेमियों के नाम देना चाहें उन्हें हम नमूने भेजेंगे। वे स्वयं भी ग्राहक होने के लिए उनको पत्र लिख सकते हैं। हम प्रचार के लिए विज्ञान की कुछ प्रतियाँ भी उत्साही कार्य कर्ताओं या एजेन्टों को भेजते रहने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सभ्यों से निवेदन

अधिकांश सभ्यों को पुराने शेष सभ्य-शुल्क के लिए दो बार स्मरणपत्र भेजे जा चुके हैं। हम तीसरी बार, विज्ञान द्वारा उन्हें फिर सूचना दे रहे हैं। परिषद् की सहायता सभ्यों के शुल्क समय पर मिल जाने से हो सकती है। बाद में हम छपी पुस्तकें और विज्ञान दे कर उन्हें सभ्य-शुल्क से अधिक मूल्य का साहित्य देते हैं। फिर भी कई वर्ष तक सभ्य होने का लाभ उठाते रहने के बाद कुछ उदार महानुभाव सभ्य होने की अपनी असमर्थता या अनिच्छा प्रकट कर देते हैं। यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। सभ्य नहीं ही रहना है तो निःशुल्क विज्ञान परिषद् की सेवाएँ ग्रहण करते रहना सौजन्य और शिष्टाचार की श्रेणी से निम्नस्तर की ही बात होगी अतएव सभ्य नहीं रहना है तो समय से सूचना दे दीजिए। हम भी समझ जाएँगे कि थोड़े सीमित सहायकों के बल पर ही कार्यक्रम पूरा करना है।

दूसरी बात सभ्यों के शुल्क की अवधि के संबंध है। सभ्य पूरे वर्ष के लिए होते हैं। अप्रैल से दूसरे वर्ष के मार्च तक एक वर्ष माना जाना चाहिए। बीच में सभ्य होने पर विज्ञान के पुराने अंक या अधिकारानुसार पुस्तकों की माँग कर सकते हैं।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका, भाग १—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम०.एस-सी०; ।=)

२—चुम्बक—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी०; मू० ।।=)

३—मनोरञ्जन रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—सूर्य सिद्धान्त—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८) । इस भाष्य पर लेखक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—वैज्ञानिक परिमाण—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—समीकरण मीमांसा—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स) गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—वर्षा और वनस्पति—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—सुवर्णकारी—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—विज्ञान का रजत जयन्ती अंक—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—व्यङ्ग-चित्रण—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० ऐल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम० ए०; १७५ पृष्ठ, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—मिट्टी के बरतन—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द, २)

१४—वायुमंडल—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—लकड़ी पर पालिश—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का व्योरेवार वर्णन। इससे कोई भी पालिश करना सीख सकता है—ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३१ चित्र, सजिल्द; २)

१६—क़लम पेवंद—ले० श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ५० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—जिल्दसाजी—क्रियात्मक और व्योरेवार। इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० सजिल्द, २)

१८—त्रिफला—ले० श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार, सजिल्द २ ।।=)

१९—तैरना—तैरना सीखने और डूबते हुए लोगों को बचाने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डाक्टर गोरखप्रसाद, पृष्ठ १०४ मूल्य १)

२०—सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़-पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६)

२१—वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ—ले०—डा० सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—खाद्य और स्वास्थ्य—ले०—डा० ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२३—फोटोग्राफी—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, फोटोग्राफी के नवीनतम आविष्कारों का समावेश तथा फोटोग्राफरों के लिए अनेक नुसखे हैं। सजिल्द मूल्य ४)

२४—फल संरक्षण—तीसरा संशोधित संस्करण फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत, आचार चटनी सिरका आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक, २१० पृष्ठ, २५ चित्र—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२५—शिशु पालन—लेखक-श्री मुरलधर बड़ाई बी० एस-सी०, प्रभाकर, गृहस्थ का उच्च आदर्श गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था का कम चित्रों द्वारा समझाया गया है। पृष्ठ संख्या १५० मूल्य ४)

२६—मधुमक्खी पालन—द्वितीय संस्करण ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; भूतपूर्व अध्यक्ष, ज्योलीकोट सरकारी मधुवटी; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों के लिए उपयोगी तो है ही, जनसाधारण को इस पुस्तक का अधिकांश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। ४८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, और नकशे, एक रंगीन चित्र, सजिल्द; ३)

२७—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर डाक्टर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। २६० पृष्ठ, १५० चित्र, आकार बड़ा (विज्ञान के बराबर); सजिल्द, ४)

२८—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—द्वितीय संस्करण सम्पादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, आकार बड़ा विज्ञान के बराबर २५२ पृष्ठ २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए उपयोगी; मूल्य सजिल्द ३।।)

नवीन पुस्तकें

फसल के शत्रु—ले० श्री शंकर राव जोशी ... ... ३।।)

साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार ... ... ४)

पोर्सलीन उद्योग—ले० श्री हीरेन्द्र नाथ बोस (का० वि० वि०) ... ... ।।।)

राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ ... ... २)

पता—विज्ञान परिषद, बैंक रोड, इलाहाबाद।

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्; विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | कर्क २००६; जुलाई १९५२ | संख्या ४

चन्दे का प्रश्न

चन्दे का प्रश्न कितना जटिल है ! इसके संग्रह तथा उपयोग की भी कितनी विविध विधियाँ हैं ! इसके अनेक रूपों पर एक विहंगम दृष्टि डालने से कितना ही अधिक कौतूहल प्राप्त होता है । आप रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे हों; अपने गंतव्य स्थल तथा यात्रा की उद्देश्य-सिद्धि के अनेकानेक प्रश्नों तथा पहलुओं पर आप ध्यानमग्न होकर अपने समीप के प्रस्तुत वातावरण को जिस समय बिल्कुल भूल से ही रहे हों कि कोई गोलक-धारी आ टपकता है । अकस्मात गायन के नाम पर उसका पंचम सुर में दीर्घ आलाप बेचारे यात्री को चौंका ही देता है । "गौएँ मारी जा रही हैं, गौएँ काटी जा रही हैं, गोमाता की रक्षा के लिए गोशाला की तैयारी कीजिए ।" आदि ऐसे ही प्रसंगों को छेड़ कर भजन के नाम पर गाने की अपेक्षा अपने गोलक को झकझोर झकझोर कर वह कर्णकटु शब्द का अधिक वेग कर आपका ध्यान तुरन्त ही अपने सारे आयोजन के मूल में द्रव्य की आकांक्षा बतलाने में विलंब नहीं करता । दान के पात्र व्यक्ति की परीक्षा करने वाले कुछ व्यक्ति उँगलियों पर गिनने लायक मिल जाते हैं. द्रव्य का मोह रख कर उससे तनिक भी विछोह सहन न कर सकने वाले लोभी पुरुष भी अपनी कुछ गिनती रखते ही हैं । फिर भी हमारे इस धर्मभीरु देश में दानवीरता का आदर्श दिखाने वाले नररत्न थोड़े नहीं ! गोलक में पैसे दो पैसे डाल देने से ही जहाँ वेगपूर्वक डूबती धर्म-नौका बचा लेने का श्रेय मिल जाता हो वहाँ इतने सस्ते पुण्यकार्य को करने से क्यों मुँह मोड़ा जाय ! अस्तु ।

चाहे जो हो, गोलक में पैसे का दान सब की दृष्टि में आता है । किन्तु उन पैसों के बाहर निकलने या किसी जनोपयोगी पुण्य कार्य में व्यय होने का दृश्य एक ओट के पीछे की ही घटना होती है । यथार्थ में उसका रहस्य तो दाता गणों को कभी देखने का प्रायः अवसर नहीं आता । दाताओं के हृदय में गोलकधारी के महत् उद्देश्यों के प्रति चाहे जितनी अधिक आस्था हो, उसका गोलकधारी के अभीष्ट साधन में विशेष स्थान नहीं होता । द्रव्य-प्राप्ति के लिए उसे महान उपकारिणी संस्थाएँ खड़ी रखने की अपेक्षा नहीं होती, उसके आयोजन में संचालक समिति, मंत्रिपरिषद किंवा लेखा-जोखा या आय-व्यय के निरीक्षण के झमेलों की भी झंझट नहीं रखनी पड़ती । उसे तो बस एक गोलक चाहिए, गोलक पर कोई गोशाला, अनाथालय या दातव्य

संस्था के बहुरंजित नाम तथा संकेत-पट चाहिए तथा गोलक को दुर्भेद्य अभिव्यक्त करने के लिए मुख पर ताला बंद चाहिए। इन उपकरणों के साथ एक अधिक आवश्यक साधन और भी चाहिए। उसे हम माँग सकने का साहस, निर्भीकता या पटुता कह सकते हैं। बस उसको चन्दा मिलने के लिए दाताओं की द्रव्य-पोटली खुलने में बहुत व्याघात नहीं प्रतीत हो सकता। ताला की कुंजिका किसी के पास हो, इसकी श्रद्धालु या सरल स्वभाव के दाता को चिन्ता करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि थोड़े परिश्रम तथा वाह्याडंबर से ही आय का स्रोत खुलने वाला हो तो बहुरंजित गोलक बनवाने या एक ताला क्रय कर उसकी कुंजी केवल दर्शक की दृष्टि से परे या अपनी ही जेब में रख लेने की व्यावहारिक बुद्धि रखने वाले व्यक्तियों का अभाव नहीं हो सकता। अस्तु।

गोलक नहीं तो, लिखित या मुद्रित विज्ञप्ति-पत्रक या प्रमाणपत्र ही सही। अमुक परिवार दैवसंयोग वश महान संकटग्रस्त हो गया, उसके सभी वयस्क सदस्य (पुरुष) गोलोकवासी हो गए। उसी परिवार की अनाथ संतान दाता के सम्मुख है जो दान पाने की अधिकारिणी है। अमुक स्थल अकाल या जलप्रलय से अभावग्रस्त हो गया, उसी के निराश्रित निवासी दाता के सम्मुख दान की याचना करते हैं; इस तरह के भावों की प्रार्थना लिखित या मुद्रित कराकर उस पर हस्ताक्षर कराने के लिए उदारमना सज्जनों की कमी नहीं हो सकती, विशेष कर उस स्थिति में, जब कि हस्ताक्षरकर्ता के नाम-धाम आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी ही न मिलनी हो या दाता को उसकी कोई चिन्ता करने की आशंका ही न हो।

संकेत-पट या विज्ञप्ति-पत्रक के बिना भी स्वच्छ वस्त्र धारण कर ही भिक्षाटन की वृत्ति वाले महानुभाव सड़क पर, गली में, घरों में भोले भोले सज्जनों से साक्षात्कार करने या मार्ग रोक लेने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं। कहीं जा रहे थे, सब कुछ समान चोरी चला गया, द्रव्य की थैली जेब से निकल गई। वे घर जाने के लिए लाचार हैं, थोड़ी सहायता से घर पहुँच सकना संभव है आदि विचारद्योतन उनके प्रचुर लाभ का कारण हो सकता है। मार्गव्यय के लिए ही सही, थोड़ा ही द्रव्य सही, परन्तु दिन भर अनेक दाताओं के यहाँ एक ही प्रश्न का निराकरण कराने पहुँचने के उद्योग से निराकरण की सामग्री दिखाऊ समस्या की बहुगुणित गुरुतर समस्याएँ भी हल कर सकती है। दैनिक यात्रा द्वारा सारी आयु भर ऐसी व्यवस्था से अर्जन करते रहना कोई भारी प्रश्न नहीं हो सकता है। स्थान तथा दाता वर्ग के नए नए होने से आय स्थायी हो सकती हैं।

हमने निश्चय ही भिक्षाटन या चन्दा के नाम पर याचना के पहलुओं पर वैज्ञानिक दृष्टिपात करने का प्रयत्न नहीं किया है। हमने केवल प्रसंग वश ही इन बातों की कुछ चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सहज धन-प्राप्ति के साधनों की बहुलता का कहीं अन्त नहीं है। हमने ऊपर जो चन्दे के नाम पर धन संचय कर व्यक्तियों के ही लाभ उठाने की बात लिखी है, वह सर्वव्यापी नियम नहीं कहा जा सकता है। अनेक शुद्ध प्रचारक या संस्थाएँ भी अपने साधनों से इसी प्रकार धन एकत्र करती पाई जा सकती हैं, परन्तु कहीं कहीं तो यह चक्र ही पलटता दिखाई पड़ता है। संस्था के ही उपयोग के लिए सही, परन्तु याचना का साधन इतना हीन किंवा हेय देखा जा सकता है कि उसकी वीभत्सता सामाजिक भर्त्सना का विषय हो सकती है। नारी-उद्धार के नाम पर, कुलीन परिवारों से वहिष्कृत नारियों के प्रश्रय स्थान बनने वाले, ऊँची अट्टालिकाओं जैसी विशाल संस्था रख कर भी उन्हें सौ दो सौ रुपए पर बेचते ही नहीं देखते, बल्कि कलंकित या गर्भिणी कन्या-रत्न की मूल्य वृद्धि के लिए गर्भपात करा देने का साहस करने वाली सामाजिक व धार्मिक संस्थाएँ पाई जा सकती है। महर्षियों के आदर्शों की अनुगामिनी संस्थाओं में भी ऐसा शोकप्रद दृश्य देखा जा सकता है।

हम इन सामाजिक समस्याओं, सुधारक-समाजों एवं किन्हीं भी सुधार-कृत्यों के औचित्य-अनौचित्य की छानबीन में तनिक भी पड़ने की इच्छा न रख कर केवल चन्दे या याचना के प्रश्नों पर ही कुछ कह कर चुप लगाना चाहते हैं। धन तो आवश्यक ही है, हम भी एक संस्था हैं, हमें भी याचना करनी है, सार्वजनिक हित के लिए याचना या धन की माँग ही चन्दा नाम

से अभिव्यक्त होता है। जघन्य या सुसंस्कृत कोई भी सुगम साधन यह याचना या दान की माँग अधिक फलवती कर सकने के लिए हमारे पास नहीं है। गोलक भी नहीं है। पत्रक भी नहीं हैं। प्रचारक भी नहीं हैं। सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई अन्य जघन्य साधन भी तो हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत हमारे पास केवल असुविधाएँ ही असुविधाएँ हैं। हम उसके कुछ उदाहरण भी देते हैं :—

सभ्य शुल्क के नाम पर प्रथम वर्ष का ३) प्रवेश शुल्क छोड़ दीजिए और अन्य वर्षों का ३) वार्षिक विज्ञान का चंदा निकाल दें तो २) शेष रहता है। औसत ।।) डाक व्यय लगाकर हम अपना उस वर्ष का नवीन प्रकाशन भेजने की व्यवस्था रख सकते हैं। शेष १।।) हमारे पास जो शेष रहा, वही पुस्तक की लागत में समझा जाना चाहिए।

हमारे कुछ सहायक उत्साह में नए सभ्य बनाना चाहते हैं, पुस्तकें और विज्ञान हम बाँट देते हैं, केवल इस आशा पर कि सभ्य शुल्क आ जायगा। किन्तु पिछले लेखा को देखकर जब हम ५, ५ वर्षों का चन्दा अर्द्धांश सभ्यों पर अब भी शेष देखते हैं तो नवागंतुक सभ्यों पर अपनी माँग का दबाव कहाँ तक डालें।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने पिछले वर्ष हमारी सहायता की। वार्षिक सहायता भी कुछ मिल ही जाती है, परन्तु पुस्तक का प्रकाशन, विक्रय, परिश्रम तथा द्रव्य-साध्य कार्य हैं। वैतनिक कर्मचारी एवं साहित्यिक सहायक, कार्यालय आदि की व्यवस्था के लिए यथेष्ठ धन चाहिए। विज्ञान के कम से कम दो हजार ग्राहक हों, तभी उसको बहुत सुन्दर रूप दिया जा सकता है। केन्द्रीय सरकार से हम बहुत कुछ आशा रख सकते हैं, परन्तु इतना ही नहीं कि हमें अब तक एक पैसे की सहायता ही नहीं मिली, बल्कि उस दिन केन्द्रीय सचिवालय के वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्राकृतिक शक्तियों के विभाग के एक मुख्य अधिकारी द्वारा विज्ञान को निश्शुल्क प्रति मास भेज देने की अभ्यर्थना हमें पढ़ने को मिली तो हम स्तब्ध रह गए। किन्तु हम तो लगभग ४० वर्षों से ही कठिनाइयों का सामना करते आ रहे हैं। कार्यकर्ताओं के अभाव तथा कठिनाइयों के बाहुल्य से कभी साल भर तक हमारे मासिक विज्ञान का प्रकाशन नहीं हो सका फिर भी हमारे कृपालु पाठकों तथा उदार सभ्यों ने हमारा साथ नहीं छोड़ा। अतएव हम अब तो प्रति मास विज्ञान को किसी भी रूप में निकालते जाने की सफलता देखकर अपना साहस बढ़ाते ही जायँगे।

इन परस्थितियों में हम आत्मावलम्बन की शिक्षा देने का स्वांग नहीं रचना चाहते, बल्कि यथार्थतः अपने पैरों खड़े होने का उद्योग कर रहे हैं। जो विज्ञान के प्रेमी हैं, जिनमें थोड़ा भी उत्साह हमें दिखाई पड़ता है उनके पास बिना मांगे ही, दस पांच प्रतियां विज्ञान की भेजेंगे। उनके बताए पतों तथा एजेंटों के पास भेजेंगे, विक्रेताओं को मुफ्त भेजेंगे। जो हमारे उद्देश्यों से सहमत हों, हमारे उद्योगों की दुर्बलता पर विश्वास न रखते हों वे सज्जन ग्राहकों में अपने मित्रों, परिचितों आदि का नाम लिखावें। जो सज्जन दान-धर्म के अभ्यस्त हों वे १००, ५० ग्राहकों का शुल्क भेज कर हमारा हाथ बटाएँ। हम तो नमूने जितना छापकर भेज सकने की शक्ति रखते हैं, उतना प्रति मास भेजेंगे, इसलिए आप शुल्क में रियायत का कोई प्रश्न उठाने का उद्योग न करें, आप जो द्रव्य भेज सकते हों, भेजें। जितना अधिक प्रचार उस द्रव्य से आप कराना चाहें, लिखें, अपने चुने पते दें, हमें ही पते ढूँढ़ने या मुफ्त विज्ञान लेने वालों की होड़ कराने दें। आप को द्रव्य के सद्व्यय के संबन्ध में कोई भी शिकायत न होगी, इसका आप पूर्ण विश्वास रक्खें। साहित्यिक प्रतिदान करने वाले बंधुओं से हम पहले ही प्रार्थना कर चुके हैं। उनकी कृतियां रूप में दान भी हमारी भारी सहायता है जिसे हम कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करना चाहते हैं। क्या आप से किसी न किसी प्रकार के व्यावहारिक सहयोग का हम पूर्ण भरोसा रख सकते हैं? आप के उत्तरों एवं क्रियात्मक सहयोग की विज्ञप्ति विज्ञान में प्रकाशित कर प्रति मास ही हम अपने इस प्रश्न का उत्तर प्रचारित करते रहेंगे।

हिमानी

[लेखक—श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी० (आनर्स) डी० आई० केम०

प्रकृति के सौन्दर्य-भंडार में हिम नदों या लेखक के शब्दों में हिमानी का कितना उच्च स्थान है, इसका अवलोकन पाश्चात्य जगत में आज के पर्वतारोहियों की असीम संख्या देख कर किया जा सकता है। हमारे देश में भी कुछ हिमनद यात्रियों के तीर्थ बने मिलते हैं। हिमनदों का सुन्दर विवेचन लेखक ने इस लेख में किया है।

पृथ्वी के विस्तृत प्राकृतिक सौंदर्य के निर्माण में जल के तीनों रूप वाष्प, सलिल तथा स्थूल सहायक होते हैं। इस लेख में जल के स्थूल रूप का विवरण दिया गया है।

भूत में लोग हिमानी के बारे में जानने के लिये उतने उत्सुक नहीं दिखते थे और अब जो ग्लेशियर देखे जाते हैं वे सब प्राकृतिक सौंदर्य के प्रेमीजनों के उत्सुकता के परिणाम है। ये प्रेमीजन अठारहवीं शताब्दी के विलियम वड्र्सवर्थ (William Wordsworth) के प्रकृति के प्रेमी थे। जिनेवा के प्रोफेसर (Horace-Benedict de Saussure) ने १७७९ में अपनी पुस्तक Journeys in the Alps) के द्वारा सबसे प्रथम हिमानी की कहानी दुनिया के शिक्षित समाज के सामने प्रस्तुत की। इसके बाद विद्वानों और पर्वत-प्रेमियों ने इधर उत्सुकता दिखलाई। केप्टिन स्काट की अन्टार्कटिक यात्रा तथा फ्रांस और स्वीटजरलैन्ड के वैज्ञानिकों की हिमालय-यात्रा (१९५२) ने लोगों के ध्यान को हिमानी के बारे में जानने की ओर केन्द्रित किया।

हिमानी किस तरह बनती है? हिमानी किस तरह बहती है? क्या वर्तमान हिमानी प्राति-नूतन-युग Pleistocene Period) के अवशेष हैं? ये सब नीचे लिखे लेख में दर्शाया गया है।

बनावट—दुनिया के स्थल विभाग का करीब ९/१० हिस्सा ६०लाख घन मील, निरन्तर हिम से आच्छादित है। यदि ध्रुव-प्रदेशों के सब बर्फ को पिघला दिया जाय तो समुद्र-सतह में १५० मील की वृद्धि हो सकती है।

तुषारपात की क्रिया जलवायु पर आश्रित है। बर्फ के निरन्तर वर्षा होने से बर्फ वृहत् रूप में इकट्ठा हो जाता है। जिन स्थानों में तुषारपात की मात्रा बहुत अधिक और थोड़े काल के अन्तर से होती है तथा गर्मी में उसके पिघलने की मात्रा कम होती है, वहां के क्षेत्रों में तुषार की मोटी तहें जम जाती हैं। तुषार का प्रत्येक तह घना होकर हिम का छोटा सा पिन्ड बना लेता है। इस समय वायु मिश्रित होने से बर्फ का रूप रवेदार तथा नीले रंग का होता है। हिम की इस दशा को कण-शीन (Neve) कहते हैं। हिमपिण्ड की अधिकता के कारण हिमानी की उत्पत्ति होती है। केन्द्राकर्षण के कारण बहते हुए हिमपिण्ड का नाम ही ग्लेशियर है। बर्फ से निरन्तर आच्छादित ऐसे प्रदेशों को हिमक्षेत्र (Snow Fields कहते हैं। आस्ट्रेलिया के सिवाय हर एक देश में स्थायी हिमक्षेत्र पाये जाते हैं। भारत में ऐसे पाये जानेवाले हिमानी के नाम गंगोत्री, जमनोत्री, पिन्डारी, मिलम, जेमू, हिरपर, बटूरा तथा बोल्टोरो हैं। ये हिमानी किसी भी अक्षांश में अधिक ऊँचाई पर और किसी भी ऊँचाई पर अधिक अक्षांश में पाये जाते हैं। किसी स्थल की सबसे कम ऊँचाई, जहाँ पर निरन्तर हिमक्षेत्र बना रहता है, हिमरेखा (Snow line) कहलाती है।

दुनिया के कुछ हिमरेखा की समुद्र-सतह से ऊँचाई

ग्रीनलैण्ड	...	...	...	२२०० फुट
लापलैन्ड	...	...	...	३००० फुट
नार्वे	...	...	...	५००० फुट
आल्प्स	...	...	...	६००० फुट
हिमालय (दक्षिण वर्त्त)	...		...	१३००० फुट
(उत्तर वर्त्त)	...		...	१६००० फुट
मेक्सिको	...	...	...	१४००० फुट
एन्डीज (बोलिविया)		...	...	१६००० फुट

हिमानी की चाल :—हिमानी इतनी धीरे बहती है कि एक मामूली आदमी को उसकी चाल स्थायी प्रतीत होती है। हिमानी की चाल पांच शर्तों पर निर्भर है—(१) घाटी की ढाल (२) हिम की मोटाई (३) हिम का ताप (४) हिम में जल की मात्रा तथा (५) हिम में शैल-चूर्ण की मात्रा।

हिम की सबसे तेज चाल ६० फुट प्रतिदिन है। औसत ग्लेशियर की चाल ३ से ५ फुट प्रतिदिन तक होती है। हिमानी में पड़े इर्द-गिर्द धूल काकपद के आकार में बहते हैं जिसकी नोक मध्य में होती है। हिमानी की चाल जानने के लिये हिमानी के एक छोर से दूसरे छोर तक, एक निश्चित स्थान पर खूंटियाँ लगा दी जाती हैं। इस विधि से यह मालूम होता है कि ग्लेशियर की चाल मध्यस्थ में अधिक तथा पार्श्व में कम होती है। ग्रीनलैंड के अधिकांश हिमानी की तेज चाल का कारण उसका समुद्र में विलीन होना है। ये हिमपिण्ड समुद्र में हृदय-द्रावक आवाज के साथ विलग होते हैं और साथ ही एक धुँआधार के समान जल के छींटे उड़ाते हैं जो जुदाई का परिचय देते हैं। ये हिमखंड हिमप्लवा (Ice bergs) कहलाते हैं। ये हिमखंड पानी में ६।१० हिस्से तक डूबे रहते हैं। वे हिमघाटियाँ जो समुद्र के किनारे में विलीन हो जाती हैं (Fjord) फियोर्ड कहलाती हैं। इस प्रकार की घाटियां नार्वे में बहुतायत में पाई जाती हैं। हिमानी की गति-विधि के बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद है—(१) हिमानी, नदी के समान, एक गाढ़ी हिम नदी है जो अपने भार के कारण बहती है।

(२) दूसरे मताधिकारों का कथन है कि ताप के कारण बर्फ के टुकड़े पिघल जाते हैं। असमान दबाव के कारण भी जल-कण बनते हैं। ये जलकण तेल के समान, हिमानी की चाल में सहायक होते हैं। (Hess) हेस ने पानी मिश्रित हिमानी की चाल को १६ गुना बढ़ते देखा है।

(३) तीसरे मत वाले हिम के कण की दरारों को उसकी चाल में सहायक समझते हैं।

(४) अगासिज (Agassiz) और फोर्ब्स (Forbes) ने फैराडे (Faraday) के पुनःश्यान (Regelation) के अनुसार हिमानी की चाल का कारण अनुमोदन किया है।

(५) हिमानी की चाल उसके रेंगने की क्षमता के ऊपर निर्भर है। हिमानी की चाल की विभिन्नता एकत्रित चॉप के कारण, उसके आकृति-परिवर्त्तन से महसूस होती है। इस प्रकार की विकृति को धातुविद्या में रेंगना कहते हैं। इसकी भौतिक प्रक्रिया अति क्लिष्ट है। प्रधानतः रवों के परमाणु की पुनः रचना के कारण रवों में फिसलने की क्षमता आ जाती है। तापजनक शक्ति के कारण परमाणु में पुनः रचना के गुण आते हैं।

रेंगने का मूल नियमः—(अ) यदि बर्फ का ताप स्थिर रखा जाय और उसके बल को अस्थिर रखा जाय तो उसके रेंगने की क्षमता लम्ब कार्य के बजाय शक्तिवृद्धि एक्सपोनेनशियल कार्य के अनुसार बदलती है।

(आ) एक निश्चित चॉप के नीचे रेंगने की क्रिया नहीं होती है और विकृति बाह्य बल के अनुसार होती है जो एक प्रत्यास्थ है। इस कम से कम चॉप को चॉप-प्रदान (Yielding Stress) कहते हैं।

(इ) एक निश्चित चॉप पर, बर्फ के रेंगने की क्षमता उसके ताप के ऊपर निर्भर है। ताप की मात्रा, द्रवणांक के जितनी पास आती है, उतनी उसकी रेंगने की क्षमता -२०°C से १°C पर लाने से १००० गुना बढ़ जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि कम ताप पर बर्फ ठोस होती जाती है।

ये उपरोक्त रेंगने के तीनों मूल-नियम हिमानी की चाल के कारण को सिद्ध करते हैं।

हिमानी के प्रकार—वृहत रूप से हिमानी के दो भाग किये जा सकते हैं— (१) हिम नदी और (२) हिमाँश टोपियाँ।

परन्तु आकार और विस्तार के विचार से हिमानी के तीन प्रकार हो सकते हैं—(१) पर्वतीय या घाटीय हिमानी (२) गीरि-पाट हिमानी और (३) हिमावरण तथा हिम टोप।

पर्वतीय या घाटीय हिमानी— अधिकांश हिमानी नदी से बनाई हुई घाटियों में बहते हैं। हिमानी की उत्पत्ति वाला स्थान सदैव हिमाच्छादित रहता है। ये उत्पत्ति के स्थान में चौड़े होते है क्योंकि उसका आरम्भ विस्तृत हिमक्षेत्र से होता है जो बहुधा पर्वतों की ऊँची खुली चौड़ी चोटियों पर बहता है। हिमानी की लम्बाई एक आध मील से लेकर सैकड़ों मील तक होती है। हिमानी की गहराई भी पांच दस फुट से लेकर हजारों फुट तक होती है। हिमानी की गहराई उसके जृम्भण में पत्थर डालकर पता लगाया जाता है। जृम्भण में पत्थर डालने से कोई आवाज नहीं होती है तो उसकी अगाध गहराई का परिचय देता है।

हिमानी, घाटियों के सर्पिण रास्तों में से होकर बहती है। शिखर से उतर कर जब हिमानी नीचे आती है तब उसको पर्वतों की संकीर्ण घाटियों में होकर आगे बढ़ना पड़ता है इसलिये हिमानी ऊपरी भाग में अधिक चौड़ी होती है परन्तु ज्यों ज्यों आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों संकीर्ण होती जाती है।

ये हिमानी शैल-बाहुओं से कंकड़ पत्थर तथा रोड़ेण इकट्ठाकर अपने साथ लाती है। ये अपने अपघर्षण क्रिया के कारण शैल पुंजों में आरामकुर्सी की तरह गोल शक्ल बना लेती है इसे सर्क (Cirque) कहते हैं। सर्क की उत्पत्ति के बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद है :—(१) गारवुड (Gar wood) का कथन है कि हिमकाल के पूर्व और पश्चात तुषारपात द्वारा मौसमी क्षति से सर्क बनता है। (२) डबलू० डी० जोहानसन (W. D. Johanson) का मत है कि जब हिमानी हिमखंड से बाहर निकलता है उस समय हिम फट सा जाता है और हिमानी और हिमखंड के बीच चौड़ी दरार दिखाई देने लगती है इसे Bergschrund कहते हैं। इसी तरह के कई Bergschrund मिलकर सर्क बनाते हैं। (३) डबलू० एच० हाब्स० (W. H. Hobbs) ने सर्क की बनावट मनुष्य की जीवन-सीढ़ियों के समान कहा है।

गीरि-पाट हिमानी—ये हिमानी समध्रुव प्रदेशों में पाये जाते हैं। गर्मी के कारण किनारे की बर्फ पिघल जाती है और उसके बदले कंकड़ पत्थर तथा शैल-चूर्ण किनारे किनारे जम जाते हैं।

हिमावरण और हिम-टोप—हिमागार में चारों तरफ हिम ही हिम दिखलाई पड़ता है, इसे हिमावरण कहते कुल ६० लाख घन मील हिमक्षेत्र में से करीब ५० लाख घन मील हिम टोप से आच्छादित है। क्षीणकाय हिमानी, हिमागार में छितरे हुए हिमांश के रूप में जमा दिखाई देता है। ये हिमांश हिम-टोप कहलाते हैं। जर्मनी के एक वैज्ञानिक शाला के विशेषज्ञ वेजनर (Wegener) की ग्रीनलैंड की यात्रा हिम-टोप के बारे में उल्लेखनीय है। हिमावरण और हिमानी में आकार और विस्तार का अंतर है साथ ही एक अंतर यह भी है कि हिमावरण हिमानी की भाँति घाटियों में ही सीमित रहने वाला नहीं है वरन पर्वत और घाटियों के ऊपर तह की भाँति समान रूप से चढ़ा रहता है जिससे कहीं कहीं ऊँचे पहाड़ों की चोटियाँ भी छिप जाती हैं।

हिमानी के कार्यः—हिमानी की प्रक्रिया-प्रणाली दो प्रकार की होती है—(१) क्षयात्मक क्रिया (२) रचनात्मक क्रिया।

क्षयात्मक क्रियाः—हिमानी की क्षयात्मक क्रिया अपघर्षण (Abrasion) खुदाई (Corrosion) (Quarrying) क्रिया द्वारा होती है। ये हिमानी शिलाखंडों और शैल-पुंजों को रगड़कर उखाड़ फेकते हैं। ये विघर्षण तथा दारण (wear and tear) क्रिया से शैल बाहुओं को खोखला बना देते हैं। ये अकसर भेड़ की शक्ल के होते हैं। इन खोखले शैल-बाहुओं को अवि-पृष्ठ (Roches mountonnee's) कहते हैं। इस प्रकार के अवि-पृष्ठ हिमानी-युग का शोषण करते हैं।

जिस तरह नदी की क्षयात्मक क्रिया उसके जल-प्रवाह में अनुमान की जाती है उसी तरह हिमानी की क्षयात्मक क्रिया हिम की मोटाई से पता लगती है।

नदी की खुदाई प्रक्रिया उसके समुद्र सतह तक ही सीमित रहती है परन्तु हिम की खुदाई प्रक्रिया समुद्र सतह से भी नीचे होती है।

जिस तरह नदी का अपघर्षण तत्व स्वयं ही घिस जाता है उसी तरह हिमानी युक्त तत्व नोकदार, चिकने तथा सुचर दीखते हैं।

जिस तरह नदी की घाटियाँ काकपद (V shaped) वी आकार की तरह होती है उसी तरह हिमानी निर्मित नदी यू (U) आकार की होती है।

जब शैल-चूर्ण हिमानी की तली में फँस जाते हैं तो वे रगड़ खाते, करवट बदलते, त्रिपुंड के आकार के हो जाते हैं। इस प्रकार के पत्थर के टुकड़े साल्टरेंज (Salt-Range) तालचिर स्टेज तथा काश्मीर में पाये जाते हैं। शैल-चूर्ण यह बतलाते हैं कि गीरि-युग (Permian Period) और प्राति-नूतन-युग (Pleistocene) हिम से आच्छादित थे।

कभी कभी एक मुख्य हिमानी में सहायक हिमानी मिलती है। मुख्य हिमानी में हिम की अधिकता के कारण उत्खनन क्रिया अधिक होती है। सहायक हिमानी में बर्फ कम होने के कारण टंगी रह जाती है जो निलम्बि-हिम नदी (Hanging glacier) कहलाती है।

रचनात्मक कार्य:— हिमानी अपने साथ शैल-बाहुओं से छीनकर कंकड़ पत्थर और रोड़े जमा करके लाती है। इसे हम हिमानी ऊढ़ (Glacial Drift) कहते हैं। इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) वह जमाव जो सिर्फ हिमानी के द्वारा होता है हिमानी-अवसाद (Glacial deposit) कहलाता है और (२) वह अवसाद जो पानी मिश्रित हिम के द्वारा होता है हिमानी-जल-अवसाद (Glacio-fluviatile-deposit) कहते हैं। इस हिमानी-ऊढ़ को हम उसके पर्त बनाने की प्रणाली से भी दो हिस्सों में बाँट सकते हैं-(अ) वह अवसाद जो तह के रूप में इकट्ठा होती है उसे स्तर मय अवसाद और (आ) जो पर्त नहीं बनाती उसे स्तर-रहित अवसाद कहते हैं। हिमानी-अवसाद और हिमानी-जल-अवसाद दोनों में स्तरमय तथा स्तर रहित अवसाद होते हैं।

ग्लेशियर-स्थित शैलचूर्ण के ढेर को हिमोढ़ (Moraine) कहते हैं। हिमोढ़ हिमानी के दोनों छोर में पाये जाते हैं उन्हें पार्श्वस्थ हिमोढ़ कहते हैं। जब दो हिमानी मिलते हैं तो उसे हिमानी-संगम कहते हैं। दोनों हिमानी के पार्श्वस्थ हिमोढ़ संगम केन्द्र से मध्य में एक लम्बे अवसाद के रूप में जमा होते हैं उसे मध्यस्थ हिमोढ़ कहते हैं। उस हिमोढ़ के दोनों बाजू शैल-चूर्ण एक पैने चाकू के धार के समान एकत्रित होते हैं जिन्हें सकोण शैल (Knife Edge) कहते हैं। अंत में कंकड़ और पत्थर के ढेर अर्थात् हिमोढ़, हिमानी के अंतिम छोर पर पहुँचता है यहाँ पर हिम गलकर पानी बन जाता है। यह जल शैल-चूर्ण को अपने साथ ले जाने में असमर्थ रहता है और शैल-चूर्ण वहाँ पर अवसाद के रूप में छूट जाते हैं जिसे अंतिम हिमोढ़ कहते हैं। यह दूज के चन्द्रमा के आकार का होता है ऐसे स्थानीय भौगोलिक विवरण को Hummocky Topography कहते हैं। आधार हिमोढ़ उन्हें कहते हैं जब अवसाद॰हिमानी की तली में दबे रहते हैं। तहरहित आधार-हिमोढ़ को बोल्डर्स और स्तरमय आधार हिमोढ़ को ड्रमलिन्स (Drumlins कहते हैं। यह एक पहाड़ी-नुमा, उलटे हुए नाव के आकार का होता है जिसके दोनों छोर नोकदार होते हैं। इसकी ऊँचाई ५० फुट से ३०० फुट तक होती है। इस प्रकार के अवसाद जहाँ पर पाये जाते हैं वहाँ हिमानी का प्रकोप प्रतीत होता है।

शैल पुंजों से छीनकर लाये गये बड़े बड़े ढोके हिमानी पर सवारी करते अंतिम छोर तक पहुँच जाते हैं। ये ढोके स्तररहित होते हैं। ये ढोके बहुधा टील (Till) कहलाते हैं। जो ढोके ऐसे स्थान में पाये जाते हैं जो अपने प्रारंभिक जगह पर नहीं पाये जाते हैं इसे अपोढ़ (Erratics) कहते हैं। कभी कभी ग्लेशियर स्थित रोड़े बर्फ के धीरे धीरे पिघलने के कारण एक ही किनारे पर टिक जाते हैं और दरवाजे के कब्जे के अनुसार एक ही किनारे पर वर्षों खड़े रहते हैं। यह हाथ में आगे या पीछे सरकाये जा सकते हैं इसे बोझील शिला (Iogging Stone) कहते हैं।

हिमानी-जल-अवसाद

हिम और जल की सहायता से समन्वित अवसाद को हिमानी-जल-अवसाद कहते हैं। ये अवसाद दरी के

लम्ब छोरों पर पाये जाते हैं। ये सीढ़ी के समान स्तर रहित अवसाद घाटीय-टेरेन (Terrain) कहलाते हैं।
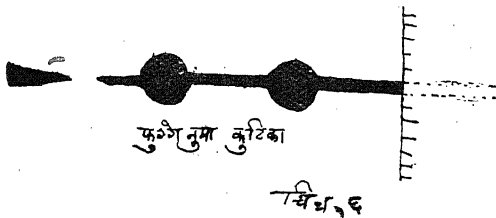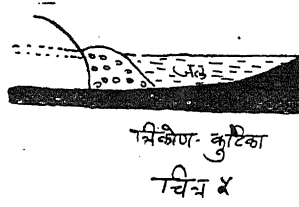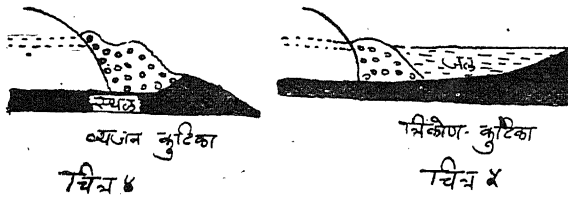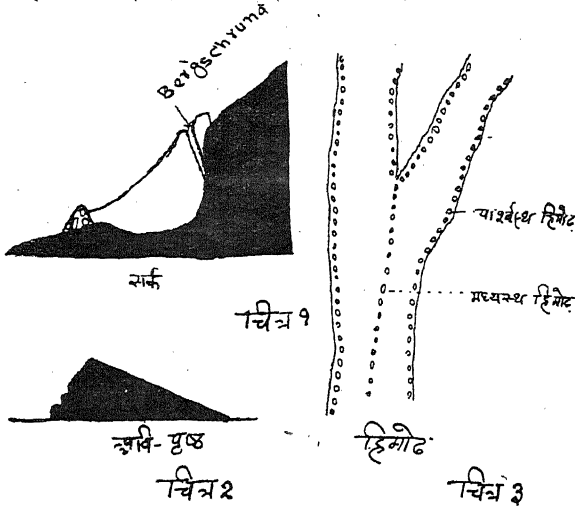
हिमावरण के किनारे से बहती हुई नदियाँ व्यजन (Fans) बनाती हैं इन्हें हिम-व्यजन कहते हैं। ऐसे बहुत से व्यजन मिलकर प्लेन (Plain) बनाते हैं। ये प्लेन्स अंतिम हिमोढ़ के परे रहते हैं। इसे आउटवाश प्लेन्स (Out wash Plains) कहते हैं। हिम-निवर्तन के समय ऐसे प्लेन्स पर ओखली के आकार के बहुत से गड्ढे बन जाते हैं। उस समय इसे गर्त्तीय-प्लेन्स (Pitted Plains) कहते हैं।

कुटिका (Eskers) :—सर्पिण की तरह सकोण-शैलचूर्ण के अवसाद को कुटिका कहते हैं। ये कुटिका उस समय बनती हैं जब हिमानी ऊँचे खाई वाली घाटियों से बाहर निकलती हैं। ये अवसाद स्तर रहित होती हैं। हिम-निवर्तन के समय हिमानी की हरएक रुकावट फुग्गे के निशान से अंकित रहती हैं। अकसर कुटिका व्यजन, त्रिकोण या फुग्गे बनाती हैं।

जब ये कुटिका नोकदार होती हैं तब उसे कंकतगीरि (Kames) कहते हैं। कंकतगीरि और कुटिका में इतना अन्तर है कि कुटिका हिमानी की तली पर, ऊपर या नीचे जमा होती हैं और कंकतगीरि हिमानी के किनारे जमा होता है।

हिमानी जृम्भण को विदार (Crevasses कहते हैं। जब शैल चूर्ण की मात्रा इतनी अधिक होती है और मध्यस्थ भाग की चाल तेज होती है उस समय हिमानी में दरारें पड़ जाती हैं। ये दरारें कभी लम्बाकार कभी आड़ी और चौड़ाई को पार करती हैं।

गर्भस्थ शिशु की कहानी

मूल लेखक— मारग्रेट गिल्बर्ट **अनु०—प्राध्यापक नरेन्द्र सिंह**

[अँग्रेजी की पुस्तक 'बायाग्राफी आफ दी अनबार्न' ' Biography of the Unborn" का हिन्दी रूपान्तर प्राध्यापक नरेन्द्र सिंह जी ने बड़ी रोचक तथा प्राँजल भाषा में किया है। अमेरिका के मूल प्रकाशक विलियम विल्किंस को अनुवाद के अधिकार के लिए पचास डालर (२४० रुपए) देकर विज्ञान परिषद सरल तथा मनोरंजक ढङ्ग से लिखी ऐसी उपादेय पुस्तक का इस मास प्रकाशन कर रही है। पुस्तक के कुछ अंश के नमूने हम इस अंक में दे रहे हैं। आशा है पाठक इसकी शैली तथा पाठ्य सामग्री अत्यंत ही मनोरंजक पाएँगे।]

मानव जाति के विकास को हमारा इतिहास सामाजिक प्राणि-रूप में क्रमबद्ध करता है और मनुष्य के मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक प्रगति की विविध अवस्थाओं का दर्शन हमको महापुरुषों की जीवनियों में मिल जाता है, परन्तु हमको अपने शरीर के गहन तथा पेचीले भौतिक विकास और आकार-वृद्धि के विवरण बहुत ही कम पुस्तकों में मिल पाते हैं। एक उत्सुक तथा बुद्धिमान जिज्ञासु, सरल भाषा के वैज्ञानिक लेखों और पुस्तिकाओं की सहायता से, इस विशाल संसार का इतिहास तथा सूक्ष्मतम परमाणु का संयोजन समझ सकता है और वनस्पति तथा प्राणियों के, पृथ्वी-इतिहास के अगणित युगों में घटित हुए, श्रेणीबद्ध जीव-विकास का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है; परन्तु उस जिज्ञासु को, स्वयं अपने ही शरीर के विकास-विवरण, सरल भाषा में लिखे हुए, कम उपलब्ध हैं।

मनुष्य ने अपनी उत्पत्ति तथा माता के शरीर में घटनेवाली उन कार्य-विधियों तथा परिवर्त्तनों के सम्बन्ध में, जिनके द्वारा शिशु अपना आकार प्राप्त करता है, अनुमान लगाए हैं तथा गवेषणाएँ भी की हैं। इस सम्बन्ध में उसने पुरातन काल से ही तर्क-वितर्क भी प्रारम्भ कर दिये थे, परन्तु आरम्भ के यूनानी दार्शनिकों को कदाचित इतना ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त था कि शिशु-निर्माण से पूर्व संभोग अर्थात् स्त्री पुरुष-सम्मिलन आवश्यक है। इसी थोड़े से ज्ञान पर आरम्भ का यह यूनानी सिद्धान्त आधारित था कि स्त्री केवल ग्रहण करने वाली भूमि है जिसमें पुरुष अपना बीज डालता है; इस प्रकार स्त्री द्वारा दिये गए एक निष्क्रिय पदार्थ को (जो कि उस समय प्रति मास स्रवित रक्त समझा जाता था) एक नये व्यक्ति का रूप और उसकी गतिशीलता तथा आत्मा की प्राप्ति होती थी। सत्रहवीं सदी के अन्त के समीप एक हालैण्ड निवासी चिकित्सक, दि-ग्राफ ने सबसे पहले यह सुझाया कि स्त्री भी, पक्षी के अण्डे की उत्पत्ति-विधि के समान ही, नूतन मानव के आधार स्वरूप, निश्चित आकार का एक सुनिर्मित अण्डा प्रदान करती है। इसके अनेक वर्षों के उपरान्त लीउवेन होइक नाम के हालैण्ड-निवासी, एक चश्मे बनाने वाले ने सर्वप्रथम पुरुष-वीर्य में अति सूक्ष्म जीवों अथवा शुक्रकीटों की उपस्थिति की गवेषणा की तथा यह सिद्ध किया कि मानव जाति के निर्माण में यही पुरुष की देन हैं। इन दो खोजों ने तत्कालीन वैज्ञानिक समाज में मतभेदों तथा तर्क-वितर्कों का एक तूफान खड़ा कर दिया था और यह परिस्थिति लगभग एक सदी तक बनी रही। जीव-विशेषज्ञों में दो विचारधाराओं के समर्थक बन गए थे—एक रजाण्डवादी अथवा डिम्बवादी तथा दूसरे शुक्रकीटवादी। रजाण्डवादियों के अनुसार नवमानव की उत्पत्ति रजाण्ड से होती थी, पर शुक्रकीटवादी इस विचार के

विपरीत, नये जीव के निर्माण के लिये शुक्रकीट को उत्तरदायी ठहराते थे। केवल कल्पना के आधार पर कुछ
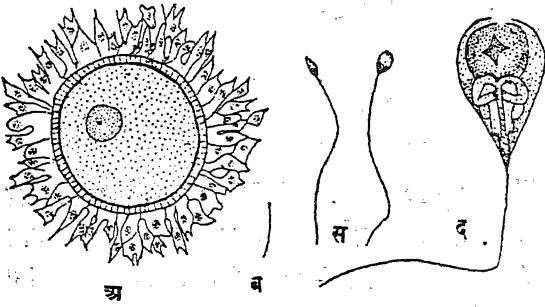
(चित्र १) अ—परिचारक कोष्ठों से घिरा हुआ, लगभग पूरा परिपक्व एक मानवीय रजाण्ड (आकार मूल से १५० गुना बड़ा)।

ब—एक मानवीय शुक्रकीट (आकार मूल से १५० गुना बड़ा)।

स—दो मानवीय शुक्रकीट, एक को बगल से तथा दूसरे को पट करके दिखलाया गया है (आकार मूल से ५२५ गुना बड़ा)।

द—मानवीय शुक्रकीट का एक चित्र जैसा १७वीं सदी के वैज्ञानिकों का अनुमान था, इसमें शुक्रकीट के मस्तक में एक परिपक्व भ्रूण को मुड़ी हुई दशा में दिखलाया गया है।

विचारकों ने तो यह धारणा बना ली थी कि शुक्रकीट में एक लघु आकार के, परन्तु पूर्णनिर्मित, भ्रूण को उन्होंने मुड़ी हुई तथा बल दी हुई अवस्था में देख लिया है (चित्र—१)। पिछली सदी के अन्त समय तक मनुष्य ठीक प्रकार यह नहीं समझ पाया था कि शुक्रकीट का रजाण्ड से संयोजन ही नव मानव की उत्पत्ति करता है। यह मौलिक ज्ञान एक बार सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया, तब फिर जीवन के इस प्रारम्भिक विकास का अध्ययन—गर्भपिण्ड-विज्ञान—बिना किसी रुकावट के उचित रूप से विकसित हो निकला।

प्रारम्भ में मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान पेचीला तथा विवादास्पद विषय था। मनुष्य के गर्भपिण्डों के अध्ययन में बड़ी असुविधाएँ तथा अड़चनें थीं, क्योंकि यह गर्भपिण्ड बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते थे, और यदि मिल भी गए तो अधिकतर बिगड़ी हुई और बुरी दशा में मिलते थे। दूसरी बड़ी अड़चन इस अध्ययन में यह थी कि अल्पावस्था के इन मानवीय गर्भपिण्डों के भीतर होनेवाले पेचीले और वेगशील रूप-परिवर्त्तनों को समझने के लिये विकास-क्रम की निम्न जाति के जीवों के शरीर के विकास का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक था, और यह ज्ञान तत्कालीन गर्भपिण्ड विशेषज्ञों को भी पूरी तरह प्राप्त नहीं था। सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं सदी में मेडिकल कालेजों के उत्सुक तथा परिश्रमी डाक्टरों को कभी कभी ऐसे अवसर अवश्य मिल जाते थे जब कि वह लगभग छः या सात मास के गर्भपतित भ्रूण की चीर फाड़ करके उनका अध्ययन कर सकें। इसी परिश्रम के फलस्वरूप उन्हें भ्रूण के आन्तरिक अंगों का एक अच्छा खासा ज्ञान प्राप्त हो गया था। मानव-शरीर के प्रारम्भिक विकास को विस्तृत रूप से समझने का कोई उचित प्रयास, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम बीस वर्ष के प्रारम्भ तक नहीं किया गया। मनुष्य शरीर के प्रारम्भिक विकास का व्यापक तथा विस्तृत विवरण, सबसे पहले १६१२ ई० में मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान के एक गुटके में प्रकाशित हुआ था, यह उस सहयोगी अध्ययन का परिणाम था जो कि एक विद्वान गर्भपिण्ड-विशेषज्ञ, विल्हेम हिस् ने आरम्भ किया था, और फिर जिसको उसके विद्यार्थियों और अन्य विशेषज्ञों ने आगे बढ़ाया था। इस संकलित अध्ययन के प्रकाशन के उपरान्त तो, विविध आयु के गर्भपिण्डों के अनेक अध्ययन लिखे जा चुके हैं, और अब वर्त्तमान काल में मनुष्य के शरीर के प्रारम्भिक विकास की मुख्य घटनाओं तथा परिवर्त्तनों के सम्बन्ध में विशेषज्ञों को लगभग पूरा ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

जन-साधारण में से उत्सुक व्यक्तियों के लिये मानव-शरीर के प्रारम्भिक विकास का मौलिक ज्ञान प्राप्त करना सदा द्विमुखी समस्या बनारहा है—पहली अड़चन तो यह है कि इस विषय के वैज्ञानिक लेखों तथा पुस्तकों में एक ऐसी शब्दावली प्रयुक्त की जाती है जो कि गर्भपिण्ड-विशेषज्ञ के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को पूरी तरह समझ में नहीं आ पाती, और दूसरे—मनुष्य के शारीरिक विकास के यह विवरण क्रमानुसार व्यवस्थित रूप में नहीं मिल पाते। इस पुस्तक के

लिखने में इन दोनों त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है; यही ध्यान में रखकर मनुष्य के शरीर के प्रारम्भिक विकास को नौ मास के क्रमानुसार एक सुव्यवस्थित रूप में, सरल तथा सुबोध भाषा में लिपिबद्ध करने का प्रयास किया गया है (यह नौ मास शिशु-जन्म से पूर्व, गर्भाधान के उपरान्त मनुष्य की गर्भस्थिति साधारण तथा नियमित जीवन-अवधि हैं)।

मानव शरीर के विकास के इस अध्ययन में विशेषज्ञ तथा जिज्ञासु दोनों ही को ऐसा आकर्षण मिलता है जो कि विकास-क्रम की निम्न जाति के पशुओं के विकास-अध्ययन में उनको नहीं मिल पाता है। मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान में जीव विशेषज्ञ को मनुष्य तथा अन्य पशुओं के पारस्परिक निकट सम्बन्धों का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। मानव-शरीर के विकासकालीन अध्ययन की सहायता से, डाक्टरों को मनुष्य की अनेक विशेषताओं, अस्वाभाविक और अनियमित अवस्थाओं तथा आनुवंशिक गुणों आदि के प्रगट होने के कारण स्पष्ट हो जाते हैं। मानवीय गर्भपिण्ड-विज्ञान के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही जीवन की रहस्य-मयी गर्भकालीन अवस्था का महत्वपूर्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

प्रथम मास
अज्ञात से ज्ञात की ओर

गर्भाधान के बाद प्रथम मास में गर्भित रजाण्ड के भीतर घटने वाले अद्भुत परिवर्त्तनों द्वारा ही, एक अज्ञात तथा अन्धकार पूर्ण अवस्था में से मनुष्याकार का प्रादुर्भाव होता है। गर्भित रजाण्ड इस मास के भीतर ही, एक अति सूक्ष्म अण्डे के आकार से (जो कि लगभग ०.१३ मिलीमीटर लम्बा होता है) रूपान्तरित होकर छः मिलीमीटर लम्बे एक मानवीय गर्भपिण्ड का आकार ग्रहण कर लेता है। इस परिवर्त्तन काल के अन्तर्गत, यह रजाण्ड अपने आकार से अपेक्षाकृत पचास गुना तथा शरीर-भार में लगभग हजार गुना बढ़ जाता है; प्रारम्भ का गोल तथा छोटे आकार का रजाण्ड एक ऐसा रूप प्राप्त कर लेता है जिसमें मस्तक, धड़ तथा पूँछ के भाग स्पष्ट होते हैं। इसके साथ ही इस शरीर में स्पन्दन कार्य करते हुए हृदय के आकार और उससे सम्बन्धित रक्त-संस्थान की उपस्थिति प्रकट हो जाती है तथा हाथ, पैर, आंख, कान, उदर और मस्तिष्क के प्राथमिक आकारों की नींव भी पड़ चुकती है। वास्तव में माता के गर्भ में, इन आरम्भ के तीस दिनों के भीतर ही लगभग उन सभी अंगों का प्रस्थापन कार्य तथा निर्माण प्रारम्भ हो जाता है, जो अंग मनुष्य के आजीवन काम में आते हैं और साथ ही कुछ ऐसे अंगों की रचना का आरम्भ भी इसी समय हो जाता है जो कि प्रसव से पूर्व लुप्त हो जायगे। अपनी उत्पत्ति तथा विकास-सम्बन्धी इन अद्भुत परिवर्त्तनों के साथ ही गर्भपिण्ड को इसी मास में अपनी भोजन-प्राप्ति के प्रयास भी आरम्भ कर देने पड़ते हैं। इस पोषण-कार्य के संचालन के लिए ऐसे विशेष आकारों की रचना की जाती है जिनकी सहायता से गर्भपिण्ड अपनी माता के शरीर से भोजन ग्रहण कर सकने में समर्थ हो सके; इस प्रकार गर्भाशय के कोष्ठ-समूहों के भीतर ही परान्न-भोजी जीवों, अथवा 'पैरासाइट्स', के समान अपना जीवन बिताने तथा आकार-वृद्धि करने की स्वतन्त्रता और सुविधा इस गर्भपिण्ड को प्राप्त हो जाती है।

शुक्रकीट द्वारा गर्भित हो जाने के बाद भी रजाण्ड डिम्बप्रणालियों में अपनी यात्रा गर्भाशय की ओर बराबर करता रहता है। यद्यपि इसका कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है तथापि अनुमानतः गर्भित रजाण्ड गर्भाशय में तीन दिन के भीतर पहुँच जाता है। इस यात्रा-काल में भी रजाण्ड का विकास-कार्य तथा आकार-वृद्धि का कार्य बराबर होता रहता है—शुक्रकीट द्वारा गर्भित हो जाने पर, रजाण्ड में अन्तर्निहित सब शक्तियाँ निर्बन्ध होकर तुरन्त ही रजाण्ड का कोष्ठ-विभाजन वेग से आरम्भ कर देती हैं; सबसे पहले एक-कोष्ठक रजाण्ड स्वयं विभक्त होकर दो कोष्ठों को जन्म

देता है, फिर यह दो कोष्ठ चार कोष्ठों में विभक्त हो जाते हैं, और फिर वे चारों कोष्ठ आठ में, आठों कोष्ठ सोलह में और इस प्रकार इन कोष्ठों का स्वयंविभाजन कार्य निरन्तर इसी क्रम से चलता रहता है जब तक कि मानव शरीर के लाखों, करोड़ों व अगणित कोष्ठों की रचना पूरी नहीं हो जाती।

एक कोष्ठ से, इस प्रकार एक नियमित और अनवरत स्वयं-विभाजन की क्रिया-विधि द्वारा अनेक कोष्ठों के निर्माणकारी विधान को वैज्ञानिक शब्दावली में 'स्वयं कोष्ठ-विभाजन' अथवा 'क्लीवेज' कहते हैं। सब जीव इसी महत्वपूर्ण विधान के अन्तर्गत अपनी रचना तथा आकार- वृद्धि करते हैं। इस विधान का महत्व केवल इन अगणित कोष्ठों की रचना तक ही सीमित नहीं है, वरन् शरीर के विविध कार्यों में प्रयुक्त विभिन्न अंगों को जन्म देने वाले विशेष प्रकार के कोष्ठों का निर्माण तथा स्थापन-कार्य भी इसी विधान के प्रभाव के अन्तर्गत सम्पन्न होता है। मानवीय अण्डा शीघ्र ही, इस विधान के अन्तर्गत, एक छोटी और ठोस गेंद का आकार ग्रहण कर लेता है जिसको 'मोर्युला' कहते हैं। यह माना जाता है कि गर्भाशय के भीतर गर्भित रजाण्ड का प्रवेश इसी विकसित रूप में होता है।

यह स्पष्ट कर दिया जाय कि मानवीय अण्डे के इस अल्पावस्था वाले आकार को अभी तक देखा नहीं जा सका है; सबसे कम आयु का गर्भपिण्ड जो अभी तक देखा जा चुका है, अनुमान से ग्यारह दिन की आयु का माना गया है। ग्यारह दिन की आयु से पूर्व का विकास-विवरण, बन्दर तथा उनके निकट सम्बन्धी पशुओं के विकास और उनकी आकार-वृद्धि के अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान के ऊपर आधारित है। क्योंकि मनुष्य तथा बन्दर के शरीर-विकास के सापेक्षिक अध्ययन से, जीव-विशेषज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गर्भ की अल्पावस्था में दोनों जीवों का विकास और उनकी आकार-वृद्धि समान रूप से ही होती होगी और यह निष्कर्ष तथ्यपूर्ण ही प्रतीत होता है।

गर्भाशय के भीतर छः सात दिन तक यह अण्डा स्वतंत्र रूप से आकार-वृद्धि करता रहता है। इस प्रकार गर्भाधान के उपरान्त गर्भाशय की भीतरी दीवाल में अपना प्रतिष्ठान-कार्य आरम्भ करने में इसको नौ दस दिन लग जाते हैं (गर्भप्रणाली में तीन दिन तथा गर्भाशय में स्वतंत्र रूप से बिताए गए लगभग सात दिन)। अब प्रारम्भ की उस छोटी गेंद 'मौर्युला' के शरीर में एक ओर थोड़ा गहरा एक रिक्त स्थान बन जाता है, फिर इस रिक्त स्थान को भरने के लिये इसी स्थान के भीतरी कोष्ठों के समुदाय द्वारा विशेष कोष्ठों का एक आच्छादन निर्मित किया जाता है जो कि उस गहराई के ऊपर स्थापित कर दिया जाता है—विशेष कोष्ठों के नवनिर्मित इस आच्छादन को 'ट्रोफोब्लास्ट'
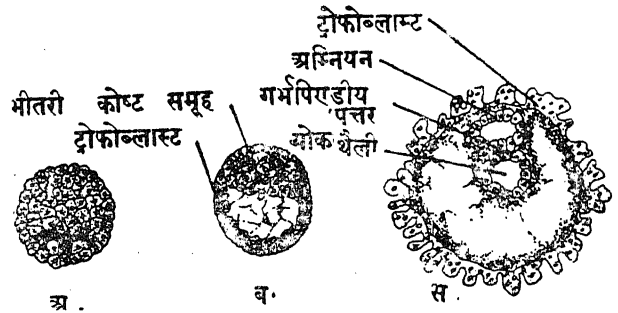
(चित्र ४) गर्भाधान के उपरान्त प्रथम सप्ताह में मानवीय रजाण्ड के विकास को प्रदर्शित करते हुए चित्र—

अ—मोर्युला अथवा कोष्ठों की एक ठोस गेंद जिसमें थोड़े से रिक्त स्थान का बनना बस प्रारम्भ ही हुआ है।

ब—ब्लास्टोसिस्ट अथवा खोखला आकार जिसमें कोष्ठों की बाहरी सतह, ट्रोफोब्लास्ट को भीतरी कोष्ठ समूहसे अलग विशिष्ट कर लिया गया है।

स—भीतरी कोष्ठसमूह के भीतर अम्नियातिक तथा योक थैलियों के लिये छोटे छोटे रिक्त स्थान बन रहे हैं तथा ट्रोफोब्लास्ट से अनेक 'पोषक बाह्याकार' निरूपित होते जा रहे हैं।

अथवा भोजनदायी कोष्ठाच्छादन कहते हैं। 'ट्रोफोब्लास्ट' का निर्माण करने वाले यह कोष्ठ-विशेष मानव-शरीर के किसी भाग की रचना करने में अब स्वयं प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं, वरन् अब इनका कार्य गर्भ के पोषण के लिये यही

रह जाता है कि गर्भावस्था के पूरे नौ मास तक यह अपने आपको गर्भस्थ शिशु के भोजन-रूप में प्रस्तुत करते रहें— इस प्रकार 'ट्रोफोब्लास्ट' के यह कोष्ठ गर्भ की आकार-वृद्धि तथा उसके निर्वाह के लिये पोषक पदार्थ हैं। यह ट्रोफोब्ला स्टीय' कोष्ठ तथा इनके वंशज, प्रसव के समय अपना उपयोग समाप्त हो जाने पर शरीर के बाहर फेंक दिये जायंगे। 'मौर्युला' के 'ट्रोफोब्लास्ट'-निर्मायक कोष्ठों को छोड़कर, उसका भीतरी कोष्ठ-समुदाय ही नूतन मानव के रूप और आकार की स्थापना तथा उसकी रचना करेगा।

गर्भाधान के लगभग दसवें दिन गर्भाशय की भीतरी दीवाल में यह मानवीय रजाण्ड अपना रास्ता बनाना प्रारम्भ कर देता है जिससे कि गर्भस्थित नौ मास के जीवन के लिये एक घर बना ले। गृह-निर्माण के अन्तर्गत ही उसको ऐसे वातावरण की सुविधाऐं भी प्राप्त करनी होती हैं जिनके द्वारा गर्भ में अपने विकास, आकार-वृद्धि तथा निर्वाह योग्य सब साधन तथा पदार्थ (भोजन, जल, ताप तथा सुरक्षा आदि) उसको उपलब्ध होते रहें। इस गृह-प्रतिष्ठान की विधि के लिये समय तथा स्थान का चुनाव यह अण्डा किस प्रकार करता है इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता है और अभी यह एक पहेली ही है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही सप्रमाण ज्ञात है और यह देखा भी जा चुका है कि सबसे कम आयु का गर्भपिण्ड (जो अभीतक देखा गया है) गर्भाशय की दीवाल के एक छोटे से क्षेत्र में इस प्रकार घुसा हुआ तथा चारों ओर के कोष्ठ-समूहों से घिरा हुआ प्रतीत होता है जैसे कि गर्भपिण्ड गर्भाशय के उस क्षेत्र के कोष्ठ-समूहों को पिघला कर तथा पचाकर दीवाल में घुसा हो। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि गर्भाशय की दीवाल के प्राथमिक कोष्ठ-समूहों का भक्षण करके 'ट्रोफो ब्लास्टीय' कोष्ठ- समुदाय ने अण्डे के लिये मार्ग बनाया हो।

इस प्रकार गर्भाशय की दीवाल में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त, यह गर्भपिण्ड अपने सहकारी आकारों को चारों ओर छाए हुए कोष्ठ- समूहों में फैला कर, उन कोष्ठ-समूहों को इतना अधिक तोड़ फोड़ देता है कि उस क्षेत्र में स्थित गर्भाशय की रक्तवाहिनी नलिकाऐं भी टूट फूट जाती हैं तथा उनका रक्त विमुक्त होकर गर्भपिण्ड के चारों ओर भर जाता है। इस कार्य को पूरा करने में 'ट्रोफोब्लास्ट' को लगभग दो सप्ताह का समय लग जाता है; इस काल के अन्तर्गत, 'ट्रोफोब्लास्ट' के द्वारा पचाए गए गर्भाशय के कोष्ठ-समूहों पर निर्वाह तथा अपना पोषण करता हुआ गर्भपिण्ड अपनी आकार-वृद्धि और विकास बराबर करता रहता है।

'ट्रोफोब्लास्ट' के इस विध्वंसकारी-कार्य को माता के शरीर के कोष्ठ- समूह निर्विरोध नहीं सह लेते हैं। माता के शरीर के कोष्ठ-समूहों में इस आक्रमण की आशंका में पहले से ही तय्यारियाँ आरम्भ हो चुकती हैं और गर्भाशय में गर्भित रजाण्ड के पहुँचने के समय तक यह सब कोष्ठ-समूह एक अत्यधिक उत्तेजित तथा क्रियाशील अवस्था में होते हैं—अर्थात गर्भाशय के सब भाग अधिक रक्त से भरे हुए होते हैं, आवश्यक ग्रन्थियाँ अपना रस-स्रावण आरम्भ करने को प्रस्तुत होती हैं तथा दूसरे सब अंग भी अपने अपने विशेष कार्य के अनुरूप इस रजाण्ड के स्वागत के लिये प्रस्तुत होते हैं—गर्भित रजाण्ड के आगमन की आशा में यह सब तय्यार अंग उसी प्रकार प्रस्तुत पाए जाते हैं जैसे एक अच्छी तरह जुती हुई भूमि बीज की प्रतीक्षा में प्रस्तुत होती है। प्रत्येक मास में डिम्बग्रन्थि के द्वारा एक परिपक्व रजाण्ड को स्वतंत्र कर देने के उपरान्त ही माता के शरीर के भीतर यह सब तय्यारियाँ इस आशा में प्रारम्भ कर दी जाती हैं कि सम्भवतः यह रजाण्ड शुक्रकीट के द्वारा गर्भित हो जावे, यदि ऐसा हो गया तो निश्चय ही गर्भाशय में पहुँचकर यह अपने आपको प्रतिष्ठित करेगा। इसका अर्थ यह है कि वह परिपक्व रजाण्ड गर्भित हो या न हो गर्भाशय की यह सब तय्यारियां स्त्री के मासिक चक्र में एक बार अवश्य होती हैं। गर्भाधान न होने की दशा में गर्भाशय द्वारा नवनिर्मित सब अतिरिक्त कोष्ठ-समूह तथा अतिरिक्त रक्त स्त्री के मासिक-स्राव के रूप में स्त्री-शरीर के बाहर कर दिये जाते हैं। प्रत्येक मासिक चक्र में स्त्री शरीर में एक परिपक्व रजाण्ड के स्वतन्त्र हो जाने पर यह सब तय्यारियां इसी आशा में फिर प्रारम्भ कर दी जाती हैं कि कदाचित इस बार गर्भाधान हो जाय।

गर्भित रजाण्ड के इस प्रकार प्रतिष्ठान करते ही गर्भाशय के कोष्ठ- समूह में प्रारम्भ में ऐसी प्रतिक्रिया होती है जैसी कि किसी बाहिरी शत्रु के आक्रमण के समय

एक जीव के शरीर में होना स्वाभाविक है— सबसे पहले वाह्य आक्रमण से शरीर की रक्षा करने वाले कोष्ठ, इस गर्भित रजाण्ड को एक संक्रमण समझ कर, आक्रमण किये गए स्थान की ओर भेजे जाते हैं; फिर गर्भाशय की रक्त-
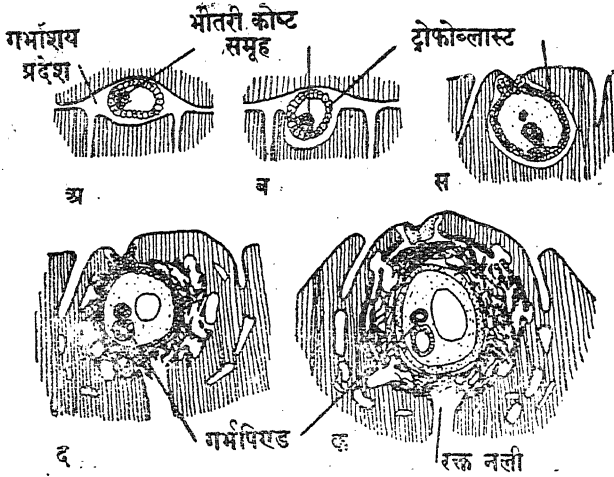
(चित्र ५. गर्भाशय की दीवाल में रजाण्ड-प्रतिष्ठानको प्रदर्शित करने वाले चित्र। गर्भाशय की समानान्तर रेखाओं से अंकित किया गया है। अ, ब तथा स अनुमानित स्थितियां हैं; द, क—वे अल्पतम आयु के गर्भपिण्ड हैं जिनको पहचाना जा चुका है।

अ—रजाण्ड गर्भाशय प्रदेश में प्रतिष्ठित होता है।

ब—रजाण्ड गर्भाशय की दीवाल में एक छोटे गड्ढे में प्रतिष्ठित होता है।

स - गर्भाशय-दीवाल में एक छोटे से रिक्त स्थान के भीतर घिरा हुआ रजाण्ड।

द—रजाण्ड का ट्रोफोब्लास्ट गर्भाशयी कोष्ठ समूह का विनाश करता है। गर्भपिण्ड अब 8 के आकार का है।

क—ट्राफोब्लास्ट के बाह्याकार गर्भाशयी कोष्ठसमूह पर आक्रमण करके गर्भाशय की रक्त-नलियों को और अधिक ढकेल देते हैं।

वाहिनी नलिका में वेग से अधिक रक्त-संचार तथा ग्रन्थियों द्वारा वेग से उत्तेजक रसस्रावण होने लगता है और रजाण्ड द्वारा आक्रमित स्थान के चारों ओर के कोष्ठ विकसित होकर दीर्घ आकार प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जब 'ट्रोफोब्लास्टीय' कोष्ठों द्वारा गर्भाशय के कोष्ठसमूहों का भक्षण तथा पचन-कार्य निरन्तर होता रहता है तथा गर्भाशय की रक्तवाहिनी नलिकाएँ और अधिक विस्तृत रूप से खोल दी जाती हैं, तो गर्भाशय इस आक्रमण के विरुद्ध अपने आपको रक्षा में अयोग्य तथा असमर्थ जानकर इस प्रतिष्ठित गर्भपिण्ड के चारों ओर पुष्ट कोष्ठ समूहों की एक रक्षक दीवाल बना लेता है और अन्त में अपने भीतर प्रतिष्ठित इस गर्भपिण्ड के पालन-पोषण तथा उसकी नियमित आकार-वृद्धि के उपयुक्त सुविधाएँ प्रस्तुत करने और साधन जुटाने के के लिये एक उपयोगी तथा 'ट्रोफोब्लास्ट' के कार्य के अनुकूल सहकारी अंग की रचना प्रारम्भ कर देता है।

यह नवनिर्मित सहकारी अंग ही गर्भझिल्ली है—गर्भाशय तथा गर्भपिण्ड दोनों के कोष्ठसमूहों से बना हुआ यह चकती के आकार का एक अंग होता है जो कि एक ओर गर्भाशय की दीवाल में धँसा हुआ होता है तथा दूसरी ओर मोटी रस्सी के रूप वाली एक नलिका द्वारा गर्भपिण्ड से सम्बद्ध होता है। यह नलिका ही गर्भनाल कहलाती है। गर्भनाल के भीतर ही माता के रक्त-संचारी संस्थान से सम्बन्धित नलिकाएँ स्थित होती हैं, गर्भ-झिल्ली तथा गर्भपिण्ड के बीच आवश्यक पदार्थों के आदान-प्रदान के लिये यही नलिकाएँ माध्यम हैं। गर्भपिण्ड के पालन-पोषण तथा विकास के लिये आवश्यक भोजानांश, आक्सीजन और जल जैसे पदार्थ माता के रक्त में होकर गर्भ-झिल्ली तक पहुँचते हैं, इस स्थान पर 'ट्रोफोब्लास्ट' इन पदार्थों को सोख लेता है और अन्त में गर्भनाल में स्थित नलिकाओं के अन्दर प्रवाहित होकर यह पदार्थ गर्भपिण्ड को उपलब्ध हो जाते हैं (आक्सीजन वायु का वह आवश्यक भाग है जिसकी प्राप्ति के लिये ही जीवों का श्वास-निश्वासन कार्य सम्पादित होता है; यह शरीर के प्रत्येक कार्य-संचालन के लिये आवश्यक पदार्थ

है)। दूसरी ओर से इन्हीं नलिकाओं द्वारा गर्भपिण्ड के अनुपयोगी तथा व्यर्थ पदार्थ गर्भझिल्ली तक वापस पहुँचा दिये जाते हैं और वहाँ पर अशुद्ध रक्त में मिलकर माता के रक्त-संचारी संस्थान के अन्तर्गत फेफड़ों तथा गुर्दों में पहुँचकर शरीर के बाहर कर दिये जाते हैं। प्रमाणित अध्ययनों के आधार पर पुरातन काल की यह धारणा, कि माता का रक्त गर्भपिण्ड में संचरित होता है, असत्य सिद्ध कर दी गई है।

गर्भपिण्ड के विकास के साथ साथ ही गर्भझिल्ली की आकार-वृद्धि भी होती रहती है। गर्भपिण्ड की तीन सप्ताह की आयु होने तक यह अंग-गर्भझिल्ली, गर्भाशय की भीतरी सतह का पांचवां भाग घेर लेता है, दो मास की आयु तक उस प्रदेश का तीसरा भाग तथा पांच मास की गर्भावस्था हो जाने तक गर्भाशय का आधा भाग इस विकसित तथा फैले हुए अंग से आच्छादित हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद गर्भझिल्ली की
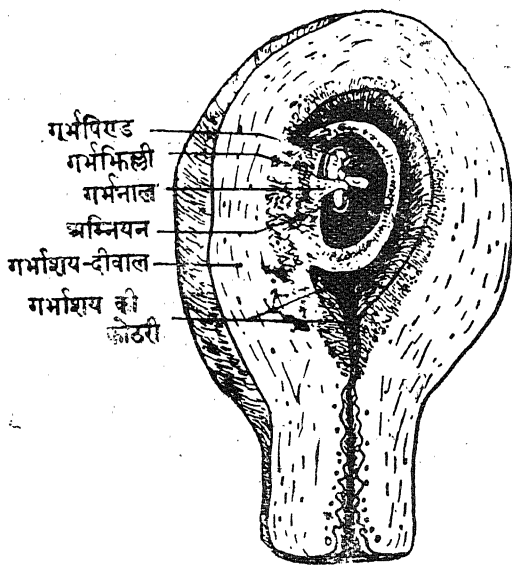
(चित्र ६) एक मास का गर्भ धारण किये हुए एक गर्भाशय का खड़ा कटा हुआ चित्र जिसमें अम्नियन से घिरे हुए तथा गर्भझिल्ली व गर्भनाल द्वारा गर्भाशय की दीवाल से सम्बद्ध गर्भपिण्ड को दिखलाया गया है।

आकार-वृद्धि केवल उसके मुटापे में ही होती है। प्रसव के उपरान्त गर्भझिल्ली, अनुपयोगी हो जाने के कारण, माता के शरीर के बाहर फेंक दी जाती है।

इस विकासकाल के अन्तर्गत गर्भपिण्डीय शरीर के प्रत्येक भाग में होने वाले पेचीले किन्तु उपयोगी परिवर्त्तन, अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं तो बड़े अद्भुत अवश्य होते ही हैं, परन्तु गर्भपिण्ड के अस्तित्व की रक्षा के प्रथम प्रयास भी बड़े अद्भुत होते हैं, जो गर्भझिल्ली में ही प्रारम्भ होते हैं। इस नूतन मानव को जिन आनुवंशिक गुणों तथा शक्तियों की प्राप्ति गर्भाधान के समय हुई थी, उनकी सहायता से तथा उनके प्रभाव के अन्तर्गत गर्भपिण्डीय शरीर में केवल ऐसे ही आकारों की रचना तथा विकास हो सकता है जिनका पालन-पोषण तथा जिनकी रक्षा गर्भझिल्ली द्वारा उचित रूप से हो सके। यद्यपि नूतन जीव के मानवीय आकार तथा रूप का निर्धारण रजाण्ड तथा शुक्रकीट के सम्मिलन के क्षण पर ही हो जाता जाता है, तब भी इस आकार और रूप का सम्पूरित होना, न होना गर्भझिल्ली के सहयोग तथा उसके सफल कार्य-सम्पादन पर ही निर्भर होता है। इस तथ्य के आधार पर जीवविशेषज्ञ गर्भझिल्ली से सम्बन्धित बाधा तथा विरोधों को अत्यधिक महत्व देते हैं—जीवन-विशेषज्ञों का कहना है कि गर्भझिल्ली से सम्बन्धित एक विशेष शक्ति, जिसका रहस्य अभी नहीं खुल पाया है, यह निश्चित करती है कि कौन सा पदार्थ गर्भपिण्ड तक पहुँचने दिया जाय और कौन सा नहीं। गर्भझिल्ली के द्वारा प्रस्तुत की गई इन्हीं विघ्नबाधाओं को जीतने के लिए गर्भपिण्ड के प्रथम प्रयास प्रारम्भ होते हैं।

गर्भझिल्ली में किये गए इन प्रयासों के समकाल ही, 'मौर्युला' में (कोष्ठों की लघु आकार की गेंद) भी उन रूप-परिवर्त्तनों का घटना-प्रवाह होता रहता है जो गर्भपिण्ड को मानव-रूप देंगे और इसी घटना प्रवाह के प्रभाव से उसकी आकार-वृद्धि होती है। गर्भाधान की दीवाल में 'ट्रोफोब्लास्ट' द्वारा गृह-प्रतिष्ठान कार्य सम्पादित करते रहने के समय ही गर्भित रजाण्ड के आन्तरिक कोष्ठ समूह ठोस 'मौर्युला' को खोखले, दो छेद वाले एक छोटे आकार में रूपान्तरित कर देते हैं, इस शरीर में आन्तरिक प्रकोष्ठों

का विभाजन दो स्तर वाली एक चद्दर द्वारा कर दिया जाता है, जिससे दो प्रकोष्ठ बन जाते हैं। अब तक जो सबसे कम आयु के मानवीय गर्भपिण्ड प्राप्त हुए हैं तथा जिनका अध्ययन उचित प्रकार से किया जा चुका है, वह विकास की इसी ऊपर लिखी स्थिति में तथा इसी आकार के पाए गए हैं (अनुमान से विकास की यह अवस्था गर्भाधान के लगभग ग्यारह अथवा बारह दिनों के उपरान्त होती है)।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इस नये आकार की यह दो स्तर वाली चद्दर ही पूर्ण विकसित मनुष्य के शरीर की उद्गम है, पूर्ण विकसित मानव-शरीर की रचना केवल इसी भाग से सम्पादित की जायगी। दो छेद वाले इस आकार की ऊपरी तथा निचली दीवालों से गर्भावस्था के उपयुक्त आकारों की ही रचना होती है। केवल गर्भावस्था के समय काम में आने वाले, यह आकार प्रसव के समय बाहर कर दिये जाते हैं। उस दो स्तरवाली चद्दर का भी एक बहुत ही छोटा भाग मनुष्य-शरीर निर्मायक है; क्योंकि प्राथमिक कोष्ठसमूहों का यह समुदाय, अर्थात् दो स्तर वाली चद्दर, विकास-काल के अन्तर्गत, बार बार कोष्ठों के छोटे छोटे खण्डों को अलग करती रहती है जिनसे केवल गर्भावस्था में काम में आने वाले आकारों की रचना होती है और इस प्रकार इस मौलिक वस्तुमान का एक बहुत ही छोटा अंश विकसित होकर मानव-शरीर के आकार को प्राप्त करता है। यह सब आकार जो कि केवल गर्भावस्था के समय काम में आते हैं, 'अतिरिक्त गर्भपिण्डीय आकार' कहलाते हैं तथा इनकी रचना का प्रयोजन केवल यही है कि विकास-काल के अन्तर्गत गर्भस्थ-शिशु का पालन-पोषण तथा उसकी रक्षा करते रहें।

अभी तक दिये गए विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि अतिरिक्त गर्भपिण्डीय आकार तीन हैं :—

(१) ट्रोफोब्लास्ट—जैसा बताया जा चुका है कि यह गर्भझिल्ली की रचना करके उसके कार्य-सम्पादन में सहायता करता है; (२) अम्नियातिक थैली—उपर्युक्त दो छेद वाले आकार का ऊपरी प्रकोष्ठ—इसमें एक विशेष प्रकार का घोल भरा हुआ होता है और इस कारण इसका कार्य एक जल-थैली के अनुरूप हो जाता है—गर्भस्थ शिशु इसमें तैरता रहता है। घोल अथवा द्रव पदार्थ 'अम्नियन' और प्रकोष्ठ अम्नियातिक थैली कहलाता है; (३) योक-थैली—गर्भ पिण्ड के उदर वाले पार्श्व से चिपका हुआ, दो छेद वाले आकार का निचला प्रकोष्ठ—यह थैली अन्य पशुओं की योक-थैली के समरूप तथा उसी स्थिति में होने के कारण ही मानवीय-गर्भपिण्ड में भी योक-थैली ही कहलाती है, यथार्थ में मानवीय गर्भपिण्ड की योक-थैली के भीतर 'योक' अर्थात अण्डे का पीला पदार्थ नहीं भरा होता है, वरन् वह लगभग रिक्त होती है। प्रारम्भ में ऊपरी थैली रिक्त होती है, परन्तु शीघ्र ही एक द्रव पदार्थ से भर जाती है। अम्नियातिक थैली के इस द्रव पदार्थ की मात्रा धीरे-धीरे स्थायी गति से बढ़ती रहती है और अन्त में मोटी गर्भनाल के अतिरिक्त गर्भपिण्ड को यह द्रव पदार्थ इस प्रकार चारों ओर से घेर लेता है कि गर्भपिण्ड वास्तविक रूप से उसमें तैर निकलता है और इसी प्रकार की जलमग्न अवस्था प्रसव तक स्थायी बनी रहती है। माता के शरीर की अस्थिरता से पैदा हुए धक्कों आदि से कोमल तथा निर्बल शिशु की रक्षा यही जलनिमग्न अवस्था करती है; यही जल-प्रकोष्ठ धक्कों व उत्पादित अस्थिरता को प्रभावहीन करता है जिससे कि गर्भस्थ शिशु को उन बाह्य प्रहारों तथा धक्कों से कोई आघात न पहुँचे। प्रसवकाल के प्रारम्भ में यह अम्नियातिक थैली फट जाती है और इसके भीतर भरा हुआ सब द्रव पदार्थ शिशु-जन्म के पूर्व ही गर्भाशय के बाहर योनि-मार्ग के द्वारा निकल जाता है तथा इस झिल्ली के अवशेष शिशुजन्म के उपरान्त गर्भझिल्ली के साथ ही शरीर के बाहर निकाल दिये जाते हैं।

योक-थैली, (दो स्तर वाली चद्दर के नीचे की ओर की थैली), गर्भ के प्रथम मास में आकार-वृद्धि करके गर्भपिण्ड के उदरपार्श्व से लटकी हुई विशाल थैली का रूप ग्रहण कर लेती है। गर्भ-विकास के दूसरे मास में योक-थैली को गर्भपिण्ड से सम्बद्ध करने वाली संयोजक-नलिका, धीरे धीरे संकुचित होकर अन्त में टूट जाती है और योक थैली को गर्भपिण्डीय शरीर से बिल्कुल अलग कर देती है। इस प्रकार अलग होकर यह थैली अव्यवस्थित तथा बिखरे हुए अनुपयोगी कोष्ठसमूहों के रूप में गर्भझिल्ली से जुड़ रहती है तथा प्रसव के उपरान्त गर्भझिल्ली के साथ ही अन्य

आकारों की तरह यह भी माता के शरीर के बाहर कर दी जाती है।
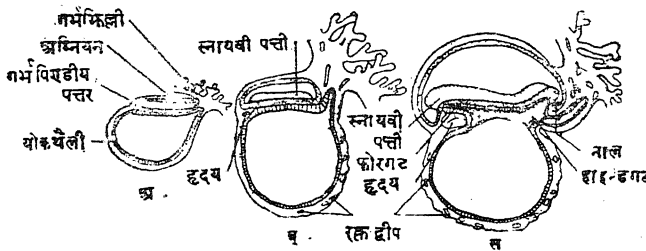
(चित्र ७) *तीसरे सप्ताह में गर्भपिण्ड के विकास को प्रदर्शित करते हुए चित्र। गर्भपिण्ड तथा उससे सम्बद्ध झिल्लियों को खड़ा काटा गया है और केवल अधो गर्भपिण्ड ही दिखलाई पड़ता है। एक्टोडर्म को बड़े बड़े बिन्दुओं तथा मेजोडर्म को छोटे बिन्दुओं से अंकित किया गया है।*

अ - एक चपटे, गर्भपिण्डीय पत्तर से बना गर्भपिण्ड ऊपर की ओर एक छोटे अम्नियन से तथा नीचे एक बड़ी योक थैली से ढँका; यह गर्भझिल्ली के द्वारा गर्भाशय से सम्बद्ध है।

ब—योकथैली में रक्त-द्वीप प्रगट हो चुके हैं, एक छोटी हृदय-नली का निर्माण हो गया है, पत्तर की ऊपर सतह स्नायवी पत्ती बनाने के लिए मोटी हो गयी है।

स— गर्भपिण्ड के मस्तक तथा उसकी पूँछ बनाने के लिए स्नायवी पत्ती झोल खा चुकी है, जिसके भीतर गट छेद स्थित है, हृदय-नली पूरी बन चुकी तथा अम्नियन बड़ा हो गया है।

अपने पालन-पोषण तथा धक्के आदि से बचाव की सुव्यवस्था हो जाने के उपरान्त, गर्भित रजाण्ड का मानव-निर्मायक मौलिक भाग, जो कि अम्नियातिक थैली तथा जल-थैली के मध्य स्थित होता है, (अर्थात् दो स्तर वाली चद्दर) पूरे उत्साह से मनुष्य-शरीर के आकार की रचना में जुट जाता है। इस वास्तविकता पर विस्मय अवश्य होता है कि गर्भपिण्ड का मौलिक भाग हृदय तथा मस्तिष्क की ओर आकर्षित होकर सबसे पहले इन्हीं अंगों के प्राथमिक और सरलतम गर्भपिण्डीय आकारों की रचना करता है। आगे कुछ लिखने से पूर्व एक बात यहीं समझा देना उचित होगा कि इस पुस्तक में जहाँ कहीं भी ऐसे वाक्य हों जैसे—गर्भपिण्ड का आकर्षित होना, उसकी इच्छा करना, तथा उसका योजना बनाना आदि आदि जिनसे शब्दार्थ में गर्भपिण्ड अथवा भ्रूण का कारक रूप इंगित होता है, उन वाक्यों से यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि गर्भपिण्ड अथवा भ्रूण स्वयं ही कर्त्ता है। अध्ययन तथा अन्वेषण द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान के आधार पर अभी तक यही कहा जा सकता है कि इस नये जीव को अपनी उत्पत्ति, रचना तथा अपने विकास-कालीन परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह को चुनने का कोई अधिकार नहीं है। वह स्वयं परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह को निर्देशित अथवा उसमें हस्तक्षेप कर सकता है।

अल्पावस्था के गर्भपिण्ड के थोड़े से यह प्राथमिक मुख्य कोष्ठ रचना-कार्य के अनुसार अलग अलग विभाजित नहीं होते हैं—तात्पर्य यह है कि इन कोष्ठों में 'डिवीजन आफ लेबर' अर्थात् कार्य-विभाजन के अनुसार विशिष्टीकरण नहीं होता है। इस प्राथमिक कोष्ठसमुदाय का कोई भी मुख्य कोष्ठ शरीर के किसी भी अंग अथवा भाग की रचना में प्रयुक्त हो सकता है। कोष्ठों के इस समुदाय में घटने वाले एक परिवर्त्तन के फलस्वरूप दूसरे परिवर्त्तन की उत्पत्ति हो जाती है, दूसरे से तीसरे परिवर्त्तन की उत्पत्ति और इसी क्रम से घटना-प्रवाह के अन्तर्गत अनेक परिवर्त्तनों की उत्पत्ति होती जाती है और यह घटना-प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। हाँ! अब इन उत्पादित परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह के अन्तर्गत प्रत्येक परिवर्त्तन के प्रतिफल-स्वरूप भिन्न-भिन्न कोष्ठ भिन्न-भिन्न आकारों की रचना के लिये विशिष्ट होते जाते हैं—इन सब का अन्तिम फल सम्मिलित रूप में पूर्ण विकसित मानव-शरीर की सम्पन्न रचना होता है। गर्भ के भीतर यह रचना-कार्य समाप्त हो चुकने पर भी परिवर्त्तनों का यह घटना-प्रवाह टूटता नहीं है, वरन् मनुष्य के शैशवकाल, किशोरावस्था, वयस्क आयु में ही नहीं है, पर वृद्धावस्था और अन्त में मृत्यु-पर्यन्त निरन्तर चलता रहता है। मानव

जीवन में निरन्तर होने वाले परिवर्त्तनों का घटना-प्रवाह गर्भ-पिण्ड के मौलिक रूप-गर्भित रजाण्ड में प्रारम्भ तो अवश्य होता है, पर जैसे बरगद का दैत्याकारी वृक्ष अपने अत्यधिक छोटे बीज में चिन्हित नहीं किया जा सकता, वैसे ही भविष्य के मानव रूप की उपस्थिति भी इस गर्भित रजाण्ड में इंगित तथा चिन्हित नहीं की जा सकती है।

गर्भित रजाण्ड की उपर्युक्त दो स्तर वाली चद्दर, जो कि गर्भपिण्ड का प्रारम्भिक मूल आकार है, गर्भपिण्डीय-मण्डल अथवा गर्भपिण्डीय चकती कहलाती है क्योंकि इसका रूप एक चकती के समान होता है—बीच में उभरी तथा किनारों पर दबी हुई (चित्र ८)। अब गर्भपिण्डीय मण्डल अथवा चकती की दोनों सतहों अथवा स्तरों को
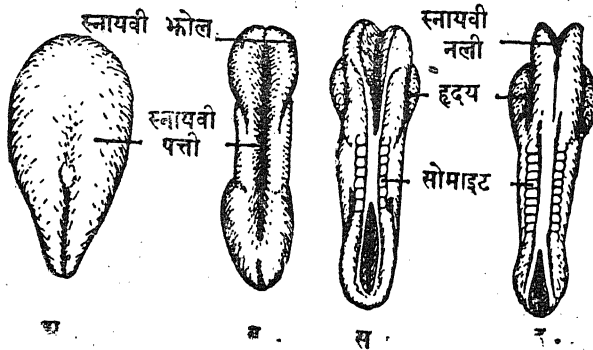
(चित्र ८) तीन तथा चार सप्ताह के गर्भपिण्डों के चित्र, जिनमें विशेषरूप से स्नायु संस्थान के निर्माण को दिखलाया गया है। सब गर्भपिण्डों का अवलोकन चोटी की तरफ से किया गया है।

अ—गर्भपिण्डीय चकती, अण्डाकार स्नायवी पत्ती को दिखलाता है।

ब—मोटी हुई स्नायवी पत्ती भूल खाकर एक नली में बदलती जा रही है।

स—एक बन्द स्नायवी नली बनाने के लिए स्नायवी भूलें शरीर से मध्यभाग के ऊपर एक दूसरे से जुड़ गई हैं। भावी मांसपेशी पदार्थ (सोमाइट्स) के खण्ड स्नायवी-नली के सहारे बन चुके हैं; हृदय अच्छी तरह बन गया है।

द—मस्तक(ऊपरी) तथा पूंछ (निचले) सिरों को छोड़ कर स्नायवी नली पूरी तरह बन चुकी है।

अलग अलग नामों से पुकारा जाता है जिससे कि समझने में सरलता तथा सुगमता हो। ऊपर की ओर बाहिरी सतह 'ऐक्टोडर्म' अर्थात बाह्य स्तर और भीतरी सतह जो योक-थैली के निकट होती है 'ऐण्डोडर्म' अर्थात आन्तरिक स्तर कहलाती है। विकास के इसी काल में इन दोनों सतहों के मध्य एक तीसरी सतह भी स्थापित हो जाती है जो अपनी स्थिति के अनुरूप 'मेजोडर्म' अर्थात मध्यवर्ती स्तर के नाम से पुकारी जाती है।

जीवों के विकास-क्रम में यह ध्यान देने योग्य बात है कि केंचुए से लेकर मनुष्य तक, प्रत्येक जीव अपनी प्राथमिक और प्रारम्भिक सतहों का कार्य-संचालन एक समान होता है। दृष्टान्त रूप बाह्यस्तर गर्भपिण्डीय शरीर में सर्वदा त्वचा की रचना में प्रयुक्त होता है, यह गर्भपिण्ड चाहे किसी भी जीव का हो, रेंगने वाले सर्प, उड़ने वाले पक्षी अथवा मनुष्य का।

मध्यवर्ती स्तर अर्थात 'मेजोडर्म' बाह्य तथा आन्तरिक स्तरों के मध्य ही सीमित नहीं रहता है, वरन् गर्भपिण्ड के बाहिरी क्षेत्रों में भी यह इस प्रकार फैल जाता है कि 'ट्रोफोब्लास्टीय' कोष्ठ समुदाय भीतर की ओर से तथा 'ऐम्नियन' अर्थात जल-थैली और योक-थैली बाहर से ढक जाय। इस स्तर के यह आच्छादन-कार्य समाप्त करने के बाद तत्काल ही, योक-थैली को आच्छादित करने वाले भाग के अतिरिक्त, मध्यवर्ती स्तर के बाकी सब भाग में विशेष प्रकार के प्राथमिक कोष्ठ धब्बों के रूप में प्रकट हो जाते हैं। इन विशेष कोष्ठों का अगला काम अभी निश्चित रूप से इंगित किया जा सकता है। समूह में पाए जाने वाले ये कोष्ठ गर्भपिण्ड के प्राथमिक रक्त-कोष्ठ हैं, इनके एकत्रित समूह को रक्त-द्वीप कहते हैं। गर्भावस्था के इस तीसरे सप्ताह में, इस प्रकार रक्त-संचारी संस्थान का प्रारम्भ भी हो जाता है। कुछ दिनो के भीतर ही और अधिक संख्या में रक्त-द्वीप प्रगट हो जाएँगे तथा इन द्वीपों के मध्य स्थित रक्त-कोष्ठ, मध्यवर्त्ती स्तर के आच्छादन की अति सूक्ष्म और नवनिर्मित रक्त-नलिकाओं में स्वतंत्र होकर एक धीमी, पर स्थायी धारा के रूप में बह निकलेंगे।

इस प्रकार रक्त-संचारी संस्थान के प्रारम्भिक विकास के

समय ही, गर्भपिण्डीय शरीर के एक विशेष भाग में (जो थोड़े समय बाद ही मस्तक की ओर वाले सिरे के रूप में विशिष्ट होगा) यह नवनिर्मित और सूक्ष्म रक्त-नलिकाएँ परस्पर सम्बद्ध तथा संयुक्त होकर एक मोटी रक्त-नली अर्थात हृदय-नली की रचना कर लेती हैं (चित्र—७)। मानव शरीर के पूर्ण विकसित हृदय के आकार का यह सरलतम प्राथमिक रूप है, और यह हृदय-नली ही रूप-परिवर्त्तनों के पेचीले घटना-प्रवाह में बहकर अनेक दिनों के उपरान्त पूर्ण विकसित हृदय का रूप ग्रहण कर लेगी। हृदय का यह प्राथमिक आकार, पूर्ण विकसित हृदय-आकार के सम्पूरित होने की प्रतीक्षा न करके, अपनी रचना के बाद शीघ्र ही शरीर में रक्त-संचार के लिये अपना स्पन्दन कार्य प्रारम्भ कर देता है। सबसे पहले इस हृदय-नली में एक धीमी सिहरन अथवा कम्पन उठता है, इसके बाद दूसरी, फिर तीसरी और इसी क्रम से इस नली का स्थायी स्पन्दन-कार्य (क्रमानुसार संकोचन तथा फैलाव) प्रारम्भ हो जाता है और इसी स्पन्दन कार्य के प्रभाव के अन्तर्गत गर्भपिण्डीय शरीर तथा गर्भझिल्ली में फैली हुई रक्त-नलिकाओं में रक्त-संचरित हो निकलता है।

इस गर्भपिण्डीय शरीर में यह रक्त-संचार, गर्भाधान के लगभग इक्कीसवें दिन सबसे पहले प्रारम्भ होता है, तदनन्तर गर्भ के बाकी आठ मास और जन्म के उपरान्त आजीवन हृदय का यह स्पन्दन कार्य मानवशरीर में होते रहना आवश्यक है क्योंकि हृदय-स्पन्दन के प्रभाव के अन्तर्गत संचरित रक्त के माध्यम से ही शरीर के विविध अंगों को आवश्यक तथा पोषक भोजनांश मिलते हैं; रक्त में घुलकर ही यह सब भोजनांश शरीर के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जा सकते हैं। गर्भ पिण्डीय शरीर में हृदय-नलिका के इस स्पन्दन-कार्य को देखकर पुरातन जीव-विशेषज्ञ विस्मय में पड़ गए थे और उस समय उनका विश्वास यह हो गया था कि मानव शरीर के विकास काल में प्राथमिक हृदय-नलिका के स्पन्दन-कार्य के प्रारम्भ का चमत्कारी क्षण ही जीवन का प्रारम्भ है, जब कि मानव शरीर में आत्मा का प्रवेश होता है।

गर्भपिण्ड में रक्त-संचारक संस्थान के विकास के समकाल ही स्नायु संस्थान का प्रतिष्ठान भी प्रारम्भ हो जाता है। स्नायु-संस्थान के विकास के अन्तर्गत, सबसे पहले गर्भपिण्डीय-मण्डल के बाह्य स्तर अथवा त्वचा में एक मोटे अण्डाकारी भाग की रचना होती है—यह प्राथमिक आकार स्नायु-मण्डल अथवा स्नायु-चकती के नाम से पुकारा जाता है। यह प्राथमिक आकार शरीर के पूरे स्नायु-संस्थान का उद्गम और प्रारम्भिक रूप है (चित्र ७ और ८)। इस स्नायु-मण्डल के किनारे, थोड़े समय के उपरान्त, मध्य के चपटे भाग के दोनों तरफ उभड़ कर परस्पर संयुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार एक गोल नली के आकार को जन्म दे देते हैं—यही प्राथमिक स्नायु-नलिका है (स्नायु-संस्थान से सम्बन्धित यह रूप-परिवर्त्तन गर्भ की २२ से २६ दिन की आयु के भीतर घटते हैं) गर्भपिण्डीय शरीर के पृष्ठ भाग के ठीक मध्य में यह स्नायु-नलिका प्रतिष्ठित होती है, (यह ध्यान में रखना चाहिये कि गर्भपिण्डीय शरीर विकास की इस आयु तक विविध भागों में—पृष्ठ भाग और अग्रभाग आदि में विभक्त हो चुकता है)। अपनी आकार-वृद्धि कर के यह स्नायु-नलिका ही मनुष्य के मस्तिष्क और मेरु-सुषुम्ना के आकारों में परिवर्त्तित हो जायगी। गर्भावस्था में, मानव शरीर के विकास तथा उसके विविध रूपान्तरों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि इस स्नायु-नलिका का ऊपरी अग्रिम भाग फैल कर मस्तिष्क की रचना करता है तथा नीचे की ओर का पृष्ठभाग लम्बा होकर सुषुम्ना के भागों को जन्म देता है। स्नायु-संस्थान पूर्ण विकसित पेचीले आकार मस्तिष्क तथा मेरु सुषुम्ना के प्राथमिक चिन्हों के अभाव में, अल्पायु के इस गर्भपिण्डीय शरीर में (गर्भाधान के लगभग चौथे सप्ताह में) यह स्नायु-नलिका स्नायु-संस्थान के मुख्य लक्षणों का प्रतिनिधित्व करती है—तात्पर्य यह है कि यह स्नायु-नालिका ही वयस्क मानव की अमूल्य सम्पत्ति-मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के प्रादुर्भाव का प्रदर्शन करती है।

रक्त-संचारक संस्थान तथा स्नायु-संस्थान की नींव पड़ जाने के उपरान्त, गर्भपिण्ड का ध्यान भोजन-नली की रचना में लगता है, क्योंकि पाचन-संस्थान भी मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। तथा महत्त्वपूर्ण साधारण प्रचलित भाषा में भोजन-नली को पेट कहा जाता है, वैज्ञानिक इसको पाचक-नली अथवा पाचन-नली कहते हैं, परन्तु गर्भविशेषज्ञ भोजन-नली के प्राथमिक आकार को, जिसकी स्थापना गर्भपिण्ड में

होती है, 'गट' अर्थात प्रारम्भिक अँतड़ी के नाम से पुकारते हैं। गर्भ-पिण्डीय शरीर में सबसे पहले दरारवाली एक उभड़न पैदा हो जाती है और इसके फल स्वरूप उसके शरीर के मध्यप्रदेश में एक कुब्ज उत्पन्न हो जाता है। कुब्ज के योक-थैली की ओर वाले पार्श्व में पड़ी हुई दरार, गर्भपिण्ड के शरीर के दोनों सिरों तक न फैल कर, मध्य में ही
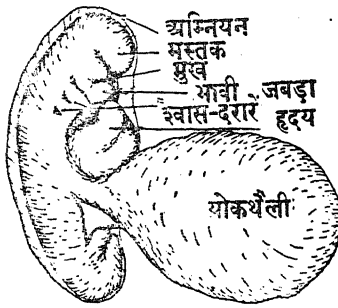
(चित्र ६) चार सप्ताह का मानवीय गर्भपिण्ड (२-६ मिलीमीटर)। उदर से लटकती बड़ी योक-थैली तथा बड़े गोलाकार हृदय को देखिये। चेहरा, कण्ठ तथा उदर-दीवाल का अभाव है। (आकार मूल का ३० गुना)।

सीमित रहती है। गर्भपिण्डीय मण्डल में इस कुब्ज की उत्पत्ति के द्वारा ही यथार्थ में मानव-शरीर की रूपरेखा की स्थापना का प्रारम्भ होता है, क्योंकि गर्भ-विकास की इस अवस्था में ही गर्भपिण्डीय शरीर का एक भाग मस्तक की ओर वाले सिरे तथा दूसरा भाग पूंछ की ओर वाले सिरे के रूप में विशिष्ट होता है।

प्रारम्भ में दो स्तर वाला रूप होने के कारण, गर्भ-पिण्डीय मण्डल का यह नवप्रतिष्ठित आकार भी दो स्तर वाला होता है, जिसमें बाहर की ओर 'ऐक्टोडर्म' अर्थात बाह्यस्तर तथा भीतर की ओर 'ऐण्डोडर्म' अर्थात आन्तरिक स्तर होता है। कुब्जवाले इस विशिष्ट आकार के आन्तरिक स्तर में पड़ी हुई दरार का मस्तक की ओर वाला भाग 'फोरगट' अर्थात अग्र-अँतड़ी और पूंछ की ओर वाला भाग 'हाइन्डगट' अर्थात पृष्ठ-अँतड़ी कहलाता है (चित्र—७)। इस प्रकार मुख्य अँतड़ी के यह दोनों भाग योक-थैली के ऊपर पड़े हुए इस अँतड़ी के मध्य भाग के सहयोग में भोजन-नली और उसके विविध सहकारी अंगों की रचना प्रारम्भ कर देते हैं। थोड़े समय के उपरान्त, गर्भ-शरीर के मस्तक की ओर वाले भाग की निचली सतह में अग्र-अँतड़ी एक छिद्र के द्वारा गर्भपिण्डीय शरीर के बाहर की ओर खुल जाती है—यह छिद्र ही मनुष्य के मुख-द्वार का सबसे प्राथमिक रूप है। पृष्ठ-अँतड़ी भी इसी प्रकार एक छिद्र की सहायता से गर्भपिण्डीय शरीर के बाहर की ओर द्वार बना लेती है जो भविष्य के गुदा-द्वार को इंगित करता है, परन्तु इस आयु में यह द्वार अभी एक पतली झिल्ली से ढँका हुआ होता है।

गर्भ-शरीर के विकास के अभी तक दिये गए विवरण पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि परिपक्व रजाण्ड शुक्रकीट के द्वारा गर्भित हो जाने के उपरान्त, पचीस दिन के भीतर ही छोटे शरीर वाले ऐसे जीव का आकार ग्रहण कर लेता है, जिसके शरीर में मस्तक और पूंछ की ओर वाले सिरे स्पष्ट हो चुकते हैं तथा उदर और पृष्ठ की ओर वाले पार्श्व इंगित किये जा सकते हैं। इस शरीर की लम्बाई लगभग दो से छः मिलीमीटर होती है यद्यपि इस शरीर की रूपरेखा मानव शरीर की बनावट के समान नहीं होती है, तथापि इस गर्भपिण्डीय शरीर में अपने प्राथमिक रूप में एक मानवीय हृदय अब स्पन्दन करता है, रक्त-नलिकाओं में मनुष्य का रक्त प्रवाहित होता है और इस शरीर के मस्तक के अन्दर मानवीय मस्तिष्क के प्राथमिक आकार की स्थापना हो चुकी है। इस आयु में मुखकृति तथा कण्ठ प्रदेश के अभाव के कारण, हृदय का प्राथमिक आकार नवप्रतिष्ठित मस्तिष्क से सटा हुआ होता है; हाथ पैर जैसे अवयवों का कोई चिन्ह इस समय नहीं पाया जाता है और किसी खोल से ढँका न होने के कारण गर्भपिण्डीय शरीर का उदर-प्रदेश योक-थैली के ऊपर फैला हुआ पड़ा रहता है (इस समय योक-थैली, कुब्जवाले शरीर के हृदय तथा पूंछ की ओर वाले भागों के बीच में लटकी हुई होती है)। हां! अमानुषिक रूपरेखा वाले इस शरीर के भीतर, मनुष्य के फेंफड़ों का प्राथमिक आकार अग्र-अँतड़ी की सतह पर एक कम गहरी नाली के रूप

में प्रगट हो चुकता है; हृदय के ठीक पीछे अग्र-अँतड़ी की दीवाल में, मनुष्य के यकृत के प्राथमिक आकार का निरूपण भी एक मुटाई रूप में हो चुकता है और गर्भपिण्डीय शरीर में इसी समय एक पेचीले और दीर्घ परिवर्त्तन-चक्र का प्रारम्भ भी हो जाता है जिसके फल स्वरूप अन्त में मनुष्य के प्राथमिक गुर्दे के आकार की रचना पूरी होगी।

मनुष्य के गुर्दों की रचना, शरीर के भीतर घटने वाले रूप-परिवर्त्तनों की एक ऐसी पहेली है जिसको 'ऐवोल्यूशनरी हैंग-ओवर' कहकर ही समझाया जा सकता है, वैज्ञानिक इस घटनाचक्र को 'रिकैपिन्युलेशन' अर्थात पुनरुद्धरण भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि गुर्दा आदि, कुछ विशेष अंग मनुष्य के शरीर में प्रारम्भ से ही ऐसी कार्य-विधियों और रूप-परिवर्त्तनों के अन्तर्गत नहीं रचे जाते हैं जिनसे उन अंगों का, मनुष्य में पाया जाने वाला आकार एक बार में ही प्राप्त हो जाय, परन्तु उन अंगों की रचना एक विशेष परिवर्त्तन-विधान के अन्तर्गत सम्पादित की जाती है—सबसे पहले उन अंगों की रचना इस प्रकार की जाती है कि विकास क्रम की एक निम्न जाति के पशु में पाए जाने वाले अंगों के समरूपी आकार की प्राप्ति हो जाय (जैसे मछली में पाया जाने वाला उस अंग के समान आकार)। इसके उपरान्त इस आकार को मिटा दिया जाता है और उस जीव जाति से अधिक विकासप्राप्त जीव जाति के पशु में पाए जाने वाले अंग के आकार के समरूप रचना की जाती है। और अन्त में इस दूसरे अल्पकालीन आकार को भी मिटा कर, इस प्राथमिक तथा मध्यकालीन आकारों के अवशिष्ट भागों की सहायता से उस अंग के ऐसे आकार की रचना की जाती है जो कि वयस्क मनुष्य में पाया जाता है। रूपपरिवर्त्तनों के इस विशेष विधान को वैज्ञानिकों ने इस प्रकार समझने का प्रयास किया है कि गर्भपिण्ड के शरीर में इन अंगों की रचना उस विकासवाद की पूर्ण पुनरावृत्ति है जिसके अन्तर्गत पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति के उपरान्त अगणित वर्षों में हुए रूप-परिवर्त्तनों के घटना-प्रवाह के द्वारा, विकास-क्रम के अनुसार, विविध जातियों की उत्पत्ति के अन्त में मनुष्य के रूप की उत्पत्ति होती है। इस विधान को दूसरे शब्दों में विकासवाद सम्बन्धी आकार-पुनरावृत्ति भी कहा जा सकता है।

प्रथम मास के अन्तिम दस दिनों की अवधि में, गुर्दे का वह आकार गर्भपिण्ड में सबसे पहले प्रगट होता है जो
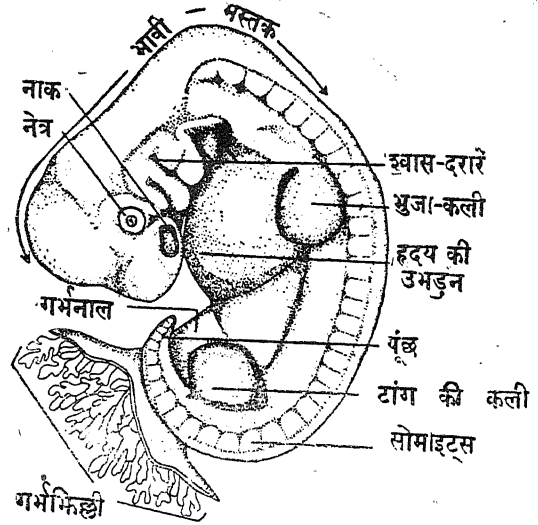
(चित्र १०) पहले मास के अन्त पर मानवीय गर्भपिण्ड (७ मिलीमीटर)। पूरे गर्भ-पिण्ड का लगभग तिहाई भाग भावी मस्तक प्रदेश का है। (आकार मूल से १५ गुना बड़ा)।

कि अत्यन्त पुरातन युग की 'ईल' मछली में पाया जाता था। 'मेजोडर्म' अर्थात् मध्य-स्तर के ऊपर सूक्ष्म-नलिकाओं के रूप में यह प्राथमिक गुर्दा भविष्य के कण्ठ-प्रदेश के निकट प्रतिष्ठित होता है। यह प्राथमिक आकार दूसरे मास के प्रारम्भ तक लुप्त हो जाता है और गर्भपिण्डीय शरीर में मध्यकालीन गुर्दे के आकार को जन्म देने वाले परिवर्त्तनों का दूसरा प्रयास आरम्भ हो जाता है।

गर्भावस्था के प्रथम मास के अन्त के समीप मानवीय गर्भपिण्ड चौथाई इंच लम्बा और छोटे आकार का एक कोमल जीव होता है, इसका मस्तक थोड़ा अधिक आगे की ओर झुका हुआ होता है, इसकी नुकीली छोटी पूंछ उदर-प्रदेश के नीचे की ओर मुड़ी होती है तथा इसके शरीर-पार्श्वों में अब छोटी छोटी घुण्डियाँ दिखलाई देती हैं जो इस शरीर के अवयव अर्थात् भुजा और पैरों के चिन्ह मात्र हैं। अभी इसकी मुखाकृति की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती है, मस्तक में मुख-द्वार के स्थान पर चौड़ा और गहरा केवल एक छिद्र है

और उसी के नीचे निचले जबड़े के प्रतिनिधि स्वरूप धनुषाकार एक छोटा दण्ड होता है। इस अवस्था को प्राप्त गर्भ-शरीर के मोटे और छोटे कण्ठ प्रदेश के पार्श्वों में दरारें या दरारों के अनुरूप चार गड्ढे दृष्टिगोचर होते हैं—यह आकार एक और विकासवाद सम्बन्धी आकार-पुनरावृत्ति के दृष्टान्त प्रतीत होते हैं। इन दरारों की तुलना, स्थिति तथा आकार के आधार पर, मछली के मस्तक के पार्श्वों में स्थित श्वास-छिद्रों से की जा सकती है। इस आकार के विकास में उसी कथन का अनुमोदन प्राप्त होता है जिसके अनुसार मानवीय गर्भपिण्ड, किसी विधान के प्रभाव में, विकासवाद के अनुगत जीव-जातियों के विकास की पुनरावृत्ति करता है।

लगभग एक मास की आयु के गर्भपिण्ड के शरीर का हृदय-आकार सापेक्षिक रूप से इतना विशाल होता है कि गर्भपिण्डीय शरीर की दीवाल में उसके कारण एक उभड़न पैदा हो जाती है और गर्भपिण्डीय मस्तक इस उभड़न के ऊपर सहारा लिये हुए आगे की ओर झुका रहता है। इस गर्भपिण्डीय शरीर का सम्बन्ध गर्भझिल्ली से, उदर प्रदेश की दीवाल से सम्बद्ध गर्भनाल द्वारा होता है। इस समय शरीर के पृष्ठ भाग की पतली त्वचा में, कोष्ठ समूह के परस्पर निकट स्थित अड़तीस गुच्छे चमकते दिखलाई पड़ते हैं। कोष्ठ-समूहों के यह गुच्छे ही, जिनको 'सोमाइट्स' कहा जाता है, अन्त में मांसपेशियों के जाल की स्थापना करेंगे।

इस अवस्था के अमानुषिक शरीर में मनुष्य के लगभग सभी अंगों की रचना का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। मस्तक-प्रदेश में, नवनिर्मित स्नायु-नली के द्वारा आगे की ओर निकाल दी गई दो छोटी उभड़नों के रूप में नेत्र-रचना का प्रारम्भ हो जाता है। यह उभड़नें थोड़े समय में शराब की प्याली के रूप के समान आकार ग्रहण कर लेती हैं (चौड़ी, कम गहरी और पतले दण्ड वाली प्याली)। यह प्यालियाँ ही अन्त में नेत्रों का चेतनशील भाग बनेंगी—नेत्र-पुतली की गहराई में 'रैटिना' अर्थात् नेत्र-चित्रपट तथा 'आइरिस' अर्थात् नेत्र-तारा, यह भाग ही नेत्रों के चेतनशील भाग हैं। इन प्यालियों के सामने वाले भाग के ऊपर एक 'लैन्स' अर्थात् ताल भी दृष्टिगोचर होने लगता है जो कि त्वचा द्वारा निर्मित हुआ है। यह अविकसित नेत्र अभी प्रकाश-सचेतन नहीं हैं, वरन् अस्थिर हैं और प्रकाश को ग्रहण कर के मस्तिष्क से उसका सम्बन्ध स्थापित करने के अयोग्य हैं।

मस्तक प्रदेश की दो और इन्द्रियाँ भी इसी काल में प्रगट हो जाती हैं। मस्तक के सामने की त्वचा में खुदे हुए दो अण्डाकार गड्ढे प्रगट हो जाते हैं। ये छोटे छोटे गड्ढे, मुखाकृति के ऊपर बाहर की ओर उभड़ी हुई नाक के छिद्रों के भीतर स्थित गन्ध-सचेतन त्वचा अथवा वास्तविक गन्धेन्द्रिय के प्रारम्भ हैं। श्रवणेन्द्रियों की स्थापना भी प्रत्येक नेत्र के कुछ पीछे की ओर प्रारम्भ हो जाती है—इस में भी मस्तक के दोनों पार्श्वों में बाहर की ओर उभड़े हुए, पंखेनुमा कानों के भीतर स्थित उस चेतनशील कोष्ठ-समूह की रचना का ही प्रारम्भ इस समय होता है जो कि इस नूतन जीव को भावी जीवन में ध्वनि को सुनने तथा अपना सन्तुलन बनाए रखने के योग्य बना देगा।

मस्तक के भीतर प्रतिष्ठित अंगों के समान ही, गर्भपिण्डीय शरीर के धड़ वाले भाग के भीतर भी उन सभी अंगों की रचना का प्रारम्भ प्रथम मास के अन्त तक हो जाता है, जो कि वयस्क मनुष्य में पाए जाते हैं। हृदयके आकार के निकट फेफड़े छोटी छोटी दो थैलियों के रूप में प्रगट हो जाते हैं और ये लम्बी और पतली 'ट्रेकिया' अर्थात् श्वास-नली के द्वारा भावी कण्ठनाल से सम्बद्ध होते हैं। गर्भपिण्ड की तीन सप्ताह वाली सरल, प्राथमिक अँतड़ी का विशिष्टीकरण इस समय तक भोजन-नली के विविध भागों में हो चुकता है—भोजन-नली का कण्ठ प्रदेश वाला भाग 'ईसोफेगस', जो कि मुख का सम्बन्ध आमाशय से, एक पतली और लम्बी नली के रूप में, करता है; इसके बाद बेलन के आकार वाला चौड़ा और फैला हुआ भाग, आमाशय, जो कि अन्त में आँतों की पतली नली में रूपान्तरित हो जाता है। भोजन-नली के यह सब भाग इस समय अप्रयोजनीय होते हैं क्योंकि यह नली अभी मुख से लेकर गुदा तक पूरी तरह खुली हुई एकमार्गवत् नहीं है—आँतों की नली इतनी कम चौड़ी होती हैं कि उसकी दीवालें परस्पर मिल गई हैं। गर्भ की इस अवस्था में योक-थैली अभी तक आँतों के मध्य भाग से लटकी हुई होती है।

गर्भपिण्ड, प्रथम मास के समाप्त होने तक, गुर्दे की रचना सम्बन्धी प्रथम प्रयास त्याग देता है और वह अविकसित प्राथमिक आकार प्रायः लुप्त हो जाता है।

(चित्र ११) पहले मास के अन्त पर मानवीय गर्भपिण्ड का भीतरी खाका।

मध्यकालीन गुर्दे के आकार की रचना का आयोजन इस समय तक हो चुकता है। और यह आकार प्राथमिक आकार से अधिक पेचीला होता है। नलिकाओं के दीर्घ समूह के रूप में आँतों के पीछे की ओर इस आकार की स्थापना होती है; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस प्रयास की भावी विफलता का आभास अभी से गर्भपिण्ड को हो गया है क्योंकि तीसरे अन्तिम स्थायी गुर्दे के आकार की रचना का आयोजन भी इसी काल में हो जाता है—यह अन्तिम स्थायी आकार ही मनुष्य के वास्तविक गुर्दे का नया अविकसित रूप होगा। भविष्य के स्थायी गुर्दे का प्रतिरूप, गर्भ की इस अवस्था में वह छोटी सी थैली मात्र है जो कि शरीर के पूंछ वाले सिरे की तरफ मध्यकालीन गुर्दे के आकार की प्रणाली में से बाहर निकली हुई है। इस समय महत्त्वहीन व निरर्थक प्रतीत होने वाला यह अविकसित आकार ही, अन्त में समय पाकर, सच्चे स्थायी गुर्दे का निर्माण करेगा।

इस प्रकार मानवी गर्भपिण्ड अपने जीवन के प्रथम मास को समाप्त करता है। उसके सरल व प्रारम्भिक अंगों में मनुष्य के आकार की समता का प्रादुर्भाव झलकता है। गर्भझिल्ली की सहायता से भोजन-प्राप्ति की सुव्यवस्था हो चुकने के साथ ही गर्भपिण्डीय शरीर में वेगवती क्रियाशीलता की लहर दौड़ जाती है और एक सप्ताह से कुछ अधिक समय के भीतर ही उन सभी अंगों की रचना का कार्य गर्भपिण्डीय शरीर में प्रारम्भ हो जाता है, जो वयस्क मनुष्य में पाए जाते हैं। सरल आकार वाले रजाण्ड तथा शुक्रकीट के रूप से, गर्भाधान के उपरान्त तीस दिनों के भीतर ही, यह नूतन जीव मानवता के प्रवेश द्वार पर आ जाता है।

ज्वार भाटे की भविष्यवाणी करने वाला यंत्र

क्या कलकत्ता डूब रहा है? निर्माण कार्य में लगे हुए इंजीनियर इसी चिंता में व्यग्र हैं। उनके हृदय में यह संशय विद्यमान रहता है कि भूमि पर नालियों आदि के निर्माण का जो कार्य किया जा रहा है वह उनके निश्चय के अनुसार पूर्ण होगा अथवा इसमें कोई परिवर्तन हो जायगा। उन्हें यह भी शंका है कि पृथ्वी के ऊपरी स्तर तथा समुद्र के स्तर में जो अन्तर था वह कम तो नहीं हो रहा है?

अंडमान, कोचीन तथा काठियावाड़ के तटों की स्थिरता के सम्बन्ध में भी इधर कुछ वर्षों से भूगर्भवेत्ता चिंतित हैं। इन संशयों का विश्लेषण करने तथा उनकी यथार्थता की छानबीन करने का कार्य अन्य लोगों के अतिरिक्त भारतीय पर्यवेक्षण विभाग की ज्वारभाटा शाखा करती है।

भारत में तट की स्थिरता सम्बन्धी प्रथम विवाद १८७० में आरम्भ हुआ था, जब यह शंका हुई थी कि काठियावाड़ का तट डूब रहा है। भारत के उस समय के शासक अत्यंत व्यग्र हो उठे थे कि क्या करना चाहिए। अंत में यह निश्चय किया गया कि इसकी वैज्ञानिक छानबीन के लिए ब्रिटिश एसोसिएशन से अनुरोध किया जाय।

यह एसोसिएशन भी तत्काल ही इसका कोई उत्तर न दे सका, किन्तु दीर्घकाल तक अध्ययन करने के बाद उसने यह सुझाव रखा कि एक ऐसा यंत्र बनाना संभव है जो ज्वारभाटों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सके तथा जिसके द्वारा समुद्र के ऊँचे तथा नीचे ज्वारभाटों का समुचित अध्ययन किया जा सके। उन्होंने कहा कि यदि एक निश्चित अवधि में समुद्र स्तर में कोई परिवर्तन दिखाई न दिया तो यह निश्चय है कि तट स्थिर रहेगा।

इन परिस्थितियों में इंगलैंड में भारत सरकार के आर्डर पर १८७८ में ज्वारभाटे की भविष्यवाणी करने वाला पहला यन्त्र बनाया गया। भारत सरकार की ओर से ४० वर्ष से अधिक समय तक इस यंत्र द्वारा इंगलैंड में न केवल भारतीय क्षेत्र की वरन् सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में आने वाले ज्वार भाटे की भविष्यवाणियां प्राप्त की जाती रहीं। १९२० में यह यंत्र भारत लाया गया और तब से देहरादून में इसका उपयोग किया जाता रहा है, जहाँ भारतीय पर्यवेक्षण विभाग की ज्वारभाटा शाखा विद्यमान है।

यह यन्त्र ज्वारभाटा सम्बन्धी घोषणा करने वाला संसार का सबसे पुराना तथा प्रथम यन्त्र है। यह बड़ा पेचीदा है और इसकी कार्य-प्रणाली बहुत नाजुक है। इस यन्त्र से सैकड़ों वर्ष पहले ज्वारभाटों के सम्बन्ध में घोषणा की जाती है।

उदाहरण के रूप में यदि आप ७ अप्रैल, २००० को आने वाले ज्वारभाटे की स्थिति जानना चाहते हैं, तो उसका ढंग बहुत सरल है। सर्वप्रथम उस तिथि को सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति का हिसाब लगा लिया जाता है और उसी के अनुसार यंत्र में व्यवस्था कर दी जाती है। तब यन्त्र चालू कर दिया जाता है।

यन्त्र में दो ढोल तथा दोनों के साथ कागज का एक-एक गोल बंडल तथा एक-एक पेंसिल लगी रहती है। इनमें से एक पर ७ अप्रैल २००० को होने वाली ज्वार-भाटे की उच्चतम से न्यूनतम स्थिति और दूसरे पर उच्च ज्वार तथा नीचे भाटे का समय अंकित हो जायगा।

आज, भारतीय पर्यवेक्षण विभाग की ज्वारभाटा शाखा १९५५ के लिए भविष्यवाणियां कर रही है। ये सब भविष्यवाणियां संचित करके बन्दरगाह तथा जहाजों के लाभ के लिए पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दी जाती हैं। नौ-चालकों के लिए वह पुस्तक बहुत लाभदायक होती है।

प्रति चौबीस घंटे में दो ज्वार तथा दो भाटे आते हैं। कोचीन तथा मद्रास में ज्वार का चढ़ाव तथा भाटे का उतार लगभग तीन-चार फुट होता है जब कि खम्भात की खाड़ी में लगभग ३० फुट और बम्बई में १५ फुट होता है। बन्दरगाह में जहाजों के प्रवेश अथवा निकासी के नियन्त्रण तथा निर्देश के लिये ये भविष्यवाणियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

आशा है भारतीय पर्यवेक्षण विभाग के पास अब आधुनिकतम किस्म का यंत्र आ जायगा जो वर्तमान यंत्र से बड़ा होगा। संसार में इस समय ज्वार भाटे की भविष्यवाणी करने वाले स्वयं चलने वाले केवल लगभग २० यंत्र हैं।

खिदरपुर में रखी गयी भविष्यवाणियों से ज्ञात हुआ कि १८८० से १९३० तक जल की अपेक्षा भूमि प्रति दस वर्ष में लगभग दो इंच के हिसाब से ऊँची होती रही। १९३० के बाद भूमि कुछ नीची होने लगी, किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक जारी नहीं रही और समुद्र-स्तर में घटाबढ़ी होती रही।

तट से दूर ज्वार भाटे के सम्बन्ध में अध्ययन करने का कार्य भारतीय नौ सेना के अधीन एक शाखा द्वारा किया जाता है। दोनों शाखाओं में निकट सम्पर्क विद्यमान रहता है।

नकली सोना

लेखक—प्रिंसिपल दया स्वरूप, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कांचन अर्थात सोने में सभी गुण माने गये हैं, परन्तु असली सोने के वाह्य रूप रंग से ही नकली सोना कितना सर्वप्रिय हो गया है। उस नकली सोने के वैज्ञानिक विवेचन को लेखक ने इस लेख में वर्णित किया है। इस की उपादेयता स्वतः सिद्ध है।

आकर्षक रंग, विविध गुणों तथा अमूल्यता के कारण सोना मानव समाज का अत्यन्त प्रिय पदार्थ बनता आ रहा है। प्राचीन काल से लोग इसे विविध रूपों में उपयोग करते आ रहे हैं। निर्धन मनुष्य भी सोने के आभूषण पहिनने की अभिलाषा रखते हैं। पर सोना तो अमीरों की शोभा है, गरीबों से उसे प्रीति नहीं है। असली सोना खरीदना दीनों के सामर्थ्य के बाहर है अतः उनकी इच्छा-पूर्ति के लिये धातुविज्ञों ने सस्ता 'नकली' सोना प्रस्तुत किया है।

सोने का महत्व अनुपम गुणों के कारण है, उसको पीट कर बहुत पतले पत्र, वरक आदि बनाये जा सकते हैं। उसके अत्यन्त बारीक तार खींचे जा सकते हैं। वह नरम होता है और सरलतापूर्वक गढ़ा और जोड़ा जा सकता है। रखने पर यह चमकहीन नहीं होता और न उसमें रखे खाद्य पदार्थ ही खराब होते हैं, इसका रंग चमकदार और चित्ताकर्षक होता है। धातुविज्ञों ने बहुतेरे प्रयोग कर के ऐसी धातु बनाने का प्रयत्न किया है जिसमें सोने के अधिकांश गुण आ जाएँ। इन कृत्रिम धातुओं को 'नकली' सोना कह सकते हैं। अंग्रेजी में इनके कई नाम हैं: यथा 'इमिटेशन गोल्ड', 'फ्रेंच गोल्ड', 'तांबक', 'मैनहीम गोल्ड', 'ताल्मी गोल्ड' इत्यादि। भारत में बाजारों में कुछ विक्रेता इसे 'अमेरिकन गोल्ड' के नाम से भी पुकारते हैं।

नकली सोना वास्तव में तांबा तथा कुछ अन्य धातुओं के मिश्रण से बनाया जाता है। मुख्य धातु तांबा है। अन्य धातुयें ये हैं: जस्ता, रांगा, एंटीमनी, लोहा, सीसा आदि। इन धातुओं में से एक, दो या अधिक धातुएँ विभिन्न अनुपातों में तांबे के साथ मिश्रित की जाती है। इस प्रकार निर्मित धातुसंकर (alloy) रंग और गुणों में न्यूनाधिक रूप में सोने के समान होती है।

'तांबक' (Tombac)

यह तांबा और जस्ते का धातुसंकर है। इसमें १८ प्रतिशत तक जस्ता तथा शेष तांबा रहता है। इसका रंग किंचित लालिमा लिये हुए सुनहला होता है, यह धातु सत्रहवीं शताब्दी में स्याम में निर्मित हुई। मलाया में इसे 'ताबूंग' (संस्कृत ताम्र) कहते हैं। तांबक इसी का अपभ्रन्श है।

शुद्ध तांबक में, अर्थात् जिसमें सीसा, रांगा आदि अशुद्धियां नहीं रहतीं, कम तापमान पर पर्याप्त तांतवता (तार खींचने की शक्ति) रहती है। इस धातुसंकर से ठग्गों द्वारा आभूषण बनाये जाते हैं। बटन, सुनहले वरक आदि भी इससे बनाये जाते हैं। समय पाकर इस के रंग में कुछ फर्क आ जाता है इसलिये बहुधा इसके बने पदार्थों पर सोने का पानी या हल्का मुलम्मा चढ़ा दिया जाता है जिससे इसकी सुनहली चमक बनी रहती है।

इसमें जस्ता १० प्र० श० से कम या १८ प्र० श० से अधिक नहीं होता। तांबक के कुछ प्रचलित धातुसंकरों का रासायनिक विश्लेषण इस प्रकार है:—

नाम	ताँबा प्र० श०	जस्ता प्र० श०
१. जर्मन तांबक	८५	१५
२. " "	८५.३	१४.७
३. " "	८२.३	१७.७

"मेनहीम सोना" (Manheim Gold)

इसमें ताँबा, जस्ता और राँगा का मिश्रण रहता है, इसका रंग सुनहला होता है, इसकी बनावट विविध प्रकार की होती है, जैसे:

	१	२	
ताँबा	८३.७	८६.८	प्र० श०
जस्ता	६.३	६.६	" "
राँगा	७.०	.४	" "

बटन आदि वस्तुएँ बनाने में पहिले इसका बहुत उपयोग होता था पर अब इसका स्थान अधिक आकर्षक रंग वाले धातुसंकरों ने ले लिया है, ।

'ताल्मी' या ताल्मी सोना (Talmi Gold)

यह पेरिए से आता था, सस्ते गहने, कर्णफूल, ब्रेसलेट आदि इस नकली सोने से बनते हैं, इन गहनों में काम की बारीकी, कम मूल्य, सुनहला रंग और अत्यधिक टिकाऊपन होता है।

बहुधा ताल्मी पर सोने का पतला पत्र चढ़ा कर पूरे टुकड़े को बेल दिया जाता है। इस प्रकार ताल्मी की सतह पर सोने की पतली तह चढ़ जाती है। इसे 'रोल्ड गोल्ड' कहते हैं। यह नरम और तांतव होता है। इसका सुनहला रंग बहुत टिकाऊ होता हैं।

आज कल सोने का पानी चढ़ाया हुआ (Gold plated) ताल्मी बाजारों में बिकता है। इसमें सोने की पर्त इतनी पतली होती है कि कभी कभी मोटे कपड़े से रगड़ देने पर सोना गायब हो जाता है।

ताल्मी सोना बनाने में जिन धातुसंकरों का उपयोग होता है उनमें से कुछ ये हैं :—

	१	२	३	४	५	६
तांबा	८६-८	९०-३	९०	९०-७	८७-५	९३-४
जस्ता	९-१	८-३	..	८-६	१२-४	६-५
सोना	१-१०	.९	.९	.०५	.०५	.०५

उपर्युक्त बनावटों के अवलोकन से ज्ञात होगा कि इनमें सोने की मात्रा बहुत घट बढ़ होती है। जिनमें सोना अधिक होता है वे अधिक टिकाऊ होते हैं। प्रथम तीन बनावटें असली पेरिस के ताल्मी की है। शेष में सोने का पानी चढ़ा हुआ है।

सोने के समान धातु-संकर ।

यह तांबा और एन्टीमिनी का धातु-संकर होता है। उसमें ९६ प्रतिशत तांबा और ४ प्रतिशत एन्टीमिनी होता है। वह भी फ्रांस से आता है और इसका रंग सोने के समान होता है। इसमें तांतवता और घनवर्धनीयता पतली (चद्दर बेलने का गुण) कम होती है। बहुधा इसे ढाल कर कलापूर्ण वस्तुयें बनाई जाती हैं।

अलुमीनियम ब्रोंज़ (Aluminium Bronze)

इसमें ४ से ले कर ८ प्रतिशत तक अलुमीनियम और शेष तांबा होता है। ८ प्रतिशत अलुमीनियम वाले धातु-संकर का रंग पीला सुनहला होता है और अधिक लोकप्रिय है। यह घनवर्धनीय और तांतव होता है तथा इसका संक्षारणावरोध[1] अधिक होता है। इस धातुसंकर से मेडल, ट्रे, सिगरेट केस, चद्दर आदि बनाई जाती है। मंदिरों के सुनहले दरवाजे, मंडप आदि भी बहुधा इसी के बने होते हैं।

भारत में नकली सोने की बहुत उपयोगिता है। धनहीन लोग सोना नहीं खरीद सकते। उनकी साध इस सस्ते, नकली, सोने से पूर्ण होती है। विविध धातु-संकरों में सोने के गुण निम्नाधिक रूप में पाये जाते हैं पर उन सब में सोने का आपेक्षिक घनत्व (भारीपन) नहीं होता। इस एक दुर्गुण के कारण नकली और असली का भेद बड़ी सरलता से मालूम हो जाता है।

---

१. संक्षारणावरोध (Corrosion Resistance) इस गुण के कारण वायु, खाद्यपदार्थ, हल्के अम्ल और क्षार आदि के सम्पर्क में धातु की सतह खराब नहीं होती।

उत्पत्ति शास्त्र और लायसेंको के विचार

लेखक—श्री० कृष्ण चन्द्र दूबे एम० एस-सी०

श्री दुबे 'विज्ञान' के परिचित लेखक हैं। उन्होंने लायसेंको के विचारों पर प्रकाश डाल कर इस लेख में उत्पत्ति शास्त्र की चर्चा की है। लेख में वंश-परम्परा का वैज्ञानिक विवेचन पठनीय है।

उत्पत्ति शास्त्र प्राणिशास्त्र का वह भाग है जो वंश-परम्परा और प्राणियों में भेद के अध्ययन से सम्बन्ध रखता है! यह एक सामान्य अवलोकन का विषय है कि संतान अपने माता-पिता से समानता रखती है! साँप का बच्चा सदैव साँप ही होता है और घोड़े का बच्चा घोड़े से तथा आम के वृक्ष आम की गुठली से ही होते हैं। घोड़े की सन्तान कभी साँप नहीं होती और न आम की गुठली से बरगद का वृक्ष उत्पन्न होता है! संतान की इस परंपरा को अपनाने की प्रवृत्ति को वंश-परंपरा कहते हैं। पर साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि निकट समानता रखते हुए भी संतान अपने माता-पिता सरीखी नहीं होती! प्रत्येक प्राणी दूसरे से भिन्न है! कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं होते; यद्यपि हर एक के वही नाक, कान, आंख और मुख है! हममें से प्रत्येक घटक मनुष्य है पर हर एक का एक स्थान है, दूसरे से भिन्न है।

प्रत्येक जीव जीवनरस 'प्रोटोप्लाज्म' (Protoplasm) नामक पदार्थ की छोटी छोटी ईकाइयों का बना रहता है जो कोष 'सेल्स' (Cells) कहलाती हैं। प्रत्येक सेल में 'क्रोमोसोम' (Chromosome) नामक छोटे छोटे कण होते हैं ये कण वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म मोतियाकार कणों के समूह हैं और ये मोतियाकार कण 'जीन' (Gene) कहलाते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम में सैकड़ों हजारों जीन रहते हैं! माता-पिता के योग से संतानोत्पत्ति होती है और ये जीन माता-पिता से संतान तक पहुँचकर, गर्भ में उन क्रियाओं को उत्तेजित करते हैं जो शरीर की रूप-रेखा और भिन्न अवयवों की रचना में सहयोग देते हैं। प्रत्येक प्राणी का वाह्य-रूप इन्हीं पर निर्भर रहता है और इस प्रकार परम्परा चलती है! मनुष्य की मानसिक-शक्ति और वाह्य आकार-रूप इन्हीं पर निर्भर हैं यद्यपि वाह्य-रूप वातावरण का भी प्रभाव हो सकता है।

लायसेंको के अग्रगामी—

उत्पत्ति शास्त्र के विषय में लायसेंको से पूर्व ग्रेगर जोहन मेंडेल और वीज़मैन अपने विचार प्रगट कर चुके थे। लेमार्क (१८२९) और चार्ल्स डारविन (१८८२) इस दिशा में प्रथम विचारक थे। पर उनका ध्येय उत्पत्ति शास्त्र मूल को समझना न था वरन् विकास का मूलाधार ढूँढ़ना था! लेमार्क के अनुसार वातावरण में परिवर्त्तन के फलस्वरूप प्राणी में भेद या अंतर उत्पन्न होता है! यह भेद वातावरण से स्वतंत्र भी हो सकता है; जैसे किसी अवयव के अधिक कार्यशील या अकार्यशील रहने से! लेमार्क ने इस विचार की पुष्टि के लिए जिर्राफ का उदाहरण दिया था जिसकी गरदन झाड़ों के पत्ते खा-खाकर हुई! वातावरण में परिवर्त्तन के कारण घास और पौधे नष्ट हुए और तब जिर्राफ को ऊँचे वृक्षों पर ही निर्भर रहना पड़ा! इस प्रकार उस भाग के अधिक कार्यशील रहने से गरदन ने यह रूप लिया। हाथों के पैरों की अपेक्षा अधिक कार्यशील रहने से लोहार के हाथ की माँस-पेशियाँ बहुत गठित रहती हैं पर पैर अपेक्षाकृत कमजोर! लेमार्क के अनुसार यह परिवर्त्तन या भेद परंपरागत होता है और इस प्रकार एक नया प्राणि-विशेष उत्पन्न होता है। डारविन के अनुसार प्राणियों में यह परिवर्त्तन, भेद या अंतर सार्वलौकिक रूप से होता है।

अधिक उत्पत्ति हो जाने से प्राणियों में जीवनास्तित्व-युद्ध होता है और इसके फलस्वरूप अयोग्य-जीवों का विनाश होकर योग्य प्राणी ही रह जाते हैं। परंपरा उत्तरजीवियों की दिशा में बढ़ती है। यह दोनों ही विचार यह मानते हैं कि वातावरण के प्रभाव के कारण जो परिवर्त्तन जीव में होते हैं, वे परंपरागत होते हैं।

आस्ट्रियन साधु ग्रेशर मेंडेल अपने आश्रम के बाग में लगभग आठ वर्षों तक मटर के पौधों पर अन्वेषण और अवलोकन करते रहे और इस अन्वेषण का विवरण सन् १८६५ में एक साधारण सी वैज्ञानिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। एक तो लोगों की उस दिशा में अज्ञानता और अरुचि और दूसरे वह पत्रिका अधिक प्रचलित नहीं थी—इन कारणों से मेंडेल की खोज १९०० तक अंधकार में ही रही पर इसी काल के लगभग बेटसन ने मेंडेल-सिद्धान्तों की पुष्टि अपनी नयी खोजों से की। बीसवी शताब्दी के आरंभ में वैज्ञानिक वीज़मैन ने उत्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्तों में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। उनके अनुसार प्राणी के अपनाये गये गुण परम्परागत नहीं होते। शरीर को उन्होंने दो भागों में विभाजित माना—'मूल' (Germ) और 'देह' (Soma)। 'देह' मरणशील है, मूल नहीं और यह 'मूल' दूसरी पीढ़ी के 'देह' और 'मूल' को जन्म देता है! इस प्रकार यह 'मूल' परम्परागत है, देह नहीं। और यदि प्राणी के जीवन काल में 'देह' किसी अन्तर या भेद को अपनाता है—वह परम्परागत न होगा। मूल में यदि भेद हो, और जिसकी संभावना वीज़मैन के अनुसार बहुत कम है, तो वह अवश्य परंपरागत होगा। और इस 'मूल' पदार्थ की स्थिति क्रोमोसोम (Chromosome) में है! तो प्रश्न यह है कि यदि किसी कारण से उस मूल में परिवर्त्तन लाया जावे तो वीज़मैन के अनुसार उसे दूसरी पीढ़ी में परम्परागत होना चाहिये। इस विचार को लेकर मोरगन ने 'ड्रासोफीलिया' (Drosophyllia) पर अन्वेषण कार्य किया! 'मूल' में इस प्रकार परिवर्त्तन एक्स-किरणों (X-ray) या अल्ट्रा-वॉयलेट-पराकासनी किरणों (ultra-violet-ray) से लाया जा सकता है!

इस प्रकार लायसेंको के अग्रगामी विचारकों ने उत्पत्ति-शास्त्र के जिन सिद्धान्तों की रचना की, उनके अनुसार—

१—प्राणी में किसी भी कारण से अपनाए गये गुण परंपरागत नहीं होते हैं।

२—वे ही गुण परम्परागत होते हैं जो प्राणी के 'मूल' में अन्तर लाते हैं।

३—आकस्मिक परिवर्त्तन से नये प्राणि-विशेष की उत्पत्ति सम्भव है।

लायसेंको की नई धारा :—

रूसी वैज्ञानिक लायसेंको ने उत्पत्ति शास्त्र के क्षेत्र में एक नयी क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। लायसेंको के अनुसार हस्तगत किये हुए गुण परम्परागत होते हैं। परम्परा पूर्ण रूप से वातावरण से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। प्राणी में परम्परागत 'मूल' की स्थिति को ये मान्यता नहीं देते। प्राणि-शरीर में परिवर्त्तन परम्परा में परिवर्त्तन कर सकता है; या दूसरे शब्दों में 'देह' में उत्पन्न अन्तर परम्परागत है, यद्यपि यह सदैव आवश्यक नहीं कि यह परिवर्त्तन मौरूसी हो। किसी भी जीव-विशेष की परम्परा में एक निश्चित काल में आवश्यक परिवर्त्तन उत्पन्न करके उसे एक निश्चित दिशा की ओर गति दी जा सकती है अथवा वैज्ञानिक रूप से मनुष्य पौधों और पशुओं की नई जाति और नस्ल पैदा कर सकता है।

लायसेंको के विचार बहुत कुछ लैमार्क के विचारों के समीप आ जाते हैं और इन विचारों को "लैमार्क सिद्धान्तों की नयी धारा" कहा जाने लगा है।

लायसेंको डारविन के उस सिद्धांत को नहीं मानते जो एक प्राणि विशेष समाज के अन्तर्गत जीवनास्तित्व-युद्ध का दर्शन करता है। उनके विचार से यह युद्ध प्राणी-प्राणी के बीच ऐसे युद्ध को देखते हुए महत्वहीन है। लायसेंको वीज़मैन के 'मूल' और 'देह' सिद्धान्त को वहाँ नहीं मानते जहाँ वीज़मैन 'मूल' को 'देह' से स्वाधीन मानते हैं और मूल में ही परम्परागत गुणों की उपस्थिति देखते हैं। लायसेंको के अनुसार ये गुण केवल मूल में ही नहीं, देह में भी रहते हैं।

अपने इन सिद्धांतों की पुष्टि लायसेंको ने नाना प्रयोगों से की है। उन्होंने ठंड ऋतु की गेहूँ की फसल को वसंत ऋतु की फसल में परिवर्तित किया है। इस प्रयोग को

'वरनलाइजेशन (Vernalisation) कहा गया है। 'वरनलाइजेशन' या 'फसल-ऋतु-परिवर्तन' वह क्रिया है जिससे एक पौधे के जीवन को कम समय में पूरा किया जा सकता है। लायसेंको ने २८ क्रोमोसोम-गेहूँ-जाति से ४२ क्रोमोसोम जाति गेहूँ पैदा किया है। टमाटर व अन्य वनस्पतियों के नये पौधे इस प्रकार उन्होंने दो भिन्न-पौधे-विशेष के योग से प्राप्त किये हैं। उनके प्रयोगों के फलस्वरूप दक्षिण रूस में गर्मी में आलू की पैदावार सम्भव हो गई है। उत्तर-पूर्वी साइबेरिया की बर्फीली भूमि में भी गेहूँ की पैदावार हो रही है। भेड़, मुर्गी और गाय इत्यादि की अच्छी वर्णसंकर नस्लें उत्पन्न की गई हैं। इस प्रकार उसने सिद्ध कर दिया है कि मूल से स्वाधीन भी परंपरा की दिशा में फेर लाया जा सकता है।

लायसेंको के सिद्धान्तों की राजनैतिक पृष्ठभूमि

लायसेंकों के सिद्धान्तों को रूस में जो अभूतपूर्व मान्यता मिली है, उसका कारण वैज्ञानिक तो है ही पर साथ ही साथ राजनैतिक भावनाओं और सिद्धान्तों का प्रधान सहयोग है। रूस में तर्कीय भौतिकवाद (Dialectical materialism) की मान्यता है और लायसेंकों का उत्पत्तिशास्त्र इस भौतिकवाद के सिद्धान्तों की पुष्टि करता है। इस दर्शन के अनुसार विश्व में कुछ भी शाश्वत नहीं है; शाश्वत और सत्य केवल परिवर्तन है। केवल परिवर्तन ही संसार का अचल नियम है। प्रत्येक प्राणी परिवर्तनशील है और परिवर्तन की अवस्था में है। लायसेंको जाति-जाति और वर्ग-वर्ग के भेद को केवल वातावरण का भेद मानते हैं। वातावरण में परिवर्तन और समानता लाने से, लायसेंकों के अनुसार, एक समान, महान जाति की रचना सम्भव हो जो जाति और वर्गहीन होगी। उनकी 'थीसिस' का यह भाग उन्हें रूस की सरकार का सहयोग दिला रहा है।

पर यह कहना कि लायसेंकों के विचार केवल राजनैतिक सहायता के बल पर ही मान्य हो सके, गलत होगा। लायसेंको एक महान वैज्ञानिक हैं। उन्होंने अपने विचारों को पुस्तकालयों की पुस्तकों और प्रयोगशालाओं की परखनलियों तक ही सीमित नहीं रखा है, वरन् साधारण जन तक पहुँचाया है। उनके प्रयोगों का अभूतपूर्व लाभ सोवियत रूस की जनता प्रतिदिन उठा रही है। उनके विचारों को सोवियत सरकार की सहायता मिली अवश्य, पर बिना उसके भी वे इतना ही आगे आ सकते थे। हो सकता है समय कुछ अधिक लगता।

यमुनोत्री के उष्ण कुण्ड

[लेखक—श्री मकरन्द ढौंडियाल]

गत नवम्बर में जब मैं खड़साली जो यमुनोत्री की ओर भारत का अन्तिम ग्राम है, पहुंचा तो ज्ञात हुआ कि यमुनोत्री के उष्णकुण्ड यहाँ से केवल चार मील दूर हैं; इस हेतु मैंने दूसरे प्रातःकाल वहाँ जाने का विचार किया। दूसरे दिन तीन और साथियों को लेकर मैं लगभग ४ बजे प्रातः उस शीत वातावरण में चल पड़ा। भैरव घाटी के उस ऊँचे पर्वत पर लगभग ३ घण्टे चलने के पश्चात् जब हम सीधे पथ पर अग्रसर हुए तो ज्ञात हुआ कि तनिक भी पैर के फिसल जाने पर पुनः किसी प्रकार की खोज करने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। भैरव घाटी से हम लोग लगभग एक घण्टा इस प्रकार के पथ पर चलकर उस मनोहर और आश्चर्यमय स्थान पर पहुँचे।

ऊपर एक ऊँचा पर्वत हरित आभा लिये हिमचादर को ओढ़े हुए स्थिर और शान्तभाव से ध्यानावस्थित हुए दृश्यमान होता है। उस हिमराशि से एक प्राकृतिक लकीर सी चलती एक धारा दीखती है जो आविवाहित सूर्यपुत्री का उद्गम कहा जाता है। वहाँ से वह एक ऐसे खड्ड में जा पहुँचती है जहाँ जीवन को सहसा भयसंचार हो जाता है। कुछ आगे आकर तब लज्जालु यमुना अपना मुखाञ्चल खोलकर निरन्तर बही चली जा रही है।

इस खड्ड से लगभग तीन फर्लाङ्ग नीचे यमुनोत्री के उष्ण कुण्ड और धारायें स्थित हैं जहाँ से कि उस मग्न हिमाच्छादित पर्वत का कठोर प्रस्तरीय भाग यथेष्ट दूरी तक भूर्ण-रक्त वर्ण रूप में बिलकुल नग्न चला गया है। इसी नग्न पर्वत के मूल में यमुना के ये उष्ण कुण्ड और धारायें निरन्तर अपने ऊष्णता के संग 'भक-भक' करते हुए एक मनोहर दृश्य बनाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से सूर्यकुण्ड सबसे अधिक उष्ण है जिसका तापमान लगभग २०० डिग्री फा० के है। सूर्य-कुण्ड का आकार चौकोन लगभग ३ फीट भुजाओं से युक्त है। गहराई लगभग डेढ़ दो फीट है। इसके दक्षिण ओर कुछ ही अन्तर पर उस कठोर प्रस्तर को फोड़कर कई तीव्र और उष्ण धारायें निकल रही हैं। इनके मुख गले हुए लौह-चून भिन्न-भिन्न स्वरूपों के बने हुए हैं और इन्हीं ऊर्द्ध मुखी धाराओं को "श्री-यमुना मुख" नाम से लोग पुकारा करते हैं। इन धाराओं का तापमान एकदम मुख पर लगभग वही २०० के है परन्तु ऊपर उठ कर गिरते हुए इनका तापमान इतना नहीं रह जाता है। इन यमुना-मुखों में दक्षिण ओर कई गज तक लगातार उस नग्न प्रस्तर के पर्वत से कई उष्ण स्रोत बह रहे हैं।

सूर्यकुण्ड के पास एक छोटा सा मन्दिर बना हुआ है और उससे कुछ तल पर एक धर्मशाला, जो टूटी अवस्था में है। इस धर्मशाला के नीचे डेढ़ दो गज दूरी पर गोरख डिबिया कुण्ड' और "गौमुखी कुण्ड" हैं। ये कुण्ड भी अति उष्ण हैं जिनका तापमान लगभग १८५° फा० के है। इन दोनों कुण्डों के मुख एक प्रकार के रासायनिक पदार्थों के सम्मिश्रण से प्राकृतिक ही डिबिया और गौमुख के समान बने हुए हैं। इस पदार्थ-परीक्षण से ज्ञात होता है कि लोह और चूने का इसमें अधिक मिश्रण है जिससे कि ये सरलता पूर्वक टूटने वाली वस्तु नहीं हैं और यदि कहीं टूट भी जाँय तो इस उष्ण जल के साथ आई हुई रासायनिक पदार्थों के द्वारा प्रकृति उन्हें पुनः मरम्मत कर देती है।

इन उष्ण कुण्डों से १५-२० गज की दूरी पर यमुना-सरिता की तीव्र शीत धारा सम्पूर्ण स्थान को परिवेष्टित करती हुई आगे आगे चली जा रही है। यमुना सरिता तक सम्पूर्ण उष्ण जल अपने गीले आवरण के नीचे बहते चले आते हैं और उसी को रोक कर सूर्यकुण्ड से नीचे दो तप्त-कुण्ड यात्रियों के स्नान के लिये बनाये गये हैं परन्तु यहाँ आकर जल का तापमान ८०° से ९०° तक रह जाता है। यमुना सरिता पार जाकर जब यात्री सूर्यकुण्ड की ओर जाता है तो नग्न पैर गर्म के मारे जलने से लग जाते हैं। सम्पूर्ण जल के ऊपर जो आवरण लगा है वह नीले रंग का अथवा भूरे लाल रंग का है। लौह और ताम्र का इसलिए यहाँ निस्सन्देह आविर्भाव है।

सूर्यकुण्ड के उत्तर ओर नग्न पर्वत के मूल में उष्ण जल जिस रासायनिक पदार्थ को उगल रहा है वह भूरा लाल है

इसलिये वह लौह-सिन्दूर है। इसी को यात्री यमुना चन्दन के नाम से ले जाते हैं।

हिमप्रपात के समय सम्पूर्ण घाटी श्वेत बन जाती है सरिता जल जमकर कांपरी [1] का रूप धारण कर लेता है। केवल वह अग्नि धारायें अछूती रहती हैं जहाँ से वाष्प के घोर से घोर बादल निरन्तर उठकर घाटी को आच्छादित किये रहते हैं। एक योगी ने जो कई साल पहिले वहाँ तपस्या-कुटीर में जाड़ों के दिनों में रहे थे इस प्रकार का वर्णन किया है। वे कहते थे कि ऊपर से जब हिम पर्वत टूट कर घाटी में गिरते हैं तो सहस्रों तोपों के समान भयानक शब्द होते रहते हैं। हम लोग भी शीत काल में गये थे परन्तु उन दिनों नभ स्वच्छ था इसलिये घाटी में हिम प्रपात तो न हुआ था परन्तु दो प्रहर से पहिले तक सम्पूर्ण घाटी हरित आभा लिये हुए कुहरे से आच्छादित रही थी।

प्रकृति का कितना आनन्द और सुन्दर कारीगरी का वह दृश्य था जब यमुना सरिता जल अथवा सूर्य कुण्ड या यमुना धारा या गोरख डिबिया या गोमुखी कुण्ड में जब ही हाथ डालो तो तीव्र अग्नि के समान जल उठता था और वह एक ओर तो था अति शीत जल से और दूसरी ओर अति उष्ण ताप से; परन्तु फफोले किसी से भी नहीं पड़ते थे। यमुना जल काँपरियों से आच्छादित था जिनके नीचे बहता जल बड़ा ही मनोहर दिखलाई देता था। काँपरियों को तनिक अगुलियों से छू दिया कि मानों अंगुलियों को पकड़ कर खींच लिया हो। काँपरियों के सिवाय काँपरी के गोल-गोल लोह छड़ से समीप के प्रस्तरों पर लटक रहे थे। और उधर सूर्यकुण्ड के तापमान में समस्त खाद्य पदार्थ यथचित रीति से पक जाते हैं। एक शुद्ध रूमाल में आलू अथवा चावल ढीले से बाँध दीजिये और सूर्यकुण्ड में छोड़ दीजिये। आप स्नान करने के लिये नीचे कुण्ड में चले आइयेगा। बस स्नान करके ऊपर कुण्ड के पास जाइये तो आलू अथवा चावल यथोचित ढंग से पक कर ऊपर तैरते हुए रूमाल के अन्दर मिलेंगे। अथवा आटे की रोटियाँ बना कर कुण्ड में डालते रहिये बस फूल फूल कर ऊपर तैरते हुए निकाल लीजिये। सब ऐसे पकने वाले पदार्थ ठीक यथोचित रीति से पक कर आते हैं। लेकर गोमुखी या गोरख डिबिया के पास ले जाकर नमक अथवा चीनी से खा लीजिये कोई हस [2] नहीं। चाय बना लीजिये, सुन्दर बनती है। इन किसी भी उष्ण जलों में गन्धक, फास्फोरस का नहीं नाम तक नहीं है। यदि किसी पदार्थ का कुछ आभास मिलता है तो वे हैं शुद्ध लोह और चूना (Calcium)। ताम्र का भी कुछ अंश ज्ञात होता है।

अन्य उष्ण जल—श्री बद्रीनाथ और तपोवन गढ़वाल में भी उष्ण जल कुण्ड हैं परन्तु यहाँ का जल अधिक से अधिक ८०°—९७° फा० तक होगा। जल में गन्धक की 'हस' तीव्रतर पाई जाती है। तपोवन के इस उष्ण जल में यदि साबुन से कपड़े धोइये तो सारा सफेद कपड़ा काला पड़ जाता है और कभी भी साफ नहीं होता है—सदैव लींजी [3] सी लगी प्रतीत होती है। परन्तु यमुनोत्री के उष्ण जल में इससे नितान्त भिन्नता है। उससे कपड़े साफ और शुद्ध धुल जाते हैं। किसी प्रकार की लींजी या कड़कड़ाहटपन नहीं आता है।

तपोवन के आस पास के उष्ण कुण्डों के चारों ओर एक प्रकार का श्वेत लावा जमा होता रहता है जिसमें गंधक की अधिक मात्रा पाई जाती है, परन्तु यमुनोत्री के उष्ण जल में यह बात नहीं पाई जाती।

उपयोग—मुझे विश्वास है कि यमुनोत्री का यह जल अजय रोग के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। संसार के कितने ही जल आज रोगों के निवारण के लिये प्रयुक्त हो रहे हैं। क्या हमारा देश यमुना के इस उष्ण जल की अब भी उपेक्षा करेगा?

१—**काँपरी**=जल के जम जाने से (शीत से) कांच की सी प्लेट सी बन जाती हैं। यह छड़ों के रूप में भी पाये जाते हैं। यह सदैव पारदर्शक होता है।

पाला, हिम और कांपरी में अन्तर होता है।

पाला=अति शीत के पड़ने से वायुमण्डल की उष्णता न्यूनतम होकर उसका वाष्प जम जाता है। यह पृथ्वी पर श्वेत रूप में दिखलाई पड़ता है।

हिम (बर्फ)=नभ के बादलों के टुकड़े टूट टूट कर फुनगी की तरह गिरने वाले हिम को हिम या बर्फ कहते हैं। ये दोनों पारदर्शक नहीं होते हैं।

२—**हस**=किसी प्रकार की गन्ध का अनुभव।

३—**लींजी**=तेल की सी वह चिप-चिपी जो धोने से छूटती नहीं। यह किसी भी रासायनिक पदार्थों के मेल से बन जाती है।

विज्ञान-चर्चा

विज्ञान' में प्रकाशित विज्ञप्तियों तथा सम्पादकीय के उत्तर में कुछ महानुभावों ने विज्ञान प्रचारार्थ जो उद्गार प्रकट किए है उन्हें हम प्रति मास देते रहने का उद्योग करेंगे। नीचे कुछ पत्रों के उद्धरण हैं :—

श्री छोटू भाई बी० एस-सी०, (सभ्य) तारक मंडल, आणंद गुजरात) लिखते हैं :—

विज्ञान मई ५२ का अंक मिला। 'हम क्यों लिखें?' पढ़ा। आपने विद्वानों को खयाल में रखकर दो शब्द लिखे हैं। उसमें पुरस्कार की जो बात है उससे शायद सभी सहमत न हों। मगर एक बात अवश्य कहने योग्य है कि हमारे अँग्रेजी पढ़े लिखे बहुत से विद्वान मातृभाषा में लिख नहीं सकते हैं। अगर लिखते हैं तो ढंग अच्छा नहीं जमता। फिर भी लिखा तो जाना ही चाहिये। शब्दावली अपने आप ठीक हो जायगी। जरूरत है सरल भाषा में वैज्ञानिक विषयों को प्रकट करने की।

मैं हिन्दी-भाषी नहीं हूँ। कुछ साल पहले मेरे दो चार लेख विज्ञान में प्रकट हुये हैं। उस वक्त श्री डॉ० गोरख प्रसादजी विज्ञान का सम्पादन करते थे। बाद में मैंने गुजरात में तारक-मण्डल की स्थापना करके उसके जरिये गुजरात में खगोल साहित्य का प्रचार किया। इस सिलसिले में कुछ किताबें भी लिखीं। मेरी और मेरे विद्वान गुरुमित्र श्री हरिहर भट्टजी की लिखित 'भूमंडलीय सूर्यग्रहण' किताब आपने देखी होगी। मगर वह गणित की किताब है। आम जनता के लिये लिखी गई मेरी नयी किताब 'अवकाश नु रहस्य' १९५१ में प्रकट हुई थी। आज वह खतम हो गयी है। गुजराती के अखबारों ने अच्छी प्रशंसा की है। मैं मानता हूँ कि यह किताब मैंने विज्ञान परिषद को भेजी भी है—श्री डॉ० जी० के पास तो है ही।

अगर आप चाहें तो उसके अलग २ अध्यायों को विज्ञान में प्रकाशित कर सकते हैं। और उसके द्वारा हिन्दी के विद्वानों को दिखा सकते हैं कि लेख में बहुत ही कम अँग्रेजी शब्द इस्तेमाल करके हम अपनी बात सरल भाषा में प्रकट कर सकते हैं।

मैं आपके कुछ काम आऊँ ऐसा स्पन्दन कर वह लिखा है।

आपकी मूल पुस्तक गुजराती में है। अनुवाद कराना तो हमारे लिए एक समस्या होगी। यदि आप उसे भाषान्तरित करा सकें तो हम विज्ञान में उसका प्रकाशन करने का अवश्य उद्योग करेंगे।

—सम्पादक

श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी० (आनर्स) डी० आई० केमि० द्रुग लिखते हैं: —

आपका जून अंक विज्ञान हस्तगत हुआ। इस अंक का लेख "विज्ञान प्रचार की नई योजनाएँ" शीर्षक मुझे अत्यंत प्रिय मालूम हुआ। इस शीर्षक में आपने लिखा है—"एक विशेष निवेदन हमें अपने नवयुवक उत्साही लेखकों से करना है। यदि छोटी-मोटी पुस्तक रूप में किसी विषय पर अपनी रचनाएँ दे सकें जो सुपाठ्य तथा मनोरंजक हों और विज्ञान के एक या दो अंकों में पूर्ण हो सकती हो तो हम उसे विज्ञान के साथ ही पुस्तक का भी रूप देकर अपने पुस्तक भंडार की वृद्धि कर सकते हैं।" इस शीर्षक ने मुझे खुशी के मारे उछाल दिया। मेरे पास एक लेख Abrasives (अपघृष) के ऊपर है। यदि आपकी सम्मति मिले तो मैं उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत करूँ।

आपके हर्षोद्गार के प्रति हम आभारी हैं। लेख अवश्य भेजें। हम विज्ञान की प्रतियाँ प्रचारार्थ भेज रहे हैं।

—सम्पादक

[शेष आवरण पृष्ठ ३ पर देखें]

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | सिंह २००६; अगस्त १६५२ | संख्या ५

वैज्ञानिक बोधि वृक्ष

धन्य है वह विहार प्रदेश जिसने भगवान बुद्ध के हृदय-पटल को अंतर्ज्योति प्रदान कर विश्व-विश्रुत मूर्ति बनाने का श्रेय प्राप्त किया। धन्य है विहार प्रान्त का वह गया नगर जिसने तथागत को अपनी आत्मिक साधना की चरम गति प्राप्त कर अपना जीवन अमर बनाने का अप्रतिम अवसर प्रदान किया। धन्य है वह गया का वट वृक्ष जिसने अपनी शीतल छाया में आसीन सिद्धार्थ के ज्ञान-नेत्र प्रस्फुटित कर उन्हें भगवान बुद्ध नाम से प्रसिद्ध होने का अवसर दिया किन्तु आज सत्यासत्य निर्णायक नीर-क्षीर विवेक से मानवप्राणी सभी प्रश्नों में मीन-मेष निकालने, नाना प्रकार के तर्कों की बौछार से समस्या की तह तक पहुँचने का भगीरथ प्रयत्न करता रहता है। फलतः हमारे हृदय में कभी कभी स्वतः इस प्रश्न के उठने का अवसर आ सकता है कि यथार्थतः भगवान बुद्ध की महान आत्मा ने ही अपने चरम उत्कर्ष को प्रतिभाषित कर इस गया के बट वृक्ष को बोधि-वृक्ष की सम्मानित संज्ञा प्रदान की अथवा वह स्थल तथा वृक्ष ही इतना पुण्यशील किंवा पुनीत था कि उसके तले अतिकाल तक आसीन तप-रत किसी आत्मा को उसने साधना के योग्य समझ कर तथागत, भगवान बुद्ध आदि नामों से विख्यात किया। भगवान बुद्ध का शरीर तो धरा के तत्वों में मिलकर सर्वथा लुप्त हो चुका है, किन्तु उनकी आध्यात्मिक प्रशिक्षा हमें महत् उत्प्रेरणा प्रदान करने के लिए आज भी सुलभ है। उधर वटवृक्ष यदि अपनी आत्मा रखता हो तो वह तो हमें अविच्छिन्न रूप से सहस्रों वर्ष पश्चात् भी विद्यमान ही दिखाई पड़ सकती है। परन्तु बोधि वृक्ष ने अपनी चेतनता नहीं, बल्कि जड़ता के प्राधान्य से अपना कलेवर आज भी हमारे सम्मुख उपस्थित ही रखा है। इस उधेड़-बुन में हम किसे अधिक महत्त्व दें, बोधि वृक्ष तथा तथागत की विश्व-विश्रुत महानताओं में से किसको-किसका प्रधान आश्रित या अवलंबित कहें, इन के निर्णय का कोई भी आधार आज हमारे पास सुलभ नहीं है।

परन्तु इन सुदूर पूर्वकाल की घटनावलियों में सहसा हमारा ध्यान सीलोन या अन्य स्थलों में आरोपित बोधिवृक्ष की शाखाओं को आज स्वतः विशाल वट वृक्ष का रूप धारण किए होने की ओर जाता है। बोधि वृक्ष ने विश्ववन्द्य रूप धारण किया सही, परन्तु उसके आवश्यक गुणों में हम

प्रसिद्धि या पवित्रता को ही अन्य स्थलों पर स्वतंत्र वृक्ष रूप में खड़ा होने में अत्यावश्यक नहीं देखते। वह तो वट वृक्ष की साधारण प्रवृत्ति सी ही है कि शाखा के आरोपित करने पर स्वयं ही उसे मूल प्रदान कर स्वतंत्र वृक्ष बना देता है, यहां तक कि उसकी शाखाओं से अवतरित मूलवत् जटाएँ मन्द गति से धरा-उन्मुखी होकर कभी धरातल स्पर्श कर लेने का अवसर प्राप्त कर लेने पर अपने लट को ही वृक्ष के तने रूप में परिवर्तित कर नवीन वट वृक्ष का सृजन कर सकती हैं।

इस प्रकार की विचित्र रचना में हमें किसी अति प्राचीन जरायु वट की प्रदक्षिणा करने की भाँति चहुँधा ऐसी जटाएँ ही अन्यान्य वृक्षों का रूप धारण किए दिखाई पड़ सकती है जहाँ मूल वृक्ष के केन्द्रस्थ तने का आज सर्वथा लोप हो गया हो।

अपनी संतान की वृद्धि कर, उनका क्रम आगे बढ़ाते जाने का आयोजन कर स्वयं अपने कलेवर की इति देखने का आह्लादपूर्ण अवसर नाना जीव-जन्तुओं में अनुभूत होते देखा जा सकता है अतएव जंगम जगत की इस थाती का अनुसरण जड़ जगत की सीमा में वट वृक्ष को कर दिखाते हम आश्चर्य क्यों करें ?

क्या साधारण वट वृक्ष या उस वर्ग के सम्मानित बोधि वृक्ष की तुलना विज्ञान वृक्ष से करने में कुछ आपत्ति हो सकती है ? कलकत्ता नगरी के महान बट वृक्ष को ले लीजिए, अथवा गया. अनुरुद्धपुर (लंका) आदि के बोधि वृक्ष को ले लीजिए, उनकी ही भाँति विज्ञान वृक्ष के प्रसार के आयोजन हमें लक्षशः देखने को मिल सकेंगे। कभी किसी व्यक्ति या संस्था के उद्योग ने विज्ञान-दीप को आलोकित करने का आयोजन किया, मूल दीप आज विद्यमान हो या न हो, हम उसकी शाखा प्रशाखा रूप की संस्थाएँ स्वतंत्र अस्तित्व बनाकर अज्ञान-तम के विलीन-करण में संलग्न देख सकते हैं। विज्ञान की शोधों के विशाल आयोजन की बातें छोड़कर मातृभाषा द्वारा वैज्ञानिक साहित्य-वृद्धि के आयोजनों की चर्चा भी इस स्तर पर करना क्या अनुचित या हास्यास्पद हो सकता है ? हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य की संवृद्धि का हम विज्ञान परिषद नाम से जो आयोजन रख रहे हैं, वह क्या कोई हमारी ही बपौती कही जा सकती है ? अन्य स्थानों के छोटे या बड़े, प्रादेशिक, सार्वदेशिक या संस्थागत किंवा व्यक्तिगत प्रयत्न भी वट शाखावत अपनी स्वतंत्र या अवलंबित सत्ता रख कर विज्ञान सेवा के हिन्दी भाषा के माध्यम को आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रश्न पर हमने कई बार विचार किया है। जो भी प्रदेश, नगर या संस्था चाहें, हमारी सहायता, उत्प्रेरणा किंवा पूर्व साहित्यिक सेवाओं को लेकर या निरवलंब रूप से ही विज्ञान-प्रचार का कार्य अग्रसर करें, हम उनके प्रयत्नों का स्वागत करने को प्रस्तुत रहेंगे, अपनी अकिंचन सहायताओं, सम्मतियों एवं सहानुभूतियों के प्रदान करने में कृपणता करने का कुयश अपने कपाल पर कभी न बैठने देंगे। हमारे एक विहार प्रदेशीय लेखक ने किसी समय अपनी प्रादेशिक विज्ञान परिषद बनाने के असफल उद्योग की चर्चा करते हुए हमारी इन भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर दिया है। हमे किसी भी रूप के वर्ग या संस्था अथवा प्रदेश के सरकारी, अर्द्ध सरकारी अथवा स्वतंत्र प्रयत्नों की योजना करने वालों से निवेदन है कि प्रारम्भिक प्रयत्न के लिए हमारा इतने समय से निकलते आने वाला 'विज्ञान' एक प्रबल अस्त्र है। इसको और पनपा कर तथा पुष्ट कर आपको अपने किसी भी रूप के वैज्ञानिक साहित्य, प्रचार निर्माण, संवर्द्धन आदि में सहायता ही मिलेगी। इसके लिए कुछ या अधिक समय के लिए विशेष क्षेत्रों या संस्थाओं के प्रचार, उद्योग या लेख आदि के लिए स्थान या पृष्ठ सुरक्षित कर देना हमारे लिए कठिन नहीं हो सकता। इससे आप के पग शृंखलाबद्ध नहीं होते। आप शक्ति आते ही अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर नवीन वैज्ञानिक वट वृक्ष बन सकते हैं। अतएव आइए, हम इस महान वट वृक्ष को फिर अभिवादन करें और उसे उत्प्रेरणा प्राप्त करने का आधार बना कर अपने उद्योग में बढ़ें। प्रत्येक बड़ी विज्ञानशाला, विद्यालय, प्रादेशिक साहित्यिक संस्था अपने वैज्ञानिक साहित्य-पक्ष को बल प्रदान करने का आयोजन करने में आगे बढ़ सकती है। क्या हम आशा करें कि आप वैज्ञानिक वट वृक्ष की वंश-वृद्धि में क्रियात्मक सहयोग की अपनी योजना तथा सहमति हमें प्रदान करेंगे !

प्राचीन भारतीयों की विज्ञान-साधना

श्री० श्यामनारायण कपूर

भारतीयों ने सुदूर पूर्वकाल में वैज्ञानिक क्षेत्र में जैसी अद्भुत सफलता प्राप्त की थी उसका विवरण लेखक ने इस लेख में विशद तथा प्रामाणिक रूप से दिया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान है। यूनान, मिस्र, रोम तथा यूरोप के दूसरे देशों में इनकी सभ्यता से हमारी सभ्यता का कहीं अधिक पुरातन होना आज संसार द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। जिस समय अन्य देश अज्ञानावस्था में थे भारत सभ्यता के शिखर पर था। उन दिनों भारतीयों ने जो उन्नति की थी यह सर्वतोमुखी थी, सर्वाङ्गीण थी। यह उन्नति साहित्य, धर्म, दर्शन अथवा अध्यात्म तक सीमित न होकर शिल्प, स्थापत्य, कला कौशल और ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों में भली भांति विकसित हुई थी।

विज्ञान की परम्परा

पश्चिमी देशों में विज्ञान और आविष्कार की प्रगति १६ वीं और १७ वीं शताब्दी से आरम्भ होती है। इस प्रगति के आधार पर यह समझा जाता है कि आधुनिक विज्ञान केवल पश्चिमी देशों की देन है। पर यह धारणा ठीक नहीं। विज्ञान की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय प्राचीन भारतीयों की विज्ञान-साधना को है। वास्तव में पाश्चात्यों द्वारा विज्ञान के श्रेय में अग्रसर होने के बहुत पूर्व प्राचीन भारतीय, विज्ञान के विविध क्षेत्रों में बहुत उन्नति कर चुके थे। गणित, ज्योतिष, रसायन, दर्शन चिकित्सा तथा अन्य विज्ञानों के प्रकाण्ड विद्वान यहाँ उस समय अवतीर्ण हो चुके थे जब कि संसार के दूसरे देशों में उन विषयों के ज्ञान का श्रीगणेश भी न हुआ था। इन वैज्ञानिकों में आर्यभट्ट, बराहमिहिर, भास्कराचार्य, नागार्जुन, रामानुज, पतञ्जलि तथा चरक एवं सुश्रुत प्रभृति के नाम आज भी बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ लिये जाते हैं।

उस प्राचीन जीवनकाल में भारतीयों ने विज्ञान सम्बन्धी जो महत्वपूर्ण कार्य किये थे उनका क्रमबद्ध इतिहास अप्राप्य है। परन्तु इधर पुरातत्व-वेत्ताओं और वैज्ञानिकों ने जो गवेषणायें की हैं उनके आधार पर यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी है कि प्राचीन भारतीयों को विज्ञान की उन्नति में संसार में अग्रिम स्थान प्राप्त हो चुका था। वास्तव में भारतीयों की विज्ञान-साधना का सूत्र-पात अत्यन्त प्राचीन काल से होता है। वैदिक काल से लेकर गुप्त राजाओं के शासनकाल तक भारतीयों ने विज्ञान के विविध क्षेत्रों में विशेष उन्नति की थी। उस अत्यन्त प्राचीन काल में भारतीयों ने जो उत्कृष्ट सफलता प्राप्त की थी उसके जीवित जागृत उदाहरणस्वरूप आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति का नाम आज दिन भी अत्यन्त गौरव के साथ लिया जा सकता है। चिकित्सा विज्ञान को वेदों के सदृश उच्च स्थान देना ही भारतीयों के विज्ञान प्रेम और उसे जन-कल्याण के लिए व्यवहार में लाने का यथेष्ट प्रमाण है।

वेदों में विज्ञान

वेदों का अर्थ ज्ञान है और उपनिषदों के अनुसार ज्ञान और विज्ञान में कोई भेद नहीं है।

वास्तव में वैदिक साहित्य में ज्ञान और विज्ञान दोनों ही बातें हैं। ज्ञान केवल शास्त्रीय रहता है और विज्ञान व्यवहारिक तथा कार्य रूप में परिणत होता है। वैदिक काल में ज्ञान और विज्ञान दोनों ही साथ साथ आगे बढ़े। पाश्चात्य देशों में तो आधुनिक विज्ञान के प्रारम्भिक दिनों में धर्म और विज्ञान में बड़ा संघर्ष रहा। धर्मगुरुओंने विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों को अत्यन्त भीषण एवं कुत्सित यातनायें देने ही में अपना गौरव समझा और वैज्ञानिक सत्यों का प्रतिपादन करने वालों को जीवित जला देने में भी आगापीछा न किया। परन्तु भारत में—आर्य जाति में—धर्म और विज्ञान का कभी कोई झगड़ा नहीं हुआ। यहां धर्म और विज्ञान दोनों साथ साथ पनपते रहे। वास्तव में 'बाइबिल इन इन्डिया' (भारत में बाइबिल) नाम ग्रन्थ के रचयिता पाश्चात्य विद्वान् जकोलिया के शब्दों में 'संसार के समस्त धर्मग्रन्थों में वेद ही एक मात्र ऐसे ग्रन्थ है जिसके विचार विज्ञान से मिलते हैं। वेदों में जगत की रचना का प्रतिपादन विज्ञान के अनुसार ही किया गया है।'

वेदों में वैज्ञानिक विषयों का उल्लेख स्थान स्थान पर पाया जाता है। परन्तु यह उल्लेख मात्र संकेत रूप में हैं। अन्य विषयों का भी उल्लेख संकेत रूप ही में है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार तो वेदों में ज्ञान के योग्य हर वस्तु का वर्णन है। इस मत का प्रतिपादन अब आधुनिक पाश्चात्य और प्राच्य विद्वान भी करने लगे हैं। अमेरिकन महिला दानलर विल्लाम्स ने अपने ग्रन्थ Sublimity of Vedas में यह स्वीकार किया है कि वैदिक ऋषियों को विद्युत, रेडियो इलेक्ट्रन, विमान आदि सभी विषयों का ज्ञान था। वेदों के सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् स्वर्गीय पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी अपने 'त्रयी चतुष्टय' नामक ग्रन्थ में यह बतलाया है कि वेदों में सारे विज्ञान सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में विज्ञान

कुछ वर्ष पूर्व बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय द्वारा महर्षि भरद्वाजकृत 'यमसर्वस्व' नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आया है। इसके 'वैमानिक प्रकरण' नामक अपूर्ण भाग की प्रतिलिपि बोधानन्द वृत्ति (टीका) सहित उक्त पुस्तकालय में अब भी विद्यमान है। इस पुस्तक से प्राचीन भारतीयों के विमान-रचनासम्बन्धी ज्ञान विज्ञान के बारे में अनेक महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक बातों का पता चलता है। उससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि महर्षि भरद्वाज ने अपने यंत्र सर्वस्व नामक ग्रन्थ की रचना वेदों में प्राप्य ज्ञान के आधार पर की थी।

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भरद्वाजो महामुनिः ।
नवनीतं समुद्धृत्य यंत्रसर्वस्व रूपकम् ॥

अर्थात् महर्षि भरद्वाज ने वेदरूप समुद्र का निर्मन्थन करके 'यंत्र सर्वस्व' नामक ग्रन्थ रूप मक्खन निकाल कर प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ चालीस अधिकारों से युक्त है। भिन्न-भिन्न विमानों की विचित्रता और रचना-क्रम का बोध कराने के लिए महर्षि भरद्वाज ने इस 'यंत्र सर्वस्व' के अन्तर्गत 'वैमानिक प्रकरण' की भी रचना की। 'वैमानिक प्रकरण' में पाँच सौ सूत्र, सौ अधि-करण और आठ अध्याय बतलाने गये हैं। बड़ौदा में जो प्रति मिली है उसमें केवल चार सूत्र बोधानंद पति की वृत्ति सहित उपलब्ध हैं। इन चार सूत्रों एवं उनकी विवेचनात्मक टीका से प्राचीन भारतीय की विमान रचना और संचालन के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण और महान् आश्चर्यजनक बातें ज्ञात होती हैं।

विमान-शास्त्र के आचार्य

भरद्वाज मुनि ने अपने ग्रन्थ में विमान-शास्त्र के पूर्वाचार्यों तथा उनके बनाये ग्रन्थों के नामों का भी उल्लेख किया था जो क्रम से इस प्रकार हैं :—नारायण की विमान-चंद्रिका, शौनक का व्योमयान तंत्र, गर्ग का यंत्र कल्प, वाचस्पति का मान बिंदु, चाक्रायण की खेटयान-प्रदीपिका और धुण्डिनाथ का व्योमयानर्क प्रकाश। इन विमान विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त उक्त ग्रन्थ में विज्ञान के विविध विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पचीस ग्रन्थों की एक सूची और भी दी गई है। इनमें अगस्त्य कृत शक्ति-सूत्र, ईश्वर कृत सौदामिनी-कला, भरद्वाज कृत अंशुम, यंत्र-तंत्र सर्वस्व, शाकटायन कृत वायुतत्व-प्रकरण, नारद कृत वैश्वानरतंत्र और धूम्र-प्रकरण आदि मुख्य हैं।

विमान-चालक

इस ग्रन्थ में विमान की परिभाषा देकर बतलाया गया है कि जो पृथ्वी, जल और आकाश में पक्षियों के समान वेगपूर्वक चल सके उसका नाम विमान है। विमान के रहस्यों का अधिकारी—रहस्यज्ञोऽधिकारी—ही उसके चलाने का अधिकारी है। विमान चलाने के रहस्य बतलाये गये हैं विमान बनाना, उसे जमीन से आकाश में ले जाना, खड़ा करना, आगे बढ़ना, टेढ़ीमेढ़ी गति से चलाना, विमान के वेग को कम या अधिक करना आदि रहस्यों का ज्ञाता ही कुशल चालक माना गया है। विमान-रहस्यों का उल्लेख करते समय विश्वकर्मा, छाया पुरुष मनु, मय दानव आदि विमान शास्त्रकारों और उनके बनाये शास्त्रों का भी उल्लेख किया गया है। प्रत्येक विमान दूर से देखने (दूरबीन , गतिवक्र करने, दूसरे विमानों से बात करने, उनकी वस्तुएँ देखने, उनकी दिशा जानने, उनके यात्रियों को बेहोश करने और शत्रु विमान को नष्ट करने के भी यंत्र रहते थे।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय, विमान-निर्माण और संचालन में अत्यन्त निपुण थे और आजकल के वैज्ञानिकों की अपेक्षा किसी भी प्रकार पीछे न थे। वायुयान या विमान-संचालन के लिए आजकल जो उपकरण और यंत्र आदि काम में लाये जा रहे हैं, प्राचीन भारतीयों को उनसे कुछ अधिक ही बातों का ज्ञान था। विमान युद्ध में शत्रु के विमान में रहने वाले व्यक्तियों को स्तब्ध (बेहोश) करने, रूपाकर्षण यंत्र द्वारा दूसरे विमान में स्थित वस्तुओं को देखने तथा यासा, वियासा, प्रयासा, इत्यादि वायु शक्तियों के द्वारा सूर्य किरण में रहने वाली अन्धकार शक्ति का आकर्षण करके उसके द्वारा विमान को अदृश्य बनाने वाली जिन चमत्कारिक बातों का उल्लेख है उन सब के विषय में तो आज के वैज्ञानिक अभी तक शायद सोच भी नहीं सके हैं! वास्तव में प्राचीन भारतीयों ने अपनी ज्ञान-विज्ञान-साधना द्वारा प्राकृतिक शक्तियों पर अत्यन्त आश्चर्यजनक विजय प्राप्त की थी। वे प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म शक्तियों को भी अपने वश में करके जनकल्याण के लिए काम में लाते थे।

वेदों में विज्ञान

वेदों का अध्ययन करने वाले विद्वज्जनों के अनुसार ऋग्वेद में आकाशगामी विमानों का कई स्थलों पर उल्लेख है। इसके साथ ही यह बात भी सर्वमान्य है कि ऋग्वेद संसार का सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ है. ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार श्री रामगोविन्द त्रिवेदी ने अपनी "वैदिक साहित्य" नामक पुस्तक में ऋग्वेद के अनेक उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद-कालीन ऋषियों को विमानों का समुचित ज्ञान था।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३४ वें सूक्त के दूसरे मंत्र में एक ऐसे रथ का उल्लेख है जो तीन चक्रों और तीन स्तम्भों वाला था, तीन खम्भे अवलम्बन के लिए थे। इसी तरह इसी ३४ वें सूक्त के १२ वें मंत्र में त्रिकोण और त्रिलोक में चलने वाले रथ का उल्लेख है। १, ११२, १२ में अश्विनी कुमारों के 'अनश्वरथ'—अश्व रहित रथ का उल्लेख है। १, ११८, १ में इन्हीं अश्विद्वय के बाज पक्षी की तरह ११ शीघ्रगन्ता, सुखकर और सम्पन्न रथ का उल्लेख है। ४, ३६, १ में तो आकाशगामी रथ का स्पष्ट उल्लेख है। और कहा गया है कि ऋभुओं तुम्हारा कर्म स्तुत्य है। तुम्हारे द्वारा प्रदत्त अश्विनी कुमारों का त्रियकरथ, अश्व के बिना और लगाम के बिना अंतरिक्ष में परिभ्रमण करता है।

अश्विनी कुमार

अश्विनी कुमार और ऋभु लोग ऐसे विमान रखते ही नहीं थे, स्वयं बनाते भी थे। ये लोग वैज्ञानिक ही नहीं, वैद्य भी थे। अश्विनी कुमारों के चिकित्सा सम्बन्धी चमत्कारों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। उन्होंने खेल नामक राजा की पत्नी विशला की टूटी जाँघ को नई और नकली जाँघ लगाकर ठीक किया था। ऋजाश्व राजा के पिता की अंधी आँखें भी इन्होंने अच्छी की थीं। कक्षीवान् ऋषि की ब्रह्मवादिनी घोषा नाम की कन्या का कुष्ट रोग भी इन्होंने दूर कर दिया था। वृद्ध च्यवन ऋषि को अपनी चिकित्सा द्वारा फिर से तरुण बनाने में भी इन्होंने सफलता प्राप्त की थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ८२ वें सूक्त के पाँचवें मंत्र। १. १८२-५। से विदित होता है कि

अश्विनी कुमारों ने पंखों वाली एक नाव भी बनाई थी। वास्तव में भारतीय विद्वान ही नहीं वरन् अनेक लब्धप्रतिष्ठ विदेशी विद्वान भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि वेदों में केवल पूर्ण आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए धार्मिक तत्वों ही का निरूपण नहीं है वरन् उन तत्वों का निर्देश है जिनको आधुनिक विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। एक प्रतिष्ठित फ्रेंच विद्वान ने तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि वर्त्तमान विज्ञान केवल उन्हीं सिद्धान्तों को पुनः प्रस्तुत कर रहा है जो वेदों में वर्णित है।

संक्षेप में वेदों में ज्ञान के योग्य हर वस्तु का वर्णन है, यहाँ तक कि नवीनतम आधुनिक आविष्कारों का भी प्रतिपादन वेदों में किया गया है। कम से कम बीज रूप में तो अवश्य ही यह वर्णन वहां मिलता है। वास्तव में वैदिक काल ही में भारत ने विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। उस समय भूगर्भ विद्या, रसायन और ज्योतिष को आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीर विद्या, मनोविज्ञान, तथा ब्रह्म विद्या को आध्यात्म विद्या। उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त होगये हैं तो भी वेदादि जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें इन विज्ञानों के सम्बंध में सर्वथा निर्देश मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ऋषियों को विविध विज्ञानों के बारे में समुचित ज्ञान था और उस कालही में यहां विज्ञान का पर्याप्त प्रचार था।

वेदों के काल में विज्ञान

वास्तव में प्राचीन संस्कृत और बौद्ध ग्रन्थों में भारतीयों की सहस्र वर्षों की ज्ञान-विज्ञाना साधना का जो इतिहास भरा पड़ा है वह आज दिन भी भारत के गौरवमय अतीत और प्राचीन भारतीयों की सर्वतोमुखी प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ है। इन ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीयों का विविध विषयक ज्ञान केवल शास्त्रीय या शाब्दिक ही न था, उन्होंने आज के वैज्ञानिकों के समान उसे व्यवहारिक रूप देने और कार्य रूप में परिणत करने में भी सफलता प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, ज्ञान-विज्ञान का उचित समन्वय करने में वे आज के वैज्ञानिकों से भी बढ़े-चढ़े थे। वैदिक काल के बाद भी भारतीयों की विज्ञान साधना की परम्परा पूर्ववत बनी रही। सम्राट विक्रमादित्य और महाराज भोज के समय तक कई उच्च कोटि के वैज्ञानिक यहां अवतीर्ण हुए।

आर्य भट्ट

आर्य भट्ट इस काल के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। इन्हों ने बड़ी निर्भीकता से सिद्ध किया कि ग्रहण राहु के कारण नहीं होता वरन् चंद्रमा के सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में आ जाने से होता है। वास्तव में आर्यभट्ट पहिले वैज्ञानिक थे जिन्हों ने इस बात का पता लगाया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उन्होंने और भी कई महत्वपूर्ण अन्वेषण और गवेषणायें की थीं।

बराहमिहिर

आर्यभट्ट के ही समकालीन बराहमिहिर नाम के एक दूसरे वैज्ञानिक थे। इन्होंने पंच सिद्धान्तिका, वृहज्जाटक, वृहत्संहिता, लघु जातक प्रभृति ग्रन्थों की रचना की थी। बराहमिहिर न केवल एक महान गणितज्ञ, ज्योतिषी तथा खगोल-विद्या विशारद थे, वरन् वे धातु विज्ञान के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वे एक चतुर जौहरी थे और वनस्पति तथा जन्तु शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्हें शिल्पकला का भी अच्छा ज्ञान था। बराहमिहिर कृत 'वृहत्संहिता' तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति का अच्छा विवरण प्रस्तुत करती है। इससे पता लगता है कि उन दिनों लोग केवल नाना प्रकार की प्राकृतिक सुगंधियां बनाने ही में पटु नहीं थे, वरन् वे प्राकृतिक पुष्पों जैसी कृत्रिम सुगंधियां तैयार करने में भी विशेष निपुण थे। उन दिनों मंत्रों का भी चलन था और 'यंत्रज्ञ' एवं 'यंत्रविद' लोग उनकी देख-रेख के लिए नियुक्त रहते थे। सुंगध आदि के निर्माण के लिए 'राग-गंध-युक्तिविद' लोगों का उल्लेख है। इसी ग्रन्थ में भवन निर्माण के लिए आधुनिक सीमेंट से भी अधिक पुष्ट और दृढ़ 'बज्र लेप' का उल्लेख है।

समराङ्गण सूत्रधार

उन्हीं दिनों का अर्थात् अब से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व का एक और प्रतिष्ठित ग्रन्थ राजा भोज-कृत 'समराङ्गण सूत्रधार' है। इस ग्रन्थ से तत्कालीन भारत में अन्य विज्ञानों के साथ ही यंत्रविज्ञान की भी आश्चर्यजनक

उन्नति होने के प्रबल प्रमाण मिलते हैं। इस पुस्तक में ३१ वें अध्याय—'यंत्र विधानाध्याय' में विभिन्न प्रकार के अनेक यंत्रों के वर्णन हैं। इसमें आधुनिक 'लिफ़्ट' जैसे यंत्र का भी उल्लेख है। दीपक के लिए एक ऐसी पुतली बनाने का भी हाल लिखा है जो दीपक में तेल घट जाने पर उसमें अपने आप तेल डाल दे और ताल की गति से नाचे।

यन्त्र की परिभाषा

इस ग्रन्थ में 'यन्त्र' शब्द की जो परिभाषा दी है वह पाठक को आश्चर्य-चकित कर देती है। आधुनिक विज्ञान की पुस्तकों में यन्त्र की इतनी स्पष्ट, तथ्यपूर्ण और सही परिभाषा शायद ही मिले।

यदृच्छया प्रवृत्तानि भूतानि स्वेन वर्त्मना।
नियम्यास्मिन्नयति यत्तद्यन्त्रमिति कीर्तितम्॥

अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश ये पांच भूत (तत्व) स्वभावतः अपने गुणों के अनुसार प्रवृत्त हैं। जिस उपाय के द्वारा इन्हें नियन्त्रित कर इनसे इच्छानुसार कार्य लिया जा सके उसे 'यन्त्र' कहते हैं। अर्थात् प्रकृति की गति को अथवा शक्तियों को अपने अनुकूल बनाने के उपाय को 'यन्त्र' कहते हैं।

सम्राट भोज ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे। उनके बारे में नाना प्रकार की लोककथायें आज भी प्रचलित हैं। वे विद्या शिल्प और कला की उन्नति में विशेष अभिरुचि रखते थे। उन्होंने अनेक अनेक विषयों पर महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे थे। उनके द्वारा अब से एक हजार वर्ष पूर्व 'यंत्र' की इतनी सूक्ष्म, परिपक्व और परिपूर्ण परिभाषा दिया जाना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने और उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनसे अपनी इच्छानुसार काम लेने के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा कुछ कम प्रयत्नशील न थे। यंत्र शब्द की इतनी सुस्पष्ट और परिपूर्ण परिभाषा ही उनके 'यंत्र विज्ञान' सम्बन्धी पाण्डित्य को प्रकट करने के लिए यथेष्ट है। यहाँ यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा कि भारत में यंत्र शिल्प की अपेक्षा गृह शिल्प को सदैव ही विशेष महत्व दिया जाता रहा और सम्भवतः यांत्रिक सभ्यता एवं संस्कृति के दो अवगुणों को ध्यान में रखते हुए मानव धर्मशास्त्र के निर्माता मनु ने तो एक स्थल पर 'महायंत्रों' के प्रवर्तन का निषेध भी किया है।

यंत्र के प्रकार और गुण

अस्तु यंत्र की परिभाषा देने के साथ ही 'समराङ्गण सूत्रधार' में यह भी बतलाया गया है कि यंत्र चार प्रकार के होते हैं:—(१) स्वयंवाहक—आटोमेटिक—जो आज्ञा देने पर अपने आप चलें। (२) सकृत्प्रेर्य—जो एक बार गति देने पर पराबर चलता रहे—आजकल के वाष्प, तेल अथवा विद्युत से चलने वाले बहुत से यंत्र इस श्रेणी में आते हैं। (३) अन्तरिक (Periodical) जो एक बार गति देने पर कुछ देर तक चलता रहे और फिर गति देनी पड़े—जैसे घड़ियां (४) अदूरतः वाह्य—जो बराबर गति देने पर चले जैसे चरखा या साइकिल। इन चारों में स्वयं वाहक सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है और इन में भी—उत्तम वह है जो पासमें रहने पर भी दूर और अदृश्य जान पड़े। यंत्रों के प्रकार बतलाने के साथ ही अच्छे यंत्र में आवश्यक गुणों का भी उल्लेख किया गया है—अलक्षता—चलने पर दिखाई न देना, भार सह सकना, हल्का होना चलने पर आवाज न होना (शब्द-हीनता) आवाज को साधा जा सके अर्थात् घटाया बढ़ाया जा सके (शब्दसाध्य) गति में शिथिलता न होना, यंत्रों की संधियों में कहीं जाम न होना, उनके जोड़ों का उत्तम होना, धक्का न मालूम होना, इच्छानुसार गति पर नियंत्रण किया जा सकना, यंत्र के किसी भाग का इच्छानुसार देखा जा सकना, पश्चात उसका अदृश्य हो जाना, खुदरापन का न होना, धक्का न मालूम होना, जोड़ों में समानता का होना, दृढ़ता होना और उसके साथ ही चिकनापन का होना, बहुत दिनों तक घिस न सकना, एक भाग द्वारा अनेक भागों का चलाया जाना उनके द्वारा अन्य भागों का चलाया जाना (एकं बहूनि चालयेत् बहुभिश्चाल्यतेऽपरम्।)

गजयंत्र और योध यंत्र

यंत्रों के उपरोक्त विवरण से यह बात भली-भाँति स्पष्ट ह जाती है कि सम्राट भोज के समय में भारतीय यंत्रों के निर्माण में बहुत दक्ष थे और यंत्रों के विभिन्न अंगों के निर्माण एवं संचालन का उनका ज्ञान बहुत व्यवहारिक और वैज्ञानिक था।

महाराज भोज के इसी यंत्र में आधुनिक रोबट Robot जैसे यंत्रों का भी उल्लेख है। इनमें गजयंत्र, पक्षियंत्र, द्वारपाल यंत्र और योध-यंत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। गजयंत्र में ऐसे कृत्रिम हाथी का वर्णन है जो पारे के यंत्र की सहायता से असली हाथी की तरह चिंघाड़ता और चलता फिरता मालूम पड़ता है। अमेरिका में अभी हाल ही में मशीनों की सहायता से चलने फिरने और सवारी देने वाले नकली हाथी तैयार किये गये हैं। पक्षि यंत्र में तोते आदि नकली पक्षियों के ताल पर नाचने और गाने का उल्लेख है। द्वारपाल यंत्र में एक ऐसे लकड़ी के मानव शरीर जैसे यंत्र का वर्णन है जिससे हाथ में दण्ड रहता है और जो घर में प्रविष्ट होने वालों को रोकता है। योधयंत्र या सिपाही कल हथियार धारण कर घर में जबरदस्ती प्रवेश करने वाले व्यक्ति से युद्ध भी करने की सामर्थ्य रखता है। अज कल के वैज्ञानिकों ने भी यंत्रचालित लौह पुरुष (Robot) बनाने के प्रयत्न किये हैं।

विमान निर्माण

इस पुस्तक में आकाशगामी विमानों, उनके निर्माण और संचालन विधि का भी उल्लेख है। यह जरूर है कि इन विधियों का उल्लेख केवल बीज रूप में किया गया है। ग्रन्थकार ने इस बात को स्वयं ही स्पष्ट भी किया है कि यंत्रों के बनाने की विधि के पूरीतौर पर न लिखने का कारण अज्ञान या छिपाव न था वरन् पूरा विवरण देने से भी हर कोई तो बनाने में समर्थ नहीं होता और कुशल कलाकार संकेत के अनुसार काम करके यंत्र बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

शिल्प और स्थापत्य

यंत्र विज्ञान (Mechanical Engineering) के साथ ही उन दिनों, शिल्प, स्थापत्य और वास्तुशास्त्र अर्थात् सिविल इंजीनियरिंग भी यथेष्ट उन्नत अवस्था में थी। आजकल इंजीनियर, ओवरसीयर और मिस्त्रियों ही के समान उन दिनों भी क्रमशः शिल्पज्ञ गणितज्ञ (सूत्रग्राही) और विधिज्ञ होते थे। भवन निर्माण के लिए भी अनेक ग्रन्थ और संहितायें प्रचलित थीं। इनमें कश्यप संहिता हिमालय से विन्ध्य प्रदेश तक, भृगु संहिता विन्ध्य से तुङ्गभद्रा तक और मय संहिता तुङ्गभद्रा से दक्षिण के भागों में विशेष रूप से प्रचलित थी। इन संहिताओं में भवन के विस्तृत विवरण दिये गये हैं। जमीन कैसी हो, अड़ोसी पड़ोसी कैसे हों, कैसे पशुपक्षियों, वृक्षों वनस्पतियों का सहवास उचित है, कैसों का अनुचित, आदि के विषय में भी इन संहिताओं में विस्तार से बतलाया गया है। इन संहिताओं के अतिरिक्त शिल्प के और भी ग्रन्थ प्रचलित थे। इनमें शिल्प रत्न और नारदीय शिल्प आज भी उपलब्ध हैं। संक्षेप में हमारे पूर्वजों की महान् साधना द्वारा अर्जित ज्ञान विज्ञान का अक्षय भण्डार आज भी हमारे लिए सुलभ हो सकता है, आवश्यकता इस बात की है कि हम उसे जानें, सुनें, देखें और समझें और इसके साथ ही इस मिथ्या धारणा को अपने मस्तिष्क से निकाल फेंके कि आधुनिक विज्ञान, उसके अन्वेषण और अनुसन्धान केवल पश्चिम की ही देन हैं।

टमाटर का केचप (Tomato Ketchap)

श्री दर्शनानन्द श्रीवास्तव

फलों को सुरक्षित रखने के लिए डिब्बाबंदी की प्रथा नई है। जैम, चटनी, जूस, केचप आदि इस तरह रक्खे जाते हैं। इस लेख में टमाटर के केचप को बनाने और डिब्बाबंदी का व्यवहारिक विवरण दिया गया हैं।

टमाटर मनुष्य के आहार का एक बहुत ही आवश्यक अंग है। स्वास्थ्य के विचार से तो टमाटर का भोजन के साथ प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि जीवति 'ग' (Vitamin C), की मात्रा इसमें अधिक होती है। प्रति मनुष्य के भोजन में प्रति दिन ७५ मिलीग्राम जीवति 'ग' का होना आवश्यक है जो लगभग तीन छोटे-छोटे टमाटरों से प्राप्त किया जा सकता है। टमाटर जीवति 'ग' के अतिरिक्त जीवति 'क' और 'ख' (Vitamins A and B) और अयस (Iron) तथा चुर्णातु (Calcium) का भी अच्छा साधन है। अंग्रेजी कहावत "An apple rather a tomato a day, Kceeps the doctor away" बहुत ही युक्तिसंगत है। इसी कारण टमाटर को कंगाल मनुष्य का सेब (Poor man's apple) भी कहा गया है। उत्तर प्रदेश के मैदानों में यह भाजी शरद ऋतु में अधिकांश मात्रा में सस्ते भावों में बिकती है। इस कारण जनता की माँगें पूरी करने के पश्चात शेष को यदि सड़ने गलने से बचा कर सुरक्षित रखा जा सके तो बहुत ही अच्छा हो। इस प्रकार टमाटर को डब्बों में बन्द कर के (Canned tomatoes) तथा जैम, चटनी, जूस, केचप (Ketchup) इत्यादि में परिणत कर के सुरक्षित रख सकते हैं। टमाटर से बनने वाली इन वस्तुओं में केचप (Tomato Ketchup) का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है, जो टोमैटो सॉस (Tomato Sauce) के ही समान होता है। अंतर केवल इतना होता है कि सॉस केचप से थोड़ा पतला होता है और ठोस वस्तुएँ (Solid substances) इसके अंदर केचप से कम होती हैं। केचप टमाटर का रस निकाल कर अन्य प्रकार के मसाले इत्यादि के साथ पकाकर बनाते हैं। खाने में बहुत ही स्वाष्टि होता है और उसका उपयोग भोजन के साथ चटनी, अँचार इत्यादि के स्थान पर करते हैं। केचप बनाने के लिए इमली का भी प्रयोग करते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में टमाटर का उपयोग अधिक होता है क्योंकि इसका केचप बहुत स्वादिष्ट होता है। टमाटर का केचप नीचे दिए हुए विवरण के अनुसार तय्यार किया जा सकता है:—

१) फलों का चुनाव और धुलाई (Selection and Washing of fruits)—जली की भांति इसमें भी फलों का चुनाव करते समय तीन विशेष बातों का ध्यान रखना पड़ता है:—

क—भेद (Variety)

ख—पक्केपन की अवस्था (Stage of maturity)

ग– छूत से मुक्ति (Freedom from infection)

टमाटर अधिक रस वाले, भली भांति पके हुए लाल रंग के होने चाहिए। आकार का ध्यान रखते हुए गोल टमाटरों को चुनना चाहिए क्योंकि टेढ़े-मेढ़े तथा अधिक अंकुश वाले फलों में सूक्ष्म जीवाणु (Micro-organism) आदि अधिक रहते हैं जिनके कारण तैयार केचप आदि शीघ्र नष्ट हो जाता है। फल वही चुनने चाहिए जो पेड़ पर के पके हों और तोड़ने के पश्चात शीघ्र से शीघ्र इच्छानुसार वस्तु में परिणत कर देना चाहिए ताकि फलों

को इकट्ठा करके रखने में सड़ने गलने की सम्भावना कम रहे। इन बातों के अतिरिक्त बीमारी तथा कीड़ों-मकोड़ों के प्रभाव से फलों का मुक्त रहना भी अति आवश्यक है। सड़े गले और दबे फलों को फेंक देना चाहिए। यदि फलों में कहीं हरा भाग है तो उसे भी निकाल देना चाहिए क्योंकि उनके रहने से केचप का रंग गरम करने पर भूरा हो जाता है। फलों के उचित चुनाव के पश्चात उनको निर्मल जल से धोते हैं ताकि चिपके हुए धूल के कण अलग हो जाएं। इसके अतिरिक्त फलों में लगे हुए डंठल इत्यादि को भी तोड़ कर अलग कर देते हैं।

(२) रस निकालना और छानना (Extracting the juice and its straining)—धुलाई के पश्चात फलों का रस निकाल कर छान लेते हैं। यह नीचे लिखी हुई विधियो में से किसी एक द्वारा किया जा सकता है :—

क—ब्लाचिंग तथा चिलिंग (Blanching and Chilling) करने के पश्चात् रस निकालते हैं। टमाटरों को एक कपड़े में रख कर ढीली पोटली के समान बनाकर उबलते हुए जल की देगची में छोड़ देते हैं। इसे ब्लाचिंग कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे स्कैल्डिंग (Scalding), पार ब्वावलिंग (Par-boiling) तथा प्री कुकिंग (Pre-Cooking) भी कहते हैं। दो तीन मिनट के पश्चात पोटली को उबलते हुए जल में से निकाल कर तुरंत ही ठन्डे पानी में छोड़ देते हैं जिसको चिलिंग कहते हैं। चिलिंग करने से छिलके फट जाते हैं जिससे छीलने में सरलता होती है। थोड़ी देर बाद पोटली को ठंडे जल में से निकाल कर टमाटरों को अलग करके छील डालते हैं। फिर उनको दबा दबा कर फोड़ने के पश्चात् रस निकाल कर छान लेते हैं। इस विधि से तैयार करने पर :—

१—केचप की मात्रा कम प्राप्त होती है।

२—रंग भड़कीला लाल होता है जिसके कारण ऊपर से खाने वाला रंग छोड़ने की आवश्यकता पड़ती है।

ख—दूसरी विधि ताजे फलों को दबा दबा कर फोड़ने के पश्चात् या कतरों में काट कर ३—५ मिनट तक उबाल कर रस को छान लेने की है।

रस छानने के लिए छलनी या मच्छर के कपड़े का प्रयोग करते हैं।

मसालों तथा अन्य सामग्रियों का तय्यार करना—(Preparation of spices and other ingredients) रस छानने के पश्चात् उसकी मात्रा के अनुसार शकर, नमक, प्याज, लहसुन लौंग, जीरा, काली मिर्च, इलायची, दालचीनी, जावित्री, सिर्का लाल मिर्च इत्यादि के साथ रस को पकाते हैं। सिर्का, नमक और शकर केचप को स्वादिष्ट बनाते और प्याज तथा लहसुन केचप को सुगंधित बनाते हैं।

सर्दार लालसिंह और डा० गिर्धारीलाल के अनुसार ६ गैलन टमाटर के रस में निम्नलिखित सामग्रियां नीचे दी हुई तालिका के अनुसार होनी आवश्यक है :—

सामग्री	मात्रा (approximate amount)
१—प्याज के छोटे छोटे टुकड़े	७ छटाक Chataks)
२—लहसुन के छोटे छोटे टुकड़े	[illegible]¼ छटाक
३—लौंग समूचा	१ तोला
४—जीरा और इलायची सब समूचे	प्रत्येक १ तोला
५—जावित्री (Mace) बिना पिसी हुई	¼ तोला
६—दालचीनी	१½ तोला
७—सिर्का	१¼ तोला
८—शकर	१ सेर
९—नमक	५¾ छ०
१०—लाल मिर्च	१ तोला

सिर्का, नमक तथा शकर को छोड़ कर शेष ऊपर लिखे हुए मसालों को कूट कर एक में मिला देते हैं और उनको महीन कपड़े में बांध कर एक छोटी सी ढीली पोटली बना लेते हैं। ध्यान केवल इस बात का रहे कि मसाले महीन न पिसे हों क्योंकि महीन रहने के कारण कपड़े में से झड़ कर केचप में गिर जाते हैं जिससे रंग नष्ट हो जाता है। इसी कारण कुछ मसालों को (जीरा, काली मिर्च इलायची, जावित्री, लौंग) समूचा ही रहने देते हैं। लौंग मुन्ड रहित होना आवश्यक है प्याज और

लहसुन को चाकू से काट कर छोटे छोटे टुकड़े कर लेते हैं तब अन्य मसालों के साथ मिलाते हैं।

पकाना (Cooking)—टमाटर के निकाले हुए रस और मोटे पिसे हुए मसालों की पोटली को एल्यूमीनियम की देगची में रख कर उबालते हैं शकर की कुल आवश्यकता का ⅓—½ भाग शुरू में उबालने के पूर्व ही रस में छोड़ देना चाहिए। इससे केचप का रंग तेज हो जाता है। उबलते उबलते टमाटर का रस गाढ़ा हो जाएगा और जब वह शुरू के आयतन का आधा रह जाए तो शेष शकर भी उसमें छोड़ देना चाहिए। उबालना तब तक जारी रहना चाहिए जब तक कि रस गाढ़ा होते-होते प्रारम्भिक रस के आयतन का ⅓ न हो जाय। उबालते समय यदि झाग उठे तो थोड़ा सा मक्खन छोड़ कर उसे वश में किया जा सकता है। जब रस आवश्यक गाढ़ापन प्राप्त करले तब मसालों की पोटली उसमें से निकाल कर निचोड़ लेते हैं ताकि उसमें से सुगंध इत्यादि निकल कर केचप में मिल जाए। पोटली निकालने के पश्चात गाढ़े किए हुए रस में आवश्यकतानुसार सिर्का छोड़ देते हैं जिससे गाढ़े रस में थोड़ा पतलापन आजाता है। इस कारण लगभग पांच मिनट तक और उबालना आवश्यक है। अब देगची को आग पर से उतार लेते हैं और तैय्यार किए हुए पदार्थ के उपर नमक छिड़क कर लकड़ी के चम्मच से हिला कर भली भांति मिला देते हैं। इस प्रकार केचप तय्यार हो जाता है।

सर्दार लालसिंह और डा० गिर्धारी लाल के कथनानुसार यदि रसको खुली आग पर रख कर गाढ़ा किया जाए तो देर तक गरम होने तथा अधिक तापक्रम हो जाने के कारण केचप के गुणों पर बुरा प्रभाव पड़ता है और सीधे आग पर रख कर पकाने के कारण केचप में कुछ पकाए टमाटर की बास (Flavour) आ जाती है। यदि रस को एक विशेष प्रकार की केटली, जिसे स्टीम जेकेट वाली केटली (Steam Jacketed Kettle) कहते हैं, में रख कर अधिक भाप के दबाव पर पकाया जाय तो उसमें उबाल शीघ्र और तेज आने के कारण केचप का रंग चमकदार लाल बना रहता है और उसमें ताजे टमाटर की बास आती है।

(५) केचप का संरक्षण और बोतलों में भरना—केचप तय्यार हो जाने के पश्चात उसे ½ घंटे तक स्टेरिलाइज किए हुए बोतलों में भर देते हैं। प्रयत्न यही करना चाहिए कि बोतल षटकोण आकार के तथा क्राउन कार्क वाले हों। केचप को बोतलों में भरने के पश्चात बोतलों को स्टेरिलाइज किए हुए क्राउन कार्क (Sterilized Crown Cork) से क्राउन कार्क करने वाले यंत्र (Crown corking machine) द्वारा बन्द कर देते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि केचप का संरक्षण कैसे हो। क्योंकि बिना संरक्षण के केचप का ठीक दशा में रहना असम्भव है। संरक्षण करने की दो विधियां हैं:—

अ—रक्षक का प्रयोग (Use of Preservative)—केचप में ०. १% सोडियम बेन्जोएट (Sodium benzoate) छोड़ कर इसे भली-भांति सुरक्षित कर सकते हैं (सर्दार लाल सिंह और डा० गिर्धारी लाल के अनुसार) इस कारण यदि रक्षक का प्रयोग किया जाता है तो बोतलों में भरने के पूर्व ही इसे केचप में भली-भांति मिला देना चाहिए। इस प्रकार से संरक्षण करने में एक लाभ यह है कि बोतल खोलने के पश्चात भी केचप कई दिनों तक ठीक दशा में रह सकता है।

ब—स्टेरिलाइज करके (By Sterilzation)—केचप भरे तथा क्राउन कार्क से बंद किए हुए बोतलों को तुरंत ही गरम जल की देगची में पट कर के रख देते हैं और आध घंटे तक उन्हें उबलते हुए पानी में रहने देते हैं ताकि केचप ठीक दशा में अधिक समय तक रक्खा जा सके। यदि सोडियम बेन्जोएट का प्रयोग नहीं करते है तो केचप को स्टेरिलाइज करना अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसमें यदि असावधानी हुई तो एक ही दो दिन में सारा केचप नष्ट होना प्रारम्भ हो जाएगा। बोतलों को ऐसे बर्तन में रखकर स्टेरिलाइज करना चाहिए कि जिसमें फाल्स बाटम (False Bottom) हों। इससे उनके टूटने का भय नहीं रहता है। स्टेरिलाइज किए हुए केचप में केवल एक दोष यह है कि बोतल खोलने पर फिर केचप अधिक समय तक नहीं रह सकता और शीघ्र

ही नष्ट हो जाता है। सोडियम बेन्जोएट का प्रयोग करने से यह दोष जाता रहता है।

(६) सूचक पत्र और संचित करना (Labelling and Storing)—सब कार्य करने के पश्चात बोतलों पर सूचक-पत्र चिपका देना चाहिए और फिर उन्हें सूखे ठंडे स्थान पर संचित कर के रख देना चाहिए।

हर प्रकार की दृष्टि रखते हुए भी ऐसा देखा गया है कि कुछ दिनों के पश्चात एक प्रकार का काले रंग का छल्ले जैसा आकार केचप की बोतलों में गर्दन के पास बन जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि बोतलों में वायु रहने के कारण ऐसा हो जाता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि केचप में जीवतिओं के टूटने से यह छल्ला बन जाता है। बाजारों में केचप की बोतलों की गर्दनों पर इसी काले स्थान पर लेबिल लगे हुए मिलते हैं। इससे मुक्ति पाने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि जिस देगची में पकाते हैं वह वेकुअम (Vacuum Pan) वाली हो।

केचप का रंग भी भड़कीला होना आवश्यक है ताकि देखने में सुन्दर प्रतीत हो। केचप तय्यार करते समय उसका रंग नष्ट होने से बचने के लिए कुछ विशेष बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है और वह निम्नलिखित है :—

१—टमाटर भली भाँति पके हुए लाल रंग के हों। हरा भाग जहाँ भी हो उसे निकाल कर फेंक देना चाहिए क्योंकि उसके कारण रंग भूरा हो जाता है।

२—कुल आवश्यकता का $\frac{1}{3}$—$\frac{1}{2}$ भाग शकर प्रारंभ में उबालने के पूर्व ही छोड़ देते हैं ताकि टोमैटो का रंग तेज हो जाए।

३—मुण्ड-रहित लौंग का प्रयोग करना आवश्यक है क्योंकि लौंग के मुन्ड में टेनिन (Tanin) रहता है जिसके कारण रंग में कुछ कालापन आ जाता है।

४—मसाले मोटे पिसे रहना आवश्यक है क्योंकि महीन पिसा रहने से पोटली में से झड़ कर केचप में गिर जाते हैं और रंग नष्ट कर देते हैं।

५—लोहे और तांबे के बर्तनों का प्रयोग न करके अल्युमिनियम या पीतल के कलईदार बर्तन का उपयोग करना चाहिये।

६—सिर्का अच्छे प्रकार का अर्थात सुनहरे रंग का होना चाहिए।

७—पकाना जल्द से जल्द समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

८—नमक रंग को कुछ उड़ा देता है इस कारण उसे केचप तय्यार हो जाने के पश्चात छोड़ना चाहिए।

९—यदि रंग सुन्दर न आए तो ऊपर से खाने वाले टमाटर का रंग छोड़ देना चाहिए।

केचप तय्यार करना बहुत ही सरल है। यदि उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया जाए तो सफलता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। घरों में भी यह बहुत ही सरलता के साथ तय्यार किया जा सकता है क्योंकि इसमें किसी विशेष यंत्र इत्यादि की आवश्यकता नहीं है और आवश्यकता पड़ने पर बोतलों को खोल कर केचप का प्रयोग चटनी तथा अंचार इत्यादि के समान भोजन के साथ भली भाँति किया जा सकता है।

विज्ञान-समाचार

विज्ञान की सहायता से वर्षा

मेंह बरसाने की विधियाँ

वायुमंडलीय भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, किसी गवेषणा ने लोगों का इतना अधिक ध्यान आकर्षित नहीं किया है और न किसी में लोगों ने इतनी रुचि दिखायी हैं जितनी कि बादलों से पानी बरसाने के प्रयोगों में हाल के वर्षों में कुछ देशों में ऐसे प्रयोग किये गये हैं।

इन प्रयोगों से जनसाधारण कितनी ही तरह की अटकलें लगाने लगे हैं और बहुत से लोग तो यह विश्वास करने लगे हैं कि अब वह समय आगया है जब मानव जाति का स्वप्न पूरा हो जायगा अर्थात् मौसम पर मनुष्य का नियंत्रण होजायगा।

भारत की आर्थिक व्यवस्था प्रधानतः कृषि पर निर्भर करती है और यहां का वार्षिक बजट तो अधिकांशतः वर्षा से ही नियंत्रित होता है। इसी लिए वैज्ञानिक ढंगों से वर्षा कराने की संभावना में यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अत्यधिक रुचि रखता है। यह जान कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पिछले कुछ समय से भारतीय अन्तरिक्ष-अनुसन्धान-विभाग से इस सम्बन्ध में लोग निरन्तर पूछताछ कर रहे हैं। और विशेषकर खाद्य अभाव की वर्तमान परिस्थिति में जो देश के कई भागों में समय पर वर्षा न होने के कारण कुछ और खराब हो गयी है, लोगों द्वारा इस प्रणाली के जानने की उत्सुकता प्रकट करना स्वाभाविक ही है।

विभिन्न पद्धतियों का विवेचन

इस क्षेत्र में, विशेषकर अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे देशों में जो प्रगति हुई है उससे अन्तरिक्ष-अनुसन्धान-विभाग निकट सम्पर्क में रहा है। इस विभाग के नयी दिल्ली के प्रादेशिक केन्द्र के श्री ए० के० राय ने हाल ही में जल बरसाने की विधियों की छानबीन की थी। इस सम्बन्ध में जिस निष्कर्ष पर वे पहुँचे हैं वह अन्तरिक्ष और भूभौतिकी विज्ञान की पत्रिका के एक लेख में व्यक्त किया गया है।

बादलों से मेंह बरसाने के तर्कसंगत सिद्धान्त का पहले पहल श्री बर्गरोन ने १९३३ में प्रतिपादन किया था। इस वैज्ञानिक के मतानुसार, जल केवल ऐसे बादलों से ही बरसाया जा सकता है जिनमें, शून्य डिग्री सेंटीग्रेड के नीचे के तापमान में, पानी की बूँदों के साथ साथ बर्फ के छोटे छोटे कण भी हों।

अमेरिका और आस्ट्रेलिया में मेंह बरसाने के जो प्रयोग किये गये हैं उनमें वास्तव में यह प्रयत्न किया गया है कि बादलों की ऊपरी सतह पर बर्फ के कण डाल दिये जायँ, क्योंकि यद्यपि इन बादलों का तापमान शून्य डिग्री (सेंटीग्रेट) से कम होता है, फिर भी उनमें बर्फ के कण नहीं होते। इस विधि में यह किया जाता है कि वायुयान द्वारा बादलों के ऊपर 'सूखी बरफ' (ठोस कार्बन डायोक्साइड) छिड़क दी जाती है। इसके लिए एक वायुयान और कोई २५-३० पौंड 'सूखी बरफ' - बस इतना ही सामान चाहिए।

यह स्मरण रहे कि मेंह बरसाने की जो विधि ऊपर बतायी गयी है इसकी सफलता कई बातों पर निर्भर है। इनमें से पहली तो यह है कि बादल ऐसे किस्म का होना चाहिए कि सूखी बरफ छिड़कने से इसमें प्रक्रिया हो। दूसरे, बादल इतनी ऊँचाई पर होने चाहिए कि वहाँ का तापमान, पानी जमने के विन्दु से ७ से १५ डिग्री (सेंटीग्रेड) नीचा हो। तीसरे, बादलों की मोटाई, भूतल से उनके आधार की ऊँचाई के बराबर या इससे अधिक होनी चाहिए।

उत्तरी भागों को छोड़कर, भारत में शीतकाल में पानी जमाने वाला तापमान प्रायः १४ या १५ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। और इससे ७ से १५ डिग्री नीचा तापमान १६ से २० हजार फीट की ऊँचाई के बीच होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इतनी ऊँचाई पर 'सूखी बरफ' छिड़कने के लिए उपयुक्त साज-सामान के साथ खास किस्म का वायुयान चाहिए। यह प्रयोग बहुत मँहगा पड़ेगा, क्योंकि इतनी ऊँचाई पर ठीक किस्म के बादलों का पता लगाने के लिए वायुयान को बहुत चक्कर लगाने पड़ेंगे। और फिर, 'सूखी बरफ' उस समय डाली जाती है जब बादल विकास की अवस्था में होता है। इसलिए अनुकूल अवसर की ताक में वायुयान को उड़ाने के लिए दिन भर तैयार रहना पड़ेगा।

भारत में, दक्षिणी मद्रास, राजस्थान, पूर्वी पंजाब के निकटवर्ती क्षेत्र, उत्तरी सौराष्ट्र, कच्छ और बम्बई राज्य के उत्तरी जिलों में अनावृष्टि की आशंका, रहती है। इन क्षेत्रों के ऊपर से गुजरने वाले, नीचे, किन्तु न बरसने वाले बादलों का श्री राय ने अध्ययन किया है। इनका मत है कि मेंह बरसाने का प्रयोग जब तक हम उपर्युक्त ऊँचाई वाले बादलों तक सीमित रखेंगे तब तक सफलता की बहुत ही कम आशा है।

गरम बादलों की वर्षा

बर्गरोन के सिद्धान्त के अनुसार, अब यह तो अंतरिक्ष विज्ञान वेत्ताओं ने मान लिया है कि अति उष्ण प्रदेशों में जल बरसाने के लिए ७ से १५ डिग्री (सेंटीग्रेड) के तापमान पर बादलों में अतिशीतित जल-विन्दुओं के साथ बरफ के कणों का होना संभवतः परम आवश्यक है। किन्तु, उष्ण प्रदेशों और अति उष्ण प्रदेशों में, तथा वसंत और शीतकाल में उच्च अक्षांश के प्रदेशों में, कई बार इस शीत के बिना भी मेंह बरस जाता है।

भारत में देखा गया है कि मानसून की वर्षा प्रायः उन घने मेघों से होती है जो पानी जमने के विन्दु से कई हजार फीट नीचे होते हैं। दूसरे कई देशों से भी इस बात के प्रमाण मिले हैं कि विशिष्ट अनुकूल परिस्थितियों में इतने नीचे गरम बादलों से भी पर्याप्त मात्रा में मेंह बरस जाता है। ऐसी स्थिति में भारत में, बादलों पर 'सूखी बरफ' छिड़क कर मेंह बरसने का प्रयोग करने की उपयोगिता बहुत ही सीमित रह जाती है।

यदि उपयुक्त ऊँचाई पर ठीक किस्म के बादल मिल भी जायँ, तो यह आशंका बनी रहती है कि 'सूखी बरफ' छिड़क कर उनके साथ छेड़ छाड़ करने से वे उस स्थान पर बिल्कुल ही न बरसें, जहाँ उन्हें आप से बरसना है।

सिलवर आयोडाइड का उपयोग

सिलवर आयोडाइड के कणों से अब तक अधिक प्रयोग नहीं किये गये हैं।

यदि ये प्रयोग सफल हो गये तो 'सूखी बरफ' की विधि से इस विधि में यह लाभ रहेगा कि वायुयानों को बादलों के ऊपर नहीं उड़ना पड़ेगा। पूर्वी अफ्रीका में इस सम्बन्ध में जो प्रयोग आयोजित किये जा रहे हैं सिलवर आयोडाइड मिश्रित बारूद के विस्फोट से बादलों तक सिलवर आयोडाइड के कण पहुँचाये जायँगे। यह इस तरह किया जायगा कि बारूद और सिलवर आयोडाइड का गोला रखकर हाइड्रोजन गैस का गुब्बारा बादलों तक पहुँचाया जायगा। इसमें एक ऐसा यन्त्र लगा रहेगा कि जल जमने के तापमान पर पहुँचते ही गोला फट जायगा और सिलवर ओयोडाइड के कण बादलों में फैल जायँगे।

जल छिड़क कर वर्षा

उष्ण मेघों पर जल छिड़क कर मेंह बरसाने के भी प्रयोग किये गये हैं किन्तु वे अधिक सफल नहीं रहे हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक लैंगम्यूर हैं। यदि यह सफल प्रमाणित हो गया तो भारत जैसे देश के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

इस सब प्रयोगों से यह समझ लेना गलत होगा कि मनुष्य ने वर्षा पर नियन्त्रण कर लिया है। इस क्षेत्र में अभी तो हम परीक्षण अवस्था में हैं।

जिन प्रगतिशील देशों ने इस विषय में छानबीन की है उनके समान ही इस देश में भी अनुसन्धान करने के लिए एक संगठन स्थापित होना चाहिए। सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इन परीक्षणों के लिए पूर्व आयोजित व्यवस्था हो और ये ठीक स्थान और ठीक समय पर किये जायँ। साथ ही इनके परिणामों की इस दृष्टि से पूरी जांच की जाय कि ये सफल हैं या नहीं।

भूमि के संरक्षण से खाद्य-उत्पादन में वृद्धि

कुछ लोगों का विचार है कि भूमि की मिट्टी ज्यों की त्यों रहती है, परन्तु यह बात गलत है।

कुछ अवस्थाओं में भूमि की मिट्टी बहुत बदल जाती है। जब वायु और जल खाली भूमि पर बहते हैं तो उनके साथ वहां की बहुत सी मिट्टी चली जाती है। वे इसे कुछ गज दूर या सैकड़ों मीलों दूर ले जाकर पटक देते हैं। परन्तु कुछ भी हो, वे भूमि की ऊपरी मिट्टी का बहुत सा भाग अपने साथ ले जाते हैं। जब भूमि की ऊपरी उपजाऊ मिट्टी नष्ट हो जाती है तब केवल खनिज पदार्थों वाली निचली मिट्टी बच रहती है—और यह अच्छी फसल उगाने के लायक नहीं होती।

भूमि का कटाव एक या एक दर्जन खेतों अथवा सारे प्रदेश को हानि पहुँचा सकता है। आप को इसका प्रमाण इतिहास के पन्नों से भली प्रकार मिल सकता है। रोमन साम्राज्य के काल में उत्तरी अफ्रीका तथा भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर बड़े-बड़े उपजाऊ मैदान थे आज उस भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा मरुस्थल बन गया है। सीरिया में, एन्टियोक नामक पुराने शहर के सुन्दर भवनों को खोज निकालने के लिये पुरातत्व वेत्ताओं को २८ फुट गहराई तक भूमि को खोदना पड़ा है। २० शताब्दी पूर्व एड्रिया इटली का एक बड़ा कारोबारी बन्दरगाह था, परन्तु आज समुद्र यहां से १[illegible] मील दूर हो गया है।

इसका क्या कारण है ?

बात यह है कि लोगों ने जंगलों को काटडाला और अपनी भेड़ बकरियां व दूसरे पशु चराने लगे तथा पहाड़ों पर सीढीदार खेतों के बजाय ऊपर से नीचे की ओर बिना किसी योजना के खेती करने लगे। जब घास और वृक्ष कट गए तो भूमि की उपजाऊ मिट्टी को सुरक्षित रखने के लिए कोई रोक न रही। प्रत्येक भीषण वर्षा और तूफान के साथ पहाड़ों की मिट्टी नीचे होकर आ जाती थी—पहले यह क्रम छोटी मात्रा में जारी रहा, पर बाद में उसकी कोई सीमा न रही।

आप को यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि भूमि का अपक्षरण एक पुरानी समस्या है। यह आज भी हमारे सामने है। संसार के बहुत से भागों में भूमि-क्षरण वाले कई ऐसे इलाके हैं जहाँ पैदावार बहुत कम अथवा बिल्कुल ही नहीं होती।

सौभाग्य की बात है कि बहुत से देशों को इस खतरे का ज्ञान हो गया है। संसार के ५२ देशों में कृषि-कर्मचारी अपने अपने देश की भूमि-समस्याओं का अध्ययन कर रहे हैं। इनमें से २१ देशों में तो भूमि और पानी के संरक्षण की संस्थाएं हैं जो कि पिछली क्षति को पूरा करने तथा भूमि की उर्वरा शक्ति की रक्षा करने का भरसक प्रयत्न कर रही हैं।

अमेरिका में संसार के बहुत से भूमि-संरक्षकों ने शिक्षा पाई है। प्रायः १,००० से अधिक भूमि-विशेषज्ञ अमेरिका जाकर वहाँ के तौर-तरीकों को अध्ययन करने के बाद अपने देशों को लौट गये हैं और अब वहाँ जाकर कुछ विधियों का प्रयोग हैं।

काफी अनुभव के पश्चात् अमेरिकियों ने भूमि के संरक्षण की आवश्यकता महसूस की थी। प्रथम महायुद्ध में कई किसानों ने अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी हिस्सों में हल चलाकर गेहूँ की खेती शुरू की। कुछ काल तक सब कार्य ठीक चलता रहा। तदनन्तर सन् १९३० के बाद वहाँ चिरकाल तक अनावृष्टि रही।

सन् १९३२ तक वहाँ धूल का एक क्षेत्र बन चुका था। घास और वृक्षों के अभाव के कारण वहाँ की मिट्टी वायु के साथ उखड़ने लगी। आँधी के समय वहाँ दिन में ही अँधेरा छा जाता और रेत के ऊँचे ऊँचे ढेर लग गये।

अमेरिकी कांग्रेस को आँधी के कारण बड़ी चिन्ता हुई। तब उसने सन् १९३३ में आवश्यक कार्यवाही करके किसानों की मदद के लिये एक भूमि-संरक्षण विभाग बनाया। यह संस्था भूमि को अपक्षरण से बचाने का कार्य कर रही है। इस संस्था ने भूमि-वैज्ञानिक, इंजीनियर और कृषि-विशेषज्ञों द्वारा किसानों की सहायता की है।

इसका परिणाम बड़ा आश्चर्यजनक निकला। धूल उड़ाने वाले अन्धड़ की जमीनें अब ठीक हो गयी हैं और वहां अब प्रति वर्ष अच्छी फसलें उगने लगी हैं। देश के हर भाग में आज से २० वर्ष पूर्व की अपेक्षा २५ से ३० प्रतिशत अधिक अन्न तथा कपास पैदा होने लगी है।

इस महान् कार्य की सफलता का बहुत सा श्रेय किसानों को ही है। उन्होंने स्वयमेव २,४०० भूमि-संरक्षण क्षेत्रों में मिल जुल कर खेती का कार्य किया है। उन्होंने इन क्षेत्रों में भूमि-संरक्षण की एक विशेष योजना बनाई है। वे सरकारी संस्थाओं से टैक्निकल सहायता लेते हैं, परन्तु भूमि को सुरक्षित बनाने का कार्य वे स्वयं ही करते हैं।

इस प्रकार सरकार तथा कृषक वर्ग के पारस्परिक सहयोग से देश और व्यक्ति दोनों को ही अपार लाभ पहुँच रहा है।

—आज का अमेरिका

[यूनाइटेड स्टेट्स इन्फारमेशन सर्विस के सौजन्य से]

रबड़ की कहानी

अपनी द्वितीय यात्रा में, कोलम्बस ने हिस्पेनिओला (अब हायटी) के लोगों को ऐसे गेंद खेलते हुए देखा, जो एक पेड़ के गोंद से बने थे। प्रीस्टले ने बताया कि इस गोंद को पेंसिल से किये गये निशान मिटाने के काम में लाया जा सकता है। और रगड़कर इन निशानों को मिटाने की क्रिया के ही अनुरूप, इस गोंद का नाम 'रबर' (रबड़) पड़ा, क्योंकि अंग्रेजी में 'रब' के अर्थ रगड़ने के होते हैं वैसे रबड़ को 'पारा-रबड़' भी कहते हैं जिसमें 'पारा' ब्राजिल के एक प्रांत का नाम है शुरू-शुरू में रबड़ यहीं होता था।

बगीचे

रबड़ आज, क्या घरेलू और क्या औद्योगिक जीवन की एक अति आवश्यक वस्तु बन गयी है। इसका पेड़ समुद्र-तल से लेकर ३,००० फुट तक की ऊँचाई में होता है, और बहुत वर्षा वाले क्षेत्र इसके विशेष अनुकूल होते हैं। पहले इसके बीज लगाये जाते हैं, जो १०-१२ दिन में अंकुरित हो आते हैं। ये अंकुरित बीज, छः महीने में तीन-तीन, चार-चार फुट लम्बे पौधे हो जाते हैं, और तब इन पौधों की बेड़ लगाई जाती है। इसके पेड़ २५-३० साल में ८० फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। पिछले ४० वर्षों में, भारत में रबड़ की खेती काफी बढ़ गई है, और दक्षिण भारत, मुख्यतः ट्रावंकोर में इसके बहुत बगीचे हैं।

लैटेक्स

रबड़ के पेड़ों की छाल में छेद करने से एक प्रकार का गाढ़ा-गाढ़ा रस टपकता है, जो सजाये हुए प्यालों में इकट्ठा कर लिया जाता है। 'लैटेक्स' इसी रस से बनता है, और रबड़ 'लैटेक्स' से तैयार किया जाता है। साधारणतः एक गैलन 'लैटेक्स' से २½ से ४ पौंड तक रबड़ तैयार होता है। 'लैटेक्स' बच्चों के खेलने के गुब्बारे बनाने के काम भी आता है, और प्रति वर्ष भारत में कोई ५०० टन रबड़ से लगभग ५० लाख रु० के गुब्बारे तैयार किये जाते हैं।

बीज

रबड़ के बीजों से एक प्रकार का तेल निकलता है, जो अलसी के तेल की जगह इस्तेमाल किया जा सकता है। बीज पेरने से जो खली निकलती है, वह पशुओं के चारे के काम आती है।

कृषि मंत्रालय के अर्थ व अंक विभाग के अनुसार १९४९ में भारत में १५,४४३ इलाके थे, जो [illegible] एकड़ भूमि में फैले हुए थे। इस भूमि में से ८२ प्रतिशत ट्रावंकोर-कोचीन में, १९ प्रतिशत मद्रास में और लगभग प्रतिशत कुर्ग तथा मैसूर में थी। १९ ९ में भारत में [illegible]३८ लाख पौंड रबड़ तैयार किया गया।

उक्त वर्ष (१९४९ में) रबड़ के बगीचों में ४८,०५१ व्यक्ति काम करते थे, और ३ दिसम्बर, १९४९ के दिन सूखे रबड़ का कुल स्टाक लगभग ५१,९०, ६९ पौंड था। १९४९-५० में भारत ने ८,८३,३४४ पौंड रबड़ निर्यात किया, जिसका अधिकांश अमेरिका भेजा गया।

(भारत सरकार के पत्र सूचना विभाग के सौजन्य से)

मनुष्य की मुखाकृति

मूल लेखक—मारग्रेट शी गिल्बर्ट अनु०—प्राध्यापक नरेन्द्र सिंह

*[विज्ञान के जुलाई अंक में मारग्रेट शी गिलबर्ट लिखित (BIOGRAPHY OF THE UNBORN) **गर्भस्थ शिशु की कहानी** का कुछ अंश दिया गया था। उसी पुस्तक का उपर्युक्त शीर्षक का एक सुन्दर अध्याय यहाँ दिया जा रहा है। लेखक के विषय-प्रतिपादन तथा विशद लेखन-शैली का यह उत्कृष्ट नमूना है। अनुवादक ने उसे परिष्कृत भाषा में रूपान्तरित करने का सफल उद्योग किया है। पाठक इसे यथेष्ट रुचिकर पाएँगे।]*

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार गर्भावस्था के दूसरे मास में घटित होने वाले रूप-परिवर्त्तनों को इस एक वाक्य की सहायता से समझाया जा सकता है कि—यह सब परिवर्त्तन मेंढक के जीवन-इतिहास की एक स्थिति 'टैडपोल' के रूप से मनुष्य के आकार को प्राप्त हैं। मानवीय गर्भ-पिण्ड, द्वितीय मास के आरम्भ में, वास्तव में 'टैडपोल' नहीं होता, वरन् आकार-प्रकार में उसी के समान होता है। तात्कालीन गर्भपिण्डीय शरीर आगे झुके हुए अपने विशाल मस्तक और मछलियों के समान श्वासछिद्रों के साथ, अपने पार्श्वों पर आकारहीन घुण्डियाँ लिए हुए, गेंद के समान आकार वाला एक पुच्छल जीव होता है और यह जीव हमारे परिचित मनुष्य-रूप के समान बहुत ही कम लगता है। यही शरीर, दूसरे मास के अन्त तक स्पष्टतः मनुष्य-रूप ग्रहण कर लेता है और उस समय कोई भी उसको मानवजाति के एक सदस्य के रूप में पहचान सकता है। दो मास की आयु वाले गर्भपिण्ड की मुखाकृति, सापेक्षिक रूप से विशाल आकार की होते हुए भी, मानवाकृति के समान ही होती है; उसका कण्ठ इस समय भी विशाल मस्तक को सहारा दिये हुए दृष्टिगोचर होता है, हाथ व पैर की अँगुलियाँ स्पष्ट हो जाती हैं तथा उस शरीर का लम्बा धड़, गर्भावस्था के दूसरे मास के अन्त तक एक निश्चित रूपरेखा प्राप्त कर लेता है और इस धड़ का उदर प्रदेश तथा माँसपेशियों से सज्जित
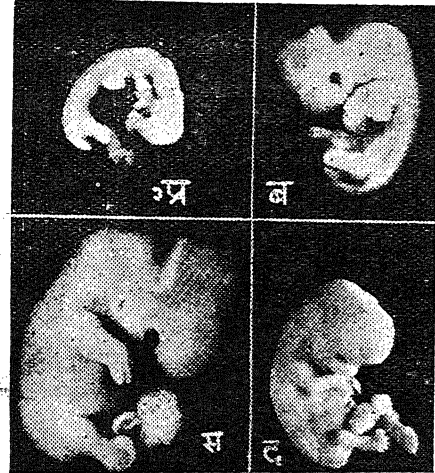
(चित्र १२) विकास के दूसरे मास में मानवीय गर्भ-पिण्ड के फोटो चित्र। अ, ब, स मूल से सवा दो गुना अधिक, तथा द १½ गुना अधिक आकार के हैं।
अ—पांचवा सप्ताह (८ मिली मीटर)।
ब—छठवां सप्ताह (१२ मिली मीटर)।
स—सातवां सप्ताह १२ मिली मीटर)।
द—आठवां सप्ताह (२५ मिली मीटर)।

पृष्ठभाग अपने भीतर स्थित अंगों की उभड़नों को छिपाए हुए रहता है।

द्वितीय मास के अन्तर्गत ही, गर्भपिण्डीय शरीर के अनेक आन्तरिकअंग उन कार्यों का संचालन प्रारम्भ कर देते हैं जिनको वह जीवन पर्यन्त करते रहेंगे और गर्भ-शरीर के गति-संचालन भी इसी काल में प्रारम्भ होते हैं। नये जीव का लिंग-भेद जनन-ग्रन्थियों (डिम्ब-ग्रन्थि अथवा शुक्र-ग्रन्थि) के प्रादुर्भाव के द्वारा ही स्पष्ट नहीं होता है, वरन् इस समय बाह्य जननांग भी अपनी आकार-प्राप्ति करने लगते हैं। आरम्भ में तो यह बाह्य जननांग, मादा और नर दोनों जातियों के गर्भपिण्डों में एक समान होते हैं, परन्तु दूसरे मास की समाप्ति तक, लगभग पैंसठ प्रतिशत गर्भ-शरीरों में, इन जननांगों की लिंग-भेद-सूचक भिन्नता इतनी उचित मात्रा में प्रगट हो जाती है कि इन गर्भपिण्डीय शरीरों की लिंग-जाति की पहचान निश्चित रूप से की जा सकती है। अस्थियां तथा मांस-पेशियां, शरीर की त्वचा और आन्तरिक अंगों के मध्य, आकार-प्राप्ति करके गर्भ-शरीर की उभड़नों और गोलाइयों को स्पष्ट आकार देना प्रारम्भ कर देती हैं। गर्भपिण्डीय शरीर की पूंछ भी अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेने के उपरान्त अब अपने आकार में कम होना प्रारम्भ कर देती है। इन महत्वपूर्ण और पेचीले परिवर्त्तनों के समकाल ही, पूरे विकास व वृद्धि-काल की विशेष प्रकृति के अनुरूप, गर्भ-पिण्ड की आकार-वृद्धि निरन्तर होती है। दूसरे मास में गर्भपिण्ड का शरीर अपनी लम्बाई में छः गुना (छः मिलीमीटर से ३५ मिलीमीटर तक) और भार में लगभग पाँच सौ गुना बढ़ जाता है।

दो मास की आयु वाले गर्भपिण्ड को मनुष्य की समरूपता देने में सम्भवतः उसकी मुखाकृति तथा कण्ठ का ही विशेष सहयोग होता है (चित्र—१३)। इस मास के आरम्भ में, गर्भपिण्डीय शरीर का मस्तक वाला भाग पूरी तरह गठीले मस्तिष्क का बना होता है और इस मस्तिष्क की सिकुड़नों आदि के कारण, ऊपर पड़ी हुई त्वचा को भी मस्तिष्क के धरातल के अनुरूप ही आकार मिलता है। आरम्भ की इस अवस्था में, मस्तिष्क के नीचे प्रतिष्ठित नेत्र मस्तक के पार्श्वों में बाहर की ओर उभड़े हुए होते हैं और मस्तक के सामने वाले भाग को नाक के कम गहरे तथा गंधसचेतन गड्ढे घेरे रहते हैं। नीचे की ओर, मस्तिष्क तथा हृदय के मध्य, चौड़ा मुख-द्वार स्थित होता है; और निम्न जाति के पशुओं के श्वासछिद्रों के समान आकार वाली दरारों का क्रम नेत्रों के पीछे फैला पाया जाता है (चित्र—१२)। दरारों के इस क्रम की प्रत्येक दो दरारों के मध्य प्रदेश में कोष्ठसमूहों के ठोस दण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह ठोस दण्ड सामूहिक रूप से 'ब्रैन्चियल आर्चेज' अर्थात् श्वास सम्बन्धी धनुषाकारी श्वास-दण्डों के समान आकारवाले होने के कारण, यह धनुषाकारी भाग भी विकासवाद सम्बन्धी आकार-पुनरावृत्ति के विधान के दृष्टान्त ही प्रतीत होते हैं। इस विशेष विधान के अन्य दृष्टान्तों के समान ही, इन धनुषाकारी दण्डों के अवशेष भी नये भिन्न आकारों की रचना में प्रयुक्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त निर्माण-कार्य सम्पूरित हो जाने के उपरान्त, अब गर्भपिण्डीय शरीर में नेत्रों, नाक तथा कानों और चौड़े मुख-द्वार के चारों तरफ मुखाकृति की रूपरेखा स्थापित होना प्रारम्भ हो जाती है। सबसे पूर्व निचले जबड़े का प्रतिष्ठान, प्रथम धनुषाकारी दण्डों के निचले सिरों के पारस्परिक संयोजन के द्वारा, होता है (चित्र—१३); इस परिवर्त्तन के समकाल ही विशेष कोष्ठसमूहों की कलियाँ मुख-द्वार के कोणों के निकट प्रगट हो जाती हैं और यह कलियाँ मुख-द्वार के ऊपर की ओर बढ़कर परस्पर संयोजित हो जाती हैं और इस प्रकार ऊपरी जबड़े का प्रतिष्ठान भी कर देती हैं (चित्र—१३ अ—स)। अब यह मुख-द्वार, ऊपरी और निचले जबड़ों से बँधकर केवल एक चौड़ी दरार के रूप में सीमित हो जाता है, इसके उपरान्त इस मुख-द्वार के दोनों कोणों पर जबड़ों की धीमी अर्ध-संयोजन-क्रिया के कारण इसका आकार छोटा होता जाता है। और यह नवनिर्मित अर्धसंयोजित भाग, अन्त में, कपोलों का आकार प्राप्त कर लेता है (चित्र—१३ स द)।

उधर नाक के गन्ध-सचेतन गड्ढे, मुखाकृति के निरूपण-काल में ही, धीरे धीरे एक दूसरे के निकट खिसकते आते हैं और ऊपरी जबड़े की स्थापना सम्पूरित

होने तक बिल्कुल समीप हो जाते हैं तथा कोष्ठ-समूहों की एक नाक का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इस मास के आरम्भ में मस्तक के पार्श्वों में पड़े हुए नेत्र, विकास-विज्ञान के अन्तर्गत, आगे की ओर सामने इस प्रकार स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं कि दूसरे मास के अन्त तक दोनों नेत्र एक ही क्षेत्र का अवलोकन
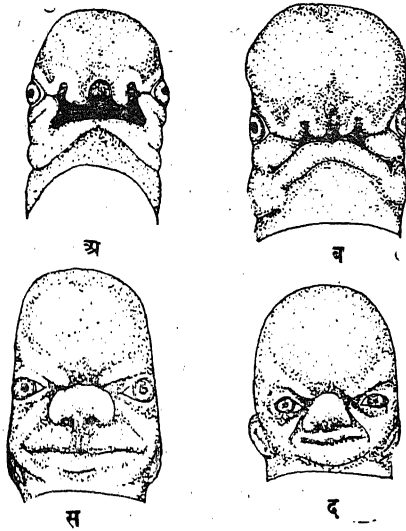
(चित्र १३) दूसरे मास के चार, विकास-क्रमानुगत गर्भपिण्डों के मस्तक जिनमें मानव-चेहरे के विकास को दिखलाया गया है।

अ—पांचवां सप्ताह (८ मिली मीटर);
ब – छठवां सप्ताह (१३ मिली मीटर);
स सातवां सप्ताह (१८ मिली मीटर);
द—आठवां सप्ताह (२५ मिली मीटर)।

करने के योग्य हो जाते हैं। इन अन्तिम दिनों में ही, त्वचा की सिकुड़नों के रूप में पलकों की स्थापना नेत्रों के ऊपर हो जाती है और यह नवनिर्मित पलक कुछ समय के उपरान्त ही नेत्रों को तीन मास के लिये बन्द कर देते हैं।

प्रथम और द्वितीय धनुषाकारी दण्डों के अंशों से निर्मित घुण्डियों की श्रेणी के संयोजन के द्वारा कानों के बाहरी आकारों की स्थापना प्रारम्भ होकर, दूसरे मास के अन्त तक, गर्भ-मस्तक पर मनुष्य के सुन्दर कान दृष्टिगोचर हो निकलते हैं (चित्र—१४ और १४—क)। इनके सम्बन्ध में केवल एक असंगत बात होती है, वह यह कि
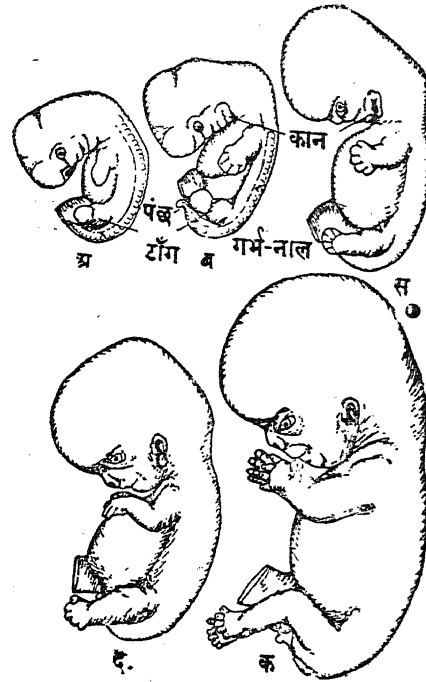
(चित्र १४) आकारवृद्धि, रूप-परिवर्तन तथा अवयव, कान, चेहरा तथा पूँछ के विकास को दिखाने के लिये एक ही आकार-माप पर खींचे गए, दूसरे मास की आयु के मानवीय गर्भ पिण्ड। (आकार मूल से पौने चार गुना बड़ा)।

अ—पांचवां सप्ताह (१० मिली मीटर);
ब—छठवां सप्ताह (१३ मिली मीटर ;
स –सातवाँ सप्ताह (१५ मिली मीटर);
द—सातवाँ सप्ताह (१७ मिली मीटर);
क—आठवाँ सप्ताह (२३ मिली मीटर)।

नवनिर्मित कान अपनी स्वाभाविक स्थिति से कुछ नीचे प्रतिष्ठित होते हैं।

निचले जबड़े का लघु आकार तथा चिबुक अस्पष्ट होने के कारण गर्भपिण्ड का मुख, एक ओर से देखने पर, प्रायः चिबुकहीन प्रतीत होता है; और इस समय नासिका-

छिद्र नीचे की ओर खुलने की अपेक्षा सामने की ओर खुलते हैं तथा नेत्रों के मध्य की दूरी स्वाभाविक से अधिक है। दो मास के अन्त समय की इस अवस्था में माथा स्पष्ट होता है और अधिक आगे की ओर निकला होने के कारण गर्भपिण्ड को विशाल मस्तिष्क वाला आकार दे देता है; वास्तव में इस समय गर्भपिण्ड विशाल मस्तिष्क वाला होता भी है क्योंकि अनुपात की दृष्टि से मस्तक प्रदेश का सबसे बड़ा भाग इस समय मस्तिष्क ही है। गर्भ की अल्पावस्था में पाई जाने वाली इस मस्तिष्क-
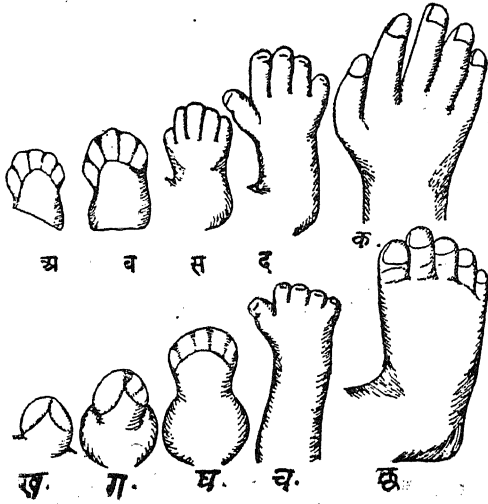
(चित्र १५) दूसरे तथा तीसरे महीने में हाथ तथा बाहु के विकास (अ—क) तथा पैर और टांग के विकास (ख—छ) को दिखलाते हुए चित्रों का क्रम। प्रत्येक अवयव के छोर पर पतवारनुमा पत्ती में अँगुली तथा अंगूठों के चिन्ह-प्रतिष्ठान को देखिये। एक ही गर्भपिण्ड में भुजा के विकास की तुलना में टाँग के विकास-विलम्ब को भी देखिये।

अ तथा ख—छठवाँ सप्ताह (१२ मिली मीटर);
ब तथा ग—सातवाँ सप्ताह (१५ मिली मीटर);
स तथा घ—सातवाँ सप्ताह (१७ मिली मीटर);
द तथा च—आठवाँ सप्ताह (२५ मिली मीटर);
क तथा छ—तीसरा मास (५२ मिली मीटर)।

प्रमुख स्थिति को स्वाभाविक आकार में परिवर्तित करने में मानवीय शरीर को अनेक वर्ष लग जाते हैं।

मस्तक-प्रदेश में होने वाले इन परिवर्त्तनों के समान ही, शरीर के अवयव—(हाथ और पैर) भी दूसरे मास में अद्भुत रूप-परिवर्त्तन करते हैं। मास के आरम्भ में इन अवयवों की कलियाँ (इनका अल्पावस्था में यही नाम होता है) छोटी छोटी गोल घुण्डियों के रूप में शरीर-पार्श्वों के बाहर निकली हुई होती हैं (चित्र—१४ अ)। यह कलियाँ आकार-वृद्धि करके दीर्घ हो जाती हैं और अन्त में इनके सिरे चौड़े और चपटे हो जाते हैं—यही सिरे हथेली और पैरों के तलवे का चपटा भाग बनाएँगे। बाद में इन चौड़े और चपटे सिरों में पाँच लम्बी समानान्तर उभड़ने उभड़ आती हैं जिनके बीच में कम गहरी नालियाँ होती हैं। यह नालियाँ धीरे धीरे गहरी होकर, कुछ काल के उपरान्त, इन उभड़नों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग काट देती हैं जिसके फलस्वरूप इन अवयवों के चपटे भागों में अंगुलियों तथा अंगूठों के स्पष्ट और पृथक आकार सुनिर्मित हो जाते हैं। निर्माण के उपरान्त अंगुलियों से अंगूठे शीघ्र ही दूर खिसका दिये जाते हैं जिस कारण इनकी पहचान सुगमता से हो सकती है (चित्र—१५ द तथा क)। हाथ पैरों में अंगुली तथा अंगूठों के निर्माणकाल में ही, इन अवयवों के लम्बे आकारों में उन उचित स्थानों पर संकोचनों की उत्पत्ति हो जाती है जिन स्थानों पर हाथों की कोहनी और कलाई तथा टाँगों के घुटने और टखनों के जोड़ चिन्हित होंगे (चित्र—१४ क)। इस सम्बन्ध में यह अद्भुत बात है कि इस समय कोहनी और घुटने शरीर-पार्श्व के बाहर की ओर तथा हथेली और तलवे भीतर की ओर अस्वाभाविक रीति से मुड़ते हैं। यह हाथ और पैर गर्भ के चौथे मास में पहुँच कर अपनी साधारण और स्वाभाविक स्थिति को ग्रहण कर पाते हैं; इस स्वाभाविक स्थिति में कुहनियाँ और घुटने आगे पीछे मुड़ सकने योग्य स्थिति और पैरों के तलवे बाहर की ओर निचली स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।

गर्भावस्था के दूसरे मास के उत्तरार्ध में हाथ और पैरों में उनकी अस्थियों तथा माँसपेशियों की स्थापना हो जाती है और इस विकास के कारण ही, इस मास के अन्त तक

त्रिपिण्डीय शरीर इतनी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि इन अवयवों को धीरे से हिला सके। पैरों की विकास-गति की तुलना में, इस समय हाथ अधिक वेग से आकार-वृद्धि करते हैं (दृष्टान्त—हाथ की अँगुलियाँ पैरों की अँगुलियों से पूर्व ही प्रगट हो जाती हैं) और इस कारण प्रारम्भ में टाँगों की अपेक्षा हाथ अधिक दीर्घ होते हैं। गर्भावस्था के तीसरे मास में दोनों अवयवों की सापेक्षिक विकास-गति में अन्तर पड़ जाता है और उस मास में पहुँच- कर पैरों की आकार-वृद्धि हाथों के विकास-गति की अपेक्षा अधिक वेगपूर्ण हो जाती है; तदनन्तर स्वाभाविक अवस्था में पूरे गर्भ-जीवन तथा जन्मोपरान्त आजीवन शरीर की पूरी लम्बाई का एक बड़ा भाग पैर बने रहेंगे। अवयवों के विकास के समकाल ही, गर्भपिण्ड के शरीर का धड़ भी लम्बा होकर बेलन के आकार वाला रूप ग्रहण कर लेता है। अल्पायु के वृहत् उदर वाले रूप को त्यागकर, गर्भपिण्डीय शरीर, दूसरे मास के अन्त तक, लम्बे और बेलनाकारी रूप में, अपनी चिकनी तथा गोल उभड़नों के सहित, मनुष्य के आकार की समरूपता पा लेता है (चित्र—१४)।

इस आयुवाले गर्भ-शरीर की पूंछ शरीर के निचले सिरे पर आगे को निकली तथा मुड़ी हुई केवल एक दो मिली-मीटर लम्बी उभड़न है। पूंछ के इस आकार में यद्यपि गति-संचालक माँसपेशियाँ उपस्थित होती हैं तब भी इस आयु में यह गतिहीन और अस्थिर ही होती है। यह माँसपेशियाँ भी पुनरुद्धरण के दृष्टान्तसम प्रतीत होती हैं। गर्भावस्था के पाँचवें सप्ताह तक, पूंछ का आकार अपना पूर्ण विकास करके अपने आकार में कम होना प्रारम्भ कर देता है और दूसरे मास के अन्त तक, पूंछ कोष्ठ-समूह की एक छोटी घुण्डी के समान ही रह जाती है जो कि बढ़ते हुए नितम्बों और कूल्हों के नीचे छिप जाती है। अस्वाभाविक अवस्था में कभी कभी स्पष्ट बनी रह कर, वह पूंछ नवजात शिशु में भी दिखलाई पड़ सकती है।

इस समय के गर्भपिण्डीय शरीर की रूपरेखा की गोल उभड़नें त्वचा के नीचे स्थापित मांसपेशियों और अस्थियों के आकार के बाह्य प्रमाण ही हैं। मास के आरम्भ में शरीर-त्वचा ढीली तथा सिकुड़ी हुई होती है और उसमें से गर्भपिण्ड के आन्तरिक अंगों की उठान व गहराइयाँ स्पष्ट चमकती हैं, परन्तु मास के अन्त तक सब आन्तरिक मांसपेशियों की स्थापना हो चुकने के कारण त्वचा तथा आन्तरिक अंगों के मध्य इन मांसपेशियों की एक मोटी गद्दीनुमा तह बिछ जाती है।

मांसपेशियों और अस्थियों की रचना तथा उनका स्थापन-कार्य अति वेगशील और पेचीला होता है, जिसके कारण इस विकास-काल के परिवर्त्तनों का वर्णन बड़ा कठिन है। मास के प्रारम्भ में इन मांस-पेशियों के प्राथमिक आकार वह छोटे आकार के दण्ड थे जिनकी स्थापना, प्राथमिक मांसपेशी-कोष्ठों के परस्पर निकट स्थित हो जाने से हो गई थी और जो मेरुदण्ड के दोनों ओर अखण्डित रूप से आच्छादित थे। शरीर-त्वचा के नीचे दोनों पार्श्वों को आच्छादित किये हुए प्राथमिक मांसपेशियों की यह चादर उस समय तक आकार-वृद्धि करती रहती है जब तक वक्षप्रदेश और उदरप्रदेश के ऊपर दोनों ओर के आकार परस्पर संयोजित नहीं हो जाते। इस विकास-काल में ही इस आच्छादन के भीतर भी वक्ष, उदर और पृष्ठ भागों की पृथक मांस-पेशियां स्थापित होती रहती हैं। प्राथमिक मांसपेशी-कोष्ठों में से कुछ कोष्ठ भुजा और टांगों की ओर बढ़ कर अपने आपको अलग कर लेते हैं और फिर उन अवयवोंमें मांसपेशियों का जाल बिछा देते हैं। इसी प्रकार मस्तक और मुखाकृति में भी उन मांसपेशियों की स्थापना हो जाती है जो कि इन अंगों का गति-संचालन करती और मुख के भाव-प्रकाशन में सहायता देती हैं। उपर्युक्त वर्णन गर्भ-विकास तथा उसकी आकार-वृद्धि की पेचीली विधियों का बड़ा सरल दर्शन है, इन्हीं विधियों के प्रभाव से गर्भपिण्ड के आकार स्थानान्तरित और रूपान्तरित होते हैं। यह सब उपर्युक्त परिवर्त्तन सम्भावतः मनुष्य के विसाकवादी जीव-इतिहास के प्रभाव में नियंत्रित होते हैं और कुछ अंश तक उन शारीरिक क्रियाओं द्वारा भी संचालित होते हैं जो कि आकार-वृद्धि करते हुए गर्भपिण्डीय शरीर में घटती हैं जैसे सम्पीड़न, खिंचाव और तनाव तथा श्रम।

मांसपेशियों की स्थापना चाहे किसी कारण प्रारम्भ होती है, परन्तु इस कार्य का अन्त त्वचा तथा आन्तरिक अंगों के मध्य मांसपेशियों का लगभग अखण्डित एक

आच्छादन ही हैं। शरीर के प्रत्येक भाग में, इसके गति-उत्पादनों के अनुरूप ही, ये मांसपेशियां अपना आकार और स्थिति ग्रहण कर लेती हैं। गर्भ के दूसरे मास की समाप्ति तक मानवशरीर का मांसपेशी-संस्थान अपनी सुसंयत रूपरेखा निश्चित रूप से स्थापित कर लेता है और उसका कुछ भाग अवश्य ही कार्यारम्भ के योग्य हो जाता है।

इस आयु के सम्बन्ध में यह सब महत्वपूर्ण ज्ञान, आपरेशन के द्वारा गर्भाशय में से निकाले गए दो मास की आयु के जीवित गर्भपिण्डों के अध्ययन पर आधारित है—इन जीवित गर्भपिण्डों ने अपने हाथ और टांगों की गति का प्रदर्शन किया।—आपरेशन की क्रिया के समय की परिस्थिति गर्भपिण्ड के कोमल शरीर को धमक स्वरूप अवश्य होती है। यह सम्भव प्रतीत होता है कि गर्भाशय के भीतर साधारण परिस्थितियों में इस आयु के गर्भपिण्डों के द्वारा स्वभावतः यह गति-संचालन नहीं किये जाते हैं। हाँ! इस प्रयोग-दर्शन के द्वारा यह स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि दो माँस के गर्भपिण्ड की मांसपेशियां सिकुड़ने तथा फैलने में समर्थ होती हैं पुरातन दार्शनिक, जो कि गर्भ-शरीर की जीवन-क्रिया के प्रारम्भ की खोज में सदा तत्पर रहते थे, यदि कहीं गर्भपिण्डीय शरीर की गति के इस प्रदर्शन को देख पाते, तो इस काल को ही गर्भ के जीवन-प्रारम्भ का क्षण कहते, क्योंकि यह गति-संचालन जीवित मानव के समान ही होता है।

मांसपेशियों की रचना के साथ साथ ही, मानव शरीर के अस्थि-कंकाल का निर्माण भी प्रारम्भ हो जाता है; इसी कंकाल से यह मांस-पेशियां जुड़ी हुई होती हैं। अस्थियों का विकास व उनकी आकार-वृद्धि एक विशेष विधि द्वारा सम्पादित की जाती है—इस विशेष विधान के अन्तर्गत शरीर की अस्थियों का प्रतिरूप अथवा नमूना कोमलास्थि में ढाला जाता है (एक विशेष प्रकार के अतिकोमल व अपारदर्शी अस्थि-पदार्थ को कोमलास्थि अर्थात् 'कार्टिलेज' कहते हैं)' ढलाई के काम के पूरे हो जाने के उपरान्त इस कोमलास्थि-प्रतिरूप के भीतर व बाहर चारों तरफ एक पुष्ट तथा कठोर अस्थि-पदार्थ की प्रस्थापना की जाती है। यह अस्थि-निर्माण का कार्य लगभग उसी तरह किया जाता है जिस प्रकार शिल्पकार अपने नमूने को पहले चिकनी मिट्टी में तय्यार करता है और उस नमूने के आकार तथा उसकी रूपरेखा से सन्तुष्ट हो जाने पर फिर उसको पीतल अथवा तांबे जैसी कठोर धातु में स्थायी रूप से ढालता है; गर्भपिण्ड भी कदाचित् इसी प्रकार, अपने अस्थि कंकाल का प्रतिरूप पहले कोमलास्थि में अंकित करता है, उसकी रूपरेखा से सन्तुष्ट हो जाने पर, धीरे-धीरे कोमलास्थि-पदार्थ को हटाते हुए, उस नमूने को कठोर अस्थि-पदार्थ में ढाल कर अन्त में सम्पूर्ण अस्थि के आकार की रचना पूरी कर देता है। अस्थायी कोमलास्थि-प्रतिरूप की रचना-विधि, शरीर की सब अस्थियों की रचना करने में प्रयुक्त नहीं की जाती है—मानव-कंकाल के कुछ भाग, जैसे कपाल प्रदेश की अस्थियाँ, इस अस्थायी तथा मध्यकालीन स्थिति को प्राप्त किये बिना ही, कोमल कोष्ठसमूहों की सहायता से अपना आकार सीधा ही पा लेते हैं। इस प्रकार मानवशरीर के अस्थि कंकाल की कुछ अस्थियाँ, कोमलास्थि के अस्थायी और मध्य-कालीन प्रतिरूप में हो कर निर्मित होती हैं, और कुछ बिना इस माध्यमी स्थिति में हुए ही सीधे अपना आकार-प्राप्त कर लेती हैं,—नर-कंकाल की अस्थियों के निर्माण में यह विभिन्नता अभी विकास-विज्ञान की असुलझी समस्या ही है। हाँ! इतना निश्चित रूप से ज्ञात है कि शरीर के धड़ तथा अवयवों (हाथ और पैर) की अस्थियों का निर्माण, पहले कोमलास्थि-पदार्थ में उन अस्थियों के प्रतिरूप की रचना करके फिर कठोर अस्थि-पदार्थ की प्रस्थापना द्वारासम्पादित होता है; और कपाल तथा मस्तक की अन्य अस्थियाँ अधिकतर झिल्लियों के भीतर ही प्रस्थापित की जाती हैं और इस प्रकार उनकी रचना सीधी ही सम्पन्न कर दी जाती है, इसी कारण यह झिल्ली वाली अस्थियाँ कहलाती हैं।

गर्भावस्था के दूसरे मास में निम्नलिखित अस्थियों के प्रतिरूपों की रचना कोमलास्थि-पदार्थ में हो जाती है—मेरु-दण्ड के भाग (३३ मेरुखण्ड अर्थात् 'वर्टीब्री'); पसलियाँ (१२ युग्म); कंधे की अस्थियाँ और पंखे; हंसली अथवा कण्ठ-प्रदेश की अस्थियाँ, बाहुअस्थियाँ (३); कलाई की अस्थियाँ (८); हथेली की अस्थियाँ (१९); कूल्हे और वस्तिप्रदेश की अस्थियाँ (६); टाँगों की (३); टखनों की अस्थियाँ (७), और पैरों की (१९)। निचले जबड़े

और मस्तिष्क के नीचे एक खोखले भाग 'कोन्ड्रोक्रेनियम' के अस्थि-प्रतिरूप की प्रस्थापना भी पहले कोमलास्थि-पदार्थ में ही की जाती है (चित्र—१६)। यह ध्यान में रखना चाहिये कि उपर्युक्त कोमलास्थि-प्रतिरूप (योग १८७) सब एक साथ ही उत्पन्न नहीं हो जाते हैं, वरन् इनकी प्रस्थापना धीरे धीरे क्रमानुसार होती है—हथेलियों की अस्थियों से पूर्व बाहु की अस्थियों की रचना, पैरों से पूर्व टाँगों की तथा पसलियों से पहले मेरुदण्ड के अस्थिखण्डों के प्रतिरूप की प्रस्थापना की जाती है।

प्रत्येक अस्थि के प्रतिरूप को गढ़ने वाला कोमलास्थि पदार्थ आरम्भ में छोटा और आकारहीन एक कोष्ठसमूह होता है, परन्तु पूर्णविकसित हो जाने पर यह कोमलास्थि-पदार्थ सापेक्षिक रूप से वही आकार, स्थिति तथा रूप ग्रहण कर लेता है जो कि इसके अन्तिम स्थायी रूप वाली अस्थि का होगा। गर्भ के दूसरे मास के अन्त तक इन प्रतिरूपों की रचना पूरी नहीं हो पाती हैं, वरन् वास्तव में इस समय तो इनकी रचना का आरम्भ ही होता है। रचनारम्भ के उपरान्त ये कोमलास्थि-प्रतिरूप अपने आकार में उस समय तक वृद्धि करते रहते हैं जब तक वे स्थायी अस्थियों के पूर्ण विकसित रूप और आकार के समान नहीं हो जाते। यह विकास-कार्य इस प्रकार गर्भावस्था के प्रत्येक मास में, प्रसव के उपरान्त शैशवकाल और कौमार्यावस्था में उस समय तक निरन्तर चलता रहता है जब तक मानव-शरीर का अस्थि-कंकाल अर्थात् पंजर अपने वयस्क और पूर्ण विकसित आकार को प्राप्त नहीं कर लेता है। उस समय तक शिल्पी की मूर्त्ति पूरी तरह निर्मित हो चुकती है और तब तक उस मूर्त्ति का प्रतिरूप पूर्णतः नष्ट कर दिया जाता है।

अस्थि-प्रतिरूपों की कोमलास्थि-पदार्थ में प्रस्थापना हो चुकने के बाद, कठोर अस्थि-पदार्थ की ढलाई-रचना का कार्य दूसरे मास में प्रारम्भ कर दिया जाता है और ढलाई पूरी हो चुकने तक निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक कोमलास्थि-प्रतिरूप के केन्द्रस्थल के चारों ओर, गर्भपिण्ड के अस्थि-कोष्ठ सबसे पहले कठोर अस्थि-पदार्थ की पतली और संकुचित चादर बिछाते हैं। इस आच्छादन के प्रारम्भकाल से ही प्रतिरूप का कोमलास्थि-पदार्थ खण्डित होकर लुप्त होना आरम्भ कर देता है। इसीलिये इस विकास विधि को यह कह कर समझाते हैं कि कठोर अस्थि-पदार्थ प्रतिरूप के कोमलास्थि पदार्थ को स्थानान्तरित कर देता
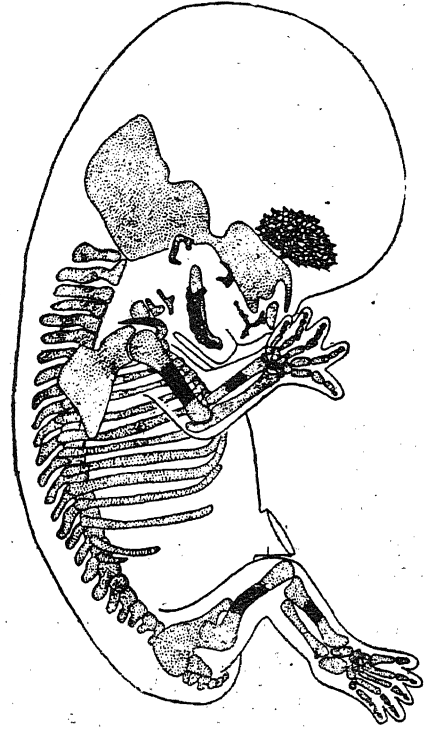
चित्र १६) दो मास आयु के गर्भपिण्ड का अस्थि-कंकाल, कोमलास्थि भाग हलके रंग तथा सच्ची अस्थियाँ काले में दिखलाई गई हैं। कपाल तथा चेहरे में तीन झिल्ली वाली अस्थियाँ हैं अन्य सब पहले कोमलास्थि पदार्थ में निर्मित होती हैं।

है, यह क्रियाविधि 'औस्सिफिकेशन' अर्थात् अस्थि-पुनर्स्थापन कहलाती है। प्रत्येक कोमलास्थि-प्रतिरूप में अस्थि-पुनर्स्थापन का यह कार्य प्रत्येक भाग के वयस्क आकार प्राप्त कर लेने तक निरन्तर चलता रहता है। वयस्क रूप प्राप्त होने के समय कोमलास्थि की आकार-वृद्धि बिल्कुल रुक जाती है तथा उस प्रतिरूप का अन्तिम कोमलास्थि-अंश भी वास्तविक स्थायी अस्थि-पदार्थ के द्वारा स्थानान्तरित कर दिया जाता है और इस प्रकार वयस्कावस्था में शरीर की सम्पूर्ण अस्थि की पुनर्स्थापना पूरी हो जाती है।

गम्भीर अध्ययन के द्वारा, विविध अवस्था के गर्भपिण्डीय तथा शिशु-शरीरों के सम्बन्ध में और स्त्री तथा पुरुष दोनों जातियों, की सापेक्षिक भिन्नता के सम्बन्ध में भी, 'औस्सिफिकेशन' अर्थात् अस्थि-पुनर्स्थापन की गति तथा उसका प्रवाह बड़ी सावधानी के साथ निश्चित और निर्धारित कर लिया गया है। दोनों लिंग-जातियों के शरीरों के सापेक्षिक विकास-अध्ययन के द्वारा यह निर्धारित हो गया है कि बालक की अपेक्षा बालिका के शरीर में अस्थि-पुनर्स्थापन का कार्य पहले प्रारम्भ होता तथा अधिक शीघ्र सम्पूरित हो जाता है। अस्थि-पुनर्स्थापन सम्बन्धी इस भेद के आधार पर ही यह सम्भव माना जाता है कि गर्भाशय के भीतर ही, 'ऐक्स-रे' चित्रों की सहायता से, गर्भस्थित शिशु लिंग-भेद बतलाया जा सकता है। जन्म के उपरान्त 'ऐक्स-रे' चित्रों द्वारा अस्थि-पुनर्स्थापन के परिमाण को मापकर, चिकित्सक यह पता लगा सकता है कि शिशु की आकार-वृद्धि व उसका शारीरिक विकास स्वाभाविक रूप से हो रहा है या नहीं।

कपाल और मुखाकृति की अस्थियाँ, जिनके प्रतिरूपों की रचना कोमलास्थि-पदार्थ में नहीं की जाती है, मस्तिष्क और त्वचा के मध्य-स्थित झिल्ली में सबसे पहले छोटे और पतले पत्तरों के रूप में प्रगट होती हैं, फिर इन प्राथमिक पत्तरों के किनारों पर नये अस्थि-पदार्थ को निरन्तर स्थापित करती हुई अपने आकार में वृद्धि करती रहती हैं। इस प्रकार निर्मित होने वाली अस्थियों की संख्या १७ है और ये सब मस्तिष्क तथा मुख के चारों ओर निर्मित होती हैं। यह अस्थियाँ पहले पहल अपनी आकार-वृद्धि करके परस्पर संयुक्त हो जाती हैं, तदनन्तर मस्तिष्क के निम्नभाग के कोमलास्थि पदार्थ में निर्मित प्रतिरूपों से सम्बद्ध होकर वयस्क कपाल का निर्माण पूरा करती हैं। कपाल की अस्थियों का संयोजन-कार्य जन्म के पूर्व सम्पूरित नहीं हो पाता है, इस कारण शिशु के मस्तिष्क के अनेक क्षेत्र बिना किसी अस्थि-आच्छादन के रह जाते हैं, साधारण और स्वाभाविक तौर पर पाए जाने वाले यह क्षेत्र ही अल्पावस्था में कपाल के कोमल-प्रदेश हैं। (चित्र—३३)। जन्म के दो वर्षों के भीतर ही यह कोमल प्रदेश अस्थि-आच्छादन के द्वारा लगभग पूरी तरह ढाँक दिये जाते हैं, यद्यपि कपाल की अस्थियाँ मस्तक के वयस्क रूप प्राप्त कर लेने तक पूरी तरह परस्पर संयुक्त नहीं हो पाती हैं।

उपर्युक्त वर्णित गर्भपिण्ड की रूपरेखा निर्धारित करने वाली अस्थियाँ और माँसपेशियों के विकास के लिये शरीर के भीतर घटने वाले परिवर्त्तनों से सम्बन्धित था। विकास की इसी अवधि में गर्भपिण्ड के आन्तरिक अंगों में भी परिवर्त्तनों का क्रम धारा-प्रवाहित हुआ है। कण्ठ प्रदेश के धरातल से अनेक उभड़नें जन्म लेती हैं
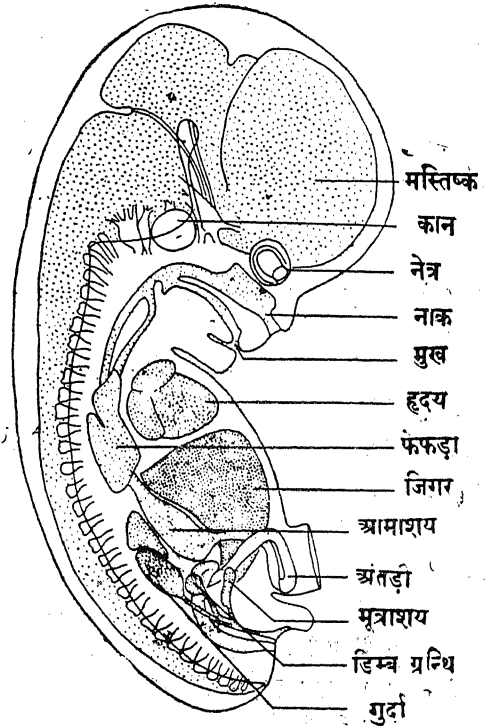
चित्र १७) दो मास आयु के स्त्रीलिंगी गर्भपिण्ड के भीतरी अंग। गर्भ-नाल के भीतर अंतड़ियों की उभड़न को देखिये।

और अन्त में यह उभड़नें परस्पर संयुक्त होकर जिह्वा का आकार ग्रहण कर लेती हैं, यह जिह्वा मुंह के भीतर आगे की ओर धकेल दी जाती है। जिह्वा की रचना के उपरान्त शीघ्र ही तालू भी प्रगट हो जाता है यह वह प्रदेश है जो कि मुंह की भीतरी छत तथा गन्धेन्द्रियों का तला बनाता

है। अल्पायु के प्राथमिक मुख की दीवालों से दो उभड़नों का जन्म हो जाता है। तथा ये उभड़नें आकार-वृद्धि करके, केन्द्रस्थल में पारस्परिक संयोजन के तालू की रचना करती हैं। इस संयोजन-कार्य के पूर्ण न होने पर, मुख-प्रदेश के भीतर ऊपर की ओर कभी कभी खण्डित तालू दृष्टिगोचर होता है (चित्र—३६ ब) यह अधिकतर पाया गया है कि खण्डित तालू वाले व्यक्ति के ओष्ठ भी खण्डित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गर्भपिण्ड की मुखाकृति के निर्माण-काल में कुछ अस्वाभाविक और विपरीत परिस्थितियाँ गर्भ पर अपना प्रभाव डालती हैं और इसके फलस्वरूप रूपपरिवर्त्तनों के निश्चायक पदार्थों के स्थानान्तरित होने में और उनके संयोजन में अवरोध व विलम्ब हो जाता है, इसी कारण शरीर के विविध अंगों में भिन्न भिन्न अंशों के आकार-दोष प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार पैदा हुए आकार-दोषों के उदाहरणों में अधिकतर खण्डित तालू और खण्डित ओष्ठ ही देखे और पाए गए हैं।

पाचक-नली के विविध अंग भी इस विकास-काल में अपने वयस्क रूप को पाने के लिये तथा निज कार्य में अधिक दक्ष होने के हेतु, अपनी आकार-वृद्धि निरन्तर करते रहते हैं; यह वह अंग हैं जो कि पहले मास में विकसित हुए थे और अब तक अपने आकार और रूप में इतने सुनिर्मित हो गये हैं कि अब इनको प्राथमिक अँतड़ी अर्थात 'गट' कहना अनुचित होगा। यकृत का विकास और उसकी आकार-वृद्धि इतने वेग से होती है कि दूसरे मास की समाप्ति तक यह अंग सारे गर्भपिण्डीय शरीर के तत्कालीन घनत्व का दसवां भाग बन जाता है। गर्भावस्था का दूसरा मास पाचन-संस्थान के विकास के सम्बन्ध में निस्सन्देह यकृत युग कहा जा सकता है, क्योंकि पाचक-संस्थान का यह अतिकोमल-अंग, यकृत अपनी सापेक्षिक आकार-विशालता के कारण उदर-प्रदेश का एक बहुत बड़ा भाग इस समय घेर लेता है। इस समय यकृत की इस वेगशील विकास गति के कारण उदर-प्रदेश में दूसरे अंगों के लिए इतना कम स्थान रह जाता है कि आँतें स्थानाभाव के कारण उदर-प्रदेश के बाहर गर्भनाल के भीतर धँस जाती हैं (चित्र—१७) सौभाग्य से यह अवस्था अल्पकालीन ही होती है, क्योंकि गर्भावस्था के अगले मासों में उदर-प्रदेश की आकार-वृद्धि यकृत की विकास-गति की अपेक्षा अधिक वेग से होती है और इस कारण आँतें उदर-प्रदेश में फिर वापस हो जाती हैं। कभी कभी यह कार्य नहीं हो पाता है, तब नवजात शिशु के शरीर में आँतें नाभि प्रदेश के ऊपर ही उभड़ी रह जाती हैं और उस समय यह अस्वाभाविक तथा अनियमित अवस्था 'गर्भनाल का हर्निया' अर्थात गर्भनाल के भीतर आँतों का अवतरण कहलाती है।

नवप्रतिष्ठित, यह यकृत गर्भावस्था के दूसरे मास के समाप्त होने से पूर्व ही अपना विशेष कार्य—पित्त-स्रावण भी प्रारम्भ कर देता है और अब इसका यह कार्य जीवन-पर्यन्त निरन्तर संचालित होता रहेगा (पित्त पीले रंग का वह कषैला पदार्थ है जो आँतों के भीतर पहुँच कर चर्बी की रचना में सहायता देता है)। इस समय थोड़ी मात्रा में स्रवित यह रस-पित्त आँतों के ही भीतर एकत्रित होता रहता है, क्योंकि गर्भपिण्ड इस अवस्था में भोजन तो करता नहीं है। इस कारण इस का उपयोग कुछ नहीं होता। इसी आयु में आँतों का अंगुली के आकार वाला भाग आन्त्रपुच्छ 'ऐपेण्डिक्स' भी प्रगट हो जाता है। पाचक-संस्थान सम्बन्धी इस विकास तथा इन परिवर्त्तनों के समकाल ही, कोष्ठसमूहों की एक आड़ी चादर के उत्पन्न हो जाने के कारण उदरप्रदेश तथा वक्षप्रदेश एक दूसरे से पृथक विभाजित हो जाते हैं। यह नवनिर्मित आकार 'डायफ्राम' कहलाता है जो कि शरीर के धड़ में ऊपरी भाग—वक्षप्रदेश तथा निचले भाग—उदर-प्रदेश के मध्य एक विभाजक के रूप में होता है।

गर्भावस्था में दूसरे मास की सबसे महत्वपूर्ण व अद्भुत घटना जननांगों का विकास है। नूतन जीव के लिंग-भेद की परख के लिये गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में केवल एक विधि ही प्रयोजनीय है, वह विधि अनुमानित लिंग-निश्चायक 'क्रोमोसोमों' की पहचान है, पर वह बड़ा कठिन तथा सन्देहपूर्ण प्रयास है। परन्तु गर्भावस्था के दूसरे मास के अन्त तक गर्भपिण्ड के आंतरिक अंगों में तो लिंग-भेद प्रगट हो ही जाता है, इसके साथ ही वाह्य जननांगों के विकास में भी लिंग-भेद अधिकतर इंगित किया जा सकता है। यह विलक्षणता पाई गई है कि इस काल के पूर्व, प्रजनन-संस्थान से सम्बन्धित सब रूप-परिवर्त्तन लिंग-जाति के निर्धारण करने की ओर से उदासीन ही रहते

हैं अर्थात् दोनों लिंग जातियों, नर और मादा गर्भपिण्डों में, प्रारम्भ में विकसित जननांग एक समान ही होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि प्रकृति गर्भपिण्डीय शरीर के भीतर प्रारम्भ में मनुष्य की दोनों लिंग जातियों के जननांगों की स्थापना करती है, फिर इनमें से एक को प्रमुख बना देती है जिसके कारण विपरीत जाति के अंग स्वयं प्रसुप्त हो जाते हैं और अन्त में प्रारम्भ का वह उदासीन गर्भपिण्ड स्पष्ट रूप से नर अथवा मादा रूप ग्रहण कर लेता है।

प्रजनन-संस्थान का यह लिंगभेद-निर्णायक विकास तथा प्रारम्भ का वह उभयलिंगी रूप अनेक महत्वपूर्ण तथा पेचीली समस्याओं को प्रस्तुत कर देता है—स्पष्ट और पूर्णविकसित जननांगों की तथा उनके कार्य-संचालन की प्रमुख स्थिति के प्रभाव में अपनी अविकसित विपरीत लिंगजातीय प्रकृति को गौण बनाकर छिपाये हुए, क्या प्रत्येक व्यक्ति उभयलिंग होता है ? गर्भविकास के दूसरे मास में, नर तथा मादा दोनों प्रकार की निश्चायक प्रकृति के आकारों के स्पष्ट प्रतिरूप, क्या गर्भपिण्ड के शरीर में अपरिवर्त्तनशील रूप में प्रतिचिन्हित होते हैं अथवा यह प्रतिरूप, पेचीले प्रजनन-विकास में, नर तथा मादा के निश्चायक प्रकृति के एकाकी रूप अथवा दोनों परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं ?

मनुष्य तथा अन्य पशुओं के लिंग-नियामक विकास के अध्ययन की सहायता से अनेक असंयत तथ्य एकत्रित कर लिए गए हैं जो कि उपर्युक्त समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं—'क्रोमोसोम' परीक्षा-विधि के आधार पर नर तथा मादा निर्धारित किये गए जुड़वां बछड़े गाय के गर्भाशय में कभी कभी इतना समीप आकार-वृद्धि करते हैं कि दोनों गर्भपिण्डों की गर्भझिल्लियाँ परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं तथा इस अवस्था में एक गर्भपिण्ड का रक्त दूसरे में स्वतंत्र रूप से प्रवाहित होने लगता है। पहले की अवस्था का मादा बछड़ा, इस नूतन परिस्थिति के फलस्व-रूप अर्द्ध पुलिंगी प्रकृति के साथ अपनी आकार-वृद्धि आरम्भ कर देता है तथा अब उसके शरीर में डिम्बग्रन्थि तथा डिम्ब प्रणालियों के स्थान पर शुक्रग्रन्थि और शुक्रप्रणालियाँ दृष्टिगोचर हो निकलती हैं। इस परिस्थिति की यह सन्तान स्पष्ट रूप से नर अथवा मादा नहीं होती है, वरन् दोनों लिंगजातियों की अर्द्धविकसित प्रकृतियों और गुणों का सम्मिश्रण लिये रहती है और इसी कारण नपुंसक अथवा हिजड़ा कहलाती है। इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि मादा गर्भपिण्ड की डिम्बग्रन्थियों के विकसित होने के पूर्व ही नर गर्भपिण्ड की शुक्रग्रन्थियाँ विकसित हो जाती हैं और यह शुक्रग्रन्थियाँ अपना रस-स्रावण' प्रारम्भ कर देती हैं (यह स्रवित रस अब प्रजनन सम्बन्धी पदार्थ 'होर्मोन कहलाते हैं) दोनों गर्भपिण्डों के मध्य रक्त के पारस्परिक आदान-प्रदान होने की परिस्थिति में शुक्रग्रन्थि का यह रस मादा जुड़वां शिशु में पहुँच जाता है और अपने प्रभाव से स्त्रीलिंग-निश्चायक विकास को धीमा करके उस शिशु की सुप्त पुलिंगी प्रकृति को जाग्रत करके प्रोत्साहित कर देता है।

आश्चर्य की बात इस दृष्टान्त में यह है कि दूसरी ओर नर बछड़े में उपर्युक्त परिवर्त्तन के समान कोई परिवर्त्तन होता नहीं पाया गया अर्थात् इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि जुड़वां नर बछड़े के गर्भपिण्डीय शरीर में स्त्रीलिंग-प्रकृति प्रमुख स्थिति ग्रहण कर लेती है। प्रयोग-दर्शनों की सहायता से केवल इतना अवश्य देखा जा सका है कि विकासश्रेणी की निम्नजाति के पशुओं में प्रारम्भ की निश्चित पुलिंग-ग्रन्थि परिस्थितिवश डिम्बग्रन्थि के समान आकार में परिवर्त्तित हो जाती है और ऐसा परिवर्त्तन कराया भी जा सकता है।

इसका कोई प्रमाण सामने नहीं है कि उपर्युक्त विपरीत लिंगजातीय रूपपरिवर्त्तन मानवजाति के विकास में घट सकें; हाँ! इतना अवश्य ज्ञात है कि कुछ व्यक्तियों में निश्चित लिंगजातीय गुणों के विकास के समय ही विपरीत जाति के कुछ गुण भी विकसित हो सकते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों से यह इंगित किया जाता है कि मानवजाति के विकास में भी विविध अंशों की प्रजनन-संस्थान सम्बन्धी विकास-स्थिति होती है; तथा यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतिक रूप से पूर्ण विकसित नारी तथा पुरुष में विविध अंशों की अन्तर्लिंग जातीय स्थिति हो सकती है। इन तथ्यों से उस सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है जिसके अन्तर्गत नूतनजीव का लिंगजाति-निर्धारण शुक्रकीट के 'क्रोमोसोम'-पदार्थ के द्वारा गर्भाधान के समय ही होता

है। स्वाभाविक तथा नियमित परिस्थितियों में यही सिद्धान्त प्रयुक्त होता है; पर यह भी सत्य है कि गर्भपिण्डीय शरीर के भीतर अथवा उसके ऊपर प्रभाव डालने वाली अस्वाभाविक परिस्थितियाँ शिशु के जनन-विकास की दिशा और सीमा भी प्रभावित कर सकती है।

गर्भावस्था के दूसरे मास में गर्भपिण्ड के प्रजनन-संस्थान का विकास शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहले, गुर्दे के मध्यकालीन आकार के धरातल के ऊपर पतली और लम्बी एक उभड़न पैदा हो जाती है—यहीं प्रजनन संस्थान की प्रारम्भिक उभड़न है। इस उभड़न के भीतरी कोष्ठसमूह, 'गौनेड' अर्थात् लम्बे आकर की प्राथमिक प्रजनन-ग्रन्थि का निर्माण करते हैं, प्रारम्भ में दोनों लिंग-जातियों के गर्भपिण्डों में इस ग्रन्थि का आकार एक समान होता है। गर्भावस्था के सातवें सप्ताह में इस ग्रन्थि के भीतरी भागों में कुछ अतिसूक्ष्म आकार-परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाते हैं, इनको अनुवीक्षणीय यंत्र की सहायता से जांच कर गर्भपिण्ड का लिंग-भेद बतलाया जा सकता है। प्राथमिक प्रजनन-ग्रन्थि के धरातल पर पैदा होकर, कुछ कोष्ठों की दण्डनलिकाएँ ग्रन्थि-शरीर के भीतर की ओर बढ़ती हैं। (यह प्रजनन-दण्ड कहलाती हैं) गर्भपिण्ड के शरीर में यह दण्ड ही शुक्रग्रन्थियों के घुण्डियोंनुमा प्रारम्भिक आकार बन जाते हैं; पर मादा गर्भपिण्ड में उत्पत्ति के उपरान्त फिर इन दण्डों का विकास रोक दिया जाता है—इस कारण यह अनुमान किया जाता है कि यह प्राथमिक प्रजनन-दण्ड केवल पुरुष के प्रजनन-संस्थान से सम्बन्धित होते हैं। मादा गर्भपिण्ड में प्रजनन-ग्रन्थि के धरातल के ऊपर फिर एक नया कोष्ठोत्पादक कार्य प्रारम्भ हो जाता है। कोष्ठों के उत्पादन के इस दूसरे प्रयास ही के परिणाम मादा के रजाण्डीय कोष्ठ तथा उनके सहकारी और रक्षक कोष्ठ हैं। इस विकास के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्येक गर्भपिण्डीय डिम्ब-ग्रन्थि के मध्य एक अविकसित शुक्र-ग्रन्थि पड़ी रहती हैं।

आन्तरिक जननांगों के विकास के समकाल ही, प्रजनन संस्थान सम्बन्धी बाह्य लिंग-भेद व भिन्न आकार प्रगट हो जाते हैं। गर्भावस्था के छठवें सप्ताह में, लिंग-भेद-हीन गर्भपिण्डीय शरीर के निचले सिरे पर पूंछ के ठीक सामने छोटी और नुकीली एक गाँठ पैदा हो जाती है। यह गांठ ही गर्भपिण्ड में, पुरुष के शिश्न अथवा लिंग तथा स्त्री के 'क्लाइटोरिस' अर्थात् भगनासा का पूर्व रूप है, यह प्रजनन-घुण्डी दोनों लिंगजातियों के गर्भपिण्डीय शरीरों में इस समय एक समान आकार की होती है। इस घुण्डी के निचली ओर एक दरार पैदा हो जाती है जो कि 'यूरैथूल ग्रूव' अर्थात् प्रजनन-दरार कहलाती है। इस दरार के ओष्ठ परस्पर संयुक्त होना प्रारम्भ कर देते हैं और कुछ काल के उपरान्त यह दरार एक बन्द नली का आकार ग्रहण कर लेती है। तदनन्तर प्रजनन-घुण्डी के दोनों
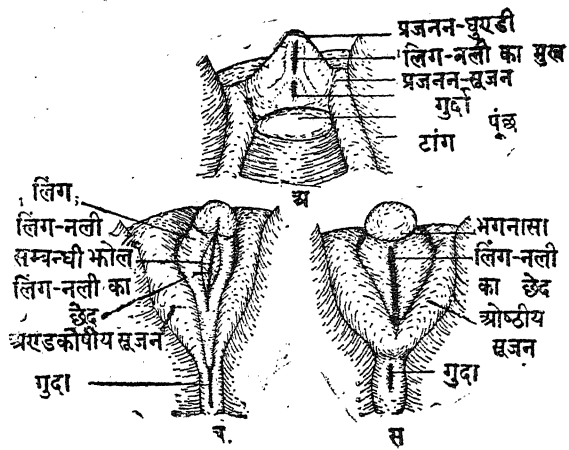
(चित्र १८) टाँग व पूंछ काट कर, नीचे से दिखलाए गए, दो मासीय गर्भपिण्डों के बाह्य प्रजनन-अंग।

अ—सातवाँ सप्ताह (१७ मिली मीटर) —उदासीन प्रजनन-काल जिसमें प्रजनन-घुण्डी प्रजनन-सूजनों में कोई भेद नहीं।

ब—दो मास का अन्त (४५ मिली मीटर) —लिंगभेदी करण के प्रारम्भ होने पर एक पुल्लिंगी गर्भपिण्ड। लिंग की लम्बाई और लिंग-नली के निरूपण को देखिये।

स—तीसरे मास का प्रारम्भ अथवा दूसरे का अन्त (४९ मिली मीटर)—स्त्री लिंगी गर्भपिण्ड, लिंग-नली की लम्बाई तथा घुण्डीनुमा भगनास का निरूपण देखिये।

ओर दो गोल सूजन उभड़ आती हैं जिनको 'लेबियो-स्क्रोटल स्वेलिंग्स' अर्थात् ओष्ठ-अण्डकोषीय सूजन कहते हैं, क्योंकि पुरुष में यही आकार अण्डकोषों की थैली तथा स्त्री में योनि की बाहिरी ओष्ठों की रचना करते हैं। अल्पावस्था के इस गर्भपिण्ड के इन बाह्य जननाँगों के अध्ययन के द्वारा, कोई विशेषज्ञ गर्भपिण्ड की लिंग-जाति लगभग ठीक ठीक निर्धारित कर सकता है। यह प्रजनन-घुण्डी मादा की अपेक्षा नर गर्भपिण्ड के शरीर में अधिक लम्बी और सीधी होती है तथा उसके सिरे पर एक मुण्ड होता है (नर गर्भपिण्ड की जनन-घुण्डी के सिर पर यह सूजी हुई गांठ ही शिश्न-मुण्ड का पूर्वरूप है।) नर गर्भपिण्ड में 'यूरैथूल ग्रूव' अर्थात् जनन-दरार अधिक लम्बी तथा अण्डकोष की सूजन भी अधिक विशाल आकार की होती हैं (चित्र—१८ बी)। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि समान आयु के मादा गर्भपिण्ड की अपेक्षा, नर गर्भपिण्ड के शरीर की प्रत्येक वस्तु सापेक्षिक तौर पर अधिक विकसित हो जाती है। विकास-गति में इस भेद के कारण, साधारण व स्वाभाविक प्रकृति के नर गर्भपिण्डों की पहचान तो जांच द्वारा की जा सकती है; परन्तु दूसरी ओर कम विकसित तथा अपरिपक्व नर गर्भपिण्ड, इसी भेद के अध्ययन के आधार पर, गलती से मादा भी समझे जा सकते हैं।

इस प्रजनन-विकास के साथ साथ ही दोनों लिंग-जातियों के गर्भपिण्डों में दूसरे मास के अन्त तक दुग्ध-ग्रन्थियां भी अपनी रचना प्रारम्भ कर देती हैं। सारे शरीर की दीवाल के सहारे, बांह के समतल से टांगों तक, दुग्ध-ग्रन्थियों की एक माला के विकास की सम्भावना सदा बनी रहती है, परन्तु नियमानुसार दुग्ध-ग्रन्थियों का एक युग्म ही, बाद के समतल के कुछ नीचे, अपना विकास प्रारम्भ करता है। कभी कभी अन्य दुग्ध-ग्रन्थियाँ भी इस सच्चे युग्म के पीछे की ओर प्रगट हो जाती हैं।

इस प्रकार शिशु के गर्भ-जीवन का दूसरा मास समाप्त होता है और इस समय मनुष्य की समरूपता की छाप स्पष्टतः गर्भपिण्ड पर पड़ चुकी होती है। गर्भपिण्ड की मुखाकृति चाहे हमारे विकसित रूप की अपेक्षा वृहत् आकार की ही हो, परन्तु स्पष्ट रूप से मनुष्य की मुखाकृति के समान होती है। अस्थियों तथा मांसपेशियों ने, दो मास के इस गर्भपिण्डीय शरीर को सुघड़ तथा सुन्दर आकार के साथ ही, हिलने डुलने की योग्यता भी दे दी है। लिंग जाति का भेद बतलाने वाली प्रकृतियां तथा गुण प्रगट हो चुके हैं और इस आयु के गर्भपिण्ड की लिंग-जाति का निश्चय भी किया जा सकता है। शरीर के सब आन्तरिक अंग समुचित रूप से स्थापित हो चुके हैं। अब गर्भावस्था के बाकी सात मासों में इस शरीर में वह परिवर्त्तन ही घटित होंगे जिनकी सहायता से प्रत्येक अंग के भीतर विस्तृत विकास तथा आकार-वृद्धि हो।

दो मास की आयु के गर्भपिण्डीय शरीर के द्वारा मानव के मूल-रूप का वास्तव में इतना उचित और सम्पूरित प्रदर्शन होता है कि जीव विशेषज्ञ गर्भस्थ शिशु की इस आयु को ही, मनुष्य-जीवन की विविध अवस्थाओं में सबसे प्रथम और प्रारम्भिक गर्भपिण्डीय अवस्था का अन्तकाल मानते हैं। मनुष्य के नियमित जीवन में स्वाभाविक तौर पर पांच स्पष्ट खण्ड होते हैं। प्रत्येक मनुष्य क्रमानुसार गर्भपिण्ड, भ्रूण, शिशु, कुमार तथा वयस्क बनता है। गर्भस्थ जीवन के दूसरे मास की समाप्ति पर प्रथम जीवन-खण्ड अर्थात् गर्भपिण्डीय रूप पूरा हो जाता है। इस आयु को प्राप्त कर लेने के उपरान्त यह नूतन जीव अब भ्रूण कहलायेगा।

पांचवां मास

रोम, नाखून तथा त्वचा

मानव शरीर एक पहेली है, वह एक है और अनेक भी, विभाजन के अयोग्य है और साथ ही गूढ़ और पेचीला भी है। मनुष्य का शरीर अलग अलग ऐसे सैकड़ों भागों के संयोजन से बनता है जो निरन्तर नष्ट होते रहते हैं और साथ ही साथ पुनर्निर्मित भी होते रहते हैं; इन सब पेचीले परिवर्त्तनों के होते हुए भी मनुष्य अपने शरीर में एक रहस्य-

पूर्ण तथा स्पष्ट प्रकृति को स्थायी बनाए रखता है जिस प्रकृति को मनुष्य का व्यक्तित्व कहा जाता है। चारों ओर से घिरे हुए स्थान—मानव-शरीर—में होकर प्राणहीन पदार्थों की एक धारा निरन्तर बहती रहती है, यह पदार्थ शरीर में क्षण भर के लिये जीवन प्राप्त करके फिर बाहरी संसार में निकाल दिये जाते हैं, परन्तु मनुष्य शरीर का वह अविच्छिन्न धारा-प्रवाह, जो उसका जीवन कहलाता है, गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक अखण्डित और स्थायी बना रहता है।

मानव शरीर की तुलना एक सहकारी संस्था से की जाती है, जिसके सदस्य अपनी सुरक्षा के हेतु बाह्य संसार के समक्ष संयुक्त मोर्चा बनाते हैं तथा शरीर के भीतर आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्वों और स्वत्वों में समान रूप से सहयोग देकर पारस्परिक सहायता के हेतु सम्बद्ध रहते हैं। कार्य-विभाजन, विशिष्टीकरण अथवा विशेष कार्यदक्षता, तथा उत्पादन का आदान-प्रदान यह सब कार्य कोष्ठों और अंगों के इस मानव शरीर रूपी समाज में भी उतने ही महत्वपूर्ण तथा आवश्यक हैं जितने कि मनुष्य के समाज में। शरीर के कुछ अंग भोजन-पदार्थों को रूपान्तरित करने के कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं जिससे कि ये पदार्थ जीव-कोष्ठों के काम में आ सकें—ये अंग पाचक-अंग कहलाते हैं। मानव-शरीर में संचरित द्रव पदार्थ एक विशाल यातायात-संस्थान की स्थापना करते हैं। इस यातायात-संस्थान का नियंत्रण स्नायु-नाड़ियाँ करती हैं। मस्तिष्क पदार्थों के आदान-प्रदान तथा अन्य सब क्रियाओं का नियंत्रण-केन्द्र है, मस्तिष्क के द्वारा ही निकट तथा दूर स्थित प्रदेशों में होने वाली क्रियाएँ सम-सम्बन्धित तथा नियंत्रित की जाती हैं। 'ऐएडोक्रीन' ग्रन्थियां, जो कि होर्मोन अर्थात् जीवन-रस का स्रवण करती हैं, कार्य-संचालिका कही जा सकती हैं क्योंकि इन्हींके रस-स्रावणों द्वारा शरीर के अनेक कार्यों की गति तथा निश्चलता नियंत्रित और निर्धारित की जाती है। अलग अलग विशेष कार्यों में दक्ष सब अंगों के ऊपर शरीर की त्वचा पड़ी रहती है—शरीर की त्वचा ही अंगों के समाज की रक्षक, शक्ति-संवर्धक तथा निरीक्षक है।

आन्तरिक अंगों की सुसंयत संस्थापना के उपरान्त शरीर की त्वचा तथा उसके उत्पादित आकार अपने रूप को पाने के लिये वेग से आकार-वृद्धि करते हैं। त्वचा का धरातल निर्जीव तथा शुष्क कोष्ठों से ढँक जाता है और इस प्रकार यह धरातल भ्रूणीय शरीर के निर्बल और कोमल कोष्ठों तथा बाहिरी वातावरण व परिस्थितियों के बीच सुरक्षा का एक व्यवधान स्थापित कर देता है। बाहिरी जीवन के समान ही, गर्भस्थित जीवन में भी शरीर की त्वचा के बाहिरी निर्जीव कोष्ठ नीचे उगते हुए नूतन कोष्ठों के द्वारा स्थानान्तरित हो कर हटाए जाते रहते हैं। शरीर-त्वचा के विशेष कोष्ठ-समुदायों के नीचे अधिक रक्त वाले कोष्ठ स्थित होते हैं, और उनके भीतर की ओर से स्वेद-ग्रन्थियों की रचना का प्रारम्भ, बढ़ते हुए नूतन आकारों के रूप में, हो जाता है। इन स्वेद-ग्रन्थियों का मुख-छिद्र गर्भावस्था में त्वचा के धरातल के ऊपर सातवें मास तक नहीं दिखलाई पड़ता है। ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि प्रसव से पूर्व गर्भस्थित जीवन में स्वेद- ग्रन्थियों का कोई कार्य ही न होता हो क्योंकि स्वेद-स्रवण का मुख्य सहयोग शरीर के तापक्रम को प्रकृति के अनुरूप समस्थिति में सन्तुलित रखना ही है, और यह कार्य ऐसा है जो कि गर्भ में भ्रूण के लिये माता के शरीर के द्वारा समुचित रूप में योग्यता पूर्वक सम्पादित कर दिया जाता है।

स्वेद ग्रन्थियों के समान ही, त्वचा में रोम-मूलों के ठीक नीचे तैल-ग्रन्थियां निर्मित हो जाती हैं। गर्भावस्था के पांचवें मास में यह ग्रन्थियां चर्बीदार एक पदार्थ का स्रावण करके रोम-मूलों के द्वारा उसको त्वचा के ऊपर उँड़ेल देती हैं जहाँ पर छीले हुए निर्जीव कोष्ठों तथा इस स्रवित पदार्थ के मिश्रित हो जाने से एक चिपचिपा पदार्थ पैदा हो जाता है जो कि इस नूतन शरीर को चारों ओर से ढँक देता है। 'वर्निक्स केसियोसा' नामक यह चिपचिपा पदार्थ, भ्रूणीय शरीर के चारों ओर, अम्नियातिक द्रव की प्रतिक्रिया के विरुद्ध, भ्रूण के लिये रक्षक-चादर के समान कार्य करता है, क्योंकि अम्नियातिक द्रव में भ्रूण के द्वारा निसृत मूत्र के साथ साथ कुछ रसायनिक पदार्थ भी संग्रहीत होते हैं जिनका प्रभाव भ्रूण के कोमल शरीर के विरुद्ध हानिकारक हो सकता है और यह रसायनिक पदार्थ

भ्रूण के सम्पर्क में आकर उसकी कोमल त्वचा को खुरच अथवा मसल भी सकते हैं— उपर्युक्त कथन अनुमान के आधार पर ही है।

शरीर-त्वचा के आकार भी इसी मास में विशेष विकास करते हैं। कपाल के ऊपर महीन और कोमल केश साधारणतः विस्तृत रूप से इस समय उपस्थित हो जाते हैं। अंगुलियों और अँगूठों पर नाखून उत्पन्न हो जाते हैं। यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक अँगुली तथा अँगूठे के सिरों के निकट, तीसरे मास के अन्तिम दिनों में, त्वचा की अर्धचन्द्राकार सिकुड़नें उत्पन्न हो गई थीं (चित्र—१५)। इन सिकुड़नों के नीचे त्वचा के भीतर, पांचवें मास में, सच्चे नाखून निर्मित होकर अंगुलियों तथा अँगूठों के सिरों के बाहर की ओर आकार-वृद्धि करते हैं। ये नाखून अँगुली अथवा अँगूठे के सिरे तक अधिकतर आठवें मास में पहुँच जाते हैं और जन्म के समय बाहर दृष्टिगोचर हो जाते हैं। परिपक्व नाखून के समान ही, भ्रूण के ये नवनिर्मित नाखून कोष्ठों को पतली, पर कठोर तह—'क्यूटिकिल' से ढँके रहते हैं। अधिकतर जन्म के पूर्व ही नाखूनों पर की यह पतली चादर छील दी जाती है, कभी कभी नवजात शिशु में भी इस चादर के अवशेष दिखलाई पड़ते हैं। इसी अवस्था में अस्थायी प्रकृति वाले दुग्ध-दाँतों के विकासगत दन्त-बीजों में भी वृत्ताकार 'ऐनेमल' की टोपी और उसके नीचे स्थित अस्थि के समान रूप वाली 'दन्तीन' भी प्रथम बार निर्मित होती है।

अपनी प्रकृति के अनुरूप, आन्तरिक अंग अपने रूप और आकार का प्रदर्शन यद्यपि इस समय से पूर्व ही कर देते हैं, परन्तु इस मास में वह आन्तरिक अंग अपने आकार और अपनी सापेक्षिक स्थिति के सम्बन्ध में भ्रूणीय जीवन के प्रवाह के अन्तर्गत, विशेष रूपपरिवर्त्तन दिखलाते हैं। यदि गर्भपिण्डों और भ्रूणों के शरीरों का आकार-चित्रण एक ही ऊँचाई के अनुपात से किया जाय तो इन रूप-परिवर्त्तनों का चित्रीकरण सबसे उत्तम हो (चित्र—२७) इस प्रकार के चित्र-क्रम का सबसे अद्भुत प्रदर्शन शरीर-अक्ष का सीधा होने वाला प्रदर्शन है—गर्भपिण्डीय शरीर, दूसरे मास के प्रारम्भ में, अपने मस्तक के सन्निकट पूँछ को रखते हुए लगभग पूरा एक वृत्त बनाता है; फिर गर्भपिण्ड का मस्तक तीसरे मास की अवस्था में भली प्रकार उन्नत हो जाता है और गर्भपिण्ड का पृष्ठ-भाग कम वक्राकार कर देता है; फिर पाँचवें मास की आयु में गर्भ-पिण्ड का मस्तक नवनिर्मित कण्ठ प्रदेश पर सीधा सन्तुलित होता है, पर पृष्ठभाग अब भी थोड़ा वक्राकार है; और अन्त में जन्म के समय मस्तक पूरी तरह उन्नत तथा सीधा और पृष्ठ भाग भी लगभग पूरा सीधा हो जाता है। यथार्थ में पृष्ठ भाग, प्रसव के समय, उस अवस्था से अधिक सीधा होता है जो बाद में स्वाभाविक रूप से होगी क्योंकि शिशु के बैठना और चलना सीख लेने पर, उसके मेरुदण्ड में दूसरे गौण वक्र आकार प्रगट हो जायंगे जो कि शिशु-शरीर को उसके सन्तुलन में सहायता देते हैं।

उपर्युक्त चित्र-क्रम का उचित अवलोकन यह स्पष्ट कर देगा कि अल्पायु के गर्भपिण्डीय शरीर के वक्राकार होने का
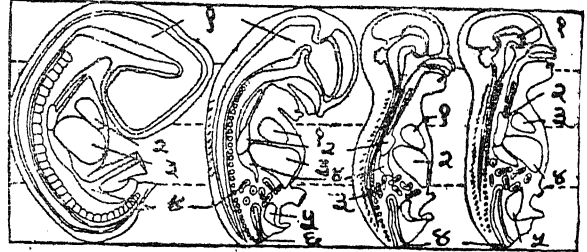
चित्र अ—१ मस्तिष्क २ हृदय ३ यकृत ४ अंतड़ी

चित्र ब—१ हृदय २ फेंफड़ा ३ यकृत ४ आमाशय ५ मूत्राशय ६ गुदा

चित्र द—१ हृदय २ यकृत ३ अंतड़ी ४ गुदा

चित्र स—१ मस्तिष्क २ फेंफड़ा ३ हृदय ४ यकृत ५ मूत्राशय

(चित्र २७) दो मास (अ); तीन मास (ब), पाँच मास (द) तथा नौ मास (स) की आयु के भ्रूणों के चित्र जिनको एक ही ऊंचाई पर लाकर दिखलाया गया है। शरीर के प्रमुख आन्तरिक अंगों को उनकी उचित समस्थिति तथा आकार में दिखलाया गया है।

कारण यह है कि उस अल्पावस्था में शरीर के अग्र भाग में मुख, कण्ठ, उदर प्रदेश तथा वस्ति प्रदेश अनुपस्थित होते हैं जब कि उस समय तक पृष्ठभाग में मेरुदण्ड की स्थापना करने वाले सब (तैंतीस अथवा अधिक) अस्थि-खण्ड उत्पन्न हो चुके हैं; इसी कारण गर्भपिण्डीय शरीर उस अल्पावस्था में अवश्य ही वक्राकार होता है। तीसरे मास में मुखाकृति तथा वक्ष प्रदेश की दीवाल, और पाँचवें मास में कण्ठ, उदर तथा वस्ति प्रदेश की रचना हो चुकने पर भ्रूणीय शरीर परिस्थितिवश सीधा हो जाता है।

चित्रों के उपर्युक्त क्रम की दूसरी विलक्षणता मस्तक प्रदेश की प्रमुख स्थिति में कमी है जिसका कारण मस्तिष्क की कम होती हुई प्रमुखता है। दो मास आयु में मस्तक प्रदेश गर्भपिण्डीय शरीर की पूरी लम्बाई का लगभग आधा भाग घेर लेता है, तीसरे मास की अवस्था में इस लम्बाई का एक तिहाई से कम भाग, और अन्त में जन्म के समय यह मस्तक शिशु के शरीर की पूरी ऊँचाई का एक चौथाई भाग ही घेरता है। मस्तिष्क, यद्यपि अपने भीतरी आकारों में अधिक जटिल होता जाता है तथा आकार वृद्धि भी करता है, परन्तु शारीरिक विकास के अन्तर्गत वह स्थायी रूप से मनुष्य शरीर का कम प्रमुख होता हुआ भाग बन जाता है। मस्तिष्क की इस सापेक्षिक आकार-क्षीणता में पूरे मस्तक की प्रमुख स्थिति के गौण होते रहने का सहयोग भी होता है, परन्तु स्वयं मस्तक के आकार के भीतर, मस्तिष्क के आंतरिक भागों की अपेक्षा, मुखाकृति और विशेषकर जबड़ों का स्पष्टीकरण निरन्तर स्थायी रूप से होता रहता है।

गर्भपिण्ड के धड़ में पृष्ठ भाग तथा उदर भाग की अल्पायु वाली विषम अनुपातीय अवस्था के कारण एक बड़ी विलक्षण घटना घटती है। उस समय के अविकसित उदर प्रदेश के भीतर विकास प्राप्त करते हुए आन्तरिक अंग, बहुत कम स्थान होते हुए भी, अपनी पारस्परिक सापेक्षिक स्थिति को तो उचित रूप से ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु सुविकसित पृष्ठभाग के अभाव में शरीर के भीतर की अपनी स्वाभाविक स्थायी स्थिति से दूर ही स्थित होते हैं (चित्र—२७)। उस आयु वाले गर्भपिण्ड के शरीर में हृदय तथा फेफड़े उस प्रदेश में होते हैं जो कि भविष्य में कण्ठ का आकार प्राप्त करेगा, यकृत, आमाशय तथा गुर्दों के मध्यकालीन आकार, भविष्य में बनने वाले वक्ष प्रदेश के क्षेत्र में स्थित होते हैं तथा गर्भनाल भी भावी 'डायफ्राम' की समस्थिति में स्थित हैं ('डायफ्राम या वक्षोदर मध्यस्थ पेशी वह आकार है जो कि शरीर के धड़ में वक्ष तथा उदर प्रदेशों को अलग करता है) (चित्र—११)। उस अवस्था में उदर प्रदेश तथा वस्तिप्रदेश इतने छोटे आकार के होते हैं कि लगभग अस्तित्वहीन ही प्रतीत होते हैं; फिर जैसे जैसे उदर की दीवाल की रचना होती जाती हैं, वैसे वैसे यह सब अंग अपनी पारस्परिक सापेक्षिक स्थिति को बनाए हुए पृष्ठभाग के सम्बन्ध में निचली से निचली समस्थिति में आते जाते हैं।

इस प्रकार तीन मास की आयु में तो हृदय शरीर के वक्ष प्रदेश में ऊपर की ओर स्थित होता है, और अन्त में जन्म के समय वक्ष-प्रदेश के मध्य में आ जाता है। उधर यकृत तथा आमाशय वक्ष प्रदेश के बाहर खिसक आते हैं और भ्रूणीय जीवन के अन्तिम चार मास में आकार-वृद्धि करके शरीर के उदर-प्रदेश में पहुँच जाते हैं। आन्तरिक अंगों का अपनी स्थिति में—यह धीमा स्थानपरिवर्त्तन, जो कि 'डिसेन्ट आफ़ विसेरा' अर्थात् आन्तरिक अंगों का अवतरण कहलाता है—जन्म के समय तक सब ओर से पूरा नहीं होता है—दृष्टान्तस्वरूप-मूत्राशय तथा गर्भाशय अनेक वर्षों तक उदर से वस्तिप्रदेश में नहीं उतरते हैं। आन्तरिक अंगों के इस अवतरण को शुक्रग्रन्थियों के अवतरण से परिभ्रान्त करना नहीं चाहिए; शुक्रग्रन्थियों का अवतरण बिल्कुल अलग प्रकार का स्थान-परिवर्त्तन है और जन्म के कुछ पहले ही घटित होता है।

मानवशरीर के आन्तरिक अंगों का यह अवतरण, शरीर के भीतर विकास के अद्भुत लक्षणों को जन्म देता है। वक्षप्रदेश तथा उदर प्रदेश में स्थित हृदय और 'डायफ्राम' से सम्बन्ध स्थापित करने वाली स्नायु-नाड़ियाँ अपने केन्द्रीय स्नायु-संस्थान को दूर कण्ठ प्रदेश में ही छोड़ देती हैं तथा फिर वक्षप्रदेश के अन्य अंगों के बीच अपना मार्ग बनाकर अपने लक्ष्य तक पहुँचने के पहले एक फीट या इससे अधिक लम्बा मार्ग पार करती हैं। स्नायु-विकास के इस दुरुपयोग को इस प्रकार समझाया

जा सकता है कि स्नायुनाड़ी का प्रवेश उस समय हुआ था जब कि वह गर्भपिण्डीय शरीर के भावी कण्ठ प्रदेश में स्थित था और फिर स्नायुनाड़ी भी कालान्तर में डायफ्राम के वक्ष प्रदेश में अवतरण होने के समय उस के साथ ही साथ वक्षप्रदेश में खींच ली गई।

गर्भपिण्डीय अवस्था में तो हृदय तथा यकृत इतने प्रमुख आकार के होते हैं कि अन्य अंगों के लिए बहुत कम स्थान छोड़ते हैं, परन्तु भ्रूण के विकास तथा आंतों और मूत्राशय की आकार-वृद्धि के समय हृदय तथा यकृत शरीर के आन्तरिक प्रदेशों में सापेक्षिक रूप से कम स्थान लेते जाते हैं। मेरु-सुषुम्ना, जो गर्भपिण्ड में इतनी विशाल थी कि उस शरीर की चोटी से पूंछ तक फैली हुई थी, इस काल में अपनी आकार-वृद्धि इतनी धीरे-धीरे करती है कि पहले तो भ्रूणीय अवस्था में ही मेरु-दण्ड के निचले भाग से ऊपर खिसक आती है और अन्त में मेरु-सुषुम्ना शिशु-शरीर में उसके उदर-प्रदेश की समस्थिति तक ही पहुँचती है।

पांच मास की आयु वाला भ्रूण, अपनी झुर्रीदार त्वचा के साथ आधासेर भार का लगभग एक फीट लम्बा दुबला पतला जीव होता हैं। यदि इस आयु वाले भ्रूण का जन्म हो (अथवा शब्दार्थ में गर्भपात हो), तो नवजात शिशु कुछ मिनट ही जीवित रह पावेगा, यह केवल थोड़ी सी श्वासें ले सकता है और सम्भवतः वह क्रन्दन भी कर सके परन्तु शीघ्र ही वह शिशु जीवित रह सकने के अपने प्रयासों को त्यागकर निर्जीव हो जाता है। यह भ्रूण यद्यपि अपने हाथ-पैरों को भली प्रकार हिला डुला सकने योग्य होता है, परन्तु उन पेचीले गतिसंचालनों को, जो कि स्थायी श्वास निश्वासन के लिए आवश्यक हैं, बनाए रखने में वह असमर्थ प्रतीत होता है। इस आयु के भ्रूण में सम्भवतः मस्तिष्क स्नायु-सम्बन्धी व्यवस्था, तथा फेफड़ों आदि की कोई कार्य-संचालक योग्यता इतनी पूर्ण विकसित नहीं होती है, कि अकालप्रसव के शिशु को जीवित रख सके।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१ – **विज्ञान प्रवेशिका, भाग १**—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक – ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम०.एस.सी०; ।=)

२—**चुम्बक**—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक – ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी० ; मू० ।।।=)

३—**मनोरञ्जन रसायन**—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी०; २)

४—**सूर्य सिद्धान्त**—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान-भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—**वैज्ञानिकों परिमाण**—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहाल-करण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—**समीकरण मीमांसा**—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—**निर्णायक (डिटमिनैंट्स)** गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपाल कृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी०; ।।।)

८—**बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित**—इंटर-मीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—**वर्षा और वनस्पति**—लोकप्रिय विवेचन – ले० श्री शंकरराव जोशी ; ।=)

१०—**सुवर्णकारी**—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—**विज्ञान का रजत जयन्ती अंक**– विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—**व्यङ्ग-चित्रण**—(कार्टून बनाने की विद्या) - ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृष्ठ, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—**मिट्टी के बरतन**—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—**वायुमंडल**—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०-डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—**लकड़ी पर पालिश**—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन । ले०-डा० गोरख-प्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३१ चित्र, सजिल्द; ५) (अप्राप्य)

१६—**कमल पेवंद**—ले० श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—**जिल्दसाजी**—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम० ए० सजिल्द, २)

१८—**तैरना**—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है । ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—**सरल विज्ञान सागर प्रथम भाग**—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद । बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया, सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भरतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है । सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—**वायुमण्डल की सुक्ष्म हवाएं—ले०—डा०** सन्तप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—**खाद्य और स्वास्थ्य—ले०—डा०** ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२२—**फोटोग्राफी**—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—**फल संरक्षण**—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा जैम, जेली, शरबत अचार, चटनी सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक – ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—**शिशु पालन**—लेखक-श्री मुरलीधर बौड़ाई । गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन । मूल्य ४)

२५—मधुमक्खी पालन—द्वीतीय संस्करण। ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा; मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—घरेलू डाक्टर—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी० घोष, एम० बी० बी० एस०, डी० टी० एम०, प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच०, डी, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी, बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। १५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक-एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

नवीन पुस्तकें

२८—फ़सल के शत्रु—लेखक श्री शंकर राव जोशी मू० ३॥)

२९—साँपों की दुनिया—ले० श्री रामेश वेदी मू० ४)

३०—पोर्सलीन उद्योग—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस मू० ॥)

३१—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ— मू० २)

३२—गर्भस्थ शिशु की कहानी—ले० मारग्रेट शी गिल्बट (अनु० प्रो०नरेन्द्र) मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:-

१—साबुन-विज्ञान—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिसमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियाँ हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखेभी दिये गये हैं। लेखक-श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेकनोलोजिस्ट एसोसिएशन आफ इंडिया

२—भारतीय वैज्ञानिक—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियाँ—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ३८० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३॥) अजिल्द ३)

३—वैक्युमब्रेक—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों, इंजन-ड्राइवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३१ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७५ | कन्या २००६; सितंबर १६५२ | संख्या ६

प्रचार या निर्माण

विज्ञान के स्तंभों में जब-तब लेखकों, सभ्यों, पाठकों तथा अन्य हिन्दी प्रेमियों को उद्बोधन रूप में कुछ सम्पादकीय, विज्ञप्तियाँ आदि निकालनी पड़ती हैं। अतएव यह स्वभावतया ही मन में प्रश्न उठता है कि किन्हीं नवीन विषयों या प्राचीन वैज्ञानिक गुत्थियों के नवीन सुझाव आदि के संबंध में विवरणात्मक, व्याख्यात्मक अथवा बोधगम्य संक्षिप्त या विस्तृत परिचयात्मक निबंध ही सदा प्रकाशित क्यों नहीं होते रहते हैं? कुछ जानकारी बढ़ाने या नवीन विद्या सिखाने के साहित्य को प्रस्तुत करने के स्थान पर ये विज्ञापनात्मक निबंध, सम्पादकीय आदि गए दिन क्यों प्रकाशित हो पड़ते हैं अर्थात् वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण की जगह यह प्रचार-कार्य क्यों अंगीकार किया जाता है? हम भी कभी कभी इन्हीं दृष्टिकोणों से, अपने पाठकों की ही भाँति सोचते हैं किन्तु सोच-समझ कर भी हमें निर्माण या प्रचार में से कोई एक मार्ग ग्रहण करना पड़ता है।

नवीन-साहित्य निर्माण की आवश्यकता पर तो किसी को कुछ सन्देह करने का अवसर ही नहीं मिल सकता, परन्तु हम प्रचार पक्ष पर तनिक दृष्टिपात करना भी समीचीन समझते हैं। अभी पिछले महायुद्ध ही में हमने जर्मन राजनीतिज्ञ गोबेल्स का बड़ा नाम सुना था। जर्मनी ने जहाँ असि-चर्मभेदी टैंकें, भयानक तोपें, द्रुतगामी वायुयान, भयानक बमवर्षक ज़ेपलिन, महानाशकारी पनडुब्बे तथा अगणित सामरिक योद्धा अपनी युद्ध-शक्ति अजेय करने के लिए सुसज्जित कर रखे थे, वहाँ गोबेल्स पत्रों, रेडियो-संवादों तथा सभी सुलभ समाचार-प्रचारक साधनों को हस्तगत कर विश्व भर में अपनी अजेय सामरिक शक्ति तथा भारी विजय-श्री का ढोल पीटपीट कर कभी क्लान्त होता दिखाई नहीं पड़ता था। जर्मन-समर-नेताओं की रण-नीति या कुशलता के संबंध में हम कुछ तर्क-वितर्क करने नहीं बैठे हैं, हमारा तो इस प्रसंग के छेड़ने का यही अभिप्राय है कि अपनी भयानक अस्त्र शस्त्र तथा रणोन्मत्त योद्धाओं की तैयारी के साथ साथ भयानक प्रचार-कार्य का साधन भी प्रस्तुत रखना जर्मन नेताओं को अत्यावश्यक जान पड़ता था।

अपने दैनिक जीवन में भी हम प्रचार कार्य को आमरण सम्बंधित पाते हैं। जब नवजात शिशु का माता की कोख से भूमि पर अवतरण होता है और शिशु की श्वास क्रिया संचारित हो उठती है उसी समय माता, पिता, सगे

संबंधी सभी उत्फुल्लित हो उठते हैं। अपने आह्लाद को वे स्वयं अपने तक ही सीमित न रखकर बाह्य जगत में प्रचारित करने के लिए उद्विग्न हो उठते हैं। प्रचार कार्य के लिए उपयुक्त वाद्य उपकरणों के अभाव में घर की थाली ही लेकर वे घर भर में बजा आते हैं। अवसर मिलते ही द्वार पर बधाई बजने का उच्च स्वर सुनाई पड़ता है मांगलिक गायन होता है। विवाह संस्कार के समय उच्च स्वर में वाद्य यंत्रों की तुमुल ध्वनि एवं मरण काल में 'रामनाम सत है' की ऊँची पुकार भी जीवन या मरण के प्रचार ही हैं।

इन कतिपय ज्वलंत उदाहरणों से हम प्रचार कार्य की महत्ता देखते हैं। विज्ञापनबाजी का बाजार में बहुत अधिक बोल बाला और दुरुपयोग भी हम अवश्य देखते हैं, अतएव इसका अनियंत्रित उपयोग ही समीचीन नहीं कहा जा सकेगा, फिर भी इस की भारी उपयोगिता को भूला नहीं जा सकता। जब कोई विशेष व्यक्ति किसी एक उद्देश्य की पूर्त्ति में संलग्न होता है तो उसका ज्ञान हमें कभी कभी ही हो पाता है। उसकी जानकारी में समय भी लगता है और कुछ सीमित स्थलों के सीमित संख्या के लोग ही उस उद्देश्य की जानकारी कर पाते हैं, परन्तु वही कार्य जब कोई सामूहिक रूप धारण कर लेता है, अनेक लोग एक ही उद्देश्य लेकर उसकी पूर्ति में लग जाते हैं, अपने प्रयत्नों को वे एक सुव्यवस्थित सामूहिक रूप देने के लिए एक मंडली बना लेते हैं, उसके लिए कुछ सामूहिक ही रूप से धन, स्थान आदि का प्रबंध कर लेते हैं तो हम उसे संस्था का नाम दे देते हैं। इसके उचित नाम धाम, उद्देश्य आदि का प्रचार ढंग से होने लगता है। व्यक्तियों का लोप हो जाता है। परन्तु मानवता लुप्त नहीं होती। उसी प्रकार आंशिक सत्य रूप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति मृत होते हैं, परन्तु सामूहिक प्रयत्न या उद्देश्य-साधन रूप में संस्थाओं का अंत नहीं होता। अर्थात एक सदुद्देश्य के पूर्ण करने की सामूहिक भावना हमें जीवित रूप में ही दिखाई पड़ सकती है। यह भले ही हो कि किसी विशेष मंडली या नाम-धाम वाली संस्था छिन्न भिन्न हो जाय परन्तु समाज में वह भावनाएँ काम करती ही रहती हैं जो कहीं किसी दूसरे रूप में मूर्त रूप धारण कर किसी विशेष संस्था का बीज-वपन करा सकती हैं। अतएव हम उसे एक सदुद्देश्य के पूर्ण करने के प्रयत्नों का एक शाश्वत रूप ही कह सकते हैं। इन कारणों से व्यक्तिगत प्रयत्नों की अपेक्षा सामूहिक प्रयत्न सदा ही अधिक ग्राह्य होने चाहिए। सामूहिक प्रयत्न या संस्था में ज्वार-भाटे की भाँति कार्यतत्परता या शिथिलता की अवधि आगे पीछे आती दिखाई पड़ती है। शिथिलता का कोई काल चल रहा हो, उस समय कोई एक या अनेक कर्मठ कर्मी या कर्मियों का दल अपने उत्साह वेग से आता है और उस म्रियमाण संस्था में प्राण फूँक कर उसके उद्देश्यों को वेगपूर्ण आगे बढ़ाने का आयोजन कर जाता है। अतएव संस्था जीवित रहती है।

ऐसे अवसरों के उपस्थित करने के लिए संस्था के सदा प्रचार-कार्य में संलग्न रहने की आवश्यकता रहती है। मालूम नहीं प्रचार की सतत पुकार किस समय किस उदार वीर कर्मियों की मंडली के कर्ण-कुहर में जा पड़े और वे अतिकाल से उपेक्षित संस्था में प्राण-प्रतिष्ठापन के अपने उत्साह को अर्पित कर उसकी उद्देश्य-पूर्त्ति का कार्य बहुत आगे बढ़ा लेवें। क्या यह सम्भव है कि विज्ञान-प्रचार की राष्ट्र की अनिवार्य आवश्यकता को आपने भी अनुभूत किया हो और अपनी अभूतपूर्व शक्तियों से किसी भी नाम धाम वाली वैज्ञानिक संस्था को अपना सदुद्योग पूर्णतः अर्पित करने का संकल्प कर रहे हों ? यदि ऐसा हो तो प्रचार की पुकार सद्यः फलदान करती दिखाई पड़ सकती है। यदि नहीं, तो भी हमें खिन्न होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि संस्थाएँ या सामूहिक प्रयत्न शाश्वत होते हैं। कर्मठ कर्मिवर्ग ही नए नए आते रहते हैं, हमारे इन उद्योगों में ऐसे कर्मठ कर्मी कब आते हैं इसकी हम भविष्य में उत्कंठा पूर्वक प्रतीक्षा ही करते रहेंगे।

अंजीर का परागण

डा० ब्रह्मस्वरूप मेहरोत्रा

पुष्पों का परागण वनस्पति विज्ञान का एक विचित्र प्रसंग है। लेखक ने नयनाभिराम चित्र दे कर अंजीर के परागण का विशद वर्णन प्रस्तुत लेख में अंकित किया है।

बीज उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि परागकण परागाशयों (anthers) से कुक्षि (Stigma) तक स्थानान्तरित हों। परागकणों के इस स्थानान्तरण को परागसंक्रमण या परागण (Pollination) कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—प्रथम स्वयं-परागण (Self-pollination), द्वितीय अपर परागण (cross-pollination)। स्वयं परागण में पराग-कण परागाशयों से किसी प्रकार उसी पुष्प की कुक्षि या कुक्षियों तक संक्रमण हो जाते हैं। अपर-परागण में परागकण भिन्न साधनों से अन्य-पुष्पों की कुक्षि या कुक्षियों तक संक्रमण होते हैं—ये पुष्प या तो उसी पादप पर या उसी जाति के भिन्न पादपों पर हो सकते हैं। स्वयं-परागण के विपरीत अपर-परागण द्वारा जो बीज बनते हैं वे संख्या में अधिक और भारी होते हैं और इन बीजों से शक्तिशाली संतान उत्पन्न होती है। पादपों में अपर-परागण भिन्न अभिकर्त्ताओं द्वारा सिद्ध होता है जिनमें से वायु, जल और कीटाणु विशेष स्थान रखते हैं।

पुष्पों और कीटाणुओं के जितने सम्बन्ध हैं उनमें से अति तीव्र अंजीर और उसके वरट-दर्शकों (wasp-visitors) का है। यह इतना उलझा हुआ है कि लोगों को इसकी वास्तविकता में संदेह होने लगता है।

अंजीर की खोज प्रागैतिहासिक (prehistoric) है लेकिन यह सभी जानते हैं कि इनका प्रयोग ईडन के बाग (Garden of Eden) में भी हुआ और यह २००० या उससे भी अधिक ईसवी पूर्व में यूनान की दीवारों पर चित्रित थी। इसकी अधिकता के कारण ही अंग्रेजी के इस मुहावरे का जन्म हुआ "He does not care a fig'। फाइकस (Ficus) की ६०० जातियों में से मेडीटरेनियन देशों की भक्ष्य-अंजीर (edible fig) सबसे अधिक विख्यात है। पूर्व काल में यह वन्य-अंजीर (wild-fig), फाइकस कैरिका (Ficus carica) द्वारा प्रतिरूपित थी। यह अब भी इटली के कुछ भागों में पाई जाती है। इसके कर्षण (cultivation) का प्रारम्भ तुरीय (quaternary) काल से हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृष्ट अंजीर (cultivated fig) का उद्भव वन्य-अंजीर से हुआ, जो प्रायः झाड़ी के रूप में होती है।

अंजीर के परागण का ठीक ज्ञान हमें सोम्स-लौबेक (Solms-Lauback, 1882) और सिर्च तथा रेवेसिनी (Tschirch and Ravasini, 1911) की की खोजों से हुआ। कृष्ट अंजीर (cultivated fig) की परागण क्रिया को समझने के पहले हमें वन्य-अंजीर के परागण का ज्ञान होना उचित है।

(अ) वन्य अंजीर की परागण-कथा

अंजीर में अनेक क्षुद्र एकलिंगी पुष्प (unisexual flowers) एक सुषिर (hollow) पुष्पन-अक्ष (inflorescence axis) के अन्दर होते हैं। बाहर को यह एक उपसंकोच अग्र रन्ध्र (Pore) द्वारा खुलती है। जिन्हें हम अंजीर के फल कहते हैं, वे वास्तव में उसके सुषिर, मांसल पुष्पन हैं। इसका वह भाग जिसे

हम बड़ी रुचि से खाते हैं वह चषक-रूप पुष्प-वृन्त है। प्रौढ़ होने पर इसके अन्दर अनेक क्षुद्र फलों का निर्माण होता है—जिन्हें लोग साधारणतः "बीज" कहते हैं।

एक वर्ष में वन्य-अंजीर में तीन प्रकार के पुष्पन (inflorescences) होते हैं। इनके चषक-रूप पुष्प-वृन्तो में एक या अधिक चार भिन्न प्रकार के क्षुद्र पुष्प हो सकते हैं।

(१) पुं-पुष्प (male flowers) जो प्रायः रन्ध्र (pore) के निकट होते हैं और इनमें ३ से ५ तक पुंकेसर हो सकते हैं। इनसे पीले नारंगी रंग के पराग-कण उत्पन्न होते हैं।

(२) अवन्ध्य स्त्री पुष्प (Fertile female flowers) प्रत्येक से एक बीज विकसित होता है।

(३) वन्ध्य स्त्री पुष्प (Sterile female flowers) इनसे बीज उत्पन्न नहीं होते।

(४) "गौल" पुष्प (Gall flowers) क्षुद्र गौल-वरट (Gall wasp) अण्डे देने के लिए विशेषतः उपयोजित होते हैं। इन पुष्पों में एक विवृत कुल्या (open canal) वाला क्षुद्र कुक्षिवृन्त (Short style और एक अण्डप होता है। यह अण्डप (ovule) बीज निर्माण के लिए अनिवार्य होता है।

वर्ष भर की तीन प्रकार की पुष्पनें निम्नलिखित हैं:—

प्रथम जिन्हें 'प्रोफिसी' (profichi) कहते हैं वसन्त ऋतु में उत्पन्न होती हैं। इनमें छिद्र के नीचे ही पुं-पुष्प और उनके नीचे "गौल" पुष्प होते हैं। कुछ क्षुद्र स्त्री-वरट (female wasps), ब्लास्टोफेगा ग्रोसोरम (Blastophaga grossorum), पुष्पन में रेंग कर पहुँच जाती हैं जहाँ वे प्रत्येक "गौल" पुष्प में एक अण्डा देती हैं और उन्हीं "गौल" पुष्पों में वे अण्डे अन्त में बाल-वरट (young wasps) में परिवर्तित हो जाते हैं—इसी से हमें वरटों की क्षुद्रता का भी अनुमान लग सकता है। इतना होते हुए भी, यह बड़े आश्चर्य और प्रशंसा का विषय है कि अंजीर की कृषि करने वालों ने अपनी तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति से ४०० ई० पू० के लगभग ही इनका पता लगा लिया था। अंजीर के अन्दर के बाल वरटों में से कुछ पुं-वरट (male wasps) होते हैं जो पीले-भूरे-रंग के और पक्ष हीन होते हैं। वे अपने आश्रय स्थान से अपना मार्ग काटते हुए और फिर "गौल" पुष्पों के बीज-स्थानों की भित्ति को भेदन कर उनमें प्रवेश करते हैं। इनमें उस समय तक स्त्री-वरट (female wasps) बन्द रहती हैं। पुं-वरट इनको
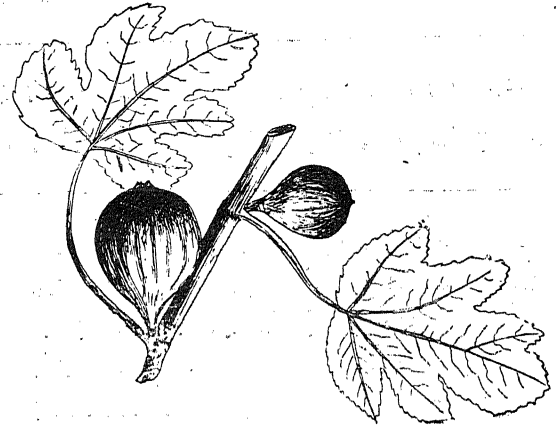
चित्र १ : अंजीर के पादप की एक शाखा।
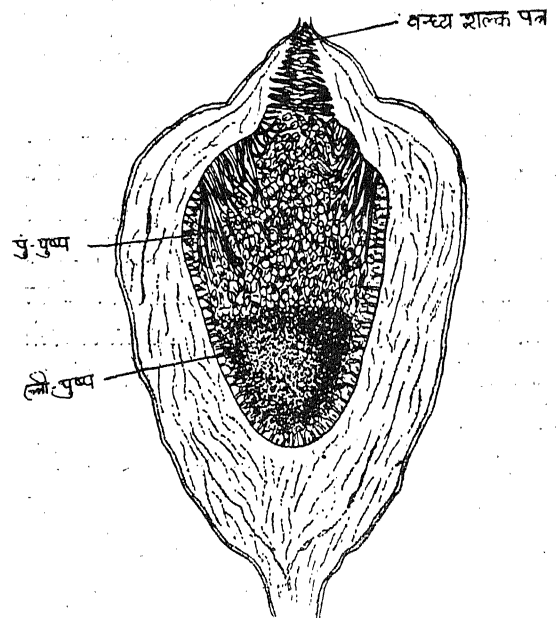
चित्र २ : अंजीर के पुष्पन का एक अन्वायाम छेद।

"गौल" पुष्पों के अन्दर ही निषिक्त (inseminate) करते हैं और तत्पश्चात वे मर जाते हैं। स्त्री-वरट पक्ष-

वत् होते हैं और उनकी पश्च काय चमकती हुई होती है। ये निषिक्त (imseminate) होने पर अपने आश्रय-स्थान से सर्पण (Creep) कर पकती हुई अंजीरों के बाहर रेंगने को प्रस्तुत होती हैं। इसके लिए उन्हें पुं-पुष्पों (Male flowers) के मध्य से निकलना होता है जिसके फलस्वरूप वे परागकणों से धूलित (dusted) हो जाती हैं। यद्यपि इन वरटों (wasps) के दो युग्म पक्ष होते हैं फिर भी वे अधिक नहीं उड़तीं। इसके विपरीत वे झाड़ी के इधर उधर द्वितीय प्रकार के पुष्पनों की खोज में घूमती रहती हैं।

अब तक मई माह का अन्त समीप पहुँचता है और ग्रीष्म ऋतु की अंजीरें या "मैमोनी" (Mammoni) विकसित होने लगती हैं। "प्रोफेसी" (Profichi) के विपरीत इनमें ("मैमोनी") न तो "गौल" पुष्प, न पुं-पुष्प होते हैं पर केवल सामान्य स्त्री-पुष्प होते हैं। स्त्री-वरट अंजीर में प्रवेश तो कर जाती है पर वहाँ उनको अण्डे देने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। अण्डे देने के विपरीत इन अंजीरों के स्त्री-पुष्पों को वे अपने पक्षों पर के परागकणों द्वारा परागित करती हैं। इसके फल स्वरूप इन पुष्पों में बीजों का विकास होता है; पुष्पन मांसल और भक्ष्य हो जाते हैं। यह अंजीरें इटली में सेप्तेम्बर माह के अन्त तक पक जाती हैं।

वन्य अंजीर की तृतीय कृषि के पुष्पनों को "मैमी" (Mamme) कहते हैं। इनमें केवल "गौल" पुष्प होते हैं। स्त्री वरट इन पुष्पनों में प्रवेश कर प्रत्येक कूट पुष्पों (Pseudoflowers), अर्थात् "गौल" पुष्पों, में एक अण्डा देती हैं। इन्हीं में जातक-वरट (Larval wasps) शीत ऋतु का समय व्यतीत करते हैं और पहले की भाँति निषिक्त स्त्री-वरट (Fertilized female wasp) वसन्त ऋतु में रेंगकर बाहर आती हैं। (चित्र ३: १ क से ग तक)

सारांशः

पुष्पन (१) "प्रोफेसी" वसन्तऋतु	पुं-पुष्प + "गौल" पुष्प	
(२) "मैमोनी" ग्रीष्मऋतु	केवल स्त्री-पुष्प	केवल इनमें फल ही निर्माण होता है।
(३) "मैमी" शरद्-शीत ऋतु	केवल "गौल" पुष्प	
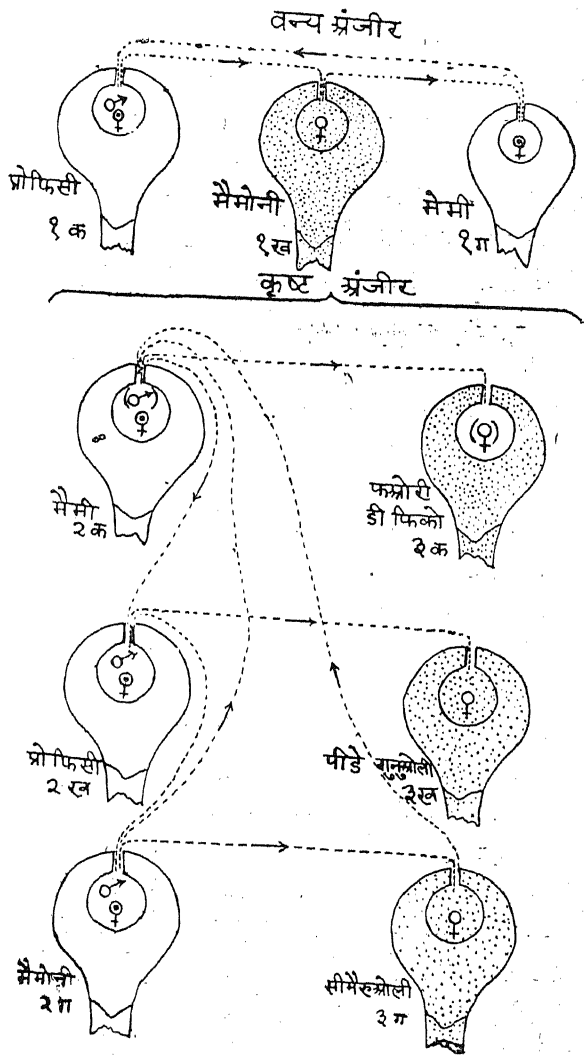
चित्र ३ : अञ्जीर का पुष्प प्रबन्ध और परागण कथा का एक रेखिचित्र निरूपण।

१ क से ग तक : वन्य अंजीरें

२ क से ३ ग तक : कृष्ट अंजीरें

विन्दु अंकित अंजीरें (Dotted Figs) फल निर्माता अंजीरें हैं।

(अ) कृष्ट अंजीर की कथा (Story of the cultivated fig)

कृष्ट अंजीर (cultivated fig) के दो रूप होते हैं: (१) फल निर्माता अंजीर (Fruit forming fig) जिसे फाइकस केरिका डोमेस्टिका (Ficus carica domestica ; और (२) "गोट" अंजीर (Goat fig) जो फल निर्माण नहीं करतीं—उन्हें फाइकस केरिका केप्रीफिकस (Ficus carica caprificus) या साधारणतः "केप्रीफिग" (caprifig) कहते हैं। दोनों प्रकार की अंजीरों में वर्ष भर में तीन बार पुष्पन (iuflorescences) विकसित होते हैं।

फलनिर्माता अंजीर में केवल स्त्री-पुष्प (Female flowers) होते हैं जिनमें वसन्त ऋतु की पुष्पनों के पुष्प बन्ध्या (Sterile) होते हैं। 'गोट' अंजीरों में केवल पुं-और "गौल" पुष्प ही होते हैं।

'गोट' अंजीरों के शीत ऋतु के पुष्पनों ("मैमी") से वसन्त ऋतु में निषिक्त स्त्री-वरट निकलती हैं जो 'गोट' और फल-निर्माता अंजीरों के पुष्पनों में प्रवेश करती हैं। गोट अंजीरों ('प्रोफिसी') में वे अण्डे देती हैं पर फल-निर्माता अंजीरों ('फग्रोरी डी फिको') के पुष्पों के बन्ध्या होने के कारण इनमें स्त्री-वरटों (Female wasps) का प्रवेश करना व्यर्थ ही जाता है। कूट-फल (Pseudo fruits) भक्ष्य तो होते हैं पर प्रायः ऐसे ही गिर जाते हैं।

वसन्त ऋतु के 'गोट' अंजीरों से परागकण धूलित (pollen dusted) और पहले की भाँति निषिक्त (inseminated) स्त्री-वरट जून माह में निकलकर 'गोट' और फलनिर्माता अंजीरों के ग्रीष्म ऋतु के पुष्पनों में प्रवेश करती हैं। इन 'गोट' अंजीरों ("मैमोनी") में केवल अण्डे ही देती हैं, पर फल-निर्माता ('पीडेगनुओली") अंजीरों में स्त्री-वरट को अण्डे देने का कोई स्थान नहीं होता। इनमें वे अवन्ध्य स्त्री-पुष्पों (fertile female flowers) को अपने पक्षों पर के परागकणों द्वारा परागित करती हैं और यही अंजीरें भक्ष्य अंजीरों की मुख्य खेती है।

इसके अतिरिक्त अंजीर की तृतीय खेती भी होती है। "गोट" की ग्रीष्म ऋतु की अंजीरों से निषिक्त स्त्री-वरट निकलते हैं वे या तो 'गोट' अंजीर की शीत ऋतु की अंजीरों में प्रवेश कर अण्डे देती हैं या फल-निर्माता अंजीरों की शरद्-शीत ऋतु के पुष्पनों ("सिमैरुओली") में प्रवेश कर स्त्री-पुष्पों को परागित (pollinate) करती हैं जिसके फल स्वरूप भक्ष्य-अंजीर (edible fig) का निर्माण होता है। (चित्र ३: २ क से ३ ग तक)

अंजीर की परागण कथा से हमें उसके दो अधिक विलक्षण तथ्य (facts) प्रगट होते हैं—प्रथम, वरट और अंजीरों का तीक्ष्ण सम्बन्ध और द्वितीय, एक वन्य पूर्वज (wild-ancestor) से अंजीर के दो कृष्ट रूपों (cultivated flowers का उद्भव। फल निर्माता अंजीरों में यद्यपि आवश्यक स्त्री पुष्प तो होते हैं पर 'गौल" पुष्पों की अनुपस्थिति के कारण वरट इनमें अण्डे नहीं दे पाती इसलिए उसकी संतति को प्रचलित रखने के लिए 'गोट' अंजीरों का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, सब से अधिक लाभप्रद अंजीर की कृषि के लिए भी 'गोट' अंजीरों का होना अनिवार्य है क्योंकि उन्हीं से पराग कणों का निर्माण होता है और इनको स्त्री-पुष्पों तक पहुँचाने के लिए वरटों की उपस्थिति भी आवश्यक है। यद्यपि फल-निर्माता अंजीरों के साथ 'गोट' अंजीरों को लगाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है और हमें यह भी मालूम है कि कैलीफोर्नियाँ की 'मिर्ना' अंजीरें तब तक सफल नहीं हुईं जब तक उनके निकट गोट अंजीरों के पादप न लगाये गये, फिर भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि इटली में केप्रीफिकेशन (caprification) अर्थात् भक्ष्य अंजीरों के निकट केपरी 'अञ्जीरों के बोने की प्रथा न होते हुए भी उनमें फल-निर्माण होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि उत्तरी इटली की यह अंजीरें अपराग-फलित (Parthew genetic) हो गई हैं इन अंजीरों में एक रोचक बात यह है कि यद्यपि यह फूली हुई और खाने में स्वादिष्ट होती हैं पर वे बहुत दिन तक टिक नहीं पातीं।

मनुष्य की परिभाषा

श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी०

लेखक ने मानव-विकास के वैज्ञानिक पहलू पर मनोरंजक रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। लेख तथ्यपूर्ण तथा रोचक है।

मनुष्य जब अपने चारों ओर नजर फैलाता है तब उसे अन्यान्य प्राणी दृष्टि-गोचर होते हैं। वह अपनी दार्शनिक बुद्धि की प्रेरणा से सोचने लगता है कि किसने दुनियाँ में इन सब जीवों को उत्पन्न किया। उनमें मनुष्य वर्ग को ही क्यों प्राणियों में श्रेष्ठ और सौन्दर्य से विभूषित किया। जब उसकी तर्कमय बुद्धि इन सब बातों की कल्पना करते-करते थक जाती है तो वह एक ही निश्चय पर आता है—"भगवान ने इन सब जीवों की रचना की।" भागवत में भी इसका विवरण मिलता है। पहले विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। उसी कमल में तो ब्रह्मा जी को पांच तत्वों का बोध हुआ। इन्हीं पांच तत्वों के आधार पर ब्रह्मा ने सब से पहले मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। यह हो सकता है कि 'मनु' से ही 'मनुष्य' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। बाइबिल में यह कहा जाता है कि सबसे पहले भगवान ने प्रकृति के नन्दन कानन में आदम और इव्स को जन्म दिया और दोनों के संयोग से मनुष्य जाति का विकास हुआ। कुछ विद्वानों ने मनुष्य की परिभाषा दलील देने वाला जीव, धार्मिक जन्तु, बोलने वाला प्राणी और हथियार बनाने वाला कहा है। अधिक विचारवान मनुष्य से पूछा जाय तो मनुष्य को बिना पूंछ का बन्दर कह कर चुप्पी मार लेता है। ये उपरोक्त परिभाषायें मनुष्य के अस्तित्व का पूरा परिचय नहीं देती हैं। निखातक मनुष्य को हम अन्वेषण के रूप में दो प्रकार की खोजों से प्राप्त कर सकते हैं—(१) आर्कियालाजिकल खोज और (२) भौमिक खोज। हम इन दोनों के सहयोग से तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक रीतियों से तर्कानुसार मनुष्य की परिभाषा' का विवरण देने की कोशिश करते हैं। इसके पहले कि हम मनुष्य की परिभाषा दें, मानव विकास का स्थल तथा उनकी जाति का थोड़ा परिचय देना चाहते हैं। इनमें उल्लेखनीय ये हैं:—

आदि मानव (Pithecanthropus) सन् १८८२ में डुबाय (Dubois) ने जावा द्वीप में सोलो नदी के किनारे स्थित ट्रीनील शहर से पिथेकेनथ्रापस स्तर में एक अभंग खोपड़ी की खोज की। इसी स्तर के नाम से ही, उस आदमी का नाम पड़ा। यह जीव भूकाल के अतिनूतन युग में रहता था। इसकी खोपड़ी की टोपी ०.१८५ मान लम्बी और ०.१३० मान चौड़ी है तथा इसकी शैर्ष सूची ७० है। इसके बुद्धि कोष का आयतन ८५० घन० से० मी० है।

करोटि के छत की हड्डियाँ एक दूसरे से इतनी मिल गई हैं कि सीमन्त लकीरें अदृश्य हो गई हैं। यह जीव पूर्ण रूप से सीधा खड़ा नहीं हो सकता था। इसी प्रकार के बानर-जाति की खोपड़ी भारत के शिवालिक पहाड़ियों में मिलती है जिनके नाम शिव-बानर प्रजाति (Sivapithecus) ब्रह्म-बानर प्रजाति (Bramhapithecus), राम-बानर प्रजाति (Ramapithecus), सुग्रीव बानर प्रजाति (Sugrivapithecus) तथा द्राविड़ बानर प्रजाति (Dryopitpecus) हैं। इसी प्रकार के अवशेष नर्मदा के किनारे (हुशंगाबाद के नजदीक) मिलेंगे क्योंकि ग्रन्थों में मनुष्य के उद्भव का प्रथम स्थान नर्मदा का किनारा ही बतलाया गया है।

उदायेर मानव—(Eoanthropus) आदि-मानव के समकालीन उदायेर मानव की खोपड़ी सन् १६११ में ससेक्स में स्थित पिल्टडाउन में मिली है। इसके बुद्धि कोष का आयतन ११०० घन० से० मी० है। वर्तमान मनुष्य के समान इसकी भी की हड्डी उभरी हुई नहीं थी तथा ललाट सपाट और गोल था। इसके सिवाय बानर-सम ठुड्डी, नुकीले दांत और लम्बा चेहरा था।

नीयंडरथल मनुष्य—इस मनुष्य की खोपड़ी की शैर्ष सूची ७७ है तथा बुद्धि कोष का आयतन ११०० से १६०० घन० से० मी० है। इसी मनुष्य के साथ ही पाषाण युग की सभ्यता का उदय हुआ। इसका चेहरा बानरों के चेहरे के समान लम्बा तथा आंखें दूर-दूर पर स्थित थीं।

पेकिंग आदि मानव (Sinanthropus) यह मनुष्य भी चीन में स्थित पेकिंग के नजदीक रहता था। जिस तरह आदि-मानव और उदायेर मानव समकालीन थे उसी तरह नीयडरथल मनुष्य और पेकिंग आदि-मानव समयुगी थे। ये हिमानी काल के आरंभ में रहते थे।

क्रोमेगनन मानव (Cro-magnon man) यह होमी सेपियंस परिवार में गिना जाता है। पाषाण युग की सभ्यता के साथ ही कई जातियों की उत्पत्ति हुई। इनमें प्रमुख क्रोमेगनन मानव तथा हिडेलबर्ग मनुष्य था ये मनुष्य वर्तमान मानव समाज के पास के पूर्वज हैं। इनके बुद्धि कोष का आयतन २१०० घन० से० मी० है। इसी पाषाण युग की सभ्यता के समय मनुष्य-जाति का दो शाखाओं में विकास हुआ। एक शाखा वर्तमान वानरों के सामानान्तर ही विकसित हुई और जीवन-युद्ध में न टिकने के कारण विलीन हो गई। दूसरी शाखा ने जीवन युद्ध का बहादुरी के साथ सामना किया और उद्भव का प्रथम नेता बना जिनके प्रतीक हम सभी हैं।

इनके सिवाय हम दो शब्द उन वानर-सम-मनुष्य या मानव-सदृश-वानरों के बारे में बतला देना चाहते हैं जिन्हें विद्वानों ने उलझनों से गुत्थित समझकर अप्राप्य अनुमानित अवस्था कहा है। इनमें उल्लेखनीय ये हैं:—

आस्ट्रेलोपिथेकस आफ्रिकनस (Australopithecus africanus) प्रोफेसर रेमंड डार्ट ने सन् १६२४ में बचुवाना (Bechuana) देश के टांग्स (Taungs) से प्राप्त शिशु वानर सम प्राणी के निखातक अवशेष को आस्ट्रेलोपिथेकस आफ्रिकन्स नाम दिया है। इसके बुद्धि कोष का आयतन ८१० घन० से० मी० है। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्राणी बोल सकता था क्योंकि डा० ई० आई० ह्वाइट के अनुसार एक दो वर्षीय बालिका जिसके बुद्धि-कोष का आयतन ६५० घन० से० मी० है बोलने में समर्थ है। यह जीव भूकाल के प्रातिनूतन युग में रहता था। यह जीव सीधा चलता था जो चूतड़ की हड्डी से पता लगता है। यह आग का उपयोग करना जानता था।

इसी तरह सन् १६३६ में डा० राबर्ट ब्रूम ने मध्य ट्रांसवाल की गुफा से निखातक अवशेष प्लेशियनथ्रापस और पैरानथ्रापस का वर्णन किया है।

वर्तमान मानव समाज:—दुनियां के हर महाद्वीप में वर्तमान मानव समाज भिन्न है। इसका अवलोकन हम चीन, भारत, पश्चिमी युरोप और अफ्रिका के मानव समाज से कर सकते हैं। यदि इन सब जीवों के निखातक अवशेष भविष्य के आने वाले युग में मिले तो इसका मतलब यह नहीं कि इनका प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न दिशा में हुआ है। इन सबका कारण भौगोलिक परिस्थिति और जलवायु पर निर्भर है। लेखक का अनुमान है कि आने वाले युग में मनुष्य के सिर में बाल नहीं रहेगा क्योंकि उद्भव की श्रेणी में मनुष्य में गंजापन शुरू हो गया है तथा वर्तमान मानव समाज बाल रहित रहने में अपना श्रेय समझता है।

मानव का विकास-स्थल:—यह विषय विवाद-जनक है। मुख्यतः इसके दो मत हैं— १ कुछ मताधिकार दक्षिण आफ्रिका को मानव के उद्भव का स्थल मानते हैं। (२) दूसरे मतवाले मध्य एशिया को मनुष्य के उद्भव की प्रयोगशाला कहते हैं। यहां पर हम दोनों पक्षों की राय प्रगट कर देते हैं। यह पाठकों पर निर्भर है कि वे किस पक्ष का समर्थन करते हैं।

दक्षिण अफ्रिका को मनुष्य के उद्भव स्थल मानने वालों में डारविन मुख्य हैं। इन्होंने अपनी पुस्तक "ओरिजिन आफ स्पेसीज" में सुचारु रूप से इसका वर्णन किया है।

(१) डा० रेमंड डार्ट और डा० राबर्ट ब्रुम ने ट्रांसवाल से कई प्रकार के निखातक वानर के जबड़े और खोपड़ी प्राप्त की है। इनके अवलोकन से पता चलता है कि ये सीधे चलने वाले थे। अधिकांश लोग इन्हें वानर और मनुष्य के बीच की अप्राप्य अनुमानित अवस्था कहते हैं।

(२) ये निखातक शिवालिक पहाड़ियों में पाये जाने वाले निखातक वानर प्रजाति से प्राचीन हैं।

(३) केन्या में पाये जाने वाले वानर निखातक दक्षिण अफ्रिका के उद्भव-स्थल होने का पुष्टीकरण करते हैं। रसिगा द्वीप में करीब ३०० वानर खोपड़ियों के अवशेष मिले हैं। इन अवशेषों के नम्बर से यह ज्ञात होता है कि पूर्वी अफ्रिका में इस समय वानरों की संख्या बहुत अधिक थी।

(४) अर्वाचीन मत है कि मनुष्य और वानर एक ही पूर्वज से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न शाखाओं में विकसित हुए। आज भी गोरिल्ला और चिंपैंजी सिर्फ अफ्रिका में पाये जाते हैं। ये अपने विलीन अवस्था में हैं इन्हें सुरक्षित रखने के लिये कृत्रिम सुरक्षा की जरूरत है।

(५) जिस तरह हाथी सबसे पहले अफ्रिका में उत्पन्न हुआ और वहां से सारे देश में फैला उसी तरह मनुष्य भी सबसे पहले अफ्रिका में उत्पन्न होकर अन्य देशों में भ्रमण किया।

(अ "मध्यएशिया मनुष्यों के उद्भव की प्रयोगशाला था।" इसका समर्थन शिवालिक पर्वतों में पाये जाने वाले वानर प्रजाति करते हैं। यहां से एक शाखा भारत, जावा और चीन को तथा दूसरी शाखा यूरोप अमेरिका और अफ्रिका की तरफ गई।

(आ) मध्य एशिया का पठार उद्भव के लिये उपयुक्त स्थान था।

(इ) मध्यएशिया में ही आर्कियालाजिकल खोज से प्राचीन सभ्यता के प्रमाण मिले हैं।

अब वर्तमान विचार से इस प्रश्न को हल करने के लिये कि "मनुष्य क्या है?" यह ज्ञात करना होगा कि प्राणीशास्त्र के विद्वान किस तरह हमारा वर्गीकरण करते हैं परन्तु यह ख्याल रखना चाहिये कि इस विज्ञान में वर्गीकरण सिर्फ सम्बन्ध दर्शाने के लिये होता है। हम लोगों की जाति के सिवाय और भी विलीन जातियों का पता लगा है। ये सब मानव परिवार में रखे गये हैं। इसके साथ वानर-प्रजाति (पोन्गीडी परिवार) को भी कई विद्वान शामिल कर देते हैं। मनुष्य और वानर की शरीर-रचना की समानता देखते हुए यह पता लगता है कि ये एक ही वंशज के हैं। यह पुरा-सात्त्विकी के विद्वानों द्वारा समर्थन किया गया है।

इस समय की मुख्य वंशावली बन्दर-सम वनमानुषों की थी। ये ३०० लाख साल पूर्व मायोसिन युग में पूर्वी अफ्रिका में पाये जाने वाले प्रोकोन्सल जाति के समान थे। ये प्राणी आसानी से पेड़ों पर चढ़ सकते थे और चारों पैरों से दौड़ते थे। ये भिन्न-भिन्न दो दिशाओं में विकसित हुए - (१) जो आज के वनवासी वानर हैं, जिनकी भुजाएँ लम्बी हैं जिनके द्वारा ये आसानी से एक डाली से दूसरे डाली में कूद सकते हैं (२) दूसरे जो मानव योनि की तरफ विकसित हुए और जिन्होंने पिछले पैरों में सीधे खड़े होने का गुण प्राप्त किया।

अब "मनुष्य की परिभाषा" का विषय दो प्रश्नों में बँट गया—(१) यदि मानव और वानर के एक ही पूर्वज थे तो किस अवस्था में आकर मानव वानर से भिन्न हुआ। (२) उद्भव की किस श्रेणी में 'मानव' बना।

वर्तमान मानव वानरों से शारीरिक गुणों में अनेक असमानता रखता है—दांतों के आकार और विस्तार; दो पैरों में सीधे चलने की आदत; और बुद्धि कोष के आकार का समय के साथ परिवर्तन हुआ। यद्यपि आजकल मनुष्य के बुद्धि कोष का आकार वर्तमान वानरों के बुद्धि कोष के आकार से भिन्न है, फिर भी एक समय था जब दोनों के बुद्धि कोष का आकार और आयतन एक ही था। इसलिये हम बुद्धि कोष के आकार को असमानता की कसौटी नहीं कह सकते हैं।

साधारणतः एक मामूली आदमी यह अनुमान करेगा कि प्रथम मानव परिवार के जंगल छोड़ने के कारण उनके अस्थिकंकाल में विकास हुआ और वे दोनों पैरों से चलने लगे। लेकिन जैविकी के विद्वान रहन सहन की अवस्था को स्थायी नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ यह हो सकता है कि वानरों की कोई एक ही विकास शाखा से मनुष्य का

उद्भवीकरण हुआ होगा। यह होते हुए भी हम उन सारी वंशावली को मानव परिवार में गिन सकते हैं क्योंकि ओरंगउटैंग और गोरिल्ला की वंशावली दूसरी होते हुए भी कई जीव-शास्त्र के विद्वानों ने उन्हें 'होमो' परिवार में लिया है।

पुरा सात्विकी के विद्यार्थी दांतों के स्वभाव से वर्गीकरण करने में समर्थ हो सके हैं। वर्गीकरण करने में हम बुद्धि-कोष के बजाय सीधे चलने और मनुष्य के समान दांतवाले वानर-निखातकों को मानव परिवार में गिन सकते हैं। दक्षिण अफ्रिका के आस्ट्रेलोपिथिकस परिवार की खोज से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि इनके बुद्धि कोष और गोरिल्ला के बुद्धि-कोष समान थे, फिर भी नितंब की हड्डी और दांतों के स्वभाव इसे मनुष्य श्रेणी के नजदीक लाते हैं। यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि ये आस्ट्रेलोपिथेसिन्स वर्तमान मनुष्यों के पूर्वज थे, फिर भी बिना हिचक के यह कह सकते हैं कि जावा के प्रातिनूतन युग में पाये जानेवाले आदिमानव रोबसटस के एक पारिवारिक अंग थे।

इतना होते हुए भी मनुष्य की परिभाषा में कमी महसूस होती है। इसके बिना हम असमंजस में पड़ जाते हैं। तर्कानुसार यह सिद्ध होता है कि दक्षिण अफ्रिकी निखातक होमो परिवार' में सम्मिलित है तब भी खोपड़ी का आकार वानर खोपड़ी से इतनी मिलती जुलता है तथा जावा मनुष्य से इतना भिन्न है कि इन्हें मनुष्य कहने में हिचक होती है। प्रोफेसर ले ग्रास क्लार्क (Le Gros Clark) ने इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन किया है। उनका कथन है "सम्भव है कि मनुष्य और वानर की असमानता शरीर-रचना के बजाय उसके कार्य पर निर्भर रहेगी। फिर भी मनुष्यत्व की कसौटी वाकशक्ति और हस्त-कौशल है।"

कार्य के ख्याल से मनुष्य और नर-वानरों में असमानता दिखलाने के लिये अभ्यास की जरूरत है। इस विचार से मनुष्य की परिभाषा हथियार बनानेवाला नर-वानर पर विशेषता रखता है। यदि सुविवेचित तरीके से कतरा हुआ हथियार आस्ट्रेलोपिथेकस के साथ गुफा में मिला होता तो उसे हम मानव परिवार में गिन सकते थे। इसका मतलब यह नहीं कि जावा में पाये जाने वाले आदिमानव को हम मानव परिवार में नहीं गिन सकेंगे परन्तु उनके दो गुण— (१) बुद्धि-कोष का आकार वर्तमान मनुष्य के बुद्धि-कोष के अन्तर्गत है और (२) पेकिंग आदि मानव के साथ हथियार प्राप्त हुए हैं—उन्हें मानव परिवार में सम्मिलित करते हैं।

'हथियार बनाने वाला नर-वानर' की परिभाषा का कई प्रकार से समालोचना की गई है :—

(१) निम्न श्रेणी के नर-वानर हथियार का उपयोग करते हैं।

(२) हस्तकौशल मनुष्य की मानसिक उत्तेजना का फल है और जीव-शास्त्र के विचार से मुख्य गुण नहीं है। इसलिये इन समालोचनाओं का गूढ़ अन्वेषण अनिवार्य है।

हथियार और औजारों का उपयोग निश्चय ही सिर्फ मनुष्यों तक सीमित नहीं है। बन्दरों को लकड़ी और पत्थर फेंकते देखा गया है। इसमें चिंपैंजी विशेष रूप से दक्ष है। कोहलर (Kohler) ने इसका विशेष रूप से अध्ययन किया है। उनका कहना है "चिंपैंजी की आयु सीमित है" इस दिशा में एन्थ्रोपाइड और प्राचीन मनुष्य में बहुत कम फर्क है। वाकपटुता और मनोनैतिक विचार की कमी ही चिंपैंजी को सभ्यता के विकास में बाधक होती है।"

औजारों को सुचारू रूप से बनाने में भाषा ने अधिक सहायता दी है। कभी-कभी मौखिक कथा मनुष्य की परिभाषा के लिये हथियार बनाने की दक्षता से श्रेयकर मानी गयी है। कोहलर के अनुसार वाक-पटुता ही "एक अमूल्य परिभाषिक सहायता" के रूप में हथियार है और यह बुद्धि की विचार शक्ति के ऊपर आश्रित है। सबसे पहले विचारों को प्रगट करने की विधि गूँगे मनुष्य की तरह हाथ और मुँह के इशारे से ही शुरू हुई। इसे हम 'सांकेतिक भाषा' कहते हैं। जहाँ तक प्रमाण मिल सका है, वहाँ तक हम कह सकते हैं कि वे नर-वानर जो हथियार बनाने में कुशल थे, वर्तमान वानरों के दिमाग से उनका दिमाग अधिक प्रगतिशील था।

अब यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य के उद्भवीकरण की किस श्रेणी में हथियार बनाने की प्रथा का विकास हुआ और क्या जीव शास्त्र के विचार से इसे हम मुख्य गुण मान सकते हैं। यह सोचा जा सकता है कि हस्तकौशल की

निपुणता एक सीमित क्षेत्र है। सच तो यह है कि बुद्धि से काम लेने पर निम्न श्रेणी के बन्दर का परिग्राही हाथ मामूली हथियार बनाने और उपयोग करने में समर्थ हो सकता है।

हम लोगों के हाथों की अविकसित पांचों उँगलियाँ किसी चीज को पकड़ने में इतनी दक्ष हैं कि हम इन्हें हमारे पूर्वजों के पेड़ों पर चढ़ने की निपुणता का द्योतक मान सकते हैं। जब तक कि वे वृक्ष की जिन्दगी गुजर करते थे तब तक उनके परिग्राही हाथ चढ़ने और खाने की क्रिया में संलग्न रहते थे, इसलिये उनको अन्य वस्तु को काम में लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ऐसा होने पर भी हमारे कुछ उत्सुक पूर्वज अपना कुछ समय खुले मैदान में चलने और बैठने की क्रिया में लगाया करते थे। इसी तरह उत्सुकता के बतौर वे किसी वस्तु को पकड़ना सीखने लगे। मायोसिन युग के चपल बन्दर सम प्राणी दौड़ने और चढ़ने की क्रिया के साथ ही पिछले पैरों से खड़े होने की विद्या सीखने लगे थे। इस समय हम उस दूधमुँहे बच्चे से उसकी तुलना कर सकते हैं जो अपने दोनों हाथों और पैरों के बल चलता है और कभी कभी खड़े होने का प्रयास करता है। ये वानर समयानुसार हथियार का उपयोग करते रहे होंगे जिस तरह मैदान में रहने वाला चिंपैंजी अनेक कामों के लिये लकड़ी का उपयोग करता है।

कार्य के विचार से हम हथियारों को विलगित अग्रबाहु कह सकते हैं। अधिकांश पशु किसी विशेष रहन-सहन के कारण विशेष रूप से विकसित रहते हैं। उदाहरणार्थ घोड़े दौड़ाने में दक्ष होने के कारण एक ही खुर की विशेषता रखता है। उसी तरह चीता, शेर और सिंह मांसाहारी होने के कारण नुकीले दांत और पंजों से विभूषित है। परन्तु मनुष्य ने अपने उद्भव में दांतों को हर एक चीज खाने की विशेषता में निपुण किया और हाथों की उंगलियों को पेड़ों पर चढ़ने के लिये। इसी तरह जब वे सीधे खड़े होने में समर्थ हुए तब उन्हें हथियारों के उपयोग का ज्ञान हुआ।

प्रायः प्रातिनूतन युग में मनुष्य के मस्तिष्क का विकास हुआ। तदुपरान्त पत्थरों के सुविवेचित औजार काम में आने लगे। हथियारों के उपयोग से ही यह सिद्ध है कि मनुष्य ने कार्यवश ही उसे उपयोग में लिया। हथियारों के उपयोग की कमी उन्हें उस समय महसूस होने लगी जब वे जंगल छोड़कर मैदान में बसने लगे।

वर्तमान वानर जाति प्रायः जंगलों में कंद मूल और फलों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु मनुष्य अपने आहार में मांस भी शामिल करते हैं। प्रमाणतः यह सिद्ध है कि पेकिंग-आदि मानव, नीयंडरथल मनुष्य और होमी सेवियंस जाति के पाषाणयुगी मनुष्य मांसाहारी थे। केन्या में पाये जाने वाले पाषाण सभ्यता के साथ हड्डियों के हथियार यह प्रदर्शित करते हैं कि अजूलियन के हथियार बनाने वाले प्राणी शिकारी थे। प्रायः लेखक के अनुसार मांस खाने की प्रथा और मनुष्य समयुगी हैं। ये आदि-मानव जब जंगल छोड़कर मैदान में आये तब उन्होंने अपने आहार में फल फूल के सिवाय, मांस को भी अंश बनाया।

लंगूर से समानता दिखलाते हुए यह प्रतीत होता है कि मानव परिवार जीवन-युद्ध के कारण अफ्रिका के सवाना में रहते-रहते मांस खाने लगा। अफ्रिका के गाँव गीत अधिकतर लंगूर के मांस खाने की विधि पर बने हैं। अन्य बन्दर और बनमानुष के समान लंगूर भी अपनी अंगरक्षा के लिये नुकीले दांत रखता था। यह अनुमान किया जाता है कि पत्थरों के औजारों के उपयोग के कारण मनुष्य के नुकीले दांत अविकसित रह गये। उस समय शिकार का अभाव न था तथा उन्हें बाल और चमड़े को हटाने में कठिनाई पड़ती रही होगी और तगड़े नुकीले दांत न होने के कारण उन्हें तेज धार वाले पत्थरों का उपयोग करना पड़ा होगा। यह वह अवस्था थी जब हथियार बनाने की प्रथा का उद्भव हुआ। जब उन्हें प्राकृतिक रूप से निर्मित पत्थर नहीं मिले और कुछ विचारशील मनुष्य ने देखा कि ये पत्थर के टुकड़े तोड़कर तेज बनाये जा सकते हैं तब से हथियार बनाने की कुशलता भी बढ़ती गई। वस्तुतः ये हथियार, खोदने, कतरने, छिलने और शिकार के लिये तीर आदि बनाने के काम में आने लगे। इस तरह रहन-सहन और परिस्थिति के कारण वे अर्ध-मांसाहारी हो गये।

प्रकृति की देन से हम सब शाकाहारी हैं। हम लोगों के वे नुकीले दांत नही हैं जो मांसाहारी प्राणियों के होते हैं

(शेष पृष्ठ १७४ पर)

सोना (Gold)

गोलोक विहारी चौधरी बी० एस-सी०

"कंचन में सभी गुण विद्यमान हैं" यह उक्ति प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। उसी सोने के वैज्ञानिक पक्ष को लेखक ने इस लेख में वर्णन किया है। पाठकों को यह वर्णन विशेष मनोरंजक प्रतीत होगा।

परिचय

सोना से हम लोग पूर्णतया परिचित हैं। हमारे पूर्वजों को भी उसका ज्ञान था। प्राचीन काल से ही यह धातु आभूषण और सिक्कों के निर्माण में व्यवहृत होती आयी है। वैदिक काल के पुरुषों को जितनी भी धातुओं की जानकारी थी उसमें सोना भी एक था। इसके गुणों के कारण ही लोग इसे धातुओं में सर्वश्रेष्ठ मानते आये हैं। इसकी सुन्दरता चमक और दुर्लभता लोगों को बहुत दिनों से ही आकर्षित करती आयी है। फलस्वरूप लोग इसे आभूषण तथा अन्यान्य बहुमूल्य पदार्थों के बनाने में उपयोग करते आये हैं। अन्वेषकों ने इसकी खोज में पृथ्वी छान डाली है। यहाँ तक कि जिन पदार्थों में वनस्पति भी नहीं पायी जाती थी और न जहाँ मनुष्यों की आबादी थी वहाँ भी लोग पहुँच गये। आस्ट्रेलिया के कालगूर्ली और कूलगार्डी जैसे निर्जन और वीहड़ स्थान भी सोने की प्राप्ति के कारण आबाद हो गये हैं। पीने का जल यहाँ तीन सौ मील की दूरी से पाइप द्वारा लाया जाता है। इसी तरह अमेरिका के युकान, आलास्का आदि चिर-हिम-आच्छादित-निर्जन प्रान्तों के उन भागों में भी लोग जाकर बस गये हैं जहाँ इन्हें सोने की खाने मिल गईं। सोने की खानों के कारण ही आलास्का और सायबेरिया जैसे ठंढे स्थान भी आबाद हो गये।

उत्पादन :—सोने की प्राप्ति के विचार से दक्खिन अफ्रिका का ट्रान्सवाल प्रान्त संसार का आधे से अधिक सोना उत्पादित करता है। इस प्रान्त का मुख्य क्षेत्र जोहन्सवर्ग है। ट्रान्सवाल के समीप ही रोडेसिया में भी सोने की खानें हैं। उत्पादन के विचार से दक्खिन अफ्रिका सर्व-प्रथम है। दूसरा स्थान संयुक्तराज्य अमेरिका का है। यहाँ के आलास्का, कोलोरेडो, नैवडा तथा कैलफोरनिया आदि प्रान्तों से प्रचुर मात्रा में सोना निकाला जाता है। तीसरा स्थान कनाडा का है। यहाँ फ्रेजर नदी की घाटी स्थित क्लौनडाइक स्थान में तथा कोलम्बिया प्रान्त में भी सोना पाया जाता है। चौथा स्थान आस्ट्रेलिया का है। इसका विक्टोरिया प्रान्त स्थित वैलर्ट और बैंडिगों, क्विन्सलैण्ड स्थित मांटमार्गन तथा पश्चिम आस्ट्रेलिया स्थित कालगुर्ली, कूलगार्डी तथा किम्बरले की खाने आज भी जगतप्रसिद्ध हैं।

अन्य प्रदेशों में दक्खिन अमेरिका के कोलम्बिया, पीरू, वोलीवीया, वेनुजुला तथा ब्राजिल राज्यों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

यूरोपीय राज्यों में रूस में भी काफी परिमाण में सोना निकलता है। एशिया के साइवेरिया वाले भूभाग में कई सोने की खाने हैं।

भारत में मैसूर राज्य के अन्तर्गत कोलारक्षेत्र में भी सोने की कई खाने हैं।

संसार में सोने का वार्षिक उत्पादन ३ करोड़ औंस है, जिसमें भारत का उत्पादन करीब १.२ प्रतिशत है।

धातव पत्थर :—सोना साधारण शुद्ध रूप में ही पाया जाता है। इसके कण चट्टानों में जड़े रहते हैं। अकसर इन चट्टानों में चाँदी भी पायी जाती है। ताँबे

के धातव-पत्थरों में भी न्यूनांश में सोना रहता है। अन्य धातुओं के धातव-पत्थरों जैसी सोने की चट्टानों में धातुओं की प्रचुरता नहीं रहती है। वे चट्टान जो कि सोने की प्राप्ति के लिए उत्तम समझी जाती हैं उनमें भी प्रति टन चट्टान से आधे औन्स से अधिक सोना नहीं निकलता है।

भारत में सोना विशेषकर मैसूर राज्य स्थित सोने की खानों से ही निकलता है! इन खानों में भारत के उत्पादन का ६६ प्रतिशत सोना प्राप्त होता है। इन खानों के अतिरिक्त भारत के अन्य राज्यों में भी सोना पाया जाता है। लेकिन इन स्थानों में सोना इनसे कम परिमाण में है कि आर्थिक विचार से इसका उत्पादन लाभप्रद नहीं है। इस सम्बन्ध में हैदराबाद की हुट्टी तथा मद्रास की अनन्तपुरी की खाने विशेष उल्लेखनीय हैं। इन खानों के अतिरिक्त आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्त की नदियों की रेतों में भी सोना मिलता है लेकिन रेतों में सोना इतना कम रहता है कि आधुनिक ढंग से सोना निकालने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता है। अतः इसका आर्थिक महत्व नहीं है।

बिहार राज्य में :—बिहार राज्य स्थित छोटा नागपुर के दक्खिन भूभागों की चट्टानों में सोना पाया जाता है। इन स्थानों के निरीक्षण से पता चलता है कि किसी समय लोगों ने उक्त स्थानों से सोना निकालने की कोशिश की होगी। छोटा नागपुर और विशेषकर सिंहभूमि के उन भागों की नदियों की रेतों में, जहाँ पहले रेतों को धोकर सोना निकाला जाता था, अब भी सोना पाया जाता है। इन नदियों में स्वर्णरेखा तथा इसकी अन्य सहायक नदियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्थान विशेष के विचार से दालभूम और मयुरभंज राज्य को संबधित करने वाला भाग सोना प्राप्ति के लिये विशेष उल्लेखनीय है। मानभूमि जिले में भी ऐसे कुछ स्थान पाये गये हैं जहाँ की रेतों में भी न्यूनमात्रा में सोना के कण हैं। आर्थिक विचार से लाभप्रद नहीं होने के कारण आधुनिक ढंग से और अधिक परिमाण में इन स्थानों से सोना निकालने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

धातु निष्कासन—शुद्ध सोना प्राप्त करने के कई साधन हैं, जिनमें एक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है; यानी रेतों से धोकर। लेकिन यह विधि लाभप्रद नहीं है।

अकसर ताँबा, जस्ता, सीसा, चाँदी आदि के धातव पत्थरो में सोने का भी कुछ अंश रहता है। अतएव उपर्युक्त धातुओं की प्राप्ति के साथ कुछ मात्रा में सोने की प्राप्ति हो जाता है।

शुद्ध सोना प्राप्ति के उपर्युक्त दो तरीकों से सोना बहुत कम प्राप्त होता है। पहला तरीका तो केवल उल्लेख के लिये ही है, इस तरीके से नाम मात्र में ही सोना प्राप्त होता है। अधिकांश मात्रा में या यों कहें कि पूर्ण मात्रा में सोना चट्टानों को चूर कर प्राप्त किया जाता है तो अत्युक्ति नहीं होगी। चट्टानों से शुद्ध सोना प्राप्त करने की दो विधियाँ अधिक प्रचलित हैं। इन विधियों के नाम हैं; 'एमलगमेशन (Amalgamation) और 'सियानिडेशन' (Cyanidation)

'एमलगमेशन' विधि :—सर्वप्रथम सोने के कणों से युक्त चट्टानों को यान्त्रिक साधनों से बारीक चूर्ण के रूप में परिणत कर दिया जाता है। पुनः इस चूर्ण को पत्थरों के सिलों पर पारे के साथ घिसा जाता है। फलस्वरूप सोना पारे में मिल जाता है। इस मिश्रण को एक विशेष प्रकार के चर्म से बने हुए थैलों में डालकर छान लिया जाता है, जिससे सोने से युक्त पारा थैले के अन्दर रह जाता है और शुद्ध पारा बाहर निकल आता है। थैले में अवशिष्ट पदार्थ में ३५-४० प्रतिशत तक सोना रहता है। अब अवशिष्ट पदार्थों को लोहे के 'रिटार्ट' में तपाया जाता है जिससे पारा भाप बनकर निकल जाता हैं और सोना इसके अन्दर बचा रहता है। 'रिटार्ट' से प्राप्त सोने को पुनः 'ग्रफाइट' की घरियों (क्रुसिब्ल) में गलाकर साँचे में ढाल लेते है।

'साईनिडेशन' विधि :—इस विधि में सर्वप्रथम स्वर्णकण युक्त चट्टानों को चूर्ण कर लिया जाता है। पुनः इसे 'सोडियम' या 'पोटासियम-साइनाइड' के हलके घोल में घुलाया जाता है। सोना घुल जाता है। घोल को छान कर तलछट से अलग कर लिया जाता है। जस्ते के सहारे सोना प्रच्छेप (Precipitate) के रूप में घोल से अलग हो जाता है। प्रच्छेप को छानकर घोल से अलग कर लिया जाता है। इस प्रच्छेप में सोने के अतिरिक्त चाँदी

जस्ता और कुछ सीसा भी रहते है। रासानिक क्रियाओं द्वारा इससे सोना अलग कर लिया जाता है।

मैसूर राज्य के अन्तर्गत कोलार क्षेत्र में 'दिमैसूर' 'दि चैम्पियन रीफ' 'दि उरगम' और 'नंदीदुर्ग' नाम की चार कम्पनियाँ सोने की खानों से धातव-पत्थर निकालकर शुद्ध सोना प्रस्तुत करती हैं। भारत का ६६ % उत्पादन इन्हीं कम्पनियों द्वारा होता है। इन कम्पनियों की खानों में से 'चैम्पियन रीफ' और 'उरगम' की खानों की गहराई आठ हजार फीट तक चली गई है।

व्यवहार—दुर्लभता के अतिरिक्त विभिन्न भौतिक और रासायनिक गुणों के कारण सोना बहुमूल्य समझा जाता है। लोहा ताँबा आदि अन्यान्य धातुओं जैसा इसपर हवा पानी का असर नहीं पड़ता है जिसके कारण इसकी चमक और सुन्दरता हमेशा बनी रहती है। प्राचीन समय से यह आभूषण और सिक्कों में व्यवहृत होता आया है। अन्य साधारण धातुओं के विपरीत सोना अपनी साधारण अवस्था में भी बारीक से बारीक तार और पत्तर बनाया जा सकता है। पत्तरों और तारों की बारीकी निम्न लिखित उदाहरणों से ही स्पष्ट हो जायेगी। सोने का इतना बारीक पत्तर [वरक] बन सकता है कि यदि २ लाख पत्तरों को नीचे-उपर रखा जाय तो एक इन्च होगा और यदि एक औंस सोने के बारीक तार बनाये जाँय तो यह पच्चीस मील लम्बा होगा। वर्त्तमान समय में इसका व्यवहार सिक्कों में विरले ही होता है। अधिकतर सभी राष्ट्र इसे अपने तहखानों में जमा करते जा रहे हैं। इसका व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में होता है।

पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ यह भी उल्लेख कर देना उचित होगा कि शुद्ध सोने के आभूषण विरले ही बनते हैं। आभूषण आदि बनाने के लिये सोना में ताँबा चाँदी आदि धातु विभिन्न मात्रा में मिलाई जाती है जिससे इसमें कठोरता आ जाती है।

सोने की शुद्धता प्रतिशत शुद्ध सोने में व्यक्त नहीं की जाती है बल्कि 'कैरेटो' में की जाती है। पूर्णतया शुद्ध सोना २४ 'कैरेट' का होता है। यदि किसी शुद्ध सोने में २५ % अन्य धातुओं की मिलावट हो तो उसे १८ 'कैरेट' का कहेंगे।

साधारणतया ताँबा, चाँदी निकल, जस्ता पलाडियम आदि सोने में मिलाये जाते हैं। 'गिनिगोल्ड' २२ कैरेट' का होता है।

—:o:—

(पृष्ठ १७१ का शेष)

फिर भी हम लोग मानव परिवार के वे प्राणी हैं जो समय पर माँस खा सकते हैं।

आहार-विहार की उन्नति तथा हथियार बनाने की चतुरता ने मनुष्य को नर-वानरों में श्रेष्ठ बनाया। शक्ति और ओज के उपयोग के अनुसार शाकाहारी से अर्धमांसाहारी होना अधिक विचारणीय है। शिकार की प्रथा ने उन्हें एक दूसरे पर निर्भर बनाया। इस तरह नई चतुरता और योग्यता के अनुसार नई सभ्यता का विकास हुआ और मनुष्य हरएक दशा में दक्ष होगया।

प्रकृति और परिस्थिति की एक और अमूल्य देन आग बनाने की क्रिया थी। यह पत्थरों के हथियारों के उपयोग का परिणाम था। प्रोफेसर डार्ट के आस्ट्रेलोपिथिकस अग्नि का उपयोग करते थे। पेकिंग-आदि-मानव ने रोजमर्रा आग का उपयोग किया। परन्तु केन्या में पाये जाने वाले मनुष्य आग का उपयोग नहीं करते थे बल्कि एसकिमो की तरह कच्चा मांस खाया करते थे।

इस तरह विहंगम दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हथियार बनाने की चतुरता प्राणीशास्त्र के अनुसार मनुष्य का एक मुख्य गुण है। परन्तु मनुष्य की परिभाषा में दक्ष हथियार बनाने वाला नर-वानर के साथ मनुष्य परिवार में 'मनुष्यत्व' शब्द जुड़ा रखा है जिसका मस्तिष्क विकास इतना ऊँचा हो चुका है कि हम उसे 'होमो' परिवार में रख सकते हैं।

भारतीय आविष्कारक सुब्बाराव

[डा० येलाप्रागादा सुब्बाराव ने ओरियोमाइसिन तथा अन्य महत्वपूर्ण औषधियों का अमेरिका में आविष्कार किया था और अमेरिका के नागरिक भी हो गए थे। उनका परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है।]

डा० येलाप्रागादा सुब्बाराव ने रोग-कीटाणुओं को नष्ट करने वाली नयी नयी प्रभावशाली औषधियों का आविष्कार करके मानव जाति का बहुत बड़ा उपकार किया है। १ ४८ में उनका देहावसान हुआ और उन्होंने अपने संक्षिप्त जीवन काल में जितनी सफलताएँ प्राप्त कीं, उतनी शायद ही किसी व्यक्ति ने प्राप्त की हों। उनके आविष्कारों से मनुष्य के ज्ञान में काफी वृद्धि हुई है। वह ३० वर्ष पूर्व उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत से अमेरिका गये। उन्होंने 'ओरियोमाइसिन' नामक जो शक्तिशाली कीटाणु-नाशक औषधि तैयार की है, उसके लिये संसार उनका चिर ऋणी रहेगा। डा० सुब्बाराव उष्ण प्रदेशों में पाये जाने वाले संग्रहणी रोग के उपचार के लिये फौलिक एसिड से औषधि तैयार करने में सफल हुए। उन्होंने रक्त-रोग (ल्यूकीमिया) तथा अनेक प्रकार के कैन्सर के लिये एमीनोप्टरीन आदि कई औषधियों का आविष्कार किया। इतने पर भी वह बड़े निरभिमानी थे और अपनी सफलताओं का श्रेय एकाकी लेना पसन्द नहीं करते थे।

जिस समय सुब्बाराव के पिता भारत में किसी सरकारी कार्यालय में क्लर्क थे, उस समय उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने उनके जीवन की दिशा निर्धारित कर दी। उनके एक भाई को संग्रहणी हुई और उसी रोग से उसकी दुःखद मृत्यु हो गई। यह देखकर उन्होंने अपने मन में कहा: 'मनुष्य इस नामुराद बीमारी के सामने असमर्थ क्यों है?'

इस घटना के कुछ ही समय बाद उनकी एक पादरी से भेंट हुई। उसने उन्हें बताया कि किस प्रकार ईसा ने विभिन्न स्थानों पर जाकर रोगियों की शुश्रूषा की, ज्वर का उपचार किया और यहाँ तक कि मनुष्यों को मृत्यु के मुंह से भी निकाल लिया। उसी रात युवक सुब्बाराव ने एक स्वप्न देखा, जिसमें भगवान् की अंगुली उसकी ओर उठी हुई थी। उसने इस स्वप्न का अर्थ यह लगाया कि भगवान् ने उन्हें अपने मानव बन्धुओं को संग्रहणी रोग से मुक्ति दिलाने के लिये उत्पन्न किया है।

भूख, कष्ट तथा थकान की तनिक भी परवाह न करते हुए सुब्बाराव ने इस कठिन कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये २५ वर्ष तक घोर परिश्रम किया। उन्हें अन्ततः अपने कार्य में सफलता मिलना इस बात का प्रमाण है कि उन्हें अपने मूल स्वप्न में अटूट विश्वास था और उन्हें उसके लिये अमेरिका में अवसर भी उपलब्ध हुए। बाद में तो वह अमेरिका के ही नागरिक भी बन गये थे। स्वप्न के बाद सुब्बाराव ने सर्वप्रथम औषधियों के सम्बन्ध में अध्ययन करने का निश्चय किया। वह इस सम्बन्ध में मद्रास मैडिकल कालेज के रजिस्ट्रार से मिले। संग्रहणी रोग के उपचार का पता लगाने के उनके विचार को सुनकर रजिस्ट्रार को हंसी आई, किन्तु वह उनकी उत्कट जिज्ञासा व महत्वाकांक्षा को देखकर और यह जानकर बड़ा प्रभावित हुआ कि उनके मित्रों ने भी उनके अध्ययन के लिये आर्थिक सहायता देने का वचन दिया है। चार वर्ष बाद उन्होंने मैडिकल डिग्री तथा 'मास्टर आफ साइंस' की डिग्री प्राप्त कर ली। इसके पश्चात् उनके चाचा ने लन्दन विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के निमित्त उन्हें ऋण देना स्वीकार कर लिया।

लन्दन में इस प्रतिभाशाली युवक की उष्ण प्रदेशीय रोगों के अमेरिकी विद्वान् डा० रिचर्ड स्ट्रॉंग से मुलाकात हुई। डा० स्ट्रौंग हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रौफेसर थे। डा० स्ट्रौंग ने बताया कि 'उसने मुझसे बहुत से ऐसे प्रश्न किये जिनका मुझसे कोई भी उत्तर नहीं बन पड़ा। मैंने ऐसा प्रखर बुद्धि वाला व्यक्ति कोई नहीं देखा।'

डा० स्ट्रॉंग ने सुब्बाराव को अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सुझाव दिया और उन्होंने यह सुझाव स्वीकार कर लिया। अपने खर्च को पूरा करने के लिये वह भट्टियों की देखभाल और अस्पताल में नौकरी करते थे।

शीघ्र ही मेधावी सुब्बाराव ने यह समझ लिया कि इस अनुसन्धान-कार्य के लिये बायोकैमिस्ट्री के अधिक ज्ञान की आवश्यकता है। विभाग के अध्यक्ष ने उन्हें उनकी उपाधि के आधार पर उस क्षेत्र के स्नातकीय शिक्षाक्रम में लेने पर आपत्ति की, किन्तु उन्हें एक वर्ष के लिये अस्थायी विद्यार्थी के रूप में ले लिया। तीन मास के भीतर ही श्री सुब्बाराव को स्नातक समझ कर ले लिया गया।

रसायन विज्ञान की उच्च उपाधि प्राप्त करने तथा अपने अनुसन्धान-कार्यों के कारण श्री सुब्बाराव को हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में प्रौफेसर का पद मिल गया। लेकिन उन्हें अनुसन्धान-कार्य में विशेष रुचि थी, अतएव जब उनके समक्ष लैडरले परीक्षणशाला में अनुसन्धानकार्य करने का प्रस्ताव रखा गया, उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। लैडरले परीक्षणशाला अमेरिकी सिनेमिड कम्पनी की ही शाखा है।

इस दवा तैयार करनेवाली कम्पनी की परीक्षणशाला में डा० सुब्बाराव ७ वर्ष तक निरन्तर बड़ी लगन से अनुसन्धान-कार्य करते रहे। कम्पनी ने उन्हें नौकरी देने का प्रस्ताव रखा, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। जब उनको यह सुझाया गया कि ३०० सहायकों तथा २० लाख डालर के वार्षिक बजट से वे अपना अनुसन्धान-कार्य अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे तो वे अन्त में सीधे रूप में अनुसन्धान-कार्य करने के लिये राजी हो गये।

१९४१ में सुब्बाराव के साथ काम करने वाले वैज्ञानिकों ने फोलिक एसिड का पूरा रासायनिक विश्लेषण करने का निश्चय किया। यह एसिड पालक में बहुतायत से उपलब्ध होता है। टनों जिगर (यकृत्) इस्तेमाल करने पर उनको यह पता चला कि एक टन जिगर से दो-तिहाई ग्राम शुद्ध फोलिक ऐसिड प्राप्त होता है। पुराने तरीके से ऐसिड निकालने के लिये एक ग्राम पर लगभग २,००० डालर लगेंगे।

यह पदार्थ परीक्षणशाला के कई जीवों के जीवन के लिये बहुत आवश्यक है। कम खून वाली मुर्गियों पर इस पदार्थ का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है। इसके बाद प्रश्न यह उठा कि क्या मानव-जाति के लिये भी यह पदार्थ लाभदायक सिद्ध होगा? और क्या इसे कम खर्च पर तैयार किया जा सकेगा?

१९४३ में सुब्बाराव ने १६ वैज्ञानिकों को इस सम्बन्ध में सामूहिक रूप से प्रयत्न करने के लिये लगाया। जब उनका एक प्रयोग असफल हो जाता तो वह कहते कि "हम जान गये कि यह तरीका ठीक नहीं है, हम कोई दूसरा तरीका अपनायेंगे। हमें यह समझ लेना चाहिए कि असफलता का सामना मनुष्य को ही करना पड़ता है।"

२० जुलाई १९४५ को डा० सुब्बाराव के स्टाफ के सदस्य सुनहरे पीले रंग के चूर्ण के रूप में फोलिक ऐसिड का विश्लेषण करने में सफल हो गये।

रक्त की न्यूनता से पीड़ित रोगियों को प्रतिदिन यह चूर्ण खिलाया गया। थोड़े ही दिनों में उनके चेहरे का रंग बदल गया और शरीर की मांसपेशियों की शक्ति भी बढ़ गई।

इसके बाद यह चूर्ण संग्रहणी रोग से पीड़ित रोगियों को खिलाया गया। २५ वर्ष पूर्व सुब्बाराव के भाई की मृत्यु इसी रोग के कारण हुई थी। पिचके गाल वाले रोगी, जो कठिनाई से थोड़ा बहुत पथ्य ले सकते थे, चूर्ण के ३-४ दिन के सेवन के उपरान्त ही अच्छी तरह भोजन करने लगे। उनका अतिसार का रोग तथा उनकी पेट दर्द की शिकायत बिलकुल दूर हो गई। एक सप्ताह के अन्दर ही वे घूमने फिरने लगे।

जब विशाल पैमाने पर इस पदार्थ का उत्पादन किया

गया तो इसकी लागत २०० डालर प्रतिग्राम से घट कर एक बीमार की दवा पर १५ सेन्ट तक रह गई।

डा० सुब्बाराव काम पर जाने से पूर्व दो घंटे तथा रात्रि को ५ घंटे तक नियमित रूप से अध्ययन करते थे। उक्त खोज करने के दौरान में तो कभी कभी उनको बिना आराम किये लगातार ३६ घण्टे तक काम करना पड़ा।

पेनिसिलीन और स्ट्रेप्टोमाइसिन औषधियों की न्यूनताओं को अनुभव करते हुए डा० सुब्बाराव ने ऐसी कीटाणुनाशक औषधि की खोज शुरू की जो व्यापक रूप से उपयोग में लाई जा सके। उनकी इस खोज के परिणामस्वरूप 'ओरियोमाइसिन' नामक औषधि का विकास हुआ। यह औषधि उन सभी रोगों के लिये प्रभावशाली सिद्ध हुई जिन पर इससे पूर्व किसी भी दवा का कोई विशेष असर नहीं पड़ता था। इन रोगों में टाइफस ज्वर, रोकी पर्वतमाला के प्रदेश में होने वाला ज्वर तथा सूखा रोग भी शामिल है।

डा० सुब्बाराव की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह दूसरे लोगों की आवश्यकताओं का बहुत ध्यान रखते थे। वह कहा करते थे कि 'मैं दुनिया में खाली हाथों आया था और खाली हाथों ही जाऊँगा।" उन्होंने अपना सब कुछ दान कर दिया ताकि "संसार से विदा लेते समय सब हिसाब-किताब साफ रहे" उनकी यह परोपकारवृत्ति उसी समय से प्रारम्भ हो गयी थी जब वह हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में शिक्षक थे। क्षय रोग से ग्रस्त अपनी एक सहायिका को वह सेनिटोरियम में रहकर आरोग्य-लाभ करने के लिये आठ वर्ष तक प्रतिमास अपने वेतन का आधा भाग भेजते रहे। वह कहते थे कि 'मैं यह चाहता हूँ कि वह यह अनुभव करे कि दुनिया में उसकी परवाह करने वाला भी कोई है।'

वह अज्ञात रूप से जरूरतमन्दों को आर्थिक सहायता करते थे। अविवाहित होने पर भी उनको बालकों से बहुत प्रेम था और बड़े दिन पर वे गरीब परिवारों के बालकों के लिये भेंट और भोजन भेजते थे।

प्रारम्भ से ही उन्होंने अमेरिका को बहुत पसन्द किया। मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्हें अमेरिकी नागरिकता के प्रमाणपत्र प्राप्त हुए थे।

९ अगस्त १९४८ को सोमवार के दिन डा० सुब्बाराव का शान्तिपूर्वक देहावसान हो गया। कुछ समय पश्चात् उनके चर्च के पादरी ने उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि डा० सुब्बाराव के निधान से मानव जाति को बहुत बड़ी क्षति पहुँची है। उन्होंने अपना एक भाई गँवा कर सब मनुष्यों को अपना भाई बना लिया और वह दूसरों के लिये अपने जीवन की भी आहुति दे गये।

(यूनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस के सौजन्य से)

(पृष्ठ १८३ का शेष)

Vagina—योनि—गर्भाशय से शरीर के बाहर की ओर आने वाली स्त्री प्रजनन-प्रणाली।

Vas Deferens—शुक्र-प्रणाली—पुरुष की प्रजनन-प्रणाली जो शुक्रकीटों को ग्रन्थि से लिंग तक लाती है।

Vernix Caseosa—'वर्निक्स कैसियोसा'—भ्रूण की त्वचा को ढकने वाला, चर्बी तथा निर्जीव कोष्ठों का चिपचिपा; लसदार एक पदार्थ।

Vertebrae—मेरु-खण्ड—मेरुदण्ड बनाने वाले तेंतीस छोटे छोटे अस्थि-खण्ड।

Vestibule—स्त्री में वस्ति प्रदेश के निचले छोर पर स्थित एक उथला उपादान, जिसमें योनि तथा मूत्र प्रणाली खुलती है।

Yolk sac—योक-थैली—एक मास के गर्भपिण्ड के ऊपर से सम्बद्ध योक हीन एक छोटी थैली।

तीव्रतम गति (जेट विमान)

श्री विश्व श्रुति

मनुष्य द्वारा दूरी पर विजय के प्रयत्न में आधुनिकतम खोज जेट वायुयान हैं। उनकी कहानी प्रस्तुत लेख में पढ़ें।

हमारा अब तक जिस प्रकार के वायुयानों से परिचय है वे प्रायः सभी यान चक्रों (प्रोपैलर) से चलने वाले हैं। १९४१ में सर फ्रैंक ह्विटल ने यह प्रदर्शन कर के दिखाया कि वायुयान बिना यानचक्रों के अधिक तीव्र गति से उड़ाये जा सकते हैं। युद्धकाल में इस प्रकार के वायुयानों का सफलता पूर्वक प्रयोग भी किया गया। बिना यानचक्रों के चलने वाले इन वायुयानों को जेट विमान नाम दिया गया। युद्ध समाप्त होते ही वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया कि क्यों न इस प्रकार के विमानों का प्रयोग नागरिक उड्डयन के लिये भी किया जाये। इस दिशा में विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता इसलिये अनुभव हुई क्योंकि यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार के विमानों से तुलनात्मक दृष्टि से ईंधन का व्यय बहुत कम हो जाता था। युद्धकाल में काम में लाये गये जेट फाइटरों के अनुभवों के आधार पर १९४४ में नागरिक उड्डयन के अनुरूप इस प्रकार के विमान बनाने के प्रयत्न आरम्भ हुए।

इस वर्ष के आरम्भ में ब्रिटिश ओवरसीज एयरवेज कारपोरेशन के एक जेट विमान डी. हैविलैंड कोमेट ने लंडन से कलकत्ता तक की परीक्षणात्मक उड़ान ली थी, उस की प्रथम योजना अक्टूबर १९४६ में तैयार हुई, और इसने प्रथम उड़ान २७ जुलाई, १९४९ को ली। इसकी चालन प्रक्रिया को छोड़कर यह प्रायः सभी बातों में अन्य विमानों के सदृश है। इसका आकार प्रकार उतरने और विदा लेने की विधि भी अन्य विमानों की भांति है। अन्य विमानों से इसकी विभिन्नता यह है कि यह ४०,००० फीट (साढ़े सात मील से भी अधिक) की ऊंचाई पर उड़ता है जो कि अन्य विमानों की उड़ान की ऊंचाई से लगभग ५० प्रतिशत अधिक है। इस की गति ५०० मील प्रति घंटा है जो कि अन्य विमानों की गति से ६० प्रतिशत अधिक है। यात्रियों के दृष्टिकोण से भी इस में एक विशिष्टता है। सामान्य विमानों में यानचक्रों की तीव्र गति से जो धक्के कभी-कभी अनुभव होते हैं, वे इस में अनुभव नहीं होते।

इन विमानों का नाम जेट रखने का एक कारण है। प्रायः विज्ञान की प्रारम्भिक कक्षाओं में यह परीक्षण कराया जाता है कि ऊँचाई पर पानी रख कर उसके नीचे एक कांच की नली लगा देते हैं और उसे नीचे तक ला कर पुनः मोड़ कर ऊपर की ओर ले जाते है और उसके मुंह पर एक ऐसी नली लगाते हैं जिसका मुंह आंखों में दवाई डालने वाले ड्रापरों की नली की भाँति एक ओर से खुला हुआ और दूसरी ओर से तंग (फुव्वारा, जेट) होता है। ऊपर से जब दबाव में पानी आता है तो तंग मुंह से निकलने के कारण तथा पीछे के दबाव के कारण उसका वेग बढ़ जाता है। इसी भाँति इन विमानों के इंजनों में सामने एक खुला हुआ मुंह होता है जिस में से बहुत दबाव के साथ वायु को अन्दर फेंका जाता है। दबाव के साथ आनेवाली यह वायु एक विशेष प्रकार के प्रकोष्ठ (चेम्बर-कमरा) में प्रविष्ठ होती है। इस प्रकोष्ठ में इसके साथ पैराफिन या पैट्रोलियम तेल अथवा मिट्टी का तेल धीमे-धीमे मिलाया जाता है। इन तेलों के स्थान पर कोयले का

चूरा भी मिला कर परीक्षण किये गये हैं और उन में भी सफलता मिली है। प्रकोष्ठ में यह मिश्रण जलता है साथ ही वहाँ उत्पन्न गैसों से विस्फोटन भी होता है। इन विस्फोटनों के परिणाम से उत्पन्न गैसें बड़े वेग से बाहर निकलना चाहती है, पर गैसों के निकलने का मार्ग बहुत छोटा रखा जाता है, इस कारण मार्ग के छोटे होने से बहुत अधिक दबाव से गैस बाहर निकलती है। परिणामतः जब गैस पीछे की ओर निकलेगी तो विमान को जोर से आगे की ओर धकेलेगी। इस प्रकार के निरन्तर धक्कों से विमान निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। जिस छोटे से मुंह से यह गैस निकलती है उसे अंग्रेजी में जेट कहते हैं, यही इस नामकरण का मूल है।

ऊपर निर्दिष्ट कोमेट में इसी ढँग के चार जेट इंजन लगे हैं। इनकी विशालता के कारण इन्हें दैत्याकार इंजिन का नाम दे दिया गया है। प्रत्येक इंजन के जेट पर जहाँ से गैसें बाहर फैंकी जाती हैं ५००० पौंड का दबाव रहता है। इस का यान्त्रिक नियंन्त्रण भी अन्य वायुयानों की अपेक्षा अधिक सरल है क्योंकि अन्य प्रकार के विमानों के अनेक यान्त्रिक उपकरण और नियंत्रण इसमें रखे ही नहीं गये। इसलिए नियंत्रण की सरलता के साथ इसकी देख-भाल में कम समय, कम परिश्रम और कम चालकों की आवश्यकता रहती है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है इसकी उड़ान की ऊँचाई ४०,० ० फीट है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है यह विमान जितना ऊँचा उड़ेगा उतनी ही इसकी गति तीव्र होगी, कम ऊँचाई पर इस की गति कम होगी जब कि ईंधन के व्यय की मात्रा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ेगा। अन्य प्रकार के विमान में ऐसी बात नहीं है, उन में ईंधन के इस प्रकार व्यय की सम्भावना नहीं होती। यह बताया गया है कि कोमेट में प्रति घंटा तीन टन ईंधन (कैरोसीन तेल) का व्यय होता है। अर्थात् जब विमान ४०,००० फीट की ऊँचाई पर ०० मील प्रति घंटा के हिसाब से उड़ रहा है तो भी तीन टन ईंधन प्रति घंटा व्यय होगा और जब यह हवाई अड्डे पर उतरने के लिए २५०-३०० मील दूरी से ही २०,००० फीट की ऊँचाई से उतर कर नीचे २०,००० फीट की ऊँचाई पर आने लगेगा और परिणाम स्वरूप इसकी गति कम हो गई होगी तो भी ३ टन ईंधन प्रति घंटा व्यय हो रहा होगा।

चालीस हजार फीट की ऊँचाई पर सामान्यतः वायुमंडल का दबाव बहुत कम होता है, इस वायुमंडल में साँस लेने में भंयकर कठिनाई होती है। परन्तु कोमेट विमान के अन्दर यह प्रबन्ध किया गया है कि उस में बैठे यात्रियों को केवल यही अनुभव होगा कि वे ८,००० फीट की ऊँचाई पर है। जब यह विमान उतर कर २०,००० फीट की ऊँचाई पर आ जाता है तो विमान के अन्दर का दबाव समुद्र तल के बराबर होता है। इसलिए अन्दर बैठे यात्रियों को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

इसकी तीव्रगति का एक यह भी लाभ है कि हवाई अड्डे से विमानों को निर्देश देने वाला और नियन्त्रण करने वाला विमान के पहुँचने से लगभग एक घंटा पूर्व ऋतु सम्बन्धी पूर्व संवाद अधिकतम सही रूप में बता सकता है। एक घंटा पूर्व विमान के अड्डे से ३००-४०० मील दूर और ४ ,००० फीट ऊँचाई पर होने के कारण ऋतु संबंधी खराबी के कारण उसे किसी अन्य अड्डे पर उतरने का आदेश या परामर्श दिया जा सकता है। और इस प्रकार के विमान को इसमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इस के विपरीत सामान्य विमान एक घंटा पूर्व अड्डे से १५०-२०० मील प्रायः इस से भी बहुत कम दूरी पर होते हैं, किसी अन्य अड्डे पर जाने में उन्हें बहुत कठिनाई होती है।

यह हिसाब लगाया गया है कि यदि जेट विमान का आकार प्रकार, बोझ उठाने की शक्ति आदि सामान्य विमान की भांति रखी जाये तो इस से व्यय में प्रति टन मील २० प्रतिशत कमी आ जाती है, यद्यपि प्रगट रूप से एक घंटे में जेट विमान का ईंधन व्यय आर्थिक दृष्टि से बहुत अधिक है, तोभी तीव्र गति के कारण व्यय कम हो जाता है।

विमानों की दिशा में हम लोगों ने स्वयं नगण्य सी प्रगति की है परन्तु विदेशों में होने वाली प्रगति से हम आखें मींज कर नहीं बैठ सकते।

गर्भपिंड विज्ञान शब्दावली

श्री नरेन्द्र

After-birth—जन्मोपरान्त स्रवित पदार्थ—गर्भझिल्ली, अम्नियन तथा योक-थैली आदि का मिश्रित, कोष्ठ-समूहों का पदार्थ-समूह जो प्रसव के बाद गर्भाशय के बाहर निकाला जाता है।

Amnion—अम्नियन—गर्भाशय के भीतर भ्रूण को चारों ओर से घेरने वाली झिल्लीदार पतली थैली; एक द्रव पदार्थ, अम्नि-यातिक द्रव से भरी हुई, जो धमक व धक्कों आदि से शिशु की रक्षा करता है।

Anus—गुदा—अंतड़ियों का बाहिरी द्वार।

Auricles—ऑरिकिल्स—हृदय के दो पतली दीवालों वाले प्रकोष्ठ जो शिराओं से रक्त को ग्रहण करते और फिर पेशीयुक्त वेन्ट्रिकिल्स को पहुँचा देते हैं।

Blastocyst—ब्लास्टोसिस्ट—दूसरे सप्ताह की अवधि में विकासगत रजाण्ड के लिये प्रयुक्त नाम, जब कि रजाण्ड कोष्ठों की छोटी व खोखली एक गेंद होता है।

Blood Islands—रक्त-द्वीप—अतिअल्पायुगत गर्भपिण्ड की योक-थैली के भीतर कोष्ठ-समूह के छोटे क्षेत्र, जिनमें प्राथमिक रक्त-कोष्ठों की रचना होती है।

Branchial Arches—शाखा सम्बन्धी वृत्त—पाँच सप्ताह की आयु के गर्भपिण्ड के कण्ठ के पार्श्वों पर स्थित घने कोष्ठ-समूह के दण्ड, जो तथाकथित 'श्वास-दरारों' के बीच पड़े हैं, बाद में जबड़े, कान तथा कण्ठ-दीवालों की रचना में प्रयुक्त होते हैं।

Cartilage—कोमलास्थि—हड्डी की जगह तथा उसके पूर्वरूप के समान, गर्भपिण्ड में प्रयुक्त होने वाला अर्धपारदर्शी तथा कोमल एक पदार्थ।

Cell—कोष्ट—सब जीव-शरीरों के आकार की इकाई, जीव-पदार्थ का घिरा हुआ एक अत्यन्त छोटा पदार्थ।

Cerebral Hemispheres—सेरेब्रिल वृत्तार्ध—मस्तिष्कीय कोष्ठ-समूह के दो विशाल पदार्थ-समूह जो स्नायवी संस्थान के उच्चतम सम सम्बन्धी केन्द्र के समान काम करते हैं।

Chondrocranium—कोण्ड्रोक्रेनियम—गर्भपिण्ड के मस्तिष्क के तले को साधने वाली, कोमलास्थि की एक मोटी पत्ती जो बाद में कपाल की आधार-अस्थियों द्वारा स्थानान्तरित कर दी जाती है।

Chromosomes—क्रोमोसोम्स—पशु या पौधे के प्रत्येक कोष्ठ के भीतर निश्चित रूप तथा निश्चित संख्या में पाए जाने वाले, विशेष पदार्थ के छोटे छोटे समूह।

Cleavage—'क्लीवेज' अथवा कोष्ट-विभाजन—गर्भित रजाण्ड को अनेक कोष्टों में विभक्त करने वाली विधि, मूल कार्यविधि जो सब जीवों के विकास काल में घटती है।

Clitoris—भगनासा—स्त्री में एक छोटा, घुण्डीदार आकार, जिसकी तुलना स्थिति तथा उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि से पुरुष के लिंग से की जा सकती है।

Coitus—संयोग—स्त्री की प्रजनन-प्रणाली के भीतर पुरुषलिंग को ले जाने वाली तथा लिंग से वीर्यपात की क्रिया।

Congenital—जन्मजात प्रवृत्ति—गर्भकालीन जीवन में अनुगृहीत गुणों व आकारों को बतलाने में प्रयुक्त विशेषण, वंशानुगत अथवा जन्मोत्तरकाल में विकसित होने वाली विशेषताओं से विभिन्न।

Cornea—नेत्र-झिल्ली—नेत्रों के सामने की कड़ी व पारदर्शी खोल।

Cryptorchism—क्रिप्टोर्किज्म—अण्डकोषों में अवतरित न होकर वस्तिप्रदेश में ही रह जानेवाली शुक्र-ग्रन्थि अवस्था; अस्वाभाविक अवस्था जिसमें अधिकतर पुंसत्वहीनता का समावेश रहता है।

Cyclopia—'साइक्लोपिया'—एक असाधारण विकार, जिसमें या तो केवल एक ही नेत्र होता है अथवा दो नेत्र परस्पर जुड़ जाते हैं।

Decidual Reaction—गर्भप्रस्थ.पो प्रक्रिया—

गर्भाशय की दीवाल में विकासगत रजाण्ड के प्रवेश के फल-स्वरूप, गर्भाशय के भीतर घटनेवाले परिवर्त्तन ।

Dental Ridge—दन्त किनारी—गर्भपिण्ड के मुख के तल प्रदेश से भावी मसूड़ों के भीतर की ओर उगने वाले कोष्ठों की एक पत्ती, दन्त-कलिकाओं के सफेदी बनाने वाले कोष्ठ इसी से उत्पादित होते हैं ।

Dentine—दन्तीन—सफेदी के ठीक नीचे स्थित, दांतों की हड्डीदार सतह ।

Diaphragm—'डायफ्राम'—वक्ष-कोठरी को उदर-कोठरी से अलग करनेवाला आड़ा व पेशीयुत एक पर्दा ।

Ectoderm—'ऐक्टोडर्म'—अति अल्पायुगत गर्भपिण्ड में कोष्ठों की ऊपरी सतह, जिससे त्वचा, स्नायवी संस्थान तथा इन्द्रियां बनती हैं ।

Embryo—गर्भपिण्ड—गर्भजीवन के प्रथम दो मास की अवधि में व्यक्ति का नाम ।

Embryology—गर्भपिण्ड-विज्ञान—विकासगत जीव का विज्ञान ।

Embryonic Disc—गर्भपिण्डीय चकती—जीवन के दूसरे सप्ताह की अवधि में, गर्भपिण्ड के भावी शरीर की प्रतिनिधि, कोष्ठों की चपटी तथा चकतीनुमा एक पत्ती ।

Enamel—दांतों की सफेदी—मानवीय दांत को ढँकने वाला कठोर व चिकना एक पदार्थ ।

Endocrine glands—'ऐण्डोक्रीन ग्रन्थियां'—रक्त में जीवनशक्तिदायी रसायनों को स्रवित करने वाले विशेष अंग; ये रसायनिक 'हार्मोन' शरीर के विविध भागों में स्थित अनेक अंगों की कार्यविधि को प्रभावित अथवा नियंत्रित करते हैं ।

Endoderm—'ऐण्डोडर्म'—गर्भपिण्डीय चकती के कोष्ठों की निचली सतह; इस सतह से पाचक-नली तथा सहयोगी आकारों के नलों की रचना होती है ।

Epididymis—'ऐपीडिडायमिस'—शुक्र-ग्रन्थियों को लिंग की ओर ले जाने वाली प्रणाली के साथ सम्बंधित करने वाली नलिकाओं का एक छोटा समूह; मध्यकालीन गुर्दे के अवशेषों से निर्मित ।

Esophagus—ईसोफेगस—पाचक नली का पहला भाग, कण्ठ से आमाशय की ओर जानेवाला ।

Extra-Embryonic—अतिरिक्त गर्भ-पिण्डीय—गर्भित रजाण्ड से उत्पादित उन सब आकारों के लिये प्रयुक्त नाम, जो गर्भपिण्ड के शरीर-संयोजन में नहीं जाते ।

Fertilization—गर्भाधान—एक सक्रिय शुक्र-कीट का एक परिपक्व रजाण्ड के भीतर प्रवेश, एक नये व्यक्ति की रचना हेतु इन दोनों का सम्मिलन ।

Fetus—भ्रूण—तीसरे से नौवें मास तक की गर्भ-कालीन अवधि के लिये मानवजीव को दिया गया नाम ।

Fontanelles—मस्तकीय कोमल-स्थान - शिशु के मस्तक के ऊपरी भाग के कुछ क्षेत्र जो कपाल की हड्डी से पुरे नहीं गए हैं ।

Foregut—अग्र-अंतड़ी—एक मास की आयुवाले गर्भपिण्ड के पाचक-संस्थान का अगला छोर ।

Genitalia—प्रजनन-अंग—

Genital Tubercle—प्रजनन-घुण्डी—द्विमासीय गर्भपिण्ड में, गर्भनाल के नीचे निकली उत्तरप्रदेशीय दीवाल पर एक छोटी घुण्डीदार उभड़न; पुरुष में लिंग तथा स्त्री में भगनासा की रचना इसी आकार से होती है ।

Gigantism — बृहताकारिता - सारे शरीर अथवा किसी एक भाग का अति विशालाकारी हो जाना ।

Gill-Clefts पांच सप्ताहवाले गर्भपिण्ड में कण्ठ प्रदेश के पार्श्व पर स्थित दरारों का एक क्रम; जिनकी तुलना स्थिति तथा आकार की दृष्टि से निम्न पशुओं की श्वास-दरारों से की जा सकती है ।

Gonads—प्रजनन-ग्रन्थियाँ—पुरुष में शुक्र-ग्रन्थि तथा स्त्री में डिम्ब-ग्रन्थि ।

Gubernaculum — गुबर्नेक्युलम — शुक्र-ग्रन्थियों को अण्ड-कोषों के भीतर खींच ले जाने वाली, रेशेदार बन्धन ।

Hermaphroditism—उभयलिंगी-प्रवृत्ति—एक दो व्यक्ति में दोनों जातियों के प्रजनन-अंगों के पाये जाने वाली अवस्था ।

Hernia—हर्निया—उदर-प्रकोष्ठ के बाहर अँतड़ियों का निकल जाना ।

Hind Gut—पुच्छ अँतड़ी—एक मास वाले गर्भपिण्ड में पाचक-नली का निचला अथवा पुच्छल भाग ।

Hormones—होर्मोन—रक्त-संस्थान में संचरित होने वाले ऐण्डोक्रीन ग्रन्थियों से स्रवित शक्तिशाली रसायन, जो अनेक अंगों के काम का नियन्त्रण करते हैं।

Hymen—योनिच्छद—योनि के निचले छोर को बन्द करने वाली, अलग अलग मुटापे की झिल्ली।

Implantation—स्थिति-स्थापन—गर्भाशय की दीवाल में विकास-गत रजाण्ड का प्रतिष्ठान।

Inguinal Canal—'इंग्विनल छिद्र'—वस्ति-प्रकोष्ठ को अण्डकोषों के साथ सम्बन्धित करने वाली उत्तर प्रदेशीय दीवाल में एक विकार. खुला हुआ छेद; शुक्र-ग्रन्थियां इसी में होकर अण्डकोषों से अवतरित होती हैं।

Inter-Sex—अन्तर-लिंगीय—दोनों लिंगजातियों के अंगों अथवा विशेषताओं वाला एक व्यक्ति।

Iris—नेत्र-पुतली—नेत्र-तारे को चारों ओर से घेरने वाला, रंगदार एक पर्दा।

Islets of Langerhans—लैंगरहान्स द्वीप खण्ड—शकर-उपयोग को प्रभावित करने वाले एक होर्मोन, इन्सुलीन का स्रवण करने वाले विशेष कोष्ठों का, पैन्क्रियाज-स्थित एक समूह।

Labia—ओष्ठ—स्त्री के बाह्य प्रजनन-अंगों के चारों ओर के विशेष आकार वाले ओष्ठ।

Labio-Scrotal Swellings—ओष्ठाण्ड कोषीय सूजनें—प्रजनन-घुण्डी के दोनों ओर उभड़ी हुई सूजनें, जो स्त्री में ओष्ठ तथा पुरुष में अण्डकोष बनती हैं।

Lanugo—लैन्युगो—पंचमासीय से नौमासीय भ्रूण के सारे शरीर पर छाई हुई महीन रोमावली जो जन्म के बाद अधिकतर लुप्त हो जाती है।

Larynx—ध्वनि-प्रकोष्ठ—श्वास-नली के ऊपरी छोर पर स्थित ध्वनि उत्पादक कोठा।

Limb-Buds—अवयव-कलिकाएँ—एक मास के गर्भपिण्डीय शरीर के पार्श्वों पर उभड़ी हुई सूजनें जो बाद में अवयव बनाती है।

Maturation—परिपक्वीकरण—पूर्ण विकसित होने की क्रिया प्रजनन-कोष्ठों के इतिहास में एक विशेष स्थिति के लिये प्रयुक्त।

Meconium - भ्रूण की अंतड़ियों में एकत्र हो जाने वाले, निर्जीव कोष्ठ, कफ व पित्त आदि का चिपचिपा, हरा पदार्थ।

Menstruation—मासिक स्राव—गर्भाशय से प्रत्येक मास कुछ कोष्ठ समूह व रक्त का स्रवण होना; गर्भाशय के भीतर उठान व गिरान के जनन सम्बन्धी अनवरत चक्र का बाहिरी लक्षण।

Mesoderm—'मेज़ोडर्म'—दो सप्ताह की आयु वाले गर्भपिण्ड में गर्भपिण्डीय चकती के कोष्ठों की बिचली सतह; मांसपेशियां, हड्डियाँ तथा अनेक ग्रन्थियां 'मेज़ोडर्म' से निर्मित होती हैं।

Mesonephros—मेज़ोनेफ्रोस'—गुर्दानिर्माण पर दूसरा प्रयास, मध्यकालीन गुर्दा; दो महीने आयु वाले गर्भपिण्ड में घटने वाला जो कि अन्तिम गुर्दे के निर्माण के बाद अधिकांश में विनष्ट हो जाता है।

Metanephros—'मेटानेफ्रास'—गुर्दा निर्माण पर तीसरा अन्तिम प्रयास; यही वयस्क-गुर्दा बनता है।

Mullerian Ducts—मुइलरियन प्रणालियाँ—दूसरे मास के दौरान दोनों लिंगजातियों में विकास पाने वाली स्त्री-लिंगी जनन-प्रणालियां।

Myelin—'माइयेलिन'—कुछ स्नायवी तन्तुओं के चारों ओर खोल बनाने वाला एक चर्बीदार पदार्थ।

Neural Plate—स्नायवी पत्ती—तीन सप्ताह वाले गर्भपिण्ड में पाये जाने वाली, मोटी, एक्टोडर्म की चपती पत्ती।

Ossification—ओस्सीफिकेशन'—अस्थि-रचना की विधि; कोमलास्थि के भीतर व चारों ओर, या ढीले योगिक कोष्ठ समूहों की झिल्लियों में घट सकती है।

Ovary—डिम्ब-ग्रन्थि—स्त्री की जनन-ग्रन्थि, जिसमें रजाण्डों का निर्माण तथा परिक्वीकरण होता है।

Ovulation—डिम्ब-ग्रन्थि से परिपक्व रजाण्ड की छूट।

Ovum—रजाण्ड।

Palate—नाक की तली व मुख की छत बनाने वाली, हड्डी तथा कोमल कोष्ठ समूहों की आड़ी धरन।

Pelvis—वस्ति वृत्त—उदर-प्रकोष्ठ के निचले भाग को घेरनेवाला अस्थि-वृत्त; जो कूल्हे पृष्ठ तथा वस्ति प्रदेश की हड्डियों का बना रहता है।

Penis—लिंग।

Philtrum—'फिल्ट्रम'—ऊपरी ओष्ठ का केन्द्रीय, नालीदार भाग।

Pituitary—पिट्यूटरी—मस्तिष्क के तल पर स्थित एक ग्रन्थि; इसका स्रवण शरीर-वृद्धि, प्रजनन-विकास तथा क्रिया को प्रभावित करता है।

Placenta—गर्भझिल्ली—गर्भित गर्भाशय की दीवाल में विकास प्राप्त, माता तथा गर्भपिण्ड की रक्त-नलिकाओं के सम्मिलित केन्द्र के रूप में उपयुक्त, रक्त-घनी कोष्ठों का समूह, गर्भपिण्ड की ओर आक्सीजन तथा भोजन भेजने वाला अंग।

Pre-Natal—जन्मपूर्व—जन्मपश्चात जीवनकाल से जन्म-पूर्व, गर्भजीवन काल को अलग बतलाने वाला शब्द।

Pronephros—'प्रोनेफ्रोस'—एक-मासीय गर्भपिण्ड के भावी कण्ठ प्रदेश में रची जाने वाला 'प्रथम गुर्दा'; पूरी तरह विलुप्त हो जाता है।

Prostate—प्रोस्टेट—पुरुष में मूत्राशय के आधार तल पर स्थित एक बड़ी ग्रन्थि; प्रजनन संस्थान का एक भाग।

Pupillary Membrane—पुतलीय झिल्ली—छः से आठ मास भ्रूण में नेत्र की पुतली को ढकने वाली एक पतली झिल्ली।

Recapitulation—जीवविकास क्रमगत पुनरावृत्ति गर्भपिण्ड के विकास में उन आकारों की रचना के लिये प्रयुक्त शब्द, जो जीवों की केवल निम्न श्रेणियों में ही उपयोगी अथवा प्रमुख थे।

Retina—नेत्र-पर्दा—नेत्र को ढँकने वाली चेतनशील झिल्ली; इसमें प्रकाश-प्रभावित होने वाले विशेष कोष्ट होते हैं।

Scrotum—अण्डकोष—पुरुष में वस्ति-प्रदेश के निचले छोर से लटकने वाली पेशी तथा त्वचा की दुहरी खोल, जिसमें शुक्र ग्रन्थियां रहती हैं।

Situs Inversus—वामांग परिस्थिति—आन्तरिक अंगों की अस्वाभाविक स्थिति, जिसमें अस्वाभाविक रूप से बांयी ओर पाए जाने वाले अंग दाहिनी ओर अवस्थित तथा दाहिनी ओर पाए जाने वाले बांयी ओर अवस्थित होते हैं।

Skeleton—अस्थि-कंकाल।

Somites—सोमाइट्स—तीन सप्ताह के गर्भपिण्ड में पीठ के सहारे रचे गए, 'मेजोडर्म' के छोटे-छोटे टुकड़े, जो बाद में मांसपेशी तथा मेरुखण्डों को बताते हैं।

Sperm—शुक्र—पुरुष के विशेष प्रजनन-कोष्ठ; अतिसूक्ष्म, पुच्छल जीव, जो तैर सकते हैं।

Synapses—'साइनेप्सेज़'—यह क्षेत्र जिसमें दो पृथक स्नायवी कोष्ठों के तन्तु परस्पर निकट सम्बन्ध स्थापित करते हैं; अनुमानतः वह प्रदेश जहाँ पर स्नायवी संकेत एक तन्तु से दूसरे में भेजा जाता है।

Testes—शुक्र ग्रन्थियाँ—पुरुष की विशेष प्रजनन-ग्रन्थियां जिनमें शुक्रकीट बनते तथा पकते हैं।

Thyroid—'थायराइड'—कण्ठ के आधारतल पर स्थिति एक 'एण्डोक्रीन' ग्रन्थि, इसका स्रवण शरीर-वृद्धि तथा व्यापक शारीरिक क्रिया को प्रभावित करता है।

Tissues—कोष्ठ समूह—एक ही क्रिया के लिये सम्बद्ध हुए कोष्ठों के समूह।

Tooth Germs—दन्तबीज—चार मास से सात मास वाले भ्रूण के मसूड़ों में विकसित हुए कोष्ठ समूह की नोकदार कलियां, इनमें से प्रत्येक भविष्य के अस्थायी तथा स्थायी दांत के लिये होती है।

Trechea—श्वास नली—कण्ठ से फेफड़ों तक जाने वाली।

Trophoblast—ट्रोफोब्लास्ट—एक मास के गर्भपिण्ड को बाहर से घेरने वाले कोष्ठों की विशेष सतह, जो गर्भाशय की दीवाल को खोद खाती तथा बाद में गर्भझिल्ली का भाग बन जाती है।

Umbilical Cord—गर्भनाल—गर्भपिण्ड को गर्भझिल्ली से जोड़ने वाली एक मोटी रस्सी; जिसमें होकर गर्भपिण्ड की ओर तथा गर्भ पिण्ड से तीन रक्त-नलियां आती या जाती हैं।

Ureter—मूत्र नली—गुर्दों से मूत्राशय तक मूत्र को ले आने वाली प्रणाली।

Uterine Tubes—डिम्बनलियां—गर्भाशय को डिम्ब-ग्रन्थियों से सम्बद्ध करने वाली दो नलियाँ।

Uterus—गर्भाशय—स्त्री प्रजनन-संस्थान का मोटा पेशीयुक्त एक अंग, जो गर्भपिण्ड के अवस्थान का क्षेत्र होता है।

(शेष पृष्ठ १७७ पर)

विज्ञान-समाचार

भारत में यक्ष्मा विरोधी मोर्चा (बी० सी० जी० का चमत्कार)

मनुष्य-जातिके कुख्यात, घातक शत्रुओं में से एक यक्ष्मा भी है। विश्वभरके सभी देशों की तुलना में भारत में इसका प्रभाव-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। इसके कुप्रभाव से प्रतिवर्ष पांच लाख के अधिक व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बनते और लगभग २ लाख मानव काम के अयोग्य बना दिए जाते हैं।

मानव-जातिको इस सामाजिक एवं आर्थिक भयंकर शत्रु से सुरक्षित रखना तब तक असम्भव है, जब तक मनुष्यों के आवास, आहार, आरोग्य जलप्रापण और सामान्य जीवन-स्तर में आवश्यक सुधार न हो, तथा भारी संख्या में क्षयरोग-आरोग्यशालाओं तथा अस्पतालों इत्यादि की समुचित व्यवस्था न हो।

भारत में, इस समय यक्ष्माग्रस्त रोगियों के लिए, कम से कम, ५,००,००० बिस्तरों, ४,००० आरोग्य-शालाओं १५,००० सनद प्राप्त डाक्टरों और ६०,००० प्रशिक्षित दाइयों तथा स्वास्थ्य परिचारकोंकी आवश्यकता है, किन्तु हमारे पास केवल ११,७६० बिस्तरे, ११६ आरोग्यशालाएं २०० डाक्टर और ४०० दाइयां हैं। अकेली उपरोक्त संस्थाओंकी स्थापनाके लिए ४०० करोड़ रु० से अधिक खर्च का अनुमान है।

इस अन्धकारपूर्ण पृष्ठभूमि में यदि कहीं आशा की किरण दिखाई देती है तो वह है यक्ष्मा-निरोधक बी० सी० जी० का टीका, जिसका प्रयोग, अन्तर्राष्ट्रीय-यक्ष्मा-मोर्चा के तत्वावधान में, अब तक १,५०,००,००० बच्चों एवं नव-वयस्कों पर किया जा चुका है। चेकोस्लोवाकियाने जहां १ वर्ष की अवधि में अपने देश के लगभग ३०,००,००० व्यक्तियों को यह टीका लगा कर अपनी सारी नववयस्क आबादीको इस रोग के आक्रमण से सुरक्षित कर लिया है, वहां जापान में पिछले वर्ष से अब तक ३,००,००,००० व्यक्तियों को यह टीका लग चुका है और रूसमें तो प्रत्येक नवजात शिशु के लिए यह टीका अनिवार्य ही है। अब तक विश्व भर में कोई ५,००,००,००० व्यक्तियोंको यह टीका लग चुका है।

बी० सी० जी० के आविष्कार का सेहरा फ्रांस के दो वैज्ञानिकों श्री कालमेट और गुइरिन—के सिरपर ही बँधेगा क्योंकि उन्होंने ही लगभग ३० वर्ष पूर्व इस महौषध का आविष्कार किया था।

१६२१ से लेकर २५ वर्ष तक के लगातार प्रयोग तथा तज्जन्य प्रभाव से जो अनुभव प्राप्त हुए, उनसे प्रकट है कि यह महौषध जहां यक्ष्मा से सुरक्षित रखने के लिए चमत्कारी प्रभाव रखती है, वहां किसी भी हानिप्रद प्रभाव से सर्वथा रहित है। इसके लिए दक्षिण अफ्रीका के एक दिन के नवजात शिशुका उदाहरण ही पर्याप्त होगा, जिसका जन्म क्लोम-यक्ष्मा-पीडित मांसे होने के कारण, उसे जब यह टीका लगाया गया, और भूल से, औषधि की मात्रा सामान्य मात्रा से १५० गुणा अधिक प्रयुक्त की गई, तब भी २० महीनों तक उसपर किसी प्रकार का कुप्रभाव न देखा गया और वह सर्वथा स्वस्थ बना रहा।

पिछले २५ वर्षों में यूरोप आदि देशों के अनुभवों से लाभ उठाकर, भारत सरकारने, विश्व-स्वास्थ्य संघ तथा संयुक्त राष्ट्रीय-शिशु संकट-फंड (यूनि सेफ) की सहायता से, १६४८ में, इस टीके का श्रीगणेश भारत में किया और इस समय यह देश के सभी राज्यों में प्रचलित है, तथा अगले दो वर्षों में इसका और अधिक विस्तार हो जाएगा।

यक्ष्मा अपना प्रभाव बच्चों एवं नव वयस्कों पर विशेष जमाता है। देश के कुछ शहरी क्षेत्रों में ५०-७५ प्रतिशत, १५ वर्षीय व्यक्ति इस रोग से प्रभावित पाए गए हैं। अनुमान है कि भारत में १७ करोड बच्चे और युवा ऐसे हैं जिन्हें इस रोग से बचाने की आवश्यकता है। और पश्चिमी देशों के अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि अगले पाँच वर्षों में नवजात शिशुओं के अतिरिक्त उन सभी व्यक्तियों को भी बी० सी० जी० का टीका लगा दिया जाए जो अभी तक इस महाराक्षस के पंजे में नहीं फंसे, तो १५-२० वर्ष की अवस्था में इस भयानक शत्रु के हाथों पीडित होने तथा मरने वालों की संख्या में ८० प्रतिशत की कमी हो सकती है।

जुड़वां शिशु तथा विकृत आकार

मू० ले० मारग्रेट शी गिल्बर्ट अनु० श्री नरेन्द्र

विज्ञान के पिछले दो अंकों में 'गर्भस्थ शिशु की कहानी' के कुछ अंश दिये गए थे। अंतिम अध्याय पाठकों के अवलोकनार्थ इस अंक में दिया जा रहा है। जुड़वां शिशु तथा विकृत आकारों की मार्मिक व्याख्या इस लेख में देखें।

एक प्रसव में एक शिशु के जन्म की स्वाभाविक अवस्था से साधारण विचलन एक ही प्रसव में एक से अधिक शिशुओं का जन्म है। उपर्युक्त उदाहरण की साक्षी के लिये निम्नलिखित अंकगणना प्रस्तुत की जा सकती है जो कि एक ही प्रसव में एक से अधिक शिशुओं के जन्म के सम्बन्ध में एक विश्वास योग्य अंकगणना है:— प्रति ८५ शिशु-जन्मों में एक बार यमज शिशुओं का जन्म होता है; एक ही प्रसव में तीन शिशुओं का जन्म प्रति ७२२५ शिशु-जन्मों में होता है; एक प्रसवगत चार शिशुओं का जन्म एक बार प्रति ६१४१२५ शिशु-जन्मों में; पांच शिशु एक साथ प्रति ५२२००, ६२५ शिशु-जन्मों में, तथा प्रत्येक ४४३७०५३१२५ शिशुओं के जन्म में एक बार एक ही प्रसव में छः शिशुओं का जन्म एक साथ होता है।

एक प्रसव में एक से अधिक शिशुओं के जन्म के विवरण में उदाहरणस्वरूप यमज शिशुओं के विकास का विवरण उपयोग में लाया जा सकता है। प्रारम्भ में ही यह इंगित कर देना आवश्यक है कि पृथक यमज तथा संयुक्त यमज अथवा जुड़वा दो प्रकार के यमज शिशु होते हैं। साधारणतः नियमित रूप से एक बार में डिम्बग्रन्थि में एक ही रजाण्ड पकता है और फिर गर्भित हो जाने की सम्भावना के साथ डिम्बग्रन्थि से छोड़ दिया जाता है। उपर्युक्त तथ्य तथा वास्तविकता ही, मनुष्य जाति में एकाकी शिशुओं के जन्म के आधिक्य का कारण है। कभी-कभी दो रजाण्ड अथवा दो से अधिक रजाण्ड पक-कर डिम्बग्रन्थि से एक साथ मुक्त कर दिये जाते हैं और यदि ये सब रजाण्ड गर्भित हो जायें तथा गर्भाशय के भीतर समुचित स्थितियों में प्रतिष्ठित हो जायँ तो परिस्थिति के अनुसार दो या दो से अधिक भ्रूणों का विकास हो जायगा। उपर्युक्त प्रकार से उत्पन्न हुए यमज शिशु, अपने आनुवंशिक गुणों की प्राप्ति की दृष्टि से, एक ही माता पिता के दो शिशुओं के पारस्परिक सम्बन्ध से अधिक निकट सम्बन्धित नहीं होते हैं। यह कहना उचित होगा कि इस प्रकार से उत्पन्न हुए व्यक्ति एक समुदायी जन्म के सदस्य हैं। उपर्युक्त वर्णन पृथक यमज शिशुओं का उदाहरण है—दो स्पष्ट तथा भिन्न व्यक्ति विशेष परिस्थितियों के वश एक माता के गर्भ से एक ही समय उत्पन्न हो गए हैं। इस प्रकार से उत्पन्न हुए यमज शिशु एक समान अथवा विपरीत लिंग जाति के हो सकते हैं और यह आवश्यक नहीं है कि साधारण भाई बहिनों से अधिक समानता उनके आकारों और रूप में हो।

पृथक यमज शिशुओं के विपरीत संयुक्त अथवा यमज जुड़वां वह शिशु हैं जो कि विकास की अल्पायुगत स्थिति मानव में जीव की शक्ति की दृष्टि से एकाकी जीव थे—अर्थात् वे शिशु एक शुक्रकीट के द्वारा गर्भित किये गए एक ही रजाण्ड से निर्मित हुए थे। उस रजाण्ड पर अथवा उसके भीतर किन्हीं अज्ञात तथा अस्वाभाविक परिस्थितियों के प्रभाव के फल स्वरूप, गर्भित रजाण्ड एक व्यक्ति के रूप में विकसित होने के स्थान पर दो व्यक्तियों में विकसित हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न

हुए जुड़वां शिशु स्वभावतः समान प्रकृति के ही आनुवंशिक गुणों को ग्रहण करते हैं तथा गर्भाधान के समय
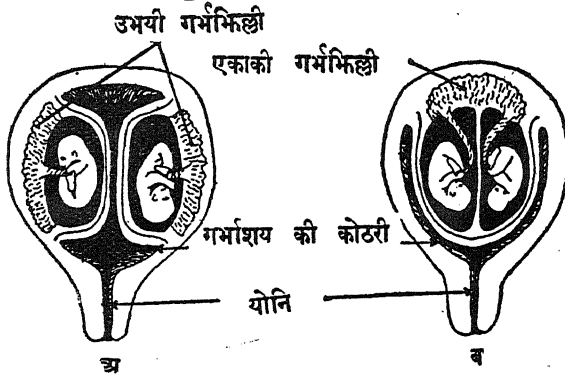
(चित्र ३४) गर्भाशय के भीतर जुड़वां बच्चों की दो सम्भावित स्थितियाँ ।

अ—झूठे जुड़वां, पृथक झिल्लियों वाले तथा गर्भाशय की दीवाल पर अलग-अलग स्थितियों पर प्रतिष्ठित ।

ब—सच्चे अथवा समरूपी जुड़वां, एकाकी झिल्ली तथा एक ही स्थान पर प्रतिष्ठित ।

ही लिंग-जाति के निर्धारित हो जाने के कारण आवश्यकता के अनुसार ये संयुक्त जुड़वां शिशु एक लिंग जाति के ही होते हैं । गर्भाशय के भीतर अपनी जीवनावधि में ये एक ही गर्भझिल्ली से सम्बद्ध होते हैं । इनके आन्तरिक अंगों के सूक्ष्म आकारों में भी समानता होती है—उपर्युक्त कथन इस सम्भावना के आधार पर है कि संयुक्त जुड़वां में से प्रत्येक शिशु को साधारण विकासके लिये समान साधन तथा समान परिस्थितियाँ मिलें । दो व्यक्तियों के आकार तथा रूप में इतनी अधिक स्पष्ट समरूपता होने के कारण ही इन शिशुओं के लिये—समरूपी शिशु—यह नाम प्रचलित हो गया है ।

एक प्रसवमें बहुशिशुओं के जन्म-सम्बन्ध में यदि यह प्रस्तावन उपयुक्त हो सकती है कि स्वाभाविक आकार से विचलन, साधारण और नियमित विकासात्मक कार्यविधियों में उत्पन्न अधिक अथवा कम मात्रा के प्रतिरोधों के परिणाम हैं तो यह आशा होगी कि विकासकालीन प्रतिरोधों और विघ्नों के घटने के काल तथा उनके प्रभाव की मात्रा के अनुसार यमजत्व अथवा जुड़वांपन के विविध अंश पाए जाने चाहिये । वास्तव में ऐसा होता भी है—दो स्पष्ट तथा पृथक यमज शिशुओं से लेकर पूर्णरूप से संयुक्त जुड़वां शिशुओं तक, बीच की सब स्थितियां इस प्रकार के शिशुओं के जन्म में पाई गई हैं । ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं कि यद्यपि दो यमज व्यक्ति स्पष्ट हैं, पर तब भी समान आकार के नहीं हैं—एक शिशु लघु आकार का तथा कम विकसित हो सकता है । इस तरह के उदाहरणों में कभी कभी ऐसा भी होता है कि निर्बल शिशु अपने शरीर में रक्त-संचार के लिये दोनों की एकाकी गर्भझिल्ली से ही नहीं, परन्तु अपने निर्बल शरीर के संयोजन द्वारा भी स्वस्थ तथा स्वाभाविक शिशु पर निर्भर होता है ।

उपर्युक्त प्रकार के आकार-भेद के अतिरिक्त और सब प्रकार के संयुक्त यमज अथवा जुड़वां शिशु भी पाए जाते हैं—दोनों शिशु समान आकार के तो हों, परन्तु स्पष्ट रूप से पृथक नहीं, अथवा दोनों शिशुओं के शरीरों के मध्य कोई विशेष भाग एकाकी हो । इस प्रकारके संयोजन आंशिक दृष्टि से कम संयुक्त भी हो सकते हैं—जैसे दोनों धड़ों के मध्य एक कम्पनशील दण्ड; अथवा विस्तृत अंश का संयोजन भी पाया जा सकता है—जैसे तथा कथित स्याम के यमज, जिस संयुक्त यमजों अथवा जुड़वाँ शिशुओं के शरीर वस्तिप्रदेश, वक्ष-प्रदेश अथवा उदर-प्रदेश पर विस्तृत रूप से संयुक्त हों (चित्र—३५) । अन्तिम दृष्टान्त अधिकतर राक्षसी आकारों के उदाहरण हैं तथा इस प्रकार के यमज-शरीरों में इतने अधिक अंश में आन्तरिक अस्वाभाविकताएँ तथा विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होजाती हैं कि यह शिशु कदाचित् हीजीवित रह पाते हैं । ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनमें यमज-शरीर साधारणतः स्पष्ट तथा पृथक हों, परन्तु युग्मता के कुछ प्रमाण अवश्य हों—युग्मता के प्रमाण, शरीर की किसी सीमित भाग की युग्मावस्था से लेकर शिशु-शरीर के दाहिने तथा बाँएँ अर्धांगों में लगभग अव्यक्त तथा अस्पष्ट भेद तक, युग्मता के विविध अंशों का प्रदर्शन कर सकते हैं । विविध अंशों में युग्मावस्था के पाये जाने के प्रमाण पहले कहे गए अनुसन्धान-तथ्य का और अधिक अनुमोदन करते हैं कि साधारण विकासात्मक क्रिया-विधियों में विघ्न के फलस्वरूप यमज-अवस्था उत्पन्न होती है, तथा युग्मावस्था का अंश

अज्ञात विघ्नोत्पादक प्रभाव की मात्रा तथा विघ्न-प्रघटन के समय पर निर्भर होती है।
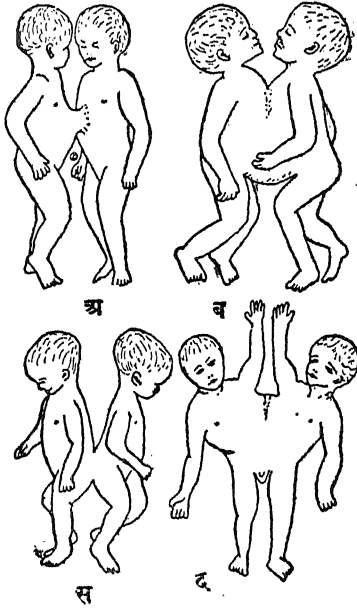
(चित्र ३५) *संयुक्त जुड़वां शिशुओं के विविध नमूने*
अ—वक्ष-प्रदेश के निचले भाग पर जुड़े हुए।
ब – वक्ष प्रदेश तथा उदर-प्रदेश पर जुड़े हुए।
स—मेरु दण्ड के निचले सिरे पर जुड़े हुए।
द—वस्ति प्रदेश तथा निचले अवयव के बीच पूरे जुड़े हुए।

गर्भित रजाण्ड के गर्भाशय की छोटी दीवाल में स्वाभाविक रूप से प्रतिष्ठित होने की जगह कभी कभी कम उपयुक्त स्थान में रजाण्ड स्थापित हो जाता है, इस परिस्थिति में भी विकृत आकार अथवा राक्षसी आकारों की उत्पत्तिहोने की सम्भावना रहती है। जिन गर्भ-नलिकाओं में होकर रजाण्ड गर्भाशय को जाता है, विविध कारणों से गर्भित रजाण्ड उन्हीं नलिकाओं के भीतर ही प्रतिष्ठित हो सकता है—इस प्रकार गर्भ-नलिका वाली गर्भावस्था साधारण भ्रूण के विकास को अधिकतर पूरा नहीं होने देती क्योंकि छोटे आकार वाली तथा पतली दीवालों वाली गर्भ-नलिका ऐसे साधनों और सुविधाओं को प्रस्तुत नहीं कर सकती है जो कि विकासगत भ्रूण के द्वारा वांछित विशाल फैलाव तथा समुचित गर्भझिल्ली के निर्माण में सहायता दे सकें। उपर्युक्त स्थान से भी कम अनुकूल तथा अनुपयुक्त अवस्था रजाण्ड की स्थापना के लिये वह होती है जिससे कि गर्भित रजाण्ड डिम्बप्रणाली के धरातल पर अथवा उदर प्रदेश की आन्तरिक सतह पर प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार स्थापित हुए भ्रूण नियमानुसार प्रसवकाल तक की विकसित अवस्था प्राप्त करने में असफल होते हैं; और यह अस्वाभाविक अवस्था माता के लिये भी अधिकतर सांघातिक होती है।

मानव शरीर के लगभग सभी अंगों तथा भागों के विकासकाल में वह स्थितियां सदा आती हैं जब कि बाहिरी प्रतिकूल परिस्थितियाँ अथवा कोष्ठों की कुछ अन्तर्निहित कमियां (जिनका प्रभाव विकास कार्य पर पड़ता है) अंगों के विकास में रोक, स्वाभाविक विकास-मार्ग से विचलन अथवा किसी एक अंग के विकास में आधिक्य उत्पन्न कर सकती हैं। किसी अंग पर पड़ने वाले इस प्रकार के प्रभाव उस अंग में विशेष अस्वाभाविक अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अस्वाभाविक गर्भ-विज्ञान के उपर्युक्त मूल-तथ्यों को स्पष्ट करने का एक दूसरा तरीका निम्नलिखित है—प्रत्येक अंग अथवा भाग के लिये आकार-भेद वाली तथा अस्वाभाविक अवस्थाएँ एक अथवा अनेक हो सकती हैं और यह अवस्थाएँ किसी भी व्यक्ति में प्रगट हो सकती हैं जिसके शरीर में वह अंग अथवा भाग अस्वाभाविक रूप से विकसित हो जाता है। इस स्थान पर विविध प्रकार के आकार-भेदों में से उन्हीं का वर्णन आवश्यक तथा अभीष्ट है जो कि अधिकतर पाए जाते हैं और आंशिक दृष्टि से कम विकृत आकार हैं।

शिशु की मुखाकृति में सबसे अधिक साधारण आकार-भेद की अवस्था सम्भवतः एक अथवा अनेक भागों का चौड़ा हो जाना है। गर्भावस्था में दूसरे मास में गर्भपिण्ड के विकासकाल के अन्तर्गत मुखाकृति के विकास का विवरण यह तो स्पष्ट कर ही देता है कि अल्पावस्था में मुखाकृति के सब भाग अपेक्षाकृत चौड़े होते हैं—मुख-छिद्र अत्यधिक चौड़ा होता है, नाक चौड़ी और चपटी होती है तथा नेत्र एक दूसरे से अधिक दूरी पर स्थित होते हैं। यदि विकासकाल की इस स्थिति में प्रतिरोध उत्पन्न हो, तो एक ऐसे व्यक्ति का जन्म हो जायगा जिसमें कि

उपर्युक्त गर्भपिण्डीय स्थिति के सब चिन्ह प्रदर्शित होते होंगे—मुख-छिद्र के कोने परस्पर सम्बद्ध होने में सम्भवतः असफल हो गए हों, नासिका चौड़ी और चपटी हो जिसमें ऊपरी बाह्याकार की रचना बिल्कुल नहीं हुई हो अथवा उसका कम विकास हुआ हो तथा नेत्र अधिक दूर स्थित हों। मुखाकृति के विकासकार्य में प्रतिरोध का परिणाम अधिकतर 'हेयर-लिप' अर्थात् शावक-ओष्ठ की रचना होता है, जिसमें नाक के नीचे वाले गड्ढे के एक अथवा दोनों ओर ऊर्ध्वोष्ठ (ऊपरी-ओष्ठ) अधिक या कम फटा हुआ होता है (चित्र—३६ अ)। यह विकास-कालीन प्रतिरोध कभी कभी इतना अधिक प्रभावशील होता है कि ऊर्ध्वोष्ठ के साथ साथ ही मुख की ऊपरी छत—तालू भी फटा हुआ होता है (चित्र—३६ ब)। उपर्युक्त अस्वाभाविक अवस्थाएँ उस समय उत्पन्न होती मानी जाती हैं जब कि ऊपरी जबड़े तथा समीपवर्ती भागों की रचना में प्रयुक्त कोष्ठसमूहों के अनेक दण्डों के सम्बद्धीकरण में असफल हो जाय। मुखाकृति के स्वाभाविक विकासकाल में घटने वाले पृथक पृथक अनेक कोष्ठसमूहों में पारस्परिक और जटिल अनेक सम्बद्धीकरण होने के ही कारण ऐसा प्रतीत होता है कि शिशु की मुखाकृति उन क्षेत्रों में से एक है जो कि अस्वभाविक विकास के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हो सकते हैं।

शिशु के नेत्र भी अनेक आकार-प्रकार के आकार-भेदों का प्रदर्शन कर सकते हैं—हो सकता है कि 'प्यूपिलरी मेम्ब्रेन' अर्थात् पुतली की झिल्ली, जो गर्भ के चौथे से छठवें मास तक पुतली को साधारणतः ढँके रहती है, जन्म के पूर्व लुप्त होने से विफल हो जाय, इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप वह झिल्ली पुतली को पूरी तरह अथवा विभाजित रूप से ढँके रह सकती है। अल्पावस्था की नेत्र-प्यालियों के कोनों के सम्बद्ध हो जाने में विफलता के फलस्वरूप नेत्र-बिन्दु फटा हुआ अथवा दरार-युक्त पाया जा सकता है (चित्र—३६ द) कभी-कभी ललाट के मध्य में एक नेत्र ही विकसित हो सकता है, परन्तु इस अस्वाभाविकता के साथ साथ मस्तक प्रदेश के अन्य क्षेत्रों में इतने अधिक अंश की अस्वाभाविकता पाई जाती है कि ऐसे नेत्र वाला व्यक्ति प्रसव तक जीवित नहीं रह पाता है (चित्र—३६ स)।
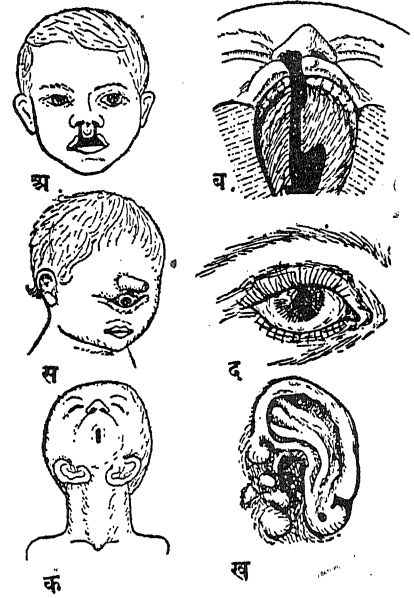
चित्र ३६) चेहरे के विविध आकृति-विकार

अ—दो दरार वाला ओठ

ब—दरार वाला तालू, एक दरार वाले ओठ के साथ

स—साइक्लोपिया—मध्य स्थित एकाकी नेत्र, जिसके ऊपर सूंडनुमा नाक निकली हुई है।

द—दरार वाली नेत्र-पुतली।

क—मस्तक के पार्श्वों पर, कानों के चढ़ने में विफलता छोटा मुंह तथा कमजोर जबड़े।

ख—आकार-विकृत कान, जिनमें कान बनाने वाली कुछ घुण्डियां परस्पर सम्बद्ध नहीं हुई हैं।

आकार-भेद के सम्बन्ध में यह भी हो सकता है कि शिशु की श्रवणेन्द्रिय—कान, कण्ठप्रदेश के समीप वाली अपनी गर्भपिण्डीय स्थिति से स्वाभाविक स्थिति में अवतरित न हो पाये—यह अवस्था सम्भवतः निचले जबड़े के विकास में अवरोध के कारण होती है, यदि इस कारण नहीं तो निचले जबड़े के कम विकसित होने वाली अवस्था के

साथ-साथ तो अवश्य पाई जाती है। भीतरी श्रवणेन्द्रिय से मस्तिष्क तक समुचित सम्बन्ध स्थापित करने वाली आवश्यक नाड़ियाँ यदि अपने विकास अथवा आकार-वृद्धि में विफल हो जायं तो शिशु में जन्मजात बहरेपन की अवस्था हो सकती है। यह तो बतलाया ही जा चुका है कि बाहिरी कानों का निर्माण कोष्ठसमूहों की सात या आठ छोटी छोटी घुण्डियों के पारस्परिक सम्बद्धीकरण के द्वारा सम्पूरित होता है, सम्बद्धीकरण का कार्य यह सम्भावना प्रस्तुत कर देता है कि इस कार्य में विघ्न पड़ने पर बाहिरी कानों के आकार तथा उनकी सुघड़ता में विविध आकार-भेद वाली अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं (चित्र—३६ ख)।

मुख के भीतर दन्त-किनारी के ऊपर यदि स्वाभाविक संख्या के अतिरिक्त दन्त-कलियों की आकार-वृद्धि बाहर की ओर हो जाय तो दांतों की संख्या तथा उनकी स्थिति के सम्बन्ध में विविध आकार-भेदशील अवस्था उत्पन्न हो सकती हैं। निम्न-जाति के पशुओं में पाए जाने वाले श्वास-छिद्रों के समान आकार वाले दरारों के क्रम, जो कि गर्भस्थ शिशु के कण्ठ-प्रदेश पर स्थित होते हैं, शिशु के कण्ठ पर छोटी छोटी बन्द सूजनें पैदा कर देते हैं—यह 'सिस्ट' सम्भव है कि पूरी तरह लुप्त न हों (यह सूजनें यं तो हानिकारी नहीं होती हैं, वरन् रोग-कीटाणुओं के संक्रमण के लिये उपयुक्त केन्द्र-स्थल बन सकती हैं और इनको हटा देना आवश्यक है।

शिशु के धड़ पर प्रगट होने वाले अनेक आकार-भेदों का वर्णन पहले ही आ चुका है—बाँह की जड़ से वस्तिप्रदेश तक उदर-प्रदेश के पार्श्व के सहारे फैली हुई, गर्भपिण्डीय अवस्था वाली दुग्ध-ग्रन्थियों के क्रम की रेखा के सहारे कहीं पर भी अतिरिक्त दुग्ध-ग्रन्थियां विकसित हो सकती हैं। अतिरिक्त दुग्धग्रन्थियों के विकास के साधारणतः इतने अधिक दृष्टान्त पाए जाते हैं कि एक विशाल जन-संस्था की अंक- गणना पर यह पायागया कि सम्मिलित रूप से उस संख्या के छठे भाग के दोनों लिंग-जाति के सदस्यों में यह अतिरिक्त दुग्ध-ग्रन्थियां देखी गईं। गर्भपिण्डीय जीवन के दो मासों में सम्भवतः पाई जाने वाली पूँछ, कभी कभी जन्म तक स्थायी बनी बनी रहती है—शिशु के शरीर में एक से तीन इंच लम्बे कोमल और मांसल ठूँठ के समान यह पूँछें अधिकतर शिशु के नितम्बों में छिपी होती हैं। आकार-भेद के सम्बन्ध में ऐसी अवस्था की सम्भावना भी है जब कि हाथ तथा पैरों पर अँगुलियां अथवा अँगूठे अतिरिक्त संख्या में विकसित हों, अथवा समीपवर्त्ती अँगुलियां तथा अँगूठे परस्पर संयुक्त हों। अँगुलियों तथा अँगूठों के सम्बन्ध में यह आकार भेद सम्भवतः हथेली तथा तलवों की नालियों में अँगुली अथवा अँगूठों को प्रतिचिन्हित करते समय उत्पन्न हो जाते हैं।

गर्भस्थित शिशु के विकासकाल के विवरण में यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि मानव शरीर की दीर्घ-अस्थियों की रचना का प्रारम्भ उन अस्थियों के कोमलास्थि-प्रतिरूपों के निर्माण से होता है और फिर धीरे-धीरे कोमलास्थि पदार्थ को कठोर अस्थि-पदार्थ के द्वारा स्थानान्तरित करके दीर्घ-अस्थि की रचना सम्पूरित होती है। इस द्वअस्थि की आकार-वृद्धि लम्बाई में उस समय तक होती रहती है, जब तक कि अपनी विकासगत अवस्था में कोमलास्थि-प्रतिरूप अस्थि-पदार्थ के द्वारा पूरी तरह स्थानान्तरित न हो जाय। अस्थि-पदार्थ का विकास प्रतिरूप की कोमलास्थि के अन्तिम अंश को स्थानान्तरित कर चुकने के समय तक ही होता है, और उस समय तक प्राप्त आकार ही अस्थि का सम्पूर्ण स्थायी आकार होता है। स्वाभाविक और नियमित परिस्थितियों में कोमलास्थि-प्रतिरूप का विकास और उसकी आकार-वृद्धि इतने समुचित रूप से होती है कि वंश तथा जाति की प्रकृति के अनुसार उस नूतन व्यक्ति को अपनी अस्थियों में एक औसत आकार प्राप्त हो जाता है। प्रसव से पूर्व अथवा प्रसवकाल के उपरान्त, दोनों विकास-कालों के अन्तर्गत, कोमलास्थि-प्रतिरूप के विकास की गति को विविध प्रकार के विघ्न तथा विरोध कम या अधिक कर सकते हैं; और विकास-गति में उत्पादित विभेदों का प्रभाव विकासकाल की अवधि पर भी पड़ सकता है। स्वाभाविक कालावधि के पूर्व ही कोमलास्थि-पदार्थ का स्थानान्तरित हो जाना शिशु के शरीर में बौनापन ला देता है और इसके विपरीत कोमलास्थि-प्रतिरूप के आकार में स्वाभाविक से अधिक विशालता के परिणाम स्वरूप बड़ी अस्थि के निर्मित होते जाने के कारण दैत्याकार की उत्पत्ति हो जाती है।

अस्थियों में आकार-परिवर्त्तन के समकाल ही उनकी संख्या में अधिकता अथवा कमी पैदा हो सकती है। संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक प्रचलित उदाहरण मेरु-खण्डों तथा पसलियों में अतिरिक्त अस्थियों की स्थापना है। पेचीले विकास की अनुगामिनी, ये अस्थियां कभी कभी अपने विकासकाल में प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पड़ जाती हैं, दृष्टान्त स्वरूप—वक्षप्रदेश के अस्थिकंकाल का निर्माण स्वभावतः दो अस्थि-भागों के संयोजन के द्वारा उत्पन्न होता है; दोनों अस्थि-भाग प्रत्येक पसली-क्रम के निचले सिरे से अलग अलग संयुक्त होते हैं; इस निर्माण-कार्य में विकासकालीन प्रतिरोध दरार-युक्त एकवक्षास्थि-कंकाल की रचना कर देगा।

शिशु के आन्तरिक अंगों में, गर्भपिण्डीय स्थिति के आकारों तथा रूपों के स्थायी बने रहनें का प्रदर्शन हो सकता है और अधिकतर ऐसा होता भी है। दोनों 'ओरिकिल्स' अर्थात् हृदय के प्रकोष्ठों के बीच वाला छिद्र, जो कि भ्रूणीय जीवन में निष्क्रिय फेफड़ों से बचाकर रक्त को सीधा शरीर-संचार में प्रवाहित करता है, शिशु तथा वयस्क मनुष्य दोनों में ही स्थायी बना रह सकता है। अंग-गणना के अनुसार प्रत्येक चार व्यक्तियों में एक वयस्क मनुष्य में इस छिद्र के कुछ चिन्ह पाये जाते हैं, परन्तु यह आकार-दोष इस प्रकार स्थित होता है कि हृदय के उन दोनों प्रकोष्ठों के बीच रक्त नहीं के बराबर मात्रा में रिस पाता है। यदि कभी यह छिद्र अधिक चौड़ा होकर स्थायी बना रहे तो नवजात शिशु में रक्त विभक्त होकर फेफड़ों से अलग प्रवाहित हो निकलता है तथा इस परिस्थिति के फलस्वरूप इस आकार-दोष से शिशु के रक्त में पीली आभा उत्पन्न हो जाती है—रक्त में इस दोष के फलस्वरूप उत्पादित शिशु की अवस्था साधारणतः नीले शिशु के नाम से प्रचलित है (अर्थात् दूषित रक्त वाला शिशु)। इस अवस्था के अधिक उग्र हो जाने पर, शिशु अपने भीतर श्वास के रुद्ध हो जाने के परिणाम स्वरूप मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

दो मास की आयु के गर्भपिण्डीय शरीर में प्राथमिक भोजन-नली को कोष्ठों की ठोंस डाटें बन्द किये होती हैं, कभी कभी यह डाटें स्थायी बनी रहकर शिशु की आँतों तथा कण्ठस्थ भोजन-नली को पूरा या आधा बन्द कर देती हैं। आँतों तथा कण्ठस्थ भोजन नली के इन डाटलगे खण्डों को शिशु के जीवन की रक्षा के हेतु चीर कर के अलग हटा देना आवश्यक है। एक मास की आयु के गर्भपिण्डीय शरीर के गुदा-द्वार पर आँतों के बाहिरी छिद्र को बन्द करने वाली झिल्ली भी स्थायी बनी रह सकती है और इसके फलस्वरूप छिद्रहीन गुदा की रचना हो जाती है। अंकगणना के आधार पर वयस्क मनुष्यों की दो प्रतिशत संख्या में शरीर की लघु-आँतों के एक भाग से सम्बद्ध छोटी और बन्द एक थैली होती है—इस थैली के पूर्वविकासके अध्ययन से यह पता चलता है कि पाँच सप्ताह की आयुवाले गर्भपिण्ड की योक-थैली का यह वह अवशेष है जिसके द्वारा योक-थैली का संयोजन प्राथमिक भोजन-नली से था, योक-थैली का वह डण्ठल परिस्थितिवश कदाचित स्थायी बना रह गया है। योक-थैली का यह स्थायी डण्ठल कभी कभी आँतों से नाभि-प्रदेश तक बढ़कर आ जाता है तथा नाभि-स्थल में उसका एक द्वार शरीर के बाहर की ओर हो जाता है, परन्तु यह अवस्था बहुत कम उदाहरणों में पाई जाती है। गर्भावस्था के दूसरे मास में उत्पन्न हुई स्वाभाविक अवस्था—अल्पकालीन गर्भानालीय' हर्निया' (जिसमें आँतों का कुछ भाग गर्भनाल में अवतरित हो जाता है) कभी कभी स्थायी रहकर 'शिशु के शरीर में जन्मजात गर्भनालीय 'हर्निया' की अवस्था उत्पन्न कर देती है।

मनुष्य शरीर के आन्तरिक अंगों की अतिविलक्षण तथा अद्भुत एक अवस्था में शरीर के वाम पार्श्व में पाए जाने वाले सब अंग (हृदय तथा आमाशय आदि) दाएँ पार्श्व में स्थित होते हैं और स्वाभाविक रूप से दाएँ पार्श्व में पाए जाने वाले अंग (जैसे यकृत, पित्त कोष्ठ तथा 'ऐपेण्डिक्स' आदि) शरीर के वाम पार्श्व में स्थित होते हैं। इस प्रकार की अवस्था को प्रदर्शित करने वाले शरीर के आन्तरिक अंगों की तुलना यदि साधारण मानव शरीरों के आन्तरिक अंगों से की जाय तो स्पष्टतः यही निष्कर्ष निकलेगा कि एक अवस्था दूसरी का प्रतिबिम्ब है—शरीर के सब अंग दोनों उदाहरणों में समान सापेक्षिक स्थिति तो ग्रहण किये होते हैं, परन्तु शरीर के विपक्षीय पार्श्वों में प्रतिष्ठित होते हैं। विपक्षीय पार्श्वों में आन्तरिक अंगों वाली

इस अवस्था के कारण तथा विकास-इतिहास पूरी तरह अभीतक नहीं समझे जा सके हैं।

प्रजनन तथा मूत्र संस्थान के स्वाभाविक विकास के लिये गर्भस्थ शिशु के शरीर के भीतर घटनेवाली पेचीली कार्य-विधियों तथा जटिल रूपपरिवर्त्तनों (जैसे पेचीली स्थिति-स्थापना, विकास प्राप्त करके गर्भावस्था में ही प्रलुप्त हो जाने वाले आकारों की रचना, विविध भागों के संयोजन करने वाली कार्यविधियां तथा अंगों की स्थापना करने वाले कार्यविधान) के कारण ऐसे अनेक अवसर उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें असाधारण विचलनों उत्पत्ति हो जाय। यह सम्भावना बनी रहती है कि गुर्दे, जो कि सबसे पहले वस्ति प्रदेश में निर्मित होकर अन्त में उदरप्रदेश में स्थायी स्थिति ग्रहण करते हैं, कदाचित् वस्तिप्रदेश के बाहर न आ सकें। गुर्दों के ब्राह्माकारों से निर्मित होने वाली संग्रहकारी प्रणालियां तथा उनके ऊपर की ओर स्थित मूत्र-निस्तारक नलिकाओं के पारस्परिक संयोजन स्वाभाविक कार्यसंचालन के लिये आवश्यक है। यदि दोनों का संयोजन समुचित रूप से न हो पावे और मूत्र-निस्तारक नलिकाएँ अपना कार्य प्रारम्भ कर दें, तो मूत्र परिस्थितिवश नलिका के भीतर ही भरा रहेगा और इसके कारण नलिका सूज जायगी तथा गुर्दों में फफोले पड़ जायंगे। यदि यह सूजा हुआ गुर्दा अधिक बड़ा हुआ तो स्वाभाविक गुर्दे के कार्यसंचालन में गहन बाधा उत्पन्न हो जायगी।

शिशु की शुक्र-ग्रन्थियाँ स्वाभाविक विकास की अवस्था में उदरप्रदेश के बाहर अण्डकोषों में उतर जाती हैं, इस सम्बन्ध में यह सम्भव हो सकता है कि शुक्र-ग्रन्थियों का अवतरण पूर्ण रूप से सम्पन्न न हो और शुक्र-ग्रन्थियां वस्तिप्रदेश में ही रुक जायें—शुक्रग्रन्थियों की यह दशा 'क्रिप्टोर्चिज्म' अर्थात् गुप्त शुक्र-ग्रन्थि कहलाती है और इस दशा में शुक्रग्रन्थियाँ सदा पुंसत्वहीन होती हैं। यदि वह छिद्र, जिसमें होकर उदर-प्रदेश से अण्डकोषों का अवतरण होता है, अवतरण के उपरान्त पूरी तरह बन्द नहीं हो पावे और आँतों का एक भाग इस छिद्र में धँस जाय तो वह अवस्था उत्पन्न हो जायगी जिसको 'इंग्विनल हर्निया' कहते है। कभी कभी शिश्न, जो कि लघुआकार वाली जनन-घुण्डी के विस्तृतविकास के फल स्वरूप अपनी आकार-प्राप्ति करता है, अपने स्वाभाविक आकार को नहीं प्राप्त कर पाता है।

मादा शिशु में उन दोनों जनन-प्रणालियों के निचले सिरों का संयोजन कभी कभी अपूर्ण रह जाता है, जो कि संयुक्त होकर मध्यस्थित एकाकी गर्भाशय तथा योनिमार्ग की रचना करते हैं,—इस अवस्था में दो गर्भाशय निर्मित हो जाते हैं। कभी कभी योनि-द्वार को बन्द करने वाली झिल्ली ('हाइमन' अर्थात् योनि का पर्दा) स्वाभाविक से अधिक मोटी होकर लगभग पूरी तरह छिद्रहीन हो जाती है।

गर्भपिण्डीय अवस्था वाली प्रजनन-संस्थान की उभय-लिंगी प्रकृति ऐसे अस्वाभाविक अवसर उत्पन्न कर देती है जिनके कारण विपरीत लिंगजाति के अप्रयुक्त आकार स्थायी बने रह सकते हैं अथवा इन आकारों का विकास हो सकता है—इस अवस्था के फलस्वरूप मानव- शरीर में 'हर्मोफ्रोडाइटिज्म' अर्थात् उभयलिंगी प्रकृति विकास पा जाती हैं। ऐसी प्रकृति वाले व्यक्तियों के शरीर में शुक्र-ग्रन्थियाँ दोनों ही पाई जाती हैं। मानवजाति में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है, परंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिल सका है कि ये दोनों जनन-ग्रन्थियाँ सक्रिय हों—अर्थात् एक ही मनुष्य के शरीर में गर्भधारण योग्य रजाण्ड तथा परिपक्व शुक्रकीट एक ही समय अथवा कुछ काल के अन्तर पर भी, उत्पन्न हो सकें। ऐसे उभयलिंगी व्यक्ति दोनों लिंग जातियों के आन्तरिक तथा बाह्य जननांगों का मिश्रण अपने शरीरों में प्रदर्शित करते हैं—उनके शरीर में गर्भाशय, योनि, 'प्रोस्टेट-ग्रन्थि' तथा शुक्र-थैली जैसे आन्तरिक अंग तथा शिश्न, अण्डकोष और दुग्धग्रन्थियां जैसे बाह्य अंग भी पाये जाते हैं। उपर्युक्त प्रकार की उभयलिंगी प्रकृति वास्तव में सच्ची-उभयलिंगी अवस्था कहलाती है।

एक दूसरी प्रकार की उभयलिंगी प्रकृति के उदाहरण भी पाए जाते हैं—एक स्पष्ट लिंग-जाति के प्रतीत होने वाले व्यक्ति में कभी कभी दूसरी लिंग-जाति के कुछ आन्तरिक जननांग विकसित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में उस शरीर के भीतर दोनों में से किसी लिंग-जाति के जननांग उतने विकसित नहीं हो पाते हैं जितने कि एक लिंगजाति वाले स्वाभाविक वयस्क मनुष्य में।

गर्भस्थ शिशु के स्वाभाविक विकास-मार्ग से विचलन—इस सम्बन्ध में किये गए आधुनिक अध्यन के फलस्वरूप अस्वाभाविक अवस्था के कारणों में दो प्रकार के प्रभाव पहचाने गए हैं। आन्तरिक प्रभाव गर्भपिण्ड के शरीर के भीतर अपना कार्य करते हैं, और बाह्य प्रभाव वह है जिनमें बाहिरी वातावरण तथा बाहिरी परिस्थितियां गर्भपिण्ड को प्रतिचिन्हित करती हैं—ये दोनों प्रकार के प्रभाव शिशु के आकार-भेद के कारण हो सकते हैं। कुछ आकार-भेद आनुवंशिक होते हैं जो कि एक वंश से दूसरे वंश में क्रमानुसार प्रकट होते रहते हैं—नियमित संख्या से अधिक अंगुलियों तथा अंगूठों की उपस्थिति अस्वाभाविक अवस्था का आनुवंशिक गुण माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक मानव जीव में इन अस्वाभाविक गुणों का निर्धारण हो जाता है और फिर साधारण आनुवंशिक गुणों के समान ही ये अस्वाभाविक गुण भी एक वंश से दूसरे वंश में पहुँचते रहते हैं—नेत्रों का वर्ण बड़ा उपयुक्त दृष्टान्त है।

गर्भपिण्ड के शरीर में, तथा शिशु अथवा वयस्क मानव में, भी शक्ति-शाली 'ऐण्डोक्रीन' ग्रन्थियों की अस्वाभाविक अवस्था उत्पन्न हो सकती है। यह अस्वाभाविक ग्रन्थियां जीव के विकासमार्ग तथा उसके विकास की प्रवाह-गति में परिवर्त्तन उत्पन्न कर देंगी, दृष्टान्त—मानव शरीर के विशाल आकार तथा लघु आकार (बौनेपन) को जन्म देने वाली प्रकृति, गर्भपिण्ड तथा शिशु के शरीर में उपस्थित 'थायराइड' 'पिट्युचरी' ग्रन्थियों के अस्वाभाविक कार्य-सम्पादन से सम्बन्धित है। विकास-मार्ग से अनेक विचलन सामूहिक रूप में घटती है, जिसका कारण यह समझा जाता है कि विकास की अल्पावस्था में एक छोटा विघ्न अस्वाभाविक आकार-वृद्धि के एक पूरे धाराप्रवाह को जन्म दे देता है। तीन सप्ताह की आयुवाले गर्भपिण्ड मस्तक की ओर के भाग में पैदा हुआ एक अज्ञात विघ्न सामूहिक आकार-भेद वाली एक परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसमें 'साइक्लोपिया' (एक नेत्र वाली अवस्था), कम विकसित मस्तिष्क, विकृत नाक, निचले जबड़े के विकास में अवरोध, स्वाभाविक स्थिति से स्थानच्युत हुए कान आदि अवस्थाएँ पैदा हो जाती हैं।

आन्तरिक प्रभाव के सहयोग में बाहिरी प्रभाव भी अस्वाभाविक रूप को जन्म देते हैं। गर्भपिण्ड के बाहिरी वातावरण में उग्र प्रकृति का विघ्न उसके स्वाभाविक विकास में अवरोध पैदा कर देगा। अधिक उग्र विघ्नकारी परिस्थिति में गर्भपिण्ड की मृत्यु भी हो सकती है। आकार-भेद उत्पन्न करने वाले बाह्य प्रभाव विशेषकर गर्भझिल्ली के कार्य-संचालन से सम्बन्धित हैं। गर्भझिल्ली के द्वारा, गर्भपिण्ड के लिये भोजन, जल तथा आक्सीजन यदि समुचित मात्रा में प्राप्त नहीं किया गया, तो गर्भपिण्ड के विकास में विघ्न पड़ सकता है और इसके फलस्वरूप विविध प्रकार के अस्वाभाविक रूप उत्पन्न हो जायगे। यदि माता के रक्त द्वारा गर्भझिल्ली में पहुँचे हुए पदार्थों में किन्हीं विशेष विटामिन अथवा धातु अंशों की कमी हो तो गर्भपिण्डीय शरीर में दांतों तथा अस्थियों का अस्वाभाविक अथवा प्रतिरुद्ध निर्माण हो सकता है। गर्भझिल्ली के द्वारा विषैले पदार्थों का शोषण, जो कि गर्भपिण्ड के लिये हानिकारी हों, मस्तिष्क अथवा दूसरे किसी अंग के स्वाभाविक विकास को रोक सकता है।

विज्ञान-प्रेमियों से निवेदन

विज्ञान के प्रचार में सक्रिय सहायता आप करना चाहें तो ५ या १० हिन्दी प्रेमियों का पता दें जिनको आप जानते हों और उन्हें पत्र लिख कर ग्राहक बनने के लिए उत्साहित कर सकें। हम आप के आदेश से उन पतों पर विज्ञान के नमूने या वी० पी० भेज देंगे।

—सम्पादक